हरिः ॐ तत्सत्
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः

श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतकम्

अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्या, प्रस्ताविकवक्तव्येन
राष्ट्रभाषाहिन्दी - अनुवादेन च समलङ्कृतम्



प्रथम द्वितीय खण्डौ

लेखक—
स्वामी महेश्वरानन्दगिरि महामण्डलेश्वर
(सुरतगिरि बंगला - कनखल - हरिद्वार)
(सन्यासाश्रम - विलेपार्ले, बम्बई - ४०००५६)
[बद्रिकाश्रम (नर्मदातट) मुं० दरियापुर, पो० चांदोद]

विक्रम संवत् - २०१४ - गीताजयन्ती

हरिः ॐ तत्सत्–श्रीविश्वनाथो विजयतेतराम् ।

वेदे वेदान्तराशौ स्मृतिवरनिचये दर्शने चेतिहासे,
व्यासोक्ते सत्पुराणे सुकृतिकृतिचये सर्वराद्धान्तसिन्धौ ।
स्नाता धीर्यस्य सारग्रहणपरवशा शुद्धसत्त्वाभिरामा,
सोऽयं राराजते श्रीयतिवरतिलको मण्डलेशो महेशः ॥



कनखल-हरिद्वार-वास्तव्य-श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-दार्शनिक—सार्वभौम—-विद्यावारिधि—-न्यायमार्तण्ड—-वेदान्तवागीश—

श्री १०८ स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज महामण्डलेश्वर

गंगातट, सुरतगिरि-बंगला, कनखल-हरिद्वार	नर्मदातट--बद्रिकाश्रम दरियापुर–चांदोद	विला–पारला संन्यासाश्रम-बम्बई

[[illegible] ग्रन्थमाला का–पञ्चम–पुष्प]

हरिः ॐ तत्सत्

([illegible] परीक्षा–स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम्)

श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतकम् ।

(प्रथम–खण्डः—प्रथम–द्वितीय-स्कंध-विचारधारा)

हरिद्वारकनखलवास्तव्य-श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य-श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-सकलनिगमागमशास्त्रनिष्णात-स्वामि-महेश्वरानन्द गिरि महामण्डलेश्वर–प्रणीत–'अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्याख्यया व्याख्यया, प्रास्ताविकवक्तव्येन-राष्ट्रभाषाहिन्दी-अनुवादेन चसंवलितम्

व्याकरणन्यायवेदान्ताचार्य-स्वामि काशिकानन्दलिखितेनामुखेन चोपेतम्।

अनुवादक–नर्मदातीरकरनालीक्षेत्रस्थित–आरूढ–आश्रम (तपोवन)
निवासी स्वामी सुरेश्वरानन्द जी वेदान्ताचार्य-व्याकरण-साहित्य-शास्त्री

विक्रम संवत् २०१३ ॥ खिरताब्द—१९५७

हरिद्वार–कनखल–सुरतगिरि–बंगला–संन्यासश्रम–
विलेपार्ले, मुम्बई–४०००५६

मूल्य : ५१/-

श्रीविश्वनाथो विजयतेतराम् ।

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ।

जगद्गुरोः श्रीकृष्णस्य स्तुत्यं महत्त्वम् ।

उद्धव-उवाच—

विद्रावितो मोहमहान्धकारो, य आश्रितो मे तव सन्निधानात् ।
विभावसोः किं नु समीपगस्य, शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्यः ॥
प्रत्यर्पितो मे भवताऽनुकम्पिना, भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः ।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं, कोऽन्यत् समीयाच्छरणं त्वदीयम् ॥

(भा० ११।२६।३७-३८)

उद्धवजी ने कहा—प्रभो ! आप माया और ब्रह्मा आदिके मूल कारण हैं । मैं मोहके महाअन्धकार में भटक रहा था । आपके सदुपदेश से वह सदाके लिए भाग गया । भला जो अग्निके पास पहुँच गया, उसके सामने क्या शीत, अन्धकार और उसके कारण होनेवाला भय ठहर सकते हैं । भगवन् ! आपकी मोहिनी-मायाने मेरा ज्ञान दीपक छीन लिया था, परन्तु आपने कृपा करके वह फिर अपने सेवक-भक्त को लौटा दिया । आपने मेरे ऊपर महान् अनुग्रह की वर्षा की है । ऐसा कौन होगा ? जो आपके इस कृपा-प्रसाद का अनुभव करके भी आपके चरणकमलोंकी शरण छोड़ दे, और किसी दूसरेका सहारा ले ? ।

प्रकाशक—

स्वामी कैवल्यानन्द सरस्वती-कोठारी जी महाराज,
ठि०—सुरतगिरिका बंगला, मुं० कनखल (हरिद्वार)
जिला० सहारनपुर, उत्तर-प्रदेश ।

प्रास्ताविक-वक्तव्यस्य सूचीपत्रम्—

श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतकस्य प्रथमभागस्य विषय—सूची।

ॐ श्रीहरिः

अनुवादकीय–वक्तव्य

पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां, मूर्तिभूतं भागधेयं यदूनाम्।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां, श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम् ॥*

ऐसा कौन आर्य–हिन्दू होगा, जोकि—जगदानन्दकन्द—सच्चिदानन्द–पर-ब्रह्मस्वरूप—भगवान् श्रीकृष्ण के पावन—नामसे और गीता एवं श्रीमद्भागवतके नामसे परिचित न होगा। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि—भावुक–भक्तोंके हृदयोंमें परमानन्द—बरसानेवाली—उनकी—अनुपमेय—अलौकिक लीलाकथाओंका एवं उनके महनीय–कल्याणमय–सदुपदेशों का प्रचार भारतवर्षकी तो बात ही क्या? भारतके बाहर भी अनेकों–देशों में होगया है। अत एव उनके धार्मिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक, पवित्र यथार्थ सदुपदेश, हिन्दू–मात्रके लिए क्या? विश्वके समस्त मानवों के लिए शिरोधार्य है। उनकी अद्वैतामृतवर्षिणी—भवद्वेषिणी—गीताकी तो बात ही क्या कहना, वह श्रद्धेय-ग्रन्थ विश्वमान्य होकर उनके 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्' इस टाइटल की यथार्थरूपसे घोषणा कर रहा है। यों तो उनकी लीलाकथाएँ, एवं आध्यात्मिक–तत्त्वोपदेश, कई–पुराणोंमें यत्र तत्र पाये जाते हैं। परन्तु अष्टादश पुराणोंके रचयिता महर्षि—बादरायणने श्रीमद्भागवत—पुराणमें उनकी प्रायः सभी लीलाओंका एवं आध्यात्मिक—तत्त्वज्ञानके उपदेशोंका पूर्णरूपसे वर्णन किया है। अत एव इसकी रचना शैली, पुराणान्तरोंसे एकदम—विलक्षण–एवं आकर्षक होने के कारण यह पुराण–शिरोमणि कहलाने लगा, एवं विद्वत्ताका परीक्षास्थल बनगया। इसलिए 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' यह प्रवाद सर्वत्र प्रसिद्ध होगया।

श्रीमद्भागवत एक दिव्य–उपवन है। इसमें वैराग्यवर्धक–विविध–आख्यानरूपी वड़े–बड़े वृक्ष, नीति–वर्धक–उपाख्यानरूपी विभिन्न—पौधें, भगवल्लीला–कथारूपी भक्तिवर्धक नानाविध मनोहारिणी–कुसुम–लताएँ, और धर्मप्रबोधक–निकुञ्ज तो हैं ही, पर इस उपवनके चतुर शिरोमणी–विशाल–बुद्धिशाली माली महर्षि बादरायणने इसमें अनादि–अनन्त–-निरञ्जन—निराकार—सच्चिदानन्दस्वरूप–अद्वय—ब्रह्मतत्त्व की प्रतिपादक–अमरवल्लियाँ भी बड़ी खूबीके साथ यत्र तत्र सर्वत्र लगादी हैं। इसलिए कल्याणाभिमुख–मानवोंका धर्म, अर्थ और काम रूपी गौण–फलोंके साथ साथ,

* गोपियों के विमल–प्रेमकी राशी (समूह) रूप, यादवोंका मूर्तिमान् भाग्यरूप, एवं श्रुतियोंका एकीभूत (संघट्टित) गुप्त–धनरूप, जो दिव्य—श्यामवर्णवाला—साकार ब्रह्म है, वह मेरे समक्ष सदा अवस्थित रहा करे।

मोक्षरूप—शाश्वतानन्दप्रद–मुख्यफल–जो दुर्लभ है, वह सुलभतासे प्राप्त होसके। अतः उसके अभिलाषी तथा अन्वेषक–व्यक्तियोंके लिए जो तत्त्वजिज्ञासु एवं मुमुक्षु हैं, अन्यस्थलपर जानेकी आवश्यकता न हो। अत एव वैष्णव–भक्तजन श्रीमद्भागवतको अपना सर्वस्व मानते हैं, इस उद्यानमें रसिक–भक्तरूपी–षड्पद भगवन्नाम एवं भगवद्गुणानुवादरूपी कुसुमोंमें स्थित दिव्य–मकरन्दका आस्वादन करनेके लिए अनवरत चक्कर लगाते रहते हैं। परन्तु यह केवल सांप्रदायिक—वैष्णवों का ही सर्वस्व नहीं है, अपितु वीतराग–तत्त्वदर्शी–परमवैष्णव–परमहंसोंका भी सर्वस्व है, अत एव इसे परमहंस—संहिता भी विद्वद्गण कहते हैं। यह सार्थक नाम भी इसके साथ परमहंसोंका विशेष सम्बन्ध सूचित करता है। परमहंस–शिरोमणि–व्यासनन्दन श्रीशुकदेव–महामुनिने इस श्रीमद्भागवतके उपदेश द्वारा महाराजा परीक्षित को भवदावानलके दुःखोंसे सदाके लिये मुक्त कर दिया था। अथवा यों समझिए कि–इस भागवतरूपी–उपवनमें स्थित तत्त्वज्ञानमयी अमरवल्लियोंका दिव्य–रसपान कराकर उन्हें अमरपद–पूर्ण-ब्रह्मनिर्वाणधाम प्राप्त करा दिया था।

पद–वाक्य–प्रमाण–पारावारपारीण–-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–-श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य–श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ–पूज्य–महामण्डलेश्वर श्री १००८ स्वामी महेश्वरानन्दजीमहाराज द्वारा संकलित–'श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतक'-नामक ग्रन्थका यह प्रथमभाग छपकर पुस्तकाकाररूपसे सारग्राही–सज्जन विचारशीलोंके समक्ष आरहा है, यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। इससे प्रथम श्रीस्वामीजीमहाराजके अध्यात्मज्योत्स्नाविवृतिसहित–-ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतक, यजुर्वेदसंहितोपनिषच्छतक, अथर्ववेदसंहितोपनिषच्छतक, गीताप्रवचनसुधा, प्रभृति कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

पक्षपातवर्जित विद्वत्समाज यह बात जानता है कि–श्रीमद्भागवतमें जैसे प्रधानरूपसे भक्तिका वर्णन है, वैसेही प्रधानरूपसे तत्त्वज्ञानका भी वर्णन है। दुग्ध एवं-शर्कराकी भाँति दोनों का सामंजस्य बड़े ही आकर्षक–ढंगसे वर्णित है। सगुण साकार—सविशेष ब्रह्मके समान ही, नित्य शुद्ध–बुद्ध–मुक्तस्वभाव-पूर्णाद्वयानन्दनिधि निर्विशेष–परब्रह्मका भी स्पष्ट ही प्रतिपादन किया गया है। परन्तु लीलैकपरायण-कुछ रसिक–महानुभावोंने साधारणमनुष्यों को–जो स्वभावतः संसारवासनावासित–और भोगाभिलाषी हैं—अनधिकारी समझकर, उनके लिए केवल–निर्विशेष–अद्वय–ब्रह्म-तत्त्वका निरूपण अनुपयुक्त समझकर अथवा अपनी अरुचि या अनभिज्ञता या सांप्रदायिक पक्षपातके कारण उसे गौण–सा बना दिया, एवं निर्विशेष–अद्वयब्रह्मपरक अनेकों–श्लोकोंको तोडमरोडकर पूर्वापरविरुद्ध, संदर्भ एवं सिद्धान्त विरुद्ध, अर्थका अनर्थकर जनताके समक्ष अपना पाण्डित्यमात्र दिखाने का दुःसाहस किया, एवं उपनिषत्प्रतिपाद्य–निर्विशेष–अद्वय ब्रह्म निरूपणोंके वास्तविक स्वरूपका संगोपन-सा

कर या उनका रूपान्तर कर जनताके समक्ष उपस्थित कर दिया।

इसलिये—श्रीमद्भागवतके यथार्थ—सारभूत—समग्र—सिद्धान्तों का संक्षेपसे प्रदर्शन करनेके लिए—निखिलनिगमागमशास्त्ररहस्यवेत्ता, तत्त्वातत्त्वविवेचनपटुशिरोमणि—हमारे पूज्य प्रकृत—ग्रन्थकारने श्रीमद्भागवतके एक—सो श्लोकोंको चुनकर उनकी संस्कृत—भाषा में विशदरूपसे—तत्तत्सिद्धान्त—पोषक—अनेकों श्लोकों को समुद्धृतकर अध्यात्मज्योत्स्ना नामकी विवृति की है। इस ग्रन्थके प्रथम भागमें, प्रथम और द्वितीय स्कन्धके तेरह (१३) श्लोकों की व्याख्या तथा तत्सम्बन्धी अन्य प्रमाण—युक्ति आदि की विशद विवेचना है। और साथमें—श्रीमद्भागवतके—समग्र—ज्ञातव्य यथार्थ—सिद्धान्तोंका—शंकासमाधानपूर्वक—वर्णन करने के लिए—विस्तृत—प्रास्ताविकवक्तव्यका भी संयोजन किया है—जो रहस्य—ज्ञानार्थियों के लिए बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होगा।

वर्तमानसमयमें संस्कृतभाषा जन—साधारण की भाषा नहीं रही है। अतः इस संस्कृत—ग्रन्थका राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में अनुवाद करना आवश्यक समझा गया। क्योंकि—तभी ही जन—साधारण इस अतीव—उपयोगी ग्रन्थसे लाभ उठा सकेंगे। इसलिए इस ग्रन्थके अनुवाद का कार्यभार मुझे सौंपा गया, अतः मैंने कहीं कहीं शब्दानुवाद, कहीं कहीं भावानुवाद, तथा कहीं कहीं छायानुवादकी शैलीके अनुसार यथामति इसकार्यको पूर्ण किया, जो आप सज्जन—पाठकोंके समक्ष उपस्थित है। इस अनुवादकार्य में कहीं कहीं पूज्य—प्रकृतग्रन्थकार महामण्डलेश्वर-महाराजने अपना कृपामय—परामर्श देनेकी उदारता दिखायी है—जो अविस्मरणीय है। इस अनुवाद में मेरी ओरसे मनुष्यमात्र—सुलभ जो त्रुटियाँ रह गयी हों, उनके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ, 'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।'

और महेश्वर—ग्रन्थमालाके पंचम—पुष्परूपसे इस प्रकृत—उपादेय ग्रन्थका अपनी—पुण्यमयी—द्रव्य—सहायता द्वारा—प्रकाशन कराने वाले—अप्रकाशित नामवाले—धर्मनिष्ठ—भगवत्प्रेमी श्रीमान् सेठजीको सपरिवार—जितना धन्यवाद एवं शुभाशीर्वाद दिया जाय, उतना कम ही होगा? क्योंकि—ऐसे उदाराशय—नामरूपमें अनासक्त धर्मप्रेमीसज्जनों की प्रशंसनीय—उदारतासे ही ऐसे पुण्यमय—जन साधारणके लिये लाभप्रद सद्ग्रन्थ प्रकाशनरूप—श्रेष्ठकार्य संपन्न होते हैं। इति शिवम्।

मार्गशीर्षशुक्ल एकादशी
विक्रमसंवत्—२०१३

अनुवादक—विदुषां विधेय—
स्वामी सुरेश्वरानन्द—वेदान्ताचार्य—
करनाली (नर्मदातट)

आमुखः । ७

वेल्लति भुवनमशेषं बुद्बुदवत्पयसि यत्र महसि परे ।
श्यामलमङ्गलतायां खेलत्तन्नौमि गोपवनितायाः ॥

(भक्तिमकरन्दः)

जिस प्रकार समुद्रमें बुद्बुद् खेलते हैं, उसी प्रकार जिस महातेजमें समस्त संसार खेल रहा है, आश्चर्य है—वह श्यामल तेज एक ग्वालिन (यशोदामैय्या) की गोदमें खेल रहा है। उस अद्भुत तेज (भगवान् कृष्ण) को मैं नमस्कार करता हूं ॥

अमृतद्रवसंयुतं रसैककलेवरं रसिकधुरीणानां भावुकभावनाभाजां; भक्तिवल्लरीसमुद्गमभूमि विगलितनिखिललोकवासनानां भगवच्चरणैकशरणाभिलाषिणां; चञ्चद्रुचिरुचिरमरकतमहारत्नं ब्रह्मतत्त्वान्वेषणपराणां वेदान्तरत्नाकरपरिगाहनचुञ्चूनां; मञ्जुलवानीरवल्लीकुञ्जं विद्यामहाटवीपर्यटनपटूनां, दर्शनकाननपञ्चाननानां; भागवताख्यं प्रस्थानं विद्यावतां परीक्षास्थानमिति हि मतं विदुषां 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' इत्येवमविशङ्कमुद्घोषयताम् । अविरतजाज्वल्यमानाध्यात्मिकाद्यनेकविधदुःखानलज्वालाव्याकुलितचेतसामनवरतमुपशमपर्यन्वेषणैककार्याणामपारसंसारवारां--निधिनिमज्जनोन्मज्जनजनितक्लेशपरीतानां परितः शरणमवलोकयतां करुणाविधेयेनाखिलविधतापभीतिहरणधुरीणं भगवता बादरायणेन विरचितमिदं सकलनिगमागमपुराणसारभूतं भागवतं किल वेदान्तसारविज्ञानं परमहंससर्वस्वम् । यथाचोक्तं "किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः, प्रियाः परमहंसानाम्" इति (भा० १।४।३१) भगवता बादरायणमुनिनैव ।

रसमग्न रसिकशिरोमणियों के लिये अमृतरूपी रस, समस्तवासनाओंको छोड़कर भगवान्‌की ही एकमात्र शरण लेनेवालों के लिये भक्तिलताकी जन्मभूमि, वेदान्तसमुद्रको मथकर ब्रह्मतत्त्वको ढूंढनेवालों के लिये सुन्दरमहानीलमणि, विद्या-वन में घूमनेवाले दर्शन—केसरियोंके लिये बेंतके कुञ्ज समान भागवत नामक प्रस्थान विद्यावानों के लिये परीक्षाका स्थान है, ऐसा विद्वानोंका मत है । भगवान् बादरायणने श्रुति स्मृति पुराणसार, सम्पूर्ण वेदान्त का निचोड इस भागवतकी रचना निरंतर अपार संसारमें गोते लगानेवाले, आध्यात्मिकादितापों से दग्ध एवं दुःख ज्वालासे भयभीत होकर उससे शान्ति ढूंढनेवालों के लिये संपूर्ण तापों के भयको दूर करने में सर्वश्रेष्ठ इस भागवतकी रचना की, जो परमहंस संन्यासियों का सर्वस्व है। जैसे स्वयं बादरायणमुनि ने ही कहा है—"परमहंसों के प्रिय भागवत धर्मों मेंसे०" इत्यादि ।

अगाधज्ञाननिधीन् दुरवमर्शतलान् वेदान् सुविमर्शं विभज्य, पुराणानि

सर्वाण्युपपुराणानि च विरचय्य, महाभारतमुखानितिहासान् धर्मार्थकाममोक्षलक्षणचतुर्विधपुरुषार्थप्रतिपादनविचक्षणान् निर्माय च शममनुपलभमानेन भगवता द्वैपायनेन निखिलागमशास्त्रसारभूतं श्रीकृष्णलीलाललितचरितामृतानुकीर्तनप्रवणं भगवद्भावनोद्भावननिपुणं भागवतं प्रणीतमिति हि, प्रथितम् 'अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं तथापि नात्मा परितुष्यते मे।' (भा० १।५।५) 'यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः। न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ॥' (भा० १।५।९) इत्यादि-प्रश्नप्रतिप्रवचनयोर्वैयासिकनारदीययोः। तदिदमखिलेतिहासपुराणनिगमादिमूर्धन्यं भगवच्छरणागतिलक्षणां परमप्रेमापरपर्यायां भक्तिं प्रतिपादयितुं तदौपयिकालौकिकभगवत्केलिविलासचरितामृतं निरूपयितुमेव च प्रवृत्तमपि नान्तरीयकतयाऽद्वैततत्त्वविषयकं ज्ञानमपि सकलवेदशिरोवाक्यविचारनिर्णीतयाथार्थ्यं वर्णयतीत्यतिरोहितमेव मतिमतामनवरतभागवतानुशीलनकुशलानामनसूयभावनाविमलीभूतमानसानां विदुषाम्।

भगवान् द्वैपायनने जब गम्भीर, अगाधज्ञानराशी-वेदरूपी-समुद्र का विभाग करके तथा समस्त पुराण एवं उपपुराणों की रचना करके भी धर्म अर्थ काम मोक्ष रूपी पुरुषार्थों को प्राप्त कराने में समर्थ महाभारतादि इतिहासोंको रचकर भी शान्ति नहीं पायी, तब संपूर्णवेदशास्त्रों के सार, ललित श्रीकृष्णलीलाके अनुकीर्तन में प्रवण, भगवान् में भावना उत्पन्न करने वाले इस भागवतका निर्माण किया, ऐसा उन्होंने व्यासनारदसंवादरूपसे 'तुम्हारी कही हुई सारी बातें मुझमें होने पर भी मेरी आत्माको संतोष नहीं है' से प्रारम्भ करके 'जैसा तुमने धर्मादिपदार्थों का वर्णन किया है, वैसा वासुदेव की महिमा का नहीं'' इत्यादि प्रश्नोत्तरों से कहा है। निरन्तर भागवत के अनुशीलनमें कुशल—विद्वानों को यह तो स्पष्ट ही है कि-यद्यपि समस्त इतिहास—पुराणादिका शिरःस्थानीय भागवत, भगवत्शरणागति लक्षणवाली परमप्रेमस्वरूप—भक्तिके तथा उसके उपायरूप भगवान् के विलासलीलारूपी चरितामृत के निरूपण करनेमें ही प्रवृत्त हुआ है, तथापि इसमें अत्यावश्यक समस्तवेदान्त—वाक्यों के विचारों द्वारा यथार्थरूपसे निर्णीत अद्वैत-तत्त्वविषयक ज्ञानका भी वर्णन करता है।

भगवद्भक्तितत्त्वज्ञानयोर्नैकतरपरित्यागेनापरचारितार्थ्यम्। तथाहि-अनंशोऽपि नित्यशुद्धबुद्धानन्तानन्दात्मनि जगन्निदाने परमात्मनि सच्चिदानन्दलक्षणमंशत्रयमावरणत्रयदृष्टिमवष्टभ्य सैद्धान्तिकैरभ्युपगम्यते। तदेव च तदीयकार्येषु आपरमाण्वापरममहदन्तेषु गगनपवनानलादिषूच्चावचेषु अनन्तविधजागतिकवस्तुषु अस्तिभातिप्रियमितिरूपत्रयेण प्रतीयते। तदावरणकारिण्यश्चाविद्यायास्तिस्रः शक्तयोऽसत्त्वापादिका अभानापादिका

अनानन्दापादिका चेति, (एतच्चाद्वैतसिद्धिव्याख्यायां लघुचन्द्रिकायां जडत्वहेतूपपत्तौ ब्रह्मानन्दसरस्वतीभिरप्युक्तम्। अद्वै० ३१० पृष्ठेऽन्तिमपङ्क्तौ) तत्रानुमानागमादिजनितया परोक्षात्मिकया वृत्त्याऽसत्त्वापादकमावरणं यथा निवर्तते, यथा च वेदान्तमहावाक्यादिनिर्वर्त्तितया अपरोक्षात्मिकया वृत्त्या असत्त्वाऽभानापादकोभयविधावरणं निवर्तते, तथा तदीयगुणगणानुश्रवणाद्यनुनिष्पादिन्या रागलक्षणया वृत्त्या अनानन्दापादकमप्यावरणमप्ययं याति । न चैवं ब्रह्मविषयकापरोक्षसाक्षात्कारे जातेऽपि रागात्मिकाया अनानन्दापादकावरणनिवारणकारिण्या वृत्तेर्विरहादानन्दानभिव्यक्तिरपि संभाव्यत इति वाच्यम । इष्टत्वात् । अत एव "चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥" इति भगवद्गीतावचनम्; "आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥" इति भागवतवचनं च संगच्छते । इत्थंभूतगुणः = आनन्दलक्षणः ।

भगवद्भक्ति व ज्ञान दोनों ही एक दूसरे के विना चरितार्थ नहीं होसकते हैं । सिद्धान्ती के मत में अंशहीन नित्यशुद्धबुद्धमुक्तआनन्दस्वरूप परमात्मा में तीन आवरणों की दृष्टिसे सत् चित् आनन्दरूपी तीन अंश माने जाते हैं । इसी लिये उसका कार्य होनेसे परमाणुसे लेकर परममहत् पर्यन्त आकाश वायु अग्नि आदि छोटी बड़ी अनन्त प्रकारकी वस्तुओं में 'है' 'भान होता है' 'प्रिय है' ऐसी प्रतीति होती है । उसका आवरण करने वाली अविद्याकी असत्त्वापादिका, अभानापादिका और अनानन्दापादिका नामकी तीन शक्तियां हैं। इनमें जैसे शास्त्र या अनुमान से उत्पन्न परोक्ष ज्ञानसे असत्त्वापादक आवरण दूर होता है, एवं वेदान्त—महावाक्यादिसे उत्पन्न अपरोक्ष ज्ञानसे असत्त्वापादक और अभानापादक दोनों ही अविद्याके आवरण नष्ट होते हैं; वैसे ही उनके गुण—गणोंके श्रवणादिसे उत्पन्न रागात्मकवृत्तिसे अनानन्दापादक आवरण भी नष्ट हो जाता है। इसलिये ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी अनानन्दापादक आवरण नाशक रागके न होने से आनन्दकी अभिव्यक्ति नहीं होती, ऐसा मानना अनुचित नहीं है । अत एव गीता में आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी ऐसे चार सुकृती मेरा भजन करते हैं" एवं भागवतमें "ग्रन्थिहीन आत्माराम मुनि भी भगवान् विष्णुकी अहैतुकी भक्ति करते हैं, श्रीहरि ऐसे गुणवाले हैं" कहा गया है । 'ऐसे गुणवाले' का तात्पर्य है कि-भगवान् आनन्दस्वरूप हैं ।

वस्तुतस्तु "मा न भूवं हि भूयासं" इति सकललोकानुभवारूढानुपधिकात्मविषयकप्रेमसद्भावापलापायोगाद् जीवात्मपरमात्मैक्यभावभावनावतामात्मारामाणां मुनीनां स्वतःसिद्धैवानन्तविक्रमे परमात्मनि भक्तिरिति ज्ञानिनां रागलक्षणवृत्त्यभावप्रयुक्तानन्दसाक्षात्कारविरहविषयकसंदेह एव नावतरितुमर्हति । अत एव 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहम्' इत्येवं सिद्धवत्प्रति-

पादनं गीतासु भगवता "ज्ञानवान्मां प्रपद्यते" इति च। अज्ञानिनामप्यात्मनि प्रेमसद्भावेऽपि आत्मपरमात्मनो र्भेदविपर्यासान्नापरिच्छिन्नचित्स्वरूपे परमात्मनि स्वाभाविकी भक्तिरिति तु विशेषः। न च रागात्मिकया वृत्त्यैव गतार्थता न पुनरनुभवात्मकवृत्तेरुपयोगितेति सांप्रतम्। नहि देशान्तरगतेष्टविषयकरागमात्रेण गतार्थता क्वचन लोके समुपलभ्यते। तदेवं वस्तुसाक्षात्कारे जायमानेऽपि प्रेमलक्षणरागविरहे पत्यादिष्वपि सुखाभिव्यक्त्यदर्शनात्, प्रेम्णःसत्त्वेऽपि च यथोक्तदिशा गतार्थताया अदर्शनाच्च तद्विषयकप्रेम–तदीयसाक्षात्कारयोरुभयोरेव यथा परस्परसाकाङ्क्षता लोकसिद्धा, तथैव परमात्मविषयेऽपीति युक्तमुत्पश्यामः। यथैव च जीवपरभेदविपर्यासावधीरणप्रवणतत्त्वसाक्षात्कारसमनन्तरं प्रेमवृत्तिर्भेदविभ्रमनिबन्धनपरिच्छिन्नविषयभावमपहायाऽपरिच्छिन्नविषयभावमापद्यते, तथैवोपमर्दिताशेषभेदभावेन परमप्रेम्णा विगलितनिखिलकामादिकलङ्कपङ्के चेतसि दोषनिबन्धनपरिच्छिन्नविषयकताशून्या ज्ञानवृत्तिरपि अखण्डाकारा तत्त्वसाक्षात्कारापरपर्याया समुत्पद्यते। तदेतदभिहितं नारदीये भक्तिसूत्रे—तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके (सू० २८) अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये (सू० २९) इति।

वस्तुतः तो 'हम न मरें हमेशा रहें' ऐसा सब लोगोंका आत्मप्रेम अनुभवसिद्ध है और जीवात्मा परमात्माको एक समझने वालों के लिये वह प्रेम परमात्मामें स्वतः सिद्ध है; अत एव रागलक्षण-वृत्तिके न होनेसे आनंद साक्षात्कारके अभावका उनमें संदेह भी नहीं किया जा सकता। इसी लिये गीतामें सिद्धरूपसे 'ज्ञानियोंका मैं अति प्रिय हूँ' 'ज्ञानी मुझे भजता है' ऐसा भगवान्ने कहा है। अज्ञानियोंका आत्मामें प्रेम होनेपरभी आत्मा परमात्मामें भेदज्ञान होनेके कारण अपरिच्छिन्न चैतन्यरूप परमात्मामें स्वाभाविकी भक्ति नहीं होती, यही विशेषता है। रागात्मिका वृत्तिसे ही गतार्थता होनेके कारण अनुभवात्मिका वृत्ति की उपयोगिता नहीं है, ऐसा मानना समीचीन नहीं है। लोकमें भी दूसरे देशोंमें गये हुये प्रेमी के प्रति रागमात्रसे गतार्थता नहीं होती। इसी प्रकार पति आदिका साक्षात्कार होने परभी प्रेम न हो तो सुख नहीं होता। अतः प्रेमका होना और प्रेमीका दर्शन होना दोनों ही परस्पर एक दूसरे की आकांक्षा रखते हैं; उसी प्रकार परमात्माके विषय में भी मानना युक्त है। जिसप्रकार जीवब्रह्मके भेदभावको दूर करने वाले तत्त्वसाक्षात्कार के बाद भेदभ्रमके कारण होनेवाली परिच्छिन्नविषयता को छोड़कर प्रेमवृत्ति अपरिच्छिन्नविषयता को प्राप्त होती है, उसी प्रकार परमप्रेमसे समस्त कामादिकलंकरूप कीचड़के दूर होने पर दोषसे होने वाली परिच्छिन्नविषयता को छोड़कर अपरिच्छिन्नविषयवाली अखण्डाकारवृत्ति उत्पन्न होती है, जिसे तत्त्वसाक्षात्कार कहते हैं। इसी लिये नारदके भक्तिसूत्रमें "उस भक्तिका ज्ञान ही साधन है" "एक दूसरे के आश्रित हैं"

ऐसा बताया है ।

यद्यपि मधुसूदनसरस्वतीभिः ज्ञानभक्त्योर्नामान्तरतामात्रशङ्कायामुपस्थितायां तदुभयभेदप्रसाधनसमये भक्तेः परिच्छिन्नविषयत्वमपि ज्ञानापेक्षया विलक्षणतायां हेतुत्वेनैकमभिहितं, तथापि तत्रापराया भक्तेरेव विवक्षिततया न दोषः । समानविषयकत्वाविशेषेऽपि रागद्वेषयोरिव भक्तिज्ञानयोरपि विलक्षणतायां स्वत्यभात्रेन पराया भक्तेरपि परिच्छिन्नविषयकत्वसंपादनवैफल्यात् ।

यद्यपि मधुसूदन सरस्वतीजीने ज्ञान और भक्तिको एकरूपता प्राप्त होनेकी शंका उत्पन्न होने पर उन दोनोंका भेद, ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिमें परिच्छिन्नविषयता होनेसे है, ऐसा कहा है, तो भी वहांपर अपरा भक्ति ही समझनी चाहिये । राग और द्वेषके समान भक्ति और ज्ञान भी समानविषयक होने पर भी भिन्न है, अतः परिच्छिन्नविषयता सिद्ध करना निरर्थक है ।

ज्योत्स्नाकृतस्तु—"आत्मारामाश्चमुनयः" इत्यादिश्लोकव्याख्यानावसरे परयोर्ज्ञानभक्त्योरैक्यमेव ज्ञानभक्त्योर्भेदव्यपदेशस्तु साधनादिभेदेन कथंचिदुपपादनीय इति प्राहुः । *

ज्योत्स्नाकारनेतो "आत्मारामाश्चमुनयः' इसश्लोककी टीका में पराभक्ति और परज्ञान का एकत्व ही माना है एवं ज्ञान भक्तिका भेदव्यवहार तो साधनादि भेदसे किसी प्रकार लगाना चाहिये, ऐसा कहा है ।

इदं पुनरिहावधेयम्—भक्तिज्ञानयोरन्यतरसिद्ध्या अपरस्य सुसम्पादत्वेऽपि एकतरसिद्धिः प्रथममपेक्षिता भवतीतिमार्गद्वयं शास्त्रेषु कथितम् । तत्र तत्त्वसाक्षात्कारलक्षणज्ञानोत्पत्तिर्जगन्मिथ्यात्वावगतिपूर्विकैव भवति । अद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वादिति द्वैतमिथ्यात्वमपि-शास्त्रेषु स्पष्टीकृतम् । तत्र केचिदाहुः—जगन्मिथ्यात्वं तावन्न शास्त्रसंमतं, प्रत्युत शास्त्रविरुद्धम् । न हि जीव–ब्रह्म–जगद्भेदप्रतिपादनपराणां शास्त्रवाक्यानां मिथ्यात्वपरतायामर्थान्तरपरतायां वा किंचन मानमस्ति । तस्मादशास्त्रीयमिदं जीवेश्वरजगद्भेदवस्तुतत्त्वावगाहिप्रत्यक्षप्रमाणविरुद्धं द्वैतप्रपञ्चमिथ्यात्वं केवलाद्वैतवादिनामिति । अपरेऽप्याधुनिकविज्ञानपरिशीलनलब्धशेमुषीवैदग्ध्या अधिचिक्षिपुः—विज्ञानमजानानामाद्यानां शास्त्रमात्राध्ययनजरन्मतीनां मिथ्यात्वनिरुक्तयः । आधुनिकं हि विज्ञानमाविष्कृतबाष्पयानव्योमयानादिसह-

* प्राहुरिति प्रकर्षबीजंतु "स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ।" इति भगवत्पाद वचनानुकूल्यं "यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भजति मां सर्व भावेन भारत ।।" इति भगवद्वचनानुकूल्यं चैव । यो जानाति स भजति' इति ज्ञानभक्त्योरैक्यविधानं, जानात्यर्थं भजतिनानूद्य सर्वभावादिविधानं वा उक्तश्लोके इति बोध्यम् ।

स्वयन्त्रकलापं प्रदर्शितपदार्थतत्त्वपरीक्षणकौशलं जगत्सत्यतां स्थापयांचकारेति । तत्र प्रथमान् प्रति उत्तररूपोऽयमेव ग्रन्थः—श्रीमद्भागवतोपनिषच्छतकनामा अध्यात्मज्योत्स्नाविवृतिसमलंकृतः पुरत उपतिष्ठत इति नास्माकं किंचिदत्र वक्तव्यम् ।

यह बात यहां समझने की है कि–भक्ति और ज्ञानमें से एक सिद्ध होनेपर दूसरे की सरलतासे सिद्धि होजाती है, किन्तु एक की सिद्धि साधनमार्गसे ही प्रथम संपादन करनी होगी, अतः दोनों मार्ग शास्त्रमें बताये गये हैं । उनमें तत्त्वसाक्षात्काररूपी ज्ञान, जगत् को मिथ्या समझने ही से होता है, कारण अद्वैतसिद्धि द्वैतमिथ्यात्वसिद्धि से ही होसकती है, इस कारण द्वैतमिथ्यात्वभी शास्त्रमें स्पष्ट कहा गया है । इसके बारे में कुछ लोगों का कहना है कि—संसारके झूठे होने का सिद्धान्त शास्त्रयुक्त नहीं है, बल्कि शास्त्रविरुद्ध है । जगत् जीव ब्रह्मके भेदको प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रवाक्य मिथ्यात्वपरक हैं, या अन्य परक हैं, इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है । अतः केवलाद्वैतवादियोंका जगत् जीव ईश्वर भेद को वास्तविक बतलाने वाले प्रत्यक्षप्रमाणके विरुद्ध यह कहना है कि—द्वैतप्रपञ्च झूठा है, शास्त्र विरुद्ध है । आधुनिक विज्ञान शास्त्रके पढने वाले भी आक्षेप करते हैं कि–यह सिद्धान्त विज्ञानको न जानने वाले शास्त्रमात्रको पढकर जडमतिवाले प्राचीनों का है । आधुनिक विज्ञान ने रेल हवाई जहाज वगैरे हजारों मशीनों का आविष्कार करके पदार्थतत्त्वकी परीक्षा के चातुर्य से संसारकी सत्यता को सिद्ध कर दिया है । इसमें से पहले आक्षेपके उत्तर स्वरूप यह अध्यात्म–ज्योत्स्नाटीकायुक्त श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतक नामक-ग्रन्थ उपस्थित ही है, अतः उसके बारेमें हमें कुछभी कहने की आवश्यकता नहीं है ।

द्वितीयान् प्रति तावदिदमभिधीयते—विज्ञानशास्त्रमपि दृश्यस्य मिथ्यात्वमेव व्यवस्थापयति । तथाहि अणुवीक्षणयन्त्रेण (Microscope) परीक्षणे क्रियमाणे सति मानवादीनां प्राणभृतां शरीरमणुविशेषैः (Cell) निर्मितमिति विज्ञायते । एवं जडानि वस्त्वन्तराण्यपि अण्वन्तरविशेषैः (Atoms) विनिर्मितान्येव । ते चातिशीघ्रगतिमन्तः । परमाणवोऽपि विद्युत्कणविनिर्मिताः । विद्युत्कणाश्च द्विविधाः—ऋणाणवो धनाणवश्च । (Neutrone & Proton) धनाणून् परितः ऋणाणवः सार्धद्वयविपल (second) समये त्र्यधिकनवतिसहस्रक्रोश (१८६००० miles) परिमितवेगेन परिभ्राम्यन्ति । एतावत्पर्यन्तं वैज्ञानिकैः प्रायः प्रत्यक्षीकृतं तत्त्वम् । तत्र तैरेवेदमाख्यायते यत् अतिशयवेगशालिभिः परिभ्राम्यद्भिरणुभिरबृहद्भूतापि पृथिवी बृहती समुपलभ्यते प्राणिभिः । यथा हि विद्युद्व्यजनमतित्वरितगत्या चलत् स्थालीव मण्डलमिव च सान्द्रवृत्ताकारमुपलभ्यते, तद्वदसान्द्रभूता अपि अमण्डलाकारा अपि अणुकणा अतिशय-

वेगवशात् सान्द्रकठोरपृथिव्याद्याकारेणावभासन्ते। यदि हि संभाव्येत, कश्चनैतदणुगणगतिं निरुध्य तेषां स्थिरसमवायं कुर्यात्, तदा सर्वापि पृथिवी एकपादगेन्दुक-(Football) परिमितबृहत्त्वावापि दुर्लभा स्यात्। तथा च यादृशरूपेण पृथिवीं वयमुपलभामहे शरीरादिकं च तादृशरूपेण तदसत्यमेव। तदिदं वैज्ञानिकमतमलातचक्रनिदर्शनेन गौडाचार्यैरपि प्रदर्शितमेव। एतत्तदुच्यते—यद् दृश्यं तन्मिथ्येति।

दूसरे आक्षेपके लिये हमारा कहना है कि–विज्ञान भी दृश्यके मिथ्यात्वको ही सिद्ध करता है। अणुवीक्षणयन्त्रसे देखनेपर मनुष्यादियों का शरीर अणुविशेषों द्वारा निर्मित प्रतीत होता है। जडपदार्थ भी अन्य अणुविशेषोंसे बने हुये हैं। ये अणु अतिशीघ्रगामी हैं। परमाणु भी बिजलीके कणों से बने हुये हैं। बिजलीके कण दो प्रकारके हैं, ऋणाणु और धनाणु। और ऋणाणु धनाणुके चारों ओर १८६ हजार मील प्रतिसेकंडकी गतिसे घूमते हैं। यहां तक वैज्ञानिकोंने प्रत्यक्ष किया है। उन्हीं का कहना है कि—अतीव वेगसे घूमते हुए अणुओं से छोटी जमीन भी लोगोंको बड़ी दीखती है; जैसे जोरसे चलता हुआ बिजली का पंखा ठोस गोल थाली के समान दिखता है, वैसे ही ठोसरहित व मण्डलाकाररहित–होते हुये भी अणुकण अतीव तेजीके कारण ठोस कठोर जमीनके रूपसे प्रतीत होते हैं। यदि इन अणुओं की गति रोककर इकट्ठा किया जाय तो समस्त पृथिवी एक फुटबालसे भी छोटी होजाय। अतः जिस रूपसे पृथ्वी एवं शरीरादि हमें देखनेको मिलते हैं, उसरूपसे वह असत्य ही है। इस विज्ञानमत को ही गौडपाद-आचार्य ने अलात–चक्रके दृष्टान्तसे दिखाया है। अतः वे कहते हैं कि—जो दृश्य है, वह मिथ्या है।

किं च नैतावता आधुनिकवैज्ञानिकानामुपरतिः। ते ऋणाणवोऽपि प्रभाणुसंचय एवेति तैरनुमीयते। प्रभाणुमध्येऽपि कर्पाणवः परिभ्रमन्ति। तत एव तत्स्थितिः। किंच कर्पाणवोऽपि सर्गाणूनां परिभ्राम्यतां समुदाया एव संभवितुमर्हन्तीति। इत्थं सूक्ष्म–सूक्ष्मतर—सूक्ष्मतमपरम्परया कुत्रैतदणुविभागपर्यवसानमित्यनिर्णीतदशयैवावतिष्ठते वैज्ञानिकानामद्यावधि। एवंविधां विषमपरिस्थितिमवलोक्य निर्वचनादुरीकृतनिजपराजयः जेम्स जीलस (Jams Jeals) इत्येतन्नामा वैज्ञानिकधुर्यः—शून्यभूतायामासन्द्यां (Chair) उपविशन् शून्यात्मिकया तूलिकया (Brush) शून्यरूपे पीठे (Table) शून्यात्मके कर्गले लिखामीति स्पष्टं व्याजहार। एवंविधेऽनवरतानुशीलन फलभूतवैज्ञानिकपरिशोधे जाते पुनर्वैज्ञानिकतत्त्वमजानद्भि जीर्णीभूत शास्त्रमात्राऽनवरतचिन्तनजरन्मतिभिः सकललोकानुभवविरुद्धं जगन्मिथ्यात्वमभाणीति यदुच्यते, तदेव स्वीयां विज्ञानानभिज्ञतां गतानुगतिकतां च व्यनक्तीति कृतमप्रसक्तप्रसञ्जनेन।

फिर यहीं तक वैज्ञानिक लोग नहीं ठहरते। अणु भी प्रभाणुओं का संचय है, ऐसा वे अनुमान करते हैं। प्रभाणुओं के भी बीच कर्षाणु घूमते हैं। इसी से उनकी स्थिति है। कर्षाणु भी सर्गाणुओं का घूमता हुआ समुदाय है। इस प्रकार सूक्ष्म सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम परंपरा से इस अणुविभागका कहां अन्त होगा ? यह अभी भी वैज्ञानिकों के लिये अनिर्णीत ही है। इस प्रकार की विषमपरिस्थिति को देखकर निर्वचन करने में अपनी पराजय स्वीकार करके जेम्सफ़ीलस नामक वैज्ञानिक स्पष्ट ही लिखता है कि—शून्य की कुर्सीपर बैठकर शून्य—कलम से शून्य टेबुल पर रखकर शून्य कागजपर लिख रहा हूँ। इस प्रकार निरन्तर अध्ययन के फलस्वरूप वैज्ञानिक शोधके होने पर भी जो वैज्ञानिक तत्त्वको न जानकर संसारके मिथ्यात्व को सब लोगों के अनुभव विरुद्ध व जर्जरितशास्त्र-मात्रका निरन्तर चिन्तन करने से जीर्ण मतिवालों का सिद्धान्त बताते हैं, वे अपनी विज्ञान की अज्ञता एवं अन्धविश्वास को ही दिखाते हैं। इस बात चीतको हम यहीं रहने देते हैं।

इत्थं च यद् दृश्यं तन्मिथ्येति अस्मद्व्याप्तिः सर्वथा आधुनिक-विज्ञानेनापि संगतैव। ननु—आधुनिकवैज्ञानिकैः सूक्ष्मसूक्ष्मतरपरम्परया अन्ततो मूलभूतमभ्युपगम्यत एव तत्त्वमतिसूक्ष्माणुशक्तिरूपमन्यद्वा, भवद्भिस्तु मूलमपि मिथ्यैव परमाण्वादिकमभ्युपेयत इति चेत् ? सिद्धान्तानभिज्ञो भवान्। वयं तु पारमार्थिकं सत्यं परं ब्रह्मैव जगज्जन्मस्थितिभङ्गनिदानमनिर्वचनीयजगद्विवर्तकारणमुपगच्छाम इत्यस्थानेऽयं दोषारोपः।

इस प्रकार दृश्य मिथ्या होता है, यह नियम आधुनिक विज्ञानके अनुकूलही है। यदि कहो कि—आधुनिक—वैज्ञानिकों के द्वारा सूक्ष्म सूक्ष्मतर परंपरासे भी अन्तमें जाकर अतिसूक्ष्म—अणुशक्तिरूप या और किसी प्रकारका मूलतत्त्वतो माना ही जाता है। आप तो मूल परमाणु आदिको भी मिथ्या मानते हैं, तो इससे आपने सिद्धान्तको न जानना ही प्रकट किया है। हम तो संसार के जन्मस्थितिविनाशका अनिर्वचनीय-विवर्तकारण पारमार्थिक सत्य पर ब्रह्मको मानते हैं, अतः यह दोषारोपण फाल्तू ही है।

तदेतदद्वितीयात्मविषयकयथार्थापरोक्षविज्ञानमात्मेतरनिखिलजगन्मिथ्यात्वनिश्चयपुरःसरमेव भवतीति विवेकवैराग्यादिसाधनकलापसंपादनपूर्वकानवरतश्रवणमनननिदिध्यासनजनितजगदसत्यत्वनिश्चयकस्य मुमुक्षोरतिक्लेशेनैव संभवतीति निश्चितं भवति। भक्तिः पुनः सकलजनसुलभा नातिक्लेशभारमावहति इति। अनुरागात्मिकाया भक्तेः संसारदशायामेव प्राणिमात्रस्य सांसारिकवस्तुनि सिद्धतया विषयविपरिवर्तनेन अशरणशरणभगवच्चरणारविन्ददृढीकरणमात्रसाध्यत्वात्। अत एव च भगवद्गुणश्रवणानुकीर्तनैकपरायणो भक्तशिरोमणिः नारदोऽप्याह—"अन्यस्मात्सौ-

लभ्यं भक्तौ" इति (नारदीयभक्तिसूत्रे)। भगवतापि ज्ञानिनमुद्दिश्याभिहितं—'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसामिति।' एवं स्थिते-यदत्राहुर्भक्तिरसामृतसिन्धुकाराः—"क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा" इति भक्तिलक्षणं; सुदुर्लभत्वे प्रमाणं च–"अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगमिति" पञ्चमस्थं पद्यं, 'ज्ञानतः सुलभा मुक्ति र्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः। सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिस्तु दुर्लभा॥' इति तान्त्रं पद्यं च, तत्सर्वमनवबोधनिबन्धनमसम्बद्धमेव। भक्तिप्रशंसापरत्वाद् वाक्यानाम्।

ऐसा अद्वितीय आत्मविषयक प्रत्यक्षज्ञान, आत्मासे भिन्न समस्त जगत् के झूठेपनके निश्चयसे ही होता है। यह तो निश्चित ही है कि—यह झूठेपन का निश्चय विवेक वैराग्यादि साधनों की प्राप्ति करके श्रवण मनन निदिध्यासन से मुमुक्षुको अत्यन्त क्लेशसे ही होता है। और भक्ति तो सब लोगों के लिये सुलभ और ज्यादाकष्ट बिनाही होती है। क्योंकि—रागात्मिका भक्ति, सब लोगों को सांसारिक वस्तुओं में सिद्ध—रागको अशरणशरण–भगवान् के चरण कमलों में दृढकरने मात्रसे ही हो जाती है। इसी लिये भगवान् के गुण गणों के श्रवणकीर्तनमें ही तत्पर–भक्तशिरोमणि नारदने भी कहा है—'भक्ति दूसरों की अपेक्षा सुलभ है।' भगवान्ने भी ज्ञानियों को उद्देश करके कहा है कि—'अव्यक्त में आसक्त चित्तवालों को अधिक क्लेश होता है।' इस स्थिति में जो भक्तिरसामृतसिन्धुकारने कहा है कि—भक्ति मोक्षको छोटा करनेवाली है, क्लेशको हरनेवाली है एवं कठिनता से प्राप्त होती है, और भक्तिकी दुर्लभता में पांचवे स्कंधका "हे मित्र! भगवान् मुकुन्द इस प्रकार भजनेवालों को मुक्ति भले ही दे दें, लेकिन कभी भी भक्ति नहीं देते' और तन्त्रका-'ज्ञानसे मुक्ति और यज्ञादि–पुण्यसे भोग सुलभ है, पर हजारों साधनों से भी भगवान् की भक्ति अति दुर्लभ है।' इत्यादि श्लोकों का प्रमाण दिया, वह सब अज्ञानसे असम्बद्ध ही कहा है। उक्त वाक्योंका भक्तिकी प्रशंसामात्रमें तात्पर्य है।

यच्च मोक्षलघुताकृदिति विशेषणं तदतिस्थवीयः। ज्ञातत्वोपलक्षितात्मन एव मोक्षपदार्थत्वात्। यथा चोक्तम्–अविद्याऽस्तमयो मोक्षः, सा च बन्ध उदाहृतः। इति 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।' इति च। तस्य च निरवच्छिन्नसच्चिदानन्दानन्तलक्षणस्य कुतश्चिदपि लघुताया असंभावितत्वात्।

मोक्षका स्वरूप ज्ञातता से उपलक्षित आत्मा ही होने के कारण 'मोक्षको छोटा करने वाली' यह विशेषण तो अतिस्थूल है। जैसे कि—कहा भी है—'अविद्याका नाशही मोक्ष है, और अविद्या को बन्ध कहा है' और 'मोहकी निवृत्ति ही ज्ञाततासे उपलक्षित आत्मा है।' उस अपरिच्छिन्न–सच्चिदानन्दानन्तलक्षण का किसी

से भी छोटा होना असंभव ही है ।

तमिमं द्वितीयं भक्तिमार्गं सकललोकसुलभमुपलभ्य तमेव निखिललोककरुणाविधेयोऽपारसंसारसागरमध्यपतितदीनजनोद्दिधीर्षुर्भगवान् बादरायणो विशेषतयाऽस्मिन् भागवतप्रस्थाने प्रत्यतिष्ठिपत् । तेन च 'वासुदेवः सर्वमिति, भगवद्वचनानुसारेण विगलितनिखिलभेदभावमखण्डाद्वितीय परमात्मयाथात्म्यज्ञानं समुत्पत्स्यत इति प्राथमिकसाधनतया प्रधानतया च भगवद्भक्तिप्रतिपादकमपि भागवतप्रस्थानमद्वैतप्रतिपादनेऽपि न्ययूयुजत् ।

सब लोगोंके लिए सुलभ देखकर अपारसंसार–सागर में पड़े हुये दीनजनों के उद्धार की इच्छासे सब लोगों पर करुणा करके भगवान् बादरायणने विशेषकर इस दूसरे भक्ति मार्गको भागवतप्रस्थानमें स्थापित किया । इससे वासुदेव ही सब कुछ है, इस भगवद्वाक्यानुसार समस्त भेदभाव नष्ट होकर अखण्डानन्द–अद्वितीय परमात्मा का यथार्थज्ञान उत्पन्न होगा । एवं प्रथम प्रधान–साधनरूपसे भगवद्भक्तिका प्रतिपादन करनेवाला होनेपर भी भागवत प्रस्थान को अद्वैत प्रतिपादनमें भी नियुक्त किया ।

अस्मिँश्च तत्त्वविषये वादिनो बहुविधविप्रतिपन्ननानामतानुसारेण भागवतमिदमयूयुजन् । केचिदिह नीरसज्ञानोपदेशो नास्त्येवेत्यभिदधते । अन्ये तु चोपदिश्यमानमपि तत्त्वं नाद्वैतलक्षणं भगवत्पादादिप्रतिपादितमपि तु विशिष्टाद्वैतमेवेत्येके, शुद्धाद्वैतमेवेत्यपरे, द्वैतमेवेतीतरे । एवंविधविप्रतिपत्तिशतघोरतिमिरजडीकृतनयनानां द्वैतवासनादुर्वासितमतीनां नेत्रमुन्मीलयितुं भगवद्बादरायणवर्णितं सकलनिगमागमोपपत्तियुक्त्यनुभवसिद्धं भागवतसम्मतमद्वैततत्त्वं प्रतिपादयितुं चात्रभवतां **स्वामिपादानां भागवतसंहितोपनिषच्छतकसंचयन — तदीयविवरणात्मक — अध्यात्मज्योत्स्नाकृतां महामण्डलेश्वराणां न्यायवेदान्तादिनिखिलशास्त्रेषु लब्धनैपुण्यानां श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य–महेश्वरानन्दयतिपादाना**मयमुद्यमश्चेतश्चमत्कारी नाध्येतृवर्गाणां तिरोहित इव भविष्यतीति मे निश्चिता मतिः । मुख्यतयाऽद्वैततत्त्वप्रतिपादनपराणामेव भागवतप्रमाणानामत्रोपलम्भेऽपि तत्र तत्र भक्तिप्रतिपादका अपि श्लोका शतकान्तर्गततया उद्धृत्य व्याख्याता इति न भक्तिप्रधानभागवतप्रस्थानस्वरूपोपघातावसरोऽपि प्रदत्त इत्यपरोऽप्यत्र विशेषः । भागवतकर्तृविषये चाद्यत्वे समुत्पन्ना नानाविधविप्रतिपत्तीरनतिदीर्घेऽस्मिंल्लेखे प्रदर्शयितुं समाधातुञ्च न यतामहे, श्रद्धावित्तानां भक्तिज्ञानादिमार्गावलम्बिनामनतिप्रयोजनत्वादिति—

विदुषां विधेयः स्वामी काशिकानन्दः (न्यायवेदान्ताचार्यः)

इस तत्त्वके विषयमें नाना–प्रकारके मतवादियोंने—भागवतको अनेकविधमतों

में नियुक्त किया। कोई इसमें नीरस–ज्ञानोपदेश है ही नहीं, ऐसा मानते हैं। भगवत्पाद (आचार्य–शंकर) द्वारा प्रतिपादित–अद्वैततत्त्व नहीं, वरन् इसका उपदिष्ट तत्त्व विशिष्टाद्वैत है, ऐसा दूसरे मानते हैं। कोई शुद्धाद्वैत तो कोई द्वैत ही मानते हैं। इस प्रकार अनेक—वादियों के द्वारा द्वैतवासनासे दुर्वासित—दिमागवालों के–अत्यन्त गहन-अन्धकारसे जडीभूत हुए–नयनोंको खोलने के लिए एवं भगवान्–बादरायण द्वारा वर्णित—सरल—सुगम, निखिल—निगमागम-युक्ति–अनुभवादिसे सिद्ध–श्रीमद्भागवतसंमत—अद्वैततत्त्वका प्रतिपादन करनेके लिए—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य न्यायवेदान्तादि–सम्पूर्ण शास्त्रों में निपुण–पूज्य स्वामी महेश्वरानन्द महाराज महामण्डलेश्वरजीका—श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतक का संचयन एवं अध्यात्म–ज्योत्स्ना-विवरण रूपी प्रयत्न, पढने वालों के चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेमें सफल ही होगा, ऐसा मेरा निश्चय है। दूसरी विशेषता यहाँ यह है कि–मुख्यरूपसे भागवतके अद्वैतप्रतिपादनपरक–श्लोक उपलब्ध होने पर भी कहीं कहीं भक्ति-प्रतिपादक-श्लोकोंका उद्धरण करके व्याख्यान करने के कारण भागवतके भक्तिस्वरूपके उपघातका अवसर ही नहीं आने दिया है। श्रद्धाधनी भक्ति—ज्ञानादि मार्गों पर चलने वालों के–अप्रयोजक होने के कारण भागवतकारके विषयमें प्रचलित–अनेक प्रकारके मतोंका प्रदर्शन और समाधान इस छोटे लेखमें करने का प्रयत्न मैं नहीं करता हूँ। इति।

अज्ञजनदशा एवं भगवत्प्रार्थना।

त्वं सर्वलोकस्य सुहृत् प्रियेश्वरो, ह्यात्मा गुरुर्ज्ञानमभीष्टसिद्धिः।
तथापि लोको न भवन्तमन्धधी र्जानाति सन्तं हृदि बद्धकामः॥
तं त्वामहं देववरं वरेण्यं, प्रपद्य ईशं प्रतिबोधनाय।
छिन्ध्यर्थदीपै र्भगवन्! वचोभि र्ग्रन्थीन् हृदय्यान् विवृणु स्वमोकः॥

(भा० ८।२४।५२-५३)

आप सारे लोकके सुहृद् प्रियतम, ईश्वर और आत्मा हैं, गुरु, उसके द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान और अभीष्ट की सिद्धि भी आपका ही स्वरूप है। फिर भी कामनाओंके बन्धन में जकडे जाकर लोग अन्धे हो रहे हैं। उन्हें इस बात का पता ही नहीं है कि–आप उनके हृदय में ही विराजमान हैं। आप देवताओंके भी आराध्य देव, परम-पूज्य परमेश्वर हैं, मैं आपसे ज्ञान प्राप्त करनेके लिए आपकी शरण में आया हूँ। भगवन्! आप परमार्थ को प्रकाशित करने वाली अपनी वाणी के द्वारा मेरे हृदयकी ग्रन्थि काट डालिए, और अपने स्वरूप को प्रकाशित कीजिये।

प्रास्ताविक–वक्तव्यमें समुद्धृत—भागवत के वचनों की सूची—

प्रास्ताविक–वक्तव्यमें समुद्धृत–उपनिषदादि–वचनोंकी सूची—

श्लोक प्रतीक		—	पृष्ठ
श्रीसच्चिदानन्द	(मा०)	०	१
शृणु सखि !	(प्र०)	०	१
श्रेयान्	(गी०)	=	५
मंगलादीनि	(व्या०)	०	६
तरति	(उ०)	—	६
अर्थोऽयं	(प्र०)	०	६
अर्थोऽयं	(पु०)	०	७
अयं हि	(स्मृ०)	=	९
ॐ नमः	(श्री०)	०	१४
चतुर्विधा	(गी०)	—	१८
तेषां ज्ञानी	(गी०)	=	१८
मोक्षकारण	(वि०)	=	१८
व्यासो वेत्ति	(प्र०)	०	२१
ईश्वरानु	(प्र०)	=	२२
एकं सद्	(वे०)	—	२३
एकं सन्तं	(वे०)	—	२३
एकःसन्	(वे०)	—	२३
यो देवानां	(वे०)	—	२३
माधवो	(श्री०)	०	२६
अजां	(उ०)	—	२८
प्रकृतिं	(गी०)	=	२८
यथा सोम्य	(उ०)	०	३०
यथा नद्यः	(उ०)	०	३०
मम माया	(गी०)	=	३५
सत्यं	(उ०)	—	३७
तत्त्वमसि	(उ०)	—	३७
अस्थूल	(उ०)	—	३७
बुद्धेः	(गी)	—	३९
विद्यद्	(शां)	०	४०
कुक्षितैः	(शां)	०	४०
मृत्स्ना	(शां)	=	४०
श्लोकप्रतीक		**—**	**पृष्ठ**
वंशी	(म)	०	४०
अस्माकं	(म)	=	४०
पराकृत	(म)	०	४०
तस्मिन्	(मा)	०	४१
तदेतत्	(उ)	०	४२
रसो	(उ)	—	४४
यदा पश्यः	(उ)	०	४६
सर्वाकार	(पु)	०	४७
समानं	(उ)	—	४७
निर्दोषं	(गी)	—	४७
पण्डिताः	(गी)	—	४७
न तस्य	(उ)	—	४७
यो वेद	(उ)	—	४८
मद्भावं	(गी)	—	४८
सविशेषणे	(प्र)	०	५१
तदस्य	(वे)	—	५७
अपूर्व	(उ)	—	५९
मनसैव	(उ)	=	६०
तमेव	(उ)	=	६७
छिद्यन्ते	(उ)	—	७२
तस्मिन्	(उ)	—	७२
संभवा	(गी)	—	७३
इन्द्रो	(वे)	—	७४
अजायमानो	(वे)	—	७४
प्रकृतिं	(गी)	—	७५
स भगवः !	(उ)	—	७५
निर्युक्तिकं	(प्र)	=	७६
अच्युतं	(शां)	=	८५
श्रीपति	(शां)	=	८५
भज	(शां)	=	८५
जयति	(शां)	—	८५

श्रीमद्भागवत के समुद्धृत–वचनप्रमाणों की सूची—*

* ० इसप्रकार का चिह्न पूर्ण श्लोक का ज्ञापक है। = इसप्रकारका अर्धश्लोक का ज्ञापक, और — इसप्रकार का चिह्न श्लोक के एक पाद का (चतुर्थ-भागका) ज्ञापक समझना चाहिये।

उपनिषत्–गीता एवं प्रकीर्ण–ग्रन्थोंके वचनों की सूची —

ब्रह्मनिर्वाणदशाका अनुभव ।

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं, निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथाऽर्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक–मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥

(भा० ३।२८।३५)

जैसे तेल आदिके चुक जानेपर दीपशिखा अपने कारणरूप तेजस्-तत्त्वमें लीन होजाती है, वैसे ही आश्रय, विषय और रागसे रहित होकर मन शान्त-ब्रह्माकार होजाता है । इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर जीवात्मा, गुणप्रवाहरूप-देहादि उपाधिके निवृत्त हो जानेके कारण ध्याता ध्येय आदि त्रिपुटी भेदरहित एक-अखण्ड परमात्माको ही सर्वत्र अनुगत देखता है ।

श्रीविश्वनाथो विजयतेतराम् ।

प्रास्ताविकं—वक्तव्यम् ।

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे, कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे ।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे, नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम् ॥
शृणु सखि ! कौतुकमेकं, नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम् ।
धूलीधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्त-सिद्धान्तः ॥*

(हिन्दी—अनुवाद)

जिनका वास्तविक-स्वरूप है—सच्चिदानन्दघन, एवं जो अपने दिव्य-साकार विग्रहके निरतिशय-सौन्दर्य-माधुर्यादि गुणों से सबका मन अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं, इसलिए वे कृष्ण हैं। और जो सर्वदा अनन्त-सुख की वर्षा करते रहते हैं,

* आध्यात्मिक—पक्षे नन्दस्य=मनसो जीवस्य वा निकेतस्य=हृदयस्याँगणे, वेदान्त-सिद्धान्तः=प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म, धूलीसदृशया-तुच्छया मायया स्वाङ्गानि—सच्चिदानन्दादीन्यविभक्तांशलक्षणानि धूसरितानि=समाच्छादितानि, यस्य सः, एवंभूतः सन्,नृत्यति=जाग्रदाद्यवस्थासु विश्वादिरूपेण नृत्यति=विविधाभिनयं करोतीत्यर्थः। तदुक्तं—श्रीमद्भागवते-द्वादशेऽपि—'स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति वृत्तिभिः। अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान् परिभाव्यते ॥' (भा० १२।११।२२) इति । वृत्तिभिः=जाग्रदाद्यवस्थाभिः। तद्वृत्त्युपाधीनाह—अर्थाः=बाह्यविषयाः, इन्द्रियं=मनः, आशयः=तदुभयसंस्कारयुक्तमज्ञानं, ज्ञानं=त्रितयसाक्षि, तैः। कौतुकं=आश्चर्यं, 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्।' (२।२९) इति गीतास्मृतेः। अर्थात्—नन्द यानी मन या जीव, उसके हृदयरूप निकेतन के अंगणे में वेदान्तका सिद्धान्त—जो प्रत्यगभिन्न-ब्रह्म है, वह धूलीसदृश-तुच्छ मायाके द्वारा अपने सत्—चित्—आनन्दादि-अविभक्त-अंशरूप-अंगोंको आच्छादित करके जाग्रदादि-अवस्थाओंमें विश्वादिरूपसे विविध-नृत्य कर रहा है। यह श्रीमद्भागवतके द्वादशस्कन्ध में भी कहा है—'वह एक ही सर्वात्मा भगवान् जाग्रदवस्था का अभिमानी विश्व बनकर बाह्य-विषयोंका अनुभव करता है, स्वप्नावस्थाका अभिमानी तैजस बनकर मनःकल्पित-दृश्यों को देखता है, सुषुप्ति-अवस्थाका अभिमानी प्राज्ञ बनकर संस्कारयुक्त-अज्ञानसे समावृत्त हो जाता है, और वही सबका साक्षी-तुरीय बनकर शुद्धस्वरूपसे भासित होता है।' (भा०) कौतुक यानी आश्चर्य। गीता में भी कहा है—'इस आत्मा को कोई आश्चर्य के समान देखता है।' (गी०) यह आध्यात्मिक-पक्ष है।

जिनकी शक्तिसे इस समस्त विश्वकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होते हैं—उन भगवान्-परब्रह्म श्रीकृष्णको हम भक्ति-रसका आस्वादन करने के लिये निरन्तर प्रणाम करते हैं। हे सखि! नन्द-बाबा के गृहके अंगनेमें मैने एक कौतुक देखा है—वह यह है कि—वेदान्त का सिद्धान्त-रूप-सच्चिदानन्द—ब्रह्म धूलिसे अपने अंगोंको धूसरित बनाकर नाच रहा है।

पुराणशिरोमणेः श्रीमद्भागवतस्य स्तुत्यं महत्त्वम्।

विदांकुर्वन्त्येव निखिलशास्त्रपारावारपारदृश्वानो विपश्चिदपश्चिमाः प्रोज्झितकैतवेन निष्कामधर्मेण भक्त्याऽनन्यया विषयवैराग्येण स्वात्मावबोधेन च समुल्लसन्तः सन्तो महान्तः, अतिदुस्तरेऽत्यगाधेऽस्मिन् संसाराब्धौ मज्जनोन्मज्जनं कुर्वतामनादिकालतो विषीदतां जनानां सन्तरणाय श्रीनिवासेन वासुदेवकृष्णेन धीवरेण समलंकृता श्रीमद्भागवतमेव सुदृढा रमणीया तरीविंद्यते इति, अतस्तामवलम्ब्य सर्वोऽपि जनो दुःखालयसंसारोदधेः परं पारं ब्रह्मधामाख्यमद्वयानन्दपूर्णमनायासतो गन्तुं शक्नोतीत्यत्र नास्ति संशयलेशोऽपि।

पुराणशिरोमणि—श्रीमद्भागवतकी स्तुति-प्रशंसा करने योग्य महत्त्व।

निखिल—निगमागमादि—शास्त्ररूपी महासागर के पार (तात्पर्य एवं लक्ष्य) को देखने वाले—श्रेष्ठ-विद्वान्-जो वञ्चनावर्जित—निष्कामधर्मसे अनन्यभक्तिसे विषय-वैराग्यसे एवं स्वात्मावबोधसे सुशोभित महान्-सन्त हैं—वे इस दुस्तर एवं अतिगहन-संसार-सागरमें अनादिकालसे वारंवार डूबते-निकलते हुए एवं विविध-कष्टोंको भोगते हुए-मानवोंके समुद्धारके लिए—श्रीनिवास-वासुदेव-कृष्णरूप धीवर (मल्लाह-नाविक) से सुशोभित—यह श्रीमद्भागवत ही अतिदृढ़ एवं रमणीय नौका है, इसका अवलम्बन करके जगत्के सभी मानव, इस दुःखालय—संसार-सागर का ब्रह्मधाम नामक, पर-पार-जो अद्वयानन्द से पूर्ण है—वहाँ अनायास से पहुँचने के लिए समर्थ होता है, इसमें लेश भी संशय नहीं है।

अत एवोक्तं—श्रीमद्भागवतमाहात्म्येऽपि—'संसारसिन्धौ परिपातितानां क्षेमाय वै भागवतं प्रगर्जति।' (भा० मा० ६।८२) 'किं श्रुतैर्बहुभिः शास्त्रैः पुराणैश्च भ्रमावहैः। एकं भागवतं शास्त्रं मुक्तिदानेन गर्जति॥' (भा० मा० ३।२८)। अत एवेदं श्रीमद्भागवतं परित्राणाय साधूनां, अभ्युदयनिःश्रेयससाधकधर्मसंस्थापनाय च भगवतः श्रीकृष्णस्यातिदुर्लभदर्शनस्य सर्वसुलभदर्शनं वाङ्मयावतारात्मकमेव वेदितव्यम्। तथा चोक्तं—'श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि। स्वीकृतोऽसि मया नाथ! मुक्त्यर्थं भवसागरे॥' (भा० मा० ६।३०) इति। अत एव तदपरिमितानुपमेयमहत्त्वबोधनाय-'इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितम्। भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनाय प्रकाशितम्॥' (भा० मा० २।७१)

इत्यप्यभिहितम् ।

इसलिए श्रीमद्भागवतके माहात्म्य में भी कहा है कि—'जो दुःखप्रचुर संसार-सागरमें डूब रहे हैं, उनके उद्धारके लिए-कल्याण करने के लिए यह श्रीमद्भागवत सिंहनाद कर रहा है ।' 'बहुत-से शास्त्र और पुराण सुननेमें क्या लाभ है ?, इससे तो व्यर्थका भ्रम बढ़ता है । मुक्ति देने के लिये तो एकमात्र भागवतशास्त्र ही गरज रहा है ।' (भा०) इसलिये यह श्रीमद्भागवत, साधु-सज्जनोंके परित्राणके लिए, तथा अभ्युदय एवं निःश्रेयससाधक-धर्मकी स्थापनाके लिए—जिनका दर्शन—अत्यन्त-दुर्लभ है—ऐसे भगवान् श्रीकृष्णका—जिनका दर्शन सबके लिए सुलभ है—ऐसा वाङ्मय-अवताररूप ही जानना चाहिये । ऐसा भागवतके माहात्म्यमें कहा भी है—'श्रीमद्भागवतके रूप में आप साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र ही विराजमान हैं । हे नाथ ! मैंने भवसागरसे छूटकारा पानेके लिए आपकी शरण ली है ।' (भा०) इसलिये श्रीमद्भागवतके- अपरिमित एवं उपमारहित—महत्त्व के बोधन के लिए—ऐसा कहा भी है कि—'यह श्रीमद्भागवत-पुराण वेदों के समान हैं, श्रीबादरायणमुनिने इसे भक्ति, ज्ञान, और वैराग्यकी स्थापनाके लिए प्रकाशित किया है ।'

अयमर्थः—नामेति प्रसिद्धौ, प्रसिद्धमिदं भागवतं, ब्रह्मसंमितं=ब्रह्मभिर्वेदैश्चतुर्भिः संमितं=तुल्यं गौरवान्वितमस्ति । प्रयोजनमस्याह—भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनार्थं भावुक—मुमुक्षुहृदयेषु व्यासेन महर्षिणा प्रकाशितम् । यद्वा ब्रह्मपदेन त्विह परं ब्रह्म बोध्यम् । न वेदः, यतो भागवतस्य निगमकल्पतरुफलत्वेनोपक्रमणात्, 'यः स्वानुभावमखिल—श्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् । संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥' (भा० १।२।३) इत्यादौ श्रुतिसारतया प्रतिज्ञानाच्च । निगमस्य कल्पतरोः फलं श्रुतेश्च सारो भगवान् श्रीकृष्ण एव । तदभिन्नतया श्रीमद्भागवतमपि तथा व्यपदिश्यते ।

यह अर्थ है—'नाम' पद प्रसिद्ध अर्थ का बोधक है । यह प्रसिद्ध श्रीमद्भागवत, चारों-वेदोंके समान गौरवशाली है । इसका प्रयोजन कहते हैं कि—व्यासमहर्षिने भावुक-मुमुक्षुओंके हृदयमें भक्ति-ज्ञान एवं वैराग्यकी स्थापनाके लिए इसका प्रादुर्भाव किया है । अथवा ब्रह्मपदसे यहां पर-ब्रह्म समझना चाहिये, वेद नहीं । क्योंकि—भागवतका वेदरूपी कल्पवृक्षके फलरूपसे उपक्रमण (प्रारंभिक-निर्देश) किया है । और 'यह श्रीमद्भागवत अत्यन्त-गोपनीय-रहस्यात्मक-पुराण है । यह भगवत्स्वरूपका अनुभवकरानेवाला, और समस्त-वेदोंका सार है । संसारमें फँसे हुए— जो लोग इस घोर-अज्ञानान्धकारसे पार जाना चाहतेहैं, उनके लिए आध्यात्मिक-तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाला यह एक अद्वितीय-दीपक है । वास्तवमें उन्हीं पर करुणाकरके बड़े-बड़े मुनियोंके आचार्य श्रीशुकदेव-मुनिने इसका वर्णन किया है । मैं उनकी शरणग्रहण

करता हूँ।' (भा०) इत्यादि स्थलोंमें श्रुतियोंके साररूपसे श्रीमद्भागवतका प्रतिज्ञापन किया है। वेदरूपी-कल्पवृक्षका फल एवं श्रुतिका सार भगवान् श्रीकृष्णही हैं। उस भगवान्से अभिन्न होनेके कारण श्रीमद्भागवतका भी फलरूपसे एवं साररूपसे व्यपदेश किया है।

फलत्वरूपणेनात्र माधुर्यातिशयः सूच्यते। माधुर्यं हि फल एवास्वाद्यते, न पादपे। फलमापेक्ष्यैव पादपानां प्रशस्तताऽऽख्यायते। अतो निगमादप्यतिशयसौभाग्यशालि माधुरीधुरीणं श्रीमद्भागवतं नाम महापुराणमिति नात्र संशयलेशोऽपि। अन्धं=गाढं तमः=संसाराख्यं। अति=अतिशयेन सुखेनैव तरीतुमिच्छतां संसारिणां जनानां कृते करुणया आह। स्वो-निजोऽसाधारणोऽनुभावः=प्रभावो यस्य यस्माद्वा तत्स्वानुभावं, अखिलश्रुतीनां सारं, एकं=अद्वितीयमनुपममित्यर्थः। आत्मानं=कार्यकरणसंघातमधिकृत्य वर्तमानमात्मतत्त्वमध्यात्मं, तस्य दीपं-साक्षात्प्रकाशकम्। पुराणानां मध्ये गुह्यं=गोप्यम्। अत्र हेतुत्वेन पूर्वोक्तानि चत्वारि विशेषणानि। उपयामि=शरणं व्रजामि। अनेन तस्य व्याससूनोः कृपालुता प्रदर्शिता।

फलरूपसे निरूपणकरनेसे इस श्रीमद्भागवतमें मधुरताका अतिशय सूचित किया है। फलमें ही मधुरताका आस्वादन होता है, वृक्षमें नही। फलकी मधुरताकी ही अपेक्षा करके वृक्षोंकी प्रशस्तता कही जाती है। इसलिए वेदसे भी विशेष सौभाग्यशाली एवं श्रेष्ठ-मधुरतासे संयुक्त-यह श्रीमद्भागवत-महापुराण है, इसमें लेशभी संशय नहीं है। अन्ध यानी गाढ, संसार ऐसी संज्ञावाले तमका सुखके साथ संतरण-अतिक्रमण करनेकी इच्छावाले संसारी-जनोंके लिए करुणाद्वारा जिसने श्रीमद्भागवतका उपदेश दिया है। यह श्रीमद्भागवत कैसा है? कहते हैं—स्वानुभावं यानी अपना (श्रीशुकदेवका) असाधारण-प्रभाव है जिसमें या जिससे। तथा जो समस्तश्रुतियोंका सार रूप है। एक यानी अद्वितीय-उसके समान दूसरा कोई नहीं, अर्थात् उपमा रहित। कार्य शरीर एवं करण-इन्द्रियोंके समुदायको अधिष्ठितकरके जो आत्मतत्त्व वर्तमान है, वह अध्यात्म है, उसका दीपके समान साक्षात् प्रकाशकरने वाला है। तथा पुराणोंके मध्यमें गोपनीय-रहस्यमय है। इस पुराणगुह्यत्वके समर्थन के लिए पूर्वोक्त चार हेतुरूप--विशेषण हैं। ऐसे महापुराणके आदिम प्रवचनकर्ता श्रीशुकके शरणमें मैं जाता हूँ। इस पुराणगुह्यके प्रवचनसे उस व्यासपुत्र-श्रीशुककी कृपालुताका प्रदर्शन किया।

अत एवाहुः-'श्रीमद्भागवतस्याथ श्रीमद्भगवतः सदा। स्वरूपमेकमेवास्ति सच्चिदानन्दलक्षणम्॥' (भा० मा० स्कान्दीये-४।३) अत एव श्रीमद्भागवतस्य श्रवणकथनविचारात्मको यः प्रसारः, सः सर्वयज्ञेषु श्रेष्ठतमो ज्ञानयज्ञ एव इत्यप्याह—'सत्कर्मसूचको नूनं ज्ञानयज्ञः स्मृतो बुधैः। श्रीमद्भागवतालापः स तु

गीतः शुकादिभिः ॥' (भा० मा० २ । ६०) सन्ति=शुभानि, श्रौतस्मार्तोपासनादिकर्माणि स्वजनकत्वेन सूचयति-उद्बोधयतीति सत्कर्मसूचकोऽयं ज्ञानयज्ञः । अत एवास्य फलतया प्रशस्यतरताऽपि-'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ! ।' (गी० ४ । ३३) इति गीतोक्त्या सूच्यते ।

इसलिये स्कन्दपुराणके श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें महर्षिगण ऐसा कहते हैं कि-'श्रीमद्भागवत और श्रीभगवान्‌का स्वरूप सदा एक ही है, और वह है-सच्चिदानन्दमय ।' (मा०)इसलिये श्रीमद्भागवतका श्रवण, कथन एवं विचाररूप, जो प्रसार है, वह समस्त-यज्ञोंमें अति-श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ ही है । ऐसा कहा भी है-'विद्वानोंने ज्ञानयज्ञको ही सत्कर्म (मुक्तिदायक-शुभकर्म) का सूचक माना है । ऐसा ज्ञानयज्ञ है-श्रीमद्भागवतका उपदेश-प्रचार । जिसका गान-उपदेश, श्रीशुकादि-महानुभावोंने किया है ।' (मा०) अपने जनक-कारणरूपसे यह ज्ञानयज्ञ, श्रौत स्मार्त (श्रुतिस्मृति-प्रतिपादित) उपासना आदि-शुभकर्मोंका उद्बोधन करता है, इसलिये यह सत्कर्मका सूचक है-ज्ञापक है । अर्थात् इस ज्ञानयज्ञका शुभकर्मोंके द्वारा प्रादुर्भाव होता है । इसलिये इसकी फलरूपसे अति-प्रशस्तताको भी गीताने ऐसा सूचित किया है कि—'हे परंतप !-अर्जुन ! द्रव्यमय-अन्य यज्ञोंकी अपेक्षा यह ज्ञानयज्ञ, अतिप्रशस्त है ।' (गी०)

एवमिदं श्रीमद्भागवतमनन्यसाधारणः संसारभयनाशको गायत्र्याख्य-ब्रह्मविद्यारूपो ज्ञानप्रदीप एव इत्याह-'कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा, तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा । योगीन्द्राय तदात्मनाऽथ भगवद्राताय कारुण्यतस्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ॥' (भा० १२ । १३ । १९) अयमर्थः-कस्मै=ब्रह्मणे, अतुलः=असमः, नास्ति तत्समः । अयं=श्रीमद्भागवतरूपः । पुरा=कल्पादौ । येन=भगवता नारायणेन । तद्रूपेण=ब्रह्मरूपेण नारदाय । ज्ञानं=परोक्षापरोक्षरूपं प्रकर्षेण दीपयति-प्रकाशयतीति ज्ञानप्रदीपः । तद्रूपिणा=नारदरूपिणा । कृष्णाय=व्यासाय । योगीन्द्राय-शुकाय । तदात्मना-शुकरूपेण । भगवद्राताय=राजर्षिपरीक्षिते । तत्परं सत्यतत्त्वं श्रीनारायणाख्यं धीमहि, इति गायत्र्यैव यथोपक्रममुपसंहरन् गायत्र्याख्यब्रह्मविद्यारूपमिति दर्शयति । अनेन श्रीमद्भागवतसंप्रदायप्रवर्तक-रूपेण भगवद्ध्यानलक्षणं मंगलमप्यन्ते समाचरितम् ।

इसप्रकार यह श्रीमद्भागवत गायत्री-नामवाला ब्रह्मविद्यारूप ज्ञानप्रदीपही है, जो संसार भयका नाशक है, और जिसके समान अन्य कोई नहीं है—यह भी कहा है कि—'यह श्रीमद्भागवत, भगवत्तत्त्वज्ञानका एक श्रेष्ठ प्रकाशक-प्रदीप है । इसकी तुलनामें और कोई भी पुराण नहीं है । इसे सर्वतः प्रथम स्वयं भगवान्-नारायणने ब्रह्माजीके लिये प्रकट किया था । फिर उन्होंने ही ब्रह्माजीके रूपसे देवर्षि-नारदको उपदेश किया, और नारदजीके रूपसे भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन-व्यासको । तदनन्तर

उन्होंनेही व्यास रूपसे योगीन्द्र–शुकदेवजीको, और श्रीशुकदेवजीके रूपसे अत्यन्त-करुणावश राजर्षि-परीक्षित्‌को उपदेश किया। वे भगवान्-नारायण परम-शुद्ध एवं मायामलरहित हैं। शोक एवं मृत्यु उनके समीप फटक नहीं सकते, हम सब उन्हीं परम-सत्यस्वरूप परमेश्वरका ध्यान करतेहैं।' (भा०) इसप्रकार प्रारम्भमें जैसे गायत्रीके भावार्थको लेकर उपक्रम किया था, वैसेही उपसंहार करता हुआ बादरायण-मुनि यह श्रीमद्भागवत, गायत्रीसंज्ञावाला ब्रह्मविद्यारूपही है, ऐसा प्रदर्शित करता है, इस श्लोकके कथन द्वारा श्रीमद्भागवतकी सम्प्रदायके प्रवर्तकरूपसे भगवान्‌का ध्यान लक्षण वाला मंगलाचरण भी अन्तमें किया गया।

'मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते' इति व्याकरणमहाभाष्योक्तशिष्टाचारात्। शुद्धं=सर्वोपाधिविनिमुक्तं, विमलं=अज्ञानतत्कार्यनिवर्तकं, 'तरति शोकमात्मवित्।' (छां० उ० ७।१।२) इति श्रुतेः। शोकोपलक्षितः संसारो विगतो येन ज्ञाततत्त्वेन तद्विशोकं, सत्यं=सर्वथाऽबाध्यं, ज्ञानान्तरेण विषयासत्यप्रतीतिर्बाधः, तदयोग्यम् परं=सर्वप्रतिषेधावधिभूतम्।

'जिन शास्त्रोंके आदिमें मध्यमें एवं अन्तमें मंगल किये गये हैं, ऐसे शास्त्र, लोगोंके द्वारा समादृत होकर प्रसिद्ध होते हैं।' ऐसा व्याकरण-महाभाष्यमें शिष्ट-प्रामाणिक ग्रन्थकारोंका मंगलके विषयमें आचार प्रदर्शित किया गया है। जो समस्त-पिण्ड-ब्रह्माण्डादि-उपाधियोंसे विनिर्मुक्त है, वह शुद्ध है। अज्ञान एवं तत्कार्य-द्वैतप्रपञ्चका जो निवर्तक है, वह विमल है। छांदोग्य-श्रुति कहती है कि—'आत्मवेत्ता शोकका अतिक्रमण-विध्वंस करता है।' (श्रु०) जिस ज्ञाततत्त्वके द्वारा शोकसे उपलक्षित संसार विनष्ट होजाता है, वह तत्त्व विशोक है। सर्वथा जो अबाध्य है–यानी अन्य ज्ञान द्वारा विषयकी असत्यरूपसे प्रतीतिका नाम बाध है, उसकी योग्यता जिसमें नहीं है-वह सत्य है। समस्तप्रतिषेधोंकी अवधि (सीमा) रूप-अधिष्ठान ही पर है।

सति चैवम्–श्रीमद्भागवतस्य लक्षणान्यपि प्रोक्तान्येतादृशानि–'श्रीकृष्णासक्तभक्तानां तन्माधुर्यप्रकाशकम्। समुज्जृम्भति यद्वाक्यं विद्धि भागवतं हि तत्॥ ज्ञानविज्ञानभक्त्यङ्गचतुष्टयपरं वचः। मायामर्दनदक्षञ्च विद्धि भागवतं हि तत्॥ (भा० स्कान्दीयमाहात्म्ये० ४।४।५) 'कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत् प्रेमानन्द फलप्रदम्। श्रीमद्भागवतं शास्त्रं कलौ कीरेण भाषितम्॥ (भा० स्कां० मा० ४।४८) 'येऽपि संसारसन्तापनिर्विण्णा मोक्षकाङ्क्षिणः। तेषां भवौषधं चैतत्, कलौ सेव्यं प्रयत्नतः॥' (भा० स्का० मा० ४।३२) 'निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत्।' (भा० १।३।४१) 'अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां सर्वोपनिषदामपि। गायत्रीभाष्यभूतोऽसौ ग्रन्थोऽष्टादशसंज्ञितः॥'

ऐसा पूर्वोक्त विवेचन होजाने पर श्रीमद्भागवतके इसप्रकारके लक्षण कहे हैं—

कि—'भगवान् श्रीकृष्णमें जिनकी आसक्ति है, लगन लगी है, उन भावुक-भक्तोंके हृदयमें जो भगवान्के माधुर्य-भावको अभिव्यक्त करने वाला एवं उनके दिव्य-शुद्ध-माधुर्यरसका आस्वादन कराने वाला, सर्वोत्कृष्ट वचन है, उसे श्रीमद्भागवत समझो। जो वचन, ज्ञान, विज्ञान, भक्ति, एवं इनके अंगभूत - वैराग्यादिसाधन चतुष्टयको प्रकाशित करनेवाला है, तथा जो मायाका मर्दन करनेमें समर्थ है, उसे तुम श्रीमद्भागवत समझो।' (मा०) 'श्रीशुक-मुनिके मुखसे कहा हुआ यह श्रीमद्भागवतशास्त्र तो कलियुगमें साक्षात् श्रीकृष्णकी प्राप्ति कराने वाला और शाश्वत-प्रेमानन्दरूप फल प्रदान करने वाला है।' (मा०) 'जो संसारके विविध-संतापोंसे व्यथित होकर उनसे अपनी मुक्ति चाहते हैं, उनके लिये यह श्रीमद्भागवत इस भवरोगकी दिव्य-औषधिरूप है। अतः इस कलिकालमें इसका प्रयत्न पूर्वक सेवन करना चाहिये।' 'लोगों के परमकल्याणके लिये—इस धन्य—श्लाघनीय-कल्याणोंकी निधिरूप महान्-पुराण श्रीमद्भागवत को (बादरायण-व्यासने अपने पुत्र श्रीशुकको ग्रहण कराया) 'यह श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रोंके एवं समस्त-उपनिषदोंके भावार्थों की निधि है, और गायत्री-मन्त्रका विमल—भाष्यरूप है, यह ग्रन्थ अठारह-हजार श्लोकोंकी संज्ञा (संख्या) वाला है।'*

एवं 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' इतिविद्वज्जनप्रसिद्ध्या भागवतस्य विषयगाम्भीर्यमप्यनुमीयते। अत एवास्योपरि सन्ति बहुशो व्याख्यानानि विद्वद्भिः प्रणीतानि। एतेन श्रीमद्भागवतस्य लोके समादरणीयता महत्ता च सूच्यते। तथा चास्य स्तुत्यमहत्त्वस्य भागवतस्य ज्ञान–भक्ति–वैराग्यादीनां धर्माणां विश्वस्मिन्नस्मिन् प्रचारेणायं जागतिको जनः ईर्ष्याद्वेषवैरादिकल्मषजन्यसन्तापभरेण विमुक्तः सन् अतुलां शान्तिं परमानन्दञ्चानुभवेदित्यत्र नास्ति संशयलेशोऽपि। अत एव विद्वद्भिः सद्भिः समभिलषितायास्य प्रचाराय सर्वैर्मतिमद्भिः प्रयत्नो विधेय इति।

इस प्रकार 'विद्यावालोंकी भागवत में परीक्षा (करनी चाहिये)' ऐसी विद्वज्जनों-की प्रसिद्धिसे भी श्रीमद्भागवतके प्रतिपाद्य-विषयकी गम्भीरता का अनुमान किया जा सकता है। इसलिये इसके ऊपर विद्वानोंने अनेक प्रकारके व्याख्यान लिखे हैं। इससे लोकमें श्रीमद्भागवतकी सम्यक् आदरणीयता एवं महत्ता सूचित होती है। तथा च इस स्तुति करने लायक महत्त्वशाली—श्रीमद्भागवतके ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि धर्मों के प्रचार द्वारा जगत्का यह मानव ईर्ष्या, द्वेष, वैर आदि कल्मषों से समुत्पन्न-संतापों के भारसे विमुक्त हुआ, तुलनारहित-शान्तिका एवं परम आनन्दका अनुभव कर सकता

*'अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः। गायत्रीभाष्यभूतोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः॥' (गरुड-पुराणे) इति।

है, इसमें लेश भी संशय नहीं है इसलिये सज्जन-विद्वानोंसे सम्यक्-अभिलषित-इसके प्रचारके लिए सभी बुद्धिमानों को प्रयत्न करना चाहिये ।

अस्यानुबन्धचतुष्टयम् ।

अस्त्ययं नियमः—यत्प्राक्-अधिकारी विषयः प्रयोजनं सम्बन्धश्चेत्यनुबन्धचतुष्टयं विज्ञायैव प्रेक्षावन्तः कस्मिंश्चिदपि ग्रन्थे प्रवर्तमाना भवन्ति, नान्यथा; अतस्तेषामत्र प्रवृत्तये तत्संप्रति प्रदर्श्यते। 'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां, वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्। श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः, सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥' (भा० १।१।२) इति । अस्मिन् श्लोके किल महामुनिना निरूपितमनुबन्धचतुष्टयं स्पष्टतोऽवलोकयते। तथाहि-अत्र श्रीमति=सुन्दरे मनोहरे भागवते, प्रोज्झितकैतवः परमो धर्मो निरूप्यते। प्रकर्षेण उज्झितं-परित्यक्तं फलाभिसन्धिलक्षणं कपटं यस्मिन् सः, यद्वा पाखण्डलक्षणं विषयासक्तिसूचकं कपटं, अविद्यामिथ्याज्ञानलक्षणं वञ्चनाऽपरपर्यायं कपटं वा ।

श्रीमद्भागवतका अनुबन्ध-चतुष्टय ।

यह नियम है-कि—प्रथम—अधिकारी, विषय, प्रयोजन, एवं सम्बन्ध, यह अनुबन्ध-चतुष्टयको यथावत् जान करके ही बुद्धिमान्-जन किसी भी ग्रन्थमें प्रवर्तमान होते हैं, अनुबन्ध चतुष्टय जाने विना प्रवर्तमान नहीं होते हैं, इसलिये उन बुद्धिमानों की प्रकृत-ग्रन्थमें प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिए इस समय अनुबन्ध-चतुष्टयका प्रदर्शन किया जाता है । 'महामुनि बादरायण—व्यास द्वारा निर्मित-इस श्रीमद्भागवत-महापुराणमें फलकामनादि—कैतवरहित-परमधर्मका निरूपण हुआ है, इसमें शुद्धान्तःकरण-सज्जनों के जानने योग्य—उस वास्तविक-वस्तु-परमात्माका निरूपण हुआ है ।जो वस्तु ज्ञात होकर तीनों-तापोंका जड़से नाशकरने वाली, और परमकल्याण देने वाली है । अब और किसी अन्य साधन से या शास्त्रसे क्या प्रयोजन ?। जिस समय भी सुकृति-मानव इसके श्रवणकी इच्छा करते हैं, ईश्वर-भगवान् उसी समय अविलम्ब उसके हृदयमें आकर अवरुद्ध हो जाता है ।' (भा०) इस श्लोक में महामुनि-बादरायणने अनुबन्ध-चतुष्टयका जो निरूपण किया है—वह स्पष्ट ही देखा जा सकता है। यह बतलाते हैं—इन श्रीमान् यानी सुन्दर मनोहर भागवतमें, कैतववर्जित परमधर्मका निरूपण किया है । कैतव यानी फलकी कामनारूप कपट, या विषयासक्तिका सूचक—पाखण्ड-दम्भरूप कपट, या वञ्चना (ठगाई) ऐसी अन्यसंज्ञावाला अविद्या एवं मिथ्याज्ञानरूप कपट, जिसमें अच्छी प्रकार से परित्यक्त होगया है, ऐसा परमधर्म प्रोज्झितकैतव माना जाता है'।

कितवो नाम लोकेऽन्यायकारी 'किं तवास्ति ?' 'ममैवास्ति सर्वमि' त्यन्यायेन ब्रुवाणो धूर्त इत्युच्यते। स हि किल मनस्यन्यदभिसंधायान्यद-

भिधत्तेऽन्यदेवाभिचरति, तस्य भावः कैतवम् । तथा चात्र श्रीहरितोषकरो निष्कामकर्मयोगाख्यः, अनन्यभगवद्भक्तिलक्षणः, प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मबोधरूपोऽपि परमो धर्मोऽभिवर्ण्यते । ब्रह्मबोधस्यापि—परमधर्मत्वं-'अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।' (या० स्मृ०) इत्यादिवचनेभ्योऽप्यवगम्यते । सत्येवमत्र काण्डत्रयार्थोऽपि निखिलो यथावत्प्रतिपादितो विज्ञैरवलोक्यते । तस्मादिदं सर्वशास्त्रेभ्योऽप्यस्ति श्रेष्ठं, अतः समादरेणेदं श्रोतव्यं सज्जनैः ।'

लोकमें भी अन्याय करने वालेको कितव कहा गया है, वह जुआ आदि प्रसंग में 'क्या यह तेरा है ? अर्थात् तेरा कुछ भी नहीं है, सब कुछ मेरा ही है, ऐसा अन्यायके साथ बोलने वाला धूर्त ही कितव है । वह मन में अन्य-कुछ अभिप्राय रख कर अन्य कुछ बोलता है, और अन्य ही कुछ करता है । उस कितवका जो स्व-पर दुःखद यी दुष्टभाव है, वह कैतव है । तथा च यहाँ श्रीहरिको सन्तुष्ट करने वाला निष्काम कर्मयोग—नामवाला, एवं अनन्य—भगवद्भक्तिरूप एवं प्रत्यगात्मासे अभिन्न-अद्वय-ब्रह्मका बोधरूप भी परमधर्मका वर्णन किया जाता है । ब्रह्म—बोधमें भी परम-धर्मत्व—'यही परम धर्म है, कि—जिसके द्वारा आत्माका साक्षात्कार हो जाय ।' इत्यादि वचनों के द्वारा जाना जाता है । ऐसा विवेचन हो जाने पर यहाँ वेदोंके तीनों काण्डोंका समग्र—अर्थ भी यथार्थरूपसे प्रतिपादित हुआ है, ऐसा विज्ञ-जन देख सकते हैं । इसलिये यह श्रीमद्भागवत समस्त—शास्त्रोंसे भी श्रेष्ठ है, अतः सम्यक् आदरके साथ इसका सज्जनोंको श्रवण करना चाहिये ।

अधिकारितोऽपि धर्मस्यास्य परमत्वमाह—निर्मत्सराणां । परोत्कर्षासहनं मत्सरः, तादृशं मात्सर्यं हि कामकलुषितचित्तेष्वेव विलोक्यते, अर्थात्—निष्कामा एव निर्मत्सरा भवन्त्यतस्तेषां धर्मस्य कामादिकैतवरहितत्वं युज्यत एव । अत एव सतां=सज्जनानां—भूतानुकंपिनां—सर्वभूतहिते रतानाम् । अनेन कपटरहिता निष्कामा जिज्ञासवो मुमुक्षवो भवभयभीताश्चाधिकारिणोऽस्य संसूचिता भवन्ति ।

अधिकारीसे भी इस भागवत-धर्ममें परमता कहते हैं—'निर्मत्सराणां सतां' इस विशेषणसे । अन्यके उत्कर्ष (अभ्युदय) को सहन न करना, मत्सर—दोष है । ऐसा मात्सर्य विषयों के उपभोगकी कामनाओंसे मलीन—चित्तोंमें ही देखनेमें आता है । अर्थात् जो कामनाओंसे रहित-निष्काम हैं, वे ही मत्सररहित होसकते हैं, कामनावाला कभी मत्सरशून्य नहीं हो सकता । इसलिए काम एवं मत्सररहित-उत्तमाधिकारियों का धर्म भी कामादिरूप कैतवसे रहित ही है, ऐसा मानना युक्तियुक्त है । अत एव वे निर्मत्सर ही वस्तुतः सन्त हैं—सज्जन हैं । सज्जन वे हैं—जो भूत-प्राणियोंके प्रति कृपाभाव हर-दम रखते हैं, समस्त भूत-प्राणियों की भलाईमें दृढ प्रीति रखते हैं । इस विशेषण द्वारा कपट-रहित, निष्काम, जिज्ञासु मुमुक्षु—जो

संसारके जन्ममरणादि-भयोंसे डरते रहते हैं, वे ही इस श्रीमद्भागवतके परमधर्मके अधिकारी सूचित होते हैं।

किञ्चात्र ब्रह्मावबोधस्य विशेषतः परमधर्मत्वबोधनायाह-वेद्यं= वेदितव्यं, वास्तवं=परमार्थभूतं प्रत्यगभिन्नमद्वयं ब्रह्म वस्तु। यद्वा वास्तवशब्देन वस्तुनोंऽशो जीवो, वस्तुनः शक्तिर्माया, वस्तुनः कार्यं जगच्च तत्सर्वं वस्त्वेव, न ततः पृथगिति। ततः किमत आह-शिवदं=परमसुखदम्। यद्वा वास्तवमिति सत्, वेद्यमिति चित्, शिवदमिति चानन्दं लक्षयति। सच्चिदानन्दोपलक्षितं प्रत्यगात्माभिन्नं ब्रह्म चेहोपदिश्यते इति भावः। तथा चोक्तं द्वादश उपसंहारेऽपि 'अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान् हरिः।' (भा० १२।५।१) इति। 'आवितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः।' (भा० १२।६।२) इति च।

और भी यहाँ ब्रह्मबोधमें विशेषरूपसे परमधर्मत्वके बोधन करने के लिये कहते हैं—कि—यहाँ वेद्य यानी जानने योग्य, वास्तव, यानी पारमार्थिक त्रिकालाबाधित, प्रत्यगात्मासे अभिन्न—अद्वय ब्रह्म वस्तु ही है। अथवा वास्तव शब्दसे ब्रह्मरूपवस्तुका अंश जीव भी वास्तव है, वस्तुकी शक्ति माया भी वास्तव है, और वस्तुका कार्य जगत् भी वास्तव है, अर्थात् वह सब वस्तु-ब्रह्मस्वरूप ही है-वस्तुसे पृथक् नहीं है। ऐसी वस्तुके ज्ञानसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं-शिवदं, अर्थात् शिव यानी परम-शाश्वत सुख, उसे वह ज्ञातवस्तु प्रदान करती है, परमसुखलाभ ही वस्तु ज्ञानका प्रयोजन है। अथवा 'वास्तव' पदसे सत् 'वेद्य' पदसे चित् और 'शिवदं' पदसे आनन्द अभिलक्षित होता है। अर्थात् इस श्रीमद्भागवतमें सच्चिदानन्दसे उपलक्षित प्रत्यगात्मासे अभिन्न—ब्रह्मही उपदिष्ट होता है, ऐसा भाव है। तथा च उपसंहाररूप-द्वादश स्कन्धमें कहा भी है कि—श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि— हे प्रिय परीक्षित्! इस श्रीमद्भागवत—महापुराणमें बार-बार और सर्वत्र विश्वात्मा भगवान् श्रीहरिका यथार्थरूपसे वर्णन हुआ है।' (भा०) 'श्रीशुकमुनिके प्रति राजा परीक्षित् कहता है कि-'आपने मुझपर कृपा करके अनादि—अनन्त—एकरस—सत्य भगवान् श्रीहरिके स्वरूपका वर्णन किया है, और उसका मैंने एकाग्रता से श्रवण किया है।' (भा०)

सत्येवं 'अहं भवान्.........'त्वमेवाहं'........(भा० ४।२८।६२) 'अहं ब्रह्म परं धाम, ब्रह्माहं परमं पदम्।' (भा० १२।५।११) 'ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणं वस्त्वद्वितीयं' (भा० १२।१३।१२) इत्यादिभिरपि स्पष्टतोऽवगतो जीवब्रह्मैक्य-रूपोऽस्य विषयोऽपि निरूपितः। आध्यात्मिकादितापत्रयस्याज्ञानमूलकस्य भक्तिमयेन ज्ञानेनोन्मूलनमिति प्रयोजनमस्य लक्ष्यते। नहि दुःखत्रयाभावरूप एव मोक्षः, सांख्यन्यायादिवदिहाभिमतः, शिवदमिति विशेषणेन शिवत्वानुभूतेश्चाभिप्रेतत्वेन मोक्षस्याभावरूपतायाः प्रतिषेधात्। परिशेषात् निखिलदुःखध्वं-

सोपलक्षितपरमानन्दावाप्तिरेव परमफलाख्यं प्रयोजनं संसूच्यते ।

ऐसा विवेचन एवं निर्णय होजाने पर—'जो मैं ईश्वर हूँ, वही तुम (जीव) हो, अर्थात् मुझ ईश्वरका जो—वास्तविक-स्वरूप है, वही तुझ जीवका भी स्वरूप है, उपाधिकी पृथक्ता होने पर भी स्वरूप की एकता है।' 'मैं भी वही हूँ, जो तुम हो।' (भा०) 'श्रीशुकमुनि राजर्षि परीक्षित् के प्रति ब्रह्मबोधका उपदेश देते हैं कि—तुम इस प्रकार अनुसंधान—चिन्तन करो कि—'मैं ही सर्वाधिष्ठान-स्वयंज्योतिरूप परब्रह्म हूँ, सर्वाधिष्ठान ब्रह्म मैं ही हूँ।' (भा०) 'ब्रह्म और आत्माका एकत्वरूप अद्वितीय सद्वस्तु ही श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय है।' (भा०) इत्यादि वचनोंके द्वारा भी स्पष्टरूपसे जाना गया—जीव ब्रह्मकी एकतारूप इस श्रीमद्भागवतका विषय भी निरूपित हुआ है। और भक्तिपूर्ण ज्ञानके द्वारा अज्ञानरूपमूलसहित-आध्यात्मिकादि-तापत्रयका उन्मूलन ही इस श्रीमद्भागवतका प्रयोजन भी लक्षित होता है।

एवं ग्रन्थस्य विषयेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः, प्रयोजनेन साध्यसाधन-भावः, अधिकारिणा बोद्धृबोद्धव्यलब्धृलब्धव्यभावः सम्बन्धो यथायथं वेदितव्यः। महामुनिः=श्रीनारायणः, तेन प्रथमं संक्षेपतः कृते। परैः=अन्यैः शास्त्रैस्तदुक्तसाधनैर्वेश्वरो हृदि किं वा सद्य एवावरुध्यते=स्थिरीक्रियते, वाशब्दः कटाक्षे। किन्तु विलम्बेन कथंचिदेव। अत्र तु शुश्रूषुभिः=श्रोतुमिच्छद्भिरेव तत्क्षणादेवावरुध्यते। इदमेव तर्हि किमिति सर्वे न शृण्वन्ति? तत्राह—कृतिभिः=सुकृतिभिः। श्रवणेच्छा तु पुण्यैर्विना नोत्पद्यत इत्यर्थः।

उसप्रकार ग्रन्थका अपने विषयके साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। अर्थात् ग्रन्थ प्रतिपादक है, और विषय प्रतिपाद्य है। प्रयोजनके साथ ग्रन्थका एवं विषयका साध्यसाधनभाव सम्बन्ध है, अर्थात् प्रयोजन साध्य है, एवं ग्रन्थ तथा विषय साधन हैं। अधिकारीके साथ विषयका एवं प्रयोजनका बोद्धृ-बोद्धव्य, एवं लब्धृ-लब्धव्यभाव सम्बन्ध है, अर्थात् अधिकारी बोद्धा (ज्ञाता) है, और विषय बोद्धव्य है, तथा अधिकारी लब्धा है, एवं प्रयोजन लब्धव्य है। इसप्रकार योग्यताके अनुसार सम्बन्ध समझ लेने चाहिये। पूर्वोक्त-श्लोकमें महामुनि-बद्रिकाश्रमवासी श्रीनारायण हैं, उन्होंने ही प्रथम श्रीमद्भागवतका संक्षेपसे निर्माण किया था। पर यानी अन्य सांख्यादि शास्त्र एवं तदुक्तसाधनोंके द्वारा हृदयमें क्या परमेश्वर शीघ्रही अवरुद्ध यानी प्रकट रूपसे स्थिर हो सकता है?, वाशब्द कटाक्ष-अर्थमें प्रयुक्त है, अर्थात् बिलम्बसे बड़ी मुश्किली से अवरुद्ध होता है। परन्तु इस श्रीमद्भागवतके द्वारा तो सुननेकी इच्छा करने वालोंसे उसीसमय—परमेश्वर अवरुद्ध किया जाता है। अर्थात् श्रीमद्भागवतके श्रवणमात्रसे ही भगवान् हृदयमें प्रकट होकर स्थिर होजाता है। जब ऐसी बात है? श्रीमद्भागवतका ऐसा महत्त्व है? तब सभी लोग इसका श्रवण क्यों नहीं करते हैं? ऐसी शंका उपस्थित करनेपर कहते हैं—कृति यानी सुकृती-

पुण्यवान्। अर्थात्—श्रीमद्भागवतके श्रवणकी इच्छा पुण्योंके विना उत्पन्न नहीं होती है।

परमहंस–संहिता।

'इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां' इत्येवं प्रत्येकस्कन्धस्य प्रत्येकाध्यायस्य चान्तेऽवलोक्यमानं विशेषणमस्य श्रीमद्भागवतस्य'परमहंस-संहिता' इत्यन्वर्थकमपरं नामधेयमादरेण सूचयति। अत एवैतत्-'श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं, यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते। तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं, तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥' (भा० १२।१३।१८) इत्यनेन सुतरां दृढयति। पारमहंस्यं=परमहंसेभ्यो हितं, परमहंसैः प्राप्यं वा। अमलं=केवलाद्वैतविषयकतया द्वैतमलरहितमित्यर्थः। एकं=मुख्यतया प्रतिपाद्यम्। परं=भक्त्युत्थत्वाच्छ्रेष्ठम्। यत्=यतो वैष्णवानां प्रियं भक्त्युत्कर्षप्रतिपादकत्वात्। नैष्कर्म्यं=सर्वकर्मोपरमः, फलासक्तिराहित्यं वा। विचारणपरः=सातत्येनैतच्चिन्तनपरः।

परमहंस–संहिता।

'इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां' ऐसा प्रत्येक स्कन्धके तथा प्रत्येक अध्यायके अन्तमें 'पारमहंसी संहिता' ऐसा दीखाई पड़नेवाला विशेषण, श्रीमद्भागवतका अर्थके अनुरूप अन्य 'परमहंससंहिता' ऐसा नाम आदरके साथ सूचित करता है। इसलिये 'परमहंस-संहिता' ऐसा नाम यह श्लोक भी अच्छी प्रकारसे दृढ़ करता है। जैसे—'यह श्रीमद्भागवत-पुराण सर्वथा निर्दोष है। भगवान्के प्यारे भक्त-वैष्णव इससे वड़ा प्रेम करते हैं। इस पुराणमें जीवन्मुक्त-परमहंसोंके सर्वश्रेष्ठ-अद्वितीय–एवं मायाके मलसे रहित-निर्मल-ज्ञानका गान किया गया है। इस ग्रन्थकी सबसे वड़ी विलक्षणता यह है कि—इसका नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मोंकी एवं फलासक्तिकी आत्यन्तिकी-निवृत्तिभी ज्ञान वैराग्य एवं भक्तिसे युक्त है। इसका श्रवण पठन और मनन जो करने लगता है, उसे भगवान्की भक्ति प्राप्त होजाती है, और वह मुक्त होजाता है।' (भा०) परमहंसोंके लिए जो हितकारी एवं प्राप्तकरने योग्य ज्ञान है, वह पारमहंस्य है। अमल यानी केवल-अद्वैतको ही विषय करनेके कारण वह ज्ञान, द्वैतमलसे रहित है। एक यानी मुख्यरूपसे वही प्रतिपादन करने योग्य है। पर यानी भक्तिसे ही उत्पन्न होने के कारण श्रेष्ठ है। यत्=यानी उस कारणसे वैष्णवोंको यह श्रीमद्भागवत प्रिय है, क्योंकि-यह भक्तिके उत्कर्षका प्रतिपादक है। नैष्कर्म्य यानी सर्व कर्मोंकी उपरति, या कर्म-फलोंकी आसक्तिकी शून्यता। विचारणपर यानी निरन्तर जो इसके चिन्तन-मननमें लगा रहता है।

सति चैवम्-परमहंसपरिव्राजकचतुर्थाश्रमिसंन्यासिभिः ज्ञानमयभक्ति-

योगेनानुभूतभगवत्परमानन्दत्वमप्यत्र षष्ठे वर्ण्यमानं पूर्वोक्तमेव समर्थयति । तथाहि-'ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन् ! नारायण ! वासुदेव ! आदिपुरुष ! महापुरुष ! महानुभाव ! परममंगल ! परमकल्याण ! परमकारुणिक ! केवल ! जगदाधार ! लोकैकनाथ ! सर्वेश्वर ! लक्ष्मीनाथ ! परमहंसपरिव्राजकैः परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्घाटिततमःकपाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान् ।' (भा० ६।६।३३) इति ।

ऐसा विवेचन होजानेपर – परमहंस–परिव्राजक-चतुर्थाश्रमी - संन्यासियोंके द्वारा ज्ञान-प्रचुर भक्ति–योगसे भगवान् के परम-आनन्दका अनुभव किया जाता है, ऐसा छठे-स्कन्धमें जो वर्णन है, वह पूर्वोक्त-निर्णयका ही समर्थन करता है—जैसे– 'हे भगवन् ! नारायण ! वासुदेव ! आप आदिपुरुष (जगत्के परम कारण) और महापुरुष (पुरुषोत्तम) हैं। आपकी महिमा असीम है । आप परममंगलमय, परम-कल्याणस्वरूप, और परमदयालु हैं । आप ही निखिल-विश्वके आधार एवं अद्वितीय हैं, केवल आप ही समग्र-जगत्के स्वामी हैं । आप सर्वेश्वर हैं, तथा सौंदर्य और मृदुलताकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मीके परम पति हैं । हे प्रभो ! परमहंस-परिव्राजक-वीतराग-महात्मा जब आत्मविज्ञान-योगरूप परमसमाधिसे अच्छी प्रकार आपकी तन्मयतापूर्ण-भावना करतेहैं, तब उनके शुद्ध-हृदयमें परमहंसोंका धर्म-ज्ञान वैराग्य संयुक्त-वास्तविक-भगवद्भाव का उदय होता है । इससे उनके हृदयके अज्ञानरूपी किवाड़ खुल जातेहैं, और उनके आत्म-साक्षात्काररूपलोकमें आप आत्मानन्दके रूपमें बिना किसी आवरणके प्रकट होजाते हैं, और वे अद्वयानन्दनिधि आपका अपरोक्ष-अनुभव करके निहाल होजाते हैं । हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं ।' (भा०)

अत्र भक्त्युद्रेकेण बहुधा सम्बोधयन्तो भगवतोऽनन्तदिव्यगुणगणशालित्वं दुर्विज्ञेयत्वञ्च प्रपञ्चयन्ति । हे भगवन् !=षडैश्वर्यपरिपूर्ण ! हे परमकारुणिक ! अपारैश्वर्यमाधुर्यसिन्धोस्तवाहैतुकीं करुणामेव वयमाश्रयामः, तयैव महत्या निखिलानिष्टनिवारणं सकलेष्टलाभश्च सेत्स्यतीति वयं यतमाना यतयो विश्वरश्मिः । आत्मयोगेन=यमनियमाद्यष्टांगयोगेन यः समाधिः= चित्तैकाग्र्यं भगवन्मयतालक्षणं, तेन परिभावितः=सुशीलितः, परिस्फुटः पारमहंस्यधर्मः=ज्ञानमयभक्तियोगस्तेन, उद्घाटितं तमोरूपं कपाटं–आवरकं यस्मिन्–तस्मिन्–द्वारभूते चित्ते, अपावृते=अपगतावरणे–प्रकटे, आत्मलोके= प्रत्यगात्मचिन्मयप्रकाशरूपे स्वयमेवोपलब्धं=अभिव्यक्तं यन्निजसुखं, तस्य पूर्णानन्दस्यानुभवरूपो भवान् ।

यहां भक्तिके उद्रेकसे अनेक-प्रकारसे सम्बोधित करते हुए भगवान् के अनन्त-दिव्यगुणगणशालित्वका एवं दुर्विज्ञेयत्वका विस्तारसे वर्णन करते हैं—हे भगवन्

यानी षड्-प्रकारके ऐश्वर्यसे परिपूर्ण ! हे महाकरुणाशाली ! अपार-ऐश्वर्य एवं माधुर्यके सागररूप-आपकी निर्निमित्त-कृपाका ही हम आश्रय लेते हैं, एवं उस महती-कृपाके द्वारा ही समस्त-अनिष्टोंका निवारण एवं निखिल-अभीष्टोंका लाभ सिद्ध होगा ही, ऐसा हम प्रयत्नशील-यतिगण विश्वास रखते हैं। आत्मयोग यानी यम-नियमादिरूप अष्टांग योग, उसके द्वारा जो समाधि यानी भगवन्मयतारूप चित्तकी एकाग्रता, उससे परिभावित यानी परिशीलित–अतीव-अभ्यस्त ज्ञानमयभक्तियोगरूप-परमहंसोंका जो हितकारी धर्म है. उसके द्वारा आवरण करने वाला-अज्ञानरूप-किवाड़ उद्घाटित होता है, जिसमें ऐसा द्वारभूत-चित्त अपावृत यानी आवरणसे निर्मुक्त होने पर उसमें प्रत्यगात्माका चिन्मय-प्रकाश प्रकटित होता है, एवं उस प्रकाशमें स्वतः ही अपना भगवान्का सुख अभिव्यक्त होता है, अत एव उस प्रकटित-पूर्ण-आनन्दका अनुभवरूप ही आप भगवान् हैं।

अत एव श्रीमद्भागवतस्य श्रेष्ठव्याख्यानविधातृभिः पूज्यैः श्रीश्रीधरस्वामिभिरपि एतादृशमादौ परमहंस–महिमसूचकं मंगलमाचरितम्—'ॐ नमः श्रीपरमहंसास्वादितचरणकमलचिन्मकरन्दाय भक्तजनमानसनिवासाय श्रीरामचन्द्राय।' अयमर्थः—हंसपरमहंसश्रीपरमहंसभेदात् त्रिधा हंसा भवन्ति। तत्र प्रसिद्धा हंसाः क्षीरनीरविभेदनिपुणा भवन्ति। येषां चञ्चुस्पर्शाज्जलाद्दुग्धं पृथग्भवति। ते च दुग्धं पीत्वा जलं त्यजन्ति। परमहंसास्तु चिज्जड–तादात्म्यग्रन्थिविभेदप्रवीणा भवन्ति। ते हि जडांशादारोपितात् चिदंशमात्मानमधिष्ठानं पृथग्वर्णयित्वा स्वशिष्येभ्यो ज्ञापयन्ति।

इसलिए श्रीमद्भागवतका श्रेष्ठ व्याख्यान करनेवाले पूज्य श्रीश्रीधरस्वामीजीने भी परमहंसोंकी महिमाका ज्ञापक मंगलाचरण आदिमें ऐसा किया है–कि 'जिसके चरण–कमलका चैतन्य–आनन्दरूप रस, श्रीपरमहंसोंके द्वारा आस्वादित है–एवं भक्तजनोंके मानसमें जिसका निवास है–ऐसे श्रीरामचन्द्रको नमस्कार है।' यह अर्थ है–हंस, परमहंस एवं श्रीपरमहंस के भेदसे तीन प्रकारके हंस होते हैं। उनमें पक्षीरूप प्रसिद्ध हंस क्षीर–नीरके पृथक् करनेमें निपुण होते हैं। जिनके चोंचके स्पर्श मात्रसे जलसे दूध अलग होजाता है। अतः वे दूधको पीकर जलका परित्याग कर देते हैं। परमहंस तो चेतन–आत्मा एवं जड देह की तादात्म्याध्यासरूप–गांठके विभेदन करने में प्रवीण होते हैं। वे आरोपित–जड अंशसे चेतन–अंशरूप अधिष्ठान–आत्माका पृथक् वर्णन करके अपने शिष्योंके प्रति चेतन-आत्माका ज्ञापन करते हैं।

श्रीपरमहंसा हि केवलाद्वयब्रह्मचैतन्यैकनिष्ठाः मायातत्कार्यं द्वैतप्रपञ्चं विचारेण सर्वथा बाधित्वा कदापि तं न चिन्तयन्ति, किन्तु सर्वदाऽभिन्नेनान्तश्चक्षुषा परमानन्दनिधिं परमात्मानमेव भावयन्ति, ते च शुद्धज्ञानमयप्रेमभक्ताः श्रीपरमहंसाः श्रीनारदजडभरतकपिलदत्तात्रेयनवयोगीश्वरशुकप्रभृतयः

तैः आस्वादितः = आपरोक्ष्येणानुभूतश्चासौ चरणकमलयोः चिदेव मकरन्दः = पूर्णानन्दरसः यस्य तस्मै । भक्तजनानां मानसे = चेतसि निवासो यस्य तस्मै । श्रयति = सेवते सदा रामचरणमिति श्रीः = महालक्ष्मीरूपा सीता भगवती, रमन्ते = योगिनो ध्यानेन क्रीडन्त्यत्रेति रामः, चन्दति = आह्लादयति-आनन्दयति विश्वं स्वानन्देनेति चन्द्रः, रामश्चासौ चन्द्रश्चेति रामचन्द्रः, श्रिया सहितो रामचन्द्रः श्रीरामचन्द्रस्तस्मै ।

श्रीपरमहंस वे हैं—जो केवल-अद्वय-ब्रह्मचैतन्यमें ही एकमात्र-निष्ठा—तन्मयता रखते हैं, वे माया और मायाकार्य—द्वैतप्रपञ्चका विचारके द्वारा सर्वथा बाध करके कदापि उसका चिन्तन नहीं करते हैं । किन्तु सर्वदा अभेदभाववाली अन्दरकी दृष्टिके द्वारा परमानन्दनिधि परमात्माकी ही भावना करते रहते हैं, वे शुद्ध—ज्ञानमय अनन्यप्रेमयुक्त—भक्त, श्रीपरमहंस कहे जाते हैं । ऐसे श्रीपरमहंस श्रीनारद, जडभरत, कपिल, दत्तात्रेय, नवयोगीश्वर, शुक आदि हैं । उनके द्वारा आस्वादित यानी अपरोक्षरूपसे अनुभूत है—जिस के चरणकमल का चैतन्यरूप मकरन्द यानी पूर्णानन्द रस, ऐसे; तथा भक्तजनों के चित्तमें जिसका निवास है, ऐसे; सर्वदा रामचरणकी जो सेवा करती है—वह सीता भगवती महालक्ष्मीरूपा श्री है । जिसमें योगीजन ध्यानके द्वारा रमण करते हैं—वह राम है, जो अपने आनन्द द्वारा विश्वको आनन्दित करता है, वह चन्द्र है, जो राम है, वही चन्द्र है, ऐसा श्रीसंयुक्त राम—चन्द्र है—उसे नमस्कार है ।

एवं परमहंसमहत्त्वबोधकानि वचनानीमान्यप्यनुसंधेयानि श्रीमद्भागवतस्वरूपसमीक्षमाणैः पक्षपातवर्जितैः सज्जनैः-'ॐ नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिञ्चनवित्ताय ऋषिऋषभाय नरनारायणाय परमहंसपरमगुरवे आत्मारामाधिपतये नमो नमः ।' (भा०५।१९।११) 'त्रय आसन्नूर्ध्वरेतसस्त··········पारमहंस्यमेवाश्रममभजन् ।' (भा० ५।१।२६) 'भागवतपरमहंसदयितकथाम्' (भा० ५।१।५) 'किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः। प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः ॥' (भा० १।४।३१)' उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः ।' (भा० ५ । ५ । २८) ।' 'भूयो नमः······पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ॥' (भा० २ । ४ । १३) 'ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग्, यत्पारमहंस्येन पथाऽधिगम्यते ॥' (भा० २ । ९ । १७) 'अहिंसया पारमहंस्यचर्यया स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना ।' (भा० ४ । २२ । २४) इत्यादीनि ।

'ओङ्कारस्वरूप, परमशान्तस्वभाव, अहंभावरहित, निर्धनोंके धन, ऋषिप्रवर भगवान्-नरनारायणको नमस्कार है । वे परमहंसोंके परमगुरु और आत्मारामोंके

अधीश्वर हैं, उन्हें-बार-बार नमस्कार है।' (भा०) 'ये तीन नैष्ठिक ब्रह्मचारी हुए, अन्तमें उन्होंने परमहंसोंके संन्यासाश्रम को ही अंगीकार किया।' (भा०) 'भगवद्भक्त परमहंसोंके प्रिय-श्रीवासुदेव भगवान् के कथाश्रवणरूपी (कल्याणमार्गका परित्याग नहीं करते हैं), (भा०) 'बादरायण-व्यास अपने मनमें कहते हैं कि-अवश्य ही अब तक मैंने भगवान् को प्राप्त करानेवाले-धर्मों का प्रायः निरूपण नहीं किया है। वे ही धर्म परमहंसोंको प्रिय हैं, और वे ही भगवान्को भी प्रिय हैं (हो न हो मेरी अपूर्णताका एवं खेदका यही कारण है)।' (भा०) 'ऋषभदेव जी स्वयं, उपशमशील निवृत्तिपरायण महामुनियोंके भक्ति ज्ञान और वैराग्यरूप परमहंसोंके योग्य धर्मकी शिक्षा देनेके लिए (बिलकुल विरक्त होगये)।' (भा०) 'जो सज्जन परमहंसोंके हितकर-चतुर्थ-संन्यासाश्रममें अवस्थित हैं, उन्हें उनकी अभीष्ट अतएव अन्वेषणीय-पारमार्थिक वस्तुका जो दान करते हैं, ऐसे श्रीभगवान् को हम बारम्बार नमस्कार करते हैं।' (भा०) 'ब्रह्माजीने भगवान् के उन चरणकमलोंमें सिर झुकाकर नमस्कार किया-जो परमहंसोंके ज्ञान वैराग्यमय-भक्तिमार्गसे प्राप्त हो सकते हैं।' (भा०) 'किसी भी जीव को कष्ट न देनारूप अहिंसासे, परमहंसोंकी भक्तिज्ञानमयी वैराग्य वृत्तिसे, आत्मतत्त्व की ध्रुवास्मृति से एवं श्रीहरिके पवित्र चरित्ररूप-श्रेष्ठ अमृतका आस्वादन करनेसे, ('स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः।' भा० ४।२२।२५) निर्गुण परब्रह्ममें अनायासही प्रीति होजाती है)।' (भा०) इत्यादि-परमहंसोंके महत्त्वके बोधक-इन वचनोंका श्रीमद्भागवतके स्वरूपकी समीक्षा करनेवाले-पक्षपातवर्जित-सज्जनोंको अनुसंधान करना चाहिये।

अयमर्थः==उपरतानात्म्याय==निवृत्तानात्मदेहाद्यहंममादिभावाय। भागवताः=भगवत्प्रिया वैष्णवा एव परमहंसास्तेषां दयितस्य=परमप्रियस्य श्रीवासुदेवस्य कथाम्। पारमहंस्ये=प्रत्यगभिन्नब्रह्मनिष्ठालक्षणे संन्यासाश्रमे व्यवस्थितानां पुंसां,अनुमृग्यं=अतन्निरसनेन पुनःपुनर्मृग्यं—अन्वेषणीयं यद्ब्रह्मात्मतत्त्वं, तस्य दाशुषे=दात्रे भगवते भूयो भूयो नमः, दाशृदाने स्मरणात्। विश्वसृक=ब्रह्मा, पारमहंस्येन पथा=वैराग्ययुक्तेन भक्तिमयज्ञान मार्गेण। यत्=भगवत्स्वरूपम्। अधिगम्यते=विज्ञायते-प्राप्यते वा। पारमहंस्यचर्यया=उपशमादिप्रधानयाऽहिंसावृत्त्या, स्मृत्या=आत्मतत्त्वानुसंधानेन। मुकुन्दाचरितमेव=श्रीकृष्णस्य रुचिरा लीलैव, अग्र्यं-सीधु=श्रेष्ठममृतं, तेन तच्चरितामृतस्मृतिसुखेनेत्यर्थः।

उपरतानात्म्य यानी जिसका अनात्म-देहादिमें अहंममादिभाव निवृत्त होगया है। भागवत यानी भगवान् के प्रिय वैष्णव-भक्त परमहंस हैं। पारहंस्य-आश्रम यानी प्रत्यगात्मासे अभिन्न—ब्रह्मकी निष्ठारूप लक्षणवाला संन्यासाश्रम। अनुमृग्य यानी अनात्माके निरास द्वारा पुनः पुनः अन्वेषण करने योग्य-ब्रह्मात्मतत्त्व। विश्वसृक् यानी

जगत् का स्रष्टा ब्रह्मा । अन्य सबका अर्थ स्पष्ट है ।

एतेन—'अत्र भागवतधर्मपदेन ज्ञानं व्याख्यातु न शक्यते, किन्तु भक्तिरेव 'नामान्यनन्तस्य यशोऽकितानि ।' (भा० १२।१२।५१) 'भवताऽनुदित प्रायं यशो भगवतोऽमलम् ।' (भा० १।५।८) इत्यादिप्रामाण्यात् । ततश्च परमहंसपदेनाप्यत्र भक्ता एव ग्राह्याः, सारग्राहित्वात् । 'सारोऽत्र श्रीहरेर्भक्तिस्त-दन्योऽसार एव हि ।' (भा०) इत्युक्तत्वात् । अतः पारमहंस्यां संहितायां श्रीमद्भागवतेऽत्र ज्ञानिभिः स्वत्वं नारोपणीयमिति निरस्तम् । 'यस्मिन् पारमहंस्य मेकममलं ज्ञानं परं गीयते । तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतम् ।' (भा० १२।१३।१८) 'तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया । भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥' (भा० ३।२६।७२) 'भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च याथात्म्यं चास्य वै हरेः ।' (भा० ७।१०।४३) 'धर्मो भागवतानाञ्च भगवान् येन गम्यते ।' (भा० ७।१०।४५) इत्यादिवचनविरोधात् ।

'यहाँ भागवत-धर्मपदसे ज्ञानका व्याख्यान नहीं कर सकते हैं, किन्तु भक्ति ही ग्रहण कर सकते हैं । 'श्री अनन्त-भगवान्के सुयशःसूचक-नामों से युक्त है (जिसके प्रत्येक श्लोक) ।' (भा०) 'नारदजी ने कहा—हे व्यासजी ! आपने श्रीभगवान्के निर्मल यशका गान प्रायः नहीं किया ।' (भा०) इत्यादिवचनोंके प्रमाणोंके द्वारा । इसलिये परमहंसपदसे भी यहाँ भक्तोंका ही ग्रहण करना चाहिये, सार-ग्राही होनेके कारण । 'यहाँ श्रीहरिकी भक्ति ही सार है, उससे अन्य सब कुछ असार ही है ।' (भा०) ऐसा कहा गया है । अतः पारमहंसी-संहितारूप इस श्रीमद्भागवतमें ज्ञानियोंको अपने स्वत्व का स्थापन नहीं करना चाहिये ।' ऐसा किसीने जो कहा था—वह आगेके अनेक-वचनोंसे विरोध होनेके कारण निरस्त (खण्डित) होजाता है । वे वचन ये हैं—'श्रीमद्भागवतमें परमहंसोंके सर्वश्रेष्ठ-अद्वितीय-एवं मायालेशसे रहित तत्त्वज्ञान का गान किया गया है । इसमें वर्णित निष्काम-कर्मयोग भी ज्ञान वैराग्य एवं भक्ति से युक्त है ।' (भा०) 'अतः भक्ति, वैराग्य, और बुद्धि की पवित्रता एवं एकाग्रता से प्रकट हुए ज्ञानके द्वारा उस अन्तरात्मा स्वरूप-क्षेत्रज्ञ को इस शरीर में अवस्थित जानकर उसका ही चिन्तन करना चाहिये ।' (भा०) 'इस परम भागवत-प्रह्लादके उपाख्यानमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं श्रीहरिके यथार्थ-स्वरूपका वर्णन है ।' 'जिसके द्वारा भगवान् की प्राप्ति होती है, वह भगवद्भक्तोंका धर्म है ।' (भा०)

प्रथमं परमेश्वरे भक्तिस्ततोऽन्यत्र विरक्तिस्ततो योगप्रवृत्ता धीः=एकाग्रं चित्तं, ततो यज्ज्ञानं तेन प्रत्यगात्मानं क्षेत्रज्ञं, अस्मिन् आत्मनि=कार्यकरण-संघाते जीवात्मनि वा, विविच्य चिन्तयेत् इत्यर्थः । अपि च भो ! त्वया ! ज्ञानभक्तिविरागाणां साहचर्यं न श्रुतं किम् ? 'भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।' (भा० ११।२।४२) इत्यादौ । एवं—'चतुर्विधा

भजन्ते माम्' (गी० ७।१६) 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।' (गी० ७।१७) इत्यपि त्वया, किं ज्ञानिष्वेकभक्तित्वसमर्थकं गीताशास्त्रं, एवं 'ज्ञानविज्ञानसन्तुष्टो मद्भक्तः पुरुषो भवेत्।' (भा० ६।१६।६२) इति भागवतस्य श्रीमुखवचनमपि न पठितम्? श्रुतं पठितमपि त्वया भक्तेभ्यो ज्ञानिनां बहिष्क्रियमाणेन न मन्यत इति महदाश्चर्यम्। यद्वा ज्ञानविद्वेषवशान्न मन्यते, इति नास्ति त्वय्याश्चर्यम्, यतो दोषमहिम्नैतद्युक्तमेव। तस्मात् ज्ञानिनोऽपि सन्ति भक्ताः, न भक्तिशून्या इति विद्वेषं विहाय सुमतिमवलम्ब्यान्यैः सन्मतिभिरिव त्वया निश्चेतव्यम्।

प्रथम परमेश्वरमें भक्ति, उसके बाद भगवान्से अन्य संसार में विरक्ति, उसके बाद योगसाधन में प्रवृत्त धी यानी चित्त की एकाग्रता, उस सब साधन समूहसे होने वाला जो ज्ञान है, उसके द्वारा इस कार्यकरणके संघातरूप देहमें या जीवात्मामें अवस्थित-क्षेत्रज्ञ द्रष्टारूप-प्रत्यगात्माको दृश्यवर्गसे पृथक् करके चिन्तन करे। और भी एक बात आप-ज्ञानशून्य भक्तिवादी से हम पूछते हैं कि-'भगवच्चिन्तनके प्रत्येक क्षणमें भगवान् के प्रति प्रेम, अपने परमप्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका यथार्थानुभव, और उनके अतिरिक्त अन्यपदार्थोंमें वैराग्य-इन तीनोंकी एक साथही प्राप्ति होती जाती है।' (भा०) इत्यादि भागवतके वचनोंमें स्पष्टरूपसे अभिवर्णित-ज्ञान भक्ति एवं वैराग्यका साहचर्य क्या आपने सुना नहीं है?। इस प्रकार-'चार प्रकारके भक्त मेरा भजन करते हैं।' (गी०) 'इनमें सर्वदा मुझ परमात्मामें संलग्न-तन्मयचित्तवाला एक-अनन्यभक्तिमान् ज्ञानी श्रेष्ठ भक्त है।' ऐसा ज्ञानियों में एक-भक्तित्वका समर्थन करने वाला गीताशास्त्र क्या आपने पढ़ा नहीं है?। और 'ज्ञान एवं विज्ञानसे संतुष्ट हुआ मेरा भक्त पुरुष-परमात्मास्वरूप ही हो जाता है।' (भा०) ऐसा भागवतमें कहा गया-भगवान्के श्रीमुखका वचन भी क्या आपने पढ़ा नहीं है?। सुना गया एवं पढा गया भी वह वचन भक्तोंसे ज्ञानवानोंका बहिष्कार करने वाले-आप महोदय द्वारा नहीं माना जाता, यह महान् आश्चर्य है। अथवा ज्ञान-विद्वेष वशसे आप उसे नहीं मानते हैं, इसलिये आपमें आश्चर्य नहीं है। क्योंकि-दोषके प्रभावसे जानते हुए भी न मानना, यह ठीक ही तो है। इसलिये ज्ञानवान् भी भक्त ही हैं, भक्तिशून्य नहीं हैं, ऐसा विद्वेषका परित्याग कर सुमतिका अवलम्बन करके अन्य-शोभनमतिवाले-शास्त्रवेत्ता सज्जनोंकी भांति तुझे निश्चय करना चाहिये।

अपिच—'सारोऽत्र श्रीहरेर्भक्तिस्तदन्योऽसार एव हि।' (भा०) इत्यस्य सर्वेषु ज्ञानादिषु साधनेषु सारभूताया भक्तेः साहचर्यं मुख्यतया संपादनीयमिति भावो गम्यते। 'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।' (वि० चू०) इत्यस्मदाचार्यप्रवरोक्तवचनप्रामाण्यादपि भक्तिशून्यस्य सर्वस्य साधनजातस्यासारत्वमस्माभिरपि मन्यते, तथा च तद्वचनं नास्माकं प्रतिकूलम्। किञ्च गंगासूर्यादिवत्

श्रीमद्भागवतमप्यस्ति भगवतो महनीया विभूतिः, अतस्तत्र सर्वेषां कर्मिणां भक्तानां ज्ञानिनाञ्चास्ति समानं स्वत्वमिति मन्यामहे। सति चैवं सर्वेऽपि सज्जनाः यथायथं स्वस्वाभिलषिताभ्युदयनिःश्रेयसलाभमनेन संपादयन्तु नाम इति न कमपि वयं विनिवारयामः। तथा च पूर्वोक्तं संकुचितमतिभिरनुदारहृदयैर्भक्तमानिभिः कृतं व्याख्यानमुदाराशयैर्विचारकैः समुपेक्ष्यमेव। तस्मादस्य श्रीमद्भागवतस्य प्राधान्यतो वीतरागज्ञानिभक्तपरमहंसोपभोग्यतया 'परमहंससंहिते'त्यन्वर्थकं नामधेयं सुतरामुपपद्यत एव। किञ्च—'ज्ञानवैराग्यसंयुक्ता भक्तिः प्रेमरसावहा।' (भा० मा० २।६३) इत्युक्त्या तद्वियुक्ता अन्धकल्पा भक्तिः प्रेम्णो दिव्यानन्दरसं न वहतीति व्यतिरेकतो ज्ञायते।

और 'सारोऽत्र' इस वचनका समस्त-ज्ञानादिसाधनोंमें सारभूत—भक्तिका साहचर्य मुख्यरूपसे संपादन करना चाहियं, ऐसा भावार्थ परिज्ञात होता है। 'मोक्षकी कारणभूत सामग्रीमें भक्तिही गुरुतर साधन है।' ऐसा हमारे श्रेष्ठ-आचार्य-भगवत्पाद के वचनका भी प्रमाण होनेके कारण हम भक्तिसे रहित सब साधन समुदायको असार ही मानते हैं। इसलिये वह 'सारोऽत्र' इत्यादि वचन हमारे प्रतिकूल नहीं है, किन्तु इष्टका संपादक होनेसे अनुकूल ही है। और गंगा सूर्य आदिके समान, श्रीमद्भागवत भी भगवान्की पूजार्ह-महिमाशाली विभूति है, इसलिए इसमें समस्त कर्म-योगियोंका, भक्तोंका एवं ज्ञानियोंका समानरूपसे ही स्वत्व हैं, ऐसा हम मानते हैं। ऐसा मानने पर सभी सज्जन अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार स्व-स्व अभिलषित अभ्युदय एवं निःश्रेयसका लाभ इस श्रीमद्भागवतके द्वारा संपादन करें, इस विषयमें हम किसी का निवारण नहीं करते हैं कि—अमुकका स्वत्व है, और अमुक का नहीं है। तथा च संकोचशील-मति वाले-उदारता रहित हृदयवाले—भक्तमानियोंके द्वारा किया गया पूर्वोक्त व्याख्यानकी उदारहृदय वाले विचारशील—सज्जनोंको उपेक्षा करनी चाहिये। इसलिये यह श्रीमद्भागवत, प्रधानरूपसे वीतराग ज्ञानवान्-भक्त-परमहंसोंका उपभोग्य होनेसे 'परमहंससंहिता' ऐसा इसका अर्थानुसारी नाम अच्छी प्रकार उपपन्न (युक्तिसे समर्थित) होजाता है। और 'ज्ञान वैराग्यसे संयुक्त भक्ति ही प्रेमके आनन्द का वहन करती है।' (भा०) इस वचनके द्वारा ज्ञान-वैराग्यसे रहिता भक्ति अन्ध के सदृश हुई प्रेमके दिव्य-आनन्दरसका वहन नहीं करती है, ऐसा व्यतिरेक-प्रकारसे जाना जाता है।

*

श्रीधरस्वामिव्याख्यानस्यैव श्रेष्ठत्वं भगवत्प्रियत्वञ्च ।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याः श्रीश्रीधरस्वामिनः सुप्रसिद्धाः सन्ति श्रीमद्भागवतस्य श्रेष्ठव्याख्यानकर्तारः, अत एव श्रीगौराङ्गमहाप्रभुप्रभृतयः श्रीकृष्णस्यानन्यप्रेमभक्ताः विद्वल्ललामाः वैष्णवाचार्य्या अपि श्रीधरस्वामिव्याख्यानमेव सुललिततया प्रामाणिकतया च मन्यमानास्तत्रादरातिशयं प्रकटयामासुः । श्रीधरस्वामिव्याख्यानखण्डनाभासकरमन्यद्व्याख्यानं श्रोतुं द्रष्टुमपि च ते न कामयन्ते स्म इति तच्चरितवर्णनेनावगम्यते। सत्येवं श्रीगौराङ्गमहाप्रभुपथानुसरणशीलैः श्रीसनातनश्रीजीवगोस्वाम्यादिमहानुभावैरपि- 'पीतश्रीगोपिकागीतसुधासारमहात्मनाम् । श्रीधरस्वामिनां किञ्चिदुच्छिष्टमुपचीयते ॥' इत्यादिपद्यैः श्रीधरस्वामिव्याख्याने प्रभूतादरः प्रदर्श्यमानस्तत्र निःसंदेहं श्रेष्ठत्वमभिव्यनक्ति ।

श्रीधरस्वामीका व्याख्यानही श्रेष्ठ है, एवं भगवान्‌को भी प्रिय है ।

श्रीमान्-परमहंस-परिवाजकोंके आचार्य श्रीश्रीधरस्वामी श्रीमद्भागवतके श्रेष्ठव्याख्यानके कर्तारूपसे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । इसलिये श्रीगौराङ्गमहाप्रभुआदि-जो श्रीकृष्णके अनन्य-प्रेमीभक्त, विद्वद्रत्न, वैष्णवोंके आचार्य हैं, वे भी-श्रीधरस्वामीका व्याख्यान ही अत्यन्त ललित (सुन्दर) एवं प्रामाणिक है, ऐसा मानते हुए उसमें अतिशय-आदरको प्रकट करते थे । श्रीधरस्वामीके व्याख्यानका आभासरूपसे (अयथार्थ रूपसे) खण्डन करने वाले अन्य व्याख्यानके श्रवण करने की एवं देखने तक की भी वे इच्छा नहीं रखते थे, ऐसा उनके चरित्रके वर्णन द्वारा जाना जाता है । ऐसा श्रीधरस्वामीके व्याख्यानका महत्त्व सिद्ध होजाने पर ही श्रीगौराङ्गमहाप्रभु की सम्प्रदायका अनुगमन करने वाले श्रीसनातनगोस्वामी श्रीजीवगोस्वामी आदि महानुभावोंके द्वारा भी—'जिन्होंने श्रीगोपिकागीतरूपी सुधाके सारका पान किया है, ऐसे महात्मा श्रीधरस्वामीके व्याख्यानका कुछ उच्छिष्ट—भाग लेकर हम अपने व्याख्यानकी अभिवृद्धि करते हैं ।' इत्यादि श्लोकोंसे श्रीधरस्वामीके व्याख्यानमें प्रदर्शित किया गया अत्यन्त-आदर, उसमें संदेहरहितरूपसे श्रेष्ठत्व प्रकट करता है ।

श्रीधरस्वामिव्याख्यानस्य भगवत्प्रियत्वं वाराणस्यां काश्यां प्रसिद्धतयाऽभिवर्ण्यते तत्रत्यैर्विद्वद्भिरित्थम् । कदाचित् वाराणसेय-जगन्नाथमंदिरे संमिलितैर्द्वैतवादिवैष्णवैः काशीस्थविद्वत्समाजं प्रत्येवमभिहितम्—'श्रीधरस्वामिविरचितं ब्रह्माद्वैत-परकं व्याख्यानं न समीचीनम्, यतो बादरायणमुनिव्यासस्य तात्पर्यं तन्न सम्यक् बोधयति । व्यासाभिप्रायबोधकानि त्वन्यान्येव द्वैतपरकव्याख्यानानि-अस्मद्वैष्णवाचार्यैर्विरचितानि सन्ति समीचीनानि इति । तदा विश्वनाथनगरीवास्तव्यानां विद्वज्जनानां मध्ये तत्कथनमसहमानेन

भगवज्जगन्नाथभक्तेन केनचिद्विदुषा भगवन्तं जगन्नाथं प्रत्यंगुलिनिर्देशं कृत्वेत्थमभ्यवादि—'यदि श्रीमदिष्टदेवोऽयमित्थं वदिष्यति तदैतदङ्गीकरिष्यामः, परन्तु विद्यते मम परिपूर्णो विश्वासो भगवान् श्रीजगन्नाथः श्रीधरस्वामिव्याख्यानमेव व्यासतात्पर्यबोधकतया प्रामाणिकं वदिष्यतीति ।'

श्रीधरस्वामीका व्याख्यान ही भगवान्‌को प्रिय है, ऐसा वाराणसी-काशीमें वहाँ के विद्वान् प्रसिद्धिरूपसे वर्णन करते हैं । किसीसमय वाराणसीके जगन्नाथ-मन्दिर में संमिलित हुए द्वैतवादी वैष्णवोंने काशीके विद्वत्समाजके प्रति ऐसा कहा था कि—'श्रीधरस्वामी प्रणीत ब्रह्माद्वैतका समर्थन करने वाला व्याख्यान समीचीन (यथार्थ-प्रामाणिक) नहीं है । क्योंकि—वह बादरायण-मुनि व्यासके तात्पर्यका यथार्थरूपसे बोधन नहीं करता है । व्यासके अभिप्रायके बोधन करने वाले तो अन्य द्वैतपरायण-व्याख्यान—जो हमारे वैष्णवाचार्योंने किये हैं, वे ही समीचीन हैं ।' उस समय विश्वनाथ भगवान्‌की नगरी-काशीमें निवास करने वाले—विद्वज्जनोंके मध्यमें—उनके पूर्वोक्त कथन को नहीं सहन करने वाले भगवान्—जगन्नाथके भक्त किसी विद्वान्‌ने—भगवान् जगन्नाथ के प्रति अंगुलीका निर्देश करके इसप्रकार कहा था कि—'यदि मेरा श्रीमान् यह इष्टदेव ऐसा कहेगा, तब तो हम ऐसा अङ्गीकार कर सकते हैं । परन्तु मेरा तो परिपूर्ण विश्वास है कि—भगवान् श्रीजगन्नाथ श्रीधरस्वामीके व्याख्यान को ही व्यास के तात्पर्यका बोधक होनेके कारण प्रामाणिक कहेगा ।'

तदा सर्वसंमत्या तदर्थं सर्वव्याख्यानानामङ्कितपत्राणि तस्मिन्मंदिरे श्रीजगन्नाथस्य विष्णोः सिंहासनस्य पुरतः स्थापितानि, पश्चात् तन्निर्णयार्थं सर्वे जगदीश्वरं भगवन्तं रमारमणं श्रद्धया प्रार्थयामासुः । तदनन्तरं कश्चिद् ब्राह्मण बालस्तदानयनार्थं तत्र प्रेषितः—श्रीभगवदग्रस्थापित-संकलितपत्रेभ्य एकं पत्रमानयेत्युक्त्वेति । तत्र श्रीधरीयव्याख्यानपत्रमधः-स्थापितमपि भगवता ततो निष्कास्य—'व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति शेषमैत्रेयनारदाः । श्रीधरः सर्वथा वेत्ति श्रीनृसिंहप्रसादतः॥' इति तत्र लिखित्वा तत्पत्रं तदुपरि स्थापयित्वा बालाय तस्मै दत्तं, एवं त्रिर्दत्तम् । ततः सर्वैर्विद्वद्भिर्मिलित्वेत्थं निर्णितं यत्—श्रीधरस्वामि-व्याख्यानमेव श्रीव्यासाभिप्रायबोधकतया भगवत्प्रियमस्तीति ।

उससमय सर्वसंमतिसे उसके लिए समस्त-व्याख्यानोंके चिह्नित-पत्र उस मंदिर में श्री जगन्नाथ-विष्णु भगवान्‌के सिंहासनके सामने स्थापित किये । पश्चात् उसके निर्णय (कौन व्याख्यान व्यासाभिप्राय संमत-प्रामाणिक है, ऐसा) के लिए सभीने भगवान् रमारमण-जगन्नाथकी श्रद्धाके साथ प्रार्थना किया । उसके बाद किसी ब्राह्मणके बालकको—'श्रीभगवान्‌के आगे रक्खे हुए-संकलित (इकठे किये हुए) पत्रोंमेंसे एक पत्रको ले आना' ऐसा कहकर एक-पत्रको लेनेके लिए वहाँ भेजा । उन पत्रोंमें श्रीधरीयव्याख्यानका पत्र नीचे रक्खा हुआ भी श्रीभगवान्‌ने वहाँसे निकालकर—

इसमें-'श्रीमद्भागवतके तात्पर्यको व्यास जानता है, श्रीशुक जानता है, शेष मैत्रेय तथा नारद जानते हैं, और श्रीधरस्वामी तो सर्वप्रकारसे श्रीनृसिंह-भगवान्‌की कृपासे जानता है।' ऐसा लिखकर उस पत्रको उन सब पत्रोंके ऊपर स्थापित करके उस ब्राह्मण बालक के प्रति दिया, इसप्रकार तीनबार दिया। इस प्रयोगके द्वारा समस्त विद्वानोंने मिलकर ऐसा निर्णय किया कि-'श्रीधर-स्वामी का व्याख्यान ही श्रीव्यासके अभिप्रायका बोधक होनेके कारण भगवान् को भी प्रिय है।'

श्रीधरस्वामिनां भगवत्स्तुतिपरकश्लोकेषु-अवगम्यमानाः एतादृशाः सिद्धान्ताः ।

(१) 'जय जयाजित ! जह्यगजङ्गमावृतिमजामुपनीतमृषागुणाम् ।
न हि भवन्तमृते प्रभवन्त्यमी निगमगीतगुणार्णवता तव ॥
(भा० १०।८७।१४) श्रीधरीय-व्याख्याने)

हे अजित !=न केनापि कदापि कुत्रापि पराजित ! अनभिभूतज्ञानैश्वर्यादिरूप ! अगजंगमावृतिं=स्थावरजंगमविश्वस्मिन् भगवत्स्वरूपावरणकारिणीं, अजां=अनादिनीं मायां, जहि=ब्रह्मविद्यया विनाशय। अमी=जीवाः। भवन्तमृते=भवत्कृपाकटाक्षमन्तरेण न हि प्रभवन्ति=मायां परिहातुं ब्रह्मविद्यां प्राप्तुञ्च न समर्था भवन्ति। 'ईश्वरानुग्रहादेषां पुंसामद्वैत-भावना।' इत्युक्तत्वात्। अनया मायाविनाशप्रार्थनया मृषागुणवतीयं माया, तज्जन्यं त्रिगुणात्मकं नामरूपात्मकं जगदपि च मृषैव बोधितं, न तु पारमार्थिकं सत्यम्। अतएव ब्रह्मविद्यया तद्धानमप्युपपद्यत एव। भगवत्कृपयैव भक्तस्य ब्रह्मविद्यालाभः संभवतीत्यप्यवगम्यते ।

श्रीधरस्वामीके-भगवत्स्तुतिपरकश्लोकोंमें-अवगत होने वाले- इसप्रकारके सिद्धान्त ।

'हे अजित ! आपकी जय हो, जय हो, मिथ्या-सत्त्वादिगुणोंको धारण करके चराचर-जीवोंके वास्तविकस्वरूपको आच्छादित करने वाली-इस मायाको नष्ट कर दीजिये। आपके विना बेचारे जीव इसको मारनेमें समर्थ नहीं हो सकेंगे। वेद उस बातका गान करते रहते हैं कि—आप सकल-सद्गुणोंके समुद्र हैं।' (श्री०) हे अजित यानी कभी भी कहीं भी किसीसे पराजित नहीं होने वाले ! जिनके ज्ञान-ऐश्वर्यादि सर्वथा अभिभवसे रहित हैं। अग यानी गतिरहित-स्थावर योनियोंके जीव, जंगम यानी गतिवाले जीवरूप-चराचर विश्वमें भगवत्स्वरूपको आच्छादित करने वाली जन्मरहित-अनादि-मायाका ब्रह्मविद्याके द्वारा नाश कर दीजिये। ये जीव आपके कृपाकटाक्षके विना मायाका विध्वंस करनेके लिए तथा ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं। ऐसा कहा भी है कि—परमेश्वरकी कृपासे मनुष्योंको अद्वैत

भावनारूप ब्रह्मविद्याका लाभ होता है ।' इस माया विनाशकी प्रार्थना से मिथ्या गुणों वाली यह माया, एवं मायाजन्य—नामरूपात्मक एवं त्रिगुणात्मक-जगत् भी मिथ्याही बोधित किया गया, पारमार्थिक-सत्य नहीं । इसलिए ब्रह्मविद्यासे मायाका हान (बाध) भी उपपन्न हो जाता है । यदि माया सत्या हो तो उसका बाध कभी भी नहीं हो सकता । भगवानूकी कृपासे ही भक्त को ब्रह्मविद्याका लाभ होता है, यह भी जाना जाता है ।

(२) 'द्रुहिणवह्निरवीन्द्रमुखामराः, जगदिदं न भवेत्पृथगुत्थितम् ।
बहुमुखैरपि मन्त्रगणैरजः, त्वमुरुमूर्तिरतो विनिगद्यसे ॥'

(भा० १०।८७।२५ श्रीधरीय-)

द्रुहिणः = ब्रह्मा, वह्निः = अग्निः, रविः = सूर्यः, इन्द्रः, मुखाः = प्रमुखाः अमराः = देवाः, एवं इदं जगदपि परमात्मनस्त्वत्तः उत्थितं = समुद्भूतमपि, न पृथक् = व्यतिरिक्तं भवेत् । बहुमुखैः = विभिन्ननामगुणादिवद्विविधदेव प्रतिपादकैः, मन्त्रगणैः = वेदमन्त्रसमुदायैः, त्वमेव अजोऽपि । उरुमूर्तिः=विविध देवविग्रहो विराट्मूर्ति र्वा, ' एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।' (ऋ० १।१६४।४६) 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।' (ऋ० १०।११४।५) 'एकः सन् बहुधा विचचार ।' (तै० आ० ३।११) 'यो देवानां नामधा एक एव ।' (ऋ०१०।७२।२। शु० य० १७।२७) इत्यादिभिः विनिगद्यसे = प्रतिपाद्यसे । परमकारणाभिन्नत्वात्सर्वस्य कार्यजातस्येति भावः । अनेनानन्यत्ववादः समर्थितः ।

'ब्रह्मा, अग्नि, सूर्य, इन्द्र आदि देवता, तथा यह संपूर्ण जगत् प्रतीत होनेपर भी आप परमात्मासे पृथक् नहीं है । इसलिए अनेक देवताओंका प्रतिपादन करनेवाले वेदमन्त्र, उन देवताओंके नामसे पृथक्-पृथक् आपकी ही विभिन्न-मूर्तियोंका वर्णन करते हैं । वस्तुतः आप अजन्मा हैं, उन मूर्तियोंके रूपमें भी आपका जन्म नहीं होता ।' (श्री०) आप—परमात्मासे उत्पन्न हुआ यह देवसमुदाय, निखिल जगत् भी आपसे व्यतिरिक्त नहीं है । विभिन्न-नामगुणादिवाले विविध देवोंके प्रतिपादक वेदमन्त्रोंके समुदायोंसे आप अजन्मा ही विविध-देवोंके विग्रह—रूपसे एवं विराट्—मूर्तिके रूप से प्रतिपादित होते हैं । वे वेदमन्त्र ये हैं—'एक ही सदा विद्यमान परमात्माका तत्त्वदर्शी-मेधावी—ऋषि, अनेक नामोंके द्वारा एवं विविध—विग्रहोंके द्वारा वर्णन करते हैं ।' (श्रु०) 'एक ही सद्वस्तु परब्रह्मकी अनेक-प्रकारसे कल्पना की जाती है ।' 'एक ही हुआ वह अनेक नामरूपोंके द्वारा प्रतीत होता है ।' (चर धातु प्रतीतिके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है—'चर गतिभक्षणयोः) 'जो एक ही परमात्मा अनेक-देवोंके विभिन्न-नामों को धारण करता है ' (श्रु०) समस्त कार्य—समुदाय अपने परम कारणसे अभिन्न ही होता है ; इस श्लोक द्वारा अनन्यत्ववादका समर्थन किया ।

(३) 'नरवपुः प्रतिपद्य यदि त्वयि, श्रवणवर्णनसंस्मरणादिभिः।
नरहरे ! न भजन्ति नृणामिदं, दृतिवदुच्छ्वसितं विफलं ततः ॥
(भा० १०।८७।१७। श्रीधरीय०)

अनेन मनुजदेहलाभसाफल्याय श्रवणादिद्वारा भगवद्भजनस्यावश्य-कर्तव्यता वर्णिता, अन्यथा मानवजीवनं विफलं स्यादिति प्रतिपादितम्।

'हे नरहरे ! मनुष्य शरीर प्राप्त करके यदि जीव आपके श्रवण, वर्णन, और संस्मरण (ध्यान) आदिके द्वारा आपका भजन नहीं करते, तो जीवोंका श्वास लेना धौंकनी के समान ही सर्वथा व्यर्थ है।' (श्री०) इस श्लोक द्वारा मनुष्य-देह लाभकी सफलताके लिए श्रवणादि-साधन द्वारा भगवद्भजन अवश्य ही करना चाहिये, ऐसा वर्णन किया। अन्यथा यानी भगवद्भजनके विना मानवका जीवन निष्फल होजायगा, ऐसा प्रतिपादन किया।

(४) 'स्वनिर्मितेषु कार्येषु तारतम्यविवर्जितम्।
सर्वानुस्यूत-सन्मात्रं, भगवन्तं भजामहे ॥'
(भा० १०। ८७। श्रीधरीय व्या०)

अनेन भजनीयस्य भगवतो वास्तविकं स्वरूपं वर्णितम्। दृष्टकार्य-वर्गेषु अदृष्टकारणात्मकसन्मात्रचिन्मात्रानन्दमात्रभगवत्स्वरूपस्य सततं विभावनमेव 'कामुकेन मनोज्ञकामिन्या इव' भगवद्भजनं वेदितव्यमित्यपि।

'अपने द्वारा निर्मित-सम्पूर्ण कार्योंमें जो न्यूनाधिक-श्रेष्ठकनिष्ठादिके विषम-भावसे रहित-सर्वमें समानरूपसे अनुस्यूत-परिपूर्ण है, एवं जो सत्तामात्र है, ऐसे भगवान् का हम भजन करते हैं।' (श्री०) इस श्लोकके द्वारा भजनीय-भगवान्के वास्तविक—स्वरूपका वर्णन किया। दीखाई पड़ने वाले कार्य समुदाय में जो अदृष्ट कारण रूप है, निर्विशेष-अबाधित-सत्तामात्र है, स्वयं प्रकाश चैतन्यज्योतिः मात्र है एवं शाश्वत—पूर्ण आनन्दमात्र है—ऐसे भगवत्स्वरूपकी निरन्तर भावना करना ही भगवान्का भजन है—जैसे कामी मनुष्य सुन्दर-कामिनीकी निरन्तर भावना करता है, ऐसा जानना चाहिये।

(५) 'त्वय्यात्मनि जगन्नाथे, मन्मनो रमतामिह।
कदा ममेदृशं जन्म, मानुषं संभविष्यति ॥'

अनेन जगन्नाथस्य भगवत आत्मत्वं प्रतिपाद्य तस्यैवार्थात् परमप्रेमा-स्पदत्वपरमानन्दनिधित्वज्ञापनेन तत्रैव मनसो रमणं सुलभं स्यादिति बोधितम्।

'आप जगत् के स्वामी हैं, और अपनी आत्मा (अभिन्नस्वरूप) हैं, इस वर्तमान-जीवनमें ही मेरा मन आपमें रम जाय—संलग्न बन जाय। हे मेरे स्वामी ! मेरा ऐसा सौभाग्य कब होगा, जब मुझे इसप्रकारका मनुष्य-जन्म प्राप्त होगा ?।' (श्री०) इस श्लोकके द्वारा जगन्नाथ-भगवान् में-आत्मत्वका प्रतिपादन करके उसी

ही भगवान्में अर्थात् परमप्रेमास्पदत्व एवं परमानन्दनिधित्वका ज्ञापन किया। अत एव इस आत्मस्वरूप-भगवान्में मनका रमण—(तन्मयता) सुलभ होगा, ऐसा बोधन किया। अर्थात् मन उसमें ही तन्मय होता है—जो परमप्रेमास्पद एवं परमानन्दनिधि हो, ऐसा आत्मा ही होता है-एवं वही जगदीश्वर-भगवान् है।

(६) 'चरणस्मरणं प्रेम्णा, तव देव! सुदुर्लभम्।
यथा कथञ्चिन्नृहरे! मम भूयादहर्निशम्॥
(भा० १०। ८७। श्रीधरीय व्या०)

अनेन सुदुर्लभायाः निरन्तरस्मरणभक्तेर्लाभप्रार्थना कर्तव्यतया ज्ञापिता।

'हे देव! आपके चरणोंका प्रेमपूर्वक निरन्तर-स्मरण रहना, अत्यन्त दुर्लभ है। चाहे-जैसे-कैसे भी हो-अर्थात्—प्रारब्धवशात् चाहे जैसी कैसी भी शुभा-शुभ-परिस्थिति-हो—हे नृसिंह! मुझे तो आपके चरणोंका स्मरण दिनरात बना रहे, ऐसी कृपा करें, यही मेरी अभ्यर्थना है।' (श्री०) इस श्लोकके द्वारा अतीव-दुर्लभ-निरन्तर रहने वाली स्मरण-भक्तिके लाभकी प्रार्थना कर्तव्यरूपसे ज्ञापित किया। अर्थात भगवत्प्रार्थना द्वारा दुर्लभ-लाभ भी सुलभ हो जाता है।

(७) 'क्वाहं बुद्ध्यादिसंरुद्धः, क्व च भूमन्! महस्तव।
दीनबन्धो! दयासिन्धो! भक्तिं मे नृहरे! दिश॥'
(भा० १०। ८७। श्रीधरीय व्या०)

अनेन मायादोषैरसमर्थस्य जीवस्य कृते सर्वसमर्थस्य महतोऽपि महीयसो भगवतः कृपयैव तद्भक्तिलाभः संभवति, तेनातीवदुर्लभं तज्ज्ञानमपि सुलभं भवति, अतस्तदर्थं कर्तव्यतया भगवत्प्रार्थना सूच्यते।

'हे अनन्त! कहाँ बुद्धि आदि-परिच्छिन्न-उपाधियांसे घिरा हुआ—सामर्थ्य हीन मैं, और कहाँ आपका अवाङ्मनसगोचर-पूर्ण-स्वप्रकाशज्योतिः स्वरूप (अतः-आप-भूमा ब्रह्मका ज्ञान तो अत्यन्त ही दुर्लभ है) इसलिये हे दीनबन्धु, दयासिन्धु! नरहरिदेव! मुझे तो, अपनी भक्ति ही दीजिये।' (श्री०) इस श्लोकके द्वारा माया के दोषोंसे ही असमर्थ-जीवके लिए सर्वप्रकारसे समर्थ, एवं महान्से भी अत्यन्त महान्-भगवान्की कृपासे ही भगवान्की भक्तिके लाभका संभव होता है। उस भक्ति-लाभ द्वारा अत्यन्त दुर्लभ—भगवत्तत्त्वज्ञान भी सुलभ होजाता है, इसलिये भगवद् भक्ति लाभ के लिए कर्तव्यरूपसे भगवान्की प्रार्थना सूचित किया। अर्थात् भगवत्प्रार्थनासे कृपालाभ, कृपासे भक्तिलाभ, एवं भक्तिसे तत्त्वज्ञानका लाभहोता है।

(८) 'मिथ्यातर्कसुकर्कशेरितमहावादान्धकारान्तर—
भ्राम्यन्मन्दमतेरमन्दमहिमंस्त्वज्ज्ञानवर्त्मास्फुटम्।

श्रीमन्माधव ! वामन ! त्रिनयन ! श्रीशङ्कर ! श्रीपते !,
गोविन्देति मुदा वदन् मधुपते ! मुक्तः कदा स्यामहम् ॥'
(भा० १०।८७। श्रीधरीय व्या०)

अनेन मिथ्यातर्कमयवादविवादरूपनिबिडान्धकाररतस्य पण्डितमानिनो मन्दमतेर्ज्ञानमार्गो न प्रत्यक्षो भवति। किन्तु नामभक्तिरतस्य निरभिमानिनः श्रद्धालोः मुक्तिप्रयोजकस्य ज्ञानस्यापरोक्षलाभः संपद्यत इति विज्ञाप्यते। एवमत्र विविधसम्बोधनेन श्रीशिवनारायणयोरैक्यमपि सूच्यते। अत एव 'माधवोमाधवावीशौ सर्वसिद्धिविधायिनौ। वन्दे परस्परात्मानौ परस्परानुतिप्रियौ ॥' इति श्रीधरस्वामिनाऽऽदौ निर्बाधेष्टसिद्धये हरिहरयोरभेदभावो मंगलनिर्देशेन समर्थितः।

'हे अनन्त-महिमाशाली प्रभो ! जो मन्दमति पण्डितमानी मानव, झूठे-तर्कोंके द्वारा प्रेरित-अत्यन्त-कर्कश-वादविवादके घोर-अन्धकारमें भटक रहे हैं, उनके लिए आपके ज्ञानका मार्ग स्पष्ट सूझना संभव नहीं है। इसलिए मेरे जीवनमें ऐसी सौभाग्यकी घड़ी कब आयेगी कि—मैं हे श्रीमन्माधव ! वामन ! त्रिलोचन ! श्रीशङ्कर ! श्रीपते ! गोविन्द ! मधुपते ! इसप्रकार आपके पावन नामोंको-श्रद्धा एवं आनन्दके साथ पुकारता हुआ मुक्त हो जावुंगा।' (श्री०) इस श्लोकके द्वारा—मिथ्या-तर्क प्रचुर वादविवादरूप—घोर अन्धकारमें अभिरत-संसक्त रहने वाले-पण्डितमानी एवं वस्तुतः मन्दमति वाले मानवोंको ज्ञानका मार्ग प्रत्यक्ष नहीं होता है। किन्तु जो मानव भगवन्नामकी भक्तिमें अभिरत है, अभिमान रहित है, एवं श्रद्धालु है, उसे ही मुक्ति-प्रयोजक-ज्ञानका अपरोक्षलाभ संपन्न होता है, ऐसा विज्ञापन किया जाता है। तथा विविध सम्बोधनोंके द्वारा श्रीशिव एवं श्रीनारायणकी एकताका भी सूचन किया है। इसलिए— 'माधव – लक्ष्मीपतिविष्णु, उमाधव—पार्वतीपति—शिव, दोनों ही ईश्वर हैं, सर्वप्रकारकी सिद्धियोंके विधान कर्ता हैं, परस्परके आत्मा हैं—अभिन्नस्वरूप हैं—एवं परस्पर—एक दूसरेकी स्तुति करनेमें प्रीति रखते हैं—उनको मैं वन्दना करता हूं।' (श्री०) ऐसे मंगलनिर्देशके द्वारा श्रीधरस्वामीने श्रीमद्भागवत व्याख्यानके प्रारम्भमें बाधा (विघ्न) रहित—इष्टकी सिद्धिके लिए हरि-हरके अभेद भावका समर्थन किया।

(६) 'यत्सत्त्वतः सदाभाति, जगदेतदसत् स्वतः।
सदाभासमसत्यस्मिन्, भगवन्तं भजाम तम् ॥
(भा० १०।८७। श्रीधरीय व्या०)

अनेन भजनीयं भगवत्तत्त्वमेव परमार्थसत्यं, समुपेक्षणीयमिदं ततो भिन्नं जगत्सर्वं मिथ्यैवेति सिद्धान्तः सूच्यते।

'यह जगत् अपने स्वरूप, नाम, और आकृतिके रूपमें असत् है, फिर भी

जिस अधिष्ठान सत्ताकी सत्यतासे यह सत्यसा जान पड़ता है, तथा जो इस असत्य-प्रपञ्चमें सत्यरूपसे सदा प्रकाशमान रहता है, उस भगवान्का हम भजन करते हैं।' (श्री०) इस श्लोकके द्वारा भजन-चिन्तन करने योग्य—भगवत्स्वरूप ही परमार्थ सत्य है, और अच्छीप्रकारसे उपेक्षणीय—अत एव अचिन्तनीय भगवद्भिन्न--जगत् सब मिथ्या ही है, ऐसा सिद्धान्त सूचित किया है।

(१०) तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतात्, अटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्।
यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैः, हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति ॥
(भा० १०।८७। श्रीधरीय व्या०)

अनेन श्रीहरिकृपया श्रीहरिभक्त्या श्रीहरिज्ञानेनैव च मृत्युतरणस्य संभवः प्रतिपादितः, तद्भिन्नान्योपायैर्मृत्युतरणं न संभवतीति प्रतिपादितम्।

'लोग पञ्चाग्नि आदि तापोंसे तप्त हों, पर्वतसे गिरकर आत्मघात कर लें, तीर्थोंका पर्यटन करें, वेदोंका पाठ करें, यज्ञोंके द्वारा हवन करें, अथवा भिन्न-भिन्न मतवादोंके द्वारा आपसमें विवाद करें, परन्तु भगवान्के विना इस मृत्युमय—संसार सागरसे पार नहीं जासकते।' (श्री०) इस श्लोकके द्वारा श्रीहरिकी कृपासे श्रीहरिकी भक्तिसे एवं श्रीहरिके ज्ञानसे ही मृत्युके अतिक्रमणका संभव प्रतिपादित किया। इससे भिन्न-अन्य-तप-यज्ञादि-उपायोंके द्वारा मृत्युका अतिक्रमण नहीं हो सकता है, ऐसा प्रतिपादन किया।

(११) 'यस्मिन्नुद्यद् विलयमपि यद् भाति विश्वं लयादौ।
जीवोपेतं गुरुकरुणया केवलात्मावबोधे ॥
अत्यन्तान्तं व्रजति सहसा सिन्धुवत्सिन्धुमध्ये।
मध्ये चित्तं त्रिभुवनगुरुं भावये तं नृसिंहम् ॥
(भा० १०। ८७। श्रीधरीय व्या०)

अयमर्थः—लयादौ=प्रलये सुषुप्तिकाले च, सर्वजीवसहितं लिङ्गदेहादिरूपं विश्वं यस्मिंस्त्वय्यधिष्ठाने विलयं यदपि=प्राप्नुवदपि। भाति=संस्काररूपेण सूक्ष्मतया तिष्ठति। 'इण् गतौ' अतः शतरि यदिति रूपं निष्पद्यते। ततः सृष्टिकाले जाग्रति चोत्पन्नं भवतीत्यर्थः। गुरूपदेशेन कूटस्थात्मसाक्षात्कारे सति अत्यन्तान्तं=निरवशेषप्रलयं व्रजति, समुद्रमध्ये गंगादिवत्। मध्येचित्तं=चित्तस्य मध्ये। तादृशं भगवन्तमहं भावये=सततमनुसंदधे इत्यर्थः।

'जीवोंके सहित यह सम्पूर्ण विश्व, जिनमें उदित होता है, और सुषुप्ति आदि—अवस्थाओंमें विलीन होजाता है, तथा विभासित होता है। गुरुदेवकी करुणा प्राप्त होनेपर जब शुद्ध—आत्माका ज्ञान होता है, तब समुद्रमें नदीके समान,

सहसा यह जिनमें आत्यन्तिक-प्रलयको प्राप्त होजाता है, उन्हीं त्रिभुवन गुरु-नृसिंह-भगवान्‌की मैं अपने हृदयमें भावना करता हूँ।' (श्री०) पूर्वोक्त-संस्कृत-व्याख्यान स्पष्ट है।

अस्यायं भावः—जीवानामनित्यत्वापत्त्या कृतनाशाकृताभ्युपगमादि दोषापत्त्या च न स्वतो जन्म, किन्त्वन्तःकरणरूपोपाधिजन्मनैव जन्मारोपः यथाऽनवच्छिन्नमाकाशमेव घटोपाधिना घटाकाशं भवति, घटभंगे तु पुनस्तदेव महाकाशम्। एवमविद्योपाधिनाऽन्तःकरणोपाधिना वा जीवानां जन्म, तद्भंगे मोक्षः। अतः स्वरूपतो जीवोऽजन्मा ब्रह्मैव वेदितव्यः। प्रकृतेर्जीवरूपेणोत्पत्तौ जीवानां जडत्वापत्तिः, पुरुषस्य जीवरूपेणोत्पत्तौ तस्य विकारित्वप्रसंगः, अतः प्रकृतिपुरुषयोर्द्वयोर्मिलित्वापि जीवरूपेणोत्पत्तिर्न संगच्छते।

इसका यह भावार्थ है। अनित्यत्वकी आपत्ति होनेसे, एवं कृत-शुभाशुभ कर्मोंके नाश, अकृत (नहीं किये गये) कर्मोंकी फलरूपसे प्राप्ति आदि दोषोंकी आपत्ति होनेसे जीवोंका स्वतः जन्म नहीं हो सकता। किन्तु अन्तःकरणरूप-उपाधिके जन्मसे ही जन्मका आरोप मान सकते हैं। जैसे उपाध्यवच्छेद-रहित-आकाश ही घटरूप-उपाधिके द्वारा घटाकाश हो जाता है। घटका नाश होनेपर तो वही पुनः महाकाश होजाता है। उसप्रकार अविद्यारूप या अन्तःकरणरूप उपाधिसे ही जीवों का औपाधिक-जन्म माना जा सकता है, और उपाधिका नाश होनेपर मोक्ष होजाता है। इसलिये स्वरूपसे अजन्मा जीव ब्रह्म ही है, ऐसा समझना चाहिये। त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी जीवरूपसे उत्पत्ति माननेपर जीवोंमें जडत्वकी प्रसक्ति होजाती है, तथा पुरुष-परमात्माकी जीवरूपसे उत्पत्ति माननेपर परमात्मामें विकारित्वकी प्रसक्ति होजाती है, इसलिये प्रकृति एवं पुरुष-दोनोंकी मिलकर भी जीवरूपसे उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

'अजामेकां' 'अजो ह्येकः' (श्वे० उ० ४।५) इत्यादिश्रुतौ 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।' (गी० १३।१९) इति श्रीगीतायाञ्च द्वयोरप्यजत्वेन प्रसिद्धेः। अत उभयोः अविद्याप्रयोजितपरस्पराध्यासरूपसम्बन्धेनैव प्राणाद्युपाधयो जीवाः 'जलवायुसम्बन्धेनैव बुद्‌बुदा इव' जायन्ते। यथा केवलेन जलेन वायुना वा बुद्‌बुदा नोत्पद्यन्ते, किन्तूपादानकारणीभूते जले निमित्तकारणीभूतेन वायुनेति मिलितयोस्तयोः सम्बन्धेनैव त उत्पद्यन्ते। तथाऽत्राप्युपादानकारणभूते पुरुषे निमित्तकारणभूतया प्रकृत्या विवर्तरूपा बुद्‌बुदा इव जीवा जायन्ते। परमात्मनि प्रकृतिः स्वरूपेणाध्यस्ता, प्रकृतौ च परमात्मापि सत्ता स्फूर्तिरूपेण संसर्गेणाध्यस्तः। यथाऽधिष्ठानस्य शुक्त्यादेः संसर्गमात्रं रजतेऽध्यस्यते, रजतन्तु स्वरूपेण शुक्तावध्यस्यते तथा। परमात्मनोऽपि स्वरूपेणाध्यासे बाधापत्त्या शून्यवादप्रसंगात्।

'एक ही अजन्मा प्रकृति है' (श्रु०) 'एक ही अजन्मा पुरुष है' (श्रु०) इत्यादि श्रुतिमें 'तथा प्रकृति एवं पुरुष दोनोंको अनादि जान।' (गी०) इस गीताके वचन में दोनोंकी अजन्मारूपसे प्रसिद्धि है। इसलिये दोनोंके अविद्या प्रयोजित-परस्परके अध्यासरूपसम्बन्धसे ही प्राणादि-उपाधिवाले जीव 'जल एवं वायुके सम्बन्धसे ही बुद्बुदों की भांति' उत्पन्न होते हैं। जैसे केवल-जलसे एवं केवल वायुसे बुद्बुद उत्पन्न नहीं होते हैं, किन्तु उपादानकारणरूप-जलमें निमित्त कारणरूप वायुके द्वारा संमिलित दोनोंके सम्बन्धसे ही बुद्बुद उत्पन्न होते हैं। उसप्रकार इस उपादान-कारणरूप पुरुषमें निमित्तकारणरूप प्रकृतिके द्वारा बुद्बुदके समान चिदर्तरूप-जीव प्रादुर्भूत होते हैं। परमात्मामें प्रकृति स्वरूपसे अध्यस्त है। तथा प्रकृतिमें परमात्मा सत्तास्फूर्तिरूप संसर्गके द्वारा अध्यस्त होता है, जैसे अधिष्ठानरूप-शुक्ति आदिका संसर्ग ही रजत में अध्यस्त होता है, और शुक्तिमें रजत स्वरूपसे ही अध्यस्त होता है, वैसे। परमात्माका भी स्वरूपसे अध्यास माननेपर बाधकी आपत्तिके द्वारा शून्यवादका प्रसंग आजाता है, अतः परमात्माका स्वरूपाध्यास नहीं, किन्तु संसर्गाध्यास मानना चाहिये।

सत्येवं जीवानामौपाधिकमेव जन्म, उपाधिलयेन जीवानां ब्रह्मणि लयश्रवणादपि न वास्तवं जन्मेत्यवगम्यते। तथा च सर्वे जीवाः स्वोपाधिसहिता यतस्त्वत्त एव परमात्मन उत्पन्नाः, अतस्त्वय्येव महाकारणे लीना भवन्ति। लयश्च सुषुप्तिप्रलययोर्मुक्तौ चेति द्विधा प्रत्येतव्यः। आद्यो यथा मधुमक्षिकादिभिर्नीता अनेकपुष्परसा मधुनि लीनाः सन्तोऽमुकस्य पुष्पस्याहं रस इति विशेषतोऽनुपलक्ष्यमाणा अपि सामान्यत उपलक्ष्यन्त एव। तथा प्रारब्धकर्मनीता अन्तःकरणाद्युपाधिसहिता जीवास्त्वयि लीनाः सन्तो मनुष्यपशुपक्ष्यादिरूपेण विशेषतोऽनुपलक्ष्यमाणा अपि सामान्यतोऽवशिष्टसंस्कारा लक्ष्यन्त एव, तदानीं संसारकारणीभूताविद्यायाः विद्यमानत्वात्, अत एव जीवानां पुनर्जन्म।

ऐसा विवेचन होजानेपर जीवोंका उपाधिप्रयुक्त ही जन्म है, उपाधिके लयसे जीवोंका ब्रह्ममें लय सुना जाता है, इसीलिये जीवोंका वास्तविक जन्म नहीं है, ऐसा जाना जाता है। तथा च समस्त जीव, अपनी-अपनी अन्तःकरणादि-उपाधियोंके सहित जिस आप परमात्मासे ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये वे उस आप महाकारणमें ही विलीन होजाते हैं। सुषुप्ति एवं प्रलयमें लय एक प्रकारका होता है, और मुक्तिमें लय अन्य प्रकारका होता है, इस प्रकार लय दो प्रकारका समझना चाहिये। प्रथमका लय-जिस प्रकार मधुमक्षिका आदिके द्वारा लाये गये-अनेक प्रकारके पुष्पोंके रस मधु (शहद) में लीन हुए-'अमुक-पुष्पका मैं रस हूँ' ऐसा विशेषरूपसे प्रतीत न होनेपर भी सामान्य रूपसे विचार द्वारा परिलक्षित होते हैं। उस प्रकार प्रारब्ध कर्म द्वारा प्रवर्तित अन्तःकरणादि-उपाधिसे संयुक्त-जीव आप परमात्मामें विलीन हुए मनुष्य, पशु, पक्षी,

आदिके विशेष रूपसे परिलक्षित (विभासित) न होनेपर भी सामान्यरूपसे-अवशिष्ट-संस्कार वाले वे जीव परिलक्षित होते ही हैं। क्योंकि-उस समय यानी सुषुप्तिमें एवं प्रलयमें संसारका कारणरूप-अविद्या विद्यमान है, इसलिये जीवोंका पुनः जाग्रदवस्थामें एवं सृष्टिकालमें जन्म होता है।

यदाह श्रुतिरपि-'यथा सोम्य ! मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति, नानात्ययानां वृक्षाणां रसान्समवहारमेकतां संगमयन्ति, ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते, अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवम्, एवं खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति।' (छां० उ० ६।९।१-२) द्वितीयो यथा मुक्तौ च ज्ञानेनाविद्याया अपि विलयात्तदा त्वयि निरुपाधि-ब्रह्मणि सर्वे जीवाः समुद्रे गंगादिनद्य इव सामान्यविशेषाभ्यामनुपलक्ष्यमाणा अनवशिष्टसंस्कारा एव लीयन्ते; अत एव तेषां न पुनर्जन्म।

इसलिये छांदोग्योपनिषत् की श्रुति भी ऐसा कहती है कि—'हे प्रियदर्शन ! पुत्र ! जिसप्रकार मधुकरमक्षिकाएँ तत्पर हुई मधुका निर्माण करती हैं, अनेक-दिशाओं में अवस्थित-विविधप्रकारके वृक्षोंके रसोंका समाहरण (एकत्रित) कर मधुरूपसे उन रसोंको एकरूप बना देती हैं। वे विविधरस, उस मधुमें 'मैं अमुक वृक्षका रस हूँ, मैं अमुक वृक्षका रस हूँ' ऐसा विवेक (प्रार्थक्य) नहीं प्राप्त कर सकते। उसप्रकार ही हे सोम्य ! ये सब जीवरूप प्रजा, सुषुप्ति एवं प्रलयमें सद्ब्रह्ममें विलीन हुई नहीं जानती हैं कि-हम सद्ब्रह्ममें सम्पन्न (संमिलित) हुई हैं, ऐसा।' (श्रु०) द्वितीय लय जैसे-मुक्तिमें ज्ञानसे अविद्याका भी विलय (बाध) होनेसे उस समय तुम्ह उपाधिरहित ब्रह्ममें—सकल जीव, 'समुद्रमें गंगादि-नदियोंके समान' सामान्य एवं विशेष रूपसे परिलक्षित नहीं हुए-संस्कार भी अवशिष्ट नहीं हुए-विलीन होजाते हैं। इसलिये उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

तथा च श्रुतिः—'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥' (मुं० उ० ३।२।८) इति। एवञ्चाविद्योपहितानामप्यनादित्वाज्जीवानां वास्तव-जन्ममरणराहित्यान्न कृतनाशादिदोषापत्तिरिति ध्येयम्। अयं श्रुत्यर्थः—यथा= लोके, मधुकृतः—मधुकरमक्षिकाः, निस्तिष्ठन्ति=मधु निष्पादयन्ति तत्पराः सन्तः। कथं ?। नानात्ययानां=नानादिक्षु अवस्थितानां वृक्षाणां रसान् समाहारं=समाहृत्य, एकतां=एकभावं, मधुत्वेन रसान्गमयन्ति-मधुत्वमा-पादयन्ति। ते रसा यथा मधुत्वेनैकतां गतास्तत्र मधुनि विवेकं न लभन्ते, कथं ? अमुष्याहमाम्रस्य पनसस्य वा वृक्षस्य रसोऽस्मीति। मधुराम्लतिक्तक-टुकादीनां मधुत्वेनैकतां गतानां मधुरादिभावेन विवेको न गृह्यते। सति= ब्रह्मणि, संपद्य, सुषुप्तिकाले मरणप्रलययोश्च न विदुः=न विजानीयुः, सति

संपद्यामह इति संपन्ना इति वा । स्यन्दमानाः=प्रवहन्त्यः, समुद्रे=समुद्रं प्राप्य, अस्तं=अदर्शनमविशेषात्मभावं, गच्छन्ति=प्राप्नुवन्ति । परात्=अक्षरात्-अव्याकृताख्यात्, परं—दिव्यं—अद्वयं-ब्रह्मतत्त्वं, पुरुषं=प्रत्यगभिन्नं, उपैति=उपगच्छति ।

तथा च मुण्डकोपनिषत्की श्रुति कहती है-कि—'जैसे प्रवाहित—गंगादि-नदियाँ, अपने-नामरूपोंका परित्यागकर समुद्रमें विलीन होजाती हैं, वैसे ही विद्वान्-तत्त्वदर्शी नामरूपोंसे विमुक्त होकर परात्पर—दिव्य पुरुष—परमात्माको प्राप्त होजाता है ।' (श्रु०) इसप्रकार अविद्यासे उपहित—जीवोंमें अनादि होनेके कारण वास्तविक-जन्म मरणका अभाव है, अतः कृतनाशादि-दोषोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती है, ऐसा जानना चाहिये । यह श्रुतियोंका अर्थ है, यथा यानी लोकमें । नानात्यय यानी अनेक—दिशाओंमें अवस्थित । वृक्षोंके वे रस, जिस प्रकार मधुरूपसे एकीभूत हुए, उस मधुमें 'मैं अमुक-आम्रवृक्षका रस हूँ, एवं मैं अमुक-पनसवृक्षका रस हूँ' ऐसा विवेक (पार्थक्यानुभव) प्राप्त नहीं कर सकते हैं । अर्थात् मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु आदि रस जो मधुरूपसे एक हो गये हैं, उनका मधुरादि रूपसे पृथक्—अनुभव नहीं किया जाता । उसप्रकार सुषुप्तिकालमें तथा मरण एवं प्रलय समयमें सद्—ब्रह्ममें विलीन हुए जीव, यह नहीं जानते हैं कि—हम सद्-ब्रह्ममें विलीन हो रहे हैं, या विलीन हो गये हैं । स्यन्दमाना यानी बहती हुई, समुद्रको प्राप्त हुई गंगादि-नदियाँ, अस्त यानी पृथक्रूपसे दर्शनका अभाव रूपविलय । अपनी अपनी विशेषताओंको छोड़कर समुद्रभाव को प्राप्त होजाती हैं । व्याकृत-द्वैतप्रपञ्चकी अपेक्षा अव्याकृत—नामवाला—अक्षर (माया) पर है, उससे भी जो पर—प्रत्यगभिन्न—अद्वय—ब्रह्मतत्त्व है, उसे विद्वान् प्राप्त होजाता है ।

(१२) 'संसारचक्रक्रकचैर्विदीर्णमुदीर्णनानाभवतापतप्तम् ।
कथञ्चिदापन्नमिह प्रपन्नं त्वमुद्धर श्रीनृहरे ! नृलोकम् ॥
(भा० १०।८७) श्रीधरीय-व्या०)

अयमर्थः—संसारचक्रमेव क्रकचं=करपत्रं-काष्ठविदारणास्त्रविशेषस्तेन विदीर्णम् । तत्र प्रयुक्तं बहुवचनं संसारचक्रदुःखानन्त्यबोधनाय चक्रवदूर्ध्वाधोभावेन भ्रमणवति संसारे क्रकचवद् दुःखप्रदैर्रोगादिभिर्विदीर्णमिति वा । उदीर्णाः=उत्कटाः, नानाऽऽध्यात्मिकादिरूपाः संसारतापाः तैस्तप्तं, अतएवापन्नं=आपद्ग्रस्तं, इह=संसारे, कथञ्चित्=केनापि भाग्योदयेन कथञ्चिदार्ततया जिज्ञासुतया कामनया वा । त्वां—प्रपन्नं=शरणागतं त्वमुद्धर । अनेन समुद्धारप्रयोजिका भगवच्छरणागतिः प्रदर्शिता ।

'हे नृसिंह ! प्रभो ! यह जीवसमुदाय संसार-चक्रके आरे से छिन्न (शाश्वत-शान्ति-सुखसे) विच्छिन्न हो रहा है, और नानाप्रकारके सांसारिक-संतापों की धधकती हुई—लपटोंसे झूलस रहा है । यह विविध—विपत्तिग्रस्त जीवसमूह, किसी भी प्रकार

आपकी कृपासे आपकी शरणमें आया है, आप इसका उद्धार कीजिये ।' (श्री०) यह अर्थ है—संसार चक्र ही क्रकच है—'करपत्र' (करवत) नामवाला काष्ठविदारण करने वाला अस्त्र-(आरा) विशेषसे विदीर्ण (छिन्न-भिन्न) । क्रकचमें दिया गया बहुवचन संसार-चक्रके दुःखोंकी अनन्तताके बोधनके लिए है । अथवा चक्रके समान ऊपर एवं नीचे उत्कृष्ट एवं निकृष्ट भावसे भ्रमण करने वाले संसारमें । क्रकचकी तरह दुःखप्रद-रोगादिसे विदीर्ण । उदीर्ण यानी उत्कट (खूब-बढ़े-चढ़े) अनेक प्रकारके आध्यात्मिकादिरूप संसार के संताप, उनसे तपा हुआ, अत एव विपत्तिग्रस्त यह जीव समुदाय । इस संसारमें किसी भी भाग्यके उदयसे, किसी भी प्रकार आर्त (दुःखी) होकर या जिज्ञासु होकर या कोई कामना रखकर भी आपके शरणमें आया हुआ है, इसका तू उद्धार कर । इस श्लोक द्वारा समुद्धारकी प्रयोजिका भगवच्छरणागतिका प्रदर्शन किया ।

(१३) 'भजतां हि भवान् साक्षात्, परमानन्दचिद्घनः ।
आत्मैव किमतः कृत्यं, तुच्छदारसुतादिभिः ॥'

(भा० १०।८७। श्रीधरीय व्या०)

अनेन परमानन्दचिद्घनरूपेण तत्रात्मभावनामेव बद्ध्वा भगवान् भजनीय इति बोध्यते ।

'जो आपका भजन करते हैं, उनके लिये आप स्वयं साक्षात् परमानन्द-चिद्घन आत्मा ही हैं । इसलिये उन्हें तुच्छ स्त्री, पुत्र, धन आदिसे क्या प्रयोजन है ?।' (श्री०) इस श्लोकके द्वारा परम आनन्द—चैतन्यघनरूपसे उसमें आत्मा की भावना रखकर ही भगवान्का भजन करना चाहिये, ऐसा बोधन किया ।

(१४) 'मुञ्चन्नङ्गतदङ्गसङ्गमनिशं त्वामेव सञ्चिन्तयन्,
सन्तः सन्ति यतो यतो गतमदास्तानाश्रमानावसन् ।
नित्यं तन्मुखपङ्कजाद्विगलितत्वत्पुण्य—गाथामृत-
स्रोतःसम्प्लवसंप्लुतो नरहरे ! न स्यामहं देहभृत् ॥'

(भा० १०।८७। श्रीधरीयव्या०)

अयमर्थः—अंगं=शरीरं, तदङ्गानि=सुतदारधनादीनि, तेषु संगं= आसक्तिं, मुञ्चन्=परित्यजन् । गतमदाः=विनिर्गतजातिकुलविद्यादिगर्वाः- निरभिमानिन इत्यर्थः । तन्मुखपङ्कजात्=तेषां सतां मुखकमलात् विगलिते= विनिःसृते त्वत्पुण्यगाथामृतस्रोतसि यः संप्लवः=स्नानं, तेन संप्लुतः= सुस्नातोऽहं, अनिशं स्यां, पुनरहं देहभृन्न स्यां=भवेयमित्यर्थः । अनेन देहाद्यासक्तिपरित्यागोपलक्षिता संन्यासरूपा उपरतिः, एकान्तपवित्रस्थलनिवासः, सत्संगः, भगवतोऽजस्रं चिन्तनं, मुमुक्षा च प्रदर्शिता ।

'मैं शरीर और उसके सम्बन्धी स्त्रीपुत्र धनादिकी आसक्ति छोड़कर निरन्तर आपका ही चिन्तन करूँगा, और जहाँ जहाँ निरभिमान-सन्त निवास करते हैं,

उन्हीं-उन्हीं आश्रमोंमें रहूँगा। उन सत्पुरुषोंके मुखकमलसे निःसृत-आपकी पुण्यमयी-कथासुधाकी नदियोंकी धारामें प्रतिदिन स्नान करूँगा, और हे नृसिंह-प्रभो! फिर देह के बन्धनोंमें नहीं पडूँगा।' (श्री०) यह अर्थ है—अंग यानी शरीर, उस अंगके अंग, सुत दारा धन आदि। संग यानी आसक्ति। गतमद यानी जातिका कुलका विद्या आदिका गर्व जिनका चला गया है, अर्थात् जात्यादिके अभिमानसे जो सर्वथा रहित हैं। संप्लव यानी स्नान। इसश्लोक द्वारा देहादिकी आसक्तिके परित्यागसे उपलक्षित-संन्यासरूपा उपरति, एकान्त-पवित्र स्थलका निवास, सत्सङ्ग, भगवान्का निरन्तर-चिन्तन, एवं मुमुक्षा प्रदर्शित की गई।

(१५) 'उद्भूतं भवतः सतोऽपि भुवनं सन्नैव सर्पः स्रजः,
कुर्वन् कार्यमपीह कूट—कनकं वेदोऽपि नैवं परः।
अद्वैतं तव सत्परं तु परमानन्दं पदं तन्मुदा,
वन्दे सुन्दरमिन्दिरानुत! हरे! मा मुञ्च मामानतम् ॥'
(भा० १०।८७ श्रीधरीयव्या०)

अयमर्थः—सतोऽपि भवतः परमात्मनः सकाशात्, उद्भूतं=समुत्पन्नं, भुवनं=विश्वं, न सत्, यथा स्रजः=मालातः, उद्भूतः, सर्पो न सन्, तद्वत् कार्यं=आदानप्रदानादिव्यवहारं कुर्वदपि कूटकनकमिव न सत्। वेदोऽप्येवं परः=कर्मफलप्रतिपादनपरो न भवति, किन्तु परमानन्दाद्वैतपर एव वेदः।

'मालामें प्रतीयमान-सर्पके समान, सत्यस्वरूप आपसे उदित होनेपर भी यह त्रिभुवन-जगत् सत्य नहीं है। झूठा-सोना बाजारमें चल जाने पर भी सत्य-सुवर्ण नहीं होजाता। वेदोंका तात्पर्य भी जगत्की सत्यतामें नहीं है। इसलिये आपका जो परम-सत्य परमानन्द स्वरूप-अद्वैत-सुन्दर पद है, हे इन्दिरा (महालक्ष्मी) वन्दित श्रीहरे! मैं उसी की प्रसन्नताके साथ वन्दना या स्तुति करता हूँ, अर्थात् उसी ही पदमें चित्तको संलग्न बनाता हूँ। हे प्रभो! मुझ शरणागतको मत छोडिये।' (श्री०) यह अर्थ है, उद्भूत यानी उत्पन्न हुआ—प्रतीयमान हुआ। यहाँ प्रतीति ही उद्भूति है। कार्य यानी लेना देना रूप-व्यवहार करता हुआ भी नकली सोना, वास्तविक-सुवर्ण नहीं माना जाता। वेद भी एवंपर यानी कर्म-फलरूप—संसारके सत्यरूपसे प्रतिपादन करनेमें तात्पर्य नहीं रखता। किन्तु वेद का परमानन्द अद्वैतमें ही तात्पर्य है।

तत्=ततोऽहं वन्दे, आनतं=प्रपन्नं तव पादयोः पतितं मां मा मुञ्च=मा परित्यजेत्यर्थः। अनेन व्यवहार-प्रयोजकमपि सतः समुत्पन्नमपि जगदिदं न कारणब्रह्मवत् परमार्थ सत्, किन्तु सद्विलक्षणतयाऽनिर्वाच्यं मिथ्यैव, अद्वैतं सत्यमिति विज्ञाप्यते। मनसः स्थैर्याय भगवतः साकाररूपस्य वन्दनादि भक्तिरप्यत्र बोध्यते।

इसलिये मैं उस पद की वन्दना करता हूँ। आनत यानी आप भगवान्के चरणों

में पढ़ा हुआ–मुझ शरणागत का परित्याग न करें। इस श्लोकके द्वारा व्यवहारका प्रयोजक होनेपर भी एवं सद्ब्रह्मसे समुत्पन्न होने पर भी यह जगत् कारण-ब्रह्मकी तरह परमार्थ सत्य नहीं है, किन्तु सद्ब्रह्मसे विलक्षण होनेके कारण अनिर्वचनीय-मिथ्या ही है। परमानन्द स्वरूप–अद्वैत ही परमार्थ सत्य है, ऐसा विज्ञापन किया जाता है। मनकी स्थिरताके लिए भगवान्‌के साकार-स्वरूपकी वन्दनादि-भक्तिका भी यहाँ भी बोधन किया जाता है।

(१६) 'मुकुटकुण्डलकङ्कणकिङ्किणी–परिणतं कनकं परमार्थतः।
महदहङ्कृतिखप्रमुखं तथा, नरहरे! न परं परमार्थतः॥'
(भा० १०।८७। श्रीधरीयव्या०)

अनेन कारणमेव परमार्थतः सत्यं, कार्यं न ततो विलक्षणं—व्यतिरिक्त-मिति सूच्यते।

'सोना, मुकुट-कुण्डल–कङ्कण और किङ्किणीके रूपमें परिणत होनेपर भी वस्तुतः सोना ही है, मुकुटादि कुछ नहीं। इसीप्रकार हे नृसिंह! महत्तत्त्व, अहंकार, और आकाश–वायु आदिके रूपमें उपलब्ध होने वाला यह सम्पूर्ण–जगत् वस्तुतः आपसे भिन्न नहीं है, आप ही आप हैं।' (श्री०) इस श्लोक द्वारा कारण ही परमार्थ सत्य है, और कार्य उससे विलक्षण-व्यतिरिक्त नहीं है, ऐसा सूचित किया गया है।

(१७) 'नृत्यन्ती तव वीक्षणाङ्गणगता कालस्वभावादिभिः,
भावान् सत्त्वरजस्तमोगुणमयानुन्मीलयन्ती बहून्।
मामाक्रम्य पदा शिरस्यतिभरं संमर्दयन्त्यातुरं,
माया ते शरणं गतोऽस्मि नृहरे! त्वमेव तां वारय॥
(भा० १०।८७। श्रीधरीयव्या०)

'हे प्रभो! आपकी यह माया आपकी दृष्टिके आँगनमें आकर नाच रही है, और काल, स्वभाव आदिके द्वारा सत्त्वगुणी रजोगुणी और तमोगुणी अनेकानेक-भावोंका प्रदर्शन कर रही है। साथ ही यह मेरे सिर पर सवार होकर मुझ आतुर (दुःखी) को बलपूर्वक रौंद रही है। हे नृसिंह! मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप ही इसका निवारण कीजिये।' (श्री०)

अयमर्थः—भो नृहरे! त्वामेव शरणं गतोऽस्मि, तां =प्रसिद्धां मायां वारय। का सा माया? त्वां किं व्यथयतीत्यतस्तद्वारणाय मां प्रार्थयसे? इत्यत आह–ते = तव, माया, तव वीक्षणमेवाङ्गणं, तत्र गता नृत्यन्ती, तव दृष्टिलब्ध सामर्थ्या सती, गुणमयान् भावान् शान्तघोरमूढलक्षणान् उन्मीलयन्ती= समुद्भासयन्ती सती, मम शिरसि, पदा=पादेन, आक्रम्य, अतिभरं=आधिव्या-ध्युपाधिरूपातिशयभारं संस्थाप्य, मां, आतुरं=दुःखिनं यथा स्यात् तथा संमर्दयन्ती, तवैव माया त्वमेव कृपया तां वारय, नान्यस्य तद्वारणे सामर्थ्यमस्ति।

'मम माया दुरत्यया; मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते ।' (गी० ७।१४) इति श्रीमुखवचनं विश्वस्य श्रद्धाभरेण तदर्थं त्वामहं प्रार्थये इति भावः । अनेन भगवच्छरणागति र्मायातरणसाधनमस्तीति बोध्यते ।

यह अर्थ है—हे नरहरे ! मैं आपके शरणमें आया हूँ, उस प्रसिद्ध मायाका वारण कीजिये । कौन वह माया है ? क्या वह तुझे व्यथित करती है ? इसलिये इसके निवारणके लिए मेरी तू प्रार्थना करता है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—वह आपकी माया है, आपका वीक्षण (दृष्टिपात) ही आँगन है, उसमें आकर नाचती है, अर्थात् आपकी दृष्टिके द्वारा सामर्थ्यको प्राप्त करती हुई, गुणमय—सुखप्रयोजक शान्तभाव, दुःखप्रयोजक घोरभाव, एवं मोहप्रयोजक मूढभावोंको समुद्भासित करती हुई, मेरे शिर पर अपने पैरसे आक्रमण करके आधि, व्याधि एवं उपाधिरूप—अतिशय भारको स्थापित करके मुझ दुःखीको जिसप्रकार हो सके उस प्रकार अत्यन्त मर्दन करती (रगड़ती) हुई उस माया का तू ही कृपा करके निवारण कर । अन्य की उस माया के निवारणमें सामर्थ्य नहीं है । 'मेरी माया बड़ी दुस्तर है—अर्थात् उसका अतिक्रमण करना बड़ा कठिन है, तथापि जो जन मेरी शरणमें आते हैं, मेरा निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं—वे उस मायाका अतिक्रमण कर सकते हैं ।' (गी०) ऐसे श्रीमुखवचन पर विश्वास रखकर अतिशय—श्रद्धासे मायाके निवारणके लिए तेरी मैं प्रार्थना करता हूँ, यह भाव है । इस श्लोक द्वारा—भगवान् की शरणागति ही माया—तरणका साधन है, ऐसा बोधन किया है ।

(१८) 'दम्भन्यासमिषेण वंचितजनं भोगैकचिन्तातुरं,
संमुह्यन्तमहर्निशं विरचितोद्योगक्लमैराकुलम् ।
आज्ञालंघिनमज्ञमज्ञजनतासंमाननासन्मदं,
दीनानाथ ! दयानिधान ! परमानन्द ! प्रभो ! पाहि माम् ॥
(भा० १०।८७। श्रीधरीयव्या०)

'हे प्रभो ! मैं दम्भपूर्ण संन्यासके बहाने लोगोंको ठग रहा हूँ । एकमात्र-विषय भोगोंकी चिन्ता से ही आतुर हूँ, तथा रात-दिन नानाप्रकारके उद्योगोंकी रचनाकी थकावटसे व्याकुल तथा बेसुध हो रहा हूँ । मैं आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता हूँ, अज्ञानी हूँ, और अज्ञानी लोगोंके द्वारा होनेवाले सम्मानसे 'मैं सन्त हूँ' ऐसा घमण्ड कर बैठा हूँ । हे दीनानाथ ! दयानिधान ! परमानन्द ! मेरी रक्षा कीजिये ।' (श्री०)

अयमर्थः—अत्रैतज्ज्ञातव्यं प्राक्-श्रीधरस्वामी स्वयमयं परमहंसर्षभो भगवत्कृपया निरस्तसमस्तमायागुणोऽत एव विषयासक्तिदेहभावजीवभावरहितोऽनवरतभगवद्गुणस्मरण—-कीर्तनादिभिर्निदिध्यासितपरमात्मतत्त्वोऽपि स्वस्य संन्यासित्वात् कुसंन्यासिनां दोषानात्मन्यारोप्य भगवन्तं स्वरक्षणाय प्रार्थयन्नाह—दंभेन यो न्यासः=संन्यासस्तस्य मिषेण=छलेन, वञ्चिता जना

येन तं, अत एव भोगेषु एका=केवला या चिन्ता, तयाऽऽतुरं=दुःखितम्। अत एवाहर्निशं मुह्यन्तं=मोहं प्राप्नुवन्तम्। विरचितो य उद्योगः=मठनिर्माणादिव्यापारस्तत्र ये क्रमाः=इतस्ततो धनाद्यर्थपरिश्रमाः तैराकुलं=विक्षिप्तम्। अतोऽज्ञमतस्तव परमेश्वरस्य शास्त्रीयाज्ञालंघिनं=शास्त्रविरुद्धाचरणशालिनमिति यावत्।

यह अर्थ है—यहाँ प्रथम यह जानना चाहिये—यह श्रीमद्भागवतव्याख्याता श्रीधरस्वामी स्वयं परमहंसयतियोंमें श्रेष्ठ है, भगवान्‌की कृपासे मायाके समस्त गुणों का परिवर्जनकर निस्त्रैगुण्य हो गया है, अतएव विषयासक्ति, देहभाव एवं जीवभावसे भी रहित होगया है। निरन्तर भगवान्‌के गुणोंके स्मरण कीर्तनादिके द्वारा जिसने परमात्मतत्त्वका निदिध्यासन भी कर लिया है। तथापि स्वयं संन्यासी होनेके कारण कुसंन्यासियोंके दोषोंका अपनेमें आरोप करके स्वरक्षणके लिए भगवान्‌की प्रार्थना करता हुआ कहता है कि—दम्भपूर्वक किये गये संन्यासवेषके बहाने जिसने लोगोंकी वञ्चना की है, अतएव भोगोंकी ही केवल चिन्तासे जो दुःखी बना रहता है, अतएव रात्रि दिन–मोह (भ्रान्ति) को ही प्राप्त होता रहता है। जिसने मठनिर्माणादिके लिये बड़ा भारी उद्योग किया है, उसके लिये इधर-उधरसे धनादिकी प्राप्त्यर्थ बड़ा परिश्रम किया है, इसलिये जो इनसे विक्षिप्त बना रहता है, अतएव जो वस्तुतः अज्ञानी है, अतः आप परमेश्वरकी शास्त्रीय–आज्ञाका उलंघन करता है, अर्थात् जो शास्त्रके आदेशसे विरुद्ध आचरण करनेकी आदत वाला बन गया है।

तत्कुतः ? यतः अज्ञानां जनतानां=जनसमूहानां संमाननाभिः=सत्कारैः सम्यग्मदोऽभिमानः—'अहो एते मां सर्वोत्कृष्टं ज्ञात्वाऽर्चयन्तीत्येवं लक्षणो यस्य तं एवंभूतं माम्। यद्वा संमाननैः असन्मदः=मिथ्याभिमानः संजातो यस्य तं। हे दीनानाथ !=दीनैरासमन्तान्नाथ्यते=प्रार्थ्यत इति तथाभूतः, दयैव=करुणैव निधानं=धनं यस्य सः। एतेनैवंभूतं कुमार्गगामिनं समुद्धर्तुं कृपाकूपारो भगवान् श्रीकृष्ण एव समर्थो नान्य इति प्रदर्शितं स्वामिपादैः। अनेनाज्ञानतद्दोषाणां सर्वत्र साम्राज्यं प्रदर्श्य तेभ्यः सर्वेण सावधानेन भाव्यमित्यपि सूच्यते।

ऐसा क्यों है ? इसलिये है कि–अज्ञानी–जनोंके समुदायके सत्कारोंसे–'अहो ! ये सब मुझे सर्वोत्तम जानकर मेरी पूजा करते हैं, इसप्रकारका जिसे अच्छी प्रकार अभिमान हो गया है, अथवा जिसे मिथ्या अभिमान उत्पन्न हो गया है। ऐसे मुझ अभिमानी की हे प्रभो ! तू रक्षा कर। सर्व प्रकारसे दीनजन जिसकी प्रार्थना करते हैं–वह है–दीनानाथ ! दया यानी करुणा ही जिसका धन है—वह है दयानिधान !। इन सम्बोधनोंके द्वारा इस प्रकारके कुमार्गगामीका समुद्धार करनेके लिए कृपासागर भगवान् श्रीकृष्ण ही समर्थ है, अन्य नहीं, ऐसा पूज्य श्रीधरस्वामीने प्रदर्शित किया।

इस श्लोकके द्वारा—अज्ञान और अज्ञान जन्य दोषोंका सर्वत्र—गृहस्थोंमें क्या? गृहत्यागी साधुओंमें भी साम्राज्य फैला हुआ है, ऐसा प्रदर्शित करके उन दोषोंसे सबको सावधान रहना चाहिये, ऐसा सूचित किया।

(१९) 'अवगमं तव मे दिश माधव ! स्फुरति यन्न सुखासुखसंगमः।
श्रवणवर्णनभावमथापि वा, नहि भवामि यथा विधिकिङ्करः॥
(भा० १०।८७)। श्रीधरीयव्या०)

अयमर्थः—अवगमं=यथार्थज्ञानं, दिश=देहि। सुखासुखयोः द्वन्द्वस्य संगः=संयोगः, यत्=यस्मात्—अवगमात् न स्फुरति—न हर्षशोकं जनयति अथापि वा=अथवा तव श्रवणवर्णनभावमपि दिश। यथा=येन प्रकारेण। विधिकिङ्करः=विधिनिषेधपराधीनताप्रयुक्तो व्याकुलोऽहं नहि भवामीत्यर्थः। अनेन द्वन्द्वदुःखपारतन्त्र्यनिवृत्तये बोधलाभस्य श्रवणादिभक्तिलाभस्य च प्रार्थना सूच्यते।

'हे माधव ! आप मुझे अपने वास्तविक--स्वरूपका सर्वत्र अन्तर्बहिः अनुभव कराइये, जिससे फिर सुखदुःखके संयोगकी हर्षशोक जनिका-स्फूर्ति नहीं होती। अथवा मुझे अपने-दिव्यगुणोंके श्रवण और वर्णनका प्रेम ही दीजिये, जिससे कि—मैं विधि-निषेधका किङ्कर न होऊँ।' (श्री०) विधिनिषेधकी पराधीनताप्रयुक्त व्याकुल मैं नहीं बनूँ। इस श्लोकद्वारा सुखदुःखादि-द्वन्द्वदुःखकी एवं परतन्त्रताकी निवृत्तिके लिए बोधलाभकी एवं श्रवणादि-भक्तिलाभकी प्रार्थना सूचित किया, अन्य अर्थ स्पष्ट है।

(२०) 'द्युपतयो विदुरन्तमनन्त ! ते, न च भवान्न गिरः श्रुतिमौलयः।
त्वयि फलन्ति यतो नम इत्यतो जय जयेति भजे तव तत्पदम्॥'
(भा० १७।८७। श्रीधरीयव्या०)

'हे अनन्त ! ब्रह्मा आदि देव-गण, आपका अन्त (देशकालवस्तुपरिच्छेद) नहीं जानते (क्योंकि—आप सर्व-देशोंमें व्यापक हैं, किसी भी कालमें आपका बाध नहीं होता, एवं सर्वचराचर-वस्तुओंके आप अभिन्न स्वरूप हैं, इसलिये आपका किसी भी प्रकारका अन्त कौन जान सकता है ? नहीं जान सकता) न आप ही जानते और न तो वेदोंकी मुकुटमणि-उपनिषदें ही जानती हैं, क्योंकि-आप अनन्त हैं—आपका अन्त है ही नहीं, तब उसे जाने कौन ?। अतः उपनिषदें 'नमो नमः' 'जय हो जय हो' यह कहकर आपमें चरितार्थ होती हैं,। इसलिये मैं भी 'नमो नमः' 'जय हो जय हो' यही कहकर आपके अनन्त स्वरूपका भजन-चिन्तन करता रहता हूँ।

द्युपतयः=ब्रह्मप्रभृतयो देवाः। श्रुतीनां=वेदानां मौलयः=शिरोमणि-भूता गिरो=वेदान्तवाक्यानि न विदुः। यतः=यस्मात्, त्वयि विषये ताः गिरः—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१) 'तत्त्वमसि' (छां० उ० ७।७।८) 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० उ० ३।८।१०) इत्यादि—श्रुतिरूपाः, अनृतत्व

जडत्वपरिच्छिन्नत्वादीनां पारोक्ष्यसद्वितीययोर्वा जीवत्वेश्वरत्वप्रयोजकोपाधिभूतयोर्मायाऽविद्ययोर्वा स्थूलत्वाणुत्वादीनां चानात्मभूतानां क्रमेण व्यावर्तनेन निरवधिक—निरधिष्ठानकपरिच्छेद--निषेधादर्शनात्तदवधिभूतमनन्तमधिष्ठानस्वरूपं त्वामेव नमो नमः जय जयेत्युक्त्वा तात्पर्यवृत्त्या प्रतिपाद्य पर्यवस्यन्ति-निवृत्तव्यापारा भवन्ति। चिन्मात्रमद्वयतत्त्वमधिष्ठानमनन्तं लक्ष्यीकृत्य सफला भवन्त्यतो नमो नमः जय जयेति वदन्ति। स्वसाफल्याभावे तद्वदनं निरर्थकमेव संपद्येत। अतः श्रुतिमौलयस्तव वाचामगोचरमनन्तस्वरूपं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं निरस्ताशेषविशेषमेकरसं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म विधिमुखेन प्रतिपादयितुमसमर्था अप्यशेषविशेषनिषेधमुखेन ज्ञापयन्त्येवेति सिद्धम्। अतोऽहमपि नमो नमः जयजयेति ब्रुवन् भजे=समाराधये—सततमनुसंदधे वा।

सत्यपद अनृतत्वका ज्ञानपद जडत्वका एवं अनन्तपद त्रिविध-परिच्छेदोंका व्यावर्तन करता है। तथा 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य व्यतिहार न्याय द्वारा जीवके साथ ईश्वरका अभेद बोधन करके ईश्वरमें वर्तमान परोक्षत्वका व्यावर्तन करता है। और ईश्वरके साथ जीवका अभेद बोधनकरके जीवमें वर्तमान सद्वितीयत्व का व्यावर्तन करता है। तथा जीवत्वप्रयोजक--अविद्या उपाधिका एवं ईश्वरत्व--प्रयोजक-माया उपाधिका व्यावर्तन करता है। एवं अस्थूलादि-श्रुति अनात्मभूत स्थूलत्व-अणुत्वादि धर्मोंकी व्यावृत्ति करती है। इस प्रकार परिच्छेदोंका निषेध, अवधि रहित-एवं अधिष्ठान शून्य नहीं होता। अर्थात् निषेध सावधिक एवं साधिष्ठानक होता है। इसलिये उस निषेध की अवधिरूप-अधिष्ठान-स्वरूप आपके अनन्त स्वरूपका 'नमो नमः जय जय' ऐसा कहकर तात्पर्य वृत्ति द्वारा प्रतिपादन करके श्रुतियाँ चरितार्थ होती हैं, पश्चात् व्यापार रहित-चुप हो जाती हैं। चिन्मात्र-अद्वैततत्त्व अनन्त-अधिष्ठानका लक्षणा द्वारा परिचय कराके सफल हो जाती हैं, इसलिये 'नमो नमः जय जय' ऐसा कहती हैं, अपनी सफलता न होवे तो जय जय बोलना निरर्थक हो जाता है। अतः श्रुतिमौलि-उपनिषदें विधिमुख के द्वारा वाणीका अगोचर नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव निर्विशेष प्रत्यगभिन्न एकरस अनन्त ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए असमर्थ हुई भी अशेष-विशेषोंके निषेधोंके द्वारा तादृश ब्रह्मस्वरूपका ज्ञापन कराती ही हैं, ऐसा सिद्ध हुआ। इस लिए मैं भी आपके उस स्वरूप की नमो नमः जय हो जय हो ऐसा बोलता हुआ आराधना करता हूँ, या निरन्तर अनुसंधान करता हूँ।

केवलाद्वैतसिद्धान्तनिष्ठेष्वपि साकारविग्रहभक्तिनिष्ठा।

ये महाभागाः केवलाद्वैतसिद्धान्तमभ्युपगच्छन्ति, ते खलु स्वात्मारामाः एव भवन्ति। अत एव श्रीमद्भागवतेऽपि यत्र तत्रासकृत्तेषां स्वरूपमेतादृशमभिवर्ण्यते—'भवत्सु कुशलः प्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते। कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः॥' (भा० ४।२२।१४) अयमर्थः—'बुद्धेः परतस्तु सः' (गी० ३।४२) इति गीतास्मृतेः, यत्र = येषु बुद्धेः परत्रात्मनि स्वस्वरूपे रममाणेषु बुद्धिवृत्तिरूपकुशलाद्यभिलक्षितसुखदुःखादिद्वन्द्वधर्माणां सम्बन्धो न संभवति। अत एव तेषु कुशलप्रश्नो नोपयुक्तो भवति।

केवलाद्वैत-सिद्धान्तमें निष्ठा रखने वाले—महानुभावोंमें भी-साकार विग्रह-धारी भगवान्की भक्तिनिष्ठा।

जो महाभाग केवलाद्वैत-सिद्धान्त मानते हैं, वे निश्चयसे स्वात्माराम ही होते हैं। इसलिये श्रीमद्भागवतमें भी जहाँ तहाँ कई वार उनके स्वरूपका इसप्रकार वर्णन मिलता है। जैसे—'पृथुराजा सनकादि-ब्रह्मनिष्ठ-मुनीश्वरोंसे कहता है कि—आप लोगोंसे कुशल प्रश्न करना उचित नहीं है, क्योंकि—आप निरन्तर आत्मामें ही रमण करते हैं, अतः आपमें यह कुशल है, और यह अकुशल है, इसप्रकार की इष्टानिष्टपदार्थ विषयिणी वृत्तियाँ कभी होती ही नहीं।' (भा०) इसका यह अर्थ है—'पर—बुद्धिसे भी वह आत्मा परात्पर है।' इस गीता स्मृति द्वारा बोधित—जो बुद्धिसे पर-स्वस्वरूपभूत—आत्मा है—उसमें सर्वदा रमण करने-वाले—आप महानुभावोंमें कुशलादिरूप-बुद्धिवृत्तियोंसे अभिलक्षित सुखदुःखादिरूप—इष्टानिष्ट—द्वन्द्वोंके धर्मोंका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। इसलिये ऐसे आप निर्द्वन्द्व स्वात्मारामोंमें कुशल प्रश्न उपयुक्त नहीं है।

'असंगनिशित—ज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावानामात्मारामाणां मुनीनाम्।' (भा० ५।३।११) अयमर्थः—असंगेन=वैराग्येण निशितं= प्रज्वलितं यज्ज्ञानं स एवानलस्तेन विधूताः=निरस्ताः, अशेषाः—अविद्याऽस्मितारागद्वेषादिमला येषां ते तेषां, अतः भवतः—परमेश्वरस्येव शान्त्यानन्दमयः स्वभावोऽद्वयब्रह्मभावो येषां ते तेषाम्। एवंभूतेषु स्वात्मारामुनिष्वपि साकारभगवद्भक्तिनिष्ठाऽभिवर्णिता दृश्यते श्रीमद्भागवतेष्वपि यत्र तत्र बहुत्र।

'जिन्होंने असंगभावरूप—वैराग्यसे प्रज्वलित-हुई—ज्ञानाग्निके द्वारा अपने अन्तःकरणके रागद्वेषादि संपूर्ण-मलोंको जला डाला है, अतएव जिनका स्वभाव आप परमेश्वरके समान आनन्दमय-शान्त है, वे आत्माराम-मुनिगणभी (निरन्तर आपके दिव्य-गुणोंका गान ही किया करते हैं) (भा०) यह अर्थ है—संग यानी आसक्ति, आसक्तिका अभाव होना ही वैराग्य है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, एवं अभिनिवेश ये पंचप्रकारके मल-प्रसिद्ध हैं। जैसा परमेश्वर--भगवान्का शान्ति एवं आनन्दमय स्वभाव यानी अद्वय-ब्रह्मभाव सर्वदा रहता है। वैसा ही स्वभाव आत्मा-

राम-मुनियोंका होता है। ऐसे स्वात्माराम-मुनियोंमें भी साकार-भगवान् की भक्तिकी निष्ठाका—श्रीमद्भागवतमें भी जहाँ तहाँ अनेक स्थलोंपर—वर्णन किया हुआ देखनेमें आता है।

सत्येवं—आत्मारामाः परमहंसशिरोमणयो भगवत्पादा आचार्यप्रवराः श्रीशङ्करस्वामिनोऽपि स्वविरचितस्तोत्रेष्वपि——'विद्युदुद्योतवत्प्रस्फुरद्वाससं प्रावृडम्भोदवत्प्रोल्लसद्विग्रहम्। वन्यया मालया शोभितोरःस्थलं लोहिताङ्घ्रिद्वयं वारिजाक्षं भजे॥' कुञ्चितैः कुन्तलैर्भ्राजमानाननं, रत्नमौलिं लसत्कुण्डलं गण्डयोः। हारकेयूरकं कंकणप्रोज्ज्वलं किङ्किणीमंजुलं श्यामलं तं भजे॥' (अच्युताष्टके) 'मृत्स्नामत्सीहेति यशोदाताडनशैशवसंत्रासं, व्यादित वक्त्रालोकितलोकालोकचतुर्दशलोकालिम्।' (गोविन्दाष्टके) इत्यादिभिर्वचनैः।

ऐसा विवेचन होजाने पर-आत्माराम-परमहंसशिरोमणि-भगवत्पाद (पूज्य भगवान्) आचार्य-प्रवर श्रीशंकरस्वामी भी स्वरचितस्तोत्रोंमें भी—'जिसका पिताम्बर विद्युत्प्रकाशके समान चमक रहा है, जिसका वर्षाकालीनमेघके समान श्यामसुन्दर विग्रह सुशोभित हो रहा है, वनमालासे जिसका वक्षः स्थल शोभित है एवं जिसके लालवर्णके पादद्वय हैं, ऐसे कमलनयन-भगवान् श्रीकृष्णका मैं भजन करता हूँ।' 'घुङ्घराले-काले काले केशोंसे जिसका मुखकमल भ्राजमान है, जिसकी मौलिमें रत्न चमक रहे हैं, जिसके गालोंपर कुण्डलों की कान्ति प्रतिबिम्बित हो रही है, जिसने हार एवं केयूर धारण किये हैं, रत्नखचित सुवर्णके कंकणोंसे जिसके हाथ सुशोभित हैं। एवं किङ्किणियोंकी मंजुलध्वनियोंसे संयुक्त हैं, ऐसे श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णका मैं भजन करता हूं।' (यह अच्युताष्टकके दो पद्य हैं) 'क्या तूने मिट्टी खाई है?' इस प्रकार यशोदामाताके रोषयुक्त वचनके ताडनसे शैशव सुलभ भय जिसने अभिव्यक्त किया है, अच्छा! मुख खोल, ऐसा कहनेपर जिसने अपने खोले हुए-मुखमें माता यशोदाको—लोकालोक-पर्वतमाला सहित—चतुर्दशभुवनोंकी क्रमबद्ध पंक्तिको दिखाया।' (यह गोविन्दाष्टकका पद्य है) इत्यादि वचनोंके द्वारा—

एवं तदनुयायिनः परिव्राजकधुरीणाः केवलाद्वैतसिद्धान्तसमर्थनलब्ध-यशःसंभाराः आचार्यमधुसूदनसरस्वतीस्वामिपादा अपि—'वंशीविभूषितकरान्न-वनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्। पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥' 'अस्माकन्तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं, कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति।' 'पराकृतनम-द्वन्द्वं परं ब्रह्म नराकृति। सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः॥' (गीता-मधुसूदनीव्याख्याने) इत्यादिभिः, एवमन्येऽपि महानुभावाः चित्सुखाचार्य्य-श्रीधराचार्य-गोविन्दानन्द——सदानन्दप्रभृतयः——केवलाद्वैतवेदान्ताचार्य्याः; स्वस्वग्रन्थेषु स्वकीयां साकारभगवद्भक्ति-निष्ठामभिव्यञ्जयामासुः।

इसप्रकार आचार्य श्रीशंकरके अनुयायी—श्रेष्ठ-परिव्राजक, केवलाद्वैतके सिद्धान्तों के समर्थनके द्वारा जिन्होंने प्रभूत यश संपादन किया है—ऐसे आचार्य पूज्य स्वामी मधुसूदन सरस्वतीजीने भी—'जिसके हाथ वंशीसे सुशोभित हैं, अभिनव--मेघके समान जिसके अंगोंकी श्यामसुन्दर आभा है, जिसने पीले-रेशमी वस्त्र धारण किये हैं, बिम्बफलके समान जिसके लाल-लाल—अधर एवं ओष्ठ हैं, पूर्णिमाके चन्द्रके समान सुन्दर-आह्लादक जिसका मुख है, विकसित-कमलके समान जिसके मनमोहक आकर्षक-नेत्र हैं, ऐसे श्रीकृष्णसे बढ़कर अन्य किसी भी तत्त्वको मैं नहीं जानता हूँ, अर्थात् जो पर तत्त्व—ब्रह्म है, वही यह श्रीकृष्ण है, ऐसा मैं जानता हूँ ।' 'हमारेको तो हमारे नेत्रोंके आह्लादके लिये वही चिरसमय तक अवस्थित रहा करे—जो यमुनाके तटके मध्यमें अवर्णनीय नीलवर्णकी दिव्य-ज्योति—गोओंके पीछे दौड़ रही है ।' 'जो मनुष्यकी आकृतिसे प्रतीयमान होनेपर भी पर ब्रह्म है, जिसने नमन करने वाले भक्तोंके अज्ञानादि—बन्धोंका ज्ञान द्वारा विध्वंस किया है, एवं जो सौन्दर्योंके सारका सर्वस्व (पूर्णनिधि) है, उस नन्द-बाबाके पुत्र-श्रीकृष्णरूप—दिव्य श्यामल-ज्योतिको मैं वन्दन करता हूँ ।' इत्यादि वचनोंके द्वारा—इसप्रकार अन्य भी महानुभाव—चित्सुखाचार्य, श्रीधराचार्य, स्वामी गोविन्दानन्द-सदानन्द-आदि—जो अद्वैत—वेदान्तके आचार्य हैं—उन्होंने अपने अपने ग्रन्थोंमें अपनी-साकार भगवान्की भक्तिकी निष्ठाको अभिव्यक्त किया है ।

भक्तितत्त्वमद्वैतानुकूलमेव ।

किञ्च भक्तितत्त्वमपि स्वप्रेयसो व्यवधानासहिष्णुस्वभावतयाऽद्वैतानुकूलमेव मन्तव्यम् । अतस्तदर्थं—आराध्याराधकयो भक्तभगवतोर्वास्तविकं भेदकल्पनं निरर्थकमेव मन्यमानाः केवलाद्वैतिनस्तत्रैव भगवति स्वात्मानमपि विनिवेदयन्ति । इयमेव नवधा भक्तीनां मध्येऽन्तिमा भक्तिः भक्तिशास्त्रेषु पठ्यते । अपरिच्छिन्नस्वप्रकाशाद्वैततत्त्वे विविधानर्थोपप्लुतदेहभाव—जीव भाव-कल्पनायाः 'प्रकाशप्रचुरे सवितरि तमः—एकदेशकल्पनाया इव' अनौचित्यमेवाभ्युपगम्यमानाः प्रियतमभगवत्पूर्णत्वप्रतिबन्धकत्वेन ततो लेशतोऽपि पार्थक्यमसहमानाः स्वात्मानमपि व्यवधायकाविद्याद्युपाधिं बाधित्वा तत्रैवाभेदभावेन 'सिन्धौ बिन्दुमिव, महाकाशे घटाकाशमिव' समर्पयन्ति । अतः स्वात्मनिवेदनभक्तेः रहस्यमिदमपि अद्वैत—तत्त्वमेव निःसन्देहं समर्थयति । सति चैवं—'तस्मिन् तज्जने च भेदाभावात् ।' इति नारदभक्तिसूत्रमपि तदेव विज्ञापयति ।

भक्तिका स्वरूप अद्वैतके अनुकूल ही है ।

और भक्तिका स्वरूपभी अपने प्रियतमके व्यवधानका सहन न करनेका

स्वभाव वाला होता है, इसलिये यह अद्वैत के अनुकूल ही है, ऐसा मानना चाहिये। इसलिये भक्तिके लिये भी—आराध्य–भगवान् एवं आराधक–भक्तमें वास्तविक-भेदकी कल्पनाको निरर्थक ही मानते हुए–केवलाद्वैतवादी उसी ही भगवान्‌में स्वात्माको भी निवेदन करते हैं। यह स्वात्मनिवेदन ही श्रवणादि-नवप्रकारकी भक्तियोंके मध्यमें अन्तिम—भक्ति भक्तिशास्त्रों में कही गई है। जैसे प्रकाशप्रचुर-सवितामें अन्धकारके एकदेशकी भी कल्पना अनुचित है, वैसे अपरिच्छिन्न–स्वप्रकाश-अद्वैत तत्त्वमें देह-भाव एवं जीवभावकी कल्पना–जो विविध–अनर्थोंसे संयुक्त है—अनुचितही मानते हुए—प्रियतम-भगवान् की पूर्णताका प्रतिबन्धक होनेके कारण उस भगवान्‌से लेश भी पृथक्ताको सहन नहीं करते हुए—व्यवधान डालने वाली-अविद्यादि-उपाधिका बाध करके अपने आत्माको भी उसभगवान्‌में 'सिन्धुमें बिन्दुकी तरह एवं महाकाशमें घटाकाशकी तरह' अभेदभावसे समर्पित कर देते हैं। अतः स्वात्मनिवेदन-भक्तिका यह रहस्यभी निःसंदेह अद्वैत-तत्त्वका ही समर्थन करता है। ऐसा निर्णय होजानेपर-'उस भगवान्‌में और भगवज्जन–भक्तमें अन्तमें भेद नहीं रहता।' यह नारदका भक्ति सूत्रभी उसी ही अभेदभावका विज्ञापन करता है।

प्रेम्णः पर्यवसानमद्वैत एव।

लोकेऽपि प्रेम्णः समुत्कटस्य पर्यवसानं व्यवधानापनोदनपूर्वकमैक्य एव दरीदृश्यते। यथा पुत्रवत्सला जननी प्रियतमं स्वकीयं शिशुं प्रेमातिशयेन देशादिव्यवधानापनुत्तये पुनः पुनः परिष्वजति। सहृदया प्रेयसी च स्वप्रियतमं गाढमालिङ्गयमाना मध्ये व्यवधायिकां रोमोद्गतिमपि सोढुं विषीदति। सत्येवं यत्र यावत्या मात्रया प्रेमाधिक्यं वर्तते, तत्र तावत्यैव मात्रयाऽभेद-भावोऽभिलष्यते भावुकैः। अतः—'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तर-तरं यदयमात्मा।' (बृ० १।४।८) 'तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहि-नाम्।' (भा० १०।१४।५४) इति श्रुतिभागवतवचनेनापि सर्वव्यवधानशून्ये स्वात्मन्येव निरतिशयः सर्वातिशायी प्रेमा सर्वानुभूतोऽभिवर्ण्यते।

प्रेमका पर्यवसान अद्वैतमें ही है।

लोकमें भी समुत्कट-प्रेमका पर्यवसान व्यवधानका निवारण पूर्वक ऐक्यमें ही देखा गया है। जैसे पुत्रवत्सला माता अपने अतिप्रिय–बालकका अतिशय प्रेमके द्वारा देशादि–व्यवधानकी निवृत्तिके लिए बार बार आलिङ्गन करती है। जैसे भावुक हृदय वाली प्रेयसी नारी अपने प्रियतम पतिका गाढ आलिङ्गन करती हुई-मध्यमें व्यवधान करनेवाले—रोमाञ्चको भी सहन करनेके लिए खिन्न होजाती है। अर्थात् बीचमें एकत्वमें व्यवधान डालने वाले रोमाञ्च को भी हटाना चाहती है। ऐसा निर्णय होजाने पर जिस पदार्थमें जितनी मात्रामें प्रेमकी अधिकता रहती है, उस पदार्थमें

उतनी मात्रामें अभेद-भावकी अभिलाषा भावुक-जन किया करते हैं। इसलिये-'वह यह आत्मा पुत्रसे अधिक-प्रिय है, धनसे अधिक प्रिय है, और अन्य सबसे भी अधिक प्रिय है, क्योंकि-यह आत्मा उनकी अपेक्षा अन्तरतर है।' (श्रु०) 'इसलिये सभी प्राणियोंको अपना ही आत्मा सबसे बढकर अति-प्रिय है।' (भा०) इस श्रुति एवं भागवतके वचनसे भी सर्वप्रकारके व्यवधानोंसे रहित-अपने आत्मामें ही सबसे बढकर निरतिशय-प्रेम-जो सबसे अनुभूत है—उसका वर्णन किया गया है।

तथा च स्वात्मनः परमप्रेमास्पदत्वेन भगवतोऽपि तद्रूपत्वेनैव परमप्रेमास्पदत्वमभिवर्ण्यमानं संगच्छते, तद्व्यतिरिक्ततया तु तस्य परमप्रेमास्पदत्वं कथमपि केनापि नाभ्युपगन्तुं न चोपपादयितुमपि शक्यत इति वेदितव्यम्। भगवतः प्रत्यगात्मनोऽभिन्नत्वानङ्गीकारे पराक्त्वेनानात्मत्वप्रसंगो निरुपाधिपरमप्रेमविघातकोऽपि दुर्वार एवापद्यते। तथा चास्माभिः पूर्वोक्तप्रकारेण प्राक् प्रतिपादितं भक्तितत्त्वस्य स्वाश्रयविषययोर्भक्त-भगवतोर्व्यवधानासहिष्णुत्वस्वाभाव्यं स्वात्मनिवेदनद्वारा अद्वैतभावमेव सुतरां समर्थयतीति निर्विवादं सिद्धम्। अत एव श्रीमद्भागवते गोपीचीरहरणलीलयाऽपीदमेव समर्थ्यते यत्—अनन्यभक्तिमत्यः श्रीकृष्णस्य पारमार्थिकं स्वरूपमभिजानानाः गोपिकाः निरावरणकृष्णमिलनाभिलाषयैव नग्नावस्थामङ्गीकृत्य श्रीकृष्णसमीपं गताः तस्मिन्नेव पूर्णसमर्पणं कृत्वा तद्भिन्नं सर्वं विस्मृत्य तन्मयास्तदभेदभावमापन्ना बभूवुः इति।

तथा च अपना आत्मा परमप्रेमास्पद होनेसे भगवान् भी आत्मारूपसे परम प्रेमास्पद ही हैं, ऐसा शास्त्रोंमें जो वर्णन है, वह सुसंगत ही है, आत्मासे भगवान्को व्यतिरिक्त माननेपर तो भगवान्में परमप्रेमास्पदत्व कोई भी किसी भी प्रकारसे न मान सकता है, न तो युक्तिके द्वारा समर्थन भी कर सकता है, ऐसा समझना चाहिये। भगवान्को प्रत्यगात्मासे अभिन्न न माननेपर भगवान् प्रत्यक् नहीं रहेगा, किन्तु पराक् होजाता है, और उस भगवान्में निमित्तरहित-परमप्रेमका विघात करने वाला अनात्मत्व का प्रसंग भी दुर्वार हुआ उपस्थित होजाता है। तथा च हमने पूर्वोक्तप्रकारसे प्रथम प्रतिपादित—भक्तिका आश्रय भक्त, और भक्तिका विषय-भगवान्में किसी भी प्रकारके व्यवधानका सहन न करना रूप भक्तितत्त्वका जो स्वभाव है—वह स्वात्मनिवेदन द्वारा—अच्छी प्रकारसे अद्वैतभावका ही समर्थन करता है, ऐसा निर्विवाद-सिद्ध हो जाता है। इसलिये श्रीमद्भागवतमें गोपियोंके चीरहरणकी लीला द्वारा भी यही समर्थन किया जाता है कि--अनन्य-भक्तिमती-गोपिकाएँ-जो श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूप को जानती हैं-वे आवरण-रहित-श्रीकृष्ण-मिलनकी अभिलाषा रखकर हीं नग्नावस्था को अंगीकार करके श्रीकृष्णके समीप गईं थीं, और उस कृष्णमें ही अपने सर्वस्वका पूर्ण समर्पण करके-और कृष्णभिन्न-समस्त नामरूपात्मक जगत्का विस्मरण करके

श्रीकृष्णमय एवं श्रीकृष्णके साथ अभेद भावको प्राप्त हुईं थीं ।'

स्वात्मभूत एव भगवति परमप्रेमा प्रतितिष्ठति ।

किञ्च यथा सवितुः समुद्भूता रश्मयो निरतिशयतया अव्यभिचारितया च स्वोद्गमस्थले सवितर्येव ध्रुवतया सर्वदा प्रतितिष्ठन्ति । अन्यत्र भूम्यादौ तु सातिशयत्वेन (तरतमभावेन) व्यभिचारित्वेन (आगमापायितया) च प्रवर्तमाना दृश्यन्ते । तथैव 'रसो वै सः' (तै० उ० २।७) इति श्रुतिसिद्धपरममधुररसात्मकः परमप्रेमा सर्वान्तरतम-प्रत्यगभिन्न-परमप्रेमास्पद-निखिलरसामृतानन्तमहासागर भूताद्भगवतः समुपलब्धसत्तास्फूर्तिकः तत्रैव सम्यक् प्रतिष्ठितोऽभिवर्ण्यते निगमागमशास्त्रैः । अन्यत्र च गृहपुत्रकलत्रदेहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादौ च सातिशयतया व्यभिचारितया च स्वात्मवल्लभताऽऽनुगुण्येनैव गौणः प्रेमा प्रयुज्यमानो दृश्यते ।

अपने आत्मस्वरूप–भगवान्में ही परमप्रेम प्रतिष्ठित है ।

और जैसे सूर्यसे समुद्भूत-रश्मियाँ निरतिशयरूपसे एवं अव्यभिचारीरूपसे अपने उद्गमस्थलरूप सूर्यमें ही शाश्वतरूपसे सर्वदा प्रतिष्ठित रहती हैं । भूमि आदि-अन्य स्थलमें तो वे रश्मियाँ सातिशयरूपसे अर्थात् न्यूनाधिकभावसे एवं व्यभिचारी रूपसे अर्थात् आगमापायीरूपसे प्रवर्तमान हुईं देखी जाती हैं । वैसे ही 'वह परमात्मा रसरूप है' (श्रु०) इस श्रुति द्वारा सिद्ध-परममधुर-रसरूप-जो परमप्रेम है—वह सर्वान्तरतम–प्रत्यगात्मासे अभिन्न–परमप्रेमास्पद–निखिल-रसरूप–अमृतोंका अनन्त महासागररूप–भगवान्से ही अपनी सत्ता एवं स्फूर्तिको प्राप्त करता हुआ—उस भगवान्में ही अच्छी प्रकारसे प्रतिष्ठित है, ऐसा निगमागम-शास्त्रोंके द्वारा वर्णन किया जाता है । और अन्य-गृह,पुत्र, कलत्र, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिमें तो वह प्रेम सातिशयरूपसे एवं व्यभिचारी रूपसे स्वात्माकी प्रियताके अनुकूल ही हुआ–गौण ही बनकर प्रयुक्त हुआ देखनेमें आता है ।

अत एव सन्निहितस्य देहादेः प्रातिकूल्याचरणेन विप्रकृष्ट-पुत्रकलत्रादयस्त्यज्यन्ते । ततोऽप्यान्तरे मनोमये प्रातिकूल्य-प्रयोजकदेहादिरपि शास्त्रादिभिश्छिद्यते । मनोऽपि ततोऽप्यभ्यन्तरविज्ञानमयबुद्धि–प्रतिकूलतया निरुध्यते । एवमन्ततोगत्वा तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि विनिर्गतः प्रेमा सर्वान्तरतमे प्रत्यगात्मन्येव ध्रुवतयाऽनागन्तुकस्वाभाविकतया मुख्यतया च प्रतिष्ठितो भवति । यदाह-स्वयं भगवान् स्वस्य परमप्रियतां ज्ञापयितुं श्रीमद्भागवते दशमेऽपि—'नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शनाः । अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा ॥ प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः । यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः कोऽन्वपरः प्रियः ॥' (भा० १०।२३।२६-२७) इति । ननु=निश्चये, आत्मप्रिये=

आत्मा चासौ प्रियश्च तस्मिन् मयि-भगवति, कुशलाः=विवेकिनः, अतएव स्वस्यात्मनोऽर्थं=पुरुषार्थं पश्यन्ति ये ते तथा, यथा=यथावत्। यथावत्त्वमाह-अद्धा=साक्षात्। अत्र हेतुः। अहैतुकीं=फलकामनारहितां, अत एवाव्यवहितां=निरन्तरां-भेदरहितां-अन्यभाववर्जितामनन्यामिति यावत् अनेनात्मन एव भगवतः परमप्रेमास्पदतया सर्वतः श्रेष्ठत्वमुपपादितम्। स्वाः=ज्ञातयः, आत्मा=देहः, यत्सम्पर्कात्=यस्याध्यासेनात्मसुखोपकरणत्वेन वेत्यर्थः।

इसलिये सन्निहित देहादिके प्रति प्रतिकूल-आचरण करने पर विप्रकृष्ट (कुछ दूरीपर अवस्थित) पुत्र, स्त्री आदिका परित्याग कर दिया जाता है। इस देहसे भी अन्तरमें अवस्थित मनकी प्रतिकूलताके प्रयोजक देहादिका भी शस्त्र आदिके द्वारा छेदन किया जाता है। मनका भी उसके भी अभ्यन्तर-विज्ञानमयकोशरूप बुद्धिके प्रतिकूल होजाने पर निरोध किया जाता है। इसप्रकार अन्तिमकक्षामें जाने पर, उन सभी पुत्र कलत्र देह मन आदिसे पृथक् हुआ-प्रेम सर्वान्तिरतम—प्रत्यगात्मामें ही शाश्वतरूपसे अनागन्तुक—स्वाभाविकरूपसे एवं मुख्यरूपसे प्रतिष्ठित होजाता है। अतः श्रीमद्भागवत के दशम-स्कन्धमें भी स्वयं श्रीभगवान् अपनी परमप्रियताका ज्ञापन करानेके लिये ही-कहते हैं कि—'इसमें सन्देह नहीं कि—जगत्में अपनी सच्ची भलाईको समझने वाले—जितने भी बुद्धिमान् मानव हैं, वे अपने आत्मस्वरूप-प्रियतम-मुझ भगवान्से ही प्रेम करते हैं, और वे ऐसा प्रेम करते हैं कि—जिसमें किसी प्रकारकी कामना नहीं रहती, एवं जिसमें किसी प्रकारका व्यवधान—भेद—या अन्यभाव नहीं होता। प्राण, बुद्धि, मन, शरीर, स्वजन, स्त्री, पुत्र और धन आदि संसारकी सभी वस्तुएँ जिसके लिये और जिसकी अव्यवहित-सन्निधिसे प्रिय लगती हैं, उस आत्मासे—परमात्मासे—मुझ श्रीकृष्ण से बढ़कर और कौन प्यारा होसकता है?।' (भा०) ननु यानी निश्चय-सन्देहका अभाव। जो आत्मा है, वही प्रिय है, ऐसा आत्म-प्रिय भगवान् है, उस मुझमें, कुशल यानी विवेकी—अतएव जो अपने आत्माके अर्थ (पुरुष अभिप्रेत अर्थ—जो समस्त दुःखोंकी निवृत्ति एवं परम आनन्दकी प्राप्तिरूप पुरुषार्थ है) को देखते हैं—वे, यथा यानी—यथावत्-अच्छी प्रकार- यथावत्त्व को ही कहते हैं—अद्धा यानी साक्षात्। उसमें हेतु है—अहैतुकी यानी फल--कामनासे शून्य, अत एव जो अव्यवहिता है—यानी अन्तर-भेद रहिता, अन्य भावसे वर्जिता अनन्यरूपा है—ऐसी भक्ति रखते हैं। इन दो श्लोकों द्वारा आत्मारूप भगवान् ही परमप्रेमास्पद होनेके कारण सर्वसे श्रेष्ठ है, ऐसा युक्तिसे भी समर्थन किया। स्वा का अर्थ है—ज्ञाति, आत्मा यानी देह। जिस आत्माके सम्पर्कसे यानी आत्मत्वके अध्यास द्वारा या आत्मसुखके प्रयोजक—उपकरणरूपसे।

परमसाम्याभिवर्णनम्।

सति चैवम्—सर्वदा परोक्षेऽत्यन्तबहिष्ठे सर्वथाऽज्ञाते परस्मिन् वस्तुनि

परमप्रेम्णः किं गौणप्रेम्णोऽपि समुदय एव न संभवति। अतएव ज्ञानिनोऽनन्यभक्ताः स्वात्मतयाऽऽपरोक्ष्येणावगते सजातीयादिभेदत्रयविवर्जिते रसमये भजनीये भगवति देशकालवस्तुकृताशेषव्यवधानापनोदनेन परमतादात्म्यापत्तिमेव संपाद्य संतृप्यन्ति। यदाह–अतिधन्या प्रमाणमूर्धन्या भगवती मुण्डक श्रुतिरपि—'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥' (मु० उ० ३।१।३) इति। अयमर्थः—यदा = यस्मिन् काले पश्यः = पश्यतीति—विद्वान्—साधक इत्यर्थः। पश्यते=पश्यति। रुक्मवर्णं=स्वयंज्योतिःस्वभावं, रुक्मस्येव वा ज्योतिरस्याविनाशि। सर्वस्य जगतः कर्तारं, उपलक्षणतया पातारं हर्तारमपि, अतएवेशं पुरुषं, ब्रह्मयोनिं=ब्रह्म च तद्योनिश्चासौ तं, ब्रह्मणो वाऽपरस्य योनिं, स यदा चैवं पश्यति, तदा स विद्वान् पश्यः, पुण्यपापे बन्धनभूते कर्मणी समूले, विधूय, = निरस्य-दग्ध्वा, निरञ्जनः = मायातीतो निर्लेपो विगतक्लेशः, परमं= प्रकृष्टं-निरतिशयं साम्यं = समत्वमद्वयलक्षणं, द्वैतविषयाणि साम्यान्यतोऽर्वाञ्च्येव, अतोऽद्वयलक्षणमेतत्परमं साम्यमुपैति = प्रतिपद्यते।

परम–साम्यका अभिवर्णन।

ऐसा विवेचन होजानेपर जो पर–वस्तु सर्वदा परोक्ष है, अत्यन्त ही बहिर्भूत-दूरस्थ-है, एवं सर्वप्रकारसे अज्ञात है, उसमें परमप्रेम क्या गौणप्रेमका भी उदय नहीं होसकता है। इसलिये ज्ञानवान् अनन्य भक्त, स्वात्मारूपसे एवं अपरोक्षरूपसे अवगत (जाने गये) सजातीयादि-भेदत्रयसे वर्जित, रसमय (प्रेमानन्दमय) भजनीय-भगवान्में देशकृत–कालकृत एवं वस्तुकृत–समस्त–व्यवधानोंके निवारण द्वारा परम-तादात्म्यापत्तिको संपादन कर संतृप्त होजाते हैं। इसलिये प्रमाणोंमें अग्रगण्य, अति धन्य भगवती मुण्डक–श्रुति भी कहती है कि—'जिस समय देखने वाला–विद्वान्-साधक, स्वयंज्योतिस्वरूप, जगत्का कर्ता ब्रह्मरूप-उपादानकारणरूप-ईश्वर-पुरुषका साक्षात्कार करता है, उस समय अविद्यारूप मूल सहित–बन्धनभूतपुण्यपापरूप-शुभाशुभ कर्मका विध्वंस करके निरञ्जन–ब्रह्मरूप हुआ उस परमेश्वरके साथ परम समत्व जो-अद्वयभावरूप है, उसे प्राप्त कर लेता है।' (श्रु०) रुक्म यानी सुवर्णके समान जिसकी अविनाशिनी–चैतन्यदीप्ति है। कर्ता यह उपलक्षण है, अर्थात् जैसे वह जगत्का निर्माता है, वैसे जगत्का पालनकर्ता है, एवं विलय कर्ता भी है। जो ब्रह्म है, वही योनि यानी उपादानकारण भी है। अथवा जो अपर-ब्रह्म (हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मा) की योनि है। निरस्य यानी त्याग करके भस्मीभूत करके। निरञ्जन यानी अञ्जनरूप मायासे अतीत -ब्रह्मरूप हुआ अर्थात् निर्लेप–रागद्वेषादि क्लेश रहित होकर अद्वय (द्वैतभावरहित) रूप परम–उत्कृष्ट यानी निरतिशय समत्वको प्राप्त होजाता है। द्वैत-विषयक-साम्य, इस अद्वैतरूप–परमसाम्य से निकृष्ट (गौण) ही हैं।

अत्रायमभिसन्धिः—पारम्येण विशेषितत्वात् अत्रत्यं प्रतिपादितं साम्यं हि-अभेद एव प्रत्येतव्यम् । तदुक्तं—स्कान्दीय-सूतसंहिताया ब्रह्मगीतासु—'सर्वाकारतया साम्यं परमाद्वैत-लक्षणम् । अतः साम्यं तयोः साक्षात्-ऐक्यमेव न चेतरत् ॥' न चात्र साम्यं=सादृश्यं स्यात्, नत्वैक्यं, तत्र प्रयोगादर्शनादिति वाच्यम् । 'ज्ञानसमकालमुक्तः' 'समसमयवर्ती' इत्यादौ, 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' (मु० उ० ३।१।१) 'समानग्रामः' इत्यादौ च समशब्दस्य तत्पर्यायसमानशब्दस्य चैक्ये प्रयोगदर्शनात् साम्यमिह ऐक्यमेव मन्तव्यं, न सादृश्यम् ।

यहाँ यह अभिप्राय है—परम ऐसा विशेषण देनेसे यहाँ प्रतिपादन किया गया साम्य अभेद ही है, ऐसा समझना चाहिये । यह बात स्कन्द-पुराणकी सूतसंहिता की ब्रह्म-गीतामें भी स्पष्ट कही है कि—'सर्वप्रकारसे होनेवाला साम्य मुख्य-अद्वैतरूप ही है, इसलिये जीवका ईश्वरके साथ प्रतिपादित साम्य साक्षात्—ऐक्य ही है, अन्य सादृश्यादिरूप साम्य नहीं है ।'

शंका—उस श्रुतिमें कहा गया साम्य सादृश्य ही होना चाहिये, ऐक्य नहीं, क्योंकि—ऐक्य-अर्थमें साम्यपदका प्रयोग कहीं देखने में नहीं आता है ।

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि—'यह ज्ञानके सम (एक) कालमें ही मुक्त होगया' 'यह पदार्थ समसमय वर्ती है अर्थात् एक ही समयमें प्रवर्तमान हुआ है ।' इत्यादिस्थलोंमें तथा—"दो पक्षी समान यानी एकही वृक्षका आश्रय करके रहते हैं ।' (श्रु०) 'इन दोनोंका समान यानी एकही ग्राम है ।' इत्यादिस्थलोंमें समशब्दका तथा समशब्दका पर्याय—समान—शब्दका ऐक्य अर्थमें प्रयोग देखनेमें आता है, इसलिये यहाँ अर्थात् पूर्वोक्त—श्रुतिके वचनमें साम्य—ऐक्य ही मानना चाहिये, सादृश्य नहीं ।

अपि च 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (गी० ५।१९) 'पण्डिताः समदर्शिनः' (गी० ५।१८) इत्यादिगीतावचनेषु समं—सदृशं ब्रह्म, सदृशदर्शिनः इत्यर्थो न कथमपि विज्ञैः संगततयाऽभ्युपेयते । किन्तु—समं=एकं, विषमेष्वपि समदर्शिनः—सममेकरूपमविक्रियं ब्रह्मैव द्रष्टुं शीलं येषां ते, इत्यर्थ एव । न च ब्रह्मणः कथञ्चित् केनचित् सादृश्यमस्ति । 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' (श्वे० उ० ४।१९) इत्यादिना तत्प्रतिमायाः=सादृश्यस्य प्रतिषेधात् । न चैवं साम्यार्थे ऐक्येऽवधृते परमत्वविशेषणं प्रयोजनाभावाद् व्यर्थं स्यादिति वाच्यम् । सौषुप्तिकसदैक्यव्यावृत्तिरूपस्य प्रयोजनस्य सद्भावेन तस्याव्यर्थत्वात् । तस्मात् 'परमं साम्यमि' त्यत्र सर्वात्मनाऽखण्डैकरसपूर्णत्वलक्षणमैक्यमेव साम्यमिति सिद्धम् ।

और भी—'वह ब्रह्म निर्दोष एवं सम है' 'समदर्शीही पण्डित हैं' इत्यादि गीताके वचनोंमें सम यानी सदृश—ब्रह्म, सदृशदर्शी पण्डित हैं, ऐसा अर्थ विज्ञ-विचारक

जन किसी भी प्रकार संगतरूपसे नहीं मान सकते हैं। किन्तु सम यानी एक, विभिन्न—नाम-रूपादिके द्वारा विषमरूपसे प्रतिभासित सभी पदार्थोंमें सम यानी एक रूपसे अवस्थित—विक्रियावर्जित-ब्रह्म को ही देखने का जिनका स्वभाव है, वे समदर्शी—पण्डित हैं, ऐसा अर्थ ही सुसंगत रूपसे मानते हैं। और ब्रह्मका किसीभी प्रकारसे किसीके भी साथ सादृश्य है ही नहीं। क्योंकि-'उसकी कोई प्रतिमा नहीं है, इत्यादि-श्रुतिके द्वारा ब्रह्मकी प्रतिमाका यानी सादृश्यका प्रतिषेध किया गया है।

शंका—इसप्रकार जब साम्यपदका ऐक्य अर्थ निर्णीत होगया, तब उस साम्यमें प्रयोजन न होनेके कारण परम ऐसा दिया गया विशेषण व्यर्थ होजायगा।

समाधान—ऐक्य दो प्रकारका है-एक सुषुप्तिकालीन, एवं द्वितीय मुक्तिकालीन, अतः परम यह विशेषण, सुषुप्तिकालमें होने वाले—सद्ब्रह्मके साथ गौण एकत्वकी व्यावृत्ति करता है, इसी प्रयोजनका सद्भाव होने के कारण व्यर्थ नहीं है। इसलिये 'परम-साम्य' इस श्रुतिके वचनमें सर्वात्मभावके लाभके द्वारा होने वाला अखण्ड-एकरस पूर्णत्वलक्षणवाला—ऐक्य ही साम्य है, ऐसा सिद्ध हुआ।

अथवा समशब्दस्य सर्वपर्यायत्वोपगमात् साम्यमिह सर्वत्वलक्षणम-प्यभ्युपेयताम्। 'यो वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति।' (बृ० उ० १।४।१०) इत्यादिश्रुतेः। अत्रत्यं सर्वात्मत्ववचनं हि विज्ञस्य ब्रह्मभावं विहाय न शक्यं सार्थकयितुम्। अतः सर्वत्वाविनाभूतं ब्रह्मत्वमप्युपेयते। स्मर्यते च भगवता गीतास्वपि—'मद्भावं सोऽधिगच्छति।' (१४।१९) सः=द्रष्टा, मद्भावं=अद्व-यब्रह्मभावं। एवं ज्ञानलभ्ये सर्वत्वरूपे साम्ये आपेक्षिकलक्षणं संकोचं व्याव-र्तयितुं निरतिशयत्वञ्च विज्ञापयितुं परममिति विशेषणम्। तस्मात् श्रुत्यन्तर-प्रतिपादितं ब्रह्मभावसहकृतं सर्वात्मत्वलक्षणमेवात्र परमं साम्यमभ्युपेयम्।

अथवा समशब्द सर्वका भी पर्याय माना गया है, अतः यहाँ सर्वत्व (सर्वभाव) लक्षणवाला साम्य भी मानना चाहिये। बृहदारण्यक—श्रुतिभी कहती है कि—'जो कोई इस ब्रह्मको इसप्रकार जानता है-कि-'मैं ब्रह्म हूँ' वह यह सर्व हो जाता है।' इस श्रुतिमें प्रदर्शित सर्वात्मत्वके कथनको, विज्ञमें ब्रह्मभाव माने विना सार्थक नहीं कर सकते, अतः सर्वत्वका सहचारी ब्रह्मत्व भी मानना चाहिये, अर्थात् जहाँ सर्वत्व होगा, वहाँ ब्रह्मत्व भी अवश्य ही होगा, ब्रह्मत्वके विना सर्वत्व नहीं रह सकता। इसलिये गीता में भगवान् का भी ऐसा ही स्मरण है कि-'वह द्रष्टा—साधक मद्भाव को यानी मुक्त—भगवान् के अद्वय—ब्रह्मभाव को प्राप्त करलेता है।' इसप्रकार ज्ञानलभ्य-सर्वत्वरूप साम्यमें अपेक्षाकृतसंकोचकी व्यावृत्ति करनेके लिए तथा उसमें निरतिशयताका बोधन करने के लिए परम ऐसा विशेषण दिया गया है। इसलिये अन्य—बृहदारण्यक श्रुति में प्रतिपादित ब्रह्मभावका सहचारी सर्वात्मभावरूप लक्षण वालाही इस मुण्डक-श्रुतिमें परमसाम्य है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

तथैव श्रीमद्भागवते चतुर्थेऽप्याह-महर्षिः--मैत्रेयः—ध्रुवपुत्रस्योत्कलस्याद्वयब्रह्मभावनिष्ठां वर्णयन्—'स जन्मनोपशान्तात्मा निःसङ्गः समदर्शनः। ददर्श लोके विततमात्मानं लोकमात्मनि ॥ आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं प्रत्यस्तमितविग्रहम्। अवबोधरसैकात्म्यमानन्दमनुसन्ततम् ॥ अव्यवच्छिन्नयोगाग्नि—दग्धकर्ममलाशयः। स्वरूपमवरुन्धानो नात्मनोऽन्यं तदैक्षत ॥' (भा० ४।१३।७-८-९) इति। लोके=ब्रह्मादि—स्थावरपर्यन्ते विततं-सच्चिदानन्दात्मना विस्तृतं आत्मानं, एवं आत्मनि—अधिष्ठाने अध्यस्ततया प्रतीयमानं लोकं ददर्श। आत्मानं—स्वरूपभूतं ब्रह्म, अवरुन्धानः=जानन्—आप्नुवन्। आत्मनोऽन्यं=व्यतिरिक्तं न किमप्यैक्षत। कथंभूतं ब्रह्म?। निर्वाणं=द्वैतप्रपञ्चोपशमरूपम्। प्रत्यस्तमितविग्रहं=प्रत्यस्तमितः=प्रतिसंधानेनास्तमितः=शान्तो विग्रहः=भेदो यस्मिन्। अवबोधरसेनैकात्म्यं यस्य। अव्यवच्छिन्नो निरन्तरोऽन्तरायरहितो यो योगः=अद्वयब्रह्मसमाधिः, स एवाग्निः, तेन दग्धः कर्म मलं-आशयो=वासना च यस्य।

उसी प्रकार ही श्रीमद्भागवतके चतुर्थ-स्कन्धमें भी महर्षि मैत्रेय-ध्रुवपुत्र-उत्कल-राजर्षिकी अद्वय-ब्रह्मनिष्ठाका वर्णन करता हुआ कहता है कि—'वह जन्मसे ही शान्तचित्त, आसक्ति-शून्य, और समदर्शी था, तथा सम्पूर्ण-लोकोंको अपनी आत्मामें और अपनी आत्माको सम्पूर्ण-लोकोंमें अवस्थित देखता था। उसके अन्तःकरणका वासनारूप-मल अखण्ड-ज्ञानयोगाग्निसे भस्म होगया था। इसलिये वह अपनी आत्माको विशुद्ध-बोधरसके साथ अभिन्न, आनन्दमय और सर्वत्र व्याप्त देखता था। सब प्रकार के भेदसे रहित-प्रशान्त-अद्वय-ब्रह्मको ही वह अपना स्वरूप समझता था, तथा अपनी आत्मासे भिन्न कुछ भी नहीं देखता था।' (भा०) ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्तरूप समग्र लोकमें सच्चिदानन्दरूपसे व्याप्त आत्माको तथा अधिष्ठानभूत-आत्मामें अध्यस्तरूपसे लोकको देखता था। आत्मा यानी अपना स्वरूप, वही ब्रह्म है, ऐसा जानता हुआ—आत्माको ब्रह्मरूपसे प्राप्त करता हुआ। आत्मासे व्यतिरिक्त-अन्य कुछ भी नहीं देखता था। वह ब्रह्म कैसा है?। निर्वाण यानी द्वैत-प्रपञ्चका उपशमरूप। ब्रह्मके अनुसंधानके द्वारा जिसमें अविद्या कल्पित-भेद अस्तमित होगया है। अखण्डैकरस चैतन्य-बोधके साथ जिसका अभेद-भाव है। व्यवच्छेद (विघ्न) रहित-जो योग यानी अद्वय-ब्रह्म समाधि है, वही अग्नि है, इसके द्वारा जिसने कर्मों को अविद्यादि-मलोंको एवं अन्तःकरणकी वासनाओंको जला डाला है।

आत्यन्तिक-प्रलयनिरूपणम्।

एवं यत् परमसाम्यापत्तिरूपं ब्रह्मनिर्वाणं प्राक् प्रदर्शितं, तदेवात्यन्तिकप्रलयाभिधानेनापि श्रीमद्भागवते द्वादशे सदृष्टान्तमित्थं निरूप्यते। तथाहि—

'यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः । एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः ॥ घनो यदाऽर्कप्रभवो विदीर्यते चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा । यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् ॥ यदैवमेतेन विवेकहेतिना मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम् । छित्त्वाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग ! सम्प्लवम् ॥' (भा० ११।४।३२-३३-३४) इति ।

आत्यन्तिक-प्रलयका निरूपण ।

इसप्रकार जो परमसाम्यापत्तिरूप-ब्रह्मनिर्वाण प्रथम प्रदर्शित किया है, उसका ही श्रीमद्भागवतके द्वादश-स्कन्धमें आत्यन्तिक-प्रलयके नामसे भी दृष्टान्त सहित इसप्रकार निरूपण किया है । जैसे-'बादल सूर्यसे उत्पन्न होता है, और सूर्यसे ही प्रकाशित । फिर भी वह सूर्यके ही अंशभूत-नेत्रोंके लिये सूर्यका दर्शन होनेमें प्रतिरोधक बन बैठता है । उसीप्रकार अहंकार (अविद्याकल्पित-नामरूपात्मक देहादिका अहंभाव) भी ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता है, और ब्रह्मसे ही प्रकाशित होता है, और ब्रह्मके अंशभूत-जीवके लिये ब्रह्मस्वरूपके साक्षात्कारमें प्रतिरोधक बन बैठता है । जब सूर्यसे प्रकट होने वाला बादल विदीर्ण (तितर-बितर) होजाता है, तब नेत्र अपने स्वरूपभूत सूर्यका दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं । ठीक वैसे ही-जब जीवके हृदयमें ब्रह्म जिज्ञासा जगती है, तब आत्मा की उपाधि-अहंकार नष्ट हो जाता है, और उसे अपने ब्रह्म-स्वरूपका साक्षात्कार होजाता है । हे प्रिय परीक्षित् (श्रीशुकमुनि कहते हैं) जब यह जीव, विवेक-ज्ञानके खड्गसे मायामय अहंकारका बन्धन काट देता है, तब यह अपने एकरस-आत्मस्वरूपके-अद्वय-ब्रह्मानुभवरूपसे अवस्थित हो जाता है । आत्मा की यह मायातत्कार्य द्वैतप्रपञ्चवर्जिता-अद्वय-ब्रह्मभाव—रूपा वास्तविकी-स्वस्वरूपावस्थिति ही आत्यन्तिक प्रलय कही जाती है ।

अयमर्थः—तमः = आच्छादकं, अर्करश्मय एव मेघरूपेण परिणता वर्षन्ति । 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' इति स्मृतेः । तस्मादर्कप्रभवो घनः । अर्केणैव दर्शितः = प्रकाशितः । नेत्रस्वरूपभूतार्कदर्शनप्रतिबन्धको भवति । अहं= अहंकारः—ब्रह्माविद्ययाऽध्यारोपितनामरूपात्मकदेहाद्यहंभावः । स च ब्रह्मगुणः= ब्रह्मकार्यभूतः । तदीक्षितः=तेनैव प्रकाशितश्च, आत्मनो=जीवस्य, आत्म-बन्धनः=ब्रह्मस्वरूपदर्शनप्रतिबन्धको भवति । अनेन मिथ्याऽहंभावस्य स्वकारणभूत—ब्रह्मस्वरूपावरणेन भेदव्यवहारहेतुत्वम्, 'सूर्येणाच्छादकराहु—प्रकाश इव' आच्छाद्यब्रह्मस्वरूपेणैव तत्प्रकाशस्य च संभवो विज्ञापितः । यतोऽहंकार एव स्वरूपसाक्षात्कारे प्रतिबन्धकोऽस्ति, अतस्तस्य नाशे सति स्वरूपसाक्षात्कारो भवतीति तेनैव दृष्टान्तेनाह—आत्मनः उपाधिः—अहंकारः । जिज्ञासया=ब्रह्मविचारेणेत्यर्थः । तर्हि=तदा, अनुस्मरेत्=ब्रह्माहमस्मि, सर्व

खल्विदं ब्रह्मैवेति सततमनुसंधत्ते इत्यर्थः । सोऽयमात्यन्तिकः प्रलय इत्युपसंहरति । विवेकहेतिना=ज्ञानशस्त्रेण । अहंकरणमेवात्मबन्धनम् । अच्युतं = परिपूर्णमद्वयं ब्रह्म; तद्रूपमेवात्मानमनुभवतीति तथाऽच्युतात्मानुभवः । अवतिष्ठते-शुद्धनिरुपाधिकस्वरूपेण । अंगसंप्लवं = स्थूलसूक्ष्मकारणरूपांगत्रयस्य प्रलयमाहुः । अंग = प्रियेति सम्बोधनं वा ।

यह अर्थ है—तम यानी आच्छादन करने वाला । सूर्यकी रश्मियाँ ही मेघस्वरूप से परिणत हुईं बरसती हैं । इसलिये-स्मृति कहती है कि—'आदित्यसे वृष्टि होती है ।' अतः बादलोंका सूर्यसे प्रभव (उत्पत्ति) है । सूर्यसे ही बादल प्रकाशित होते हैं । नेत्रोंके स्वरूपभूत-सूर्यके दर्शनमें प्रतिबन्धक होते हैं । अहं यानी अहंकार—ब्रह्मकी अविद्यासे अध्यारोपित-नामरूपात्मक—देहादिमें मिथ्या अहंभाव । वह ब्रह्मका कार्य है । ब्रह्मसे ही प्रकाशित है, जीवात्माके लिए ब्रह्मस्वरूपके दर्शनमें प्रतिबन्धक होजाता है । इस श्लोकसे-मिथ्या अहंभाव ही अपने कारणभूत-ब्रह्मस्वरूपके आवरण द्वारा भेद व्यवहारका हेतु होजाता है, जैसे सूर्यसे ही सूर्याच्छादक राहुका प्रकाश होता हैं, वैसे ही आच्छाद्य—ब्रह्मस्वरूपसे ही आच्छादक-अहंकारका प्रकाश होता है—ऐसा विज्ञापन किया । क्योंकि—अहंकारही स्वरूपके साक्षात्कारमें प्रतिबन्धक है, इसलिये उसका नाश होनेपर ही स्वरूपका साक्षात्कार होता है, यह उस दृष्टान्तसे ही कहते हैं । अहंकार आत्माकी उपाधि है । जिज्ञासा यानी ब्रह्मविचार । 'मैं ब्रह्म हूँ, और यह समग्र विश्व भी ब्रह्म ही है' ऐसा निरन्तर अनुसंधान करता है । वही यह आत्यन्तिक प्रलय है, इसका उपसंहार करते हैं—विवेकहेति यानी ज्ञानरूप शस्त्र । अहंकार ही आत्मा का बन्धन है । अच्युत यानी परिपूर्ण—अद्वय—ब्रह्म,तद्रूप ही आत्मा है, इसका जो अनुभव करता है—वह अच्युतात्मानुभव है । उपाधिरहित शुद्धस्वरूपसे अवस्थित होजाता है । स्थूलसूक्ष्म एवं कारणरूप अंगत्रयके प्रलय को ही आत्यन्तिक—संप्लव कहते हैं । अथवा अंग यानी प्रिय यह सम्बोधन भी है ।

आक्षेप—समाधानम् ।

ननु—भवदीयकेवलाद्वैतसिद्धान्ते साकारविग्रहस्य मायोद्भासिततया मिथ्यात्वेनाश्रद्धेयत्वमेव समायाति । सत्येवं तत्र परमानुरक्तिः किं साधारणानुरक्तिरपि कथं कस्य सचेतसः स्यात् ?। इति चेन्मैवम्—तस्य मायोद्भासितत्वं नास्माभिरेवाभिधीयते, किन्तु श्रुतिस्मृति—भागवतादिभिः सर्वैरपि शास्त्रैः प्रतिपाद्यते । अत एव मिथ्यात्वमपि तस्य 'सविशेषणे हि प्रवर्तमानौ विधिप्रतिषेधौ सति बाधके विशेषणमेवोपसंक्रामतः' इति न्यायेन विशेषणीभूते मायामयविशुद्धसत्त्वरूपोपाधावेव पर्यवस्यति, न विशेष्ये सच्चिदानन्दस्वरूपे ।

आक्षेपका समाधान ।

शंका—आपके केवलाद्वैतसिद्धान्तमें साकार—भगवान् का विग्रह मायासे

उद्भासित होनेके कारण मिथ्या है, इसलिये उसमें अश्रद्धेयत्व ही आजाता है; अर्थात् मिथ्या-पदार्थमें किसी की भी श्रद्धा नहीं होसकती। ऐसा होनेपर उस साकार विग्रहमें परम—अनुरक्ति (प्रीति) क्या? साधारण-अनुरक्ति भी कैसे किस—समझदार को होसकती है।

समाधान—ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि—उस साकार--विग्रहमें मायासे उद्भासितत्व हमही कहते हैं, यह बात नहीं, किन्तु श्रुति, स्मृति, भागवत आदि—समस्त शास्त्रोंके द्वारा उसका प्रतिपादन किया जाता है। इसलिये उसमें प्रसक्त मिथ्यात्व भी—'विशिष्टमें प्रवर्तमान-विधि एवं प्रतिषेध बाधक-उपस्थित होनेपर विशेषणमें ही संक्रमित होते हैं' इस न्याय द्वारा—विशेषणीभूत-मायामय-विशुद्ध सत्त्वगुणरूप-उपाधिमें ही पर्यवसन्न होता है, सच्चिदानन्दस्वरूप-भूत विशेष्यमें मिथ्यात्व प्रसक्त नहीं होता।

यथा केनचिद् द्विजेन वैराग्यवता संन्यासो गृहीतः, तदा तमभिलक्ष्य केनापीदमभिधीयते—'अयं शिखी नष्टः' इति। अत्र शिखावतो विशिष्टस्य पुरुषस्य नाशो नाभिप्रेतः, तथापि विशिष्टे प्रबोधितोऽयं विनाशो विशेष्यस्य पुरुषस्य प्रत्यक्षदर्शनरूपे बाधके समुपस्थिते सति विशेषणीभूतायां शिखाया-मेवाभ्युपगम्यते। तद्वत् प्रकृतेऽपि वेदितव्यम्। अत एव साकार-विग्रहोपल-क्षितं विशेष्यभूतं सच्चिदानन्दस्वरूपमेव तात्पर्यतोऽभिवर्ण्यते शास्त्रेष्वपि। तथाहि—'गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते। सदानन्दं परं ज्योतिर्मुक्तानां पदमव्ययम्॥ तस्मिन् नन्दात्मजः कृष्णः सदानन्दाङ्गविग्रहः। आत्माराम आप्तकामः प्रेमभक्तैरनुभूयते॥ आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ। आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभिः॥' (भा० स्कान्दीय-माहा० १।२०-२१-२२) 'परमानन्दचिन्मूर्ति र्मधुरो मुरलीधरः।' (भा० मा० ४।४) इति।

जैसे किसी वैराग्यवान्-द्विजने संन्यास ग्रहण किया, उससमय उसे लक्ष्यकरके कोई यह कहता है कि—'यह शिखावाला नष्ट होगया' (मर गया)। इस कथनमें शिखावाला-विशिष्ट-पुरुषका नाश अभिप्रेत नहीं है, तथापि विशिष्ट-पुरुषके विषयमें बोधित हुआ यह विनाश-विशेष्यभूत-पुरुषका प्रत्यक्षदर्शनरूप-बाधक-समुपस्थित होनेपर विशेषणीभूत शिखामें ही माना जाता है। उस प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये, अर्थात्-विशेषणीभूत-शुद्धसत्त्वमयी-उपाधिमें ही मिथ्यात्व माना जाता है। विशेष्य--स्वरूपमें नहीं। इसलिये साकार-विग्रहसे उपलक्षित-विशेष्यभूत सच्चिदानन्दस्वरूप ही तात्पर्य से शास्त्रोंमें अभिवर्णित होता है। जैसे—'सत्त्व रजः तमः-इन तीन गुणोंसे अतीत जो पर-ब्रह्म है, वही व्यापक है, इसलिये उसे 'व्रज' कहते हैं। वह सदानन्दस्वरूप परम-ज्योतिर्मय और अविनाशी है। जीवन्मुक्त-पुरुष उसीमें स्थित रहते हैं। इस परब्रह्मस्वरूप व्रजधाममें नन्दनन्दन-भगवान् श्रीकृष्णका

निवास है । उनका एक-एक अंग अर्थात् समग्रविग्रह-सच्चिदानन्दस्वरूप है । वे आत्माराम एवं आप्तकामहैं, प्रेमरसमें डूबे हुए—रसिक भक्तजनही उनके वास्तविक स्वरूपका अनुभव करते हैं । भगवान्-श्रीकृष्णकी आत्मा हैं-राधिका; उनसे रमण करनेके कारण ही रहस्यरसके मर्मज्ञ-ज्ञानी पुरुष उन्हें 'आत्माराम' कहते हैं ।' (भा० मा०) 'वह मुरलीधर-श्रीकृष्ण, वस्तुतः परमानन्द-चिन्मूर्ति है, अत एव मधुरातिमधुर है ।' (भा० मा०)

तस्य श्रीमद्भागवतवचनैः समर्थनम् ।

तथा च श्रीमद्भागवतेऽपि दशमे श्रीकृष्णप्रचुरप्रेमभरितहृदयाभिर्गोपिकाभिः श्रीकृष्णस्य पारमार्थिकस्वरूपलिलक्षयिषयेदं गीतमप्युपपद्यते-तथाहि-'अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा । कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ॥' (भा० १०।२९।३२) 'न खलु गोपीकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।' (भा० १०।३१।४) इति । अयमर्थः—तनुभृतां = देहिनां सर्वेषामेव प्रेष्ठः = प्रेयान्—निरुपाधिपरमप्रेमास्पदः । अत एव आत्मा=अभिन्नस्वरूपः । बन्धुः=सर्वेषां निरुपाधिहितकारी । स्वे=स्वस्वरूपभूते, नित्यप्रिये आत्मन्-आत्मनि । विभक्तिलोपस्त्वार्षः । कुशलाः=परमार्थतत्त्ववेदनप्रवीणा ज्ञानिनो भक्ताः । त्वयि रतिं=परमां प्रीतिं कुर्वन्ति । एवंभूते सच्चिदानन्दस्वरूपे त्वय्येव प्रीतिरपि नित्यैव स्वाभाविकी—निरतिशया-अव्यभिचारिण्येव ।

उस समाधानका श्रीमद्भागवतके वचनोंके द्वारा समर्थन ।

तथा च श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें भी-श्रीकृष्णके प्रचुरप्रेमसे जिनके हृदय भरे हुए हैं—ऐसी गोपियोंके द्वारा-श्रीकृष्णके पारमार्थिक-स्वरूपको लक्षित करने की अभिलाषासे-गाया हुआ यह वचन भी उपपन्न होजाता है । जैसे-गोपियाँ भगवान्से कहती हैं कि-'हे प्रभो ! तुम्हारा यह कहना कि-'अपने पति, पुत्र और भाई-बन्धुओं की सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है' अक्षरशः ठीक है । परन्तु इस उपदेशके अनुसार हमें तुम्हारी ही सेवा करनी चाहिये, क्योंकि-तुम्हीं सब उपदेशोंके पद (चरम-लक्ष्य) हो, साक्षात्-भगवान् हो, तुम्हीं समस्त-शरीर-धारियोंके सुहृद् हो, आत्मा हो, और परमप्रियतम हो, अतः आत्मज्ञानमें निपुण महापुरुष, तुमसे ही अनन्य-प्रेम करते हैं, क्योंकि-तुम नित्य-प्रिय एवं अपने ही आत्मा हो । अनित्य एवं दुःखप्रद पति-पुत्रादिसे क्या प्रयोजन है ?।' (भा०) 'हे श्रीकृष्ण ! तुम केवल यशोदानन्दन ही नहीं हो, किन्तु समस्त-शरीर धारियोंके हृदय में रहने वाले-स्वयंज्योतिःस्वरूप अन्तरात्मा हो ।' (भा०) यह अर्थ है-तनुभृत् यानी समस्त देहधारी । प्रेष्ठ यानी अतिप्रिय-निमित्तरहित-परमप्रेम का विषय । इसलिये

आप अभिन्नस्वरूप-आत्मा हैं। बन्धु यानी निमित्तरहित हितकारी। स्व यानी स्वरूपभूत, नित्य प्रिय-आत्मा। आत्मन् इस पदमें सप्तमी विभक्तिका लोप आर्ष (ऋषिप्रयुक्त) है। कुशल यानी परमार्थ-स्वरूपके जाननेमें प्रवीण ज्ञानी भक्त, ऐसे आपमें परम-प्रीति करते हैं। अतः ऐसे सच्चिदानन्द स्वरूपभूत—तुझमें ही प्रीति भी नित्या है यानी स्वाभाविकी है-अतिशय एवं व्यभिचारसे वर्जिता ही है।

पतिसुतादिषु त्वौपाधिकी सातिशया व्यभिचारिणी प्रीतिः, अत एवा-नित्या। आर्तिदैः=दुःखप्रदैः पतिसुतादिभिः किम्?। तेषामनित्यतया वियोग प्रतिकूलाचरणादिभिर्दुःखमेव ते ददते। तस्मात्तेष्वासक्तिं परित्यज्य कुशला-स्त्वय्येवात्मनि प्रगाढां रतिं विदधतीति भावः। खलु=निश्चितं यशोदासुतः परिच्छिन्नसाकारविग्रहमात्र एव भवान् न भवति। किन्तु सर्वप्राणिनां अन्तरात्मा, दृक्=स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप एव। परमार्थत एवंभूतं त्वां वयं गोपवनिता जानीमः। यद्वा वस्तुतः अन्तरात्मदृगपि भक्तानां कृते-अचिन्त्य विशुद्धाह्लादमयसत्त्वशक्त्या भवान् गोपिकानन्दनो न भवति खलु, अपि तु भवत्येव। 'जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया।' (भा० १०।१४।५५) इति श्रीमद्भागवतप्रामाण्याद्।

पतिसुत आदिमें तो औपाधिकी सातिशय एवं व्यभिचारिणी प्रीति होती है, इसलिये वह अनित्य है, शाश्वत नहीं। अतः इन दुःखप्रद-पतिसुतादियोंसे क्या प्रयोजन?। उनको अनित्य होनेसे वियोग एवं प्रतिकूल—आचरण आदिके द्वारा वे दुःख ही देते हैं, इसलिये उनमेंसे आसक्तिका परित्याग करके कुशल-ज्ञानवान् तुझ आत्मामें ही प्रगाढ-प्रीति करते हैं, यह भाव है। खलु यानी निश्चित। आप परिच्छिन्न साकार विग्रहवाले यशोदासुत ही नहीं हैं, किन्तु सर्वप्राणियोंके स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप-अन्तरात्मा ही हैं। ऐसे आपको परमार्थरूपसे हम गोपिकाएँ जानती हैं। अथवा वस्तुतः आप अन्तरात्मा दृक् हैं, तथापि भक्तोंके लिये आप अचिन्त्य-विशुद्ध-आह्लाद-मयी सत्त्व-शक्तिके द्वारा गोपीकानन्दनरूप-साकार विग्रहधारी नहीं होते हैं? किन्तु अवश्य ही होते हैं। इस विषयमें श्रीमद्भागवतका यह वचन भी प्रमाण है कि—'जगत् के कल्याणके लिये ही योगमायाका आश्रय लेकर वे यहाँ देहधारीके समान जान पड़ते हैं।' (भा०)

वस्तुतः श्रीकृष्णस्वरूपं साक्षात् परब्रह्मात्मकमिन्द्रियजन्यज्ञानाविषय-भूतमेवास्ति, तथापि मूढास्तं केवलं हस्तपाद्याद्युपेतं मनुष्याकारमेव मन्यन्ते, इति यज्ञकारिब्राह्मणवृत्तान्तेन विज्ञाप्यते—'तं ब्रह्म परमं साक्षाद् भगवन्त-मधोऽक्षजम्। मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे॥' (भा० १०।२३।११) इति। अयं श्रीकृष्णो मनुष्य एवास्तीति मिथ्यादृष्ट्या दुष्प्रज्ञाः=मूढाः, यज्ञ-कर्तारो ब्राह्मणाः 'वयं महान्तः' इत्यभिमन्यमानाः। मर्त्ये देह एव आत्मभावो

येषां ते मर्त्यात्मानः ।

वस्तुतः श्रीकृष्णका स्वरूप—इन्द्रियजन्यज्ञानका अविषयभूत-साक्षात्-परब्रह्मात्मक ही है, तथापि उस श्रीकृष्णको मूढ, केवल-हस्त-पादादिसे युक्त मनुष्याकार ही मानते हैं, यह बात यज्ञकर्ता-ब्राह्मणोंके वृत्तान्त द्वारा बतलाते हैं—'यह श्रीकृष्ण स्वयं इन्द्रियज्ञानातीत—परब्रह्म भगवान् ही है, परन्तु इन मूर्ख-ब्राह्मणोंने—जो अपनेको शरीर ही मान बैठे हैं, श्रीभगवान् को भी एक साधारण मनुष्य ही माना, और सन्मान नहीं किया ।' (भा०) यह श्रीकृष्ण मनुष्य ही है, ऐसी-मिथ्या-दृष्टि होनेके कारण वे दुष्ट-बुद्धिवाले-मूढ हैं, अत एव वे यज्ञकर्ता ब्राह्मण हम ही महान् हैं, ऐसा अभिमान रखते हैं, और मरणशील-देहमें ही आत्मभाव बांधे बैठे हैं ।

एवं नन्दापहर्त्रा वरुणदेवेनापि भगवान् श्रीकृष्ण इत्थं स्तुतः—'नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने । न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना ॥' (भा० १०।२८।६) इति । भगवते = निरतिशयैश्वर्याय, ब्रह्मणे = पूर्णाय, परमात्मने = स्वप्रतिबिम्बभूत—सर्वजीवनियन्त्रे साक्षिचैतन्याय । तत्र हेतुः—लोकसृष्टिं विकल्पयति या माया, सा तत्र विशुद्धस्वरूपे त्वयि न श्रूयते—अविद्यमानेव तिष्ठतीत्यर्थः । यदा हि माया यत्र वस्तुतो नास्ति, तदा तत्कल्पितोऽयं द्वैतप्रपञ्चोऽपि कथं वस्तुतः स्यात् ? ।

इसप्रकार नन्दबाबाका हरणकरने वाले-वरुणदेवसे भी भगवान् श्रीकृष्णकी इसप्रकार स्तुति की गई थी—'आप भक्तोंके भगवान् वेदान्तियोंके ब्रह्म और योगियोंके परमात्मा हैं, आपके स्वरूपमें विभिन्न—लोक सृष्टियोंकी कल्पना करने वाली माया नहीं है—ऐसा श्रुति कहती है, मैं आपको नमस्कार करता हूँ ।' (भा०) भगवान् यानी निरतिशय-ऐश्वर्यसे संपन्न, ब्रह्म यानी पूर्णतत्त्व, परमात्मा यानी अपने प्रतिबिम्बभूत—समस्त जीवोंका नियन्ता साक्षी चैतन्य । उनमें यह हेतु है—लोक-सृष्टिकी विकल्पना करने वाली जो माया है, वह जिस विशुद्ध—स्वरूप आपमें नहीं है, ऐसा सुननेमें आता है-श्रुतियोंके द्वारा । अर्थात् वह माया आपमें अविद्यमान की भांति रहती है । जब माया उसमें वस्तुतः नहीं है, तब माया कल्पित यह द्वैत-प्रपञ्च भी उसमें वस्तुतः कैसे हो सकता है ?।

एवं नन्दस्य वरुणपाशमुक्तिप्रयोजकं श्रीकृष्णसामर्थ्यं दृष्ट्वा नन्दादिभिर्गोपैः स्वकीयैर्मनसीत्थं संकल्पितम्—हे कृष्ण ! यदि त्वं साक्षात् परं ब्रह्मासि, तर्हि नः स्वस्वरूपं पारमार्थिकं दर्शय, प्रापय चेति । ततस्तत्संकल्पसिद्धये भगवान् इत्थं संचिन्त्य स्वस्वरूपमेतादृशं दर्शयामास । तथाहि—'इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलदृक् स्वयम् । संकल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत् ॥ जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः । उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन् ॥ इति संचिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः । दर्शयामास लोकं स्वं

गोपानां तमसः परम् ॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् । यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥' (भा० १०।२८।१२-१३-१४-१५) इति।

इसप्रकार, नन्दबाबाकी वरुणके पाशसे मुक्तिका प्रयोजक–श्रीकृष्णके सामर्थ्य को देखकर स्वकीय नन्दादि गोपोंने मनमें ऐसा संकल्प किया-कि–हे कृष्ण! यदि तू साक्षात् पर ब्रह्म है, तब तो हमें अपना पारमार्थिक स्वस्वरूप दिखा एवं उसे प्राप्त करा। इसलिये उनके संकल्पकी सिद्धिके लिए भगवान्ने इसप्रकार विचार करके इस प्रकारका स्वरूप उन्हें दिखाया। यह वृत्तान्त श्रीमद्भागवतके वचनोंके द्वारा प्रदर्शित करते हैं–'श्रीशुकमुनि कहते हैं—हे परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं सर्वदर्शी हैं, भला, उनसे यह उनके मनकी बात कैसे छिपी रहती? वे अपने–आत्मीय गोपोंकी-यह अभिलाषा जान गये, और उनका संकल्प सिद्ध करनेके लिये कृपासे भरकर इसप्रकार सोचने लगे। इस संसारमें जीव अज्ञानवश शरीरमें आत्मबुद्धि करके भांति भांतिकी कामना और उनकी पूर्तिके लिए नानाप्रकारके कर्म करता है। फिर उनके फलस्वरूप देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि ऊंची–नीची–योनियोंमें भटकता फिरता है, अपनी असली गतिको–पारमार्थिक–आत्म स्वरूपको नहीं पहचान पाता। परमदयालु भगवान् श्रीकृष्णने इसप्रकार सोचकर उन गोपोंको मायान्धकारसे अतीत–अपना परमधामरूप पारमार्थिक-स्वरूप दिखलाया। श्रीभगवान्ने उनको उस ब्रह्मका साक्षात्कार करवाया, जिसका स्वरूप सत्य, ज्ञान, अनन्त, सनातन और ज्योतिःस्वरूप है, तथा जिसे समाधिनिष्ठ मुनिगण ही ब्रह्मविद्या द्वारा गुणोंका अतिक्रमण कर लेने पर ही देख पाते हैं।' (भा०)

अयमर्थः—स्वानां=स्वकीयानां तेषां संकल्पं, अखिलदृक=सर्वज्ञः, स्वयमेव विज्ञाय, तेषां संकल्पसिद्धये कृपयैतद्वक्ष्यमाणमचिन्तयत्। अविद्या= आत्मनोऽज्ञानं ततस्संजाता देहाद्यहं-बुद्धिः, ततः कामः, ततः कर्म शुभाशुभं तैरुच्चावचासु-देवतिर्यगादिषु योनिषु भ्रमन् स्वीयां गतिं–पारमार्थिक-स्वस्वरूपं, न वेद=न जानाति। स्वं=स्वरूपभूतं, लोकं–आलोकनीयं 'लोकृ दर्शने' स्मरणात्—द्रष्टव्यं, स्वयंज्योतिश्चैतन्यमखण्डैकरसं, न तु स्थल-विशेषम्। तमसः=प्रकृतेर्मायायाः परं=अतीतं। देहादिपिहितानां तद्दर्शनम-शक्यमिति मत्वा प्रथमं देहादिव्यतिरिक्तं ब्रह्मस्वरूपं दर्शयामासेत्याह—सत्यं= अबाध्यं, ज्ञानं=अजडं चैतन्यं, अनन्तं=अपरिच्छिन्नं ज्योतिः स्वप्रकाशं, सनातनं=शश्वत्सिद्धं, ब्रह्म, गुणापाये=गुणापोहे, ज्ञानिनो भक्ताः यत्पश्यन्ति तत्कृपयैव दर्शयामास।

अविद्या यानी आत्माका अज्ञान, उससे देहादिमें अहंबुद्धि उत्पन्न होती है, यह मिथ्याज्ञानरूपा-अविद्या है। गति यानी पारमार्थिक–स्वस्वरूप, गमनरूप क्रिया नहीं। लोक यानी आलोकन (दर्शन) करने योग्य–स्वयं ज्योतिः अखण्ड एक रस-चैतन्य, लोक

दर्शन-अर्थमें धातु है, जिससे लोकशब्दकी निष्पत्ति होती है । इसलिये लोकका अर्थ यहाँ स्थल विशेष नहीं समझना चाहिये । इसलिये वह प्रकृति-मायासे अतीत विशुद्ध स्वरूप है । देहादिमें आसक्त मूढ़ोंके लिए उसका दर्शन अशक्य है, ऐसा मान करके प्रथम, देहादि से व्यतिरिक्त-ब्रह्मस्वरूप दिखाया, यह कहते हैं-जिसका कभी बाध न हो वह सत्य है, जड़तारहित जो चैतन्य है, वह ज्ञान है, जो परिच्छेद रहित है, वह अनन्त है । ज्योतिः यानी स्वप्रकाश, सनातन यानी शाश्वतरूपसे जो सिद्ध है, ऐसा ब्रह्म है । गुणोंका अपोह यानी निराकरण होने पर ही ज्ञानवान् भक्त-उस ब्रह्मस्वरूपका साक्षात् दर्शन कर सकते हैं, उस ब्रह्मस्वरूपको श्रीभगवान्ने कृपासे गोपोंको दिखाया ।

इदमत्र बोध्यम्—यदि परिच्छिन्नसाकारविग्रह एव लोकनीयं स्वस्वरूपं पारमार्थिकं स्यात्, तदा भगवतेदमेवाभिमुखाङ्गुलिनिर्देशेनवक्तव्यं भवेत्-इममेव पश्यमदीयं विग्रहमिति । परन्तु भगवता तथा नोक्तम्, किन्तु मुनयो यत्सत्यत्वादि लक्षणं स्वरूपं पश्यन्ति, तदेव स्वं लोकमस्तीति स्पष्टतोऽभिहितम् । तथा च विशेष्यस्वरूपस्यैव पारमार्थिकत्वमस्ति, न तु विशेषणीभूतस्य साकारविग्रहस्य, स तु स्वोपासनया तत्परिचायक एवास्ति । तदेतदाम्नातं-ऋग्वेद-संहितायामपि-'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।' (ऋ० ६।४७।१८) इति ।

यहाँ यह समझना चाहिये-यदि परिच्छिन्न-साकार विग्रह ही दर्शन करने योग्य पारमार्थिक-स्व स्वरूप होता, तब तो भगवान्को अभिमुख अंगुलीके निर्देश द्वारा यही कहना चाहिये था कि—यही मेरा साकार विग्रह देख । परन्तु भगवान्ने ऐसा नहीं कहा, किन्तु जिस सत्यत्वादि लक्षणवाले स्वरूपका मुनिगण साक्षात् दर्शन करते हैं वही मेरा आलोकन-दर्शन करने योग्य स्वस्वरूप है, ऐसा स्पष्ट कहा । तथा च विशेष्यस्वरूप ही पारमार्थिक सत्य है, विशेषणीभूत साकार विग्रह नहीं, वह तो अपनी उपासना द्वारा उस विशुद्ध-विशेष्यस्वरूपका परिचय कराता है । वही यह बात ऋग्वेद-संहितामें भी कही है—'उसका यह विशिष्ट-साकाररूप शुद्ध-विशेष्य स्वरूपके बोधनके लिए निमित्त है ।' (श्रु०)

यशोदावृत्तान्तः ।

एवं यशोदापि तं परमार्थतोऽविज्ञायैव दाम्ना स्वसुतं मर्त्यसाधारणं मत्वा बद्धुं चिकीर्षति । पारमार्थिकं स्वरूपं तस्य कीदृशमित्यभिकांक्षायामाह-भगवान् बादरायणः—'न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् । पूर्वापरं बहिश्चान्त जगतो यो जगच्च यः ॥ तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् । गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥' (भा० १०।९।१३-१४) अयमर्थः—यस्य=यन्निष्ठमित्यर्थः, निष्ठत्वं षष्ठ्यर्थः । अन्तः = आभ्यन्तरविभेदः, बहिः=बाह्यविभेदः, पूर्वं=पूर्वविभागः, अपरं=अपरविभागः ।

तथा च तस्यान्तर्बहिः—समस्तस्वगतसजातीयादिभेदविवर्जितमद्वयम्, एवं पूर्वापरदेशविभागविवर्जितमपरिच्छिन्नमेव पारमार्थिकं स्वरूपमत्राभिवर्ण्यते। बन्धनं हि बहिःपरिवृतेन दाम्ना अन्तरावृतस्य भवति। तथा च पूर्वापरविभागवतो वस्तुनः पूर्वतो दाम धृत्वा परितः परिवेष्टनेन संभवति। परन्तु अस्मिन् महतोऽपि महीयसि पूर्णेऽद्वये भगवति वस्तुतोऽन्तर्बहिर्विभेदवत्त्वं, पूर्वापरविभागादिकञ्च नास्त्येव। तथा च बन्धनमत्र केनापि कथं कर्तुं शक्यते ? न शक्यत एव।

यशोदाका वृत्तान्त।

इसप्रकार यशोदा मैया भी उस श्रीकृष्णको परमार्थ स्वरूपसे न जान करके ही यह साधारण मनुष्यरूप ही मेरा पुत्र है, ऐसा मान करके रस्सीसे उसे बांधना चाहती है। उसका पारमार्थिक स्वरूप कैसा है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं—भगवान् बादरायणमुनि—'जिसमें न बाहर है, न भीतर, न आदि है, और न अन्त, जो जगत्के पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे, इस जगत्के भीतर तो हैं ही बाहरीरूपोंमें भी हैं, और तो क्या जगत्के रूपमें भी स्वयं वही हैं। यही नहीं, जो समस्त—इन्द्रियों की विषयतासे भी परे और अव्यक्त हैं, उन्हीं परब्रह्म-भगवान् को मनुष्य का-सा रूप धारण करनेके कारण पुत्र समझकर यशोदारानी रस्सीसे ऊखलमें ठीक वैसे ही बाँध देती है, जैसे कोई प्राकृत (साधारण-सा) बालक हो।' (भा०) यह अर्थ है, यस्यमें षष्ठीविभक्तिका निष्ठ अर्थ है, निष्ठ अर्थात् जिसमें। अन्तः यानी भीतरका भेद, बहिः यानी बाहरका भेद। पूर्व यानी पूर्वविभाग, अपर यानी अपर (अन्तिम) विभाग। तथा च उस श्रीकृष्णका अन्दरके एवं बाहरके समस्त-स्वगत—सजातीयादि—भेदोंसे विवर्जित अद्वय—स्वरूप, एवं पूर्वापरदेशके विभागोंसे वर्जित अपरिच्छिन्न—स्वरूप ही पारमार्थिक-स्वरूप है, ऐसा यहाँ वर्णन किया गया है। बाहरमें परिवेष्टित-रस्सीसे भीतरमें आवृत्त पदार्थका बन्धन होता है। तथा च पूर्वापरके विभागवाली वस्तुका पूर्वकी तरफसे रस्सीको पकडकरके चारों तरफ परिवेष्टन करनेपर बन्धन होता है। परन्तु इस महान्सेभी अति महान्-पूर्ण-अद्वय-भगवान्में वस्तुतः अन्दर एवं बाहरका भेद, तथा पूर्वापरादिका विभाग हैं ही नहीं, ऐसी दशामें उस—परब्रह्म भगवान्का बन्धन कौन कैसे कर सकता है ! नहीं ही कर सकता।

अपि च व्यापकेन व्याप्यस्य बन्धो भवति, अस्मिन् तु ततो विपरीत मेवास्तीत्याह-पूर्वापरमिति। कृत्स्नस्य जगतः पूर्वस्यां मर्यादायां, अपरस्यामपि काष्ठायां अन्तःस्थोऽपि बहिष्ठोऽपि स एष विभुः परमात्मा श्रीकृष्ण एवाव-स्थितः। यः कृष्ण एव सर्वं जगत्, तद्भिन्नं किञ्चिन्नास्तीति भावः। मर्त्यस्य=मरणधर्मिणो मनुजस्य लिङ्गं=तदाकृतित्वमेव, न तु मर्त्यं, यतो-

ऽधोक्षजं=इन्द्रियजन्यज्ञानाविषयः, अत एवाव्यक्तं=न केनापि प्रमाणान्तरेणोपनिषदं विना व्यज्यत इत्यर्थः। आत्मजं = सुतं मत्वा। यथा प्राकृतं=सामान्यमनुजबालम्। अनेनापि तस्याप्राकृतत्वमेव सिद्ध्यति। यदा च यस्य विभोः सर्वात्मनः सर्वेण जगताऽपि बन्धनं न संभवति, तदा तदेकदेशभूतेन स्वल्पेन दाम्ना कथं बन्धनं स्यात् ?।

और भी व्यापक (अधिकदेशमें वर्तमान) के द्वारा व्याप्य (अल्पदेशमें-वर्तमान) का बन्धन होता है। इस-भगवत्स्वरूपमें तो उससे विलक्षणता ही है, यह कहते हैं-पूर्वापरमिति। समग्र—जगत्की पूर्व (आदि) की मर्यादा (अवधि) में एवं अपर (अन्त) की मर्यादामें तथा अन्दरमें एवं बाहरमें भी वही यह विभु-व्यापक परमात्मा श्रीकृष्ण ही अवस्थित है। यह कृष्ण ही सर्व जगत् है। कृष्णसे भिन्न कुछ भी नहीं है, यह भाव है। मर्त्य यानी मरणधर्मा मनुष्य, उसका लिङ्ग यानी उसकी आकृतित्व, मर्त्य नहीं, क्योंकि—यह श्रीकृष्ण अधोक्षज है—अर्थात् इन्द्रियजन्य ज्ञानका अविषय है, शब्दस्वरूपत्वादि-वैषयिक-धर्मोंसे रहित-अशब्द-अरूपादि है। इसलिये यह अव्यक्त है, उपनिषत्प्रमाणको छोडकर अन्य किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता। आत्मज यानी पुत्र, प्राकृत यानी साधारण-मनुष्यका बालक। इस विशेषण द्वारा उस भगवान्में अप्राकृतत्व सिद्ध होता है। जब जिस विभु सर्वात्माका समस्त-जगत्के द्वारा भी बन्धन नहीं होसकता है, तब जगत्के एक-देशमें स्थित-अत्यल्प-रस्सीसे बन्धन कैसे होसकता है ?।

न च तस्य साकारत्वेन परिच्छिन्नत्वात् विभुत्वं कथं संभवेदिति वाच्यम्। तस्य विभुत्वपरिचायकत्वात्तदुपलक्षिते विशेष्यस्वरूपे तत्त्वं संभवत्येवेति विभावनीयम्। तथा च तत्र पूर्वोक्तश्लोके श्रीकृष्णस्य ब्रह्मस्वरूपत्वं प्रदर्शितम्। उपनिषत्सु यथा 'अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमि' त्यादिना ब्रह्मस्वरूपं वर्ण्यते, तथैवात्रापि श्रीकृष्णस्य स्वरूपमपि। तस्मात् सर्वाधिष्ठानं विश्वसाक्षि सर्वातीतं सर्वान्तर्यामि विश्वोपादानं सर्वरूपं यद् ब्रह्मैव श्रीकृष्णस्वरूपेण प्रतिभातं, तदेव यशोदायाः स्नेहवत्सलायाः मातुरनन्यप्रेम्णा ज्ञानमयेन वशीभूतं बभूव। एवं तदात्मभावापत्त्यात्मके बन्धने नास्ति किमप्यसांगत्यं, न चानौचित्यमपि इति वेदितव्यम्।

शंका—वह भगवान् तो साकार है, इसलिये वह परिच्छिन्न है, अतः उसमें विभुत्व (व्यापकत्व) का कैसे संभव होगा।

समाधान—वह साकार-विग्रह, विभुत्वका परिचायक है, इसलिये साकार-विग्रहसे उपलक्षित—विशेष्यस्वरूपमें विभुत्व होसकता है, ऐसा समझना चाहिये। तथा च उस पूर्वोक्त-श्लोकमें श्रीकृष्णकी ब्रह्मस्वरूपता बतायी गयी है। उपनिषदोंमें जैसे 'अपूर्वम्, अनपरम्, अनन्तरम्, अबाह्यम्, इत्यादि विशेषणोंके द्वारा ब्रह्मस्व-

रूपका वर्णन किया जाता है, वैसे ही यहाँ भी श्रीकृष्णके स्वरूपका भी वर्णन किया गया है। इसलिये जो सर्वका अधिष्ठान, विश्वका साक्षी, सर्वसे अतीत, सर्वका अन्तर्यामी, विश्वका उपादान सर्वरूप ब्रह्म है, वही श्रीकृष्णके स्वरूपसे प्रतिभासित होरहा है, वही स्नेहवत्सला यशोदा माताके ज्ञानमय-अनन्यप्रेमसे वशीभूत हुआ है। इसप्रकारके उस ब्रह्मस्वरूपमें आत्मभावकी प्राप्ति ही बन्धन है, ऐसा बन्धन माननेपर न तो किसी भी प्रकारकी असंगति है, एवं अनौचित्य भी नहीं है, ऐसा समझना चाहिये।

तथा च विशेष्यस्य सच्चिदानन्दस्वरूपस्य परमार्थसत्यतया श्रद्धेयतया च परमानुरक्तिः तत्परिचायके दिव्ये मधुरतमे समुपासनीये विशिष्टे साकारविग्रहेऽपि सेत्स्यत्येव।

तथा च विशेष्य-भूत-सच्चिदानन्दस्वरूप परमार्थसत्य होनेसे श्रद्धेय है, अतः उसका परिचय-प्रदान करने वाले-दिव्य-अतिमधुर-अच्छी प्रकारसे उपासनाकरने योग्य विशिष्ट-साकार विग्रहमें भी श्रद्धेयता होनेके कारण परम अनुरक्ति सिद्ध होगी ही।

प्रयोजन—जिज्ञासा।

नन्वेवं तर्हि विशिष्टस्वरूपवर्णनस्य किमस्ति प्रयोजनमिति पृच्छामः। अत्र वदामः—'निर्विशेषं परं ब्रह्म, साक्षात्कर्तुमनीश्वराः। ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः॥ वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्। तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥' इति कल्पतर्वाचार्य्यनिरूपितं तदाराधनेन मनसो वशीकारः, तत्र च निर्विशेषस्वरूपाविर्भाव एव प्रयोजनं गृहाण। 'मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।' (बृ०उ० ४।४।१९) इति श्रुतेः।

प्रयोजन की जिज्ञासा।

शंका—जब ऐसा है-अर्थात् विशेष्यस्वरूप ही पारमार्थिक है, विशिष्ट नहीं, तब विशिष्टस्वरूपके वर्णनका क्या प्रयोजन है ? ऐसा हम पूछते हैं—

समाधान—कहते हैं-'जो मन्दाधिकारी निर्विशेष-परब्रह्मका साक्षात्कार करनेके लिए असमर्थ हैं, उनपर शास्त्रोंने सविशेष-साकार-ब्रह्मके निरूपणोंके द्वारा अनुग्रह किया है। जब सगुण-साकार ब्रह्मकी उपासनाके द्वारा उनका मन वशीभूत होजाता है, तब उनके पवित्र एवं एकाग्र मनमें वही उपाधिकी कल्पनारहित-निर्विशेष परब्रह्म साक्षात् ही प्रकट होजाता है।' ऐसा कल्पतरु-ग्रन्थके निर्माता आचार्य अमलानन्द स्वामीने निरूपण किया है। अतः विशिष्टस्वरूपके वर्णनका यही प्रयोजन है-कि उसकी आराधनाके द्वारा मनका वशीकार। और वशीकृत-मनमें निर्विशेषस्वरूपका आविर्भाव, ऐसा समझो। बृहदारण्यक श्रुति भी कहती है कि—'साकारब्रह्मकी आराधनासे संस्कृत-एकाग्रमनके द्वारा ही उस निर्विशेष-परब्रह्मका अनुदर्शन होता है। जिस ब्रह्ममें कुछ भी भेद (पार्थक्य) नहीं है।' (श्रु०)

तदेतत्—श्रीमद्भागवतेऽपि पञ्चमे विशदीकृतम्—तथाहि—'भगवतो गुणमये स्थूलरूप आवेशितं मनो ह्यगुणेऽपि सूक्ष्मतम आत्मज्योतिषि परे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवाख्ये क्षममावेशितु, तदुहैतद् गुरोऽर्हस्यनुवर्णयितुमिति।' (भा० ५।१६।३) इति । अयमर्थः—गुणमये=सत्त्वादिगुणविरचिते स्थूलरूपे= पातालाद्यचेतनावयवविशिष्टे विराट्मूर्तौ, आवेशितं = निधायाभ्यस्तं = एकाग्रीकृतं यन्मनः, तदगुणेऽपि = सत्त्वादिगुणप्रवृत्तिशून्येऽपि सच्चिदानन्दात्मके अत एव सूक्ष्मतमे-विशुद्धे-निर्विशेषे-क्षमं = समर्थम् । इह भगवतो गुणमये इति भेद-बोधिकया षष्ठ्या, अगुणे भगवतीत्यभेदबोधकेन सामानाधिकरण्येन भगवत्तत्त्वस्य गुणातीतत्वं द्वैतप्रपञ्चोपशमरूपत्वञ्च द्योत्यते ।

वही यह श्रीमद्भागवतके पञ्चम-स्कन्धमें भी स्पष्टतः निरूपण किया है—जैसे- 'भगवान्‌के इस गुणमय—स्थूल-साकार विग्रहमें पहले अपने मनको जो लगाता है, पश्चात् वह मन सुसंस्कृत—एकाग्र हुआ वासुदेव संज्ञक—स्वयंप्रकाश-निर्गुण-ब्रह्मरूप सूक्ष्मतम—स्वरूपमें भी उसका लगना शक्य होजाता है, अतः गुरुवर ! इस विषयका विशदरूपसे वर्णन करने की कृपा कीजिये ।' (भा०) यह अर्थ है—गुणमय यानी सत्त्वादिगुणोंके द्वारा विरचित, स्थूलरूप यानी पातालादि-अचेतन-चतुर्दश भुवनरूप-अवयवोंसे विशिष्ट-विराट् मूर्ति है—उसमें आवेशित—यानी धारणा द्वारा स्थापित करके उसके चिन्तनका अभ्यासवाला—अतएव उसमें एकाग्र हुआ जो मन है, वह अगुण यानी सत्त्वादि-गुणोंकी प्रवृत्तिसे शून्य-सच्चिदानन्दरूप, अत एव सूक्ष्मतम विशुद्ध-निर्विशेष-परब्रह्ममें संलग्न होनेके लिए समर्थ होजाता है । यहाँ 'भगवान्‌का गुणमय' ऐसी भेद-बोधक षष्ठीविभक्तिके द्वारा तथा 'गुणरहित-भगवान् में' ऐसा अभेद-बोधक-सामानाधिकरण्य—द्वारा भगवान्‌का वास्तविक—स्वरूप गुणातीत एवं द्वैतप्रपञ्चका उपशम (अत्यन्ताभाव) रूप है, ऐसा विज्ञापित किया ।

विशेषणं विशेष्याभिव्यञ्जकं भवति ।

यथा पूर्णस्य चन्द्रमसः प्रादुर्भावनिमित्ततया प्राची दिक् स्वीक्रियते, तथैव पूर्णस्य सच्चिदानन्दस्य विशेष्यस्वरूपस्य प्रादुर्भावनिमित्ततया मायायाः परमाह्लादमयाचिन्त्यसामर्थ्यशील-विशुद्ध-सत्त्वगुणो* दिव्यतममधुरतमसुन्दरतमसाकारविग्रहनिदानभूतो विशेषणविधयाऽभ्युपगम्यते । अत एव पूर्णस्य

* 'सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः ।' (भा० १०।२।३४) इति श्रेयसः=कल्याणस्य, उपायनं=समर्पकं, वपुः=साकारविग्रहः । आप जगत्‌की स्थितिके लिये समस्त-देहधारियोंको परम कल्याण प्रदान करने वाला विशुद्ध—सत्त्वमय—सच्चिदानन्दमय-परम दिव्य मंगलमय साकार—विग्रह प्रकट करते हैं ।

परात्परस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मण एव तद्रूपेण प्रतिभानं भवति ज्ञानिनामनन्य-भक्तानाम्। तथा च भगवतो दिव्यसाकारविग्रहदर्शनेन देवक्याः मातुरपि-तत्र निर्विशेषाद्वयब्रह्मस्वरूपस्यैव प्रतिभानं जातम्, अत एव सा तं भगवन्त-मित्थमस्तौत्—'देवक्युवाच- रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं, ब्रह्म ज्योति निर्गुणं निर्विकारम्। सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः॥' (भा० १०।३।२४)। इति।

विशेषण विशेष्यका अभिव्यञ्जक होता है।

जैसे पूर्ण-चन्द्रमाके प्रादुर्भावके निमित्तरूपसे पूर्व-दिशा मानी जाती है। वैसे ही पूर्ण सच्चिदानन्द—विशेष्यस्वरूपके प्रादुर्भावके निमित्तरूपसे—मायाका विशुद्ध सत्त्व-गुण—जो परम-आह्लादमय एवं अचिन्त्य—सामर्थ्यशाली है—तथा जो दिव्यतम-मधुरतम-सुन्दरतम साकार विग्रहका निदान (कारण) भूत है—वह विशेषणरूपसे माना जाता है। इसलिये पूर्ण-परात्पर—निर्विशेष—ब्रह्मका ही उस दिव्य साकार विग्रहके रूपसे अनन्य भक्त ज्ञानवानोंको प्रतिभान होता है। तथा च भगवान्‌के दिव्य-साकार-विग्रहके दर्शनसे देवकी माताको भी उसमें निर्विशेष-अद्वय-ब्रह्मस्वरूपका ही प्रतिभान हुआ था, इसलिये उसने उस भगवान् की इसप्रकार की स्तुति किया—'माता देवकीने कहा—प्रभो ! वेदोंने आपके जिस परात्पर—पूर्ण स्वरूपको अव्यक्त और सबका विवर्त्तोपादानकारण बतलाया है, जो ब्रह्म, ज्योतिःस्वरूप, समस्त—सत्त्वादि गुणोंसे रहित, और निर्विकार है, जिसे जात्यादि-समग्र विशेषोंसे रहित—निर्विशेष-चिन्मात्र-निष्क्रिय, केवल-विशुद्ध-अद्वय सत्ता के रूपमें कहा गया है—वही बुद्धि आदिके प्रकाशक-विष्णु स्वयं आप हैं।' (भा०)

अस्यायमर्थः—यत्तत्किमपि रूपं-अनिर्देश्यं वस्तु प्राहुर्वेदाः। किं तद्वस्तु, तदाह—अव्यक्तं=न व्यज्यते वेदातिरिक्तमानेन प्रकाश्यत इत्यव्यक्तम्, तत्र हेतुः, आद्यं=कारणम्। किं परमाणवः ? न, ब्रह्म = बृहत्, किं प्रधानं ? न, ज्योतिः= चेतनम्। किं वैशेषिकाणामिव ज्ञानगुणं ? न, निर्गुणम्। किं मीमांसकानामिव ज्ञानपरिणामि ? न, निर्विकारम्। किं भास्करीयाणामिव शक्तिविक्षेपपरिणामि? न, सत्तामात्रं = सर्वदाऽखण्डैकरसम्। तर्हि किं सामान्यं ? न, निर्विशेषम्। तार्किकाङ्गीकृतस्य सामान्यस्य परापररूपविशेषवत्त्वात्। यद्वा—निर्विशेषं= जात्यादिसकलविशेषवर्जितम्। तर्हि किं कारणत्वात् सक्रियं ? न, निरीहं= निष्क्रियम्। चुम्बकवत् सन्निधिमात्रेण कारणम्। एवंभूतं किमपि कार्यकल्प्यं यद्वस्तु, स एव साक्षात्त्वं विष्णुरिति। न केवलं कार्यकल्प्यत्वं, अपरोक्षश्चेत्याह-अध्यात्मदीपः=बुद्ध्यादिकरणसंघातप्रकाशकः-चिदात्मा इत्यर्थः।

इसका यह अर्थ है—जो वह कुछ भी अनिर्देश्यरूपवाली वस्तुका वेद प्रति-पादन करते हैं। क्या वह वस्तु है ? उसे कहते हैं—अव्यक्त यानी जो वेदातिरिक्त-प्रमाणके द्वारा प्रकाशित नहीं होती है, उसमें हेतु है—आद्य यानी कारण। क्या वह

कारण (न्यायशास्त्राभिमत) परमाणु हैं ? नहीं, किन्तु ब्रह्म-सबसे बड़ा है, परमाणु तो छोटेसे हैं । क्या प्रधान (सांख्यशास्त्राभिमत) है, नहीं, चेतन ज्योति है-प्रधान तो जड़ है । क्या वह वैशेषिक-शास्त्रवालोंकी भांति गुणरूप ज्ञान है, नहीं, वह निर्गुण है । क्या वह मीमांसकोंकी भांति परिणामी-ज्ञानरूप है ? नहीं, वह निर्विकार है— अपरिणामी है । क्या वह भास्करमतानुयायियोंकी भांति शक्ति-विक्षेपका परिणामी है ? नहीं, वह सत्तामात्र है, सर्वदा अखण्ड-एकरस है । तब क्या वह सामान्य है ? नहीं, निर्विशेष है । तार्किक-अभिमत-जातिरूप-सामान्य-पर-अपररूप विशेषवाला है । अथवा निर्विशेष यानी जात्यादि-सकल विशेषोंसे वर्जित है । तब तो क्या कारण होनेसे वह सक्रिय है ?, नहीं, निरीह यानी निष्क्रिय है । चुम्बक की तरह सन्निधिमात्रसे कारण है। ऐसा कार्यसे कल्पना करने योग्य कुछ भी अनिर्देश्य जो वस्तु है, वह आप साक्षात् विष्णु हैं । केवल कार्यसे ही आप कल्पनीय हैं, यह बात नहीं, किन्तु अपरोक्ष भी हैं- यह कहते हैं-अध्यात्मदीप यानी बुद्ध्यादि-करण समूहका प्रकाशक- चिदात्मा हैं ।

अथवा न केनापि प्रकारेण व्यज्यत इत्यव्यक्तम्, तदभावात्। उत्पत्या तावन्न कथं व्यज्यत इत्याह-आद्यं=सर्वस्य कार्यस्यादिमं कारणं-अनादीत्यर्थः । तथा ब्रह्म, ज्योतिः, निर्गुणं, निर्विकारमिति चतुर्भिः पदैः—देशेन प्रकाशेन च गुणेन च विकारेण चाभिव्यक्तिं निराकरोति । तथा सत्तामात्रमिति विशेषेण, निर्विशेषमिति सामान्येन, निरीहमिति क्रियया चाभिव्यक्तिं निराकरोति ।

अथवा जो किसी भी प्रकार द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता, वह अव्यक्त है, अर्थात् उसमें प्रकारोंका अभाव है, अतः वह निष्प्रकारक है । उत्पत्तिसे वह क्यों व्यक्त नहीं होता ? कहते हैं-वह समस्त कार्यका आदिम-कारण-अनादि है । इसलिये उसमें उत्पत्ति नहीं है । तथा ब्रह्म पदसे देशप्रयुक्त-अभिव्यक्तिका, ज्योतिः पदसे प्रकाश-प्रयुक्त अभिव्यक्तिका, निर्गुणपदसे गुण-प्रयुक्त अभिव्यक्तिका, एवं निर्विकारपदसे विकार प्रयुक्त अभिव्यक्तिका निराकरण करते हैं । तथा सत्तामात्र पदसे विशेष-प्रयुक्त-अभिव्यक्तिका निर्विशेष पदसे सामान्यप्रयुक्त-अभिव्यक्तिका एवं निरीह पदसे क्रियाप्रयुक्त अभिव्यक्ति का निराकरण करते हैं ।

विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते ।

अस्त्ययं दार्शनिको नियमः--यत् विशिष्टं सोपाधिकं रूपं तन्निरुपाधिक-शुद्धस्वरूपान्नास्ति कथमपि पृथग्भूतमिति यथा महाकाशाद्घटाकाशादिकम् । अत एव श्रीमद्भागवते तृतीयेऽपि तं नियममभिप्रेत्य चतुर्मुखो ब्रह्मा भगवन्त-मित्थमस्तौत्—'ब्रह्मोवाच—ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम् । नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं मायागुणव्यति-कराद्यदुरुर्विभासि ॥ रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन शश्वन्निवृत्ततमसः

सदनुग्रहाय। आद्यो गृहीतमवतारशतैकबीजं यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥ नातः परं परम ! यद्भवतः स्वरूपमानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः। पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन् भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ॥ तद्वा इदं भुवनमंगल ! मंगलाय ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम्। तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसंगैः ॥' (भा० ३।९।१-२-३-४) इति।

विशिष्ट शुद्धसे अतिरिक्त नहीं होता।

यह दर्शनशास्त्रोंका नियम है कि—जो विशिष्ट—सोपाधिकरूप है, वह निरुपाधिक शुद्धस्वरूपसे किसी भी प्रकार पृथग्भूत नहीं है, जैसे महाकाशसे घटाकाशादि। इसलिये-श्रीमद्भागवतके तृतीयस्कन्धमें भी उस नियमको अभिप्रायमें रखकर ही चतुर्मुख ब्रह्माजीने श्रीभगवान् की इसप्रकार स्तुति किया—'ब्रह्माजीने कहा—हे प्रभो ! आज बहुत समयके बाद मैं आपको वास्तविक-शुद्धस्वरूपसे जान सका हूँ। अहो ! कैसे दुर्भाग्यकी बात है कि—देहाभिमानी जीव, आपके—पारमार्थिक-स्वरूपको नहीं जान पाते। भगवन् ! आपके विशुद्ध—निरुपाधिक स्वरूपसे अतिरिक्त-अन्य कोई भी वस्तु (आपका सोपाधिक-विशिष्टरूप भी) वास्तविक नहीं है। जो वस्तु आपके विशुद्धस्वरूपसे पृथक् होकर प्रतीत होती है, वह परमार्थतः सत्य नहीं होसकती। क्योंकि—मायाके गुणोंके क्षुभित होनेके कारण केवल—आप निर्विशेष-चिन्मात्र ही अनेक-सोपाधिक—विशिष्ट-उच्चावच-रूपोंसे प्रतीत होरहे हैं। हे देव ! आपकी चित् शक्तिके प्रकाशित रहनेके कारण अज्ञान—तम आपसे सदा ही दूर रहता है। अतः आप निरञ्जनरूपसे ही सदा अवस्थित रहते हैं। आपका यह सोपाधिक-विशिष्टरूप (जिसको मैं प्रथमसे ही जानता था) जिसकी नाभिकमलसे मैं (ब्रह्मा) प्रकट हुआ हूँ, सैकड़ों-अवतारोंका-मूल-कारण है। इसे आपने सत्पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये ही (उपासना की सिद्धिके लिये ही) पहले-पहल प्रकट किया है। हे परमात्मन् ! आपका जो आनन्दमात्र, भेदरहित, अखण्ड-चैतन्यज्योतिर्मय—विशुद्धस्वरूप है, उसे मैं इससे भिन्न नहीं समझता (अर्थात्-इस विशिष्टरूपके द्वारा मुझे उस विशेष्य विशुद्धस्वरूपका ही दर्शन होता है) इसलिये मैंने—विश्वकी रचना करनेवाले होने पर भी विश्वातीत—आपके इस अद्वितीय—विशुद्ध—निर्विशेषस्वरूपकी ही-अनन्य शरण ली है—अर्थात्-इसका ही मैं निरन्तर तन्मय होकर चिन्तन करता हूँ। यही सम्पूर्ण भूत और इन्द्रियोंका भी अधिष्ठान है। हे विश्वकल्याणमय ! मैं आपका उपासक हूँ, अतः आपने मेरे हितके लिये ही मुझे ध्यानमें अपना यह पारमार्थिक शुद्धस्वरूप दिखलाया है। जो पापात्मा-विषयासक्त-जीव हैं, वेही इस महान्-शुद्ध निर्विशेष-स्वरूपका अनादर करते हैं, मैं तो आपको इसी रूपमें बार बार नमस्कार करता हूँ।' (भा०)

एषामयमर्थः—भगवतः पारमार्थिकविशुद्ध-निर्विशेषस्वरूपज्ञानेनात्मनः कृतार्थतामाविष्कुर्वन्, अज्ञांश्च शोचन्नाह—ज्ञातोऽसीति। सुचिरात्=बहुकाल-पर्यन्तविशिष्टस्वरूपस्योपासनेन अद्य, मे—मया ज्ञातोऽसि त्वं परमार्थतः। ननु अहो दौर्भाग्यार्थे, देहभाजामेतदवद्यं=दोषः। किं तत् ?। यद्भगवतस्तव गतिः=पारमार्थिकं तत्त्वं न ज्ञायत इति। यतस्त्वमेव ज्ञातुं योग्यः, सत्यत्वात्, नान्यदसत्यत्वादित्याह—त्वत्=त्वत्तः पारमार्थिकविशुद्धस्वरूपात्-अन्यत्-पृथग्भूतं किमपि नास्ति, यद्यप्यस्तीति प्रतिभाति यत्किमपि, तदपि शुद्धं=वास्तविकं सत्यं न भवति। कथमसतः प्रतीतिस्तत्राह-यद्-यतो मायागुण-क्षोभात्त्वमेवोरुर्बहुरूपो विभासि, अर्थतस्त्वं निर्विशेषो विशुद्धोऽपि सविशेष-विशिष्टरूपेण प्रतिभासि। तदवद्यं, 'न हि सत्यस्य नानात्वं, अविद्वान् यदि मन्यते। नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषो र्वातयोरिव ॥'*(भा० १२।४।३०) इत्युक्तत्वात्। ननु—त्वमपि सम्यक् न जानासि, यत्त्वया दृष्टं रूपमेतदपि गुणात्मकमेव, निर्गुणं निर्विशेषं—शुद्धं ब्रह्म वै तु सत्यं, तत्राह—रूपमिति द्वाभ्याम्। अवबोधरसोदयेन=चित्सुखाविर्भावेन शश्वत्=सदा निवृत्तं तमो यस्मात्तस्य निरञ्जनस्य तव यदेतद्रूपं त्वयैव स्वातन्त्र्येण, सतामुपासकाना-मनुग्रहाय गृहीतं=आविष्कृतं, अवतारशतस्य-शुद्धसत्त्वात्मकस्य यदेकं बीजं मूलम्। तत्प्रदर्शनार्थं गुणावतारबीजत्वं दर्शयति। यन्नाभीति।

इन श्लोकोंका यह अर्थ है—भगवान् के पारमार्थिक-विशुद्ध—निर्विशेष स्वरूपके ज्ञानसे अपनी कृतार्थताको आविष्कृत करते हुए तथा अज्ञानी-मूढ़ों का शोक करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—कि-बहुत समयतक आपके विशिष्ट-साकार स्वरूपकी उपासना करनेके बाद आज मैं आपको परमार्थरूपसे जान सका हूँ। 'ननु' यह

---

* सत्यस्य—पारमार्थिकस्य नानात्वं=जीवत्वेश्वरत्वादिरूपं, नास्ति। यद्येवं नानात्वं मन्यते, तर्हि-अविद्वान्। कथं तर्हि तत्र भेदव्यवहारः, उपाधिकृत इत्याह—छिद्रयोः=घटाकाशमहाकाशयोरिवेति परिच्छेदापरिच्छेदे दृष्टान्तः। ज्योतिषोः=आकाशजलस्थयोः सूर्ययोरिवेत्युपाधिकृतविकारसदसद्भावे। वातयोः=बाह्यशरीरस्थवाय्वोरिवेति क्रिया भेदे। पारमार्थिक—सत्यमें जीवत्वेश्वरत्वादिरूप—नानात्व नहीं है। यदि इसप्रकार जो नानात्व मानता है, वह अज्ञानी है। तब क्यों उसमें भेदका व्यवहार होता है ?। यह कहते हैं—दृष्टान्तोंके द्वारा। जैसे घटाकाश और महाकाशमें भेदका व्यवहार, घटरूप उपाधिके द्वारा घटाकाशमें परिच्छिन्नत्व है। और महाकाशमें उपाधि न होनेके कारण अपरिच्छिन्नत्व है। आकाशमें स्थित बिम्ब सूर्यमें जलोपाधिकृत विकार नहीं है, और जलस्थ—प्रतिबिम्बसूर्यमें विकार देखनेमें आता है। बाहरकी वायुमें और शरीरान्तर्गत—वायुमें विभिन्न—क्रियाएँ हैं।

अव्ययपद यहाँ अहो यानी दौर्भाग्य अर्थमें प्रयुक्त है। देहधारियोंके लिए यह बड़ा दोष है। क्या है वह ? आप भगवान् के पारमार्थिक स्वरूपको वे नहीं जानते हैं, आपके पारमार्थिक—स्वरूपका न जानना ही दोष है। क्योंकि—एकमात्र आपही जानने योग्य हैं, सत्य होनेके कारण। असत्य होने से अन्य—पदार्थ जानने योग्य नहीं हैं, यह कहते हैं, आपके पारमार्थिक—विशुद्ध-स्वरूपसे अन्य यानी पृथग्भूत कुछ भी नहीं है। यद्यपि—अस्तिरूपसे जो भी कुछ प्रतीत होता है, वह शुद्ध यानी वास्तविक सत्य नहीं होता है। तब असत् की प्रतीति क्यों होती है ? कहते हैं—मायाके गुणोंके क्षोभसे आप एक ही बहुरूपसे प्रतीत होते हैं, अर्थात् आप निर्विशेष-विशुद्ध भी सविशेष–विशिष्टरूपसे भासित हो जाते हैं। यह मायाका दोष है। 'परमार्थ-सत्य-वस्तुमें वस्तुतः नानात्व (भेद) नहीं है, यदि कोई अज्ञानी परमार्थ-सत्यवस्तुमें नानात्व मानता है–तो उसका मानना वैसा ही है—जैसा महाकाश और घटाकाशका, आकाशस्थ सूर्य और जलमें प्रतिबिम्बित–सूर्यका तथा बाह्यवायु और आन्तर-वायुका भेद मानना (अर्थात् भेद काल्पनिक है–वास्तविक नहीं है, अतः विशुद्ध स्वरूपसे विशिष्टस्वरूपका भी भेद काल्पनिक ही मानना चाहिये) (भा०) ऐसा श्रीमद्भागवतके द्वादशस्कन्धमें भी कहा है।

शंका—हे ब्रह्मन् ! तू भी मेरे स्वरूपको यथार्थरूपसे नहीं जानता है, जो तूने विशिष्ट-शेषशायीरूप–देखा है, वह भी गुणात्मक ही है, अर्थात् मायाके विशुद्ध सत्त्वसे समुद्भासित है, वस्तुतः निर्गुण निर्विशेष-शुद्ध-ब्रह्म ही सत्य है--यह कहते हैं, दोश्लोकों के द्वारा। चैतन्य–आनन्दके आविर्भावसे आपके विशुद्धस्वरूपमें सर्वदा मायारूप–तमका अभाव ही रहता है। ऐसे आप-निरञ्जनका वह यह विशिष्ट–रूप आपने अपनी स्वतन्त्रतासे ही सज्जन–उपासकों पर अनुग्रह करनेके लिए प्रकट किया है—जो शुद्धसत्त्वमय–सैंकड़ों–अवतारोंका मूल-भूत है। यह बतलाने के लिए गुणावतारों की कारणता प्रदर्शित करते हैं—यन्नाभीत्यादि-श्लोकद्वारा।

संप्रति दृश्यमानमिदं भगवतो दिव्यं साकारस्वरूपं नास्ति ज्ञायमान-निर्विशेषपूर्णशुद्धनिराकारब्रह्मस्वरूपादतिरिक्तम्। अत एव तद्दर्शनेन मम तस्यैव मूलाधिष्ठानतत्त्वस्य प्रतिभानं जायते, इति हेतोः विशिष्टस्वरूपात् सच्चिदानन्दविशेष्यान्नास्ति शुद्धं भिन्नमित्युक्तमिति स्पष्टमित्थं भगवत्स्तुत्या चतुर्मुखो विज्ञापयति—नातः परमित्यादिना। हे परम !=मा–न परोऽन्यो यस्मात् सः परमः सर्वावधिभूतोऽसीत्याह—अविद्धवर्चः=अनावृतप्रकाशं, अतोऽविकल्पं=निर्भेदं, 'भेदो दुःखस्य मूलं हि' (भा०) इत्युक्तत्वात्। अत एवानन्दमात्रम्, एवंभूतं यद्भवतः स्वरूपं, तदतो रूपात्परं भिन्नं न पश्यामि। किन्त्विदमेवास्मज्ज्ञातं तत्–सच्चिदानन्दरूपम्। अतः कारणात्ते=तवादः=इदं रूपं उपाश्रितोऽस्मि, योग्यत्वात्—ध्यातुमर्हत्वादपीत्याह–एकं=ध्येयेषु मुख्यं,

यतो विश्वसृजं=विश्वं सृजतीत्यत एवाविश्वं=विश्वस्मादन्यत्-घटात्कुलालवत् विश्वद्वैतातीतमिति यावत् । किञ्च भूतेन्द्रियात्मकं=भूतानामिन्द्रियाणां चात्मानं कारणमधिष्ठानमित्यर्थः ।

अब—दृश्यमान (दिखाई देनेवाला) यह भगवान् का दिव्य-साकार स्वरूप, इस ज्ञायमान (ज्ञानद्वारा--लक्षित) निर्विशेष-पूर्ण—शुद्ध--निराकार-ब्रह्मस्वरूपसे व्यतिरिक्त नहीं है, इसलिये विशिष्टरूपके दर्शनसे मुझे उसी ही मूल-अधिष्ठान स्वरूपका प्रतिभान होजाता है, इस कारणसे जिसमें सच्चिद्-आनन्द विशेष्यरूपसे है, ऐसे विशिष्टरूपसे शुद्धस्वरूप भिन्न नहीं है, ऐसा कहा है, इन सबका स्पष्ट ही इस प्रकार भगवान् की स्तुति द्वारा चतुर्मुख-ब्रह्मा विज्ञापन करता है-'नातः परं' इसश्लोक से । हे परम ! यानी पर अर्थात् अन्य, मा (नहीं) है, जिससे वह सर्वकी अवधिभूत तू है । तेरा स्वरूप आवरणरहित-चैतन्य प्रकाश है, विकल्प (भेद) रहित है, भेद ही दुःखका मूल है, ऐसा कहा है । अत एव एकमात्र आनन्दरूप है, उसको इस दृश्यमान विशिष्ट-साकाररूपसे मैं भिन्न नहीं देखता हूँ । किन्तु यह मेरे द्वारा ज्ञात सच्चिदानन्द-रूप ही है । इस कारणसे तेरे उस-निर्विशेष-विशुद्ध स्वरूपके ही मैं शरणापन्न होगया हूं । वह स्वरूप शरणके लिए योग्य है एवं ध्यान करनेके लिए भी योग्य है, यही कहते हैं—एक यानी ध्येय-स्वरूपोंमें मुख्य । क्योंकि—वह स्वरूप विश्वका सर्जक होने पर भी विश्व-द्वैतसे अतीत है, जैसे घटसे कुलाल । वह भूत एवं इन्द्रियोंका कारण-अधिष्ठान है ।

तद्वै=तदेव, इदं-हे भुवनमंगल ! यतस्ते=त्वया नः=अस्माकमुपासकानां मंगलाय=कल्याणाय, ध्याने दर्शितं तन्निरुपाधिकं निर्विशेषं शुद्धमेव स्वरूपं प्रकटितम् । न हि सत्यज्ञानानन्ताद्वयनिर्विशेषशुद्धस्वरूपाभिनिवेशितचित्तानामस्माकं सोपाधिकार्वाचीन-साकारस्वरूपस्यैव केवलं दर्शनं पर्याप्तम् । अतः तस्मै तुभ्यं—निर्विशेषशुद्धस्वरूपाय भगवते नमोऽनुविधेम=अन्यचिन्तनं विहाय तन्मात्राभिमुखीं प्रज्ञां कुर्याम । 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।' (बृ० ४।४।२१) इति श्रुतेः । यद्यहमीदृशस्तर्हि सर्वे मां किमिति न जानन्ति, न ध्यायन्ति, न चाद्रियन्ते तत्राह—असत्प्रसंगैः=असति=नामरूपात्मके द्वैत-प्रपञ्चे प्रकृष्टः संगः=आसक्तिर्येषां तैः, अत एव नरकभाग्भिः=द्वैताभिनिवेशेन नरकोपलक्षितभयशोकदुःखादिसेवनशीलैः यस्त्वं अनादृतः=पारमार्थिकाद्वय-स्वरूपेण नादृतोऽसीत्यर्थः ।

वही यह—हे भुवनमंगल ! तूने हम-उपासकोंके कल्याणके लिए ध्यानमें-निरुपाधिक-निर्विशेष-शुद्धस्वरूप ही प्रकट किया है । सत्य-ज्ञान-अनन्त-अद्वय-निर्विशेष शुद्धस्वरूपमें जिनके चित्त संलग्न हैं, ऐसे हमारे लिए सोपाधिक-अर्वाचीन-साकार स्वरूपका ही दर्शन केवल पर्याप्त नहीं है । इसलिये उस-निर्विशेष-शुद्धस्वरूपभूत-

आप भगवान्‌के प्रति हम नमस्कार करते हैं, अर्थात् अन्य चिन्तनका परित्यागकर उस शुद्धस्वरूपके ही अभिमुख–तन्मयापन्ना प्रज्ञा बनाते हैं। बृहदारण्यक–श्रुति भी कहती है–कि 'अविकृतप्रज्ञा वाला, ब्रह्म होनेकी भावना वाला धीर जन उस प्रत्यगभिन्न-अद्वय-ब्रह्मको यथावत् जान करके-सतत-ब्रह्माकारा प्रज्ञाको बनायें।' (श्रु०)

शंका—यदि मैं परमात्मा ऐसा हूँ तो सभी लोग मुझे विशुद्ध-अद्वय स्वरूपसे क्यों नहीं जानते हैं—क्यों नहीं ध्यान करते हैं, वाणीके द्वारा आदर भी क्यों नहीं करते हैं ?।

समाधान—कहते हैं–असत्–नामरूपात्मक-द्वैत-प्रपञ्चमें जिनका प्रकृष्ट यानी जबरदस्त-संग यानी आसक्ति है, इसलिये जो द्वैतके अभिनिवेशद्वारा नरकसे उपलक्षित भय-शोक-दुःखादिका ही सेवन करते रहते हैं—ऐसे–जनोंके द्वारा मैं पारमार्थिक-अद्वय-स्वरूपसे आदृत नहीं होता हूँ।

योगमाया--वैभवम्।

सत्येवं—योगमायायाः विशुद्धसत्त्वमाश्रित्यैव निर्गुणस्य गुणात्मकत्वं, निराकारस्य साकारात्मकत्वमभ्युपेयते—तदुक्तं-भगवता श्रीमुखेनैव भागवत एकादशे–'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।' (भा०११।१३।४०) तथैव दशमेऽपि—'......भगवान् आत्ममायया। पित्रोः संपश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥' (भा० १०।३।४६) 'तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं, ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम्। वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्वदेकं सपाणि-कवलं परमेष्ठ्यचष्ट॥' (भा० १०।१३।६१)। 'कुन्त्युवाच–नमस्ये पुरुषं त्वाऽऽ-द्यमीश्वरं प्रकृतेः परम्। अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम्॥ मायाजव-निकाच्छन्नमज्ञाऽधोक्षजमव्ययम्। न लक्ष्यसे मूढदृशा नरो नाट्यधरो यथा॥ तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्। भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥' (भा० १।८।१८-१९-२०) 'जन्म कर्म च विश्वात्मन्! अजस्याकर्तु-रात्मनः। तिर्यङ्नृषिषु यादःसु तदत्यन्तविडम्बनम्॥' (भा० १।८।३०) इति

योगमायाका वैभव।

ऐसा वर्णन होजानेपर योगमायाके विशुद्ध-सत्त्वगुणका आश्रय करके ही निर्गुण में गुणात्मकत्व एवं निराकारमें साकारत्व माना जाता है। यह भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें श्रीमुखसे कहा है कि—'मैं परमार्थतः समस्त गुणोंसे रहित हूँ, और किसी की अपेक्षा भी नहीं रखता फिर भी सभी सत्त्वादिगुण मेरा ही भजन' करते हैं' (भा०) उसप्रकार दशमस्कन्धमें भी कहा है—'श्रीभगवान्‌ने अपनी योगमायासे पिता–माताके देखते देखते तुरन्त एक साधारण शिशुका रूप धारण कर लिया।' (भा०) 'ब्रह्माजीने वृन्दावनका दर्शन करनेके बाद देखा कि–अद्वितीय-परब्रह्म

गोपवंशके बालकका-सा नाट्य कर रहा है। एक होने पर भी उसके अनेक-सखा हैं, अनन्त होने पर भी वह इधर उधर घूम रहा है, और उसका ज्ञान अगाध होनेपर भी वह अपने ग्वाल-बाल और बछड़ों को ढूँढ रहा है, ब्रह्माजीने देखा कि—जैसे भगवान् श्रीकृष्ण पहले अपने हाथमें दही भातका कौर (ग्रास) लिये ढूँढ रहे थे, वैसे ही अब भी अकेले ही उनकी खोजमें लगे हैं।' (भा०) 'कुन्तीने कहा—आप समस्त-जीवोंके बाहर और भीतर अखण्ड-एकरस स्थित हैं, फिर भी इन्द्रियोंसे और वृत्तियोंसे देखे नहीं जाते, क्योंकि—आप प्रकृति-मायासे पर-आदि पुरुष-परमेश्वर हैं। मैं आपको नमस्कार करती हूँ। इन्द्रियों से जो कुछ जाना जाता है, उसकी तहमें आप विद्यमान रहते हैं, और अपनी ही मायाके परदेसे अपने-पारमार्थिक-स्वरूपको ढके रहते हैं। मैं अबोध-नारी आप अविनाशी- पुरुषोत्तमको भला कैसे जान सकती हूँ? जैसे मूढलोग, दूसरा भेष धारण किये हुए—नटको प्रत्यक्ष देखकर भी परमार्थतः नहीं पहचान सकते, वैसे ही आप दीखते हुए भी परमार्थरूपसे नहीं दीखते। आप शुद्धहृदयवाले-विचार-शील-जीवन्मुक्त-परमहंसोंके हृदयमें अपनी ज्ञानमयी-भक्तियोगका सर्जन करनेके लिए ही अवतीर्ण हुए हैं, फिर हम अल्प-बुद्धि वाली स्त्रियाँ आपको परमार्थरूपसे कैसे पहचान सकती हैं।' (भा०) 'आप विश्वके आत्मा हैं, विश्वरूप हैं, वस्तुतः आप न जन्म लेते हैं, और न कर्म ही करते हैं। फिर भी पशु-पक्षी, मनुष्य, ऋषि, जलचर आदिमें आप जन्म लेते हैं, और उन-योनियोंके अनुरूप दिव्य कर्म भी करते हैं, यह आपकी योगमाया की आश्चर्यकारी लीला ही तो है।' (भा०)

अयमर्थः-स्वभावतो निर्गुणस्वप्रकाशपरमानन्दघने तत्प्रयोजनराहित्येऽपि परमसौन्दर्यमाधुर्यलावण्यादिकल्याणमयगुणगणाः स्वनिष्ठगुणत्वमहत्त्वकल्याण रूपत्वादिसिद्धिलाभप्रयोजनाय समाश्रिताः सन्तो भगवन्तं सेवन्ते। परमेष्ठी= ब्रह्मा पुरा इव=पूर्ववदेव, ब्रह्म अचष्ट=अपश्यत्। कथं भूतं? पशुपवंशशिशुत्वं =गोपालवंश-शिशुत्वं, तस्य नाट्यं=नटानां कर्म-मिथ्यावेषाभिनयादिलक्षणम्। नाट्यमित्यत्र हेतुः—अद्वयस्य वत्सविचयनम्, एकस्य सखिविचयनम्, अगाध-बोधस्याज्ञवत् विचयनं=अन्वेषणम्। अनन्तस्य परितो विचयनं, परस्य शिशुत्वं, ब्रह्मणः सपाणिकवलत्वञ्च, इत्येवमादिकं योगमायाप्रयुक्तनाट्यं विना कथं समुपपद्येत? व्याघातात्।

यह अर्थ है—स्वभावसे निर्गुण-स्वप्रकाश-परमानन्दघन—परमात्मामें—उसका-अपना प्रयोजन न होने पर भी—आप—परमसौन्दर्य, परममाधुर्य, परमलावण्य आदि कल्याणमय-गुणोंका समुदाय, स्वनिष्ठ-गुणत्व, महत्त्व, कल्याणरूपत्व, आदिकी सिद्धि लाभरूप प्रयोजनके लिये समाश्रित हुए-भगवानूका सेवन करते हैं। नाट्य यानी नटोंका कर्म-मिथ्यावेष मिथ्या-अभिनय आदिरूप। नाट्यमें यह हेतु है-अद्वय यानी द्वय-प्रपञ्च रहितका द्वयभावरूप वत्स-अन्वेषण, एक (अन्यदृष्टिरहित) का अन्यमित्रोंका अन्वेषण।

अपार-ज्ञानरूपका अज्ञकी भांति अन्वेषण। अनन्तका चारों तरफ अन्वेषण। पर-विश्वातीतका शिशुत्व। ब्रह्मका हाथमें ग्रास ग्रहण करना इत्यादि जो नाट्य है, वह योगमायाके प्रयुक्तत्वके विना व्याघात होनेके कारण कैसे उपपन्न (युक्त-संगत) हो सकता है ?।

त्वा=त्वां, नमस्ये=नमस्करोमि। ननु—कनिष्ठं मां कथं नमस्करोषि ? तत्राह—आद्यं पुरुषं, कुतः ? प्रकृतेः परम्। तत्कुतः ईश्वरं=प्रकृतेरपि नियन्तारम्। अत एव सर्वभूतानामन्तर्बहिश्च पूर्णत्वेनावस्थितं, तथाप्यलक्ष्यम्। तत्र हेतुः, मायैव जवनिका=तिरस्करिणी, तयाच्छन्नं-प्रतिच्छन्नम्। अतोऽहमज्ञा= अनभिज्ञा, केवलं नमस्यामि। अधोक्षजं अधः=तिरस्कृतं, अक्षजं=इन्द्रियजं ज्ञानं यस्मात्तम्। अव्ययं=अपरिच्छिन्नम्। ननु—मां साक्षात्पश्यसि, स्तौषि, प्रकृतेः परत्वेन जानासि, तथाप्यहमज्ञाऽस्मीत्यात्मानं किमिति निन्दसीत्यत आह—न लक्ष्यसे इति। नाट्यधरः=गीयमानगीतपदार्थाभिनयरसानुरूपनृत्यतालादि-विशिष्टो नटो मूढदृशा=संगीतशास्त्रानभिज्ञेन 'नटोऽयं गायति नटती' त्येवं दृष्टोऽपि यथा न लक्ष्यते=न ज्ञाततत्त्वो भवति, तथैव मूढदृशा=देहाभिमानिना पुंसा मयाऽपि च दृष्टोऽपि सामान्यतः, पारमार्थिकस्वरूपेण न त्वं लक्ष्यसे।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—हे कुन्तीदेवी ! मैं तो तेरे से छोटा हूँ, तू मुझे क्यों नमस्कार करती है ? उसका उत्तर कुन्ती माता देती है कि—आप, आद्य महान् पुरुष हैं ? कैसे ? आप प्रकृतिसे भी पर हैं, यह कैसे ? आप प्रकृतिके भी नियन्ता ईश्वर हैं। इसलिये सर्वभूतोंके अन्दर एवं बाहर पूर्णरूपसे अवस्थित हैं, तथापि आप अलक्ष्य हैं, उसमें यह हेतु है, माया ही परदा है, उससे छिपे हुए हैं। इसलिये मैं विशेषरूपसे आपके स्वरूपको नहीं जानती हूँ, अतः मैं आपको केवल नमस्कार ही करती हूँ। अधोक्षज यानी इन्द्रिय-जन्य ज्ञान जिससे तिरस्कृत होता है—अर्थात्—जो इन्द्रिय-जन्य ज्ञानका विषय नहीं है। अव्यय यानी परिच्छेद रहित।

शंका—भगवान् कहते हैं—अरी कुन्ती देवी ! तू मुझे साक्षात् देखती है, मेरी स्तुति करती है, प्रकृतिसे भी पररूपसे मुझे जानती है, तथापि कहती है कि—मैं अज्ञानी हूँ, इसप्रकार अपनेसे अपनी निन्दा क्यों करती हैं ?

समाधान—जैसे संगीत शास्त्रके अनभिज्ञ साधारण मनुष्य—द्वारा गीयमान-गीतके पदार्थोंका अभिनय, रसके अनुरूप नृत्य ताल आदि संयुक्त नट 'यह नाच रहा है, गा रहा है' इस प्रकार सामान्यरूपसे दृष्ट होने पर भी विशेषरूपसे लक्षित नहीं होता है, नटके वास्तविक—स्वरूपको नहीं जानता है, तद्वत्—देहाभिमानी-अज्ञानीसे तथा मुझसे भी आप सामान्यरूपसे दृष्ट होने पर भी पारमार्थिक—रूपसे परिलक्षित नहीं होते हैं।

किञ्च परमहंसानां=आत्मानात्मविवेकिनां; ततो मुनीनां=मननशी-

लानां, ततश्चामलात्मनां=निवृत्तरागादीनां आत्मारामाणामप्यचिन्त्यनिजगुणैराकृष्य भक्तियोगविधानार्थं त्वं साकारदिव्यविग्रहरूपेणावतीर्णोऽसि, एवंभूतं त्वां वयं स्त्रियः कथं परमार्थतः पश्येम ?। ते=तव, अजस्य जन्म, अकर्तुः कर्म, तिर्यक्षु वराहादिरूपेण, नृषु रामादिरूपेण, ऋषिषु वामनादिरूपेण, यादस्सु मत्स्यादिरूपेण । दिव्यजन्मकर्मणां पारमार्थिकसत्यत्वेऽजत्वाकर्तृत्वयोरसंगतिः स्यात्, अतस्तज्जन्मकर्मादिकं अत्यन्तविडम्बनं=अतर्क्ययोगमायाचेतश्चमत्कृतवैभवमेव वेदितव्यम् । 'मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य ।' (भा० ११।३१।११) इति श्रीमद्भागवतेऽन्यत्र स्मरणात् । मायया अनुकरणमात्रमवेहि, नटो यथाऽविकृत एव नानारूपैर्जन्मादीन् विडम्बयति=अनुकरोति मिथ्याभूतान् तान् परेभ्यो दर्शयति, तद्वत् ।

परमहंस यानी आत्मा एवं अनात्माके विवेकी, मुनि यानी मननशील, अमलात्मा यानी रागादिमल रहित—ऐसे आत्मारामोंको भी अपने अचिन्त्य गुणोंके द्वारा आकृष्ट करके—उनमें भी भक्तियोगकी स्थापनाके लिए तू दिव्य—साकार-विग्रहरूपसे अवतीर्ण हुआ है । ऐसे आपको हम स्त्रियाँ परमार्थरूपसे कैसे अपरोक्षतः जान सकती हैं ?। तुझ अजन्माका जन्म, अकर्ता का कर्म, एवं तिर्यक्—योनियों में वराहादिरूपसे मनुष्योंमें रामादिरूपसे, ऋषियोंमें वामनादिरूपसे, जलचरोंमें मत्स्यादिरूपसे जो तेरा अवतार है, वह सब योगमायाका वैभव है । तेरे साकार-विग्रहके दिव्य-जन्म एवं कर्मोंको पारमार्थिक-सत्य मानने पर तो तेरेमें विद्यमान—अजत्व एवं अकर्तृत्वकी असंगति होजाती है, इसलिये वह जन्मकर्मादि, अत्यन्त--विडम्बनरूप है, अर्थात् अतर्क्य—योगमायाका चित्तको चमत्कृत (आश्चर्यमुग्ध) करनेवाला महत्त्व है—सामर्थ्य है, ऐसा समझना चाहिये । श्रीमद्भागवतके अन्य-स्कन्धमें भी ऐसा ही स्मृत हुआ है--कि—'जैसे ऐन्द्रजालिक नट अनेक—प्रकारके जन्म--मरणादि--दृश्योंको दिखाता है, परन्तु रहता है—वह इन सबसे निर्लेप । वैसेही भगवान् भी मायाके द्वारा जन्म-मरणादिका अनुकरणमात्र करते हैं । नटके समान मिथ्या ही जन्म-मरणादिका अन्योंके प्रति प्रदर्शन करते हैं । यह सब प्रदर्शन, अविकृत—परमात्माका माया-विडम्बन मात्र है ।' (भा०)

विरोध—निवारकं—सत्तावैषम्यम् ।

सत्येवं निर्गुणस्य गुणात्मकत्वं, निराकारस्य च साकारात्मकत्वञ्च पारमार्थिकसत्तातः किञ्चिन्न्यूनसत्ताकत्वरूपव्यावहारिकत्वलक्षणं वेदितव्यम् । यतः समसत्ताकयोर्निर्गुणत्वसगुणत्वयो र्निराकारत्वसाकारत्वयोरस्ति विरोधः, रजतरजताभावयोरिव । अतस्तद्विरोधपरिहारार्थं तयोर्विषमसत्ताकत्वमेवाभ्युपेयम् । अतो भगवति निर्गुणत्व-सगुणत्वादि—विरुद्धधर्माणामपि सम-

न्वयो विषमसत्तामेवादाय वेदितव्यो न समसत्तामभ्युपगम्य। तथा—च-'कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनम्। कालात्मनो यत्प्रमदाऽयुताश्रयः स्वात्मन्रतेः खिद्यति धीर्विदामिह ॥' (भा०३।४।१६) इत्यादिवचनेष्वपि—एतादृश एव समन्वयो वेदितव्यः।

विरोध–निवारक–सत्ता वैषम्य ।

ऐसा विवेचन होजाने पर–निर्गुणका गुणात्मकत्व एवं निराकारका साकारात्मकत्व, पारमार्थिक–सत्तासे कुछ न्यून-सत्तावाला व्यावहारिकत्वरूप ही है, ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि–एक ही वस्तुमें समान–सत्तारूपसे निर्गुणत्व एवं सगुणत्व तथा निराकारत्व एवं साकारत्व विरुद्ध होनेके कारण नहीं रह सकते, जैसे एक ही शुक्तिमें समानसत्तारूपसे रजत एवं रजताभाव नहीं रह सकते। इसलिये उस-विरोधके परिहार के लिए निर्गुणत्वसगुणत्वादिमें विषमसत्ता ही माननी चाहिये, अर्थात् निर्गुणत्वादि की पारमार्थिकी सत्ता एवं सगुणत्वादिकी व्यावहारिकी सत्ता मानने पर दोनों ही एकस्थलमें रह सकते हैं—जैसे शुक्तिमें व्यावहारिकी–सत्तावाला रजताभाव रहता है। वहाँ प्रातिभासिकसत्तावाला रजत रह सकता है, वैसे परब्रह्ममें परमार्थतः निर्गुणत्वादि रहते हैं—वहाँ व्यवहारतः सगुणत्वादिके रहनेमें कुछ भी विरोध नहीं माना जाता। इसलिये भगवान्में वर्तमान–निर्गुणत्वसगुणत्वादि विरुद्ध--धर्मोंका समन्वय दोनोंकी विषमसत्ता मान करके ही समझना चाहिये, समानसत्ता मानकर नहीं। तथा च-'हे प्रभो ! आप परमार्थतः निश्चेष्ट होकर भी विविधकर्म करते रहते हैं, अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं, कालात्मा (कालका अधिष्ठाता) होकर भी शत्रुके भयसे भागते हैं, और द्वारकाके किलेमें जाकर छिपे रहते हैं, तथा स्वात्माराम होकर भी सोलह हजार स्त्रियोंके साथ रमण करते हैं, इन विरुद्ध–धर्मयुक्त–विचित्र-चरित्रोंको देखकर सामान्य-विद्वानोंकी भी बुद्धि चक्करमें पड जाती है।' (भा०) इत्यादिवचनोंमें भी पूर्वोक्त प्रकारका समन्वय समझना चाहिये।

अयमर्थः—भगवतो विरुद्धधर्मप्रयुक्ताघटमानाचरणं दर्शयति-अनीहस्य=निःस्पृहस्य निष्क्रियस्य वा कर्माणि। अभवस्य=अजन्मनो भवो=जन्म। कालात्मनः=कालाधिष्ठानस्य महाकालस्य तवारिभयाद्दुर्गाश्रयः पलायनञ्च। स्वात्मन्येव रतिर्यस्य तस्य स्वात्मारामस्य बह्वीभिः प्रमदाभिर्गृहस्थाश्रम इति, यदिह=अस्मिन् संसारे विदां-केवलशास्त्रज्ञानामपि धीः विरोधप्रयोजितेन संशयेन खिद्यति। न त्वपरोक्षतत्त्वदृशाम्। ते तु निष्क्रियत्वाजत्वकालात्मत्वात्मारामत्वादीनामेव पारमार्थिकसत्यत्वं, सक्रियत्वजन्मवत्त्वभीरुत्व–गृहस्थाश्रमत्वादीनामौपाधिकधर्माणां मायाविडम्बनमात्रत्वञ्च विजानानाः खेद-शून्या एवावतिष्ठन्ते। तेषामपि सखेदत्वाभ्युपगमे तत्त्वदर्शननैष्फल्यापत्तेः, 'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' (मुं० उ० २।२।८।भा० १।२।२१) 'तस्मिन् दृष्टे परावरे'

(मुं० उ० २।२।८) 'दृष्ट एवात्मनीश्वरे' (भा० १।३।२१) इति श्रुतिभागवतवचनविरोधापत्तेश्च ।

यह अर्थ है—भगवान्का विरुद्धधर्म-प्रयुक्त-अघटमान (असंभवित) आचरण दिखाते हैं—अनीह यानी निःस्पृह या निष्क्रिय, उसके कर्म । अभव यानी अजन्माका जन्म । कालात्मा यानी कालाधिष्ठानमहाकालरूप-आपका शत्रुके भयसे किलाका आश्रय तथा भग जाना । अपने आत्मामें ही जिसकी रति है, ऐसे आत्मारामका बहुत ही-सुन्दर-नारियोंके द्वारा होनेवाला गृहस्थाश्रम, ऐसा आपका विरुद्ध-विचित्र-चरित्र, इस संसारमें केवल—शास्त्रज्ञोंकी बुद्धिको विरोध प्रयोजित-संशयके द्वारा खिन्न बना डालता है । अपरोक्ष-तत्त्वदर्शियोंकी बुद्धिको नहीं । वे तो निष्क्रियत्व, अजत्व, कालात्मत्व, आत्मारामत्व आदि स्वरूपभूत धर्मोंको पारमार्थिक-सत्य, और सक्रियत्व, जन्मवत्त्व, भीरुत्व, गृहस्थाश्रमत्व, आदि—औपाधिक धर्मोंको मायाका विडम्बनमात्र (व्यावहारिक सत्ता वाला ही) जानते हुए—खेदशून्य ही होकर रहते हैं । इन तत्त्वदर्शियोंमें भी सखेदत्व माननेपर तो तत्त्वदर्शनकी निष्फलता होजाती है, और 'समस्त संशय विच्छिन्न होजाते हैं' (श्रु० भा०) 'उस परावर—ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर' (श्रु०) 'आत्मस्वरूपभूत-ईश्वरका साक्षात्कार होने पर' (भा०) इस श्रुति एवं भागवतवचनके साथ विरोधकी प्राप्ति होती है ।

न च गोवर्धनोद्धरणादीनि कर्माणि भगवता स्वस्वरूपेणैव कृतानि सन्ति, एवं जन्मादिकमपि—अप्राकृतस्वरूपभूतमेवास्तीति वयमभ्युपगच्छाम इति वाच्यम् । स्वस्वरूपस्य निष्क्रियत्वादजत्वाच्च जन्मकर्मादेर्दिव्यत्वेऽपि (अलौकिकत्वेऽपि) अप्राकृतस्वस्वरूपभूतत्वं कथमपि न सिद्ध्यति । 'संभवाम्यात्ममायया' (गी० ४।६) 'देहीवाभाति मायया' (भा०१०।१४।५५) इत्यादिशतसहस्रवचनविरोधात्, शब्दप्रयोगवञ्चनामात्रमेतदिति । ननु-सक्रियत्वादीन्यनुकरणमात्राण्येव न तु परमार्थसत्यानीति ज्ञाने कुतः खेद इति चेन्मैवम् । आपातदर्शिनां विदुषां तथाज्ञानाभावात् तेषां धीः निष्क्रियत्वसक्रियत्वादिषु विरोधप्रयोजिकां समसत्तामभ्युपगम्य खिद्यत्येव । तथा च निष्क्रियनिर्विशेषस्वरूपमेव परं ब्रह्म, सविशेषसक्रियो भगवान् इति निरुपाधिकसोपाधिक स्वरूपभेदाभ्युपगमेन विरोधनिवारिकाया व्यवस्थायाः ज्ञाने सति तेषामपि खेदो दूरत एवापगच्छेत् । तस्मादत्र ब्रह्मत्व-भगवत्त्वाभ्यामेवाक्रियत्व-सक्रियत्वादिव्यवस्थामभ्युपगम्यमाना अखिद्यद्बुद्धय एव तत्त्वदर्शिन इति ध्वन्यते । न च परमात्मनि तादृशं स्वरूपद्वयं नास्तीति वाच्यम् । श्रुत्यादिषु सर्वेषु शास्त्रेषु स्वरूपद्वयस्य शतसहस्रवचनैः प्रतिपादितत्वात् ।

शंका—गोवर्धनोद्धरण आदि कर्म भगवान्ने अपने स्वस्वरूपसे ही (योगमायाकी शक्तिसे नहीं) किये हैं, इसप्रकार भगवान्के जन्म आदि भी अप्राकृत-स्वस्वरूपभूत

ही हैं (मायोद्भासित नहीं) ऐसा हम मानते हैं।

समाधान—स्वस्वरूप तो निष्क्रिय एवं जन्मरहित है, इसलिये भगवान्के जन्मकर्मादिमें दिव्यता-अलौकिकता होनेपर भी अप्राकृत—(प्रकृति-योगमायासे अप्रयोजित) स्वस्वरूपभूतत्व किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होसकता है। 'मैं अपनी योगमाया द्वारा प्रकट होता हूँ—जन्मवान्-सा प्रतीत होता हूँ।' (गी०) 'योगमाया द्वारा वह भगवान् देहधारीके समान जान पड़ता है।' (भा०) इत्यादि-सैंकड़ों एवं हजारों वचनोंके साथ विरोध होनेके कारण—उन्हें—'अप्राकृतस्वरूपभूत' कहना केवल-शब्द-प्रयोगकी वञ्चनामात्र है।

शंका—सक्रियत्वादि अनुकरणमात्र ही हैं, परमार्थसत्य नहीं है, ऐसा ज्ञान होनेपर उन्हें खेद कैसे हो सकता है ?।

समाधान—उन—आपात-दर्शी-विद्वानोंको ऐसा ज्ञान नहीं है, इसलिये उन्होंकी बुद्धि निष्क्रियत्व-सक्रियत्वादिमें विरोध—प्रयोजिका-समसत्ता मानकर खिन्न होजाती ही है। तथा च निष्क्रिय—निर्विशेष स्वरूपवाला परब्रह्म है, एवं सविशेष-सक्रिय भगवान् है, इसप्रकार निरुपाधिक-स्वरूपका एवं सोपाधिक-स्वरूपका भेद माननेपर विरोध निवारिका व्यवस्थाका ज्ञान होजानेपर उनका भी खेद दूर ही भाग जा सकता है। इसलिये यहाँ ब्रह्मत्व एवं भगवत्त्वके द्वारा अक्रियत्व—सक्रियत्वादिव्यवस्था मानने वाले तत्त्वदर्शी ही खेदरहित-बुद्धिवाले हैं, ऐसा ध्वनित होता है।

शंका—परमात्मामें ऐसा स्वरूप द्वय नहीं है।

समाधान—श्रुत्यादि—समस्त शास्त्रोंमें सैंकड़ों एवं हजारों वचनोंके द्वारा स्वरूप द्वयका प्रतिपादन किया है।

उपासनादार्ढ्य-प्रयोजकम्।

सत्येवं—एकस्याद्वयस्य 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ०६।४७।१८) इति श्रुतिबोधितो बहुभावः, 'अजायमानो बहुधा विजायते' (शु० य० ३१।१६) इति श्रुतिज्ञापितमजस्य जायमानत्वं 'संभवाम्यात्ममायया' (गी० ४।६) इति श्रीमुखबोधितञ्च निराकारस्य साकारत्वं, अचिन्त्यानिर्वाच्यमायाशक्त्यैवास्तीति युक्तं वयमुत्पश्यामः। तथापि यथा पार्थिवत्वाविशेषेऽपि लोष्टहीरकयोः अस्ति महद्वैलक्षण्यम्। तथैव व्यावहारिकत्वाविशेषेऽपि तमोमयीमायोद्भासित—लौकिक भौतिक-सगुणसाकारान्यपदार्थापेक्षया विशुद्धाह्लादमयसत्त्वविशिष्टमायोद्भासिते भगवदीये सगुणसाकारविग्रहे—अनन्तसौन्दर्यमाधुर्यकारुण्यमार्दवादिगुणगण-शालित्व—अष्टसिद्ध्यादिनिधानत्व—समग्रैश्वर्यधर्मयशःप्रभृतिभगवैशिष्ट्य-लक्षणं महद्वैलक्षण्यं तस्योपासनाभक्ति-दार्ढ्यायाभ्युपगम्यते।

उपासनाकी दृढताका प्रयोजक।

ऐसा विवेचन होजाने पर—'इन्द्र-परमात्मा अपनी माया-शक्तियोंके द्वारा

बहुरूप हुआ प्रतीत होता है ।' (श्रु०) इस श्रुतिमें बोधित-एक-अद्वयका बहुभाव (अनेकरूपता) 'अजायमान-परमात्मा बहु-प्रकारसे जायमान होता है' (श्रु०) इस श्रुति ज्ञापित—अजका जायमानत्व, और 'मैं अपनी माया द्वारा निराकारसे साकार हो कर प्रकट होता हूँ' (गी०) इस श्रीमुख--बोधित-निराकारका साकारत्व, अचिन्त्य, अनिर्वाच्य-मायाशक्तिके द्वारा ही होता है, ऐसा हम ठीक-ठीक-प्रामाणिकरूपसे मानते हैं। तथापि जैसे पार्थिवत्व (पृथिवी-कार्यत्व) समानरूपसे रहने पर भी लोष्ट (मिट्टीका ढेला) और हीरामें महान् वैलक्षण्य है, वैसे ही व्यावहारिकसत्तावत्त्व समानरूपसे रहनेपर भी तमोमयी मायासे उद्भासित-लोक-सिद्ध-भौतिक (भूतनिर्मित्त) सगुण-साकार अन्यपदार्थोंकी अपेक्षा विशुद्ध-आह्लादमय-सत्त्वगुणविशिष्ट-मायासे उद्भासित-भगवान्के सगुण साकार विग्रहमें अनन्त-सौन्दर्य—अनन्त—माधुर्य—अनन्तकारुण्य—अनन्त—मार्दव (कोमलता) आदिगुण-गणशालित्व, अष्ट—सिद्धि आदिका निधित्व, एवं समग्र-ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र—यशः आदि षड्विध भगवैशिष्ट्य (सम्बन्ध) लक्षण-महान् वैलक्षण्य, उस—सगुणसाकार विग्रहकी उपासना-भक्तिकी दृढताके लिये हम मानते हैं।

आचार्य-मधुसूदन-स्वामिनः संमतिः ।

अपि च—यद्यपि यथाऽस्वच्छमेघादियोगेन सवितृस्वरूपमाच्छाद्यते, तथापि परमविशुद्धदूरवीक्षणकाचादियोगेन सवितृस्वरूपं न नाच्छाद्यत इत्येव किन्तु पूर्वापेक्षयाऽप्याधिक्येन प्रस्फुरति। एवमचिन्त्ययोगमायाविशुद्धसत्त्वेन परमसच्चिदानन्दतत्त्वमनावृत्तं सद् महामहिमसौन्दर्यादिविशिष्टदिव्यविग्रहात्मनाऽपि प्रतिभाति ज्ञानिनां भक्तानाम्। सति चैवं—आचार्यमधुसूदनस्वामिभिरपि—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।' (गी० ४।६) इत्यस्य पद्यस्यायमप्यर्थ इत्थं निरूपितः कस्यचित्पक्षान्तरस्य स्वसंमत्या; तथाहि—प्रकृतिं = स्वभावं-सच्चिदानन्दघनैकरसम्। मायां व्यावर्तयति—स्वां = निजस्वरूपमित्यर्थः। 'स भगवः! कस्मिन् प्रतिष्ठितः ? स्वे महिम्नि' (छां० उ० ७।२४।१) इति श्रुतेः। स्वस्वरूपमधिष्ठाय स्वरूपावस्थित एव सन् संभवामि= देहदेहिभावमन्तरेणैव देहिवद्व्यवहरामि।

आचार्य-मधुसूदन स्वामीकी संमति ।

और भी—यद्यपि-जैसे अस्वच्छ—मेघादिके सम्बन्धसे सूर्यका बिम्ब आच्छादित होता है, तथापि—परम विशुद्ध दूरवीक्षण (दूरबीन) काच आदिके सम्बन्धसे सूर्यका बिम्बस्वरूप आच्छादित नहीं होता है, इतना ही नहीं, किन्तु प्रथमकी अपेक्षा अधिकरूपसे प्रस्फुरित होता है। इसप्रकार अचिन्त्य-योगमायाके विशुद्ध—सत्त्वगुणके द्वारा पारमार्थिक—जो सच्चिदानन्द स्वरूप है—वह—अनावृत्त हुआ—महामहिमाशाली-

सौन्दर्यादिविशिष्ट-दिव्य-विग्रहरूपसे भी ज्ञानवान्—भक्तोंको प्रतिभासित होता है। ऐसा निर्णय होजाने पर आचार्य मधुसूदन स्वामीने भी—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।' इस गीताके पद्यका यह भी अर्थ-अन्य किसी पक्ष की स्वसंमति द्वारा-इसप्रकार निरूपण किया है। जैसे-प्रकृति यानी स्वभाव, जो सच्चिदानन्दघन-एकरस है। मायाकी व्यावृत्ति करते हैं—स्वां यानी निजस्वरूप। अत एव छांदोग्य श्रुति भी प्रश्न-उत्तररूपसे कहती है कि—हे भगवन्! वह परमात्मा किसमें प्रतिष्ठित है? अपनी महिमामें।' (श्रु०) अर्थात् मैं परमात्मा स्वस्वरूपको ही अधिष्ठित करके स्वस्वरूपमें ही अवस्थित हुआ संभवामि यानी देह-देही भावके बिना ही देहवान्की तरह व्यवहार करता हूँ।

कथं तर्हि—अदेहे-सच्चिदानन्दघने देहत्वप्रतीतिरत आह—आत्ममाययेति। निर्गुणे शुद्धे सच्चिदानन्दैकरसघने मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपेण प्रतीतिर्मायामात्रमित्यर्थः। तदुक्तं-'अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्। यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥' (भा० १०।१४।३२) 'देहीवाभाति मायया' (भा०) इति। केचित्तु—नित्यस्य निरवयवस्य निर्विकारस्यापि परमानन्दस्यावयवावयविभावं वास्तवमेवेच्छन्ति, ते—'निर्युक्तिकं ब्रुवाणस्तु नास्माभिर्विनिवार्यते।' इति न्यायेन नापवाद्याः।

शंका-तब देहरहित—निराकार—सच्चिदानन्दघन—परमात्मामें देहत्वकी प्रतीति कैसे होती है?।

समाधान-अपनी मायासे। देह-देही भावसे रहित-निराकार-निर्गुण-शुद्ध-सच्चिदानन्दैकरसघन-मुझ भगवान्-वासुदेवमें देहरूपसे प्रतीति मायामात्र है अर्थात् मायाप्रयोजित है। यह श्रीमद्भागवतमें कहा भी है-'अहो! नन्द आदि व्रजवासी-गोपोंके धन्य भाग्य हैं, वास्तवमें उनका अहोभाग्य है, क्योंकि-परमानन्दस्वरूप-सनातन-परिपूर्ण ब्रह्म, उनके मित्र यानी-हितकारी-सम्बन्धी सुहृद् है।' (भा०) 'योगमायासे वह परमात्मा देहवान् की भाँति प्रतीत होरहा है।' (भा०) कुछ मतवादी तो-नित्य-निरवयव निर्विकार—परमानन्दस्वरूप—परमात्मामें अवयव—अवयविभाव—वास्तविक ही है, ऐसा जबरदस्तीसे मानना चाहते हैं-'जो व्यक्ति-युक्ति एवं प्रमाणशून्य बोलता है, उसे हम नहीं हटाते हैं' इस न्यायसे-उनका हम भी अपवाद नहीं करते हैं। अर्थात वे दयनीय हैं, जो मनगढन्त बातें बनाते हैं।

दिव्यविग्रहावच्छेदेन चतुर्मुखस्यापि पारमार्थिकतत्त्वदर्शनं जातम्।

अतएव श्रीकृष्णपरीक्षावेलायां चतुर्मुखो ब्रह्मा स्वस्वरूपेण भगवतोद्भासितान् वत्सपालादीन् इत्थमपश्यत्—'तावत्सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्। व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥ चतुर्भुजाः शंखचक्रग-

द्राराजीवपाणयः । किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः ॥ श्रीवत्साङ्गद-द्वोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः । नूपुरैः कटकैः—भाताः कटिसूत्राङ्गुलीयकैः ॥' (भा० १०।१३।४६–४७–४८) इति । एवं भूता अपि ते वस्तुतः सच्चिदानन्द-स्वरूपा एव सन्तीति तेन भगवत्कृपया तेषां पारमार्थिकस्वरूपस्यापि तद्दिव्य साकारविग्रहावच्छेदेन यथार्थं दर्शनं समुपलब्धम् । तथाहि–'सत्यज्ञानानन्ता-नन्दमात्रैकरसमूर्तयः । अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥ एवं सकृद् ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान् । यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥' (भा० १०।१३।५४–५५) इति ।

दिव्यविग्रहोंके द्वारा चतुर्मुख-ब्रह्माजीको भी पारमार्थिक-स्वरूपका दर्शन हुआ था ।

इसलिये श्रीकृष्णकी परीक्षाके समय चतुर्मुख–ब्रह्माने स्वस्वरूपसे भगवान्‌के द्वारा समुद्भासित–वत्सपालादियोंका इसप्रकार दर्शन किया–'ब्रह्माजीके देखते-देखते ही उसी क्षण सभी ग्वाल-बाल और बछड़े श्रीकृष्णके रूपमें दिखायी पड़ने लगे । सबके सब सजल-जलधरके समान श्यामसुन्दरवर्ण, पीताम्बरधारी, शंख, चक्र, गदा और पद्मसे युक्त–चतुर्भुज, सबके सिर पर मुकुट, कानोंमें कुण्डल, और कण्ठोंमें मनोहर–हार तथा वनमालाएँ शोभयमान हो रहीं थीं । उनके वक्ष-स्थलपर सुवर्णकी सुनहरी रेखा–श्रीवत्स, बाहुओंमें बाजूबन्द कलाइयोंमें शङ्खाकार रत्नोंके जड़े कंकन, चरणोंमें नूपुर और कड़े, कमरमें करधनी तथा अंगुलियोंमें अँगूठियाँ जगमगा रही थीं ।' (भा०) इसप्रकार वे दिव्य-साकारविग्रहधारी होनेपर भी वस्तुतः सच्चिदानन्द-स्वरूप ही हैं, ऐसा उस ब्रह्माजीको भगवान्‌की कृपासे उनके पारमार्थिक स्वरूपका यथार्थ दर्शन, उनके दिव्य-साकारविग्रहोंके द्वारा–उपलब्ध हुआ था । जैसे–ब्रह्माजीने यह भी देखा कि—वे सभी कालत्रयके द्वारा, देशविशेषोंके द्वारा एवं अन्याऽन्य–वस्तुओंके द्वारा सीमित–परिच्छिन्न नहीं हैं, त्रिकालाबाधित सत्यरूप हैं, स्वयंप्रकाश चैतन्य ज्योतिः स्वरूप हैं, और केवल–विभु-अनन्त-आनन्द स्वरूप हैं, उनमें किसी भी प्रकारका सजातीयादि-भेदभाव नहीं है, वे सबके सब अखण्डैकरस हैं, यहाँ तक कि—भक्ति शून्य–उपनिषत्तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टि भी उनकी अनन्त–महिमाका स्पर्श नहीं कर सकतीं । उसप्रकार ब्रह्माजीने एक साथ ही देखा–कि–वे सबके सब उन परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण के ही स्वरूप हैं, जिनके प्रकाशसे यह निखिल—चराचर जगत् प्रकाशित हो रहा है ।' (भा०) इति ।

अयमर्थः—वत्सपालाः=वत्साः पालाश्च, सर्वे-यष्टि—विषाणादयः । सर्वेषां भगवत्साकारदिव्यमूर्तिमत्त्वेऽपि तदवच्छेदेनानुभूयमानं पारमार्थिक-स्वरूपमाह–सत्यज्ञानेति । सत्याश्च ज्ञानरूपाश्चानन्ताश्चानन्दरूपाश्च तत्रापि तदेकमात्राः=सजातीयादिभेदरहितास्तत्रापि चैकरसाः सदैकरूपा मूर्तयो येषां ते । यद्वा सत्यज्ञानादिमात्रैकरसं सद् ब्रह्म, तदेव मूर्तयो येषां त इति । अत

एवोपनिषदात्मज्ञानं, सैव भक्तिरहिता दृक्=चक्षुर्येषां तेषामपि हि=निश्चितं, अस्पृष्टभूरिमाहात्म्याः=न स्पृष्टं-स्पर्शयोग्यं भूरि माहात्म्यं येषां ते तथाभूताः सन्तो व्यदृश्यन्तेति। एवं सकृद्=एकदैव ददर्श।

इनका अनुवाद अनपेक्षित है—मूलश्लोकोंमें इनका भावार्थ आगया है।

शंका-समाधानम्।

ननु—अस्माभि—र्भगवतः साकारविग्रहस्य मायामयत्वं नाङ्गीक्रियते, किन्तु चिदानन्दमयत्वमेवाभ्युपगम्यते, तथा च नास्ति भगवद्विग्रहो भौतिको मायिकः प्राकृतिको वाऽपि तु सच्चिदानन्दमय एव। इति चेत्-बाढम्। तथापि तत्रापरिच्छिन्ने चिदानन्दमये परिच्छिन्नत्वस्य, निराकारे साकारत्वस्य, अनङ्गे हस्तपाद्याद्यङ्गवत्त्वस्य, अदेहे देहवत्त्वस्य, निष्क्रिये क्रियावत्त्वस्य, अरूपे दिव्यरूपवत्त्वस्य च भाने किमपि प्रयोजकं वक्तव्यम्। तच्छास्त्रप्रामाण्यानुरोधेन योगमायावैभवमेवान्ततोऽभ्युपेयम्। तदेव च मायोद्भासितत्वमस्माभिरप्यभिधीयते, तथाच नास्ति किमपि विवादविरोधप्रयोजकमनुपपन्नं नाम। तदेतत्-श्रीमद्भागवतेष्वपि स्पष्टतोऽभिहितम्—'विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानैः, मायागुणैरनुयुगं विगृहीतदेहाः। ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोऽस्म्यहं वः॥' (भा० ४।१।२७) 'दृष्ट्वाऽदितिस्तं निजगर्भसंभवं, परं पुमांसं मुदमाप विस्मिता। गृहीतदेहं निजयोगमायया, प्रजापतिश्चाह जयेति विस्मितः॥ यत् तद्वपुर्भाति विभूषणायुधैरव्यक्तचिद् व्यक्तमधारयद् हरिः। बभूव तेनैव स वामनो वटुः संपश्यतो दिव्यगतिर्यथा नटः॥' (भा० ८।१८।११-१२) इति। अनुयुगं=कल्पे कल्पे विभज्य गृहीतो देहो=दिव्यसाकारविग्रहो यैस्ते प्रसिद्धाः—ब्रह्मविष्णुगिरिशाः यूयम्, वः=युष्मान् प्रणतोऽस्मि।

शंकाका समाधान।

शंका—हम भगवान्के साकार-विग्रहको मायामय नहीं मानते हैं, किन्तु चिदानन्दमय ही मानते हैं, इसलिये भगवान्का विग्रह भौतिक भी नहीं है, मायिक (माया प्रकटित) भी नहीं है एवं प्राकृतिक (प्रकृतिका परिणामरूप) भी नहीं है, अपितु सच्चिदानन्दमय ही है।

समाधान—तुम्हारा कहना भी ठीक है, तथापि हम पूछते हैं कि—उस चिदानन्दमय—अपरिच्छिन्न-ब्रह्ममें परिच्छिन्नत्वका भान क्यों होता है ?, निराकारमें साकारत्वका भान, अंगरहितमें हस्त-पादादि-अंगोंका भान, देहरहितमें देहवत्ताका भान, निष्क्रियमें क्रियाका भान, तथा रूप-रहितमें दिव्यरूपका भान, क्यों होता है ? उसका प्रयोजक-कारण कुछ बतलाना होगा। अन्तमें शास्त्रोंके प्रामाणिक-वचनोंके अनुसार भगवान् की योगमायाका वैभव (सामर्थ्य) ही मानना होगा। इसे ही हम मायासे उद्भासितत्व कहते हैं, तथा च विवाद एवं विरोधका प्रयोजक अनुपपन्न कुछ

भी नहीं रहा । यही बात श्रीमद्भागवतके अनेकों स्थलोंपर स्पष्ट कही है—जैसे 'अत्रि मुनिने कहा—हे भगवन् ! प्रत्येक कल्पके आरम्भमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, और लय के लिये जो मायाके सत्त्वादि—तीनों गुणोंका विभाग करके भिन्न-भिन्न दिव्य-साकार विग्रहोंको धारण करते हैं—वे ब्रह्मा विष्णु और महादेव आप ही हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ ।' (भा०) 'जब अदिति—माताने अपने गर्भसे प्रकट हुए—परम पुरुष—परमात्मा को देखा, तो वह अत्यन्त आश्चर्य-चकित और परमानन्दित होगयी । प्रजापति कश्यपजी भी भगवान्को अपनी योगमायासे दिव्य-शरीर धारण किये हुए देख विस्मित होगये और कहने लगे—'जय हो ! जय हो !' । हे परीक्षित् श्रीभगवान् स्वयं अव्यक्त एवं चैतन्यस्वरूप हैं, उन्होंने जो परम कान्तिमय—आभूषण एवं आयुधोंसे युक्त—वह दिव्य—व्यक्त—शरीर ग्रहण किया था, उसी शरीरसे कश्यप और अदितिके देखते देखते वामन—ब्रह्मचारीका रूप धारण कर लिया—ठीक वैसे ही, जैसे नट अपना वेष बदल ले, क्यों न हो, भगवान् की लीला तो अद्भुत है ही ।' (भा०)

श्रीमद्भागवते के भागवता वैष्णवाः सन्ति ? ।

श्रीमद्भागवत एकादशे द्वितीयाध्याये विशिष्टगुणयोगेनैव भागवतत्वं वैष्णवत्वञ्च स्पष्टं निरूप्यते, नामुकसंप्रदायस्य तत्तद्बाह्यतिलकादिमात्रधारणेन, न वाऽमुकविशिष्टजातिकुलादिनिबन्धनेन । ते च विशिष्टगुणास्तत्रैव द्रष्टव्याः । तथा च भगवतो विष्णोरिमे भक्ता भागवता वैष्णवा इति व्युत्पत्तियोगमनुसृत्य सर्वेऽपि भगवदनुरागिणो जनाः देशजातिसंप्रदायादिभेदं विहाय-वैष्णवा भवितुमर्हन्ति । अतएव चतुर्थाश्रमिणः संन्यासिनोऽपि तादृशगुणयोगेन भगवद्विष्णुप्रियतया च भागवता वैष्णवा एव वेदितव्याः । तथा चोक्तं—श्रीमद्भागवते नवमेऽपि—'भगीरथ उवाच--साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः । हरन्त्यघं तेऽङ्गसंगात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥' (भा० ६।६।६) इति ।

श्रीमद्भागवतमें भगवान्के प्रिय वैष्णव कौन हैं ? ।

श्रीमद्भागवतके एकादश—स्कन्धके द्वितीय—अध्यायमें विशिष्ट—गुणोंके सम्बन्ध से ही भगवत्प्रियत्व एवं वैष्णवत्वका स्पष्ट निरूपण किया है, अमुक संप्रदायके उस-उस- बाहरके तिलकादिके धारण द्वारा तथा अमुक विशिष्ट—जाति एवं कुल आदिके सम्बन्ध द्वारा भागवतत्व एवं वैष्णवत्वका निरूपण कहीं भी नहीं किया गया है । वे विशिष्ट—गुण कौन कौन हैं ? उन्हें वहां ही देखने चाहिये । तथा च भगवान्-विष्णुके ये जो भक्त हैं, वे ही भागवत—वैष्णव हैं, ऐसी व्युत्पत्तिके योगका अनुसरण करके देशभेद, जातिभेद, संप्रदायभेद आदि भेदोंका परित्याग करके सभी ही भगवान्के अनुरागी जन भागवत-वैष्णव होनेके लिए योग्य हैं । इसलिये चतुर्थाश्रमी संन्यासी

भी—उसप्रकारके गुणोंके योगसे, एवं भगवान्-विष्णुके प्रिय होनेके कारण या जिन्हें भगवान्—विष्णु प्रिय हैं, इसकारणसे भी—भागवत—वैष्णव हैं, ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार ही श्रीमद्भागवतके नवम-स्कन्धमें भी कहा है कि—'भगीरथ राजाने कहा-हे गंगामाता! जो साधु संन्यासी हैं—अर्थात् जिन्होंने लोक—परलोक, धन-सम्पत्ति, और स्त्री—पुत्र की कामनाका परित्याग कर दिया है, जो संसारसे उपरत होकर-राग-द्वेष छोड़कर शान्त बने हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं, और लोकोंको पवित्र करने वाले-परोपकारी सज्जन हैं—वे अपने अंगस्पर्शसे तुम्हारे पापोंको नष्ट कर देंगे। क्योंकि-उन साधु-संन्यासियोंके हृदयमें अघ (पाप) रूप—अघासुरको मारने वाले भगवान् श्रीहरि सर्वदा निवास करते हैं।' (भा०)

अयमर्थः—आह गंगा भगीरथं राजानं प्रति—'किञ्चाहं न भुवं यास्ये, नरा मय्यामृजन्त्यघम्। मृजामि तदघं कुत्र राजन्! तत्र विचार्यताम्॥' (भा० ६।६।५) इति। आमृजन्ति=क्षालयन्ति—'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति न्यायेन क्षालयिष्यन्ति। मानवास्तु मयि गंगायां पापं निक्षिप्य शुद्धाः भविष्यन्ति, परन्त्वहं स्वाघं कुत्र निक्षिप्य शुद्धा भविष्यामीति मदघमार्जनोपायो विचार्यतामिति भावः। तदुत्तररूपेण भगीरथ उवाच—न्यासिनः= संन्यासिनः—एषणात्रयत्यागिनः परिव्राजका इत्यर्थः। शान्ताः = रागद्वेषरहिताः, ब्रह्मिष्ठाः= ब्रह्म—सच्चित्सुखैकरसं सर्वत्र—अतिशयेन तदन्यभावबाधरूपेण द्रष्टव्यं विद्यते येषां ते ब्रह्मवन्तो ब्रह्मनिष्ठासंपन्ना इत्यर्थः। 'विन्मतोर्लुक्' इतीष्ठनि प्रत्यये मतुपो लुक्। लोकपावनाः=लोकान्पावयन्ति सन्मार्गोपदेशेन स्वपादसंचारेण वा। अंगसंगात्=त्वयि स्नानात्। ते अघं हरन्ति=हरिष्यन्ति। तर्हि ते पापिनो भविष्यन्तीति चेदाह—तेष्विति। सर्वव्यापिनोऽपि हरेस्तेषु ज्ञातत्वेन साक्षात्स्थितत्वात्तस्य च हरति पापमित्यन्वर्थनामत्वान्न तेषां पापसंसर्गो भवितुमर्हति। यदा ब्रह्मनिष्ठावतां संगादन्यस्यापि पापं नोत्पद्यते, तदा किं तेषामिति भावः। पापहारित्वं भगवत आह—अघं भिनत्तीत्यघभिद्। स्वत एव पापानि तान्नोपसर्पन्ति, भेदकत्वाद्विडालं मूषिका इवेत्यर्थः।

यह अर्थ है—श्रीगंगाजी भगीरथ—राजाके प्रति कहती है—'और इसकारणसे भी मैं पृथिवीपर नहीं जाऊँगी कि—लोग मुझमें अपने पाप धोयेंगे। फिर मैं उस पापको कहाँ धोऊँगी। भगीरथ! इसविषयमें तुम स्वयं विचार करलो।' (भा०) आमृजन्ति यानी प्रक्षालन करेंगे। यद्यपि यहाँ-वर्तमानकालकी धातुका प्रयोग है। तथापि—उसको भविष्यदर्थमें समझना चाहिये। मनुष्य तो मुझ गंगामें अपने पाप डालकर शुद्ध होजायेंगे, परन्तु मैं अपनेमें आये हुए—उन—पापोंको कहाँ डालकर शुद्ध—पापरहित होऊँगी, अतः मेरे पापमार्जनके उपायका विचार करो, यह भाव है। उसके उत्तररूपसे भगीरथ बोला—संन्यासी अर्थात् जो लोकेषणा—पुत्रेषणा एवं

विलेषणाका परित्यागकर-परिव्राजक बने हैं-जो शान्त अर्थात् रागद्वेषसे रहित हैं; प्रतिष्ठ हैं अर्थात् सच्चित्सुख—एकरस ब्रह्महो सर्वत्र-अतिशय करके-यानी ब्रह्मसे अन्य-भावोंके बाधरूपसे द्रष्टव्य होगया है—जिनको, ऐसी ब्रह्मनिष्ठासे जो सम्पन्न हैं। वे लोगों को सन्मार्गके उपदेशद्वारा एवं स्वपाद-संचारद्वारा पवित्र करते हैं, उनका तेरेमें स्नान होनेपर तेरे पापको वे हर लेंगे। तब वे पापी होजायेंगे ? इस आक्षेपके उत्तररूपसे कहते हैं—कि-उन-संन्यासियों में सर्वव्यापक-श्रीहरि ज्ञातरूपसे साक्षात् अवस्थित हैं, और 'जो पापको हर लेता है' वह हरि है—ऐसा भगवान्‌का अन्वर्थ (अर्थानुसारी) नाम होनेके कारण उनमें पापका संसर्ग नहीं होसकता है। जब ब्रह्म-निष्ठोंके संगसे अन्यमें भी पाप उत्पन्न नहीं होते हैं, तब उन ब्रह्मनिष्ठोंमें पाप कैसे उत्पन्न होसकता है ? यह भाव है। भगवान्‌में पापहारित्व को कहते हैं—अघ यानी पापका जो भेदन करता है, वह अघभिद् है, इसलिये उन महात्माओंके समीप स्वतः ही पाप नहीं आसकते हैं, जैसे बिल्लीके समीप चूहे इसलिये नहीं आते हैं, कि—बिल्ली चूहोंकी भेदक (विध्वंसक) है, वैसे श्रीहरि एवं श्रीहरिके भक्त संन्यासी दोनों ही पापके भेदक हैं।

अपि च सर्वाः विश्वप्रकृष्टविभूतीः अनादृत्य प्रचेतोभिः-भगवदासक्त-चित्तानां संसाराद्विरक्तानां सतां महात्मनां परिव्राजकानां संग एव भगवतः सकाशात् वरदानरूपेणाभियाचितस्तेषां महत्त्वं प्रकटयति, अत एतावदेव प्रार्थयामहे इत्याहुः—'यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः। तावद्भवत्प्र-सङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ॥ तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टाः तृष्णायाः प्रशमो यतः। निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन। यत्र नारायणः साक्षाद् भगवान्न्यासिनां गतिः। संस्तूयते सत्कथासु मुक्तसंगैः पुनः पुनः ॥ तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया। भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥ वयं तु साक्षाद् भगवन्! भवस्य, प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन। सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्यो भिषक्तमं त्वाऽद्य गतिं गताः स्मः ॥' (भा०-४।३०।३३-३४-३५-३६-३७-३८)

और भी विश्वकी सभी उत्कृष्ट-विभूतियोंका अनादर करके प्रचेताओंने-जिनके चित्त एकमात्र भगवान् में आसक्त हैं, जो संसारसे विरक्त हैं-ऐसे सन्त-महात्मा परिव्राजकोंके संगकी ही भगवान्‌से वरदानरूपसे याचना की थी, यह संग ही उन भागवत-महापुरुषोंके महत्त्व को प्रकट करता है, इसलिये इतना ही यानी सत्पुरुषोंके संगकी ही हम प्रार्थना करते हैं-ऐसा प्रचेता-गण कहते हैं-'हे भगवन्! हम आपसे केवल यही मांगते हैं कि-जबतक आपकी मायासे मोहित होकर हम अपने कर्मानुसार संसारमें भ्रमते रहें, तबतक जन्म-जन्ममें हमें आपके प्रेमीभक्त-महापुरुषों

का संग प्राप्त होता रहे। हम तो भगवद्भक्तोंके क्षणभर के संगके सामने स्वर्ग और मोक्षकोभी कुछ नहीं समझते, फिर-मनुष्योचित-भोगों की तो बात ही क्या है ?। भगवद्भक्त-सन्तोंके समाजमें सर्वदा भगवान् की मधुर-पवित्र-कथाएँ होती रहती हैं, जिनके श्रवणमात्रसे भोगतृष्णा शान्त होजाती है। वहाँ प्राणियोंमें किसी प्रकारका वैर-विरोध, या उद्वेग नहीं रहता। अच्छे-अच्छे कथा प्रसंगों द्वारा निष्कामभावसे संन्यासियोंके एकमात्र-आश्रय साक्षात् श्रीनारायणदेवका बार-बार गुणगान होता रहता है। आपके वे भक्त-सन्तजन तीर्थोंको पवित्र करने के उद्देश्यसे पृथ्वीपर पैदल ही विचरते रहते हैं, भला उनका समागम दुःखमय—संसारसे भयभीत हुए-पुरुषोंको कैसे रुचिकर न होगा ?। हे प्रभो ! भगवन् ! आपके प्रिय सखा-भगवान् श्रीशङ्करके क्षणभरके समागमसे ही आज हमें आपका साक्षात् दर्शन प्राप्त हुआ है। आप जन्ममरणरूप दुःसाध्य-भव रोगके श्रेष्ठतम वैद्य हैं, अतः अब हमने आपकी ही शरण ली है।' (भा०)

तेषामयमर्थः—स्पृष्टाः=व्याप्ताः, भवति=परमात्मनि--प्रकृष्टः संगः= आसक्तिर्येषां तेषां संगोऽस्माकं स्यात्। ननु—राज्यभोगान् स्वर्गापवर्गौ च विहाय किमिदं प्रार्थ्यते—तत्राहुः—तुलयामः, भगवत्संगिनां—भागवतानां संगस्य लवेनापि। सत्संगस्य श्रेष्टत्वं प्रपञ्चयति—यत्रेति-त्रिभिः। यत्र=येषु-भगवत्संगिसंगेषु, यतः—याभ्यः कथाभ्यः। मृष्टाः=मधुराः पवित्रा वा। संसाराद्भीतस्य किं न रोचेतापि तु रोचेतैवेत्यर्थः। तीर्थानां पावनेच्छया= स्नानादिभिरस्मान्पुनन्त्विति तीर्थकर्तृका पावनेच्छा, तया हेतुभूतया तीर्थानां शुभादृष्टवशादेवेत्यर्थः। सत्संगफलमस्माभिरेवानुभूत-मित्याहुः—तव यः प्रियः सखा तस्य भवस्य रुद्रस्य-श्रीशंकरस्य, अत्यन्ताचिकित्स्यस्य=असाध्यरोगरूपस्य, भवस्य=जन्मनो मृत्योश्च, भिषक्तमं=सद्वैद्यं त्वां गतिं=शरणं प्राप्ताः।

उनका यह अर्थ है—स्पृष्ट यानी व्याप्त। आप-परमात्मामें जिनका प्रकृष्ट (अत्यन्त) संग यानी आसक्ति है, उनका संग हमें हो। शंका—राज्यके भोगोंका एवं स्वर्ग एवं अपवर्गका परित्याग करके क्यों सत्संगकी प्रार्थना करता है-इसके समाधानरूपसे कहते हैं-तुलयामः। भगवत्संगी-भागवतोंके संगके लवसे भी। सत्संगकी श्रेष्ठता तीन-श्लोकोंके द्वारा विस्तारसे कहते हैं। 'स्नानादि के द्वारा हमें पवित्र बनायें' ऐसी तीर्थोंके द्वारा होने वाली पावनेच्छा-वही हेतुभूत है। तीर्थोंके शुभ-अदृष्ट-वशसे सत्संगके फलका हमने भी अनुभव किया है-यह कहते हैं, आपका प्रिय सखा रुद्र श्रीशंकर है। अन्य पदोंका अर्थ स्पष्ट है।

'तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै, यत्रात्मा हरिरीश्वरः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते, शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः॥' (भा० ७।४।२२) 'वातरशना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः। ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः॥'

(भा० ११।६।४७) 'सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः, शान्ताः दान्तास्तितिक्षवः। आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः ॥' (भा० १२।३।१९) इति। अयमर्थः—तस्यै=प्रसिद्धायै, काष्ठायै=चरमावधिभूतायै इत्यर्थः। वाता=परित्यक्ता रशना=कौपीनबन्धनसूत्रं यैस्ते वातरशनाः—अर्थात् दिगम्बराः—अवधूता इति यावत्। श्रमणाः=भिक्षोपजीविनः—आत्मानुसंधानाभ्यासवन्तः—ब्रह्मध्यानश्रमनिरता वा। ऊर्ध्वमन्थिनः=ऊर्ध्वरेतसः—ब्रह्मचारिणः।

'जहाँ सर्वात्मा जगदीश्वर श्रीहरि निवास करते हैं, और जिसे प्राप्त करके शान्त एवं निर्मल-संन्यासी महात्मा फिर इस संसारमें लौटते नहीं, भगवान्के उस अन्तिम-अवधिभूत-परमधामको हम नमस्कार करते हैं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि दिगम्बर रहकर और आजीवन-नैष्ठिक—ब्रह्मचर्यका पालन करके अध्यात्म-विद्याके लिये अत्यन्त-परिश्रम करते हैं, इसप्रकार की कठिन—साधनासे उन संन्यासियोंके हृदय निर्मल होपाते हैं, और तब कहीं वे समस्तवृत्तियों की शान्तिरूप-नैष्कर्म्य-समाधि—अवस्थामें स्थित होकर आपके ब्रह्मनामक-धामको प्राप्त होते हैं। अधिकांशमें श्रमण-संन्यासीजन, बड़े संतोषी एवं दयालु होते हैं, वे सबसे मित्रताका व्यवहार रखते हैं, और रागद्वेषरहित—शान्त रहते हैं, इन्द्रियाँ और मन उनके वशमें रहते हैं, और सुखदुःखादि द्वन्द्वोंको वे समान भावसे सहन करते हैं, समदर्शी और आत्माराम होते हैं, श्रमण यानी स्वरूपावस्थितिके लिये आत्म-चिन्तनाभ्यासमें तत्पर रहते हैं।' (भा०) पदोंका अर्थ मूल-अनुवादमें आगया है। इसलिये उनके विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

परमभागवतः श्रीमद्भागवतस्यादिमः प्रवक्ता श्रीशुकदेवोऽप्यासीत् संन्यासी ।

अपि च श्रीमद्भागवतस्यादिमः प्रवक्ता श्रीशुकदेवोऽपि—'भगवान् व्यासपुत्रो यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः। अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टः ह्यवधूतवेषः' (भा० १।१९।२५) 'भगवान् बादरायणिः, जगाम भिक्षुभिः साकम्।' (भा० १२।६।८) इत्यादिवचनैः परिव्राजकशिरोमणिरेवासीदित्यवगम्यते। स च 'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये' (भा० २।१।९) 'स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावः' (भा० १२।१२।६८) एतादृशोऽपि—'उत्तमश्लोकलीलया गृहीतचेताः' (भा० २।१।९) 'अजितरुचिरलीलाऽऽकृष्टसारः।' (भा० १२।१२।६८) आसीत्। अयमर्थः=गां=पृथिवीं। अनपेक्षः=बाह्यविषयापेक्षारहितः, तत्कुतः? इत्यस्यापेक्षैतदेवोत्तरम्—अनिति—चेष्टतेऽनेनेत्यनः=प्राणः, तं पातीति, अनपः=प्राणनाथः सर्वात्मा श्रीविष्णुस्तस्येक्षा=सततमन्तर्बहिर्दर्शनं यस्य सः तथा। न हि करतलामलकवत्सततमात्मानं भगवन्तमपरोक्षीकुर्वाणस्य

तस्य कस्यचिदपेक्षा वर्तते इति भावः। अत एव निजलाभतुष्टः=स्वानन्दलाभेन संतुष्टः, अलक्ष्यलिङ्गः=न लक्ष्याण्याश्रमादिलिङ्गानि यस्य सः तथा, अत एव अवधूतस्य=दिगम्बरस्य वेषो यस्य सः। बादरायणिः=बादरायणमुनिशिष्यः, भिक्षुभिः=संन्यासिभिः। स्वस्यात्मनः सुखेनैव निभृतं—परिपूर्णं चेतो यस्यासौ, तेन स्वसुखपूर्णचेतस्त्वेनैव व्युदस्ता=निरस्ता अन्यस्मिन्—ब्रह्मातिरिक्ते पदार्थे भावः=भावना—अस्तित्वबुद्धिरपि, यद्वा भावः=मनोव्यापारो यस्य सः। उत्तमश्लोकस्य=श्रेष्ठयशोनिधेः, अजितस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य*रुचिराभिर्लीलाभिः आकृष्टः=अपहृतः सारः—स्वमुखगतं स्थैर्यं यस्य सः।

परमभागवत—श्रीमद्भागवतका आदिम—प्रवचनकर्ता श्रीशुकदेव भी संन्यासी था।

और भी—श्रीमद्भागवतका आदिम (प्रथम) प्रवक्ता श्रीशुकदेव भी—'पृथ्वीपर स्वेच्छासे विचरण करते हुए—किसीकी कोई अपेक्षा न रखने वाले, व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजी—वे वर्ण एवं आश्रमके बाह्यचिन्होंसे रहित एवं आत्मानन्दके लाभसे सन्तुष्ट थे, उनका वेष अवधूतका था। (भा०) 'भगवान् श्रीशुकदेवजी भिक्षु यानी संन्यासी—महात्माओंके साथ वहाँ से चले गये।' (भा०) इत्यादि वचनोंके द्वारा परिव्राजक—शिरोमणि ही था, ऐसा जाना जाता है। वह—'निर्गुण—परब्रह्ममें पूर्ण—निष्ठा संपन्न था।' 'अपने आत्मानन्दमें ही निमग्न—था, इस अखण्ड-अद्वैत स्थितिसे उसकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त होचुकी थी।' ऐसा भी श्रीशुकदेवका चित्त भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर—लीलाओंसे बलात् आकर्षित होगया था।' 'भगवान् श्यामसुन्दरकी मधुमयी—मंगलमयी—मनोहारिणी लीलाओंने उसकी वृत्तियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लिया था।' (भा०)। यह अर्थ है—गा यानी पृथिवी। अनपेक्ष यानी बाहरके विषयोंकी अपेक्षासे रहित, ऐसा कैसे? उसका उत्तर भी यही अनपेक्षपद देता है—जिससे चेष्टा करता है प्राणी वह अन-प्राण है, उसकी जो रक्षा करता है—वह अन—प (पा रक्षणे) प्राणोंका नाथ (रक्षक) सर्वात्मा श्रीविष्णु है, उसकी ईक्षा अर्थात् निरन्तर—अन्दर—बाहर दर्शन जिसे (ईक्ष दर्शने) होता रहता है—इसलिये वह अनपेक्ष है। करतलमें रक्खे हुए—आमलेके समान जो आत्मस्वरूप भगवान् का अपरोक्ष अनुभव करता है, उसे अन्य—किसी की अपेक्षा नहीं रहती है। यह भाव है। इसलिये वह अपने आत्मानन्दके लाभसे संतुष्ट है, जिसमें आश्रमादिके ज्ञापक-चिन्ह प्रतीव नहीं होरहे हैं, तथापि वह दिगम्बर वेषसे लक्षित है। बादरायणि यानी बादरायण

---

*रुचिरा=हठात् स्वविषये रुचिं राति=ददाति, इतरेभ्यो विषयेभ्यो रुचिं राति=आदत्ते 'इतररागविस्मारणं नृणाम्।' (भा० १०।३१।१४) इतिरासलीलास्मरणात्। रुचिरा का अर्थ है—जो जबरन् अपने विषयमें रुचिका प्रदान करती है, और अन्यविषयोंसे रुचिको हटाती है। 'मनुष्यों को भगवान्की लीला अन्य-साँसारिक रागोंका स्मरण भी नहीं होने देती।' ऐसा रासलीलामें स्मृत है।

मुनि-व्यासका शिष्य। भिक्षु यानी संन्यासी। अपने आत्माके सुखसे जिसका चित्त परिपूर्ण है,इस कारणसे ही ब्रह्मातिरिक्त-पदार्थमें जिसकी भावना यानी अस्तित्व-बुद्धि भी चलीगई है। या भाव यानी मनका संकल्पादिव्यापार समाप्त होगया है। उत्तमश्लोक-यानी श्रेष्ठ-यशका भण्डार। अजित--भगवान् श्रीकृष्णकी रुचिर-लीलाओंसे जिसके सुखका स्थैर्य भी नहीं रहा है।

स च चतुर्थाश्रमि-संन्यासि-संप्रदायस्याचार्यतया 'व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं' इत्यादिना संस्तुतो निर्द्वन्द्वोऽपि श्रीकृष्णपादाब्जद्वन्द्वदृढानुरागितया तल्लोकोत्तरचेतश्चमत्कारिरुचिरलीला-तत्परमतत्त्वोपदेशकतया च परमवैष्णव एव वेदितव्यः।

वह श्रीशुक, चतुर्थाश्रमी-संन्यासीसंप्रदायका आचार्य होनेके कारण 'व्यास, शुक, महान् गौडपाद' इत्यादि वचनोंके द्वारा संस्तुत था अर्थात् जिसकी सम्यक् स्तुति की गई थी। वह निर्द्वन्द्व होता हुआ भी श्रीकृष्णके चरणकमल-युगलमें दृढ़-अनुरागी था, इसलिये उसने श्रीकृष्णकी अलौकिक-चित्तको चमत्कृत करने वाली एवं-रुचिर-मधुरतम लीलाओंका तथा श्रीकृष्णके पारमार्थिक-स्वरूपका उपदेश दिया था, इसलिये वह वैष्णव क्या परम-वैष्णव ही था, ऐसा जानना चाहिये।

भगवत्पादाः श्रीशङ्करस्वामिनोऽपि परमवैष्णावा एव।

एवं—'अच्युतं केशवं रामनारायणं कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम्।' इत्यादिपावननामभिर्विष्णोर्भगवतोऽतिप्रेम्णा संकीर्तनं कुर्वाणाः, 'श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे' इत्यादिपद्यैर्विष्णुपादकमलौ श्रद्धाभरेण वन्दमानाः, 'भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते!।' इत्यादिना समप्रार्यावर्ते गोविन्द--भजनस्योपदेशं विदधानाः, 'जयति कुलदेवो यदुपतिः' इत्यादिना यदुपतेः श्रीकृष्णस्य स्वकुलदैवत्यमभिमन्यमानाः, हिमालयस्थ बद्रिनारायण-मूर्तिस्वपूर्वाश्रम-कालटिनामकग्रामस्थ-श्रीकृष्णमूर्तिप्रभृति-विविध दिव्य-श्रीविष्णुविग्रह-संस्थापकाः, श्रीगीताभाष्य-श्रीविष्णुसहस्रनाम-भाष्य-विष्णुपादादिकेशान्तवर्णनाभिधस्तोत्रादिनिर्मातारः श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्या भगवत्पादाः जगद्गुरवः श्रीशंकरस्वामिनोऽपि किं परमवैष्णवा न भवितुमर्हन्ति?, ते पूज्यपादा वैष्णवत्वशून्याः सन्तीत्येवं मूढमतिं विहाय को मतिमान् वदितुं साहसमवलम्बते?।

भगवत्पाद-श्रीशंकरस्वामी भी परमवैष्णव ही हैं।

इसप्रकार अच्युत, केशव, राम, नारायण, श्रीकृष्ण, दामोदर, वासुदेव, हरि, इत्यादि पवित्रनामोंके द्वारा विष्णु-भगवान्का अतिप्रेमसे संकीर्तन करने वाले; श्रीपति नारायणके चरण कमल—संसारके जन्ममरणादिभयके एवं विविध-संतापोंके छेदक हैं, उनकी मैं वन्दना करता हूँ, इत्यादि पद्यों (श्लोकों) के द्वारा विष्णुके चरणारविन्दोंकी

अतिशयित-श्रद्धासे वन्दना करने वाले; 'गोविन्दका भजनकर, गोविन्दका भजनकर, हे मूढमति ! तू गोविन्दका भजनकर' इत्यादि वचनों के द्वारा समग्र-आर्यावर्तमें गोविन्दके भजनका उपदेश करने वाले; 'यदुपति श्रीकृष्ण मेरे कुलका अधिष्ठाता देव है, उसकी जय हो' इत्यादि वचनोंके द्वारा-यदुपति-श्रीकृष्णमें स्वकुलके देवत्वका अभिमान रखने वाले, हिमालयमें अवस्थित बद्रिनारायणकी मूर्ति, अपने पूर्वाश्रमके कालटिनामके ग्राममें अवस्थित-श्रीकृष्णकी मूर्ति, इत्यादि विविध दिव्य-विष्णु-विग्रहोंकी स्थापना करने वाले; श्रीगीताभाष्य, श्रीविष्णुसहस्रनामभाष्य, विष्णुके पादसे आदिलेकर केशपर्यन्तका वर्णन नामका स्तोत्र, आदि विष्णुके विविध स्तोत्रोंके निर्माण करने वाले; श्रीमान् परमहंस-परिव्राजकोंके आचार्य–पूज्य भगवान्–जगद्गुरु–श्रीशंकर स्वामीभी क्या परम वैष्णव नहीं हो सकते हैं ?, वे पूज्यपाद वैष्णवत्वसे शून्य हैं, ऐसा मूढमतिको छोडकर कौन प्रशस्त-मतिवाला-कहनेका साहस रखता है ? ।

संन्यासदीक्षाऽपि विष्णोर्लिङ्गम् ।

अपि च विधिवत्संन्यासदीक्षया परिगृहीतकाषायवस्त्रदण्डादिधारणं 'विष्णुलिङ्गमि' त्युच्यते । 'यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम्' इति प्रामाण्यात् । 'काषायवस्त्रमात्रेण (दण्डग्रहणमात्रेण) नरो नारायणो भवेत् ।' इत्युक्तत्वाच्च; अतः 'ॐहरिः, ॐ नमो नारायणायेति' पावनसिद्धमन्त्रेण मिथोऽभिवादनादिकं कुर्वाणाः सर्वेऽपि यतयः परिव्राजकाः परमवैष्णवा एव सन्तीति निर्विवादं सिद्ध्यति । तथा चोक्तं बृहन्नारदीयपुराणेऽपि—'व्याहरन्ति च नामानि हरेः शम्भोर्महात्मनः । रुद्राक्षालंकृता ये च ते वै भागवताः स्मृताः ॥' (अ०५) इति।

संन्यासदीक्षा भी विष्णुका ही लिंग (ज्ञापक-चिह्न) है ।

और भी विधिपूर्वक- संन्यासकी दीक्षासे ग्रहण किया जाने वाले-काषायवस्त्र, दण्ड, आदि का धारण विष्णुलिंग है, ऐसा कहा जाता है। 'जो विष्णुके लिङ्गका धारण है' ऐसे वचनका प्रामाण्य भी है । तथा 'काषायवस्त्रके धारण करने मात्रसे (दण्डके ग्रहण करने मात्रसे) नर नारायण होजाता है' ऐसा कहा भी है । इसलिये 'ॐ हरि, ॐनमो नारायणाय' ऐसे पावन–एवं सिद्ध मन्त्रके द्वारा परस्पर अभिवादन आदि करने वाले सभी यति परिव्राजक परम-वैष्णव ही हैं, ऐसा निर्विवाद सिद्ध होता है । तथा च बृहन्नारदीय-पुराणमें भी कहा है–'जो महान्-आत्मा-श्रीहरिके एवं श्रीशंकरके नामों का उच्चारण करते हैं, एवं जो रुद्राक्षसे अलंकृत हैं, वे ही भागवत-वैष्णव माने गये हैं ।' इति ।

गायत्रीमन्त्रादि–प्रतिपाद्यतत्त्वम् ।

सति चैवम्–गायत्रीपञ्चाक्षरद्वादशाक्षराष्टाक्षरादिमन्त्रैर्वेदान्तवेद्य-भागवतं प्रतिपाद्य-भगवत्तत्त्वसमुपासकास्तदनुरागिणो ये केऽपि स्युः, ते सर्वेऽपि वैष्णवा

भागवता एव प्रोच्यन्ते। एतेन—गायत्रीमन्त्रदीक्षिता वैष्णवा न भवितुमर्हन्ति, इति निरस्तम्। भगवद्भ्यां रामकृष्णाभ्यामपि गायत्रीमन्त्रस्य दीक्षायाः परिगृहीतत्वात्, श्रीमद्भागवतस्य गायत्रीमन्त्रभाष्यभूततया प्रतिपादितत्वाच्च, गायत्रीमन्त्रोऽपि विष्णुमन्त्र एव। तेन दीक्षिता अपि कथं न वैष्णवाः स्युः?। गायत्रीमन्त्रदीक्षाया अनभ्युपगमे त्रैवर्णिकद्विजत्वमेव परिलुप्येत, तद्विधायकशास्त्रप्रामाण्यञ्चोपरुध्येत।

गायत्री-आदिमन्त्रोंका प्रतिपाद्य-तत्त्व।

ऐसा विवेचन होजाने पर गायत्रीमन्त्र, पञ्चाक्षरमन्त्र, द्वादशाक्षरमन्त्र, अष्टाक्षरमन्त्र आदिमन्त्रोंके द्वारा वेदान्त-वेद्य-भागवत-प्रतिपाद्य-भगवत्स्वरूप की उपासना करने वाले-भगवदनुरागी-जो भी कोई हों, वे सब वैष्णव-भागवत ही कहे जा सकते हैं। इससे—'गायत्रीमन्त्रसे दीक्षित वैष्णव नहीं हो सकते हैं' ऐसा कथन खण्डित होगया, क्योंकि—भगवान् श्रीरामने एवं श्रीकृष्णने भी गायत्रीमन्त्र की दीक्षाको ग्रहण किया था। और श्रीमद्भागवतका गायत्रीमन्त्रके भाष्यरूपसे प्रतिपादन किया है, इसलिये गायत्रीमन्त्र भी विष्णुमन्त्र ही है। उसमन्त्रसे दीक्षित भी वैष्णव क्यों नहीं होसकते हैं? अर्थात् होसकते हैं। गायत्री-मन्त्रकी दीक्षाको न माननेपर तो त्रैवर्णिक-द्विजत्वका ही लोप होजायगा। और गायत्रीमन्त्रकी दीक्षाके विधान करने वाले-शास्त्रोंके प्रामाण्योंका उपरोध भी होजायगा।

यद्यपि—गायत्रीमन्त्रेण कश्चित् विष्णुं, कश्चित् शिवं, कश्चित् शक्तिं, कश्चित् सवितारमित्येवं विभिन्नान् देवान् तदर्थरूपेण विभिन्नमतवादिनः प्रतिपादयन्ति। तथापि—'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' (ऋ० १।१६४।४६) इति ऋग्वेदीयन्यायेन नाममात्रे विवादो न परमतत्त्वे? इति विनिश्चित्य सर्वमन्त्रसमन्वयवत् सर्वदेवसमन्वयोऽपि विधीयते सर्वशास्त्ररहस्यविद्भिः केवलाद्वैतवादिभिरस्माभिः। अत एवाभिहितं—श्रीमद्भागवते चतुर्थेऽपि—'त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्। सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन्! स शान्तिमधिगच्छति॥' (भा० ४।७।५४) इति।

यद्यपि गायत्रीमन्त्र द्वारा कोई विष्णुका, कोई शिवका, कोई शक्तिका, कोई सविताका इसप्रकार विभिन्न देवोंका तदर्थरूपसे विभिन्न-मतवादी प्रतिपादन करते हैं। तथापि 'एक ही सद्वस्तुका तत्त्वदर्शी-मेधावी बहु-नामोंके एवं बहुविग्रहोंके द्वारा वर्णन करते हैं' (ऋ०) इस ऋग्वेदके न्यायसे नाममात्रमें विवाद है, परमतत्त्वमें कोई विवाद नहीं, वह एक-अद्वय है। ऐसा निश्चय करके सर्वशास्त्रोंके रहस्यको जानने वाले-केवलाद्वैतवादी हम—समस्त मन्त्रोंके समन्वय की तरह समस्त-विष्णु-शिव आदि देवोंका भी समन्वय करते हैं। इसलिये श्रीमद्भागवतके चतुर्थ-स्कन्धमें भी कहा है कि—'श्रीभगवान् कहते हैं कि—हे ब्रह्मन्! हम ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर—तीनों स्वरूपतः

एक हीं हैं, और हम ही सम्पूर्णभूतोंके आत्मारूप हैं, अतः जो हममें कुछ भी भेद नहीं देखता, वही शान्ति प्राप्त करता है, अर्थात् भेददर्शी-द्वैतवादी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता।' (भा०)

'योगेश्वरा ऊचुः—प्रेयान्न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो ! विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग्य आत्मनः ; अथापि भक्त्येश ! तयोपधावता—मनन्यवृत्त्याऽनुगृहाण वत्सल ! ॥ जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो, बहुभिद्यमानगुणयाऽऽत्ममायया। रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया विनिवर्तितभ्रमगुणात्मने नमः ॥' (भा० ४।७। ३८-३९) इति च। अयमर्थः—त्रयाणां=ब्रह्मविष्णुरुद्राणामेको भावः=स्वरूपं येषाम्। यो भेदं न पश्यति, किन्तु-ऐक्यं पश्यन्—शान्तिमधिगच्छन्-कृतार्थो भवति, भेदं मन्वानो न शान्तिं न कृतार्थताञ्च लभते इति व्यतिरेकतोऽपि ध्वन्यत इतिभावः। योगेश्वराः, भगवदात्माभेदभावं पश्यतां तत्त्वदृशां भगवदतिप्रियत्वेन परमानुग्रहभाक्त्वं मन्यमानाः, काल्पनिकभेदभावेनानन्यभक्त्या भजतां भक्तानामप्यनुग्रहं प्रार्थयमानाः स्तुवन्ति-द्वाभ्यामिति। प्रेयानिति। विश्वात्मनि-परब्रह्मणि त्वयि य आत्मनः=स्वस्य पृथक्त्वं नेक्षेत, अमुतः= अमुष्मात्—अन्यस्ते प्रियतमो नास्ति। केवलस्य स्वस्य भगवता सहाभेददर्शनेऽप्यन्यजीवानां तथाऽदर्शने, नाद्वैतसिद्धिरत आह—आत्मनो=जीवान्-सर्वानपि पृथङ् नेक्षेतेति वा। जीवेषु सर्वेषु स्वस्याप्यागतत्वान्नाद्वैतहानिरिति भावः। हे वत्सल !=भक्तजनप्रिय ! अनन्य-वृत्त्या=अव्यभिचारिण्या भक्त्या भजतः समुपासकान् भक्तान् अनुगृहाणेत्यर्थः। अव्यभिचारिणी भक्तिः कथं स्यात्? भजनीयानां बहुत्वादित्याशंक्याहुः। जगत उद्भवादिषु निमित्तेषु दैवतः= ब्रह्मादि-देवसमुदायरूपो भवति भवान्। जीवादृष्टाद्बहुधा भिद्यमाना गुणा यस्याः तया स्वमायया, आत्मनि स्वस्वरूपे रचिता=जीवेषु स्थापिता ब्रह्मादिदेवभेदमतिर्येन तस्मै, स्वसंस्थया=केवलस्वस्वरूपावस्थानेन च विनिवर्तितो भेद भ्रमो गुणाश्च तद्धेतवो आत्मनि येन तस्मै।

'योगेश्वरोंने कहा—हे प्रभो ! जो मानव, सम्पूर्ण—चराचर—विश्वके आत्मारूप-आप भगवान्में और अपनेमें कोई भी भेद नहीं देखता, किन्तु अभेद भाव ही देखता है, उस ज्ञानी भक्तसे अधिक प्यारा आपको और कोई नहीं है, अर्थात् अभेद दर्शी ज्ञानी-भक्त ही आपको अतिप्रिय हैं। तथापि हे भक्तवत्सल ! जो लोग आपमें स्वामि-भाव रखकर अनन्य-भक्तिसे आपकी आराधना करते हैं, उनपर भी आप अनुग्रह कीजिये। जीवोंके अदृष्टवश जिसके सत्त्वादि गुणोंमें बड़ी विभिन्नता आजाती है, उस अपनी मायाके द्वारा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिये ब्रह्मादि-विभिन्न-देव-रूप धारण करके आप भेद-बुद्धि पैदा कर देते हैं, तथापि आप अपने ज्ञानवान्-भक्तों के लिये अपनी पारमार्थिकी स्वरूपावस्थिति द्वारा उस भेद-भ्रमको और उसके हेतुभूत

सत्त्वादि गुणोंको निवारण कर देते हैं, ऐसे केवल-अद्वय आत्मस्वरूप आपको हमारा नमस्कार है।' (भा०) यह अर्थ है—ब्रह्मा विष्णु एवं रुद्र इन तीनों देवोंका एक ही स्वरूप है, उनमें जो भेद नहीं देखता है, किन्तु एकत्व देखता है, वह शान्तिको प्राप्त करता हुआ कृतार्थ होता है, और जो भेद मानता है, वह न शान्ति, न कृतार्थता ही प्राप्त कर सकता है, ऐसा व्यतिरेक द्वारा ध्वनित होता है। भगवान्के साथ अपनी आत्माके अभेदभावको देखनेवाले—तत्त्वदर्शी भगवान्को अतिप्रिय हैं, इसलिये वे भगवान् के परम कृपापात्र हैं, ऐसा मानते हुए—काल्पनिक-भेदभाव रखकर अनन्य भक्तिसे भजन करनेवाले भक्तोंपर भी भगवदनुग्रहकी प्रार्थना करते हुए—योगेश्वर-गण, भगवान्की स्तुति करते हैं—दो श्लोकोंके द्वारा। विश्वात्मा-परब्रह्म आपमें अपनी पृथक्ताको जो नहीं देखता है, उस-ज्ञानवान् अभेददर्शी-भक्तसे अन्य कोई भी आपको अतिप्रिय नहीं है। केवल-अपने को भगवान्के साथ अभिन्न देखनेपर, और अन्य जीवों को अभिन्न न देखनेपर तो अद्वैतकी सिद्धि नहीं होगी, इसलिये 'आत्मनः' इस पदका अन्य व्याख्यान करते हैं—सभी जीवोंको भी जो भगवान्से पृथक् नहीं देखता है। समस्त जीवोंमें आप भी तो आ जाता है, इसलिये अद्वैतकी हानि नहीं है, यह भाव है। हे वत्सल यानी भक्त-वत्सल ! अर्थात् भक्तजन जिसे प्रिय हैं—अनन्य वृत्तिवाली अव्यभिचारिणी भक्तिके द्वारा आपका भजन करने वाले-आपके उपासक—भक्तोंपर भी तू अनुग्रह कर। भजनीय—भगवान् बहुत हैं ? ऐसी दशामें अव्यभिचारिणी (अनन्या) भक्ति कैसे हो सकती है ?। ऐसी आशंका करके कहते हैं—जगत्की उत्पत्ति आदि निमित्तोंके होनेपर आप ब्रह्मादि—अनेक देवरूप होजाते हैं। जीवोंके अदृष्टसे मायाके गुणोंके अनेक-भेद होजाते हैं, ऐसी मायाके द्वारा आपके स्वरूपमें ब्रह्मादिदेवोंकी भेद बुद्धि जीवोंको हो जाती है। केवल-स्वरूपकी अवस्थितिद्वारा आप भेद--भ्रमको एवं उसके हेतुभूत-गुणोंको हटा देते हैं-और आप एक-अद्वय-आत्मस्वरूपसे अवशिष्ट रह जाते हैं—ऐसे आपको हमारा नमस्कार है।

शैवत्व-वैष्णवत्वयोः सामञ्जस्यम्।

ननु—शैवत्वसूचक—भस्मरुद्राक्षादिधारिषु कथं वैष्णवत्वमिति चेत्। अत्र वदामः। भस्मधारणं न हि शैवत्वस्यैव ज्ञापकं चिह्नं, अपितु वैदिक-धर्मस्यापि। वैदिकसनातनधर्मानुष्ठाने संध्यागायत्रीजपादेरस्ति महत्त्वं सुप्रसिद्धम्। तदनुष्ठानात् प्राक् विभूत्यपरपर्यायस्याहवनीयाग्निसमुद्भूतस्य पावनस्य भस्मनो वेदमन्त्रेण धारणं श्रुतिस्मृतिसूत्रादिशास्त्रविहिततया संध्याद्यनुष्ठानाङ्ग-भूतमस्तीति सर्वैरपि वैदिकैरभ्युपगम्यते। अत एव स्मृतं स्मृतिष्वपि-'विभूतिर्यस्य नो भाले, गले रुद्राक्षधारणम्। नहि शिवमयी वाणी, तं त्यजेदन्त्यजं यथा॥

शैवत्व एवं वैष्णवत्वका सामञ्जस्य यानी एकीकरण।

शंका—शैवत्वके सूचक-भस्म—रुद्राक्ष आदि के धारण करने वालोंमें वैष्ण-

वत्व कैसे रहसकता है ?

समाधान—कहते हैं—भस्मका धारण शैवत्वका ही ज्ञापक-चिन्ह नहीं है, किन्तु वैदिक-सनातन-धर्मका भी ज्ञापक चिन्ह है। वैदिक-सनातन धर्मोंके अनुष्ठानमें संध्या-गायत्रीजप आदिका महत्त्व सुप्रसिद्ध है। उनके अनुष्ठान से प्रथम-विभूति जिसका अन्य नाम है—जो आहवनीय-अग्निसे समुद्भूत है—ऐसी-पावन-भस्मका वेदमन्त्र द्वारा धारण करना श्रुति, स्मृति, सूत्र, आदि अनेक-शास्त्रोंके द्वारा विहित होनेके कारण संध्यादि-अनुष्ठानका अंग—भूत है, ऐसा सभी वैदिक-धर्मानुयायी मानते हैं। इसलिये स्मृतियोंमें भी कहा गया है कि-'जिसके भालमें विभूति नहीं है, गले में रुद्राक्ष नहीं है, जिसकी वाणी शिवमयी नहीं है, उसका अन्त्यज-चाण्डालके समान त्याग करदेना चाहिये।' (स्मृ०)

अपि च शिवनारायणाभेदमानिनां केवलाद्वैतसिद्धान्तनिष्ठानां कृते संन्यास इव रुद्राक्षधारणमपि न वैष्णवत्वव्यवच्छेदकं संपद्यते। तेषां हि वस्तुतस्तद्धारणे नात्याग्रहो, न च तुलसीमालाधारणे विद्वेषः। तथापि धार्मिक-चिह्नानां धारणं स्वस्वसंप्रदायमर्यादानुरोधेन सर्वैरपि कर्तव्यं विद्यत एव। अद्वैतसंप्रदाये भस्मधारणं वैराग्यस्याद्वैतभावस्य च ज्ञापकमभ्युपगम्यते। भूयांसो वैष्णवाः सकलशरीराङ्गेषु भस्मविलेपनं कुर्वाणा अपि न वैष्णवत्व-हीना भवन्ति यथा, तथा।

और भी शिव—नारायणका अभेदमानने वाले-केवलाद्वैतके सिद्धान्तोंमें निष्ठा रखने वालोंके लिए संन्यासकी भाँति रुद्राक्षका धारण भी वैष्णवत्वका व्यवच्छेदक नहीं होसकता है। उन्होंका वस्तुतः रुद्राक्षके धारणमें न अत्यन्त—आग्रह है, न तो तुलसीमालाके धारणमें विद्वेष है, तथापि धार्मिक-चिन्होंका धारण अपनी-अपनी संप्रदायकी मर्यादाओंका अनुरोध करके सभीको करना ही पड़ता है। अद्वैत-संप्रदायमें भस्मका धारण, वैराग्यका एवं अद्वैतभावका ज्ञापक है, ऐसा हम मानते हैं। बहुतसे रामानन्दी खाखी वैष्णव, शरीरके सभी अंगोंमें भस्मका लेप करते हुए भी वे वैष्णवत्वसे हीन नहीं होजाते हैं, जैसे, वैसे।

किञ्च शैवत्वमप्यस्मासु वर्तमानस्य वैष्णवत्वस्य न बाधकमपि तु साधकमेव मन्तव्यम्। यतो योऽयं जगदन्तरात्मा श्रीनारायणः स एव महेश्वरः, न तयोर्लेशतोऽपि भेदप्रतिपत्तिं मन्यामहे। अत एव शुक्लयजुर्वेदसंहितायां रुद्राष्टाध्याये—'पशुनां पतये' (१६।१७) 'वृक्षाणां पतये' (१६।१६) 'जगतां पतये' (१६।१८) इत्यादिना परमेश्वर एव निखिलभुवनाधिपत्यमभ्यस्यते। 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः, य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।' (श्वे० उ०-३।२) 'तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिम्' (ऋ० १।८६।५) (शु०य०२५।१८) इति रुद्रव्यतिरिक्तस्य जगदीश्वरत्वं निषिध्यते। सति चैवं विश्वपतित्वादीनां परमे-

श्वरधर्माणां तदर्थान्तरे नारायणेऽनुपपत्तेः, तस्मात् नारायणो रुद्रान्नार्थान्तरोऽपि तु स एवेति, अत एव योऽयं शिवमार्गः स एव विष्णुमार्ग इति च वयं प्रतिपद्यामहे ।

और शैवत्वभी हमारेमें वर्तमान—वैष्णवत्व का बाधक नहीं है, किन्तु साधक ही है, ऐसा मानना चाहिये । क्योंकि—जो यह जगत् का अन्तरात्मा श्रीनारायण है, वही महेश्वर श्रीशंकर है, उन दोनोंमें हम लेश भी भेदज्ञान नहीं मानते हैं । इसलिये शुक्लयजुर्वेद-संहिताके रुद्राष्टाध्यायमें 'पशुओंके पतिको, वृक्षोंके पतिको एवं जगतोंके पतिको (नमस्कार)' इत्यादिके द्वारा परमेश्वरमें ही निखिल-भुवनोंके अधिपतित्वका बार बार बोधन किया गया है । 'एक ही रुद्र-श्रीशंकर-परमेश्वर है, अन्य कोई भी परमेश्वर अवस्थित नहीं है, जो इन लोगोंका अपनी नियमन--कारिणी-शक्तियोंके द्वारा नियमन करता है ।' (श्रु०) 'वह परमात्मा स्थावर—जंगमरूप विश्वका ईश्वर है एवं स्वामी (श्रु०) इन मन्त्रोंके द्वारा रुद्रसे व्यतिरिक्त-में जगदीश्वरत्वका निषेध किया जाता है । ऐसा निर्णय होजाने पर विश्वपतित्वादि-जो परमेश्वरके धर्म हैं-वे रुद्रसे अन्य अर्थरूप-नारायणमें उत्पन्न नहीं होसकते हैं, इसलिये श्रीनारायण रुद्रसे अर्थान्तर नहीं है, किन्तु रुद्रही नारायण है, इसलिये जो यह शिवमार्ग है, वही यह विष्णुमार्ग है, ऐसा हम यथार्थतः जानते हैं ।

यदाहुः—श्रीमद्भागवते चतुर्थे श्रीभगवन्मुखेन, द्वादशे च सूतमुखेन बादरायणाचार्य्याः—तथाहि—-ब्रह्मविष्णुरुद्राणां त्रयाणां युगपद्दर्शनं कृत्वा महर्षिरत्रिस्तान् प्रतिवदति—युष्मान् प्रणतोऽस्मि, मया तु एक एवोपहूतः । स च युष्मासु कः ? इति युष्माभिरेव कथ्यतामिति महर्षिणा पृष्टेषु सत्सु तस्य वचः श्रुत्वा त्रयस्ते विबुधर्षभाः किञ्चित् प्रहस्य श्लक्ष्णया वाचा तमृषिं प्रत्याहुः—'यद्वै ध्यायति ते वयम् ।' (भा०४।१।३०) अर्थात् यदेकं जगदीश्वराख्यं तत्त्वं भवान् ध्यायति, त एते वयं त्रयोऽपि, तदेवैकं तत्त्वम्, नास्माकं भेदोऽस्तीत्यर्थः ।

यही सिद्धान्त श्रीमद्भागवतके चतुर्थस्कन्धमें श्रीभगवान्के मुखसे तथा द्वादशस्कन्धमें श्रीसूतके मुखसे बादरायणाचार्य कहते हैं-जैसे-ब्रह्मा विष्णु एवं रुद्र इन तीनों का एकसाथ दर्शन करके अत्रि-महर्षि उनके प्रति कहता है कि-आप-तीनोंको मैं प्रणाम करता हूँ, परन्तु मैंने तो एकका ही ध्यान द्वारा आह्वान किया है, अतः आप तीनोंमें वह एक-परमेश्वर कौन है ? यह बात आप-तीनों ही मिलकर कहें, ऐसा महर्षि द्वारा पूछने पर-उनका वचन सुनकर वे तीनों ही देव-श्रेष्ठ कुछ हँसकर मधुरवाणी द्वारा उन ऋषिके प्रति कहने लगे कि-'जिस परमेश्वरका तुम ध्यान करते थे, वह हम ही तीनों हैं ।' (भा०) जो एक-जगदीश्वर नामवाले स्वरूपका आप ध्यान करते थे, वही एक-स्वरूप ये हम तीनों ही हैं, हमारे में भेद नहीं है ।

'द्विजऋषभ ! स एष ब्रह्मयोनिः स्वयंदृक् स्वमहिमपरिपूर्णो मायया स्वयैतत्। सृजति हरति पातीत्याख्ययाऽनावृताक्षो विवृत इव निरुक्तस्तत्परैरात्मलभ्यः (दृश्यः) ॥' (भा० १२।११।२४) अयमर्थः—तस्यैकस्यैव भगवतो ब्रह्मादित्रिमूर्तितामाह—द्विजऋषभेति। स एष एक एव भगवान्। ब्रह्मयोनिः = वेदस्य सर्वज्ञकल्पस्य कारणमित्यादिहेतुत्रयम्। वस्तुतो भेदाभावेऽप्येतज्जगत् स्वगतमायया सृजति, हरति, पातीति कृत्वाऽऽख्यया = ब्रह्मादिसंज्ञया, अनावृताक्षः = अनाच्छन्नज्ञानोऽपि, विवृत इव = भिन्न इव निरुक्तः शास्त्रेषु न तु भिन्नः। अत्र विद्वदनुभवं प्रमाणयति—यतस्तत्परैरात्मत्वेनैव लक्ष्यते लभ्यते च।

'सूत-पुराणी कहते हैं-हे शौनकजी ! वही सर्वस्वरूप भगवान्—सर्वज्ञसदृश—वेदोंके मूल कारण हैं, वे स्वयंप्रकाश एवं अपनी महिमासे परिपूर्ण हैं, वे अपनी मायासे ब्रह्मा विष्णु एवं रुद्रके दिव्य-रूपोंसे एवं पुनीत-नामोंसे इस विश्वकी सृष्टि स्थिति और संहार संपन्न करते हैं। इन सब कर्मोंसे उनका विशुद्ध-ज्ञान कभी आवृत नहीं होता। यद्यपि शास्त्रोंमें भिन्नके समान (काल्पनिक-औपाधिक-भेदको लेकर) उन-तीनोंका वर्णन हुआ है अवश्य, परन्तु वे अपने अनन्य-प्रेमी ज्ञानी-भक्तों को आत्मस्वरूप से ही लक्षित होते हैं, या प्राप्त होते हैं। (भा०) यह अर्थ है-उस-एकही भगवान् की ब्रह्मादि-त्रिमूर्तिता कहते हैं-। वस्तुतः भेद न होनेपर भी स्वगतमाया द्वारा इस जगत्का सर्जन करता है, इसलिये वह ब्रह्मा-संज्ञावाला, हरण विलय करता है, इसलिए रुद्रसंज्ञावाला, तथा रक्षण करता है, इसलिये विष्णु संज्ञावाला होता है। शास्त्रमें भिन्न की तरह कहा है-परन्तु भिन्न नहीं है, इसमें विद्वानोंके अनुभवको प्रमाणरूपसे उपस्थित करते हैं। अन्य अर्थ मूलमें स्पष्ट होगया है। पिष्ट-पेषण करना व्यर्थ है।

ज्ञानभक्त्योः साक्षात्कारफलसंपादनानुगुणा परस्परं प्रयोज्यप्रयोजकता।

लोकव्यवहारेऽपि दृष्टमिदं यत्—कस्यचित्पदार्थस्य सौन्दर्यमहत्त्व सुखप्रदत्वादिगुणज्ञानं विना, तत्र प्रीत्यपरपर्याया भक्तिः कथमपि कस्यचित्कदाचिदपि नैवोत्पद्यते। एवमव्यभिचारिणी भक्तिमन्तरेण ज्ञातपदार्थस्य साक्षात्कारसाधिका निदिध्यासनापरपर्याया ध्रुवा स्मृतिरपि नैवोपजायते। यथा कस्यचिद् गृहे हीरकपाषाणखण्डोऽतिमलिनोऽपरिष्कृतो विद्यते। स हि तं हीरकत्वेन न जानाति। अतएव सौन्दर्यादिज्ञानमन्तरेण तत्र स भक्तिं नानुबध्नाति, प्रत्युत तं समुपेक्षत एवाज्ञानमिथ्याज्ञानवशात्। कदाचित्तस्य गृहे समायातेन केनचिद्रत्नपरीक्षकेण दृष्टः स हीरकपाषाणखण्डः। तेन तस्य तदनुमत्या परिष्कृतिर्विहिता, सौन्दर्यबहुमूल्यादिज्ञानं ततस्तेन समासादितम्। सति चैवं यथार्थतो विज्ञाते तस्मिन् हीरकपाषाणखण्डे स महतीमनुरक्तिमनुबध्नाति।

ज्ञान एवं भक्तिमें साक्षात्काररूपफलसंपादनके अनुकूल-परस्पर प्रयोज्य एवं प्रयोजकता ।

लोक व्यवहारमें भी यह देखा गया है कि—किसी भी पदार्थके सौन्दर्य, महत्त्व, सुखप्रदत्वादि-गुणोंके ज्ञान विना उस पदार्थमें—प्रीति है—अन्य नाम जिसका-ऐसी भक्ति-किसी भी प्रकारसे किसी को भी कभी भी नहीं ही उत्पन्न होती है। इसप्रकार अव्यभिचारिणी भक्तिके विना ज्ञात पदार्थकी ध्रुवास्मृति भी-जो साक्षात्कारकी साधिका है एवं निदिध्यासन ऐसा अन्य नाम वाली-नहीं ही उत्पन्न होती है। जैसे किसीके घरमें हीराके पाषाणका खण्ड (छोटा-टुकडा) अतिमलिन एवं परिष्कृति (पालिस) विनाका विद्यमान है। वह उसको हीरारूपसे नहीं जानता है, इसलिये सौन्दर्यादिके ज्ञान विना वह उसमें प्रीति नहीं बाँधता है, प्रत्युत वह अज्ञान एवं मिथ्याज्ञान वश उसकी उपेक्षा ही करता है। कदाचित् उसके गृहमें कोई रत्नपरीक्षक-जौहरी आया और उसने उस हीराके पाषाण खण्ड को देखा। उसने उसकी अनुमति से उसकी परिष्कृति की, और उसने उस जौहरीसे उसके सौन्दर्य-बहुमूल्य आदिके गुणोंका ज्ञान प्राप्त किया। ऐसा होजाने पर उस हीराके पाषाण खण्ड को यथार्थरूपसे जान लेनेपर वह उसमें महती अनुरक्ति (प्रीति) बांधता है।

अत एव प्रागिव तं व्यर्थं मत्वा इतस्ततः प्रक्षिप्य न समुपेक्षते, किन्तु सुवर्णनिर्मितस्वल्पपेटिकायां विरचितमृदुलकौशेयवस्त्रासने तमतिप्रेम्णा स्थापयित्वा स्वगृहाभ्यन्तरेऽवस्थितायां दृढलोहनिर्मितबृहन्मंजुषायां परिक्षिप्य कश्चन बाह्यस्तं यथा न पश्येन्न च तं गृह्णीयात्, तथा तं सततमभिरक्षति। स्नानपानभोजनादिकार्यसमयेऽपि तं विपुलभावभक्त्या पौनःपुन्येनानुचिन्तयति। वारं वारं तं नयनाभ्यां परिवीक्ष्य महान्तमानन्दमनुभवति। दृष्टान्तेऽस्मिन् तद्यथार्थज्ञानेन भक्तिः, भक्त्या च ज्ञातस्य तस्य ध्रुवास्मृतिः संजाताऽभ्युपगम्यते, तथैव दार्ष्टान्तिकेऽपि परमेश्वरे तथैवाभ्युपेयम्। यतो दृष्टानुसारित्वादेवादृष्टकल्पनायाः।

इसलिये वह प्रथमके समान उसे व्यर्थ मानकर इधर-उधर फेंककर उसकी उपेक्षा नहीं करता है, किन्तु उसके लिए सुवर्ण की एक छोटी सी पेटी बनाता है, उस में कोमल-रेशमी वस्त्रका आसन बिछाता है, उसमें उसे अतिप्रेमसे स्थापित करता है, और उस को अपने गृहके अन्दर अवस्थित-लोहनिर्मित-मजबूत-बड़ी तिजोरीमें रख देता है, बाहर का मनुष्य उसे न देखे, एवं उसे ग्रहण न कर सके-उस प्रकार उसकी निरन्तर रक्षा करता रहता है। स्नान, पान, भोजन आदि कार्यके समय भी उस हीराका विपुल-भाववाली भक्तिसे पुनः पुनःचिन्तन करता रहता है। बार-बार उसे अपनी आखोंसे देखकर महान्-आनन्द का अनुभव करता है। इस दृष्टान्तमें उस हीराके यथार्थ-ज्ञानसे भक्ति उत्पन्न हुई थी, और भक्तिसे उस ज्ञात-हीराकी ध्रुवास्मृति उत्पन्न हुई थी, ऐसा माना

जाता है। उसप्रकार ही दार्ष्टान्तिक-परमेश्वरमें भी वैसाही मानना चाहिए, क्योंकि-अदृष्ट की कल्पना दृष्ट के अनुसारी ही होती है।

गीतासंमतिः।

अत एव गीतासु भगवता स्पष्टमेवेदमभ्यधायि-'महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥' (९।१३) अस्यायमर्थः—महान्=अनेकजन्मकृतसुकृतशतक्षालितमलतयाऽधिकः प्रशस्तः आत्मा=मनो येषां ते तथोक्ताः, अत एव दैवीं=सात्त्विकीं प्रकृतिं—'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' (१६।१) इत्यादिलक्षणां आश्रिताः, भूतादिं=जगत्कारणं, अव्ययं=त्रिविधपरिच्छेदशून्यं पूर्णं परं ब्रह्मैव लोकानुग्रहार्थं मनुष्यत्वेनावतीर्णं मां अनन्यमनसो भजन्ति। अत्रापि महात्मान् इति बहुवचनात्तेषु त्रैविध्यं सूचितम्। तत्र परं ब्रह्मैवायं वासुदेवः श्रीकृष्ण इति ये ज्ञात्वा बहु मन्यन्ते, ते महात्मानो दुर्लभाः 'ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्' इत्यनेनोक्ताः। ये तु तथा ज्ञात्वा भगवति प्रेमलक्षणां भक्तिं कुर्वते, ते दुर्लभतराः, 'भजन्ति' इत्यनेनोक्ताः। ये तु 'वासुदेवः सर्वम्, (गी०७।१६) इत्यद्वैतज्ञानसंपन्नाः 'स महात्मा सुदुर्लभः' (गी० ७।१६) इत्युक्ताः ते दुर्लभतमाः-'अनन्यमनसः' इत्यनेनोक्ताः। न विद्यतेऽन्यद्यस्मात्तदनन्यमद्वैतम्, तन्मनसस्तद्बुद्धय इत्यर्थः।

गीताकी संमति।

इसलिये गीतामें भगवान्ने यह स्पष्ट ही कहा है कि—'परन्तु हे कुन्तीपुत्र-अर्जुन ! दैवी-प्रकृतिके आश्रित हुए—जो महात्मा जन हैं, वे तो मेरे को सब भूतोंका सनातन कारण और त्रिविध-परिच्छेद रहित-अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य-मन से युक्त हुए-निरन्तर भजन करते हैं।' (गी०) इसका यह अर्थ है—महान् यानी अनेक-जन्मोंमें किये हुए-सैंकड़ों पुण्य-कर्मों से जिसने अपने मन के मलों को प्रक्षालित किया है—इसलिये अधिक-प्रशस्त (शुद्ध) हुआ है, आत्मा यानी मन जिन्होंका वे महान्-आत्मा हैं। इसलिये वे दैवी यानी 'अभय, सत्त्वकी संशुद्धि' इत्यादि लक्षणोंवाली सात्त्विकी-प्रकृतिका आश्रय किये हुए हैं। भूतादि यानी जगत् का कारण, अव्यय यानी त्रिविध-परिच्छेदों से शून्य-पूर्ण पर ब्रह्म ही लोगोंपर अनुग्रह करने के लिये मनुष्य-रूपसे अवतीर्ण हुआ है, ऐसा मुझे जान करके—अनन्य मन वाले हुए मुझे भजते हैं। इस श्लोकमें भी श्रीभगवान्ने 'महात्मानः' ऐसा बहुवचन दिया है, इसलिये उन महात्माओंमें तीन प्रकारता सूचित की है। उनमें-जो—परब्रह्मही यह वासुदेव कृष्ण है, ऐसा जान करके मेरा बहुत संमान करते हैं, वे महात्मा दुर्लभ हैं—'ज्ञात्वा भूतादिमव्ययं' इस वाक्य द्वारा कहे गये हैं। जो सज्जन उस रूपसे जानकर मुझ भगवान् की प्रेमलक्षणा-भक्ति करते हैं, वे दुर्लभतर हैं, 'भजन्ति' इसपदसे वे द्वितीयप्रकारके कहेगये हैं। एवं जो सज्जन 'यह सब कुछ वासुदेव ही है' ऐसे अद्वैत

ज्ञानसे संपन्न हैं वह महात्मा अतिदुर्लभ है' इस वचन द्वारा कहेगये—वे दुर्लभतम हैं 'अनन्यमनसः' इसवाक्य द्वारा कहे गये हैं। अनन्य यानी जिससे अन्य-व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है—वह अनन्य अद्वैत है—उसमें जिसका मन यानी निश्चयात्मिका-बुद्धि अवस्थित है-वे अनन्यमनस हैं।

अनेन—अज्ञाते भगवति भक्तिचिन्तनानुपपत्तेः, शास्त्रोपपत्तिभ्यामादौ भगवन्तं ज्ञात्वा ततो भजन्तेऽजस्रं प्रेम्णा चिन्तयन्तीत्युक्तम्। एवं 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा·········मद्भक्तिं लभते पराम् ।' (गी० १८।५४) इत्यनेनापि—'अहं ब्रह्मास्मी' ति दृढनिश्चयवान् प्रसन्नात्मा = स्वात्मारामो भवति, स च मयि=प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि परां=उत्तमां-अनन्यप्रेमलक्षणां भक्तिं लभते इत्युक्तम्। तथा च परोक्षज्ञानमपरोक्षज्ञानञ्चापरायाः परायाश्च भक्तेः प्रयोजकं सिद्ध्यति। एवं 'भक्त्या मामभिजानाति' (गी० १८।५५) 'मद्भक्त एतद्विज्ञाय' (गी० १३।१८) इत्यादिभिः प्रेमलक्षणा भक्ति र्भगवद्विज्ञानस्यास्ति प्रयोजिका इत्यभिहितम् । सत्येवं ज्ञानलक्षणा भक्तिः, एवं भक्तिमयं ज्ञानं, परस्परं मिलित्वा साक्षात्कारलक्षणं महत्फलं संपादयतीति निर्विवादं सिद्धम्।

इस 'महात्मानस्तु मां पार्थ !' श्लोक द्वारा—अज्ञात भगवान् में भक्ति एवं चिन्तनकी अनुपपत्ति होने के कारण, प्रथम शास्त्र एवं युक्तिके द्वारा—भगवान् को जान करके उसके बाद भगवान्को भजते हैं यानी प्रेमसे निरन्तर भगवान्का चिन्तन करते हैं, ऐसा कहा। इस प्रकार 'ब्रह्मरूप एवं प्रसन्नात्मा हुआ' 'मेरी परा भक्तिको प्राप्त करता है' इस श्लोक द्वारा भी ब्रह्म-भूत यानी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा दृढनिश्चयवाला प्रसन्नात्मा यानी स्वात्माराम होता हैं, वह मुझ प्रत्यगभिन्न-ब्रह्ममें परा यानी उत्तम-अनन्य-प्रेम लक्षणा भक्ति को प्राप्त करता है, ऐसा कहा। तथा च परोक्ष ज्ञान, अपरा-भक्तिका एवं अपरोक्ष ज्ञान, पराभक्ति का प्रयोजक सिद्ध होता है। इसप्रकार 'भक्तिसे वह मुझे यथार्थरूपसे जानता है' (गी०) 'मेरा भक्त उस तत्त्व को जान करके' (गी०) इत्यादि-वचनोंके द्वारा प्रेमलक्षणा भक्ति-भगवान्के विज्ञानकी प्रयोजिका है, ऐसा कहा। ऐसा निर्णय होजाने पर ज्ञानलक्षणा भक्ति, एवं भक्तिमय-ज्ञान ज्ञान एवं भक्ति परस्पर मिलकर साक्षात्काररूप महान्-फल संपादन कराता है, ऐसा निर्विवाद-सिद्ध हुआ।

श्रीमद्भागवत-संमतिः ।

सति चैवम्—श्रीमद्भागवतेऽपि-इदमेव सिद्धान्तितम्-तथाहि-'श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो ! क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥' (भा० १०।१४।४) 'पुरेह भूमन् ! बहवोऽपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया। विबुद्ध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ! ते गतिं पराम् ॥' (भा० १०।१४।५) 'नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्, शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ॥' (भा० १।५।१२)
(भा० १२।१२।५१-५२) इति ।

श्रीमद्भागवत-संमितिः ।

श्रीगीताजीकी ऐसी संमति होनेपर-श्रीमद्भागवतमें भी यही सिद्धान्तरूपसे कहा है-कि-जैसे-'हे भगवन् ! आपकी भक्ति सब प्रकारके कल्याणका मूल स्रोत-उद्गम-स्थल है । जो लोग उसे छोड़ कर केवल ज्ञानकी प्राप्ति के लिये श्रम उठाते और दुःख भोगते हैं, उनको बस क्लेश ही क्लेश हाथ लगता है, और कुछ नहीं-जैसे थोथी भूसी कूटने वालोंको केवल श्रमही मिलता है, चावल नहीं ।' (भा०) 'हे अच्युत ! हे अनन्त ! इसलोक में पहले भी बहुत से योगी हो गये हैं, जब उन्हें केवल-योगादिके द्वारा आपकी प्राप्ति न हुई, तब उन्होंने अपने लौकिक और वैदिक समस्त कर्म, आपके श्रीचरणोंमें समर्पित कर दिये । उन समर्पित कर्मोंसे तथा आपकी पुनीत एवं मधुरतम कथाओंके श्रवणसे उन्हें आपकी भक्ति प्राप्त हुई । उस भक्तिसे ही आपके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने बड़ी सुगमतासे परम-पदकी प्राप्ति कर ली ।' (भा०)' जिसमें श्रीभगवान्के सुयशसूचक-पावन नाम जड़े हुए हैं, ऐसी ही वाणीका सत्पुरुष श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं; वह निर्मल-ज्ञान भी जो मोक्ष-प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि अच्युत भगवान्की भक्तिसे रहित है, तो वह पर्याप्त रूपसे सुशोभित नहीं होता । (भा०)

अयमर्थः—भक्तिं विना ज्ञानन्तु नैव सिद्ध्येदित्याह-श्रेयःस्रुतिमिति । श्रेयसां=अभ्युदयापवर्गलक्षणानां स्रुतिः=स्रवणं यस्याः 'सरस इव निर्झराणाम' तां, ते=तव, भक्तिं उदस्य=त्यक्त्वा, श्रेयसां मार्गभूतामिति वा, तेषां क्लेशलः=क्लेश एवावशिष्यते । अयं भावः—यथा धान्यं परित्यज्य स्थूलान्-धान्याभासान् तुषानेवावघ्नन्ति, तेषां न किञ्चित्फलम् । एवं भक्तिं तुच्छीकृत्य ये केवलबोधाय क्लिश्यन्ति—प्रयतन्ते तेषामपीति । भक्त्यैव ज्ञानं प्राप्य ततो विमुक्तिः, नान्यथेत्युक्तं, तत्र सदाचारं प्रमाणयति-पुरेति । हे भूमन्= अपरिच्छिन्न ! इह=लोके, पुरा=प्राकाले, योगिनोऽपि सन्तः, त्वदर्पितेहा= त्वय्यर्पिता लौकिक्यपीहा=चेष्टा यैस्ते, निजकर्मलब्धया=त्वदर्पितैर्निजैः कर्मभिर्लब्धया, त्वय्यर्पिता ईहा च निजानि कर्माणि च तैर्लब्धयेत्येकं पदं वा । कथोपनीतया=तव कथया सतां मुखेन श्रुतया, उपनीतया=त्वत्समीपं प्रापितया भक्त्यैव विबुध्य=विश्वव्यापकमात्मानमद्वयं ज्ञात्वा अञ्जः=सुखेनैव ते परां गतिं=विमुक्तिं-ब्रह्मनिर्वाणलक्षणां प्रपेदिरे=प्राप्ताः, इतीयं सतां महानुभावानां साधनपद्धतिः प्रमाणतया निरूपिता ।

यह अर्थ है-भक्तिके विना ज्ञान तो नहीं ही सिद्ध होगा, यह कहते हैं-श्रेयःस्रुतिमिति । अभ्युदय एवं अपवर्गरूप श्रेयोंका प्रस्रवण (प्रादुर्भाव) होता है,

जिससे, जैसे सरोवरसे झरणोंका प्रस्रवण होता है, वैसे, ऐसी अथवा श्रेयों की मार्गरूपा—आपकी भक्ति को छोड़ कर, उन्हें केवल-क्लेश ही अवशिष्ट रहता है। यह भाव है-जैसे धान्यका परित्याग कर स्थूल-धान्याभासरूप-तुषाका ही जो अवहनन करते हैं-उन्हें कुछ भी फल नहीं मिलता, इसप्रकार भक्तिको तुच्छ मानकर जो केवल-ज्ञान के लिए प्रयत्न करते हैं—कष्ट उठाते हैं—उन्हें भी कुछ सफलता नहीं मिलती। भक्तिसे ही ज्ञानको प्राप्त करके उस ज्ञानसे विमुक्ति प्राप्त होती है, अन्य-प्रकारसे नहीं, यह कहा है, उसमें सत्पुरुषोंके आचारको प्रमाणरूपसे प्रदर्शित करते हैं—पुरेति। हे भूमन्! त्रिविध-परिच्छेदवर्जित! इस लोक में प्रथमके समयमें योगी भी हुए उन्होंने आप भगवान् में अपनी लोक-प्रसिद्धा चेष्टा भी अर्पित कर दी थी, अपने अन्य यज्ञ-दानादि कर्म भी आपमें अर्पित कर दिये थे—इसलिये त्वदर्पित—कर्मोंके द्वारा तथा सत्पुरुषोंके मुखसे श्रुत-आपकी कथा के द्वारा—उन्होंने भक्ति प्राप्त की थी—जो आपकी समीपता प्राप्त कराती है, उस भक्तिके द्वारा ही विश्वव्यापक-अद्वयं-आत्माको जान करके वे सुखसे ही ब्रह्मनिर्वाणरूप-परागति-विमुक्ति को प्राप्त हो गये हैं, इसप्रकार सज्जन-महानुभावों की इस साधन पद्धतिका भी प्रमाणरूपसे निरूपण किया।

अनन्तस्य परमात्मनो यशोऽङ्कितानि -यशोज्ञापकानि—निरतिशय-महत्त्वप्रख्यापकानीति यावत्। यद्=यानि नामानि साधवो महान्तो वक्तरि सति शृण्वन्ति, श्रोतरि सति गृणन्ति=प्रवदन्ति, अन्यदा तु स्वयमेव गायन्ति=कीर्तयन्ति। यद्वा गृणन्ति=तदर्थभावनपुरस्सरं नामान्यभ्यस्यन्ति। नैष्कर्म्यं=निष्क्रियं—ब्रह्म, तत्प्रकाशकं यज्ज्ञानं, यतो निरञ्जनं=अविद्याद्युपाधिनिवर्तकं, तदप्यच्युतभक्तिवर्जितं चेन्न शोभते=नापरोक्षसाक्षात्कार-पर्यन्तं भवतीत्यर्थः। यद्वा तादृशं ज्ञानं प्राप्यापि न तज्ज्ञानं भगवदनुग्रहमन्तरेण अलं=अत्यर्थं, शोभते=सम्यक् प्रतिबन्धाभावपूर्वकायापरोदयाय कल्पत इत्यर्थः। अर्थतो भक्तिमत एव भगवदनुग्रहात्प्रतिबन्धनिरासो भवति, न तद्वर्जितस्य। तदुक्तं—'ज्ञानिनोऽपि प्रपद्यन्ते कश्चित्संसारवासनाम्।' इति। अनेन भक्तिमयमेव ज्ञानं तत्त्वसाक्षात्कारं जनयितुं समर्थं, न केवलमिति विनिर्णीतम्।

अनन्त-परमात्माके यशके ज्ञापक-निरतिशय-महत्त्वके प्रख्यापक—नामोंको—वक्ताके रहनेपर महान्-साधुजन सुनते हैं, श्रोता होनेपर स्वयं उनका विवेचन करते हैं, और श्रोता—वक्ता न होनेपर अन्य समयमें स्वयं ही उनका कीर्तन करते हैं। अथवा गृणन्ति यानी अर्थोंकी भावना पूर्वक नामोंका जपादिरूप—अभ्यास करते हैं। नैष्कर्म्यं यानी निष्क्रिय-ब्रह्मका प्रकाशक-ज्ञान, वह अविद्यादि-उपाधिका निवर्तक होने पर भी यदि वह अच्युत-भक्ति वर्जित है, तो शोभित नहीं होता, अर्थात् अपरोक्ष-साक्षात्कार पर्यन्त नहीं होता। अथवा उसप्रकार का ज्ञान प्राप्त करके भी वह ज्ञान

भगवदनुग्रह विना अत्यन्त शोभा नहीं देता अर्थात् प्रतिबन्धाभावपूर्वक-अपरोक्ष-साक्षात्कार के लिए समर्थ नहीं होता। अर्थात भगवान् की कृपासे भक्तिमान्‌के ही प्रतिबन्धोंका निरास होता है, भक्ति वर्जित-ज्ञानवान् के प्रतिबन्धोंका निरास नही होता है। यह कहा भी है-'ज्ञानी भी कहीं संसार की वासनाओंमें फँस जाते हैं।' इससे भक्तिमय ही ज्ञान, तत्त्व-साक्षात्कारके प्रादुर्भाव के लिए समर्थ होता है, केवल ज्ञान नहीं, यह निर्णय हुआ।

एवं ज्ञानवैराग्ययुक्तया भक्त्यैव भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारो भवति, न ज्ञानादिवर्जितयाऽऽभासभक्त्या इत्यपि निर्णयो व्यधायि—श्रीमद्भागवते यत्र तत्र बहुत्र, अत एवाहुः—श्रीमद्भागवते प्रथमे सूतमहाभागाः—'तच्छ्रद्दधना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया। पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥' (भा० १।२।१२) इति। तच्च तत्त्वं—अद्वय-ज्ञानलक्षणं सपरिकरया भक्त्यैव न केवलया—प्राप्यते इत्याह—ज्ञानवैराग्ययुक्तयेत्यत्र ज्ञानं परोक्षमभिप्रेतम्। तच्च तत्त्वं, आत्मनि—क्षेत्रज्ञे ऽभेदेन पश्यन्ति, किं तत् ? आत्मानं=परमात्मानम्। श्रुतेन=वेदान्तादिश्रवणेन गृहीतया=प्राप्तयेति भक्ते र्दार्ढ्यमनन्यत्वं ज्ञानमयत्वञ्चाभिहितम्। एतेन—प्रेमभक्तै र्भक्त्यैव केवलयेष्टसिद्धिर्लभ्यते, तैस्तु ज्ञानवैराग्ये नापेक्ष्येते इति प्रत्युक्तम्। पूर्वोक्तवचननिर्णयविरोधात्।

इसप्रकार ज्ञान वैराग्य से युक्त-भक्ति से ही भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार होता है, ज्ञानादि-वर्जित-आभासभूत (नकली) भक्ति से नहीं, यह भी निर्णय श्रीमद्भागवतमें जहाँ तहाँ बहुत स्थल पर किया है। इसलिये—श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें महाभाग सूत भी कहते हैं कि— 'श्रद्धालु-मुनिजन, श्रीमद्भागवतके श्रवण से प्राप्त ज्ञान वैराग्य युक्त–भक्ति से अपने हृदयमें उस परम तत्त्वरूप-परमात्माका अनुभव करते हैं।' (भा०) वह अद्वय ज्ञानरूप तत्त्व, ज्ञान-वैराग्यादि-परिकर (उपकारक-अंग) सहित-भक्ति से ही प्राप्त होता है, परिकरवर्जित केवल–भक्तिसे नहीं, यह कहते हैं–ज्ञान वैराग्ययुक्तया इस वाक्य में ज्ञान परोक्ष अभिप्रेत है। आत्मा यानी क्षेत्रज्ञमें वह तत्त्व अभेद रूपसे देखते हैं, क्या है वह तत्त्व ? आत्मा यानी परमात्मा। वेदान्तादिके श्रवणसे प्राप्त-भक्तिसे। इस कथनसे भक्ति की दृढ़ता अनन्यता एवं ज्ञानमयता का प्रतिपादन किया। इससे—प्रेमीभक्त केवल भक्तिसे ही इष्टकी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, अतः वे ज्ञान एवं वैराग्य की अपेक्षा नहीं रखते, ऐसा कथन खण्डित होगया। पूर्वोक्त वचनों के द्वारा होने वाले-निर्णय से विरोध होने के कारण।

एवं श्रीमद्भागवते चतुर्थेऽपि–स्वयंभुवा मनुना स्वपौत्रं ध्रुवं प्रति समुपदिष्टमिदमपि—तमेव सिद्धान्तमाविष्करोति—तथाहि–'त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त आनन्दमात्र उपसन्नसमस्तशक्तौ। भक्तिं विधाय परमां

शनकैरविद्याग्रन्थिं विभेत्स्यति ममाहमिति प्ररूढम् ॥' (भा० ४।११।३०) इति । अयमर्थः—तदा = अन्वेषणसमये, 'आत्मानमन्विच्छ विमुक्तमात्मदृक्, यस्मिन्निदं भेदमसत् प्रतीयते ।' (भा० ४।११।२९) इति प्रागुक्तत्वात् । उपसन्नाः = समीपे वर्तमानाः, न तु निरञ्जनस्वरूपे, समस्ताः = निखिलाः, शक्तयः = ज्ञानबलक्रियारूपाः, जगत्सर्जनपालनाद्युपयुक्तसत्त्वादिरूपा वा यस्य तस्मिन् । परमां = उत्तमां—चतुर्थी—ज्ञानलक्षणां भक्तिं—अनन्यां विधाय = संपाद्य । अत्र भक्तौ ज्ञानमयत्वमन्तरेणाविद्याग्रन्थिविभेदनानुपपत्तेः परमामिति विशेषणम् ।

इसप्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थस्कन्धमें भी स्वयंभू-मनुने अपने-पौत्र ध्रुवके प्रति समुपदिष्ट यह पद्य भी उसी ही सिद्धान्त को प्रकट करता है । जैसे—'ऐसा करने से सर्वशक्ति संपन्न-परमानन्दस्वरूप-सर्वान्तर्यामी-भगवान्-अनन्तमें तुम्हारी-उत्तम-ज्ञानमयी अनन्यभक्ति होगी, और उसके प्रभावसे तुम मैं मेरेपनके रूपमें दृढ हुई-अविद्याकी गाँठ को काट डालोगे ।' (भा०) यह अर्थ है—तदा यानी अन्वेषणके समयमें । 'उस नित्यमुक्त-स्वप्रकाश—अद्वितीय-अविनाशी आत्माका तू अन्वेषण कर, जिसमें यह भेदभावमय-प्रपञ्च वस्तुतः न होनेपर भी प्रतीत हो रहा है ।' (भा०) ऐसा प्रथम कहा है । उपसन्ना यानी समीपमें शक्तियाँ वर्तमान हैं, निरञ्जन-स्वरूपमें नहीं हैं । ज्ञानरूपा बलरूपा एवं क्रियारूपा शक्तियाँ, या जगत्सर्जन-पालनादिमें उपयोगी सत्त्वादि गुणरूपा निखिल-शक्तियां । परमा यानी उत्तमा चतुर्थी ज्ञानलक्षणा अनन्या-भक्ति । विधाय यानी संपादन करके । यहाँ भक्तिमें ज्ञानमयत्व के विना अविद्याग्रन्थि का विभेदन नहीं होसकता है, इसलिये 'परमा' ऐसा विशेषण दिया है ।

एवं भक्त्या जनन्या वैराग्यज्ञानयोः प्रादुर्भावः, भगवत्पादकमलयो-र्भक्तिजन्येन ध्यानपूतेन ज्ञानेनैव आत्मतत्त्वसाक्षात्कारोऽपि च श्रीमद्भागवते प्रथमे द्वितीये चतुर्थे च स्पष्टतोऽभिवर्ण्यते । तथाहि—'वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः । जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम् ॥' (भा० १।२।७) 'यदङ्घ्र्यनुध्यानसमाधिधौतया धियाऽनुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः । वदन्ति चैतत्कवयो यथारुचं स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ॥' (भा० २।४।२१) इति । 'आराध्य भक्त्या लभतामलं तज्ज्ञानं यतो ब्रह्म परं विदन्ति ।' (भा० ४।१६।२५) इति च ।'

इसप्रकार भक्ति-जननीसे वैराग्य एवं ज्ञानका प्रादुर्भाव होता है, तथा भगवान् के चरणकमलोंकी भक्तिसे जन्य एवं ध्यानसे पवित्र-ज्ञानसे ही आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होता है, ऐसा—श्रीमद्भागवत के प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ स्कन्ध में स्पष्टतः वर्णन किया है । जैसे—'भगवान् वासुदेव-कृष्णमें भक्ति होते ही अनन्यप्रेमसे उनमें चित्त जोड़ते ही निष्काम ज्ञान और वैराग्यका आविर्भाव हो ही जाता है ।' (भा०) 'जिनके

चरणकमलोंके ध्यानरूप समाधिसे शुद्ध-पवित्र हुई निश्चयात्मिका-बुद्धि के द्वारा साधक भक्त आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, तथा विद्वज्जन अपनी अपनी मति और रुचिके अनुसार जिनके स्वरूपका विविध-ढंग से वर्णन करते रहते हैं, वे प्रेममय-ज्ञान प्रदान करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण मुझपर प्रसन्न हों।' (भा०) भक्ति से भगवान् की आराधना करके वे उस निर्मल-ज्ञान को प्राप्त करते हैं, जिससे परब्रह्म की प्राप्ति होती है।' (भा०)

अयमर्थः—वैराग्यं ज्ञानञ्च भक्तिद्वारेणैव समुत्पद्यते, इत्याह-वासुदेवे इति। अहैतुकं=शुष्कतर्काद्यगोचरम्। 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (क० उ० १।१।६) इति श्रुतेः। अत एवौपनिषदमित्यर्थः। एतेन--प्रयोजितः श्लेषेण प्रयोजनीकृतः, अर्थात् भक्तियोगस्य भक्तियोग एव प्रयोजनं नान्य इत्येवं निर्णीतमिति निरस्तम्। ज्ञानवैराग्यजननप्रयोजनबोधकोत्तरार्धेन विरोधात्। भगवदाराधनस्य ज्ञानप्रदानसामर्थ्यमनुस्मरन्नाह—यदंघ्रीति। यस्यांघ्र्योरनुध्यानमेव समाधिः, तेन धौतया=शोधितया परिपूतया धिया=तत्त्वनिश्चयात्मिकया। 'समुपासितो भक्त्या प्रसन्नो भगवान् श्रीकृष्ण एव ज्ञानप्रदो भवत्विति' स्तुत्याऽनया विज्ञापितम्। यथारुचं=रुक्=रुचिः, प्रतिभा वा यथारुचि यथामतीत्यर्थः। कवयः पण्डिताः स्वस्वरुचिमत्यनुसारेण परमात्मतत्त्वं साकारं निराकारं वा भिन्नमभिन्नं वा जीवात्मस्वरूपमणुपरिमाणं सर्वगतं वा विश्वं सत्यं मिथ्या वेति विभिन्नप्रकारै र्वदन्ति=युक्त्या प्रमाणयन्तो विवदन्ते। परन्तु तेषां धीर्भक्तिमयध्यानेन न धौताऽत एवात्मनस्तत्त्वं न पश्यन्तीत्यर्थः। धौतबुद्धयस्तत्त्वदर्शिनस्तु तेषां समेषां विभिन्नप्रकाराणामपि समन्वयं साधयन्तो विवादं विरोधञ्च विनिवारयन्ति। अलं=पर्याप्तं, यतः=ज्ञानात्, विदन्ति=अनुभवन्ति।

यह अर्थ है—वैराग्य और ज्ञान भक्ति द्वारा ही उत्पन्न होता है, यह कहते हैं-वासुदेवे अहैतुक यानी शुष्कतर्कादिका अविषय। श्रुति भी कहती है-'यह ब्रह्म-बुद्धि तर्क के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती, अथवा शास्त्रगुरु द्वारा प्राप्त ब्रह्मबुद्धि को शुष्क-तर्कोंके द्वारा बाधित नहीं होने देना चाहिये।' इसलिये वह ज्ञान औपनिषद है यानी उपनिषदोंके विचारसे ही उत्पन्न होता है। इससे-'प्रयोजित यानी श्लेष द्वारा प्रयोजन रूप किया, अर्थात् भक्तियोगका भक्तियोग ही प्रयोजन है, अन्य नहीं, ऐसा निर्णीत हुआ' यह कथन खंडित होगया। ज्ञान एवं वैराग्य का जनन यह भक्तियोग का प्रयोजन है, ऐसा बोधन करने वाले-उत्तरार्धसे विरोध होनेके कारण। भगवान् की आराधनामें ज्ञान प्रदान का सामर्थ्य है, उसका अनुस्मरण करते हुए कहते हैं—यदंघ्रीति। जिसके चरणोंका अनुध्यान ही समाधि है, उससे धौत यानी शुद्ध-पवित्र की हुई—तत्त्व-निश्चयात्मिका—बुद्धिसे। सम्यक् उपासित, भक्तिसे प्रसन्न हुए भगवान् श्रीकृष्ण ही ज्ञानप्रद

हों, ऐसा इस स्तुति द्वारा विज्ञापित हुआ। यथारुचं यानी रुचि एवं मति के अनुसार। कवि यानी पण्डितजन तो अपनी-अपनी रुचि एवं मति के अनुसार परमात्म-तत्त्वका-'वह साकार है, या निराकार है, जीवात्मासे भिन्न है, या अभिन्न है, जीवात्माका स्वरूप अणु-परिमाणवाला है, या सर्वगत-विभु-परिमाणवाला है, विश्व सत्य है, या मिथ्या है, ऐसे–विविध प्रकारोंके द्वारा-युक्तियोंसे प्रमाणित करते हुए विवाद करते हैं, परन्तु उनकी बुद्धि भक्तिमयध्यान द्वारा धोई नहीं गई है, इसलिये वे आत्माके वास्तविक-स्वरूपका दर्शन नहीं कर सकते हैं। धौत-बुद्धिवाले तत्त्वदर्शी तो उन सभी विभिन्न-प्रकारोंका समन्वय सिद्धकरते हुए विवाद और विरोधका निवारण करते हैं। अलं-यानी पर्याप्त। जिस ज्ञानसे अनुभव करते हैं।

अद्वैतमेव सत्यं पूर्णसुखरूपमतस्तदेव तात्पर्यतः प्रतिपाद्यम् ।

यदाहुः—आचार्यप्रवरा वेदान्ताब्जभास्करा भगवत्पादाः श्रीशङ्कर-स्वामिनः—'अद्वैतं सुखरूपं, दुःसहदुःखं सदा भवेद् द्वैतम्। यत्र प्रयोजनं स्यात् प्रतिपादयति श्रुतिस्तदेवासौ ॥ अद्वैतमेव सत्यं तस्मिन् द्वैतं ह्यसत्यमध्यस्तम्। रजतमिव शुक्तिकायां मृगतृष्णायामिवोदकस्फुरणम् ॥ प्रत्यक्षाद्यनवगतं श्रुत्या प्रतिपादनीयमद्वैतम्। द्वैतं न प्रतिपाद्यं, तस्य स्वयमेव लोकसिद्धत्वात् ॥' (स्वात्मनिरूपणे) ।

अद्वैत ही सत्य एवं पूर्णसुखरूप है, इसलिये वही तात्पर्यसे प्रतिपाद्य है।

अत एव 'स्वात्मनिरूपण' नामके निबन्धमें आचार्यप्रवर, वेदान्त-कमलके विकासक-भास्करके समान-पूज्य भगवान् श्रीशंकर स्वामी भी कहते हैं कि–'अद्वैत ही सुखरूप है, द्वैत तो सर्वदा ही दुःसह दुःखरूप है। जिसमें प्रयोजन (सकल दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति) होता है, श्रुति-भगवती उसीहीका प्रतिपादन करती है। अद्वैत ही सत्य है, उसमें असत्य-द्वैत अविद्यासे अध्यस्त है। जैसे शुक्तिमें रजत, और मृग-तृष्णामें उदककी प्रतीति। प्रत्यक्षादि-अन्य प्रमाणोंके द्वारा अविज्ञात होनेके कारण श्रुतिके द्वारा अद्वैत ही प्रति-पादन करने योग्य है। द्वैत श्रुतिद्वारा प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि–वह तो स्वतः लोक-सिद्ध है, लौकिक-प्रमाणोंके द्वारा अधिगत है।'

अपि च 'यस्य ज्ञानमयं तपः' (मुं० उ० १।१।६) इति श्रुत्या श्लेषार्थतः परमेश्वरस्यापि द्वैतज्ञानं तपः=तापयतीति तपः संतापकं भवति, यदा दृश्यप्रतीतितः संताप एव संपद्यते, तदा जीवानां मूढानान्तु का कथा ?। अत एव 'निःश्वसितमस्य वेदाः, वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि। स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः ॥' इति भामतीप्रोक्तपद्यप्रामाण्यादपि यदा परमेश्वरेणापि वीक्षणस्मितानन्तरं द्वैतप्रतीत्यभावप्रयोजिका सुप्तिरपेक्ष्यते, तदा जीवाः तामपेक्ष्येरन् इत्यत्र किमु वक्तव्यम् ?। तथा च जीवा अपि सर्वे दृश्य-द्वैतदर्शनतः परिश्रान्ताः सन्तो निरायासेऽखण्डैकरसे–अद्वयानन्दनिधौ ब्रह्मणि,

अन्तःकरणाद्युपाधिपरित्यज्याद्वैतभावरूपां विश्रान्तिं सततमभिलषन्ति।

और भी 'जिसका ज्ञानमय तप है' (श्रु०) इस मुण्डक-श्रुतिके द्वारा श्लेषार्थसे परमेश्वर का भी द्वैतज्ञान तप यानी संतापप्रद होता है, जब दृश्यप्रतीतिसे परमेश्वरको भी संताप ही प्राप्त होता है, तब मूढ़-जीवोंको द्वैत–भावसे संताप प्राप्त हो–उसमें तो कहना ही क्या ? । इसलिये–'इस परमेश्वरका निःश्वासरूप वेद हैं, इसका वीक्षण (देखना) पंचमहाभूत हैं, इसका स्मित (स्वल्प–हास्य) चराचर–जगत् है, अर्थात् वीक्षणमात्र से पंच महाभूतोंका एवं स्मितमात्रसे चराचर जगत्का इसने सर्जन कर दिया। और जिसकी सुषुप्ति (निद्रा) महाप्रलयरूपा है।' इति भामती-ग्रन्थ में कहे गये-पद्यके प्रामाण्यसे भी जब परमेश्वर भी वीक्षण एवं स्मितके अनन्तर द्वैत-प्रतीतिके अभावकी प्रयोजिका सुषुप्ति की अपेक्षा रखता है, तब जीव उसकी अपेक्षा रक्खें, इसमें तो कहना ही क्या चाहिये ? । तथा च सभीजीव, दृश्य-द्वैत के दर्शनसे अत्यन्त ही श्रान्त (दुःखी) हुए आयास (श्रम) रहित-अखण्डैकरस-अद्वयानन्दनिधि-ब्रह्ममें अन्तःकरणादि-उपाधिकापरित्याग करके अद्वैतभाव रूपा विमुक्तिकी निरन्तर अभिलाषा रखते हैं।

यदि दृश्यविषयेभ्य एवैकान्तिकी सुखप्राप्तिः स्यात्, तर्हि न कोपि विश्रान्तिलाभाय सुषुप्त्यवस्थामनुधावेत्। विविधदृश्यविषयविभ्रान्तचेतसो हि मनुजास्तत्तादृशान् विषयानवधूय विसृज्य च दूरतस्तदभिलाषं, मृदुलतर-शय्यामधिशय्य, नयने च निमील्य, प्रसार्य च पाणिपादादीन्, निद्राभिमुखीं चित्तवृत्तिञ्चाश्रित्य विस्मृत्य च बाह्याभ्यन्तरसुखदुःखादिद्वन्द्वभेदान् सौषुप्ता-द्वैतसुखस्य सर्वोत्कृष्टतामभिमन्यमाना विश्रान्तिकामनया प्रत्यहं सुषुप्त्यवस्थामनु-धावन्तीति सार्वजनीनम्।

यदि दृश्य-विषयोंसे ही नियमपूर्वक-सुखकी ही प्राप्ति हो, तब तो कोई भी प्राणी विश्रान्ति-लाभके लिए सुषुप्ति-अवस्थाके प्रति धावन (गमन) न करे। जिन्होंके चित्त, विविध-इष्टानिष्ट विषयोंके सम्बन्धसे व्याकुल हुए हैं–ऐसे मनुष्य उस प्रकारके विक्षेप-जनक सभी विषयोंका परित्याग करके उनकी अभिलाषा का भी दूरसे परित्याग करके, अतिकोमल-शय्या पर लेटकर, नयनों को मूंदकर, हाथ पैर आदि को फैलाकर निद्राके अभिमुख–चित्त वृत्तिका आश्रयकर, बाहरके एवं अन्दर के सब–दुःख सुखादिद्वन्द्व-विशेषोंका विस्मरण करके–'सुषुप्तिका सुख ही सभी सुखोंसे उत्कृष्ट है' ऐसा अभिमान (दृढनिश्चय) रखते हुए—विश्रान्ति की कामनासे सुषुप्ति–अवस्थाके प्रति धावन करते रहते हैं, यह बात सर्वजन प्रसिद्ध है।

सौषुप्तसुखञ्च विषयानभिव्यङ्ग्यतया देशकालादिपरिच्छेदरहिततया च परमानन्दरूपं ब्रह्मैव,तद्योगादेव जीवस्य तदा परमसुखाविर्भावः। तदर्थमेव च जीवानां प्रत्यहं सुषुप्त्यवस्थाऽनुधावनमित्यर्थेऽस्त्युपनिषदामप्युद्घोषः। तथाहि—'सता सोम्य ! तदा संपन्नो भवति, स्वमपीतो भवति, तस्मादेनं

स्वपितीत्याचक्षते ।' (छां० उ० ६।८।१) इति । अयमर्थः—सता=ब्रह्मणा, तदा=सुषुप्तिसमये, सम्पन्नः=संगत एकीभूतो भवति । मन आदिसंसर्गकृतं जीवरूपं परित्यज्य स्वं=सद्रूपं यत्परमार्थसत्यं तदपीतः=अपिगतो विलीनो भवति । अतस्तस्मात् स्वपितीत्येनमाचक्षते लौकिकाः, स्वमात्मानं हि विशुद्ध-मुपाधिनिर्मुक्तं हि—यस्मादपीतो भवति । गुणनामप्रसिद्धितोऽपि स्वात्म-प्राप्तिर्गम्यत इत्यभिप्रायः ।

और यह सुषुप्तिका सर्वोत्तम-सुख, विषयोंसे अभिव्यक्त न होनेके कारण, एवं देशकालादिके परिच्छेदोंसे रहित होनेके कारण-परमानन्दरूप ब्रह्म ही है, उस सत्यानन्द निधि ब्रह्मके सम्बन्धसे ही उस समय जीवको सुखका आविर्भाव होता है । उसीके लिए ही जीवका प्रतिदिन-सुषुप्ति-अवस्था के प्रति अनुधावन है, इसविषयके प्रतिपादन में उपनिषदोंका भी उद्घोष (गर्जना) है । जैसे-'उस समय हे सोम्य ! यह सत्-ब्रह्म से ही संपन्न हो जाता है—यह अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है । इसीसे इसे 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं; क्योंकि—उस समय यह स्व—अपने को ही अपीत—प्राप्त होजाता है ।' (श्रु०) यह अर्थ है—सद् ब्रह्मसे सुषुप्ति—समयमें संगत यानी एकीभूत (अभेदभावापन्न) हो जाता है । मन आदिके संसर्गसे प्राप्त हुए—जीवरूपका परित्याग कर अपने सद्रूपको-जो—कि—परमार्थसत्य है, प्राप्त होजाता है' इसीसे लौकिक-पुरुष इसे 'स्वपिति' ऐसा कहकर पुकारते हैं, क्योंकि—यह 'स्वं' आत्मा को जो—अन्तःकरणा-दि उपाधिसे निर्मुक्त है—विशुद्ध है—उसे 'अपीतः' प्राप्त होजाता है । तात्पर्य यह है कि—इस गौण—नामकी प्रसिद्धिसे भी अपने आत्मा की प्राप्ति ज्ञात होती है ।

किञ्च लौकिके विषयानन्देऽपि यावान् यावान् भेदभावो विलीयते, तावान् तावान् प्रेमोद्रेकः, आनन्दविशेषानुभूतिश्च संपद्येते । अभीष्टविषयलाभे सति तन्मिलनतृष्णारूपदुःखप्रदकण्टकस्यापगमे सति च चेतसि स्वस्थता, एकाग्रता, अन्तर्मुखता च समुदेति । अतस्तत्र द्वैतविस्मरणं यावन्मात्रं तावन्मात्रमानन्दलाभोऽनुभूयते सर्वैरपि । सौषुप्तानन्दस्य लाभेऽपि द्वैतस्या-भानमेव प्रयोजकम् । यदाह—श्रुतिरपि—'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्, एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम्, तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम् ।' (बृ० उ० ४।३।२१) इति ।

और लोक-सिद्ध-विषयोंके आनन्दमें भी जितना जितना भेदभाव विलीन होता जाता है, उतना उतना प्रेमका उद्रेक एवं आनन्द-विशेषकी अनुभूति संपन्न होती जाती है । अभीष्ट-विषयका लाभ होनेपर एवं उसके मिलनकी तृष्णारूप दुःखप्रद-कण्टककी निवृत्ति होनेपर चित्तमें स्वस्थता, एकाग्रता एवं अन्तर्मुखता का उदय होता है । इस-लिये उसमें जितने परिमाणमें द्वैतका विस्मरण होता है, उतने ही परिमाणमें आनन्दके

लाभका सभी ही अनुभव करते हैं। सौषुप्त-आनन्दके लाभों में भी द्वैतका अभाव ही प्रयोजक है। इसलिये बृहदारण्यक-श्रुति भी कहती है-कि 'जिसप्रकार अपनी प्रिया-भार्याको आलिङ्गन करने वाले-पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है, और न भीतर का, उसीप्रकार यह पुरुष प्राज्ञात्मासे आलिङ्गित होने पर न कुछ बाहरका विषय जानता है, और न भीतरका, यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है।' (श्रु०)

अस्यायमर्थः—तत्=तत्र, यथा=लोके, प्रियया=इष्टया स्त्रिया, सम्परिष्वक्तः=सम्यक्—परिष्वक्तः, कामयन्त्या कामुकः सन्, न बाह्यं आत्मनः किञ्चन=किञ्चिदपि, वेद=जानाति, मत्तः अन्यद्वस्त्विवति। न चान्तरं=अयमहमस्मि सुखी दुःखी वेति। अपरिष्वक्तस्तु तया प्रविभक्तो जानाति, सर्वमेव बाह्यमाभ्यन्तरञ्च। परिष्वङ्गोत्तरकालं त्वेकत्वापत्ते र्न जानाति। एवमेव=यथा दृष्टान्तोऽयं पुरुषः क्षेत्रज्ञो भूतमात्रासंसर्गतः सैन्धवखिल्यवत्प्रविभक्तो जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बवत्, कार्यकरण इह प्रविष्टः सोऽयं पुरुषः प्राज्ञेन=परमार्थेन स्वाभाविकेन स्वेनात्मना परेण ज्योतिषा सम्परिष्वक्तः=सम्यक्-परिष्वक्तः—एकीभूतो निरन्तरः सर्वात्मा न बाह्यं किञ्चन वस्त्वन्तरं, नाप्यान्तरमात्मनि—अयमहमस्मि सुखी दुःखी वेति वेद।

इसका यह अर्थ है-इसविषयमें ऐसा समझना चाहिये-जैसे इस लोकमें अपनी कामना करने वाली-प्रिया-इष्टस्त्रीसे स्वयं भी कामुक होकर सम्यक् परिष्वक्त-समालिङ्गित हुआ पुरुष, अपनेसे बाहर 'मुझसे भिन्न कुछ वस्तु है' ऐसा नहीं जानता, और न भीतर ही 'यह मैं सुखी अथवा दुःखी हूँ' ऐसा ही जानता है, उससे आलिङ्गित न होनेपर तो उससे अलग रहकर बाहरी और भीतरी सब बातों को जानता है, आलिङ्गन के बाद तो एकाकारता होजाने से वह कुछ नहीं जानता—इसीप्रकार जैसा कि—यह दृष्टान्त है—क्षेत्रज्ञ-पुरुष भूतमात्राके संसर्गसे लवण खण्डके समान विभक्त होकर जलादिमें चन्द्रमादिके प्रतिबिम्बके समान इस देहेन्द्रियमें प्रविष्ट हो रहा है, वह 'यह पुरुष अपने स्वाभाविक-परमार्थस्वरूप पर ज्योति-प्राज्ञसे सम्यक् प्रकारसे परिष्वक्त अर्थात् एकीभूत होकर निरन्तर (भेदरहित) और सर्वात्मा होनेके कारण न तो किसी बाह्य वस्त्वन्तरको जानता है, और न आन्तर अर्थात् आत्मामें ही 'यह सुखी अथवा दुःखी मैं हूँ' ऐसा समझता है।

तत्र चैतन्यज्योतिःस्वभावत्वे कस्मादिह न जानातीति यदप्राक्षीः, तत्रायं हेतुर्मयोक्त एकत्वं यथा स्त्रीपुंसयोः सम्परिष्वक्तयोः। तत्रार्थान्नानात्वं विशेषविज्ञानहेतुरित्युक्तं भवति। नानात्वे च कारणं—आत्मनो वस्त्वन्तरस्य प्रत्युपस्थापिकाऽविद्येत्युक्तम्। तत्र चाविद्यया यदा प्रविविक्तो भवति, तदा सर्वेणैकत्वमेवास्य भवति। ततश्च ज्ञानज्ञेयादिकारकविभागेऽसति कुतो

विशेषविज्ञानप्रादुर्भावः, कामो वा सम्भवति स्वाभाविके स्वरूपस्थ आत्मज्योतिषि।

इस प्रकार तुमने जो पूछा था कि—चैतन्यात्मा ज्योतिः स्वरूप होने पर भी वह इस अवस्थामें क्यों नहीं जानता, सो उसमें मैंने एकत्व यह हेतु बतलाया, जिस प्रकार कि—परस्पर आलिङ्गित स्त्री और पुरुषका एकत्व होता है। इससे स्वतः ही यह बात बतला दी गयी कि—नानात्व विशेष-विज्ञानका हेतु है, और नानात्वका कारण आत्मासे भिन्न वस्तुको प्रस्तुत करने वाली अविद्या है—यह बतलाया जा चुका हैं। सो जिस समय यह अविद्यासे अलग होजाता है, उस समय इसकी सबके साथ एकता ही हो जाती है; तब आत्मज्योतिके अपने स्वाभाविक-स्वरूपमें स्थित हो जानेपर ज्ञानज्ञेयादि-कारक विभागके न रहने पर विशेष—विज्ञानका प्रादुर्भाव तथा कामना कैसे हो सकते हैं?।

यस्मादेवं सर्वैकत्वमेवास्य रूपं, अतस्तद्वा अस्यात्मनः स्वयंज्योतिः स्वभावस्यैतद्रूपमाप्तकामं यस्मात्समस्तमेतत्तस्मादाप्ताः कामा अस्मिन् रूपे तदिदमाप्तकामम्। यस्य ह्यन्यत्वेन प्रविभक्तः कामः तदनाप्तकामं भवति, यथा जागरितावस्थायां देवदत्तादिरूपं, न त्विदं तथा कुतश्चित्प्रविभज्यते, अतस्त-दाप्तकामं भवति। किमन्यस्माद्वस्त्वन्तरान्न प्रविभज्यते, आहोस्विदात्मैव तद्वस्त्वन्तरमत आह—नान्यदस्त्यात्मनः। कथम्? यतः आत्मकामं=आत्मैव कामा यस्मिन् रूपे, अन्यत्र प्रविभक्ता इवान्यत्वेन काम्यमाना यथा जाग्रत्स्व-प्नयोः, तस्मादात्मैव, अन्यत्वप्रत्युपस्थापकहेतोरविद्याया अभावादात्मकामम्। अत एवाकाममेतद्रूपं काम्यविषयाभावात्। शोकान्तरं=शोकच्छिद्रं शोकशून्य-मित्येतत्, सर्वथाऽप्यशोकमेतद्रूपं शोकवर्जितमित्यर्थः (शां० भा०)

क्योंकि—इसप्रकार सबके साथ एकता ही इसका रूप है, इसलिये इस स्वयं ज्योतिः स्वरूप-आत्मा का यह रूप आप्त-काम है। चूंकि—यह इसका समस्त रूप है, इसलिये इसरूपमें समस्त काम प्राप्त रहते हैं, अतः यह आप्त-काम है; जिसकी कामना उससे अन्यरूपसे विभक्त रहती है, वह अनाप्तकाम होता है, जिस प्रकार जागरित अवस्थामें देवदत्तादिरूप, किन्तु यह आत्मतत्त्व उनकी तरह किसी से विभक्त नहीं है, इसलिये यह आप्तकाम है। क्या यह (आत्माका ज्योतिर्मयरूप) किसी अन्य वस्तु से विभिन्न नहीं है? अथवा आत्मा ही वह वस्त्वन्तर है? इस पर श्रुति कहती है—आत्मासे भिन्न कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है—कैसे नहीं है? क्योंकि—वह रूप आत्मकाम है; जिसप्रकार स्वप्न और जागरित—अवस्थाओंमें आत्मासे अन्यत्र विभक्त के समान तथा अन्यरूपसे कामना किये जाने वाले काम होते हैं, उसप्रकार सुषुप्तिमें

अन्यत्वको प्रस्तुत करने वाले-अविद्यारूप* हेतुका अभाव होनेके कारण आत्मा ही उसके काम हैं, इसलिये वह रूप आत्मकाम है। इसीसे काम्यमान-विषयोंका अभाव होने के कारण यह रूप अकाम है, तथा शोकान्तर अर्थात् शोकशून्य है, सर्वथा ही यह रूप शोकरहित है।

सति चैवम्—विवेचका मतिमन्तो भवन्तो विचारयन्तु—शाश्वतं शोकादिवर्जितं सुखं पारमार्थिकं कुत्र विद्यते ? द्वैतेऽद्वैते वा। द्वैते चेत्, तदा सर्वेषां सुप्तिरनर्थिका स्यात्, परमेश्वरस्यापि च। परिशेषात् अद्वैत एव पारमार्थिकं शाश्वतं सुखं सिद्ध्यति निर्विवादम्।

ऐसा पूर्वोक्त विवेचन होजानेपर विवेचक-मतिमान् आप विचार करें कि—शाश्वत शोकादिसे रहित-पारमार्थिक सुख कहाँ विद्यमान है, द्वैत में या अद्वैत में ?। यदि द्वैत में है, तो सब की सुषुप्ति व्यर्थ हो जायगी, परमेश्वर की भी। परिशेष से अद्वैत में ही पारमार्थिक-शाश्वत-सुख विवाद से रहित सिद्ध होता है।

अद्वैतामृतवर्षिणी—भगवद्गीता।

अत एव अद्वैतामृतवर्षिणी ब्रह्मविद्यारूपा भगवद्गीताऽपि अद्वैतस्यैव केवलस्यामृतत्वं निरतिशयशाश्वतसुखसमर्पकतया 'अयं पुमान् वामेन अक्ष्णा पश्यतीत्यस्यार्थात्तदितरेण न पश्यत्यतोऽयं काणोऽविश्वसनीय एव' अर्थतो विषत्वं द्वैतस्य प्रभूतदुःखभयशोकादिप्रयोजकतया च भवद्वेषिणीत्यनेन शब्दतश्च ब्रुवाणा केवलमद्वैतमेव परमार्थसत्यं पूर्णानन्दसमर्पकं सकलशास्त्रेषु तात्पर्यतः प्रतिपाद्यं अतस्तदेव श्रद्धेयं नेतरदिति स्पष्टं ब्रवीति।

अद्वैतामृतवर्षिणी भगवद्गीता।

इसलिये अद्वैतरूप अमृत की वर्षा करने वाली ब्रह्मविद्यारूपा भगवद्गीता भी केवल- अद्वैतमें ही निरतिशय-शाश्वत सुखका समर्पक होने के कारण-अमृतत्व कहने वाली, जैसे यह पुरुष वाम—नेत्रसे देखता है; इस वाक्य का अर्थात् अन्य नेत्र से नहीं देखता है, इसलिये यह काणा है, विश्वास के योग्य नहीं है, यह अर्थात् अर्थ किया जाता है, वैसे द्वैत में अत्यन्त दुःख, भय, एवं शोकादिका प्रयोजक होनेके कारण अर्थात् विषत्वका एवं 'भवद्वेषिणी' इस वचन द्वारा शब्द से भी प्रतिपादन करने वाली गीता केवल अद्वैत ही परमार्थसत्य है, पूर्णानन्दका समर्पक है, ऐसा सकल-शास्त्रोंमें तात्पर्य रूपसे प्रतिपाद्य है, इसलिये वह केवल अद्वैत ही श्रद्धा करने योग्य है, अन्य द्वैत नहीं, ऐसा स्पष्ट कहती है।

* यहां अविद्या यानी सांसारिक—रागद्वेष—सुखदुःखादिरूपा कार्याविद्या समझनी चाहिये। उसका अभाव यानी भान न होना। भान इसलिये नहीं होता कि—चित्त लीन रहता है। अन्यथा मूलाविद्या का अत्यन्ताभाव मान लेने पर तो मुक्ति और सुषुप्तमें अन्तर ही नहीं रह जायगा।

श्रीमद्भागवतमपि केवलाद्वैतस्यैव प्रबोधकम् ।

यदाहुः—श्रीमद्भागवते तृतीयेऽपि बादरायणमुनयः—अद्वैतमेव सत्यं पूर्णसुखरूपं, द्वैतन्त्वध्यस्ततयाऽसत्यमत एव तद्बाधेनैव सकलदुःखनिवृत्त्युपलक्षितपरमानन्दलाभरूपो मोक्ष एव परमं प्रयोजनं सिद्ध्यतीति, कपिलमहर्षिमातुर्देवहूत्याः समाधिनिष्ठावर्णनेन केवलाद्वैतमेव सुस्पष्टतः प्रबोधयन्ति—तथाहि—'भक्तिप्रवाहयोगेन वैराग्येण बलीयसा । युक्तानुष्ठानजातेन ज्ञानेन—ब्रह्महेतुना ॥ विशुद्धेन तदाऽऽत्मानमात्मना विश्वतो मुखम् । स्वानुभूत्यातिरोभूतमायागुणविशेषणम् ॥ ब्रह्मण्यवस्थितमति भगवत्यात्मसंश्रये । निवृत्तजीवापत्तित्वात् वीतक्लेशाऽऽप्तनिर्वृत्तिः ॥ नित्यारूढसमाधित्वात् परावृत्तगुणभ्रमा । न सस्मार तदात्मानं स्वप्नदृष्टमिवोत्थितः ॥ (भा० ३।३३।२४–२५–२६–२७)

श्रीमद्भागवत भी केवलाद्वैत का ही प्रबोधक है ।

श्रीमद्भागवतके तृतीय-स्कन्धमें भी बादरायणमुनि कहते हैं कि—अद्वैत ही सत्य है, एवं पूर्ण सुखरूप है, द्वैत तो अध्यस्त होने से असत्य है, इसलिये उसके बाध द्वारा ही सकल दुःखोंकी निवृत्तिसे उपलक्षित-परमानन्दका लाभरूप मोक्ष—जो परम प्रयोजन है-सिद्ध होता है, अतः वे कपिल-महर्षि की माता देवहूति की समाधि निष्ठाके वर्णन द्वारा केवलाद्वैत का ही स्पष्टतः प्रबोधन करते हैं—जैसे—'भक्ति–प्रवाहरूप योग, प्रबल वैराग्य, एवं युक्ताहार-विहारादि वाले-योगानुष्ठानसे उत्पन्न हुए—ब्रह्मभाव प्राप्त करानेवाले—ज्ञान द्वारा चित्तको विशुद्ध होजानेपर देवहूति माता उस सर्वव्यापक-आत्माके ध्यान में मग्न हो गयीं, जो अपने स्वस्वरूपकी अनुभूतिसे मायाके गुणोंसे जनित—भेदभ्रमको दूर कर देता है, इसप्रकार जीवोंके अधिष्ठानभूत—परब्रह्म श्रीभगवान् में ही बुद्धि की अवस्थिति होजानेसे उसका जीवभाव निवृत्त होगया और वे समस्त पञ्च क्लेशोंसे मुक्त होकर परमानन्दमें निमग्न हो गयीं । अब निरन्तर समाधिमें आरूढ रहनेके कारण उनकी सत्वादि गुणोंसे विरचित नामरूपात्मक-द्वैतमें सत्यत्वकी भ्रान्ति मिट गयी और उन्हें अन्य पदार्थों की तो क्या बात किन्तु अपने शरीर की भी सुधि न रही—जैसे जागे हुए पुरुषको अपने स्वप्नमें देखे हुए—शरीर की नहीं रहती ।' (भा०)

अयमर्थः—भक्तिप्रवाहरूपेण योगेन, वैराग्येण बलीयसा=ब्रह्मलोकभोगमपि काकविट्समं ज्ञात्वाऽनिच्छितेन । युक्तानुष्ठानेन जातं यज्ज्ञानं तेन च । युक्तानुष्ठानञ्च गीतासूक्तम्—'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु । युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥' (६।१७) इति । ब्रह्महेतुना=ब्रह्मभावसंपादकेन । विश्वतोमुखं=सर्वगतम् । तत्र हेतुः—स्वानुभूत्या=स्वरूपप्रकाशेन, तिरोभूतं=बाधितं मायागुणैर्जातं विशेषणं=परिच्छेदो भेदो यस्य । ब्रह्मण्यवस्थितमतिर्बभूव । कथंभूते ब्रह्मणि, आत्मनां=जीवात्मनां संश्रये=

अधिष्ठाने भगवति। तस्याः जीवन्मुक्तिमाह—सार्धैस्त्रिभिः—। तदा च निवृत्ता जीवापत्तिः=जीवभावो लिंगशरीराध्यासो यस्यास्तस्याः भावस्तत्त्वं तस्मात्। यद्वा जीवभावस्यापत्तिर्यया सा जीवापत्तिरविद्या, जीवस्येति भावप्रधानो निर्देशः। आत्मानं=मिथ्याऽऽत्मानं देहं—तदुपलक्षितं सकलं द्वैतप्रपञ्चं न सस्मार।

वैराग्यकी यही प्रबलता है—कि—ब्रह्मलोकके भोगको भी काकविष्टा के समान जान करके उसकी भी इच्छा न करे। युक्तानुष्ठान गीता में कहा है—'यह दुःखोंका नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करने वाले का तथा कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले को और यथायोग्य शयन करने तथा जागने वाले को ही सिद्ध होता है।' (गी०) ब्रह्म का हेतु यानी ब्रह्मभावका संपादक-कारण रूप ज्ञान। सर्वगत में यह हेतु है—स्वरूपके प्रकाशसे मायाके गुणोंसे समुत्पन्न विशेषण यानी व्यावर्तक—परिच्छेद-भेद, जिसमें बाधित हो गया है। कैसा ब्रह्म है? जो जीवोंका अधिष्ठान भगवान् है। उस देवहूति की जीवन्मुक्ति कहते हैं—साढ़े तीन श्लोकों से। जीवापत्ति यानी लिंग—शरीरका अध्यासरूप—जीवभाव निवृत्त हो गया है। अथवा जीवभाव की प्राप्ति होती है, जिससे, ऐसी अविद्या है। जीवपद में भाव (त्व) का प्रधान रूपसे निर्देश है। आत्मा यानी मिथ्या-आत्मा देह, उससे उपलक्षित-समस्त द्वैत-प्रपञ्चका विस्मरण होगया।

विशिष्टाद्वैतादिवादानां समालोचना, अद्वैतगौरवञ्च।

विशिष्टाद्वैतशुद्धाद्वैतादिवादास्तु वस्तुतो द्वैतवादा एव मन्तव्याः, अत एव ते न केवलमद्वैतं पारमार्थिकं प्रतिपादयितुं क्षमाः। यदा हि विशिष्टाद्वैतमते विशेषणविशेष्ययोर्वस्तुतो भेदो मन्यते, तदा तयोरद्वैतं कथं संभवेत्? । इति न ज्ञायते। अतो विशिष्टाद्वैतमित्यत्र श्रोतॄणां वञ्चनाय, केवलं शब्दप्रयोगचातुर्यमेवावगम्यते, न वास्तविकमद्वैततत्त्वमवबुध्यते।

विशिष्टाद्वैतादिवादों की समालोचना और अद्वैत का गौरव।

विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, आदिवाद तो वस्तुतः द्वैतवाद ही मानने चाहिये। इसलिये वे पारमार्थिक-केवल-अद्वैतके प्रतिपादनके लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं। जब विशिष्टाद्वैतमतमें विशेषण और विशेष्यका वस्तुतः भेद माना जाता है, तब उन दोनों का अद्वैत कैसे होसकेगा? यह बात विद्वानोंके समझमें नहीं आती। अतः 'विशिष्टाद्वैत' इस पदमें श्रोताओंकी वञ्चनाके लिए केवल-शब्दका चातुर्य ही जाना जाता है, वास्तविक-अद्वैत-तत्त्व नहीं जाना जाता।

अपि च—अद्वैतस्य सर्वैर्द्वैतवादिभिरप्यपेक्ष्यमाणतया—तस्य महामहत्त्वं तेऽपि प्रकटयन्त्येव। अद्वैतभावं विना विशिष्टं, शुद्धं, द्वैतं भिन्नञ्च न किमपि पदं सार्थकं न चाकर्षकं भवतीति मन्यमानाः तेषु विशिष्टादिषु—अद्वैतपदं

तद्गौरवाय ते प्रयुञ्जते । यद्यपि—विशिष्टादिभिः सहाद्वैतस्यास्ति वज्रलेपायमानो विरोधस्तथापि ते तमवगणय्यापि विरोधशून्यमद्वैतमभ्युपगम्यमाना विरोधोऽवस्तुभूतोऽस्तीत्यनिच्छन्तोऽपि—अर्थतो ज्ञापयन्ति ।

और सभी द्वैतवादीभी अद्वैतकी अपेक्षा रखते हैं, इसलिये वे भी उसके महा महत्त्वको प्रकट करते हैं । अद्वैतभावके विना विशिष्ट, शुद्ध, द्वैत, एवं भिन्न, कोई भी पद न सार्थक होता है, और न आकर्षक होता है, ऐसा मानते हुए वे उन विशिष्टादि पदोंमें—उनके गौरवके लिये अद्वैतपदका संयोजन करते हैं । यद्यपि—विशिष्टादियोंके साथ अद्वैतका वज्रलेपके समान विरोध है, तथापि वे वादी उसकी अवगणना करके भी अद्वैत-विरोध शून्य है, ऐसा मानते हुए विरोध वास्तविक नहीं है, ऐसी इच्छा न रखते हुए भी अर्थात् ज्ञापन करते हैं ।

चिदचिद्भिन्नाभिन्नपरमतत्त्ववादिनस्तु सुवर्णं कुण्डलमित्यत्र यथा सुवर्णाधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वेन वस्तुतः सुवर्णकुण्डलयोरभेदोऽप्यस्ति, एवं व्यवहारतो वास्तविको भेदोऽप्यस्ति । तथा भोक्तृवर्गस्य चितः, भोग्यवर्गस्याचितश्च परमतत्त्वाधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वेन वस्तुतस्तयोः परमतत्त्वेन साकमभेदोऽप्यस्ति, एवं व्यवहारे परमतत्त्वतस्तयो विरुद्धधर्मदृष्टतया वास्तविको भेदोऽप्यस्तीति वदन्ति ।

चित्-अचित्-भिन्नाभिन्न परमतत्त्ववादी तो 'सुवर्ण कुण्डलं' इस स्थलमें जैसे सुवर्ण के ही अधीन स्थिति एवं प्रवृत्ति होनेके कारण वस्तुतः सुवर्ण और कुण्डल का अभेद-भी है। और व्यवहारमें वास्तविकभेद भी है ।-वैसे भोक्तृ-वर्ग (चेतन) की और भोग्य-पदार्थोंका समुदायरूप अचेतन को परमतत्त्व-अद्वैत ब्रह्मके ही आधीन स्थिति एवं प्रवृत्ति होनेके कारण वस्तुतः उन चित्-अचित्-दोनोंका परमतत्त्वके साथ अभेद भी है, और व्यवहारमें परमतत्त्वसे उन दोनों में विरुद्ध-धर्मोंका दर्शन होनेके कारण वास्तविक भेद भी है, ऐसा कहते हैं ।

शुद्धाद्वैतिनस्तु परमेश्वरेऽचिन्त्यस्वात्मवैभवे निर्गुणत्वसगुणत्व-निराकारत्वसाकारत्व—अणोरणीयस्त्वमहतोमहीयस्त्व—सर्वसंगराहित्य--स्वाभिन्नसुखदुःखमोहात्मकप्रपञ्चनिर्मातृत्व——-अविकृतत्वपरिणामित्व——प्रभृति समस्तविरुद्धधर्माणां सामञ्जस्यं निरूपयन्ति ।

शुद्धाद्वैती तो अचिन्त्य-स्वात्मवैभव वाले—परमेश्वरमें निर्गुणत्व और सगुणत्व, निराकारत्व और साकारत्व, अणुसे भी अतीव अणुत्व और महान्‌से भी अतीव महत्त्व, सर्वसंग शून्यत्व और स्वाभिन्न—सुखदुःखमोहात्मक प्रपञ्चका निर्मातृत्व, एवं अविकृत—त्व और परिणामित्व (विकृतत्व) आदि समस्त विरुद्ध धर्मोंके सामञ्जस्य (समन्वय) का निरूपण करते हैं ।

इदमत्र वक्तव्यम्—यद्यपि वाचारंभणश्रुत्या अन्वयव्यतिरेकादियुक्त्या

च न सुवर्णातिरिक्तं कुण्डलं सिद्ध्यति, किन्तु सुवर्णमेव कुण्डलमित्यवगम्यते। तथापि सुवर्णाद्विलक्षणार्थक्रियाकारित्वेन सर्वथाऽभिन्नं स्वकारणादिति वक्तुं शक्यते। एवं सत्यपि—चतुर्मुखेन ब्रह्मणाऽपि चैकत्र कार्यकारणयोः समानसत्तया भेदाभेदौ नावगन्तुं शक्येते। अतो विषमसत्ताकयोरेव भेदाभेदयोः सामञ्जस्यमभ्युपगन्तव्यम्। तथा च व्यावहारिकसत्तावतो भेदस्य बाधोऽपि कार्यकारणस्थले सर्वैरनुभूयत एव। स च विषमसत्तामभ्युपगम्यैव संगतो भवति, नान्यथा। एकत्र समानसत्तया भिन्नत्वाभिन्नत्व-सत्त्वासत्त्व-निराकारत्वसाकारत्व—विकृतत्वाविकृतत्वादीनां सामञ्जस्येऽभ्युपगते जगत्यस्मिन् विरोधमात्रस्य दत्तजलाञ्जलितैव प्रसज्येत।

यहाँ यह वक्तव्य है—यद्यपि वाचारंभण श्रुतिके द्वारा और अन्वयव्यतिरेकादि युक्तिके द्वारा सुवर्णसे अतिरिक्त कुण्डलकी सिद्धि नहीं होती है, किन्तु सुवर्ण ही कुण्डल है, ऐसा जाना जाता है। तथापि—सुवर्णसे विलक्षण—अर्थक्रिया (कार्य) कारी होनेके कारण कार्य अपने कारण से सर्वथा अभिन्न है, ऐसा कह नहीं सकते। ऐसा होनेपर चतुर्मुख-ब्रह्मा भी कार्यकारण-स्थलमें समान-सत्ता-से भेद एवं अभेद वस्तुतः नहीं मान सकता है। इसलिये विषमसत्तावाले भेदाभेदका सामञ्जस्य मानना चाहिये। अतः व्यावहारिक सत्तावाले भेद का बाध भी कार्य—कारणस्थलमें सभीसे अनुभूत होता है। वह बाध, विषमसत्ता मानने पर ही संगत होता है। अन्य प्रकार से संगत नहीं होता। एक स्थलमें समान सत्तासे भिन्नत्व एवं अभिन्नत्वका, सत्त्व एवं असत्त्व का निराकारत्व एवं साकारत्वका विकृतत्वका एवं अविकृतत्वका सामञ्जस्य मानने पर इस जगत्में जितने भी विरोध हैं, वे सब समाप्त होजायेंगे।

अपि च सर्वैरप्यास्तिकै र्जीवजगदपेक्षया भगवतो वैलक्षण्यमभ्युपेयत एव। परस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तानन्तानन्दाद्वयस्वभावत्वं, इतरस्य तु सुखदुःखाद्यनेकानर्थपरिप्लुतत्वलक्षणं वैलक्षण्यं यथा प्रमाणबलादभ्युपगम्यते, तथैव सत्ताया अपि वैलक्षण्यमभ्युपेयमेव। सत्येव 'सत्यस्य सत्यम्' (बृ०उ० २।१।२०) इति श्रुतिरपि संगच्छते। तस्मात्सत्ताभेदेन परमेश्वरे विरुद्धधर्माणां सामञ्जस्याभ्युपगमे न किमपि बाधकं पश्यामः, इत्ययं श्लिष्टतरः पन्था।

और सभी आस्तिक सज्जन, जीव और जगत् की अपेक्षा भगवान्में विलक्षणता मानते ही हैं। परमेश्वरका नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्त—अनन्तानन्द-अद्वय-स्वभावत्व और इतर—जीव-जगत्में सुखदुःखादि—अनेक अनर्थों से अभिभूतत्वरूप विलक्षणता जैसे प्रमाणोंके बल से मानी जाती है, वैसे ही सत्ताका भी वैलक्षण्य मानना ही चाहिये। ऐसा माननेपर 'वह परब्रह्म सत्यका सत्य है' यह बृहदारण्यक-श्रुति भी संगत हो जाती है। इसलिये सत्ताके भेद से परमेश्वरमें विरुद्ध धर्मोंके सामञ्जस्य को मानने पर हमें कुछ भी बाधक नहीं देखते हैं, अतः यही अत्यन्त-सरल मार्ग है, जिसमें किसी भी

प्रकारका विवाद-विरोध नहीं रह जाता ।

अत्र श्रीमद्भागवतस्य देवानां स्तुतिरपि प्रमाणम् ।

अपि च श्रीमद्भागवते दशमेऽपि चतुर्मुखादयो देवा भगवन्तं परम-सत्यत्वेन स्तुवन्तः सत्तावैषम्यं प्रमाणयन्ति । तथाहि—'सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये । सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥' (भा० १०।२।२६) इति । अस्यायमर्थः—सत्यं व्रतं संकल्पो यस्य तम् । सत्यं परं=श्रेष्ठं प्राप्तिसाधनं यस्मिंस्तम् । त्रिसत्यं=त्रिष्वपि कालेषु सृष्टेः पूर्वं प्रलयानन्तरञ्च स्थितिसमये च सत्यं अव्यभिचारेण—पारमार्थिकतया वर्तमानम् । तदेवाहुः—सत्यस्य = सच्छब्देन पृथिव्यप्तेजांसि, त्यच्छब्देन वाय्वाकाशौ, एवं सच्च त्यच्च भूतपंचकम्, 'तत्सत्य-मित्याचक्षते' (तै० उ० २।६) इति श्रुतेः । तस्य योनिं=उपादानकारणम् । अनेन पूर्वं तस्य वर्तमानतोक्ता । तथा सत्ये तस्मिन्नेव निहितं=अन्तर्या-मितया स्थितम् । अनेन तस्य स्थितिसमयेऽपि सत्यत्वमुक्तम् । एवं तस्यैव सत्यस्य=व्यावहारिकसत्यस्य यत्किञ्चित्कालवर्तिनो मायिकद्वैतप्रपञ्चस्य सत्यं= पारमार्थिकं त्रिकालवर्ति—सर्वथाऽप्यबाधितं तन्नाशेऽप्यवशिष्यमाणरूपम्, अनेन प्रलयेष्ववधित्वेन सत्यत्वं दर्शितम् । एवं त्रिसत्यत्वमुपपादितम् । तथा ऋतसत्यनेत्रं, ऋतं=सूनृतावाणी, सत्यं=समदर्शनं, तथा भगवता व्याख्या-तम्—'सत्यं च समदर्शनं, ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता ॥' (भा० ११।२०।३८) इति । तयोर्नेत्रं—नयनसाधनं नेतारं—प्रवर्तकमिति यावत् । एवं सर्वप्रकारेण सत्यात्मकं त्वां हेभगवन् ! वयं शरणं प्रपन्नाः=प्राप्ता इति । यद्वा सत्यमबाधितमात्मनः कं=स्वरूपसुखं, यस्य तम्, 'एष ह्येव हि परमानन्दः' इति श्रुतेः ।

इस विषयमें श्रीमद्भागवतकी देवों की स्तुति भी प्रमाण है ।

और श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें भी चतुर्मुखादि-देव भगवान्की परम-सत्यरूपसे स्तुति करते हुए सत्ताकी विषमताको प्रामाणिकरूपसे प्रतिपादन करते हैं— जैसे 'हे प्रभो ! आप सत्य-संकल्प हैं, सत्य ही आपकी प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन हैं, सृष्टिसे पूर्व, प्रलयके पश्चात्, और जगत्की स्थितिके समय–इन जगत्की असत्य-अवस्थाओं में भी आप अव्यभिचरित–वास्तविक-सत्यरूपसे अवस्थित रहते हैं, इसलिये आप त्रिसत्य हैं, पृथ्वी जल और तेज सत् हैं, एवं वायु और आकाश त्यत् हैं, ऐसे पंचभूत रूप–सत्यके आप ही एकमात्र उपादान कारण हैं । और उनमें आप अन्तर्यामीरूपसे विराजमान भी हैं । आप इस दृश्यमान-व्यावहारिक सत्तावाले-जगत् की अपेक्षा परमार्थ सत्यरूप हैं । आप ही मधुर वाणी और समदर्शनके प्रवर्तक हैं । भगवन् ! आप तो सर्वथा अबाधित-सत्यरूप ही हैं, हम सब आपकी शरण में आये हैं ।' (भा०)

व्यावहारिकसत्य कुछ काल तक रहता है, ऐसा मायाकल्पित-द्वैत प्रपञ्च है, पारमार्थिक सत्य, तीनों कालोंमें वर्तमान रहता है, सर्वथा अबाधित रहता है, व्यावहारिक-सत्ता-वाले-द्वैतप्रपञ्चका नाश होने पर भी जो सत्य अवशिष्ट रहता है, वह पारमार्थिक है। अथवा अबाधित-शाश्वत आत्माका-स्वस्वरूपभूत कं = सुख है जिसमें वह सत्यात्मक है। श्रुति कहती है कि—'यह आत्मा परम आनन्द स्वरूप है।' (श्रु०) अन्य अर्थ स्पष्ट हैं।

तथा च 'पितुः पिता' इत्यत्रायुर्वैषम्यमिव 'नित्यो नित्यानां' 'चेतनश्चेतनानां' (क० उ० २।२।१३) 'प्राणस्य प्राणः' 'चक्षुषश्चक्षुः' (के० उ० १।२) इत्यादिषु च नित्यत्वचेतनत्वादिवैलक्षण्यमिव सत्यस्य सत्यमित्यत्रापि सत्ता-वैषम्यं निर्देशसार्थक्यायाभ्युपेयमेव।

तथा च जैसे 'पिताका पिता' इस वाक्यार्थमें दोनों प्रकारके पिताओंमें आयुकी विषमता मानी जाती है, तथा जैसे यह आत्मा नित्यों का नित्य है' इस वाक्यार्थमें परिणामी-नित्यतावाले पृथिव्यादियों की अपेक्षा यह आत्मा कूटस्थ नित्य है; ऐसी नित्यता की विलक्षणता मानी जाती है, तथा जैसे 'यह आत्मा चेतनोंका चेतन है' इस वाक्यार्थमें आरोपित-चेतनतावाले—देहेन्द्रियादियोंकी अपेक्षा यह आत्मा मुख्य-चेतनतावाला है, ऐसी चेतनता (चैतन्य) की विलक्षणता मानी जाती है, तथा जैसे 'यह आत्मा प्राणका प्राण है, 'चक्षुका चक्षु है' इत्यादि स्थलोंमें वायुविकाररूप प्राणमें गौण—सापेक्ष सामर्थ्य है, और आत्मा रूप-प्राणमें मुख्य निरपेक्ष सामर्थ्य है, एवं भौतिक-चक्षुमें गौण-सापेक्ष सामर्थ्य है, और आत्मा रूप-चक्षु में मुख्य निरपेक्ष प्रकाश-सामर्थ्य है, वैसे 'सत्यका सत्य' इस वाक्यार्थ में, यह परमात्मा व्यावहारिक सत्यतावाले—जगत् की अपेक्षा पारमार्थिक सत्य है, ऐसी सत्ता की विषमता निर्देशकी सार्थकताके लिये माननी ही चाहिये।

यदप्युच्यते—भगवति विरुद्धधर्माश्रयतायां प्रयोजकस्तत्र वर्तमानोऽचिन्त्यस्वात्मवैभवयोग एव। अत एव तत्र सदंशाश्रितमायाशक्ति-चिदंशाश्रित संविच्छक्ति-आनन्दांशाश्रिताह्लादिनी शक्तिरूपो वैभवः सर्वत्र शास्त्रेषु प्रतिपाद्यते। तत्रेदं विवेचनीयम्। स चाचिन्त्य-स्वात्मवैभवयोगः सन् वा असन् वा नान्त्यः, जगदात्मना ब्रह्मविकासनिमित्तानुपपत्तेः। आद्येऽपि सच्चिदानन्दात्मकाद्ब्रह्मणो भिन्नोऽभिन्नो वा। भिन्नश्चेदद्वैतव्याहतिः। अभिन्नश्चेत् ब्रह्मवदेवाविकृतस्य परिणामनिमित्तत्वायोगः। तस्मादयं योगमायाऽऽख्योऽचिन्त्य-वैभवयोगः सदादिभ्यो निर्वक्तुमशक्योऽनिर्वचनीय एवाभ्युपेयेत चेत्तर्हि समायातोऽसि सिद्धान्तनिर्णयमार्गे।

जो यह कहा जाता है कि—भगवान्में विरुद्धधर्मोंकी आश्रयतामें प्रयोजक, उसमें वर्तमान अपने आत्माका वैभवयोग ही है। इसलिये सदंशमें आश्रित मायाशक्तिरूप,

चिदंशमें आश्रित–संविच्छक्तिरूप, एवं आनन्दांशमें आश्रित-आह्लादिनीशक्तिरूप वैभव शास्त्रोंमें सर्वत्र प्रतिपादित किया है । इस विषयमें यह विवेचन करना या समझना चाहिये कि–वह अचिन्त्य-स्वात्मवैभव–योग, सत् है, या असत् है । असत् नहीं कह सकते, क्योंकि–असद्रूप-स्वात्मवैभवयोग, जगद्रूपसे ब्रह्मविकास का निमित्ति नहीं हो सकता है । सद्रूप मानने पर, वह सच्चिदानन्दरूप–ब्रह्मसे भिन्न है, या अभिन्न है ? । यदि भिन्न कहते हो तो अद्वैत का व्याघात होजाता है । यदि अभिन्न मानते हो तो ब्रह्म की तरह वह अविकृत-वैभव, परिणाममें निमित्तभूत नहीं होसकता है । इसलिये यह योगमाया संज्ञावाला, अचिन्त्यवैभवयोग, सद् असद् आदि अनेकपक्षोंसे जिसका निर्वचन करना अशक्य है, इसलिये वह अनिर्वचनीय है, ऐसा यदि मानते हो तो, तुम सिद्धान्तके निर्णयके मार्गमें आजाते हो । अर्थात् सभी प्रकारके विरोधोंका समन्वय और सिद्धान्तका निर्णय होजाता है ।

शंकासमाधानाभ्यां स्वस्वरूपभूतब्रह्मानन्दानुभवनिर्णयः ।

ननु—जीवस्य ब्रह्मविद्यया ब्रह्मरूपापत्तौ तदानन्दस्यानुभवः कथं स्यात् ? यथा शर्करया स्वमाधुर्यानुभवः स्वेनैव न क्रियते, किन्तु ततः पृथग्भूतेन तन्माधुर्यमनुभूयते, तथैवानुभवितुरनुभूयमानात्पार्थक्ये सत्येव तदानन्दमनुभवितुं शक्येत, नापार्थक्ये । अतस्तद्रूपापत्तिः 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं० ३।२।६)इति शास्त्रप्रतिपादितापि तदानन्दानुभवविघातकतयाऽपुरुषार्थभूता सती नैव केनाप्यभिलष्यते। इति चेन्मैवम् । यतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात् । तथाहि – शर्करा तु चैतन्यज्ञानवर्जिता जडतया स्वमाधुर्यं नानुभवितुं शक्नोति । परन्तु चिदात्मनो ज्ञानस्वरूपतया स्वस्वरूपभूतब्रह्मानन्दानुभवोऽप्यभेदभावेन संपादयितुं शक्यत एव । यथा च मनोज्ञा स्वस्था युवती स्वमादकाङ्गप्रकृष्टसौन्दर्यावलोकनजन्यानन्दानुभवः स्वयमेव संपाद्य माद्यति प्रमोदते च । तथैव प्रकृतेऽपि -वेदितव्यम् ।

शंका समाधान द्वारा स्वस्वरूपभूत––ब्रह्मानन्द के अनुभव का निर्णय ।

शंका–ब्रह्मविद्यासे जीवमें ब्रह्मरूपकी प्राप्ति मानने पर ब्रह्मके आनन्द का अनुभव कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होसकेगा । जैसे शर्करा स्वयं ही अपने माधुर्यका अनुभव नहीं कर सकती है, किन्तु शर्करा से पृथक् रूप हुआ कोई चेतन प्राणी उसके माधुर्य का अनुभव करता है, वैसे ही अनुभव–कर्ता अनुभूयमान-पदार्थसे पृथक् हो, तभी ही वह अनुभूयमान-पदार्थके आनन्द का अनुभव करनेमें समर्थ होसकता है, अपृथग्भूत होने पर नहीं । इसलिये जीव में ब्रह्मरूपापत्ति––'जो ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म-ही होजाता है, (श्रु०) इत्यादिशास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित होने पर भी ब्रह्मके आनन्द की विघातिका होनेके कारण, अपुरुषार्थरूपा हुई कोई भी बुद्धिमान उसकी अभिलाषा नही कर सकता है ।

समाधान—दृष्टान्त और सिद्धान्तमें विषमता है। बतलाते हैं—दृष्टान्तमें शर्करा चैतन्य-ज्ञानसे रहित जड़ है; इसलिये वह आप ही अपने माधुर्य का अनुभव नहीं कर सकती है। परन्तु सिद्धान्तमें तो चिदात्मा ज्ञानस्वरूप है, इसलिये वह स्वस्वरूपभूत-ब्रह्मानन्द का अनुभव अभेदभावसे संपादन कर सकता है। जैसे स्वस्थ सुन्दरी युवती, अपने मादक-अंगोंके उत्तम-सौन्दर्यका अवलोकन कर उससे स्वयंही आनन्दानुभव प्राप्तकर मदोन्मत्त, और आह्लादित बनी रहती है। वैसे प्रकृत—सिद्धान्त में भी समझ लेना चाहिये।

न च तत्र शरीरसौन्दर्यस्य शरीरिणा ततः पृथग्भूतेनैवानुभवः क्रियते, न तु शरीरेणेति वाच्यम्। शरीरिवर्जितस्य केवलस्य शरीरस्य शवत्वेन सौन्दर्याभावात्, अतः शरीरिविशिष्ट एव सौन्दर्यस्य सद्भावेन अनुभूयमानं सौन्दर्यमपि विशिष्टे,अनुभविता च विशिष्ट एवात्मा मन्तव्यः, अतो न किमप्यनुपपन्नं नाम। तथा चोक्तं भगवताऽपि गीतासु—'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति, केचिदात्मानमात्मना।' (गी०१३।२४) अत्र ध्यानविषयभूतमात्मानमेव ध्यानक्रियायाः कर्ता आत्मैवानुभवति, नान्योऽन्यमिति स्पष्टमभिहितम्। न च 'नैकस्मिन् कर्मकर्तृता' इतिन्यायविरोध इति वाच्यम्। स्वसंवेद्यत्वस्य तदन्यवेद्यत्वनिराकरणपरत्वात् एकत्र विषयविषयिभावस्यानभ्युपगमतया नास्ति न्यायविरोध इति प्रत्येतव्यम्।

शंका— उस दृष्टान्तमें शरीरका सौन्दर्य-शरीरवाला-आत्मा—जो शरीरसे पृथक् है—उससे अनुभूत होता है—जड शरीरके द्वारा शरीरका सौन्दर्य अनुभूत नहीं होता।

समाधान—आत्मा-शरीरीसे वर्जित केवल शरीर तो शव(मुरदा) है—अतः उस में सौन्दर्य ही नहीं रह सकता है, इसलिये शरीरीसे विशिष्टमें ही सौन्दर्य का सद्भाव होनेके कारण अनुभूयमान-सौन्दर्य भी विशिष्टमें है, और अनुभव करनेवाला —आत्मा भी विशिष्ट है-ऐसा मानना चाहिये, इसलिये कुछ भी अनुपपत्ति नहीं है। तथा च भगवान्ने गीतामें भी कहा है कि—'उस आत्माको कितने ही साधक—मानव अपने आपमें अपने आप द्वारा ध्यानसे अपरोक्ष-देखते हैं।' (गी०) इस गीताके बचनमें ध्यानके विषयभूत-आत्माको ध्यान क्रियाका कर्ता आत्मा ही अनुभव करता है, अन्य-अन्यका नहीं; ऐसा स्पष्ट कहा है।

शंका—ऐसा माननेपर 'एकमें कर्मत्व एवं कर्तृत्व नहीं होसकता है' इसन्याय से विरोध होजायगा।

समाधान—स्वसंवेद्यत्वका तात्पर्य है—उस स्वसे अन्य द्वारा वेद्य नहीं है, इस प्रकार तदन्यवेद्यत्वका निराकरण ही बतलानेका अभिप्राय है, अतः उस एक-आत्मामें विषयता एवं विषयिता न माननेके कारण न्यायका विरोध नहीं है, ऐसा समझना चाहिये।

भक्तिज्ञाने एकमेव लक्ष्यं समर्थयतः।

श्रीमद्भागवते यत्र तत्र बहुत्र भक्तौ प्रयोजितं 'अनन्यमि' ति विशेषणं

तदन्यत्वाभावोपलक्षितमेकमेवाद्वयं निर्विशेषं ब्रह्मस्वरूपभूतं लक्ष्यं समर्थयति। तथाहि—'विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम्। भजन्त्यनन्यया वृत्त्या तान्मृत्योरतिपारये ॥' (भा० ३।२५।४०) 'मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्।' (भा० ३।२५।२२) 'मय्यर्पितया च भक्त्या मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे।' (भा० ३।२५।२७) इति। मृत्योः=अविद्यायाः तत्कार्यात्संसाराच्च। अतिपारये=अतितारयामि। मयि=परमात्मनि, अनन्येन भावेन=अपृथक् समाधिरूपेण 'अहमेव भगवान् वासुदेवो नान्योऽस्मि, एवं 'वासुदेवः सर्वमिदं नान्यदि' तिनिश्चयेन। दृढां=अव्यभिचारिणीं—ऐकान्तिकीमितियावत्।

भक्ति और ज्ञान एक ही लक्ष्यका समर्थन करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें जहाँ तहाँ बहुत-जगह भक्तिमें प्रयोजित 'अनन्य' ऐसा विशेषण उस (भगवान्) से अन्यत्वके अभावसे उपलक्षित-एक ही अद्वय-निर्विशेष-ब्रह्मस्वरूपभूत-लक्ष्यका समर्थन करता है। जैसे—'उन-सब अन्य-पदार्थोंका परित्यागकर अनन्यभक्तिसे मुझसर्वगत-सर्वानन्य भगवान्का जो भजन करते हैं,—उन्हें मैं मृत्युरूप-संसारसागरसे पार करदेताहूँ।' (भा०) ' जो मुझमें अनन्यभावसे सुदृढ-प्रेम करते हैं। '(भा०)' मेरे प्रति की हुई—सुदृढ-भक्तिसे मनुष्य मुझ-प्रत्यगात्माको इस जीवित-देहमें ही प्राप्तकर लेता है।' (भा०) मृत्यु यानी अविद्या तथा तत्कार्य संसार। अनन्यभाव यानी-अपृथक् समाधि, 'मैं ही भगवान् वासुदेव हूँ, अन्य नहीं हूँ, और यह सर्व-विश्व भी वासुदेव ही है, अन्य नहीं है' ऐसा निश्चय, उस अनन्यभावमें रहता है। दृढ यानी अव्यभिचारिणी-ऐकान्तिकी, अर्थात्—कभी विच्छिन्न न होनेवाली-सबका बाध कर अन्तमें उस एक को ही अवशिष्ट रखनेवाली।

यदाह—'एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्।' (भा० ७।७।५५) इति। सर्वत्र=स्वस्मिन् स्थावरजंगमरूपे जगत्यस्मिन्नपि च तस्य भगवतः स्वात्मभूतस्य, ईक्षणं=दर्शनम्। एतेन—अन्यादिपदानां सदृशार्थग्राहकत्वात् न विद्यतेऽन्योऽहमिवाराध्यो ब्रह्मरुद्रादिविषयो यस्य तेन भावेन दास्यसख्यादिनेति निरस्तम्। अन्यपदस्य कुत्रापि सदृशार्थग्राहकताया अनुपलम्भात्, सर्वत्र तदीक्षणस्य बाधप्रसंगाच्च, अन्यस्य सर्वस्य विसर्जनरूपे बाधे सति, एक एवान्ते पर्यवशेषित इत्येकान्तपदनिरुक्तेः 'योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।' (भा० २।९।३२) इतिवचनोपबृंहिताया विरोधाच्च।

यह कहा है—'उस एकान्तभक्तिका स्वरूप है, सर्वदा सर्वत्र सब वस्तुओं के अन्तर्बहिः भगवान् का दर्शन।' सर्वत्र यानी अपनेमें और स्थावर-जंगमरूप-इस जगत् में भी उस—अपने आत्मस्वरूपभूत भगवान् का दर्शन। इससे-'अन्यादिपद, सदृश अर्थ के ग्राहक होने से, नहीं है; मेरे जैसा अन्य ब्रह्मारुद्रादि आराध्य देव जिसमें, ऐसा अनन्य भाव यानी दासभाव सख्यभाव आदिके द्वारा' ऐसा व्याख्यान निरस्त होगया।

अन्यपद सदृशअर्थ का ग्रहण करता है, ऐसा कहीं भी देखनेमें नहीं आया है। और ऐसे व्याख्यानसे सर्वत्र भगवान्के दर्शनके बाधका भी प्रसंग आजाता है। अन्य सर्वका विसर्जनरूप बाध होजाने पर जो अन्तमें एक ही अद्वयरूपसे परिशिष्ट रह जाता है, यह एकान्तपदकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति) 'तदन्य—सबका बाध होजाने पर जो अवशिष्ट रहता है, वही मैं ही हूँ' (भा०) इस वचन से समर्थित है—उसका भी विरोध होजाता है।

'त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च। सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्! नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम्॥' (भा० ७।८।४८) 'दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत् स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकञ्च। विनाऽच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यम्, स एव सर्वं परमार्थभूतः॥' (भा० १०।४६।४३) 'अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा।' (भा० ११-१३।२४) 'आत्मनोऽन्येषां भावानामसत्त्वात्।' (भा० ११।१३।३१) इति। सिद्धान्तितत्वाच्च।

'हे अनन्त–प्रभो! वायु, अग्नि, पृथिवी, आकाश, जल, पञ्चतन्मात्राएं, प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त, अहंकार, सम्पूर्ण जगत्, एवं सगुण और निर्गुण–सब कुछ केवल आप ही हैं। और तो क्या, मन और वाणीके द्वारा जो कुछ निरूपण किया गया है, वह सब आपसे पृथक् नहीं है, (भा०) 'उद्धवजी नन्द—बाबासे कहते हैं—जो कुछ पदार्थ, देखा या सुना जाता है,—वह चाहे अतीतकालसे सम्बन्ध रखता हो, वर्तमानसे अथवा भविष्यसे; स्थावर हो या जङ्गम हो, महान् हो अथवा अल्प हो, ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो भगवान् श्रीकृष्णसे पृथक् हो, बाबा! श्रीकृष्णके अतिरिक्त ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे वस्तु कह सकें, वास्तवमें सब कुछ वे ही हैं, वे ही परमार्थ-सत्यहैं।' (भा०) 'यह-वह सब कुछ मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है, यह सिद्धान्त आप लोग तत्वविचार द्वारा समझ लीजिये, ऐसा हंस-विग्रह धारी श्रीभगवान् ने सनकादि-कुमारों के प्रति कहा।, (भा०) 'आत्मासे अन्य-प्रतीयमान इस नामरूपात्मक-प्रपञ्च का कुछ भी अस्तित्व नहीं है। '(भा०) ऐसा सिद्धान्त किया गया है।

अयमर्थः—मां=तत्पदार्थं, प्रत्यगात्मानं=त्वंपदार्थतादात्म्यभूतं, अवरुन्धे=कल्पितान्यभावबाधेन प्राप्नोति। भगवतः सर्वस्वरूपत्वमनन्यत्वप्रबोधकमाह—मात्राः=तन्मात्राः, हृदयं=मनः, चित्=चित्तं, अनुग्रहः=अहंकारो देवतावर्गो वा। सगुणः=स्थूलः, विगुणः=सूक्ष्मः, यद्वा सगुणः=सोपाधिकं, विगुणः=निरुपाधिकम्। मनश्च वचश्च मनोवचः तेन निरुक्तं=प्रकाशितम्। किमपि त्वत्तोऽन्यन्नास्ति। हे भूमन्! तव सर्वस्वरूपत्वादेव भूमत्वमपरिच्छिन्नत्वमस्तीति भक्तप्रवरः प्रह्लादो भगवन्तं स्वेष्टदेवं श्रीनृसिंहं

स्तौति । अच्युताद्विना, तरां=नितरां, तत्त्वतो वाच्यं=निर्वचनार्हं वस्तु नास्तीत्यर्थः। यद्वा न तरां=नैव वाच्यम्, प्रकृतिप्रत्ययपौर्वापर्यभाव आर्षः, इति व्रजराजं नन्दं प्रति–उद्धवसमुपदिष्टस्य भगवदनन्यस्वरूपस्य विमर्शोऽयम् ।

यह अर्थ है—तत्पदार्थ-मुख्य भगवान् का त्वंपदार्थ-जीवात्माके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, अतः उस भगवान् को कल्पित-अन्यभावके बाध द्वारा प्राप्तकरता है। भगवान् का सर्वस्वरूपत्व–जो अनन्यत्व का प्रबोधक है-उसे कहते हैं–मात्रा यानी शब्दादि तन्मात्राएँ, सगुण यानी स्थूल या सोपाधिक, विगुण यानी सूक्ष्म या निरुपाधिक। मन एवं वाणीद्वारा जो प्रकाशित है, वह आपसे अन्य नहीं है । हे भूमन् ! यानी सर्वका स्वरूप होनेसे आपमें अपरिच्छिन्नस्वरूप -भूमत्व है, ऐसा भक्तप्रवर प्रह्लाद स्वेष्टदेव भगवान् श्रीनृसिंह की स्तुति करता है । अच्युतके बिना तत्त्वसे निर्वचन करने योग्य वस्तु सुतरां नहीं है । अथवा न तरां, यानी नहीं ही कहने योग्य है, 'न तरां' इसपदमें प्रकृति एवं प्रत्यय का पूर्वापर–भाव ऋषिप्रयुक्त है । ऐसा व्रजराज नन्द-बाबाके प्रति उद्धव द्वारा समुपदिष्ट-भगवान्के अनन्यस्वरूप का यह विमर्श है ।

एवं ज्ञाने प्रयोजितं 'अद्वयमि' ति विशेषणं द्वयत्वाभावोपलक्षितमेकमेवाद्वयं तादृशं लक्ष्यं प्रत्याययति । तथाहि—'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्' (भा० १।२।११) 'पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः' (भा० १०।१४।२३) 'अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ।' (भा० ७।१५।६३) 'सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ।' (भा० २।६।३९) 'निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं' (भा० १०।५१।५७) 'नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये ॥ आत्मानन्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नमः । हृषीकेशाय महते नमस्ते विश्वमूर्तये ॥' (भा० ६।१६।१९—२०) इत्यादिभिस्तदेव समर्थयति ।

इसप्रकार ज्ञानमें प्रयोजित 'अद्वयं' ऐसा विशेषण द्वयत्वके अभावसे उपलक्षित एक ही अद्वय, जो वैसा लक्ष्य है–उसका ज्ञापन कराता है । जैसे- 'जो अद्वय ज्ञानहै, वही तत्त्व है (भा०) 'वह पूर्ण है, अद्वय है, उपाधिसे मुक्त एवं अमृत है' (भा०) 'जगद्रूप-विकल्प अवास्तविक है, यही भावाद्वैत कहा जाता है'(भा०) 'जो सत्य है, पूर्ण-अनादि-अनन्त है, निर्गुण नित्य एवं अद्वय है ।' (भा०) 'निरञ्जन, निर्गुण, अद्वय ज्ञानमात्र, पर-मुख्य पुरुष के (मैं शरणापन्न होता हूँ) (भा०) 'आप विशुद्ध-विज्ञानस्वरूप हैं, आपकी मूर्ति परमानन्दमयी है । आप अपने स्वस्वरूपभूत-आनन्दमें ही मग्न हैं, अतः परमशान्त हैं, द्वैतदृष्टि आपसे सदा निवृत ही रहती है, अर्थात् अद्वयस्वरूप आपको छू तक नहीं सकती । मैं आपको नमस्कार करता हूँ। अपने स्वरूपभूत-आनन्दकी अनुभूति से ही आपने मायाजनित-रागद्वेष आदि दोषोंका तिरस्कार कर रक्खा है। मैं आपको नमस्कार करता हूँ । आप सबकी समस्त इन्द्रियोंके प्रेरक हैं, परम महान् और

विश्वरूप-विराट् हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ।' (भा०) इत्यादि वचनोंके द्वारा उसीही लक्ष्यका समर्थन किया जाता है।

सति चैवमनन्या भक्तिर्हि सर्वत्राराध्यस्येष्टदेवस्य 'त्वमेवासि बहिरन्तर्नाहमि' ति भावनां सुदृढां जनयित्वा 'एकसंख्याया एकोनशतरूपायां बृहत्संख्यायां' 'बिन्दोः सिन्धौ च' संयोजनमिव भगवत्स्वरूपे जीवात्मस्वरूपमभेदभावेन संयोजयति। एवमद्वैतज्ञानमपि 'सर्वत्राहमेवास्मि नान्यत्किमप्यस्ती' ति सुदृढां भावनां जनयित्वा 'एकसंख्यायां एकोनशतसंख्यायाः' 'बिन्दौ सिन्धोश्च' संयोजनमिवात्मस्वरूपे भगवत्स्वरूपमभेदभावेन संयोजयति।

ऐसा सिद्ध होजानेपर, अनन्या-भक्ति सर्वत्र आराध्य-इष्टदेवकी -'तू ही है बाहर भीतर, मैं नहीं हूँ' ऐसी सुदृढ-भावनाको उत्पन्न कराके 'एक—संख्याके निन्यानवे—रूप बडी संख्यामें एवं बिन्दुके सिन्धुमें संयोजनकी भांति' भगवत्स्वरूपमें जीवात्माके स्वरूप को अभेदभावसे संयोजित करती है। इसप्रकार अद्वैतज्ञान भी 'सर्वत्र मैं ही हूँ, अन्य कुछ भी नहीं है' ऐसी सुदृढ-भावनाको उत्पन्न कराके 'एकसंख्यामें निन्यानवे रूप संख्याके एवं बिन्दुमें सिन्धुके संयोजन की भांति, आत्मस्वरूपमें भगवत्स्वरूपको अभेद भावसे संयोजन करता है।

तथा च यथा प्रकारभेदेनापि द्वयोः स्थलयोः शतसंख्यायाः पूर्तिः संपाद्यते। तथैव भक्तिज्ञाने प्रकारभेदेनापि एकमेवाद्वयं लक्ष्यं समर्थयतः' इत्यत्र नास्ति श्रीमद्भागवततात्पर्यान्वेषणरसिकानां विदुषां संशयलेशोऽपि। न चैवं तयोरेकलक्ष्यसमर्थकतया सर्वथाऽभेदापत्तिः स्यादिति वाच्यम्। रागबोधात्मकवृत्तिभेदाद्भेदव्यवहारोपपत्तेः। एवं मिथःसंमिलितयोस्तयोः ज्ञायमानपरमानन्दरूपपरमपुरुषार्थप्रयोजकतया नान्यतरस्य व्यर्थताऽपि विज्ञेयेति सर्वमनाविलम्।

तथा च जैसे प्रकारभेदसे भी दृष्टान्तके दोनों स्थलोंमें शत—संख्याकी पूर्ति संपादित की जाती है, वैसे ही भक्ति और ज्ञान प्रकारभेदसे भी एक ही अद्वय लक्ष्य का समर्थन करतेहैं, इस विषयमें श्रीमद्भागवतके तात्पर्यके अन्वेषणमें रसिक-विद्वानों को लेशभी संशय नहीं है।

शंका—इसप्रकार एक-लक्ष्यके समर्थक होनेसे भक्ति और ज्ञानमें सर्वथा अभेदापत्ति होजायगी।

समाधान—रागात्मक एवं बोधात्मक-वृत्तिकेभेद से दोनोंमें भेदके व्यवहारकी भी उपपत्ति होजाती है। इसप्रकार परस्पर संमिलित ज्ञान और भक्ति, ज्ञायमान (अपरोक्षानुभव का विषय) परमानन्दरूप-परमपुरूषार्थके प्रयोजक होनेके कारण दोनोंमें से एक की व्यर्थता भी नहीं समझनी चाहिये, ऐसा समग्र-विवेचननिर्मल है।

भगवतो नामरूपयो र्भक्तितात्पर्यम् ।

अयं किलाविद्यावशगो जीवः तत्कल्पितयोर्मिथ्याभूतयो र्नामरूपयोः समासक्तः सन्ननादिकालतः स्वस्वरूपात्प्रच्युतो बभूव । अतस्तस्य स्वस्वरूपावस्थानसिद्धये तत्प्रतिबन्धभूतां नामरूपात्मकसंसारासक्तिं परिहातुं प्रथमं तावत् श्रीमद्भागवतादिशास्त्रं भगवतः समाराध्यस्य दिव्यनाम्नां दिव्यरूपाणाञ्च भक्तिं जनयितुं तन्महत्त्वमत्यादरेण प्रबोधयति । यदा च तद्भक्त्या नामरूपात्मकसंसारासक्तिः कण्टकेन कण्टकनिवृत्तिवत् विषस्यौषधं विषमिति वच्च विनिवर्तते, तदा पश्चात् जलशुद्धये प्रयोजितकतकरेणुरिव संतप्तलोहशैत्याय प्रक्षिप्तजलाञ्जलिवत् भगवन्नामरूपभक्तिर्भगवत्तत्त्वज्ञानं जनयति, तच्च केवलं नामरूपविवर्जितं भगवदद्वयतत्त्वमेव परिशेषयित्वा कतकरेणुजलयोरिव भगवन्नामरूपयोरप्यर्थतो बाधं ज्ञापयति ।

भगवान् के नाम-रूपोंकी भक्ति का तात्पर्य ।

यह अविद्याके वशीभूत हुआ जीव अविद्याकल्पित—मिथ्याभूत—नामरूपोंमें समासक्त होकर अनादिकालसे स्वस्वरूपसे प्रच्युत होगया है । अतः इस जीवात्माकी स्वस्वरूपावस्थानकी सिद्धिके लिए—उसमें प्रतिबन्धभूत—नामरूपात्मक-संसारासक्तिके परिहारके लिए, प्रथम श्रीमद्भागवतादिशास्त्र, समाराध्य-भगवान्के दिव्यनामोंकी एवं दिव्यसाकाररूपोंकी भक्तिको उत्पन्न करने के लिए उनके महत्त्व का अति-आदरके साथ प्रबोधन करता है । जब भगवन्नामरूपोंकी भक्तिसे नामरूपात्मक-संसारासक्ति, कण्टकसे कण्टककी निवृत्ति की भांति, विष की औषधि विषके समान, निवृत्त होती है, तब पश्चात् जलकी शुद्धिके लिए प्रयोजित कतकरेणुके समान, संतप्त लोह को ठण्डा करनेके लिए प्रक्षिप्त-जलाञ्जलिके समान, भगवन्नामरूपभक्ति भगवत्तत्त्व—ज्ञानको उत्पन्न करती है, और वह तत्त्वज्ञान, केवल नामरूपसे विवर्जित, भगवदद्वय-तत्त्व को ही परिशिष्ट रख कर कतकरेणु एवं जलके समान भगवन्नाम-रूपोंके भी बाधको अर्थात् ज्ञापन कराता है ।

तस्मादयं परमात्मा वस्तुतो नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतोऽशरीरः अस्थूलादिलक्षणः सर्वैः संसारधर्मैरनागन्धितः स्वात्मविलक्षणयोर्नामरूपयोरस्ति व्याकर्ता । यदाहुः श्रुतयः—'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता, ते यदन्तरा' (छां० ८।१४।१) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते ।' (तै० उ० ३।६) 'ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ।' (बृ० उ०-१।६।१) 'ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ।' (बृ० उ० १।६।२) अयमर्थः- ते नामरूपे यस्मिन् अन्तरा = मध्येऽध्यारोपिते स्तः । रूपाणि = दिव्यादिव्यविविधरूपवद्विग्रहाणि, विचित्य = विरचय्य, धीरः = धीप्रेरकः सर्वज्ञः, तत्र प्रविश्य नामानि कृत्वा अभिवदनादिव्यापारं कुर्वन् यदास्ते = यो वर्तते ।

इसलिये यह परमात्मा, वस्तुतः नामरूपोंसे अर्थान्तरभूत (विलक्षण) शरीर रहित, अस्थूलादि-लक्षणोंवाला एवं समस्त-संसारके धर्मोंसे अलिप्त है, तथा स्वात्मासे विलक्षण-नामरूपोंका व्याकर्ता (आविष्कारक) है, इस विषयमें श्रुतियाँ कहती हैं– 'आकाशनामवाला सर्वप्रकाशक-व्यापक परमात्मा, नाम एवं रूपोंका निर्वोढा है–अर्थात् सत्ता-स्फूर्ति प्रदाता है, वे नाम एवं रूप जिसके अन्दर हैं।' (श्रु०) धीर यानी परमेश्वर समस्त- रूपोंका सर्जन करके, सभी के नामोंका निर्देश करके विविध-व्यवहारोंको करता हुआ अवस्थित रहता है।' (श्रु०) 'यह ब्रह्म समस्त नामोंको धारण करता है' (श्रु०) 'यहा ब्रह्मसमस्त रूपोंको धारण करता है।' (श्रु०) यह अर्थ है-वे नामरूप जिसके मध्यमें अध्यारोपित हैं। रूप यानी दिव्य एवं भौतिक रूपवाले-विग्रह (शरीर)। धीर यानी समग्र-बुद्धियोंका प्रेरक–सर्वज्ञ। उन शरीरोंमें प्रविष्ट होकर उनके विविध-नामोंको रखकर अभिवदनादि व्यवहार को करता हुआ प्रवर्तमान होता है।

यदाह—श्रीमद्भागवतमपि—'अनामरूपात्मनि रूपनामनी विधित्समानः' (भा० ११।०।२२) 'अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः।' (भा० ६।१६।२१) इति। तथाचैतद्वचनसंदर्भः—नामरूपयोः समुत्पत्त्यादिबोधनेन तयोरपारमार्थिकत्वं प्रत्याययति। एवं 'नामरूपाद्विमुक्तः' (मुं० उ०-३।२।८) इति श्रुतिः, 'प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समं' (भा० २।७।४७) 'ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम्' (भा० २।७।४८) 'मां विकल्प्यापोह्यते।' (भा०-११।२१।४३) 'प्रतिपिध्य प्रसीदति।' (भा० ११।२१।४३) इत्यादीनि श्रीमद्भागवतवचनानि च प्रतिषिद्धयोर्नामरूपयोश्च मिथ्यात्वं सुस्पष्टमावेदयन्ति।

श्रीमद्भागवत भी कहता है–कि–'नामरूप–रहित आत्मामें नाम एवं रूपोंके विधानकी इच्छा रखता हुआ परमेश्वर' (भा०) 'जो परमात्मा नामरूपसे रहित है, चिन्मात्र है, और कार्य-कारणसे या स्थूल–सूक्ष्मसे पर-अतीत है, वह हमारी रक्षा करे।' (भा०) तथा च पूर्वोक्त-यह वचन-समुदाय, नामरूपोंकी संमुत्पत्ति आदिके बोधन द्वारा उनके अपारमार्थिकत्व का ज्ञापन कराता है। इसप्रकार–'वह तत्त्वदर्शी नामरूपसे विमुक्त हुआ' (श्रु०) यह श्रुति, तथा 'वह एकमात्र ज्ञानरूप शुद्ध एवं सम है' (भा०) 'जो शाश्वत–सुखरूप एवं शोकवर्जित है, वह ब्रह्म है, ऐसा जानते हैं।' (भा०) 'श्रुतियाँ मुझ–परमात्मामें ही नामरूपोंका आरोप करके उनका निषेध कर देती हैं।' (भा०) 'माया कल्पित-नामरूपोंका प्रतिषेधकर और केवल-अधिष्ठान रूपसे मुझे परिशिष्ट रखकर श्रुति उपशान्त होजाती है।' (भा०) इत्यादि श्रीमद्भागवतके वचन भी प्रतिषिद्ध–नाम एवं रूपोंके मिथ्यात्व का स्पष्ट ही आवेदन करते हैं।

साकारविग्रहमहत्त्ववर्णनतात्पर्यम्।

यत्र तत्र श्रीमद्भागवते भगवतः साकारविग्रहस्य जगत्कारणत्वादिप्रति-

पादनप्रयुक्तं यद्वर्ण्यमानं महत्त्वं, तत्तु तदुपासकानां तत्र प्रभूतप्रीतिजननाय मतिस्थैर्याय च तात्पर्याय बोध्यम्। न च विग्रहस्य जगत्कारणत्वमस्तु तत्र किं बाधकमिति वाच्यम्। विग्रहस्य परिच्छिन्नत्वात् व्यापकत्वाभावेन तदभावात्। अमूर्तव्यापकरूपेणैव परमेश्वरस्य जगत्कारणत्वसंभवात्, न तु विग्रहोपहित-परिच्छिन्नरूपेण। विग्रहस्य सर्वत्र प्रपञ्चेऽनुस्यूतत्वाभावात्। जगज्जन्मादिकारणत्वञ्चाभिन्ननिमित्तोपादाने पर्यवसन्नम्। तत्रोपादानत्वञ्च स्वाध्यस्तसमस्त-प्रपञ्चाधिष्ठानत्वमिति विज्ञेयम्।

साकार-विग्रहके महत्त्वके वर्णन का तात्पर्य।

जहाँ तहाँ श्रीमद्भागवतमें भगवान्के साकार विग्रहका—जगत्कारणत्वादिके प्रतिपादनसे प्रयुक्त—जो वर्णित किया गया—महत्त्व है, वह तो उस साकार विग्रहके उपासकोंमें उस-विग्रहमें प्रभूत-भक्ति की उत्पत्तिरूप एवं बुद्धिकी स्थिरतारूप-तात्पर्यके लिए है, ऐसा समझना चाहिये।

शंका—विग्रहमें जगत्कारणत्वके होनेमें क्या बाधक है ?

समाधान—विग्रह परिच्छिन्न है, व्यापक न होनेके कारण उसमें जगत्कारणत्व का अभाव है। अमूर्त-व्यापकरूपसे ही परमेश्वरमें जगत्की कारणताका संभव है। विग्रह से उपहित—परिच्छिन्नरूपसे संभव नहीं है। समस्त-द्वैत प्रपञ्चमें विग्रह अनु-स्यूत नहीं है। और जगत्के जन्मादिकी कारणता; अभिन्न-निमित्त-उपादान कारणता में पर्यवसन्न होती है, उसमें उपादानकारणता है—अपनेमें अध्यस्त-समस्त प्रपञ्चकी अधिष्ठानता, ऐसा जानना चाहिये।

'मायिनन्तु महेश्वरम्' (श्वे० उ० ४।१०) 'अस्मान्मायी सृजते विश्व-मेतत्' (श्वे० उ० ४।९) 'स्वमायया सृष्टमिदं' (भा० ११।७।४७) इत्यादि श्रुतिभागवतानुसारेण मायासम्बन्धमन्तरा निर्विशेषस्य मायातीतपरब्रह्मणः प्रपञ्चहेतुत्वाभावात्, अतस्तस्यैव मायोपहितस्य जगत्कारणत्वसर्वज्ञत्वसर्व-शक्तित्वाद्यनन्तकल्याणगुणगणशालित्वमभ्युपगम्यते। अत एव 'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्' (ब्र० सू० २।१।३०) इत्यधिकरणे 'विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्' (ब्र० सू० २।१।३१) इति सूत्रस्य भाष्ये 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।' (श्वे० उ० ३।१९) इत्यकरणस्यापि ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्यं दर्शयतीत्यादिना परमेश्वरस्य शरीरापेक्षां विनाऽपि सकलसामर्थ्य-मस्तीति सिद्धान्तितम्। तथा च जगज्जन्मादिकारणत्वरूपलक्षणलक्षितो माया-बिम्बभूतः सर्वोपास्य एक एव सन् विविधरुचिमतां भक्तानामनुग्रहार्थं स्वयोगमायाशक्त्यैव विष्णुशिवरामकृष्णरमोमासीताराधादिविविधदिव्यली-लाविग्रहान्—परिगृह्णातीत्यभ्युपगम्यते। तथा चाभिहितं श्रीमद्भागवते तृतीयेऽपि—'यद्यद्धिया त उरुगाय ! विभावयन्ति, तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनु-

ग्रहाय। (भा० ३।९।११) इति।

'मायाका अधिष्ठाता महेश्वर है, (श्रु०) 'इसलिये मायावाला महेश्वरही इस विश्वका सर्जन करता है' (श्रु०) 'अपनी मायाद्वारा ही यह विश्व सृष्ट हुआ है' (भा०) इत्यादि-श्रुति-एवं भागवतके वचनोंके अनुसार माया सम्बन्धके विना निर्विशेष-परब्रह्म प्रपञ्चका हेतु नहीं हो सकता है। इसलिये उस मायोपहित-महेश्वरमें ही जगत्कारणत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व आदि-अनन्त-कल्याणमय-गुणगणशालिता मानते हैं। इसलिये-'वह परादेवतारूप परमेश्वर सर्वशक्तिसे संयुक्त है, ऐसा समग्रशास्त्रोंमें देखा जाता है।' इस ब्रह्मसूत्रके अधिकरणमें 'करण (इन्द्रिय) रहित होनेके कारण वह शक्तिसे रहित होगा ? ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि-श्रुतिमें ऐसा कहा है' (ब्र०) इस सूत्रके भाष्यमें-वह परमेश्वर हस्त-पादसे रहित होनेपर भी दौडता है एवं ग्रहण करता है, तथा वह चक्षु रहित होने पर भी देखता है। एवं श्रोत्ररहित होने पर भी सुनता है' (श्रु०) इस श्रुति द्वारा इन्द्रिय-रहित भी ब्रह्ममें सर्वसामर्थ्य दिखाया जाता है, इत्यादिसे शरीरकी अपेक्षा विना भी परमेश्वरमें सकल-सामर्थ्य है, ऐसा सिद्धान्त किया है। तथा च जगज्जन्मादिकारणत्वरूपलक्षणासे लक्षित, मायाका बिम्बभूत, सर्वोपास्य, एक ही हुआ परमेश्वर विविधरुचि-रखनेवाले-भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए अपनी योग-मायाशक्ति द्वारा ही विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, रमा, उमा, सीता, राधा, आदिके विविध-दिव्य-विग्रहोंको धारण करता है, ऐसा हम मानते हैं। तथा च श्रीमद्भागवतके तृतीय-स्कन्धमें भी कहा है कि—'हे पुण्यश्लोक-प्रभो ! आपके भक्तजन जिस जिस भावनासे आपका चिन्तन करते हैं, उन साधु-पुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिए आप वही वही दिव्य साकार-रूप धारण कर लेते हैं।' (भा०)

नच जलकाठिन्यदृष्टान्तेन विग्रहविग्रहिणो भेदाभावमङ्गीकृत्य तद्विग्रहस्य जगत्कारणत्वाभ्युपगमे को दोष इति वाच्यम्। विग्रहस्य परिच्छिन्नत्वात् विग्रहिणोऽपरिच्छिन्नत्वाच्च, तयोरभेदस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च। न च विग्रहस्याप्यपरिच्छिन्नत्वे बाधकाभाव इति वाच्यम्। विग्रहस्य सावयवत्वेन तस्यापरिच्छिन्नत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। 'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते। स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनो नृणां स्युः॥' (भा० १।२।२३) इत्यादि—भागवतवचनेभ्यो भगवद्विग्रहस्य मायोद्भासितत्वेन सत्त्वतनुत्वेन च प्रतिपादितत्वाच्च।

शंका—जल और जलकी कठिनतारूप-बरफके दृष्टान्तके अनुसार विग्रह एवं विग्रहवान्के भेदाभावको मानकर भगवद्विग्रहमें जगत्की कारणता स्वीकार करनेपर क्या दोष होसकता है ?।

समाधान—विग्रह परिच्छिन्न है, और विग्रहवान् परमेश्वर अपरिच्छिन्न है, इसलिये इन-दोनोंका अभेद कहनेके लिए अशक्य है।

शंका—विग्रहको भी अपरिच्छिन्न मानने में कोई बाधक नहीं है ।

समाधान—विग्रह सावयव होता है, इसलिये उसमें अपरिच्छिन्नत्व नहीं कह सकते । 'प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व रज और तम । इनको स्वीकार करके इस विश्व की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयके लिए एक अद्वितीय-परमात्मा ही विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र—ये तीन-नाम धारण करते हैं । फिर भी मनुष्यों के विविध-कल्याण तो विशुद्ध-सत्त्वगुण-समुद्भासित-विग्रह वाले—श्री हरिसे ही होते हैं ।' (भा०) इत्यादि भागवतके वचनोंसे—भगवान्‌का विग्रह माया द्वारा समुद्भासित है, एवं सत्त्वगुणमय है, ऐसा प्रतिपादन किया है ।

ननु—श्रीमद्भागवते भगवद्विग्रहस्य चिन्मयतनुत्वमपि प्रतिपाद्यते तस्य का गतिः स्यादिति चेत्—विग्रहानुस्यूततदुपलक्षितचिन्मात्रबोधनपरतैवा-वगतिरिति गृहाण । एवं विग्रहविग्रहिणोरैक्यप्रतिपादकवचनस्य का गतिरिति चेत्—तस्य बाधितार्थप्रतिपादकत्वेन तात्पर्याभावेऽप्युपासकानां विश्वासरुचि-प्रीत्युत्पादनपरतैव गतिरित्यवधारय । पूर्वोक्तभागवतवचनस्यायमर्थः—ब्रह्मा-दीनां त्रयाणामेकात्मकत्वेऽपि वासुदेवस्य विष्णोराधिक्यमाह—इह यद्यप्येक एव परः पुमान् अस्य जगतः स्थित्यादये=स्थितिसृष्टिप्रलयार्थं हरिविरिञ्चि-हरेति संज्ञाः केवलं भिन्नाः धत्ते, संज्ञावान् परमेश्वरस्तु एक एव । तत्र=तेषां मध्ये सत्त्वतनोः वासुदेवादेव श्रेयांसि=शुभफलानि स्युः ।

शंका—श्रीमद्भागवतमें भगवद्विग्रह को चिन्मयतनुरूपसे भी प्रतिपादन किया गया है, उसकी क्या गति होगी ?

समाधान—विग्रहमें अनुस्यूत-विग्रहसे उपलक्षित-चिन्मात्र बोधनका ही उसका तात्पर्य हैं, ऐसा जानना ही उसकी गति है, ऐसा समझ ।

शंका—इसप्रकार विग्रह एवं विग्रही की एकताके प्रतिपादक वचनकी क्या गति होगी ?

समाधान—वह वचन बाधितार्थका प्रतिपादक होनेके कारण उसमें तात्पर्य नहीं हो सकता है, इसलिये—उपास्य-विग्रहमें उपासकोंका विश्वास, रुचि एवं प्रीतिका उत्पादन करना ही उसका तात्पर्य है, यही उसकी गति है, ऐसा निर्णय कर ।

पूर्वोक्त भागवतवचनका यह अर्थ है—ब्रह्मा विष्णु एवं रुद्र, ये तीन यद्यपि एक ही हैं, तथापि उनमें वासुदेव विष्णुकी अधिकता (विशेषता) कहते हैं—यहाँ यद्यपि एक ही पर-पुरुष इस जगत्‌की स्थिति, सृष्टि, एवं प्रलयके लिये हरि, ब्रह्मा एवं हरका केवल-भिन्न भिन्न नाम धारण करता है, नामोंवाला परमेश्वर तो एक ही है । उनके मध्यमें सत्त्वगुणोद्भासित-विग्रह वाले-वासुदेवसे ही शुभफल-रूप-श्रेयस् प्राप्त होते हैं ।

इदमिहावधेयम्—'अस्यापि देव ! वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।' (भा० १०।१४।२) 'न भूतसंघसंस्थानो देवस्य

परमात्मनः।' (महाभारत) इत्यादिवचनानुरोधेन भगवद्विग्रहो योगमायाऽचिन्त्यविशुद्धसत्त्वशक्तिरूपस्वेच्छामयो न तु भूतमयो भौतिको जीवानामिवास्माभिरप्यभ्युपगम्यते इति। ममानुग्रहो यस्मात्तन्मदनुग्रहं तस्य, किञ्च स्वेच्छामयस्य=स्वेषां—स्वकीयानां भक्तानां यथायथेच्छा तथा तथा भवतः, न तु भूतमयस्य=भूतपरिणामभूतस्य, किन्त्वचिन्त्यशुद्धसत्त्वात्मकस्य वपुषः=विग्रहस्य। तस्माद्—श्रुतिगीताभागवताद्यभिमतकेवलाद्वैतरूपसच्चिदानन्दाखण्डनिर्विशेषपरब्रह्मण एव मायोपहितामूर्तव्यापकरूपेण जगज्जन्मादिकारणत्वरूपेण विष्णुशिवरामकृष्णादिरूपेण च मुमुक्षूपास्यत्वं तत्प्रसादादेवानन्यभक्तिब्रह्माद्वयज्ञानप्राप्तिर्भवतीति सर्वं रमणीयम्।

यहाँ यह समझना चाहिये कि—'हे देव ! यानी स्वयंप्रकाश-परमात्मन् ! आपका यह श्रीविग्रह आपके अनन्य प्रेमी भक्तजनोंकी इच्छा का मूर्तिमान् स्वरूप है, मुझपर आपका साक्षात्-कृपाप्रसाद है, मुझे अनुगृहीत करनेके लिए ही आपने इसे प्रकट किया है, कौन कहता है कि-यह पंचभूतों की रचना है, यह तो अप्राकृत-शुद्ध सत्त्वमय है।' (भा०) यह ब्रह्मा भगवान्‌के प्रति कहता है। 'देव परमात्माका विग्रह भूतसमूह की रचनारूप नहीं है।' (म०) इत्यादि वचनोंके अनुसार भगवान्‌का विग्रह योगमायाकी अचिन्त्य विशुद्ध सत्त्वशक्तिरूप-स्वेच्छामय है, भूतमय-जीवोंके भौतिक-विग्रह की भांति-नहीं है, ऐसा हम मानते हैं। इसलिये श्रुति-गीता-भागवत-आदि शास्त्रोंका अभिमत-केवलाद्वैतरूप-सच्चिदानन्द-अखण्ड-निर्विशेष-परब्रह्म ही मायोपहित अमूर्तव्यापकरूपसे जगज्जन्मादिकारणरूपसे, एवं विष्णु, शिव, राम, कृष्णादिरूपसे मुमुक्षुओंके द्वारा उपास्य है, और उसकी कृपासे ही अनन्यभक्तिकी एवं अद्वय ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है, इसप्रकारका यह प्रामाणिक-यथार्थ समग्र विवेचन रमणीय है।

भागवतीकथानां भगवल्लीलाचरितानाञ्च तात्पर्यम्।

तदभिहितं—श्रीमद्भागवतेऽपि यत्र तत्र बहुशः—तथाहि—'कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्। विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो ! वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्॥' (भा० १२।३।१४) 'यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममंगलघ्नः। तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥' (भा० १२।३।१५) 'बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मं पारोक्ष्येण प्रदर्शितम्। यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान् विश्वभावनः॥' (भा० ४।२८।६५) 'प्रह्लादस्यानुचरितं महाभागवतस्य च। भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च याथात्म्यं चास्य वै हरेः॥' (भा० ७।१०।४३) 'आख्यानेऽस्मिन् समाम्नातमाध्यात्मिकमशेषतः॥ (भा० ७।१०।४५)

भागवतकी कथाओंका एवं भगवान्‌के लीला-चरित्रोंका तात्पर्य।

वह तात्पर्य श्रीमद्भागवतमें भी जहाँ तहाँ बहुप्रकारसे कहा गया है—जैसे 'श्री

शुकदेवजी कहते हैं—हे परीक्षित ! इस जगत्में बड़े-बड़े-प्रतापी महान् पुरुष हुए हैं, वे लोकोंमें अपने यशका विस्तार करके यहांसे चल बसे। मैंने तुम्हें ज्ञान और वैराग्यका उपदेश देनेके लिए ही उनकी कथा सुनायी है। यह सब वाणीका विलास है, इसमें पारमार्थिक सत्य कुछ भी नहीं है, परमार्थ सत्य तो एकमात्र सर्वात्मा परब्रह्म है, जिसके ज्ञान-लाभके लिएही यह वाणीका विलास प्रयुक्त हुआ है।'(भा०) 'भगवान्‌श्रीकृष्ण का गुणानुवाद, समस्त-अविद्यादि-क्लेशमय-अमंगलोंका नाश करने वाला है, अतः इस उद्देश्यके लिए ही बड़े-बड़े महात्मा उसीका गान करते रहते हैं। जो भगवान्-श्रीकृष्णमें अनन्य-प्रेममयी-ज्ञानमयी भक्ति की लालसा रखता है, उसे नित्य-निरन्तर भगवान्के दिव्यगुणानुवादका ही श्रवण करते रहना चाहिये।' (भा०) 'नारदजी ने कहा—हे प्राचीन-बर्हि ! मैंने तुम्हें पुरञ्जनोपाख्यान द्वारा परोक्षरूपसे यह आत्मज्ञानका दिग्दर्शन कराया है। क्योंकि—जगत्कर्ता जगदीश्वरको परोक्षवर्णन ही अधिक-प्रिय है।' (भा०) 'महाभागवत-प्रह्लादका चरित्र, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, एवं श्रीहरिके यथार्थस्वरूपानुभवके लिए ही कहा गया है।' (भा०) इस आख्यानमें अशेषरूपसे आध्यात्मिक-तत्त्व ज्ञानका ही निरूपण किया गया है।' (भा०)

'इत्थं परस्य निजवर्त्मरिरक्षयाऽऽत्त—लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि।
कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य, श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन्॥'
(भा० १०।९०।४९) इति। अयमर्थः—परेयुषां = मृतानां, वचोविभूतीः = वाग्विलासमात्ररूपाः, न तु पारमार्थ्यं = पारमार्थिकम्। यद्वा परं = श्रीहरिमीयुषां प्राप्तानाम्। योग्यस्य पुंसो विज्ञानवैराग्ये स्यातामित्यभिप्रेत्य विवृत्ताः। धर्मवैराग्यभक्तिज्ञानमयस्य निजसनातनकल्याणमार्गस्य रक्षितुमिच्छयैव ग्रहीतदिव्यलीलामयविग्रहस्य यदूत्तमस्य = यादववंशावतंसस्य श्रीकृष्णस्य सतः परस्य भूम्नः तदनुरूपानुकारीणि कर्माणि = लीलाचरितानि दिव्यकर्मरूपाण्यपि तानि शृण्वतां भक्तिमतां जनानां यानि शुभाशुभानि कर्माणि सन्ति, तानि ज्ञानज्योतिःप्रदानद्वारा कर्षयन्ति—क्षपयन्ति विनाशयन्तीति कर्मकषणानि—कर्मविध्वंससमर्थानि—भक्तिमयज्ञानजननप्रयोजकानि-मोक्षोपयोगीनि भवन्ति। 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।' (गी० ४।१९) 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।' (गी० ४।३७) इति गीतासु श्रीमुखवचनप्रामाण्यात्। इदमिह विज्ञेयम्—ज्ञानाग्निना कर्मणां साक्षाद्दाहासंभवात्, साक्षात् तेनाज्ञानस्यैव दाहसंभवेन तद्द्वारा तत्कार्यभूतकामानां दाहद्वारा पश्चात् परंपरया कामकार्याणि कर्माणि 'कारणापाये कार्यस्याप्यपायवत्' दग्धानि भवन्ति। ज्ञानरूपोऽग्निः सर्वकर्माणि पापानि पुण्यानि च भस्मसात्कुरुते = तत्कारणाज्ञानादिनाशेन निर्बीजत्वं नयति। 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते।' (छां० ५।२४।३)

'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मुं० उ० २।२।८) इत्यादि श्रुतेः । अमुष्य=बुद्धिस्थस्य सर्वात्मनः श्रीकृष्णस्य पादयोः=चरणकमलयोः, अनुवृत्तिं=भक्तिमयभजन-सन्ततप्रवाहं, इच्छन् तादृशानि—दिव्यलीलाचरितानि श्रयात्=शृणुयादित्यर्थः ।

'श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! परीक्षित् ! प्रकृतिसे पर—परमात्माने अपने द्वारा स्थापित—सनातन—धर्म—मार्गकी रक्षाके लिए दिव्य—लीला शरीर ग्रहण किया, और उसके अनुरूप अनेकों—अद्भुत—चरित्रोंका अभिनय किया । उनके उपदेशादिरूप दिव्य—कर्म, श्रवण—चिन्तनकरनेवाले—श्रद्धालुभक्तोंके कर्म—बन्धनोंको काट डालते हैं । जो यदुवंशशिरोमणि—भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलों के भक्तिमय—सतत-प्रवाहशील—भजनका अधिकार प्राप्त करना चाहे, उसे उनके दिव्य—चरित्रोंकाही श्रवण करना चाहिये ।' (भा०) पूर्वोक्त—श्लोकों का यह अर्थ है—परेयुष यानी मृत, या पर—श्रीहरि को प्राप्त हुए । योग्य—अधिकारी मानवको ज्ञान एवं वैराग्य की प्राप्ति हो, इस अभिप्रायसे ही इन महापुरुषों की कथाओंका आविष्कार किया है । भगवान्का अपना सनातन कल्याणमार्ग, धर्ममय, वैराग्यमय, भक्तिमय एवं ज्ञानमय है । उसकी रक्षाकरने की अभिलाषासे ही श्रीभगवान् ने दिव्य—लीलामय—विग्रहको ग्रहण किया है । श्रीकृष्ण यादववंश के अलंकाररूप हैं, वस्तुतः वे पर यानी मायातीत—भूमा हैं । उस विग्रहके अनुरूप—अनुकरणशील—दिव्य—लीलाचरित्रोंका श्रवण करनेवाले भक्तजनोंके जो शुभाशुभकर्म हैं, उनका ज्ञानज्योतिके प्रदान द्वारा जो विनाश कर देते हैं—ऐसे भगवान्के दिव्यचरित्र, कर्मविध्वंसके लिए समर्थ हैं, भक्तिमयज्ञानोत्पत्तिके प्रयोजक हैं एवं मोक्षमें उपयुक्त हैं । इसविषयमें गीताके श्रीमुखके ये वचन भी प्रमाणभूत हैं—कि—'जिसने ज्ञानाग्निद्वारा कर्मोंको दग्ध कर दिया है, उसे विद्वान् पण्डित कहते हैं ।' (गी०) 'ज्ञानाग्नि, उसप्रकार सबकर्मोंको भस्मी भूत करदेती है ।' (गी०) यहां यह समझना चाहिये—ज्ञानाग्निद्वारा साक्षात् कर्मोंका दाह नहीं होसकता है, किन्तु उसके द्वारा साक्षात् अज्ञानका ही दाह होता है, अज्ञानके दाह द्वारा तत्कार्य-भूत—कामोंका दाह होता है, और उनके दाह द्वारा पश्चात् कामोंके कार्यभूत—कर्मोंका परंपरासे दाह होता है । क्योंकि—यह नियम है कि—कारण की निवृत्ति होने पर कार्यकी भी अर्थात् निवृत्ति होजाती है । ज्ञानरूप—अग्नि, सभी पुण्यपापरूप—कर्मोंको भस्मीभूत करदेती है, अर्थात् उनके कारणभूत—अज्ञानादिके नाशद्वारा उन कर्मोंको निर्बीज बना डालती है, यानी पुनः प्ररोहकी हेतुभूत—बीजत्व शक्तिको नष्ट कर डालती है । श्रुती—भगवती कहती है—'जैसे इषीकाकी अतिकोमल—रुई, अग्निमें डालने पर तत्काल ही जलकर भस्मीभूत होजाती है, वैसे इस तत्त्वदर्शी—विद्वान्के सभी पापरूपकर्म जलकर भस्मीभूत होजाते हैं' (श्रु०) 'इसके कर्म क्षीण होजाते हैं ।' (श्रु०) अमुष्य यानी बुद्धिमें अवस्थित—सर्वात्मा श्रीकृष्णके चरण कमलोंके भक्तिमय

भजनके अविच्छिन्न—प्रवाहकी जो इच्छा रखता है, वह भगवान्के दिव्य-लीला चरित्रोंका श्रवण करे ।

अद्वयब्रह्मद्वेषिणां मिथ्याप्रलापः ।

इदं हि श्रीमद्भागवतं मोहिन्यवतारवत् भगवदवतारभूतं निराकारनिरूपाद्वयब्रह्मवादिनां राक्षसानां विमोहाय साकारभक्तितश्च प्रच्युतये यत्र तत्र, बहुत्राद्वयब्रह्मवर्णनं विदधातीति द्वैतिनोऽद्वयब्रह्मविद्वेषिणः प्रलपन्ति । अत्र वक्तव्यम्—न कोऽपि श्रद्धाधनो विचारकः परमश्रद्धास्पदस्य श्रीमद्भागवतस्य मोहशोकादिद्वन्द्वनिवारणैकोद्देश्यकस्य मोहप्रयोजकत्वमंशतोऽप्यभ्युपैति । 'तुल्यश्च सांप्रदायिकमि' ति न्यायेन नैव कस्यचिद्वर्णनस्य मोहनिवारकत्वं, तदन्यस्य कस्यचिद्वर्णनस्य मोहप्रयोजकत्वञ्चार्धजरतीयत्वसंपादकं मनुते । अतः शुकशास्त्रमिदं भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनाय प्रयोजनाय प्रकाशितं न कस्मिन्नपि केनापि वर्णनेन मोहं स्थापयतीति युक्तं वयमुत्पश्यामः ।

अद्वय—ब्रह्मद्वेषियों का मिथ्या-प्रलाप ।

यह श्रीमद्भागवत मोहिनी—अवतारके समान भगवान् का अवतार रूप है, निराकार—निरूप—अद्वय—ब्रह्मवादीरूप—राक्षसोंके मोहके लिए एवं उन्हें साकार-भक्तिसे प्रच्युत करनेके लिये जहाँ तहाँ बहुत—स्थलों पर अद्वय—ब्रह्मका वर्णन करता है, ऐसा द्वैतवादी-अद्वय—ब्रह्मके विद्वेषी प्रलाप करते हैं । यहां यह वक्तव्य है—कोई भी श्रद्धारूपीधनवाला विचारशील, परमश्रद्धास्पद—श्रीमद्भागवतमें जिसका मोह—शोकादिद्वन्द्वका निवारण करना ही उद्देश्य है—अंशसे भी मोह-प्रयोजकता नहीं मान सकता है । 'गुरुपरंपरारूपसंप्रदायद्वारा प्राप्त—समग्र—उपदेश समानरूपसे प्रामाणिक होता है' इस न्यायके द्वारा—वह ग्रन्थके किसी वर्णनमें मोह निवारकत्व, एवं तदन्य किसी वर्णन में मोह-प्रयोजकता—नहीं मान सकता है, ऐसा मानना अर्धजरतीयताका संपादक कहा जाता है, अर्थात् किसी नारी का अमुक भाग वार्धक्य युक्त हो, एवं अमुक—भाग वार्धक्यरहित—जवान—हो—ऐसामानना अर्धजरतीयत्व है । इसलिये वीतराग—शुकमुनिका यह शास्त्र, भक्ति ज्ञान एवं वैराग्य की स्थापनारूप-प्रयोजनके लिए प्रकाशित हुआ है, वह किसी भी वर्णनके द्वारा किसीमें भी मोहकी स्थापना नहीं ही कर सकता है, ऐसा हम ठीक—ठीक समझते हैं ।

यदि च निराकाराद्वयब्रह्मवादित्वमेव राक्षसत्वप्रयोजकत्वमभ्युपेये, तदा तद्वादितया श्रीमद्भागवतेऽपि तत्त्वमनिष्टकरं प्रसज्येत, सति चैवं-'वृद्धिमिच्छतो मूलमपि ते नष्टं हा कष्टतरमि' ति न्यायगर्तपतनं तेषामेव संपद्येत । अतः—'चर्चाऽपि द्वेषिणां नूनमलमश्रेयसे यतः ।' इति मत्वा विरमामः ।

अन्ते चाचार्यप्रवरश्रीमधुसूदनस्वामिपादप्रणीतमेतत्पद्यमुल्लिख्य ततो मौनमेव भजामहे—

'इह कुमतिरतत्त्वे तत्त्ववादी वराकः, प्रलपति यदकाण्डे खण्डनाभासमुच्चैः।
प्रतिवचनममुष्मै तस्य को वक्ति विद्वान्, न हि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः॥

यदि राक्षसत्वका प्रयोजक, निराकार—अद्वयब्रह्मवादित्व ही माना जाय, तब तो तद्वादित्व होनेके कारण श्रीमद्भागवतमें भी अनिष्टकर—राक्षसत्व प्रसक्त हो जायगा। ऐसा होनेपर तो–'वृद्धि (व्याज) की इच्छा रखनेवाले तेरा मूल (धन) भी हा! नष्ट होगया, यह अतिकष्ट की बात है' इस न्यायरूपी खड्डेमें गिरपडना उन्हें ही प्राप्त होगा। इसलिये—'क्योंकि–द्वेषियोंकी चर्चा भी अकल्याण के लिए ही होजाती है' ऐसा मानकर हम विराम लेते हैं। अन्तमें आचार्य—प्रवर पूज्य श्री मधुसूदन स्वामी प्रणीत–इस पद्यका उल्लेखकर उन द्वेषियोंकी चर्चासे हम मौनका ही सेवन करते हैं—'कुत्सितमतिवाला मानव, बेचारा, अतत्त्वको तत्त्व एवं तत्त्वको अतत्त्व कहता है, और वह प्रयोजन एवं अवसर विना ही झूठे—खण्डनोंको खडाकर जोरसे बकवाद किया करता है। ऐसे मिथ्या—बकवादीके कपोलकल्पित—आक्षेपोंका कौन सुमतिमान् विद्वान् समाधान करनेके लिए प्रवृत्त होसकता है? नहीं होसकता। ग्रामका नकली सिंहरूप—कुत्तेके चिल्लानेपर अरण्यका असली सिंह उसका अनुकरण कर चिल्लाने नहीं लगता है।'

उपसंहारः।

समेषां लोकानामभ्युदयनिःश्रेयसप्रयोजनसंपादनायाविर्भूतं भगवदवतारभूतं महनीयं शास्त्रं श्रीमद्भागवतं 'उपनिषदां गीताया इव' सर्वसिद्धान्तानां सर्वसाधनानाञ्च निष्कामकर्ममार्ग—साधनभक्तिमार्ग—मर्यादामार्ग अनुग्रहमार्ग—संयमसदाचारत्यागवैराग्यादिमार्ग—अनन्यप्रेमलक्षणाभक्तिमार्ग ज्ञानमार्गादिसमस्त—श्रेयस्कर—मार्गाणामपि च योग्यं समन्वयं साधयन् विवादविरोधरहितं तात्पर्यं एकस्मिन् भगवत्येव प्रदर्शयतीत्यध्यात्मज्योत्स्ना-विवृत्तिं प्रास्ताविक–वक्तव्यसहितामिमां पठतां पक्षपातवर्जितविचारकर्तॄणां सज्जनानां स्पष्टं प्रतिभाति। यथा स्वकीयैः पाणिपादादिभिरङ्गैः कस्यचिदपि विवादो विरोधश्च समन्वयभावेन हेतुना न प्रवर्तते, तथैवास्य मुख्यतात्पर्य-विषयीभूतस्य भगवतो न केनापि सह। अतोऽस्यैकस्मिन्नेव तस्मिन्, 'न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि।' इति न्यायेन सर्वसमन्वयप्रदर्शनमेव मुख्यं तात्पर्यं सर्वेषां मनःतुष्टिकरं निहितमवलोक्यते विद्वद्वरैः।

उपसंहार।

समस्त—लोगोंके अभ्युदय एवं निःश्रेयसरूप—प्रयोजन संपादनके लिए आविर्भूत, भगवान्का अवताररूप—अतिमहान्—श्रीमद्भागवत—शास्त्र, उपनिषत्

एवं गीताके समान, समस्त—सिद्धान्तोंका, एवं समस्त साधनोंका तथा निष्कामकर्ममार्ग, साधनभक्तिमार्ग, मर्यादामार्ग, अनुग्रहमार्ग, संयम—सदाचार—त्याग-वैराग्यादि—मार्ग, अनन्य—प्रेमलक्षणाभक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग आदि—समस्त कल्याणकर मार्गोंका भी योग्य—समन्वय को सिद्ध करता हुआ विवाद—विरोधरहित–तात्पर्य एकमात्र भगवान्‌में ही प्रदर्शित करता है। यह प्रास्ताविक-वक्तव्यसहित—इस अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्ति को पढनेवाले—पक्षपातवर्जित—विचार करने वाले–सज्जनोंको स्पष्ट ही प्रतिभासित होता है। जैसे अपने हस्त-पादादि—अंगोंसे समन्वयभावरूप कारण होनेपर किसीका भी विवाद एवं विरोध प्रवर्तमान नहीं होता, वैसेही मुख्य-तात्पर्यका विषयभूत—भगवान् का किसीके साथ भी विवाद एवं विरोध प्रवर्तमान नहीं होता। इसलिये इस श्रीमद्भागवतका उस एकमें ही 'ऐसे किसी भी तत्त्वको हम नहीं जानते हैं, जो तू न हो' इस न्यायसे सर्वके समन्वयका प्रदर्शन ही मुख्य तात्पर्य–जो सबके मनको संतुष्ट करता है—निहित है, ऐसा श्रेष्ठ—विद्वान्—इसमें अवलोकन करते हैं।

एवं सर्वाणि साधनान्यपि सर्वे च मार्गा अपि, तमेवाभिलक्ष्य 'रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषां, नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥' इति न्यायेन प्रवर्तमाना भवन्ति। यदाहुः-श्रीमद्भागवतेऽष्टमे सर्वसमन्वयसाधकाचार्यस्य जगद्गुरोः श्रीमहादेवस्य मुखेन श्रीबादरायणाचार्याः—'एकस्त्वमेव सदसद्द्वयमद्वयं च स्वर्णं कृताकृतमिवेह न वस्तुभेदः। अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो यस्माद् गुणैर्व्यतिकरो निरुपाधिकस्य ॥ त्वां ब्रह्म केचिदवयन्त्युत धर्ममेके, एके परं सदसतोः पुरुषं परेशम्। अन्येऽवयन्ति नवशक्तियुतं परं त्वां केचिन्महापुरुषमव्ययमात्मतन्त्रम् ॥' (भा० ८।१२।८—६) इति।

इसप्रकार समस्त साधन भी एवं सभी मार्ग भी उसी ही भगवान्‌को अभिलक्षित करके—'रुचियोंकी विचित्रता होनेके कारण, सरल एवं वक्र अनेक मार्गोंका अनुसरण करने वाले—मानवों के लिए—जैसे समस्तप्रवाहित जलोंका पर्यवसान—स्थल समुद्र है, वैसे तू ही एकमात्र, पर्यवसानरूप (अन्तिम सीमारूप) जानने या प्राप्त करने योग्य है।' इसन्यायसे प्रवर्तमान होते हैं। इसलिये श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कंधमें—सर्वसमन्वयके साधक—आचार्य, जगद्गुरु—श्रीमहादेवके मुखसे श्रीबादरायणाचार्य—कहते हैं कि—'हे भगवन्! व्यक्तकार्य और अव्यक्त कारण, द्वैत और अद्वैत—जो कुछ है–वह सब एकमात्र आप ही हैं, ठीक–वैसे ही जैसे आभूषणोंके रूपमें स्थित सुवर्ण और मूल—सुवर्णमें कोई अन्तर (वैलक्षण्य) नहीं है, दोनों एक ही वस्तुतः हैं। लोगोंने आपके वास्तविक—स्वरूपको न जाननेके कारण, आपमें नानाप्रकारके भेदभाव और विकल्पोंकी कल्पना कर रक्खी है।

यही कारण है कि–आपमें किसी प्रकारकी उपाधि न होने पर भी गुणोंको लेकर भेदकी प्रतीति होती है। हे प्रभो! कोई (वेदान्ती) आपको ब्रह्म मानते हैं, तो अन्य कोई (मीमांसक) आपका धर्मरूपसे वर्णन करते हैं। इसीप्रकार सांख्यशास्त्रवाले आपको प्रकृति और बद्ध–पुरुषसे पर (अतीत) पर मुक्त-पुरुषके रूपसे मानते हैं। तो कोई (पञ्चरात्रतन्त्रानुयायी वैष्णव) 'विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—इन नौशक्तियों से युक्त—परमेश्वरके रूप से मानते हैं, तथा अन्य—कोई (पातञ्जल—योगी) क्लेश—कर्म आदिके बन्धनसे रहित, पूर्वजों के भी पूर्वज, अविनाशी—पुरुषविशेष–स्वतन्त्र ईश्वरके रूपमें मानते हैं, अर्थात् यह सब कुछ आपही हैं, आपसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं।' (भा०)

अयमर्थः–अन्यत्वमनन्यत्वं चैकस्य कुत इत्याशंक्य दृष्टान्तेनोपपादयति-सदसत्=कार्यकारणरूपं द्वयमद्वयं च परमकारणं त्वमेवैकः, कृतं=निर्मितं कुण्डलादिरूपं द्वयं, अकृतं=मूलभूतमद्वयं स्वर्णं यथैकमेव, तद्वदेवेह त्वयि वस्तुतो भेदो नास्ति। कथं तर्हि भेदप्रतीतिस्तत्राह–अज्ञानत इति। कुतः? यस्मान्निरुपाधिकस्यैव तवायं गुणैर्व्यतिकरो=भेदो न स्वतः। अत एव त्वां बहुधा वर्णयन्ति–विचित्ररुचयो वादिनः, तत्त्वतस्तु त्वमेव सर्वं, त्वद्व्यतिरिक्तं किमपि नास्तीत्याह—त्वां ब्रह्म वेदान्तिनोऽवयन्ति=मन्यन्ते, त्वामेव धर्मं मीमांसका मन्यन्ते, प्रकृतिपुरुषयोः परं पुमांसं सांख्याः। नवशक्तियुतं परं पांचरात्रा वैष्णवाः। महापुरुषं पातञ्जला योगिनः।

एक-वस्तुमें अन्यत्व एवं अनन्यत्व कैसे होसकता है? ऐसी शंकाकरके दृष्टान्तके द्वारा एकमें भी होसकता है, यह बात दृष्टान्तके द्वारा उपपादन करते हैं, सत् यानी व्यक्त कार्य जो सद्वय (अनेकत्वविशिष्ट) है, असत् यानी अव्यक्त—कारण, जो अद्वय है। वह सब आप एक—परमकारणरूप ही हैं। कृत यानी निर्मित—कुण्डलादिरूप द्वैत है, एवं अकृत मूलभूत–अद्वय सुवर्ण है, वे दोनों जैसे एकही हैं, पृथक् नहीं है। वैसे उस आप–परमकारणमें वस्तुतः भेद नहीं है। तब भेदप्रतीति कैसे होती है? कहते हैं—अज्ञानसे। क्योंकि–आपके निरुपाधिक–शुद्धस्वरूपमें ही सत्त्वादिगुणोंके द्वारा यह भेद आरोपित हुआ है, स्वतः भेद नहीं है। इसलिये विचित्ररुचिवाले वादीगण उस एक आपका ही बहुप्रकारसे वर्णन करते हैं, वस्तुतः आपही सब कुछ हैं, आपसे व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है, यह कहते हैं। अन्य अर्थ स्पष्ट है।

प्रास्ताविकं श्रीमद्भागवतस्य, वक्तव्यमेतैर्वचनप्रमाणैः।
समर्थितं मोदभरं तनोतु, रहस्ययाथार्थ्यसमर्पणेन ॥
येषां मतौ नास्ति हि पक्षपातः, श्रद्धालवः सन्ति हि मूलग्रन्थे।
तात्पर्यमेतस्य हि लब्धुकामाः, तुष्यन्तु तेऽनेन विचारशीलाः ॥

'यथा हि भगवानेव, वस्तुतः सदसच्च यत् ।
सत्येनानेन नः सर्वे, यान्तु नाशमुपद्रवाः ॥
(भा० ६।८।३१) इति—

स्वामिनो महेश्वरानन्दस्य महामण्डलेश्वरस्य ।

(अनन्तस्वाम्याश्रम—जयलक्ष्मीपुरम्, मैसुर-दक्षिणभारत, ता० २४।५।२७। वैशाख वदी-१० शुक्रवार, विक्रमसंवत्—२०१३)

'श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतककी अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्तिका यह प्रस्ताविक वक्तव्य, श्रीमद्भागवतके इन वचन प्रमाणोंके द्वारा समर्थन किया हुआ यथार्थरहस्यके समर्पण द्वारा उनमें अतिप्रमोदका विस्तार करे। जिनकी बुद्धिमें पक्षपात नहीं है, जो एकमात्र मूलग्रन्थमें ही विशेष श्रद्धा रखते हैं, एवं जो इसके वास्तविक-तात्पर्यको प्राप्तकरने की अभिलाषा रखते हैं, वे विचारशील—सज्जन इसके द्वारा सन्तुष्ट हों।' जितना भी कार्य अथवा कारणरूप व्यक्ताव्यक्त—जगत् है, वह सब वास्तवमें श्रीभगवान् ही हैं, इस सत्यके प्रभावसे हमारे समग्र-उपद्रव नष्ट होजायँ।'

ऐसा स्वामी महेश्वरानन्द महामण्डलेश्वरका प्रास्ताविकवक्तव्य है।

हरिः ॐ तत्सत्। शिवः सर्वम्, शिवोऽहम्। शिवमस्तु सर्वेषाम्।

परमस्वाराज्य-लाभका साधन ।

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं, धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम् ।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः, स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात्॥
(भा० ७।१५।४५)

यह मनुष्य-शरीररूप रथ, जबतक अपने वशमें है-स्वस्थ है, और इसके इन्द्रिय-मन आदि समग्र-साधन अच्छी दशामें विद्यमान हैं, तभीतक श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी सेवा द्वारा लब्ध-उपदेश से तीक्ष्ण की हुई-ज्ञानकी तलवार लेकर-श्रीभगवान् की शरणागतिके बलद्वारा इन प्रसिद्ध-कामादि-शत्रुओं का बिनाश करके अपने परमानन्दपूर्णस्वाराज्यसिंहासन पर विराजमान होजाय, और फिर अत्यन्त-शान्त ब्रह्मभाव धारण करके इस शरीर के अहंभाव का भी परित्याग कर दे।

विश्वपति भगवान् श्रीकृष्ण मुझ पर प्रसन्न हों।

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिः, धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां, प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः॥
(भा० २।४।२०)

जो समग्र-ऐश्वर्योंकी स्वामिनी लक्ष्मीदेवी के पति हैं, समस्तयज्ञोंके पति यानी भोक्ता एवं फलदाता हैं, समस्त-देवदानवमानवादि-प्रजाके रक्षक हैं, सबकी बुद्धियोंके पति यानी अन्तर्यामी हैं, समस्त लोकोंके पालनकर्ता हैं, तथा पृथिवीदेवी के भी स्वामी हैं, जिन्होंने यदुवंशमें प्रकट होकर अन्धक, वृष्णि एवं यदुवंशके लोगोंकी रक्षा की है, तथा जो उनके एकमात्र सहारे एवं रक्षक रहे हैं, वे भक्तवत्सल सन्तजनोंके सर्वस्व श्रीकृष्ण मुझ पर प्रसन्न हों।

वैकुण्ठ में श्रीलक्ष्मीजीकी अर्चन-भक्ति।

वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु,
प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम्।
अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्र,
मुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग! यच्छ्रीः॥
(भा० ३।१५।२२)

ब्रह्माजी कहते हैं—हे प्यारे देवताओं! जिससमय दासियों को साथ लेकर श्रीलक्ष्मीजी अपने क्रीडावन में तुलसीदलोंके द्वारा श्रीभगवान् का अर्चन-पूजन करती हैं, तब वहांके निर्मल-अमृत तुल्य-जलसे भरे हुए सरोवरोंमें—जिनमें रत्नों के घाट बने हुए हैं—अपना सुन्दर अलकावली और उन्नत—नासिकासे सुशोभित—मुखारविन्द देखकर—'यह भगवान् से चुम्बित हुआ है' यों जानकर उसे बड़ा सौभाग्यशाली समझती हैं।

देवदुर्लभ-मानवदेहकी सफलता श्रीहरिकी आराधनासे ही है।

येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्नाः,
ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्म यत्र।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य,
सम्मोहिता विततया बत मायया ते॥
(भा० ३।१५।२४)

अहा! इस मनुजदेह की बड़ी महिमा है, हम देवतालोग भी इसकी चाह करते हैं। इसीमें तत्त्वज्ञान और धर्मकी भी प्राप्ति हो सकती है। इसे पाकर भी जो लोग भगवान्की आराधना नहीं करते, वे वास्तवमें उनकी सर्वत्र फैली हुई मायासे ही मोहित हैं।

❁ हरिः ॐ तत्सत् ❁

ॐ श्रीगणेशाय नमः । श्रीगुरुभ्यो नमः ।
श्रीवाग्देवता भगवती श्रीशारदा प्रसन्नाऽस्तु ।

श्रीमद्भागवत-संहितोपनिषच्छतकम् ।

अध्यात्म-ज्योत्स्ना-विवृति-समलङ्कृतम् ।

मंगलाचरणम् ।

अजममृतमद्वैत—मानन्दाब्धिमनन्तचित् ।
अखण्डैकरसं नित्यं, यत्तद्ब्रह्मैकमस्म्यहम् ॥१॥
विवर्ताः सन्ति यस्येमे, मायया वियदादयः ।
विश्वजन्मादिबीजं तं, नतोऽस्मि परमेश्वरम् ॥२॥
तस्यैवात्यद्भुतं दिव्यं, रामकृष्णादि-संज्ञकम् ।
भक्त्यर्थं विविधं रूप—माविर्भूतं स्मराम्यहम् ॥३॥
सूत्रभाष्यादिकारांश्च, आचार्यान् स्वगुरूँस्तथा ।
व्याख्यातृश्रीधराचार्यं, प्रणौमि श्रद्धया मुहुः ॥४॥

सकल-चराचर-कन्दं सान्द्रनिराकार-सच्चिदानन्दम् ।
ध्याने मामक-हृदये विलसज्ज्योतिः परं जयति ॥

ग्रन्थकार का मंगलाचरण

(हिन्दी-भाषानुवाद)

जो अज, अमृत, अद्वैत, आनन्दसागर, अनन्त और चैतन्य-स्वरूप है, तथा अखण्ड, एकरस और नित्य है; वह एक ब्रह्म मैं हूँ । १ ।

माया द्वारा दृश्यमान ये आकाश आदि पञ्चभूत जिसके विवर्त हैं, और जो संसारकी उत्पत्ति आदिका बीज है, उस परमेश्वरको मैं नमस्कार करता हूँ । २ ।

उसके ही अत्यन्त अद्भुत, दिव्य, राम, कृष्ण आदि संज्ञा वाले जो भक्तिके विकासके लिए प्रकट हुए हैं; उन साकार-विग्रहोंका मैं स्मरण करता हूँ । ३ ।

ब्रह्मसूत्रके प्रणेता भगवान् वेदव्यास तथा ब्रह्मसूत्र-भाष्यके रचयिता भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य आदि प्राचीन-आचार्यों को तथा अपने गुरुओंको एवं श्रीमद्भागवतके टीकाकार श्रीधर-स्वामीको मैं नमस्कार करता हूँ । ४ ।

श्रीमद्भागवतं यत्सा, परमहंस-संहिता ।
सर्ववेदान्तसाराऽतो, वैष्णवानामतिप्रिया ॥५॥
तस्याः तात्पर्यबोधाय, प्रयत्नोऽयं समासतः ।
विधीयते मया सम्यक्, जिज्ञासूनां हितावहः ॥६॥

यद्यपि वैष्णवप्रिये पुराणमूर्धन्ये सर्ववेदान्तसारात्मके गायत्रीमन्त्रभाष्यभूते निगमकल्पतरु-गलितफलोपमे श्रीशुककपिलदत्तात्रेयजडभरतनवयोगीश्वरादितुरीयाश्रमि-परमहंस-प्रवचनात्मके 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव केवलम् ।' इति परमहंसातिप्रिय-वेदान्तरहस्य-निरूपके-परमहंस-संहितेत्यन्वर्थकापरपर्याये श्रीमद्भागवते प्रथमे उपक्रमे–'वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।' (भा० १।२।११) इत्यनेन केवलमद्वयब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानमेव समस्तशास्त्रप्रतिपाद्यं सारभूतं सत्यतत्त्वं, तदितरद् द्वयज्ञानमसारं तुच्छञ्च, चतुर्थे च–'अहं भवान् न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भो ।' (भा० ४।२८।६२) इत्यनेन व्यतिहारोपदेशेन पारमार्थिकं जीवब्रह्मणोरैक्यं, दशमे पूर्वार्धे च–'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभं ।' (भा.१०।१४।२२) इत्यनेन ब्रह्मभिन्नस्य

श्रीमद्भागवत जो "परमहंस-संहिता" नामसे प्रसिद्ध है, और जिसमें संपूर्ण उपनिषदोंका सार निहित है, इसलिये जो वैष्णवोंका अत्यन्त-प्रिय ग्रन्थ है, उसका तात्पर्य संक्षेपसे बतलानेके लिए मैं प्रयत्न करता हूँ; जो जिज्ञासुओंके लिए हितकारी है । ५ । ६ ।

यद्यपि—यह तो प्रसिद्ध है कि–श्रीमद्भागवत, वैष्णवोंके लिए अतीव प्रिय है, यह पुराणोंका शिरोमणि, समस्त-उपनिषदोंका सार, गायत्री-मन्त्रका भाष्यरूप, तथा वेदरूपी कल्पवृक्षका परिपक्व फल है । एवं जो श्रीशुकदेव-महामुनि, महर्षि कपिलदेव, महर्षि-दत्तात्रेय, जड़भरत और नव योगेश्वर आदि—तुरीयाश्रमी परमहंसों का प्रवचनरूप है । 'एकमात्र ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है, एवं जीव ब्रह्म ही है'— इस परमहंसोंके अतीव प्रिय उपनिषद्-रहस्यका निरूपण करने वाला है । अतएव श्रीमद्भागवतको 'परमहंस-संहिता' कहना सार्थक है । अतएव श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्ध में—'जो अद्वैत ज्ञान है, वही तत्त्व है, ऐसा तत्त्ववेत्ता लोग कहते हैं'(भा०) इस उपक्रमवाक्यसे केवल ब्रह्मात्मैक्यज्ञान ही समस्त-शास्त्रोंका प्रतिपाद्य यथार्थ सार है । उससे अतिरिक्त द्वैतज्ञान असार और तुच्छ है, ऐसा बतलाया है । एवं चतुर्थ स्कन्ध में—"मैं आप हूँ, तू मुझ से अन्य नहीं, आपही मैं हैं, ऐसा हे जीवात्मन् ! मानस-हंस ! तू अनुसंधान कर ।' (भा०) इस व्यतिहार- (परस्पर विशेषण-

सर्वस्य द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वञ्च स्पष्टं प्रतिपादयन्; एकादशे च 'सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥ (भा० ११।२।४५) इत्यनेन केवलाद्वैततत्त्वदर्शिन एव वैष्णवोत्तमत्वञ्च वर्णयन्, उपसंहारात्मके द्वादशे च 'सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणं। वस्तु अद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम् ॥' (भा.१२।१३।१२) इत्यनेन च श्रद्धेयस्य स्तुत्यस्य केवलाद्वैत-सिद्धान्तस्यैव परिनिष्ठया ब्रह्मकैवल्यात्मकं परमं प्रयोजनं सिद्ध्यतीति निरूपयन् श्रीमद्भागवतप्रणेता भगवान् बादरायणाचार्यो महामुनिः 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।' इति न्यायेन तत्र वेदार्थमुपबृंहयन् वेदान्तापरपर्यायाणां सर्वासां वेदोपनिषदामिव श्रीमद्भागवतस्यापि केवलाद्वैत एवास्ति परमं तात्पर्यमिति संक्षेपतो निःसन्देहं विज्ञापयति।

तथापि जिज्ञासूनां मुमुक्षूणां तत्तत्त्वतत्साधनविषयक-विविधसन्देह समाकुलचेतसां कल्याण-पथपथिकानां साधकानां उपक्रमोपसंहारादिन्यायेन विस्तरतः तत्परमतात्पर्य-बोधाय तदनुषंगतः प्रतिपादितानां तत्साधनभूतानां साकारभगवद्भक्ति-तल्लीलाचरितादीनामपि रहस्यावगतये च निगूढाध्यात्मिक-

विशेष्यभाव) के उपदेशसे जीवात्मा और परमात्माकी एकता पारमार्थिक है' ऐसा दिखलाया है। दशम-स्कन्धके पूर्वार्धमें—'इस लिए यह सम्पूर्ण संसार स्वप्नरूप और मिथ्या है।' (भा०) इस वचनसे ब्रह्मभिन्न समस्त द्वैत-प्रपञ्चका मिथ्यात्व स्पष्ट बतलाया है। एकादश-स्कन्ध में-'जो समस्त चराचर वस्तुओंमें अपने स्वरूपभूत भगवान् को देखता है, और अपने स्वरूपभूत-भगवान् में सर्वचराचर वस्तुओं को देखता है; वही भागवतोत्तम है अर्थात् वैष्णवोंमें श्रेष्ठ है।' (भा०) इस वचनसे केवलाद्वैत-तत्त्वज्ञानी ही भागवतोत्तम है, ऐसा सिद्ध किया है, और द्वादश स्कन्ध में— 'जीवात्मा और परमात्माका अभेद-ज्ञान ही समस्त वेदान्तोंका सार है, उससे ही परम पुरुषार्थरूप ब्रह्म कैवल्य प्राप्त होता है' (भा०) ऐसा उपसंहार किया है। इससे श्री-मद्भागवत प्रणेता-भगवान् बादरायणाचार्य (व्यासदेव) 'इतिहास और पुराणों के द्वारा वेदार्थको विशद करें' इस न्यायसे श्रीमद्भागवत में वेदार्थको विशद करते हुए सम्पूर्ण उपनिषदोंके समान श्रीमद्भागवतका भी केवलाद्वैतमें ही तात्पर्य है, ऐसा निःसन्देह संक्षेपसे बतलाते हैं।

तथापि उस तत्त्व-विषयक तथा उसके साधन-विषयक नानाविध सन्देहोंसे व्याकुल-चित्तवाले कल्याणमार्गगामी मुमुक्षु-साधकोंको उपक्रम-उपसंहार आदि न्यायसे श्रीमद्भागवतके तात्पर्यको विस्तारसे बतलानेके लिए और आनुषं-गिकरूपसे बतलाए हुए साधनभूत—साकार भगवान् की भक्ति तथा उसके लीला-चरित इत्यादिका भी रहस्य जाननेके लिए अत्यन्त-गूढ-आध्यात्मिकभाव बतलाने

भावावबोधननिपुणया देवभाषया तत्रत्यान् यत्र तत्रावस्थितान् तात्पर्यबोधकान्-शत-श्लोकान् व्याख्यातुं वयं समीहामहे ।

तत्र तावत् 'प्रथमस्कंधस्य तात्पर्यं' संक्षेपतः प्रदर्श्यते—

(१) अत्र किल भगवता बादरायण-मुनिना केवलाद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादनायैवादिमं मंगलाचरणं कृतमुपलभ्यते। अत एव सर्वस्मिन्नस्मिन् ग्रन्थेऽस्यैवार्थस्योपपादनं विस्तरेणोपलभ्यते। अस्त्ययं सार्वत्रिको नियमः–प्रारम्भिके मंगले संक्षेपतो यदुच्यते, तस्यैव विस्तारः समाप्तिपर्यन्तमनेकविध-दृष्टान्तादिकं निरूप्य क्रियते ग्रन्थकृतेति ।

(२) अद्वयज्ञानमेव पारमार्थिकं तत्त्वं तत्त्वजिज्ञासुभिर्जिज्ञास्यम्। अतस्तदेव मुनयो ज्ञानवैराग्यमय्याऽनन्यभक्त्यैवाभेदेनात्मनि पश्यन्ति । भगवद्भक्तियोगो भगवत्तत्त्वविज्ञानस्यास्ति साधनम् । भगवतः सोपाधिकं सविशेषं यद्विराडादिरूपं, तदुपासनासिद्धय एव मायया कल्पितं, न तद्वास्तविकं तत्त्वमस्ति । तत्तु निर्विशेषस्य परात्परस्य ब्रह्मणोऽधिगमद्वारभूतमेव वेदितव्यम् ।

में कुशल संस्कृत-भाषा द्वारा श्रीमद्भागवतके जहां तहां अवस्थित तात्पर्य-बोधक-एक-सो-श्लोकोंकी हम व्याख्या करनेका प्रयत्न कर रहे हैं ।

अब प्रथम-स्कन्धका तात्पर्य संक्षेपसे दिखलाया जाता है—

(१) भगवान् व्यासदेवने केवलाद्वैत-सिद्धान्तके प्रतिपादनके लिए ही प्राथमिक मंगलाचरण किया है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है । इसलिए इस समग्र ग्रंथ-में इसी अर्थका ही विस्तारसे उपपादन किया गया दीखता है । यह एक सामान्य नियम है कि-प्रारंभिक-मंगलाचरणमें संक्षेपसे जिस सिद्धान्तका उल्लेख किया जाता है, उसीका ही विस्तार, ग्रंथ-समाप्ति तक नानाविध-दृष्टान्त आदि बतला कर ग्रंथकार लोग किया करते हैं ।

(२) अद्वैतज्ञान ही पारमार्थिक तत्त्व है, तत्त्व-जिज्ञासुओंके लिए वही जानने योग्य है, इसीलिए मुनिलोग ज्ञान-वैराग्यवाली अनन्य-भक्ति द्वारा उसी तत्त्वको ही अपने में अभेद-रूपसे देखते हैं । भक्ति-योग भगवत्तत्त्वके जानने का साधन है । भगवान् का सोपाधिक-विराड् आदि जो विशिष्ट रूप है, वह उपासना की सिद्धि के लिए ही माया द्वारा कल्पित है । वह वास्तविक तत्त्व नहीं है, उसे निर्विशेष परात्पर ब्रह्मके जानने का द्वार समझना चाहिए ।

(३) इसलिए महायोगी शुकदेवका वर्णन परात्पर-अद्वय-ब्रह्मनिष्ठरूप से ही यहाँ उपलब्ध होता है । वह स्त्री-पुरुष आदि के भेदको नहीं देखता है । किन्तु सर्वत्र अविभक्तरूप से व्यापक—अपना स्वरूपभूत, चिदानन्दघन परब्रह्मको ही

(३) अतो महायोगी शुकोऽप्यत्र परात्पराद्वयब्रह्मतत्त्व-निष्ठतयैव वर्णित उपलभ्यते । स हि स्त्रीपुरुषादिविभेदं नैव पश्यति । किन्तु सर्वत्र सममविभक्तं पूर्णं स्वस्वरूपभूतं चित्सुखघनं ब्रह्मैवान्तर्बहिर्निरीक्षते ।

(४) आत्मारामाणां जीवन्मुक्तानां महापुरुषाणामपि परमप्रेमास्पदे परमानन्दरूपे भगवति, निष्कामायाः स्वाभाविक्या अनन्य-भक्तेर्वर्णनम् । युक्तमेतत् ? स्वात्मारामाः स्वात्मतयैव भगवन्तं विजानन्तः तत्त्वनिष्ठाः कथं न तस्मिन्नहैतुकं प्रेमाणं बध्नीयुः ? । यतस्तदन्येभ्यो मृषाभूतेभ्यस्तेषां प्रेमप्रवाहस्य प्रतिरुद्धत्वात्, तत्रैवानन्ये तत्त्वेऽनायासतः तस्य प्रवहणस्य स्वतः सिद्धत्वाच्च ।

(५) अत एवात्र किल पितामहस्य ज्ञानिभक्तस्य भीष्मस्यैकस्मिन्नद्वय एव प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि भेदमोहविच्छेदेनाभेदभावरूपो विलयः कैवल्यात्मकः प्रतिपाद्यते । सत्येवं सविशेषसाकारब्रह्मरतिः निर्विशेषब्रह्म-निष्ठायां द्वारमेवेत्यपि श्रीभीष्मेण भगवत्-स्तुत्या विज्ञाप्यते । तथा च प्रसन्नः कृपालुः साकारो भगवान् स्वभक्तस्यात्मविद्यादानद्वारा मिथ्याज्ञानरूपां कुमतिं हरतीत्यप्यत्र निर्दिश्यते ।

(६) एवमेवात्रान्तिमसमये महाभागस्य धृतराष्ट्रस्यापि घटाकाश-महाकाश दृष्टान्तेनाद्वये ब्रह्मणि सर्वात्मन्येव प्रविलयो निरूप्यते ।

अन्दर बाहर देखता है ।

(४) अपने आपमें मस्त रहने वाले जीवन्मुक्त महात्माओंकी परमप्रेमास्पद परमानन्दरूप भगवान्में स्वाभाविकी निष्काम-भक्तिका वर्णन मिलता है । यह ठीक ही तो है ? क्योंकि-स्वात्माराम तत्त्वनिष्ठा-सम्पन्न महात्मागण भगवान् को अपने आत्मा-रूप से ही जानते है, तब वे उस अनन्यस्वरूप भगवान्में अकारण प्रेम क्यों न करें ? क्योंकि-आत्मासे अतिरिक्त मिथ्यारूप विषयोंमें उनका प्रेम-प्रवाह रुक गया है, और उस अभिन्न परमात्म-तत्त्व में वह स्वयं बहने लग गया है ।

(५) इसलिए ही यहाँ ज्ञानी भक्त श्रीभीष्मपितामहके एक अद्वैत-प्रत्यगभिन्न पर-ब्रह्ममें भेद-मोहके नाश द्वारा अभेदरूप कैवल्य-विलयका प्रतिपादन किया गया है । इसलिए सविशेष साकार ब्रह्मकी भक्ति, निर्विशेष-परब्रह्मकी निष्ठा का साधन है, यह भी श्रीभीष्मजीकी भगवत्स्तुतिसे जाना जाता है, प्रसन्न हुआ कृपालु-साकार भगवान् आत्मविद्या प्रदानकर अपने भक्तकी मिथ्याज्ञानरूपी कुबुद्धिको दूर कर देता है । ऐसा भी यहाँ सूचित किया गया है ।

(६) इसी प्रकार अन्तिम समयमें घटाकाश-महाकाशके दृष्टान्तके द्वारा महाभाग धृतराष्ट्रका भी सर्वात्मरूप-अद्वैत-परब्रह्ममें विलय होनेका निरूपण किया है ।

(७) एवं पुण्यात्मा धर्मराज युधिष्ठिरके भी द्वैत-प्रपञ्च और उसके कारण-

(७) एवं धर्मराजस्य महाभागस्य युधिष्ठिरस्यापीदृश एव तद्भिन्नद्वय-प्रपञ्चतद्धेतुमायाविलयनद्वाराऽद्वयब्रह्मप्रविलयात्मकः परममोक्षः प्रतिपाद्यते। सत्येवं प्रथमस्कन्धस्योपक्रम-पराक्रमस्थानीयस्य तात्पर्यं केवले निर्विशेषेऽद्वये ब्रह्मण्येव विनिश्चीयते तात्पर्यान्वेषणशीलैर्विचारक-महानुभावैः;एतस्य संक्षिप्त-तात्पर्यस्य विशदं विवरणं तत्रत्यतात्पर्यबोधकैकाधिकश्लोकव्याख्यानादिद्वारा यथायथमग्रे विधास्यते । इतिशम् ।

तत्रादौ समस्तभागवतसारभूतमादिमं मंगलाचरणं वस्तुनिर्देशात्मकं व्याख्यायते—

[१]

(अध्यारोपापवादान्वयव्यतिरेकन्यायद्वयप्रदर्शनपुरःसरं तटस्थस्वरूप-लक्षणाभ्यां परब्रह्मणो ध्यानाय वर्णनम्)

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्,
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा,
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥ (भा० १।१।१)

भूत मायाके विलयन द्वारा अद्वैत-परब्रह्म में विलयरूप मोक्षका प्रतिपादन किया है। इसलिए इस उपक्रम के पराक्रम के स्थानापन्न प्रथम-स्कन्धका मुख्य तात्पर्य, निर्विशेष अद्वैत परब्रह्ममें ही है, ऐसा तात्पर्य खोजने वाले विद्वान्-लोग निश्चय करते हैं। इस संक्षिप्त तात्पर्यका विशद विवरण, वहाँ के तात्पर्य-बोधक अनेक-श्लोकोंके व्याख्यान आदि द्वारा यथार्थरूपसे आगे किया जायगा ।

सबसे प्रथम समस्त भागवत का सारभूत जो वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण है- उसकी व्याख्या की जाती है ।

[१]

(अध्यारोप एवं अपवाद तथा अन्वय एवं व्यतिरेक-न्यायका प्रदर्शन पूर्वक ध्यानके लिए तटस्थ और स्वरूपलक्षण के द्वारा परब्रह्मका वर्णन किया जाता है ।)

'जिससे इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं । जो सभी चराचर-वस्तुओं में अनुगत होता हुआ भी उनसे विलक्षण-स्वयं प्रकाश चेतन है । जिसने अपने संकल्पमात्र से ही ब्रह्माजी को उस वेदज्ञानसे विभूषित किया, जिसके सम्बन्ध में बड़े बड़े विद्वान् भी भ्रमित हो जाते हैं, जैसे तेजोमय-सूर्यरश्मियों में जलकी, जलमें स्थलकी और स्थलमें जलकी भ्रान्ति होती है, वैसे ही जिसमें त्रिगुणमयी जाग्रत, स्वप्न,

परं=परमात्मानं, धीमहि ध्यायेमेत्यर्थः। ध्यायतेर्लिङि छान्दसप्रयोगः। आत्मन्यत्र परत्वञ्चाविद्याध्यारोपितनामरूपात्मकपिण्ड-ब्रह्माण्ड-विलक्षणतया प्रत्येतव्यम्। ध्यातव्यस्य परस्यात्मत्वञ्च 'एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः।' (भा० ७।६।२१) इत्यादिभिः स्पष्टतोऽवगतम्। धीमहीत्यत्र च बहुवचनं जिज्ञासुसाधकबहुत्वाभिप्रायेण। तमेव स्वरूपतटस्थलक्षणाभ्यामुपलक्षयति, तत्र स्वरूपलक्षणं सत्यमिति। सत्यं=त्रिष्वपि कालेष्वबाधितं प्रागभावप्रध्वंसाभावाप्रतियोगिभूतमखण्डैकरसं तत्त्वमित्यर्थः। इदमुपलक्षणं ज्ञानानन्तानन्दादीनां स्वरूपभूतधर्माणां। ते च प्रतिपादिताः स्पष्टतो दशमस्कन्धेऽपि-'एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः। नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥' (भा० १०।१४।२३) इति। यत्स्वरूपान्तर्गतं सत् इतरव्यावृत्ततया लक्ष्यं बोधयति, यथा गोः सास्नादिमत्त्वं तत्स्वरूपलक्षणम्; प्रकृते सत्यादिकं परमात्मनः स्वरूपमेव सत्-

सुषुप्तिरूपा सृष्टि मिथ्या होने पर भी सत्यकी भांति प्रतीत हो रही है, उस अपनी स्वयंप्रकाश-ज्ञान-ज्योतिसे सदा सर्वथा माया और मायाकार्यसे रहित हुआ परमसत्यरूप परमात्माका हम ध्यान करते हैं।

पर = परमात्माका, धीमहि = (हम) ध्यान करते हैं। 'ध्यै चिन्तायां' धातुका लिङ्लकार में यह छान्दस प्रयोग है। अविद्यासे अध्यारोपित जो नामरूपात्मक पिण्ड और ब्रह्माण्ड है, उससे विलक्षणता ही उस आत्मा में परत्व है, ऐसा समझना चाहिए, ध्येयवस्तु-आत्मा में परत्व 'एक ही पर आत्मा है, जो भगवान्, ईश्वर और अव्यय, अविनाशी है'(भा०)इत्यादि श्रीमद्भागवतके वचनोंसे स्पष्ट विदित हो जाता है। 'धीमहि' पदमें बहुवचन, जिज्ञासु-साधकों की बहुताके अभिप्रायसे है। स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षण द्वारा उसी परमात्मा को उपलक्षित किया जाता है।

उसमें 'सत्य' यह स्वरूपलक्षण है। सत्य अर्थात् तीनों कालोंमें अबाधित, यानी जो प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का अप्रतियोगी है (अर्थात् जिसका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव न हो वह) अखण्ड, एकरस तत्त्व, यह सत्यपदका अर्थ है। यह सत्यपद ज्ञान, अनन्त, आनन्द आदिस्वरूपभूत-धर्मोंका भी उपलक्षक है, ऐसे स्वरूपभूतधर्म दशम-स्कन्धमें भी बतलाए हैं।—'हे प्रभो! आप ही एकमात्र सत्य हैं, आप सबके आत्मा हैं, और पुराण पुरुष हैं, आप स्वयंज्योति हैं, आपका अन्त नहीं है, आप सबके आदि हैं, और अविनाशी होने के कारण नित्य हैं, आपका आनन्द-अखण्डित है, आपमें किसी प्रकार का मल नहीं है, आप पूर्ण-अद्वय-एक हैं, समस्त-उपाधियों से मुक्त होने से आप अमृत स्वरूप हैं।' (भा०) जो स्वरूपमें रहता हुआ, दूसरों से व्यावृत कर स्वरूपभूतलक्ष्यका बोधन करता है, जैसे गौ सास्नादिवाली है, यह स्वरूप लक्षण है।

असज्जडदुःखपरिच्छिन्नात्मक-प्रपञ्चव्यावृत्ततया बोधयतीति स्वरूपलक्षणं संपद्यते। ध्यानमेव तत्त्वसाक्षात्कारस्याव्यवहितं साधनं, न कर्मादिकमिति ज्ञापनायात्र धीमहीति पदं प्रयुक्तम्। अत एव 'ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।' (गी० १२।१२) 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।' (गी० १३।२४) इति गीतास्वपि भगवता ह्युक्तम्। श्रवणमननफलभूतं विजातीयप्रत्ययानन्तरित-सजातीयप्रत्ययप्रवाहात्मकं निदिध्यासनाख्यमेव ध्यानमत्र बोद्धव्यम्। तथैव पुराणान्तरेष्वपि ध्यानस्वरूपमभिहितं—'ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुः, विष्णुचिन्ता मुहुर्मुहुः। अनाक्षिप्तेन मनसा ध्यानमित्यभिधीयते ॥' (वि० पु०) 'ध्येये सक्तं मनो यस्य ध्येयमेवानुपश्यति। नान्यं पदार्थं जानाति ध्यानमेतत् प्रकीर्तितम् ॥' (गरुड० पु० २३४।३०।) इति

यद्वा तं परं सत्यं वयं धीमहीत्यन्वयः। तत्र किञ्चिद् व्यावहारिकं सत्यं व्यवहारकालमात्राबाध्यमपरं, तद् व्यावर्तयन्नाह—परमिति। परमार्थसत्यमत्यन्ताबाध्यमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'सत्यस्य सत्यं' 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' (बृ० २।३।६) इति प्राणशब्दोदितानां स्थूलसूक्ष्मभूतानां व्यवहारकाले सत्या-

यह लक्षण गौ के स्वरूपमें रहता है, महिष-आदि से गौ की व्यावृति करता हुआ गौ के स्वरूपका परिचायक होता है। प्रकृत में सत्य-ज्ञान-आनन्द, अनन्त, आदि परमात्मा का स्वरूप होता हुआ असत्, जड़, दुःख और परिच्छिन्नरूप-प्रपञ्चसे व्यावृत करता हुआ परमात्मरूप-लक्ष्यका बोधन करता है। इसलिए यह स्वरूप लक्षण है। ध्यान ही तत्त्वसाक्षात्कारका साक्षात् व्यवधानरहित साधन है, कर्म आदि साक्षात् साधन नहीं है। यह बतलाने के लिए यहाँ 'धीमहि' इस पद का प्रयोग किया है। इसलिए—'ज्ञान से ध्यान उत्तम है'(गी०)-'कोई ध्यानके द्वारा अपने हृदयमें अपने से अपने आत्मा-का साक्षात्कार करते हैं।' (गी०) ऐसा गीतामें भी भगवान् कृष्णचन्द्रने कहा है। जो श्रवण और मनन का फल है, तथा विजातीय-वृत्तियोंसे रहित सजातीय-वृत्तियों का प्रवाह रूप निदिध्यासन है, वही ध्यान है, ऐसा यहाँ समझना चाहिये। इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी ध्यानका स्वरूप ऐसा ही बतलाया है—'चिन्तनके अर्थ में 'ध्यै चिन्तायां' धातु प्रयुक्त है। इसलिए विक्षेपरहित शान्त-मनसे भगवान् विष्णुका बारम्बार चिन्तन करना ही ध्यान कहा गया है।' ध्येयमें संलग्न हुआ जिसका मन ध्येय को ही देखता रहता है, बीच में अन्य किसी वस्तुको नहीं देखता है, ऐसी एकतान दशाका नाम ध्यान कहा गया है।' अथवा उस पर-सत्य वस्तुका हम ध्यान करते हैं, ऐसा अन्वय है। एक व्यावहारिक-सत्य-होता है। जिसका व्यवहारकालमें बाध नहीं होता, वह व्यावहारिक अपर सत्य है। अर्थात् पर = परमार्थ सत्य नहीं, उसकी व्यावृति के लिए कहा है—परम-परमार्थ सत्य अर्थात् तीनों कालोंमें जिसका बाध नहीं

नामधिष्ठानभूतं परमार्थसत्यमात्मानं दर्शयति । एवं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छां० ६।८।६)—इत्यादिश्रुतिरपि ब्रह्मात्मशब्दोदितं परं तत्त्वं अत्यन्ताबाध्यमेव बोधयति । व्योमादेर्जगतोऽस्ति व्यावहारिकं प्रमातृकाले बाधाभावात्मकं, न तु सर्वथा । तस्य लक्षणमेतादृशमुक्तमद्वैतसंप्रदायविज्ञैः—'वैदिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं वैदिकेऽवधौ । तद् व्यावहारिकं सत्यं बाध्यं मात्रा सहैव तत् ॥' इति । सर्वभ्रमाधिष्ठानत्वात् सर्वबाधावधित्वाच्च परमात्मन एव परमार्थसत्यत्वम् । नहि निरधिष्ठानो भ्रमोऽस्ति, न वा निरवधिकबाधः कुत्रचित् । तत्र सर्वजगद्भ्रमाधिष्ठानत्वं 'जन्माद्यस्येत्यादिना, सर्वबाधावधित्वञ्च 'यत्र त्रिसर्गो मृषेत्यादिना च प्रदर्शिष्यते । तं परं सत्यं सर्वाधिष्ठानमखण्डैकरसं सन्मात्रं महावाक्यार्थलक्ष्यभूतं श्रुत्वा मत्वा च वयं मुमुक्षवो ध्यायेम=निदिध्यासेम । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५) 'ततस्तु तं

होता—'वह सत्यका सत्य है'—'प्राण सत्य हैं, यह उनकी अपेक्षा पर सत्य है, (श्रु०) यहाँ प्राण शब्द व्यवहारकाल में अबाधित—अपर सत्य स्वरूप स्थूल सूक्ष्म भूतों का वाचक है, आत्मा उन स्थूल सूक्ष्म भूतों का अधिष्ठान है, अतः यह परमार्थ सत्य है, ऐसा श्रुति बतलाती है । इस प्रकार—'ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त अर्थात् त्रिविध अन्तों से रहित है ।' (श्रु०) 'यह समस्त जगत् इस आत्मा का स्वरूप है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है' (श्रु०) इत्यादिश्रुतियां भी ब्रह्म तथा आत्मा शब्द से प्रतिपादित पर-तत्त्व तीनों कालों में अबाध्य ही है, ऐसा बतलाती हैं, आकाशादि प्रपञ्च व्यावहारिक सत्य है, क्योंकि प्रमाता—के काल में इसका बाध नहीं होता, किन्तु ज्ञानकाल में इसका बाध होता है । अतः यह सर्वथा त्रैकालिक सत्य नहीं । उसका लक्षण अद्वैत सम्प्रदाय के आचार्यों ने भी ऐसा कहा है—'आत्मसाक्षात्कार से प्रथम जिसका बाध नहीं होता, किन्तु—'अतोऽन्यदार्तम्' 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि वैदिक प्रमाणों द्वारा प्रमाता के साथ जिसका बाध होता है, वहव्यावहारिक सत्य है। सर्व-भ्रमों का अधिष्ठान होने से तथा सर्व बाधोंकी अवधि होने से परमात्मा ही परमार्थ-सत्य है । विना अधिष्ठानके भ्रम नहीं होता, तथा विना अवधिका बाध भी नहीं होता । 'जन्माद्यस्य यतः' इस वाक्य से परमात्मा सर्वप्रपञ्चभ्रमका अधिष्ठान है, तथा 'यत्र त्रिसर्गो मृषा' इस वाक्यसे परमात्मा सर्व-प्रपञ्च-बाध का अवधि है, ऐसा दिखलाया जायगा । सबका अधिष्ठानरूप, अखण्डैकरस, सन्मात्रस्वरूप, एवं महावाक्यार्थों का लक्ष्यभूत उस पर-सत्य का हम मुमुक्षुवृन्द श्रवण, मनन-पूर्वक ध्यान करते हैं । अर्थात् उसका हम निदिध्यासन करते हैं । 'आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए, तथा इसके लिए आत्माका श्रवण मनन और निदिध्यासन करना

पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।' (मुं० उ० ३।१।८) इत्यादि-श्रुतिप्रामाण्यात्। तदनुकूलमेव व्याख्यानमत्र प्रशस्यतरम्। श्रवणेन निर्विचिकित्सं दृढनिश्चयबलं मननेन च प्रकृष्टभावनाबलं निदिध्यासनेन च तन्मयताबलं सम्पाद्य तादृश-त्रिविधबलवान् मुमुक्षुः परमात्मसाक्षात्कारमासादयितुं शक्तो भवति, नान्यः तादृशबलहीनो मानवः। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' (मुं० उ० ३।२।४) इति श्रुतेः। ध्यानमत्र निदिध्यासनरूपमेवाभिप्रेतं न तूपासनं, तत्तु वस्तुस्वरूपा-नपेक्षं पुरुषेच्छामात्रतन्त्रं मानसप्रत्ययप्रवाहरूपं, अत्र तटस्थस्वरूपलक्षणाभ्यां परमार्थवस्तुस्वरूपस्य वर्णनेन प्रतिषिद्धम्। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमु-पासते।' (के० उ० १।५।) इति केनश्रुत्या शुद्धे ब्रह्मणि तस्य निषिद्धत्वात्। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० उ० ३।६।२६) इति च बृहदारण्यकश्रुत्या शुद्ध-ब्रह्मगोचराया अखण्डाकाराया वृत्तेरुपनिषन्मात्रकरणकत्व-प्रतिपादनेन च सर्ववेदान्तसारात्मके-परमार्थसत्याद्वितीय-शुद्धब्रह्मवस्तुनिरूपकेऽत्र श्रीमद्भागवते-ऽपि शुद्धब्रह्मगोचरं ध्यानमेव बोध्यते। एतावन्मात्रपर्यवसानाच्च सर्वसाधन-विधीनां धीमहीत्युक्तं, न तूपास्महे इत्युक्तम्।

चाहिये।' (श्रु०) ध्यान करने वाला उस निष्कल परमात्मा का दर्शन करता है' (श्रु०) इत्यादि श्रुतिप्रमाणोंसे उनके अनुकूल व्याख्यान करना ही यहाँ उचित है। श्रवण द्वारा सन्देहों को दूर कर दृढ़ निश्चयका बल, मनन द्वारा प्रकृष्ट भावनाका बल, तथा निदिध्यासन द्वारा तन्मयताका बल, सम्पादन करके उन तीनों बलोंसे युक्त मुमुक्षु ही परमात्म-साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। ऐसे बल सम्पादन किये बिना मनुष्य परमार्थका साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं होता, क्योंकि—श्रुति कहती है कि—'बलहीन पुरुष, इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता है।' ध्यानसे यहाँ निदिध्यासन ही अभिप्रेत है, न कि उपासना। उपासना तो वस्तु-स्वरूप की अपेक्षा न रख कर केवल मनुष्योंकी इच्छानुसार मानसिक-वृत्तियों का प्रवाह रूप है। यहाँ तटस्थ और स्वरूप लक्षण द्वारा परमार्थ-वस्तु स्वरूपका वर्णन किया गया है; अतः उपासना का ग्रहण नहीं हो सकता। 'उस ज्ञेय ब्रह्म को ही तुम जानो, वह यह नहीं है कि-जिसकी उपासना की जाती है।' इस केनोपनिषद्की श्रुति से शुद्ध ब्रह्मकी उपासनाका निषेध किया गया है, अर्थात् विशिष्ट ब्रह्म ही उपास्य है, शुद्ध ब्रह्म नहीं। 'उपनिषद् प्रतिपाद्य उस पुरुष को मैं पूछता हूँ' इस बृहदारण्यक-श्रुतिने शुद्ध ब्रह्मगोचर-अखण्डाकार-वृत्तिमें 'तत्त्वमसि' आदि उपनिषदों को ही करण बतलाया है, इसलिए सर्व वेदान्तसार रूप-परमार्थ-सत्य-शुद्ध ब्रह्मका निरूपण करने वाले इस श्रीमद्भागवतमें भी शुद्धब्रह्म विषयक ध्यान ही बतलाया जाता है। समस्त साधनविधियों का इसमें ही पर्यवसान होने से 'धीमहि'=ध्यान करते हैं"

संप्रति तस्यैव ध्येयस्य परमात्मनः परमार्थसत्यत्वविश्वभ्रमाधिष्ठानत्वयोः, तदितरस्य नामरूपक्रियात्मकस्य जगतोऽविद्याऽध्यारोपितत्वरूपमिथ्यात्वस्य च प्रतिपादनायाऽऽह-यत्र त्रिसर्गो मृषा । यत्र = परमार्थसत्ये शुद्धे ब्रह्मणि, त्रयाणां मायागुणानां तमोरजःसत्त्वानां सर्गो = भूतभौतिकरूपः, मृषा = मिथ्या, न वस्तुतःसन्, माययाऽनिर्वाच्ययाऽध्यारोपितत्वात् । यद्वा त्रयाणां तेजोबन्नानां सर्गस्त्रिसर्गः, स यत्राधिष्ठाने ब्रह्मणि मृषा मिथ्यैव शुक्तौ रजतवत् । छांदोग्ये सृष्टिप्रकरणे 'तत्तेजोऽसृजत' (६।२।३) इत्यादिना त्रयाणां भूतानां तेजोऽबन्नानां साक्षात्पठितत्वात् त्रिसर्ग इत्युक्तं, वियदधिकरणन्यायेन तु पञ्चभूतसर्ग इत्यपि द्रष्टव्यम् । अत्र दृष्टान्तः । तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः । विनिमयः = व्यत्ययः- अन्यस्मिन्नन्यावभासः । तत्र तेजसि = उषरभूमिसिकतासम्बद्धे-सूर्यकिरण-प्रौढप्रकाशे वारिबुद्धिर्मृगतृष्णिकायां प्रसिद्धा । मृदि = काचादौ वारिबुद्धिः । वारिणि च काचादि-बुद्धिः, यथा पाण्डवानां मयदानवविरचितायाः धर्मसभायाः प्राङ्गणे

ऐसा कहा है, न कि-'उपास्महे' = हम उपासना करते हैं, ऐसा ।

अब वह ध्येय परमात्मा, परमार्थसत्य और संसार-भ्रमका अधिष्ठान है तथा उससे अतिरिक्त नामरूपक्रियात्मक यह प्रपञ्च, अविद्यासे अध्यारोपित होनेसे मिथ्या है, यह बतलाने के लिए यहाँ कहा गया है कि—'यत्र त्रिसर्गो मृषा ।' यत्र = परमार्थ सत्य शुद्ध ब्रह्ममें त्रिसर्गः = मायाके सत्व रज, तमरूप तीनों गुणोंकी,—पञ्चभूत और पञ्चभूतोंके कार्यरूपा जो सृष्टि है वह, मृषा = मिथ्या है, न कि-पारमार्थिक, क्योंकि—वह अनिर्वचनीय माया द्वारा अध्यारोपित है । अथवा तेज, जल, पृथ्वी इन तीनोंकी सृष्टि—त्रिसर्ग का अर्थ है । वह यत्र अधिष्ठानरूप ब्रह्ममें, मृषा = मिथ्या ही है, जैसे शुक्तिमें रजत । छांदोग्य-उपनिषद्के सृष्टि-प्रकरणमें 'उसने तेजकी सृष्टि की, इत्यादि-वाक्यों द्वारा पृथ्वी, जल, और तेज इन तीनोंका साक्षात् निरूपण करनेसे यहाँ 'त्रिसर्ग' ऐसा कहा है । वियदधिकरणन्यायसे पञ्चभूतोंकी भी यह सृष्टि है, ऐसा भी समझलेना चाहिए । 'तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः' यह यहाँ पर दृष्टान्त है । विनिमय = व्यत्यय, अर्थात् अन्यमें अन्यकी प्रतीति । मध्याह्न-कालीन सूर्य-किरणोंके सम्बन्ध से उषर भूमिके मारवाड़ जैसे रेतीले-प्रदेशों में जलकी प्रतीति मृगतृष्णिका नामसे प्रसिद्ध है । यह तेज विषयक दृष्टान्त है, अर्थात् तेजमें जलबुद्धि यह, अन्यमें अन्यका अवभासरूप विनिमय है ।

एवं मृदि = कांच आदिमें जलकी प्रतीति और जलमें कांच आदिकी प्रतीति । जैसे मयासुरके द्वारा निर्मित पांडवोंकी धर्मसभाके प्रांगणमें दुर्योधनको स्थलमें जलकी भ्रान्ति और जलमें स्थलकी भ्रान्ति हुई थी, यह कथा महाभारत और श्रीमद्भागवतमें प्रसिद्ध है । अथवा जैसे समुद्रजलमें दूरत्वदोषसे नीलशिलाकी भ्रान्ति होती है ।

दुर्योधनस्य स्थले जलभ्रमः, जले च स्थलभ्रमः—संजातो महाभारते भागवते च प्रसिद्धः* यथा वा वारिणि समुद्रजले दूरत्वदोषेण नीलशिलाबुद्धिः, यथा वाऽन्धकारस्थरत्नरूपमृदि खदिराङ्गारभ्रमः प्रसिद्धः। तथा चाविद्यावशात् शुद्धे ब्रह्मणि प्रत्यगभिन्ने वस्तुतोऽविद्यमानस्य द्वैतप्रपञ्चस्य त्रिसर्गस्यावभासो मिथ्यैवास्ति न तु वास्तविकः। अत एवास्य दशमे चैकादशे च स्कन्धे हि—'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्। त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ॥' (१०।१४।२२) 'अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।' (११।२।३८) इति स्पष्टतो ब्रह्मभिन्नस्य द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं प्रत्यपादि। असत्स्वरूपं = सद्विलक्षणमनिर्वचनीयमित्यर्थः। अस्तधिषणं = निरस्तप्रमाज्ञानं, यतो मायात एव त्वयि सदधिष्ठाने ब्रह्मण्येवास्योद्भवः-प्रतीतिः, अतस्तदिदमसदपि तवाधिष्ठानभूतस्य

अथवा जैसे अन्धकारमें स्थित रत्नरूप-मृत्तिकामें खैरके अङ्गारकी भ्रान्ति प्रसिद्ध है, उसी प्रकार प्रत्यगभिन्न-शुद्धब्रह्ममें वास्तविकरूपसे न होनेपर भी अविद्याके कारण प्रतीयमान द्वैत प्रपञ्च, मिथ्याही है। इसीलिए भागवतके दशम और एकादश स्कन्धमें—'इसीलिए यह समस्त प्रपञ्च स्वप्नके समान मिथ्या है ! एवं यथार्थ-ज्ञानसे रहित है, और दुःख पर दुःख देने वाला है। यह मायासे उत्पन्न हुआ है—तथापि—आप अन्तरात्माकी सत्तासे सच्चिदानन्द-नित्यस्वरूप आपमें सत्यकी भांति प्रतीत होता है।'—'जैसे स्वप्नके समय स्वप्नद्रष्टाकी कल्पनासे स्वप्न-पदार्थ यथार्थसे दीखने लगते हैं, अथवा जाग्रत् अवस्थामें नानाविध मनोरथोंसे एक विलक्षण ही मिथ्या सृष्टि दीखने लगती है, वैसे ही अविद्यमान होनेपर भी यह द्वैत-प्रपञ्च अविद्यासे दिखाई देता है।' इन वाक्योंसे ब्रह्मसे भिन्न समस्त द्वैत-प्रपञ्च मिथ्या है, ऐसा प्रतिपादन किया है। असत्स्वरूपं = सत्से विलक्षण अर्थात् अनिर्वचनीय। निरस्तधिषण = प्रमाज्ञानसे रहित, क्योंकि-केवल मायासे ही तुम्ह सद्रूप अधिष्ठान ब्रह्ममें ही इस जगत्की उत्पत्ति और प्रतीति है, इसलिए यह मिथ्या होनेपर भी तुम्ह अधिष्ठानरूप ब्रह्मकी सत्तासे सत्यकी भांति प्रतीत होता है, ब्रह्मके चैतन्यसे जड़भी चेतनकी भांति और ब्रह्मके सुखसे दुःखमय

---

* स्थलेऽभ्यगृह्णाद् वस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपतत्।
जले च स्थलवद् भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः ॥ (भा० १०।७५।३७) इति

---

* दुर्योधनने स्थलको जल समझकर अपनी धोती ऊपर उठा ली और जलको स्थल समझकर ऐसे जोर से चला—कि वह गिर पड़ा। यह मयदानवकी मायासे विमोहित—दुर्योधनकी भ्रान्ति का वृतान्त है।

ब्रह्मणः सत्तया सद्वत् प्रतीयते, चैतन्येन च जडमपि चेतनमिव, सुखेन च दुःखालयमपि सुखमिवावभातीत्यर्थः। यथा स्वप्नमनोरथसृष्टि र्वस्तुतोऽविद्यमानाऽपि वासनावशात् विद्यमानेवावभाति। तथैवायं द्वैतप्रपञ्चोऽपि वस्तुतोऽविद्यमानोऽपि-अविद्यावशात्-विद्यमान इवावभाति। तदेवात्रत्यं मिथ्यात्वस्य लक्षणमवगम्यते, यत् अविद्यमानत्वेऽपि तत्त्वेन प्रतीयमानत्वम्। तथा च यदा यत्र शुद्धेऽद्वये ब्रह्मणि द्वैतप्रपञ्चरूपः प्रतियोगी प्रतीयते। तदा तत्रैव द्वैताभावस्य प्रतिपादितत्वात्, एककालावच्छेदेन शुक्तिरजतादाविव प्रतियोग्यभावयोरेकाधिकरणवृत्तित्वधीरूपो मिथ्यात्वनिश्चयः, अद्वैतत्वोपलक्षितस्य शुद्धस्य परमसत्यस्य ब्रह्मणो निर्विकल्पकं निश्चयं समर्पयतीत्यवबुध्यते। यतोऽद्वैतस्य ब्रह्मणः सिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वात्, द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वोपपादनेनाद्वैतस्य ब्रह्मणः सिद्धिः स्वतःसिद्धा सती स्पष्टतोऽवभासते। इति

अधुना 'यत्र त्रिसर्गः' इत्यनेनाध्यारोपितं मायातत्कार्यलक्षणं विद्ययाऽपवदति-धाम्ना स्वेन। स्वस्वरूपभूतेनैव धाम्ना=महसा साक्षात्कारेण सदा निरस्तं=विध्वस्तं=नित्यनिवृत्तं कुहकं=कपटं मायातत्कार्यद्वैतप्रपञ्चलक्षणं यस्मिंस्तम्।

भी सुखकी भांति प्रतीत होता है, ऐसा भाव है। जैसे स्वप्न और मनोरथकी सृष्टि वास्तविकरूपसे न होनेपर भी वासनाके बलसे सच्ची जैसी प्रतीत होती है, वैसेही यह द्वैत-प्रपञ्च वास्तविकरूपसे न होनेपर भी होनेकी भांति प्रतीत होता है। यही यहाँ के मिथ्यात्वका लक्षण है कि-जो अविद्यमान होनेपर भी विद्यमानकी भांति प्रतीत हो' जिस समय जिस शुद्ध-अद्वैत-ब्रह्ममें द्वैतप्रपञ्चरूप प्रतियोगी प्रतीत होता है, उसी समय उसी ब्रह्ममें द्वैतप्रपञ्चका अभाव भी है, ऐसा प्रतिपादन करनेसे 'शुक्तिरजतके समान एकही कालमें प्रतियोगी और अभाव एकही अधिकरण में रहता है' ऐसा मिथ्यात्वका निश्चय अद्वैतत्वोपलक्षित शुद्ध-परमसत्य-ब्रह्मविषयक निर्विकल्पक निश्चयको समर्पित करता है, ऐसा मालूम होता है। क्योंकि—अद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि, द्वैतकी मिथ्यात्व सिद्धि पूर्वक ही होती है। अतः द्वैत-प्रपञ्चका मिथ्यात्व पतिपादन करनेसे अद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि स्वयंसिद्ध होकर झलकती है।

अब 'यत्र त्रिसर्गः' इससे अध्यारोपित माया और उसके कार्य द्वैत-प्रपञ्चका विद्या द्वारा निराकरण करते हैं—धाम्ना स्वेन = स्वस्वरूपभूत ज्ञान ज्योतिके साक्षात्कारसे सदा निरस्त = विध्वस्त—नित्यनिवृत, कुहक = कपट अर्थात् माया और उसका कार्यरूप द्वैत-प्रपञ्च, जिसमें है, उस परम सत्यका हम ध्यान करते हैं।

अब शुद्ध अद्वय ब्रह्म, जिसका हम ध्यान करते हैं, वह तत्पदका अर्थ रूप भी है, ऐसा बतलानेके लिए उसका तटस्थ लक्षण करते हैं। जन्माद्यस्य यतः। अस्य = प्रत्यक्ष

संप्रति शुद्धस्याद्वयस्य ब्रह्मणो निदिध्यास्यमानस्य तत्पदार्थरूपतामुपपादयितुं तस्य तटस्थलक्षणमाह—जन्माद्यस्य यतः। अस्य=प्रत्यक्षादिसकलप्रमाणसंनिधापितस्य नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जगतो जन्मादि=जन्मस्थितिभंगाः, यतः सर्वज्ञात्-सर्वशक्तेः परमेश्वरात् भवन्ति, तं सत्यं परं धीमहीत्यन्वयः। तथा च श्रुतिः–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३।१।१) इत्याद्या जगज्जन्मस्थितिलयकारणतां ब्रह्मणो दर्शयति। यत इति प्रकृतौ-उपादानकारणे पञ्चमी-विभक्तिः, 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इति पाणिनिस्मरणात्। जन्मादीति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इतिवत्। जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं, वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशे तावत् जन्मस्थितिलयानां क्रमदर्शनात्, वस्तुवृत्तमपि जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसंभवात्। इदं जगज्जन्मादिकारणत्वं तु ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणं, यत् खलु यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वेन स्वरूपानन्तर्गतं सत् लक्ष्यमितरव्यावृत्तं बोधयति, यथा देवदत्तगृहस्य काकादि। न हि तत्सर्वदाऽस्ति, प्रलयादिकाले

आदि सर्व-प्रमाणोंसे प्रसिद्ध, नाम और रूप द्वारा प्रकटित जगत्के—जिसकी रचना मनसे भी सोची नहीं जा सकती—जन्मादि = सृष्टि स्थिति और संहार, जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे होते हैं, उस परम सत्य-परमात्माका हम ध्यान करते हैं।—'जिससे ये चराचर पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिससे जीते हैं, और अन्तमें जिसमें विलीन होते हैं' इत्यादि श्रुतियाँ, ब्रह्म जगत्के जन्म स्थिति और लयका कारण है, ऐसा दिखलाती हैं, यतः = प्रकृति यानी उपादान-कारणके बोधनमें यहाँ पञ्चमी विभक्ति है। 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इसके समान 'जन्मादि' पदमें तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहि है। जन्मको प्रथम बतलाना, श्रुति निर्देशके अनुसार तथा वस्तुस्थितिके अनुसार है। श्रुति में जन्मका ही प्रथम निर्देश है। वस्तुस्थिति भी ऐसी है कि—जन्म होनेके बादही लब्धसत्ताक-पदार्थकी स्थिति और प्रलयका सम्भव हो सकता है। यह 'जगज्जन्मादिकारणत्व' ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है। जो स्वरूपके अन्तर्गत नहीं होता, और लक्ष्य में स्थायी रूपसे न रहता हुआ भी अन्यसे लक्ष्यकी व्यावृत्ति करता है। उसको तटस्थ लक्षण कहते हैं, जैसे 'कौआ वाला देवदत्तका घर है' कौआ, गृहस्वरूपके अन्तर्गत नहीं होता, एवं स्थायी रूपसे नहीं रहता हुआ भी अन्य गृहोंसे देवदत्तके गृहकी व्यावृत्ति करता है। उस प्रकार 'जगज्जन्मादिकारणत्व' रूप तटस्थ-लक्षण, ब्रह्ममें सदा रहता नहीं, क्योंकि—प्रलय आदि कालमें उसका अभाव है। वह स्वरूपके अन्तर्गत न रहकर भी आकाशादिसे व्यावृतकर ईश्वर को लक्षित करता है। 'यतः' इस कारण निर्देशमें निमित्त कारणका भी उपलक्षण है। क्योंकि-निमित्त कारण और उपादान

तदभावात् । अतस्तत्स्वरूपानन्तर्गतं सद् आकाशादिव्यावृत्तमीश्वरं लक्ष्यं लक्षयतीति ।

यत इतिकारणनिर्देशो निमित्तत्वस्याप्युपलक्षणमेतत् । उभयत्र निमित्ते चोपादाने च कारणे पञ्चमीविधानात् । भूतभौतिकस्य सकलस्य प्रपञ्चस्य तावदेका प्रकृतिरनुमीयते, सद्वस्त्वेकस्वभावानुगमात् । तथाहि—महाभूतानि वियदादीनि सद्वस्तुप्रकृतिकानि सत्स्वभावानुरक्तत्वे सति विविधविकारत्वात् मृदनुस्यूतघटादिवत् । भौतिकानाञ्च भूतोपादानत्वं दृश्यमानमपि, अन्ततो मूल सद्वस्तुप्रकृत्यधीनतामेव सर्वस्य गमयति । अतः सर्वकार्योपादानमेकमेव लाघवात् इति न्यायानुगृहीतानुमानेनापि सिद्धम् । तस्यैव च सद्ब्रह्मवस्तुन उपादानकारणस्यैव निमित्तकारणत्वमप्यनुमानेन कल्प्यते । तथा चेदं जगत् अभिन्ननिमित्तोपादानं भवितुमर्हति, प्रेक्षापूर्वकजनितकार्यत्वात्, आत्मगत सुखदुःखरागद्वेषादिवत् । तस्मात् अनुमानेनापि सृष्टिवाक्यप्रसिद्धमेकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मण उभयकारणत्वमत्र तटस्थलक्षणत्वेन निर्दिश्यते ।

तथा च श्रीमद्भागवते तृतीयेऽपि—हे भगवन्! त्वां विनाऽस्य जगतो-

कारण दोनोंमें पञ्चमी विभक्तिका विधान है । सकल भूत-भौतिक-द्वैत प्रपञ्च की एक ही प्रकृति अर्थात्-उपादानकारण अनुमानसे सिद्ध है, क्योंकि-सबमें सत्स्वभाव (सत्ता) अनुस्यूत है । अनुमान यह है—'आकाशादि-पंचमहाभूत, सद्वस्तु-प्रकृतिक हैं, अर्थात् सद्वस्तु ही इसका उपादान कारण है' क्योंकि—यह सत्स्वभावसे अनुरक्त होता हुआ विविध-विकार वाला है' जैसे मृत्तिका से अनुस्यूत घट आदि । यद्यपि सकल भौतिक पदार्थ, पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न होते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, तथापि अन्तमें सद्वस्तु ही सबकी मूल प्रकृति है, ऐसा अनुमानसे सिद्ध होता है । अतः समस्त कार्यों का उपादान-कारण लाघवगुणसे एक ही है, ऐसा न्यायसे अनुग्रहीत अनुमानसे भी सिद्ध होता है । और वही सद्वस्तु-ब्रह्म जो उपादान कारण है, वह निमित्त कारण भी है, ऐसा अनुमानसे सिद्ध होता है। अनुमान यह है—यह जगत् अभिन्ननिमित्तोपादानक है, अर्थात् इस जगत्का उपादानकारण और निमित्तकारण एक ही हो सकता है, क्योंकि—यह प्रेक्षा (ज्ञानमयी इच्छा) पूर्वक बनाया हुआ-कार्य है, जैसे आत्मा में राग, द्वेष, सुख दुःख आदि । यह न्यायशास्त्रके अनुसार दृष्टान्त है—न्यायशास्त्र वाले आत्मा में ही रागद्वेषादि मानते हैं, अतः इन रागद्वेषादिका समवायी (उपादान) तथा निमित्त-कारण भी आत्मा ही है, इसलिए एक सद्वस्तु ब्रह्म ही सृष्टिवाक्योंमें प्रसिद्ध निमित्तकारण और उपादान कारण है, ऐसा यहाँ अनुमानसे तटस्थ-लक्षण द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है ।

उसी प्रकार श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें—'हे भगवन्! आपके बिना

ऽन्यं निमित्तं वोपादानं वा कारणं किमप्यहं न पश्यामीति भावेन स्वव्यतिरिक्त-कारणानपेक्षतायामुर्णनाभिदृष्टान्तपूर्वकं कश्चन ऋषिर्भगवन्तं जगदीश्वरं स्तुवन्नाह—'एकः स्वयं सञ्जगतः सिसृक्षयाऽद्वितीययाऽऽत्मन्नधियोगमायया। सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे यथोर्णनाभिर्भगवान् स्वशक्तिभिः ॥' (भा० ३।२१।१९) अयमर्थः—स्वयमेक एव सन्नपि, आत्मनि स्वस्मिन्नधिकृतया योगमायया, अद्वितीयया=अव्यतिरिक्तया, भगवतस्तया व्यतिरिक्तत्वेऽपि तस्यास्तस्मिन् अध्यारोपिततया भगवद्व्यतिरिक्तत्वं नास्त्येव। अध्यारोपितः पदार्थोऽधिष्ठानान्नातिरिच्यत इति न्यायात्। याः स्वीकृताः शक्तयः–सत्त्वाद्यास्ताभिः। अदो=विश्वं। स्वव्यतिरिक्तसाधनानपेक्षत्वे दृष्टान्तः, यथोर्णनाभिः उर्णनाभिः=लुताकीटः, किञ्चित्कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव स्वशरीराव्यतिरिक्तानेव तन्तून् बहिः प्रसारयति, तेभ्यो यथेच्छं विहरति, पुनश्चान्ते तानेव ग्रसति-स्वात्मभावमेवापादयति। तथैव भगवानपि स्वव्यतिरिक्तकारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव स्वमायया स्वकीययाऽनिर्वचनीयशक्त्या स्वाव्यतिरिक्तमेव जगत्, सृजति, पाति, पुनर्ग्रसति च। एतेन ब्रह्म न जगत्कारणं सहायशून्यत्वात्

इस जगत्का और कोई उपादान तथा निमित्तकारण मैं नहीं जानता, इस भावके अनुसार अपनेसे अतिरिक्त कारणकी अनपेक्षतामें मकड़ीका दृष्टान्त देकर कोई ऋषि भगवान्की स्तुति करता हुआ कहता है कि—'हे भगवन्! जिस प्रकार मकड़ी स्वयं ही जालको फ़ैलाती है, रक्षण करती है, और अन्तमें निगल जाती है—उसी प्रकार आप अकेले ही इस जगत्की सृष्टि करनेके लिए अपनी योगमाया को स्वीकार-कर उससे अभिव्यक्त हुई अपनी सत्त्व आदि शक्तियोंके द्वारा स्वयं ही इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं।' (भा०)

अर्थ—आप स्वयं अकेला होकर भी स्वाश्रित और स्वाभिन्न अपनी योगमाया की-जो आपमें अध्यारोपित होनेसे आपसे भिन्न नहीं है। यद्यपि आप उससे भिन्न हैं,-सत्त्व आदि शक्तियों के द्वारा इस प्रपञ्च की रचना पालन और संहार करते हैं, जैसे मकड़ी अन्यकारण की अपेक्षा न करके अपने शरीरसे शरीराभिन्न तन्तुओंको निकालकर बाहर जाल फैलाती है, उसमें घूमती फिरती रहती है, फिर अन्तमें उनको निगल भी जाती है, उसी प्रकार भगवान् भी अपनेसे अतिरिक्त-कारणकी अपेक्षा न करके अपनी अनिर्वचनीय शक्तिरूप मायासे जगत्की-जो अपनेसे अभिन्न है—सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं। इससे 'ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है, क्योंकि–वह अन्योंकी सहायतासे शून्य है, जैसा अकेला 'कुम्हार' यह अनुमान खण्डित होगया। क्योंकि–मकड़ीके दृष्टान्तसे यह अनुमान अनैकान्तिक-ग्रस्त यानी व्यभिचारी होगया है। यहाँ यह तात्पर्य है कि—यह जगज्जन्मस्थितिलयकारणस्वरूप तटस्थ लक्षण ब्रह्ममें

कुलालमात्रवदित्यनुमानं निरस्तं। तस्योर्णनाभिदृष्टान्तेनानैकान्तिकत्वात्।

अयमत्राभिसन्धिः–इदं हि जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वरूपं तटस्थलक्षणं अभिन्ननिमित्तोपादानतयाऽद्वितीयं ब्रह्मोपलक्षयति । जन्मकारणत्वस्य स्थितिकारणत्वस्य च निमित्तकारणसाधारण्यात्-उपादानकारणत्वबोधनाय प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि लयः प्रदर्शितः । अनुपादाने कार्यलयस्य कथमप्यसंभवात्। घटजन्मनि कुलालवत्, राज्यस्थेमनि राजवच्च उपादानादन्यस्य निमित्तकारणत्वशङ्का व्यवच्छेदाय तस्य जगदुपादानस्यैव जगज्जननजीवननियामकत्वमप्यभिहितम्। तथा चोपादानकारणस्य तस्यैव निमित्तकारणत्वमवगन्तव्यम् । कार्यस्य हि उपादानकारणमेव वास्तवं स्वरूपं, न तु तदतिरिक्तम्। नामरूपात्मकं जगद्रूपन्तु मिथ्याभूतमेव । इदं ब्रह्ममीमांसायामारम्भणाद्यधिकरणेषु विस्तरेणाचार्यैर्व्यवस्थापितम्। अतः सर्वोपादानत्वं सर्वस्य विश्वस्य पारमार्थिकं स्वरूपं ब्रह्मैवेति बोधनद्वारा ब्रह्मणो वास्तवाद्वितीयत्व-बोधहेतुर्भवति, अद्वितीय-ब्रह्मबोधश्च मुक्तिहेतुरिति वेदान्तप्रस्थानचतुष्टयस्योपनिषद्ब्रह्मसूत्र-गीताभागवताख्यस्य महनीयः सिद्धान्तः ।

अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणता को सिद्ध करता हुआ, उसकी अद्वितीयता—यानी तद्व्यतिरिक्तद्वितीयशून्यता को भी सिद्ध करता है । अर्थात् अभिन्ननिमित्तोपादानकारण-स्वरूपसे-अद्वितीय ब्रह्मको उपलक्षित करता है । निमित्तकारण, जन्मका कारण भी बन सकता है और स्थितिका कारण भी। अतः ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है, यह बतलानेके लिए ब्रह्ममें जगत् का लय भी बतलाया। क्योंकि-अनुपादान कारणमें कार्यका लय किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है । जैसे घटकी उत्पत्तिमें कुलाल और राज्य-परिपालनमें राजा निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं है; वैसेही यहाँ भी निमित्त कारणसे अतिरिक्त कोई अन्य उपादान कारण होगा, ऐसी शंकाको दूरकरनेके लिए 'जगत्का उपादानकारणरूप ब्रह्म ही जगत् की सृष्टि और स्थितिका भी नियामक है' ऐसा कहा है । अतः उपादानकारणरूप ब्रह्म ही निमित्तकारण है, ऐसा जानना चाहिए। उपादानही कार्यका वास्तविकरूप है, अन्यस्वरूप नहीं है, क्योंकि-उपादान कारण से अतिरिक्त होनेपर उपादेय कार्य रहता ही नहीं। जगत्का यह नामरूपात्मक रूप तो मिथ्या है । ऐसा ब्रह्मसूत्र-के आरम्भणाद्यधिकरणों में विस्तार से भगवान् बादरायण, भगवान् शंकराचार्य-आदि आचार्यों ने व्यवस्थापित किया है । इसलिए सर्वकी उपा-दानकारणता 'सम्पूर्ण द्वैत-प्रपञ्चका वास्तविकस्वरूप ब्रह्म है' ऐसा बतलाकर ब्रह्मके वास्तविक-अद्वितीयत्व के बतलाने में हेतु बनती है ।

क्योंकि-अद्वितीय-ब्रह्मज्ञान ही मुक्तिका हेतु है, ऐसा चारों-वेदान्त प्रस्थानों का अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता और भागवतका प्रौढ सिद्धान्त है । 'ब्रह्म ही प्रपञ्च-

यत्तु कश्चित् ब्रह्मैव जगदाकारेण परिणमते, मृदिव घटाकारेणेति वदति, तत्तुच्छं; कथं ? । शृणु तावत्, यदि ब्रह्मण उपादानत्वं क्षीरपृथिव्यादिवत् परिणामित्वरूपमभ्युपगम्येत, तदा कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषः प्रसज्येत । कथं ? उच्यते । तत्र तावत् परिणामवादी प्रष्टव्यः; किं कृत्स्नं ब्रह्म जगदाकारेण परिणमते ?, एकदेशेन वा ? नाद्यः, यथा दध्याकारेण परिणतस्य क्षीरस्य पूर्वरूपात्प्रच्युतिर्भवति, तथा ब्रह्मणोऽपि स्वरूपात्प्रच्युतिः स्यात्; विकारातिरेकेण ब्रह्माभावः प्रसज्येत । पूर्वरूपपरित्यागेन सत्यरूपान्तरापत्तिरूपत्वादेव परिणामस्य । न द्वितीयः, एकदेशेन परिणामे निरवयवत्वबोधकशास्त्रवचन-विरोधः प्रसज्येत । सत्येवं परिणामो नाभ्युपगम्यते, किन्तु रज्ज्वादेः सर्पाद्युपादानत्ववत् विवर्तोपादानत्वं ब्रह्मण उपेयते । तथा सति नोक्तदोषावकाशः । तत्त्वादप्रच्युतस्य पूर्वरूपविपरीतासत्यानेकरूपावभासो हि विवर्तः । अत एव सृष्टि-श्रुतिः सत्यज्ञानानन्द-निरवयवापरिच्छिन्न-ब्रह्मस्वरूपस्य पूर्वसिद्धस्य परित्यागेन जडदुःखमिथ्या-सावयवपरिच्छिन्नकार्यापत्तिं ब्रह्मणः कथमपि नैव ब्रवीति । किन्तु पूर्वसिद्धरूपापरित्यागेनैव मायया तद्विपरीतमिथ्यारूपापत्तिमेव ब्रुवाणा विवर्तमेव

रूपसे परिणत होता है, जैसे मृत्तिका घटाकार रूपसे परिणत होती है । ऐसा कोई कहता है, ऐसा कहना तुच्छ है—अप्रामाणिक है । कैसे ? सुनो, । दूध और मृत्तिका के समान ब्रह्मको परिणामी उपादानकारण रूप मानोगे तो समग्रप्रसक्ति आदि दोष प्रसक्त होगा । कैसे ? बतलाते हैं—परिणामवादी से हम पूछते हैं कि—सम्पूर्ण ब्रह्म, जगत् रूपसे परिणत होता है कि—ब्रह्म का एक-देश । प्रथम-विकल्प स्वीकार करोगे तो दहीके रूपमें परिणत दूधके समान ब्रह्मकी भी अविनाशी-स्वरूपसे प्रच्युति हो जायगी । अर्थात् विकाररूप प्रपञ्चसे-अतिरिक्त शुद्ध अपरिणत ब्रह्म नहीं रहेगा । क्योंकि—परिणाम है—पूर्वरूपका परित्यागकर वास्तविक रूपान्तर को प्राप्त होना । दूसरा विकल्प भी समीचीन नहीं है, क्योंकि—ब्रह्म एक-देशसे परिणत होता है, ऐसा मानने पर 'ब्रह्म निरवयव है' ऐसा बतलाने वाले शास्त्र से विरोध हो जाता है । अतः कृत्स्न-प्रसक्त्यादि दोष होनेसे परिणामवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता; किन्तु रज्जु आदि को जैसे सर्प आदिका विवर्त उपादानकारण मानते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मको विवर्त-उपादान कारणरूप मानना चाहिए । ऐसा माननेपर परिणामवादमें होने वाली दोष प्रसक्ति इसमें नहीं होती । क्योंकि—वास्तविक रूपको न छोड़कर, पूर्वरूपसे विरुद्ध-अनेक अवास्तविक रूपोंसे प्रतीत होना ही विवर्त है । इसीलिए पूर्वसिद्ध—अपने सत्य, ज्ञान, आनन्द, निरवयव और अपरिच्छिन्नस्वरूप का परित्याग करके ब्रह्म, जड़ दुःख मिथ्या सावयव और परिच्छिन्न कार्यरूप बनता है, ऐसा सृष्टि बोधक श्रुतियाँ किसी भी प्रकारसे नहीं बतलाती हैं । किन्तु पूर्व सिद्ध रूपका परित्याग न करके माया द्वारा उससे विरुद्ध

दर्शयतीत्यनवद्यम् । यथा जीवात्मनि स्वप्नद्रष्टरि विचित्रा रथादिसृष्टयो जीवचैतन्यस्वरूपोपमर्दं विनैव भवन्ति, स्वप्नावस्थानिवृत्त्यनन्तरमपि बुद्ध्यादिसाक्षितया जीवचैतन्यस्य यथापूर्वमवस्थानात् । एवं ब्रह्मणि तत्स्वरूप-प्रच्युतिं विनैव मायया विचित्रा वियदादिसृष्टयः संभवन्ति, सृष्टिस्थिति-संहारेषु सच्चिदानन्दस्वरूपेण ब्रह्मानुवृत्तेः श्रुत्यादिशास्त्रसिद्धत्वात् ।

अत एव श्रीमद्भागवते स्पष्टतो बादरायणाचार्याः परमेश्वरस्य जगत्स-र्जनादिकर्तृत्वेऽपि स्वस्वरूपादप्रच्युतिमेव ब्रुवाणा विवर्तवादमेव समर्थयन्ति- 'त्वं मायया त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः । नैतैर्भवानजित ! कर्मभिरज्यते वै यत् स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः॥' (भा०११।६।८) 'तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्यमानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये ।' (भा० ४।६।१६) इति । 'आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि ।' (भा० ६।६।३४) इति । अयमर्थः—व्यक्तं=नामरू-पाभ्यामभिव्यक्तं, दुर्विभाव्यं=मनसाप्यन्यैरवितर्क्यम्-जगत् मायया हे अजित ! केनापि कदापि कुत्राप्यपराजित ! हे भगवन् ! सृजसि, पालयसि, संहरसि

नानाविध मिथ्या रूपसे प्रतीत होता है, ऐसा बतलाकर विवर्त को ही दिखलाती हैं । जैसे स्वप्नावस्थामें जीव-चैतन्य स्वरूपका उपमर्दन किये विना ही स्वप्नद्रष्टा-जीवात्मा में नानाविध विचित्र-सृष्टियाँ प्रतीत होती हैं । क्योंकि-स्वप्नावस्था के निवृत होनेपर भी बुद्धि आदि के साक्षीरूपसे जीव-चैतन्य प्रथमकी भांति-अबाधितरूपसे अवस्थित रहता है । वैसे ब्रह्मके स्वरूप की प्रच्युति विना ही ब्रह्ममें माया द्वारा आकाशादिकी विचित्र सृष्टियाँ प्रतीत होती हैं; क्योंकि-सृष्टि स्थिति और संहार कालमें भी सच्चिदा-नन्द स्वरूपसे ब्रह्म की अनुवृत्ति उपनिषद् आदि शास्त्रोंसे सिद्ध है ।

इसलिए जगदुत्पत्ति आदिका कर्ता होने पर भी परमेश्वर अपने स्वरूपसे कदापि प्रच्युत नहीं होते हैं, ऐसा श्रीमद्भागवतमें बतलाते हुए महर्षि बादरायणाचार्य-व्यास-स्पष्टरूपसे विवर्तवादका समर्थन करते हैं कि—'हे अजित ! आप रजः आदिक मायिकगुणोंमें अवस्थित होकर त्रिगुणात्मिका मायाके द्वारा अपने आपमें इस अचिन्त्य नामरूपात्मक-व्यक्त प्रपञ्चकी सृष्टि स्थिति और संहार करते हैं, यह सब करते हुए भी आप इन कर्मों से अलिप्त हैं, क्योंकि—आप रागद्वेषादि से रहित हैं और अपने आवरणरहित-आनन्दमें सदा मग्न रहते हैं ।' 'जो ब्रह्म जगत्का कारण है, तथापि वह एक, अनादि, अनन्त, और निर्विकार है, मैं उनकी शरण में हूँ । हे भगवन् ! तू निर्गुण हुआ विकार रहित—अपने आत्माके द्वारा स्वयं ही इस सगुण संसार की सृष्टि, स्थिति, और संहार करता है ।' (भा०) अर्थ—व्यक्त = नामरूपोंद्वारा अभिव्यक्त, दुर्विभाव्य = अन्यों के द्वारा मनसे भी अचिन्त्य इस जगत् की—हे अजित = कहीं भी कभी भी किसी से भी

च, तदपि आत्मन्येव, नान्यत्र, तद्गुणस्थः=तस्याः मायायाः गुणेषु नियन्तृत्वेन स्थितोऽपि, भवान् तैः सर्जनादिकर्मभिः, नाज्यते=न लिप्यते। अव्यवहिते=अनावृत्ते, स्वे=स्वस्वरूपभूते, सुखे=पूर्णानन्देऽभिरतः=सर्वदाऽवस्थितोऽस्ति। विश्वभवं=विश्वस्य,भवः=जन्मादिर्यस्मात् सः, तं, प्रपद्ये=सर्वदा तं श्रद्धयाऽभेदभावेनानुसंदधामीत्यर्थः। सत्येवं ब्रह्मसूत्रमीमांसायां, श्रीमद्भागवते च स्वप्नदृष्टान्तेन स्वरूपोपमर्दं विनैव सृष्ट्यादिकर्तृत्वं परमेश्वरस्य पुनःपुनः प्रत्यपादि तैरेव श्रद्धेयैर्महामुनिभिः—'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि।' (ब्र०सू० २।१।२८) 'मृषा स्वप्नदृशो यथा।' (भा० ११।१३।३१) 'स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः।' (भा० ११।१३।३४) इति। आत्मनि स्वप्नद्रष्टरि। गुणपरिणामविहितोऽयं संसाररूपो विकल्पः=वस्तुशून्यः=प्रतिभासमात्रशरीरो न तु वास्तविकः। तदुक्तम्—'अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य।' (भा० ७।१५।६१) इति। एतेन—अविकृतब्रह्मपरिणामवादिनः शुद्धाद्वैतिनः श्रीमद्भागवतमेव परमं प्रमाणं मन्यमाना निरस्ताः, पूर्वोक्तैः श्रीमद्भागवतवचनैरेव तद्वादस्य सर्वथा बाधितत्वात् इति। अत एवाहुः संक्षेपशारीरकाचार्य्याः

पराजित न होने वाले! हे भगवन् आप रचना, पालन और संहार करते हैं, वह भी अपने आत्मामें, अन्यत्र नहीं। तद्गुणस्थ = उसमायाके गुणों में नियन्तारूपसे स्थित होकर उन रचना आदि कर्मों से आप, नाज्यते = लिप्त नहीं होते हैं। अव्यवहित = व्यवधान-आवरणरहित स्व = स्वरूपभूत, सुख = पूर्णानन्दमें अभिरत = सर्वदा मग्न रहते हैं। 'विश्वभवं' = जगत्की, भव = उत्पत्ति आदि होती है, जिससे उसका, प्रपद्ये = सदा श्रद्धापूर्वक अभेदभावसे मैं चिन्तन करता हूँ। 'स्वप्नदृष्टा-आत्मामें ऐसी सृष्टियाँ होती हैं' (ब्र० सू०) 'जैसे स्वप्न-दर्शी—पुरुषके द्वारा देखे हुए स्वप्नके सबके सब पदार्थ मिथ्या होते हैं।' (भाग०) 'यह स्थूल शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप तीन प्रकारका विकल्प गुणोंके परिणामकी रचना है, और स्वप्नके समान मायाका खेल है, अज्ञानसे कल्पित है, अतः अवास्तविक है, इस प्रकार ब्रह्मसूत्र-मीमांसा तथा श्रीमद्भागवतके इन स्वप्नदृष्टान्तोंसे स्वस्वरूपका उपमर्दन हुए विना ही परमेश्वर संसार की रचना आदि करते हैं, ऐसा महर्षि-वेदव्यासने वारम्बार प्रतिपादन किया है। आत्मनि = स्वप्नदृष्टामें, गुणोंके परिणाम से बना यह संसार, विकल्प यानी वस्तुशून्य है, अर्थात् प्रातिभासिक है, न कि—वास्तविक। यह श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—विकल्प वस्तुशून्य होता है, अर्थात् प्रतीत होनेपर भी वास्तविक नहीं होता। इससे श्रीमद्भागवतको ही परम प्रमाण मानने वाले—'अविकृत-ब्रह्म परिणत (विकृत) होता है' ऐसा कहनेवाले शुद्धाद्वैतियोंका मत खण्डित होगया, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि—श्रीमद्भागवतके इन पूर्वोक्त वचनोंसे भी अविकृत-ब्रह्मका परिणामवाद,

श्रीसर्वज्ञात्मस्वामिपादाः—'कृपणधीः परिणाममुदीक्षते क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम्।' इति बुद्धौ कार्पण्यं हि तत्त्वातत्त्वविवेचनासामर्थ्यम्। अत्र ब्रह्मणो जगदाकारेण परिणममान—मायाधिष्ठानत्वमेव विवर्तोपादान कारणत्वं मन्तव्यम्। न हि तादृशमायाधिष्ठानत्वमन्तरा नित्य–शुद्ध–बुद्ध मुक्तानन्तानन्दाद्वयस्वभावस्य स्वस्वरूपमहिम्नि सदाऽवस्थितस्य निष्क्रियस्य शुद्धस्य ब्रह्मणः स्वतः कारणता कथमपि संभवति। तथा च सर्वशास्त्रवचनेषु मायाद्वारैव ब्रह्मणः कारणता प्रतिपाद्यते, न स्वतः। अतएव नानाजगदाकारेण परिणममानमायाधिष्ठानतया ब्रह्मैव नानाकारेण प्रतीयते, न तेन हेत्वन्तरं कल्पनीयम्। सति चैवं 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्।' (मुं० २।२।११) 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी० ७।१९) 'वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च। भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किञ्चन॥' (भा० १०।१४।५६) इत्यादिशास्त्रवचनेषु ब्रह्मजगतोः काल्पनिकभेदवास्तविकाभेद—लक्षणतादात्म्यगमकः सामानाधिकरण्यरूपसम्बन्धः श्रूयमाणः संगच्छते, नह्यनुपादानकारणस्य कार्यसामानाधिकरण्यं कथमपि समञ्जसम्। अतोऽस्य जगतो ब्रह्मैवोपादानं,

सर्वथा बाधित हो जाता है। इस लिए संक्षेपशारीरिक-ग्रन्थके प्रणेता आचार्य पूज्य श्री सर्वज्ञात्मस्वामी कहते हैं कि—'शास्त्रोंमें अविवेकी पुरुष परिणाम को देखते हैं, और निर्मलबुद्धिवाले तत्त्वज्ञानी विवर्तको देखते हैं।' तत्त्वातत्त्वका विवेचन करने का सामर्थ्य न होना ही बुद्धिमें कृपणता है—अविवेक है। यहाँ जगदाकारसे परिणममान-मायाका अधिष्ठानत्व ही ब्रह्मका विवर्तोपादानकारणत्व है, ऐसा जान लेना चाहिए। ऐसी मायाके-अधिष्ठानत्व विना नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अनन्त, आनन्द और अद्वयस्व-भाव-वाले तथा अपनी महिमामें सदा अवस्थित, निष्क्रिय, शुद्ध, ब्रह्मनिष्ठ स्वतः जगत् की कारणताका किसीभी प्रकार संभव नहीं है। इसी प्रकार सर्वशास्त्रोंके वचनोंमें माया द्वारा ही ब्रह्मकी कारणता प्रतिपादित की है, न कि-स्वतः। इसलिए विविधाकाररूपसे परिणममानमायाकी अधिष्ठानता द्वारा ब्रह्मही नानारूपसे प्रतीत होता है।, अतः ब्रह्मसे अन्य कारणकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है। ऐसा सिद्ध होने पर 'यह सब ब्रह्म ही है' (मु० उ०) 'सब कुछ वासुदेव है' (गीता) 'जो भगवान् श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूप को जानते हैं, उनके लिए यह समस्त चराचर जगत् श्रीकृष्ण ही हैं, यह निखिलविश्व भगवत्स्वरूपही है। उससे अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नहीं है' (भाग.) इत्यादि शास्त्रवचनों में श्रूयमाण जगत् और ब्रह्मका काल्पनिक-भेद तथा वास्तविक अभेदरूप तादात्म्य को बतलाने वाले सामानाधिकरण्यरूप संबन्ध की संगति होती है। जो उपादान कारण नहीं है, उसके साथ कार्यका सामानाधिकरण्य किसी प्रकार भी सामञ्जस नहीं होता। अतः इस जगत्का ब्रह्म ही उपादानकारण है, वह एक ही है,

तदेकमेवाखिलाधिपतित्वात्सर्वज्ञत्वाच्च निमित्तमपीत्यवसेयम् ।

इदमत्र बोध्यं—ब्रह्मणोऽत्र जगतो जन्मविनाशश्रवणेन मिथ्यात्वमपि श्रुतार्थापत्त्या सिद्धयति । यतः—अमिथ्याभूतयोर्ब्रह्मशून्ययोः जन्मविनाश-राहित्येन द्वैतप्रपञ्चस्य श्रूयमाणौ जन्मविनाशौ तस्य मिथ्यात्वमन्तरेणानुपपन्नौ सन्तौ तन्निष्ठं सदसद्विलक्षणत्वाख्यं मिथ्यात्वमप्याक्षिपति । न हि सर्वका-लेष्वप्यबाध्यतयाऽवस्थितस्य ब्रह्मणः, एवमत्यन्तासतः शशशृङ्गादेः, उत्पत्ति-र्नाशो वाऽस्ति । आकाशादिद्वैतप्रपञ्चस्योत्पत्तिर्विनाशश्च सर्वत्र शास्त्रवचनेष्व-सकृद् श्रयेते । अतोऽयं द्वैतप्रपञ्चः सदसद्विलक्षणोऽनिर्वचनीय एव उत्पद्यते नश्यति चेत्यवश्यमभ्युपेयम् ।

अधुना ब्रह्मणो जगद्धेतुतायां हेतुमाह—अन्वयादितरतश्च । अर्थेषु= आकाशादिकार्येषु परमेश्वरस्यास्तिभातिप्रियरूपेणान्वयात्, इतरतः=अकार्ये-भ्यश्च खपुष्पादिभ्यस्तद्व्यतिरेकात् । यत्सत्त्वे यत्सत्त्वं सोऽन्वयः, घटः सन् पटःसन्नित्येवं सद्रूपेण ब्रह्मणः सर्वत्र कार्यवर्गे दृश्यमानत्वादन्वयः । यदभावे यदभावः स व्यतिरेकः,खपुष्पाद्यभावे तत्र सत्ताया अप्यभावात् खपुष्पं सदिति-

---

और निमित्तकारण भी वही है, क्योंकि—वह सम्पूर्ण-प्रपञ्चका अधिपति है, और सर्वज्ञ है ।

यहाँ यह भी समझना चाहिए—ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्ति और उसमें ही जगत्‌का विनाश (प्रलय) सुना है । इससे श्रुतार्थापत्ति-प्रमाण द्वारा जगत्‌का मिथ्यात्व भी सिद्ध होता है । क्योंकि–ब्रह्म और वन्ध्यापुत्र आदि अलीक पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते ।

अतः ब्रह्म और अलीक पदार्थ मिथ्या नहीं माने जाते । द्वैत-प्रपञ्चरूप जगत्‌के तो जन्म और विनाश शास्त्रोंमें सुने जाते हैं, अतः वे जगत्‌को मिथ्यामाने विना उपपन्न नहीं हो सकते; इसलिए जन्म और विनाश अनुपपन्न होकर जगत्‌के मिथ्यात्वको आक्षिप्त करते हैं । सत् और असत् से जो विलक्षण है—वह मिथ्या है । सर्वकालों में अबाध्य होकर अवस्थित ब्रह्मकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते, एवं अत्यन्त-अलीक शशशृङ्गादि की भी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते । आकाशादि-द्वैत प्रपञ्चकी उत्पत्ति और विनाश सब शास्त्रोंमें सुने जाते हैं । अतः यह द्वैत-प्रपञ्च सत् और असत् से विलक्षण-अनिर्वचनीय-मिथ्या हुआ ही उत्पन्न एवं विनष्ट होता है, ऐसा अवश्य मानना ही चाहिए ।

अब ब्रह्म जगत्‌का कारण है, इसमें हेतु बतलाते हैं—अन्वयादितरतश्च । अर्थेषु = आकाशादिकार्यों में अस्ति, भाति, प्रियरूपसे परमेश्वरका अन्वय है, इतरतः = जो कार्य नहीं है, ऐसे आकाश-कुसुम आदिसे उसका व्यतिरेक है, इन दोनों हेतुओंसे

प्रयोगादर्शनात् व्यतिरेकः।

यद्वाऽन्वयशब्देनानुवृत्तिः, इतरशब्देन व्यावृत्तिर्ज्ञेया। अनुवृत्तिः=तादात्म्येन प्रतीतिः, अनुवृत्तत्वात् सदादिरूपेण सर्वत्र कार्यवर्गे प्रतीयमानत्वादेव सद्रूपं ब्रह्म कारणं मृत्सुवर्णादिवत्। व्यावृत्तिः=भेदः, व्यावृत्तत्वाद्विश्वं कार्यं घटकुण्डलादिवदित्यर्थः। कार्येषु कारणानुवृत्तिः सुवर्णकुण्डलं सुवर्णकटकमिति तादात्म्यप्रतीत्याऽवलोक्यते। एवं कार्याणां मिथो व्यावृत्तिः कटकं कुण्डलं नेत्येवंरूपा। यद्वा कार्याणां कारणावस्थायां व्यावृत्तिः–नास्ति सुवर्णे कुण्डलादिकमित्येवंरूपाऽवगम्यते। यद्वा सावयवत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां यदस्य जन्मादि तद्यतो भवतीति सम्बन्धः। घटादिष्वात्मनि च गृहीतान्वयव्यतिरेकव्याप्तिकस्य सावयवत्वादितिहेतोः, अस्येतिपदवाच्यजगति पक्षे परामर्शादि सामग्रीबलात् भगवत एव परमकारणात् जन्मादि निश्चितं भवति। तथा चेदं विश्वं जन्मादिमत् सावयवत्वात् घटादिवत् व्यतिरेके आत्मवद्वा। हेतुनिष्ठा साध्यनिरूपिता अन्वयव्याप्तिः, यत्र यत्र सावयवत्वं, तत्र तत्र जन्मादिमत्त्वं घटादौ दृष्टं, एवं साध्याभावनिष्ठा हेत्वभावनिरूपिता

ब्रह्म जगत्का कारण है, ऐसा निश्चित होता है। 'जिसकी सत्तासे जिसकी सत्ता हो, वह अन्वय है। घट है, पट है, ऐसा सब कार्योंमें सद्रूपसे ब्रह्म दृश्यमान होनेसे ब्रह्मका अन्वय है। 'जिसके न होने पर जिसका न होना' व्यतिरेक है। आकाश-कुसुमादि के अभावमें उसकी सत्ताका अभाव है। इसलिए 'आकाश कुसुम है' ऐसा प्रयोग नहीं होता। इसलिए खपुष्पादि-अलीक पदार्थों से ब्रह्मसत्ता का व्यतिरेक है।

अथवा अन्वय शब्द से अनुवृत्ति और इतरशब्दसे व्यावृत्ति समझ लेनी चाहिए। अनुवृत्ति = तादात्म्यसे प्रतीति। अनुवृत्तत्वात् = संपूर्ण कार्य-वर्गमें सदादिरूप से प्रतीयमान होनेसे ब्रह्म जगत्का कारण है, जैसे मृत्तिका और स्वर्ण अपने अपने कार्यों के प्रति। व्यावृत्ति यानी भेद, व्यावृत्त होनेसे विश्व कार्य है; घट कुण्डलादिकी तरह, अतः समस्त कार्य वर्ग, घट-कुण्डल आदिके समान परस्पर भिन्न है। कार्योंमें कारणकी अनुवृत्ति स्वर्णका कुण्डल सुवर्णका कटक इत्यादि तादात्म्य-प्रतीतिसे मालूम होती है। इस प्रकार कार्योंकी परस्पर भिन्नता 'कटक कुण्डल नहीं है' इत्यादि व्यवहारोंसे मालूम होती है। अथवा व्यावृतिका यह अर्थ है कि—'कारणावस्थामें कार्यों का अभाव' जैसे स्वर्णमें वस्तुतः कुण्डलादि नहीं है, इत्यादि व्यवहारोंमें व्यावृत्ति जानी जाती है। अथवा जो–सावयव है, उसका जन्मादि है; जिसका जन्मादि नहीं है, वह सावयव नहीं है, ऐसे अन्वय व्यतिरेक द्वारा सावयवत्व हेतुसे जिस जगत्का जन्मादि सिद्ध है, वह जगज्जन्मादि, जिससे होता है, उस परम सत्यका हम ध्यान करते हैं, ऐसा अन्वय है। घटादियोंमें और आत्मामें सावयवत्व हेतुकी अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेक—व्याप्तिको गृहीतरक

व्यतिरेकव्याप्तिः, यत्र जन्माद्यभाव आत्मनि, तत्र सावयवत्वाभावः इति ।

संप्रति जगत्कारणे ब्रह्मणि विशेषणमाह—अभिज्ञः=अभितो जानातीत्यभिज्ञः सर्वज्ञः, 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत' (ए० उ० १।२) इति श्रुतेः, सः= परमेश्वरः, ईक्षत=विचारयामास, सृजै= रचयानि । एतेन सांख्याभिमतं जडं प्रधानं जगत्कारणं प्रत्युक्तम् । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५) इति न्यायात् । श्रुत्यर्थनिर्णायकः शारीरिक सूत्रात्मको हि न्यायः । अशब्दत्वात्—वेदाप्रतिपाद्यत्वात् न जडं प्रधानं जगत्कारणम् । न हि भगवान् वेदो जगत्कारणतया जडं प्रधानं प्रतिपादयति । तत्र हेतुः, ईक्षतेः='स ऐक्षतेत्यत्र' जगत्कर्तरि ईक्षणश्रवणात् । ईक्षणञ्च चेतनधर्मो जडं व्यावर्तयति ।

पुनश्च तत्कीदृशं जगत्कारणमित्यपेक्षायां द्वितीयं विशेषणमाह—स्वराट् स्वेनैव राजते विभ्राजते यस्तं स्वतः सिद्धज्ञानं, माययाऽनावृत्तज्ञानैश्वर्यादिकमित्यर्थः । अत एव यः परमेशो विश्वाधिपतिः आदिकवये=हिरण्यगर्भाय चतुर्मुखाय ब्रह्मणेऽपि, ब्रह्म=वेदं सर्वज्ञाननिधिं, हृदा=मनसैव न तु मुखेन

उसके जगद्रूपपक्षमें परामर्शादिके बलसे परमकारण परमेश्वरसे उत्पत्त्यादि निश्चित हो जाता है । अनुमान—यह जगत् जन्मादिवाला है, सावयवत्व होनेसे, जैसे घटादि, व्यतिरेकमें जैसे आत्मा । जहाँ जहाँ सावयवत्व है, वहाँ वहाँ जन्मादिमत्त्व है, यह अन्वय व्याप्ति है । घटादिमें सावयवत्व है और जन्मादिमत्त्व भी है । जहाँ जन्माद्यभाव है, वहाँ सावयवत्व नहीं है, यह व्यतिरेक व्याप्ति है । आत्मामें जन्मादिका अभाव है, और सावयवत्वका भी अभाव है, इस प्रकार हेतुनिष्ठा साध्यनिरुपिता अन्वयव्याप्ति है, और साध्यके अभावनिष्ठा हेतुके अभावनिरुपिता व्यतिरेक-व्याप्ति होती है ।

अब जगत्कारण ब्रह्मका विशेषण बतलाते हैं—अभिज्ञ । सर्वप्रकारसे जो जानता है, वह अभिज्ञ = सर्वज्ञ है । 'उसने विचार किया कि—मैं इन लोकोंको बनाऊँ, ऐसा विचार करके उसने इन सभी लोकों को बना डाला।' (श्रुति) उस परमेश्वरने ईक्षत = विचार किया । सृजै = बनाऊँ । इससे 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस ब्रह्म-सूत्राधिकरणन्यायसे 'जड प्रधान ही जगत्का कारण है,' ऐसा सांख्यों का मत खण्डित हो गया । श्रुत्यर्थका निर्णय करने वाला ब्रह्मसूत्ररूप यहाँ न्याय है । अशब्दत्वात् = वेदप्रतिपाद्य न होनेसे, जड़प्रधान जगत्का कारण नहीं हो सकता । वेद भगवान्ने जड़प्रधानको जगत्का कारण नहीं बतलाया है । उसमें हेतु है—ईक्षतेः = 'स ऐक्षत' यहाँ पर जगत्कर्ता को ईक्षण वाला बतलाया है । ईक्षण = विचार, चेतनका धर्म है, न कि—जड़का । अतः जड़की व्यावृत्ति होती है ।

वह जगत्कारण ब्रह्म फिर कैसा है? इस आकांक्षामें दूसरा विशेषण बतलाते हैं,

तेने=प्रकाशितवान्। तथा च श्रुतिः—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥' (श्वे० ६।१८) इति। विदधाति=उत्पादयति। नानाविधस्तोत्रैस्तुष्टस्तस्मै आदिकवये वेदान् प्रहिणोति=ददाति—उपदिशति। देवं=सर्वत्र सत्तया स्फूर्त्या प्रियतया च देदीप्यमानं, अत एव ह=स्फुटं स्वबुद्धिप्रकाशकं, शरणं=संसाराद्रक्षकमित्यर्थः, अहं मुमुक्षुः, प्रपद्ये=विश्वासप्रेमातिभरेण नान्यगामिना चेतसा सततमनुसंदधामीत्यर्थः।

यद्वा हृदा=मनसा सह, सहार्थे तृतीया, सूक्ष्मपञ्चभूतकार्यमन्तःकरणं मनः समुत्पाद्य, तदुपाधेर्हिरण्यगर्भस्य कृते, ब्रह्म=वेदतदर्थज्ञानं तेने=विस्तारितवान् श्वासप्रश्वासादिवद् लीलयाऽऽविर्भावितवान्। तथा च श्रुतिः—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः' (बृ० उ० ४।५।११) इत्याद्या वेदोपादानकारणतां परमेश्वरे दर्शयति। न च ब्रह्मकार्यत्वे सति तस्य पुरुषमात्रजन्यत्वात् पौरुषेयत्वं स्यादिति वाच्यम्; यतो मानान्तरेणार्थमुपलभ्य रचितत्वमेव पौरुषेयत्वमित्यभ्युपगमेन तादृशरचितत्वाभावात्मकं सजातीयो-

---

स्वराट्=अपनेसे ही राजमान, विभ्राजमान यानी स्वतः सिद्धज्ञानवाला अर्थात् जिसका ज्ञानैश्वर्यादि, माया द्वारा आवृत नहीं है, वह स्वराट् है। इसीलिए विश्वका अधिपति उस परमेश्वरने आदिकवि=चतुर्मुखब्रह्माके प्रति, ब्रह्म=सर्वज्ञाननिधि वेदको, हृदा=मनसे, न कि-मुखसे, तेने=प्रकाशित किया। 'जिसने प्रथम ब्रह्माका सर्जन किया, और उसके प्रति वेदोंको प्रकाशित किया है, मैं मुमुक्षु बनकर अपनी बुद्धिको विभासित करने वाले उस देवकी शरणमें जाता हूँ' (श्रुति)। विदधाति=उत्पन्न करता है। नानाविध-स्तोत्रों के द्वारा सन्तुष्ट हुआ-वह परमेश्वर उस आदिकवि-ब्रह्माके प्रति, वेदान् प्रहिणोति=वेदोंका उपदेश करता है, देव=सत्तासे, स्फुर्तिसे, प्रियतासे सर्वत्र देदीप्यमान। इसीलिए वह स्पष्टतः—आत्म-बुद्धिप्रकाशं=अपनी बुद्धिका प्रकाशक है। शरणं=संसारसे रक्षा करने वाला है,। मैं=मुमुक्षु। प्रपद्ये=विश्वास एवं प्रेमसे अतीव भरपूर—अन्यमें गमन नहीं करने वाले—चित्तसे उस परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन करता हूँ, ऐसा अर्थ है। अथवा—हृदा=मनके साथ, सहार्थमें तृतीया विभक्ति है। सूक्ष्म-पञ्चभूतोंका कार्य अन्तःकरण (मन) को उत्पन्नकर, उस समष्टि-अन्तकरण-रूप-उपाधिवाले हिरण्यगर्भके लिए ब्रह्म=वेद और उसके अर्थोंके ज्ञानको, परमेश्वरने तेने=विस्तारित किया अर्थात् श्वास प्रश्वास आदिके समान अनायासतः विशदरूपसे प्रकट किया। ऐसा श्रुति भी कहती है—'इसके निःश्वासकी भांति ऋग्वेद और यजुर्वेद आदि हैं' इस वचन द्वारा श्रुति परमेश्वरको वेदोंका उपादानकारण बतलाती है,। ब्रह्मका कार्य होनेसे पुरुषमात्रसे जन्यत्व हेतु द्वारा वेदमें पौरुषेयत्व आजायगा, अपौ-

च्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वाभावात्मकञ्चापौरुषेयत्वमतिधन्येषु वेदेष्वास्थीयते। एतादृशमेवापौरुषेयत्वं श्रुत्या निःश्वासदृष्टान्तेन दर्शितम्। यथा हि निःश्वासः पुरुषाज्जायमानोऽपि न पुरुषचिकीर्षाजन्यः सुषुप्तावपि तद्दर्शनात्। एवं वेदा ब्रह्मणः सकाशाज्जायमाना अपि न ब्रह्म चिकीर्षाजन्यास्तदर्थानां वेदातिरिक्तमानाविषयत्वात्। तथा च विचित्रगुणमायासहायोऽनावृतस्वप्रकाशचिन्मात्रः परमेश्वरः प्रलये स्वस्मिन्नेव संस्कारावशेषान् अत एवानादिनः पूर्वसिद्धानेव वेदान् सृष्ट्यारम्भे पूर्वकल्पीयक्रमसजातीयक्रमवतो यथाऽवस्थितानेव स्मृत्वा तदर्थांश्च युगपज्जानन्नेव चतुर्मुखमन्वादिभ्यो मनसैव न तु मुखेनाध्यापयामासेति लौकिकोपाध्यायवदेव परमेश्वरस्यापि वेदसम्प्रदायप्रवर्तकत्वमभ्युपगम्यते। तस्माद्वेदानां ब्रह्मविवर्तानां तत्परतन्त्राणामनादित्वेनाप्यपौरुषेयत्वं ब्रह्मभिन्नत्वात् 'वेदा अवेदाः' (बृ० उ० ४।३।२२) 'यच्छ्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः' (भा० १०।८७।४१) इति श्रुतिभागवतवचनप्रामाण्याच्च ब्रह्मसाक्षात्कारसमये बाधिततया मिथ्यात्वेऽपि तत्त्वावेदकप्रामाण्यञ्च सिद्ध्यतीति नास्ति कश्चन विरोधः।

रुषेयत्व नहीं रहेगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि—प्रमाणान्तरोंसे अर्थ जानकर जिसका निर्माण किया जाता है, वह पौरुषेय माना जाता है; ऐसा सिद्धान्त है। अतः वेदोंकी रचना प्रमाणान्तरोंसे अर्थ जानकर नहीं होनेसे उन अतिधन्य वेदोंमें तादृश रचनाका अभावरूप अपौरुषेयत्व, तथा सजातीय-उच्चारणकी अपेक्षा न करके जिसका उच्चारण किया गया हो, वह पौरुषेय है, ऐसे उच्चारणकी विषयता का अभाव रूप—अपौरुषेयत्व माना जाता है। श्रुतिने ऐसा ही अपौरुषेयत्व निःश्वास-दृष्टान्तसे बतलाया है।

जैसे श्वासोच्छ्वास पुरुषजन्य होनेपर भी पुरुषचिकीर्षाजन्य नहीं है। क्योंकि-सुषुप्ति-अवस्थामें पुरुषचिकीर्षा न होनेपर भी श्वासोच्छ्वास देखनेमें आते हैं। वैसे वेद ब्रह्मसे जन्य होनेपर भी ब्रह्म चिकीर्षाजन्य नहीं हैं। क्योंकि—वेदोंके अर्थ वेदोंसे अतिरिक्त प्रमाणोंके विषय नहीं हैं। प्रलय-कालमें वेद संस्काररूपसे ब्रह्ममें अवस्थित हैं, इसलिए वे अनादि हैं, प्रथमसे ही सिद्ध-अनादि,वेदों तथा उनके अर्थों को, अनावृत स्वप्रकाश ज्ञानवाले परमेश्वरने विचित्रगुणवाली-मायाकी सहायता लेकर सृष्टिके प्रारम्भमें पूर्वकल्पीय क्रमके अनुसार ही यथाऽवस्थित-वेदोंका स्मरण करके और उनके अर्थोंको एकसाथ जानकरके चतुर्मुख ब्रह्मा तथा मनु आदिके प्रति प्रकट किया। परमेश्वरने उनको मुखसे नहीं पढ़ाया, किन्तु मनसे ही पढ़ाया है। इस उपदेश रूपी अध्यापनमात्रको लेकर परमेश्वरको वेद-संप्रदायका प्रवर्तक कहते हैं। जैसे लोग आजकल के वैदिक उपाध्यायोंको वेद्संप्रदाय के प्रवर्तक कहते हैं। इसलिए वेद

ननु-ब्रह्मा स्वयमेव सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन वेदमुपलभतां, नेत्याह—यत्=यस्मिन् ब्रह्मणि वेदे जातावेकवचनम्। सूरयः—क्रांतदर्शिनः कपिलादयः कवयोऽपि मुह्यन्ति—मोहं—भ्रांतिमनुभवन्ति, यतस्तदर्थानामतिगहनत्वात् स्वतस्तेऽपि तदर्थान् यथावन्नैव जानन्ति, अर्थात् परमेश्वरप्रसादतः तेऽपि ब्रह्मादिवत् यथावत् ज्ञातुं प्रभवन्तीति भावः। तस्माद् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्यापि परमेश्वरायत्तवेदज्ञानत्वात् स्वतःसिद्धज्ञानः परमेश्वर एव जगत्कारणं, नान्यः, अत एवासतो जगतः सत्ताप्रदत्वाच्च स एव परमार्थसत्यः, स्वस्वरूपभूतस्वयंज्योतिर्महिमसाक्षात्कारेण निरस्तकुहकस्तं धीमहीति।

अपि चात्र गायत्रीगतधीमहीतिसाक्षात्पदप्रयोगेण गायत्र्याख्यब्रह्मविद्यारूपमेतत् सर्ववेदान्तसारभूतं श्रीमद्भागवतं पुराणमस्तीति विज्ञायते। अत एव गायत्रीभावार्थोऽपीत्थमत्रावगम्यते—तथाहि—गायत्रीगतं सवितृपदं जगत्प्रसवकारणपरं, तदर्थो जन्माद्यस्य यत इत्यनेन प्रदर्श्यते। क्रीडापालनाद्यर्थकदेवपदार्थोऽप्यनेनैव, जन्मादीत्यादिपदेन पालनादिग्रहात्। परसत्यपदेन वरेण्यपदार्थः, स्वयंप्रकाशब्रह्मज्योतिर्बोधकधामपदेन भर्गपदार्थः, तेने ब्रह्म हृदे-

---

ब्रह्मके विवर्त हैं, और उसके अधीन हैं, अतः वे अनादि होनेपर भी अपौरुषेय हैं। ब्रह्मसे भिन्न होनेके कारण तथा 'जहाँ वेद भी वेद नहीं रहते' (श्रु०) 'श्रुतियाँ भी आपके स्वरूप का साक्षात् वर्णन नहीं कर सकतीं, किन्तु अतद्व्यावृत्तिद्वारा अर्थात् आपसे अतिरिक्त—वस्तुओं का निषेध करते करते, अन्त में अपनी भी व्यावृत्ति कर देती हैं और आपमें ही अपनी सत्ता खोकर सफल हो जाती हैं'(भा०) श्रुति और भागवतके ऐसे प्रमाणोंसे ब्रह्मसाक्षात्कारके समयमें बाधित होनेसे वेद भी मिथ्या हो जाते हैं, तथापि साक्षात्कारसे प्रथम ब्रह्मतत्त्वके आवेदक होनेके कारण वेदोंमें प्रामाण्य भी सिद्ध हो जाता है। इसलिए कोई विरोध नहीं है।

शंका—जैसे सोकर उठे हुए मनुष्यको सोनेसे प्रथमके अनुभवोंकी स्मृतियाँ होती हैं, इस न्यायसे सृष्टिके आदिमें ब्रह्माको भी वेद विषयक स्मृतियाँ होसकती हैं, फिर परमेश्वर को ब्रह्माके लिए वेदोपदेश की क्या आवश्यकता है? ऐसी शंका होनेपर कहते हैं— न। तत् = जिस वेदके विषयमें, यहाँ जातिमें एकवचन है,। सूरयः = त्रिकालदर्शी कपिलादि-आदिकवि-आदिविद्वान् भी, मुह्यन्ति = मोह—भ्रान्तिको प्राप्त होते हैं, अतः वे आदि-विद्वान् भी स्वयं यथावत् वेदार्थोंको नहीं जान सकते, किन्तु परमेश्वरकी कृपासे ही ब्रह्मा आदिके समान वे भी वेदों के अर्थों को यथावत् जानसकते हैं; ऐसा तात्पर्य है। इसलिए हिरण्यगर्भ-ब्रह्माभी परमेश्वरसे ही वेदज्ञान प्राप्त करता है, स्वतः नहीं; अतः एकमात्र परमेश्वर ही स्वयं सिद्धज्ञानवाला है, ऐसा परमेश्वर ही जगत् का कारण है, अन्य नहीं। एवं परमेश्वर ही मिथ्याभूत प्रपञ्च

त्यादिना हिरण्यगर्भस्य समष्टिबुद्धिप्रेरकत्वोक्तेः सर्वव्यष्टिबुद्धिप्रेरकता त्वर्थसिद्धैवावगम्यते । तदुक्तञ्च पुराणान्तरे—'गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः' इति । एवं मत्स्यपुराणेऽप्युक्तं—'यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः । वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते ॥' इति ।

को सत्ता प्रदान करता है, अतः वही परमार्थ-सत्य है, उस स्वरूपभूत—परमेश्वर की स्वयं ज्योतिर्मय—महिमा के साक्षात्कार द्वारा—मायारूपी—कुहक का निरास हो जाता है, उस सर्वात्मा-भगवान् का हम ध्यान करते हैं । और एक बात यह है कि-वेदकी गायत्रीरूप—महामन्त्रमें 'धीमहि' पद का प्रयोग है, और इस श्लोक में भी 'धीमहि' पद का प्रयोग है, अतः संपूर्ण उपनिषदों का सारभूत—गायत्री नामवाली ब्रह्मविद्यारूप ही यह श्रीमद्भागवत—पुराण है, ऐसा निश्चित होता है । अतएव गायत्री मन्त्रमें सविता पद है, उसका अर्थ है—जगत् का सविता, अर्थात् जगत्की उत्पत्ति करने वाला । उसी के अर्थको यहां 'जन्माद्यस्य यतः' इस वाक्यसे प्रदर्शित किया गया है, गायत्रीमें देवपद है, क्रीडा, पालन आदि उसका अर्थ है, जन्मादिमें आदिपदसे पालनका ग्रहण होता है, गायत्री में जो वरेण्यपद है, उसका अर्थ इस श्लोक के पर एवं सत्य, पदसे गृहीत होता है, क्योंकि-जो परसत्य है, वही वरेण्य है । गायत्रीमें जो भर्ग पद है, उसके अर्थ का, स्वयंप्रकाश-ब्रह्मज्योति बोधकधाम पद से ग्रहण होता है, 'तेने ब्रह्म हृदा' इत्यादि वाक्यसे हिरण्यगर्भ की समष्टिबुद्धि की प्रेरकता परमेश्वरमें बतलायी है, ऐसा कहनेपर व्यष्टि-बुद्धिकी प्रेरकता तो अर्थात् सिद्ध होजाती है अर्थात् जो समष्टिका प्रेरक है, वह व्यष्टि का प्रेरक है ही, जैसे जो वनका स्वामी है, वह तदेकदेशभूतवृक्ष का भी स्वामी है, तद्वत् । 'धियो यो नः प्रचोदयात्' इस गायत्री-मन्त्रके तृतीयपादका ही यह सब स्पष्टीकरण है । अतः अन्य-पुराण में भी कहा है कि-'जिसका गायत्री के अर्थ से आरंभ होता है, उसको भागवत जानना ।' मत्स्यपुराणमें भी कहा है कि—'जहाँ गायत्री के अर्थको लक्षित करके फिर—विस्तार से जिसमें अभ्युदय-निश्रेयस साधक धर्म का वर्णन है और जिसमें वृत्रासुर—वधकी आख्यायिका है, उसको भागवत समझना चाहिए ।'　　इतिशम् ।

(२)

(तत्त्वजिज्ञासुना विज्ञेयं पारमार्थिकं तत्त्वं किमस्तीति निरूप्यते)

श्रीहरितोषसम्पादकस्य शुभकर्मलक्षणस्य धर्मस्य फलं भगवति सर्वात्मनि वासुदेवे भक्तियोगः, तेन भजनीयभगवत्तत्त्वेतरस्मान्नामरूपात्मकाज्जगतो वैराग्यं सम्पद्यते, स च तत्त्वजिज्ञासामाशु जनयति, तयैव मानवजीवनस्य सार्थक्यमवगम्यते। सोऽयं तत्त्वजिज्ञासावान् मुमुक्षुः श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ–सद्गुरुसकाशाद् तत्त्वं विज्ञातुं श्रद्धया पृच्छति, तदीयप्रश्नोत्तरतया ते सकलनिगमागमशास्त्रनिष्णातास्तत्त्वविद इत्थं वदन्ति—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(भा० १।२।११)

तत्त्वविदः=ज्ञातज्ञेया विपश्चितः, तदेव–अबाधितं सर्वथा सर्वदा, अनधिगतं तदन्यप्रमाणैः, सप्रयोजनं पारमार्थिकं तत्त्वं, वदन्ति=आदरेण कथयन्ति स्वसमीपसमागतेभ्यस्तत्त्वजिज्ञासुभ्यःश्रद्धालुभ्यः। किं तत् ? यज्ज्ञानं,

(२)

(तत्त्वजिज्ञासुओं के द्वारा जानने योग्य पारमार्थिक तत्त्व क्या है ? यह निरूपण किया जाता है)

श्रीभगवान्‌की प्रसन्नता संपादन करने वाले शुभकर्मोंका नाम धर्म है। सबके आत्मा भगवान् वासुदेवमें भक्ति होना धर्म का फल है। भक्तियोग से उस भजनीय–(जिसकी भक्ति करते हैं, उस) भगवत्तत्त्वसे अतिरिक्त नामरूपात्मक-द्वैत-प्रपञ्चसे वैराग्य उत्पन्न होता है। वह वैराग्य तत्त्वजिज्ञासा को जल्दी उत्पन्न करता है। तत्त्वजिज्ञासा द्वारा ही मानव-जीवन का सार्थक्य जाना जाता है। वह तत्त्व-जिज्ञासा वाला मुमुक्षु श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-सद्गुरु के समीप जाकर तत्त्ववस्तु को जानने के लिए श्रद्धा से पूछता है। सकलवेद और शास्त्रोंके निष्णात तत्त्ववेत्तालोग उस जिज्ञासु के प्रश्नके उत्तररूपसे यों कहते हैं—

'तत्त्ववेत्तालोग, जिसमें द्वैतका अस्तित्व नहीं है, ऐसे अद्वैत ज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं। उसी तत्त्वको ही कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान् के नाम से पुकारते हैं !'

अर्थ—तत्त्ववेत्ता-जिन्होंने ज्ञातव्यतत्त्वको जान लिया है–ऐसे विद्वान् लोग सदा सर्वथा जो अबाधित है, और जो अन्य-प्रमाणोंसे नहीं जाना जाता है। और जो सप्रयोजन है, अर्थात् जिसके ज्ञानद्वारा समस्तदुःखों की निवृत्ति एवं परमानन्द

ज्ञानं नाम अखण्डचिदेकरसरूपं स्वप्रकाशं स्वयंसिद्धं । यदाहात्रैव द्वितीये नारदं प्रति भगवान् चतुर्मुखो ब्रह्मा—'विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यक् अवस्थितम् । सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥' (भा० २।६।३९) अस्यायमर्थः— 'न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः ।' (भा० २।६।३७) इत्युक्तं प्राक् अतः किं तत्तत्त्वमित्यपेक्षायामाह—ज्ञानं=चैतन्यं केवलं सत्यं तत्त्वमस्ति। अत्र घटाद्याकारवृत्तिज्ञानव्यवच्छेदायाविनाशिस्वरूपभूतज्ञानसमर्थनाय च विशेषणानि समर्प्यन्ते—कीदृशं तज्ज्ञानं, ? अत आह विशुद्धं=विषयाकार शून्यं, यतः, प्रत्यक्=सर्वान्तरं सर्वात्मभूतं, असज्जडादिविलक्षणं, अत एव सम्यक=संशयविपर्ययरहितं, अवस्थितं=सर्वदा स्थिरं ध्रुवं, यतो निर्गुणं, गुणकार्यं हि गुणव्यतिकराच्चंचलं भवति, चलञ्च गुणवृत्तमित्युक्तत्वात् । यद्यपि वृत्तिज्ञानमपि वस्तुतः स्वरूपज्ञानमेव प्रतिबिम्बस्य बिम्बत्वमिवेति न चांचल्यादिदोषयुक्तं, तथाप्यन्तःकरणवृत्तिदोषैस्तथा तथा भवतीति व्यवच्छिद्यते । एभिरेव विशेषणैः सत्यत्वमपि समर्थितम् । किञ्च यद्विकारवत्तदसत्यं दृष्टं, न चास्य ज्ञानस्य जन्मादयः षडविकाराः सन्तीत्याह—अनाद्यन्तं=जन्म-

की प्राप्ति होजाती है—उसको पारमार्थिक तत्त्व कहते हैं—अपने समीप आये हुए श्रद्धावान्—जो तत्त्वजिज्ञासु हैं—उनके प्रति आदर से कहते हैं, वह तत्त्व क्या है ? वह ज्ञान है, ! जो अखण्ड चैतन्यैकरस, स्वप्रकाश, तथा स्वयंसिद्ध है, उसको स्वरूपभूत ज्ञान कहते हैं। इसी ज्ञान-तत्त्व को ही श्रीमद्भागवतके द्वितीय-स्कंधमें भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा नारदजी के प्रति कहते हैं—'वह विशुद्ध केवल ज्ञानस्वरूप है, अन्तरात्मा का स्वस्वरूपभूत हुआ—एकरस अवस्थित है, वह तीनों कालोंमें अबाधित होने से पारमार्थिक-सत्य है—परिपूर्ण है, उसका न आदि है—न अन्त है, वह तीनों गुणों से रहित है, अविनाशी एवं अद्वैतरूप है। (भा०) इसका यह अर्थ है—जिस भगवान् को लोग तत्त्वतः नहीं जानते हैं, उस भगवान् को नमस्कार है । यहाँ तत्त्वतः भगवान् को नहीं जानते हैं, ऐसा कहा जाता है, तो यहाँ जिज्ञासा होती है कि—वह अज्ञात-तत्त्व क्या है ? तब उत्तररूप से कहते हैं कि—ज्ञान यानी चैतन्य ही केवल सत्य तत्त्व है । यहां घटाकाररूप-वृत्ति-ज्ञानकी व्यावृति के लिए और अविनाशी-स्वरूपभूत ज्ञानके समर्थनके लिए ज्ञानके विशेषण बतलाये जाते हैं—वह ज्ञान कैसा है ? विशुद्ध = विषयाकारशून्य, क्योंकि-वह प्रत्यक्=सर्वान्तर है यानी सबका आत्मारूप एवं असत्—जड गादि से विलक्षण है । इसलिए वह सम्यक्=संशय और विपर्ययसे रहित है । अवस्थित = सर्वदास्थिर ध्रुव है । क्योंकि—वह निर्गुण है । सत्त्व, रज आदिके कार्य, गुणोंसे मिश्रित होने से चंचल—परिवर्तनशील होते हैं, कहा भी है कि—गुणों का स्वभाव चंचल है । यद्यपि वृत्तिज्ञान भी वास्तविकरूप

नाशरहितम्। अत एव जन्मानन्तरास्तित्वलक्षणोऽपि विकारो नास्ति, वृद्धि-विपरिणामापक्षयाश्च न सन्ति, यतः पूर्णं=त्रिविधपरिच्छेदशून्यं। सर्वत्र हेतुः-नित्यमद्वयं, नित्यं सर्वदा द्वैतप्रतीतिसमयेऽपि परमार्थतोऽद्वयमिति।

अथवाऽत्र ज्ञानमिति विशेष्यं, ज्ञानं=निराकारं ज्ञातृज्ञेयादिविभाग-शून्यं स्वप्रकाशं चित्सामान्यं तच्च सुखरूपमेव 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० उ० ३।९।२८) इति श्रुतेः, 'केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः।' (भा० ७।६।२३) इति श्रीमद्भागवतस्मरणाच्च। तस्य विशेषणानि, केवलं-निर्विशेषस्वरूपं-अद्वितीयं, अत एवोपाध्यभावाद् विशुद्धं, तत एव सर्वान्तर-त्वात् प्रत्यक्, तदपि समन्ताद् व्याप्यैवान्तर्बहिः स्थितत्वात् सम्यगवस्थितं, व्याप्तिरपि सर्वत्र सत्तारूपेणैवेति सत्यं, तारतम्याभावात्पूर्णं, जन्मादिविकारा-भावादनाद्यन्तं, सत्त्वादिगुणसंसर्गाभावात् निर्गुणं; सर्वकालमेकरूपतयैव स्थितत्वान्नित्यं द्वितीयाभावादद्वयम्।

एवमेव तृतीये भगवता श्रीकपिलमहर्षिणाऽप्युक्तम्-'स तदैवात्मना-ऽऽत्मानं निःसंगं समदर्शनम्। हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते॥' 'ज्ञानमात्रं

से स्वरूपभूत ज्ञान ही है, जैसे प्रतिबिंब बिंबस्वरूप है; इसलिए चांचल्यादि दोषों से वह भी युक्त नहीं है। तथापि अन्तकरणकी वृत्तियों के दोषों से वैसा-वैसा वह हो जाता है, इसलिए उस वृत्तिज्ञान की स्वरूपभूतज्ञानसे व्यावृत्ति की जाती है। इन विशेषणोंसे ज्ञानमें सत्यत्वका भी समर्थन हुआ है; और जो विकारवाला होता है, वह असत्य देखा गया है, अतः इस ज्ञानमें जन्म आदि-विकार नहीं हैं-यही कहते हैं-अनाद्यनन्त यानी वह जन्मविनाश-रहित है, इसलिए जन्मके अनन्तर होने वाला अस्तित्वरूप विकार भी नहीं है, और उसमें वृद्धि, विपरिणाम यानी परिवर्तन और अपक्षय यानी क्षीणतारूप विकार भी नहीं है। क्योंकि—वह पूर्ण है, यानी देशकृत, कालकृत एवं वस्तुकृत-इन तीनों परिच्छेदोंसे रहित है। इन सब विशेषणों के समर्थनमें हेतु है-नित्य-अद्वय अर्थात् सर्वदा द्वैत-प्रतीति कालमें भी परमार्थरूप से अद्वैत-द्वैतप्रपञ्चरहित।

अथवा यहाँ ज्ञान विशेष्य है। वह ज्ञान निराकार है, ज्ञाता ज्ञेय आदि विभागों से रहित है, स्वप्रकाश और चैतन्य-सामान्य है, वह सुखरूप ही है, इसमें 'ब्रह्म विज्ञान और आनन्दरूप है। (श्रु०) परमेश्वर केवल अनुभवरूप और आनन्द-रूप है' (भा०) श्रुति और भागवतके ये वाक्य प्रमाण हैं। उसके ये सब विशेषण हैं-केवल=निर्विशेषस्वरूप यानी अद्वितीय होने से उपाधि रहित है, उपाधि न होने से वह विशुद्ध है। अतः वह सबके अन्दर होने से प्रत्यक् यानी प्रत्यगात्मारूप है। सर्वत्र व्याप्त होकर अन्दर और बाहर स्थित होने से वह सम्यगवस्थित है-यानी

परं ब्रह्म, परमात्मेश्वरः पुमान् । इत्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥' (भा० ३।३२।२५-२६) 'ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम् । अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा ॥' (भा० ३।३२।२८) अयमर्थः-सः समदर्शी, तदैव, यदा समब्रह्मदर्शनेनाविद्याकल्पितवैषम्यदर्शननिवृत्तौ सत्यां, आत्मना आत्मानं स्वप्रकाशं ईक्षते=साक्षादनुभवति । कथंभूतं ? । समदर्शनं=समं च तद्दर्शनं च । समरूपमनुभवात्मकञ्चेत्यर्थः । तत्कुतः ? यतो निःसंगम् । संगाद्धि वैषम्यं भवति । निःसंगत्वे हेतुः-हेयोपादेयरहितं । यत् आत्मभिन्नं तद्वस्तु हातुं वोपादातुं वा शक्यते, इदं त्वात्मभूतं, अतो न केनापि कदापि कुत्रापि हीयते वोपादीयते वा । अत एव तत्पदं = स्वस्वरूपतया व्यवसितं = विनिश्चितम् । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु ।' इत्यमरः । आरूढं = परमानन्दस्वरूपोऽहमितिस्फुटानुभवारूढं आत्मानमीक्षते इत्यन्वयः । तदेव समदर्शनं प्रतिपादयति-ज्ञानमात्रमेव = स्वयंज्योतिश्चिन्मात्रमेव तत्त्वं, परब्रह्मादिशब्दैः प्रतिपाद्यते । केवलं ज्ञानमेकमेव तत्त्वं, मायातत्कार्यब्रह्माण्डोपाधिविनिर्मुक्तं परब्रह्मेतिनाम्ना, देहेन्द्रियादिव्यष्ट्युपाधिरहितः परमात्मेति नाम्ना, मायातत्कार्य

आकाशके समान अचल-विभु है। उसकी व्यापकता भी सबमें सत्तामात्र से ही है, इसलिए कहा है-सत्य-यानी सत्ता-स्वरूप । तारतम्य-न्यूनाधिकता न होने से वह पूर्ण है । जन्मादिविकारों के न होनेसे वह आदि-अन्त से रहित है । सत्त्वादि गुणों के साथ संबद्ध न होने से वह निर्गुण है । सभी काल में एक ही रूपसे स्थित होने से वह नित्य है । द्वितीय न होने से अद्वय है ।

इसी प्रकार तृतीयस्कन्धमें महर्षि कपिलदेवने भी कहा है-'उससमय वह संसर्गरहित, सबमें समान रूपसे, अवभासित, त्यागकरने योग्य-दोषों से तथा ग्रहण करने योग्य-गुणों से रहित, अपने आपमें आरूढ अपने आत्मा का ब्रह्म रूपसे साक्षात्कार करता है ।' 'वह ज्ञानस्वरूप है, वह परब्रह्म है, वही परमात्मा है, वही ईश्वर है, वही पुरुष है, और वही एक भगवान् स्वयं जीव, शरीर, विषय, इन्द्रियों आदि नानारूपोंमें प्रतीत होता है।' 'वह ब्रह्म एक है ज्ञानस्वरूप और निर्गुण है, तो भी वह बाह्यवृत्तियोंवाली इन्द्रियों के द्वारा भ्रांतिवश शब्दादिधर्मोंवाले-विभिन्न-पदार्थों के रूपमें भास रहा है ।' (भा०) यह अर्थ है—वह = समदर्शी, उससमय यानी समब्रह्मके साक्षात्कार द्वारा अविद्यासे कल्पित सभी विषमदृष्टियों की निवृत्ति होने पर स्वप्रकाश अपने आत्मा को स्वयं ही देखता है, अर्थात् साक्षात् अनुभव करता है । वह कैसा है ?—समदर्शन यानी समरूप और अनुभवरूप है । वैसा क्यों ?—इसलिए है कि-वह निःसंग है, क्योंकि-संगसे ही विषमता होती है । निःसंगता में यह हेतु है—हेय और उपादेयोंसे रहित है, जो अपने से भिन्न वस्तु है, उसका त्याग या

ब्रह्माण्डोपाधिसंयुक्तो जगत्सर्जनपालनसंहारकर्ता ईश्वर इति नाम्ना, एवं देहाद्युपाधिमान् पुरिशयानः पुमान् इति नाम्ना चाभिधीयते। ननु-कथमेकस्यानेकरूपेणावभानं ? इत्यत आह-दृश्यादिभिः। यथा एक एव स्वप्नद्रष्टा-पृथग्भूतैः स्वप्नदृश्यैरनेकत्वेन प्रतीयते, तथैव, एक एव भगवानपि स्वमायाकल्पितैर्दृश्यादिभिः पृथग्भावैरनेकरूपः सन् प्रतीयते, अत एव स एको ज्ञानरूपो भगवान् एव परब्रह्मादिविविधनामभिः प्रतिपाद्यते इति भावः।

ननु-'यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः' (भा० ३।३२।२७) इत्यनेन द्वैतप्रपञ्चसंगव्युदास एव ज्ञानयोगफलमित्युक्तम्; परन्तु प्रत्यक्षादिभिः प्रतीयमानत्वादेव प्रपञ्चः कथं व्युदसितुं शक्यते इत्याशङ्क्यास्य प्रतीतेर्भ्रान्तित्वात् ज्ञानयोगेन निरसितुं

ग्रहण होसकता है, यह तो अपना स्वरूप है, इसलिए कोई भी कभी भी कहीं भी इसका त्याग या ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिए यह—पद है यानी अपने स्वरूपसे ही निश्चित है, अमरकोश में पदशब्द निश्चित—अर्थ में प्रसिद्ध है। आरूढ—यानी मैं परमानन्दस्वरूप हूँ ऐसे स्पष्ट-अनुभव में आरूढ अपने आत्माका साक्षात्कार करता है, ऐसा अन्वय है। उसी समदर्शन का प्रतिपादन करते हैं—ज्ञानमात्र ही यानी स्वयं—ज्योति चिन्मात्रतत्त्व ही पर ब्रह्म-आदिशब्दों के द्वारा प्रतिपादित होता है, अर्थात् केवल ज्ञानरूप एक वस्तु ही माया और उसका कार्य—ब्रह्माण्डरूप उपाधि से जब विमुक्त होता है, तब वह परब्रह्म ऐसे नाम से कहा जाता है। एवं वह, जब देह इन्द्रिय आदि व्यष्टि-उपाधियों से रहित होता है, तब पर आत्मा नामसे कहा जाता है। एवं जब माया तथा उसका कार्य-ब्रह्माण्डरूप उपाधिसे युक्त होता है, तब वह जगत् की सृष्टि स्थिति और संहार करने वाला परमेश्वर कहलाता है। उसी प्रकार जब देहादि-उपाधियों से युक्त होता है, तब वह हृदयरूपी पुरीमें रहने वाला पुरुष जीवात्मा कहलाता है।

शंका—एकही वस्तु नानारूपसे कैसे प्रतीत होती है ? इस शंका के समाधान रूप से कहते हैं—दृश्य-पदार्थोंसे अर्थात् जैसे एक ही स्वप्न द्रष्टा विविध कल्पित-स्वप्न-दृश्यों के कारण विभिन्नरूपसे प्रतीत होता है, वैसे एक ही भगवान् अपनी मायाद्वारा कल्पित नाना दृश्य पदार्थोंके कारण अनेक रूपोंसे प्रतीत होता है, इसलिए एकमात्र ज्ञानरूप भगवान् परब्रह्म आदि नाना नामोंसे कहा जाता है।

शंका—समस्त संसारमें सर्वथा आसक्तिका न होना यानी द्वैत-प्रपञ्चके संगका निवारण करना यही योग-साधनका एकमात्र अभीष्ट फल है, ऐसा कहा है—परन्तु प्रत्यक्ष-आदिप्रमाणोंके द्वारा प्रतीयमान होनेके कारण इस प्रपञ्चका निरास यानी बाध कैसे हो सकता है ?

समाधान—द्वैत-प्रपञ्चकी प्रतीति भ्रान्तिमय है—वास्तविकी नहीं है, इसलिए

शक्यते इत्याह—पराचीनैः = पराङ्मुखैर्बहिर्मुखैः इन्द्रियैश्चक्षुरादिभिः मायाशक्त्युत्थैर्हेतुभिः, शब्दादिधर्मो यस्य तेनार्थरूपेण = आकाशादिरूपेण । यद्वा मधुर शब्दवतीयं वीणा, रूपवतीयं नारी, रसवदिदं—क्षीरं स्वादितमित्यादिरूपेण यत् ज्ञानमेकमद्वैतं निर्गुणं ब्रह्म तदेव जीवस्य भ्रान्त्याऽवभाति । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां० उ० ३।१४।१) इति श्रुत्या वस्तुतः सर्वमिदं ज्ञानमेकमद्वैतं ब्रह्मैवास्ति, न ततः पृथगर्थोऽस्ति, पृथक् प्रतीतिस्तु भ्रान्त्यैवेति भावः ।

एवमेवाभिहितं श्रीजडभरतेनापि रहूगणं प्रति—'ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् । प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥' (भा० ५।१२।११) इति अयमर्थः—ज्ञानं = चिन्मात्रमेवैकमद्वयं सत्यं नान्यत्, तत्-विशुद्धं = गुणातीतत्वात् निर्मलं, व्यावहारिकसत्यत्वं व्यावर्तयति-परमार्थं = त्रिकालाबाधितमित्यर्थः । वृत्तिज्ञानव्यवच्छेदार्थानि विशेषणानि, इदं स्वरूपभूतं ज्ञानन्तु विशुद्धं, वृत्तिज्ञानन्तु आविद्यकतया मलिनं, इदन्तु ब्रह्मस्वरूपतयैकं, वृत्तीनामानन्त्यात्तत्प्रतिफलितमाभासरूपं ज्ञानन्तु नानाविधम् । अनन्तरं = आभ्यन्तरभेदशून्यं, अबहिः = बाह्यभेदशून्यं, वृत्तिज्ञानन्तु बाह्याभ्यन्त-

इसकी ज्ञान-योगसे निवृत्ति होसकती है । इसबात को कहतेहैं—'जो ज्ञानस्वरूप केवल अद्वैत-निर्गुण परब्रह्म है, वही जीवकी भ्रान्तिवश माया-शक्तिसे समुत्थित पराचीन = बहिर्मुख, चक्षुआदि-इन्द्रियों रूप-कारणोंसे शब्दादि-धर्मोंसे = शब्दादि जिनके धर्म हैं, उन आकाशादि-पदार्थोंके रूपोंसे-प्रतीत होता है । अथवा—मधुरस्वरवाली यह वीणा है, यह नारी सुन्दरी है, यह दूध मीठा है, स्वाद लेने योग्य है इत्यादि विविधरूपोंसे प्रतीत होता है, ऐसा समझना चाहिए । 'दृश्यमान यह जगत् सब ब्रह्म है' इस श्रुति-वचन से भी सब जगत् वास्तविक-रूपसे केवल अद्वैतज्ञानरूप ब्रह्म है, उससे पृथक् कुछ भी नहीं है, जो पृथक् प्रतीति हो रही है, वह भ्रान्तिसे ही है, ऐसा तात्पर्य है ।

इस प्रकार श्रीजडभरतने भी रहूगण राजाके प्रति यही बात कही है कि—'विशुद्ध परमार्थरूप अद्वितीय तथा भीतर—बाहरके भेदसे रहित परिपूर्ण ज्ञानरूप ब्रह्म ही सत्यवस्तु है, वह सर्वान्तर्वर्ती और निर्विकार है, उसीका नाम भगवान् है, और उसी को ही पण्डित-लोग वासुदेव कहते हैं ।' (भा०) उसका यह अर्थ है—ज्ञान-चिन्मात्र ही एक अद्वय सत्य है, तदन्य कोई भी पदार्थ सत्य नहीं । वह है विशुद्ध = सत्व, रज आदि गुणोंसे अतीत होनेसे निर्मल है । उससे व्यावहारिक—सत्यताकी व्यावृत्ति करते हैं—परमार्थ = तीनों कालोंमें अबाधित है, व्यावहारिक—सत्य सर्वथा अबाधित नहीं होता, वृत्तिज्ञानकी व्यावृत्तिके लिए ज्ञानमें आगे के विशेषण हैं । यह स्वरूपभूत ज्ञान विशुद्ध है, वृत्तिज्ञान तो अविद्याका कार्य होनेसे मलिन है । यह तो ब्रह्मस्वरूप होनेसे एक है, वृत्तियाँ अनन्त होनेसे उनमें प्रतिबिम्बित—आभासज्ञान

रधर्मकं ततोविपरीतं । ब्रह्म परिपूर्णमपरिच्छिन्नं, प्रत्यक्=प्रत्यगात्मभूतं, वृत्तिज्ञानन्तु परिच्छिन्नं विविधविषयाकारतया पराङ्भूतं । प्रशान्तं=निर्विकारं-निर्विकल्पकं स्वरूपज्ञानं, यत्, तदेव ऐश्वर्यादिषड्गुणत्वेन भगवच्छब्दः संज्ञा यस्य, तच्च ज्ञानं वासुदेवं; कवयः=अविकृतप्रज्ञाः विद्वांसो वदन्ति । एवं–'सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रं' (भा० १०।६३।२५) 'एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम् ।' (भा० १०।७०।५) 'निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ।' (भा० १०।५१।५७) इत्यादीनि वचांस्यपि परमात्मनोऽखण्डैकरसज्ञानस्वरूपसाधकान्यनुसंधेयानि । स्वसंस्थया=स्वसाक्षात्कारलक्षणया ब्रह्मात्मनिष्ठया नित्यनिरस्तं=नित्यनिवृत्तं कल्मषं-अविद्या यस्मात्तमित्यर्थः ।

इत्येवमतिधन्यस्य श्रीमद्भागवतस्य विविधप्रमाणैर्निरूपितं तत्त्वविद्भिर्गुरुभिः प्रतिपादितं, जिज्ञासुभिः श्रवणेन विनिश्चितं, मननेन च परिभावितं, ध्यानेन च तन्मयतया परिगृहीतं अद्वयज्ञानमेव पारमार्थिकं तत्त्वमस्ति, नान्यत्,

अनेक प्रकारका है । यह अनन्तर है–यानी अन्दरके भेदोंसे रहित है । अबहिः है= बाह्य-भेदोंसे रहित है । वृत्तिज्ञान तो बाह्याभ्यन्तर-धर्मवाला है, इसलिए यह उससे विलक्षण है, वह ब्रह्म परिपूर्ण और अपरिच्छिन्न है । वह प्रत्यक्=अन्तरात्मारूप है । वृत्तिज्ञान तो परिच्छिन्न है, और विविध विषयाकार होनेसे बहिर्भूत है । वह स्वरूपभूत ज्ञान प्रशान्त=निर्विकार है यानी निर्विकल्पक है, और यही ज्ञानऐश्वर्यादि--षड्गुणोंसे युक्त होनेके कारण भगवान् ऐसा नामवाला होजाता है, और उसीको ही कवि-लोग स्थिर–अविकृत बुद्धिवाले विद्वान् लोग वासुदेव कहते हैं । 'आप सबके आत्मा अद्वितीय और केवल ज्ञानस्वरूप हैं ।' (भा०) ' वह स्वयंज्योति त्रिविध—भेदोंसे रहित एक और अखण्ड है । अपनी अविकृत-महिमामें अवस्थित होनेके कारण वह सर्वथा माया या मायिक वस्तु-जन्य दोषोंसे विमुक्त है' (भा०) 'मायाके दोषोंसे रहित, निर्गुण एक अद्वितीय चैतन्यरूप परमपुरुष-आपकी मैं शरण में आता हूँ' (भा०) इत्यादि वाक्य जो परमात्मा के अखण्ड-एकरस-ज्ञानस्वरूप के साधक हैं, उनका भी यहाँ अनुसंधान कर लेना चाहिए । स्वसंस्थाका अर्थ है– स्वसाक्षात्काररूपा–ब्रह्मनिष्ठा, उसके द्वारा अविद्यारूप कल्मष, उससे सदा निवृत्त ही रहता है ।

इस प्रकार हार्दिक-धन्यवाद के योग्य श्रीमद्भागवतके इन विविध–प्रमाणों ने 'अद्वैत-ज्ञान ही पारमार्थिक तत्त्व है' ऐसा सिद्ध किया है । जिसका तत्त्ववेत्ता आचार्योंने प्रतिपादन किया है, जिज्ञासु–शिष्योंने श्रवण द्वारा जिसका निश्चय किया है–मनन द्वारा जिसकी परिभावना की है, और जिसका ध्यान द्वारा तन्मयता के साथ प्रत्यक्ष अनुभव किया है । वही पारमार्थिक–तत्त्व है, तदन्य और कोई तत्त्ववस्तु नहीं है । इससे क्षणिक-विज्ञानवादी बौद्धका मतभी खण्डित होगया । उस एक ही

अनेन क्षणिकविज्ञानपक्षो निरस्तः । तस्यैव तत्त्वस्यैकस्य-नामान्तरैरभिधानादित्याह-औपनिषदैर्ज्ञानिभिर्ब्रह्मेति, हैरण्यगर्भैर्योगिभिः परमात्मेति, सात्त्वतैर्वैष्णवैर्भगवानित्यभिधीयते ।

अथवा तदद्वयज्ञानात्मकं तत्त्वमेव तत्त्वमस्यादिमहावाक्यलक्ष्यमित्याह-ब्रह्मेति, अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमद्वयं प्रत्यगभिन्नं परमार्थवस्तु। तत्र नित्यपदेन क्षयितालक्षणं-दुःखमपक्षिपति, शुद्धपदेन देहाद्युपाधिकमपि दुःखमपाकरोति, बुद्धपदेन चापराधीनप्रकाशमानन्दात्मानं दर्शयति, आनन्द-प्रकाशयोरभेदात् । मुक्तपदेन सदैव मुक्तः सदैव केवलः, अनाद्यविद्यावशात्तु तत्र भ्रान्त्या देहाद्यभेदाध्यासेन तद्धर्मजन्मजरामरणादिदुःखबन्धोऽवभासते। ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः सहजतः प्रतीयन्ते, बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् । यो ह्यर्थो यस्माच्छब्दादुच्चरितात् शक्त्या लक्षणयाऽर्थाद्वा प्रतीयते, स सर्वोऽपि तदर्थ इति शब्दार्थविदां समयस्थितेः । 'बृहि वृद्धौ' इत्यनुशिष्टस्य बृहतेर्वृद्धिकर्मणो मनङ्प्रत्ययान्तस्य ब्रह्मेति रूपं निष्पन्नम् । तत्र प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां विशिष्टशब्दनिष्पत्तेः, प्रत्ययार्थानुगमाभावेऽपि प्रकृत्यर्थस्य योग्यस्य निरतिशयमहत्त्वस्यानुगमाद् भवति तत्र विशिष्टशब्दप्रवृत्तिः । न च

तत्त्वको अनेक-नामोंसे यानी औपनिषद् (उपनिषद् के सिद्धान्त को मानने वाले) तत्त्वज्ञानी ब्रह्म के नाम से, हिरण्यगर्भ के मतको मानने वाले योगीजन, परमात्माके नाम से, पाँचरात्रमतानुयायी-वैष्णव लोग भगवान् के नाम से पुकारते हैं ।

अथवा वह अद्वयज्ञानात्मक-तत्त्वही तत्त्वमसि-आदि महावाक्योंका लक्ष्य है, ऐसा कहते हैं—ब्रह्म = नित्य—शुद्ध—बुद्ध—मुक्तस्वभाव प्रत्यगात्मासे अभिन्न परमार्थ वस्तु ब्रह्म है। यहां नित्य पदसे क्षयस्वभाववाले दुःख का निरास करते हैं । बुद्ध-पद से स्वयं प्रकाशरूप आनन्द आत्माका प्रदर्शन करते हैं । क्योंकि—आनन्द और प्रकाश दोनों अभिन्न हैं । मुक्त पदसे सदा मुक्त है, सदा केवल है, यह बतलाते हैं । अनादि अविद्या के कारण देह इन्द्रिय आदि के अभेदाध्याससे उस आत्मामें देह आदि के धर्म जन्म—जरा—मरण आदि दुःख रूप बन्धकी-प्रतीति होती है । ब्रह्मशब्द की व्युत्पत्ति द्वारा ब्रह्ममें नित्य-शुद्धत्व-आदि अर्थों की सहजतः प्रतीति होती है । क्योंकि—बृहति धातु की नित्यशुद्धत्वादि- अर्थ में अनुगति है, जिस शब्दके उच्चारण करने पर शक्ति, लक्षणा या व्यञ्जना से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह सब उस शब्द के अर्थ हैं, ऐसा शब्दार्थवेत्ता—विद्वानोंका सिद्धान्त है । वृद्धि-कर्मक बृहति धातुसे मनङ् प्रत्यय लगाकर ब्रह्म शब्द बनता है, प्रकृति और प्रत्ययों से विशिष्ट—शब्दकी निष्पत्ति होती है । प्रत्ययार्थ का अनुगम न होने पर भी प्रकृति का योग्य अर्थ-जो निरतिशय महत्त्व है—उसका अनुगम होने से उस अर्थ में विशिष्ट शब्द की प्रवृत्ति है ।

धातोर्महत्त्वमात्रप्रतीतावपि न निरतिशयमहत्त्वलाभ इति वाच्यम्। प्रकरणोपपद्योः सङ्कोचकयोरभावे सति निरतिशयमहत्त्व एव तदर्थस्य विश्रान्तत्वात्। एवं च निरतिशयमहत्त्वस्य ब्रह्मशब्दार्थत्वे सत्यर्थात् तस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तानन्दाद्वयस्वभावत्वं सिद्ध्यत्येव। न ह्यनित्यो निरतिशयमहान् भवति, कालादि परिच्छेदात् नित्यपदस्य कालाद्यवच्छेदत्रयशून्यतापरत्वात्। नाप्यशुद्धः, अधर्माद्यशुद्धियोगे सति लोके महतोऽप्यमहत्त्वव्यपदेशात्। नाप्यबुद्धः, जडस्य परार्थत्वनियतत्वेनामहत्त्वध्रौव्याद्। नाप्यमुक्तः, अमुक्तस्य परवशत्वे चामहत्त्वात्। नाप्यनानन्दः, अनानन्दस्यापुरुषार्थत्वाद् महत्त्वानुपपत्तेः। अत एव न स द्वितीयः, वस्तुपरिच्छेदात्, भयसंभवाच्च, द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृ० उ०१।४।२) इति श्रुतेः 'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्' (भा० ११।२।३७) इति भागवत स्मरणाच्च।

ब्रह्म चात्माऽभिन्नस्वरूपं सर्वेषां, यदाहुर्भगवन्तो बादरायणाचार्य्याः— 'भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।' (भा० २।२।३५) 'एवं परो भगवान्

धातुसे केवल महत्त्वका बोध होता है निरतिशय-महत्त्वका बोध नहीं होता, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि—अर्थका संकोच करने वाले प्रकरण और समीपस्थ पद होते हैं। उनके न होनेसे निरतिशय-महत्त्वमें ही अर्थ की विश्रान्ति होती है। इस प्रकार ब्रह्मशब्दका निरतिशय-महत्त्व अर्थ होनेपर उसमें नित्य—शुद्ध—बुद्ध—मुक्त—आनन्द अद्वय स्वभावत्व अर्थात् व्यञ्जनावृत्तिसे सिद्ध हो ही जाता है। अनित्य-पदार्थ कभी भी निरतिशय-महत्त्व संपन्न नहीं होता, क्योंकि—वह कालादिसे परिच्छिन्न है। नित्यपद कालपरिच्छेद, देशपरिच्छेद, वस्तुपरिच्छेद इन तीनों परिच्छेदोंसे शून्यत्व अर्थका बोधक है। अशुद्ध पदार्थभी निरतिशय महान् नहीं होता। क्योंकि—अधर्म-आदि अशुद्ध दोष होनेसे लोकमें महान्की भी महत्ता नहीं रहती। यह अबुद्ध यानी जड़ भी नहीं है। क्योंकि—जड़वस्तु दूसरेके प्रयोजनके लिए ही होती है, इसलिए उसमें निरतिशय महत्त्व नहीं हो सकता। वह अमुक्त यानी बद्ध नहीं है, क्योंकि-स्वयं परतन्त्र होनेसे अमुक्तमें भी निरतिशय-महत्त्व नहीं हो सकता। वह अनानन्द यानी दुःखरूप भी नहीं है, क्योंकि-दुःख पुरुषार्थ यानी पुरुष-अभिप्रेत—अर्थ नहीं है, अतः उसमें भी निरतिशय महत्त्व नहीं है। अतएव वह, वस्तुपरिच्छेद होनेसे और भय का संभव होनेसे द्वितीय भी नहीं किन्तु-अद्वितीय है 'द्वितीयसे भय होता है' ऐसा श्रुति कहती है। एवं श्रीमद्-भागवत भी कहता है कि—'दूसरे के अभिनिवेशसे भय होगा।'

ब्रह्म सबका अभिन्नस्वरूप—आत्मा है, इसलिए भगवान् बादरायणाचार्य-व्यास कहते हैं कि-'समस्त चर-अचर प्राणियोंमें उनके आत्मारूपसे भगवान् श्रीहरि ही लक्षित होते हैं' (भा०) 'वह परमेश्वर भगवान् वासुदेव सर्वसाक्षी क्षेत्रज्ञ आत्मारूपसे

वासुदेवः क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः ।' (भा० ५।११।१४) 'सकलजीवनिकायाना-मन्तर्हृदयेषु बहिरपि च ब्रह्म प्रत्यगात्मस्वरूपेण ।' (भा० ६।६।४२) इति । एवमेवाभिहितं सकलशास्त्ररहस्यविद्भिर्महानुभावैरपि—'बृहत्त्वाद् बृंहणत्वा-द्वाऽऽत्मैव ब्रह्मेति गीयते ।' इति बृंहणत्वात्=स्वसत्तया शरीरादेः परिणमयि-तृत्वादित्यर्थः । स चायमाकीटपतङ्गेभ्य आ च चतुर्मुखब्रह्मभ्यः प्राणभृन्मात्र-स्येदंकारास्पदेभ्यो देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयेभ्यो विवेकेन 'अहं अहं' इत्यसंदिग्धाविपर्यस्तापरोक्षानुभवसिद्धोऽस्ति । अयमेव चिदात्मा श्रुतिस्मृतीति-हासपुराणतदविरुद्धन्यायनिर्णीतनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः, अबाधिता स्वयं-प्रकाशतैवास्य सत्ता, सा च स्वरूपमेव चिदात्मनः । 'अत्रायं पुरुषः स्वयं-ज्योतिर्भवति' (बृ० ४।३।६) इतिश्रुतेः 'त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये । यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥' (भा० १०।६३।३४) 'मामात्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयं । आत्मन्येवात्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयमृच्छति ॥' (भा० ३।२४।३६) इति च श्रीमद्भागवतस्मरणाच्च ।

यथा सत्यज्ञानानन्दं निरवयवं ब्रह्म, प्रत्यगात्माऽपि तथा । अत एव

सबमें प्रविष्ट हुआ है ।' (भा०) 'ब्रह्म सकल-जीवोंके हृदयोंमें साक्षी प्रत्यगात्मा रूपसे और बाहर भूतोंके विविधरूपोंसे विराजमान है ।' (भा०) इस प्रकार सकल-शास्त्रोंके रहस्यको जाननेवाले विद्वान् महानुभावों ने कहा भी है कि—'बड़ा होनेसे अथवा वर्धक होनेसे आत्मा ब्रह्मके नामसे कहा जाता है ।' बृंहण यानी अपनी सत्तासे शरीर आदिका परिवर्तन करनेवाला । कीट-पतंगों से लेकर चतुर्मुख-ब्रह्मा पर्यन्त समस्त प्राणियोंको—इदं-बुद्धिकी विषयता वाले-देह,-इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे भिन्नरूपसे 'मैं मैं' ऐसा संशय और विपर्यय रहित-अपरोक्ष-अनुभव द्वारा वह आत्मा सिद्ध है । यही चिदात्मा, श्रुति, स्मृति इतिहास, पुराण और उनके अविरुद्ध न्यायोंके द्वारा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव रूपसे निर्णीत है । अबाधिता यानी अविपरिलुप्तस्वभाववाली स्वयंप्रकाशता ही इसकी सत्ता है । वह चिदात्माका स्वरूप ही है । क्योंकि-श्रुति भी कहती है कि--'यह पुरुष-आत्मा स्वयंज्योति है' (श्रु०) और श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि—'हे भगवन् ! आप वेदमन्त्रोंमें तात्पर्यरूपसे छिपे हुए स्वयंज्योतिरूप परब्रह्म हैं । शुद्ध-अन्तःकरणवाले महात्मागण आकाशके समान व्यापक और केवल अद्वय रूपसे आपका साक्षात्कार करते हैं ।' (भा०) 'मैं सर्वप्राणियोंके अन्तःकरणमें रहने वाला—स्वयंप्रकाश आत्मा हूँ, जो विशुद्ध—एकाग्र-बुद्धिसे, अपने अन्तःकरणमें मेरा साक्षात्कार करता है, वह सब शोकों से छूटकर निर्भय स्वरूप-मोक्षको प्राप्तकर लेता है ।' (भा०)

जैसे ब्रह्म सत्य, ज्ञान, आनन्द एवं निरवयव है, अन्तरात्मा भी वैसा ही है । इसलिए उन दोनोंके अभेदका अनुमान भी किया जाता है । अनुमान यह है—'विवाद

तयोरभेदोऽनुमीयतेऽपि । तथाहि–विवादगोचरापन्नो जीवात्मा ब्रह्मैव भवितुमर्हति, तत्समानस्वभावत्वात्, यद् येन समानस्वभावं तत्तदात्मकं दृष्टं, यथा महाकाशाद् घटाकाशः । ननु–ब्रह्मैक्ये सति मन्तृमन्तव्यादिव्यवहारः कथं स्यादिति चेत्, मायाकल्पितोपाधिकृतविभागादिति गृहाण । जीवः उपाधिपरिच्छिन्नविभागः उपाधिपरामर्शाधीनपरिच्छेदप्रतिभासत्वात् यदुपाधिपरामर्शाधीनपरिच्छिन्नत्वप्रतिभासं तदुपाधिपरिच्छिन्नभेदं, यथा घटाकाशम् । अत एव श्रीमद्भागवते प्रथमेऽपि घटाकाशमहाकाशदृष्टान्तेन जीवात्मब्रह्मणोरैक्यमेव स्पष्टतो विनिर्णीतम्—'विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम् । ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे ॥' (भा० १।१३।५४) इति । अयमर्थः– स धृतराष्ट्रः, हरिभावनया ध्वस्तरजःसत्त्वतमोमलः सन् मनोऽहंकारास्पदमात्मानं स्थूलदेहाद्वियोज्य विज्ञानात्मनि=बुद्धौ संयोज्य=एकीकृत्य, तं च विज्ञानात्मानं दृश्यांशाद्वियोज्य क्षेत्रज्ञे–द्रष्टरि प्रविलाप्य, तं च क्षेत्रज्ञं द्रष्ट्रंशाद्वियोज्याधारे=अधिष्ठानसंज्ञे ब्रह्मण्यविभक्तस्वरूपे प्रविलाप्य यथा घटाम्बरं

का विषय यह जीवात्मा, ब्रह्मही होने की योग्यतासे सम्पन्न है । क्योंकि—उन दोनोंमें समानस्वभाव है' 'जो जिसके साथ समानस्वभाव वाला होता है, वह उसका स्वरूपभूत ही देखा गया है, जैसे महाकाश से घटाकाश ।

शंका—जीव और ब्रह्मकी एकता माननेपर मन्ता-मन्तव्य,-द्रष्टा-दृष्टव्य, आदि भेद-घटित व्यवहार कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—माया द्वारा कल्पित उपाधियां से भेद-प्रयुक्त व्यवहार हो जायगा, ऐसा समझ लेना चाहिए । अनुमान—जीव, उपाधि–परिच्छिन्न-विभाग (पार्थक्य) वाला है, क्योंकि–वह उपाधियोंके परामर्श के आधीन ही परिच्छेद की प्रतीति वाला होनेसे, जो उपाधि-परामर्शाधीन-परिच्छिन्न-प्रतीति वाला होता है, वह उपाधि-परिच्छिन्न भेद वाला भी होता है, जैसे घटाकाश ।' इसलिए श्रीमद्भागवतके प्रथम-स्कन्धमें भी घटाकाश—महाकाशके दृष्टान्तसे जीव और ब्रह्मका ऐक्य, स्पष्टरूपसे निर्णीत किया है । जैसे—'उसने अहंकारको बुद्धिके साथ जोड़कर उसे क्षेत्रज्ञ-आत्मामें विलीन किया, और उसे भी महाकाशमें घटाकाशकी भांति सर्वाधिष्ठान-ब्रह्ममें एक अभिन्न कर दिया।' (भा०) इसका यह अर्थ है—उस धृतराष्ट्रने भगवद्-भावनाके बलसे सत्त्व,-रज-एवं तम रूप दोषोंका विध्वंसकर अहंकारास्पद-मनको स्थूल-देहसे पृथक्कर विज्ञानात्मा यानी बुद्धिमें एक कर दिया । पश्चात् विज्ञानात्मा को दृश्य-अंशसे पृथक्कर क्षेत्रज्ञ यानी द्रष्टामें विलीन किया । और क्षेत्रज्ञको द्रष्टृ-अंशसे पृथक्कर आधार यानी अधिष्ठान नाम वाले ब्रह्ममें-जिसका अविभक्त स्वरूप है,—विलीन कर दिया, जैसे घटाकाशको घट-उपाधिसे पृथक्कर अविभक्तरूप--महाकाश में मिलाया जाता है । तद्वत्-वह

घटोपाधेर्वियोज्य महाकाशेऽविभक्तस्वरूपे प्रविलाप्यते, तद्वत् ध्वस्तमायागुणो-दर्को निरुद्धकरणाशयः सन् स्थाणुरिवाचल आस्ते ।

इत्थमत्र ब्रह्मेतिपदेन तत्त्वमसिमहावाक्यार्थस्थोऽसिपदार्थोऽभेदात्मकः समर्थितः । एवं परमात्मेति पदेन त्वंपदार्थो विज्ञाप्यते । अत्रात्मनः परमत्वं देहादिविलक्षणतया प्रत्येतव्यम् । देहादेर्दृश्यत्वमिदंकारास्पदत्वं व्यावृत्तत्वञ्च, एवमात्मनो द्रष्टृत्वमहंकारास्पदत्वमनुवृत्तत्वञ्च, शास्त्रगुरुसहकारनिष्पन्नेन विचारेणावगम्यते । अत एव जडस्वभावेभ्यो दृश्येभ्यो देहेन्द्रियबुद्ध्यादिभ्यः चित्स्वभावो द्रष्टा आत्मा भिन्न एव सिद्ध्यति । तथैव चाहुर्भगवन्तः—कपिल-महर्षयः स्वमातरं प्रति-'यथा पुत्राच्च वित्ताच्च पृथङ्मर्त्यः प्रतीयते । अप्यात्मत्वेना-भिमताद्देहादेः पुरुषस्तथा ॥ यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात् । अप्या-त्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात् ॥ भूतेन्द्रियान्तःकरणाद् प्रधानाज्जीव-संज्ञितात् । आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः ॥' (भा० ३।२८।३९।-४०।४१) इति । अस्य चायमर्थः—यथा अतिस्नेहवशादात्मत्वेनाभिमताद् पुत्राच्च वित्ताच्च पित्रादिरूपो मर्त्यः=मानवः पृथगवस्थितो दृश्यते । तथा

महाभाग-धृतराष्ट्र-ब्रह्मविद्या द्वारा-माया और मायाकार्यों का निरास कर इन्द्रिय-मन बुद्धि आदिको निरूद्धकर स्थाणुके समान अचल बैठ गया, ऐसा तात्पर्य है ।

इस प्रकार यहाँ ब्रह्मपदसे—तत्त्वमसि-महावाक्यार्थ में स्थित अभेदका—जो असिपदका अर्थ है,—समर्थन किया । और परमात्मपदसे त्वंपदार्थ का बोधन किया है । यहाँ आत्मामें देहादिसे विलक्षणता होनेके कारण परमत्व विशेषण दिया है, ऐसा समझना चाहिए । देहादि दृश्य हैं, इदं बुद्धिके विषय एवं व्यावृत्त हैं, आत्माद्रष्टा, अहं-बुद्धि का विषय तथा अनुवृत है, ऐसा शास्त्र और गुरुके सहकार से उत्पन्न विचार द्वारा जाना जाता है ।

इसीलिए जड़स्वभाव वाले-दृश्योंसे यानी देह—इन्द्रिय-बुद्धि आदिसे चित्स्वभाववाला द्रष्टा आत्मा भिन्न है, ऐसा सिद्ध होता है । इसी बातको भगवान् कपिलदेवने अपनी माता के प्रति कहा है कि—'जिस प्रकार अत्यन्त स्नेहके कारण पुत्र और धनादिमें भी साधारण-मनुष्योंकी आत्म बुद्धि रहती है, परन्तु थोड़ासा विचार करनेपर स्पष्टतया वे उनसे पृथक् दिखाई देते हैं । उस प्रकार जिन्हें यह अपना आत्मा मान बैठा है, उन देह-आदिसे भी उनका द्रष्टा आत्मा पृथक् ही है, जिस प्रकार जलती हुई लकड़ी से, चिनगारीसे तथा स्वयं अग्निसे प्रकट हुए धुएँसे वास्तवमें अग्नि पृथक् ही है, उसी प्रकार भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणसे एवं जीव संज्ञावाले विशिष्ट आत्मा-से एवं त्रिगुणात्मक-प्रधानसे उनका द्रष्टा भगवान् आत्मा पृथक् ही है, जो ब्रह्मके नामसे प्रसिद्ध है ।' (भा०) इसका यह अर्थ है—जिसप्रकार अतिस्नेहके कारण जिनको परम

आत्मत्वेनाभिमताद्देहादेरपि दृश्यात् पुरुषः=चिदात्मा तद् द्रष्टा पृथगेव विचारेण प्रतीयते। यथा वा उल्मुकाद्=अलातात्, विस्फुलिंगात्, धूमाद्वा, स्वसंभवाद्=अग्नेः संभूतात्, आत्मत्वेन=अग्नेः स्वरूपत्वेनाभिमतादपि, अत्यन्ताविवेकिनो हि धूमेऽप्यग्न्यभिमानोऽस्ति, तद्दाहकः प्रकाशकश्चाग्निः पृथगेवास्ति। तथा धूमस्थानीयाद् भूतेन्द्रियान्तःकरणात्, उल्मुकस्थानीयात्—प्रधानात्=अज्ञानाख्याद्त्रिगुणात्मकात चित्संवलितात्; एवं जीवसंज्ञितात्=जीवाख्यात्—प्राणादिधारकात्--लिङ्गदेहविशिष्टात्—कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मसंयुक्तात् विस्फुलिङ्गस्थानीयात्, आत्मा=द्रष्टा–परमात्माऽग्निस्थानीयः पृथगेवास्ति, दृश्यवर्गेण सह स्थितोऽप्यसंग एव वेदितव्यः, स एव–ब्रह्मसंज्ञितोऽचिन्त्यैश्वर्यो भगवान् एव। 'विशिष्टाच्छुद्धोऽतिरिच्यते' इतिन्यायेन यथा विशिष्टो जीवः उपाधिरहिततया शुद्ध आत्मा भवति, तथैव सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् भगवानपि निर्विशेषचिन्मात्रतया स्वमहिम्न्यवस्थितो ब्रह्मसंज्ञां प्राप्तो भवति।

सत्येवं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादीनि सर्वाणि शास्त्राणि, संसारित्वेनाभिमतस्यात्मनः पारमार्थिकं स्वरूपं–शाश्वतसुखैकतान–सदात्मक–कूटस्थ–

प्रियरूप आत्मा मान लिया है-ऐसे पुत्र तथा धनादियोंसे, पिता आदि मनुष्य अलग ही दिखाई देते हैं, उसी प्रकार जिनको आत्मा मान लिया है, ऐसे उन देहादियोंसे पुरुष यानी चिदात्मा (उनका द्रष्टा) विचारसे पृथक् ही जाना जाता है। अथवा—उल्मुक=अलात, यानी जलती हुई लकड़ी से, चिनगारी से तथा स्वयं अग्निसे उत्पन्न-धूमसे जिसको अग्निरूप मान लिया है, प्रकाशक और दाहक अग्नि पृथक् ही है। अत्यन्त अविवेकी मनुष्यों की धूममें भी अग्निकी भ्रान्त–बुद्धि होजाती है। उसी प्रकार धूमस्थानीय भूत-इन्द्रिय और अन्तःकरण से, तथा उल्मुक स्थानीय प्रधानसे यानी चैतन्यसे संमिलित त्रिगुणात्मक-मायासे, जिसे अज्ञान भी कहते हैं और प्राणादियों का धारक लिंग देह-विशिष्ट कर्तृत्व-भोक्तृत्व-आदि धर्मोंसे युक्त जीवात्मासे जो विस्फुलिंग-स्थानीय है, अग्निस्थानीय आत्मा=द्रष्टा यानी परमात्मा पृथक् ही है। दृश्यवर्गों के साथ रहता हुआ भी वह असंग ही है, ऐसा जान लेना चाहिए। वही ब्रह्म-संज्ञावाला अचिन्त्य ऐश्वर्य संयुक्त भगवान् ही है। 'विशिष्टसे शुद्ध अतिरिक्त होता है' इस न्यायसे जैसे विशिष्ट-जीव उपाधि रहित होनेसे शुद्ध आत्मा बन जाता है, वैसे ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् भी निर्विशेष-चैतन्यरूपसे अपने आपमें स्थित होकर ब्रह्मसंज्ञाको प्राप्त हो जाता है। अर्थात्—उपाधिसे मुक्त होनेपर जीव एवं ईश्वर विशुद्ध–ब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं।

ऐसा निर्णय हो जानेपर—श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण—आदि संपूर्ण शास्त्र, संसारी रूपसे अभिमत-विशिष्ट आत्माका वास्तविक स्वरूप देहादि- उपाधियों

चैतन्यैकरसपूर्णमद्वयं देहाद्युपाधिनिरासेन तात्पर्यवृत्त्या प्रतिपादयन्ति । तच्च 'अहं कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी पीनो गौरः' इति प्रत्यक्षाभिमतेनाबाधितकल्पेनावभासेन विरुद्ध्यते । अतस्तद्विरोधपरिहारार्थं ब्रह्मस्वरूपविपरीतरूपमविद्यानिर्मितमात्मन इति यावन्न प्रतिपाद्यते, तावद् जरद्गवादिवाक्यवदनर्थकं प्रतिभाति, अतस्तन्निवृत्त्यर्थमविद्याविलसितमब्रह्मस्वरूपत्वमात्मन इति प्रतिपादयितव्यम् । अत एव श्रुतिस्मृत्यादिवत् श्रीमद्भागवतमहापुराणमपि–आत्मनः प्रतीयमानं संसारित्वमविद्याऽध्यारोपितं देहाद्युपाधिनिबन्धनमेवातो ब्रह्मात्मविद्यया तद्बाधनीयमेवास्तीति प्रतिपादयति । तथाहि–'देह आद्यन्तवानेप द्रव्यप्राणगुणात्मकः । आत्मन्यविद्यया क्लृप्तः, संसारयति देहिनम् ॥' (भा० १०।५४।४५) 'जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नात्मनः क्वचित् ।' (भा० १०।५४-४७) 'एतद्द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धनः । अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पुंसः स्वप्न इवेष्यते ॥' (भा० ७।७।२७) 'शोकमोहौ सुखं दुःखं देहोत्पत्तिश्च

का निरास करनेपर शाश्वत, सुखैकतान, सद्रूप, कूटस्थ, चैतन्य, एक-रस पूर्ण और अद्वय है' ऐसा तात्पर्यवृत्तिसे प्रतिपादन करते हैं, पर वह प्रतिपादन 'मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, मोटा और गोरा हूँ' इस प्रकारके व्यवहारकालमें अबाधित-प्रत्यक्ष-प्रतीतिसे विरुद्ध है, इसलिए इस प्रतीतिके विरोधके परिहारके लिये ब्रह्मके स्वरूपसे विपरीत-अन्यथा रूपसे प्रतीयमान आत्माका स्वरूप अविद्यानिर्मित है, ऐसा जबतक नहीं बतलाया जाय, तबतक जरद्गवादिवाक्यके समान यह सब प्रतिपादन व्यर्थ हो जाता है । इस लिए उस प्रतीति—विरोधके परिहारके लिए ब्रह्मस्वरूपसे अतिरिक्त कोई कल्पित–मायिकरूप, उपाधि विशिष्ट आत्माका है, ऐसा बतलाना ही चाहिए । इसलिए श्रुति और स्मृतियों के समान श्रीमद्भागवत-महापुराण भी 'आत्मामें प्रतीयमान संसारित्व, अविद्या द्वारा अध्यारोपित है, और देहादि-उपाधिसे प्रयोजित है, अतः उस काल्पनिक मिथ्या स्वरूपका ब्रह्मात्मैक्य-बोधद्वारा बाध करना ही चाहिए, ऐसा प्रतिपादन करता है । इस निर्णयका अनेक श्लोकों के द्वारा प्रदर्शन किया जाता है—'यह शरीर, आदि और अन्तवाला है, पंचभूत, पञ्चप्राण, पञ्चतन्मात्रा और त्रिगुण ही इसका स्वरूप है, आत्मामें उसके अज्ञानसे ही इसकी कल्पना हुई है, और यह कल्पितशरीर ही जो उसे 'मैं' समझता है, उसको जन्म-मरण के चक्करमें ले जाता है ।' (भा०) 'जन्म लेना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना, और मरना ये समस्त-विकार, शरीरके ही होते हैं; आत्माके नहीं । 'गुणों और कर्मों के कारण होने वाला कर्तृत्व भोक्तृत्वादिरूप एवं जन्म मृत्युका चक्ररूप यह संसार, आत्माको शरीर और प्रकृति से पृथक् न करने के कारण ही है, यह अज्ञान-मूलक एवं मिथ्या है, फिर भी जीवको स्वप्नके समान इसकी मिथ्या प्रतीति हो रही है ।' (भा०) शोक, मोह, सुख, दुःख और देहकी उत्पत्ति और

मायया। स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ॥' (भा० ११।११।२) 'एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते !। बन्धोऽस्याविद्ययाऽनादिर्विद्यया च तथेतरः ॥' (भा० ११।११।४) 'शोकहर्ष—भयक्रोध—लोभमोहस्पृहादयः। अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः ॥' (भा० ११।२८।१५ । एषां चायमर्थः— हः=स्थूलसूक्ष्मादिरूपः, द्रव्यं=पंच भूतात्मकं, प्राणाः= इन्द्रियाणि, वायुविकारा वा, गुणाः=सत्त्वादयः, तदात्मकः। आत्मनि=अधिष्ठाने रज्जुसर्पवद् अविद्यया क्लृप्तः=कल्पितः, स्वाध्यासेन आत्मानं शुद्धमपि संसारयति=कर्तृत्वादिरूपसंसारवन्तं करोतीत्यर्थः। जन्मादीनां देहधर्मत्वं, नात्मधर्मत्वं, अतो देहस्यैव विक्रियाऽस्ति, नात्मनः क्वचिदपि, आत्मा त्वविकारः शुद्धो निर्लेप एव। एतद्द्वारो=बुद्धिद्वारकः-तदवस्थाद्वारको वा, कर्तृत्वादिरूपः संसारो न स्वतः आत्मनः। आत्मा स्वतस्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽसंगोऽद्वयः पूर्णानन्दैकतानो निर्विकारः। हि=यस्माद् बुद्धे र्ये गुणाः कर्माणि च तैर्निबध्यत इति गुणकर्मनिबन्धनः, तथा स चाज्ञानमूलः=अज्ञानेनाध्यारोपितः,

विनाश, यह सब संसार अविद्या के कारण प्रतीत होनेपर भी वास्तविक नहीं है, अर्थात् मिथ्या है, जैसे स्वप्नके पदार्थ स्वप्नद्रष्टामें वस्तुतः विना हुए ही भासते हैं, वैसे। (भा०) 'हे विचारशील ! जीवात्मा एक ही है, यह आविद्यक-व्यवहार के लिए ही मेरे अंशके रूपोंमें कल्पित है, वस्तुतः यह मेरा स्वरूप ही है, अपने आत्माके अज्ञानके कारण यह बद्ध होता है, और आत्माका ज्ञान होनेपर यह मुक्त हो जाता; है, और यह अज्ञान अनादि होनेसे बन्धन भी अनादि कहलाता है।' (भा०) 'हे उद्धव जी ! शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, इच्छा और जन्म-मृत्यु, ये सब अहंकार--(अन्तःकरण) के धर्म हैं, आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं।' (भा०) इन श्लोकोंका यह अर्थ है— देह = स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप है, वह द्रव्य = पञ्चभूतरूप, प्राण = इन्द्रियादिरूप अथवा प्राणादिवायुरूप, गुण = सत्त्व, रज, तमःरूप है; अधिष्ठान-आत्मामें, वह रज्जु सर्प के समान अविद्यासे कल्पित है, वह स्वयं आत्मामें अध्यस्त होकर शुद्ध-आत्माको कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिरूप—संसार वाला बनाता है,। जन्म, स्थिति आदि देह के धर्म हैं, आत्मा के नहीं हैं, इसलिए देहमें ही जन्मादि-विकार हैं, आत्मा में नहीं हैं, आत्मा तो विकाररहित, शुद्ध निर्लेप ही है। इसीके द्वारा यानी बुद्धि के द्वारा या बुद्धि की अवस्थाओंके द्वारा उसमें कर्तृत्वादिरूप संसार प्रतीत होता है, स्वतः आत्मामें संसार नहीं है। आत्मा तो स्वयं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है; और असंग अद्वय, पूर्ण आनन्दघन, तथा निर्विकार है। बुद्धि के गुण और कर्मोंसे जो बद्ध हो जाता है—वह है—गुणकर्मनिबन्धन, और वह अज्ञान-मूलक है, यानी अज्ञानसे अध्यारोपित है। इसलिए अपार्थ यानी मिथ्याभूत है, अतः वह स्वप्नके समान है। जैसे निद्राकाल

अतोऽपार्थो–मिथ्याभूतः स्वप्न इवेष्यते। यथा निद्राकाले स्वप्नः सत्य इव प्रतीयते, तथाऽज्ञानकाले संसारोऽपि सत्य इवात्मनि प्रतिभाति। यथा जागरणे सति स्वप्नदृश्यरहितो द्रष्टा पुमान् एक एवावतिष्ठते। तथाऽऽत्मज्ञाने सति अज्ञानकल्पितसंसाररहितः सन् आत्मा शुद्धः केवलोऽवतिष्ठत इति भावः। आत्मनः शोकमोहादिरूपा संसृतिर्मायया कल्पितैवास्ति, न तु वास्तवी= पारमार्थिकी। यथा आत्मनः=बुद्धेरेव ख्यातिः=विवर्तरूपा प्रतीतिरेव स्वप्नः, अवास्तवोऽपि आत्मनिष्ठः सत्य इव प्रतीयते तद्वत्। अनेकशरीराध्यासप्रयुक्त नानात्वभ्रमस्य मृषात्वात्, एकस्यैव मम भगवतोंऽशभूतस्य जीवस्यैवास्या- नाद्यविद्ययाऽनादिर्बन्धः=संसारारोपात्मकः प्रतीयते, तथा विद्यया= ब्रह्मात्मज्ञानेन, इतरः=बन्धमोक्षः सिद्ध्यति। अयं भावः—यथैकस्यापि चन्द्रादेर्जलाद्युपाधिना बिम्बप्रतिबिम्बरूपोऽशांशिभेदः कल्प्यते, तथैकस्यापि निरंशस्य परमात्मनः पिण्डब्रह्माण्डाद्युपाधिना जीवेश्वररूपोऽशांशिभेदः कल्प्यते। यथा च तत्र जलकृताः कंपादयः प्रतिबिम्बस्यैव प्रतीयन्ते, न तु बिम्बस्य। यथा च प्रतिबिम्बानामप्युपाधिभेदेन भेदादेकस्मिन्नुदकुम्भे भग्ने सति तद्गतप्रतिबिम्बस्यैव बिम्बैक्यं भवति, नान्यगतस्य। तथा प्रतिबिम्बस्था-

---

में स्वप्न सत्य के समान प्रतीत होता है। तथा जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्था आ जानेपर स्वप्नके पदार्थ बाधित हो जाते हैं, और आत्मा द्रष्टा-स्वप्नदृश्यकी प्रतीति से रहित हुआ अकेला रह जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान होजाने पर अज्ञान-कल्पित संसार बाधित हो जाता है, और शुद्ध आत्मा केवल एक ही परिशिष्ट रह जाता है, ऐसा तात्पर्य है। आत्मामें शोक-मोहादिरूप संसार मायासे कल्पित है, पारमार्थिक नही है, जैसे आत्मा की यानी बुद्धिकी, ख्याति = विवर्तरूपा प्रतीति-ही स्वप्न है, वह मिथ्या होनेपर भी आत्मामें सत्यकी भांति प्रतीत होता है, वैसे एक—आत्मामें नानात्व अनेक-शरीरों के अध्यास से प्रयुक्त होनेपर मिथ्या है। मुझ भगवान्के अंशरूप इस एक-ही जीवमें अनादि-अविद्या के कारण अनादि—संसारका आरोपरूप बंध प्रतीत होता है। और विद्यासे = ब्रह्मज्ञानसे, इतर यानी बन्धमोक्ष सिद्ध हो जाता है। यहाँ यह भाव है— जिस प्रकार एकही चन्द्रमा—आदिमें जल-आदि उपाधिके कारण बिंबप्रतिबिंबरूप अंश—अंशिभाव की कल्पना होती है, उसी प्रकार एक ही निरंश-परमात्मामें पिण्ड- ब्रह्माण्ड—आदि उपाधिके कारण जीवेश्वररूप अंशांशि—भेदकी कल्पना की जाती है। जिस प्रकार वहाँ जलकृत-कंप हिलना इत्यादि प्रतिबिम्ब में ही प्रतीत होते हैं, न कि-बिंब में। जिस प्रकार प्रतिबिंब उपाधियोंके भेद से अनेक प्रतीत हैं, एक जल-कुंभके भग्न हो जाने पर उसके प्रतिबिंबका बिंबके साथ ऐक्य हो जाता है, दूसरे जल-कुम्भगत प्रतिबिंबों का बिंबैक्य नहीं होता है। इसी प्रकार प्रतिबिंब-स्थानीय-जीवमें ही देह-आदि

नीयस्य जीवस्यैव देहाद्युपाधिकृता जन्मादयो विकाराः प्रतीयन्ते, न तु बिम्बस्थानीयस्य परमेश्वरस्य। एवमविद्यायां प्रतिबिम्बस्य भगवदंशस्य जीवस्यैव तत्कृतो बन्धः। तस्य चोपाधितो भेदान्न बन्धमोक्षसुखदुःखादि व्यवस्थाप्रतिहतिः। तथा चाहुर्भगवन्तो गौडपादाचार्याः—'यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिर्युते। न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तथा जीवाः सुखादिभिः॥' (मा० उ० कारिका) इति। अहंकारो देहादिसमुदायाभिमान एव शोकादि संसारालम्बनमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां दर्शयति—शोकादीति। अहंकारसत्त्वे शोकादिसत्त्वमन्वयः, सुषुप्त्यादावहंकाराभावे शोकादीनामभावो व्यतिरेकः। अहं सुखीति प्रतीतेरहंकारेणैव सुखादिसम्बन्धः। चैतन्यं सुखीति प्रतीतेरभावान्नात्मनः शुद्धस्य। सुखादीनां दृश्यत्वाच्च कृशत्वादिवद् द्रष्टृधर्मत्वानुपपत्तेरिति भावः। उक्तञ्च—'सुप्तेऽहमि न दृश्यन्ते दुःखदोषप्रवृत्तयः। अतस्तस्यैव संसारो न मे संसृतिसाक्षिणः॥' इति।

इत्थं परमात्मपदेन त्वंपदलक्ष्यस्यात्मनः शुद्धमखण्डैकरसस्वरूपं प्रदर्शितम्। अधुना भगवानितिपदेन तत्पदार्थोऽभिवर्ण्यते। तत्पदार्थस्य

उपाधिकृत जन्मादि नाना विकार प्रतीत होते हैं, बिंबस्थानीय-परमेश्वरमें नहीं होते हैं। एवं अविद्यामें प्रतिबिंबित और भगवान् का अंशरूप जीव में ही अविद्याकृत बन्ध है, उस जीव में उपाधियोंके भेदसे आरोपित भिन्नता होनेके कारण बन्ध—मोक्ष और सुख दुःख आदिकी व्यवस्थामें कोई विघात नहीं होता। तथा च भगवान् गौडपादाचार्य भी कहते हैं कि—'एक घड़े की धूल और धुआँ आदि का सम्बन्ध केवल उस घटाकाशके साथ रहता है, दूसरे घटाकाशों के साथ नहीं, उसी प्रकार एक उपाधिके सुख दुःख आदि का सम्बन्ध उस उपहित जीव के साथ रहता है, दूसरे जीवों के साथ नहीं।' अहंकार यानी देहादि—समुदाय में आत्मत्व का अभिमान ही शोकादि-संसारका कारण है, ऐसा अन्वय और व्यतिरेकसे दिखाते हैं—शोकादीति। जाग्रत् में अहंकार के होनेपर ही शोकादिके अस्तित्व का भान होता है, यह अन्वय है, और सुषुप्ति—समाधि—मूर्छा आदि दशामें अहंकार के न होनेपर शोकादिका अभाव हो जाता है; यह व्यतिरेक है।' मैं सुखी हूँ' इस प्रतीतिसे अहंकारके साथ ही सुखादिका सम्बन्ध निश्चित होता है। चैतन्य सुखी है, ऐसी प्रतीति न होनेसे शुद्ध आत्मा के साथ सुखादिका सम्बन्ध नहीं है। सुखादि दृश्य हैं, अतः वे दृश्य-शरीरके कृशत्व-आदि धर्म के समान द्रष्टा के धर्म नहीं बन सकते, ऐसा भाव है। अतएव शास्त्रोंमें कहा भी है कि—'सुषुप्ति अवस्थामें जबकि—अहंकार सुप्त हो जाता है, दुःख दोष एवं प्रवृत्ति, देखनेमें नहीं आती हैं, इसलिए अहंकार यानी विशिष्ट-जीवनिष्ठ ही संसार है, उस संसारका साक्षीरूप मुक्त शुद्ध-चिदात्मामें संसार वस्तुतः नहीं है।'

भगवतो वाच्यार्थभूतं विशिष्टं स्वरूपं, तथा लक्ष्यार्थभूतं शुद्धं स्वरूपमत्र श्रीमद्भागवते यत्र तत्र बहुशो वर्णितमुपलभ्यते । तथा च ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति पदत्रयेणापि 'असि त्वं तदि' ति महावाक्यवद् तल्लक्ष्यार्थभूतमद्वयज्ञानमेव पारमार्थिकं तत्त्वं प्रदर्शितम् । सत्येवं श्रीमद्भागवते प्रथमे 'वदन्ति-तत्तत्त्वविदः' इत्यनेन यदद्वयज्ञानमधिकृत्य योऽयमुपक्रमः प्रदर्शितः, तस्यैवोपसंहारो द्वादशेऽन्तिमे 'सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् । वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम् ॥' (भा० १२।१३।१२) इत्यनेन प्रदर्शिष्यते। तथा च यदुपक्रमोपसंहारयोरैक्यात्मकं तात्पर्यबोधकं लिङ्गमस्ति, तदपि—केवलेऽद्वयज्ञान एव पर्यवसितं सदवलोक्यते इति शम् ।

इस प्रकार परमात्मा-पदसे त्वं-पद-लक्ष्य आत्माका शुद्ध अखण्ड एकरस-स्वरूप दिखलाया । अब 'भगवान्' इस पदसे तत्पदार्थ का वर्णन किया जाता है । तत्पदार्थरूप भगवान् के वाच्यार्थरूप विशिष्ट—स्वरूपका, तथा लक्ष्यार्थरूप शुद्ध स्वरूप का, इस श्रीमद्भागवतमें जहाँ तहाँ बहुत ही वर्णन मिलता है । ऐसा विवेचन करनेके बाद यहाँ यह सिद्ध होता है कि—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन तीन पदोंसे महावाक्यों के समान 'असि त्वं तत्' अर्थात् 'तू है वह' इस लक्ष्यार्थरूप अद्वय ज्ञान को ही पारमार्थिकतत्त्व रूपसे प्रदर्शित किया । ऐसा सिद्ध हो जानेपर श्रीमद्भागवतके इस प्रथम—स्कन्धमें 'वदन्ति तत्तत्त्वविदः' इस श्लोकसे अद्वय—ज्ञान को लेकर जो उपक्रम दिखलाया है, उसीका उपसंहार द्वादशस्कन्धके अन्तमें 'सर्ववेदान्तसारं यत्' इस श्लोकसे दिखलाया जायगा । अर्थात् यह श्रीमद्भागवत समस्त वेदान्तों (उपनिषदों) का सार रूप है, अतएव इसमें उपनिषदों के समान ब्रह्म और आत्मा की एकता ही परिलक्षित होती है, इसमें द्वैत प्रपञ्च रहित—अद्वितीय (सजातीयादि-त्रिविध भेदरहित) पारमार्थिक-ब्रह्मवस्तु ही प्रतिपादित है, अतएव इसकी ज्ञान-निष्ठाके द्वारा एकमात्र कैवल्य—ब्रह्मनिर्वाणरूप अभीप्सित—प्रयोजन ही सिद्ध होता है ।(भा०)इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार का ऐक्य रूप जो तात्पर्य-बोधक आदिमलिंग है, उसका भी अद्वय-ज्ञान में ही पर्यवसान है, ऐसा स्पष्ट मालूम हो जाता है । इति शुभम् ।

(३)

(ब्रह्मात्मस्वपदानामन्यथाऽनुपपत्त्यैकार्थाभिधायकत्वरूपपर्यायत्वप्रदर्शनपुरःसरं, अविद्याकल्पितस्य द्वैतप्रपञ्चस्य विद्यया प्रतिषेधे सत्येव ब्रह्मदर्शनस्य वर्णनम्)

वस्तुतोऽविद्यमानस्यैवार्थस्याध्यारोपोऽवास्तविक एव भवति, तस्य कारणमविद्यैव, तां विनाऽध्यारोपः कुत्रापि कदापि न संभवति । अध्यारोपोऽपि कस्मिञ्चिदधिष्ठान एव भवति । न हि निरधिष्ठानोऽध्यारोपः कथमपि संभवति । स चातस्मिन् तद्बुद्धिरूपो भ्रमात्मक एव प्रत्येतव्यः । तस्याधिष्ठानस्याविद्यैव तत्राध्यारोपस्य कारणं संपद्यमानं रज्जुसर्पादौ स्थले दृष्टम् । प्रकृतेऽध्यारोपितोऽस्ति नामरूपक्रियात्मकः स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयलक्षणो मूर्तामूर्तरूपो द्वयप्रपञ्चः । तस्याध्यारोपस्याधिष्ठानमस्ति आत्मा । स एव स्वपदार्थः । न ह्यात्मा स्वस्माद्भिन्नः सन्नवतिष्ठते । भिन्नत्वे च तस्यात्मत्वमेव व्याहन्येत । अत एव आत्मन्यधिष्ठान एव तदविद्यया वस्तुतोऽविद्यमानस्य द्वयप्रपञ्चस्याध्यारोपो भवति ।

(३)

(ब्रह्मपद, आत्मपद, एवं स्वपद ये तीनों पद अनन्यार्थक-यानी एकार्थ बोधक पर्यायवाचक हैं, ऐसा अन्यथानुपपत्तिरूप—अर्थापत्ति-प्रमाण द्वारा दिखलाकर ब्रह्मविद्याके द्वारा अविद्याकल्पित-द्वैतप्रपञ्च का बाध हो जाने पर ही ब्रह्म-दर्शन होता है, ऐसा वर्णन यहाँ किया जाता है)

जो पदार्थ वास्तव में नहीं है, उसका ही अध्यारोप होता है, और वह भी वास्तविक नहीं होता, उसका कारण अविद्या ही है । उसके विना अध्यारोप कभी भी कहीं भी नहीं हो सकता । अध्यारोप भी किसी अधिष्ठानमें ही होता है । अधिष्ठान विना का अध्यारोप किसी भी प्रकार संभव नहीं है । अध्यारोप तो अतत्पदार्थमें तत्पदार्थकी बुद्धि-रूप भ्रान्ति ही है, ऐसा समझना चाहिए । रज्जु- सर्प-स्थल में देखा गया है कि—उस अवास्तविक-अध्यारोपका कारण अधिष्ठानकी अविद्या ही है । प्रकृतमें नाम-रूप एवं क्रियात्मक स्थूल-सूक्ष्म-शरीर द्वयरूप,—मूर्त—अमूर्तात्मक-द्वैत-प्रपञ्च अध्यारोपित है । उस अध्यारोपका अधिष्ठान आत्मा है । वही स्वपदार्थ है । आत्मा स्वसे—अपनेसे भिन्न कभी नहीं होता । आत्माको अपनेसे भिन्न माननेपर उसमें आत्मत्वका ही व्याघात हो-जायगा । इसलिए आत्मारूप स्वभूत-अधिष्ठानमें ही उसकी अविद्या द्वारा वास्तविकरूपसे अविद्यमान-द्वैतप्रपञ्चका अध्यारोप होता है । अत एव आत्मविद्याके द्वारा ही उसका प्रतिषेध भी संपन्न होजाता है । वही यह आत्मविद्या ही स्वसंवित् यानी स्वज्ञान है, ऐसा कहा जाता है । ऐसा निश्चित होजाने

अत एव तस्य प्रतिषेधोऽप्यात्मविद्ययैव संपद्यते । सेयमात्मविद्यैव स्वसंविदित्युच्यते । सत्येवं यदा स्वज्ञानेनैव स्वभूते आत्मनि कल्पितस्य स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चद्वयस्य प्रतिषेधो भवति, तदैव ब्रह्मदर्शनं संपद्यते, नान्यथा । अत एव त्यागेनैवामृतत्वमानशुः' (तै० आ० १०।५) इति श्रुत्या सदा प्राप्तस्याप्यविद्ययाऽऽवृतस्याप्राप्तकल्पस्य ब्रह्मामृतभावस्य लाभः, अब्रह्मभावरूपविक्षेपजनकावरणनिरासरूपत्यागेनैव सम्पद्यत इति यदुक्तं, तदेवात्र समर्थ्यते । अनेन विनिश्चीयते हि—आत्मैव ब्रह्म नान्यत् । यदि हि ब्रह्म भिन्नं स्यादात्मनः तदाऽऽत्मन एवाधिष्ठानस्य तदावरणनिवृत्त्या दर्शनं स्याद्, न ब्रह्मणोऽनधिष्ठानस्य । अत एव स्वस्य सम्यक्ज्ञानेन ब्रह्मदर्शनं भवतीति कथनेन ब्रह्मैवात्मा, तदेव स्वपदार्थः; तदेव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चारोपाधिष्ठानं नान्यदिति निर्णीयते । न ह्यन्यज्ञानेनान्यनिष्ठावरणं निवर्त्तते । न हि रज्जुदर्शनेन शुक्तिनिष्ठो रजतभ्रमोऽपगतः केनापि विलोकितः । एवं नह्यधिष्ठानावरणनिवृत्त्या तदन्यस्य दर्शनं संपद्यते, न हि रज्जुगतसर्पावरणनिवृत्त्या शुक्तिदर्शनं कस्यापि संपद्यमानं दृष्टम् । सत्येवमत्र ब्रह्मात्मस्वपदानामेकार्थाभिधायकत्व-

पर स्वस्वरूपभूत-आत्मामें कल्पित स्थूल—सूक्ष्मप्रपञ्चका जब अपने ज्ञानसे बाध हो जाता है; तभी ही ब्रह्म-दर्शन होता है । अन्य-प्रकार से नहीं होता ।

इसीलिए 'ऋषियोंने त्यागसे ही अमृतत्व प्राप्त किया है ।' इस श्रुति ने—जो ब्रह्मभाव से विपरीत-भावरूप-विक्षेपोंका कारण—अज्ञानावरण है, उसका निरासरूप त्यागसे ही—सदा प्राप्त होनेपर भी जो अविद्यासे आवृत होनेके कारण अप्राप्तके समान है, उस ब्रह्मरूप-अमृतभावका लाभ प्राप्त होता है, ऐसा जो कहा है, उसी का यहाँ भागवतमें समर्थन किया जाता हैं । इससे यह निश्चित होता है कि—आत्मा ही ब्रह्म है, अन्य नहीं । यदि ब्रह्म आत्मासे भिन्न हो, तब तो आत्मा के आवरणकी निवृत्तिसे अधिष्ठान रूप आत्मा का ही दर्शन होसकता है, ब्रह्मका नहीं, क्योंकि—ब्रह्म आत्मासे भिन्न होनेके कारण अधिष्ठान नहीं है । अतएव स्वके सम्यक्—ज्ञानसे ब्रह्मका दर्शन होता हे, इस कथनसे ब्रह्म ही आत्मा है, और यही स्वपदार्थ है, और यह स्वपदार्थ ही स्थूल-सूक्ष्मरूप द्वैत-प्रपञ्चका अधिष्ठान है, अन्य नहीं, ऐसा निर्णय हो जाता है । क्योंकि—अन्यके ज्ञानसे अन्यनिष्ठ-अज्ञान दूर नहीं होता; रज्जुके दर्शनसे किसीको शुक्तिनिष्ठ रजत-भ्रम निवृत्त हुआ देखा नहीं गया । इसप्रकार अधिष्ठानके आवरण की निवृत्तिसे उससे अन्यका दर्शन नहीं होता, रज्जुगत-सर्पावरण की निवृत्तिसे शुक्तिका दर्शन किसीको हुआ हो, ऐसा देखा नहीं गया । ऐसा विवेचन हो जानेपर यहाँ ब्रह्म, आत्मा एवं स्व ये तीनों पद अनन्यार्थक यानी एक ही अर्थ के बोधक-पर्याय हैं, ऐसा अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति—प्रमाण द्वारा बतलाया गया है, ये भिन्नार्थक नहीं हो सकते,

लक्षणं पर्यायत्वमेवान्यथानुपपत्तिलक्षणयाऽर्थापत्त्या प्रदर्शितम्, न भिन्नार्थकत्वमित्यभिप्रेत्याह—

यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा ।
अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति, तद्ब्रह्मदर्शनम् ॥

(भा० १।३।१३)

यत्र=यस्मिन्, आत्मन्यधिष्ठाने, इमे=सन्निहिते सदसद्रूपे=स्थूलसूक्ष्मशरीररूपे मूर्तामूर्तरूपे वा, अत्र सत्पदेन प्रत्यक्षार्हं स्थूलं शरीरं गृह्यते; यद्वा मूर्तं चक्षुषा ग्रहणार्हं पृथिवीजलाग्निरूपं भूतत्रयं, एवमसत्पदेन प्रत्यक्षानर्हं सूक्ष्मं शरीरं गृह्यते, यद्वा पवनाकाशरूपममूर्तं भूतद्वयं। स्वसंविदा=श्रवणमननादिनिष्पन्नेन स्वस्वरूपसम्यक्ज्ञानेन साक्षात्कारलक्षणेन प्रतिषिद्धे भवतः। ज्ञानेन प्रतिषेधार्हत्वे हेतुमाह अविद्यया=अज्ञानेनात्मनि कृते=कल्पितेऽध्यारोपिते स्तः, इति=हेतोः, तयोः प्रतिषेधः संभवति, न ह्यकल्पितं ब्रह्म कुत्रापि कदापि प्रतिषिद्धं भवति, इमे तु प्रतिषिध्येते, अत एव ते कल्पिते मिथ्याभूत एव भवतः, न तु पारमार्थिके। यदा ते द्वे प्रतिषिद्धे भवतः, तदैव ब्रह्मदर्शनं संपद्यते; नान्यथा। अर्थादविद्यानिर्मितोपाधिद्वयापवादेनैव

ऐसा अभिप्राय रखकर भगवान्-वेदव्यास कहते हैं—कि—

'व्यष्टि-पिण्ड एवं समष्टि-ब्रह्माण्डरूप यह उपर्युक्त, स्थूल-सूक्ष्म-शरीर, अविद्यासे आत्मामें आरोपित है, आत्मस्वरूपके ज्ञानसे जिस समय यह आरोप दूर हो जाता है, उसी समय ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है ।'

जिस आत्मामें यानी अधिष्ठानमें, ये सन्निहित सदसद्रूप = स्थूल-सूक्ष्म-शरीर रूप अथवा मूर्त एवं अमूर्त रूप (आत्मज्ञानसे बाधित हो जाते हैं) यहाँ सत्पदसे प्रत्यक्षके योग्य स्थूल शरीरका ग्रहण है, अथवा नेत्र-इन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य पृथ्वी, जल एवं तेज रूप मूर्त-भूतत्रय, असत् पदसे प्रत्यक्षके अयोग्य सूक्ष्म शरीर का ग्रहण है, अथवा वायु—आकाश-रूप अमूर्त भूतद्वय का । स्वसंविद् से अर्थात् श्रवण-मनन आदिसे उत्पन्न साक्षात्काररूप स्वरूपके सम्यक् ज्ञानसे बाधित हो जाते हैं । ये स्थूल-सूक्ष्म, ज्ञानसे बाधित होनेके योग्य हैं, इसमें कारण बतलाते हैं—अविद्या से यानी अज्ञानसे आत्मामें ये कृत यानी कल्पित-अध्यारोपित हैं । इसलिए उनका बाध हो सकता है । ब्रह्म अकल्पित है, इसलिए कहीं भी कभी भी उसका बाध नहीं होता । इन दोनों का बाध होता है, इसलिए ये कल्पित यानी मिथ्या ही हैं, पारमार्थिक नहीं। जब ये दोनों बाधित हो जाते हैं, तभी ही ब्रह्मका साक्षात्कार होजाता है । ब्रह्म दर्शनका यही प्रकार है—अन्य प्रकार नहीं है, अर्थात् अविद्यासे कल्पित इन दोनों उपाधियोंका

जीवात्मनो वास्तविकस्वस्वरूपभूत—ब्रह्मतालाभः संपद्यते । अथवा यदा स्वविद्ययाऽऽवरणरूपाया अविद्यायाः एवं विक्षेपरूपस्योपाधिद्वयस्य तन्मूलस्य प्रतिषेधो भवति, तदाऽयं जीवात्मा ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । कथं भूतं ब्रह्म ?; दर्शनं = ज्ञानैकस्वरूपमित्यर्थः ।

'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।' इति न्यायेन—परमेश्वरस्य यद् ब्रह्माण्डोपाधिकं विराड्रूपं 'सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतं सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकम् ।' (भा० १।३।४) नानावताराणां निधानं तदपि मायिकमेव न तु वास्तविकमारोपितत्वादित्यप्याह—'एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः । मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि ॥ यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले । एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः ॥' (भा० १।३।३०।३१) इति । अस्य चायमर्थः—भगवतः = अचिन्त्यवैभवस्य, चिदात्मनः = चिन्मयविग्रहस्य अरूपस्य = प्राकृतभौतिक—रूपरहितस्य, एतत्—रूपं = समष्टिविराडात्मकं-स्थूलब्रह्माण्डशरीरं, मायागुणैः = भगवतो या मायाऽघटनघटनापटीयसी-तस्याः गुणैः महदादिभिः पृथिव्यन्तैस्तत्त्वैर्विरचितं; क ? आत्मनि = स्वस्मिन्नन्तर्या-

---

अपवाद होनेपर ही जीवात्मा अपने वास्तविक-स्वरूपभूत अखण्ड- ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है । अथवा—ब्रह्मविद्यासे आवरणरूप-अविद्याका और अविद्याके कार्य विक्षेपरूप इन दोनों उपाधियों का जब प्रतिषेध होता है, तब यह जीवात्मा ब्रह्म ही हो जाता है । कैसा ब्रह्म है ?—दर्शन यानी एकमात्र ज्ञानस्वरूप ।

'कार्य उपाधिवाला यह जीव है, और कारण—उपाधिवाला ईश्वर है' इस न्याय से परमेश्वरका ब्रह्माण्ड-उपाधिवाला जो विराट्-स्वरूप है—'जिसमें हजारों पैर, जाघें, भुजाएँ और मुखोंके कारण अत्यन्त विलक्षण है, उसमें सहस्रों सिर, सहस्रों कान, सहस्रों नेत्र, सहस्रों नासिकाएँ हैं । (भा०) जो अनेक-अवतारोंका मूल कारण है—वह भी मायिक ही है, वास्तविक नहीं है । क्योंकि—वह भी आरोपित है, इस बात को भी कहते हैं—'प्राकृतरूपरहित चिन्मय-भगवान्का जो यह स्थूल विराट् यानी जगदाकार रूप है, यह उसकी माया के महत्तत्त्व—आदि गुणों से भगवान् में ही कल्पित है। बादल वायुके आश्रित रहते हैं, और धूसरपना धूल में होता है, परन्तु अल्प-बुद्धिवाले मनुष्य जैसे बादलों का आकाशमें और धूसरपनेका वायुमें आरोप करते हैं—वैसे ही अविवेकी पुरुष सबके साक्षीरूप आत्मामें स्थूल-दृश्यरूप जगत्का आरोप करते हैं ।' (भा०) इसका यह अर्थ है—भगवान् अचिन्त्य-वैभववाला जो चिदात्मा = चिन्मय-विग्रहवाला है, एवं अरूप = प्राकृत एवं भौतिकरूपसे रहित है; उसका यह रूप यानी समष्टि विराट् रूप-स्थूल-ब्रह्माण्ड शरीर, भगवान् की अघट घटना-पटीयसी मायाके गुणोंसे यानी महत्तत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त-तत्त्वोंसे विरचित है, कहाँ विरचित है ?—आत्मा

मिण्यधिष्ठानेऽवस्थितमित्यर्थः। अथवा—यथा कारणोपाधिकस्य परमेश्वरस्य समष्टिस्थूलशरीरं मायागुणैर्विरचितं, तथा कार्योपाधिकस्य जीवात्मनोऽपि व्यष्टिस्थूलशरीरं मायागुणैर्विरचितमित्यप्याह—अरूपस्य चिदेकरसस्यात्मनो जीवस्य, एतत् स्थूलं व्यष्टिशरीररूपं, भगवतो या माया, तस्या गुणैर्महदादिरूपैर्विरचितम्। क। आत्मनि, आत्मस्थानेऽविद्यया शरीरं कृतमित्यर्थः। तथा चायमज्ञो जीवो वास्तविकं स्वस्वरूपं विस्मृत्य भ्रान्त्या भौतिकं स्थूलशरीरमेवात्मत्वेनाभिमन्यमानो जन्ममरणादि-विविध-दुःखमेवानुभुञ्जानो विविधोच्चावचयोनिषु संसरति। न तु जातु दुःखग्रामाद्विमुच्यते। यदा च श्रवणादिजनितविद्ययाऽज्ञानजनितो देहसम्बन्धस्तन्निवृत्त्या विनिवर्तते, तदाऽस्य दुःखनिवृत्तिरुपपद्यत इति भावः। कस्मिन्किमिवेत्यपेक्षायामाह—अबुद्धिभिः= अल्पबुद्धिभिः यथाऽदृश्ययोरपि नभोऽनिलयोः 'नीलं नभः इति' 'धूसरोऽनिल इति' मेघरेणुधर्मो नीलिमधूसरत्वलक्षणं दृश्यत्वमारोपितम्। एवमेवाधिष्ठितब्रह्माण्डधर्मो दृश्यत्वमपि द्रष्टरि भगवत्यदृश्ये आरोपितमित्यर्थः। जीवात्मनि तु स्वरूपावरणेन तदध्यासत इत्याह—यथा वाय्वाश्रितो मेघौघो

में, यानी स्वस्वरूपभूत—अन्तर्यामीरूप-अधिष्ठानमें। अथवा कारणोपाधिवाले परमेश्वर का समष्टि स्थूलशरीर, जैसे मायाके गुणोंसे विरचित है, वैसे ही कार्योपाधिवाले-जीवात्माका भी व्यष्टि-स्थूल शरीर मायाके गुणोंसे विरचित है,—ऐसा कहते हैं—'भौतिक रूप रहित-चेतन एकरस जीवात्माका यह व्यष्टि स्थूलशरीर भगवान् की मायाके महत्तत्त्व—आदि गुणोंसे निर्मित है। कहाँ निर्मित है?—आत्मामें अर्थात् आत्माके स्थान में अविद्यासे इस शरीरको स्थापित किया। तथाच यह अज्ञानी जीव, अपने वास्तविक स्वरूपको भूलकर भ्रान्ति से पांच-भौतिक इस स्थूल-शरीरको ही आत्मा मानकर जन्म-मरण रूपी नानाविध दुःखों को भोगता हुआ विविध ऊँच-नीच-योनियों में घूमता रहता है, कभी इन दुःखों से छुटता नहीं। जब श्रवण मनन आदिसे उत्पन्न ब्रह्मविद्यासे अविद्या और अविद्या—कल्पित देहसम्बन्धकी निवृत्ति हो जाती है। तब इस जीवका दुःखोंसे छुटकारा होता है। कहाँ? किसकी तरह आरोप हुआ है? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं—अबुद्धि यानी अल्पबुद्धिवाले मनुष्योंने जिस प्रकार अदृश्य (नेत्र-इन्द्रिय का अविषय) आकाशमें 'आकाश नीला है' ऐसे व्यवहार द्वारा मेघका दृश्य-धर्म नीलिमा का आरोपण किया है, और जिस प्रकार अदृश्य-वायुमें 'वायु धूसर है' ऐसे व्यवहार द्वारा धूलिका दृश्यधर्म धूसरपनेका आरोपण किया है, उसी प्रकार अधिष्ठित यानी अधिष्ठानमें कल्पित—ब्रह्माण्ड का धर्म—दृश्यत्वको अदृश्य-द्रष्टारूप-भगवान्में आरोपित किया है, ऐसा भाव है। जीवात्मामें तो स्वस्वरूप के आवरण द्वारा उसका अध्यास होता है, ऐसा कहते हैं—जिस प्रकार अल्पबुद्धिवाले मनुष्य वायुके आश्रित मेघ

आकाशे, पार्थिवो रेणुस्तद्गतं धूसरत्वादि वायौ, अज्ञैरारोप्यते, एवं द्रष्टर्यात्मनि दृश्यत्वजडत्वादिधर्मकं शरीरमारोपितमित्यर्थः ।

सत्येवं—'तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० उ० २।२।८) इति मुण्डकश्रुत्या 'कारणात्मना परमीश्वरतत्त्वं, कार्यात्मना चावरं जीवात्मतत्त्वं, तस्मिन् सर्वज्ञेऽसंसारिणि स्वस्वरूपे दृष्टे—अहमस्मीत्यभेदेन साक्षात्कृते सति इति' यदुक्तं—तदेव स्पष्टशब्दान्तरविन्यासेन स्पष्टयति भगवान् विशालबुद्धिः बादरायणो मुनिरपि—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥' (भा० ११।२।२१) इति । अस्य परमात्मज्ञानस्य फलमिदमभिधीयते—हृदयग्रन्थिः=अविद्यावासनाप्रचयो बुद्ध्याश्रयः कामः 'कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' (क० उ० २।३।१४) इति श्रुत्यन्तरात्, 'कामान् मानवो मनसि स्थितान्' (भा० ७।१०।६) इति भागवतस्मरणाच्च । हृदयाश्रयोऽसौ नात्माश्रयः । भिद्यते=भेदं—विनाशमायाति । संशयाः=ज्ञेयविषयाः सर्वे असंभावनादिरूपाः लौकिकानामामरणात्तु गंगास्रोतोवत् प्रवृत्ताः छिद्यन्ते=विच्छेदमायान्ति । अस्य=विच्छिन्नसंशयस्य निवृत्ताविद्यस्य यानि

की नीलिमाको आकाशमें आरोपित करते हैं, और जिस प्रकार धूलिके धर्म-धूसरपने को वायुमें आरोपित करते हैं, इसी प्रकार द्रष्टा-आत्मामें दृश्यत्व—जड़त्व आदि धर्म वाले शरीरका आरोपण किया है ।

ऐसा निर्णय हो जानेपर 'उस-परावरतत्त्वका दर्शन हो जानेपर' इस मुण्डक-श्रुति के द्वारा-कारणरूपसे ईश्वर-तत्त्व पर है, और कार्यरूपसे जीवतत्त्व अवर है । उस परावर रूप सर्वज्ञ-असंसारी स्वस्वरूपका 'वह मैं हूँ' ऐसा अभेद-भावसे साक्षात्कार होनेके बाद कर्म आदि नष्ट हो जाते हैं—ऐसा जो कहा है—उसी को दूसरे शब्दोंमें भगवान् बादरायणाचार्य स्पष्ट रूपसे कहते हैं-कि—'आत्मा स्वरूप भगवान्का साक्षात्कार होते ही हृदयकी चेतन-जड़के अध्यासरूपा ग्रन्थि टूट जाती है, सारे सन्देह मिट जाते हैं, एवं कर्मबन्धन क्षीण हो जाते हैं ।' (भा०) अर्थ—उस परमात्माके साक्षात्काररूप ज्ञानका फल यह बतलाया जाता है—हृदय-ग्रन्थि = अविद्या एवं वासनाओं का प्रचय (ढेर) यानी अन्तःकरणमें रहने वाली विविध-कामनाएँ । 'कामनाएँ जो इसके हृदय में रहती हैं' (बृ० उ०) 'मनःस्थित कामनाओंको जब मनुष्य छोड़ता है' (भा०) इन श्रुति और भागवतके प्रमाणोंसे 'कामनाएँ हृदयमें ही रहती हैं, आत्मामें नहीं' यह सिद्ध होता है । भेद यानी विनाश को प्राप्त होती हैं । संशय = असंभावनादिरूप, ज्ञेय (आत्मा) विषयक निखिल संशय—जो अज्ञानी संसारियोंको मरण—पर्यन्त गंगा प्रवाह के समान प्रवृत्त होते रहते हैं । छिद्यन्ते = विच्छिन्न-विशिष्ट हो जाते हैं । जिसके सारे संशय मिट गये हैं, और जिसकी अविद्या निवृत्त हो गई है, उसके—आत्मसाक्षा-

विज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तनानि जन्मान्तरे चाप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तिसहभावीनि च क्षीयन्ते कर्माणि । न त्वेतज्जन्मारम्भकाणि, प्रवृत्तफलत्वात् । आत्मनि = स्वस्वरूपभूते ईश्वरे दृष्टे = साक्षात्कृते सति । एवकारेण ज्ञानानन्तरमेव सद्यो फलं दर्शयति । तादृशं तत्त्वविज्ञानं भगवद्भक्तियोगत एव सम्पद्यते इत्यप्याह– 'एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः । भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते ॥' (भा० १।२।२०) इति । मुक्तसंगस्य = उत्पन्नवैराग्यस्य, त्यक्तकामादिवासनस्येत्यर्थः । रसिका भक्तास्तु—एवं = पूर्वोक्तप्रकारेणासक्तिपूर्वकं प्रतिक्षणं भगवतः कृष्णस्य भजनं कुर्वतः प्रसन्नमनसः = उत्पन्नरतेरित्यर्थः, रत्या विना सर्वथा विषयासंस्पर्शस्यानुत्पत्तेस्तेन विना मनःप्रसादासंभवात् । ततश्च भगवति भक्तियोगः-प्रेमा, तस्माच्च भगवत्तत्त्वस्य स्वरूपगुणलीलैश्वर्यमाधुर्यस्य विज्ञानमनुभवः संजायते इति-विवेचयन्ति । अत एवैतादृशानुभवरूपस्य फलस्य साधनानां क्रममप्येतादृशमाहुः—'सतां कृपा महत्सेवा श्रद्धा गुरुपदाश्रयः । भजनेषु स्पृहा भक्तिरनर्थापगमस्ततः । निष्ठा रुचिरथासक्ती रतिः प्रेमाथ

त्कारके प्रादुर्भावसे प्रथमके और जन्मान्तरमें जिनके फल प्रवृत्त नहीं हुए हैं—ऐसे सँचितकर्म तथा ज्ञानोत्पत्तिके सहभावी क्रियमाणकर्म, वे सब कर्म नष्ट हो जाते हैं । परन्तु इस जन्मके आरम्भक प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होते हैं । क्योंकि—उनकी फलदेनेकी प्रवृत्ति आरम्भ होचुकी है । आत्मा यानी स्वस्वरूपभूत-ईश्वरका साक्षात्कार होते ही एवकारसे ज्ञानके अनन्तर ही अर्थात् उत्तर-क्षणमें ही पूर्वोक्त फल प्रदर्शित किया गया है । उस प्रकारका तत्त्वज्ञान भगवद्भक्ति—योगसे ही प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं— 'इसप्रकार भगवान्‌की प्रेममयी भक्तिसे जब संसार की समस्त आसक्तियाँ मिट जाती हैं, हृदय, आनन्दसे भर जाता है, तब भगवान्‌के तत्त्वका अनुभव अपने आप हो जाता है' (भा०) मुक्तसंग = वैराग्यवाला यानी जिसने काम-आदि की वासनाओंका त्याग किया है । रसिकभक्त लोग तो ऐसा विवेचन करते हैं कि—पूर्वोक्त-रीतिसे अनुराग पूर्वक भगवान् कृष्णका प्रतिक्षण भजन करने वाले प्रसन्नमनवाले यानी जिसके मनमें भगवान् की रति = प्रीति उत्पन्न हुई है, क्योंकि—भगवद्रति उत्पन्न हुए विना विषयों में अनासक्ति नहीं हो सकती, और अनासक्तिके विना मनकी प्रसन्नता असंभव है । उससे भगवान् में भक्तियोग यानी परमप्रेम उत्पन्न होता है, उससे भगवत्तत्त्व के स्वरूपका, गुणोंका, लीलाका, ऐश्वर्यका एवं माधुर्यका विज्ञान = अनुभव होता है । इसलिए ऐसे-अनुभव रूप फल के साधनोंका क्रम भी ऐसा ही है, वे कहते हैं कि—

(१) प्रथम, साधन-सत्पुरुषों की कृपा, (२) महापुरुषोंकी सेवा, (३) श्रद्धा, (४) गुरुके श्रीचरणोंका आश्रय, (५) सतत भजन करने की लालसा, (६) भक्ति, (७) निवृत्ति, (८) निष्ठा (९) रुचि, (१०) आसक्ति, (११) रति, (१२) प्रेम,

दर्शनम । हरेर्माधुर्यानुभव इत्यर्थाः स्युश्चतुर्दश ॥' इति ।

एवमेवातिधन्या स्मृतिपुराणमूला बृहदारण्यकश्रुतिरपि–'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तञ्च ।' (२।३।२) इत्यनेन ब्रह्मणो द्विविधं रूपं मायया ऽध्यारोप्यानन्तरं–'अथात आदेशो नेति नेति नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति ।' (बृ० २।३।६) इत्यनेनाशेषत अध्यारोपितं तत्प्रतिषिध्य अद्वयमुच्छिष्टं परं ब्रह्मादिशति । नेति नेत्यादेशो हि–इतिशब्दद्वयेन नामरूपात्मकं चिद्भास्यमखिलं मूर्तंवाऽमूर्तं वा अज्ञानं वासनाऽथवा अध्यात्ममधिदैवं वा. तत्सर्वं ब्रह्मभिन्नं द्वैतप्रपञ्चमात्रं परामृश्य वीप्साऽर्थबोधकेन नकारद्वयेन च प्रतिषिध्य परिशिष्यमाणमनिदमुच्छिष्टं सत्यस्य सत्यं शिवमद्वैतं ब्रह्म तत्त्वं बोधयति । हि=यतो निर्विशेषब्रह्मवस्तुबोधने प्राप्तसर्वविशेषोपाधि प्रतिषेधेनाधिष्ठानमात्रपरिशेषणलक्षणात् एतस्मादादेशनात् व्यतिरिक्तः स्फुटतरोऽन्य उपायो नास्ति, नेति नेत्यस्मादादेशनादन्यत् परं निर्देशनं हि=यस्मान्नास्ति तस्मादयमेव निर्देशो ब्रह्मणः । यद्वा हि=यस्मादेतस्माद्ब्रह्मणो व्यतिरिक्तं किमपि नास्ति, अतो नेत्युच्यते, न पुनर्ब्रह्मैव नास्तीत्यभिप्रायेण तथोच्यते,

(१३) भगवान् का साक्षात्कार और (१४) श्रीहरिके दिव्य-माधुर्यका अनुभव, ये चौदह साधनों का क्रम हैं । इस प्रकार अनन्त-धन्यवादों की पात्र तथा पुराण और स्मृतियों का मूल-प्रमाण-भूत बृहदारण्यक-श्रुति भी कहती है–कि 'ब्रह्मके दो रूप हैं, मूर्त और अमूर्त' इससे ब्रह्ममें दो रूपोंका माया द्वारा अध्यारोप करके अनन्तर 'अथात आदेशो नेति नेति' इससे सम्पूर्ण अध्यारोपका बाधकर अवशिष्ट-अद्वय-ब्रह्मका श्रुति आदेश करती है । 'नेति नेति' इस आदेशमें दो इति शब्द हैं । इनसे चिद्भास्य, नामरूपात्मक संपूर्ण मूर्तामूर्त यानी स्थूल-सूक्ष्मका, या अज्ञान और वासना-का अथवा अध्यात्म और अधिदैवका अर्थात् ब्रह्मभिन्न समस्त द्वैतप्रपञ्च का परामर्श किया गया है । फिर वीप्सा-अर्थके बोधक इन दो नकारोंसे इस समस्त द्वैत-प्रपञ्चका निषेध किया है । अनन्तर बाकी बचे हुए अद्वैत ब्रह्मतत्त्वका–जो कल्याण स्वरूप है, और सत्यका भी सत्य है, एवं जो इदंता की विषयता से रहित–स्वतन्त्ररूप भूत है—बोधन करती है । क्योंकि–निर्विशेष—ब्रह्म–वस्तु के बोधन करनेमें अध्यारोप से प्राप्त समस्त विशेष–उपाधियोंके निषेध द्वारा केवल अधिष्ठान मात्रका परिशेषरूप आदेशसे अतिरिक्त और कोई स्पष्टतर अन्य उपाय नहीं है । 'नेति नेति' इस आदेशसे अन्य दूसरा निर्विशेष-ब्रह्मबोधका आदेश नहीं है । इसलिए यही अद्वय ब्रह्मका निर्देश है । अथवा इस ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इसलिए 'नहीं' कहा गया है, ब्रह्म भी नहीं है, इस अभिप्रायसे ऐसा 'नहीं' नहीं कहा गया । ऐसा कैसे जाना जाता है ? कहते हैं-निषिद्ध-अवास्तविक-वस्तुसे अन्य—जो निषिद्ध नहीं है—वह पर=परमार्थभूत ब्रह्म सबका

कुत एतदवगम्यते ? यतः प्रतिषिद्धादपरमार्थभूतादन्यदनिषिद्धं परं=परमार्थभूतं ब्रह्म सर्वेषां स्वरूपभूतमस्तीत्यतोऽवगम्यते। यदा मूर्तामूर्तसर्वदृश्योपाधिप्रतिषेधद्वारेण सैन्धवघनवदखण्डैकरसं प्रज्ञानानन्दघनमनन्तरमबाह्यमद्वयं सत्यस्य सत्यमहं ब्रह्मास्मीति स्वस्वरूपं निर्दिदिक्षितं स्यात् तदा सर्वतो निवर्तते विविदिषा, आत्मन्येवावस्थिता भवति प्रज्ञा। सेयं ब्राह्मीस्थितिः पूर्णाद्वयानन्दानुभवरूपा। भगवता वेदपुरुषेण गीतास्वप्यभिहिता–'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि, ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥' (२।७२) इति ब्रह्मविषयाऽखण्डस्थितिर्निष्ठा ब्राह्मी स्थितिरित्यर्थः।

स्वस्वरूप है, ऐसा नेति नेति वाक्यसे जाना जाता है। मूर्त–अमूर्त सर्व दृश्य-उपाधियों के निषेध द्वारा जब सैन्धवघन के समान अखण्डैकरस–प्रज्ञान–आनन्द-घन बाह्य एवं आन्तरिक-भेदोंसे रहित, अद्वय, सत्यका सत्य, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे स्वरूपका अभीष्ट निर्देशन होता है, तभी ही सर्व तरफसे जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है, और अपने आपमें ही प्रज्ञा अवस्थित हो जाती है। यही पूर्ण, अद्वय, आनन्दके अनुभवरूपा ब्राह्मी स्थिति है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीतामें भी यही कहा है कि—'हे पार्थ ! यही ब्राह्मी स्थिति है, इसको प्राप्त करने के अनन्तर मनुष्य मोह को प्राप्त नहीं होता।' अन्तकालमें भी इस जीवन्मुक्ति अवस्था में अवस्थित पुरुष ब्रह्मनिर्वाण पद को प्राप्त हो जाता है।' (गी०) ब्रह्मविषयक अखण्डस्थिति ही ब्राह्मी स्थिति कहलाती है।

(४)

(महनीयचरितस्य वीतरागस्य श्रीशुकदेवस्याद्वय-ब्रह्मनिष्ठा वर्णनम्)

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां० ३।१४।१) 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी० ७।१६) 'भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किञ्चन।' (भा० १०।१५।५६) इत्यादिश्रुतिस्मृति-पुराणशास्त्रेभ्यः समुपदिष्टं यदद्वयब्रह्मतत्त्वं, तदेव सर्वमिदमहञ्चेति परया श्रद्धया विनिश्चित्य, शान्तेन चेतसा सर्वत्रान्तर्बहिः विभाव्य, तत्रैव तन्मयो भूत्वाऽविद्याध्यारोपितं स्त्रीपुरुषादिभेदं समुपेक्ष्य, सर्वत्राभेददर्शनमेव सततं कुर्वाणो निर्द्वन्द्वो निर्विकल्पाद्वय-ब्रह्मनिष्ठः श्रीशुकदेवो देवाङ्गनाभिरपि तथैव परिलक्षित आसीत् इति तस्य महनीयचरितस्य वीतरागस्य विविक्तां ब्रह्मभाव-मयीं दृष्टिं वर्णयन्नाह—

दृष्ट्वाऽनुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं,
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ।

(४)

(प्रशंसनीय चरित्र वाले महावैराग्यशाली श्रीशुकदेव जी की अद्वय,-ब्रह्म निष्ठाका वर्णन)

'निश्चयसे यह सब ब्रह्म है' (उपनिषद्)—'यह सब वासुदेव है' (गीता) सब कुछ भगवान्का ही स्वरूप है, भगवत्स्वरूपसे पृथक् और कोई वस्तु यहाँ नहीं है ।' (भाग०) इत्यादि श्रुतिस्मृति—एवं पुराण-वचनों के द्वारा उपदिष्ट जो अद्वय—ब्रह्म तत्त्व है, वही यह सब है, और वही मैं हूँ, ऐसा अतिश्रद्धाके साथ निश्चय करके तथा शान्त-चित्तसे सर्वत्र अन्दर बाहर उसी ही ब्रह्म-तत्त्वकी सतत भावना करके और जो उसमें ही तन्मय होकर अविद्यासे अध्यारोपित स्त्री पुरुष-आदिके कल्पित भेदकी समुपेक्षा करके सर्वत्र अभेद दर्शन ही निरन्तर करता हुआ उस निर्विकल्पक—अद्वय ब्रह्ममें निष्ठा सम्पन्न निर्द्वन्द्व श्रीशुकदेव महामुनिको देवांगनाओं ने भी उसी प्रकार अर्थात्—अभेद दर्शन सम्पन्न देखा था । अतएव प्रशंसनीयचरित्रवाले महावैराग्यशाली उस शुकदेव जी की ब्रह्मभावमयी परिशुद्ध-दृष्टिका वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

'निर्द्वन्द्व-मस्त होकर जंगलकी ओर जाने वाले अपने पुत्र शुकदेव जी का पीछा जब व्यास जी कर रहे थे, उस समय नदी में नग्न होकर स्नान करने वाली देवांगनाओं ने-जो प्रथम सुन्दर-युवक शुकदेव जी को नग्न अवस्थामें देखकर भी लज्जावश होकर वस्त्र नहीं पहने थे । किन्तु वस्त्र पहिने हुए बूढे व्यासजी को देखकर वे लज्जावश हुई कपड़े पहिनने लगीं थीं, इस आश्चर्य को देखकर जब व्यासजीने उन स्त्रियों से इसका

तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति,
स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ॥'

(भा० १।४।५)

आत्मजं=शुकं प्रव्रजन्तं, अनुयान्तं=अनुव्रजन्तं ऋषिं व्यासं, अनग्नमपि-सवसनमपि दृष्ट्वा=विलोक्य, जले क्रीडन्त्यो देव्यो=अप्सरसः, ह्रिया=लज्जया, परिदधुः=वस्त्रपरिधानं कृतवत्यः। अनग्नमपीत्यनेनार्थात्तत्सुतो नग्न इत्युक्तम्। नग्नस्य पुरतो गच्छतः सुतस्य तु ह्रिया न परिदधुः तच्चित्रं वीक्ष्य, अहो! युवानं सुन्दरं तत्रापि नग्नं मत्पुत्रं विलोक्यैता देवाङ्गना न लज्जिताः, अत एव नग्नेषु स्वशरीरेषु न वस्त्राणि परिदधुः। मां तु वृद्धमत एवार्थादसुन्दरं तत्रापि सवसनं तद्दिशि दृशमप्यनाददानं विलोक्यैता लज्जन्ते स्म, रभसा स्ववस्त्राणि परिदधते स्म, तदिमा एवार्जवेन कारणमहं पृच्छामीति विचार्य, मुनौ=श्रीव्यासे, मननशीले पृच्छति सति, एताः जगदुः=कथयामासुः, तव=वृद्धस्यापि 'इयं स्त्री, अयं पुमानिति' भिदा=भेदोऽस्ति, न तु तव सुतस्य श्रीशुकस्य विविक्तदृष्टेः स्त्रीपुम्भिदाऽस्ति। विविक्ता=पूता-द्वैतमलरहिता

कारण पूछा, तब उन्होंने उत्तर दिया था कि—आपकी दृष्टिमें तो अभी स्त्री पुरुषका भेद बना हुआ है, किन्तु आपके पुत्रकी ब्रह्ममयी-विशुद्ध-दृष्टिमें यह भेद नहीं रहा है। यही आपमें एवं आपके पुत्रमें आश्चर्यजनक-विलक्षणता है। इसलिए हमने आपकी लज्जा की, एवं आपके पुत्रकी स्वस्वरूपके समान लज्जा नहीं किया।'

आत्मज=पुत्र, जो संन्यासी होकर जा रहा था, उस शुकदेवजी का, अनुव्रजन यानी पीछा करनेवाले महर्षि-व्यास को, जो अनग्न=नग्न नहीं था, वस्त्र पहिने हुए था, देखकर जलमें नग्न होकर क्रीडा करने वाली-देवांगनाओंने लज्जासे कपड़े पहिन लिए। व्यासके 'अनग्न' इस विशेषणसे उसका पुत्र शुकदेव नग्नावस्थामें था, ऐसा कहा गया है।

इस विचित्रताको देखकर अर्थात् सुन्दर, तरुण तथा बिलकुल नग्न मेरे पुत्रको अपने समक्ष जाता हुआ देखकर इन नग्न देवांगनाओं ने न लज्जा किया, न तो अपने कपड़े पहिने, प्रत्युत वस्त्र-धारण किये हुये मुझ-असुन्दर-बूढ़े को देखकर जो उनकी ओर दृष्टि भी नहीं डाल रहा था, ये लोग लज्जा करने लगीं और झटपट कपड़े पहिनने लग गईं, अतः इन लोगोंसे मैं नम्रताके साथ इसका कारण पूछूँ। ऐसा विचारकर महर्षि व्यासजीके पूछनेपर देवांगनाओं ने कहा कि—वृद्ध होनेपर भी आपकी दृष्टिमें यह पुरुष है, यह स्त्री है, ऐसा भेद विद्यमान है, परन्तु तुम्हारे पुत्रकी परिशुद्ध—दृष्टिमें स्त्री-पुरुष का भेदभाव है ही नहीं। विविक्त=शुद्ध अर्थात् जिसमें द्वैतरूपी मल या कामादिरूपी

कामादिमलरहिता वा शुद्धाऽद्वयब्रह्मभावमयी दृष्टिर्यस्य स तथा तस्येत्यर्थः। वयं देव्यो युवतिजनाः कलाभिज्ञाः स्त्रीपुरुषयोर्नयनदर्शनेनैव तदन्तस्तत्त्वं सर्वं ज्ञातुं प्रभवाम इति भावः।

अत एवान्यत्रापि श्रीशुकस्य श्रीमद्भागवतस्यादिमप्रवक्तुः स्वरूपमेतादृशं वर्णितमुपलभ्यते—'तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ् निर्विकल्पकः। एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते ॥' (भा० १।४।४) इति। अयमर्थः -तस्य= व्यासस्य पुत्रः, श्रीशुकः समदृक्=सर्वत्र सदा समं ब्रह्म सर्वानन्यत् पश्यति, अतो निर्विकल्पकः स्वार्थे कः, निर्गतो विकल्पो वस्तुशून्यो वाचारम्भणमात्रो गुणक्रियादिनिबन्धनो भेदो यस्य सः, विध्वस्तभेदभाव इत्यर्थः। किञ्च एकस्मिन्नेवाद्वये चित्सुखघने ब्रह्मणि अन्तः=समाप्तिर्यस्यास्तथाभूता मतिर्यस्य सः, यत उन्निद्रः=माया—शयनादुद्बुद्धः=ब्रह्मसाक्षात्कारवान्। 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।' (२।६९) इति गीतास्मृतेः। सर्वभूतानां= अज्ञजनानां निशेव निशा=परब्रह्मदर्शनं, लोके हि निशायां निद्राणा जना न निशां पश्यन्ति, तथा ब्रह्मदर्शनलक्षणनिशायामज्ञाननिद्रापरवशानि सर्वभूतानि

मल नहीं है, ऐसी शुद्ध-अद्वय-ब्रह्म-भावमयी-पवित्र दृष्टि जिसकी है, वह शुकदेव विविक्त दृष्टि है , हम युवतियाँ इस कलामें प्रवीण हैं यानी हम नेत्रोंको देखकरके ही स्त्री-पुरुषोंके आन्तरिक सब भाव को जान लेनेमें समर्थ हैं—ऐसा यहाँ तात्पर्य है।

अतएव श्रीमद्भागवतके—आदिम प्रवचनकर्ता श्रीशुकदेव मुनिके स्वरूपका वर्णन अन्यत्र भी इसीप्रकार उपलब्ध होता है—उनके पुत्र शुकदेव जी बड़े योगी, समदर्शी, भेदभावकी कल्पनासे रहित, संसार-निद्रा से जगे हुए और निरन्तर एकमात्र परमात्मामें ही स्थित रहते हैं, वे छिपे रहनेके कारण मूढ़से प्रतीत होते हैं।' (भाग०) यह अर्थ है—उस व्यासजीका पुत्र, समदृष्टिवाला है अर्थात् जो सदा सर्वत्र सबसे अनन्य-अद्वय-ब्रह्मको ही देखता है, इसलिए वह निर्विकल्प है, यहाँ स्वार्थमें कन् प्रत्यय है। निकलगया है—विकल्प यानी गुण-क्रियादियोंसे होनेवाला अवास्तविक-वाचारंभणमात्र भेद जिसमें से, वह निर्विकल्प—है, यानी जिसमें भेदभावका विध्वंस हुआ है। और एक ही उस अद्वय-चिदानन्दघन ब्रह्ममें अन्त यानी जिसकी मतिकी समाप्ति हो गई है—वह एकान्तमति है।

अतएव वह उन्निद्र है=माया निद्रासे जागा हुआ है, अर्थात ब्रह्म साक्षात्कार वाला है। अतएव गीता स्मृतिमें भगवान् ने ऐसा ही कहा है—'जो समस्त प्राणियोंके लिए रात्रि है, जिसमें संयमी पुरुष जागता है।' (गीता) अर्थ—सर्वभूतोंके लिए यानी अज्ञानियों के लिए (जो) परब्रह्मदर्शन रात्रि के समान अज्ञान-अंधकारसे आवृत है लोकमें रात्रिमें सोये हुए व्यक्ति रात्रिको नहीं देखते हैं। तथा समावृत ब्रह्म—दर्शनरूप

न ब्रह्मतत्त्वं पश्यन्ति। तस्यां ब्रह्मदर्शनरूपायां सर्वभूतनिशायां संयमी = यमादिसाधनवान् स्थितप्रज्ञो जागर्ति = अज्ञानलक्षणनिद्राक्षयेण प्रबुद्धः परमद्वयं ब्रह्म—पश्यति। अत एव महायोग्यपि गूढोऽप्रकटः, मूढ इव प्रतीयते प्राकृत जनैः, न तु विज्ञैः।

एवं पुनरपि श्रीशुकदेवस्याद्वयप्रत्यगभिन्नब्रह्मभावानुभवलक्षणं महनीयमहत्त्वं तच्चरितेनैव द्योतयन्नाह—'यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव। पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥' (भा० १।२।२) इति। अस्य चायमर्थः—यं शुकं, प्रव्रजन्तं = संन्यस्य विपिने निर्द्वन्द्वतया गच्छन्तं, अनुपेतं = मामुपनयस्वेत्युपनयनार्थमाचार्यमनुपसन्नमर्थादुपवीतादिरहितं, यद्वा उप = समीपमितः, प्राप्तः = उपेतः, न उपेतोऽनुपेतः, केनाप्यननुगतः एकाकी, निःसङ्ग इत्यर्थस्तं, तत्र हेतुः, अपेतकृत्यं = कृत्यशून्यं कर्ममार्गेऽप्रवर्तमानं ब्रह्मनिष्ठत्वादेव कर्तृत्वभोक्तृत्वादिजैवभावशून्यं, अत एव कर्मानधिकारिणमिति यावत्। द्वैपायनः = द्विर्गता आपो यत्र स द्वीपः, स एवायनं = जन्मस्थानं यस्य स तथा, सत्यवत्या तत्र

रात्रि में अज्ञान निद्रामें सोये हुए समस्त प्राणी ब्रह्म-तत्त्वको नहीं देखते हैं। उस ब्रह्म दर्शनरूप—सर्वभूतोंकी रात्रि में, संयमी = यमनियमादिसाधनसंपन्न स्थित-प्रज्ञ पुरुष, जागता है, अर्थात् अज्ञानरूप निद्राक्षयके अनन्तर अद्वय-परब्रह्मको देखता है। अतएव श्री शुक, महान् योगी होनेपर भी वे साधारण-मनुष्यों की प्राकृत-दृष्टिमें मूढ़ जैसे भालूम होते हैं, विद्वानोंकी परिष्कृत-दृष्टिमें ऐसे मालूम नहीं होते। इस प्रकार फिर भी श्रीशुकदेवजीके प्रत्यगभिन्न-अद्वय ब्रह्मभाव का अनुभवरूप स्तुत्य महत्त्वको—उनके चरित्रके द्वारा प्रकट करते हुए कहते हैं—'जिस समय शुकदेवजीका यज्ञोपवीत-संस्कार भी नहीं हुआ था, सुतरां लौकिक-वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका तो अवसर ही नहीं आने पाया था, उन्हें अकेले ही संन्यास लेनेके उद्देश्य से जाते देखकर, उनके पिता व्यास जी विरहसे कातर होकर पुकारने लगे थे कि—हे पुत्र! पुत्र! उस समय सर्वगत ब्रह्मभावमें तन्मय होनेके कारण शुकदेवजी की ओरसे वृक्षोंने उत्तर दिया था, ऐसे सबके हृदयमें विराजमान श्रीशुकदेवजी को मैं नमस्कार करता हूँ।' (भा०) इस पद्यका यह अर्थ है—सर्वका त्यागकर निर्द्वन्द्व होकर वनमें जाने वाले, अनुपेत = 'कृपया मेरा उपनयन संस्कार करें।' ऐसा कह कर किसी आचार्यके समीप नहीं गये हुए, अर्थात् यज्ञोपवीत आदि धार्मिक-चिन्हों से रहित, अथवा—उपेत = समीप में गये, न किसीके समीप गये वह—अनुपेत है = अर्थात् किसीके अनुगत—अनुयायी नहीं होने वाले यानी एकाकी संग-रहित हुए। उसमें हेतु दिखाते हैं—अपेतकृत्य = कर्तव्य-कर्मोंसे रहित, क्योंकि—ब्रह्म-निष्ठ होनेके कारण कर्म-मार्गकी प्रवृत्ति से रहित हुए एवं कर्तृत्व-आदि जीवभावसे

लज्जया कन्यादशायां पराशरान्महर्षेर्जातस्य तस्य स्थापितत्वादिति महाभारता-द्वसेयम् । द्वीपायन एव स्वार्थिकेऽणि प्रत्यये सति द्वैपायनः = व्यासः, विरहात् कातरो-भीतः सन्, दीनतां प्राप्तः सन् वा, पुत्र ३ इति प्लुतेन = दीर्घतमोच्चा-रणेन, आजुहाव = आहूतवान् । दूरादाह्वाने प्लुते सत्यपि संधिरार्षः। तदा तन्मयतया = शुकरूपतया तरवोऽभिनेदुः = प्रत्युत्तरमुक्तवन्तः, पितुः स्नेहानुबन्ध परिहाराय यो वृक्षरूपेण उत्तरं दत्तवानित्यर्थः । परमात्मस्वरूपभूतशुकतादा-त्म्यापन्नैः तरुभिः किमुत्तरं दत्तमिति व्यञ्जनया आह—यथाऽस्मासु तरुषु पत्रपुष्पफलादिभिः साकं जन्यजनकभावे विद्यमानेऽपि पितृपुत्रव्यवहारो नास्ति, तथा त्वय्यपि नास्ति, अतः पुत्रेत्याह्वानं व्यर्थमिति भावः । यद्वा तद्व्यवहारसत्त्वेऽपि यथाऽस्माभिः प्रकृष्टमतिशून्यैरपि जडकल्पैः पुत्रस्थानीयानां पत्रादीनां वियोगे सत्यपि स्नेहानुबन्धिकातर्यं न संपाद्यते, तथा त्वयाऽपि मतिमता न संपादनीयमिति भावः । यद्वा प्रतिध्वनिमिषेण हे पुत्रेति प्रत्युत्तरं ददुः, यदि तवाहं पुत्रः संप्रति, तदा त्वमपि मे पुत्रो जात आसीत् कदाचि-ज्जन्मान्तरेऽपि इत्यतः 'कस्य के पितृपुत्राद्याः मोह एव हि कारणम् ।'

रहित हुए—वे श्रीशुकदेव, कर्मोंके अनधिकारी थे । द्वैपायन = द्वीपमें जन्म लेने वाले श्रीव्यास, दोनों ओर जिसके पानी (गंगा-जल) है—उसे द्वीप कहते हैं, द्वीप जिसका अयन = जन्मस्थान है, उसको द्वीपायन कहते हैं । क्योंकि—महर्षि-पराशर के द्वारा अविवाहित—कन्या अवस्थामें सत्यवतीसे व्यासजी का जन्म हुआ था, और लज्जावश उसे द्वीप में छोड़ दिया गया था । इत्यादि महाभारत की कथा है । द्वीपायन पद ही द्वैपायन हो गया, स्वार्थमें अण् प्रत्यय होनेपर । द्वैपायन यानी व्यास उन्होंने विरह से दीन होकर हे पुत्र ! हे पुत्र ! ऐसे दीर्घ-उच्चारणसे यानी बहुत जोरसे शुकदेवको बुलाया, दूरे से बुलाने का अर्थ होनेसे यहाँ सन्धि नहीं होनी चाहिए, तथापि यहाँ सन्धि आर्ष है—यानी ऋषिने अपनी स्वतन्त्रतासे इसका प्रयोग किया है । तब तन्मय यानी शुकरूप होकर वृक्षोंने उत्तर दिया। पिताके स्नेहानुबन्ध को दूर करने के लिए शुकदेव जी ने वृक्षरूपसे उत्तर दिया—यह भाव है ।

परमात्म-स्वरूपभूत श्रीशुकदेवजी के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त हुए वृक्षोंने क्या उत्तर दिया ? इस बातको व्यञ्जनावृत्तिसे कहते हैं—पत्र, पुष्प फल आदियोंके साथ जन्य-जनक भाव सम्बन्ध होनेपर भी हम वृक्षोंमें जिस प्रकार पिता-पुत्र व्यवहार नहीं होता, उसी प्रकार आपमें भी नहीं है, इसलिए पुत्र ऐसा कहना व्यर्थ है । अथवा पिता पुत्र व्यवहार रहने पर भी जिस प्रकार पुत्र-स्थानीय पत्र आदियोंका वियोग होनेपर भी प्रकृष्टबुद्धिसे शून्य-जड़सदृश होनेपर भी हम लोग स्नेहवश कातर (दीन) नहीं होते, उस प्रकार आप बुद्धिमा विवेकी को भी स्नेहानुबन्ध रखकर कातर नहीं होना चाहिए ।

(भा० ८।१६।१६) इति तथ्यमविज्ञाय किमिति मुधा मुह्यसि शोचसि चेति व्यञ्जयामासुः । यद्वा तन्मयतयेति तच्छब्देन तत्तादात्म्यापन्नः परमात्मोच्यते, स हि तदानीं ध्यानावेशेन प्राप्तसर्वान्तर्यामितादात्म्यः । अत एव सर्वभूतहृत्-अयं, सर्वभूतानि हरति=प्राप्नोत्यन्तर्यामितयेति सर्वभूतहृत्, अतोऽपि पुत्रेत्याह्वानं सर्वान्तर्यामिणि न युज्यत इति भावः । यद्वा न केवलं सर्वात्म-ब्रह्मनिष्ठत्वान्निरपेक्षेऽपि तस्मिन् पितैव स्निग्धो जातः, अपि तु तरवोऽपि जाताः, इत्याह-तन्मयतया= तद्वत्स्नेहमयतया तरवोऽपि अभि=तदाभिमुख्येन नेदुः, किमुतान्ये जीवाः इति भावः । तथा च पाद्मे स्मर्यतेऽपि-'येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि । रज्यन्ति जन्तवस्तत्र स्थावरा जंगमा अपि ॥' इति ।

तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि भक्त्या प्रणतोऽस्मीत्यर्थः । सर्वभूत-

---

अथवा-प्रतिध्वनिके बहाने वृक्षोंने ऐसा ही-हे पुत्र ! हे पुत्र ! प्रत्युत्तर दिया, अर्थात् वह प्रतिध्वनि ऐसा सूचित करती है कि-इस समय मैं आप का पुत्र हो गया हूं, तो कभी जन्मान्तरमें आपभी मेरे पुत्र होंगे, इसलिए इस परिवर्तनशील-क्षणभंगुर-संसारमें 'किसका कौन पुत्र है ? और किसका कौन पिता है ? केवल मोह-भ्रान्ति ही इन सब मिथ्याभावोंका कारण है ।' (भा०) इस तथ्य-वास्तविकताको भूलकर आप क्यों व्यर्थ ही शोक-मोह करते हैं ? अथवा इसका यह भाव है—सर्वभूतहृदयं (सर्वभूतहृद् + अयं) ऐसा यहाँ पदच्छेद है, तन्मय-इस पदमें तत् शब्दसे परमात्माका ग्रहण है, क्योंकि—वह श्रीशुकदेव परमात्माके ध्यानके प्रभावसे उस अन्तर्यामी-परमात्माके साथ तादात्म्यापन्न हो गया है, इस लिए वह 'सर्वभूतहृत्' होगया, अर्थात् अन्तर्यामीरूपसे सब भूतोंके साथ अभेदरूपसे वह मिल गया, इसलिए भी उस सर्वान्तर्यामी परमात्माको पुत्ररूपसे पुकारना उचित नहीं है । अथवा सर्वात्मा ब्रह्ममें निष्ठासंपन्न होनेके कारण उस निर्द्वन्द्व-निरपेक्ष-शुकदेव में केवल अपना पिता व्यास ही स्नेह-युक्त हुआ हो—यह बात नहीं-किन्तु वृक्ष भी उसमें स्नेह-संयुक्त हो गये थे । इस बात को कहते हैं—तन्मयतया, पिता व्यासके समान स्नेहमय होकर वृक्षोंने भी हे पुत्र ! हे पुत्र ! ऐसी पुकार लगाई । जब जडी-भूत वृक्षोंने शुकदेवके प्रति आत्मस्नेह प्रदर्शित किया, तब अन्य चेतन—मृगादि—प्राणियोंने आत्मस्नेह प्रदर्शित किया हो, इसमें तो कहना ही क्या ? अर्थात्-सर्वात्मा, ब्रह्मस्वरूप; शुकदेवके प्रति सभी जड़-चेतन-प्राणियोंने आत्मस्नेह—अभिव्यक्त किया था । अतएव पद्म-पुराणमें भी कहा है कि—'जिसने श्रीहरिकी सर्वात्मभावसे पूजा की है, उसने मानों संपूर्ण जगत् को तृप्त कर दिया । उस ब्रह्मनिष्ठ-महापुरुषमें समस्त जड़-चेतन प्राणी समुदाय अनुराग-प्रेम प्रदर्शित करते हैं ।'

उस सर्वभूत-हृदयरूप शुकदेवमुनिको मैं भक्ति-पूर्वक प्रणाम करता हूं । सर्वभूत

हृदयं=सर्वेषां भूतानां हृदयं=मनो यस्मिंस्तम्। तेन सर्वमनोहरे श्रीकृष्णस्वरूपे 'नन्दनन्दनरूपो हि श्रीशुको व्यासनन्दनः'। इति स्कान्दीय-भागवत माहात्म्यस्मरणात्। तस्मिन् भगवद्विग्रह इव स्नेहोऽयं न प्राकृतमोह इति व्यासस्याप्यविवेकदोषोऽयमिति पराहतः। यद्वा हृदयमिति मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् तात्स्थ्यलक्षणया हृदयावस्थित आत्मा लक्ष्यते। अतोऽयमद्वितीयब्रह्मात्मदर्शी श्रीशुकः सर्वेषां चराचराणां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां भूतानां हृदयः=तत्र स्थित आत्माऽभिन्नस्वरूपः संपन्नः; तथा च गीतास्वप्येवमेव स्मर्यते भगवताऽपि 'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा' (गी० ५।७) इति। यद्वा तन्मयत्वोपपादनाय सर्वभूतानां हृत् मनोऽयते योगबलेन प्रविशतीति सर्वभूतहृदयस्तं मुनिमानतोऽस्मीत्यन्वयः। तेन यो हि महायोगी जडानपि वृक्षान् प्रविश्य प्रत्युत्तरेण पितरमपि समादधौ, स एव चेतनं मां प्रविश्य मन्मुखेनैव श्रीमद्भागवतं वदतु, श्रोतॄणामात्मानं प्रसादयतु इति

हृदय=संपूर्णभूतोंके हृदय यानी मन जिसमें स्थित हो गये हैं—वह। 'व्यासपुत्र-शुकदेव जी नन्दनन्दन-श्रीकृष्णचन्द्र का स्वरूप है' (स्कन्द-पुराणान्तर्गत भागवत-माहात्म्य) इस प्रमाणसे श्रीकृष्णचन्द्रके विग्रह-साकार स्वरूपके समान श्री शुकदेवके साकार-विग्रहमें भी स्नेहका होना प्राकृत-मोह नहीं है, अतः पिता व्यासपर अविवेक दोषका यह आरोप भी निरस्त हो जाता है, अर्थात् व्यासका भी शुकदेव पर शुद्ध प्रेम था, मोह नहीं था। अथवा—'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस वाक्यमें जैसे तात्स्थ्य-लक्षणा स्वीकार करते हैं, वैसे-सर्वभूतहृदय इस वाक्यमें भी सर्वभूतोंके हृदयमें स्थित आत्माका ग्रहण तात्स्थ्य-लक्षणा (अजहल्लक्षणा) से होता है। अतएव यह अद्वितीय-ब्रह्मात्मदर्शी श्रीशुकदेवमुनि, ब्रह्मादि-स्तंब पर्यन्त-चराचरभूतोंके हृदय में स्थित आत्मा होगया, सर्वसे अभिन्न होगया, ऐसा सर्वभूतोंके हृदयमें विराजमान सर्वात्मा- अद्वय-ब्रह्मरूप श्रीशुकदेवजी को मैं प्रणाम करता हूँ। यह अन्वय हुआ। अतएव भगवान्ने भी गीतामें ऐसा ही कहा है—'जिसने मन और इन्द्रियों को जीत लिया है, ऐसा शुद्ध-अन्तःकरण वाला एवं समस्त-प्राणियोंके आत्मरूप-परमात्मामें एकीभावापन्न हुआ निष्काम-कर्म योगी (कर्म करता हुआभी लिपायमान नहीं होता)। (गी०) अथवा—(सर्वभूतानां हृद् अयते इति सर्वभूतहृदयस्तं) अर्थात् तन्मयताके उपपादनके लिए अपने योग-बलसे समस्त भूतोंके हृदयमें जो प्रवेश करता है, ऐसे शुकदेवजी को मैं प्रणाम करता हूँ, ऐसा अर्थ है। इससे यह भाव अभिव्यक्त होता है कि—जिस महान् योगी शुकदेवजीने जड़-वृक्षोंके अन्दर प्रविष्ट होकर उनके द्वारा अपने पिताजीको उत्तर देकर संतुष्ट किया है, वह महान्योगी मुझ चेतनके अन्दर भी प्रविष्ट होकर मेरे मुखसे श्रीमद्भागवतका प्रवचन करें, और श्रोताओंके अन्तरात्मा को प्रसन्न करें। इसलिए जो

श्रीमद्भागवतप्रवचनकर्तुरप्ययं भावो व्यञ्जितः । अत एव प्रवचनकाले भागवतप्रवक्ता योऽपि कश्चन स्यात्, सः सर्वोऽपि शुक एवेति श्रोतारो विभावयेयुः श्रद्धयेति भावः ।

श्रीशुकदेवस्य हृदये प्रादुर्भूतं यज्ज्ञानं तत्केवलमद्वयज्ञानमेवासीत्, यन्निष्ठया स महनीयचरितः परमश्रद्धेयोऽभूत् । अत एव तज्ज्ञानं श्रीमद्भागवते यत्र तत्र बहुशः स्पष्टाक्षरैः प्रतिपादितमुपलभ्यते । तथाहि—'ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् ।' (भा० ११।१६।२७) एकस्यात्मनो भावस्याभेदरूपेण सर्वत्र विद्यमानस्यैव यद्दर्शनं सर्वत्राभेदबुद्धिः, तदेव ज्ञानं मन्तव्यम्, अर्थात् तदन्यद्यद्भेदज्ञानं तन्मिथ्याज्ञानमेव । यद्वा एक एवात्मा ऐकात्म्यं, चातुर्वर्ण्यमितिवद् स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः, तस्यैकस्यात्मनः सर्वत्र दर्शनं ऐकात्म्यदर्शनं, 'आत्मैवेदं सर्वम् ।' (छां० ७।२५।२) इति श्रुतेः । इदं सर्वं आत्मैवास्ति, अर्थादात्मव्यतिरिक्तं किमपि नास्त्येवेति भावः । 'विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधः' । (भा० ११।१६।४०) आत्मनि—एकस्मिन्नद्वयेऽविद्यया प्रतीताया भिदायाः=भेदस्य यो बाधः, स एव विद्या, अर्थात् सैव विद्या वेदितव्या, यया भेदबाधपूर्वकं सर्वत्राभेददर्शनं संपद्येत । अत एवान्यत्र श्रुतौ—भारतेऽपि चाभिधीयते—

कोई भी भागवतका प्रवचनकार हो, प्रवचनके समय उस सबमें श्रद्धापूर्वक 'यह श्री शुकदेव जी ही हैं' ऐसी भावना श्रोताओं को रखनी चाहिए ।

श्रीशुकदेवजीके हृदयमें प्रकट हुआ वह ज्ञान, केवल—अद्वय—ज्ञान ही था, जिसकी निष्ठासे श्रीशुकदेवजी परम श्रद्धेय और प्रशंसनीय-चरित्रवाले बन गये थे । इसलिए श्रीमद्भागवतमें उस अद्वैत-ज्ञानको ही जहाँ तहाँ स्पष्ट-अक्षरोंके द्वारा प्रतिपादित किया हुआ उपलब्ध होता है । 'जीव और ब्रह्म की एकतारूप जो ज्ञान है, वही, या सबमें एकही अभिन्न—आत्माका दर्शन ही वास्तविक ज्ञान है' (भाग०) अर्थ—एक ही आत्माकाभाव सर्वत्र अभिन्नरूपसे विद्यमान है, ऐसी अभेदबुद्धिही वास्तविक ज्ञान है, उससे अतिरिक्त भेदज्ञान मिथ्याज्ञान है, ऐसा मानना चाहिए । अथवा—एकही आत्मा ऐकात्म्य है, यहाँ चातुर्वर्ण्यके समान स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय है । उस एक आत्मा का सर्वत्र दर्शन करना ही ऐकात्म्य-दर्शन है, क्योंकि—इसमें 'यह सब आत्मा ही है' (छां० उ०) यह श्रुति भी प्रमाण है । उस श्रुतिका यह भावार्थ है कि—यह सब आत्मा है, अर्थात् आत्माके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । 'विद्या वही है, जिससे एकही आत्मामें कल्पित—प्रतीत भेदका बाध हो जाय । (भाग०) अर्थ—एक अद्वय आत्मामें अविद्यासे प्रतीत जो भेद है, उसका बाध ही विद्या है, अर्थात् उसीको ही विद्या समझनी चाहिए, जिससे भेदका बाध होकर सर्वत्र अभेद दर्शन हो जाय । इसीलिए अन्य श्रुतिमें तथा महाभारतमें भी कहा है कि—'एकही प्रकारसे उस ब्रह्मको देखना चाहिए' (उप०)

'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' (बृ० उ० ४।४।२०) 'अभेददर्शनं ज्ञानं' (मैत्रेय्युपनिषद्-२।२) एकधैव=एकेनैव प्रकारेण पूर्णाद्वयविज्ञानानन्दघनैकरसप्रकारेणाऽऽकाशवन्निरन्तरेणानुद्रष्टव्यम्=शास्त्राचार्योपदेशादनु सर्वत्र दर्शनं कर्तव्यमित्यर्थः। 'एकत्वं दर्शनं चास्य, नानात्वं चाप्यदर्शनम्। एकत्वमक्षरं प्राहुर्नानात्वं क्षरमुच्यते ॥' (म० भा० शान्तिपर्व० ३०५।३६) इति। एकत्वं=अभेदभाव एव दर्शनं=शास्त्रतात्पर्यगम्यं शान्तिसुखप्रयोजकं ज्ञानं, अनधिगतत्वादबाधितत्वाच्च नानात्वं=भेदभावः, अदर्शनं=मिथ्याज्ञानं, अधिगतत्वाद् बाधितत्वाच्च न शास्त्रप्रतिपाद्यं, एकत्वं=अद्वयभाव एव, अक्षरं=अविनाशि-विनाशहेतोर्द्वितीयस्याभावात्, नानात्वं=द्वयभावः, क्षरं=विनाशि, व्यावृत्तत्वात्।

एवं—'तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान् व्यतरद्विभुः। येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः॥' (भा० १०।७६।३१) तेभ्यः=ऋषिभ्यः, भगवान् विभुः, विशुद्धं=संशयविपर्ययादिरहितं विज्ञानं व्यतरत्=ददौ। येनैव ज्ञानेन, आत्मनि अदो विश्वं=समस्तं जगदिदं अध्यस्तं, अत एवाव्यतिरिक्तं विदुः=ऋषयो विदांचक्रुः। तथाऽऽत्मानं विश्वगं=विश्वं—

अभेददर्शन ही ज्ञान है' (मैं० उ०) अर्थ—एकही प्रकारसे यानी पूर्ण-अद्वय विज्ञानानन्दघन-एकरस रूपसे, यानी आकाशके समान अभेदरूपसे अनुदर्शन करना चाहिए, अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशके अनुसार सर्वत्र अभेद दर्शन करना चाहिए। इस आत्मा का एकत्व दर्शन ही वास्तविक-दर्शन है, नानात्व का दर्शन वास्तविक-दर्शन नहीं है। क्योंकि—एकत्वही अबाधित-अविनाशी है, और अनेकत्व बाधित विनाशी कहा गया है। (महाभा) अर्थ—एकत्व = अभेदभावही दर्शन = शास्त्रतात्पर्यसे गम्य-शान्ति और सुखका प्रयोजक ज्ञान है। क्योंकि--अभेदज्ञान ही प्रत्यक्षादि-प्रमाणोंसे अनधिगत है, और किसीसे भी बाधित नहीं होता। नानात्व = भेदभाव, अदर्शन यानी मिथ्या-ज्ञान है, क्योंकि—वह अधिगत है और बाधित है, इसलिए वह शास्त्रसे प्रतिपाद्य नहीं है। एकत्व यानी अद्वयभाव ही, अक्षर अर्थात् अविनाशी है। क्योंकि-उसमें विनाशका प्रयोजक द्वितीय पदार्थ और कोई नहीं है। नानात्व = द्वैतभाव, क्षर = विनाशी है, क्योंकि—यह व्यावृत-व्यभिचारी है। 'सर्वसमर्थ भगवान्‌ने उन ऋषियोंको विशुद्धतत्त्व-ज्ञानका उपदेश दिया, जिससे वे अपने आपमें संपूर्ण विश्वको और समस्त विश्वमें अपने आपको अनुभव करने लगे।' (भाग०) अर्थ—उन ऋषियोंको विभु भगवान्‌ने विशुद्ध यानी संशय-विपर्ययरहित-विज्ञान दिया, उन ऋषियोंने जिस ज्ञानके द्वारा अपने आत्मामें उस समस्त जगत्‌को जो अध्यस्त है—अभिन्न रूपसे जाना और अपने आत्मा को समस्त विश्वमें अभेदरूपसे अवस्थित जाना। जैसे विवेचक बुद्धिमान् लोग, सुवर्ण में अध्यस्त—कटक—कुण्डल आदि आभूषणोंको सुवर्णसे अभिन्न

गच्छति—व्याप्य तिष्ठतीति विश्वस्मिन्नवस्थितमभेदरूपेण विदुः। यथा सुवर्णेऽध्यस्तमाभरणजातं ततोऽव्यतिरिक्तं, एवं सुवर्णमाभरणजातेऽभेदरूपेणावस्थितं विवेचका मतिमन्तो जानन्ति तद्वत्। अनेनापि केवलमद्वयज्ञानमेव समर्थितम्।

अपि च भेदभावो मिथ्यैवाविद्यया प्रतीयते, अत एव विद्यया तस्य भ्रमरूपस्य द्वयभावस्य निवृत्त्याऽद्वयब्रह्मभाव एवामृतत्वप्रयोजकः परिशिष्टो लभ्यते तत्त्वविद्भिर्महानुभावैरित्यपि स्पष्टं प्रतिपाद्यते—तथाहि-'आत्मानमन्विच्छ विमुक्त आत्मदृक् यस्मिन्निदंभेदमसत् प्रतीयते।' (भा० ४।११।२६) हे ध्रुव ! त्वं, आत्मानं—स्वस्वरूपतया वर्तमानं भगवन्तं, अन्विच्छ=शास्त्र-सद्गुरुसहकारेण तस्य ध्यानेनान्वेषणं कुरु। यस्मिन्नन्विष्टे सति त्वं आत्मदृक्-प्रत्यगभिन्नब्रह्मदृष्टिः सन् अविद्यातत्कलमषेभ्यो विमुक्तः सद्यो भविष्यसि। यस्मिन्=आत्मनि—पूर्णाद्वयेऽधिष्ठाने, इदंभेदमिति समस्तं पदं, अयं दृश्यमानो भेदो यस्मिंस्तदिदंभेदं नामरूपात्मकं जगत्—असदेव मिथ्याभूतमेव प्रतीयते। 'पूर्वे शर्वादयो भ्रममिमं द्वितयं विसृज्य सद्यस्तदीयमतुलानधिकं महित्वं प्रापुः।' (भा० ६।१५।२८) पूर्वे=पुरातनाः, शर्वादयः=रुद्रादयो देवा अपि इमं=दृश्यमानमज्ञैः द्वितीयं भ्रमं=द्वयभावलक्षणं भ्रमं, अविद्याऽ

जानते हैं, और सुवर्णको आभरणोंमें अभिन्न रूपसे अवस्थित जानते हैं, उस प्रकार जगत्में आत्मा और आत्मामें जगत् अभिन्न हैं। इस भागवतके वचनसे भी केवल अद्वैत ज्ञानका ही समर्थन किया है।

भेदभाव मिथ्या ही अविद्यासे प्रतीत होता है, और विद्यासे भ्रमरूप उस भेद-भाव की निवृत्ति होती है, अनन्तर अमृतत्वका प्रयोजक अद्वय-ब्रह्मभाव ही परिशिष्ट रूपसे तत्त्वविद् महानुभाव प्राप्त करते हैं, ऐसा भी स्पष्टतः कहा गया है कि–'हे ध्रुव ! तुम नित्य-मुक्त उस परमात्मा को अपने अन्तःकरण में ढूंढो, जिसमें यह द्वैतप्रपञ्च न होने पर भी प्रतीत हो रहा है।' (भाग०) हे ध्रुव ! तुम आत्माका यानी अपने स्वस्वरूपसे अवस्थित–भगवान्‌का शास्त्र और सद्गुरु का सहकार पूर्वक ध्यान द्वारा अन्वेषण करो। जिसे खोजने पर तू प्रत्यगात्मा से अभिन्न-ब्रह्मकी दृष्टिवाला हुआ माया और उसके दोषोंसे विमुक्त होजायगा। जिस पूर्ण-अद्वय अधिष्ठानरूप आत्मा में दृश्यमान-भेदज्ञानका विषय–जो यह नामरूपात्मक-द्वैतप्रपञ्च है, वह मिथ्या ही प्रतीत होता है। 'प्राचीन रुद्रादि-देवता लोग-भ्रमरूप इस द्वैतप्रपञ्चको छोड़कर शीघ्र ही उसकी महिमा को प्राप्त हुए, जिससे बढ़कर और कोई है ही नहीं, एवं समान भी नहीं है।' (भाग०) अर्थ—पूर्व=पुरातन रुद्र आदि देवता लोगों ने भी इस द्वैतप्रपञ्चरूप भ्रमका—जिसे अज्ञानी देखते हैं—विद्यासे बाधकरके, क्योंकि—यह अविद्यासे अध्या-

ध्यारोपितत्वात्, विसृज्य = विद्यया बाधित्वा, सद्यः = तत्कालमेव भ्रमनिवृत्ति समकालमेवेत्यर्थः, तदीयं—तत्स्वरूपभूतं, अतुलं च तदनधिकं च, समानाधिकभावशून्यं, महित्वं = महिमानं—अद्वयब्रह्मभावलक्षणं प्रापुः = सम्पादयामासुः ।

एवमद्वयब्रह्मतत्त्वदर्शी श्रीशुकः सिद्धः प्रबुद्धश्चास्ति । अत एव स्वस्वरूपावस्थितः सिद्धः प्रबुद्धो यः कोऽपि स्यात् प्राक्तनो वाऽर्वाचीनो वा, स देहाद्युपलक्षितं द्वैतं वास्तविकतया स्वप्नवत् नैव पश्यति, न च तदभिनिविष्टचेतसा तत्सेवते च इत्यप्याह—'देहञ्च नश्वरं······सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।' (भा० ११।१३।३६) सिद्धः = अद्वयब्रह्मात्मनिष्ठः, नश्वरं देहं = तदुपलक्षितनामरूपात्मकं जगत् विविधभेदवत्, न पश्यति = नावलोकयति–नानुसंधत्ते, कुतः ? यतः = यस्मात् कारणात्, स्वरूपं = पूर्णाद्वयस्वरूपं, अध्यगमत् = आपरोक्ष्येण ज्ञातवान् प्राप्तवान् वा । यद्वा येन देहेन स्वरूपमध्यगमत्, तं देहमपि यो न पश्यति, तदा कुतोऽन्यत् पश्येत् । 'तं सप्रपञ्चम-

रोपित है—शीघ्र ही यानी भ्रमनिवृत्तिके समकालमें ही स्वस्वरूपभूत- अद्वय ब्रह्मभाव रूप अपनी महिमा को प्राप्त किया । जिससे अधिक कोई है ही नहीं, एवं समान भी नहीं है ।

इस प्रकार अद्वैत–ब्रह्मतत्त्वदर्शी श्रीशुकदेव भी महान् सिद्ध और प्रबुद्ध थे । अतएव स्वस्वरूपावस्थित—कोई भी सिद्ध एवं प्रबुद्ध, चाहे वह प्राचीन हो, या चाहे वह अर्वाचीन (आजकल का) हो, देहादि से उपलक्षित-द्वैतप्रपञ्च को वास्तविकरूपसे नहीं देखता है, जैसे स्वप्न । एवं आसक्ति पूर्वक उसका सेवन भी नहीं करता है । इस बातको कहते हैं—'सिद्धज्ञानी नश्वर शरीर को नहीं देखता है, क्योंकि—वह स्वस्वरूपमें अवस्थित हो गया है । (भाग०) अर्थ—सिद्ध = अद्वय ब्रह्मनिष्ठ-ज्ञानी, नश्वर-देहको यानी देहादिसे उपलक्षित विविधभेदवाला संपूर्ण नामरूपादि-जगत्को नहीं देखता है, क्योंकि—उसने पूर्ण-अद्वय-स्वस्वरूपको प्रत्यक्षरूपसे जान लिया है । अथवा–जिस देहसे उसने स्वस्वरूपको प्राप्त किया है, उस देहको भी जब नहीं देखता है, तब दूसरे पदार्थ के देखने की बात ही कैसे हो सकती है ? 'आत्माका साक्षात्कार करने वाला और समाधि पर्यन्त योगमें आरूढ हुआ पुरुष, प्रपञ्च-सहित उस शरीर को भी अपना मानकर सेवन नहीं करता, जैसे जागा हुआ पुरुष स्वप्नके शरीर-आदिका' (भा०) अर्थ—प्रतिबुद्धवस्तु = जिसने यथार्थरूपसे ब्रह्मात्म–वस्तुको जान लिया है वह, अधिरूढ समाधियोग = जिसने समाधि पर्यन्त ज्ञानयोग को प्राप्त कर लिया है वह, सप्रपञ्च = गृह, पुत्र, स्त्री और धन आदि प्रपञ्च सहित, देहका भी अहंममरूपसे जो ग्रहण एवं सेवन नही करता है । अथवा-विस्तृत-विविध-भेदोंवाला-नामरूप एवं

धिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः।' (भा० ११।१३।३७) प्रतिबुद्धं यथावद्विज्ञातं वस्तु = ब्रह्मात्मतत्त्वं येन सः प्रतिबुद्धवस्तुः, अधिरूढः = संप्राप्तः समाधिपर्यन्तो योगो = ज्ञानयोगो येन सः = अधिरूढसमाधियोगः, सः, सप्रपञ्चं = गृहपुत्रकलत्रधनादिसहितं तं देहं पुनर्न भजते = अहंममतया न गृह्णाति, यद्वा विस्तृतविविधभेदवदिदं नामरूपक्रियात्मकं जगत्, अभिनिविष्ट चेतसा न भजते = न सेवते, यथा प्रतिबुद्धः स्वाप्नं शरीरादिकं प्रपञ्चं तत्र दृढतममिथ्यात्वबुद्धिसत्त्वेन न भजते तद्वदित्यर्थः।

तथा च—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ब्रह्माहमस्मि केवलम्। इतो ब्रह्म ततो ब्रह्म नास्त्यब्रह्ममयं जगत्॥ आकाशो भूर्जलं वायुरग्निर्ब्रह्मा हरिः शिवः। यत्किञ्चिद्यन्न किञ्चिच्च सर्वं चिन्मात्रमेव हि॥ अखण्डैकरसं सर्वं सच्चिदानन्द-मस्म्यहम्। सर्वदा पूर्णरूपोऽस्मि, नित्यतृप्तोऽस्म्यहं सदा॥' इत्यादिरूपया विभावनया लब्धाद्वयब्रह्मनिष्ठः श्रीशुको महान् एव श्रीमद्भागवतस्यादिमः प्रवक्ता, ज्ञानोपदेशेन परीक्षितः राजर्षेः—समुद्धर्ता कस्य सचेतसो न श्रद्धेयः? इतिशम्।

क्रियात्मक-इस जगत्का जो सत्यत्व—सुखत्व एवं सुन्दरत्व की भावनावाले-अभिनिविष्ट चित्तसे-सेवन-चिन्तन नहीं करता। जिसप्रकार जागा हुआ मानव स्वप्नके शरीरादि-प्रपञ्चका उसमें दृढ़तम—मिथ्यात्व बुद्धि होनेके कारण-सेवन चिन्तन नहीं करता, उस प्रकार इस जाग्रतके दृश्य-देहादि-पदार्थोंका भी मिथ्यामानकर उनसे सदा वह उपरत ही रहता है। उसमें अभिनिवेश नहीं रखता। तथा च 'यह सब निश्चयतः ब्रह्म ही है, ब्रह्म ही है, मैं भी केवल ब्रह्म ही हूँ, इधर भी ब्रह्म है, उधर भी ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे भिन्न जगत् है ही नहीं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वीरूप पञ्चभूत, एवं ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर रूप भगवान् की साकार-त्रिमूर्तियाँ, तथा इस जगत् में जो कुछ है, और जो कुछ नहीं है, वह सब चिन्मात्र-ब्रह्म ही है। सब कुछ अखण्ड एकरस ब्रह्म है, मैं भी सच्चिदानन्द ब्रह्म ही हूँ, सदा मैं पूर्णरूप हूँ, और नित्यतृप्त हूँ।' इत्यादि दृढ एवं एकाग्र भावना से जिसने अद्वय-ब्रह्मनिष्ठा की प्राप्ति की है, और जिसने सर्वतः प्रथम श्रीमद्भागवतका प्रवचन किया है, तथा जिसके ज्ञानोपदेशसे महाराज परीक्षित्का उद्धार हुआ है, वह श्रीशुकदेव जी महान् ही हैं, अतः किस मतिमान् के लिए श्रद्धेय नहीं हैं? अर्थात् सभी विवेकी—विचारकों के लिए वे परम श्रद्धास्पद हैं। इतिशम्।

(५)

(आत्मारामा ज्ञानिनः श्रीहरेर्निष्कामभक्ता एव परमप्रियाः सन्ति)

ज्ञानभक्तिवैराग्याणामस्ति साहचर्यं मिथोऽविनाभावलक्षणं, यतस्तेषामन्यतमेन विनाऽन्ययोर्वास्तविकं स्वरूपमेव न सिद्ध्यतीत्यस्ति सकलमोक्षशास्त्रसिद्धान्तः। अत एवाहुर्भगवन्तो बादरायणमुनयोऽप्यत्रैकादशे—'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैपस्त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाऽश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥' (भा० ११।२।४२) इति। अयमर्थः- प्रपद्यमानस्य = निष्कपटं भगवच्छरणतामापन्नस्य मुमुक्षोः, भक्तिः = अनन्यप्रेमलक्षणा, परेशानुभवः = परेशस्य भगवतोऽनुभवः = विज्ञानं, अन्यत्र = भगवतोऽन्यस्मिन् कलत्रपुत्रधनादौ विरक्तिः = वैराग्यं, इत्येषः त्रिकः = त्रयाणां समुदायः एककालः = एकस्मिन्नेव समये = भगवच्छरणागतिकाले संभवो यस्य सः एककालः। अर्थादेकस्मिन्नेव श्रद्धालौ प्रपन्ने महामानवे साधके एकस्मिन्नेव समये तेषां त्रयाणां मिथोऽविनाभूतसाहचर्येण संघट्टनं

(५)

(जो अपनी आत्मामें मस्त हैं, ऐसे निष्काम ज्ञानी भक्त ही भगवान् श्रीहरि के अत्यन्त प्यारे हैं)

ज्ञान, भक्ति एवं वैराग्य इन तीनोंका अविनाभावरूप (एक के बिना दूसरेका न रहना) ऐसा साहचर्य है, क्योंकि–इनमेंसे एकके न रहनेपर दूसरे दोका वास्तविक स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता। ऐसा सम्पूर्ण मोक्ष-शास्त्रोंका सिद्धान्त है। इसीलिए इस भागवतके एकादश-स्कन्धमें भगवान् बादरायण मुनि व्यास भी कहते हैं कि—'जैसे भोजन करने वालेको प्रत्येक ग्रासके साथ तृप्ति, पोषण-शक्ति का संचार, और क्षुधाकी निवृत्ति, ये तीनों युगपत् होते जाते हैं, वैसे ही जो मनुष्य भगवान्की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है—उसे भजन के प्रत्येक क्षणमें भगवान्में प्रेम-भक्ति, परम-प्रेमास्पद—भगवत्स्वरूपका अनुभव, और विषयोंसे वैराग्य, इन तीनोंकी एक साथ ही प्राप्ति हो जाती है।' (भा०) यह अर्थ है—निष्कपटभावसे भगवान् की शरणमें जाने वाले मुमुक्षुको भगवान्में अनन्य प्रेम-लक्षणा-भक्ति, एवं परमेश-भगवत्स्वरूपका ज्ञान और भगवान्से अतिरिक्त समस्त स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थोंमें विरक्ति यानी वैराग्य, ये तीनों एकही समयमें अर्थात् भगवान् की शरणमें जाते ही-होते हैं। भगवान् की शरणमें गये हुए–श्रद्धालु-साधकमें ये तीनों एक ही साथ अविनाभूत-साहचर्यसे यानी एक के रहने पर दूसरों का अवश्य रहना रूप-साहचर्य नियमसे संमिलित होते हैं। जिस प्रकार भोजन करने वालेको प्रत्येक ग्रासके साथ एकही समय में मनमें संतोष, उदरकी पूर्ति रूप-तुष्टि और क्षुधा की निवृत्ति, होती रहती है, अथवा देह, इन्द्रिय

संपद्यते इति। यथाऽश्नतः=भुञ्जानस्य पुंसः, अनुघासं=प्रतिग्रासं एकस्मिन्नेव समये तुष्टिः=मनःसंतोषः, पुष्टिः=उदरपूर्तिः देहेन्द्रियप्राणतृप्तिर्वा, क्षुदपायः=क्षुन्निवृत्तिश्च स्युः। अर्थात् यथा क्षुन्निवृत्तिमन्तरेण न तुष्टिपुष्टी स्यातामेवं तुष्टिपुष्टी विना न क्षुन्निवृत्तिरप्यनुभूयते केनापि। एवं तुष्टिं विना स्वातन्त्र्येण पुष्टिरपि, एवं पुष्टिं विना तुष्टिरपि न सिद्ध्यति। तथा भक्तिं विना न ज्ञानवैराग्ये सिद्ध्येते, एवं ताभ्यां विना भक्तिरपि न वास्तविकी सफला सिद्ध्यति, एवं वैराग्यं विना ज्ञानं, तद्विना च वैराग्यं न संपद्येते। सत्येवं त्रयाणां सिद्धिः समकाला मिथः सहकारलभ्यैवैकस्मिन्नेवाधिकारिणि प्रपन्ने संपन्ना भवतीति भावः।

अत एव श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये 'अहं भक्तिरिति ख्याता, इमौ मे तनयौ मतौ। ज्ञानवैराग्यनामानौ।' (१।४४) इत्यनेन त्रयाणां तेषां प्रेमसम्बन्धनिमित्तकं साहचर्यमप्येकत्र द्योत्यते। भक्तिश्चास्ति जननी माता, तस्याः ज्येष्ठस्तनयोऽस्ति वैराग्यं, अनुजोऽस्ति ज्ञानम। लोके हि सत्पुत्राः मातरमतीव संमानयन्ति, श्रद्धया सेवन्ते च। एवं सुशीला माताऽपि पुत्राणा-

एवं प्राणों की तृप्ति भी तुष्टि है। अर्थात् क्षुधाकी निवृत्ति के विना तुष्टि एवं पुष्टि नहीं होती, और तुष्टि पुष्टिके विना कोई भी क्षुधा की निवृत्तिका अनुभव नहीं करता। इस प्रकार तुष्टिके विना स्वतन्त्ररूपसे पुष्टि भी सिद्ध नहीं होती, और पुष्टिके विना तुष्टि भी सिद्ध नहीं होती है। वैसे ही भक्तिके विना ज्ञान और वैराग्य सिद्ध नहीं होते, और ज्ञान-वैराग्य के विना वास्तविकी एवं सफला भक्ति भी सिद्ध नहीं होती है। एवं वैराग्य विना ज्ञानकी सिद्धि नहीं, और ज्ञानके विना वैराग्यकी सिद्धि नहीं। ऐसा सिद्ध हो जानेपर भगवान्‌के शरणापन्न-एकही अधिकारी-मानवमें उन तीनों साधनों की परस्पर के सहकारसे प्राप्त होने वाली एवं एकही समयमें प्रकट होनेवाली सिद्धि हो जाती है, ऐसा भाव है।

इसलिए श्रीमद्भागवतके माहात्म्य में कहा है—'मैं विख्यात भक्ति हूँ और ज्ञान एवं वैराग्य ये दोनों मेरे पुत्र हैं' इससे तीनोंका प्रेमनिमित्तक-परस्पर साहचर्य भी एक ही स्थलमें सूचित होता है। भक्ति जननी-माता है, और उसका बड़ापुत्र वैराग्य तथा छोटापुत्र ज्ञान है। लोकमें भी प्रसिद्ध है कि-सु-पुत्र, माताकी अतीव सम्मान एवं श्रद्धाके साथ सेवा करता रहता है। तथा सुशीला माता भी पुत्रों पर अतीव प्रेम रखती है। जिस प्रकार पुत्र-प्राप्ति के विना नारी वन्ध्या (निष्फला) मानी जाती है, तथा—प्रायः मांगलिक कार्य के समय उसका (बाँझ-स्त्री का) दर्शन होना भी लोग अच्छा नहीं समझते हैं, उसी प्रकार ज्ञान और वैराग्य के लाभ के विना भक्ति भी वन्ध्या (निष्फला) मानी जाती है। जैसे माता के विना पुत्रकी उत्पत्ति और माताके

मुपरि प्रेमाणमतुलं बिभर्तीत्यप्यस्ति विश्वजनीनम् । पुत्रलाभमन्तरेण माता यथा वन्ध्या निष्फला प्रोच्यते, शुभसमये तद्दर्शनमपि लोका न कामयन्ते । तथा ज्ञानवैराग्यलाभमन्तरेण भक्तिरपि वन्ध्या निष्फला संपद्यते । यथा मातरं विना पुत्रोद्भवः, तदाशीर्वादं विना पुत्राभ्युदयश्च कथमपि न सिद्ध्यति । तथा भक्तिं विना ज्ञानवैराग्ययोः समुद्भवः, तदनुग्रहं विना तयोः साफल्यञ्च कथमपि न संपद्यते । अत एव विवेचका अनुभविनो वदन्ति यत्—ज्ञानं विना भगवद्भक्तिः अन्धकल्पैवावतिष्ठते, ज्ञानस्य प्रकाशकनेत्रकल्पत्वात् , केवलया तयाऽऽभासरूपयादम्भपाखण्डादिरूपानर्थगर्तपातोऽपि संभवेत्कदाचिदन्धस्येव । एवं भक्तिं विना ज्ञानवैराग्येऽपि-नीरसे स्तः, पङ्गुवत् तत्त्वनिष्ठालाभस्य प्रयोजके न भवतः ।

ननु-भक्तेर्जननीतया ज्ञानादिपुत्राभ्यां पूर्वभावित्वात् कथं त्रयाणामेककाले साहचर्यमिति चेत् अत्रोच्यते—फलसाधनभेदेन भक्तिद्वैविध्योपपत्तेरदोषः । तथा च साधन—भूतायाः भक्तेर्जननीत्वेऽपि फलभूतायास्तस्याः भगिनीतया त्रयाणां तेषामेककालिकं साहचर्यमुपपद्यत एव । यथा 'विज्ञप्ति-

आशीर्वाद के बिना पुत्रका अभ्युदय किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता । उसी प्रकार भक्तिके बिना ज्ञान एवं वैराग्यका समुद्भव और भक्तिके अनुग्रह बिना ज्ञान-वैराग्यकी सफलता भी किसी प्रकार से सम्पन्न नहीं होती । इसलिए अनुभवी विवेचक कहा करते हैं कि—ज्ञानके बिना भक्ति, नेत्रविहीना—अन्धी के समान है । क्योंकि–ज्ञानही उसका प्रकाशक-नेत्रके समान है । अन्धके समान केवल उस आभास-भक्तिके द्वारा ज्ञानरूपी नेत्र न होनेसे दम्भ—पाखण्ड—आदिरूप अनर्थमय गड्ढे में गिर पड़नेका भी सम्भव है । उसी प्रकार भक्तिके बिना ज्ञान-वैराग्य भी निरस और लंगड़ेसे हैं । क्योंकि—वे तत्त्वनिष्ठा प्राप्त करनेमें पूर्ण सहायक नहीं हो सकते हैं ।

शंका = जननी होनेसे भक्ति की विद्यमानता, पश्चाद्भावि ज्ञान-वैराग्य की अपेक्षा प्रथम माननी पड़ेगी, तब तीनोंका एक ही समय साहचर्य कैसे होगा ?

समाधान—भक्ति दो प्रकार की है, एक साधनरूपा और दूसरी फलरूपा । इसलिए पूर्वोक्त शंका प्रयुक्त दोष नहीं हो सकता । तथा च साधनरूप भक्तिको जननी होनेपर भी, फलरूपा वह भक्ति भगिनी होनेके कारण उन तीनोंका एक ही कालमें साहचर्य हो सकता है । जिस प्रकार 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुतिमें—विज्ञप्तिः विज्ञानं– ऐसी भावव्युत्पत्ति द्वारा विज्ञान शब्दका ब्रह्म अर्थ होता है, और 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' यहाँ-विज्ञायते अनेन—इस करण-व्युत्पत्ति द्वारा विज्ञान शब्दका अर्थ अन्तःकरण होता है । उसी प्रकार यहाँ भी-भजनं भक्तिः—इस भाव व्युत्पत्ति द्वारा भगवत्तत्त्वविषयक उत्कट प्रेमसे सनी हुई भगवदाकार-अन्तःकरणकी वृत्तियोंका सतत प्रवाह रूपा

विज्ञानं' इति भावव्युत्पत्त्या 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० उ० ३।६।२८) इत्यत्र विज्ञानशब्दो ब्रह्मणि वर्तते, 'विज्ञायतेऽनेने'ति करणव्युत्पत्त्या 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै० २।५।१) इत्यादावन्तःकरणे वर्तते, तथा भजनमन्तःकरण-वृत्तीनां भगवत्तत्त्व—विषयकप्रेम—प्रकर्षशालि—तदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन-फलमभिधीयते, तस्य च तादृशभजनरूपस्य फलस्य ज्ञानमयतया निरतिशयपुमर्थत्वमप्यव्याहतमेव । एतच्चाभिहितं सप्तमेऽपि—'यस्य नारायणो देवो भगवान् हृद्गतः सदा । भक्त्या केवलयाऽज्ञानं धुनोति ध्वान्तमर्कवत् ॥' (भा० ७।१३।२१) हृद्गतः = हृदि= एकाग्रासु अन्तःकरणवृत्तिषु प्रविष्टः सन् अज्ञानं-धुनोति=विध्वंसते, अर्को यथा बहिर्ध्वान्तम् । भक्त्या ज्ञानमय्यैवाज्ञानध्वंससंभवात्, केवलयेति पदेन कर्मव्यतिरेको बोध्यते, न तु तत्त्वज्ञानस्य । अतः केवलया—सकामकर्मामिश्रयेत्यर्थः । अपि च 'हृद्गतः' इत्यनेनान्यथानुपपत्त्या 'ज्ञायमानः सन्' इत्याक्षिप्यते, ज्ञायमानानन्दस्यैव पुरुषार्थत्वसंभवात्, अज्ञायमानरूपेण तु सर्वेषामपि हृद्गतोऽस्त्येव । सत्येवमज्ञानविध्वंसनमप्युपपद्यते । तथा भज्यते—

फलात्मिका भक्ति कही जाती है । ऐसा भजनरूप-फल ज्ञानमय है, अतः उसमें निरतिशय-पुरुषार्थत्व भी विद्यमान है, अर्थात्—इसके द्वारा पुरुष-अभिप्रेत-फल-समस्त दुःखोंकी निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति-भी सन्निहित हो जाता है । भागवतके सप्तम स्कन्धमें ऐसा कहा भी है—'जिसके हृदयमें भगवान् नारायण सदा प्रकटरूपसे विराजमान रहते हैं, वे केवल-भक्तिके द्वारा अज्ञानको दूर कर देते हैं, जैसे सूर्य अन्धकारको दूरकर देता है ।' (भा०) अर्थ—हृदयगत यानी एकाग्र हुई-अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें प्रविष्ट होकर (भगवान्) अज्ञान को दूर कर देते हैं, जैसे सूर्य बाहरके अन्धकारको । ज्ञानमयी-भक्तिसे ही अज्ञानके नाशका संभव है । यहाँ केवल-पदसे कर्म की व्यावृत्ति बतलाई है, न कि-तत्त्वज्ञानकी व्यावृत्ति । अतः केवला यानी सकाम—कर्मसे अमिश्रिता, ऐसा अर्थ है । और भी यहाँ एक बात सूचित होती है कि—अन्यथानुपपत्ति-प्रमाण द्वारा 'हृद्गत' इस पदसे 'ज्ञायमान' यानी ज्ञानका विषय होता हुआ ऐसा आक्षेप किया जाता है । क्योंकि—ज्ञायमान-आनन्दरूप-भगवान्में ही पुरुषार्थता का संभव है । अज्ञायमानरूपसे तो भगवान् सदा सबके हृदयमें रहते ही हैं । अतः हृदयावस्थित-भगवान् यदि ज्ञायमान न हो तो अज्ञायमान-भगवान्के द्वारा अज्ञानका ध्वंस कभी नहीं हो सकता, इसलिए-अज्ञान का ध्वंस ही भगवान्में ज्ञायमानताको सिद्ध करता हुआ, भक्तिरूप साधनमें भी ज्ञानमयीत्वकी भी कल्पना करा देता है, ऐसा माननेपर ही वर्णित—अज्ञानके ध्वंस की भी उपपत्ति होजाती है । तथा भज्यते अनया अर्थात् अन्तःकरण को भगवदाकार किया जाता है, जिससे—इस करण व्युत्पत्ति द्वारा भक्ति

सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनयेति करणव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन श्रवणकीर्तनादि—साधनमभिधीयते। तस्य च स्वयं पुरुषार्थत्वाभावाद् साधनत्ववादानामपि प्रामाण्यमविरुद्धम्। एतच्च स्पष्टीकृतमेकादशेऽपि–'स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्। भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥' (भा० ११।३।३१) इति। अत्र करणव्युत्पत्त्या प्रथमभक्तिशब्दो भागवतधर्म्मेषु—सत्संगानासक्ति—दयामैत्री—स्वाध्याय—ब्रह्मचर्य-श्रवणकीर्तनादिषु प्रयुक्तः, द्वितीयस्तु भावव्युत्पत्त्या फले। एवं—'भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया। नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम्॥' (भा० ११।३।३३) इत्युपसंहारे प्रथमसाधन—भक्तिस्थाने भागवतधर्मशब्दप्रयोगात्। तदुत्थया=तेभ्यः संजातया फलरूपया ज्ञानमय्या भक्त्या नारायणपरः= नारायणः सर्वात्माऽद्वयब्रह्मस्वरूप एव परं=प्राप्यं लक्ष्यं अत एव तस्मिन्नेव निष्ठा यस्य सः। अञ्जः=अञ्जसा—अनायासेन, दुस्तरां मायां अज्ञानाख्यामखिलानर्थहेतुं तरति=नाशयतीत्यर्थः। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां

शब्दसे श्रवण–कीर्तन आदि साधन-भक्तिका भी ग्रहण होता है। वह स्वयं पुरुषार्थ नहीं है। अतः उसमें साधनताके कथनका प्रामाण्य भी विरुद्ध नहीं है। अतः एकादश स्कन्धमें भी इस बातका स्पष्टीकरण यानी साधन-भक्ति एवं फल-भक्तिका विशद विवेचन किया है—'पापों के ढेरोंका नाश करने वाले उन श्रीहरिका आप सब स्मरण करें, और एक-दूसरेको स्मरण करावें, इसप्रकार स्मरण कीर्तनादि साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते करते ज्ञानमयी-अनन्य प्रेमलक्षणा भक्तिका उदय हो जाता है। फिर वे ज्ञानी-भक्त प्रेमोद्रेक से पुलकित शरीर धारण करते हैं।' (भा०) यहाँ भक्ति शब्द दो वार आया है। करण-व्युत्पत्ति द्वारा प्रथम भक्ति शब्द; सत्संग, अनासक्ति, दया, मैत्री, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, श्रवण-कीर्तन आदि भागवत-धर्मों में प्रयुक्त हुआ है। द्वितीय भक्ति शब्द, भाव-व्युत्पत्तिके द्वारा ज्ञानमयी-फलरूपा पराभक्तिमें प्रयुक्त है। 'इस प्रकार जो भागवत-धर्मोंकी शिक्षा ग्रहण करता है, उसे उनके द्वारा ज्ञानमयी-पराभक्ति की प्राप्ति हो जाती है। और वह भगवत्परायण होकर शीघ्र ही उस दुस्तर-मायासे पार हो जाता है।' (भा०) इस उपसंहारमें प्रथम साधन भक्तिके स्थानमें भागवत धर्म-शब्दका प्रयोग किया गया है। तदुत्थया अर्थात् उन भागवत धर्मोंके सेवनसे उत्पन्न, ज्ञानमयी फल-भक्तिद्वारा नारायणके परायण होकर यानी अद्वय ब्रह्मस्वरूप-सर्वात्मा-नारायण ही प्राप्त करने योग्य-परम लक्ष्य है, अतएव उसमें ही निष्ठासंपन्न होकर निखिल अनर्थों का कारण दुस्तर=दूर करनेमें महान् कठिन-अज्ञान संज्ञा वाली माया को दूर कर देता है। यानी नष्ट कर देता है। 'जो लोग मेरी शरण आते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं' (गीता) 'ज्ञानरूपी नौका द्वारा सब पापोंसे तू तर जायगा'

तरन्ति ते।' (गी० ७।१४) 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।' (गी० ४।३६) इत्यादौ तरतेर्नाशार्थकत्वेन प्रयोगदर्शनात्।' 'तरति पाप्मानं' (मुं-उ० ३।२।६) 'तरति शोकमात्मवित्।' (छां० उ० ७।१।३) इत्यादि श्रुतिप्रयोगाच्च 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे० उ० १।१०) 'त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये (भा० १०।६३।२६) एषा =देहादिद्वैतप्रपञ्चरूपेण परिणता त्वन्माया=त्वदीया माया, तस्याः निषेधः = अपोहो—विध्वंसो यस्मिंस्त्वयि, तं त्वां निषेधावधिभूतं, प्रपद्ये=भजे—अनुसंदधे इत्यर्थः। इत्यादौ, विनाशस्यैव श्रवणाच्च। अतोऽत्रापि फलरूपाया भक्ते ज्ञानमयीत्वमेव व्यञ्जितं, अन्यथा मायाया विनाशासंभवात्। यतो ज्ञानेनैवाज्ञाननिवृत्तिः सम्भवति, नान्येन तद्भिन्नसाधनेन प्रकाशेन तम इव।

सत्येवं ज्ञानवैराग्यमय्याः अनन्यप्रेमलक्षणायाः पराभक्तेः स्वरूपमेतादृशं वर्णयन्ति-विद्वद्धौरेया अद्वैतसिद्धान्तमहारथाः आचार्यप्रवराः, तथाहि-चित्तवृत्तिषु विविधा विषयाः आकारसमर्पकाः सन्ति, ते वस्तुतो भगवद्व्यतिरिक्ता न भवन्ति, अधिष्ठाने भगवति तेषामध्यस्तत्वात्, 'अध्यस्ताः पदार्था

(गीता०) इत्यादि स्थलोंमें विनाश-अर्थ में 'तरति' धातुका प्रयोग देखा गया है। 'सब पापोंको तर जाता है' (श्रुति) 'आत्मवेत्ता शोक को तर जाता है-नष्ट करता है' (श्रु०) इत्यादि श्रुतियों में भी नाश करनेके अर्थमें ही—'तरति' धातुका प्रयोग हुआ है। 'अन्तमें पुनः भी समस्त मायाकी निवृत्ति होती है' (श्वे० उ०) 'यह आपकी माया है, मैं उस मायाका प्रतिषेधरूप आपका अनुसंधान करता हूँ' (भा०) अर्थ—इस देहादि-द्वैतप्रपञ्चरूपसे परिणत जो आपकी माया है, आपमें उस मायाका निषेध है--विध्वंस है, उस निषेधावधिरूप आपका मैं सतत चिन्तन करता हूँ। इत्यादि स्थलोंमें भी मायाका विनाश ही सुना गया है। इसलिए यहाँ फलरूपा भक्ति ज्ञानमयी ही है। ऐसा सूचित किया है। अन्यथा यानी फल-भक्तिको ज्ञानमयी स्वीकार न करने पर उससे अज्ञानके नाशका असंभव है। क्योंकि—ज्ञानसे ही अज्ञानका नाश होता है, तद्भिन्न अन्य किसी साधनसे अज्ञानका नाश नहीं होता, जैसे प्रकाशसे ही तमः-अन्धकार का नाश होता है, प्रकाशभिन्न—अन्य किसी साधनसे तम का नाश नहीं होता, तद्वत्। ऐसा निश्चित विवेचन हो जानेपर अद्वैत-सिद्धान्तके महारथी आचार्यगण—जो विद्वानों के शिरोमणि हैं, वे ज्ञान-वैराग्यमयी अनन्य-प्रेमरूपा पराभक्ति के स्वरूपका ऐसा वर्णन करते हैं कि—चित्तवृत्तियोंके विभिन्न—आकार होनेमें विभिन्न विषय ही प्रयोजक कारण हैं, ये सब विषय वास्तविकरूपसे भगवान्से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि-ये सब विषय अधिष्ठानरूप भगवान् में अध्यस्तहैं, अध्यस्त पदार्थ अधिष्ठानसे अतिरिक्त-पृथक् नहीं होते हैं' यह सर्व-संमत-सिद्धान्त है। इसलिए-घट है-पट है-इत्यादि समस्त-विषयोंके रूपसे

अधिष्ठानान्नातिरिच्यन्ते' इत्यस्ति सर्वसम्मतसिद्धान्तः। अत एव भगवान्नेव सद्रूपतया घटः सन् पटः सन् इत्यादिसर्वविषयरूपेण स्फुरति। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'तज्जलान्' (छां० उ० ३।१४।१) इति छान्दोग्यश्रुत्या भगवदेकोद्भवत्व भगवदेकस्थितत्व—भगवदेकलयत्वेन मृद्घटवदभेदबोधनात् स्वप्नादि-प्रपञ्चवद्बाध्यत्वाच्च। अत एव भगवदाकार-सत्त्वचित्त्वानन्दत्वादिस्फूर्त्या ते सर्वे दृश्याः पदार्थाः—निवर्त्तमाना भगवद्रूपा एव भवन्ति। अधिष्ठानज्ञान निवर्त्यत्वादध्यस्तानाम्। एवं सति सकलदृश्यनिष्ठः सर्वोऽपि प्रेमा भगवत्येव परमप्रेमास्पदे स्वस्वरूपे समर्पितो भवति, तद्व्यतिरिक्ततया तस्यास्फुरणात्। तथा च सर्वाधिष्ठानसन्मात्रं परिपूर्णं सच्चिदानन्दघनं भगवन्तमद्वयमात्मानं निश्चिन्वतः विभावयतस्तत्रैव च तन्मयतां संपादयतो ज्ञानिभक्तस्य स्वाप्निक-विषयेष्विव जाग्रद्विषयेष्वपि सुदृढमिथ्यात्वानुसंधानेन वैराग्यं महदुपजायते। एवं ज्ञानवैराग्यसहकारेण परमानन्दरूपे परमात्मन्येव प्रेमा परां काष्ठामारोहति, सैव ज्ञानवैराग्यमयी पराभक्ति इत्युच्यते।

एतच्च गीतासु भगवता श्रीकृष्णेनापि स्पष्टतोऽभिहितम्। तथाहि—

सद्रूप भगवान् का ही सर्वत्र स्फुरण होता है। 'यह सब ब्रह्म है' इससे जगत् उत्पन्न होता है, इससे जगत् स्थिर रहता है और इसमें जगत्का लय होता है, अतः शान्त होकर इस सर्वमय-ब्रह्मकी उपासना करो।' इस छांदोग्य-श्रुतिने मृत्तिका और घटके समान ब्रह्म और जगत्के अभेद-भावका बोधन किया है, और स्वप्नके समान आरोपित-नामरूपात्मक-जगत्का बाध भी बतलाया है। अतएव भगवान्के ही आकार जो सत्त्व चित्त्व-आनन्दत्व-अनन्तत्व आदि हैं, उनके स्फूरणसे सब दृश्य नामरूपात्मक पदार्थ निवृत्त होकर अस्ति—भाति—प्रियरूप भगवद्रूप ही हो जाते हैं। क्योंकि—अधिष्ठानके ज्ञानसे अध्यस्त—पदार्थोंकी निवृत्ति हो जाती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि—स्त्री-पुत्र-धन आदि जितने भी दृश्य पदार्थ हैं, उनका समस्त-प्रेम, परम प्रेमास्पद निजस्वरूप भगवान् में ही समर्पित हो जाता है। क्योंकि—भगवान्से व्यतिरिक्तरूप से उनका भी स्फुरण नहीं होता है, अर्थात् भगवद्रूपसे ही उनका भान होता है। तथा च सर्वाधिष्ठानरूप, सन्मात्र परिपूर्ण सच्चिदानन्द—घन भगवान्का अद्वय—आत्मारूपसे निश्चय करने वाले और उसीकी ही सतत भावना करने वाले एवं उसी में ही तन्मयता-का संपादन करने वाले—ज्ञानी भक्त को स्वप्नके विषयोंके समान जाग्रत्के विषयोंमें भी सुदृढ मिथ्यात्वका अनुसंधान करनेपर महान् वैराग्य उत्पन्न होता है। अतः ज्ञान और वैराग्यके सहकारसे परमानन्दरूप-परमात्मामें ही ज्ञानी भक्तका प्रेम पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, वही ज्ञान-वैराग्यवाली अनन्य प्रेममयी पराभक्ति कहलाती है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने भी इस बात को गीतामें स्पष्टरूप से कहा है—

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥' (गी० १८।५४।५५) इति। अस्य चायमर्थः- ब्रह्मभूतः='ब्रह्माहमस्मि' इति दृढनिश्चयभावनावान्, प्रसन्नात्मा=ब्रह्मानन्द-पूर्णहृदयः, नष्टमिष्टं न शोचति, न चाप्राप्तं काङ्क्षति। ब्रह्मस्वरूपातिरिक्तस्येष्टस्याभावात्। ब्रह्मरूपमिष्टन्तु न कदापि नष्टं भवति, न चाप्राप्तम्। सर्वेषु भूतेषु-दृश्येषु पदार्थेषु समः=समब्रह्मदर्शी, एवंभूतः परां=उत्तमामनन्यां मद्भक्तिं मयि=शुद्धे ब्रह्मणि परमानन्दस्वरूपे ज्ञानरूपां भक्तिं चतुर्थीं फलभूतां लभते 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' (गी० ७।१६) इति प्रागुक्तत्वात्। भक्त्या=ज्ञानमय्या मामभिजानाति=साक्षात्करोति, कीदृशं?, यावान्= उपाधिकृतविस्तारभेदोऽहमस्मि, यश्चाहं तत्त्वतः=वस्तुतः—निरस्तसमस्तोपाधिभेदः सत्यज्ञानानन्दघनोऽद्वय-ब्रह्मात्मा अस्मि, तं मां अभिजानातीत्यन्वयः। ततः=तेन भक्तिमयज्ञानेन मामेव तत्त्वतो ज्ञात्वा=साक्षात्कृत्य तदनन्तरं मां विशति=प्रविशति, मद्रूपो भवतीत्यर्थः। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'

'सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदभावसे स्थित हुआ पुरुष सदा आनन्द प्रसन्न रहता है। वह न तो किसी वस्तुके लिए शोक करता है, न किसी की इच्छा करता है। वह सब भूतोंमें समभाव रखता हुआ मेरी अपरोक्ष ज्ञानरूपा पराभक्तिको प्राप्त होता है।' उस पराभक्तिसे—'मैं कौन हूँ' 'और कितना हूँ' इसका उसको तत्त्वतः ज्ञान हो जाता है। इसके बाद यथार्थरूपसे जानकर वह अनन्तर ही मुझमें प्रवेश कर लेता है, अर्थात् मुझसे अभिन्न हो जाता है। इसका यह अर्थ है—ब्रह्मभूत='मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा दृढ़ निश्चय एवं सतत भावना वाला, प्रसन्नात्मा=जिसका हृदय ब्रह्मानन्दसे भरपूर है वह, जो इष्ट वस्तुके नष्ट होनेपर न शोक करता है, न अप्राप्त इष्टवस्तुकी इच्छा ही करता है। क्योंकि—उसकी दृष्टिमें ब्रह्मस्वरूपसे अतिरिक्त कोई इष्ट ही नहीं है, जो इसका ब्रह्मस्वरूप इष्ट है, उसका तो कभी नाश नहीं होता, न कभी उसकी अप्राप्ति ही होती है। समस्त-दृश्यपदार्थोंमें समब्रह्मका दर्शी पुरुष, परमानन्द-स्वरूप मुझ शुद्ध ब्रह्म विषयक-पराभक्तिको-जो उत्तमा है, अनन्या है, ज्ञानमयी फलरूपा और चतुर्थी है, प्राप्त होता है। क्योंकि—चार प्रकारके भक्त मुझे भजते हैं, ऐसा भगवान्ने प्रथम कहा है। उस ज्ञानमयी भक्तिसे मेरा अभिज्ञान यानी साक्षात्कार करता है साक्षात्कारका विषय मैं कैसा हूँ? यावान्-अर्थात् अज्ञानादि- उपाधियोंके विस्तारसे मैं कल्पित त्रिविध भेद वाला हो गया हूँ। और तत्त्वतः यानी वास्तवमें मैं समस्त उपाधि-कृत भेदोंसे रहित हूँ, और सत्य,-ज्ञान-आनन्दघन-अद्वय-ब्रह्मरूप आत्मा हूँ, ऐसा मुझे ज्ञानी भक्त जानता है। उस भक्तिमय ज्ञान द्वारा वास्तविकरूपसे मेरा साक्षात्कार करनेके अनन्तर ही वह मुझमें

(मुं० उ० ३।२।९) स एव तदभवत्' (बृ० उ० १।४।१०) ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ० उ० ४।४।६) (तै० आ० २।२) 'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।' (गी० ५।२४) 'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।' (गी० १३।१८) 'ज्ञानविज्ञानसन्तुष्टो मद्भक्तः पुरुषो भवेत् ।' (भा० ६।१६।६२) इत्यादिप्रमाणशतमिहानुसंधेयम् । पुरुषः = परमात्मेत्यर्थः ।

अत एव ज्ञानिनो भक्तस्य स्वात्मा भगवानेव परमेष्टः, तद्दते तस्य नान्योऽर्थः प्रियः । एवं भगवतो ज्ञानी भक्त एव प्रियतमः स्वात्मत्वाद् । इत्येतदुक्तमुद्धवायैकादशे श्रीभगवता—'ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च सम्मतः । स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मद्दते प्रियः ॥ ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम । ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम् ॥ (भा० ११।१९।२-३) इति । अयमर्थः, यतोऽहमेव सर्वात्मा परमप्रेमास्पदः परमानन्दघनोऽद्वयो भगवानेव तस्येष्टोऽपेक्षितः, स्वार्थः = फलं स्वाभीप्सितमहमेव, हेतुः = तत्साधनमप्यहमेव संमतः । स्वर्गः = अभ्युदयः—इहलोक-परलोक—वैभवमप्यहमेव, अपवर्गः = संसारसमस्तदुःखनिवृत्तिश्चाप्यहमेव ।

प्रविष्ट होजाता है—यानी वह मेरा स्वरूप ही हो जाता है । 'जो ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म ही होजाता है' (श्रु०) 'वह भूमा ब्रह्म हो गया' (श्रु०) 'वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्ममें विलीन होजाता है' (श्रु०) ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ वह योगी ब्रह्मविलयरूप-निर्वाण पद को प्राप्त होता है' (गी०) 'मेरा भक्त मेरा तत्त्व जानकर मद्भावको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है' (गी०) 'ज्ञान एवं विज्ञानद्वारा सन्तुष्ट रहनेवाला मेरा भक्त, पुरुष यानी परमात्मा बन जाता है ।' (भा०) इत्यादि सैंकड़ों प्रमाण-वचनों का यहां अनुसंधान कर लेना चाहिए । अतएव ज्ञानी—भक्त के लिए सर्वात्मा भगवान् ही परम-इष्ट-अतिप्रिय हैं, भगवान् के विना अन्यपदार्थ-उसे प्रिय नहीं है । इस प्रकार ज्ञानी भक्त भगवान् को भी अतिप्रय है, क्योंकि—वह निजस्वरूप स्वात्मा है । यही बात एकादश स्कन्धमें श्रीहरिने उद्धवके प्रति कही है—'ज्ञानीपुरुषका अभिष्ट पदार्थ मैं ही हूँ, उसके साधन फल—स्वर्ग एवं अपवर्ग भी मैं ही हूँ । मुझसे अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थसे वह प्रेम नहीं करता ।' 'जो ज्ञान-विज्ञान-संपन्न सिद्ध पुरुष हैं, वे ही मेरे वास्तविक स्वरूपको जानते हैं । इसलिए ज्ञानी भक्त मुझे सबसे प्रिय हैं; क्योंकि—वह ज्ञानके द्वारा निरन्तर मुझे अपने हृदयमें अभेदरूपसे धारण करता है ।' (भा०) इसका यह अर्थ है—मैं सर्वात्मा-परम-प्रेमास्पद—परमानन्दघन—अद्वय—भगवान् ही उस ज्ञानी भक्तका-अपेक्षित—इष्टदेव हूँ । अतः स्वार्थ यानी अपनेसे प्राप्त करनेके लिए—अभिलषित-फल भी मैं ही हूँ । उसका हेतु यानी साधन भी उसके लिए मैं ही माना गया हूँ । स्वर्ग यानी इस लोक एवं परलोक का वैभव भी मैं ही हूं । अपवर्ग यानी संसारके समस्त दुःखोंकी निवृत्ति

ममैव सर्वस्वत्वात्, अतः तस्य न किमप्यन्यत् प्राप्यं कृत्यं वा किञ्चिदप्यवशिष्यते । अत्र विद्वदनुभवं प्रमाणयति–ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः–पदार्थवाक्यार्थविचारकुशलाः, तत्त्वध्याननिष्ठाः श्रीसनकादयः, मम पदं=स्वरूपं, श्रेष्ठं=उपाधिद्वयविविक्तं–परात्परं–विदुः=अपरोक्षतया जानन्ति । यथोक्तं ज्ञानिनमभिनन्दति । ज्ञानी–प्रियतमो ममास्ति, यतोऽसौ ज्ञानेनावरकाज्ञानबाधेन मामात्मतया बिभर्त्ति=धारयतीत्यर्थः । यथा ज्ञानी भगवन्तमिष्टदेवमात्मतयाऽभिमनुते, तथा भगवानपि ज्ञानिनं भक्तं, इत्थं भक्तभगवतोर्मिथः एकत्वदर्शनेनौपाधिको भेदभावो निवर्तते, एतावानेव सर्वसाधनानामपेक्षितो महान् अभीष्टलाभः । एतदप्युक्तं षष्ठे–'एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः । स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम् ॥' (भा० ६।१६।६३) इति । अयमर्थः–न चातः परः पुरुषार्थोऽस्तीत्याह–एतावानिति योगे=भक्तिमयज्ञानयोगे, नैपुणं=प्रावीण्यं यस्यां सा बुद्धिर्येषां, परस्य=परमेश्वरस्य, आत्मनश्च द्वयोरेकत्वेनाभेदेन दर्शनं=अनुभवः 'सकलमिदमहञ्च वासुदेवः' इत्येवं लक्षणं, एतावानेव स्वार्थः सर्वात्मना=सर्वभावेन, लब्धव्यो मनुजैरभ्यर्थ-

---

भी मैं ही हूँ, मैं ही उसका सर्वस्व हूँ, इसलिए उसको मुझसे अन्य कुछ भी प्राप्त करने योग्य फल एवं प्रयत्नसाध्यकृत्य–साधन भी अवशिष्ट नहीं रहता है । इस विषयमें विद्वानोंके अनुभव को प्रामाणरूपसे प्रदर्शित करते हैं । ज्ञान यानी पदार्थ विचार एवं विज्ञान यानी वाक्यार्थ विचार, उनमें जो प्रवीण हैं, तथा जो पारमार्थिक-तत्त्वके ध्यानमें निष्ठा-तन्मयता सम्पन्न हैं, ऐसे जो श्रीसनक आदि महर्षि हैं, वे मेरे उपाधिद्वयसे विमुक्त-परात्पर श्रेष्ठस्वरूपको अपरोक्षरूपसे जानते हैं । पूर्वोक्त ज्ञानी भक्तका स्वयं भगवान् अभिनन्दन करते हैं । 'ज्ञानी मुझे अतीव प्रिय है, क्योंकि—वह-आवरण करने वाला अज्ञानका बाधक–ज्ञानके द्वारा मुझे आत्मारूपसे धारण करता है ।' जिस प्रकार ज्ञानी भक्त, इष्टदेव भगवान्‌को अपना-आत्मा स्वस्वरूप मानता है, उसी प्रकार भगवान् भी ज्ञानी भक्तको अपना स्वस्वरूप मानते हैं । इस प्रकार भक्त और भगवान्‌की परस्पर एकताके दर्शनसे औपाधिक भेदभाव निवृत्त हो जाता है, इतना ही सर्वसाधनों का महान् अभीष्ट लाभ है, जिसकी साधक अपेक्षा रखते हैं । छठे स्कन्धमें भी यही कहा है—'योगतत्त्वके समझनेमें जो कुशल हैं, उन्हें यह अच्छी प्रकारसे समझ लेना चाहिए कि—जीवका सबसे बड़ा स्वार्थ और परमार्थ इतना ही है कि–वह ब्रह्म और आत्माकी एकता का अनुभव करले ।' (भा०)

यह अर्थ है—इससे परे अन्य पुरुषार्थ (पुरुष द्वारा-अभिप्रेत-अर्थ) नहीं है, यह कहते हैं–भक्तिमय-ज्ञानयोग विषयक–प्रवीणता जिसकी बुद्धिमें है–ऐसी बुद्धिसे सम्पन्न-मनुष्योंका—परमेश्वरका एवं आत्माका—अर्थात् 'यह सब विश्व एवं मैं भी

नीयः परमार्थः । इत्येतत् सर्वमभिप्रेत्यात्मारामाणां जीवन्मुक्तानां ज्ञानिभक्तानां परमप्रेमास्पदस्वस्वरूपभगवद्भजनस्वभावमहैतुकं वर्णयन्नाह—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं, इत्थंभूतगुणो हरिः ॥ (भा० १।७।१०)

आत्मारामाः—आत्मनि—पूर्णाद्वये—सच्चिदानन्दघने भगवत्स्वरूप एवा-रमन्ते—क्रीडन्ति ये ते तथोक्ताः, अत एव निर्ग्रन्थाः—वेदादिग्रन्थनिरपेक्षाः-विधिनिषेधातीताः इत्यर्थः, यद्वा ग्रन्थिरेव ग्रन्थः, निर्गता ग्रन्थिः—चिज्जडता-दात्म्याध्यासो येषां ते निवृत्तहृदयग्रन्थयः इत्यर्थः । तथाभूता मुनयः—ब्रह्मत-त्त्वमननशीलाः, जीवन्मुक्ताः, अपि उरुक्रमे—उरु—बहुः—विस्तृतः, क्रमः—पादविन्यासो यस्य तस्मिन्—जगदीश्वरे श्रीहरौ, अहैतुकीं—फलापेक्षाहीनां-निष्कामां—स्वाभाविकीमिति यावत्, भक्तिं = प्रेमपराकाष्ठामयीं भगवदेका-कारां चित्तवृत्तिं—कुर्वन्ति = सततं—प्रवर्तयन्ति । ननु-जीवन्मुक्तानां तत्त्वदर्शां

वासुदेव ही हूँ' इस प्रकारका अभेदानुभव होना—ही-सर्वप्रकारसे प्राप्त करने योग्य इतना ही महान् स्वार्थ है ।

यही समस्त-तात्पर्यका अभिप्राय रखकर—जो स्वात्माराम-जीवन्मुक्त-ज्ञानी भक्त हैं—जिन्होंका-परम-प्रेमास्पद-स्वस्वरूपभूत भगवान् का सतत कामनारूप-निमित्तसे-रहित भजन करने का स्वभाव बन गया है—उनका वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

जो ज्ञानी हैं—जिनकी अविद्या-प्रयोजित—चेतन एवं जड़की तादात्म्य-अध्यास-रूपी—गाँठ खुल गई है— और जो सदा अपने आत्मामें ही रमण करते रहते हैं—वे भी भगवान् की कामनारूप हेतु से रहित—भक्ति किया करते हैं-क्योंकि—श्री भगवान्के गुण ही ऐसे मधुर-आनन्दमय-हैं कि—जो सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं ।'

इसका यह अर्थ है—पूर्ण, अद्वय, सच्चिदानन्दघन, आत्मारूप भगवत्स्वरूप में ही जो रमण करते हैं, अतएव वेद आदि ग्रन्थोंसे निरपेक्ष अर्थात् विधि-निषेधोंसे परे रहते हैं । अथवा—ग्रन्थि ही ग्रन्थ है—छूट गया है—चित्—जड़-तादात्म्याध्यास (चेतन और जड़के परस्पर-तादात्म्यसे उत्पन्न होने वाला 'मैं और मेरा' इत्यादि अध्यास) जिनका, ऐसे ब्रह्म-तत्त्वका मनन करने वाले जीवन्मुक्त-महापुरुष भी उरुक्रम-श्रीहरिमें फल-निरपेक्ष यानी निष्काम स्वाभाविकी भक्ति करते हैं । अर्थात् चित्तवृत्तिको परम-प्रेममयी और भगवदेकाकार-करते रहते हैं । वामनावतार में विस्तृत त्रैलोक्य-व्यापी पादविन्यास जिसका है, उसका नाम उरुक्रम है,

शंका—जीवन्मुक्त—तत्त्वदर्शी मुनियोंकी भक्ति में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ?

मुनीनां भक्तौ कथं प्रवृत्तिः? तत्राह—इत्थंभूतगुणो हरिः। हरिः=समस्त-दुःखहारी—विष्णुः इत्थंभूताः-आत्मारामाणामपि भक्तौ प्रवर्तकाः-आकर्षकाः गुणा विद्यन्ते यस्य सः तथोक्तः।

श्रीहरेः साकारविग्रहस्येत्थंभूताः—अतिवेलसौन्दर्यमाधुर्यसौकुमार्याभिनवजलधरश्यामलत्व—आश्रितभक्तवात्सल्यस्नेहजलधित्व- -अतिमानुपविचित्रचरित्रत्व—अखिललोकशरण्यत्व—अनवरतप्रसादसुमुखत्व—अरविन्ददललोचनत्वादयोः गुणाः सन्ति, मायोपाधिकस्य तस्य जगदीश्वरस्य च सकलविश्वोद्भवत्वपालयितृत्व-उपसंहर्तृत्व-नियन्तृत्व-अन्तर्यामित्वादयो गुणाः सन्ति, एवं मायाविनिर्मुक्तस्य निरञ्जनस्य निर्विशेषस्य तस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्व—सत्त्व—चित्त्व—आनन्दत्व—अद्वयत्व—असंगत्व—अविकारत्व—परमप्रेमास्पदत्व—सर्वात्मत्वादयः स्वरूपभूताः गुणाः सन्ति।

तथा च सर्वमयस्य श्रीहरेः एतादृशाः सर्वे महनीया गुणा एव तस्य प्रकृष्टप्रेममयभजने निष्कामान्—आत्मारामानपि समाकृष्य स्वभावतः प्रवर्तयन्ति, यथा शुष्कपत्राणि बलात् पवनप्रकर्षः प्रवर्तयति, तद्वत्। सत्येवं तेषां

समाधान—इत्थंभूतगुणो हरिः = समस्त दुःखोंको हरण करने वाले भगवान् श्रीहरि-विष्णुके ऐसे गुण हैं कि—आत्मारामोंको भी भक्ति करनेके लिए हठपूर्वक-आकर्षित कर लेते हैं।

साकार विग्रह धारण करने वाले श्रीहरिके इस प्रकारके गुण हैं कि-निरुपम सौन्दर्य, निरतिशय माधुर्य, अत्यन्त सुकुमारता, नवीन मेघके समान कमनीय श्यामलता, शरणमें आए हुए भक्तपर वात्सल्य-स्नेह का सागर रूप हो जाना, जिनका मनुष्योंमें संभव नहीं है—ऐसे विचित्र चरित्र प्रदर्शित करना, सकल—लोकोंके रक्षक होना, सदा प्रसन्न-वदन रहना और कमलदलके समान प्रफुल्लित मनोहर नेत्र युक्त होना, इत्यादि। मायोपाधि-वाले उस जगदीश्वर श्रीहरिके-सकल जगत्की सृष्टिकरना, पालन करना, संहार करना, नियमन करना, अन्तर्यामी होना, आदि गुण हैं। एवं मायासे रहित, निरंजन—निर्विशेष श्रीहरि—परमात्माके नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावत्व सत्त्व, चित्त्व, आनन्दत्व, अद्वयत्व, असंगत्व, अविकारित्व, परमप्रेमास्पदत्व, सर्वात्मत्व आदि स्वरूप भूत गुण हैं।

तथाच सर्वेश्वर—सर्वमय श्रीहरिके ऐसे प्रशंसनीय निखिल गुण हैं कि—निष्काम आत्माराम ज्ञानी भक्तोंको भी आकर्षित कर श्रीहरिके परम-प्रेममय-भजनमें स्वाभाविकरूपसे प्रवृत्त करते हैं। जिस प्रकार प्रकृष्ट-पवन सूखे पल्लवों को खींच ले जाता है, उस प्रकार। ऐसा विवेचन होजानेपर अज्ञान और अज्ञान जन्य द्वैतकी प्रतीति न होनेपर भी विदेह मुक्ति पर्यन्त उन कृतकृत्य मुनियों के द्वारा किया जाने वाले श्रीहरिके भजनमें

कृतकृत्यानां—मुनीनां निवृत्ताज्ञानतत्कार्यद्वैतप्रतिभासत्वेऽपि यावद्विदेहमुक्ति प्रारब्धानुवृत्तद्वैतव्यवहारत्वाद् श्रीहरिभजनमविरुद्धम्।

अत एव गीतासु ज्ञानिन एकभक्तित्वं वर्णयन् भगवानप्याह—'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥' (७।१७) इति। अयमर्थः—तेषां पूर्वोक्तानां—आर्तादीनां सर्वेषां भक्तानां मध्ये ज्ञानी भक्तो विशिष्यते = श्रेष्ठोऽस्ति। तत्र—नित्ययुक्तत्व-एक-भक्तित्वादयश्चत्वारो हेतवः। नित्ययुक्तः = सदामन्निष्ठः। अनेनार्तादिभ्यो विशिष्टत्वमुक्तम्। तेषां त्रयाणां स्वार्थसिद्धिपर्यन्तमेव मन्निष्ठत्वात् समयान्तरेष्वपि तेषां क्वचिन्मन्निष्ठासत्त्वेऽपि विक्षेपबाहुल्येन विच्छेदान्न सर्वदामन्निष्ठेत्यर्थः। अथ सर्वतो विरक्तस्य जिज्ञासोः मत्प्रेमभक्तस्य सदा भगवन्निष्ठाऽस्तीति तद्व्यावर्तनाय—एकभक्तिरिति विशेषणम्। एकस्मिन् मय्येव भक्तिरनुरक्तिर्यस्य स तथोक्तः। जिज्ञासोस्तु स्वाभिलषिते ज्ञाने तत्साधनत्वेन मयि चानुरक्तिरिति न तस्यैकभक्तित्वमित्यर्थः। निष्कामप्रेमभक्तस्यैकभक्तित्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमिति। अर्थशब्दोऽभिधेयवचनः। ज्ञानिनोऽ

कोई विरोध की संभावना नहीं है, क्योंकि—उनके प्रारब्धकी अनुवृत्तिसे द्वैतका व्यवहार चलता ही रहता है।

अतएव ज्ञानी की एक-अनन्य-भक्तिका वर्णन करते हुए श्रीभगवान् भी गीतामें कहते हैं कि—उन चार प्रकारके भक्तोंमें भी सर्वदा मेरे में एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य प्रेमवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि—मेरेको तत्त्वसे जानने वाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ, और वह ज्ञानी मेरेको अत्यन्त प्रिय है।' अर्थ--उन पूर्वोक्त—आर्त-आदि-सभी भक्तोंके मध्यमें ज्ञानी भक्त ही श्रेष्ठ है। उनकी श्रेष्ठतामें नित्ययुक्तत्व-एकभक्तित्व आदि कारण हैं। नित्ययुक्त यानी सर्वदा मुझ परमात्मामें निष्ठा रखने वाला। इस विशेषण से आर्त आदि-भक्तों से ज्ञानी भक्तकी विशेषता कही गई है। क्योंकि—वे आर्त—आदि तीनों भक्त, अपने इष्टकी सिद्धि तक ही मुझमें निष्ठा रखते हैं। अन्य समयमें उनकी किसी प्रसंगमें मुझमें निष्ठा होनेपर भी विक्षेप बाहुल्य होनेसे कभी मन्निष्ठाका व्यवच्छेद हो जानेके कारण उनमें सर्वदा मन्निष्ठा नहीं होती। और जो समस्त विषयोंसे विरक्त है, जिज्ञासु है, एवं मेरा प्रेमी भक्त है, उसकी सदा मुझ भगवान्में निष्ठा है। अतः उस जिज्ञासु भक्त की व्यावृत्ति करने के लिए एकभक्ति ऐसा विशेषण दिया है। अर्थात् वह ज्ञानी भक्त एक मुझमें ही अनुरक्ति परमप्रीति रखता है। जिज्ञासु भक्त की तो स्वाभीष्ट—ज्ञानका साधन होनेसे मुझमें अनुरक्ति-भक्ति है, इसलिए वह भी एक—भक्ति नहीं है। निष्काम प्रेमी भक्त भी एक भक्ति है, इसलिए उसकी भी व्यावृत्ति करने के लिए कहा है कि—प्रियोहि-

हं यथा प्रियः तथा मया सर्वज्ञेन सर्वशक्तिमताऽप्यभिधातुं न शक्यत इत्यर्थः। हि प्रसिद्धौ, प्रसिद्धं ह्येतल्लोके वेदे च, आत्मैव सर्वस्य निरुपाधिकप्रेमविषय इति। श्रुतिरप्याह—'न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति'....'आत्मनस्तु कामाय सर्वमिदं प्रियं भवति' (बृ० उ० २।४।५) इत्याद्या। ज्ञानिनश्चात्मैवाहम् 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति' (बृ० उ० १।४।१०) इति स्वात्मत्वेनैव तेन प्रतिपन्नत्वात्। तथा स च ज्ञानी ममात्यर्थं प्रियः, मदात्मत्वेन स्वात्मदर्शिनस्तस्यापि मया स्वात्मत्वेनैव प्रतिपन्नत्वात्। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (गी० ४।११) इति हि मम स्थितिरित्यर्थः।

अपि च निष्कामप्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्येवान्तर्भावो विज्ञेयः। तेन 'चतुर्विधा भजन्ते मां' (गी० ७।१६) इति भगवद्वचनमप्युपपद्यते। न च तथापि ज्ञानशून्यस्य केवलप्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्यनन्तर्भावाच्चातुर्विध्यानुपपत्तिरिति वाच्यम्। तस्य ज्ञानकामत्वे जिज्ञासावेवान्तर्भावात्। 'न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, वाञ्छन्ति, यत्पादरजःप्रपन्नाः।' (भा० १०।१६।३७) इति भागवतोक्तरीत्या

ज्ञानिनोऽत्यर्थं। यहाँ अर्थ शब्द, अभिधेयका बोधक है। ज्ञानीको मैं जिस प्रकार प्रिय हूँ, वह प्रकार मुझ सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् से भी नहीं कहा जाता। यह लोक और वेद में प्रसिद्ध है कि—सभी अपने आत्मामें ही निरुपाधिक-निर्निमित्तक प्रेम रखते हैं। बृहदारण्यक श्रुति भी कहती है—'अरी मैत्रेयी! पत्नी के लिए पत्नी प्रिय नहीं है, किन्तु अपने आत्माके लिए यह सब पत्नी आदि प्रिय हैं।' ज्ञानीका आत्मा-मैं भगवान् ही हूँ, अतः बृहदारण्यक श्रुति यह भी कहती है कि—'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसे अभेदभावसे उसने अपने आत्माको ही जाना' इस प्रकार ज्ञानीने अपने आत्मा रूपसे ही भगवान् को यथावत् जान लिया है। अतएव वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि—वह मेरे रूपसे (ब्रह्म रूपसे ही) अपने आत्माको मानता है, और मैं भी उसको अपने रूपसे ही मानता हूँ। 'जो मेरे को जैसे भावसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे भावसे ही भजता हूँ।' (गी०)—ऐसा मेरा नियम है। और भी यहांपर यह समझना चाहिए कि—जो निष्काम प्रेमी भक्त है, उसका ज्ञानीमें ही अन्तर्भाव है—ऐसा माननेपर 'चार प्रकारके भक्त मुझे भजते हैं।'—ऐसा भगवान् का वचन भी संगत हो जाता है।

शंका—तथापि ज्ञानशून्य केवल प्रेमी भक्त का ज्ञानीमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता, तब भगवान् के भक्तोंको चार प्रकारसे कहना असमंजस हो जायगा, क्योंकि—वे पांच प्रकारके हो जाते हैं!

समाधान—यदि केवल प्रेमीभक्तको—ज्ञानकी कामना है, तो उसका जिज्ञासु में अन्तर्भाव माना जायगा। 'जिस भगवान्के चरणारविन्दोंकी धूलियोंकी शरणमें आये हुए भक्त हैं—वे योगसिद्धियों को तथा मोक्षको भी नहीं चाहते हैं।' इत्यादि भागवत

ज्ञानानपेक्षित्वेऽपि 'तेषामेवानुकम्पार्थं' (गी० १०।११) 'ददामि बुद्धियोगं तं' (गी० १०।१०) इति भगवदुपनीयमानज्ञानयोगत्वावश्यंभावेन ज्ञानिन्येवान्तर्भावाच्च न चातुर्विध्यानुपपत्तिः ।

अत एवाद्वैतसंप्रदायविद्भिर्महानुभावैरप्युक्तमेतत्---'अपरोक्षानुभूतिर्या, वेदान्तेषु निरुपिता । प्रेमलक्षणभक्तेस्तु परिणामः स एव हि ॥ शास्त्रार्थः संपरिज्ञातो जातं प्रेम महेश्वरे । प्रेमानन्दप्रकारेण द्वैतं विस्मरणं गतम् ॥' (बोधसारे) अर्थात् प्रेमलक्षणाया अनन्यभक्तेरपि द्वैतविस्मारकत्वेन, ज्ञानस्याप्यद्वैतरूपत्वेन च ज्ञानभक्त्योर्वैलक्षण्यं नास्ति, एकस्मिन्नेव ज्ञानिनि भक्ते गंगायमुनयोरिव तयोरभेदेन संगमो भवतीति भावः । 'किञ्च लक्षणभेदो हि वस्तुभेदस्य कारणं । न भक्तज्ञानिनोर्दृष्टा शास्त्रलक्षणभिन्नता ॥ अध्याये भक्तियोगाख्ये गीतायां भक्तलक्षणं । यदुक्तमष्टभिः श्लोकैर्दृष्टं ज्ञानिषु तन्मया ॥' (बोधसारे) अर्थात् 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' (गी० १२।१३)

वचनके अनुसार यदि केवल प्रेमी भक्त, ज्ञानको भी नहीं चाहता है, तो भी 'उन भक्तों पर अनुग्रह करनेके लिए--मैं स्वयं भगवान् समर्प्यमाण ज्ञानरूप-दीपके द्वारा उनके अज्ञानको दूर करता हूँ' (गी०)—'मैं उन भक्तों को ज्ञानयोग देता हूँ' (गी०) इत्यादि भगवान्के वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि—उस भक्त को ज्ञानकी अपेक्षा न होनेपर भी भगवान् उसको अवश्य ही ज्ञानयोग प्रदान करते हैं । इससे वह निरपेक्ष प्रेमी भक्त भी ज्ञानीके अन्तर्गत आजाता है । अतः भगवान् के चातुर्विध्य कथन में कोई अनुपपत्ति नहीं है । अर्थात् भगवान्के भक्त चार प्रकारके हैं—ऐसा कहना सुसंगत ही है ।

इसीलिए अद्वैत संप्रदायके मर्मको जाननेवाले आचार्य-महानुभावोंने यह कहा भी है—'उपनिषदों में जिस अपरोक्षानुभूतिका वर्णन है, प्रेम-लक्षणा भक्तिका परिणाम-फल भी वही है' ।' 'शास्त्रों का तात्पर्य विज्ञात हो गया, जबकि—भगवान् महेश्वर में परम-प्रेम हो गया । उस प्रेमके आनन्द-प्रकारसे द्वैत-संसार विस्मृत हो गया ।' (बोधसार) अर्थात् प्रेमलक्षणा-अनन्या भक्ति भी द्वैत संसारका विस्मरण कराती है, और ज्ञान तो अद्वैतरूप है ही, अर्थात् उसमें भी द्वैतका उपशम है, इसलिए ज्ञान और भक्ति की परस्पर विलक्षणता नहीं है, अतएव एक ही ज्ञानी-भक्तमें गंगा और यमुनाके समान ज्ञान और भक्तिका अभेदरूपसे संगम हो जाता है । 'और लक्षणोंकी भिन्नता ही वस्तुकी भिन्नतामें प्रयोजक कारण है, शास्त्रोंमें भक्त और ज्ञानीके लक्षणोंकी भिन्नता दृष्ट नहीं है । गीताके-भक्तियोग नामके द्वादशाध्याय में आठ श्लोकों से भक्त के जो लक्षण कहे हैं, वे ही लक्षण ज्ञानी के भी हैं, यह मैंने देखा है, (बोधसार) —अर्थात् 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' यहां से लेकर 'भक्तास्तेऽतीवमे प्रियाः' यहाँ तकके आठ श्लोकों

इत्यादिभिः—'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' (गी० १२।२०) इत्यन्तैरष्टसङ्ख्याकैः श्लोकैर्यानि यादृशानि भक्तलक्षणान्यभिहितानि, तानि—तादृशान्येव ज्ञानिषु 'अमानित्वमदम्भित्वं' (गी० १३।७) इत्यादिभिः 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं' (गी० १३।११) इत्यन्तैः पादोनपञ्चभिः श्लोकैः प्रतिपादितानि—उभयलक्षणपरीक्षकेण विदुषा मयाऽवलोकितानि सन्ति, तस्मादपि ज्ञानभक्त्योः तादात्म्यमेव सिद्धं न पार्थक्यं, सत्येवं ज्ञानिनि भक्तत्वं, भक्ते च ज्ञानित्वं निर्विवादं निर्णीतमेव । न हि वास्तविको ज्ञानी भक्तिशून्यो भवितुमर्हति, एवं यथार्थो भक्तोऽपि न ज्ञानरहितो भवितुमर्हति ।

ननु—'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥' (गी० ३।१७) इत्यनेन भगवता गीतासु निरतिशयानन्दस्वरूपे प्रत्यगात्मन्येव सततं रममाणस्य तत्रैव-संतृप्तस्य सन्तुष्टस्य तस्य कार्यं = कर्तव्यं किमपि नावशिष्यते, इत्युक्तं, सत्येवं तस्य भगवति भक्तिः कर्तव्या कथं स्यात् ? इति चेन्मैवम् । यतस्तस्य भक्तिः कर्तव्या—प्रयत्ननिष्पाद्या नास्ति, किन्तु स्वभावभूतैवास्ति । यदाहुः श्रीमधुसूदनसरस्वत्योऽपि–'जीवन्मुक्तिदशायां तु न भक्तेः फलकल्पना । अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः ॥' इति ।

के द्वारा जो एवं जैसे भक्तके लक्षण बतलाए हैं, वे एवं वैसे ही 'अमानित्वमदंभित्वं' यहाँ से लेकर 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं' यहाँ तक के पोने पाँच श्लोकोंके द्वारा ज्ञानीके लक्षण बतलाये हैं, दोनों लक्षणोंकी परीक्षा करके मैंने यह देख लिया है । इसलिए ज्ञान और भक्ति का तादात्म्यसम्बन्ध ही सिद्ध हुआ, पार्थक्य नहीं, ऐसा निश्चय होने पर तब ज्ञानी भक्त है, और भक्त ही ज्ञानी है, ऐसा विवाद-रहित निर्णय होगया । अतएव वास्तविक ज्ञानी, भक्ति शून्य नहीं हो सकता है, उसी प्रकार यथार्थ-भक्त भी ज्ञान रहित नहीं हो सकता ।

शंका—'जो मनुष्य आत्मामें प्रीतिवाला, आत्मामें ही तृप्त और आत्मामें ही संतुष्ट बना रहता है; उसके लिए कोई कर्तव्य-शेष नहीं रहता ।' (गी०) अर्थात् निरतिशय-आनन्दस्वरूप-प्रत्यगात्मामें ही सदा रमण करने वाले तथा उसीमें ही सदा तृप्त एवं संतुष्ट बने रहने वाले–मनुष्यके लिए कोई भी कर्तव्यकर्म बाकी नहीं रह जाता, ऐसा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीतामें कहा है । अब ऐसे जीवन्मुक्त-महापुरुषके लिए भगवान् की भक्ति भी कर्तव्य रूपसे कैसे रह सकती है ?

समाधान—ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष के लिए भक्ति प्रयत्नोंसे करने की नहीं रहती, किन्तु वह स्वाभाविकी हो जाती है । श्रीस्वामी पूज्य-मधुसूदनसरस्वती भी इस निर्णय का समर्थन करते हैं कि–'जीवन्मुक्ति-दशामें जो भक्ति है, उसमें किसी फलकी कल्पना नहीं है, अद्वेष्टृत्वादि धर्मोंके समान–हरिकी भक्ति उसका स्वभाव बन जाता है।

ननु—तथापि—भेदभावमन्तरेण भगवतो भक्तिमयं भजनमपि कथं स्यात्, इति चेदत्रोच्यते, भवतु नाम भजनप्रयोजको भेदभावः, परन्तु स न वास्तविकोऽपि तु काल्पनिक एव। सत्येवं तेन काल्पनिक—भेदभावेन वास्तविकस्याभेदभावस्य न कथमपि क्षतिः संपद्यते। अत एव भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमतीवप्रशस्तमस्तीति ज्ञानिनो भक्ता वर्णयन्ति। तथाहि-'द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक्, प्राप्ते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥ जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्। मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्म-परमात्मनोः ॥ पारमार्थिकमद्वैतं, द्वैतं भजनहेतवे। तादृशी यदि भक्तिश्चेत्सा तु मुक्तिशताधिका ॥ विश्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपि भेदे, भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः। प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते, चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः ॥' इति मनीषया=स्वेच्छया। सुधिया=शोभना, अद्वयब्रह्मनि-ष्ठावती धीः=बुद्धिः तया। गलिते=निवृत्ते। चतुरया=बुद्धिमत्या नार्या, प्राणे-श्वरः=प्राणप्रियः पतिः, इत्यर्थः।

अर्थात् जैसे अद्वेष्टृत्वादि-धर्म साधकके लिए प्रयत्न निष्पाद्य होते हैं—एवं सिद्ध-जीवन्मुक्तके लिए वे स्वाभाविक बन जाते हैं—वैसे भक्ति भी उसके लिए स्वाभाविकी हो जाती है, अतएव स्वाभाविक-कार्यमें फलकी कल्पना नहीं करनी पड़ती है।

शंका—तो भी भेदभाव के विना भगवान्का भक्तिरूप भजन भी कैसे हो सकता है ?

समाधान—भक्तिका प्रयोजक भेद बना रहे, परन्तु वह वास्तविक नहीं, अपितु काल्पनिक है। ऐसा मानने पर उस काल्पनिक-भेदभावसे वास्तविक अभेदभाव की किसी भी प्रकारसे हानि नहीं हो सकती। अतएव भक्तिके लिए कल्पित भेदभाव बहुत ही प्रशंसनीय-उत्तम है, ऐसा ज्ञानीभक्त-गण वर्णन करते हैं—'तत्त्व-साक्षात्कारसे प्रथम भेदभाव मोहका कारण होता है, परन्तु तत्त्वज्ञान हो जानेपर भक्ति के लिए स्वेच्छासे—बुद्धिपूर्वक कल्पना किया गया भेदभाव, अद्वैतसे भी सुन्दर माना जाता है।' 'समरस-आनन्द का लाभ हो जानेपर जीवात्मा और परमात्मा का काल्पनिक-भेदभाव, अभिन्न-हृदय-वाले-पति-पत्नीकी भांति अमृतके समान नितान्त स्पृहणीय एवं रुचिकर होता है। अद्वैत वास्तविक है, द्वैत भजनके लिए कल्पित है, ऐसी ही यदि भक्ति है तो वह भक्ति मुक्तिसे सैकड़ों गुणी उत्तम है' 'अद्वय-ब्रह्म निष्ठा द्वारा भक्त एवं भगवान् में भेदभाव नष्ट होनेपर भी भक्तिभावसे भगवान् विश्वेश्वर की आराधना करनी ही चाहिए, उसमें दृष्टान्त देते हैं कि—परस्पर प्रेमातिशयके द्वारा अभिन्न हृदय हो जानेपर भी जैसे चतुर नारी अपने प्राणप्रिय-पतिदेवका श्वसुर आदिके समक्ष साड़ी के पल्लेसे मुँह छिपाकर वस्त्रकी ओटसे निरीक्षणकर प्रेमानन्दका अनुभव

यत्तु श्रीरामानुजादयो वैष्णवाचार्याः भक्तेरेव मुख्यत्वं मन्यमानाः प्रतिपादयन्ति–तत्त्वदर्शनोत्तरकालभाविन्याऽनवधिकातिशयप्रीतिरूपया भक्त्यैव भगवत्प्राप्तिरूपा मुक्तिर्लभ्यते इति। अत्र प्रमाणतया—'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन !। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परंतप !॥' (गी० ११-५४) इति वचनं समर्पयन्ति। तत्र वक्तव्यं। किमियं भक्तिः ज्ञानरूपा, किं वा तद्भिन्नाऽर्थान्तरम् । आद्ये इष्टापत्तिः, अन्त्येऽपि सा ज्ञानहेतुभूता वा ज्ञानोत्तरकालभाविनी मुक्तिहेतुभूता वा। आद्ये—इष्टापत्तिः, यतो भगवतैव गीतासु—'भक्त्या मामभिजानाति।' (गी० १८।५५) इत्यनेनानन्यप्रेमरूपा भक्तिर्ज्ञानस्यैव साधनं, ज्ञानमेव तु भगवत्प्रवेशरूपां मुक्तिं प्रति साधनमिति विस्पष्टमेव स्वाभिमतं विनिर्णीतम् । द्वितीये—'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥' (गी० १०-१०) 'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।' (गी० १३।१८) इति वचनविरोधात् भक्तेर्मुक्तिहेतुत्वं–ज्ञानोत्तरकालभावित्वञ्चायुक्तम् । पराक्रान्तं चास्मत्पूर्वाचार्य्यैर्मुक्तेर्ज्ञानैकसाध्यत्वव्यवस्थापने। बुद्धियोगं =सम्यक्-

---

करती है—वैसे।'

श्रीमद् रामानुजाचार्य आदि वैष्णव-आचार्यगण भक्तिको ही मुख्य मानते हुए कहते हैं कि—तत्त्व-साक्षात्कार के अनन्तर निरवधि-निरतिशय-प्रीतिरूपा भक्ति उत्पन्न होती है, और उस भक्तिके द्वाराही भगवत्प्राप्तिरूपा मुक्ति मिलती है। उसमें श्रीमद्-भगवद्गीता का यह प्रमाण देते हैं कि—'हे परंतप ! अर्जुन ! अनन्य-भक्तिके द्वारा इस प्रकारके स्वरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिए और तत्त्वसे जाननेके लिए तथा उसमें प्रवेश करने के लिए अर्थात् अभेदभावसे प्राप्त होनेके लिए भी शक्य हूँ।' इस विषयमें हमारा यह विवेचनरूप वक्तव्य है कि–यह भक्ति क्या ज्ञानरूपा है ? अथवा ज्ञानसे भिन्न, अन्य अर्थरूपा है ? यदि वह भक्ति ज्ञानरूपा है तो इष्टापत्ति है, अर्थात् हमारे सिद्धान्तके अनुकूल है, ऐसा हम केवलाद्वैतवादी भी मानते हैं। यदि ज्ञानसे भिन्न है तो–वह भक्ति क्या ज्ञानमें हेतुरूपा है ? कि–ज्ञानके उत्तरकालमें होने वाली मुक्तिमें हेतुरूपा है ?। यदि वह ज्ञानमें हेतु है, तो इष्टापत्ति। क्योंकि–'भक्ति द्वारा वह मुझे यथावत् जानता है' (गी०) इस वचनसे अनन्यप्रेमरूपा भक्ति ज्ञानका ही साधन है, और ज्ञानही भगवत्प्रवेशरूपा यानी भगवान्‌में एकीभावरूपा मुक्तिका साधन है, ऐसा गीता में श्रीभगवान्‌ने स्पष्टरूपसे अपना अभिमत–निर्णीत किया है। यदि वह भक्ति, ज्ञानके उत्तरकालमें होनेवाली मुक्तिमें हेतु है तो—'निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेम पूर्वक मेरा भजन करने वाले उन भक्तों को मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।' (गी०) 'मेरा भक्त मेरा तत्त्व जाननेके अनन्तर मेरा भाव

दर्शनमेव बुद्धिः—ज्ञानं, तदेव योगस्तं ददामि=समर्पयामि, येन बुद्धियोगेन ते भक्ता मामात्मत्वेनोपयान्ति—प्रविशन्तीत्यर्थः। 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' इति तु ज्ञानद्वारकमेव मुक्तिहेतुत्वं भक्तेः प्रतिपादयति। 'ददामि बुद्धियोगं' इति प्रागुक्तवचनैकार्थ्यात्। 'ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परंतप !।' इति वाक्यशेषे प्रवेशरूपमुक्तिहेतोः साक्षात्कारत्वोक्तेश्चेति दिक्। एवमेव 'भगवद्भक्तियोगतः, भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते।' (भा० १।२।२०) इत्यादिभिः श्रीमद्भागवतेऽपि ज्ञानस्यैव साधनभूता भगवद्भक्तिरस्ति, अतः सा ज्ञानोत्तरभाविनी नास्ति, किन्तु ततः पूर्वभाविन्येव विद्यते इति स्पष्टमुक्तम्। तथा च—'यथा ज्ञानं विना मुक्तिर्नास्ति युक्तिशतैरपि। तथा भक्तिं विना ज्ञानं नास्त्युपायशतैरपि॥ भक्तेर्ज्ञानं ततो मुक्तिरिति साधारणक्रमः।' इति यद्यप्यस्ति सिद्धान्तः, तथापि साधनभूतायाः भक्तेर्ज्ञानहेतुत्वेऽपि फलभू-

प्राप्त करनेके लिए समर्थ हो जाता है, यानी वह मेरा ही रूप बन जाता है' (गी०)- इन वचनोंसे विरोध हो जाने के कारण भक्ति, मुक्ति का कारण है और भक्ति, ज्ञानके उत्तरकालमें (अनन्तर) उत्पन्न होती है' ऐसा कथन अयुक्त-अप्रामाणिक ही सिद्ध होता है। अद्वैत सम्प्रदायके हमारे पूर्वज आचार्योंने अनेक श्रुति, स्मृति—युक्ति आदि के द्वारा 'मुक्ति ज्ञानैकसाध्य है' अर्थात् मुक्तिमें ज्ञान ही साक्षात्कारण है, और भक्ति ज्ञानका कारण है, ऐसा निर्णयकर प्रतिपक्षियोंके शास्त्रविरुद्ध मतका खण्डन किया है। सम्यक्-दर्शन ही बुद्धि है—यही ज्ञान है एवं यही योग है, उसको मैं अपने भक्तको समर्पण करता हूँ, उस बुद्धि योगके द्वारा भक्त मुझ भगवान्‌में आत्म-स्वरूपसे प्रविष्ट हो जाते हैं, यह अर्थ है। वैष्णवाचार्योंने अपने पक्षके समर्थन में गीताका जो प्रमाण दिया है—'भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः' इसका तात्पर्य यह है कि—भक्ति, ज्ञान द्वारा ही मुक्तिके प्रति कारण है, अर्थात् भक्ति से ज्ञान होता है, और ज्ञानसे मुक्ति होती है।' ऐसा तात्पर्य माननेपर ही 'मैं अपने भक्तों को तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ' श्री भगवान् के इस वचनके साथ एकार्थता हो जाती है। और 'भक्त्या त्वनन्यया' इस श्लोकके— 'जानने के लिए साक्षात्कार करनेके लिए एवं तत्त्वतः प्रवेश करनेके लिए शक्य हूँ'— इस वाक्य-शेषरूप उत्तरार्ध से भी यह सिद्ध होता है कि—प्रवेशरूप—मुक्तिमें साक्षात्काररूपज्ञान ही कारण है। इस प्रकार 'भगवान् के भक्ति-योगसे ही संसार से विरक्त पुरुषको भगवान् का तत्त्वज्ञान हो जाता है।' (भा०) इत्यादि भागवत के वचनोंसे भी 'भगवद्भक्ति ज्ञानका साधन है, अतः वह ज्ञानोत्तरभाविनी नहीं है अर्थात् ज्ञानके उत्तरकाल में ही होनेवाली नहीं, किन्तु ज्ञानके प्रथम ही होती है, ऐसा स्पष्ट-निर्णयरूपसे कहा है। तथाच 'ज्ञानके विना सैकड़ों युक्तियोंसे भी जैसे मुक्ति नहीं होती है, वैसे ही भक्तिके विना सैकड़ों-अन्य उपायों से भी ज्ञान नहीं होता।'

तायाः पराभक्तेः अस्ति ज्ञानमयत्वं, तत्साहचर्यञ्चेत्यत्र नास्ति कश्चन विरोधः। इति ।

-❀-

(६)

(ज्ञानिभक्तस्य महाभागस्य भीष्मस्य ब्रह्मनिर्वाणाख्यस्य मोक्षस्य वर्णनम्)

एक एवापरिच्छिन्नोऽद्वयः सर्वात्मा भगवान् । अत एव श्रीमद्भागवतेऽस्यापरिच्छिन्नत्वसिद्धये चतुर्धा वर्णनमुपलभ्यते। तथाहि—'स वै किलायं पुरुषः पुरातनो य एक आसीदविशेष आत्मनि।' (भा० १।१०।२१) इत्यादिनाऽस्यैकं निर्विशेषं निरुपाधिकं निर्गुणं विशुद्धं ज्ञानगम्यं स्वरूपं निरूप्यते। किलेति प्रसिद्धया प्रमाणद्योतकं, य एक एवाद्वितीयः पुरुषः आसीत्, स एवायं श्रीकृष्णः, कुत्रासीत् ?, अविशेषे=निर्विशेषे जातिगुणक्रियादिरूप विशेषशून्ये—निर्मायि—निष्प्रपञ्चे-आत्मनि=निजस्वरूप इत्यर्थः। 'स एव भूयः········प्रकृतिं सिसृक्षतीं, अनामरूपात्मनि रूपनामनी विधित्समानोऽ

अतः भक्ति से ज्ञान होता है, और ज्ञानसे मुक्ति होती है, यह साधारण क्रम है । यद्यपि ऐसा सिद्धान्त है, तथापि साधनभूत-भक्ति, ज्ञानका कारण होनेपर भी फल रूपा पराभक्ति ज्ञानमयी है, और ज्ञानकी सहचारिणी है, इस विषयमें कोई भी विरोध नहीं है ।'

-❀-

(६)

(महाभाग्यशाली-ज्ञानीभक्त-श्रीभीष्म—पितामहके ब्रह्म—निर्वाणरूप मोक्षका वर्णन)

अद्वय-सर्वात्मा भगवान् एक ही है, और अपरिच्छिन्न है। अतएव श्रीमद्भागवत में भगवान्के अपरिच्छिन्नत्वकी सिद्धि के लिए उनके चार प्रकार के स्वरूपोंका वर्णन मिलता है—जैसे—'ये वे ही सनातन परमपुरुष हैं, जो प्रलय के समय भी निर्विशेष, निर्माय निजस्वरूपमें अवस्थित रहते हैं' (भा०) इत्यादि वचनों से भगवान् का एक विशुद्ध स्वरूप है—जो निर्विशेष-निरुपाधिक एवं निर्गुण है, और ज्ञानसे प्राप्य है, उसका निरूपण किया है । 'किल' यह अव्यय-पद प्रसिद्धि—अर्थके द्वारा प्रमाणका सूचक है । जो एक ही अद्वितीय-पुरुष था, वही यह श्रीकृष्ण है । कहाँ वह था ? जाति, गुण क्रिया आदिरूप विशेषोंसे रहित-निर्विशेष-मायारहित-एवं द्वैत-प्रपञ्चरहित-निजस्वरूपमें अवस्थित था । 'उन्होंने ही—जो अविकृत—निर्विशेष स्वरूपवाले हैं—फिर नामरूपरहित

नुससार' (भा० १।१०।२२) 'तत्रैष हि सत्त्वतः किल । धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे।' (भा० १।१०।२५) इत्यादिना द्वितीयं मायोद्भासितं परमेश्वरसंज्ञकं सविशेषं सगुणं साकारमनेकविधं भक्तानामुपासनासिद्धये वर्ण्यते। तदेवं सृष्टेरादौ प्रलयानन्तरञ्च निष्प्रपञ्चावस्थानमुक्त्वा सृष्टिप्रलययोर्मध्ये सप्रपञ्चावस्थानमाहुः, स एव=अप्रच्युतस्वरूपस्थितिरेव परमात्मा, प्रकृतिं=गुणत्रयमयीं मायां, अनुससार=अधिष्ठितवान्। भूयः=पुनः, सृष्टिप्रवाहस्यानादित्वात् कीदृशीं=सिसृक्षतीं=स्रष्टुमिच्छन्तीं, किमर्थमनुससार ? अनामरूपे=नामरूपरहिते आत्मनि=निजस्वरूपे, रूपनामनी विधातुमिच्छन्। एष एव, भवाय=अभ्युदयाय—आराधनासिद्धय इति यावत्, सत्त्वतः=मायाया विशुद्धसत्त्वेन, रूपाणि=साकारस्वरूपाणि दधत्=धारयन्, भगादीनि, धत्ते=प्रकटयति। युगे युगे=तत्तदवसरे। भगं=ऐश्वर्यं, सत्यं=सत्यप्रतिज्ञत्वं, ऋतं=यथार्थोपदेशकत्वं, दयां=भक्तकृपां,

अपने स्वरूपमें नामरूपोंके निर्माण की इच्छा की, तथा अपनेसे प्रेरित त्रिगुणमयी प्रकृतिका—जो सृष्टि करना चाहती है—अनुसरण किया।' (भा०) 'वे ही परमात्मा, भक्तोंकी आराधनाकी सिद्धिके लिए मायाके विशुद्ध-सत्त्वगुण को लेकर युग-युगमें अनेक-दिव्य-अवतार धारण करते हैं, तथा ऐश्वर्य, सत्य, ऋत, दया एवं यश, विश्वके कल्याणके लिये प्रकट करते हैं।' (भा०) इत्यादि-वचनोंके द्वारा—मायाद्वारा प्रकटित, परमेश्वर संज्ञावाला सविशेष-अनेक प्रकारका सगुण-साकार-भक्तोंकी उपासना सिद्धिके लिए—द्वितीय-स्वरूपका वर्णन किया है। इस प्रकार-सृष्टिके आदिमें तथा प्रलयके अनन्तर भगवान्के निष्प्रपञ्च रूपसे अवस्थान का कथन करके, सृष्टि और प्रलयके मध्यमें भगवान्के सप्रपञ्च-रूपसे अवस्थानका वर्णन करते हैं। स एव यानी प्रच्युतिरहित-स्वरूपकी स्थितिवाले परमात्मा ने ही गुणत्रयमयी मायाको अधिष्ठित किया। भूयः यानी वार वार, सृष्टिका प्रवाह अनादि होनेसे। कैसी है प्रकृति ? सर्जन करनेकी इच्छा वाली। इस परमेश्वरने प्रकृतिका क्यों अनुसरण किया ? अर्थात् परमेश्वर प्रकृतिका अधिष्ठाता-प्रेरक-एवं भासक क्यों बना ? नामरूपरहित-निज आत्मामें नामरूपोंके आरोपों के विधान की इच्छा होनेके कारण। अर्थात् मायाके द्वारा ही ऐसे अतत् में तत् के आरोपका विधान होता है, स्वतः नहीं होता, इसलिए प्रकृतिका अनुसरण किया। वही यह परमेश्वर, भव यानी अभ्युदय के लिए—आराधना की सिद्धिके लिए। मायाके विशुद्ध-सत्त्वगुण द्वारा साकार-स्वरूपोंको धारण करता हुआ, उस उस अवसरपर भग आदिको प्रकट करता है। भग=ऐश्वर्य, सत्य=सत्यप्रतिज्ञापना, ऋत=यथार्थ-उपदेश, दया=भक्तोंपर कृपा, एवं यश=अद्भुत (आश्चर्यकारी) दिव्य-चरित्र। इसप्रकार भगवान्के प्रथम-निर्विशेष--अद्वय स्वरूपका, एवं द्वितीय-सविशेष-साकार स्वरूपका

यशः=अद्भुतकर्मत्वं इत्यर्थः । 'एष वै देवताः सर्वाः' (भा० १०।७४।१६) 'यदात्मकमिदं विश्वं' (भा० १०।७४।२०) 'एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् ।' (भा० १०।७४।२१) 'त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकं । आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन् महीम् ॥' (भा० ११।२।२२) 'खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् । सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥' (भा० ११।२।४२) इत्यादिना तृतीयं विश्वात्मकं नामरूपाभ्यां दृश्यमानं श्रूयमाणं, रागद्वेषादिकल्मषनिवृत्तये भगवद्रूपं प्रतिपाद्यते । एषः=श्रीकृष्णः आत्माऽव्यतिरिक्तं स्वरूपं यस्य तदेतदात्म, तस्य भाव ऐतदात्म्यम्, भवितर्येव भावनिर्देशः । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं (छां० उ० ६।१६।३) इति श्रुतेः । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० ४।५।७) इत्यादिश्रुत्यन्तरानुसारात्, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद्' (छां० उ० ६।२।१) इत्युपक्रमानुसाराच्च, एतद् = सद्ब्रह्म आत्माऽस्य सर्वस्य तदेतदात्म इति बहुव्रीहिं कृत्वा ततो भावप्रत्यये कृते भावप्रत्ययस्य प्रकारीभूतप्रकृत्यर्थपरत्वात् बहुव्रीह्यर्थे विशेषणीभूतात्मपरामर्शकत्वेन 'एष आत्मेदं सर्वं' इति प्रतिपादयति ।

वर्णन किया ।

'यह श्रीकृष्ण ही इन्द्र-रुद्र-वरुण आदि समस्त देवता स्वरूप है ।' (भा०) 'यह समस्त विश्व भगवान्‌का ही स्वरूप है ।' (भा०) भगवान् श्रीकृष्ण एक ही अद्वितीय-ब्रह्म हैं, और यह निखिल जगत् उन्हींका ही स्वरूप है ।' (भा०) 'वे मुनिगण, इस कार्य कारणरूप या स्थूल सूक्ष्मरूप जगत् को भगवद्रूप, और अपने आत्मा से अभिन्न-समझकर ही इस धराधाममें विचरण करते थे ।' (भा०) 'आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी समुद्र,—ये सबके सब विश्वके पदार्थ, भगवान्‌के ही स्थूल-विग्रह हैं । इन सभी रूपोंमें स्वयं श्रीभगवान् ही प्रकट हुए दर्शन दे रहे हैं, ऐसा समझकर इन सबको अनन्य-भावसे प्रणाम करे ।' (भा०) इत्यादि वचनोंके द्वारा—नाम एवं रूपोंसे दृश्यमान तथा श्रूयमाण यह विश्व ही भगवान् का विराट् रूप है, विश्वमें भगवद्रूप की भावना करनेसे रागद्वेषादि-कल्मषों की निवृत्ति होती है—इसलिये तृतीय-विश्वरूपसे भगवान्‌का प्रतिपादन किया है । आत्मासे अव्यतिरिक्त—स्वरूप ही ऐतदात्म्य-विश्व है ।

अतएव छांदोग्य-श्रुति भी यही कहती है कि—'यह समग्र विश्व, आत्मासे व्यतिरिक्त नहीं है—आत्मा का ही स्वरूप है ।' तथा 'यह सर्व जगत् यह आत्मा ही है ।' यह बृहदारण्यक—आदि अन्य श्रुतियोंके-अनुसार ही, तथा 'हे सोम्य यानी प्रिय-दर्शन ! यह निखिल विश्व, प्रथम सद्‌ब्रह्म ही था ।' इस छांदोग्य-श्रुतिके उपक्रमके अनुसार ही श्रीमद्भागवत भी प्रतिपादन करता है । 'ऐतदात्म्य' इस पदमें प्रथम बहु-

'एष आत्मेदं सर्वं' इत्येवं वक्तव्ये सामानाधिकरण्यमात्मात्मीयभावेनौपचारिकमिति शंकानिवारणाय बहुव्रीहिभावप्रत्यययोरुपादानम्। तथा सति बहुव्रीहिणैव मुख्यया वृत्त्याऽऽत्माऽऽत्मीयभावे लब्धे पुनर्भावप्रत्ययरूप—प्रयत्नान्तरकरणं व्यर्थं स्यादिति सा शङ्का निराकृता भवति। तच्च सामानाधिकरण्यं रजतं शुक्तिरिवारोपितबाधाभिप्रायेणैवाभ्युपेयम्। ते–एते=प्रसिद्धाः नवसंख्याकाः कव्यादिनामभिर्विख्याताः मुनयस्तत्त्वदर्शिनः परमहंसाः, विश्वं सदसदात्मकं=स्थूल—सूक्ष्मरूपं—कार्यकारणात्मकं भगवद्रूपं=भगवान्—परं ब्रह्मैवाधिष्ठानतया रूपं यस्य तत्, कल्पितस्याधिष्ठानरूपमन्तरा स्वतोऽ

व्रीहि समास किया है, अनन्तर भावप्रत्ययका प्रयोग किया है। बहुव्रीहि-समासके बाद किया गया भावप्रत्यय, विशेषणीभूत-प्रकृतिके ही अर्थका बोधक होता है। अतः 'ऐतदात्म्य' पदका 'एष आत्मा इदं सर्वं' (यह सर्व, यह आत्मा ही है) ऐसा अर्थ हो जाता है।

शंका—तब श्रुति तथा भागवतको 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' के स्थानपर 'एष आत्मा इदं सर्वं' ऐसा कहना था। ऐसा न कहकर 'ऐतदात्म्यं' क्यों कहा?।

समाधान—'भद्रसेनोऽयं ममात्मा' (यह भद्रसेन मन्त्री मेरा आत्मा है') इस वचनमें-जैसे आत्मा-आत्मीयभाव होनेके कारण सामानाधिकरण्य-गौण है—मुख्य नहीं है, वैसे 'एष आत्मा इदं सर्वं' में भी एक-विभिक्त्यन्तत्वरूप-सामानाधिकरण्य भी गौण होगा, मुख्य-अभेदरूप सामानाधिकरण्य न होगा, ऐसी आशंका हो जा सकती है, ऐसी शंकाके निवारणके लिए ही 'ऐतदात्म्य' पदमें बहुव्रीहि समास एवं भावप्रत्यय दोनोंका प्रतिपादन किया है। क्योंकि-आत्मा-आत्मीय भाव तो सिर्फ-बहुव्रीहि समास द्वारा भी अवगत हो सकता है। फिर भावप्रत्यय करने की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु बहुव्रीहि समासके अनन्तर भाव-प्रत्यय करनेसे 'ऐतदात्म्य' में मुख्य अभेद-रूप सामानाधिकरण्य का ही बोध होता है। इसलिये—बहुव्रीहि एवं भाव-प्रत्यय द्वारा यह समग्र विश्व आत्मा ही है—आत्मव्यतिरिक्त नहीं है—ऐसा मुख्य-अभेदभाव का ही ज्ञापन होता है। 'रजतं शुक्तिः' की तरह—'यह सर्व यह आत्मा ही है' इसमें सामानाधिकरण्य आरोपितके बाधके अभिप्राय से है, ऐसा मानना चाहिये।

अब ग्रन्थकार—'त एते भगवद्रूपं' इस श्लोककी व्याख्या प्रदर्शित करते हैं—कवि, हरि, आदि नामोंसे प्रसिद्ध वे नव मुनिगण, जो तत्त्वदर्शी-परमहंस हैं, वे सत् असत् यानी स्थूल-सूक्ष्मरूप या कार्यकारणरूप जगत्को भगवद्रूप ही देखते थे। क्योंकि-भगवान् पर ब्रह्म ही इस विश्वका अधिष्ठान है, और अधिष्ठानका स्वरूप ही आरोपितका स्वरूप माना जाता है। अधिष्ठानके स्वरूपके विना कल्पित-पदार्थके स्वरूप का स्वतः निरूपण नहीं हो सकता है। अतः यह नामरूपात्मक विश्व, प्रतिमाके स्थानापन्न होनेके कारण

निरूप्यत्वात्, भगवतो रूपं प्रतिमास्थानीयं विश्वं=नामरूपात्मकं; तच्च आत्मनः=त्वंपदार्थस्याव्यतिरेकेण=स्वाभेदेन पश्यन्तः, महीं=भूमिं व्यचरन्। सत्त्वानि=जीवानि-विविधानि, 'सत्त्वं स्यात् गुणजीवयोः' इति कोशोक्तेः, श्रीभगवतः सर्वत्र स्फूर्तेः खेवाय्वादिषु यत्र यत्र दृष्टिः पतेत्, तत्र तत्र सर्वत्र हरेः=इष्टदेवस्यैव शरीरं=श्यामसुन्दरपीतवसनकमलनयनाद्याकारमेव स्फुरितं पश्यति भक्तः, स कीदृशः, अनन्यः=न विद्यतेऽन्यः श्रीकृष्णं विना भावनीयो द्रष्टव्यो वा पदार्थो यस्य सः। तथा चोक्तं पुराणान्तरेऽपि-'नारायणमयं धीराः पश्यन्ति परमार्थिनः। जगद्धनमयं लुब्धाः कामुकाः कामिनीमयम्॥' इति। यद्वा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां० उ० ३।१४।१) 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी० ७।११) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां हरेः शरीरं=अस्तित्वादिनाऽनुगतमधिष्ठानस्वरूपमेव सर्वत्र पश्यन्-प्रणमेत्=तत्र तत्र भक्त्या नम्रात्मा

भगवान् का ही स्वरूप है। और यह विश्व त्वंपदार्थ-आत्मासे भी व्यतिरिक्त नहीं है, इसलिये वे मुनिगण इस विश्वको अपने आत्मासे भी अभिन्न ही देखते थे। ऐसी सर्वत्र अभेद भावना रखते हुए वे मुनिगण इस पृथ्वीपर विचरण करते थे। सत्त्वका अर्थ है-विविध-जीव। कोशमें भी सत्त्वका जीव भी अर्थ किया है। अतः श्रीभगवान्का ही सर्वत्र स्फुरण (भान) होनेके कारण, आकाश वायु आदि पदार्थोंमें भी-जहाँ जहाँ दृष्टि पड़ती है-वहाँ वहाँ सर्वत्र अनन्य-भक्त, अपने इष्टदेव श्रीहरिके ही-श्यामसुन्दर विग्रहको-जो पीताम्बर-कमलनयन आदि दिव्य-मनोहर-आकारोंसे सुशोभित है-स्पष्ट रूपसे देखता है। उसकी ज्ञानमयी प्रकृष्ट-प्रेममयी दृष्टिमें भगवान्का साकार स्वरूप ही स्फुरित हो जाता है। वह भक्त अनन्य है—यानी श्रीकृष्णके विना अन्य कोई भी पदार्थ, भावनीय (भावना करने योग्य) एवं द्रष्टव्य नहीं रह गया है-जिसे वह अर्थात् श्रीकृष्णही सर्वत्र जिसे भावनीय है एवं द्रष्टव्य है, वह अनन्य-भक्त है।

तथाच अन्य पुराणमें भी ऐसा ही कहा है कि-'जैसे लोभी मानव इस जगत्को धनमय, एवं कामी मानव कामिनी-प्रेयसीमय देखते रहते हैं, वैसे ही-अविकृत प्रज्ञावाले-धीर महात्मा-जो परमार्थ-आनन्दमय-परमात्माके प्रेमीभक्त हैं-वे इस विश्वको श्रीनारायणमय ही देखते रहते हैं।

अथवा—'निश्चयसे यह निखिल विश्व ब्रह्म ही है।' 'यह सर्व वासुदेव ही है' इस श्रुति एवं गीतास्मृतिके द्वारा प्रमाणित-यह निखिल-विश्व, श्री हरिका ही स्वरूप है यानी अस्तित्व, भातित्व, प्रियत्वरूपसे सर्वत्र अनुगत-अधिष्ठान स्वरूप है-ऐसा सर्वत्र देखता हुआ प्रणाम करे, अर्थात्-उस उस दर्शनमें-भक्तिसे नम्र-विनीत हुआ, शरीरादिके परिच्छिन्न-अभिमानसे रहित हुआ, एवं भगवद्भावसे परिपूरित हृदयवाला होकर सदा आनन्द-प्रसन्न रहे। उस आनन्दलाभमें यह हेतु है—अनन्य, अर्थात्-जब

परिच्छिन्नाभिमानरहितो भगवद्भावभरितः प्रसन्नात्मा भवेदित्यर्थः । तत्र हेतुः अनन्यः=सर्वत्रान्तर्बहिः स्फूर्त्यन्तररहितः सन् इत्यर्थः ।

एवं—'एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः ।' (भा० २।२।६) 'अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयं । अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा ॥' (भा० ३।२६।२७) 'मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु-मानयन् । ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥' (भा० ३।२६।३४) इत्यादिना जीवात्मसंज्ञकं चतुर्थं ब्रह्म सर्वेषु जीवात्मस्वभेदभावसिद्धयेऽभिव-र्ण्यते । अयमर्थः—एवं स्वचित्ते इत्युपलक्षणं सर्वेषां चित्ते स्वत एव सिद्धः= स्वयंप्रकाशः—प्रमाणनिरपेक्षः, यतः स आत्मा=अभिन्नस्वरूपः, अत एव प्रियः=स्वभावत एव परमप्रेमास्पदं, प्रियस्य च तस्य भजनं सुखरूपमेव, किञ्च, स एवायं, अर्थः—परमार्थसत्यः, त्रिकालाबाध्यः न त्वनात्मवन्मिथ्या, स एव भगवान्=भजनीयसौन्दर्यादिगुणवत्त्वेन सर्वत्र निरीक्षणीयः । स

सर्वत्र अन्दर-बाहर भगवान् से अतिरिक्त-स्फूरणसे रहित हो जाता है—तब उसे सर्वत्र भगवदीय-आनन्दका अनुभव होता रहता है । इस प्रकार भगवान्‌के विश्व-विराडात्मक तृतीय स्वरूपका वर्णन किया ।

अब चतुर्थ स्वरूपका वर्णन करते हैं—'इस प्रकार विरक्त हो जाने पर अपने हृदयमें विराजमान-स्वयंसिद्ध-आत्मस्वरूप-परमप्रिय-जो भगवान् है-उसीका ही निरन्तर भजन करे ।' (भा०) 'अतः संपूर्ण-प्राणियोंके भीतर अपना निलय (गृह) बनाकर उन प्राणियोंके ही स्वरूपमें अवस्थित-मुक्त-परमात्माका-यथायोग्य दान एवं मान द्वारा मित्रताका हितकारी व्यवहार-और सम-अभिन्न दृष्टि रखकर-पूजन करना चाहिये ।' (भा०) 'अतः यह यथार्थमें मानकर कि-जीवरूप अपने सनातन-औपाधिक-अंशसे साक्षात्-भगवान् ही सब शरीरोंमें अनुगत-प्रविष्ट हुए हैं, इसलिये इन समस्त प्राणियों को बड़े आदरके साथ मनसे प्रणाम करे ।' (भा०) इत्यादि-वचनोंके द्वारा जीवात्माकी संज्ञावाला चतुर्थ-ब्रह्मका स्वरूप समस्त-जीवात्माओंमें अभेदभाव की सिद्धि के लिए-वर्णन करते हैं । 'स्वचित्ते' यह उपलक्षण है अर्थात् सबके चित्तमें । जो प्रमाणोंकी अपेक्षा न करता हुआ स्वयंप्रकाशरूपसे स्वतः ही सिद्ध होता है । क्योंकि-वह अभिन्न स्वरूप-आत्मा है, अतएव वह स्वभावसे ही परम प्रेमास्पद है । अतः परमप्रिय उस आत्म-स्वरूप भगवान् का भजन सुखरूप ही है । और वही यह आत्मारूप अर्थ, त्रिकाला-बाध्य-परमार्थ-सत्य है, अनात्म-देहादि की भांति मिथ्या नहीं है । वही भगवान् है--अर्थात्-भजन-चिन्तन करने योग्य-सौन्दर्य-माधुर्य-शाश्वतानन्द आदि गुणरूपसे सर्वत्र निरीक्षण करने योग्य है । वही, सर्व व्यापक होनेसे-समस्त जड़ चेतन पदार्थोंका स्वरूप होनेके कारण-अनन्त है—अपरिच्छिन्न-पूर्ण है, सर्व-देशोंमें एवं सभी वस्तुओंमें सर्वदा

एवानन्तः = सर्वव्यापकत्वात्—सर्वजडचेतनपदार्थस्वरूपत्वाच्च---अपरिच्छिन्नः पूर्णः सर्वत्र देशे सर्वस्मिन् वस्तुनि च सदैवावस्थितः, तं भजेतानन्यभावेनेति उत्तरत्रान्वयः । अथ = अतः, सर्वभूतेषु = भूतनिर्मितसर्वोच्चावचदेहेषु—अवस्थितं भूतात्मानं मां, कृतालयं = कृतानि—संपादितानि स्वसृष्टभूतभौतिकदेहादीन्येवालयानि—निवासस्थानानि येन स तमित्यर्थः । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० उ० २।६) इति श्रुतेः । अभिन्नेन चक्षुषा = समदर्शनेन, मैत्र्या = प्रेमहितभावनयेत्यर्थः । दानमानाभ्यां अर्हयेत् = पूजयेत्–यथाशक्तिदानेन, मानेन = आदरेण, च मां–भगवन्तं विविधजीवात्मरूपेणावस्थितं सत्कुर्यादेव नावमन्येत कदाचनेतियावत् । ईश्वरो भगवानेव जीवकलया = जीवभूतांशेन प्रविष्टोऽस्ति सर्वत्रेति भगवद्भावभरितेन मनसा एतानि भूतानि = जीवरूपाणि बहु मानयन् आत्मानमिव, प्रणमेत् = अभिनन्देदित्यर्थः । अत्र च जीवात्मनो भगवदंशत्वं नाम घटाकाशस्य महाकाशं प्रतीव तदेकदेशत्वम्, तच्च निरंशे भगवति वास्तवं न भवतीति कल्पितमेवांश-इवांश औपाधिक इत्यवसेयम् । एवं चात्र जीवात्मनो भगवत्प्राप्तिः 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्मा-

ही अवस्थित है, उसका ही अनन्य-भावसे भजन करे । ऐसा उत्तर वाक्यमें अन्वय है । अथ का अतः अर्थ है । इसलिए सर्वभूतोंमें यानी पंचभूतोंसे निर्मित-छोटे-बड़े-सर्वशरीरोंमें-अवस्थित-भूतात्माका-मुझ परमेश्वरका-जिसने स्वसृष्ट-भूत एवं भौतिक देहादियों को अपना आलय यानी निवास-स्थान बनाये हैं—श्रुति भी कहती है कि—'उसने भूत भौतिक-जगत्का सर्जन करके उस सृष्टा परमात्माने ही उसमें प्रवेश किया ।' अभिन्न चक्षुसे = समान-भावशाली दृष्टिसे, मैत्रीसे = प्रेमयुक्तहितकी भावनासे, तथा यथाशक्तिदान द्वारा संमान-आदर पूर्वक—पूजन-करे, अर्थात् विविध-प्रकारके जीवात्माओंके रूपमें मेरा आराध्य-इष्टदेव भगवान् ही मेरे समक्ष-अवस्थित हैं, ऐसा समझ करके सबका सत्कार करे, कभी किसीका निरादर न करे । ईश्वर भगवान् ही जीवरूप-अंशसे सर्वत्र प्रविष्ट हुए हैं, ऐसे-भगवद्भावसे परिपूर्ण-मनके द्वारा समस्त-जीवोंका सम्मान करता हुआ वह प्रेमी भक्त, अपने प्रिय-आत्माके समान उन सबका अभिनन्दन (स्वागत) करे । यहाँ यह समझना चाहिए कि—जिस प्रकार महाकाशके प्रति घटाकाश उसका उसके एक देशमें अवस्थितत्वरूप-अंश है, उस प्रकार जीवात्मा भी भगवान्का ऐसा ही अंश है । ऐसा अंशत्व-अंशरहित-अपरिच्छिन्न-भगवान्में—वस्तुतः नहीं हो सकता है, इसलिये कल्पित ही अंशकी भांति-अंश-औपाधिक है, वास्तविक नहीं है ।

ऐसा विवेचन एवं निर्णय होजानेपर यहाँ जीवात्माको भगवत्प्राप्ति प्राप्तकी प्राप्ति रूपा है, अप्राप्तकी प्राप्तिरूपा नहीं है; ऐसा निश्चय करना चाहिए । अतएव इस सिद्धान्तमें—श्रुति एवं स्मृतिका भी यही अनुरोध है—'वह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हुआ ब्रह्ममें

प्येति' (बृ० उ० ४।४।६) 'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।' (गी० ५।२४) इति श्रुतिस्मृत्यनुरोधेन प्राप्तप्राप्तिरूपैव निश्चेतव्या । उपबृंहितञ्चैतत्पुराणान्तरेऽपि—'नित्यप्राप्तस्य चाप्राप्तिर्विभ्रमः खलु देहिनाम् । विभ्रमस्य निवृत्त्या सा प्राप्तेति व्यपदिश्यते ॥' इति स्कांदीयसूतसंहिताद्युक्तेः । युक्तं चैतत्—ब्रह्मस्वरूपतया नित्यप्राप्तब्रह्मभावस्यैव सतो जीवात्मनस्तद्भावप्राप्तेस्तदज्ञाननिवृत्तिमात्ररूपत्वौचित्यात् । इत्येवं चतुर्धा ब्रह्मनिरूपणं तस्य पूर्णत्वबोधाय वेदितव्यम् । तथा चाभिहितमेतदभियुक्तैः—'सगुणं निर्गुणं ब्रह्म, विश्वरूपं तृतीयकम् । चतुर्थं जीवसंज्ञञ्च श्रीमद्भागवतेरितम् ॥' इति ।

सत्येवं महाभागस्य श्रद्धासंयमादिसाधनसम्पन्नस्य भीष्मस्यातिप्रेम्णा सविशेषसाकारब्रह्म-श्रीकृष्ण-परिशीलनपरायणस्यात एव वशीकृतमनसस्तत्कृपातो लब्धात्मविद्यस्य तया च विध्वस्तसमूलमिथ्याज्ञानापरपर्यायकुमतेस्तस्यान्तिमसमये निर्विशेषमपेतोपाधिकल्पनमपरिच्छिन्नं चित्सुखघनमद्वयं

विलीन होजाता है ।' (श्रु०) 'वह ज्ञान-योगी ब्रह्म स्वरूप ही हुआ ब्रह्म निर्वाणपदको प्राप्त हो जाता है ।' (गी०) ये श्रुति एवं स्मृतिके वचन-पूर्वोक्त-सिद्धान्तका ही समर्थन करते हैं । इस सिद्धान्तका समर्थन अन्य-पुराणमें भी स्पष्टरूपसे इस प्रकार किया है कि—'नित्य यानी सर्वदा प्राप्तवस्तुकी अप्राप्ति मानना, देही-जीवोंकी निश्चयतः भ्रान्ति ही है । उस भ्रान्तिकी निवृत्ति होजानेपर प्राप्तवस्तुकी प्राप्ति का ही व्यपदेश किया जाता है ।' यह स्कन्दपुराणकी सूतसंहिता का वचन है । और यह बात युक्ति-युक्त यथार्थ ही है कि—ब्रह्मस्वरूप होनेसे जीवात्माको ब्रह्मभाव सर्वदा प्राप्त है, परन्तु अज्ञान वश-सर्वदा प्राप्तको अप्राप्त मानता है, इसलिये उस अज्ञान की निवृत्ति होना ही प्राप्त ब्रह्मभाव की प्राप्ति है, ऐसा निर्णय उचित ही है । इस प्रकार यह जीवसमुदाय भी ब्रह्मका चतुर्थस्वरूप है । इस प्रकार चार प्रकारसे—ब्रह्मका जो निरूपण-हमारे शास्त्रों में किया है—वह उसके अपरिच्छिन्नस्वरूप-पूर्णत्वके बोधके लिए है—ऐसा जानना चाहिये । तथा च प्रामाणिक-तत्त्वदर्शी-विद्वानोंने भी कहा है कि—'सगुणरूप, निर्गुणरूप, विराट्-विश्वरूप, और चतुर्थ जीवरूप, इसप्रकार ब्रह्मके चार स्वरूपोंका श्रीमद्भागवतमें भी वर्णन किया है ।'

ऐसा निश्चित-युक्तियुक्त-प्रामाणिक-विवेचन होजानेपर—महाभाग्यशाली, श्रद्धा-संयम आदि-साधनोंसे संपन्न, सविशेष-साकार-ब्रह्म-भगवान् श्रीकृष्णके अतिप्रेमसे चिन्तनमें निरन्तर लगे रहने वाले—अतएव—मनको अपने वशमें बनाने वाले-जितेन्द्रिय श्री भीष्मपितामहजीने—भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ही ब्रह्मविद्या प्राप्त की । एवं उस ब्रह्मविद्या के द्वारा ही मूल-अज्ञान-सहित-मिथ्याज्ञानरूपी कुमतिका विध्वंस करके अन्तिमसमयमें-निर्विशेष-निरुपाधिक-अपरिच्छिन्न-सच्चिदानन्द-घन-अद्वय-ब्रह्मका अभेदरूप

ब्रह्माभेदेन साक्षात् कृतवतो ब्रह्मनिर्वाणरूपां विधूतभेदमोहोपलक्षितां विमुक्तिमभिवर्णयन् स्वयमेवाह—

तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम् ।
प्रतिदृशमिव नैकधाऽर्कमेकं, समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥

(भा० १।९।४२)

सोऽहं भीष्मः कृतार्थो धन्योऽस्मीत्याह—तं—इमं = चतुर्धाऽभिवर्णितमतएवापरिच्छिन्नपूर्णात्मतया प्रसिद्धं अजं = जन्मादिविक्रियारहितं निर्विशेषं चित्सुखघनमद्वयं स्वस्वरूपभूतं ब्रह्म समधिगतोऽस्मि = सम्यक्- अज्ञानावरणनिवृत्त्या प्राप्तमेव तत्—अधिगतः प्राप्तोऽस्मि, सम्यक्त्वमाह-विधूतभेदमोहः = तत्कृपातो लब्धात्मविद्यया विधूतो = निरस्तो भेदस्तत्कारणीभूतोऽज्ञानाख्यो मोहश्च यस्य सः, तथाभूतः सन् । तदर्थं भेदस्यौपाधिकत्वमाह-आत्मकल्पितानां = आत्मनि-अधिष्ठानेऽद्वये ब्रह्मणि-उपाधिभेदेन प्रतिबिम्बानामिव कल्पितानामारो-

से साक्षात्कार किया । अतएव स्वयं भीष्मजी—भेद एवं मोह (अज्ञान) के विनाश से उपलक्षित ब्रह्मनिर्वाणरूप-—अपनी मुक्तिका वर्णन करते हुए इस प्रकार कहते हैं कि—

'जैसे एक ही सूर्य अनेक आंखोंमें औपाधिक—अनेकरूपोंसे दीखते हैं, वैसेही अजन्मा-पर ब्रह्म सनातन-भगवान् श्रीकृष्णही, अपने ही द्वारा विरचित अपनेमें ही कल्पित—अनेक-शरीरधारियोंके हृदयमें-औपाधिक-अनेकरूपसे जान पड़ते हैं, वास्तव में तो वे एक-अद्वय-अपरिच्छिन्न रूपसे सबके हृदयोंमें विराजमान हैं । उन्हीं इन भगवान् श्रीकृष्णको अन्तसमयमें मैं भेद-एवं मोहसे रहित होकर-अभेदभावसे प्राप्त होगया हूँ ।'

अर्थ—वही यह मैं भीष्म धन्य एवं कृतार्थ होगया हूँ, ऐसा भीष्म जी स्वयं कह रहे हैं—कि-जिसका चारप्रकारके स्वरूपोंके द्वारा शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है—अतएव वस्तुतः जो अपरिच्छिन्न-पूर्णात्मारूप से प्रसिद्ध है, एवं जो जन्मादि-विकारोंसे रहित-निर्विशेष-चेतन-सुखघन-अद्वय-स्वस्वरूपभूत ब्रह्म है—उसको मैं सम्यक्-रूपसे प्राप्त हो गया हूँ । अर्थात् अज्ञानके आवरणकी निवृत्ति द्वारा उस सदा प्राप्तको ही मैं प्राप्त हो गया हूँ । उसकी प्राप्तिमें सम्यकत्व का वर्णन इस प्रकार से करते हैं कि—मैं कैसा होकर उस प्राप्तको प्राप्त हो गया ? इस आकांक्षाकी पूर्ति के लिए कहते हैं कि—विधूतभेदमोह होकर । यानी भगवानूकी कृपासे प्राप्त—आत्मविद्याके द्वारा-भेद और भेदका कारण अज्ञान नाम वाले मोहका विध्वंस करके अर्थात् भेद एवं मोहसे रहित हुआ—उसको प्राप्त होगया । अभेद-भावरूप प्राप्तिकी सिद्धिके लिए भेद में औपाधि-

पितानां शरीरभाजां = शरीरमज्ञानवशादात्मतया भजन्ते-सेवन्ते तच्छीलानां-जीवानां प्रतिबिम्बकल्पानां हृदि—हृदि = प्रतिहृदयं—अभिन्नतया स्वप्रकाशतया च धिष्ठितं-अधिष्ठायावस्थितमिति यावत्, अकारलोपस्त्वार्षः। नैकधा = अनेकधा—शरीराद्युपाधिभेदादनेकधा विभान्तमित्यर्थः। अत्रैकस्यानेकधाभाने शास्त्रीयं दृष्टान्तमाह—'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' (ऐ० उ० १।२) इति श्रुतिप्रामाण्यात्-सर्वप्राणिनां दृशं दृशं प्रति-एकमेवार्कमनेकधा प्रतीतमिवेत्यर्थः, सूर्यस्य स्वांशभूतसकलचक्षुरिन्द्रियनियामकतया प्रतिनेत्रमनेकधा प्रतीयमानमपि यथा विचारको विज्ञोऽर्कमेकमेव सर्वेषु चक्षुःषु स्थितमधिगच्छति, तथाऽहमपीति भावः।

एतेन-आकाशस्थमेकं सूर्यं जनानां प्रतिनेत्रभेदेन 'मन्मूर्द्धोपरि-अर्कः' इत्येवं प्रतिमूर्द्धोपरिस्थतयाऽनेकधा भान्तमिवेति केनचिद्व्याख्यातं तन्निरस्तम्। योऽयमर्को मन्मूर्द्धोपरि वर्तते, स एव त्वन्मूर्द्धोपरि' इति दृढतरप्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानविरोधात् न तस्यैकस्येत्थं चक्षुषाऽनेकधाभानं कथमपि संभवतीति।

तत्वका वर्णन करते हैं—आत्मकल्पितानां = आत्मा यानी जो अधिष्ठान—अद्वय—ब्रह्म है—उसमें शरीरादि—उपाधियोंके भेदसे प्रतिबिम्बोंके समान—आरोपित—कल्पित—जो जीव हैं, जो शरीरको ही अज्ञानवशात् आत्मा मानकर उनका ही निरन्तर-चिन्तन-सेवन करते रहते हैं—ऐसे प्रतिबिम्बके सदृश-जीवोंके प्रत्येक हृदयमें अभिन्न रूपसे एवं स्वप्रकाश रूपसे जो अधिष्ठित होकर अवस्थित है। 'धिष्ठित' इस पदके आदिमें अकारका लोप आर्ष है, अर्थात्—भागवतकार—बादरायण ऋषिने अपनी इच्छासे अकार का लोप कर दिया है। अतएव वह एक ही प्रत्यगभिन्न—ब्रह्मतत्त्व, शरीरादि—उपाधियोंके भेदसे अनेक प्रकारसे विभासित हो रहा है। इस विषयमें अर्थात्—एकके अनेक प्रकारसे भानमें—शास्त्रप्रसिद्ध—लोकप्रसिद्ध नहीं—दृष्टान्त कहते हैं—जिस प्रकार सर्वप्राणियोंके प्रत्येक—नेत्र--गोलकमें—एक ही सूर्य, अनेक—चक्षु—इन्द्रियोंके रूपों से विभासित होता है—उसप्रकार। इस दृष्टान्तको श्रुति भगवती स्वयं कहती है कि—'एक ही सूर्य अनेक—चक्षुरिन्द्रिय होकर अनेक नेत्रोंमें प्रविष्ट हो गया' (श्रु)। अपने अंशभूत—समस्त चक्षुरिन्द्रियोंका नियामक होनेके कारण एक ही सूर्य, प्रत्येक नेत्रमें भिन्न—भिन्नरूपसे प्रतीत होनेपर भी विचारवान् विद्वान्—पुरुष जैसे समस्त—नेत्रोंमें एकही सूर्य को अवस्थित हुआ जानता है, वैसे मैं भीष्मभी, अनेक देहादि—उपाधियोंमें अनेकरूपसे अवस्थित—चिदात्मा—ब्रह्मको वस्तुतः एकरूपसे ही जानकर—उसमें—भेद—मोह का विध्वंसकर अभेद-रूपसे प्रविष्ट हो गया हूँ।

ऐसे प्रामाणिक व्याख्यानसे—यह—अप्रामाणिक—व्याख्यान का भी खण्डन हो गया है। वह यह है—'लोगोंके नेत्र पृथक् पृथक् हैं, इसलिये इन नेत्रोंसे—आकाशमें

कारणोपाधिकस्यान्तर्यामिणो भगवतो बिम्बत्वं, एवं कार्योपाधिकानां जीवानाञ्च तत्प्रतिबिम्बत्वमपि-'यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ।' (भा० ७।९।११) इत्यादिना स्पष्टमेव दृष्टान्तेन समर्थितम् । यत्—यत् = यस्मात् यस्मात्—अर्चनवन्दनस्तुत्यादितो भगवते बिम्बस्थानीयाय यद्वा यं यं मानं = संमानं, विदधीत = कुर्यात् भक्तः, तत्तदेवात्मने प्रतिबिम्बस्थानीयाय जीवात्मने स्वस्मै स्वतः-सिद्धमेव भवति, यथा बिम्बभूते मुखे कृता तिलकादिना श्रीः = शोभा, दर्पणगतस्य प्रतिबिम्बमुखस्यानायासतः सिद्ध्यति, न तु साक्षात्तस्य प्रतिबिम्बस्य बिम्बं विहाय शोभां कर्तुं शक्यते केनापि । सत्येवं लौकिकबिम्बप्रतिबिम्बदृष्टान्तेन 'एषः सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः' (बृ० उ० ४।२२) इत्यादिश्रुत्यादिसिद्धं स्वातन्त्र्यमीश्वरस्य,

स्थित एक ही सूर्य—'देख यह सूर्य मेरे शिर पर है' दूसरा कहता है—नहीं-तेरे शिर पर नहीं है—मेरे शिर पर अवस्थित है'—इस प्रकार प्रत्येक प्राणीके शिर-पर स्थित होनेके कारण—अनेकरूपसे प्रतीत होता है ।' क्यों ऐसा व्याख्यान अप्रामाणिक है ? इसलिये है कि—'जो सूर्य मेरे सिरके ऊपर है, वही सूर्य-अन्य नहीं—तेरे सिरके ऊपर है, ऐसा एकही सूर्यके विषयमें—सबको दृढ़तर-प्रत्यक्ष-प्रत्यभिज्ञान होता है—इसके साथ विरोध होनेके कारण-वह व्याख्यान अप्रामाणिक होजाता है । अतः उस नभोऽवस्थित—एकही सूर्यका इस प्रकार अनेक नेत्रोंके द्वारा अनेकरूपसे भान—किसी भी प्रकारसे किसी को भी नहीं हो सकता ।

'जैसे बिम्बमुखमें किया जानेवाला सौन्दर्य, दर्पणमें दीखने वाले-प्रतिबिम्ब मुखको अनायासतः प्राप्त होकर सुन्दर बना देता है, वैसे ही भक्तजन बिम्बरूप—भगवान् के प्रति जो जो संमान—प्रदर्शित या समर्पित करता है, वह वह सब सन्मान (पूजा नैवेद्य आदि) समर्पक प्रतिबिम्ब सदृश—उस जीवात्माको ही प्राप्त होजाता है ।' इस श्री मद्भागवतके वचनसे—कारणोपाधिवाले अन्तर्यामी भगवान् बिम्ब हैं, और कार्योपाधिवाले—जीव उनके प्रतिबिम्ब हैं, ऐसा जीव एवं ईश्वर का प्रतिबिम्ब-बिम्बभाव—पूर्वोक्त दृष्टान्त द्वारा स्पष्टरूपसे समर्थित हो जाता है । अर्थ—जिस जिस-अर्चन वन्दन स्तुति आदिसे बिम्ब-स्थानीय-भगवान्का अथवा—जो जो सन्मान, भक्त करता है, वह वह सब सन्मान प्रतिबिम्ब-स्थानीय-जीवात्मा-जो बिम्ब-भूत भगवान्का अपना स्वरूप है—उसे ही सिद्ध रूपसे मिल जाता है । जैसे बिम्बभूत—मुखमें तिलक आदिके द्वारा की हुई शोभा दर्पणगत—प्रतिबिम्ब मुखको अनायास ही उपलब्ध हो जाती है । बिम्ब-मुखमें तिलक आदि किये विना साक्षात्—प्रतिबिम्बमें कोई भी शोभा नहीं कर सकता ।

ऐसा विवेचन होजानेपर लोकप्रसिद्ध-बिम्ब-प्रतिबिम्बके दृष्टान्तके द्वारा—'वह सबका ईश्वर है, वह भूतोंका अधिपति है' (श्रु०) इत्यादि-श्रुतियोंके द्वारा सिद्ध—ईश्वर

'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' (कौ० उ० ३।७) 'य आत्मानमन्तरो यमयति' (बृ० उ० ३।७।२३) 'ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।' (व्यासस्मृतिः) इत्यादिश्रुतिस्मृत्यादिसिद्धं तत्पारतन्त्र्यं जीवस्य च युज्यते । यदाहुः—कल्पतरुकाराः अमलानन्दसरस्वत्योऽपि—'प्रतिबिम्बगताः पश्यन्नृजुवक्रादिविक्रियाः । पुमान् क्रीडेद्यथा ब्रह्म तथा जीवस्थविक्रियाः ॥' (शारीरिक-भाष्यभामतीटीकायाः कल्पतरुव्याख्यायाम्) यथा लोके कश्चित् पुरुषः स्वप्रतिबिम्बगताः ऋजुवक्रादिविक्रियाः बिम्बभूतस्वप्रयुक्ताः पश्यन् क्रीडति, तथा ब्रह्म परमेश्वरोऽपि जीवस्था विक्रियाः—प्राणिकर्मानुसारेण स्वप्रयुक्ताः पश्यन् क्रीडतीति योजना । एवमेवोपाधिगता धर्माः प्रतिबिम्बभूते जीव एव प्रतीयन्ते, न तु बिम्बभूते परमेश्वरे, इत्यपि स्पष्टमेव बोधितं श्रीमद्भागवते तृतीये—'यथा जले-चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः । दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः ॥' (भा० ३।७।११) इति । अयमर्थः—यथा जले प्रतिबिम्बितस्यैव चन्द्रमसो जलोपाधिकृतः कम्पादिधर्मो दृश्यते, न त्वाकाशे स्थितस्य बिम्बभूतस्य । तथाऽ

की स्वतन्त्रता युक्ति-युक्त सिद्ध हो जाती है । और 'वह-अन्तर्यामी परमेश्वर ही-इस जीवात्माके द्वारा अच्छा कर्म करवाता है (जिसे वह ऊपरके अच्छे लोकोंमें ले जाना चाहता है) ।' 'जो जीवात्मा के भीतर अवस्थित हुआ—उसका नियमन करता है ।' (श्रु०) 'ईश्वरसे प्रेरित हुआ ही यह जीव, अपने शुभाशुभ—कर्मोंके अनुसार स्वर्गकी तरफ या नरक की तरफ जाता है ।' (स्मृ०) इत्यादि श्रुति-स्मृति आदि से सिद्ध हुआ जीवोंका-पारतन्त्र्य युक्तिसे भी सिद्ध हो जाता है । दृष्टान्तमें जैसे बिम्ब स्वतन्त्र है, एवं प्रतिबिम्ब परतन्त्र है, वैसे ईश्वर स्वतन्त्र है एवं जीव परतन्त्र है ।

अतएव ब्रह्मसूत्र—वेदान्तदर्शनके शारीरिक-भाष्यकी भामतीटीका की कल्पतरु नामकी व्याख्या करने वाले—स्वामी अमलानन्द सरस्वती—कहते हैं कि—'जैसे अपने ही प्रतिबिम्बके सरलता कुटिलता आदि विकारोंको—देखता हुआ मनुष्य क्रीड़ा करता है—वैसे ब्रह्म जीवके विकारों को देखता हुआ क्रीड़ा करता है ।' जैसे लोकमें कोई पुरुष—अपने ही प्रतिबिम्बगत—ऋजुता-वक्रता आदि-विकृतियाँ—जो बिम्बभूत अपनेसे ही प्रयुक्त हुई हैं—उनको देखता हुआ क्रीडा करता है—यानी हर्षका अनुभव करता है । वैसे ब्रह्म परमेश्वर भी—जीवोंके मध्यमें अध्यारोपित-जीवन-मरण आदि विकृतियाँ-प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार—परमेश्वरसे प्रयुक्त हुई हैं—उनको देखता हुआ-क्रीडा करता है, ऐसी पूर्वोक्त-श्लोककी योजना है ।

इस प्रकार शरीरादि-उपाधि-गत-जीवन—मरणादिधर्म प्रतिबिम्बभूत-जीवमें ही प्रतीत होते हैं, बिम्बभूत-परमेश्वरमें प्रतीत नहीं होते हैं ।' ऐसा सिद्धान्त भी स्पष्ट ही श्रीमद्भागवतके तृतीय—स्कन्धमें बतलाया है—'जिसप्रकार जलमें दीखने वाले—

नात्मनो देहादेर्धर्मोऽसन्नपि तदभिमानिनो द्रष्टुरात्मनो जीवस्यैव न त्वीश्वरस्येत्यर्थः। अत्र प्रतिबिम्बे बिम्बात् भेदमात्रस्याध्यस्तत्वेन स्वरूपेण तस्य सत्यत्वात् प्रतिबिम्बरूपजीवस्य ज्ञानेनाज्ञानतत्कार्यभेदस्य बाधे सति मुक्त्यन्वयोऽपि समुपपद्यत एव। तथाचोक्तं स्मृतावपि—'विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥' इति। अत्र विभेदजनकत्वं=जीवेश्वरभेदस्थितिप्रयोजकत्वं विवक्षितं, न तु यथा श्रुतं, तद्भेदस्यानादित्वाभ्युपगमात्। मुक्तौ तत्त्वज्ञानेनाज्ञानस्य तत्कार्यभेदस्य चात्यन्तिकनाशे सति, अविद्यमानं भेदं कः करिष्यति? न कोऽपि, कारणाभावात्।

'शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितं तमिममजं' इत्यत्र यदुक्तं—तत् 'प्रतिबोधविदितं मतं' (के० उ० २।४) 'भूतेषु-भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लो-

चन्द्रमाके प्रतिबिम्बमें जलरूप-उपाधिमें होनेवाली कंपन आदि क्रिया, वस्तुतः न होनेपर भी देखनेमें आती हैं। आकाशमें स्थित-बिम्बभूत चन्द्रमामें देखने में नहीं आतीं। उस प्रकार अनात्मा-देहादिके धर्म, देहाभिमानी जीवात्मामें न होनेपर भी-मिथ्या ही देखनेमें आते हैं, परमेश्वरमें नहीं।' इसका—संस्कृतमें प्रदर्शित किया हुआ अर्थ—इस पद्यके अनुवादमें स्पष्ट होजाता है—इसलिये उसका पिष्टपेषण करना व्यर्थ है।

यहाँ यह समझना चाहिये—कि—प्रतिबिम्बोंमें—बिम्बप्रतियोगिक-भेदमात्र ही अध्यस्त है, प्रतिबिम्ब अध्यस्त नहीं है, बिम्बका स्वरूप होनेसे वह सत्य है, बिम्ब-प्रतिबिम्बका भेद ही मिथ्या है। अतः प्रतिबिम्बरूप जीवात्माके ज्ञानसे—जो बिम्बभूत-ब्रह्मसे अभिन्न है—उसका अज्ञान तथा अज्ञानजन्य—भेदका बाध हो जानेपर जीवात्मामें-ब्रह्माभेदभावरूपी मुक्तिका भी अन्वय समुपपन्न होजाता है।

वैसा स्मृतिमें भी कहा है कि—'भेदोंका जनक-अज्ञानका ज्ञान द्वारा अत्यन्त नाश हो जानेपर ब्रह्मसे आत्माका भेद—जो वस्तुतः अविद्यमान है, उसे फिर कौन उज्जीवित करेगा? अर्थात् कोई नहीं कर सकता।' किसी कारणके न होनेके कारण 'यहाँ भेदजनक' पदसे जीवेश्वरभेदकी स्थितिका प्रयोजक अर्थ—विवक्षित (कहने के लिए अभिप्रेत) है, यथाश्रुत अर्थ यहाँ नहीं समझना चाहिये। भेदका जनक ऐसा यथाश्रुत अर्थ करने से भेदमें जन्यत्व सिद्ध होजाता है, परन्तु वस्तुतः भेद अनादि होनेके कारण जन्य नहीं होसकता। मुक्तिमें तत्त्वज्ञानसे अज्ञानका आत्यन्तिक-नाश होगया है, और अज्ञानके नाश से तत्कार्यभूतभेदका भी आत्यन्तिकनाश होगया है—ऐसी दशामें उस अविद्यमान-भेदको कोई भी कारण न होनेसे कौन विद्यमान करेगा? कोई भी नहीं।

'शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितं तमिममजं' इस श्रीमद्भागवतके वचनमें जो अर्थ कहा गया है, वही अर्थ—इन श्रुतियोंमें भी कहा है। श्रुतियाँ ये हैं—'समस्त

कादमृता भवन्ति ।' (केन० उ० १।५) 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।' (कठ० उ० २।५।१०) इत्यादिश्रुतिमूलकमेव प्रत्येतव्यम्। यतः श्रुत्यर्थमनुसरणशीलत्वात् पुराणवचनानां, अतस्तानि तद्विरुद्धं न कमपि प्रतिपादयितुं प्रभवन्ति । अयं श्रुत्यर्थः—बोधं बोधं प्रति विदितमिति प्रतिबोध-विदितं, बोधशब्देनात्र बौद्धाः प्रत्ययाः (बुद्धिवृत्तयः) उच्यन्ते । सर्वे प्रत्ययाः विषयीभवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान्प्रतिबुध्यते सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्ति-स्वरूपमात्रः । प्रत्ययैरेव प्रत्ययेषु—अविशिष्टतयाऽनुगतचित्स्वरूपेण लक्ष्यते, नान्यद् द्वारमात्मनो विज्ञानाय, अतः सकलप्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा, तदा तन्मतं = तदा तत्सम्यग्दर्शनमित्यर्थः । सर्वप्रत्ययदर्शितया चास्यो-पजनापायवर्जितदृकस्वरूपत्वं, नित्यत्वं, विशुद्धत्वं, आत्मत्वं निर्विशेपत्वं-एकत्वञ्च सर्वभूतेपु सिद्धं भवति, स्वरूपभेदाभावात् व्योम्न इव घटमठगिरि

बुद्धि-वृत्तियोंमें जो साक्षी-भासकरूपसे जाना जाता है, वही यह सर्ववृत्तियोंका ज्ञाता आत्मा माना गया है ।' (के० उ०) 'धीर विद्वान्, समस्त-चराचर—विश्वमें उसका भासक-प्रेरक एक ही आत्मा ब्रह्मको यथावत् जानकर इस आविद्यक-मिथ्याभावमय लोकसे उपरत होकर अमृत-ब्रह्मरूप होजाते हैं ।' (के० उ०) 'अग्नि आदि दृष्टान्तोंके अनुसार एक ही सर्वभूतोंका अन्तरात्मा भिन्न-भिन्न उपाधियोंके रूपोंके अनुसार बहुरूप बन गया, तथापि वह उन-औपाधिक-रूपोंसे पृथक् है-असंग है—बहिस्थ है ।' (क० उ०) इस प्रकार श्रीमद्भागवतका भी पूर्वोक्त-कथन-श्रुतिमूलक ही है, ऐसा समझना चाहिये । क्योंकि—पुराणोंके वचन भी श्रुत्यर्थके अनुसरण करनेके स्वभाव वाले हैं । अतः वे पुराण-वचन भी श्रुत्यर्थविरुद्ध कुछ भी प्रतिपादन करनेके लिए समर्थ नहीं होसकते। प्रथम की-केन-श्रुतिके अर्थ का विवेचन इस प्रकार है—प्रत्येक बोध द्वारा जो जाना जाता है, वह 'प्रतिबोधविदित' हैं । बोधशब्दका अर्थ यहाँ बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं । समस्त बुद्धि की वृत्तियाँ जिसके विषय बनती हैं, वह बुद्धि-वृत्तियोंका प्रकाशक—आत्मा सर्ववृत्तियों का ज्ञाता है, वही सर्ववृत्तियोंका दृष्टा-केवल-चैतन्य-शक्तिस्वरूप है । समस्त वृत्तियोंमें वह समानरूपसे अनुगत—चैतन्य स्वरूप है, ऐसा स्वरूप वृत्तियोंके द्वारा ही लक्षित होता है । इससे अतिरिक्त—आत्माको जानने के लिए और कोई साधन नहीं है। इसलिये जो जब समस्त वृत्तियोंके प्रत्यगात्मारूपसे ब्रह्मको जान लेता है, तभी ही उसे ब्रह्मका सम्यक् दर्शन होजाता है । वह ब्रह्म सर्ववृत्तियों का द्रष्टा होनेके कारण, दृश्य-वृत्तियोंकी उत्पत्ति-विनाश-से वर्जित-अज-अविनाशी चैतन्य स्वरूपही सिद्ध हो जाता है, अतएव उसमें नित्यत्व, विशुद्धत्व, आत्मत्व निर्विशेषत्व तथा सर्वभूतोंमें उसका एकत्व भी सिद्ध हो जाता है । आकाश की तरह उसमें औपाधिक-काल्पनिक भेद होने पर भी स्वरूपका भेद नहीं है, जैसे आकाश घटमें मठमें पर्वतकी गुफामें आदिमें

गुहादिषु । भूतेषु—भूतेषु=सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च, एकमात्मतत्त्वं ब्रह्म, विचित्य=विज्ञाय—साक्षात्कृत्य, धीराः अविकृतप्रज्ञाः धीमन्तः, प्रेत्य=व्यावृत्य ममाहंभावलक्षणादविद्यारूपादस्माल्लोकाद् उपरम्य, सर्वात्मैकत्वभावमद्वैतमापन्नाः सन्तोऽमृता भवन्ति—ब्रह्मैव भवन्तीत्यर्थः । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं० उ० ३।२।९) इति श्रुतेः । एक एव सर्वेषां भूतानामभ्यन्तर आत्माऽतिसूक्ष्मत्वाद् 'अग्निरिव दार्वादिषु' सर्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात् प्रतिरूपः=उपाधिरूपेण विभिन्नतया प्रतीयमानो, बभूव, बहिश्च स्वेनाविकृतेन स्वरूपेणाऽऽकाशवत् ।

एकस्योपाधिभेदादनेकधा भानं श्रीमद्भागवतेऽप्यनेकदृष्टान्तप्रदर्शन द्वारा यत्र तत्र बहुशः प्रतिपादितम्-तथाहि—'यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु । नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान् ॥' (भा० १।२।३२) इति । एकस्य परमेश्वरस्य बहुलीलारूपत्वमाह—यथा एक एव वह्निः, स्वयोनिषु=स्वाभिव्यञ्जकेषु दारुषु=काष्ठेषु, अवहितः=निहितो नानेव=अनेक-

सर्वत्र स्वरूपसे एकही है, भिन्न नहीं है, वैसे । अब द्वितीय-केनश्रुतिके अर्थका विवेचन करते हैं । भूतेषु भूतेषु यानी समस्त चर-अचर-पदार्थोंमें साक्षी—भासकरूपसे अनुगत एक ही आत्मतत्त्व—ब्रह्मका साक्षात्कार करके, अविकृत—प्रज्ञावाले—बुद्धिमान् इस—अहंमम भावसे लक्षित—आविद्यक—मिथ्याभाव-रूप लोकसे-संसारसे उपरत होकर—सर्वात्माके एकत्वभावरूप—अद्वैत को प्राप्त हुए वे अमृत—ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं । अतएव अन्य श्रुति भी यही कहती है कि—'जो ब्रह्मको अपरोक्षतया जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है ।' कठ—श्रुतिके अर्थका यह विवेचन है—अतिसूक्ष्म होनेके कारण वह एक ही आत्मा सर्वभूतोंके अभ्यन्तर है, जैसे काष्ठ आदिमें प्रविष्ट-आभ्यन्तर-अग्नि उस उस काष्ठके विभिन्न-आकारों के द्वारा विभिन्नरूपवाला हुआ प्रतीत होता है, वैसे यह आत्मा भी सर्वशरीरों में प्रविष्ट-होकर प्रतिरूप होगया है, अर्थात्—भिन्न-भिन्न इन देहादि-उपाधियों के अनुसार विभिन्न-रूपोंसे प्रतीयमान हो जाता है । परन्तु वह आकाशके समान, सभी उपाधियोंमें अनुगत होनेपर भी अपने अविकृत-स्वरूपसे उन से पृथक्—ही रहता है ।

उपाधिके भेदसे एकका अनेकरूपसे प्रतीत होना—श्रीमद्भागवतमें भी जहाँ तहाँ अनेक-दृष्टान्तोंके द्वारा दिखलाया है—जैसे-'अग्नि तो वस्तुतः एक ही है, परन्तु जब वह अनेक प्रकारकी लकड़ियोंमें प्रकट होती है, तब अनेक-सी-विभिन्न-आकृतिवाली-सी मालूम पड़ती है । वैसे ही सबके आत्मारूप-भगवान् तो एक ही हैं, परन्तु-देहादि-उपाधियोंकी अनेकतासे अनेक-जैसे—विभिन्न रूपवाले-जैसे जान पड़ते हैं ।' इसका यह अर्थ है—एक ही परमेश्वरके योगमायारूप लीलाकृत—नानाविध-रूपोंका वर्णन करते

धेव भाति=प्रतीयते। तथा विश्वात्मा, पुमान्=परमेश्वरः, एक एव, भूतेषु=अन्तःकरणेषु—देहेषु वोपाधिभूतेषु, नानेव=उपाधिभेदादनेकधेव भाति। यदि तेष्वेवाग्निर्मंथनेन प्रकटीकृतः स्यात्, तदा तान्येव दहति, एवमेव श्रवणादिभिः साधनैः साक्षात्कृतः परमात्मा मायिकमुपाधिं जीवस्य विनाश्य स्वाभेदमापादयतीति भावः। 'स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते। योनीनां गुणवैषम्यात्तथाऽऽत्मा प्रकृतौ स्थितः॥' तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम्। दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते॥' (भा० ३।२८।४३ + ४४) इति धर्मिभेदस्येव धर्मभेदस्याप्यौपाधिकतां सदृष्टान्तमाह—एकं ज्योतिः=अग्निः, गुणवैषम्यात्=दीर्घह्रस्वादिभेदात्। अथवा-एकं ज्योतिः=वैद्युतं तेजः, स्वयोनिषु=स्वाभिव्यञ्जकेषु विविधारुणपीतहरितादिवर्णवत्काचगोलकेषु, योनीनां गुणवैषम्यात्= अरुणादिगुणवैलक्षण्याद् नाना=विभिन्नतया प्रतीयते। तथा एक एवात्मा प्रकृतौ=प्रकृतिनि-

हैं—जैसे एक ही अग्नि, अपने-अभिव्यञ्जक-अनेकविध-काष्ठ—आदि-उपाधियोंमें जब प्रकट होती है, तब वह अनेक—प्रकारसे प्रतीत होती है। वैसे ही विश्वात्मा एक ही परमेश्वर इन अन्तःकरणोंमें या देहादि-उपाधियोंमें प्रविष्ट हुए-अनेक-से प्रतीत होते हैं। मन्थन आदिके द्वारा जब अग्नि, उन लकड़ियोंमें प्रकट हो जाती है, तब वह उन लकड़ियों को जला देती है—नष्ट कर देती है, उस प्रकार श्रवण आदि-साधनोंके द्वारा साक्षात्कार किया गया-परमात्मा मायिक-मिथ्या-देहादि-उपाधियोंका विध्वंस करके जीवात्माको अपनेसे अभिन्न बना देता है, यह भाव है। 'जैसे एक ही अग्नि, अपने पृथक्-पृथक्-आश्रयोंमें—उनकी विभिन्नताके कारण—भिन्न-भिन्न आकारकी दिखाई देती है, वैसे ही—देव-मनुष्य आदिके विभिन्न—प्रकृति—विरचित-शरीरोंमें रहने वाला आत्मा अपने देहादि-आश्रयोंके गुण-भेदके कारण भिन्न-भिन्न प्रकार का भासता है। इसलिये भगवान्का भक्त, जीवके वास्तविक-स्वरूपको आच्छादित करने वाली—कार्यकारणरूप से परिणामको प्राप्त हुई—भगवान् की इस अचिन्त्य-शक्तिमयी मायाका ब्रह्मविद्या द्वारा विजय करके अपने वास्तविक-स्वरूपभूत-ब्रह्ममें स्थित हो जाता है।' (भा०) इसका यह अर्थ है—जैसे धर्मीका भेद औपाधिक है, वैसे धर्मोंका भेद भी औपाधिक है—वास्तविक नहीं है—ऐसा दृष्टान्तके द्वारा कहते हैं—जैसे एकही अग्निरूप ज्योति काष्ठोंके दीर्घ-ह्रस्व-वक्र-आदि धर्मों (गुणों) के भेदसे भिन्न-भिन्न धर्मोंवाली हुई प्रतीत होती है। अथवा जैसे एकही विद्युतका तेज, अपने अभिव्यञ्जक-विविध रंगवाले-लट्टु (बल्ब) ओंके लाल-पीला-हरा आदि रंगोंके भेदसे भिन्न-भिन्नरूपोंसे प्रतीत होता है। उसी प्रकार एक ही आत्मा प्रकृति द्वारा बनाये हुए—भिन्न-भिन्न-शरीरोंमें अवस्थित होकर शरीरोंके विभिन्न धर्मोंके भेदसे अनेक धर्मवाला हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रत्येक

मितविभिन्नदेहादिषु स्थितः सन्—अनेकधा प्रतीयते। तथा च परमात्मनः प्रतिदेहवर्तित्वेन नानात्वप्रतीतिः, भद्राभद्रादिगुणभेदप्रतीतिश्च न वास्तवी, किन्त्वौपाधिक्येवेति भावः। यतः प्रकृतिरेव नानात्वादिप्रतीतिहेतुतयाऽनर्थबीजं, तस्मात्, इमां='अज्ञोऽस्मि' 'अहं मां न जानामी'–त्येवं सर्वानुभवसिद्धां, स्वां=स्वकीयां—स्वांशभूतस्य जीवस्य बन्धनहेतुभूतां, दैवीं='एको देवः सर्वभूतेषु गूढः।' (श्वे० उ० ६।१३) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धे स्वयंद्योतनवति देवे=स्वप्रकाशचैतन्ये तदाश्रयतया तद्विषयतया च कल्पितामित्यर्थः। प्रकृतिं=मायां, 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वे० उ० ४।१०) इति श्रुतेः, 'अविद्या प्रकृतिर्माया तमोऽज्ञानं' इत्यादिस्मृतेश्च। द्वैतप्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानकारणीभूतामित्यर्थः। कीदृशीं तां? सदसदात्मिकां=स्थूलसूक्ष्मरूपां, यद्वा सत्पदेनासद्विलक्षणं एवमसत्पदेन सद्विलक्षणयमत्र द्योत्यते, तस्याः बाधितत्वात् प्रतीयमानत्वाच्च। अतः सत्त्वेनासत्त्वेन च निर्वक्तुमशक्यामनिर्वचनीयामित्यर्थः। अत एव दुर्विभाव्यां=दुर्वितर्क्यां, कीदृशी सेति तर्कागोचरामचिन्त्यामित्यर्थः।

शरीरोंमें रहनेके कारण-परमात्मामें अनेकत्वकी प्रतीति, एवं शरीरोंके-अच्छे-बूरे-विविध गुण-दोषोंके भेदकी प्रतीति-वास्तविकी नहीं है, किन्तु औपाधिकी है, ऐसा तात्पर्य है। इसलिये यह प्रकृति-मायाही-नानात्व आदिकी मिथ्या प्रतीतिका हेतु होनेसे निखिल अनर्थोंका मूलकारण है। और जो माया—'मैं अज्ञानी हूँ' 'मैं अपने आपको वस्तुतः नहीं जानता हूँ' इस प्रकार सर्वप्राणियोंके अनुभवसे सिद्ध है, और भगवान्के अंशभूत जीवात्माके बन्धनकी हेतुभूता है, एवं वह दैवी है, अर्थात् 'एक ही देव सर्वभूतोंमें गूढ है' इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा प्रसिद्ध-स्वप्रकाश—चैतन्यरूपदेवके आश्रयमें रहकर उस देवको ही विषयकर—आच्छादन करके उसदेवमें ही कल्पितरूपसे अवस्थित है। और वह प्रकृति है—अर्थात् द्वैत प्रपञ्चकी परिणामी-उपादान कारण है—श्रुति भी कहती है कि—'मायाको प्रकृति जानो।' स्मृति भी कहती है कि—मायाही प्रकृति है, अविद्या है, तम है एवं अज्ञान है। फिर भी वह माया कैसी है? कहते हैं—सद्-असद्रूपा। यानी स्थूल एवं सूक्ष्मरूपा। अथवा सत्पदसे असद्विलक्षणता, एवं असत्पदसे सद्विलक्षणता मायामें द्योतित होती है। क्योंकि—वह सद्विलक्षण होनेसे ब्रह्म-विद्या द्वारा बाधित होती है—अतः यदि माया सद्रूपा हो तो उसका कभी भी किसीसे भी बाध नहीं हो सकता एवं वह असद्विलक्षण होनेसे द्वैत-प्रपञ्चरूपसे प्रतीयमान होती है। यदि वह सर्वथा वंध्यापुत्रवत् असद्रूपा हो तो उसकी कहीं भी किसी को भी किसी भी रूपसे प्रतीति नहीं हो सकती है। अतः माया, जिसका सद्रूपसे एवं असद्रूपसे भी निर्वचन नहीं किया जा सकता, ऐसी अनिर्वचनीया है। अतएव वह 'कैसी है वह' इसप्रकारके तर्कोंका या-विचारोंका विषय नहीं हो सकती है—अचिन्त्य है। स्मृतिमें भी ऐसा ही कहा है कि—

'अचिन्त्याः खलु ये भावाः, न तांस्तर्केण योजयेत् ।' इति स्मृतेः। पराभाव्य = भगवत्कृपालब्धतत्त्वज्ञानेन बाधित्वा, स्वरूपेण = उपाधिविनिर्मुक्तेन केवलाद्वयचित्सुखब्रह्मस्वरूपेणावतिष्ठते । 'एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः। यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च ॥' (भा० ११।१८।३२) इति । एक एव परात्मा, भूतेषु = आकाशादिभूतभौतिकेषु, अधिष्ठानरूपेणावस्थितो भवन् अनेकधेव भाति, यथा इन्दुः = चन्द्रमा, उदपात्रेषु = जलपूरितानेकभाण्डेषु प्रतिबिम्बितत्वेनानेकधेव प्रतीयते, तद्वत् । स एव परमात्मा, आत्मनि = जीवात्मन्यपि, अभेदरूपेणावस्थितः । भूतानि च = देहादिरूपाण्यपि, महाभूतकारणरूपेणैकात्मकानि सन्ति, अतः आत्मदृष्ट्या च देहादिदृष्ट्या च केनापि सार्द्धं द्वेषवैरादिकारणमेव न संभवति, यतः सर्वस्य चराचरस्यानन्यत्वात्, अन्यस्मिन्नेव स्वात्मभिन्ने रागद्वेषादिकं संभवति, नानन्यस्मिन् स्वात्मनि।

'जो माया आदि अचिन्त्य पदार्थ हैं—उनका तर्कोंके द्वारा निर्णय करनेका प्रयत्न मत करो ।' ऐसी मायाका—भगवान्की कृपासे-प्राप्त-तत्त्वज्ञानके द्वारा बाध करके वह ज्ञानी भक्त—उपाधिविनिर्मुक्त--केवल--अद्वय—चित्सुख—ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थित होजाता है ।

'जैसे एक ही चन्द्रमा जलसे भरे हुए-विभिन्न-पात्रोंमें पृथक् पृथक् दिखाई देता है, वैसे ही एक ही परमात्मा समस्त प्राणियोंमें एवं अपनेमें भी अभेदरूपसे अवस्थित है। सबकी आत्मा तो एक है ही, पञ्चभूतोंसे बने हुए-समग्र शरीर भी सबके एकसे ही हैं—क्योंकि-वे एक ही आत्मासे उत्पन्न हुए हैं—एवं एक ही आत्मामें अवस्थित हैं-अतः ये सब पांच-भौतिक शरीर भी आत्मस्वरूप ही हैं—आत्मासे व्यतिरिक्त नहीं हैं ।' इसका यह अर्थ है—भूत यानी आकाशादि पंचभूत और उनसे निर्मित-भौतिक-समग्र-पदार्थ, उन सबमें एक ही परमात्मा अधिष्ठानरूपसे अवस्थित हुआ अनेक प्रकारसे भासित होता है—जैसे एक ही चन्द्रमा प्रतिबिम्बरूपसे अनेक-सा प्रतीत होता है, वैसे । वह परमात्मा जीवात्मामें भी अभेदरूपसे अवस्थित है । ये देहादि-भौतिक—पदार्थोंके रूपोंसे परिणत हुए—भूत भी कारणरूप महाभूतसे अभिन्न होनेसे एकात्मक हैं—इसलिये आत्माकी दृष्टिसे एवं पांच-भौतिक-देहादि की दृष्टिसे भी किसीके भी साथ-द्वेष वैर आदिके प्रयोजक-कारणका संभव ही नहीं है। क्योंकि—यह निखिल चराचर विश्व आत्मासे अनन्य—अभिन्न है । अपने आत्मासे भिन्न अन्यमें ही राग द्वेषादि हो सकते हैं । परन्तु अनन्यरूप अपने आत्मामें-अपनेसे ही राग-द्वेषादि कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते। अन्यत्वकी भ्रान्ति का हेतु—अज्ञान, ज्ञानसे बाधित हो गया है—और अनन्य-भावका प्रयोजक-ज्ञान उदित होगया है, यह भाव है । 'वे योगेश्वरोंके भी अधीश्वर भगवान् जैसे एक होनेपर भी इस ब्रह्माण्डमें

अन्यत्वभ्रान्तिहेतोरज्ञानस्य ज्ञानेन बाधितत्वादिति भावः। 'योगेश्वराधीश्वर एक एतदनुप्रविष्टो बहुधा यथाऽऽसीत्।' (भा० ३।५।६) एकस्यानायासेन बहुधाभवने हेतुः 'योगेश्वराधीश्वरः' इति। अधीश्वरः = अतर्क्यैश्वर्यः। एतद्विश्वं सृष्ट्वाऽनुप्रविष्टः। बहुधा = ब्रह्माद्युच्चावचरूपेणेत्यर्थः।

एवमत्रैव प्रथमे स्कन्धे—धृतराष्ट्रस्यापि महाभागस्य—'ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे।' (भा० १।१४।५४) इत्यादिना 'घटाकाशस्य घटे भिन्ने सति महाकाशे प्रविलय इव' भेदमोहविधूननेन ब्रह्मनिर्वाणाख्यो मोक्षः प्रतिपादितः। एतेन यथा श्रीमद्भागवतेऽस्मिन् जलेन्द्वादिदृष्टान्तेन बिम्ब प्रतिबिम्बभावो जीवेश्वरयोः समर्थितः, तथा घटाकाशमहाकाशदृष्टान्तेनावच्छेदवादोऽपि। तथा च घटाकाशवदन्तःकरणावच्छिन्नो जीवः, तदनवच्छिन्नो महाकाशवदीश्वरः प्रत्येतव्यः। एवं प्रवेशवचनमपि—चिदात्मनो बुद्ध्याद्यवच्छेदकृतमेव द्रष्टृत्वादिधर्मलाभं दर्शयति। एवं बादरायणमुनिना भगवता व्यासेनात्रेव ब्रह्मसूत्रमीमांसायामपि—'अंशो नानाव्यपदेशात्।' (२।३।४३) इत्यनेनावच्छेदपक्षः समर्थितः। सूत्रस्यास्यायमर्थः—जीवः, ईश्वरस्यांशः,

अन्तर्यामी-प्रत्यगात्मा रूपसे अनुप्रविष्ट होकर अनेक-रूपोंमें प्रकट होते हैं।' एकके अनायाससे बहुधा होनेमें हेतु है—योगेश्वराधीश्वर। वह अतर्क्य-ऐश्वर्य से सम्पन्न है, अतः वह इस विश्वका सर्जन करके ब्रह्मा आदि अनेक-उत्कृष्ट-एवं निकृष्ट-रूपों से प्रतीत होजाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतके इसी ही प्रथम स्कन्धमें—'जिसप्रकार घटाकाशका महाकाशमें विलय हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्माका अधिष्ठान-भूत ब्रह्ममें—अभेदभावापत्तिरूप-विलय हो जाता है' (भा०) इत्यादि वचनसे घट-रूप उपाधिके नष्ट हो जानेपर जैसे घटाकाशका महाकाशमें प्रविलय होजाता है, वैसे ही महाभाग्यशाली धृतराष्ट्रके भी—भेद एवं तत्प्रयोजक मोह (अज्ञान) के विनाश द्वारा ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्षका प्रतिपादन किया है। इन वचनोंके विवेचन द्वारा—इस श्रीमद्भागवतमें—'जलचन्द्रमा आदिके दृष्टान्तद्वारा जीव और ईश्वरके-बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावका समर्थन किया गया है, वैसे ही घटाकाश-महाकाशके दृष्टान्त-द्वारा अवच्छेदवादका भी समर्थन किया गया है। एवं घटाकाश के समान अन्तःकरणावच्छिन्न जीव है, और अन्तःकरणसे अनवच्छिन्न ईश्वर महाकाशके समान है, ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार प्रवेश-बोधक वचन भी चिदात्मामें द्रष्टृत्वादि-धर्मोंकी प्राप्ति बुद्ध्यादि-उपाधियोंके अवच्छेद द्वारा ही हुई है, ऐसा प्रदर्शित करते हैं। एवं भगवान्-बादरायण—मुनि-व्यासने श्रीमद्भागवतकी भांति ब्रह्मसूत्र-मीमांसामें भी—'जीवात्मा ईश्वरका अंश है, क्यों ? नानात्वका व्यपदेश होनेसे' (ब्र०) इस सूत्रके द्वारा अवच्छेदपक्षका समर्थन किया है। इस सूत्रका यह अर्थ है—

अन्यत्वको प्रस्तुत करने वाले-अविद्यारूप* हेतुका अभाव होनेके कारण आत्मा ही उसके काम हैं, इसलिये वह रूप आत्मकाम है। इसीसे काम्यमान-विषयोंका अभाव होने के कारण यह रूप अकाम है, तथा शोकान्तर अर्थात् शोकशून्य है, सर्वथा ही यह रूप शोकरहित है।

सति चैवम्—विवेचका मतिमन्तो भवन्तो विचारयन्तु—शाश्वतं शोकादिवर्जितं सुखं पारमार्थिकं कुत्र विद्यते ? द्वैतेऽद्वैते वा। द्वैते चेत्, तदा सर्वेषां सुप्तिरनर्थिका स्यात्, परमेश्वरस्यापि च। परिशेषात् अद्वैत एव पारमार्थिकं शाश्वतं सुखं सिद्ध्यति निर्विवादम्।

ऐसा पूर्वोक्त विवेचन होजानेपर विवेचक-मतिमान् आप विचार करें कि—शाश्वत शोकादिसे रहित-पारमार्थिक सुख कहाँ विद्यमान है, द्वैत में या अद्वैत में ?। यदि द्वैत में है, तो सब की सुषुप्ति व्यर्थ हो जायगी, परमेश्वर की भी। परिशेष से अद्वैत में ही पारमार्थिक-शाश्वत-सुख विवाद से रहित सिद्ध होता है।

अद्वैतामृतवर्षिणी—भगवद्गीता।

अत एव अद्वैतामृतवर्षिणी ब्रह्मविद्यारूपा भगवद्गीताऽपि अद्वैतस्यैव केवलस्यामृतत्वं निरतिशयशाश्वतसुखसमर्पकतया 'अयं पुमान् वामेन अक्ष्णा पश्यतीत्यस्यार्थोत्तदितरेण न पश्यत्यतोऽयं काणोऽविश्वसनीय एव' अर्थतो विषत्वं द्वैतस्य प्रभूतदुःखभयशोकादिप्रयोजकतया च भवद्वेषिणी त्यनेन शब्दतश्च ब्रुवाणा केवलमद्वैतमेव परमार्थसत्यं पूर्णानन्दसमर्पकं सकलशास्त्रेषु तात्पर्यतः प्रतिपाद्यं अतस्तदेव श्रद्धेयं नेतरदिति स्पष्टं ब्रवीति।

अद्वैतामृतवर्षिणी भगवद्गीता।

इसलिये अद्वैतरूप अमृत की वर्षा करने वाली ब्रह्मविद्यारूपा भगवद्गीता भी केवल- अद्वैतमें ही निरतिशय-शाश्वत सुखका समर्पक होने के कारण-अमृतत्व कहने वाली, जैसे यह पुरुष वाम—नेत्रसे देखता है; इस वाक्य का अर्थात् अन्य नेत्र से नहीं देखता है, इसलिये यह काणा है, विश्वास के योग्य नहीं है, यह अर्थात् अर्थ किया जाता है, वैसे द्वैत में अत्यन्त दुःख, भय, एवं शोकादिका प्रयोजक होनेके कारण अर्थात् विषत्वका एवं 'भवद्वेषिणी' इस वचन द्वारा शब्द से भी प्रतिपादन करने वाली गीता केवल अद्वैत ही परमार्थसत्य है, पूर्णानन्दका समर्पक है, ऐसा सकल-शास्त्रोंमें तात्पर्य रूपसे प्रतिपाद्य है, इसलिये वह केवल अद्वैत ही श्रद्धा करने योग्य है, अन्य द्वैत नहीं, ऐसा स्पष्ट कहती है।

* यहां अविद्या यानी सांसारिक—रागद्वेष—सुखदुःखादिरूपा कार्याविद्या समझनी चाहिये। उसका अभाव यानी भान न होना। भान इसलिये नहीं होता कि—चित्त लीन रहता है। अन्यथा मूलाविद्या का अत्यन्ताभाव मान लेने पर तो मुक्त और सुषुप्तमें अन्तर ही नहीं रह जायगा।

शरीराख्यां, आत्मनि = उपाधिविनिर्मुक्ते जीवात्मनि, अजुहवीत्, अजोहवीदिति वक्तव्येऽजुहवीदित्यार्षम् । अजोहवीदिति यङ्लुगन्ताल्लुङिरूपम् । एवं शोधितमात्मानं ब्रह्मण्यव्यये—कूटस्थेऽद्वये प्रपञ्चोपशमे शिवे, अजोहवीद् । एवं 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।' (क० उ० ३।११) इति श्रुतेः परब्रह्मणः स्वस्वरूपस्य परमावधिभूतत्वात्, तद्रूपेणावस्थितः सन् विधूतभेदमोहः आसीत्—महाभाग भीष्म इव युधिष्ठिरोऽपि, एवं परीक्षितोऽपि श्रीशुकोपदेशलब्धया ज्ञानविज्ञाननिष्ठयाऽज्ञाननिवृत्तिद्वारा ब्रह्मनिर्वाणाख्यस्याभयपदस्य वर्णनमग्रे द्वादशे करिष्यते ।

अयं श्रीकृष्णो वस्तुतश्चराचरस्य जगतः प्रकाशक आत्मैवास्ति 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।' (शु० य० ७।४२) इति श्रुतेः । सूर्यः = प्रकाशकः इत्यर्थः । अत एव स एवेक्षणीयो भाग्यवद्भिः, इत्यप्याह—भीष्मः—'ईक्षणीयो मम दृशिगोचर एष आविरात्मा ।' (भा० १।९।४१) 'अहो महिमा अहो स्वरूपमित्येवमाश्चर्येण विलोकनीयः, एषः—समस्तजगतामात्मा मम दृशि-

यह आर्ष प्रयोग है, अजोहवीत्—यह यङ्लुगन्तके लुङ्लकारका रूप है । इस प्रकार संशोधित—विशुद्ध—आत्माको अव्यय—अद्वय—कूटस्थ—प्रपञ्चोपशम—कल्याणरूप—ब्रह्ममें विलीन किया । क्योंकि—'पुरुष-परमात्मासे परे अन्य कुछ नहीं है—वही पराकाष्ठा-अन्तिम-सीमा है, और वही परमगति है' (श्रु०) इस श्रुतिवचनसे यह सिद्ध होता है कि—स्वस्वरूपभूत—परब्रह्म ही परम अवधिरूप है । इस प्रकार महाभाग्यशाली भीष्मके समान युधिष्ठिरने भी ब्रह्मरूपसे अवस्थित होकर समस्त भेद एवं मोहका विध्वंस कर दिया । इसप्रकार श्रीशुकदेवमुनिके उपदेशसे प्राप्त-ज्ञान-विज्ञानकी निष्ठा द्वारा महाराज परीक्षित् की भी अज्ञान निवृत्ति हुई, और अज्ञानध्वंसद्वारा ही उसने भी ब्रह्म-निर्वाण रूप—अभयपदको प्राप्त किया । ऐसा विशद वर्णन आगे द्वादशस्कन्धमें किया जायगा ।

यह श्रीकृष्ण वस्तुतः चराचर-जगत्का प्रकाशक आत्मा है । क्योंकि—यजुर्वेद संहिताकी श्रुतिभी यही कहती है कि—'यह स्थावर-जंगम-विश्वका सूर्य यानी प्रकाशक आत्मा है ।' इसलिये भाग्यशालियोंको इसका दर्शन अवश्य ही करना चाहिये, ऐसा भीष्मजी भी कहते हैं कि—'वे ही सबके आत्मा दर्शनीय—प्रभु श्रीकृष्ण, आज इस शरीरकी मृत्युके समय मेरे समक्ष प्रकटरूपसे अवस्थित हैं ।' ईक्षणीय यानी अहो ! इसकी कैसी आश्चर्यमयी महिमा है, अहो ! कैसा इसका अद्भुत—स्वरूप है, अतएव इसका तो अवश्य ही दर्शन करना चाहिये । यही श्रीकृष्ण—जो समस्त-जगतोंका आत्मा है, वही मेरी दृष्टिके समक्ष प्रकट होकर वर्तमान है, अहो ! कैसा मेरा प्रशंसनीय भाग्य है । यह भाव है । इस विषयमें श्रीमद्भागवतका यह वचन भी प्रमाण है कि—'इस

गोचरो=दृष्टिविषयः सन्नाविः=प्रकटो वर्तते, अहो मे महाभाग्यमिति भावः। 'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्। जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीव भाति मायया॥' (भा० १०।१४।५५) इति प्रामाण्यात्। कृष्णस्य साकारविग्रहात्मकरूपन्तु मायाकल्पितमेव, न तु वास्तविकं, पारमार्थिकस्वरूपन्तु सच्चित्-सुखघनाद्वयात्मभूतमेव वेदितव्यम्। तथापि साकाररूपं जगद्धितायैवाविष्कृतं, तद्भक्त्या तत्त्वज्ञानद्वारा मोक्षहेतवे प्रभवति। अत एव स साकारो भगवान् स्वभक्तायात्मज्ञानदानेनाविद्यामवश्यमेव हरतीत्य-'प्यर्जुनदृष्टान्तेन भगवतः सद्गुरुत्वमप्याह—भीष्मः—'कुमतिमहरदात्मविद्यया यश्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु।' (भा० १।९।३६) यथाऽऽत्मविद्ययाऽर्जुनस्य भक्तस्याविद्यालक्षणां कुमतिमहरत्, तथैव मम तद्भक्तस्यापि। अत-एव विधूतभेदमोहोऽहमभवम्। अन्यथा तां विना भेदमोहविधूननासंभवात्। अत एव परमस्य=सर्वोत्तमस्य—तस्य जगद्गुरोः श्रीकृष्णस्य चरणरतिः=पादभक्तिर्मेऽस्तु।

भगवान् श्रीकृष्णको ही तुम समस्त-जीवात्माओंका आत्मा-अभिन्नस्वरूप समझो, विश्वके कल्याणके लिए ही योगमायाका आश्रय लेकर वे यहाँ देहधारीके समान प्रतीत हो रहे हैं।' (भा०) भगवान् श्रीकृष्णका यह साकार-विग्रहात्मक रूप है, वह मायासे कल्पित है, पारमार्थिक नहीं है-इसलिये 'मायया देहीवभाति' अर्थात् मायाके द्वारा ही देहवान् की भांति साकारविग्रहरूपसे भासित हो रहे हैं। पारमार्थिक-स्वरूप तो श्रीकृष्णका सत्-चित्-आनन्दघन-अद्वय-ब्रह्मात्मरूप है, ऐसा जानना चाहिये। तथापि जगत्के कल्याणके लिये ही श्रीभगवान्ने-दिव्य-मनोहर-साकारविग्रहको आविष्कृत किया है, उस साकार विग्रहकी भक्तिसे तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतः मोक्षमें वह साकार-विग्रह भी परंपरया हेतु हो जाता है। इसलिए वह साकार भगवान् अपने भक्तकी अविद्याको आत्मज्ञानके प्रदान द्वारा अवश्य ही हर लेते हैं, इसलिए भगवान् उपदेशक ज्ञानदाता सद्गुरु भी हैं, इसमें अर्जुन भी दृष्टान्त है, ऐसा भीष्मजी कहते हैं—'जिसने अध्यात्मविद्याके उपदेश द्वारा अर्जुनकी अविद्यारूपा कुमतिका हरण (विनाश) किया है, इस परम पुरुष-श्रीकृष्णके चरणोंमें अनन्या-प्रीति सदा बनी रहे।' (भा०) अर्थ-जिसने आत्मविद्या द्वारा भक्त-अर्जुनकी अविद्यारूपा कुमतिका जैसे हरण किया है, वैसे ही उसने मुझ भक्त की भी कुमतिको दूर कर दिया है, इसलिये मैं भीष्मभी भेद एवं मोह से रहित हो गया हूँ। अन्यथा यानी आत्मविद्याके विना अन्य उपाय द्वारा भेद-मोहके विध्वंसका संभव नहीं है। इस लिये-सर्वोत्तम-उस जगद्गुरु-श्रीकृष्णके चरणोंकी अनपायिनी भक्ति सदा मुझमें बनी रहे।

साकार विग्रहधारी-भगवान् की भक्ति ही-तत्त्वज्ञान द्वारा प्रादुर्भूत-मोक्षमें

साकारमूर्तेर्भगवतो भक्तिरेव तत्त्वज्ञानमोक्षहेतुरस्ति, अतस्तस्मिन् सकलेष्टसिद्धिसाधिका निखिलानिष्टनिवारिका रतिरेव प्रार्थनीया मयेव साधकैरपि–इति विज्ञापयन्नाह भीष्मः—'त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकर-गौरवराम्बरं दधाने। वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥' (भा० १।६।३३) इति। अयमर्थः—इदानीं श्रीकृष्णस्य साकार-मूर्तिं वर्णयन् तद्रतिं प्रार्थयते—त्रिभुवनकमनं=त्रैलोक्यामेकमेव मुख्यतया कमनीयं-परमसौन्दर्यलावण्यसौकुमार्यमाधुर्याङ्गोपाङ्गसौष्ठवादिनिधानं, यत्तद्वपुः-विग्रहं दधाने भगवति रतिर्मेऽस्तु। कथंभूतं वपुः ?। तमालवन्नीलो वर्णो यस्य तत्। प्रातःकालिका रवेः कराः=रश्मय इव स्वत एव गौरे=पीते वरे=निर्मले चाम्बरे यस्मिंस्तत्। अलककुलैरुपर्यावृतमाननाब्जं मुखकमलं यस्मिंस्तत्। विजयसखे=पार्थसारथौ अनवद्या=अहैतुकी फलाभिसंधिरहिता निष्कामा रतिरस्तु।

अत एव मया भीष्मेण तस्मिन्नेव परमप्रिये भगवति निष्कामा मतिः समर्प्यते, योऽयं भगवान् स्वमहिमभूते निर्विशेषचिन्मात्रेऽद्वयानन्द

कारण है, अतः मेरे समान-समस्त भावुक-साधकों को भी—उस भगवान्‌की भक्तिके लिए—जो सकल-इष्ट-सिद्धियोंको देने वाली है–और निखिल-अनिष्टों को निवारण करने वाली है—भगवान्‌की प्रार्थना करनी चाहिये। ऐसा विज्ञापन करते हुए–श्री-भीष्मजी कहते हैं कि—'जिन भगवान् का साकार विग्रह त्रिभुवन सुन्दर है, और तमालके समान मनोहर श्यामल है। जिसपर सूर्य किरणोंके समान चमकदार-श्रेष्ठ-पीताम्बर लहराता रहता है, और जिसके कमल सदृश नितान्त कमनीय मुखपर काली काली घुंघराली-अलकें लटकती रहती हैं, उन अर्जुन सखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्कपट अनन्य प्रीति हो।' (भा०) यह अर्थ है—अब श्रीकृष्ण भगवान्‌के साकार विग्रहका वर्णन करते हुए श्रीभीष्म भक्तिकी याचना करते हैं–त्रिभुवनकमन=तीनों लोकोंमें सबसे बढ़कर-परम सुन्दर, अर्थात् परमसौन्दर्य, परमलावण्य, परमसौकुमार्य-परम-माधुर्य, अंग उपांगों का परम सौष्ठव आदि–मनोहर-गुणोंकी निधिरूप जो-दिव्यसाकार विग्रह है–उसे धारण करने वाले भगवान्‌में मेरी प्रीति हो। फिर भी वह विग्रह कैसा है ? तमालके समान श्यामल वर्णका है, एवं उदय कालीन-सूर्यकी रश्मियों के समान-गौर-पीत श्रेष्ठ रेशमी वस्त्र जिसपर लहराता है, एवं घुंघराले-काले बालोंसे जिसका मुख-कमल आवृत-सा है, ऐसे पार्थके सारथी-श्रीकृष्णमें मेरी निर्दोष-निर्निमित्त-निष्काम प्रीति-भक्ति हो।

इसलिए मैं भीष्म उस परम-प्रिय भगवान्‌में ही अपनी निष्काम-बुद्धिको समर्पित करता हूं। जो यह भगवान् अपनी महिमारूप-निर्विशेष-चिन्मात्र-अद्वयानन्द-

स्वरूपेऽवस्थितोऽपि स्वकीयया योगमायया भवप्रवाहं वितन्वन् विहरणाय-स्वभक्ततोषाय च साकारकमनीयविग्रहान्नपि दधाति कचिदित्यप्याह—'इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि। स्वसुखमुपगते कचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः॥' (भा० १।९।३२) इति। अयमर्थः-इति—विवेकविरागाद्युपायैः मतिः = मनोधारणलक्षणा, उपकल्पिता = समर्पिता। क ?। सात्वतानां—यादवानां पुङ्गवे = श्रेष्ठे भगवति—श्रीकृष्णे। कीदृशी ?। वितृष्णा = निष्कामा। कीदृशे तस्मिन् ?। विभूम्नि = विगतो भूमा यस्मात् तस्मिन् यमपेक्ष्यान्यत्र महत्त्वं नास्तीत्यर्थः। परमभूम्नीतियावत्। तदेव परमभूमत्वमाह—स्वसुखं = स्वस्वरूपभूतं चिद्घनाद्वयपरमानन्दमुपगते = सदैव प्राप्तवति। कचित् = कदाचित् विहर्तुं = क्रिडीतुं प्रकृतिं = योगमायां उपेयुषि = स्वीकृतवति, न तु स्वरूपतिरोधानेन जीववत्पारतन्त्र्यमित्यर्थः। विहर्तुमिति यदुक्तं तत्प्रपञ्चयति—यत् = यतः—प्रकृतेर्भवप्रवाहः = सृष्टिपरम्परा भवति, भवप्रवाह-इति वदता 'संभवाम्यात्ममायया' (गी० ४।६)

स्वरूपमें सदा अवस्थित रहकर भी अपनी योगमायासे संसारके प्रवाहको सतत चलता हुआ—अपनी दिव्य-लीलाओंके विस्तारके लिए, और अपने भक्तोंकी सन्तुष्टिके लिए-अतिसुन्दर—साकार विग्रहोंको भी कभी कभी धारण कर लेता है, ऐसा भी भीष्म कहते हैं—'अपनी यह बुद्धि—जो निर्मल और संसारकी तृष्णासे रहित है, यदुवंश-शिरोमणि—वस्तुतः अनन्त-भूमारूप-भगवान् श्रीकृष्णमें समर्पित करता हूँ, जो अपने शाश्वत-आनन्दमय स्वरूपमें सदा अवस्थित रहते हुए भी इस सृष्टि-परम्पराको चलाते हैं, और कभी कभी लीला—विहार करनेकी इच्छासे अपनी प्रकृति-मायाको भी स्वीकार कर लेते हैं।' (भा०)

विवेक-वैराग्य आदि साधनोंके द्वारा मनकी धारणारूपा मतिको समर्पित किया है, किसमें ?। यादवोंमें श्रेष्ठ-भगवान् श्रीकृष्णमें। समर्प्यमाणा मति कैसी है ? तृष्णा-रहित-निष्काम। कैसे भगवान्में मति अर्पण करते हो ? सबसे निरतिशय महान् में अर्थात् जिसकी अपेक्षा करके अन्यमें महत्त्व नहीं है, ऐसे परम भूमा-ब्रह्मस्वरूपमें। श्री भगवान्के उसी ही परम महत्त्वको विशेषणोंके द्वारा बतलाते हैं—जो चिद्घन-अद्वय-परमानन्दरूप-स्वरूपमें सर्वदा स्थित हुए—एवं कभी लीलाके निमित्त अपनी योगमाया के आश्रयको स्वीकार करते हुए—भगवान्में। प्रकृति की स्वीकृति, भगवत्स्वरूपको तिरोधान नहीं करती, इसलिये जीवके समान स्वरूपतिरोधान द्वारा परतन्त्रताकी प्राप्ति नहीं हो सकती है।' 'विहर्तुं' इस पदके द्वारा-जो कहा है—उसका विस्तारसे वर्णन करते हैं कि—जिस-प्रकृतिकी स्वीकृति से भवप्रवाह यानी सृष्टियोंकी परम्परा चलती रहती है। 'भवप्रवाह' ऐसे कथन द्वारा-'मैं अपनी मायाके द्वारा प्रकट होता हूँ-अवतार

इति न्यायेन भवप्रवाहपतितान् प्रपन्नान्—भक्तान् समुद्धर्तुं योगमायोद्भासितान् स्वसाकारविग्रहानपि तदुद्धारकान्—अर्थात् ज्ञापयतीति भावः।'

एतेन—शरीरभाजां=युधिष्ठिरादीनां वसुदेवादीनामुद्धवादीनां नन्दादीनां गोपीकानाञ्च हृदि-हृदि भावभेदेन प्रेमतारतम्येन पृथक्तयाऽधिष्ठितं स्फुरतीत्येवं स्वमनःकल्पितं व्याख्यानं विधाय 'तमिममहमजं'—इत्यादि पद्यमिदं न ब्रह्मपरतया व्याख्येयमिति केनचिद् दुराग्रहिणा यदुक्तं। तन्निरस्तम्। 'कृष्णे भगवति····· आत्मनि—आत्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत्।' (भा० १।६।४३) 'संपद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले।' (भा० १-६।४४) इत्यादिवचनविरोधात्। अन्तरेव विलीनः श्वासो यस्य सः। निष्कले=निरुपाधौ-प्रपञ्चोपशमेऽद्वये ब्रह्मणि संपद्यमानं=संमिलितमित्यर्थः। 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम !॥' (कठ० उ० २।४।१५) इति श्रुतेः। न हि केवलस्य साकारविग्रहस्य परिच्छिन्नस्य मायिकस्यात्मत्वं निष्कलब्रह्मत्वञ्च कथमपि सभवति। संकोचक

ग्रहण करता हूँ।' गीताके इस नियमके अनुसार-भवप्रवाहमें अनादिकाल से पतित-अपने शरणागत-भक्तोंका उद्धार करनेके लिए योगमायाके द्वारा समुद्भासित-भक्तोद्धारक-अपने साकारविग्रहों को भी ज्ञापित करते हैं।

'तमिममहमजं' इत्यादि-श्लोकका-किसी-दुराग्रही-पण्डितंमन्य ने ऐसा अप्रामाणिक-प्रकरणासंगत-विपरीत-अर्थ-किया है कि—युधिष्ठिर, वसुदेव, उद्धव-नन्द-गोपिकाएँ आदि-शरीरधारी भक्तोंके अपने अपने हृदयमें अधिष्ठित होकर भाव-भेदसे यानी प्रेमके तारतम्यसे पृथक्-पृथक् रूपसे-जो स्फुरित होता रहता है-इत्यादि। ऐसा कपोल-कल्पित व्याख्यान करके—'तमिममहमजं' इस पद्यका अद्वय-ब्रह्मपरक व्याख्यान करना उचित नहीं है—ऐसा जो कहा है—यह—सब पूर्वोक्त-श्रुति-स्मृति-युक्ति-प्रमाणोंसे एवं वक्ष्यमाण विवेचनसे भी खण्डित हो जाता है। 'आत्मस्वरूप-भगवान्-कृष्णमें अपने आपको विलीन करके-उस भीष्मके प्राण भी वहीं विलीन हो गये।' (भा०) 'निष्कल-अद्वय ब्रह्ममें भीष्मजीको विलीन हुए समझकर।' (भा०) इत्यादि श्रीमद्भागवतके शेषभूत वचनोंका विरोध होजाने के कारण उस दुराग्रहीका पूर्वोक्त-व्याख्यान निःसार एवं तुच्छ ही सिद्ध होगया। अन्दर ही विलीन हो गया है—श्वास जिसका वह अन्तःश्वास है। निष्कल=निरुपाधि-प्रपञ्चोपशम-अद्वय-ब्रह्ममें वह भीष्म संपद्यमान=संमिलित हो गया। कठ श्रुतिभी यही कहती है कि—'जैसे शुद्ध-जलमें मिला हुआ शुद्ध जल एक-रूप-अभिन्न होजाता है, वैसे ही हे गौतम ! ज्ञानवान्-मुनिका आत्मा अद्वय-ब्रह्ममें मिलकर एकरूप-अभिन्न होजाता है।' मायिक-परिच्छिन्न-केवल-साकार विग्रहमें आत्मत्व एवं निष्कल-ब्रह्मत्व किसी भी प्रकारसे संभवित नहीं है। और संकोच—करनेवाला-

प्रमाणाभावात् शरीरभाजां=सकलशरीरिणामित्यर्थ एव साधीयान्, न तु युधिष्ठिरादीनां शरीरिविशेषाणामिति व्याख्यानं समीचीनं, प्रकरणसिद्धान्तानुकूलं वा, तथा च तादृशव्याख्यानमुन्मत्तप्रलपितमेव विज्ञाय समुपेक्ष्यमेव पक्षपातवर्जितसुधीभिः श्रीमद्भागवतसिद्धान्तसारग्रहणशीलैरिति शम् ।

इह किल संप्रति द्वितीयस्कन्धस्य तात्पर्यं संक्षेपतो निरूप्यते । तथाहि—

(१) सर्वात्मभावेन भगवतो नारायणस्य ध्रुवा स्मृतिः संपादनीया, तयाऽभयं ब्रह्मधाम संपद्यते, इतिवर्णने प्रदत्तं भगवतः सर्वात्मत्वविशेषणं तस्य केवलाद्वयत्वमेव समर्थयति। नारायणपदमपि सर्वात्मभावस्यैवास्ति लक्षकम् ।

(२) स्वप्नेक्षितृदृष्टान्तेन यथा स्वप्नद्रष्टा एक एव परमार्थसत्यः, तेन स्वप्ने दृष्टं सर्वं दृश्यं न वास्तविकमिति प्रतिपादयन् तस्मिन्नेव स्वस्वरूपभूते सत्ये शाश्वतानन्दनिधौ विश्वद्रष्टरि परमप्रेमा कर्तव्यः, नान्यत्र मिथ्याभूते

प्रमाणके न होनेपर शरीरभाजां का समस्तदेह-धारियों का ऐसा ही अर्थ करना अतीव अच्छा है, शरीर-धारीविशेष-युधिष्ठिरादियोंका, ऐसा संकुचित अर्थ करना समीचीन-यथार्थ नहीं है । न तो ऐसा संकुचित-व्याख्यान-प्रकरणके अनुकूल है, न तो सिद्धान्तके ही अनुकूल है-प्रत्युत-प्रतिकूल ही है, इसलिये वैसा व्याख्यान-पागलोंके बकवादके समान है, ऐसा समझकर-श्रीमद्भागवतके सिद्धान्तोंका सारतत्त्व ग्रहण करनेके स्वभाववाले-पक्षपात वर्जित-विद्वानोंको-उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये। इतिशम् ।

यहाँ अब द्वितीय स्कन्धका तात्पर्य संक्षेपसे निरूपण किया जाता है । जैसे—

(१) सर्वात्मभावसे भगवान् नारायणकी ध्रुवा स्मृति संपादन करनी चाहिये, ऐसी स्मृति द्वारा भयवर्जित-ब्रह्मधाम की प्राप्ति होती है। इस वर्णनमें दिया गया भगवान्का सर्वात्मा यह विशेषण उसमें केवल-अद्वयत्वका ही समर्थन करता है। और नारायण पद भी सर्वात्मभावका ही अपनी व्युत्पत्ति द्वारा लक्षक होता है।

(२) स्वप्न-द्रष्टा (द्रष्टा) के दृष्टान्त द्वारा-भागवतकार महर्षि-जैसे एकमात्र स्वप्नद्रष्टा ही परमार्थसत्य होता है स्वप्नमें, उसके द्वारा देखागया सब स्वाप्निक-दृश्य वास्तविक नहीं होता, ऐसा प्रतिपादन करता हुआ, तथा उस स्वस्वरूपभूत-सत्य-शाश्वतानन्दनिधि-विश्वद्रष्टा-भगवान्में परमप्रेम करना चाहिये, अन्य मिथ्याभूत दृश्यमें परम प्रेम नहीं करना चाहिये, ऐसा भी बोधन करता हुआ—'ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या

दृश्ये, इति च बोधयन्—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव केवलम् ।' इति सिद्धान्तमेव समर्थयति द्रष्टुः एकत्वबोधनेनापि ।

(३) नेतिनेतीति श्रौतकथनं अतद्व्यावृत्त्या विष्णोः परमं पदं केवलाद्वयमेवास्तीति स्पष्टं बोधयति ।

(४) दृग्दृश्यविवेचनमपि दृशः चैतन्यस्वरूपस्यात्मन एव परमसत्यस्य श्रवणादिकं बोधयत् परिसंख्याविधिना तदतिरिक्तस्य दृश्यस्य श्रवणादिकं न कर्तव्यमिति च ज्ञापयत् तस्य मिथ्यात्वमप्यर्थतः सूचयति ।

(५) 'पुरुष एवेदं सर्वमि' ति श्रौतार्थं कथयन् बाधसामानाधिकरण्यमेव केवलाद्वैतसमर्थकं प्रत्याययति ।

(६) ज्ञानस्वरूपे—आत्मनि ज्ञेयार्थसम्बन्धो न वास्तविक इति पुनरपि स्वप्नदृष्टान्तेन बोधयति । एकस्याविकृतस्य बहुरूपभवनं ममाहमितिविकारशालित्वञ्च माययैवास्ति न परमार्थतः । अत एव तन्निरासोऽपि ज्ञानेन कर्तुं शक्यो भवति, परमार्थतयाऽभ्युपगतस्य तस्य न केनापि निरासः संभवति । मायाप्रयोजितं सर्वमपि दृश्यजातं अवास्तविकमेव दृष्टं इन्द्रजालरूपलौकिकमायायाम् ।

है, जीव केवल ब्रह्म ही है ।' इस सिद्धान्तका समर्थन करता है, द्रष्टाके एकत्वके बोधन द्वारा भी ।

(३) 'नेति नेति' ऐसी श्रुतिके अर्थका कथन, अतत् (दृश्य-अनात्मवर्ग) की व्यावृत्तिके द्वारा विष्णुका परमपद केवल अद्वय स्वरूप ही है, ऐसा स्पष्ट बोधन करता है ।

(४) दृक् एवं दृश्यका विवेचन भी चैतन्य स्वरूप-दृक्-आत्मा जो-परमसत्य है, उसके ही श्रवणादिका बोधन करता हुआ, तथा परिसंख्या विधिके द्वारा तदतिरिक्त-दृश्य-वर्गका श्रवणादि नहीं करना चाहिये, ऐसा ज्ञापन करता हुआ, उस दृश्यवर्गमें मिथ्यात्वको भी अर्थ से सूचित करता है ।

(५) 'यह सर्व पुरुष ही है' ऐसा श्रुतिके अर्थ को कथन करता हुआ-बादरायणाचार्य केवलाद्वैतका समर्थक-बाधसामानाधिकरण्यका ही आवेदन करता है ।

(६) ज्ञानस्वरूप-आत्मामें ज्ञेयार्थका सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, ऐसा फिर भी स्वप्नदृष्टान्तके द्वारा बोधन करता है । एक का बहुरूप होना, एवं अविकृतका 'मेरा मैं' ऐसा विकारशाली होना, मायाके द्वारा ही है, परमार्थसे नहीं है । इसलिये उसका निरास भी ज्ञानके द्वारा करना शक्य है । परमार्थरूपसे माने गये उसका निरास किसी भी उपाय के द्वारा नहीं हो सकता है । मायासे प्रयोजित (उद्भासित) सभी दृश्य समूह, अवास्तविक ही होता है, ऐसा लोकसिद्ध-इन्द्रजालरूपमाया में देखा गया है ।

(७) चतुःश्लोकीभागवतमपि संक्षेपतः—अस्य विश्वस्यादौ मध्ये तथाचान्ते 'अहमि' ति पदेन लक्षितं तद्बाधेन च बोधितं केवलाद्वयमेवास्ति तत्त्वं पारमार्थिकं, नान्यत्' इति । एवं वास्तविकार्थं विना यत्प्रतीयते, तन्माययैवाविद्याऽऽख्ययाऽस्ति, रज्जुसर्पादिस्थलेऽधिगतम् । तथा अन्वयव्यतिरेकन्यायेन मायाधिष्ठानं केवलाद्वयतत्त्वमेव सर्वत्र सर्वदाऽबाधितं समनुगतमस्तीति तदेव जिज्ञासुना जिज्ञास्यम्, इत्यादिसिद्धान्तजातं बोधयति ।

एवं प्रथमस्कन्धस्य विचारधारावदस्य द्वितीयस्कन्धस्यापि विचारधारा समुद्रगामिगंगाप्रवाहवत् केवलाद्वयब्रह्माब्धावेव पर्यवस्यतीति–विदांकुर्वन्तु–अस्य——-श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतकस्याध्यात्मज्योत्स्नाविवृतिसमलंकृतस्य परिशीलनकर्तारो महाभागा विचारचातुरीधुरीणाः ।

(७)

(श्रेयस्कामैः अन्तकाले नारायणस्मृतिरेव संपादनीया)

यत्खलु दृढविश्वासनिश्चयभक्तिभरितेन मनसा पुनः पुनः स्मर्यते, प्रार्थ्यते, तादृशमनःप्रतिष्ठितया वाण्याऽसकृद् संकीर्त्यते, कर्णाभ्यां कर्मसम-

(७) चतुः श्लोकी भागवत भी संक्षेपसे—इस विश्वके आदिमें मध्यमें तथा अन्तमें 'मैं' इस पदके द्वारा लक्षित-एवं विश्वबाधके द्वारा बोधित केवल-अद्वय ही पारमार्थिक तत्त्व है, अन्य नहीं । इस प्रकार वास्तविक-अर्थके विना भी जो प्रतीत होता है, वह अविद्यानामवाली मायाके द्वारा ही हुआ है, ऐसा रज्जुसर्पादिके स्थलमें जाना गया है । और अन्वय एवं व्यतिरेक न्यायके द्वारा मायाका अधिष्ठान—केवल-अद्वैत तत्त्व ही सबमें सभी समय अबाधितरूपसे अनुगत है, अतः उसको ही जिज्ञासुओंको जिज्ञासाके द्वारा जानना चाहिये, इत्यादि सिद्धान्तोंके समुदायका बोधन करता है ।

इस प्रकार प्रथम-स्कन्धकी विचार-धाराकी भांति, इस द्वितीय-स्कन्धकी भी विचार-धारा, समुद्रगामी-गंगा प्रवाहकी तरह केवलाद्वय—ब्रह्मरूपीसागरमें ही पर्यवसन्न होती है, ऐसा—इस-अध्यात्म-ज्योत्स्ना नामकी विवृति से समलंकृत—श्रीमद्भागवत-संहितोपनिषच्छतकके-परिशीलन करने वाले-महाभाग्यवान्-विचारके चातुर्यकी धुराको वहन करने वाले-सज्जन गण-निश्चयसे समझें ।

(७)

(कल्याणकी कामना करने वाले-मानवोंको-अन्तिम-समयमें भगवान् श्रीनारायणकी ही स्मृति संपादन करनी चाहिये)

दृढविश्वास, दृढनिश्चय, एवं भक्तिसे परिपूर्ण मनके द्वारा जिस पदार्थका स्मरण वारम्बार किया जाता है, और जिसकी प्रार्थना (प्रकृष्ट-अर्थना-चाहना) की जाती है, ऐसा मन जिसमें प्रतिष्ठित है-ऐसी वाणीके द्वारा जिसका पुनः पुनः संकीर्तन-(नामोच्चारण)

भिहारेण च यद्विषयकमैकाग्र्येण श्रवणं क्रियते, तदचिरेण संपद्यत एव। अत एवाहुर्भगवत्योऽतिधन्याः श्रुतयोऽपि—'स मनसा ध्यायेद्, यद्वै अहं किञ्चन मनसा ध्यास्यामि, तथैव तद्भविष्यति, तद्ध स्म तथैव भवति।' (गोपथ० ब्रा०-पू० १।६) इति। ध्यायेत्=चिन्तयेत्—स्मरेत्। ध्यै चिन्तायां स्मरणात्। सः=मानवः तं—इष्टपदार्थं, प्रकृते सः नित्यसुखरूपः परमात्मैव, तद्भिन्नस्या नित्यत्वादसुखत्वाच्चानिष्टत्वमेव ज्ञेयम्। मनसा=श्रद्धाभक्तिसंयुक्तेनैकाग्रेण मनसा ध्यायेत्। ध्यास्यामि=चिन्तयिष्यामि। तथैव भावानुसारेण, तद्—भावितं वस्तु, भविष्यति=संपत्स्यते इत्यर्थः। मातृरूपा श्रुतिस्तदेव समर्थयति-तद्ध स्म तथैव भवति। दृढभावानुरूपा सिद्धिर्भवत्येवेति। 'मनीषिणः प्रभरध्वं मनीषां यथा यथा मतयः सन्ति नृणाम्।' (ऋ० १०।१११।६) हेमनीषिणः= मनसो विवेकवैराग्याभ्यां नियन्तारः! स्वकीयां मनीषां बुद्धिं, प्रभरध्वं= इष्टदेवविषयक--श्रद्धाभक्तिश्रवणस्मरणादिना संभरितां कुरुत इत्यादेशो भगवत्याः श्रुतेः। सामान्यन्यायप्रदर्शनेन तत्फलं दर्शयति—यथा—यथा

किया जाता है, और पुनः पुनः एकाग्रतासे जिसका श्रवण किया जाता है, उसे मनुष्य शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। इसलिये हमारी अतिधन्य-भगवती श्रुतियाँ भी कहती हैं कि—'वह मानव मनसे उस अभीष्ट पदार्थका सतत ध्यान करे, और यह निश्चय रक्खे कि-मैं जिस पदार्थका जिस भावनासे अजस्र ध्यान करूँगा, वह पदार्थ भावनाके अनुसार अवश्य ही वैसा हो जायगा—मिल जायगा। यथार्थमें वह ध्याता वैसा ही होता है, जैसा जिसका वह ध्यान करता रहता है।' (श्रु०) ध्यायेत् यानी चिन्तन करे—स्मरण करे। क्योंकि—व्याकरणमें चिन्तन अर्थमें 'ध्यै चिन्तायां' धातुका वर्णन किया है। मनुष्य उस इष्ट—पदार्थका। प्रकृतमें नित्य-सुखरूप परमात्मा ही इष्ट पदार्थ है। उससे भिन्न पदार्थ-अनित्य है एवं सुखरहित-दुःखमय है। इसलिये वह पदार्थ अनिष्ट है-अत एव वह चिन्तन करने योग्य नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। श्रद्धा-भक्ति संयुक्त-एकाग्रमन से ध्यान करे। मैं जिसका ध्यान-चिन्तन करता रहूँगा, अतएव वह भावित-चिन्तित इष्टवस्तु मेरी भावनाके अनुसार मुझे अवश्य ही प्राप्त हो जायगी। मातृरूपा श्रुति उस का समर्थन करती है कि—वह वैसा ही होता है-जैसा वह चिन्तन करता रहता है। दृढ़-भावनाके अनुसार ही इष्ट-सिद्धि होती है। वैसा ऋग्वेदसंहिताकी श्रुति भी कहती है कि—'हे मनीषियो ! अपनी मनीषा (बुद्धि) को जैसी-जैसी भावनासे भरपूर रक्खोगे एवं जिसके चिन्तनवाली मतियाँ होंगी, वैसे ही मनुष्य हो जाते हैं।' (श्रु०) विवेक एवं वैराग्यके द्वारा अपने मनका नियमन करने वाले—मनुष्यों का नाम है—मनीषी। हे मनीषी-मानवो ! तुम अपनी बुद्धिको अपने इष्टदेव विषयक श्रद्धा-भक्ति-श्रवण स्मरण आदिके द्वारा-इष्ट भावना से भरपूर करो। ऐसा भगवती श्रुतिका आदेश है। सामान्य

यादृग्यादृग्भावनावत्यो मतयो भवन्ति तादृशास्ते मनुष्या भवन्तीत्यर्थः। 'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो' 'यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति ।' (छां० ३।१४।१) अथ खल्विति हेत्वर्थौ:, यस्मात् क्रतुमयः = क्रतुप्रायोऽध्यवसायात्मकः पुरुषो = जीवः, यथाक्रतुः = यादृशः क्रतुरस्य सोऽयं यथाक्रतुर्यथाऽध्यवसायो यादृङ् निश्चयोऽस्मिँल्लोके जीवन्निह पुरुषो भवति, तथेतः = अस्माद्देहात्प्रेत्य = मृत्वा भवति, क्रत्वनुरूपफलात्मको भवतीत्यर्थः। एवंभूता व्यवस्था गीताशास्त्रेऽप्यवलोकिता—'यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं। तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥' (गी० ८।६) इति। अन्तकाले यं यं वाऽपि किमपि भावं = पदार्थं स्मरन् कलेवरं त्यजति, तं तमेव स्मर्यमाणं भावमाप्नोति नान्यम्। ननु—कथमन्तकाले भावविशेषस्मरणं, सकलेन्द्रियतनुक्षोभेण विवशत्वात्, तत्राह—सदातद्भावभावितः, तस्य भावो = भावना—अनुचिन्तनं तेन भावितो वासितचित्तः, यद्वा तद्भावो भावितः =

नियमके अनुसार भावनाके फलका प्रदर्शन करते हैं—जैसी-जैसी-भावनावाली बुद्धियाँ होती हैं, वैसे ही वे मानव बन जाते हैं। एवं छांदोग्य-श्रुति भी कहती है कि-'यह मानव निश्चयसे भावनामय होता है, जिसकी जैसी भावना (कामना—वासना) इस लोक में मनुष्य की होती है, वह मरकर भी वैसा ही बन जाता है।' (छां०) अर्थ, अथ एवं खलु ये अव्यय पद हेतुके बोधक हैं। जिसकारण, यह मानव-प्राणी बहुत करके निश्चय शाली होता है। जैसा निश्चयवाला इस लोकमें मानव बना रहता है, वैसा ही वह इस शरीरके छोड़नेके बाद भी वह निश्चयके अनुसार फल को प्राप्त कर लेता है, जैसा निश्चय एवं जैसी भावना होती है, वैसा ही वह बन जाता है। ऐसी ही व्यवस्था गीता शास्त्रमें भी देखनेमें आती है कि—'हे कुन्तीपुत्र-अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस जिस भी इष्ट-पदार्थका स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागता है, उस-उसही स्मर्यमाण पदार्थको वह प्राप्त होता है, परन्तु सदा उसही पदार्थका चिन्तन करता हुआ। क्योंकि-सदा जिस पदार्थका चिन्तन करता रहता है, अन्तकालमें भी प्रायः उसीका ही स्मरण होता है।' (गी०) अन्तकालमें जिस किसी भी पदार्थका स्मरण करता हुआ कलेवर छोड़ता है, वह उस उस स्मर्यमाण पदार्थको ही प्राप्त होजाता है, अन्य को नहीं।

शंका—अन्तकालमें इष्ट-पदार्थ-विशेषका स्मरण क्योंकर होगा? क्योंकि—उस समय समस्त इन्द्रियाँ एवं समग्र शरीर विक्षिप्त-होजानेके कारण वह स्मर्ता मानव विवश बन जाता है, अर्थात् उसे कुछ विशेष सावधानी ही नहीं रहती है कि-किसका स्मरण किया जाय।

समाधान—सदातद्भावभावितः यानी उसका भाव अर्थात् भावना-अनुचिन्तन, उससे जिसका चित्त भावित-वासित-(संभरित) हो गया है वह। अथवा उसकी सतत

संपादितो येन सः तथोक्तः, भावितत्तद्भाव इत्यर्थः । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वाद्भावितपदस्य परनिपातः । यस्मादेवं पूर्वाभ्यस्त एव पदार्थेऽन्त्यभावना भवति, तस्मात्सर्वात्मभगवद्विषयकान्त्यभावनोत्पत्त्यर्थं, सर्वेष्वपि कालेषु तदनुचिन्तनपरायणेनैव भवितव्यं, यतो निरन्तरभगवदनुचिन्तनवासनैवान्त्यकालविवशस्यापि भगवत्स्मृतिकारणं संपद्यते । अत एव 'अन्ते या मतिः सा गतिः' इतिसार्वजनीनो नियमो लोकैरपि जोघूष्यते । देहगेहादौ प्रसक्तस्य मूढस्यात एव स्वकीयममूल्यमायुर्निशायां निद्रया रत्या वा दिवसे च कुटुम्बपोषणेनार्थोद्यमेन च प्रक्षीणं कुर्वाणस्य पित्रादिदृष्टान्तेन तन्निधनं पश्यतोऽपि मोहमहिम्ना नानुसंदधतो निरन्तरसंसारानुचिन्तनवासनैव तस्य कर्मानुरोधेन दुःखमयसंसारप्रसक्तिकारणं भवति । अतः संसारदुःखं जिहीर्षुणा नित्यसुखमभीप्सुणा च मतिमता विवेकिना सत्संगश्रवणादिनोपायेन निरन्तर-

---

भावनाके द्वारा उस इष्ट--पदार्थका भाव अपने चित्तमें संपादित किया है, वह तद्भावभावित है । आहिताग्न्यादिको आकृतिगण होनेसे यहाँ भावित पदका अन्तमें प्रयोग किया है, नहीं तो 'भावितत्तद्भाव' ऐसा होना चाहिये था । इस कथनके द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि—पूर्वकालमें चिर-अभ्यस्त-ही पदार्थमें अन्तिम स्मरणरूपा भावना हो जाती है, इसलिए सर्वात्मा भगवान्‌की अन्तिम-भावनाके प्रादुर्भावके लिए सभी समयमें भगवान्‌के चिन्तन-परायण ही बने रहना चाहिये । क्योंकि—भगवान् की निरन्तर चिन्तनप्रचयरूपा दृढवासना ही अन्तकालमें व्याधि आदिके द्वारा विवश (पराधीन-व्यग्र) हुए—मनुष्यमें भी भगवद्विषयिणी-अन्तिम स्मृतिके उत्पन्न-कराने में कारण बन जाती है । इसलिए लोकमें भी ऐसी ही कहावत प्रचलित है कि—'अन्ते या मतिः सा गतिः' अर्थात् अन्तमें जैसी मति होती है, वैसी गति होती है, यह सर्वजनोंमें प्रसिद्ध नियम है । लोग भी इसे वारंवार कहते रहते हैं ।

देह-गेह आदिमें आसक्ति रखनेवाला मूढ मनुष्य, रात्रिमें निद्रा एवं संभोग द्वारा, एवं दिनमें अपने परिवारके पालन-पोषण द्वारा एवं वित्त संपादनके लिए विविध उद्योगोंके द्वारा अपनी अमूल्य आयुका प्रक्षय करता रहता है । और अपने मृत-माता-पिता आदिके दृष्टान्तसे भी अपने शरीरकी मृत्युको स्वयं परोक्षरूप से देखता हुआ भी मोहकी प्रबल महिमाके कारण उस मृत्युका अनुसंधान (अनुस्मृति) नहीं करता है । किन्तु निरन्तर संसारके चिन्तन द्वारा अपने हृदयमें होने वाली-संसार की दृढवासना ही अपने शुभाशुभकर्मोंके अनुरोधसे उसके लिए दुःखमय-संसारकी प्रसक्तिका कारण बन जाती है । इसलिये संसारके दुःखोंकी निवृत्तिकी और नित्य-सुख--प्राप्तिकी अभिलाषा रखने वाले विवेकी बुद्धिमान् मानवको सत्संग, श्रवण, आदि उपायोंके द्वारा भगवान् की ही निरन्तर भावना का ही संपादन करना चाहिये, ऐसा विरक्त—शिरोमणि

भगवद्विषयकभावनैव संपादनीयेत्याह—विरक्ताग्रेसरो भगवान् श्रीशुकः परीक्षितं निमित्तीकृत्य सर्वलोकसमुद्धारभावनया—

'तस्माद्भारत ! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम् ॥
एतावान् सांख्य—योगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥'

(भा० २।१।५-६)

तस्मात् हे भारत = भरतवंशोद्भव !, यद्वा पावने भारतवर्षे निवसनशीलो यः कोऽपि स सर्वोऽपि भारतेति सम्बोधनेनाह्वातुं योग्य इति। सर्वात्मेति—भजनीयस्येष्टदेवस्य परमप्रेमास्पदत्वं अत एव परमानन्दस्वरूपत्वमप्याह। भगवानिति—परमसौन्दर्यमाधुर्यादिशालितया तस्यावश्यमीक्षणीयत्वमाह । ईश्वर इति विश्वनियन्तृतया तस्याभिमुख्यकर्तव्यतामाह । हरिरिति बन्धनहारि-

भगवान् श्रीशुकदेवजी महाराजा परीक्षित् को निमित्त बनाकर समस्त लोकोंके समुद्धार की भावना रखकर कहते हैं कि—

'इसलिये हे भारत ! परीक्षित् ! जो अभयपदको प्राप्त करना चाहता है, उसे तो सर्वात्मा, परमेश्वर—भगवान् श्रीहरिका ही निरन्तर श्रवण, कीर्तन और स्मरण-ध्यान करते रहना चाहिये। मनुष्य जन्मका यही इतना ही लाभ है कि—चाहे जैसे हो-वैसे-ज्ञाननिष्ठा द्वारा या भक्तियोग द्वारा या स्वधर्म की निष्ठा (सततानुष्ठान) द्वारा अपने जीवन को ऐसा बना लिया जाय कि—देह छोडते समय—भगवान् श्रीनारायण की ही स्मृति अवश्य बनी रहे ।'

इसलिये हे भारत यानी भरतवंशमें उद्भूत-होने वाला, अथवा पवित्र भारतवर्ष में रहने वाला-जो भी कोई हो—वह सब 'भारत' इस सम्बोधनसे पुकारा जा सकता है । 'सर्वात्मा' यह पद बतलाता है कि—भजनीय-इष्टदेव परमप्रेमास्पद है, इसलिए वह परमानन्दस्वरूप भी है ।'भगवान्' यह पद बतलाता है कि-वह आराध्यदेव, परमसौन्दर्य परममाधुर्य आदि दिव्य-गुण-शाली होनेके कारण अवश्यही दर्शनीय है । ईश्वर यह पद बतलाता है कि—वह विश्वका नियन्ता होनेके कारण अपनी चित्तवृत्तियोंको उसके अभिमुख अवश्य ही बनानी चाहिये । एवं 'हरि' यह पद बतलाता है कि—वह अविद्यादि-बन्धनोंका हरण कर देता है, इसलिए उसका अवश्य ही भजन-चिन्तन सतत करते रहना चाहिये । अभय = भयवर्जित—मोक्ष—जो अद्वय—आनन्दमय-पुरुष अभिप्रेत अर्थरूप है— उस मोक्षकी अभिलाषा रखने वाले भद्र-पुरुषको ऐसे श्रीहरिका

तया तस्यावश्यंभजनीयतामाह । अभयं=भयवर्जितं मोक्षमद्वयानन्दमयं पुरुषाभिप्रेतमर्थं—इच्छताऽभिलषता । तादृशो हरिः श्रोतव्यः, तन्महत्त्वाभिधायकानि शास्त्राणि ज्ञानवद्भक्तमुखेभ्यः श्रद्धयैकाग्र्येण च श्रोतव्यानि । श्रुतेषु तेषु भगवानपि श्रुतः स्यात् । यतः तेषां तत्परत्वात् । यदाह—'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा । आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते ॥' इति । अपि च नवधा साधनभक्तीनां मध्ये प्रथमा श्रवणभक्तिरेवास्ति बीजकल्पा । यतो श्रुत्वैव मानवः पापमोहाद्यनर्थकरान् दोषान् परित्यजति । धर्मस्य सनातनस्य भगवतः सर्वात्मनश्च महत्त्वं विजानाति । महत्त्वज्ञानमेव तत्र प्रीतिं समुत्पादयति । अत एवाचार्यप्रवरा वेदान्ताब्जभास्करा भगवत्पादा अपि श्रुताच्छब्दादेवापरोक्षज्ञानसंभवमाहुः—'शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् शब्दादेवापरोक्षधीः । प्रसुप्तः पुरुषो यद्वच्छब्देनैवावबुध्यते ॥' इति । (सदाचारानुसन्धाने) अतएव श्रीमद्भागवतस्य माहात्म्येऽप्याह—'श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधन !॥ वैकुण्ठस्थो यतो कृष्णः श्रवणाद्यस्य लभ्यते ॥ असारे संसारे विषय-

अवश्य श्रवण करना चाहिये । अर्थात् उसके महत्त्व का निरूपण करने वाले-शास्त्रोंको ज्ञानवान्-भक्तोंके मुखोंसे श्रद्धा एवं एकाग्रताके द्वारा—सुनना चाहिए । शास्त्रोंके सुननेपर ही तत्प्रतिपाद्य-भगवान् भी सुना हुआ हो जाता है । क्योंकि—सभी शास्त्रोंका तात्पर्य एकमात्र भगवान्में ही है । कहा भी है कि—'वेदोंमें पुराणोंमें रामायणमें एवं महाभारत में उनके आदिमें मध्यमें तथा अन्तमें सर्वत्र श्रीहरिका ही गान किया गया है ।' और भी यहाँ एक समझनेकी बात है कि—नव प्रकारकी साधन-भक्तियोंके मध्यमें श्रवण-भक्ति ही आदिमा-बीजसदृश है । क्योंकि—मनुष्य श्रवण करके ही पाप-मोह आदि-अनर्थकारी दोषोंका परित्याग करता है । और सनातन धर्मके तथा सर्वात्मा भगवान्के महत्त्व को जानता है । महत्त्वका ज्ञान ही धर्ममें एवं भगवान्में प्रीति उत्पन्न करा देता है । अतएव आचार्य-प्रवर-वेदान्तोंरूपी कमलोंके विकास करनेमें मार्तण्ड के समान—भगवत्पाद (पूज्य-भगवान्) श्रीशंकर स्वामी भी—'गुरुमुखसे श्रुत-शब्द द्वारा ही अपरोक्ष-ज्ञानका प्रादुर्भाव होता है' ऐसा कहते हैं कि—'शब्दकी शक्ति अचिन्त्य है, क्योंकि—शब्दसे ही अपरोक्ष ज्ञान होजाता है, जैसे सोया हुआ—अचेत-पुरुष शब्द ध्वनिसे ही जाग्रत-सचेत हो जाता है ।' इसलिए श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें कहा है कि—'हे तपोधन ! सब धर्मोंसे-साधनोंसे श्रवणभक्तिरूप साधन-धर्मको मैं उत्तम मानता हूँ । क्योंकि—वैकुण्ठमें अवस्थित श्रीकृष्ण भी श्रवण-भक्तिके द्वारा यहाँ ही प्रत्यक्ष उपलब्ध हो जाते हैं ।' 'इस असार-संसार में विषमय-विषयोंकी आसक्तिके कारण व्याकुल-बुद्धिवाले हे मानवो ! अपने कल्याणके उद्देश्यसे आधे क्षणके लिये भी इस शुककथारूप-अनुपम-सुधाका पान करो । प्यारे भाइयो ! निन्दित-सांसारिक-कथाओंसे

विषसङ्गाकुलधियः, क्षणार्द्धं क्षेमार्थी पिबत शुकगाथाऽतुलसुधाम् । किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे, परीक्षित् साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्यैककथने ॥' (भा० मा० ६ । १००) शब्दादयो विषया एव विषं, तस्य संगेनाकुला व्याप्ता धीर्येषां ते तथा । शुकस्य गाथा श्रीमद्भागवती कथा सैवातुलसुधा = अनुपमाऽमृततरूपा तां यूयं स्वकल्याणार्थी पिबत । यत् = यतः श्रवणाद् गता = प्राप्ता मुक्तिस्तस्या एककथने = मुख्यतया बोधने परीक्षित् = श्रीमद्भागवतस्यादिमः श्रोता साक्षी भवति ।

इत्येवं प्राक् भगवान् श्रोतव्यः पश्चात् तत्पावननामादिभिः संकीर्तनीयः । अत एव द्वादशे तत्संकीर्तनस्यापि महत्फलमाह—द्वाभ्यां—'पतितः स्खलितः आर्तः क्षुत्वा वा विवशो ब्रुवन् । 'हरये नमः' इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥ संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः, श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसां । प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ॥' (भा० १२।१२।४६—४७) इति । पतितः कूपादिषु, स्खलितः सोपानादिपु, आर्तः = दुःखितः क्षुत्वा = क्षुतं कृत्वा, विवशोऽपि विविधाभिर्विपद्भिः, 'हरये नमः' इत्युच्चैः = तारस्वरेणापि-

युक्त-कुपथमें व्यर्थ ही क्यों भटक रहे हो ? इस भागवती-कथाके कानमें प्रवेश करते ही मुक्ति होजाती है, इस बातका साक्षी राजा परीक्षित् है ।' उद्वेजक होनेके कारण शब्दादिविषय ही विष हैं, उनके संसर्गसे जिनकी बुद्धि व्याप्त एवं व्याकुल होजाती है, ऐसे मानव । यह श्रीमद्भागवती कथाही शुकगाथा है । यही उपमारहित-अमृततुल्य है, उसका अपने कल्याणके लिए पान करो । क्योंकि—परीक्षित्ने एकमात्र श्रवणके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त की थी, ऐसा मुख्यरूपसे कहनेमें वही श्रीमद्भागवतका आदिम-श्रोता परीक्षित् ही साक्षी होता है ।

इस प्रकार प्रथम भगवान्का श्रवण करना चाहिये । उसके बाद उनके पावन नाम आदिके द्वारा भगवान्का संकीर्तन करना चाहिये । इसलिये द्वादश-स्कन्धमें भगवान्के संकीर्तनका भी महान् फल बतलाया है कि—'जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते अथवा छींकते समय विवशता से भी—ऊँचे स्वरसे बोल उठता है—'हरये नमः' वह सब पापोंसे मुक्त होजाता है ।' 'यदि देश काल एवं वस्तुसे अपरिच्छिन्न—भगवान् श्रीकृष्णके पावन—नामोंका मंगलमयी लीलाओंका दिव्यगुणोंका एवं अनन्त-आनन्दमय स्वरूपका संकीर्तन किया जाय, अथवा उनके प्रभाव महिमा स्वरूप आदिका श्रवण किया जाय, तो वे स्वयं ही हृदयमें प्रकटरूपसे आ विराजते हैं, और श्रवण तथा कीर्तन करने वाले मानवके समग्र दुःख मिटा देते हैं—ठीक वैसे ही जैसे सूर्य अन्धकार को और पवनकी प्रचण्ड आँधी बादलोंको नष्ट कर देती है ।' (भा०) पतित यानी कूप आदिमें गिरा हुआ, स्खलित = सीढी आदि से फिसलता हुआ, आर्त

ब्रुवन् = संकीर्तयन् । श्रुतः शास्त्रगुरुभ्यः; अनुभावः—प्रभावोऽतुलमहिमा यस्य सः श्रुतानुभावः; अत एव संकीर्त्यमानस्तत्पावननामादिभिः, व्यसनं = दुःखं निःशेषं विधुनोति = विनाशयति । हीति सतामनुभवं प्रमाणयति । अर्को गिरिगुहादिध्वान्तं न धुनोतीत्यपरितोषाद् दृष्टान्तान्तरमाह—अतिवातः = प्रचण्डपवनः अभ्रं अवश्यं विधुनोत्येव यथा तथेत्यर्थः । अनेन सर्वान् मिथ्यालापान् विहाय महाफलशालि श्रीहरिसंकीर्तनमेव सततं श्रेयस्कामैः कर्तव्यमिति सूच्यते । श्रीहरिसंकीर्तनेन मानवो निर्भयो भवतीत्यप्याह—'आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् । ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम् ॥' (भा० १।१।१४) इति । आपन्नः = प्राप्तः, विवशः = रोगादिभिर्व्याकुलोऽपि । गृणन्—संकीर्तयन्, ततः = भयंकरसंसारदुःखात् । यत् = यतः—नामसंकीर्तनाद्—भयमपि स्वयं बिभेति, सत्येवं किमु वाच्यं भयदातारो मृत्य्वादयो अपि बिभीयुरित्यत्र । प्रेम्णा नामसंकीर्तयिताऽतिनीचोऽपि महत्तरो भवति, ये च श्रद्धया पावनानि भगवन्नामानि संकीर्तयन्ति, तैः

यानी दुःखी हुआ, एवं छींक करके भी एवं विविध-विपत्तियोंसे विवश-व्याकुल हुआ भी 'हरये नमः' ऐसे पावन नामका ऊँच स्वरसे भी संकीर्तन करता हुआ । जिसकी अतुल महिमा शास्त्र एवं गुरुओं के द्वारा सुनी गई है । व्यसन यानी दुःख, विधुनोति यानी नाश कर देता है । 'हि' ऐसा शब्द सत्पुरुषोंके अनुभव को भी इस विषयमें प्रमाणरूपसे उपस्थित करता है । सूर्य पर्वतको कंदरा आदिमें अवस्थित अन्धकारको नष्ट नहीं करता है—ऐसा प्रथमके सूर्य दृष्टान्तमें अपरितोष होनेके कारण द्वितीय दृष्टान्त प्रदर्शित करते हैं—प्रचण्डपवनका । वह अवश्य ही बादलोंको नष्ट कर ही देता है, जैसे; वैसे । इस कथन द्वारा-संसारके सभी मिथ्या-प्रलापों को छोड़कर महाफलशाली श्रीहरिका संकीर्तन ही कल्याणकी अभिलाषा रखने वाले- मनुष्यों को सतत करते रहना चाहिये, ऐसा सूचित किया जाता है । श्रीहरिके संकीर्तन से मानव निर्भय हो जाता है-उसका भय भाग जाता है, ऐसा कहते हैं– 'भयंकर संसार की जन्म मरण-इष्टवियोग अनिष्टसंयोग-आदिकी विपत्तियों में फँसा हुआ मानव, रोगादिसे विवश होकर भी भगवान्के मंगलमय नामका उच्चारण करले तो वह उसी क्षण उससे मुक्त होजाय, क्योंकि—स्वयं भय भी नाम--संकीर्तन से डरता है ।' (भा०) विवश यानी रोगादिसे व्याकुल हुआ । जब नाम-संकीर्तनसे भय भी भयभीत होता है, तब भय प्रदाता मृत्यु आदि भी भयभीत हो जाँय तो इसमें कहना ही क्या ? । प्रेमसे नाम संकीर्तन करने वाला अतिनीच मानव भी महत्तर यानी अतिमहान् हो जाता है, तथा जो लोग श्रद्धासे भगवान्के पवित्र-नामोंका संकीर्तन करते रहते हैं, तो निश्चयसे समझ लो कि—उन्होंने संपूर्ण-तप आदि-पुण्य कर्म कर लिये हैं, ऐसा तृतीय स्कन्धमें भी संकीर्तन

तपःप्रभृतिकं सर्वमेव पुण्यं कर्म कृतमित्याह-तृतीयेऽपि संकीर्तनस्य महत्त्वं—'अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यं। तेपुः तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणंति ये ते ॥' (भा० ३।३३।७) इति। अहो बतेत्याश्चर्ये, यस्य जिह्वाग्रे तुभ्यं=तव, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, नाम वर्तते, अर्थादतिप्रेम्णा सततं जिह्वया यस्तव पावनं नाम संकीर्तयति, स श्वपचोऽपि=श्वानं पचत्यदनाय, एवं भूतोऽतिनीचोऽपि, अस्मादेव हेतोर्गरीयान्=अतिश्रेष्ठः। कुतस्तस्य तत्त्वमत आह—त एव तपस्तेपुः=कृतवन्तः, जुहुवुः=होमं कृतवन्तः, सस्नुः=तीर्थेषु स्नाताः, आर्यास्त एव सदाचारा धार्मिकाः।, ब्रह्म=वेदं, अनूचुः अधीतवन्तः। अर्थात् भगवन्नामसंकीर्तनस्य सर्वसुकृतफलदायित्वात् तस्मादधिकसुकृतस्याभावात् तस्मिन्संपादिते सति सर्वमेव सुकृतं कृतं स्यादिति-भावः। यद्वा जन्मान्तरे तैस्तपोहोमादि सर्वं कृतमिति भगवन्नामसंकीर्तनरस-लाभमहाभाग्योदयादवगम्यत इति भावः।

एवं भगवानेवाजस्रं परमेण प्रेम्णा स्मर्तव्यः। इत्थं श्रवणादिभक्तीनां

के महत्त्व को कहा हैं—'अहो! वह चाण्डाल भी इसीसे सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि–उसकी जिह्वाके अग्रभागमें आपका पावन-नाम बिराजमान है। जो श्रेष्ठ-पुरुष, आप-भगवान् का नाम उच्चारण करते हैं–उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचार का पालन, और वेदाध्ययन, सब कुछ पुण्यकर्म कर लिया।' (भा०) अर्थ—'अहो बत' ये दो पद आश्चर्यके बोधक हैं। जिसकी जिह्वाके अग्रभाग में तुभ्यं=आपका (यहां षष्ठीके अर्थ में चतुर्थी-विभक्ति हैं) नाम बिराजमान है, अर्थात् जो प्रेमसे निरन्तर जिह्वा द्वारा आपके पवित्र नामोंका संकीर्तन करता रहता है। वह श्वपच यानी कुत्तेका मांस खाने वाला अतिनीच-चाण्डाल भी हो, तो भी वह इस कारणसे ही अतिश्रेष्ठ माना गया है। उस नीचमें अतिश्रेष्ठत्व क्योंकर आया? कहते हैं—उन्होंने तप कर लिया, हवन कर लिया, तीर्थोंका स्नान कर लिया, धर्मका सदाचारका पालन कर लिया, वेदोंका अध्ययन कर लिया, जो प्रेमसे आपके नामोंका उच्चारण करते रहते हैं। अर्थात् भगवन्नाम संकीर्तन, सकल तपः आदि पुण्य कर्मोंका फल प्रदाता है, इससे बढ़कर और कोई पुण्य कर्म नहीं है, इसलिए उस नाम-संकीर्तनके करने पर समस्त पुण्य-कर्म स्वतः संपन्न होजाते हैं, ऐसा भाव है। अथवा-भगवन्नाम-संकीर्तन में प्रकृष्ट रस लाभ रूप महाभाग्यसे ही ऐसा अनुमान किया जाता है कि–उन्होंने अन्यजन्मों में तप हवन आदि सब कुछ पुण्य कर्म कर लिये हैं, जिनके फलरूपसे नामसंकीर्तन में—रस मय-दृढ रुचि उदित होगई है। यह भाव है।

इस प्रकार परमप्रेमसे निरन्तर भगवान्का ही स्मरण करना चाहिये। इस प्रकार श्रवण आदि नवधा भक्तियोंका भी परम्परा से ब्रह्म-निर्वाणरूप मोक्षमें ही

परम्परया मोक्ष एव पर्यवसानं भवतीत्यप्याहुः—'शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्, नामानि रूपाणि च मंगलानि ते। क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते॥' (भा० १०।२।३७) इति। ते=तव सर्वात्मनोऽनन्तस्य भगवतो नामानि मंगलानि=पावनानि, रूपाणि=भक्तानुग्रहायाविष्कृतानि—मनोहराणि साकाररूपाणि, गृणन्=संकीर्तयन्, अन्यानपि संस्मारयन्। चिन्तयन्=ध्यायन्। क्रियासु=देवार्चनादिकर्मसु। आविष्टचेताः=संलग्नचेताः, भवाय=संसाराय, तमनुभवितुं, न कल्पते=नार्हति। किञ्च ज्ञानं नाम, चित्तस्याखण्डभगवदाकारपरिणामः, एतादृश एव योगः, श्रवणादिना तौ च भगवन्तं भजमानस्य स्वभावत एव सिद्ध्यतः, न पुनर्यत्नान्तरमपेक्षत इति सदृष्टान्तमाह—'विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते। मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥ तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथं। हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम्॥' (भा० ११।१४।२७-२८) इति। ध्यायतः=सुखबुद्ध्या चिन्तयतः, विषज्जते=समासक्तं भवति। यथा विषय-

पर्यवसान हो जाता है। ऐसा भी कहते हैं कि—'जो मानव, आपके मंगलमय-नामोंका, और दिव्य-रूपोंका श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान करता रहता है, तथा देवार्चनादि आवश्यक क्रियाओंके करनेपर भी आपके चरण कमलोंमें ही सदा अपना चित्त लगाये रखता है, उसे फिर जन्म-मरणरूप संसार-चक्रमें आना नहीं पड़ता।' (भा०) अर्थ-सर्वात्मा-अनन्त तुझ भगवान्के मंगलमय-पावन नामोंका और भक्तोंपर अनुग्रहके लिए प्रकट किये हुए-मनोहर-साकार-विग्रहोंका कीर्तन स्मरण एवं ध्यान करता हुआ, तथा अन्योंसे भी कीर्तन स्मरणादि को कराता हुआ। क्रियासु यानी देवार्चनादि-शुभकर्मों के करने पर भी। आविष्ट=संलग्न। भव यानी संसारका अनुभव करनेके लिये योग्य नहीं रहता, अर्थात् वह भवबन्धनसे सदाके लिए विमुक्त होजाता है।

और चित्तका अखण्ड-भगवदाकार-वृत्तियोंके रूपसे जो परिणाम है, वही ज्ञान है, एवं ऐसा ही योग है, श्रवणादिके द्वारा भगवान् का भजन करनेवालेको वे दोनों ही ज्ञान एवं योग अनायासतः सिद्ध हो जाते हैं। उनके लिए उन्हें अन्य-पृथक् प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। यही बात दृष्टान्त-पूर्वक कहते हैं कि—'निरन्तर विषयोंका चिन्तन करने वाले का मन, विषयों में ही फँस जाता है। और मेरा चिन्तन करने वालेका मन मेरे में ही तल्लीन-तदाकार हो जाता है। इसलिए-स्वप्न एवं मनोरथों के समान इन मिथ्या-विषयोंके चिन्तनको छोड़कर मुझ भगवान् की भावनासे भावित किये हुए—मनको मुझमें ही समाहित करो यानी एकाग्रता से मुझमें ही लगाये रक्खो।' (भा०) अर्थ—सुखबुद्धिसे विषयोंका चिन्तन करने वालोंका मन विषयोंमें ही समासक्त हो जाता है। जिस प्रकार विषयोंके ध्यानमें समासक्त चित्त विषयोंके माधुर्यमें निमग्न

ध्यानासक्तं चित्तं तन्माधुर्यनिमग्नं भवति, तथैव भगवद्ध्यानासक्तं चित्तं तत्परममाधुर्यमात्रनिमग्नं स्यादेव । तस्माद्भगवद्भिन्नस्य सर्वस्य संसारस्य स्वप्नमनोरथवद् असत्त्वादेव, तस्यासतो मिथ्याभूतस्याभिध्यानं हित्वा = विहाय, मय्येव = सत्यानन्दनिधौ प्रत्यगभिन्ने भगवति, मनो मद्भावभावितं कृत्वेति शेषः, सर्वत्रान्तर्बहिर्मद्भावेन = मद्भावनयैव भावितं = सततं वासितं विधाय समाधत्स्व, समाहितं कुर्वित्यर्थः, अर्थात् भगवत्संस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् । अभिहितञ्चैतदभियुक्तैः श्रेयोमार्गे—'आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तं । आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टि विदधीत ॥' इति । यथा समिदाज्याहुतिभिरुत्तरोत्तरं वृद्धया प्रज्वलन्नग्निः समिदादिक्षये प्रथमक्षणे किञ्चिच्छाम्यति, द्वितीयादिक्षणेषु ततस्ततोऽपि शाम्यति । तथाऽसदनात्मविषयकसंकल्पविकल्पादिनानावृत्तिभिर्वर्धमानं मनो भगवदात्माकार-वृत्तिप्रवाहवशात्—उत्तरोत्तरं प्रशाम्यति, पश्चात्प्रयोजनाभावादात्माकारा वृत्तिरपि स्वतः प्रशाम्यति । सेयं प्रशान्तवाहितेति योगशास्त्रे व्यवह्रियते ।

हो ही जाता है । उस प्रकार भगवान्के ध्यानमें आसक्त हुआ चित्त उसके परम माधुर्य में निमग्न हो ही जाता है । अतः भगवान्से अतिरिक्त-सांसारिक-समस्त विषय (दृश्य पदार्थ) स्वप्न एवं मनोरथके समान असत् हैं—मिथ्या हैं, इसलिये इन मिथ्याभूत-विषयोंका चिन्तन छोड़कर मुझ सत्य—आनन्दनिधि-प्रत्यगात्मा-भगवान्में ही मनको—अन्दर-बाहर सर्वत्र मेरी सतत-भावनासे भावित बनाकर—समाहित-एकाग्र करो । अर्थात् मनको एकमात्र-भगवान् में ही स्थिर करके अन्य किसी भी बाह्यविषयों का सर्वथा चिन्तन मत करो ।

'श्रेयोमार्ग' नामक ग्रन्थमें-तत्त्वदर्शी-शिष्ट महापुरुषोंने भी कहा है कि—'सभी समयमें स्वभावसे ही मन, आत्माकार एवं अनात्माकार उभयाकार सदा बना रहता है इसलिये योगी आत्माकार-वृत्ति-प्रवाह द्वारा अनात्म-दृष्टि का सदा तिरस्कार करता रहे । ' जैसे लकड़ी, घृत, आदिके द्वारा उत्तरोत्तर-वृद्धिको प्राप्त हुई-प्रज्वलित अग्नि, लकड़ी आदि की शनैः शनैः क्षीणता होजानेपर प्रथम क्षणमें कुछ थोड़ी-सी शान्त हो जाती है, फिर धीरे-धीरे द्वितीयादि-क्षणोंमें उससे भी ज्यादा प्रशान्त होती जाती है । वैसे ही मिथ्या-अनात्म-विषयोंकी संकल्प-विकल्पादि-विविध-वृत्तियों से बढ़ा हुआ मन, भगवदात्माकार-वृत्तियोंके प्रवाहके वशसे उत्तरोत्तर क्रमशः शान्त हो जाता है । फिर अनात्माकार-वृत्तियोंका सर्वथा तिरस्कार होजानेपर कुछ भी अन्य प्रयोजन न रहने के कारण वह आत्माकार-वृत्ति भी स्वयं शान्त हो जाती है । अर्थात् आत्माकार—वृत्तियों का यही प्रयोजन था कि—वे अनात्माकार-वृत्तियोंका सर्वथा अभिभव करें, ऐसा प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उनका अन्य कुछ भी प्रयोजन-अवशिष्ट नहीं रहता । वही यह निर्वि-

अनया चासदनात्मवृत्तिजाले निःशेषीकृते सति मेघाच्छादनापगमे सूर्यप्रकाश इव स्वत एव भगवदात्मप्रकाशो भवति, न तु वृत्तिमपेक्षते । तथा चाहानन्द-कन्दो भगवानपि स्वयं गीतासु—'यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया । यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥' (गी० ६।२०) इति । अयमर्थः—यत्रेति सति सप्तमी, यत्र=यस्मिन् अखण्डभगवदाकारान्तःकरण-परिणामे योगसेवया=भगवदेकचिन्तनरूपयोगाभ्यासपाटवेन जाते सति, चित्तं निरुद्धं सत् उपरमते=निरिन्धिनाग्निवत्, तप्तशिलोपरिक्षिप्तजलवच्च, उपशाम्यति, निर्वृत्तिकतया सत्त्ववृत्तिनिरोधरूपेण परिणतं भवतीति यावत् । यत्र च=यस्मिंश्च परिणामे सति, आत्मना=रजस्तमोऽनभिभूतशुद्धसत्त्वमात्र रूपेणान्तःकरणेन, आत्मानं=प्रत्यक् चैतन्यमखण्डानन्दघनं भगवन्तं, पश्यन्= उपलभमानः, तत्रैवात्मनि तुष्यति, सः तादृशान्तःकरणपरिणाम एव योगश्च ज्ञानश्च वेदितव्यं । तस्य लाभः श्रवणादिनैवोपायेन सिद्ध्यति ।

निरन्तर—भगवत्स्मरणाभ्यास एव भगवत्प्राप्तौ सुलभो हेतुरित्यपि

कल्प-दशाही योगशास्त्रमें 'प्रशान्तवाहिता' नामसे व्यवहृत होती है । इस प्रशान्त-वाहिता के द्वारा—समस्त—मिथ्या-अनात्माकार-वृत्तियोंके जाल का विनाश होजानेपर—जैसे आच्छादक, बादलोंके हटजाने पर सूर्यका प्रकाश स्वतः ही फैल जाता है, वैसे ही स्वतः भगवद्रूप-आत्माका प्रकाश अनुभूत हो जाता है । इस अनुभवके लिए आत्माकारवृत्ति की भी अपेक्षा नहीं रहती । तथा च आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी गीतामें स्वयं कहते हैं कि—'जिस समाधि—अवस्थामें योगाभ्यास द्वारा चित्तकी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, और चित्त स्वतः ही उपरत-प्रशान्त हो जाता है, और जिस अवस्थामें परिशुद्ध-बुद्धिके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करता हुआ—आत्मामें ही संतुष्ट होजाता है ।' यह अर्थ है—'यत्र' यह सति सप्तमी है । योगके सेवनसे यानी भगवानूका ही एकमात्र-अनन्य चिन्तनरूप-योगाभ्यास की निपुणतासे—अन्तःकरणका अखण्ड-भगवदाकाररूपसे परिणाम होजाने पर 'इन्धन विनाकी अग्निके समान' या 'संतप्तशिलापर डाले हुए-जलके समान' सर्वथा निरुद्ध हुआ चित्त उपशमको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् अन्य वृत्तियोंके न होनेपर वह चित्त, सत्त्ववृत्तिके भी निरोध रूपसे परिणत हो जाता है, ऐसा तात्पर्य है । और चित्तका ऐसा निरोधरूप परिणाम हो जाने पर आत्मासे यानी रजोगुण एवं तमोगुणसे अनभिभूत हुए-विशुद्ध-एकाग्र-सत्त्वगुण वाले-अन्तःकरणसे आत्मा का यानी प्रत्यक्-चैतन्यरूप-अखण्ड-आनन्दघन-भगवान् का अपरोक्ष अनुभव करता हुआ उस आत्मामें ही संतुष्ट हो जाता है । उस प्रकारका प्रशान्त-निरोधरूप अन्तःकरणका परिणाम ही योग है, और वही ज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए । श्रवण आदि—उपायोंके द्वारा ही उसका लाभ होना है ।

भगवान् पार्थाय गीतासु समुपदिशति—'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ! नित्ययुक्तस्य योगिनः॥' (गी० ८।१४) यः कोऽपि सततं मां सर्वात्मानं भगवन्तं स्मरति, तस्याहं सुलभ इति प्रथमः सम्बन्धः। स्ववशतया परवशतया वा देहं त्यजत इति तच्छब्दार्थः। तथा च संततमदनुचिन्तनमेव मत्प्राप्तिहेतुः। मूर्धन्यया स्वेच्छया वा प्राणोत्क्रमणं भवतु, न तत्राभिनिवेश इति भावः। तस्य सुलभ इत्यत्र सम्बन्धसामान्य विवक्षया षष्ठी। ननु—चक्षुरादिभिस्तत्तद्विषयग्रहणकाले तत्तदनुचिन्तनस्यैव प्राप्ते कथं संततं त्वदनुचिन्तनं घटेत? तत्राह—अनन्यचेता इति। अन्यविषयकचेतोरहितः, चेतसो मदेकनिष्ठत्वमेव सन्ततमदनुचिन्तनम्। तच्च बाह्येन्द्रियाणां तत्तद्विषयान्तरसम्बन्धेऽपि न क्षतमिति न तद्दौर्घट्यमित्यर्थः। एतादृशं सन्ततचिन्तनं, नैकवर्षं वा षण्मासं वा, किन्तु यावज्जीवमित्याह—नित्यश इति। प्रत्यहं यो मां स्मरति = चिन्तयति, तस्य नित्ययुक्तस्य मद्विषयकप्रेम भरितत्वेन क्षणमात्रमपि मदनुचिन्तनं विनाऽऽत्मधारणमलभमानस्य योगिनः,

भगवत्स्मरणका निरन्तर-अभ्यास ही भगवत्प्राप्तिका सुलभ-साधन है, वह भी उपदेश, गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुन के प्रति करते हैं कि—'हे अर्जुन! जो मानव अनन्यचित्तसे मुझ परमात्मामें स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मेरा स्मरण-ध्यान करता रहता है, उस निरन्तर मेरे में संयुक्त हुए—योगीके लिए मैं सुलभ हूँ, अनायास ही सहजमें प्राप्त हो जाता हूँ।' (गी०) अर्थ—जो भी कोई सर्वात्मा-मुझ भगवान् का सतत स्मरण करता है, उसे मैं सुलभ हूँ। ऐसा प्रथमान्वय है। 'तस्य का' अर्थ है—स्ववशता (स्वेच्छा) से या परवशतासे देह छोड़ता है, उन दोनोंके लिए भी मैं सुलभ हूँ। तथा च निरन्तर मेरा अनुचिन्तन ही मेरी प्राप्तिमें कारण है। मूर्धन्या-सुषुम्नानाडी से या स्वेच्छा से अन्यनाडियोंके द्वारा या अन्य चक्षुरादि-स्थानोंके द्वारा भी उसके प्राण निकलें, इसमें कोई अभिनिवेश नहीं है, यह भाव है। 'तस्य सुलभः' इसमें सामान्य-सम्बन्धकी विवक्षासे षष्ठीविभक्ति है।

शंका—चक्षुरादि-इन्द्रियोंके द्वारा तत्तद्विषयों के ग्रहण (अनुभव) के समय उस-उस विषय का ही चिन्तन प्राप्त होजाने पर निरन्तर आप-भगवान् का ही अनुचिन्तन कैसे हो सकता है?।

समाधान—अनन्यचेता = अन्यविषयके चिन्तनसे रहित हुआ चित्त। उस चित्त को सर्वदा- सर्वानुगत-आनन्दनिधि-मुझ भगवान्में ही निष्ठा संपन्न बनानेका नाम ही सतत मदनुचिन्तन है। ऐसा मदनुचिन्तन-बाह्येन्द्रियोंका उस उस अन्य विषयोंके साथ सम्बन्ध हो जाने पर भी दुर्घट नहीं है। अर्थात्-उस-उस अन्यविषयोंमें भी एकमात्र-भगवान् की सत्ता का, चैतन्य-स्फूर्तिका एवं आनन्दमयी प्रियता का अनुभव करने

अहं सुप्रापः, तद्वियोगमसहमानोऽहमेव तं वृणे 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।' (मुं० उ० ३।२।३) इति श्रुतेः। पार्थेति सम्बोधयन् तवाहमतिसुलभो मा भैषीरिति सूचयति । यस्मादेवं तस्मात्त्वं हे अर्जुन ! सर्वेष्वपि कालेषु मदनुचिन्तनपरो भवेत्याह—'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च । मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥' (गी० ८।७) अनुस्मरेति—निरन्तरमदनुचिन्तनवासनैवान्त्यकालविवशस्यापि स्मरणकारणमित्यर्थः । न चैवं भगवदनुचिन्तनैकव्याप्रुतोऽहमिति स्वधर्मं त्यक्तुमर्हसि, स्वधर्मानुष्ठानपरिनिष्ठितस्यैव निरन्तरमदनुस्मरणलाभादित्यभिप्रेत्याह—युध्य च । युध्यस्व चेत्यर्थः, चकारोऽनुस्मरणसमुच्चयार्थः । मदनुस्मरण—सहितमेव स्वधर्मानुष्ठानाख्यं युद्धादि कर्म कुर्वित्यर्थः । एतदेवाह—मयीति—मयि=परमेश्वरे श्रीहरौ अर्पिते मनो-

से भगवदनुचिन्तनमें बाधा नहीं पड़ती । उसकी अन्दर की एवं बाहरकी दृष्टिमें मैं भगवान् ही निरन्तर अनुभूत होता रहता हूँ । ऐसा सतत-अनुचिम्तन, छ मासके लिए या एक वर्षके लिए नहीं है, किन्तु समग्र जीवन पर्यन्त ही करना चाहिये, इसलिये कहते हैं कि–नित्यशः यानी सर्वदा । जो प्रतिदिन मेरा अनुचिन्तन करता है, यानी वह नित्ययुक्त-ज्ञानयोगी मुझमें अनन्य-प्रेम होनेके कारण एक क्षण भी मेरा अनुचिन्तन विना जीवन धारण नहीं कर सकता, उसके लिए मैं सुलभ हूँ । उस प्रेमी भक्त का वियोग मुझ सर्वेश्वर भगवान्से भी सहन नहीं होता, इसलिए मैं और मेरा भक्त परस्पर सदा संयुक्त ही बने रहते हैं । अतः मैं भी स्वयं उसका वरण करता हूँ । श्रुति भगवती भी कहती है-कि–'जो मुझे अनन्य-प्रेमसे चाहता है, मेरा सतत स्मरण करता रहता है, उसे मैं अन्दर-बाहर सर्वत्र सहजतः प्राप्त हो जाता हूँ ।' (श्रु०) 'पार्थ' ऐसा सम्बोधन करते हुए भगवान् अर्जुन के प्रति ऐसा सूचित करते हैं कि—तेरे लिए भी मैं सुलभ हूँ, दुर्लभ नहीं हूँ, इसलिये तू डर मत । अतः हे पार्थ ! सभी समयमें मेरा–अनुचिन्तन-परायण ही बना रह, ऐसा कहते हैं—'इसलिए सब समयमें तू मेरा अनुचिन्तन करता रह, और स्वधर्मरूप-युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझ परमात्मा में अर्पण किए हुए–मन–बुद्धिसे युक्त हुआ निःसंन्देह तू मेरेको ही प्राप्त होगा ।'(गी०) निरन्तर मेरे अनुचिन्तन से समुत्पन्न-दृढ़-प्रेममयी वासना ही अन्तकालमें विवश हुए-मनुष्यके लिए भी मेरे स्मरणमें कारण बनती है । भगवान्के ही एकमात्र अनुचिन्तन में मैं सतत लगा रहता हूँ, इसलिये कर्तव्यरूप-स्वधर्मका समय न होनेके कारण—कैसे पालन कर सकता हूँ, अतः उसका स्वतः ही त्याग हो जायगा, ऐसा समझकर तुझे स्वधर्मका भी त्याग करना योग्य नहीं है । क्योंकि—जो स्वधर्मके अनुष्ठान में दृढ निष्ठा रखता है, उसे ही निरन्तर भगवत्स्मरणका लाभ होता है, ऐसा अभिप्राय रखकर कहते हैं कि—युध्य च । अर्थात् शरीरादिके द्वारा तू युद्धकर, स्वधर्मका पालन कर,

बुद्धी संकल्पाध्यवसायरूपे येन स तथा । परमेश्वरप्रीत्यर्थमेवेदं कर्म करिष्य इति बुद्ध्या युध्यस्वेत्यर्थः । एवं कुर्वन्नन्तकाले मदनुस्मरणान्मामेव प्राप्स्यसि, नास्त्यत्र संशयः ।

अतो भगवद्विषयकश्रवणादितः परमन्यच्छ्रेयो नास्तीत्याह–एतावानेव जन्मनो लाभः=फलं, तमाह-नारायणस्मृतिरिति, सांख्यादिभिः—साधनैः साध्य इति । स्वातन्त्र्येण तेषां लाभत्वं वारयति—सांख्यं=आत्मानात्मविवेकः, योगः=चित्तवृत्तिनिरोधोऽष्टाङ्गो वा । अन्ते तु स्मृतिः परो लाभः, न तन्महिमा वक्तुं शक्य इत्यर्थः । आत्मानात्मविवेकोऽपि यत्र तत्र श्रीमद्भागवतेऽपि बाहुल्येन प्रदर्शितः—तथाहि—'क देहो भौतिकोऽनात्मा, क चात्मा प्रकृतेः परः ।' (भा० ८।१६।१६) 'देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र !' ।' (भा० ११।३।३५) 'नात्मा जजान न मरिष्यति

और मन बुद्धिके द्वारा तू सतत मेरा चिन्तन किया कर । इसलिये 'युध्य च' में चकार अनुस्मरणके समुच्चयके लिये है । अर्थात् मेरा अनुस्मरण सहित ही तू स्वधर्मानुष्ठान नामवाला युद्धादि कर्म कर, इसप्रकार युद्धके साथ भी मदनुस्मरण कर सकता है, मदनुस्मरण के साथ युद्ध का कोई विरोध नहीं है । यही बात भगवान् कहते हैं— मुझ परमेश्वर श्रीहरिमें संकल्परूपी मनको एवं निश्चयरूपी-बुद्धिको समर्पित करके, अर्थात् बुद्धिके द्वारा भगवत्तत्त्वका दृढ निश्चय करके एवं मनके द्वारा भगवत्तत्त्वकी ध्रुवा स्मृति प्राप्त करके—मैं-परमेश्वर-प्रीत्यर्थ ही यह युद्धादि कर्म कर रहा हूँ, ऐसी बुद्धिके द्वारा ही तू युद्ध कर । ऐसा करता हुआ ही तू अन्तकालमें मदनुस्मरण से ही मुझको प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।

अतः श्रीभगवान्‌की श्रवण आदि भक्तिसे अतिरिक्त और कोई कल्याण का साधन नहीं है, ऐसा कहते हैं—इतना ही जीवनका लाभ यानी फल है, जो नारायण भगवान्‌की ध्रुवास्मृति है–वही सांख्य योग आदि साधनोंसे साध्य है-निष्पाद्य है । अतः सांख्यादि साधनोंमें स्वतन्त्रता से (मुख्य-रूपसे) लाभत्व नहीं है, किन्तु नारायणकी ध्रुवास्मृतिके उत्पादक होनेके कारण उनमें गौण-लाभत्व मानकर-मुख्यलाभत्वका निवारण करते हैं । सांख्य है—आत्मा एवं अनात्माका विवेक, एवं योग है–चित्तवृत्तियोंका निरोध, अथवा–यमनियमादिरूप–अष्टांग-योग । इन दोनोंसे साध्य है-अन्तकालीन नारायणकी स्मृति, यही महान् लाभ है, उसकी महिमा कहने के लिए शक्य नहीं है । आत्मा एवं अनात्माका विवेकभी श्रीमद्भागवतमें जहाँ तहाँ बहुलता से दिखलाया गया है–जैसे–'अनात्मा-भौतिक यह तुच्छ शरीर कहाँ ?, और प्रकृतिसे पर यह महान् आत्मा कहाँ ? ।' जिस आत्माकी सत्तासे देह, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण, सत्तावान्-जीवित हुए अपने अपने-कार्य करते रहते हैं, उसी परम-सत्य-चिन्मात्र

नैधतेऽसौ न क्षीयते सवनविद् व्यभिचारिणां हि।' (भा० ११।३।३८) 'आत्माऽव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः। अग्निवद् दारुवदचिद् देहः।' (भा० ११।२८।११) 'भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान्' (भा० ११।२२।२०) इत्यादि। भौतिकस्य देहस्य, भूतकारणीभूतायाः प्रकृतेरपि परस्य चात्मनो महद्वैलक्षण्यं दर्शयति—क इत्यादिना। अनेन चानात्मनो देहस्याद्यन्तवत्त्वं मिथ्यात्वं जडत्वं दुःखमयत्वञ्च, तद्वैपरीत्येनात्मनोऽनाद्यन्तवत्त्वं सत्त्वं चित्त्वमानन्दघनत्वञ्चार्थात् सूच्यते। येन = आत्मना चैतन्येन, देहादीनि जडानि सं = सम्यक् जीवितानि = चैतन्यवत्तया प्रतीयमानानि सन्ति, चरन्ति प्रवर्तन्ते तत् प्रवर्त्यमानेभ्यो भास्येभ्यस्तेभ्यः परमेव प्रवर्तकं भासकं तत्त्वं परमात्माख्यमेकमेव, अवेहि = जानीहि, असौ आत्मा-ब्रह्म, न जजान = न जातो देहवत्। न च मरिष्यति, न चैधते, नापि क्षीयते, देहस्तु जायते, म्रियते, एधते-क्षीयते चेति प्रत्यक्षं। हि = यस्माद् व्यभिचारिणां = आगमापायिनां बालयुवादिस्वप्नजागराद्यवस्थावतां देहादीनां सवनवित् = तत्तत्कालसाक्षी आत्मा,

तत्त्व को ही आप हे नरेन्द्र ! नारायण समझिये।' (भा०) 'यह ब्रह्मस्वरूप आत्मा न तो जन्मता है, न मरता है, तथा न तो बढता ही है, न घटता ही है, जितने भी परिवर्तन-शील व्यभिचारी पदार्थ हैं, उनकी सभी वर्तमान-अतीतादि-दशाओंका वह साक्षी हैं।' (भा०) 'आत्मा अविनाशी, निर्गुण, शुद्ध, स्वयंज्योति, और आवरण से रहित है, आत्मा अग्निके समान प्रकाश स्वरूप है, और शरीर तो काष्ठके समान अचेतन है।' (भा०) 'भूत पांच हैं, और उनका भासक-प्रेरक-पुरुष-चिदात्मा उनसे पर छट्टा है।' (भा०) अर्थ—भौतिक शरीर की और भूतोंकी कारणरूप—प्रकृतिसे भी पर आत्माकी महान् विलक्षणता दिखलाते हैं।—क इत्यादिसे। इस कथनसे अनात्मा—देहमें-आदि अन्तवत्त्व, मिथ्यात्व, जड़त्व, और दुःखमयत्व है, और आत्मामें—उन धर्मोंसे विपरीत आदि-अन्तशून्यत्व, सद्रूपत्व, चिद्रूपत्व, और आनन्दघनत्व है, ऐसा सूचित होता है। जिस चैतन्यरूप आत्मासे जड शरीरादि जीवित हुए, चैतन्यवानूकी भांति प्रतीत होते हैं, और अपने अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते रहते हैं। प्रवर्त्यमान और प्रकाश्यमान इन देहादियोंसे उनका प्रवर्तक और प्रकाशक चैतन्य तत्त्व, उनसे पर है-विलक्षण है, एवं वह एक ही है, और वही परमात्माके नाम से कहा जाता है, ऐसा जानो। वह आत्मा ब्रह्म, देहके समान न तो जन्मता है, एवं न मरेगा ही, न तो बढ़ता है, न घटता ही है। देह तो जन्मता है, मरता है, बढता है, और घटता है, यह सबके प्रत्यक्ष है। व्यभिचारी यानी आगमापायी-परिवर्तनशील, बाल्य यौवन स्वप्न जागरण आदि अवस्था वाले—देहेन्द्रियोंके उस उस अतीत-वर्तमान आदि समयोंका वह आत्मा द्रष्टा है। अतः उन अवस्थावालोंका साक्षी आत्मा, उनकी अवस्थाओंवाला नहीं हो सकता। इस कथनसे वेद्य (ज्ञानके विषय)

नह्यवस्थावतां साक्षी तदवस्थो भवति, अनेन वेद्येभ्यस्तद्धर्मेभ्यश्च तद्वेदिताऽऽत्मा भिन्न एव तद्धर्मरहित एव चेति विवेकः प्रदर्श्यते । आत्माऽग्निवत् स्वयंज्योतिः, तथा देहस्तु दारुवत् अचित् = जडः । यथाऽग्निदारुणोर्भेदेनानुपलम्भेऽपि दारु प्रकाश्यं, अग्निः प्रकाशक एवेति विवेकः संपाद्यते, तथा देहात्मनोरपि विवेकः सम्पादनीयः ।

एवं सांख्यवत् ससाधनो योगाभ्यासोऽपि श्रीमद्भागवते प्रदर्शितः— 'छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम् । गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः । शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत्कल्पितासने ॥' (भा० २।१।१५ + १६) तत्र तावद्वैराग्यं योगसाफल्यबीजमाह—असंगः = 'नाहं कस्यचित् न मे किञ्चित्' 'नाहं देहो न मे देहः' इत्येवं संगविच्छेदात्मको देहाद्यनासक्तिलक्षणः तेन शस्त्रेण स्पृहां = विषयसुखेच्छां, छिन्द्यात् । तं देहं, अनु—अनुसृता ये पुत्रकलत्रादयस्तेष्वपि स्पृहां—ममताप्रयोजिकामपि । किञ्च गृहे स्थितस्य पुनरप्यासक्तिसंभवात् गृहात् प्रव्रजितः = निर्गतः, गृहासक्तिं परि-

दृश्य-देहादि पदार्थोंसे और उनके धर्मोंसे उनका वेत्ता-ज्ञाता आत्मा भिन्न है, और उनके धर्मोंसे रहित है, ऐसा विवेक यहाँ दिखलाया गया । आत्मा अग्निके समान स्वयंज्योति रूप है, अर्थात् अन्य-प्रकाशकी अपेक्षा से रहित है, और यह देह काष्ठके समान जड है । जैसे काष्ठसे पृथक् रूपसे उपलब्ध न होनेपर भी अग्नि प्रकाशक है, और काष्ठ प्रकाश्य है, ऐसा विवेक संपादित किया जाता है, इस प्रकार देह और आत्माके विवेकका भी संपादन करना ही चाहिये ।

इस प्रकार सांख्य—ज्ञानके समान, साधन सहित-योगाभ्यासको भी श्रीमद्भागवत में प्रदर्शित किया है—'वह असंग-अनासक्तिरूप-शस्त्रसे देहकी अहंताको तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले पुत्र-कलत्रादिओंके प्रति—ममता को काट डाले । और धैर्यके साथ घरसे निकलकर पवित्र-तीर्थके जलमें स्नान करे, और पवित्र तथा एकान्त स्थानमें विधिपूर्वक आसन लगाकर बैठ जाय ।' (भा०) अर्थ—योगाभ्यास की सफलता में वैराग्य ही मूल कारण है, यह कहते हैं—असंग, अर्थात् 'मैं किसी का नहीं, और मेरा कोई नहीं' 'मैं शरीर नहीं, और शरीर मेरा नहीं' ऐसा असंगभाव ही अहंममरूपसंग का विच्छेदक है—तथा जो अनासक्तिरूप है—उस असंग-शस्त्रसे विषयसुख की इच्छारूप-स्पृहाका छेदन करे । और जो इस देहके अनुसरण करनेवाले—स्त्री पुत्रादि-सम्बन्धी हैं, उनमें जो ममता की प्रयोजिका-स्पृहा है—उसका भी छेदन करे । और घरमें रहनेपर फिर भी कभी आसक्तिका संभव हो सकता है, अतः वह साधक अपने घरसे प्रव्रजित = निकल जाय, यानी गृहासक्तिका परित्यागकर वीतराग लक्षणवाला-परमहंस परिव्राजकरूप—चतुर्थाश्रमको स्वीकार करे । फिर क्या करना चाहिये ?

त्यज्य परमहंसपारिव्राज्यं वैरक्त्यलक्षणं प्रतिपन्नः, तत्राष्टाङ्गयोगमाह-धीरः= अविकृतप्रज्ञः संयमी, इदं ब्रह्मचर्यादियमोपलक्षणम्। पुण्यतीर्थेति स्नानादि-नियमोपलक्षणम्। आसनमाह-शुचौ=पवित्रे, विविक्ते=एकान्ते, विधिवत्-कुशाजिनचैलैः कल्पिते=क्रमेण निर्मिते आसने स्थित्वेति शेषः। किं कुर्यादित्यपेक्षायामाह—'अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परं। मनो यच्छेज्जित-श्वासो ब्रह्म-बीजमविस्मरन्॥' (भा० २।१।१७) जपगर्भं प्राणायामं वक्तुं जप्यमन्त्रमाह—त्रिवृद्=त्रिभिः—अकारादिभिः वर्तितं-संग्रथितं, ब्रह्माक्षरं= प्रणवं—ॐकारं, परं शुद्धं=परस्य शुद्धस्य ब्रह्मणो वाचकत्वात् प्रतीकत्वाच्च तदपि तादृशं। मनसा—एकाग्रेण श्रद्धालुना अभ्यसेत्=आवर्तयेत्। मनसे-न्द्रियप्रत्याहारं वक्तुं प्राणायामेन मनोनियमनमाह-मनो यच्छेत्=वशीकुर्यात्। ब्रह्मबीजं=ब्रह्मणो वेदस्य बीजं—कारणं, 'ॐकारप्रभवा वेदाः' इत्युक्तेः। वेदगर्भं प्रणवं—अविस्मरन्नेव जितश्वासः सन्। प्रत्याहारमाह—'नियच्छे-द्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथिः। मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया॥' (भा० २।१।१८) अक्षान्=इन्द्रियाणि, विषयेभ्यः=शब्दादिभ्यः, मनसा

तब अष्टांग-योगके अनुष्ठानके लिये कहते हैं कि-धीरयानी विकाररहित-प्रज्ञावाला संयमी बने, यह धीरपद ब्रह्मचर्यादि-अन्य यमोंका भी उपलक्षक-बोधक है। एवं 'पुण्यतीर्थ' यह पद शौचस्नानादि-नियमोंका भी उपलक्षक है। अब आसनका उपदेश करते हैं—शुचि=पवित्र, विविक्त=एकान्त स्थलमें प्रथम कुशासन, पश्चात् मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्रासन क्रमशः बिछाकर विधिपूर्वक उस आसन पर बैठे। फिर क्या करे? कहते हैं—'उस परम पवित्र ब्रह्माक्षररूपप्रणव-ॐकारका—जो तीनमात्राओंसे युक्त है, एकाग्रमनसे जप करे, और प्राणवायुको वशमें करके मनका नियमन करे, और वेद-कारणरूप-प्रणवमन्त्रका एकक्षणके लिये भी विस्मरण न होने देवे।' (भा०) अर्थ— अब जपसंयुक्त-प्राणायाम करने के लिए जप करने योग्य मन्त्रको बतलाते हैं—त्रिवृत्= अ, उ, म्, इन तीनों मात्राओंसे संग्रथित, ब्रह्माक्षर=प्रणव यानी ॐकार, जो पर यानी शुद्ध है, जो शुद्ध-परब्रह्मका वाचक एवं प्रतीक (प्रतीमा जैसा) होनेके कारण, वह प्रणव भी शुद्ध-ब्रह्मरूप है। उसका श्रद्धायुक्त-एकाग्रचित्तसे अभ्यास करे—आवृत्ति करे। मनसे इन्द्रियोंका प्रत्याहार बतलानेके लिए प्रथम प्राणायामसे मनका नियमन बतलाते हैं—मनको वश करे। श्रुति कहती है—'ॐ कारसे वेद प्रकट हुए हैं।' अतः वेद-बीज प्रणवका विस्मरण न करता हुआ प्राणायाम करे, श्वासका विजय करे। अब प्रत्याहार बतलाते हैं—'बुद्धिरूपी-सारथी से युक्त हुआ—साधक, मनके द्वारा शब्दादिविषयोंसे इन्द्रियोंका नियमन करे। और कर्मकी वासनाओंसे चंचल हुए—मनको विचारके द्वारा रोककर भगवान्‌के मंगलमयरूपमें लगाये।' (भा०) अर्थ—अक्ष यानी इन्द्रिय। विवेक

नियच्छेत्=निगृह्णीयात् । विवेकविचारवती निश्चयात्मिका बुद्धिः सारथिर्यस्य सः । धारणामाह—मन इति । पुनश्च कर्मभिः तद्वासनाभिराक्षिप्तं=आकृष्टं प्राचीनकर्मवासनानामतिप्राबल्यात्प्राणायामैरपि सम्यङ् निश्चलीकर्तुमशक्यं, मनः, शुभार्थे=भगवद्रूपे—निरुपमातिवेलसौन्दर्य-लावण्यसौकुमार्य-माधुर्य-निधौ दिव्यसाकारविग्रहे, धिया=आस्तिकया प्रेमभरितया बुद्ध्या धारयेत्=तादृशभगवद्रूपस्य धारणां कुर्यात्, तया मनो निश्चलीकर्त्तुं शक्यं भवतीति भावः । संप्रति ध्यानं समाधिं चाह—'तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा । मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत् ॥ पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ॥' (भा० २।१।१९) इति । तत्र=भगवद्रूपे, एकं—एकं, तन्त्रोच्चरिता वीप्सेयं, पादाद्यवयवं, अव्युच्छिन्नेन=समग्ररूपादवियुक्तेन चेतसा, ध्यायेत्=ध्यानं कुर्यात् । आश्रयविशेषेण सामान्यतश्चित्त-स्थिरीकरणं धारणा, अवयवविभावनया तद्दाढ्र्यं ध्यानमिति विवेकः । ध्यानसिद्ध्या समाधिलाभमाह-निर्विषयं=विषयसंकल्परहितं, मनः, युक्त्वा=भगवद्रूपे संयोज्य—स्थिरीभूते मनसि स्फुरत्परमानन्दमात्राकारं कृत्वेत्यर्थः,

विचारवाली निश्चय-शीला बुद्धि ही सारथी है । अब धारणा का उपदेश देते हैं—शुभाशुभकर्म और उनकी प्रबल वासनाओंसे वारंवार आकृष्ट होने वाले मनको—जो जन्म-जन्मान्तरों की वासनाओंकी अतिप्रबलताके कारण प्राणायामोंसे भी अच्छी तरह स्थिर करनेके लिए अशक्य है—भगवान्के दिव्य-साकारविग्रहमें—जो निरुपम-निःसीम-सौन्दर्य, लावण्य, सौकुमार्य एवं माधुर्यकी निधि है—अनन्यप्रेमसे भरपूर-आस्तिक-निश्चल-बुद्धिके द्वारा-लगाये, अर्थात् ऐसी बुद्धिके द्वारा वैसे साकार-भगवान्के स्वरूपकी धारणा करे । धारणाके द्वारा मनको निश्चल करना शक्य है, ऐसा भाव है । अब ध्यानका और समाधिका उपदेश करते हैं—'स्थिर-अविच्छिन्न-चित्तसे भगवद्विग्रहके एक-एक अंग का यथाविधि क्रमशः ध्यान करे, और विषय-वासनासे रहित हुए मनको पूर्णरूपसे भगवान् में तल्लीन करे, फिर किसी बाह्यविषयका चिन्तन ही न करे, यही भगवान् विष्णुका परमपद है, जिसे प्राप्त करके यह मन, भगवान्के परमप्रेममय-शाश्वत आनन्दसे लबालब भर जाता है ।' (भा०) अर्थ—तत्र यानी भगवान्के विग्रहमें । एक-पदमें तन्त्रसे उच्चरिता-वीप्सा है, अर्थात् यहाँ 'एक एक' ऐसा दोवारका उच्चारण समझना चाहिये । पादसे प्रारम्भ करके केशपर्यन्तके क्रमशः एक-एक अवयवका स्थिर-चित्तसे अर्थात् भगवान्के समग्ररूपसे अवियुक्त-चित्तके द्वारा—ध्यान करे । यहाँ इष्ट-आश्रयमें मनको सामान्यरूपसे स्थिर करना धारणा है, और अंग-उपांगोंकी भावना द्वारा उस धारणाको दृढ करना ध्यान है, ऐसा विवेक समझना चाहिये । ध्यानकी सिद्धिके द्वारा समाधिलाभका वर्णन करते हैं—विषयोंके संकल्पोंसे रहित किया हुआ मन

किञ्चन = कमपि न चिन्तयेत् । प्रसीदति = यदा सर्वतः उपशाम्यति, तदा परमानन्दैकताननतामनुभवति । परमानन्दमनुभूय निजचाञ्चल्यं त्यक्त्वा मनः सर्वत उपशाम्यतीति अन्योऽन्यप्रयोज्यप्रयोजकतेति यावत् । यन्मनसः परमानन्दाकारता तदेव भगवतो विष्णोः परमं पदं समाधिलक्षणमिति भावः ।

स्वधर्मपरिनिष्ठया = स्वस्ववर्णाश्रमादिधर्माणां सामान्यविशेषनित्य-नैमित्तिकप्रायश्चित्तादीनां परिनिष्ठया = श्रद्धापूर्वकेणानुष्ठानेनेत्यर्थः । ते च धर्माः श्रीमद्भागवते सप्तमे एकादशाध्याये—'वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतं ।' (भा० ६।११।५) इत्यादिना निरूपिताः । 'सत्यं दया तपः शौचं' (भा० ७।११।८) इत्यारभ्य सामान्यधर्माः सर्वेषां मानवानां कल्याणाय समुदाहृताः । एवं 'शमो दमस्तपः (भा० ७।११।२१) इत्यादिना ब्राह्मणादीनां कृते विशेषधर्मा अपि प्रतिपादिताः । अतस्तत्रैव समालोचनीयाः । तथा च सांख्ययोगाभ्यां साधनाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठालक्षणेन साधनेन श्रवणादिना च स्वान्तस्य नैर्मल्यमैकाग्र्यञ्च निष्पद्यते, तस्मिन् सति नारायणस्य = नराज्जातानि

निर्विषय है, उसका भगवान्‌के स्वरूपमें संयोजन करके अर्थात्-स्थिर मनमें-प्रकाशित-एकमात्र परमानन्दाकार मनको बना करके अन्य किसीका भी चिन्तन न करे । जब मन सर्वथा उपशान्त हो जाता है, तब वह केवल-परमानन्दकी एकतानताका अनुभव करता है, अर्थात् परमानन्दका अनुभव करके और अपनी चंचलताका परित्यागकरके मन सर्वथा उपशान्त होजाता है, इस प्रकार परमानन्दानुभवका एवं उपशमका परस्पर प्रयोज्य-प्रयोजकभाव है । यानी परमानन्दानुभव से उपशम, एवं उपशमसे परमानन्दानुभव होता है । मन की जो परमानन्दाकारता है, वही भगवान् श्रीविष्णुका परम पद है, और यही समाधि है—ऐसा भावहै ।

स्वधर्मोंके यानी अपने अपने वर्ण और आश्रमोंके सामान्य, विशेष, नित्य, नैमित्तिक, एवं प्रायश्चित आदि धर्मोंके श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करनेसे । जो धर्म—श्रीमद्-भागवत के सप्तम-स्कन्धके एकादशाध्यायमें—'उस सनातन-धर्मको मैं कहता हूँ, जिसे मैंने भगवान् नारायणके श्रीमुखसे सुना है ।' (भा०) इत्यादि—वचनोंसे निरूपित हैं । 'सत्य, दया, तप, शौच' यहाँ से आरम्भकरके समस्त-मनुष्योंके कल्याणके लिए—ये सामान्यधर्म बतलाये हैं । इसप्रकार 'शम, दम, तप, इत्यादि यहाँसे आरम्भ करके ब्राह्मण आदिके लिए विशेष धर्म बतलाये हैं । अतः उन धर्मोंकी वहाँ ही समालोचना करनी चाहिये । इसप्रकार पूर्वोक्त-विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि—सांख्य एवं योग साधनसे, स्वधर्मोंके अनुष्ठानरूप-साधनसे, तथा श्रवण-कीर्तनादिरूप साधनसे अन्तः-करण निर्मल एवं एकाग्र होजाने पर नारायणकी अविचल—-स्मृति होती है । नरसे-परमेश्वरसे जो आकाशादि भूत तथा तत्सृष्ट देहादि-भौतिक पदार्थ-उत्पन्न हुए हैं, इस

तत्त्वानि नाराणि—आकाशादीनि भूतभौतिकानि तेषु अयनं-स्थानं यस्य सः 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।' (तै० उ० २।६) इति श्रुतेः, सर्वात्मा विश्वाधिष्ठानोऽद्वयानन्दनिधिर्भगवान् नारायणः, तस्य सकलानिष्टनिवारिका निखिलेष्ट संपादिका च ध्रुवास्मृतिः, संपद्यते । अतएव समाम्नातं छांदोग्योपनिषद्यपि— 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।' (छां० ७।२६।२) इति । अस्य चायमर्थः—आह्रियत इत्याहारः— शब्दादिविषयविज्ञानं, भोक्तुर्भोगायाऽऽह्रियते, तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य सांख्यादिना साधनेन शुद्धिः = आहारशुद्धिः, रागद्वेषमोहादिदोषैरसंसृष्टं विषयविज्ञानं संपादनीयमिति यावत् । तस्यामाहारशुद्धौ सत्यां तद्वतोऽन्तःकरणस्य सत्त्वस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं भवति । सत्त्वशुद्धौ च सत्यां यथाऽवगते भूम्नि ब्रह्मणि सर्वात्मनि सत्याद्वयानन्दनिधौ ध्रुवा-अविच्छिन्ना स्मृतिः = अविस्मृतिः भवति । तस्यां च लब्धायां स्मृतिलम्भे सति सर्वेषामविद्याकृतानर्थपाशरूपाणामनेकजन्मान्तरानुभवभावनया कठिनीकृतानां हृदयाश्रयाणां

लिये ये 'नार' कहलाते हैं, उनमें प्रविष्ट होकर जो रहता है—उनमें अयन-स्थान है, जिसका-वह नारायण कहा जाता है । श्रुति भी कहती है कि—'इस विश्वका सर्जन करके वही स्रष्टा परमात्मा इसके अन्दर प्रविष्ट हुआ है ।' अतः सर्वात्मा, सर्वाधिष्ठान, अद्वय, आनन्दनिधि भगवान् ही श्रीनारायण है । उसकी ध्रुवास्मृति ही सकल अनिष्टोंको दूर करने वाली और समस्त अभीष्टों को देने वाली है ।

इसलिए छांदोग्योपनिषत् में भी कहा है कि—आहारकी शुद्धि होनेपर सत्त्व यानी अन्तःकरण की शुद्धि होती है, और अन्तःकरणकी शुद्धि होने पर तत्त्वविषयिणी ध्रुवा-स्मृति प्राप्त होती है, और ध्रुवास्मृतिका लाभ होनेपर सब ग्रन्थियाँ (गांठें) खुल जाती हैं—टूट जाती हैं । (उ०) इसका यह अर्थ है—आहरण—ग्रहण किया जाता है, वह आहार है—ऐसा आहार है—इन्द्रियोंका—शब्दादि-विषयोंका ज्ञान, जो भोक्ता जीवात्माके द्वारा-अपनेभोगके लिए इन्द्रियोंसे ग्रहण किया जाता है । विषयोंकी उपलब्धिरूप उस विज्ञानकी सांख्य आदि—साधनों के द्वारा जो दोष-राहित्यरूपा शुद्धि होती है । वही है—आहारकी शुद्धि । अर्थात् राग-द्वेष, मोह आदि दोषोंके स्पर्श बिना विषयोंका निर्विकार ज्ञान संपादन करना चाहिये, ऐसा आहार-शुद्धिका भाव है । इस प्रकारकी आहारकी शुद्धि होजाने पर विषयविज्ञानवाला अन्तःकरण शुद्ध यानी निर्मल हो जाता है । अन्तःकरणके निर्मल होनेपर—शास्त्र एवं गुरुके द्वारा यथाऽवगत, सर्वात्मा, सत्य, अद्वय, आनन्दनिधि, भूमा—ब्रह्मकी अविच्छिन्ना-ध्रुवा स्मृति सिद्ध होती है । ध्रुवा-स्मृति का लाभ होनेपर अविद्या निमित-अनर्थपाशरूपा—जो जन्म-जन्मान्तरोंके अनेकविध-अनुभवोंकी वासनाओंके द्वारा—अतीव दृढी भूत हुई हैं—ऐसी जो हृदया-

ग्रन्थीनां चिज्जडतादात्म्याध्यासरूपाणां विप्रमोक्षः=विशेषेण प्रमोक्षणं विनाशो भवतीति। यत एतदुत्तरोत्तरं यथोक्तमाहारशुद्धिमूलं तस्मात्सा श्रवणादिभिर्यथोक्तैः साधनैः संपादनीयेत्यर्थः। तस्यामाहारशुद्धौ संपादितायां सत्यामन्ते नारायणस्य ध्रुवाः स्मृतिर्लभ्यते. यया पुंसां जन्मलाभः कृतकृत्यतालक्षणः, मोक्षलक्षणमभयपदञ्चाभीष्टं संपद्यत इति भावः।

◆ ◆ ◆

(८)

(एक एवात्मा, स एव सत्यानन्दनिधिर्भगवान्, तमेव भजेत, नान्यत्रानुरक्तिमनर्थबीजां बध्नीयात्)।

ऐहिकात् आमुष्मिकात् संसाराच्च पुमान् यावत् न विरज्येत, तावत् सरागस्य कृते भगवद्भजनं दुर्लभमेव मन्तव्यम्। अतो भगवद्भजनं चिकीर्षुणा प्रथमं तावत् यत्नतः संसाररागनिवारणमेव कर्तव्यम्। तस्य च साधनमस्ति

श्रित चेतन एवं जडकी तादात्म्याध्यासरूपा-ग्रन्थियाँ हैं—उनका विप्रमोक्षण = विनाश होजाता है। प्रथम आहारशुद्धि, पश्चात् सत्त्वशुद्धि, उसके बाद ध्रुवास्मृति, और अन्तमें समस्त-ग्रन्थियोंका विनाश, यह जो क्रम बतलाया है, इसमें आहार शुद्धि ही मूल-कारण है। इसलिए-श्रवण, कीर्तन आदि साधनोंके द्वारा वैसी आहार शुद्धि अवश्य ही संपादन करनी चाहिये। ऐसी आहार शुद्धि-संपादित होजाने पर अन्तकाल में भगवान्-नारायणकी अविच्छिन्ना-ध्रुवा स्मृति प्राप्त हो जाती है। जिससे मानवोंको अभीष्ट-अभयपदरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है, और जिसके प्राप्त होनेसे मनुष्य जन्म सफल हो जाता है, और मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, यह भाव है।

◆ ◆ ◆

(८)

(एक ही आत्मा है, वही सत्य, आनन्दनिधि, भगवान् है, अतः उसको ही भजो, अन्यमें अनुरागको मत बांधो, क्योंकि-इससे अनर्थों की प्राप्ति होती है।')

इहलोक एवं परलोकके संसारसे जब तक मनुष्यको वैराग्य न होजाय, तब तक रागी-संसारासक्त-मनुष्यके लिए—भगवद्भजन दुर्लभ ही है, सुलभ नहीं, ऐसा मानना चाहिये। इसलिये भगवद्भजन करनेकी इच्छा रखने वाले-मनुष्यको चाहिये कि—प्रथम वह विवेक-विचारादिरूप-प्रयत्नसे संसारकी अनुरक्ति का निवारण करे। उसका उपाय है—संसारमें वारंवार दोषदर्शन। इसलिये श्रीमद्भागवतमें भी जहाँ तहाँ संसार-दोष दर्शनका वर्णन, बहुत ही किया हुआ उपलब्ध होता है। जैसे—'यह संसार······नश्वर

पौनःपुन्येन संसारदोषदर्शनमेव । अत एव श्रीमद्भागवते यत्र तत्र बहुशस्त-द्वर्णनमुपलभ्यते । तथाहि-'यदिदं नश्वरं विद्धि मायामनोमयं॥ (भा० ११।७।७) अयमर्थः—यदिदं जागरे प्रतीयमानं स्थूलं जगदस्ति, तत्सर्वं माययाऽनिर्वाच्यया कल्पितत्वेन मायामयं, स्वप्ने च यदिदं सूक्ष्मं जगदस्ति तत्सर्वं मनसा कल्पितत्वेन मनोमयं। अत एवेदं निखिलं ऐहिकमामुष्मिकं नामरूपात्मकं जगद् मिथ्यैव विद्धि—जानीहि, न सत्यम् । तदपि न स्थिरं, अपितु नश्वरं—क्षणभंगुरं विद्धि । 'नैतद्वस्तुतया पश्येद् दृश्यमानं विनश्यति । असक्तचित्तो-विरमेद् इहामुत्रचिकीर्पितात् ॥' (भा० ११।१८।२६) एतत् दृश्यमानं=नामरूपाभ्यां प्रतीयमानं जगत्, वस्तुतया =पारमार्थिकसत्यतया न पश्येत, किन्तु मिथ्यैव पश्येत् । यतो विनश्यति । अत्र सुखदुःखप्रयोजकतया भक्षितं मिष्टान्नकदन्नादिकमपि तुल्यमलरूपेण जठरे परिणमते, भक्षणकालेऽपि क्षणिकमेव सुस्वादिकं जनयति, तदुत्तरक्षणेषु तदनुभूतसुखादिकमपि नश्यत्येव । एवं दृष्टमिष्टानिष्टरूपं, श्रुतो मधुरकटुशब्दोऽपि इत्येवमादिकं तत्तदिन्द्रियैरनुभूतं सर्वमपि विनश्यत्येव । अत इहामुत्र च लोके असक्तचित्तः सन् अर्थात् चित्ते

है, और मायामय एवं मनोमय होनेके कारण मिथ्या है—वास्तविक नहीं है ।' (भा०) इदं = जाग्रदवस्थामें प्रतीयमान-जो यह स्थूल-जगत् है, वह सब अनिर्वचनीय-मायासे कल्पित होनेके कारण मायामय है, तथा स्वप्न-अवस्थामें-प्रतीयमान जो सूक्ष्म-जगत् है, वह सब मनसे कल्पित होनेके कारण मनोमय है । इसलिये—इसलोकका एवं परलोकका संसार-जो—नामरूपात्मक-जगत् है, वह सब मिथ्या ही है, सत्य नहीं है, ऐसा जानो । वह भी स्थिर नहीं है, अपितु नश्वर-क्षणभंगुर है । 'विचारवान् संन्यासी इस दृश्यमान-जगत्को सत्यवस्तु-परमार्थ कभी न समझे, क्योंकि—यह तो प्रत्यक्ष ही नाशवान् है । इसलिये इस मिथ्या—संसारमें अपने चित्तको आसक्त न बनाये, और इस लोक एवं परलोकमें कुछ करने की एवं कुछ पाने की इच्छा से उपरत होजाय ।' (भा०) अर्थ—नामरूपों द्वारा प्रतीयमान इस जगत् को पारमार्थिक-सत्य रूपसे नहीं देखे, किन्तु मिथ्या-अदृष्ट-दृष्ट-विनिष्टरूप ही समझे । क्योंकि—यह देखते देखते ही नष्ट हो जाता है-गायब हो जाता है । इसमें सुखप्रद-मिष्टान्नका भोजन, तथा दुःखप्रद खराब-अन्नका भोजन, आदि भी खानेके बाद उदरमें मलरूपसे समान—एक जैसाही-परिणत हो जाता है । वह मिष्टान्न, खाते समय, एक क्षणका ही अत्यल्प सुख देता है, उत्तरके क्षणोंमें यह अनुभूत-सुख नष्ट हो जाता है, इस प्रकार दुःखानुभव भी क्षणिक ही है । स्थायी नहीं । इस प्रकार दृष्ट = देखा गया इष्ट—अनिष्टरूप, तथा श्रुत = सुना गया-कटु मधुर-शब्द और तदन्य इन्द्रियोंके द्वारा—अनुभूत गन्धादि विषय भी नष्ट होजाते हैं । कोई भी अनुभूत-विषय स्थिर नहीं रहता । इसलिए इसलोक एवं परलोकमें

स्वाभाविकतया विद्यमानां लोकद्वयस्यासक्तिं दोषदर्शनाभ्यासेन परित्यज्य चिकीर्षितात् तदर्थकृत्यात् विरमेत् = उपारमेत्। 'यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम्। सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत्स्मरेत्॥' (भा० ११।१८) एतत्—जगत् कलत्रपुत्रवित्तादिकं ममतास्पदं, मनोवाक्प्राणैः संहतं = सहितं अहंकारास्पदं शरीरं, च सर्वं तज्जन्यं सुखदुःखादिकमपि, आत्मनि अधिष्ठानेऽध्यारोपिततया मायामात्रमस्ति, न पारमार्थिकमस्तीतितर्केण स्वप्नादिदृष्टान्तपूर्वकेण दृश्यत्वादिहेतुनाऽनुमानेन निश्चित्य, तत् त्यक्त्वाऽर्थात् तत्रत्यामहंतां ममताञ्च विहाय, स्वस्थः = आत्मनिष्ठः सन् तन्न पुनः पुनः स्मरेत् न चिन्तयेत्। 'दुःखोदर्केषु—कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्।' (भा० ११।१८।३८) कामेषु=काम्यमानेषु ऐहिकामुष्मिकपदार्थेषु जातनिर्वेदः = जातः—समुत्पन्नो निर्वेदो वैराग्यं यस्य सः। कथं तेषु निर्वेदः समुत्पद्यते ? इत्यपेक्षायामाह—दुःखोदर्केषु = दुःखमेव उदर्कः = उत्तरकालिकं फलं येषां तेषु। तथा च तेषां तत्कालं सुखरूपेण प्रतीयमानानामपि तदुत्तरकाले दुःखमयत्वात् न तेषु विचार-

---

आसक्तिसे रहित होकर अर्थात् स्वाभाविकरूपसे चित्तमें विद्यमान-लोक-द्वय सम्बन्धी आसक्तिका दोष-दृष्टिके अभ्यास द्वारा परित्यागकरके, और उनके लिए किये जाने वाले सकाम-कर्मोंसे विरक्त-उपरत हो जाय। 'आत्मामें—अध्यस्त रूपसे प्रतीयमान—मन वाणी एवं प्राणोंका संघातरूप—जो यह संसार है—वह साराका सारा मिथ्या-माया ही है, ऐसा विचार करके उसका बाध करे, और अपने अधिष्ठानभूत-परिशिष्ट-स्वस्वरूपमें अवस्थित हो जाय, फिर कभी उसका स्मरण भी न करे।' (भा०) अर्थ—ममताका आस्पद-पुत्रमित्रकलत्र-वित्तादिरूप यह जगत्, तथा मन, वाक् और प्राणसहित यह अहंकारास्पद शरीर, और उनसे उत्पद्यमान-सुखदुःखादि-द्वन्द्व—यह सब कुछ अधिष्ठान आत्मामें अध्यारोपित होनेके कारण मायामात्र—मिथ्या है, पारमार्थिक-नहीं है, ऐसा-तर्कसे निश्चय करे, अर्थात् यह जगत् पारमार्थिक नहीं है, दृश्य होनेसे, स्वप्नादिके समान—इसप्रकार दृश्यत्वादिहेतुके द्वारा तथा स्वप्नादिके दृष्टान्त द्वारा-अनुमान करे, अनन्तर उनमें-सत्यतादि के द्वारा होनेवाली-अहंता—ममताका नितान्त परित्याग करे, पश्चात् स्वस्थ-आत्मनिष्ठ-होजाय, फिर उस बाधित—मिथ्या संसारका कभी चिन्तन न करे। संसारके विषयोंके भोगोंका फल दुःखही दुःख है, ऐसा समझकर वह उनसे विरक्त हो जाय, तथा आत्मनिष्ठावान् बने।' (भा०) अर्थ—इस लोक एवं परलोकके काम्यमान-पदार्थोंमें जिसे वैराग्य उत्पन्न होगया है, वह जातनिर्वेद है। क्यों उनमें उसे निर्वेद उत्पन्न हो गया है ? ऐसी आकांक्षाकी पूर्तिके लिए कहते हैं—दुःखोदर्केषु अर्थात् वे विषय दुःखोदर्क हैं, यानी उत्तरकालमें-परिणाममें उनसे दुःखही दुःखरूप फल मिलता है। तथा च वे विषय तत्काल एकक्षणके लिए सुखरूपसे प्रतीयमान होनेपर भी परि-

वान् रागं बध्नाति विषसंपृक्तमिष्टान्नमिव । अत एव तेषु जातनिर्वेद एव पुमान् आत्मवान् भवितुमर्हति । आत्मवान् = आत्मा—विश्वात्मा सत्यानन्द-निधिर्भगवान् एव भजनीयोऽस्यास्तीत्यात्मवान्, सर्वान् कामान् विहाय भगवन्तमेवान्तरात्मानमजस्रमाराधयतीति यावत् ।

एवं स्वपरदेहेऽपि—अहं—ममभावसौन्दर्यादिमूलिकामासक्तिं विचारेण दोषदर्शनेन चोपायेन परित्यजेत् । अत एवाहुः श्रीमद्भागवते एकादशेऽपि—'पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः । किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते ॥' (भा० ११।२६।१६) 'नु' इति वितर्के, 'अयं कस्य देहः ? इति-देहविषयकमुहापोहलक्षणं वितर्कं दर्शयति—पितरौ वदतः, ममायं कायः, अस्योत्पादकत्वात्, तथा च किमयं कायः पित्रोः = मातापित्रोः स्वं = स्वकीयं धनमस्ति ? नैवास्ति, कथं ? रुदन्तौ पितरौ परित्यज्यास्य विनशनशीलत्वात्, यद्वा सर्वथेमं परित्यज्य ताभ्यां लोकान्तरे गतत्वात् । भार्या वदति, ममाय कायः, भोगप्रदत्वात्, अस्यार्धाङ्गित्वविशेषणवत्वाच्च ।

णाममें दुःखमय होनेके कारण विचारवान् पुरुष, उनमें अनुरक्त नहीं होता, जैसे विष-संयुक्त-मिष्टान्नके भोजनमें । अतएव उनमें समुत्पन्न वैराग्यवान् पुरुष ही आत्मवान् हो सकता है । आत्मा—विश्वात्मा सत्यानन्दनिधि भगवान् ही इसका सर्वदा भजनीय-चिन्तनीय है, इसलिये वह आत्मवान् है । जो समस्त काम्यमान-दुःखमय विषयोंको छोडकर भगवद्रूप—विश्वात्माकी ही निरन्तर आराधना करता रहता है, यह भाव है ।

इसप्रकार अपने और अन्योंके शरीरोंमें भी—अहंता ममता सुन्दरता आदिके कारण—जो आसक्ति हो रही है, उसका भी विचार और दोष-दृष्टिरूप उपाय द्वारा परित्याग करे । इसलिए श्रीमद्भागवतके एकादश—स्कन्धमें ऐसा विचार प्रदर्शित किया है कि—'यह शरीर क्या माता—पिता की संपत्ति है ? कि—पत्नी की ? । स्वामी की क्या यह क्रीत वस्तु है ? कि—क्या यह अग्निका इंधन है ? । अथवा वह क्या कुत्तों का एवं गीधोंका भोजन है ? यह अपना है ? या स्नेही सगेसम्बन्धियोंका है ? किसका यह है ? बहुत सोच-विचार करने पर भी कोई निश्चय नहीं होता ।' (भा०) अर्थ—'नु' वितर्कका वाचक है । यह देह किसका है ? ऐसा देहके विषयमें ऊहापोहरूप वितर्क का प्रदर्शन करते हैं । माता पिता कहते हैं कि—हमारा यह देह है, क्योंकि—हमने इसे अपने शुक्रशोणित द्वारा उत्पन्न किया है । इसलिये यह शरीर सचमुच क्या माता-पिताकी अपनी संपत्ति है ? नहीं है, क्यों नहीं है ? कहते हैं—इसलिये उनकी यह स्वभूत-संपत्ति नहीं है कि—इसके लिए रूदन करने वाले माता-पिताको छोडकर यह शरीर नष्ट-भस्मीभूत हो जाता है । अथवा—इस स्वजन्य शरीर को छोडकर वे दोनों माता पिता परलोकमें चले जाते हैं । भार्या-पत्नी कहती है कि—यह शरीर मेरी संपत्ति

तथा च किमयं कायो भार्याया अस्तीति वितर्कयति—भार्याया अपि स्वभूतं धनं नास्ति ? वियोगशीलत्वात्, एवमुत्तरत्रापि तुल्यमेव तादृशं बीजं वेदितव्यम्। स्वामिनो वाऽप्यस्ति, तदधीनत्वात्, अग्नेर्वा अन्त्येष्ट्यां तदाहुतित्वात्, श्वगृध्रयोर्वा भक्ष्यत्वात्, किंवाऽऽत्मनः=जीवस्य, तत्कृतशुभाशुभकर्मफलभोगित्वात्, सुहृदां=बान्धवादीनां वा तदुपकारित्वात्, एवं कस्यायं कायः इति यो नावसीयते=न निश्चीयते। सत्येवं—कायोऽयं कस्यापि नास्तीति विनिश्चित्यास्मिन्—अहंममभावौ विहाय, मतिमता आसक्तिरपि परित्याज्यैव। तथापि यो 'तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते। अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियाः॥ त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ। विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम्॥' (भा० ११।२६।२०+२१) तस्मिन्—अमेध्ये=अतिमलिने, तुच्छनिष्ठे=तुच्छा—कृमिविट् भस्मलक्षणा निष्ठा—अन्तो यस्य तस्मिन्, स्वकलेवरे वा स्त्रियाः कलेवरे वा=प्रियत्वेन गृहीते, आसक्तिमाह अहो ! इति विस्मये, सुभद्रं=सुखकरं, सुनसं=शोभन-

है ? क्योंकि–यह शरीर मुझे भोग प्रदान करता है, और यह मेरा आधा भाग है, अर्थात् उसके आधे-अंगमें मैं बैठी हूँ; इसलिये मैं अर्धाङ्गिनी कहलाती हूँ। इसलिये यह शरीर क्या पत्नी का है ? ऐसा वितर्क करते हैं ? नहीं नहीं ? यह शरीर भार्याकी भी संपत्ति नहीं है, क्योंकि-यह शरीर ऋणानुबंध समाप्त होनेपर पत्नी को छोड़कर चला जाता है, अथवा पत्नी ही इसे छोड़कर चली जाती है। यही वियोगरूप कारण आगे भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। यह शरीर स्वामीका है क्या ? क्योंकि–यह उसके आधीन बना रहता है-उसकी आज्ञाके अनुसार चेष्टा करता रहता है। क्या यह अग्निका है ? क्योंकि–प्राण निकल जानेपर अन्त्येष्टि-संस्कारमें यह अग्निकी आहुतिरूप बन जाता है। अथवा यह कुत्तोंका एवं गीधोंका है ? क्योंकि–यह उनके लिए कभी भक्ष्य बन जाता है। क्या यह जीवात्माका है ? क्योंकि–उसके किये हुए–शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगनेका यह साधन है, अर्थात् जीवात्मा, शरीर द्वाराही कर्म फलोंको भोगता है, स्वतः नहीं। अथवा यह क्या सगे-सम्बन्धियोंका है ? क्योंकि उनका यह उपकारी है, अर्थात् इस शरीर द्वारा ही वे सम्बन्धी अनेक विध-उपकारों को प्राप्त करते हैं। अन्तमें—यह शरीर किसका है ? इसका बहुत विचार करनेपर भी निश्चय नहीं हो रहा है, क्योंकि-यह इन सबसे विमुक्त होकर नष्ट हो जाता है। अतः यह शरीर किसीका भी नहीं है, ऐसा निश्चयकर इसकी अहंताममता को छोड़कर-आसक्ति का भी परित्याग करदेना चाहिये। तथापि जो मानव—'यह शरीर मलमूत्रादिसे भरा हुआ अत्यन्त-अपवित्र है, इसका अन्त यही है कि-पक्षी खाकर विष्ठा करदें, इसके सड़ जानेपर इसमें कीडें पड़ जायँ, अथवा जला देने पर यह राखका ढेर होजाय।

नासिकं, सुष्ठु स्मितं यस्मिंस्तथाभूतं, स्त्रियाः मुखमिति मिथ्यामोहेन पुमान् विषज्जते—आसक्तो भवति । त्वगादीनां सप्तधातूनां संघातौ = संघाते, रमतां = रममाणानां, शता आर्षः, पुरुषाणां विण्मूत्रादिसंहतौ रमतां कृमीणां च कियदन्तरं = न कियानपि भेदः, तत्तुल्या एव त इत्यर्थः । साक्षान्नरकमेतन्नारीशरीरम् । तदुक्तं—'दुर्गन्धयोनि कृमिकीर्णगभीरकुण्डं दन्तक्षतक्रकचदारुणयातनाढ्यम् । निर्मज्जनाय किल नारकिणां नराणां नारीमयं निरयमेतदकारि धात्रा ॥' इति । तथापि अशुचिदेहे शुचित्वभ्रान्तिरविद्ययैव कृतेत्याह—'कायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः । क गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः ॥' (भा० ११।२६।१८) इति कायं कायः, मलीमसः = अतिमलिनः, दौर्गन्ध्याद्यात्मकः = अतिदुर्गन्धादिमान्, अशुचिः । 'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि । कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥'

ऐसे शरीर पर आसक्त-लट्टु हो जाते हैं । और कहने लगते हैं कि—अहो ! इस स्त्रीका मुख कितना सुन्दर है, नाक कितनी मनोहर-सुघड है, और मन्द-मन्द मुस्कान कितनी आकर्षक है । यह शरीर त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेद, मज्जा, और हड्डियोंका ढेर है, और मल-मूत्र तथा पीवसे भरा हुआ है । यदि मनुष्य इसमें रमण करता है तो मलमूत्रके कीड़ोंमें और उसमें अन्तर-वैलक्षण्य ही क्या है ? ।' (भा०) उस अमेध्य यानी अतिमलिन-अपवित्र, तुच्छनिष्ठ = कृमि विष्ठा और भस्म जो तुच्छ है—उस रूपसे यह अन्तमें परिणत होजाता है-ऐसे अपने या स्त्रीके शरीरमें—जिसे अतिप्रिय मान रक्खा है—आसक्तिका वर्णन करते हैं—अहो ! यह आश्चर्यका बोधक है, सुभद्र = सुखप्रद, सुनस = सुन्दर नाकवाला, सुस्मित = मन्द-मन्द मुसकानवाला—स्त्री का मुख है, ऐसे मिथ्यामोहसे मनुष्य उसमें आसक्त होता है । त्वचा आदि सप्त धातुओंके संघातरूप इस शरीर में रमण करने वाले मनुष्योंमें तथा मल मूत्रमें रमण करनेवाले कीडोंमें क्या अन्तर है ? कुछ भी वैलक्षण्य नहीं है-दोनों एक-समान हैं । वैराग्यके लिए-किसी एक कवि ने—'स्त्रीका यह-शरीर साक्षात् नरक है' ऐसा कहा है—'नारकी मनुष्योंके लिए विधाताने नारीरूप नरककी रचना की है, जिसमें डूब-मरनेके लिए-दुर्गन्धमय और कृमि-कीटोंसे भरा हुआ-गंभीर योनिरूप कुण्ड है, और यहाँ दन्तक्षत-रूप बाणोंके वेधन द्वारा असह्य-वेदना होती रहती है ।' तथापि-इस अतिमलिन-अपवित्र शरीरमें पवित्र-बुद्धि अविद्यारूप-कारणसे ही हो रही है—ऐसा कहते हैं—'कहाँ तो यह अतिमलिन-गंदा शरीर—जो दुर्गन्ध से भरा हुआ-अपवित्र है—और कहाँ सुकोमलता, पवित्रता सुगन्ध आदि पुष्पोचित गुण ।' परन्तु अविद्यासे ही सुन्दरताका मिथ्या-आरोप किया गया है । और भी पण्डितगण—इस शरीरको इसलिये अपवित्र कहते हैं कि—इस शरीरका आदिम स्थान—जो माताका उदर है—वह भी अतिगन्दा है ।

इत्युक्तेः । एवंभूतः स्वस्य वा स्त्रिया वा कायः क, तस्मिन् सौमनस्याद्याः = सुमनसां पुष्पाणामिव सुगन्धशुचित्व—सौकुमार्याद्या गुणाश्च क, । सौमनस्यं = शोभनमनोभावो वा । अतो हि निश्चितमविद्यया = स्वरूपावरकशक्त्या तथाऽध्यासः = आरोपः । अतस्मिंस्तद्बुद्धिरितियावत् कृतः । अतिमलिनेऽपि स्त्रियाः काये रागिभिरेतादृशोऽध्यासो विहितः, तदुक्तं—वहद्बहलदूषितं तुलितमुत्पलेनेक्षणं, मुखं च बहुथूत्कृतमप्युपमितं सुधारश्मिना । स्तनौ पिशितपूरितौ कनककुम्भवद्वर्णितौ बुधैरहह रागिभिः किमिह युक्तमुक्तं वचः ॥' एतादृशदोषदर्शनेन शरीरासक्तिरपि परित्याज्यैव ।

एवं पुत्रादयो बांधवाः, वित्तादयोऽर्थाश्चापि नितरामनर्थप्रदा एवेति विनिश्चित्य तेभ्योऽप्युपरमेदेव, भगवद्भजनकामः । तदेतदभिहितं श्रीमद्भागवते षष्ठेऽपि—'एवं दारा गृहा रायो विविधैश्वर्यसम्पदः । शब्दादयश्च विषयाश्चला

इसका उत्पादक-बीज-जो रज एवं वीर्य है, वह भी अपवित्र है । इसको टट्टार-खडा करने वाले पदार्थ—जो हड्डी, मांस आदि हैं, वे भी मलिन हैं, इसमेंसे मल, मूत्र, पसीना आदि गन्दे रस ही निरन्तर बहते रहते हैं, स्वयं यह नाशवान् है, और इसे प्रतिदिन स्नानादिके द्वारा उपर-उपर से शुद्ध करना पड़ता है, अन्यथा इससे दुर्गन्ध आने लगती है ।' इस प्रकार अनेक प्रकारसे परीक्षित इस गन्दे-शरीरमें कोमलता सुन्दरता आदि अविद्यमान-गुणोंका भान मूढ-अविवेकी मानवोंको ही होता है, विवेकी विद्वानों को नहीं । अथवा—सौमनस्य = यानी सुन्दरमनोभाव । स्वरूपका आवरण करने वाली-अविद्यासे ही ऐसा सुन्दर मनोभाव मूढोंको होता रहता है । जो उस प्रकार का नहीं है, उसको उस प्रकारका मानना मिथ्या-आरोप ही तो है । स्त्रियोंके अत्यन्त मलिन शरीरमें कामीपुरुषोंने ऐसा अध्यास किया है । कहा भी है—किसी विवेचकने 'स्त्रियोंके नेत्र, जिनमें मैल बहता रहता है, उनमें कमल की उपमा दे रक्खी है, जो मुख, गन्दे-थूकसे भरा रहता है, उसमें अमृतमय-रश्मियों वाले—चन्द्रमा की उपमा दी है । जो स्तन, मांस से भरे हुए हैं, उनमें सुवर्ण कुंभ की उपमा दी गई है, अहो ! आश्चर्य है—कि—कामी कवियोंने यह जो कहा है, वह क्या ठीक कहा है ? अर्थात् उन्होंने यथार्थ नहीं कहा है । विचार करने पर उनका यह मिथ्या—प्रलापमात्र ही सिद्ध होता है, इस प्रकार के दोष-दर्शन द्वारा शरीरकी आसक्तिका परित्याग कर देना चाहिये ।

इस प्रकार पुत्र आदि बांधव, धन आदि अर्थ भी भली प्रकारसे अनर्थ-प्रद ही हैं, ऐसा निश्चयकर भगवद्भजन करनेकी इच्छा रखने वाला-मानव, उन सबसे-विरक्त-उपरत होजाय । अतः श्रीमद्भागवत के षष्ठ-स्कन्धमें यह कहा भी है—'इस प्रकार स्त्री, घर, धन, विविधप्रकारके ऐश्वर्य, संपत्तियाँ, शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि विषय, राज्य-वैभव, भूमि, राज्य, सेना, खजाना, सेवक, अमात्य (मन्त्री) सगेसम्बन्धी, इष्ट-मित्र ये,

राज्यविभूतयः । मही राज्यं बलं कोशो भृत्यामात्याः सुहृज्जनाः ॥' सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्तिदाः। गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः ॥ दृश्यमाना विनाऽर्थेन, न दृश्यन्ते मनोभवाः ॥' (भा० ६।१५।२१-२२-२३-२४) तस्मात् स्वस्थेन मनसा विमृश्य गतिमात्मनः। द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजोपशममाविश ॥' (भा० ६।१५।२६) इति। दाराः=स्त्रियः, रायः= धनादयोऽर्थाः, चलाः=अनित्याः । अंगिरामहर्षिः समुपदिशति—हे शूरसेन ! इमे सर्वेऽपि पदार्थाः शोकप्रदा एव। न शान्तिसुखप्रदा वेदितव्याः। किञ्च आगमापायित्वेन गन्धर्वनगरतुल्याः, गन्धर्वनगरं ह्यकस्मादेव क्वचिदाकाशे वारिदैर्निर्मितं—आयाति, क्षणेनापयाति चेति प्रसिद्धम्। तदेवमेतेषामनित्यत्वं चागमापायित्वं शोकादिहेतुत्वं चोक्तम् । मिथ्यात्वमप्याह—स्वप्नश्च, माया च, मनोरथश्च, यथा, तद्वत्। मनोभवाः=मनोमात्रविजृंभिताः । अत्र हेतुः- अर्थेन=तात्त्विकस्वरूपेण विनैव दृश्यमानाः। तत्कुतः ?। यस्मात्क्षणान्तरे न दृश्यन्ते, तेषां तात्त्विकत्वे हि क्षणान्तरे बाधो न स्यात्, बाध्यन्ते चैते;

सबके सब अनित्य हैं । हे शूरसेन ! इसलिये ये सब शोक, मोह, भय और दुःखको ही देते रहते हैं, मनके मिथ्याविलास-खेल-खिलौने हैं, ये गन्धर्वनगर, स्वप्न, जादु, और मनोरथके पदार्थों के समान सर्वथा कल्पित एवं मिथ्या हैं। क्योंकि—ये सब वस्तुतः अविद्यमान होनेपर भी दिखायी पड रहे हैं । इसलिये स्थिर एवं शान्त मनसे अपने वास्तविक-अविनाशी महान् स्वरूपका विचार करो, तथा इस द्वैत-संसार में नित्यत्व-बुद्धिका परित्यागकर द्वैत-प्रपञ्चके उपशमरूप-अद्वय-परमात्मामें अवस्थित हो जाओ ।' (भा०) दारा = स्त्रियाँ,राय = धनादिपदार्थ, चल-अनित्य हैं । आज हैं और कल नहीं हैं । महर्षि अंगिरा उपदेश देते हैं कि—हे शूरसेन ! ये सब पदार्थ शोकादि ही देते हैं, शान्ति एवं शाश्वत–सुखको नहीं देते हैं, ऐसा निश्चय करो। और उत्पत्ति एवं विनाश शील होनेके कारण ये गन्धर्वनगरके समान हैं, गन्धर्वनगर कभी आकाशमें बादलोंके द्वारा अकस्मात् ही निर्मित हो जाता है, और अन्य क्षण में नष्ट होजाता है। ऐसा प्रसिद्ध हे । इस प्रकार इन पदार्थोंमें अनित्यत्व, आगमापायित्व और शोकादि हेतुत्व बतलाया, अब इनमें मिथ्यात्व भी बतलाते हैं—जिस प्रकार स्वप्नके मायाके एवं मनोरथके पदार्थ मिथ्या हैं, उसी प्रकार ये भी हैं। केवल मनके द्वारा ही ये कल्पित हुए हैं । उसमें यह कारण है कि—यथार्थ-स्वरूपके विना ये दिखाई देते हैं, अर्थात् वस्तुतः ये नहीं हैं, अविद्यमान हैं, तथापि भ्रान्तिवश प्रतीत होते हैं । वह कैसे ? इस-लिये कि—थोड़ी देर के बाद में दिखाई नहीं देते । यदि वे वास्तविक-सत्य होते तो थोड़ी देरके बाद उनका बाध नहीं होना चाहिये था । परन्तु इनका बाध हो जाता है, इसलिये ये सब एकमात्र मनसे ही कल्पित हैं, स्वप्नादिके समान मिथ्या हैं। अतः

अतो मनोमात्रविजृंभितत्वेन स्वप्नादिवन्मिथ्याभूता इत्यर्थः । स्वस्थेन = अव्यग्रेण शान्तेन मनसाऽऽत्मनो गतिं = पारमार्थिकं तत्त्वं, विमृश्य = शास्त्रगुरुभ्यां यथावत् विचार्य द्वैते = नामरूपात्मके मिथ्याप्रपञ्चे ब्रह्मभिन्ने, विश्रंभं = 'ध्रुवोऽयं सुखप्रदोऽर्थः' इति विश्वासं, प्रणयं वा, त्यज, ततः = तदनन्तरं उपशमं = परां शान्तिं आविश = आश्रयेत्यर्थः ।

इत्येवं दोषदर्शनाभ्यासेन संसाराद् द्वैतप्रपञ्चात् मनसो यः प्रशमं स्थापयति, स एव महाभागः सत्यानन्दनिधेः सर्वात्मनो विश्वद्रष्टुः एकस्याद्वयस्य यथावद्भजनं कर्त्तुं शक्नोतीत्याह—

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत, नान्यत्र सज्जेद् यत आत्मपातः ॥

(भा० २।१।३९)

'न यतोऽस्ति किञ्चित्' (भा० २।१।३८) इति पूर्ववचनेन यतो विश्वाधिष्ठानादद्वयब्रह्मणो व्यतिरिक्तं किञ्चिद् = किमपि जीवेश्वरजगदादिकं नास्ति, अतः स एव विश्वविलयाधारोऽद्वयः परमात्मा ध्येयो नान्य इति

स्वस्थ यानी व्यग्रतारहित-शान्तमनसे अपने आत्माके वास्तविक-स्वरूपका विमर्शन यानी शास्त्र एवं गुरुमुखसे विचार करे । फिर ब्रह्मभिन्न-नामरूपात्मक—मिथ्याप्रपञ्चमें विश्वास एवं प्रेमका परित्याग करे, अर्थात् यह द्वैतप्रपञ्च सुखदायक है, और नित्य है, ऐसा विश्वास न रक्खे, और तत्प्रयुक्त—प्रेम भी न करे । उसके बाद परम-शान्ति को धारण करे ।

इस प्रकार दोष-दर्शनके अभ्यास द्वारा द्वैतप्रपञ्चरूप संसारसे जिसका मन-प्रशान्त उपरत होजाता है, वह भाग्यशाली-पुरुष ही—सत्य, आनन्दनिधि, सर्वात्मा, विश्वद्रष्टा, एक-अद्वय, परमात्माका यथावत् भजन कर सकता है, ऐसा कहते हैं—

'जैसे स्वप्नावस्थामें एक स्वप्नद्रष्टा मनुष्य, अपने आपको ही- विविध—पदार्थों के रूपमें देखता है, वैसे ही सबकी बुद्धि-वृत्तियोंके द्वारा सर्वान्तर्यामी एक-परमात्माही-यह सब कुछ कल्पित—जगत्का अनुभव करता है, अतः उस परमसत्यरूप—विश्वाधिष्ठान—आनन्दनिधि—भगवान् का ही भजन करना चाहिये, अन्य किसी भी मिथ्यावस्तुमें आसक्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि—यह आसक्ति जीवके अधःपतनका हेतु है ।'

'जिस परमात्मासे व्यतिरिक्त- अन्य कुछ भी नहीं है—' (भा०) इस पूर्वोक्त-भागवतके वचन से, जिस विश्वाधिष्ठान—अद्वयब्रह्मसे अतिरिक्त-जीव, ईश्वर, जगत् आदि कुछ भी नहीं है, इसलिये जिसमें विद्याद्वारा समस्त विश्व विलीन हो जाता है—उस-अद्वय परमात्माका ध्यान करना चाहिये, अन्य-अध्यस्त पदार्थका नहीं, ऐसा निर्णय

निर्धारयति—स इति । सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः = सर्वेषां जीवानां सर्वाभिर्धी-वृत्तिभिः अनुभूतं सर्वं सुखदुःखादिद्वन्द्वजातं येन स एक एव सर्वान्तर आत्मा, तमेव सत्यं = त्रिकालाबाधितं सर्वानुगतं पारमार्थिकं तत्त्वं आनन्दनिधिं = शाश्वतानामानन्दानां निधिं भगवन्तमेव भजेत = अजस्रमनुसंदधीत-ध्यायेत्, नान्यत्र = असत्ये—मिथ्याप्रपञ्चेऽनानन्दनिधौ दुःखालये द्वन्द्वमये संसारे सज्जेत = नासक्तिं कुर्यात्, यतः संसारासंगादात्मनः पातः = जन्ममरणादिदुःख प्रचुरे पतनं भवति । एकस्य द्रष्टुः तत्तदिन्द्रियवृत्तिभिः सर्वानुभूतौ लोकप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—यथा स्वप्नजनानां शत्रुमित्रसैन्यप्रभृतीनां तदुपलक्षित ''राज्यादि-विविधभोगानां च स्वसृष्टानां एक एवेक्षिता = अनुभविताऽस्ति, नान्योऽस्ति । स्वप्ने हि एक एव जीवात्मा कदाचिद्बहून् देहान्—विविधान् भोगांश्च प्रकल्प्य तत्तदिन्द्रियवृत्तिभिः सर्वं यथा–पश्यति, तथा ब्रह्माण्डाधिष्ठाता सर्वात्मा एक एव परमेश्वरोऽपि स्वमायया कल्पितं सर्वं चराचरं त्रिपुटीभेदभिन्नं

करके कहते हैं—स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वं । अर्थात् जिसने समस्त जीवोंकी निखिल-वृत्तियोंके द्वारा समस्त सुखदुःखादि-द्वन्द्वोंका अनुभव किया है, उस-एक सर्वान्तर आत्मा—जो सत्य है यानी तीनों कालोंमें अबाधित है, सर्वानुगत-परमार्थतत्त्व है, और शाश्वत-आनन्दों की निधि है—भगवान् का ही भजन करे, निरन्तर उसका ही अनुसंधान एवं ध्यान करता रहे । तथा जो सत्य, एवं आनन्दनिधि नहीं है, ऐसे मिथ्या दुःख-निधि—द्वन्द्वमय-संसारमें आसक्ति न करे । क्योंकि-उससे जीवात्मा, जन्म मरण आदिके दुःख प्रचुर-संसार के चक्कर में पड़ जाता है । एक ही द्रष्टा तत्तदिन्द्रियवृत्तियों के द्वारा सर्वका अनुभव करता है, उसमें लोक-प्रसिद्ध स्वप्नदृष्टान्त कहते हैं—जैसे स्वप्नके शत्रु मित्र सैन्य आदि पदार्थोंका तथा उनसे उपलक्षित राज्य आदिके विविध-भोगोंका—जिन का द्रष्टा ही निर्माता है—अनुभवकरनेवाला आत्मा एक ही है, अन्य नहीं है । स्वप्नमें जैसे एकही जीवात्मा कभी बहुल शरीरोंकी तथा विविध भोगोंकी कल्पना करके तत्तदिन्द्रिय-वृत्तियों के द्वारा—सर्व–स्वप्न दृश्यको देखता है । वैसे ही ब्रह्माण्डके अधिष्ठाता-सर्वात्मा एक ही परमेश्वर अपनी माया द्वारा कल्पित-द्रष्टा-दृश्य-दर्शन आदि त्रिपुटियोंके भेदोंसे भिन्न-भिन्न प्रतीत—समस्त चराचर प्रपञ्चको-देखता है । परन्तु विद्याकी शक्ति होनेसे परमेश्वर उस कल्पित-दृश्यमें फँसता नहीं है, तत्प्रयुक्त बन्ध इसे प्राप्त नहीं होता ।

शंका—भगवद्भजन करनेके लिए संसारकी आसक्तिका सर्वथा परित्याग देनेपर तथा शरीर, गृह आदिकी सर्वथा उपेक्षा कर देनेपर शरीर की शीघ्र ही मृत्यु होगी, क्योंकि—देहानुकूल सामग्रियोंके न होनेपर एवं प्रतिकूल-सामग्रियोंके उपस्थित होनेपर शरीर कैसे जीवित रह सकता है ? नहीं रह सकता ।

जगत् पश्यति, परन्तु परमेश्वरस्य विद्याशक्तिमत्त्वान्न बंधः।

ननु--तर्हि भगवद्भजनाय सर्वथा संसारासक्तिपरित्यागे, देहगेहादीनाञ्च सर्वथोपेक्षायां कृतायां सत्यां सद्यः देहपात एव स्यादित्याशंकानिवारणायाह- भगवान्—बादरायणिः श्रीशुकः—'अतः कविर्नामसु यावदर्थः स्यादप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः। सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः ॥' (भा० २।२।३) इति। अयमर्थः—अतः कविः = तत्त्वदर्शी—मेधावी महात्मा, नामसु=नाममात्रेषु मिथ्याभूतेषु भोग्येषु शब्दादिविषयेषु यावताऽर्थेन, अर्थः = देहनिर्वाहो यस्य स तथाभूतः स्यात्। स्वसाधननिष्पत्त्यर्थं देहनिर्वाहो यावताऽर्थेन संपद्येत, तावानर्थो ग्राह्यो नाधिक इति यावत्। तथापि अप्रमत्तः=तावन्मात्रेऽप्यनासक्तः सन् स्वसाधनसिद्धौ सावधानो भवेत्। व्यवसायबुद्धिः='नेदं सुखं' इति निश्चयवान्। यद्वा व्यवसायबुद्धिः= प्रारब्धवशाद् यद्भवेत्तद्भवतु नाम, मया तु यन्निश्चितं तदेव निश्चिन्तेन स्थिरेण मनसा साध्यत एवेति दृढविचारः स्यादित्यर्थः। किञ्च यावदर्थतापि सुकुमारस्यैवोक्ता न तु स्वतःसमर्थस्य स्थितप्रज्ञस्य तितिक्षोः इत्याह—तदापि तत्र =

ऐसी शंकाके निवारणके लिए बादरायण-पुत्र भगवान् श्रीशुकदेवमुनि समाधान करते हैं कि—'अतः कविः—इसलिए विद्वान्-पुरुषको चाहिये कि—वह इस संसारके पदार्थोंसे उतना ही व्यवहार रक्खे, जितना अत्यावश्यक है, जितनेसे देह निर्वाह होजाय। संसारके मिथ्यात्व एवं निःसारत्वके निश्चयसे अपनी बुद्धिको विचलित न होने दें। अर्थात् तादृश निश्चय दृढ रक्खे। और एक-क्षणके लिए भी ब्रह्मानुसंधानमें असावधान न रहे, अर्थात् उत्साह एवं रुचिके साथ निरन्तर ब्रह्मानुसंधान करता रहे। यदि देहनिर्वाहानुकूल-पदार्थ परिश्रमके विना प्रारब्धवश यों ही मिल जायँ, तब उनके उपार्जन का परिश्रम व्यर्थ समझकर उनके लिए भी कोई प्रयत्न न करे।' (भा०) यह अर्थ है—कवि = तत्त्वदर्शी—मेधावी महात्मा, नामसु = नाममात्रके—अवास्तविक-मिथ्या-शब्दादि-विषयोंमें से, उतने ही अर्थ ग्रहण करे, जितनेसे अपने शरीरका निर्वाह होजाय, और अपने साधनोंकी सिद्धि होजाय, उतने ही पदार्थ ग्रहण करें, अधिक नहीं। और उतने में भी आसक्ति न रक्खे, किन्तु अपने ज्ञान-ध्यानादि-साधनों की सिद्धिके लिए सदा सावधान रहे। व्यवसायबुद्धिः = यह शब्दादिविषयसमूह सुखप्रद नहीं है, ऐसा दृढ निश्चय रक्खे। अथवा प्रारब्ध कर्म द्वारा शरीरके लिए जो कुछ सुख दुःखादि होना है-वह होकर ही रहेगा, उसे क्यों हटाना चाहिये। तथापि मैंने जो निश्चय किया है, उसी की ही निश्चिन्त एवं स्थिर मनके द्वारा साधना करता रहूँगा, साधन-मार्गमें आगे ही बढ़ता रहूँगा, ऐसा दृढ विचार रक्खे। देह-निर्वाह के लिए जितने अर्थ अत्यावश्यक हैं, उतने ही ग्रहण करे, यह कथन भी मृदुचित्तवाले प्राथमिक-साधक के लिए

तस्मिन्नर्थेऽन्यथैव=प्रकारान्तरेणैव, अर्थे=स्वदेहनिर्वाहे सिद्धे सति तत्र पिष्टपेषणन्यायेन न यतेत, यतस्तत्र यत्ने परिश्रमं=धनिकजनोपासनादिरूपं पश्यन् न यतेत 'प्रारब्धं पुष्यति वपुः' इति निश्चयेन। अत एव समर्थस्य तामन्यथासिद्धिमेव विवृणोति द्वाभ्यां—'सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैर्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्। सत्यञ्जलौ किं पुरुधाऽन्नपात्र्या दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥' चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवांघ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्। रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान् कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥' (भा० २।२।४-५) इति। अयमर्थः-देवनिर्मितायां क्षितौ=भूमौ सत्यां, कशिपोः=शय्यायाः निर्माणाय प्रयासैः किम्? अर्थात्-शय्यानिर्माणप्रयासो व्यर्थः? तदर्थं यत्नो न करणीयः। एवं स्वतः सिद्धे

है, जो स्वतः समर्थ-तितिक्षु और स्थितप्रज्ञ है, उसके लिए नहीं है, ऐसा कहते हैं कि-उतने में भी यदि प्रकारान्तरसे अपने देहका निर्वाह सिद्ध होजाय तो पिष्ट-पेषण न्यायसे यत्न नहीं करे। जैसे पिष्ट (आटा) का पिसना व्यर्थ है, वैसे सहजसे ही देह निर्वाह होजाता है तो उसके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। क्योंकि—उस प्रयत्नमें-धनियोंके समीप जाना, आना, उनकी खुशामद करना, इत्यादि परिश्रम देखकर—'प्रारब्धही शरीर का भरण-पोषण करेगा' ऐसा निश्चय रखकर उसके लिए प्रयत्न ही न करे। अब आगेके दो श्लोकोंद्वारा यही विशद (स्पष्ट-वर्णन) करते हैं कि—ऐसा करना समर्थ-स्थितप्रज्ञके लिए अन्यथा सिद्ध है—जैसे-'जब जमीनपर सोनेसे काम चल सकता है, तो पलंग के लिए बिस्तराके लिए प्रयत्न करनेसे क्या प्रयोजन ? जब भुजाएँ अपनेको भगवान् की कृपा से स्वयं ही मिली हुई हैं, तब तकियोंकी क्या आवश्यकता ?। जब अञ्जलि से खाने पीने आदिका काम चल सकता है, तब बहुतसे पात्र क्यों बटोरें ? वृक्षकी छाल पहनकर या वस्त्रहीन दिगम्बर रहकर भी यदि जीवन धारण किया जा सकता है, तो वस्त्रोंकी क्या आवश्यकता ?। यदि नग्न रहना उचित नहीं है, तो पहिननेके लिए क्या मार्गोंमें चिथड़े नहीं पड़े हैं ? भूख लगनेपर-दूसरोंके लिए ही शरीर धारण करने वाले वृक्ष क्या फल-फूल की भिक्षा नहीं देते ? जल चाहने वालोंके लिए नदियाँ क्या बिल्कुल सूख गयी हैं ? रहनेके लिए क्या पर्वतोंकी गुफाएँ बन्द कर दी गयी हैं ? अरे भाई ! यह सब न सही, तो भी क्या दयालु-भक्तवत्सल भगवान् भी अपने शरणागत-भक्तोंकी रक्षा नहीं करते ? ऐसी स्थितिमें बुद्धिमान् लोग, धनके नशेमें चकचूर घमण्डी-धनियों की चापलुसी क्यों करते हैं ?।' (भा०) यह अर्थ है—ईश्वर की बनाई हुई-माता-पृथ्वी जब विद्यमान है, तब पलँग-बिस्तरा आदिके द्वारा शय्या निर्माणकी क्या आवश्यकता है ? अर्थात—शय्यानिर्माणके लिए परिश्रम करना व्यर्थ है, उसके लिए परिश्रम नहीं करना चाहिये। इस प्रकार स्वतःसिद्ध भुजाएँ—जब विद्यमान हैं, तब उपबर्हण=

बाहौ=भुजे सति, उपबर्हणैः=उच्छीर्षकैः शिरःपीठैः किम्। बाहुभ्यामेवोपबर्हणकार्यसम्पादने सति तत्सम्पादनप्रयासो न विधेय इत्यर्थः। अञ्जलौ-स्वतः सिद्धे च सति पुरुधा=बहुप्रकारयाऽन्नपात्र्या=भोजनपात्रेण किम् ?। अर्थादञ्जलिनैवान्नपात्रता-संपादने सति तदन्यपात्रसंपादनप्रयासो व्यर्थ एव। एवं दिग्वल्कलादौ—दिशामेवाम्बररूपत्वे सति, तथा वल्कले=वृक्षत्वक्-निर्मिते च सति, किं दुकूलैः=कौशेयादिशोभनवस्त्रसंपादनप्रयासैः किम् ?।

ननु-दिगम्बरत्वं नाम नग्नत्वमेव, तत्तु स्वतःसिद्धमेव, परन्तु वल्कलमन्नं तोयः वासस्थानं तु याञ्चाप्रयत्नं विना कथं प्राप्येत ? तत्राह—चीराणि=वस्त्रखण्डानि, पथि=मार्गे यत्र तत्र लोकैः परित्यक्तानि, न सन्ति ? सन्त्येव, तैः कंथां निर्माय तया शीतत्राणं सेत्स्यत्येव। ननु—तथापि जठरानलो दुर्वार एव कष्टप्रदः, तस्य शान्तिस्तु कथं स्यात् ? अत आह—परभृतः=परान् बिभ्रति—पुष्णन्ति फलादिभिर्ये ते, अंघ्रिपाः=वृक्षाः, भिक्षां=फलादिरूपां न दिशन्ति—ददति किं ? ददत्येव, मनुष्याः खलु मा ददतु नामेति भावः। तर्हि पानार्थं जलन्तु मृग्यमेवेति चेदहो ते बुद्धिकौशलमित्याह—सरितः=स्यन्द-

तकियोंकी क्या आवश्यकता ? अर्थात् भुजाओंके द्वारा जब तकियोंका कार्य सिद्ध हो जाता है, तब उनके संपादनके लिए प्रयास नहीं करना चाहिये। एवं अञ्जलि जब स्वतः सिद्ध है—तब नानाप्रकारके भोजनपात्रोंकी क्या आवश्यकता ?। अर्थात् अञ्जलिके द्वारा अन्नपात्रता का संपादन हो जाता है, तब तदन्य-पात्रोंके संपादनके लिए प्रयास करना व्यर्थ है। जब दिशाएँ वस्त्ररूप हो सकती हैं, अथवा वृक्षोंकी छाल, या छालके बने हुए-वल्कलवस्त्र जब मिलते हैं, तब कौशेय (रेशमी) आदि सुशोभित-वस्त्र संपादन करने में प्रयास करना व्यर्थ है।

शंका—दिगम्बरता यानी नग्नता, यह तो स्वतःसिद्ध है। परन्तु वल्कल, अन्न, जल, वस्त्र, और स्थान, ये तो याचनारूप परिश्रमके विना कैसे प्राप्त हो सकते हैं ?

समाधान—चीर यानी फटे-पुराने कपड़ोंके टुकड़े, जिनको जहाँ तहाँ रास्ताओं में लोगोंने व्यर्थ समझकर फेंक दिये हैं, ऐसे क्या नहीं हैं ? यदि हैं तो उनके द्वारा कंथा बनानेपर शीत का निवारण होजायगा।

शंका—तो भी जठरकी क्षुधारूपी अग्नि तो दुर्वार है—कष्टप्रद है, उसकी शान्ति कैसे होगी ?

समाधान—अन्योंका फल आदिके द्वारा भरण-पोषण करने वाले-परोपकारी वृक्ष क्या फलादिको भिक्षा नहीं देते हैं ? देते ही हैं। यदि मनुष्य भिक्षा न देवें तो मत दें। तब पीनेके लिए-प्यास बुझानेके लिए जलकी खोज तो करनी ही होगी ? ऐसा प्रश्न उपस्थित करनेपर उसका परिहास करते हुए कहते हैं कि—अहो तेरी बुद्धिका

मानाः गंगाद्याः नद्यः, किमशुष्यन् ?। ननु—हिमोपलवर्षात् त्राणार्थं पर्णशाला काचिदपेक्षितैवेति चेत्तत्राह—रुद्धाः=प्रतिरुद्धाः, गुहाः=गिरिदर्यः ? किम्।

ननु कदाचिदेषामलाभे सति किं कार्यं ? यद्वा गुहां प्रविश्य व्याघ्रादयः, खादिष्यन्तीति चेत्तत्राह—अजितः=न केनापि जितो निखिलशक्तिमत्त्वात्, एवंभूतो भक्तवत्सलो दयालुः श्रीहरिः, उपसन्नान्=शरणागतान् साधक-भक्तान् किं नावति=न रक्षति, अपि तु रक्षत्येव। व्याघ्रादीनामपि स एवान्तर्यामी भगवान् तान्कथं तत्र प्रेरयिष्यतीति भावः। तथा च न ह्यजितभक्तं कोऽप्यभिभवितुं शक्नुयादित्यर्थः। धनेन यो दुर्मदः, तेनांधान्—नष्टविवेकान् कवयः=वीतरागा विवेकिनो भक्ता भगवन्तमेव परया श्रद्धया भजनशीलाः कस्माद्=किमर्थं भजन्ति ? नैव भजन्ति-सेवन्ते तथा च संसारासक्तिं परित्यज्य देहगेहादिकञ्च सर्वथैवोपेक्ष्य विश्वंभरं भगवन्तमेवोपाश्रित्य तमेव भजन-

---

चातुर्य ? स्वच्छन्दगतिसे निर्मल—जल बहाने वाली गंगा आदि नदियाँ क्या सूख गयीं हैं ? जब ऐसी जल—पूर्ण—नदियाँ बहती रहती हैं, तब जलके अन्वेषण की क्या आवश्यकता है ? ।

शंका—ओले—वर्षा आदिसे बचनेके लिए कोई पर्णशाला-कुटीर अपेक्षित होगी ही।

समाधान—क्या पहाड़ोंकी कन्दराएँ प्रतिरुद्ध होगई हैं ? जब वे विद्यमान हैं—तब ओले वर्षा आदिसे परित्राण हो ही जायगा। कुटीर के निर्माण की कुछ भी आवश्यकता नहीं।

यदि पूर्वोक्त-शरीरनिर्वाहक-पदार्थोंका लाभ कदाचित् न होवें तो, क्या करना चाहिये ?। अथवा गुहा में प्रविष्ट होकर व्याघ्र आदि, साधकके शरीरको खा जायें तो क्या करना चाहिये ?। ऐसे प्रश्नके उत्तररूपसे कहते हैं कि—अजित यानी सर्वशक्तिमान् होनेके कारण किसीके भी द्वारा जो पराजित नहीं होता, ऐसा विश्वविजयी भक्तवत्सल दयालु श्रीहरि क्या शरणागत-साधक-भक्तोंकी रक्षा नहीं करते हैं—किन्तु सभी प्रकार से अवश्य ही रक्षा करते हैं। वही भगवान् व्याघ्र आदि हसक-प्राणियों का भी अन्तर्यामी प्रेरक है, तब वह भगवान् उनको—साधक-भक्तोंको कष्ट नहीं देने की—प्रेरणा क्यों नहीं करेगा ? अवश्य ही प्रेरणा देगा। तथा च भगवान् के भक्त का कोई भी अभिभव नहीं कर सकता है, ऐसा भाव है।

धनके मदसे अंधे बने हुए—मूढ—धनवानोंका—वीतराग विवेकी निःस्पृह भक्त-गण—जो परम-श्रद्धासे भगवान्के ही भजन करनेमें लगे रहते हैं—वे क्यों सेवन करेंगे, अर्थात् उनकी खुशामद क्यों करेंगे ? कदापि नहीं कर सकते। तथाच संसारासक्तिका परित्याग करके, और देह-गेह आदिकी सर्वथा उपेक्षा करके विश्वंभर भगवान्का ही

शीलस्य वीतरागस्य साधकभक्तस्य देहनिर्वाहाय न कापि चिन्ताऽस्ति। तदुक्तं—'येन शुक्लीकृता हंसाः, शुकाश्च हरितीकृताः । मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्ति विधास्यति ॥' इति ।

(६)

(द्वैतप्रपञ्चनिषेधशेषं विष्णुस्वरूपमेव केवलमस्ति परमार्थसत्यं, तदितरत्तु निषिध्यमानं कृत्स्नं जगत् मिथ्यैवास्तीति निश्चित्यान्यस्माद्विरज्य तस्मिन्नेकस्मिन्नेव प्रणयभरो विधातव्यो मतिमद्भिः)

निरधिष्ठानाध्यारोपायोगात्, निरवधिकनिषेधायोगाच्च, नामरूपात्मकजगदध्यारोपकल्पनायाः प्रागेव सिद्धं, कल्पितबाधावधितया पश्चादप्यवशिष्यमाणं, मध्ये च सच्चित्सुखघनतया सर्वानुस्यूतं मायया निगूढमपि। तत्तु स्वतःसिद्धं त्रिकालाबाधितं स्वयंज्योतिरूपमद्वयं सर्वात्मभूतं वस्तु विष्णोः परं पदमित्युच्यते । उत्पत्तिप्रलयात्मके हि नामरूपे मायया ब्रह्मणि अध्यारोपिते, तद्विलक्षणञ्चाधिष्ठानं ब्रह्म विष्णुपरपदात्मकम् । 'आकाशो वै नाम नामरूप-

आश्रय ग्रहण करने वाले एवं उसीका ही भजन करने वाले—वीतराग-साधक-भक्तको शरीर-निर्वाह के लिए कुछ भी चिन्ता नहीं है । कहा भी है—'जिस परमेश्वरने हंसों को सफेद-रंगके बनाये हैं, तोतोंको हरे-रंगके बनाये हैं, और मयूरोंको चित्र-विचित्र रंग के बनाये हैं, वह तुम्हारा अवश्य ही पालन पोषण करेगा।' इति ।

(६)

(द्वैत प्रपञ्चके निषेधके अनन्तर परिशेषरूपसे अवस्थित-एकमात्र विष्णुस्वरूप ही परमार्थ-सत्य है, उससे अतिरिक्त-यह समस्त जगत्का—जिसका निषेध किया गया है—मिथ्या ही है, ऐसा निश्चय करके बुद्धिमानोंको चाहिये कि—वे इस मिथ्या संसारसे उपरत हो जायें, और उस एक—परब्रह्ममें ही अत्यन्त अनुरक्त होजायँ ।)

नामरूपात्मक-जगत् की अध्यारोप-कल्पनाके प्रथमसे ही जो स्वतः सिद्ध है, क्योंकि—अधिष्ठान के विना अध्यारोप नहीं होता । तथा कल्पित—संसारके बाधके अवधिरूपसे जो परिशिष्ट रहा है—बाकी बचा है । क्योंकि—अवधि विनाका प्रतिषेध नहीं होता । और मध्यमें माया द्वारा अतिगूढ होनेपर भी सत्-चित्-सुखघनरूपसे सर्ववस्तुओं में जो अनुगत है—समन्वित है । उस स्वतः सिद्ध, तीनों कालोंमें अबाधित-स्वयंज्योतिस्वरूप-अद्वय-सबका आत्मस्वरूप-वस्तु ही विष्णुका परम पद कहा जाता है । नाम रूपात्मक-द्वैतप्रपञ्चतो उत्पत्ति-विनाशवाला है, और माया द्वारा ब्रह्ममें अध्यारोपित है । विष्णुका परमपदरूप एवं अधिष्ठानरूप-जो ब्रह्म है, वह उससे विलक्षण है । अतः छांदोग्य-श्रुति भी कहती है कि—'आकाश यानी सर्वत्र प्रकाशमान-विभुतत्त्व ही,

श्रोर्निर्वहिता, ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छां० उ० ८।१४।१) इति श्रुतेः, 'नामरूपे व्याकरवाणीति' (छां० उ० ६।३।२) च । अयमर्थः— आकाशो वै नाम, श्रुतिषु प्रसिद्ध आत्मा, आकाश इवाशरीरत्वात्सूक्ष्मत्वाच्च, स चाकाशो नामरूपयोः निर्वहिता = निर्वोढा—सत्तास्फूर्तिप्रदाता व्याकर्ता। ते नामरूपे यदन्तरा = यस्याधिष्ठानस्य ब्रह्मणोऽन्तरा = मध्येऽध्यारोपिते मायया वर्तेते तयोर्वा नामरूपयोरन्तरा = मध्येऽनुस्यूतमन्यन्नामरूपाभ्यामस्पृष्टं यदि-त्येतत् तत् ब्रह्म नामरूपविलक्षणं, तथापि तयोर्निर्वोढृ एवंलक्षणं ब्रह्मेत्यर्थः, तदमृतमविनाशित्वात्, स आत्मा सर्वानन्यत्वाच्च । आत्मा हि नाम सर्वजन्तूनां प्रत्यक्चेतनः स्वसंवेद्यः प्रसिद्धः, तेनैव स्वरूपेणोन्नीय अशरीरो व्योमवत्सर्वगत आत्मा ब्रह्मेत्यवगन्तव्यम् ।

माया तत्कार्यभूतञ्च कृत्स्नं जगदस्ति कल्पितमेव, अत एव तन्निषिध्यते भूयो भूयः श्रुत्यादौ, एवमेवात्र श्रीमद्भागवतेऽपि तन्निषेधो यत्र तत्र सर्वत्रोपलभ्यते। तथाहि—'न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान्

नाम एवं रूपोंका निर्वाहक है—यानी सत्ता-स्फूर्ति-प्रदाता है, इसलिये वे नामरूप उसके मध्यमें अवस्थित हैं, वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है।' (छां० उ०) 'मैं परमात्मा नाम एवं रूपोंका व्याकरण (अभिव्यक्ति) करूँ।' (उ०) अर्थ—श्रुतियोंमें प्रसिद्ध आत्मा ही आकाश नामसे अभिहित है। जो आकाशके समान शरीर (अवयव) रहित, और सूक्ष्म है, वह आकाश नाम एवं रूपोंका सत्ता-स्फूर्ति देता है, एवं उनकी अभिव्यक्ति करता है। अतः वे नामरूप उस अधिष्ठान-ब्रह्मके मध्यमें माया द्वारा अध्यारोपित हुए हैं, वह ब्रह्म है। अथवा उन नामरूपोंके मध्यमें जो अनुस्यूत है, जो उनसे पृथक् है, एवं उनसे जो अस्पृष्ट (स्पर्श-रहित) असंग है। वह ब्रह्म है, जो नामरूपोंसे विलक्षण है, तथापि पूर्वोक्त-लक्षणवाला ब्रह्म नामरूपोंका निर्वोढा है, वह अमृत है, क्योंकि-उसका कभी विनाश नहीं होता, एवं वह आत्मा है, क्योंकि—वह सबसे अनन्य है। आत्मा वही है—जो समस्त प्राणियोंके मध्यमें-प्रत्यक्—चेतनरूपसे अवस्थित हैं, वह स्वसंवेद्य है-अप्रमेय है—अर्थात् प्रमाणोंके द्वारा वह जाना नहीं जाता, तथापि वह अहं-अहं-रूपसे सर्वत्र प्रसिद्ध है, इसप्रकार उसका परिचय प्राप्त करके—शरीर—रहित-आकाशके समान सर्वव्यापी-आत्मा ही ब्रह्म है, ऐसा जानना चाहिये।

माया और मायाका कार्यरूप यह समस्त-द्वैत प्रपञ्च कल्पित ही है, इसलिए-श्रुति आदिमें बारंबार उसका निषेध किया जाता है। उसी प्रकार इस श्रीमद्भागवतमें जहाँ तहाँ प्रायः सर्वत्र उसका निषेध उपलब्ध होता है—'जैसे—जहाँ यानी परब्रह्मस्वरूप में सत्त्व गुण नहीं है, रजोगुण और तमोगुण भी नहीं है, अहंकार आदि प्रकृतिके विकार भी नहीं है, महत्तत्त्व भी नहीं हैं, तथा जहाँ स्वयं प्रकृति भी नहीं हैं। जिसमें,

प्रधानम् ।' (भा० २।२।१७) 'न स्वप्नजाग्रन्न च तत्सुषुप्तं न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः । संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति ॥' (भा० १२।४।२०-२१) बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम् । दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥ दीपश्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथग्भवेत् । एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमाद्-ऋतात् ॥' 'बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते । मायामात्रमिदं राजन् ! नानात्वं प्रत्यगात्मनि ॥' (भा० १२।४।२३-२४-२५) इति । अयमर्थः—निरञ्जननिरुपाधिस्वरूपं भगवतो निषेधमुखेन वर्णयति—यत्र = विशुद्धे—ब्रह्मस्वरूपे—प्रकृतेर्गुणाः सत्त्वादयो न सन्ति, सत्येवं विकारः = अहंकारः, षोडशकस्तु इन्द्रियादिसमुदायरूपो वा विकारस्तु कुतः स्यात्, ? अत एव सोऽपि तत्र नास्त्येव । एवं न महान् = महत्तत्त्वं, न प्रधानं तत्रास्ति । अनेन ज्ञानगम्यं निर्विशेषस्वरूपं ज्ञाप्यते । किञ्च वागादिगोचरस्य सविशेषस्यैव विकारा भवन्ति, इदन्तु न तथा

वाणी, मन, सत्त्व, रजः एवं तमः, महत्तत्त्व आदि विकार, प्राण, बुद्धि इन्द्रिय और उनके देवता आदि कुछ नहीं रहते । सृष्टिके समय रहने वाले लोकोंकी कल्पना, और उनकी स्थिति भी नहीं रहती । उसमें स्वप्न, जाग्रत्, सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ नहीं रहतीं, आकाश, जल, पृथिवी, वायु, अग्नि और सूर्य भी नहीं रहते । सब कुछ सोये हुए के समान-शून्यसा रहता है । तर्क के द्वारा उस अव्यक्त-अद्वयदशाका अनुमान करना भी असंभव है । उस अव्यक्त-ब्रह्म को ही जगत् का मूलभूत-तत्त्व कहते हैं ।' (भा०) बुद्धि, इन्द्रिय और उनके विषयोंके रूपसे उनका अधिष्ठान—ज्ञानस्वरूप वस्तु ही भासित हो रही है । उन सबका तो आदि भी है, और अन्त भी, इसलिये वे सब सत्य नहीं हैं, अर्थात् अवस्तुभूत-मिथ्या हैं, क्योंकि-वे दृश्य हैं, और अपने अधिष्ठानकी सत्तासे भिन्न उनकी सत्ता नहीं है । जैसे दीपक, नेत्र और रूप ये तीनों तेजसे भिन्न नहीं हैं । वैसे ही बुद्धि-इन्द्रिय और उनके विषय-तन्मात्राएँ भी अपने अधिष्ठानरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं । हे राजन् ! परीक्षित् ! जाग्रत् स्वप्न एवं सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ बुद्धि की ही हैं, अतः इनके द्वारा ही अन्तरात्मामें विश्व तैजस एवं प्राज्ञरूपसे-जो नानात्वकी प्रतीति होती है, वह, केवल मायामात्र है—मिथ्या है ।' (भा०) यह अर्थ है—निषेध-मुखसे भगवान्के निरञ्जन (अञ्जनरूपमायासे रहित) निरुपाधिक-स्वरूपका वर्णन करते हैं—जिस विशुद्ध-ब्रह्मस्वरूपमें प्रकृति—मायाके सत्त्वादिगुण नहीं रहते, जब गुणत्रय ही नहीं रहते, तब उसका विकार-अहंकार अथवा इन्द्रिय आदिका समुदाय रूप-सोलह संख्यावाला विकार कैसे रह सकता है ? अर्थात् वह भी उसमें नहीं रह सकता । महान् यानी महत्तत्त्व, और प्रधान (प्रकृति) भी नहीं रहता । इस कथनसे-ज्ञानगम्य-निर्विशेषस्वरूप का ज्ञापन किया । और जो वाणी आदिका विषय है-एवं जो सविशेष-सोपाधिक है-उसमें ही विकार

निर्विशेषत्वादस्य, इत्याह—न यत्रेति । लोककल्पः = लोकरूपः, सन्निवेशो = रचनाविशेषो नास्ति । स्वप्नजाग्रत् = स्वप्नजागरावस्थायुक्तं, न तत्रास्ति, संसुप्तवद्—इन्द्रियाभावात् कार्यादर्शनाच्च, शून्यसादृश्ये हेतुः—अप्रतर्क्यम् । न पुनः शून्यमेवेत्याह—तदिति । पदं = स्वरूपं निरुपाधिकं, आमनन्ति = प्रतिपादयन्ति, श्रुतयः कवयो वेतिशेषः । आत्यन्तिकं लयमाह—सर्वद्वैतप्रपञ्चस्य आत्यन्तिकलयो हि स्वस्वरूपावस्थानात्मको मोक्षः, स च ब्रह्मज्ञानेनैव लभ्यो भवति । न च द्वैतप्रपञ्चस्यात्मवत्सत्यत्वे लयः संभवतीति ज्ञानरूपाद्ब्रह्मणः प्रथग्भूतस्य तस्य मिथ्यात्वलक्षणमसत्त्वमुपपादयति—बुद्धिश्च, इन्द्रियाणि च, अर्थाश्चेत्येवं, ग्राहककरणग्राह्यरूपेण तेषामाश्रयभूतमात्मस्वरूपं ज्ञानमेव भाति, न पृथक् । तत्र—आत्मस्वरूपज्ञानत्वे हेतुमाह—दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामिति । अतो यद् आद्यन्तवत् तद्वस्तु—मिथ्याभूतमित्यर्थः । अत्रैव द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वसिद्धयेऽनुमानप्रयोगः—विमतं बुद्ध्यादि, सन्न भवति दृश्यत्वा-

हो सकते हैं, यह तो ऐसा नहीं है, क्योंकि—यह निर्विशेष एवं निरुपाधिक है, अतः यह विकार रहित है, यह कहते हैं—न यत्र । उसमें रचनाविशेषात्मक-लोक-रूप प्रपञ्च भी नहीं है । वहाँ स्वप्न और जागरण-अवस्थासे युक्त विश्व एवं तैजस भी नहीं हैं, एवं सुषुप्ति-अवस्थावाला प्राज्ञ भी नहीं है । वह संसुप्तवत् है—यानी सम्यक् सुप्तकी तरह शून्य जैसा है । क्योंकि—वहाँ इन्द्रियाँ और उनका कार्य विषयानुभव भी नहीं हैं । शून्यके सादृश्यमें हेतु बतलाते हैं—अप्रतर्क्य यानी वह तर्क से गम्य नहीं है, वस्तुतः यह शून्य भी नहीं है, शून्यका साक्षी है-अधिष्ठान है । अतः श्रुतियां एवं विद्वद्गण उसका निर्विशेष-निरुपाधिकरूपसे प्रतिपादन करते हैं । अब—आत्यन्तिक-प्रलयका वर्णन करते हैं—समस्त द्वैतप्रपञ्च का आत्यन्तिक-प्रलय है—स्वस्वरूपमें अवस्थानरूप मोक्ष । ऐसा मोक्ष एकमात्र ब्रह्मज्ञानसे ही प्राप्त होता है । यदि आत्माके समान द्वैत-प्रपञ्च की परमार्थ-सत्यता होती, तो उसका कभी प्रलय नहीं हो सकता । अतः ज्ञानरूप ब्रह्मसे यह ज्ञेयप्रपञ्च पृथक् नहीं है, अतः उसके मिथ्यात्वरूप-असत्त्वका उपपादन करते हैं—बुद्धि इन्द्रिय और विषय, ये तीनों ही क्रमशः ग्राहकरूपसे करणरूपसे एवं ग्राह्यरूपसे—उनका आश्रयभूत—आत्मस्वरूप—ज्ञान ही प्रतीत हो रहा है । अतः यह भास्यप्रपञ्च अपने अधिष्ठानसे वस्तुतः पृथक् नहीं है । यदि उस ज्ञेयप्रपञ्चको ज्ञानसे पृथक् किया जाय तो, उसकी कुछ भी सत्ता नहीं रहती, वह असत्-अविद्यमान हो जाता है । वह ज्ञेय प्रपञ्च, वस्तुतः ज्ञानस्वरूप-आत्मा ही है, उसमें हेतु बतलाते हैं—दृश्यत्व और अव्यतिरिक्तत्व । इसलिये जो आदि एवं अन्तवाला जगत् है, वह वस्तुभूत नहीं है, किन्तु मिथ्या है । यहाँ द्वैतप्रपञ्च के मिथ्यात्वकी सिद्धिके लिए ऐसा अनुमान प्रयोग दिखाया जाता है—विवादका विषय यह बुद्ध्यादि—द्वैतप्रपञ्च, सत्य नहीं है, क्योंकि—वह

त् कारणाव्यतिरेकाद्, आद्यन्तवत्त्वाच्च, रज्जुसर्पादिवत् स्वप्नदृश्यवत् घटादिवद्वा । तत्राव्यतिरेकं दृष्टान्तेन प्रपञ्चयति—दीप इति । दीपचक्षूरूपाणां तेजोविशेषाणां तेजसो यथा न व्यतिरेकस्तथा धीः = कर्त्री खानि = करणानि श्रोत्रादीनि, मात्राः = विषयाः—शब्दादयः, ऋतात् = परमार्थसत्याद् ब्रह्मणः पृथङ् न स्युर्ब्रह्मकार्यत्वात् । कारणसत्तातः कार्यसत्ता पृथक् नावलोक्यते, किन्तु कार्याणामारोपितसत्तातः कारणसत्ता तु पृथगस्ति, तच्च मृद्घटादौ स्फुटतरमिति भावः । नन्वेवं कार्यकारणयोरभेदे कार्यासत्त्वे कारणस्याप्यसत्त्वं प्रसज्जेत तत्राह—अन्यतमादिति, कार्याद्त्यन्तव्यतिरिक्ताद्—ब्रह्मणः, इत्यर्थः । प्रपञ्चाद् ब्रह्मणोऽस्ति व्यतिरेकः, प्रपञ्चस्य तु ततो नास्ति व्यतिरेक इत्यर्थः । यदा तु बुद्धेरसत्त्वं, तदा तदवस्थानां सुतरामसत्त्वमित्याशयेनाह—बुद्धेरिति । ननु—विश्वतैजसप्राज्ञानामेता अवस्था न बुद्धेरित्याशंक्याह—मायामात्रमिति-

दृश्य है, कारणसे अव्यतिरिक्त है, और आदि-अन्तवाला है, जैसे रज्जुमें कल्पित-सर्प आदि, या स्वप्न-दृश्य-प्रपञ्च, या घटादि । यहाँ अव्यतिरेक (भेदाभाव) रूप हेतुको दृष्टान्त के द्वारा विशद किया जाता है—दीप, नेत्र और रूप, ये तीनों तेजोविशेष हैं, कार्य होनेसे प्रसिद्ध-तेजसे वे भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार कर्त्री-बुद्धि, श्रोत्रादिकरण, तथा शब्दादि मात्रारूप विषय, ये सबके सब परमार्थ-सत्य ब्रह्मसे पृथक् नहीं हैं, क्योंकि—ये ब्रह्मके कार्य हैं । कारणकी सत्तासे पृथक् कार्यसत्ता देखनेमें नहीं आती । तथापि कार्योंकी आरोपित सत्तासे कारण-सत्ता तो पृथक् ही होती है । यह निर्णय मृद्घट आदि स्थल में अतिस्पष्ट है ।

शंका—इस प्रकार कार्यकारण का अभेद माननेपर कार्यके असत्त्वसे कारण का भी असत्त्व प्रसक्त हो जायगा ? ।

समाधान—अन्यतमाद् = यानी कार्य से कारण अत्यन्त व्यतिरिक्त होता है, उसके अनुसार कार्य-जगत्से ब्रह्मका भी अत्यन्त व्यतिरेक (पार्थक्य) है, परन्तु ब्रह्मसे प्रपञ्चका व्यतिरेक नहीं है, यह अर्थ है । इसलिये कारणसे कार्य का अभेद है, किन्तु कार्यसे कारण का अभेद नहीं है । जब बुद्धिका असत्त्व है, तब उसकी जाग्रदादि-अवस्थाओंका अच्छी प्रकार से असत्त्व है—अर्थात् वास्तविकी-सत्ता नहीं है—इस आशयसे कहते हैं—बुद्धेरिति ।

शंका—विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ की ये तीनों अवस्थाएँ-जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति हैं, बुद्धि की नहीं है ।

समाधान—यह विश्व-तैजस एवं प्राज्ञ नामका जीव समुदाय भी मायामात्र है-कल्पित है-वास्तविक नहीं है । तात्पर्य यह है कि- जाग्रदादि-बुद्धि की अवस्थाएँ हैं, अतः बुद्ध्युपहित-विश्व तैजस-एवं प्राज्ञ की भी ये अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं । बुद्ध्याद्यु-

इदं-विश्वतैजसप्राज्ञरूपं ।

एवमेवाष्टमे गजेन्द्रोऽपि भगवन्तं द्वैतप्रपञ्चनिषेधशेषत्वोपलक्षित-निर्विशेषस्वरूपतया 'स एष आत्मा' 'नेति नेति' इत्यादिश्रुत्युपदर्शितरीत्याऽप्यस्तौत्—'स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ् न स्त्री न षंढो न पुमान्न जन्तुः। नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्, निषेधशेषो जयतादशेषः ॥' (भा० ८।३।२४) इति । स वै=प्रसिद्धः परमात्मा, अयं=प्रसिद्धः सत्त्वादिरूपो गुणः, न सन्=मूर्तभूतत्रयं, नासन्=अमूर्तभूतद्वयं, किन्तु सर्वस्य द्वैतप्रपञ्चस्य निषेधावधित्वेनावशिष्यत इति निषेधशेषः, मायया स्वस्मिन् अध्यारोपितविश्वतयाऽशेषः=संपूर्ण—विश्वरूपश्च, जयतात्=मद्विमोक्षणायाविर्भवतु । यद्वा न सत्=विधिमुखेन प्रमाणविषयः सत्, नासत्, निषेधमुखेन प्रमाणविषयत्वसत्, अयन्तु परमात्मा तदुभयविलक्षणः, निर्विशेषत्वात्, स्वप्रकाशचैतन्यस्वरूपत्वाच्च 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥' (तै० उ० २।४)

पाधियों को मायामात्र होनेपर तदुपहित—विश्वादि भी मायामात्र हैं, यद्यपि-उपाधिविनिर्मुक्त-विशुद्ध- आत्मस्वरूप सत्य होने पर भी ।

इस प्रकार 'स एष आत्मा नेति नेति' (वह यही आत्मा है, यह मूर्त भी नहीं है एवं अमूर्त भी नहीं है) इत्यादि श्रुतियोंने जिस प्रकार अतद्व्यावृत्ति के द्वारा आत्मतत्त्वका परिशेषरूप से उपदेश दिया है, उस प्रकार—श्रीमद्भागवतके अष्टम-स्कन्धमें गजेन्द्रने भी—द्वैतप्रपञ्चका निषेध करनेके अनन्तर जो परिशेष-रूपसे रहता है, उसके परिशेषत्व से उपलक्षित निर्विशेष स्वरूपसे भगवान् नारायणकी स्तुति की है—जैसे—'वे भगवान् न देवता हैं, और न असुर, वे न मनुष्य हैं, और न पशु पक्षी, वे स्त्री, पुरुष और नपुंसक भी नहीं हैं, एवं वे साधारण प्राणी भी नहीं हैं, वे गुण और कर्म नहीं हैं, कार्य और कारण भी नहीं हैं, सब—द्वैतप्रपञ्चका निषेध होजाने पर जो परिशेष रूपसे अवस्थित है, वह निर्विशेष ही उनका स्वरूप है, तथा अध्यारोपकी दृष्टिसे वे ही सब कुछ विश्व हैं, उस परमात्मा की जय हो अर्थात् वे मेरे उद्धारके लिए प्रकट हों ।' (भा०) वह प्रसिद्ध परमात्मा, वह प्रसिद्ध-सत्वादिगुणरूप भी नहीं है । सत् यानी पृथिवी, जल एवं तेजरूप मूर्त पदार्थ भी नहीं है, और असत् यानी वायु, आकाशरूप अमूर्त पदार्थ भी नहीं है, किन्तु समस्त—द्वैत-प्रपञ्चके निषेधकी अवधि रूपसे जो अवशिष्ट रहता है, वही निषेधशेष है । माया द्वारा अपनेमें समस्त—द्वैत-प्रपञ्चका अध्यारोप किया है, इसलिए वह अशेष है, अर्थात् संपूर्ण विश्वरूप है । ऐसा वह परमात्मा जयतात् यानी मेरी मुक्तिके लिए आविर्भूत होजाय । अथवा वह परमात्मा न सत् यानी विधिमुख द्वारा प्रमाणका विषय नहीं है, न असत् यानी निषेध-मुख द्वारा भी प्रमाण का विषय नहीं है । किन्तु वह सत्-एवं असत् दोनोंसे विलक्षण है ।

इत्यादिश्रुतेः । 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।' इति न्यायमनुरुध्य आविद्यकाध्यारोपमादाय जीवदृष्ट्या तस्य वस्तुतो निष्प्रपञ्चस्य निर्विशेषस्यैव भगवत्तत्त्वस्य सप्रपञ्चतां सविशेषताञ्चाह—'अशेषः' इत्यनेन । तथा च चरमचरञ्चाशेषं जगत् तदेव, नान्यत् कारणातिरेकेण कार्यस्यासत्त्वात्, एवं विद्याप्रसूतापवादमादाय ज्ञानवद्दृष्ट्या तस्य सप्रपञ्चस्य सविशेषस्यैव निष्प्रपञ्चतां निर्विशेषताञ्चाह—निषेधशेष इत्यनेन । तथा चात्र शुक्तिरजतादेरिव चराचरस्य द्वैतप्रपञ्चस्य प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वमपि सूच्यते । प्रपञ्चस्य मायिकत्वात् पारमार्थिकेन तदत्यन्ताभावेन सह तस्य न विरोधः, यतः समानसत्ताकयोरेव प्रतियोगितदभावयोः सामानाधिकरण्यविरोधाभ्युपगमात्, न तु विषमसत्ताकयोः, प्रकृते प्रपञ्चस्य व्यावहारिकसत्ताऽभ्युपगमात्, तदभावस्य च 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः ।' इति न्यायेनाधिष्ठानब्रह्मस्वरूपस्य पारमार्थिक—सत्ताऽभ्युपगमाच्च नास्ति कथमपि विरोधः । सत्येवं—अशेषोऽपि भगवान् निषेधशेषः, इत्येवं गजेन्द्रेण

क्योंकि—वह निर्विशेष है, और स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप है । श्रुति भी कहती है कि—'जिस परमात्मासे मनके साथ समस्त वाणियाँ-तदुपलक्षित—निखिल प्रमाण भी जिसे प्राप्त न होकर—निवृत्त होजाते हैं ।' (उ०) और 'अध्यारोपके द्वारा निष्प्रपञ्च-ब्रह्मको सप्रपञ्च किया जाता है, तथा अपवादके द्वारा सप्रपञ्च-ब्रह्मको निष्प्रपञ्च किया जाता है ।' इस न्याय के अनुसार अविद्या-कल्पित-अध्यारोपको लेकर वस्तुतः निष्प्रपञ्च एवं निर्विशेष—भगवत्तत्त्वकी जीवोंकी दृष्टिसे सप्रपञ्चता और सविशेषता बतलाते हैं—'अशेष' इस पदसे । ब्रह्मविद्यासे अभिव्यक्त-अपवाद को लेकर सप्रपञ्च एवं सविशेष भगवान्को ज्ञानी की दृष्टिसे निष्प्रपञ्च एवं निर्विशेष रूपसे कहते हैं—'निषेधशेष' इस पदसे । तथा च शुक्ति-रजतादिके समान समस्त—द्वैत-प्रपञ्चका प्रतिपन्न-उपाधिमें अभाव-प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व भी सूचित होता है । प्रतिपन्न-यानी स्वसम्बन्धीके रूपसे ज्ञात, उपाधि यानी अधिकरण-ब्रह्म । उसमें वस्तुतः द्वैत-प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव है, और उसका प्रतियोगी द्वैत-प्रपञ्च है । प्रपञ्च मायिक है, इसलिये इस प्रपञ्चके वास्तविक-अत्यन्ताभावके साथ प्रतियोगी-प्रपञ्चका विरोध नहीं है । क्योंकि—समान सत्ता वाले प्रतियोगी और उसके अभाव का सामानाधिकरण्य यानी एकाधिकरणमें वृत्तित्वरूप विरोध माना जाता है । विषम सत्तावाले—अभाव एवं प्रतियोगीका विरोध नहीं माना जाता । प्रकृतमें द्वैत-प्रपञ्चकी व्यावहारिक-सत्ता है, और उसके अभावकी—जो अधिष्ठान ब्रह्मरूप है—पारमार्थिक-सत्ता मानी जाती है, अतः कोई विरोध नहीं है । अतएव हमारे अद्वैतसंप्रदायके आचार्योंने यह न्याय भी प्रदर्शित किया है कि 'कल्पित वस्तुका नाश (अभाव) अधिष्ठान स्वरूप ही होता है, अधिष्ठानसे पृथक् नहीं होता ।' ऐसा निर्णय हो जानेपर अध्यारोपकी दृष्टिसे

दार्शनिकविदुषां श्रुतिसंमततर्कपद्धत्याऽपि सम्यक् स्तुत इति प्रत्येतव्यम् ।

एतादृशौ—अध्यारोपापवादौ श्रीमद्भागवते द्वितीयेऽपि तत्पर्यायशब्दान्तराभ्यां—आश्रयनिरूपणं कुर्वद्भिः प्रदर्शितौ स्तः। तथाहि—'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते। स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥' (भा० २।१०।७) इति। यतः=यस्मात् यस्मिन् वा, सार्वविभक्तिकः तसिः। यस्मात्—अज्ञातात् ब्रह्मणः द्वैतप्रपञ्चस्य, आभासः=अध्यारोपः, यस्मिन्—आश्रये ब्रह्मणि, अविद्यया अध्यवसीयते=प्रतीयते। एवं यस्मात्=ज्ञातात्—ब्रह्मणः द्वैतप्रपञ्चस्य निरोधः=अपवादः—अत्यन्ताभावः, यस्मिन् विद्यया प्रकाशते। स परं ब्रह्मेतिपरमात्मेति प्रसिद्ध आश्रयः=अधिष्ठानं शब्द्यते=कथ्यते।

एवं बन्धमोक्षपदाभ्यामपि—श्रीमद्भागवते दशमेऽपि—तावेवाध्यारोपापवादावित्थं प्रदर्शितौ स्तः। तथाहि—'अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ, द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्। अजस्रचित्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥' (भा० १०।१४।२६) इति। अयमर्थः—अज्ञानेन संज्ञा=नामनिर्देशो ययोस्तौ, यतस्तयोरज्ञानप्रयोजितत्वात्। एवंभूतौ भवबन्धमोक्षौ=भवेन=अज्ञानकल्पितसंसारारोपेन बन्धः=अहं कर्ता भोक्ता जन्ममरणादि-

भगवान् अशेष-विश्वरूप होनेपर भी अपवादकी दृष्टिसे निषेध-शेष-(विश्वातीत) भी हैं। इस प्रकार-दार्शनिक-विद्वानों-की श्रुतिसंमत-तर्क पद्धतिके द्वारा गजेन्द्रने श्रीभगवान् की बहुत ही अच्छी स्तुति की है, ऐसा जानना चाहिये।

इसप्रकारका अध्यारोप और अपवाद-श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धमें भी आश्रय का निरूपण करने वाले बादरायण-मुनिने, उसके पर्याय-अन्य शब्दोंके द्वारा प्रदर्शित किए हैं। जैसे—जिस-अज्ञात-ब्रह्मसे इस द्वैत-प्रपञ्चका आभास यानी अध्यारोप अविद्याके द्वारा जिस—आश्रयमें प्रतीत होता है, एवं जिस—ज्ञात ब्रह्मसे इस द्वैत-प्रपञ्चका निरोध यानी अपवाद (अत्यन्ताभाव) जिस आश्रयमें विद्याके द्वारा प्रकाशित होता है। वह आश्रय यानी अधिष्ठान, परं ब्रह्म एवं परमात्मा इस नामसे कहा जाता है।' 'यतः' इस पदमें सर्वविभक्तियोंका अर्थ बोधन करनेवाला 'तसि' प्रत्यय है, इसलिये 'यतः' इसपदसे 'जिससे एवं जिसमें' ऐसा अर्थ किया जा सकता है।

इस प्रकार बन्धमोक्षपदसे भी श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें भी वे ही अध्यारोप एवं अपवाद इस प्रकार प्रदर्शित किये हैं—बतलाते हैं—'संसारका बन्ध, और उससे मोक्ष ये दोनोंही अज्ञान से कल्पित हैं। वास्तवमें ये अज्ञानके ही दो नाम हैं। अतः ये सत्य—ज्ञानस्वरूप-परमात्मा से अन्य-व्यतिरिक्त वस्तुतः नहीं हो सकते। जैसे सूर्यमें दिन एवं रात वस्तुतः नहीं हैं, वैसे ही विचार करनेपर अखण्ड-चित्स्वरूप-केवल-शुद्ध-आत्मामें न बन्ध है, और न तो मोक्ष।' (भा०) यह अर्थ है-

धर्मवान् इत्यादिरूपः, तस्मान्मोक्षश्च, तौ द्वौ, नाम=प्रसिद्धौ, ऋतज्ञभावात्=ऋतः=सत्यश्चासौ, ज्ञः=ज्ञानरूपश्च यो भावः=आत्मा, भावशब्द आत्मवाचकोऽप्यस्ति । तस्मादन्यौ=व्यतिरिक्तौ न स्तः । ननु—कथं महानपलापः क्रियते ?। परमार्थसत्यविचारादित्याह–अजस्रेति । अजस्रा चितिः=अखण्डानुभवः, तदात्मनि=तद्रूपे, व्यभिचारिण्यवस्थात्रयेऽपि निरन्तरं तत्साक्षिचिदात्मना भासमाने परे=शुद्धे, आत्मनि—स्वयंप्रकाशे, वस्तुतोऽज्ञानं नास्ति, अत एवारोपितं तदस्ति, अत एव नास्ति पारमार्थिको बन्धः । अज्ञानस्यैव बन्धकत्वात्तदभावे बन्धाभावः स्फुट एव । अत एव न ज्ञानं, न च मोक्षः । बद्ध एव मुच्यते, न त्वबद्धोऽपीति तस्य स्वत एव मुक्तत्वात् । तरणौ=सूर्ये, नित्यप्रकाशरूपे इव=यथा, अहनी=रात्रिश्चाहश्चाहनी, एकशेषस्त्वार्षः, सूर्ये रात्र्यभावात्तद्विविक्तस्य दिनस्याप्यभावात् । अनेन—'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥' (माण्डूक्य-उ० कारिका) इति श्रुत्यर्थो एवाभिवर्णितः । यदा वितथं द्वैतमात्मैवैकः परमार्थः सन्, तदेदं निष्पन्नं भवति, सर्वोऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारोऽविद्या-

---

बन्ध एवं मोक्ष अज्ञानसे प्रयोजित होनेके कारण, अज्ञानके नामसे वे कहे जासकते हैं । अज्ञान-कल्पित-संसारके आरोपसे—मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, जन्ममरणादि-धर्मवाला हूँ, इत्यादि मिथ्याभाव रूपही बन्ध है, उससे जो मोक्ष है, वे दोनों सत्यज्ञानरूप आत्मासे अन्य—व्यतिरिक्त नहीं है । ऋत यानी सत्य, ज्ञ यानी ज्ञानरूप, भावशब्द आत्माका भी वाचक है ।

शंका—प्रत्यक्षतः अनुभूयमान-इस बन्धमोक्षादिरूप-संसारका यह महान् अपलाप आप कैसे कर रहे हैं ? ।

समाधान—परमार्थ-सत्य वस्तुके विचारसे । यह कहते हैं—अजस्र-चिति यानी अखण्डानुभवरूप-आत्मा, जो व्यभिचारी-अवस्थात्रयमें निरन्तर उसका साक्षी चिदात्मा रूपसे विभासित हो रहा है—उस पर यानी शुद्ध-स्वयंप्रकाश-आत्मामें वस्तुत अज्ञान नहीं हैं, अत एव वह आरोपित है, इसलिये पारमार्थिक-बन्ध भी नहीं है, अज्ञान ही बन्धक है, अज्ञानका अभाव होनेपर बंधका भी अभाव स्पष्ट ही है । अतएव न ज्ञान है, न तो मोक्ष है । क्योंकि—बद्ध ही मुक्त हो सकता है, अबद्ध कैसे मुक्त हो सकता है ? वह तो स्वतः मुक्त ही है । जैसे नित्य-प्रकाशरूप सूर्यमें रात्रि एवं दिवस नहीं हैं । सूर्यमें अन्धकाररूप रात्रिके न होने पर रात्रिका अभावरूप दिवसका भी अभाव है । इस श्रीमद्भागवतके वचन द्वारा—'न निरोध (प्रलय-विनाश) है, न उत्पत्ति है, न कोई बद्ध है, न कोई साधक है, न मुमुक्षु है एवं न कोई मुक्त ही है-यह पारमार्थिकी वस्तुस्थिति है ।' (श्रु०) इस श्रुतिके अर्थ का ही वर्णन किया है । जब द्वैत-प्रपञ्च

विषय एवेति । तथा चाध्यारोपापवादौ—आभासनिरोधौ—बन्धमोक्षौ चैकार्थाभिधायकत्वेन पर्यायौ स्तः इति वेदितव्यम् ।

सत्येवं तस्मिन्—एकस्मिन्—परमप्रेमास्पदे—परमानन्दनिधौ—सर्वात्मनि निर्विशेषे भगवत्स्वरूप एव देहादावनात्मनि—अहंममभावलक्षणां दुर्मतिं त्यक्त्वा कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरूपं जीवभावञ्च विसृज्य स एवाहमस्मि नान्यः इत्येवमनवरतभावनामयमनन्यसौहार्दं कल्याणकामुकैर्मतिमद्भिः क्षणे क्षणे विधातव्यमित्युपदिशति भगवान् बादरायणिर्महामुनिः श्रीशुकः—

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्, यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्य—सौहृदाः, हृदोपगुह्यार्ह—पदं पदे पदे ॥

(भा० २।२।१८)

विष्णोः सर्वात्मनो निरुपाधिक-निर्विशेष-स्वरूपं ध्यानाय—वर्णयति—परं=सर्वतः श्रेष्ठं नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावमानन्दाब्धिमद्वयं, पदं=स्वरूपं पद्यते गम्यते इति व्युत्पत्तेः, वैष्णवं=विष्णोः इदं 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा

मिथ्या है, एकमात्र आत्मा ही परमार्थ सत्य है, तब यही निर्णय सिद्ध हो जाता है कि-यह सभी लौकिक एवं वैदिक व्यवहार-अविद्या कल्पित है, वास्तविक नहीं है—तथाच अध्यारोप एवं अपवाद, आभास एवं निरोध, बन्ध एवं मोक्ष, ये तीनों ही एक ही अर्थ के प्रबोधक होनेके कारण, पर्याय ही हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

ऐसा विवेचन होजाने पर—देहादि—अनात्म-पदार्थोंमें- अहंममभाववाली-कुबुद्धि का परित्याग करके, और कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरूप-जीवभावका भी विसर्जन करके-उस परमप्रेमास्पद—परमानन्दनिधि-सर्वात्मा-निर्विशेष-अद्वय भगवत्स्वरूपमें ही—'वही मैं हूँ, अन्य नहीं हूँ' ऐसी अनवरत-भावनारूप- अनन्य सौहार्द-(परमप्रेम) कल्याणकी कामना रखने वाले- बुद्धिमानोंको प्रतिक्षण करते रहना चाहिये, ऐसा बादरायण-व्यासका पुत्र, भगवान् महामुनि श्रीशुक उपदेश देते हैं कि—

'ज्ञानयोगी, नेति नेति (यह नहीं, यह नहीं) इस प्रकार परमात्मा से भिन्न-द्वैत प्रपञ्च की व्यावृत्ति करना चाहते हैं, और शरीर एवं तत्सम्बन्धी पदार्थोंमें होने वाली-अहंममभावरूपा कुत्सित-आत्मबुद्धिका परित्याग करके हृदयके द्वारा अनन्य-प्रेमसे प्रतिक्षण श्रीभगवान्‌के जिस परम पूज्यस्वरूप का गाढालिङ्गन करते रहते हैं । वही भगवान् विष्णुका परमपद है, ऐसा समस्त शास्त्र एवं महात्मागण कहते हैं ।'

सर्वात्मा-विष्णुके निरुपाधिक—निर्विशेष-स्वरूपका ध्यानके लिए वर्णन करते हैं—पर = सबसे श्रेष्ठ, जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाववाला है, आनन्दका महासागर एवं अद्वय स्वरूप, जो प्राप्त किया जाता है, एवं जाना जाता है, वह पद है ।

पश्यन्ति सूरयः ।' (ऋ० १।२२।२०) इति श्रुतेः । पुरुषस्य चैतन्यमितिवत् अभेदेऽपि—औपचारिकी षष्ठी । यत्=यस्मात्, अतत् = तत्—आत्मा, तद्व्यतिरिक्तं—अतत्, अनात्मजातं अविद्याऽध्यारोपितं नामरूपात्मकं उत्सिसृक्षवः=उत्स्रष्टुं—परित्यक्तुं—इच्छवो मुमुक्षवो महापुरुषाः । केन-प्रकारेण त्यक्तुमिच्छवस्तत्राह—नेति नेतीति । देहोऽप्यात्मा न, जडत्वात् दृश्यत्वात् परिच्छिन्नत्वाच्च, घटादिवत्, इन्द्रियाण्यात्मा न, तैजसत्वात् करणत्वाच्च, दीपादिवत्, कुठारादिवच्च इत्येवं प्रकारेणेत्यर्थः । यद्वा–'अथात आदेशो नेति नेति, न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति, अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति' (बृ० उ० २।३।६) इति–श्रुत्युक्तरीत्याऽशेषतः कल्पितं तद्बाधित्वाऽद्वयमुच्छिष्टं विष्णोः परं पदमादिशन्ति । न च वीप्स्यमानेन नञा सर्वनिषेधे ब्रह्मणोऽपि निषेधापत्तिरिति भ्रमितव्यम्, यतो निरधिष्ठाननिषेधा-संप्रत्ययात् । 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (बृ० २।१।१) इति प्रतिज्ञाविरोधात् । उत्तरत्र च 'अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं' इति नामनिर्वचनेनोपसंहारासंगतेश्च । अतः प्राप्त-

जो वैष्णव है यानी विष्णुका है । 'वह विष्णुका परमपद है, जिसे ज्ञानी महात्मा सदा सर्वत्र-अन्तर्बहिः देखते रहते हैं ।' ऐसा सामवेद-संहिताकी श्रुतिका वचन है । विष्णुका एवं पदका अभेद होनेपर भी 'पुरुषका चैतन्य' की भांति 'विष्णोः पदं' में भेदबोधन करने वाली षष्ठि-विभक्ति औपचारिकी यानी गौण है । उपचारका अर्थ है–अभेद में भेदका आरोप, यह वास्तविक मुख्य नहीं माना जाता । तत् = आत्मा, नतत्-अतत् = अनात्मा, जो आत्मासे व्यतिरिक्त-शरीरादि-द्वैतप्रपञ्च है, जो अविद्यासे आरोपित एवं नामरूपात्मक है, उसका परित्याग करनेकी इच्छा रखने वाले मुमुक्षु-महापुरुष हैं । किस प्रकारसे उसका त्याग करने की वे इच्छा रखते हैं ? 'नेति नेति' इस प्रकारसे । इसका विशद वर्णन करते हैं कि–यह शरीर भी आत्मा नहीं है, दृश्य, जड एवं परि-च्छिन्न होनेसे, घटादि की तरह । इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हैं, तेजका कार्य एवं करण होनेसे, दीपादि की तरह एवं कुठारादि की तरह; ऐसे अनुमान के प्रकार द्वारा । अथवा–'ब्रह्मका आदेश (उपदेश) 'नेति नेति' है, इस ब्रह्मसे व्यतिरिक्त–और कुछ भी नहीं है, वह सत्यका सत्य है, ऐसा ब्रह्मस्वरूपका ज्ञापक नाम है ।' (बृ० उ०) इस श्रुतिमें प्रतिपादित रीतिके अनुसार समग्ररूपसे कल्पित-द्वैतप्रपञ्चका बाध करके जो अद्वय-उच्छिष्ट-विष्णुका परमपद है, उसका उपदेश देते हैं ।

शंका—'नेति नेति' इसमें निषेधात्मक-नकारका वीप्सासे यानी दोवार उच्चारण हुआ है । इससे सबका निषेध होजानेपर सर्वके अन्तर्गत ब्रह्मभी आगया, अतः उसका भी निषेध हो जायगा ।

समाधान—ऐसी भ्रान्ति नहीं रखनी चाहिये, ब्रह्मका निषेध नहीं हो सकता ।

सर्वविशेषोपाधिप्रतिषेध-पुरःसराधिष्ठानमात्रपरिशेषस्य निर्देश एव निर्विशेषाद्वयवस्तुबोधने स्फुटतर उपायोऽस्ति, नान्यः कश्चन । यतः समारोपितनिषेधेन निषिद्धादपरमार्थभूतादन्यदनिषिद्धं परमार्थभूतमधिष्ठानं ब्रह्मास्तीत्यवगम्यते । निषेधस्य सावधिकत्वात् ससाक्षिकत्वाच्च 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः । (क० उ० ३।११) इति श्रुतेः । अपि च सर्वस्यापि दृश्यस्य स्वोपादानचित्संवलितत्वात्, बुद्धिवृत्तिरपि स्वभावतश्चिदचिद्विषया भवति, तत्र निषेधवाक्येन सर्वदृश्ये निषिद्धे सति परिशेषात् चिन्मात्रे प्रत्यगभिन्नेऽद्वये ब्रह्मण्येव धीः प्रतिष्ठिता भवति । अतो युक्तमुक्तं ब्रह्मणो नामैव नामधेयं सत्यस्य सत्यं तत्परं ब्रह्म । एवं निर्देशोऽपि भवति सार्थकः ।

दौरात्म्यं = देहाद्यात्मत्वं, विसृज्य = परित्यज्य, अर्हस्य = पूज्यस्य श्री-

क्योंकि—ब्रह्म निषेधका अधिष्ठान है, अधिष्ठानके विना निषेधका भान नहीं हो सकता, क्योंकि—निषेध सापेक्ष पदार्थ है—अर्थात् किसका निषेध, किसमें निषेध, ऐसी निषेधमें प्रतियोगीकी एवं अधिष्ठानकी अपेक्षा रहती है । और 'मैं तुझे ब्रह्मका उपदेश करता हूँ' (बृ० उ०) इस प्रतिज्ञाके साथ विरोध होनेके कारण भी ब्रह्मका निषेध नहीं हो सकता । यदि ब्रह्मका भी निषेध अभिप्रेत हो तो ब्रह्मके उपदेशकी प्रतिज्ञा व्यर्थ होजाती है, और उत्तरके वचनोंमें-'अब 'सत्यका सत्य' यह ब्रह्मका ज्ञापक नाम है ।' (बृ० उ०) ऐसा नाम-निर्वचन के द्वारा किया गया उपसंहार भी असंगत हो जाता है, इसलिये भी अधिष्ठान—ब्रह्मका निषेध नहीं हो सकता । अतः अविद्या द्वारा प्राप्त समस्त-विशेष-उपाधियोंका प्रतिषेध पूर्वक ही एकमात्र-अधिष्ठानके परिशेषका निर्देशही-निर्विशेष-अद्वय वस्तुके बोधनमें-अतिस्पष्ट उपाय है । अन्य कोई उपाय नहीं है । क्योंकि—आरोपित-पदार्थके निषेधसे यह सिद्ध होता है कि—निषिद्ध-वस्तु अवास्तविक है—पारमार्थिक नहीं है, उससे अतिरिक्त-जिसका निषेध नहीं हो सकता है-उस ब्रह्मका निषेध कोई कर नहीं सकता है—वही वास्तविक—परमार्थ—स्वस्वरूप अधिष्ठान ब्रह्म है, ऐसा जाना जाता है । क्योंकि—निषेध, सावधिक एवं ससाक्षिक ही होता है । अतएव श्रुति-भगवती भी कहती है कि—'पुरुषसे परे कुछ नहीं, वही अन्तिम-अवधि है, और वही परम गति है ।' (उ०) और यह भी बात समझनी चाहिये कि—समस्त दृश्य पदार्थ, अपने उपादानकारणरूप-चैतन्यसे संयुक्त ही बना रहता है । अतः दृश्या बुद्धि-वृत्ति भी स्वभावसे जड-चेतन-उभयविषयक ही होती है । जब निषेध-वाक्यसे समस्त दृश्य वर्गका निषेध हो जाता है, तब परिशेषसे प्रत्यगभिन्न-अद्वय-चिन्मात्र-ब्रह्ममें ही अखण्ड-ब्रह्माकारा बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है । इसलिये यह युक्ति-युक्त ही कहा है कि—ब्रह्मका नाम सत्यका सत्य है, और वही परब्रह्म है । अर्थात् जगत् व्यावहारिक-सत्य है—और उसकी अपेक्षा ब्रह्म पारमार्थिक-सत्य है । इसलिये-पितुः पिता की तरह (छोटे बापकी अपेक्षा बड़े बापकी

विष्णोः, तदेतत् पदं स्वरूपं, पदे—पदे=क्षणे क्षणे—निरन्तरमित्यर्थः, हृदा=प्रेमभरेण हृदयेन, उपगुह्य-आश्लिष्य, तेन सह तादात्म्यमापाद्येत्यर्थः। अत एव अनन्यसौहृदाः=नान्यस्मिन् अनात्मनि सौहार्दं—प्रणयाभिनिवेशः किन्तु तस्मिन्—अनन्यस्मिन् भगवत्स्वरूप एव सौहार्दं विद्यते येषां तथाभूताः सन्तः, तद्विष्णवं पदं, आमनन्ति=वेदादिशास्त्रप्रतिपाद्यं श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरूपदिष्टं अध्यवस्यन्ति, पुनः पुनः चिन्तनेनाभ्यस्यन्ति चेत्यर्थः। यद्वाऽनन्यसौहृदाः—नान्यस्मिन् सौहृदं=ममत्वं येषां ते, अन्यत्र त्यक्तममत्वाद्विरक्ताः, विवेकिनोऽन्वयव्यतिरेकादियुक्त्या च दौरात्म्यं=देहादिकोशपंचके—आत्मत्वाध्यासं विसृज्य। अत्रैव द्वादशे षष्ठाध्यायेऽप्ययं श्लोक उपलभ्यते, परन्तु तत्र 'अर्हपदं पदे पदे' इत्यस्य स्थाने 'अवसितं समाहितैः' इति पाठभेदो दृश्यते। तस्यायमर्थः—अवसितं—भागत्यागलक्षणया, तत्त्वंपदार्थयोर्विरुद्ध-भागत्यागेन लक्षितं, हृदा—हृत्स्थोपनिषद्बोधेन, समाहितैः=

भांति) ब्रह्म, गौणसत्यरूप—जगत् की अपेक्षा मुख्य सत्य-स्वरूप है। इस प्रकारका उसका निर्देश भी सार्थक होजाता है।

दौरात्म्य यानी देहादिमें आत्मभाव जो दुष्ट है—दुःखका हेतु है, उसका परित्याग करके, पूजनीय-श्रीविष्णुके पद यानी स्वरूपका अनन्य प्रेमभरित-हृदयसे निरन्तर आलिंगन करके अर्थात् उसके साथ तादात्म्यापन्न होकर अत एव अनन्यसौहृद होकर अर्थात् अन्य अनात्म-पदार्थों में परमप्रेमका अभिनिवेश न रखकर किन्तु उस अनन्य-भगवत्स्वरूपमें ही अतिशय प्रणय (प्रीति) रखते हुए वेदादि शास्त्रोंसे प्रतिपाद्य, और श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ- गुरुके द्वारा उपदिष्ट-उस विष्णुके परमपदका मुमुक्षुवृन्द निश्चय करते हैं, पुनः पुनः चिन्तनके द्वारा अभ्यास करते हैं। अथवा-'अनन्यसौहृद' का यह भी अर्थ है कि—अन्य (आत्म—भिन्न) पदार्थोंमें जिनका ममत्व नहीं है, वे, अनात्मवर्गसे विरक्त हुए-विवेकी सद्गुरुजन, अन्वय-व्यतिरेकादियुक्तिके द्वारा दौरात्म्यका अर्थात् देहादि-पंचकोशोंमें आत्मभावके अध्यासका परित्याग करके अपने श्रद्धालु-शिष्योंके प्रति उस विष्णुके परमपदका आदरके साथ प्रतिपादन करते हैं।

इसी ही श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धके छट्ठे अध्यायमें यही मूल व्याख्येय-श्लोक-कुछ पाठ भेदके साथ उपलब्ध होता है। वहाँ 'अर्हपदं पदे पदे' इसके स्थानमें 'अवसितं समाहितैः' ऐसा पाठ भेद देखनेमें आता है। उसका यह अर्थ है—अवसित यानी भाग-त्याग लक्षणा द्वारा अर्थात्— तत्त्वं पदार्थोंके विरुद्ध—पिण्ड-ब्रह्माण्डरूप उपाधि-भागका त्याग द्वारा—जो अभिन्न-शुद्धस्वरूप-लक्षित होता है, उसका-हृदा यानी हृदयमें अवस्थित-उपनिषदोंके ज्ञानसे—समाहित-हुई—अखण्ड-ब्रह्माकार-वृत्तियोंके द्वारा उपगुह्य यानी बारम्बार भावना करके एवं निदिध्यासन यानी ध्यान—तन्मयता प्राप्त करके जो आत्मा-

अखण्डब्रह्माकार—प्रत्ययैरुपगुह्य = विभाव्य निदिध्यास्य वा, यदवसितं—अवबुद्धमात्मतया गृहीतमित्यर्थः; यद्वा अवसितं—साक्षात्कृतं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म, तदेव विष्णोः परं पदं, श्रद्धालुभ्यः शिष्येभ्यः, आमनन्ति = आदरेण प्रतिपादयन्तीत्यर्थः ।

एतत्प्राप्तावधिकारिणो दर्शयति—द्वादशे पुराणमहर्षिः सूतः—'त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत्परमं पदम् । अहंममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम् ॥' (भा० १२।६।३३।) देहजमहमिति, गेहजं ममेति ।

एवं—'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।' (ब्र०सू० ३।२।२२) इति पारमर्षसूत्रमपि ब्रह्मणो निषेधावधितया सत्यत्वं व्यवस्थापयति । सूत्रस्यायमर्थः–'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्च' (बृ० उ० २।३।१) इत्यनेन ब्रह्मणो यद्रूपद्वयं सपरिकरं प्रधानतया प्रकृतं, एतावत्त्वं इयत्तापरिच्छिन्नं तत्—प्रकृतैतावत्त्वं, तदेव–प्रतिषेधति, नेति नेतीत्यादि–श्रुतिः, इति शब्दस्य प्रधानत्वेन प्रकृतपरामर्शित्वात् । ब्रह्म तु न प्रधानत्वेन प्रकृतं 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इत्यत्र रूपद्वयात्मक–जगदुपसर्जनत्वेनैवोक्तत्वात् । इतश्च ब्रह्मणो

रूपसे ग्रहीत एवं विदित होता है, अथवा अवसित-यानी साक्षात्कृत होता है–उसका गुरुजन शिष्योंके प्रति प्रतिपादन करते हैं ।

पुराणमहर्षि-सूतजी श्रीमद्भागवतके द्वादश–स्कन्धमें इस विष्णुके परम पदको प्राप्त करनेका कौन अधिकारी है ? इसको दिखाते हैं—'विष्णुके इस परमपदकी प्राप्ति उन्हीं लोगोंको होती है, जिनकी अपने शरीरमें अहंता, और शरीर-सम्बन्धी स्त्री-पुत्र गृहादिमें ममता नहीं है, सचमुच यह अहंममभाव ही दौर्जन्य है । अर्थात् लोकोंमें भी वही दुर्जन माना जाता है कि–जो पदार्थ अपना नहीं है–उसे अपना मानकर उसमें मिथ्यामोह बाँधे एवं आसक्ति रक्खे ।'

इसप्रकार–ब्रह्मके रूप-द्वय जो प्रकृत हैं, एवं एतावान् यानी सावधिक–इयत्तासे परिच्छिन्न हैं, जिनका आरोप किया है, पश्चात् उनका प्रतिषेध किया जाता है, पुनः निषेधकी अवधिरूपसे ब्रह्मका उपदेश दिया जाता है ।' (ब्र० सू०) यह परमर्षि-भगवान्-बादरायण-प्रणीत ब्रह्मसूत्र भी निषेधकी अवधिरूपसे ब्रह्मकी सत्यता व्यवस्थापित करता है । सूत्र का यह अर्थ है–'ब्रह्मके दो रूप हैं, मूर्त और अमूर्त' (उ०) इस श्रुति के द्वारा ब्रह्मके अंगभूत-उपकरणसहित-जो दोरूप प्रधानरूपसे प्रकृत हैं, यानी उस प्रकरणके प्रारम्भमें प्रदर्शित किये हैं । जो इयत्तासे परिच्छिन्न हैं–वे 'प्रकृतैतावान्' कहे जाते हैं । उनका ही 'नेति नेति' श्रुति प्रतिषेध करती है । इतिशब्द प्रधानरूपसे प्रकृतका परामर्श करता है । 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इस श्रुतिमें ब्रह्मका प्रधानरूपसे (विशेष्यरूपसे) उल्लेख नहीं है, किन्तु विशेषणरूपसे-जो उपसर्जन-गौण माना जाता

न निषेधो यस्मात्ततः=प्रपञ्चनिषेधानन्तरं भूयः=पुनः, ब्रह्म निषेधावधिभूतमस्तीति ब्रवीति 'न हीत्यादि परमस्तीत्यन्तं' श्रौतं निर्वचनं–वाक्यं तस्मादित्यर्थः। अतो नेति नेतीति वाक्येन निषेधमात्रं न ज्ञेयं, किन्तु तेन निषेधेनोपलक्षितं तदधिष्ठानं भावरूपं निर्विशेषं चैतन्यसुखरूपमद्वयं ब्रह्म निश्चेतव्यं परिभावनीयं, तत्रैव च तादात्म्यमापादनीयमिति भावः। न च द्वैतप्रपञ्च निषेधे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधः, तस्य व्यावहारिकप्रामाण्याभ्युपगमादित्यनवद्यम्।

एतेन 'दौरात्म्यं=भगवदात्मनोरभेददृष्टिं, यद्वा विष्णोर्देहे मायिकत्वबुद्धिं, वैष्णवं पदं=श्रीवैकुण्ठाख्यं, पदं=चरणारविन्दं, इत्यादि मनःकल्पितं केषाञ्चिन्मतान्तरेऽभिनिविष्टानां व्याख्यानं निरस्तं; पूर्वोक्तोपनिषद्ब्रह्मसूत्रादिशास्त्रविरोधात्, श्रीमद्भागवतस्यापि सर्ववेदान्तसारतया तदनुसारेणैव तदर्थप्रतिपत्त्यौचित्यात्। एवं तत्प्रकरणस्य शब्दार्थमर्यादायाश्च विरोधादपि

है–उल्लेख है। प्रधानरूपसे-उल्लेख तो ब्रह्मके दो रूपोंका है। इसलिये 'नेति नेति' इस वाक्यसे ब्रह्मका निषेध नहीं हो सकता। और प्रपञ्चके निषेध के अनन्तर फिर निषेधावधिरूपसे ब्रह्म है' ऐसा 'नहि' यहांसे आरम्भ कर–'परमस्ति' पर्यन्तका समग्रश्रुतिका वचन कहता है। इसलिये 'नेति नेति' इस वाक्यसे केवल निषेधको ही नहीं जानना चाहिये, किन्तु उस निषेधसे उपलक्षित–उसके अधिष्ठानरूप ब्रह्मको भी जानना चाहिये। जो ब्रह्म भावरूप है, निर्विशेष है, चैतन्य है, सुखरूप है, और अद्वय है, इसी ही ब्रह्मका निश्चय करना चाहिये, इसीकी ही सतत भावना करनी चाहिये, और उसीमें ही तादात्म्यापन्न होजाना चाहिये, ऐसा भाव है। द्वैत-जगत् का निषेध करनेपर प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विरोध भी नहीं होता, क्योंकि–इस द्वैतजगत्का व्यावहारिक-प्रामाण्य माना गया है, अर्थात् द्वैत-जगत्की पारमार्थिकी सत्ताका निषेध किया जाता है–व्यवहारोपयुक्त-सत्ताका निषेध नहीं किया जाता, इसलिये पूर्वोक्त सब वर्णन-निर्दोष है–अर्थात् विवाद एवं विरोधसे निर्मुक्त है।

अन्य–मतमें अभिनिवेश रखने वाले कुछ पण्डितंमन्य उस मूल व्याख्येय श्लोकका ऐसा व्याख्यान करते हैं कि–दौरात्म्य यानी भगवान् और आत्मामें अभेददृष्टि, अथवा विष्णुके साकार-विग्रहमें मायिकत्व-बुद्धि। वैष्णवपद यानी वैकुण्ठधाम। पद यानी चरणारविन्द, इत्यादि। यह सब कपोल-कल्पित व्याख्यान है। उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र इत्यादि शास्त्रोंसे विरुद्ध होनेके कारण नितान्त-ही परित्याज्य है। श्रीमद्भागवत भी वेदान्त का सार है, इसलिये वेदान्तोंके-यानी उपनिषदोंके अनुसार ही उसके अर्थोंका व्याख्यान करना उचित है। और उसके प्रकरणसे विरुद्ध होनेके कारण तथा शब्दोंके अर्थोंकी मर्यादासे भी विरुद्ध होनेके कारण भी ऐसा व्याख्यान सर्वथा उपेक्षणीय है।

समुपेद्यं तादृशं व्याख्यानम् । अत एव श्रीमद्भागवते द्वितीयेऽप्यस्मिन्—तत्पदस्य वर्णनमुपनिषत्सिद्धान्तमनुसृत्यैतादृशं स्पष्टतो विधीयते, तथाहि—'शश्वत्प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं, शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम् । शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना । तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम् ॥' (भा० २।७।४७) इति । अयमर्थः—किं तद्भगवतः पदं स्वरूपं यस्मिन्मनोधारणां विधाय मायां तरन्ति चेत्यपेक्षायामाह—शश्वदिति—यद् ब्रह्मेति विदुः = जानन्ति, मुनयस्तद्वै भगवतः पदं = स्वरूपम् । किं तद् ब्रह्म तदाह—अजस्रं = नित्यं च तत्सुखं च विशोकं चेति । अजस्रसुखत्वे हेतुः—शश्वत् = सदा, प्रशान्तं, अतो नित्यसुखरूपम् । विशोकत्वे हेतुः—अभयं, तत्कुतः ? यतः समं = भेदशून्यं, अतोऽभयं 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति श्रुतेः । तत्कुतः ? यतः प्रतिबोधमात्रं =

इसलिये—श्रीमद्भागवतके इस द्वितीय-स्कन्धमें भी उस विष्णुके परमपदका वर्णन उपनिषदोंके सिद्धान्तके अनुसार ही-स्पष्टरूपसे ऐसा किया जाता है कि—'परमात्माका वास्तविक स्वरूप, एकरस-शान्त, अभय एवं केवलज्ञान-चैतन्यघन स्वरूप है । वह सर्वथा शुद्ध है, यानी माया एवं मायिक-प्रपञ्चका मल उसमें नहीं है—निर्मल है । और सम है—अर्थात् मायिक-विषमताएँ उसमें विद्यमान नहीं हैं । वह सत् और असत्-यानी मूर्त एवं अमूर्त दोनों से पर है । यद्वा-सत्-यानी विषय एवं असत् यानी इन्द्रिय दोनों से पर है । किसी भी वैदिक एवं लौकिक—शब्दकी वहां तक पहुँच नहीं है, अर्थात् शब्दशक्ति की विषयतासे रहित-निर्विषय है । अनेक साधनोंसे संपन्न होने वाले कर्मोंके फल भी वहाँ नहीं पहुँच सकते, अर्थात् कर्मफल की विषयतासे भी वह वर्जित पद है । और तो क्या ? स्वयं मायाभी उस पदके समक्ष नहीं जा पाती, किन्तु लज्जित होकर भाग जाती है, (जैसे प्रकाशके समक्ष तमः) परम-पुरुष भगवान्का वही परम पद है, महात्मा लोग उसीका शोक रहित-अनन्त-आनन्दस्वरूप ब्रह्मके रूपमें साक्षात्कार करते हैं ।' (भा०) इसका यह अर्थ है—भगवान्का वह पद-स्वरूप कैसा है ? जिसमें मनकी दृढ-धारणा लगाकर महात्मागण मायाको तर जाते हैं, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं—शश्वत् इति । जिसे ब्रह्मके नामसे मुनिगण जानते हैं, वही भगवान्का पद-स्वरूप है । वह ब्रह्म कैसा है ? नित्यसुखरूप है, और शोक से रहित है । वह नित्यसुखरूप क्यों है ? उसका समर्थक-यह हेतु है—शश्वत् यानी सर्वदा, शान्त है, इसलिये वह नित्यसुखरूप है । अर्थात् जहाँ शान्ति नहीं होती, वहाँ सुख भी नहीं होता, ब्रह्मस्वरूप में शाश्वत,-शान्ति है, इसलिये अनन्त-सुख भी है । शोकराहित्यमें यह हेतु है—अभय यानी निर्भय । उसमें भय क्यों नहीं है ? इसलिये नहीं है—कि-वह सम है—भेद शून्य है, इसलिये अभय है । श्रुति भी कहती है—'द्वितीयसे-आत्मभिन्नसे भय होता

ज्ञानैकरसम् ।

ननु-ज्ञानस्यापि नीलपीताद्याकारेण चक्षुरादिकरणभेदेन च भेदो दृश्यते । न । शुद्धं=निर्मलं । ननु—दर्शितो विषयकरणोपरागरूपो मल इत्यत आहः—सदसतः परं=विषयकरणसंगशून्यम्, अत्र सच्छब्देन प्रत्यक्षयोग्यतया विषयाः बोध्यन्ते, असच्छब्देन च प्रत्यक्षायोग्यतया करणानि, ताभ्यां परं, असंगत्वात् । तथा च वृत्तीनामेव तदुपरागो न तत्प्रतिफलितस्य ज्ञानस्येति भावः । ननु—तथापि ज्ञात्राऽऽत्मना सह ज्ञानस्य भेदः स्यात् । न । आत्मतत्त्वं, ज्ञानं आत्मनो ज्ञातुः स्वरूपमेव, तन्न ततो भिन्नम् । ननु च—'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० उ० ३।९।२६) इति शब्दबोध्यत्वप्रतीतेः कुतो बोध-

है ।' (उ०) वह भेद रहित क्यों है ? इसलिये है कि-वह ज्ञानैकरस है ।

शंका—चक्षु आदि इन्द्रियोंके भेदसे ज्ञानका भी नील-पीत आदि आकार से भेद देखने में आता है, तब ज्ञान भेदशून्य-एकरस कैसे हो सकता है ? ।

समाधान—वह ज्ञान (स्वरूपभूत) शुद्ध है-निर्मल है ।

शंका—ज्ञानमें विषय और करणका सम्बन्धरूप मल तो हमने दिखाया है, तब वह निर्मल कैसा ? ।

समाधान—वह सत् एवं असत् से पर है, अर्थात विषय और करणके सम्बन्धसे रहित है, यहाँ सत् शब्दसे प्रत्यक्षके योग्य-शब्दादि-विषयोंका बोधन होता है, और 'असत्' शब्दसे प्रत्यक्षके अयोग्य—इन्द्रियोंका, उन दोनों से पर ज्ञान है, वह असंग है, यानी उन-दोनोंके सम्बन्धसे रहित है । तथा च विषय और इन्द्रियोंका वृत्तियोंके साथ सम्बन्ध है, (जिनमें विम्बभूत-ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है) वृत्तियोंमें प्रतिबिम्बित चैतन्यज्ञानमें उनका सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् वृत्तियोंमें ही नीलादि—आकारोंका वह भेद है, उनमें प्रतिबिम्बित-ज्ञानमें वह भेद नहीं है, जब प्रतिबिम्बभूत-ज्ञान भेदरहित है, तब उसका विम्बभूत—स्वरूपज्ञान भेदरहित हो, इसमें तो कहना ही क्या ? ऐसा भाव है ।

शंका—तथापि ज्ञाता—आत्माके साथ ज्ञानका तो भेद रहेगा ही, अर्थात् ज्ञान आश्रित है, और ज्ञाता आश्रय है—इस प्रकार कुण्ड-बदर की तरह आश्रित—आश्रयका भेद माना ही जायगा ।

समाधान—वह आत्म-तत्त्व है, अर्थात् ज्ञान तो ज्ञाता (आत्मा) का स्वरूप ही है—उससे भिन्न-आश्रित-गुणरूप ज्ञान नहीं है ।

शंका—'मैं उपनिषदोंके ज्ञानसे गम्य उस आत्माको आपसे पूछता हूँ ।' (श्रु०) इस श्रुति—वचनसे यह विदित होता है कि—आत्मा उपनिषदोंके शब्दसे बोध्य है, यानी बोध का विषय है । तब आत्मा बोध (ज्ञान) रूप कैसे हो सकता है ? ।

रूपत्वमात्मनस्तत्राह-शब्दो न यत्रेति । आरोपितनिवृत्तावेव शब्दस्य व्यापारो न तु तद्बोध इत्यर्थः । ननु-च भवतु नामात्मनो निरस्तभेदज्ञानरूपत्वाद्विशोकत्वं, सुखस्य तु नानाकारकसाध्यक्रियाफलत्वात्कथमजस्रसुखत्वं तस्येत्यत आह—यत्र बहुकारकसाध्यः क्रियार्थः, उत्पाद्याप्यविकार्यसंस्कार्यरूपं चतुर्विधं क्रियाफलञ्च नास्ति । यदभूत्वा भूयते, तदुत्पाद्यं यथा घटादि । यत्सिद्धमेव प्राप्यते, तदाप्यं यथा ग्रामादि । यत्र पूर्वावस्थापरित्यागेनावस्थान्तरप्राप्तिस्तद्विकार्यं, यथा दध्यादि । यत्र गुणाधानं मलापकर्षणं क्रियते, तत्संस्कार्यं, यथा वस्त्रादि । तथा चेन्द्रियैर्ज्ञानांशाभिव्यक्तिरिव क्रियाभिरानन्दांशाभिव्यक्तिमात्रं क्रियते, नोत्पत्त्यादिकमिति भावः । ननूत्पत्त्याद्यभावेऽपि मायामलापाकरणेन

समाधान—शब्दो न यत्र । शब्द केवल आरोपित-द्वैत प्रपञ्चकी निवृत्ति करने में प्रवृत्त होता है, बोधके उत्पादन के लिए प्रवृत्त नहीं होता । आत्मरूप-बोध तो आवरणकी निवृत्ति द्वारा अभिव्यक्त होता है । इसलिये शब्द-समुदाय उस बोध रूप-आत्माको विषय नहीं कर सकता । अतः बोध्यका अर्थ है-वृत्तियों से आवरणनिवृत्ति द्वारा जो लक्षित होता है ।

शंका—अच्छा, यह मान लिया जाता है कि—आत्मा भेदशून्य है एवं ज्ञान स्वरूप है, इसलिये वह विशोक है । परन्तु अजन्य आत्मा सुखस्वरूप तो हो ही नहीं सकता । क्योंकि—सुख तो नानासाधनों से साध्य—क्रियाका फलरूप है, अर्थात् सुख शाश्वत—होता ही नहीं, वह तो जन्य पदार्थ है, अतः वह विनाशी भी है ।

समाधान—क्रियाओंके फल चार प्रकार के होते हैं, और क्रियाएँ अनेक साधनों से साध्य होती हैं । उनमें कोई फल उत्पाद्य है, तो कोई आप्य (प्राप्य) है, कोई विकार्य है, तो कोई संस्कार्य है । इन चार प्रकारके फल एवं उनकी उत्पादक कियाएँ भी आत्मामें नहीं हैं । जो प्रथम न हो, फिर साधनों से जिसे उत्पादित किया जाता हो, उसे उत्पाद्य कहते हैं, जैसे घटादि । जो प्रथमसे ही सिद्ध है, किन्तु गमनादि-क्रिया द्वारा जिसे प्राप्त किया जाता हो, उसे आप्य कहते हैं, जैसे ग्राम आदि । जिसमें अपनी पूर्वावस्थाका परित्याग द्वारा अन्य-अभिनव-अवस्था की प्राप्ति हो, उसे विकार्य कहते हैं, जैसे दही आदि । जिसमें गुणका आधान (स्थापन) किया जाता हो, तथा मलका अपनयन (दूरीकरण) किया जाता हो, उसे संस्कार्य कहते हैं, जैसे वस्त्रादि । तथाच जिस प्रकार इन्द्रियोंसे ज्ञानांशकी अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार क्रियाओंसे भी आनन्दांशकी केवल अभिव्यक्ति ही होती है । उत्पत्ति आदि नहीं होती । यह तात्पर्य है कि—आनन्द भी शाश्वत रूपसे सदा विद्यमान है, परन्तु अज्ञानावरण द्वारा वह छिप-सा गया है । क्रियाओंके द्वारा आवरणकी निवृत्तिसे उसका प्राकट्यमात्र किया जाता है, अतः सुख-शाश्वत है, अजन्य है, एवं आत्मस्वरूप है, ऐसा सिद्ध हुआ ।

संस्कार्यत्वमेव स्यात्, व्रीहीणामिव तुषापाकरणेनेत्याशङ्क्याऽऽह—माया = त्रिगुणात्मिका यस्याभिमुखे स्थातुं विलज्जमानेव यस्मात् परैति = दूरतोऽपसरति। तथा च वस्तुतो निर्मायं निरञ्जनं निर्विकारं निर्विशेषमद्वयज्ञानानन्दघनस्वरूपमेव परमस्य पुंसो भगवतः पदं विज्ञेयं, न परिच्छिन्नं त्रिपुटीभेदवत्। इति। इदमत्र विज्ञेयं—अस्य प्रकृतस्य श्लोकस्य नेति नेतीत्यनेन समस्तद्वैतप्रपञ्चनिषेधबोधनेन स्पष्टतो निर्विशेषपरात्परविशुद्धब्रह्मवर्णनपरताऽवगम्यते। अतोऽत्र वैकुण्ठधाम-चरणारविन्दादि-वर्णनं सर्वथैवायुक्तं, यत्र च साकारस्य भगवतः सालोक्य-सायुज्यादि-कार्यमोक्षवर्णनमुपलभ्यते, तत्र तु तदभ्युपगम्यत एवास्माभिः प्रकरणवाक्याद्यनुरोधेनेति।

शंका—उत्पत्ति आदिके न होनेपर भी सुखस्वरूप आत्मामें विद्यमान—मायाके मलरूप आवरणका अपनयन तो करना ही पड़ता है, तब तो वह सुख संस्कार्य होजायगा, जैसे छिलके निकालनेपर व्रीहि (धान—डांगर) संस्कार्य हो जाती है।

समाधान—त्रिगुणात्मिका माया जिसके संमुख नहीं आने पाती, किन्तु-लज्जितसी हुई उसके सामने दूर से ही भाग जाती है। तथा च वह विष्णुका परमपद, माया से रहित है, निरंजन है, निर्विकार है, निर्विशेष है, अद्वय—ज्ञानघन आनन्दघन स्वरूप ही है। वही परम पुरुष भगवान्‌का जानने योग्य पद है—वह त्रिपुटियोंका भेदवाला परिच्छिन्न-पद नहीं है—किन्तु अपरिच्छिन्न—निर्भेद—पूर्ण-स्वरूप है। ऐसे पदमें माया कल्पितरूपसे रहनेपर भी वस्तुतः नहीं रहती, ब्रह्मविद्या द्वारा कल्पित—एवं नित्य-निवृत्त मायाकी ही निवृत्ति की जाती है, अतः उस सदा प्राप्त पद की आवरण-निवृत्ति द्वारा प्राप्ति की जाती है।

यहाँ यह समझना चाहिये कि—इस प्रकृत-मूल-व्याख्येय-श्लोकका—'नेति नेति' के कथन द्वारा-समस्त—द्वैत प्रपञ्चके निषेध का बोधन करके निर्विशेष-परात्पर—विशुद्ध-ब्रह्मके वर्णन में ही—तात्पर्य है, ऐसा स्पष्ट विदित होता है। इसलिए—इस श्लोकमें—वैकुण्ठधाम—चरणारविन्द आदिका वर्णन करना सर्वथा अयुक्त है, प्रकरण-वाक्यादि—प्रमाणोंसे भी विरुद्ध है। जिस प्रकरणमें या जिस श्लोकमें—साकार-भगवान्‌के सालोक्य-सायुज्य आदि कार्यभूत—गौण-मोक्षका वर्णन उपलब्ध होता हो, वहाँ तो प्रकरण-वाक्य आदिके अनुरोधसे वैकुण्ठधाम-चरणारविन्द आदि को हम स्वीकार करते हैं। इतिशम्।

(१०)

(भगवान् स्वात्मना परमप्रेमास्पदतयाऽनुभूत एव, अत एव तस्मिन् भक्तियोगो न दुर्लभः ।)

'न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह । वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ॥' (श्रीमद्भा० २।२।३३) इति प्रागुक्तम् । अस्यायमर्थः—संसरतः—कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसारधर्मानजस्रमनुभवतो मनुजस्य कल्याणाय शास्त्रे प्रतिपादिताः गुरुभिर्निरूपिताश्च सन्ति भूयांसो मोक्षमार्गास्तपोयोगादयः, तेभ्योऽयमेव समीचीनः शिवः=सुखरूपो विघ्नरहितः सुगमः पन्थाऽस्ति, यतोऽनुष्ठितात्—श्रवणकीर्तनादिरूपात्—वासुदेवे भगवति भक्तियोगो भवेत्=संपद्येत । अतोऽन्यः शिवः पन्था नास्ति, तस्माच्छ्रेयसकामैरयमेव भक्तियोगोऽनुष्ठेयः । भक्त्या=प्रेम्णा लभ्यो योगो भगवति संलग्नचित्ततैव भक्तियोगः ।

परन्तु मनुजस्य भगवति भक्तियोगः कथं संभवेत्?, यतस्तस्य सर्वथैवाननुभूतत्वात् अदृष्टत्वाच्च । तद्वैपरीत्येन नयनाह्लादिमनोज्ञस्त्र--संतर्पक

---

(१०)

(भगवान् अपने आत्मारूपसे एवं परमप्रेमास्पदरूपसे सबको अनुभूत ही हैं, इसलिये उनमें किया जाने वाला भक्तियोग दुर्लभ नहीं है)

'जिस साधनसे वासुदेव—भगवान् में अनन्य—भक्ति योग सिद्ध होजाय, संसार-चक्रमें पड़े हुए मनुष्योंके लिए उससे अतिरिक्त—अन्य कोई भी कल्याणकारी मार्ग नहीं है ।' (भा०) ऐसा प्रथम कहा है । इसका यह अर्थ है—मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूं, इस प्रकारके कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि-संसारके धर्मोंका निरन्तर अनुभव करने वाले संसारी मनुष्योंके कल्याणके लिए शास्त्रोंमें तप, योग आदि अनेक साधनरूप मोक्षके मार्ग बतलाये हैं, और आचार्य-गुरुओंने भी जिनका निरूपण भी किया है । उन सब मार्गों से यही सुखरूप-विघ्नरहित—सुगम मार्ग है कि—जिनके अनुष्ठानसे—जो श्रवण कीर्तन आदिरूप है—भगवान् वासुदेवमें भक्तियोग प्राप्त हो जाय । इससे अतिरिक्त-और कोई सुखरूप मार्ग नहीं है, इसलिये कल्याणकी कामना रखनेवाले—मानवों को इसी ही श्रवण-कीर्तनादि-साधन सहित भक्तियोगका अनुष्ठान करना चाहिये । भक्तिसे-प्रेमसे प्राप्तकरने योग्य योग अर्थात् भगवान्में संलग्नचित्तता यानी एकतानता यही भक्ति योग है ।

परन्तु मनुष्यका भगवान्में भक्तियोग कैसे हो सकता है ? क्योंकि—उसने कभी भगवान्का अनुभव ही नहीं किया है, एवं न कभी किसी भी रूपसे दर्शन ही किया

सरसभोजन-श्रवणामृतायमानगानादयो लौकिका विषयाः सर्वैरनुभूताः पौनःपुन्येन जागरे किं ? स्वप्नेऽपि दृष्टाश्च विद्यन्ते, अतस्तेष्वेव सर्वेषां स्वाभाविक्यः प्रीतयः कर्मसमभिहारेण प्रादुर्भवन्ति, तद्वशात्तेष्वेव संलग्नचित्तताऽवतिष्ठते । ताश्च सन्ति भगवद्भक्तिविरोधिन्यः, तासु सतीषु 'झंझावाते-दीपोदय इव' भगवद्भक्तियोगस्योदय एव दुर्लभो मन्तव्यः ।

तत्रापि भगवान् केनापि प्रमाणेन नानुभूतो भवति; न च दृष्टो भवति । न च तत्र श्रवणादिकं प्रत्यक्षं प्रमाणं संक्रमते, यतस्तस्याशब्दत्वात् अस्पर्शत्वात् अरूपत्वाच्च । यदाह श्रुतिरपि—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं' (क० उ० १।३।१५) इति । नापि तस्मिन् वागपि प्रवर्तते, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तै० उ० २।१०।१) इति वाक्प्रवृत्तेः प्रतिरोधात्, नापि मनः, 'अप्राप्य मनसा सह' (तै० उ० २।१०।१) इत्यनेन मनःप्राप्तिप्रतिषेधात् ।

है । अपितु उसके विपरीत—नेत्रोंको आनन्द देने वाली सुन्दरी नारी, जिह्वाको संतृप्त करने वाला सरस—भोजन, कर्णमधुर—संगीत आदि—इन लौकिक-विषयोंका सबने वारंवार अनुभव किया है, जाग्रत्में क्या ? स्वप्नमें भी वे ही विषय देखनेमें आते रहते हैं । इसलिये उन विषयोंमें ही लोगोंकी स्वाभाविकी प्रीतियाँ वारंवार होती रहती हैं, विषयों की प्रीतिके वशसे उन्हींमें ही चित्त की संलग्नता बनी रहती है, और ये विषय-प्रीतियाँ भगवद्भक्तिकी विरोधिनियाँ हैं, अतः इनके रहते हुए चित्तमें भगवद्भक्तिका उदय दुर्लभ ही मानना चाहिये, जैसे प्रचण्डवायु के रहते दीपका उदय दुर्लभ है, तद्वत् ।

और उसमें भी—किसी भी प्रमाणसे भगवान्‌का अनुभव ही नहीं होता, न तो दर्शन ही होता है । उस-भगवत्स्वरूपमें श्रवण, त्वक्, चक्षु आदि प्रत्यक्ष-प्रमाणका भी संक्रमण (प्रवेश) नहीं हो सकता, क्योंकि-वह अशब्द होनेके कारण श्रवणेन्द्रिय का भी विषय नहीं है, अस्पर्श (स्पर्शरहित) होनेके कारण त्वगिन्द्रिय का भी विषय नहीं है, एवं रूपरहित होनेके कारण चक्षुका भी विषय नहीं है । अत एव श्रुति भी कहती है कि—'वह परमात्मा-ब्रह्म शब्द स्पर्श एवं रूप से रहित है, अव्यय-अविनाशी है ।' (उ०) अतएव उसमें वाणीकी भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । क्योंकि—'जहाँ से वाणियाँ निवृत्त होजाती हैं' (श्रु०) इस श्रुति-वचनने वाणीकी भी प्रवृत्ति का प्रतिरोध बतलाया है । तथा उसमें मनकी भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि—'मनके साथ प्राप्त न होकर' (श्रु०) इस श्रुति-वचनने मनकी प्राप्तिका भी निषेध किया है । इस प्रकार उसमें प्रत्यक्ष-प्रमाणोंकी विषयता न होनेके कारण प्रत्यक्षसे अन्य-(प्रत्यक्षोपजीवी) अनुमानादि-प्रमाण भी उस भगवत्स्वरूपको विषय नहीं कर सकते हैं । क्योंकि-वह निर्धर्मक (धर्मरहित) और असंग है । इसलिये जिसका सर्वथा अनुभव ही नहीं हुआ है, न कभी दर्शन ही हुआ है, ऐसे भगवान्‌में कैसे एवं किसकी प्रीति हो सकती है ? अर्थात्

सत्येवं नानुमानादयः प्रमाणानि तदितराण्यपि तं गोचरयन्ति, तस्य निधर्मकत्वात् असंगत्वाच्च। तथा च तस्मिन् सर्वथैवाननुभूतेऽदृष्टे च भगवति कथं कस्य प्रेमा संभवेत् ?। इति चेन्मैवम्-

भगवान् सर्वभूतेषु, लक्षितः स्वात्मना हरिः ।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा, लक्षणैरनुमापकैः ॥
तस्मात्सर्वात्मना राजन्! हरिः सर्वत्र सर्वदा ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च, स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम् ॥

(श्रीमद्भा० २।२।३५-३६)

भगवान् हरिः, लक्षितः = अनुभूत एव । कथं ?। स्वात्मना = स्वस्वरूपेण-परमप्रेमास्पदतया क्षेत्रज्ञतयेत्यर्थः । 'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानं' (भा०-१०।१४।५५) 'तस्मात्प्रियतमः स्वात्मा' (भा० १०।१४।५४) 'एकस्त्वमात्मा पुरुषः' (भा० १०।१४।२३) 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः' (भा० ५।१२।१३) 'आत्मत्वात्सर्वभूतानां, सिद्धत्वादिह सर्वतः ।' (भा० ७।६।१९)

सर्वथा अननुभूत एवं अदृष्ट-भगवान् में किसीकी भी प्रीति नहीं हो सकती है, ऐसी शंका के उपस्थित होने पर कहते हैं कि—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए-क्योंकि—

'समस्त-चराचर-प्राणियोंमें उनके आत्मारूपसे भगवान् श्रीहरि ही लक्षित होते हैं, क्योंकि-ये-बुद्ध्यादि-दृश्य-पदार्थ उनका अनुमान कराने वाले ज्ञापक-लक्षण हैं, वे भगवान् इन सबके साक्षी एकमात्र द्रष्टा हैं, इसलिये हे राजन् ! परीक्षित् ! मनुष्यों को चाहिये कि—वे सब-समयमें और सभी शुभाशुभ-परिस्थितियोंमें सर्वात्मभावसे भगवान् श्रीहरिका ही निरन्तर श्रवण कीर्तन एवं स्मरण (ध्यान) करते रहना चाहिये । इसप्रकार भगवान् सब को आत्मारूपसे-स्वयं अपने ही स्वरूपसे अनुभूत हैं—एवं अनुमानादि-प्रमाणोंके द्वारा भी विशेषतया ज्ञात हैं, अतः उसमें भक्तियोग होना दुर्लभ नहीं सुलभ है । यही पूर्वोक्त-शंका का समाधान है ।'

भगवान् हरि लक्षित यानी अनुभूत ही हैं । कैसे ? अपने स्वरूपसे परम-प्रीति के आस्पद (विषय) रूपसे क्षेत्रज्ञ-आत्मारूपसे । 'तुम इस भगवान् कृष्णको सबका आत्मा ही जानो' (भा०) 'इसलिये अपना आत्मा सबसे प्रियतम ही होता है ।' (भा०) 'हे भगवन् ! तू एक है, सबका आत्मा है, और पुरुष है' (भा०) (पुरिशयानाद् पूर्णत्वाद्वा पुरुषः (निरुक्त) अर्थात् शरीररूपी-पुरियोंमें शयन करने से एवं सर्वत्र पूर्ण होनेसे वह पुरुष है) 'यह क्षेत्रज्ञ आत्मा पुराण-पुरुष है' (भा०) पुराण यानी पुरापि नवः अर्थात् अतिप्राचीन होनेपर भी जो सदा अभिनव-जैसाका तैसा ही अपरिणत-रहता हो ।

'आत्मत्वात्सर्वभूतानां, सर्वभूतप्रियो हरिः।' (भा० ६।१८।३३) इत्यादिवचनशतेभ्यो भगवतः सर्वेषां स्वस्वरूपत्वं निरूप्यते। यद्वा लक्षितः= अनुमानेनाप्यधिगत इत्यर्थः। कुत्र लक्षितः? किमेकत्र वा सर्वत्र वेत्यपेक्षायामाह—सर्वभूतेषु=भवनधर्मेषु—समस्तचराचरेषु। यो भगवान् सर्वत्र लक्षितो भवति, स एकत्रापि कथं न लक्षितः स्यात्?। स्वस्मिन्निव सर्वभूतेष्वपि तस्य व्यापकत्वात् ओतप्रोतत्वात् प्रेरकत्वात् भासकत्वाच्च भगवान् हरिः शान्तभक्तैर्ज्ञानिभिरनुभवगोचरीकृत एव भवतीति भावः। कैर्हेतुभिः लक्षितो भवतीत्यपेक्षायामाह—दृश्यैः—बुद्ध्यादिभिः द्रष्टा—क्षेत्रज्ञो भगवान् लक्षितो भवति। दृश्यानां बुद्ध्यादीनां जडानां दर्शनं—भानं स्वप्रकाशं द्रष्टारमात्मानं विना न घटते, अतो दृश्या बुद्ध्यादय एव द्रष्टारमाक्षिपन्त्येव, इत्यर्थापत्तिरूपानुपपत्तिमुखेन द्रष्टा भगवान् लक्ष्यत एव।

कीदृशानि बुद्ध्यादीनि? यैरात्मा द्रष्टा लक्षितो भवतीत्यत आह—लक्षणैः=लक्षकैः--सूचकैः धूमादिवत्, ज्ञानजनकज्ञानविषयैः, वह्निज्ञान-

सर्वभूतोंका आत्मा होनेसे एवं इस विश्वमें सर्वत्र सिद्ध होनेसे श्रीहरि सर्वभूतोंके परम प्रिय हैं।' (भा०) इत्यादि-भागवतके सैंकडों वचन सबके स्वस्वरूपसे भगवान्का निरूपण करते हैं। अथवा हरि लक्षित हैं-अर्थात् अनुमानप्रमाणसे भी विदित होते हैं। कहाँ लक्षित होते हैं? क्या किसी एक स्थलमें या सर्वत्र विदित होते हैं? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं—सब—भूतोंमें यानी भवन—उत्पत्तिधर्मवाले-सकल चराचर—प्राणियोंमें। तथा च जो भगवान् सर्वत्र लक्षित होते हैं, वे एक स्थलमें क्यों नहीं लक्षित हो सकते? अवश्य होते हैं। जिस प्रकार वे अपने में हैं, उस प्रकार समस्त प्राणियोंमें भी व्यापक हैं, ओत-प्रोत-अनुस्यूत हैं, प्रेरक एवं प्रकाशक हैं। इसलिये शान्त, भक्त, ज्ञानी पुरुष उन सर्वात्मा श्रीहरिका एकत्र, यत्र, तत्र, अन्यत्र एवं सर्वत्र अनुभव करते ही रहते हैं, ऐसा भाव है। किन हेतुओंसे यानी लक्षणोंसे श्रीहरि लक्षित होते हैं?। ऐसी अपेक्षा होने पर कहते हैं—बुद्धि-आदि दृश्य—पदार्थोंके द्वारा द्रष्टा-क्षेत्रज्ञ- भगवान् सर्वत्र लक्षित होते हैं? दृश्य-जड़-बुद्धि आदिका भान, स्वप्रकाश द्रष्टारूप-आत्माके विना नहीं हो सकता है, अतः दृश्य-बुद्ध्यादि ही द्रष्टा-आत्माका आक्षेप करते हैं, इस अनुपपत्तिरूप-अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा द्रष्टा-भगवान् लक्षित होते हैं, अर्थात् द्रष्टाके विना दृश्यकी सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिये सिद्ध हुए—ज्ञात हुए—दृश्य बुद्ध्यादि ही द्रष्टा—आत्माके ज्ञापक हो जाते हैं।

बुद्धि आदि कैसे हैं? जिनके द्वारा द्रष्टा-आत्मा लक्षित होता है। कहते हैं—वे लक्षण—ज्ञापक हैं यानी सूचक हैं, जैसे धूम-आदि; धूमके ज्ञानसे वह्निका ज्ञान होता है, इसलिए धूम-ज्ञान वह्नि ज्ञानका जनक है, धूम-ज्ञानका विषय धूम है, अतः जिस

जनकधूमज्ञानविषयभूतेन धूमेन यथा वह्निर्लक्ष्यते, तथाऽऽत्मज्ञानजनकदृश्य-बुद्ध्यादिज्ञानविषयभूतैर्बुद्ध्यादिभिरात्मा द्रष्टाऽनुपपत्तिमुखेन लक्षितो भवति । एवं बुद्ध्यादीनि व्याप्तिमुखेनानुमापकान्यपि भवन्तीत्यत आह-अनुमापकैः-बुद्ध्यादीनि कर्तृप्रयोज्यानि करणत्वात् वास्यादिवदित्येवं द्वेधा भगवान् लक्ष्यते ।

यत्तु केनचिद्व्याख्यातं--सर्वभूतेषु = सर्वेषु तेषु द्रष्टृषु प्रविष्टेन स्वात्मना-स्वांशरूपेणान्तर्यामिणा आदौ सर्वैर्द्रष्टृभिरन्तर्यामी लक्षितः, ततस्तेन भगवानपि लक्षित इत्यर्थः । तत्तुच्छम् । सर्वेषां भूतानां दृश्यत्वप्रसिद्धेः, भूतकार्याणां बुद्ध्यादीनामप्यत्र दृश्यत्वेन च निरूपणात्, तत्र द्रष्टृत्वं सर्वथैवा-नुपपन्नम् । द्रष्टरि भगवति-एकवचननिर्देशाच्च-नह्यत्र भूयांसो द्रष्टारो विज्ञाप्यन्ते, न च लोके शरीरेऽस्मिन् द्रष्टृभेदोऽनुभूयते केनचित् । 'नान्योऽ-

प्रकार धूमसे वह्नि लक्षित होता है, उस प्रकार दृश्य-बुद्ध्यादिके द्वारा अनुपपत्ति-प्रमाण से द्रष्टा-आत्मा लक्षित होता है, अर्थात्-दृश्य-बुद्ध्यादिके ज्ञानसे द्रष्टा-आत्माका ज्ञान होता है, अतः बुद्ध्यादिका ज्ञान आत्मज्ञानका जनक है, बुद्ध्यादिज्ञानके विषय बुद्ध्यादि हैं, उनसे आत्मा लक्षित होता है । इसप्रकार बुद्ध्यादि जैसे लक्षक हैं, वैसे व्याप्तिके द्वारा अनुमापक भी हैं, ऐसा कहते हैं—अनुमानका ऐसा प्रयोग है—बुद्धि आदि, कर्ता के द्वारा प्रयोजित हैं । क्योंकि—वे करण हैं, जैसे वासि (बसुला) आदि । इस प्रकार सर्वात्मा भगवान् लक्षणसे एवं अनुमानसे दो प्रकारसे लक्षित हैं । एक प्रकार है-दृश्यके द्वारा द्रष्टाका आक्षेप, तथा द्वितीय प्रकार है—करणके द्वारा कर्ताका अनुमान । व्याप्ति यानी एकाधि-करणवृत्तित्वका नियम, जैसे जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ वहाँ वह्नि अवश्य होती है, वैसे जहाँ जहाँ दृश्य पदार्थ होते हैं, वहाँ वहाँ उनका साक्षी-द्रष्टा कोई न कोई होता ही है, एवं जहाँ करण होता है, वहाँ उनका कर्ता-प्रयोजक कोई न कोई होता ही है,

किसीने इसका ऐसा मनगढन्त व्याख्यान किया है कि—'सर्वभूतोंमें यानी समस्त उन द्रष्टा-जीवोंमें, स्वात्मारूपसे यानी अपने अंशभूत—अन्तर्यामी रूपसे भगवान् प्रविष्ट हुए हैं । अर्थात् सर्वद्रष्टा जीवोंके द्वारा प्रथम अन्तर्यामी स्वात्मा लक्षित होता है, और फिर उससे भगवान् भी लक्षित होते हैं । तात्पर्य यह है कि—द्रष्टा-जीवोंके द्वारा अपने में अवस्थित—भगवदंशभूत—अन्तर्यामी प्रथम लक्षित होता है, पश्चात् अंशी भगवान् उस अंशद्वारा लक्षित होता है । इस प्रकार जीव, भगवदंश, एवं भगवान् ये तीन द्रष्टा एक ही शरीरमें अवस्थित रहते हैं ।' ऐसा व्याख्यान सर्वथा तुच्छ है, निःसार है । क्योंकि—सर्वभूतोंमें दृश्यत्वकी प्रसिद्धि है, अतः भूतोंके कार्य जो बुद्ध्यादि हैं, उनका भी यहाँ दृश्यत्वरूपसे निरूपण किया है, अतः इन भूतोंमें द्रष्टृत्व सर्वथा नहीं हो सकता, और यहाँ द्रष्टा श्रीहरिका एकवचन से ही निर्देश किया है, तथा यहाँ अनेक-द्रष्टाओंका

तोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० उ० ३।८।११) इतिभगवत्या श्रुत्या स्वात्मभूतस्य भगवतोऽन्यस्मिन् द्रष्टृत्वप्रतिषेधाच्च ।

अपि चात्र भगवतो हरेर्द्रष्टुः एकस्यैव परमार्थसत्यत्वबोधनाय, बुद्ध्यादीनामात्मव्यतिरिक्तानां सर्वेषां मिथ्यात्वज्ञापनाय च तेषु दृश्यत्व विशेषणं प्रक्षिप्तम् । दृश्यत्वञ्च हेतुरस्ति मिथ्यात्वस्यैव प्रकृष्टं साधकम् । तच्चाद्वैतसिद्धान्तबोधनमहारथैः आचार्य-प्रवरैर्बहुधालक्षणैर्निरूपितम्, तद्यथा—सप्रकारकवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम् । प्रकारश्च सोपाख्यः कश्चिद् धर्मः, तेन निष्प्रकारकज्ञानविषयीभूते शुद्धे, निरुपाख्यधर्मप्रकारक— ज्ञान—विषयीभूते तुच्छे च न व्यभिचारः । उपाख्या चास्तीति धीविषयत्वादीति । यद्वा शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम्, तुच्छशुद्धयोः शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वानभ्युपगमात् । यद्वा चिद्विषयत्वं दृश्यत्वं, तच्च यथा कथञ्चित् चित्सम्बन्धित्वरूपं हेतुः,

निर्देश भी नहीं है । लोकमें भी इस एक-शरीरमें किसीने द्रष्टाओंके भेदका अनुभव नहीं किया है, अर्थात् एक देहमें अनेक द्रष्टा हैं, ऐसा किसी को भी अनुभव नहीं होता । अतएव श्रुति भगवती कहती है कि—'इस परमात्मासे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है' (उ०) इस प्रकार स्वयं श्रुति अपने आत्मारूप—भगवान्से अन्य द्रष्टाका प्रतिषेध करती है । बुद्ध्याद्युपाधियोंसे विशिष्ट हुआ भगवान् ही जीवात्मारूपसे द्रष्टा होता है । इसलिये विशिष्ट-द्रष्टाके द्वारा शुद्ध-द्रष्टा भगवान् लक्षित होता है—तथापि विशिष्ट शुद्धसे अतिरिक्त नहीं होता, इस न्यायसे विशिष्ट-द्रष्टामें एवं शुद्ध-द्रष्टामें बिम्ब-प्रतिबिम्ब की तरह कोई वास्तविक भेद नहीं माना जाता । इसलिये एक ही द्रष्टा सर्वात्मा भगवान् हैं—यह प्रामाणिक निर्णय हुआ । अतः किसीका पूर्वोक्त व्याख्यान—जो अनेक वास्तविक द्रष्टाओं का समर्थक है—सर्वथा अप्रामाणिक सिद्ध हुआ ।

और भी यहाँ एक-द्रष्टा—भगवान् हरिमें ही परमार्थ—सत्यताके बोधन के लिए तथा आत्मासे व्यतिरिक्त समस्त-बुद्ध्यादियोंमें मिथ्यात्वके ज्ञापनके लिए इन बुद्ध्यादिमें दृश्यत्व ऐसा विशेषण खासरूप से दिया गया है । और यह दृश्यत्वहेतु मिथ्यात्वका ही प्रकृष्ट (जबरदस्त) साधक है । अद्वैत-सिद्धान्तके प्रतिपादन करने में—अतीवनिपुण-आचार्य-प्रवर-महारथियोंने बहुत प्रकारके लक्षणोंके द्वारा इस दृश्यत्व हेतुका निरूपण किया है । जैसे—'प्रकारवाली—वृत्तिका जो विषय है, वह दृश्य है । प्रकार उस धर्मको कहते हैं—जो सोपाख्य है । किसी भी रूपसे जिसकी उपाख्या (उल्लेख) की जाय, वह सोपाख्य है । 'अस्ति'—'है' ऐसी बुद्धिका-जो विषय है—वह सोपाख्य है, इत्यादि दृश्यत्व का ऐसा लक्षण करनेपर निष्प्रकारक-ज्ञानका विषय जो शुद्ध ब्रह्म है, उसमें तथा निरुपाख्य-धर्मप्रकारक-ज्ञानका विषय जो वन्ध्यापुत्र आदि तुच्छ हैं—उनमें व्यभिचार-दोष नहीं है, अर्थात् उन दोनोंमें दृश्यत्वका लक्षण नहीं घटता, ब्रह्म एवं तुच्छसे भिन्न-

तच्च न चैतन्ये ब्रह्मणि, अभेदे भेदनान्तरीयकस्य सम्बन्धस्याभावात् । यद्वा स्वव्यवहारे-स्वातिरिक्त—संविदपेक्षानियतिरूपं दृश्यत्वम् । संविच्छब्देन विषयाभिव्यक्तं वा वृत्त्यभिव्यक्तं वा शुद्धं वा चैतन्यमात्रमभिप्रेतम्, तथा च घटादौ नित्यातीन्द्रिये साक्षिभास्ये च सर्वोऽपि व्यवहारः स्वातिरिक्त-संवित्सापेक्ष इति नासिद्धिः । यद्वा अस्वप्रकाशत्वरूपं दृश्यत्वम्, स्वापरोक्षत्वे स्वातिरिक्तानपेक्षत्वं हि स्वप्रकाशत्वम् । 'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ०उ०-३।४।१) इति श्रुतेः, 'मामात्मानं स्वयं ज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम् ।' (भा०-

नामरूपात्मक-जगत्में ही वह लक्षण घटता है । अथवा—शब्दसे अजन्य जो वृत्ति है, उसका जो विषय है—वह दृश्य है । शुद्ध-ब्रह्म एवं तुच्छ-पदार्थ, शब्दजन्य—वृत्तिका विषय होनेके कारण उन दोनोंमें ऐसा दृश्यत्वका लक्षण नहीं घटता । शब्दसे अजन्य वृत्तिकी विषयता उन दोनोंमें नहीं मानी जाती है, इसलिये उन दोनों की व्यावृत्ति हो जाती है, केवल जगत्में ही ऐसा दृश्यत्वका लक्षण घट जाता है । यद्वा चिद्विषयत्वका नाम दृश्यत्व है, क्योंकि—चिद् (चैतन्य) की विषयता चिद्में नहीं होती, चिद्भिन्नमें ही होती है । ऐसा दृश्यत्व जिस किसी भी प्रकारसे चित्सम्बन्धित्वरूप ही हो जाता है, ऐसा लक्षण मिथ्यात्वका साधक हेतु है। ऐसा दृश्यत्व, चैतन्य ब्रह्म में नहीं है, क्योंकि—सम्बन्ध स्वभिन्न—स्वसम्बन्धीके साथ होता है, जहाँ भेद रहेगा वहीं सम्बन्ध होगा । स्वमें स्वका सम्बन्ध नहीं माना जाता, सम्बन्ध भेद—गर्भित होता है । अतः भेदरहित अभेद ब्रह्ममें भेद-सहचरित-सम्बन्धका अभाव है, इसलिये ऐसा लक्षण जगत्में ही घटता है, ब्रह्ममें नहीं घटता, और तुच्छ पदार्थ तो है ही नहीं, अतः वह किसीका भी सम्बन्धी नहीं हो सकता, सुतरां उसमें भी लक्षण नहीं घटता । नान्तरीयक का अर्थ है—अविनाभूत—भेदके विना न रहे, अर्थात् भेदका सहचारी ही सम्बन्ध होता है, 'द्विष्ठो हि सम्बन्धो भवति' ऐसा नियम है । दोका परस्पर भेद रहता ही है । अथवा अपने व्यवहारमें नियमसे अपनेसे अतिरिक्त-संविद् (ज्ञान) की जो अपेक्षा रक्खे, वह दृश्य है। 'संवित्' शब्दसे यहाँ घटादि—विषयमें अभिव्यक्त चैतन्य हो, या वृत्तिमें अभिव्यक्त-चैतन्य हो, या शुद्ध-चैतन्य हो, चैतन्य (ज्ञान) मात्र अभिप्रेत है, तथा च घटादि-विषयक, सर्वदा अतीन्द्रिय-धर्माधर्मादिविषयक—एवं साक्षीभास्य सुखदुःखादिविषयक-सभी प्रकारका समस्त व्यवहार अपने से अतिरिक्त-संवित् की अपेक्षा रखता है । ऐसा होनेपर तादृश-दृश्यत्व हेतुमें असिद्धि-दोष नहीं है, अर्थात् जगद्रूप-पक्षमें ऐसा लक्षण वाला दृश्यत्व हेतु रहता है, इसलिये पक्षमें हेत्वाभावरूप—असिद्धि-दोष नहीं है ।

अथवा—जो स्वप्रकाश नहीं है, वह दृश्य है। अपनी अपरोक्षतामें अपनेसे अतिरिक्त की अपेक्षा न रखना ही स्वप्रकाशत्व है । अतएव श्रुति कहती है कि—'जो साक्षाद् अपरोक्ष है, वह ब्रह्म है ।' (उ०) 'समस्त—प्राणियोंकी बुद्धिरूप-गुहाशय में जो क्षेत्रज्ञ

३।२४।३६) 'एकं स्वयं ज्योतिरनन्यमव्ययं' (भा० १०।७०।५) इत्यादि श्रीमद्भागवतवचनेभ्यश्च । तथा चान्यानधीनापरोक्षत्वमेव स्वप्रकाशत्वं पर्यवस्यति, तन्निरूपितभेदवत्त्वं हि दृश्यत्वं सिद्धयति, तच्च नित्यपरोक्षे धर्मादौ अन्याधीनापरोक्षे च घटादावस्तीति नासिद्धिः । सत्येवं चिदात्मस्फुरणस्य तदन्यचिदनधीनत्वात्तस्यैव स्वप्रकाशत्वं, घटादिव्यवहाराणाञ्च घटाद्यन्यचिदधीनत्वात् अस्वप्रकाशत्वं वेदितव्यम् । यद्वा फलव्याप्यत्वाभावविशिष्टं यदज्ञाननिवर्तक-वृत्तिविषयत्वयोग्यत्वरूपापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वप्रकाशत्वं, तदभावरूपमेव दृश्यत्वम् । वृत्तिकाले वृत्तिरूपेण धर्मेण शुद्धत्वासंभवात्, शुद्धस्य चिदात्मनो वृत्तिविषयत्वं यद्यपि न संभवति, अतः शुद्धं चिदात्मतत्त्वं

आत्मा अवस्थित है, वह स्वयंज्योति मैं भगवान् ही हूँ ।' (भा०) 'वह एक है, स्वयं ज्योति है, सबसे अनन्य है, एवं अव्यय–व्यय (विकार) रहित-निर्विकार है ।' (भा०) इन श्रीमद्भागवतके वचनोंसे भी एकमात्र आत्मा-ब्रह्मकी स्वप्रकाशता सिद्ध होती है, तदन्य की नहीं । तथा च अपने आत्माकी अपरोक्षता अन्य किसीके आधीन नहीं है, यही आत्मामें स्वप्रकाशता है । तादृशस्वप्रकाश-आत्माका जिसमें भेद रहे, वह अस्वप्रकाश-दृश्य है । ऐसा दृश्यत्वका लक्षण, सदा परोक्षरूपसे रहने वाले-धर्माधर्मादिमें, और अन्यके आधीन जिसकी अपरोक्षता है, ऐसे घटादिमें भी विद्यमान है–तथा च ब्रह्मभिन्नमें ही ऐसा लक्षण पर्यवसित हो जाता है । इसलिये असिद्धि-रूप-दूषण नहीं है । ऐसा विवेचन होजाने पर आत्माका भान, किसी अन्य चेतनके आधीन नहीं है, इसलिये उस एक-चिदात्मा में ही स्वप्रकाशता विनिश्चित होती है । और घटादियोंके समस्त व्यवहार तो घटादिसे अतिरिक्त-चेतन के आधीन ही सिद्ध होते हैं । इसलिये वे घटादि स्वप्रकाश नहीं हैं, किन्तु परप्रकाश्य हैं, ऐसा जानना चाहिये । अथवा–जिसमें फल-व्याप्यता नहीं है, तथा जो अज्ञान–निवर्तक–वृत्तिकी विषयता की योग्यतारूप–अपरोक्ष-व्यवहार की योग्यता रखता है, वह स्वप्रकाश है, ऐसे स्वप्रकाशत्वका अभाव रूप ही दृश्यत्व है, चिदात्मामें फलव्याप्यता नहीं है–किन्तु अज्ञानावरणकी निवृत्तिरूपा वृत्ति-व्याप्यता है । (यहाँ यह वेदान्तकी प्रक्रिया जान लेना उचित है कि—घटादिके प्रत्यक्षके समय नेत्रादि–इन्द्रियोंसे अन्तःकरण की वृत्ति बाहर निकलकर घटादि प्रदेश में जाती है, वहां घटावच्छिन्न–चैतन्यके साथ वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्यका मिलाप हो जाता है, अतः घटाकार-वृत्तिमें घटावच्छिन्न-चैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है । उस प्रतिबिम्बको आभास एवं फल कहते हैं । वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्यसे घटावच्छिन्न चैतन्य निष्ठ–अज्ञानावरण की निवृत्ति होती है, यही घटमें वृत्तिव्याप्यता है, और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यमें प्रतिफलित जो आभास है–उससे घटका स्फुरण–प्रत्यक्ष-भान होता है, यही घटमें फल व्याप्यता है,) वृत्तिके समय चैतन्य विशुद्ध नहीं रहता, क्योंकि–वह वृत्ति-

स्वप्रकाशमिति वाक्यस्य लक्षणया अशुद्धत्वमस्वप्रकाशत्वव्यापकमित्यर्थोऽवसेयः, तथा चाशुद्धत्वव्यावृत्त्या शुद्धे स्वप्रकाशता पर्यवस्यति, यथा भेदनिषेधनाभिन्नत्वम्। तदुक्तं—कल्पतरुकृद्भिः-श्रीलामलानन्दसरस्वतीभिः—'शुद्धं ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते, स्वस्या अप्युपाधित्वाविशेषात्, एवं च नानुपहितस्य शुद्धस्य विषयता, वृत्त्युपरागोऽत्र सत्तयोपयुज्यते, न भास्यतया विषयकोटिप्रवेशेनेति। अयमभिप्रायः—यथा अज्ञानोपहितस्य साक्षित्वेऽपि नाज्ञानं साक्षिकोटौ प्रविशति, जडत्वात्, किन्तु साक्ष्यकोटावेव, एवं वृत्त्युपहितस्य विषयत्वेऽपि न वृत्तिर्विषयकोटौ प्रविशतिं,

---

रूप धर्मसे विशिष्ट हो जाता है। यद्यपि शुद्ध-चिदात्मामें वृत्तिकी विषयताका भी संभव नहीं है, इसलिये 'शुद्ध-चिदात्मतत्त्व स्वप्रकाश है' इस वाक्यका लक्षणाके द्वारा अशुद्धत्व अस्वप्रकाशत्वका व्यापक है, ऐसा अर्थ समझना चाहिये। अर्थात् जहाँ जहाँ अस्वप्रकाशत्वरूप दृश्यत्व है, वहाँ वहाँ अशुद्धत्व है, ऐसी व्याप्ति निश्चित होती है। व्यापक अशुद्धत्वकी व्यावृत्ति करनेपर व्याप्य-अस्वप्रकाशत्वकी भी व्यावृत्ति हो जाती है। (जैसे व्यापक-वह्निकी व्यावृत्ति होनेपर धूमकी व्यावृत्ति होती है, वैसे) इसप्रकार अस्वप्रकाशत्वकी व्यावृत्ति होनेपर शुद्ध-ब्रह्ममें स्वप्रकाशता अर्थात् सिद्ध हो जाती है, जैसे भेदका निषेध करनेपर अभेद सिद्ध हो जाता है, तद्वत्। तथा च कल्पतरुकार पूज्य-स्वामी अमलानन्द-सरस्वती जीने भी* कहा है कि—'शुद्ध ब्रह्मको विषय करने वाली वृत्ति अपनेको तथा अपनेसे अन्य-उपाधियोंको भी निवृत्त करती हुई-उत्पन्न होती है, यद्यपि वह शुद्ध-ब्रह्माकारा वृत्ति भी उपाधि ही है, इसलिये अनुपहित-यानी उपाधि-रहित-शुद्ध-ब्रह्ममें विषयता नहीं रहती। वृत्तिका सम्बन्ध तो ब्रह्ममें सत्ता (विद्यमानता) मात्रसे ही उपयुक्त होता है, भास्यत्वरूपसे विषय-कोटिमें प्रविष्ट होकर ब्रह्ममें वृत्तिका सम्बन्ध नहीं माना जाता। इसका यह अभिप्राय है कि-जैसे अज्ञानसे उपहित चैतन्य ही साक्षी है, अनुपहित चैतन्य साक्षी नहीं माना जाता। तथापि उपाधि रूप अज्ञान जड होनेके कारण साक्षी-कोटिमें प्रविष्ट नहीं होता, किन्तु-साक्ष्य (साक्षी-

---

* वेदान्तदर्शन-ब्रह्मसूत्रपर-आचार्य-भगवत्पाद-श्रीशंकर-स्वामीका-प्रसन्न-गंभीर शारीरक-भाष्य हैं, और उस भाष्यपर षड्दर्शन-व्याख्याता-धुरंधरविद्वान् श्री वाचस्पति-मिश्रकी भामती टीका है, और उस भामती-टीकापर पूज्य स्वामी श्री अमलानन्दजी की कल्पतरु-नामकी व्याख्या है, और उस व्याख्यापर प्रसिद्ध-विद्वान् श्रीमदप्पयदीक्षितकी परिमल-नामकी टीका है। यह टीकात्रय भामती-प्रस्थान कहा जाता है, शारीरिक-भाष्यपर दो प्रस्थान हैं, एक विवरण-प्रस्थान और अन्य भामती-प्रस्थान।

स्वस्याः स्वविषयत्वानुपपत्तेः, किन्तु स्वयमविषयोऽपि चैतन्यस्य विषयतां संपादयतीति न काऽप्यनुपपत्तिः।

अत एव बुद्ध्यादिकं सर्वमेव दृश्यजातं सद्रूपे स्फुरणरूपे द्रष्टरि स्वात्मनि कल्पितं, प्रत्येकं सद्रूपतादात्म्येन प्रतीयमानत्वात्, तथा च बुद्ध्यादीनां सर्वेषां सदनुविद्धत्वेन प्रतीयमानतया बुद्ध्यादिकं सर्वमेव सद्रूपचिदात्मज्ञान निवर्त्यमेव वेदितव्यम्। वस्तुतो ज्ञानरूपस्यात्मनः सज्ज्ञेयत्वं सज्ज्ञातृत्वञ्च (सद्रष्टृत्वं) न स्वाभाविकमपि तु बुद्ध्यादि-दृश्योपाधि-संपर्कसंपाद्यमेव प्रत्येतव्यम्, तथा च दृश्यजातं विमतं ज्ञानव्यतिरेकेणास्त् ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वात् स्वप्नादिवत्, इत्यनुमानेनापि दृश्यजाते मिथ्यात्वमेव सिद्ध्यति, बुद्ध्यादेः ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वमर्थात् चिदाभासे सत्येवोपलभ्यमानत्वमेव मिथ्यात्वसाधने हेतुरिति न किञ्चिदप्यनुपपन्नम्। सत्येवं—'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभम्' (भा० १०।१४।२२)

भास्य) कोटिमें ही प्रविष्ट होता है। वैसे ही वृत्तिसे उपहित-चैतन्यमें विषयता होनेपर भी वृत्तिका विषय-कोटिमें प्रवेश नहीं है, क्योंकि-आपही स्वयं अपने को विषय नहीं कर सकता, इसलिए वृत्ति स्वयं विषय न बनकर भी चैतन्यनिष्ठ-विषयताको संपादन कराती है। अतः कुछ भी अनुपपत्ति नहीं है।

अत एव बुद्ध्यादि-समस्त दृश्यवर्ग, सद्रूप-स्फुरणरूप-द्रष्टा निज-आत्मामें कल्पित है, क्योंकि-प्रत्येक दृश्यपदार्थ, सद्रूप-आत्माके तादात्म्य-सम्बन्धसे ही प्रतीत होता है। तथा च बुद्ध्यादि समस्त-दृश्यवर्ग, सद्रूप-आत्मासे अनुविद्ध है, सदनुविद्ध-रूपसे सब दृश्यकी प्रतीति होनेके कारण, बुद्ध्यादि दृश्य सब, सद्रूप-चिदात्माके ज्ञानसे निवर्त्य हैं—अर्थात् बाधित हो जाते हैं, ऐसा जानना चाहिये। वस्तुतः आत्मा तो ज्ञान स्वरूप ही है, अतः उसमें प्रतीयमान सज्ज्ञेयत्व एवं सज्ज्ञातृत्व (ज्ञेयता एवं ज्ञातृताका सम्बन्ध) स्वाभाविक नहीं है, किन्तु दृश्य-बुद्ध्यादि-उपाधियोंके संपर्क से ही संपादित है-अतएव औपाधिक हैं; ऐसा समझना चाहिये। तथा च इस विषयका अनुमान प्रयोग ऐसा है कि—'विवादास्पद समग्र दृश्यवर्ग, ज्ञानके विना (ज्ञानसे व्यतिरिक्त होनेपर) असत् है, क्योंकि-ज्ञानके विना उसकी उपलब्धि नहीं होती है, जैसे स्वप्नादि।' इस अनुमान से भी दृश्यवर्गमें मिथ्यात्व सिद्ध होता है। ज्ञानके विना बुद्ध्यादि-उपलब्ध नहीं होते हैं, इसका तात्पर्य है कि-चिदाभास के रहनेपर ही बुद्ध्यादिकी उपलब्धि होती है, यही दृश्य-बुद्ध्यादि के मिथ्यात्व की सिद्धिमें हेतु है। अतः इस विवेचनमें युक्ति-विरुद्ध कुछ भी असंगतता नहीं है। ऐसा स्पष्ट विवेचन एवं निर्णय होजानेपर इसी ही निर्णयका-श्रीमद्भागवतके ये अनेक वचन भी समर्थन करते हैं-'इसलिये यह संपूर्ण जगत्, स्वप्नके समान असत् है।' (भा०)

'आत्मानमेवात्मतयाऽविजानतां तेनैव जातं सकलं प्रपञ्चितम् । ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥' (भा० १०।१४।२५) 'नानेव भाति नाभाति स्वप्नमायामनोरथः ।' (भा० ६-१८-४६) 'माया-गुणमयी राजन् ! स्वप्नवत् प्रत्यलीयत ।' (भा० ६।२१।१७) 'विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ।' (भा० ११।१३।३४) 'अवस्तुत्वात् विकल्पस्य' (भा० ७।१५।६२) 'असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा । गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥' (भा० ११।१३।३१) इत्यादीनि श्रीमद्भागवतस्य भूयांसि वचांस्यप्यस्यार्थस्यैव स्पष्टतया सन्त्युपोद्बलकानि । अयमर्थः—तेनैव = अज्ञानेनैव, प्रपञ्चितं = प्रपञ्चः । रज्ज्वां, अहेर्भोगभवाभवौ=सर्पशरीरस्य भवः=अध्यासः, रज्ज्वज्ञानेन, एवं अभवः= तदपवादस्तज्ज्ञानेन यथेति । नानेव भाति, यावदज्ञानप्रवृत्तिः, तदुपरमे नाभाति, यथा स्वप्नमायामनोरथाः असन्तोऽपि भान्ति, तद्वदज्ञानेनासदेव प्रतीयते ।

जो मानव परमात्माको आत्मारूपसे-अभेदभावसे नहीं जानते हैं, उन्हें ही उस अज्ञान के कारण इस नामरूपात्मक—निखिल-द्वैत प्रपञ्चकी उत्पत्ति का भ्रम होता है । किन्तु आत्मस्वरूपका यथार्थ-ज्ञान होते ही इस द्वैतप्रपञ्चका आत्यन्तिक-प्रलय होजाता है । जैसे रस्सीमें भ्रमके कारणही सर्पकी प्रतीति होती है, और भ्रमके निवृत्त होते ही उसकी निवृत्ति होजाती है ।' (भा०) 'यह जगत् स्वप्न, माया और मनोरथके समान कल्पित है, कभी यह अज्ञानसे अनेक नाम और अनेकरूपोंसे प्रतीत होता है, और कभी सुषुप्ति एवं समाधिमें प्रतीत नहीं भी होता है ।' (भा०) हे राजन् ! त्रिगुणमयीमाया स्वप्नदृश्यके समान नष्ट-बाधित (विलीन) होगई ।' (भा०) 'एक ही विज्ञान द्वैतप्रपञ्चके रूपसे भासित हो रहा है, यह स्थूल शरीर, इन्द्रिय, और अन्तःकरणरूप तीनप्रकारका विकल्प, सत्त्वादि-गुणोंके परिणाम की रचना है, और स्वप्नके समान मायाका खेल है, अज्ञान से कल्पित है, अतः यह वस्तुशून्य-विकल्पमात्र है ।' (भा०) 'विकल्प वस्तु-शून्य-अवास्तविक ही होता है ।' (भा०) 'आत्मासे अन्य नामरूपादि-द्वैत-पदार्थोंका कुछ भी अस्तित्व नहीं है, वे सब दृश्यभाव, सर्वथा असत् हैं, इसलिए इनके द्वारा होने वाले-वर्णाश्रमादि भेद, स्वर्गादिफल, और उनके कारणभूत-शुभाशुभ कर्म, ये सबके सब वैसे ही मिथ्या हैं, जैसे सोकर उठे हुए-स्वप्नद्रष्टा पुरुषके लिए स्वप्नपदार्थ ।' (भा०) अर्थ—अज्ञानसे ही द्वैत-प्रपञ्च प्रतीत होता है, जैसे रज्जुके-अज्ञानसे रज्जुमें सर्पाध्यास होता है, और रज्जुके ज्ञानसे सर्प का अपवाद होता है, वैसे आत्माके ज्ञानसे प्रपञ्चका बाध होता है, जब तक अज्ञान की प्रवृत्ति है, तब तक एक ही वस्तु अनेक की तरह भासित होती है, अज्ञानके नष्ट होनेपर नहीं भासती । जैसे स्वप्न, माया (इन्द्रजाल) और मनोरथ न होनेपर भी प्रतीत होते हैं, वैसे ही अज्ञान से असत ही यह जगत् सत् की

गुणमयी = संसाराख्या । तथा विज्ञानं = बुद्धिः, एकमेवोपाधिभेदाद् उरुधा = बहुधा—घटपटाद्याकारेण प्रतीयते, तद्वदिदं ब्रह्मविज्ञानमपि—अज्ञानतज्जन्योपाधिभेदवशाद्बहुधा प्रतीयते । यथा स्वप्नः भ्रमत्वव्याप्यदृश्यत्वादिमान् मिथ्या, तथा चेदं जगदपि, तस्मात् त्रिधा योऽयं गुणपरिणामकृतो विकल्पः संसाराख्यः, स माया = मिथ्यैवास्ति । भावानां = देहादीनां तत्कृता भिदा = वर्णाश्रमादिरूपा, गतयः = स्वर्गादि—फलानि, हेतवः = कर्माणि, मृषा = मिथ्या । अविद्यावद्विषयैव वेदप्रमितवर्णाश्रमकर्मादिनानाधीः इति भावः ।

अपि च चिदाभासरूपा जीवाः सन्ति श्रीहरेर्भगवतो बिम्बकल्पस्य प्रतिबिम्बकल्पाः । प्रतिबिम्बानां स्वात्मा यथा बिम्ब एव, तथा जीवानामपि सर्वेषां स्वात्मा—अभिन्नस्वरूपं श्रीहरिरेव । तथा चात्र श्रीहरेः स्वात्मना लक्षितत्ववर्णनं संगच्छते । एवमेवान्यत्रापि दृष्टान्तपुरःसरं वर्णनमप्युपलभ्यते 'प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः' (भा० ७।६।११) इत्यत्र । यथा मुखे बिम्बे कृतैव

तरह प्रतीत होता है । संसार ऐसा नामवाली तद्रूपसे परिणत होनेवाली-गुणमयी माया । जैसे एक ही विज्ञान यानी बुद्धि उपाधिके भेदसे घटपटादि-नानाऽऽकार से प्रतीत होता है । वैसे ही यह ब्रह्मविज्ञान भी अज्ञान और तज्जन्य-उपाधियों के भेदसे नानारूपसे प्रतीत होता है । भ्रमत्व व्यापक धर्म है, और दृश्यत्व उसका व्याप्य धर्म है, अर्थात् जहाँ जहाँ दृश्यत्व होगा, वहाँ वहाँ अवश्य ही भ्रमत्व होगा । भ्रमत्व-व्याप्य दृश्यत्व स्वप्नमें हैं, और मिथ्यात्व भी वहाँ है, अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न दृश्य होनेसे भ्रमरूप है, अतएव मिथ्या है, उस प्रकार यह द्वैत-जगत् भी दृश्य होनेसे भ्रमरूप है एवं मिथ्या है, इसी बातको कहते हैं कि—त्रिविध—गुणों के परिणामसे बना हुआ यह संसार नामका विकल्प माया यानी भ्रान्तिमय-मिथ्या है । भाव यानी देहादि-पदार्थ उनके द्वारा किये गये—जो वर्णाश्रमादि भेद हैं, स्वर्गादि फल हैं, और उनके हेतु शुभाशुभकर्म हैं, ये सब मृषा = मिथ्या हैं । अतः वेदप्रमाण द्वारा ज्ञापित वर्ण-आश्रम कर्म आदि की भेदबुद्धि अविद्यावान् संसारीमें ही रहती है, ऐसे संसारीकी बुद्धि ही तादृश भेदको विषय करती है । अर्थात् ज्ञानवान् की ब्रह्माकारा बुद्धि विषम-भेदको विषय नहीं करती, यह भाव है ।

और जीव चिदाभासरूप हैं, वे सब बिम्बसदृश भगवान् श्रीहरिके प्रतिबिम्बके समान हैं । जैसे प्रतिबिम्बोंका अपना आत्मा-स्वरूप बिम्ब है, वैसे ही सब जीवोंका अपना आत्मा-अभिन्न-स्वरूप श्रीहरि ही हैं । इसलिए यहाँ किया गया—श्रीहरिका स्वात्मारूपसे लक्षितत्वका वर्णन सुसंगत है-प्रामाणिक है । इस प्रकार ऐसा ही अन्यत्र भी दृष्टान्त सहित वर्णन मिलता है कि—'जैसे बिम्ब—मुखकी शोभा प्रतिबिम्बको स्वतः ही मिल जाती है ।' (भा०) जैसे बिम्ब—मुखमें की गई—तिलकादि की शोभा प्रति-

तिलकादिश्रीः=शोभा प्रतिबिम्बस्य स्वतो भवति, न तु साक्षात्तस्यैव कर्तुं शक्यते तद्वत् । जीवाः सर्वेऽत्र प्रतिबिम्बकल्पाः, बुद्ध्यादय उपाधयः सन्ति दर्पणादिकल्पाः । नहि प्रतिबिम्बानां स्वतः सत्तादिमत्त्वं केनचित् समर्थयितुं शक्यते । तद्वत् जीवानामपि नास्ति स्वतः सत्तादिमत्त्वं तथा च जीवानां स्वात्मा श्रीहरिरेवेति विनिर्णीतं भवति ।

अत एव ब्रह्मसूत्रमीमांसायां भगवन्तो बादरायणाचार्या अप्याहुः—'आभास एव च' (ब्र० सू० २।३।५०) 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्र० सू० ३।२।१८) इति । अयमर्थः—जलादिप्रतिबिम्बितसूर्यादिवदाभास एव प्रतिबिम्बरूपो जीवः । यतो ब्रह्म निर्विशेषं, अत एव वेदान्तेषु-उपनिषत्सु जलसूर्यकाद्युपमोपादीयते । जलसूर्यकाद्युपमाप्रतिपादका वेदान्ता ईदृशाः—'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥' 'एक एव हि भूतात्मा भूते

—

बिम्ब-मुखमें स्वतः ही हो जाती है, प्रतिबिम्बमें तिलकादिकी शोभा पृथक् रूपसे साक्षात् नहीं कर सकते हैं, वैसे सब जीव यहाँ प्रतिबिम्बके समान हैं, बुद्ध्यादि-उपाधि दर्पणादिके समान हैं, जैसे प्रतिबिम्बोंकी स्वतः सत्ता आदिका समर्थन कोई भी पण्डितमानी नहीं कर सकता है, वैसे ही जीवोंका भी पृथक् स्वतः सत्ता आदिका समर्थन नहीं हो सकता, इसलिये जीवों का अपना आत्मा-अभिन्नस्वरूप श्रीहरि ही हैं, ऐसा स्पष्ट निर्णय होजाता है ।

अतएव ब्रह्मसूत्र-मीमांसामें भगवान्-बादरायणाचार्य-महर्षिव्यास जी भी कहते हैं कि 'यह जीव आभास यानी प्रतिबिम्ब ही है ।' (ब्र०) 'अत एव जीवोंमें सूर्यक (जलादिमें प्रतिबिम्बित-कल्पित सूर्यही सूर्यक है, कल्पित अर्थमें कन् प्रत्यय किया है) आदि की उपमा है ।' (ब्र०) यह अर्थ है—जलादिमें प्रतिबिम्बित सूर्यकादि की तरह आभास—प्रतिबिम्बरूपही जीव है । क्योंकि—ब्रह्म निर्विशेष है, इसलिये वेदान्तोंमें यानी उपनिषदोंमें जलसूर्यकादि की उपमा (दृष्टान्त) दी जाती है । जल-सूर्यकादिकी उपमाके प्रतिपादक वेदान्त (उपनिषद्वचन) इस प्रकारके हैं—'ज्योतिः स्वरूप एकही वह सूर्य, विभिन्न-जलोंमें प्रतिबिम्बरूपसे प्रविष्ट हुआ उपाधिके द्वारा भेदरूपसे भासित होता है, वैसे ही अजन्मा यह पर-आत्मा ही अनेक-क्षेत्रों (शरीरों) में प्रतिबिम्बरूपसे प्रविष्ट हुआ विभिन्न—उपाधिके द्वारा भेदरूपसे भासित होता है ।' (श्रु०) 'एक ही भूतोंका आत्मा, भूतनिर्मित-प्रत्येक शरीरमें प्रतिबिम्बरूपसे अवस्थित हुआ बहुरूपसे भासित होता है, जैसे जलमें चन्द्र, वह बिम्बरूपसे एक-प्रकार का होता हुआ भी प्रतिबिम्बरूपसे बहु-प्रकारका देखने में आता है ।' (श्रु०) यह अर्थ है—आकाशमें एकरूपसे प्रत्यक्ष दीखने वाला यह ज्योतिः स्वरूप विवस्वान् सूर्य, भिन्न-भिन्न-पात्रोंमें

भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥' इत्याद्याः अवगन्तव्याः। अयमर्थः—अयं=नभस्येकत्वेन प्रत्यक्षो ज्योतिरात्मा तद्रूपो विवस्वान्=सूर्यः, पात्रभेदेन बहुधा भिन्ना अपः=स्तोकास्तोकादिरूपेण, भिन्नास्वप्सु एक एवानुगच्छन् प्रतिबिम्बभावेन प्रविशन्, उपाधिना=स्वतः प्रकारतश्च भिन्नानुरूपोपाधिना भेदरूपः क्रियते, भेदो रूप्यतेऽनेनेति भेदरूपस्तस्य धर्मी प्रतियोगी च स्वप्रतियोगिकमिथ्याभेदवान् ज्ञाप्यत इति यावत्। एवं देवः=स्वप्रकाशेन दीप्यमानोऽयमात्माऽजोऽपि क्षेत्रेषु-'महाभूतान्यहंकारः' (गी० १३।५) इत्यादिना भगवतोक्तेषूपाधिषु प्रतिबिम्बभावेन प्रविष्टो मिथ्यैव भेदरूपः क्रियते, स्वतस्तु नित्यशुद्धबुद्धाद्वितीयानन्दरूप इत्यर्थः। कस्तत्र प्रतिबिम्बोपाधिरिति चेत्?। अत्र केचित्-अन्तःकरणविशिष्टे जीवे कर्तृत्वादिसंसारस्यानुभूयमानत्वात्-'कार्योपाधिरयं जीवः' इति वचनाच्च अन्तःकरणं प्रतिबिम्बोपाधिरिति वदन्ति। अपरे तु अन्तःकरणस्याज्ञानकार्यतया स्वातन्त्र्यायोगेन

स्थित—विभिन्न जलोंमें—जो किसी पात्रमें अल्प है तो किसी में अधिक है-किसीमें शुद्ध है तो किसी में मलिन है, इत्यादि—एक ही प्रतिबिम्बरूपसे प्रविष्ट हुआ स्वतः एवं प्रकार (धर्मरूप-विशेषण) से भिन्न-भिन्न-अनुरूप-उपाधिके द्वारा भेदरूप किया जाता है। अर्थात् उस भेदका आपही-धर्मी (अनुयोगी) एवं आप ही प्रतियोगी बन जाता है। भेदका निरूपण किया जाता है जिससे, वह भेदरूप है। भेदका निरूपण प्रतियोगी एवं अनुयोगीके द्वारा होता है। जिसमें भेद रहे, वह अनुयोगी होता है, एवं जिसका भेद हो, वह प्रतियोगी होता है। अर्थात् प्रतिबिम्ब हैं, प्रतियोगी जिनके, ऐसे मिथ्या—भेदोंका आश्रय भूत-अनुयोगीरूपसे वह एक ही बिम्ब सूर्य ज्ञापित होता है, यानी एक ही बिम्बसूर्यमें प्रतिबिम्ब रूपसे अनेक भेद आरोपित होते हैं। उस प्रकार स्वप्रकाशसे देदीप्यमान यह अजन्मा आत्मा क्षेत्र (शरीर) रूप अनेक—उपाधियोंमें प्रतिबिम्ब रूपसे प्रविष्ट होकर-आरोपित-अनेक भेदों वाला हुआ बहुरूपसे मिथ्याही भासित होता है। 'महाभूत अहंकार' (गी०) इत्यादि वचन के द्वारा श्रीभगवान्ने गीतामें आत्माकी क्षेत्ररूप-उपाधियोंका वर्णन किया है। वह उपाधि-निर्मुक्त आत्मा स्वयं तो शुद्ध-बुद्ध, अद्वितीय-आनन्द स्वरूप है।

यहाँ प्रतिबिम्बके लिए कौन उपाधि है? ऐसे प्रश्नके उत्तररूपसे कोई आचार्य कहते हैं कि—अन्तःकरण ही प्रतिबिम्ब की उपाधि है, क्योंकि—अन्तःकरणविशिष्ट-जीव में कर्तृत्व भोक्तृत्वादि-संसारका अनुभव होता है। और श्रुतिका वचन भी इसमें प्रमाण है कि—'यह जीव कार्य उपाधिवाला है।' (श्रु०) यहाँ कार्य उपाधि अन्तःकरण है। अन्य आचार्य कहते हैं कि—अन्तःकरण जीवकी उपाधि नहीं हो सकता, क्योंकि—अन्तःकरण अज्ञानका कार्य होनेके कारण स्वतन्त्र नहीं है, इसलिये वह जीवात्मा और

जीवपरमात्मभेदकत्वायोगात्, नान्तःकरणं जीवोपाधिः, किन्त्वज्ञानं स्वातन्त्र्यात् तदपि नाना, तत्प्रतिबिम्बो जीवः सोऽपि नाना, तदुपाधेरज्ञानस्य नानात्वात्, तथा च ब्रह्मण्यारोपितानामज्ञानानां परिच्छिन्नतया तत्प्रतिबिम्बरूपाणां जीवानामपि परिच्छिन्नत्वात् इतरेतरव्यावृत्तत्वाच्च न कर्मफल सुखदुःखादिव्यतिकरः। अत एव ब्रह्माविद्याप्रतिबिम्बितं सज्जीवो भवति, अविद्योपहितं सदीश्वर इति बिम्बप्रतिबिम्बभावेन जीवेश्वरभावः। यदाह— 'बिम्बत्वं प्रतिबिम्बत्वं यथा पूषणि कल्पितम्। जीवत्वमीश्वरत्वञ्च तथा ब्रह्मणि कल्पितम्॥'

जीवानां परिच्छिन्नत्वाल्पज्ञत्वनानात्वादिव्यवहारस्तु—अज्ञानाद्युपाधिप्रयुक्ततया काल्पनिक एव, तद्व्यपगमे हि—ते अपरिच्छिन्नाद्वयब्रह्मरूपा एव भवन्तीत्यप्याहुः—ब्रह्मसूत्रकारा बादरायणाचार्या अपि-'अंशो नानाव्यपदेशाद् अन्यथा चापि दासदाशकितवादित्वमधीयत एके।' (ब्र० सू० २।३।४३) अस्या-

परमात्माका भेदक (भेद-प्रयोजक) नहीं बन सकता। किन्तु अज्ञान ही प्रतिबिम्बभूत-जीवकी उपाधि है, क्योंकि-वह अनेक है, और स्वतन्त्र है, अतः उस अनेक-अज्ञानमें प्रतिबिम्बित जीव भी अनेक हुए-भासित होते हैं। तथा च एक ही ब्रह्ममें आरोपित-अज्ञान अनेक होनेके कारण परिच्छिन्न हैं, अतएव उसमें प्रतिबिम्बित जीव भी परिच्छिन्न हैं, एवं परस्पर (एक दूसरेसे) व्यावृत्त हैं (विभिन्न हैं) इसलिये-एक जीवके कर्मफल-सुखदुःखादि-अन्य जीवमें संक्रमित नहीं होते, अर्थात् सुखदुःख बन्ध-मोक्ष आदि की व्यवस्था हो जाती है, उनका व्यतिकर (सांकर्य—मिश्रण) नहीं हो पाता। अतः यहाँ यह सिद्ध हुआ कि—वह एक ब्रह्म ही अनेक-अज्ञानरूप उपाधियोंमें प्रतिबिम्बित होकर जीव होजाता है, और अविद्यारूप-उपाधिसे उपहित हुआ नियन्ता—ईश्वर हो जाता है। बिम्ब—प्रतिबिम्ब-भावसे जीव-ईश्वर भाव है, अर्थात् बिम्ब ईश्वर है, और प्रतिबिम्ब जीव है। आचार्यों ने कहा भी है कि—'जैसे एक ही सूर्यमें बिम्बत्व और प्रतिबिम्बत्व दोनों कल्पित हैं, वैसे ही जीवत्व और ईश्वरत्व दोनों ब्रह्ममें कल्पित हैं।'

जीवोंमें परिच्छिन्नत्व, अल्पज्ञत्व, नानात्व आदिका जो व्यवहार है, वह अज्ञानादि-उपाधिसे प्रयुक्त होनेके कारण काल्पनिक है, अज्ञानादि-उपाधिके निवृत्त होजाने पर वे जीव-अपरिच्छिन्न-अद्वय-ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं, ऐसा ब्रह्मसूत्रकार महर्षि-बादरायण भी कहते हैं कि—'यह जीव ब्रह्मका औपाधिक-अंश है, उसका अनेकरूपसे व्यपदेश होनेके कारण। और उसका अन्यथारूपसे भी यानी भेदसे विपरीत-एक-ब्रह्मरूप से भी व्यपदेश किया गया है। इसलिये वेदकी कुछ शाखा-वाले—नौकर, मल्लाह, जुआरी, आदि पामर जीव भी ब्रह्मरूप हैं—ऐसा अपने-वेदकी ऋचाओं द्वारा पढ़ते हैं।' (ब्र०) इस सूत्रका यह अर्थ है—इसके प्रथमके 'परायत्ताधिकरण' में-'परमेश्वर नियन्ता-

यमर्थः-तत्र पूर्वस्मिन् परायत्ताधिकरणे 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।४१) इत्यादिना जीवेश्वरयोरुपकार्योपकारकभाव उक्तः, स किं स्वामिभृत्ययोरिव, आहोस्विदग्निविस्फुलिङ्गयोरिवेति संशयः। तत्रानियम इत्येकः पूर्वपक्षः, द्वितीयस्तु पूर्वपक्षो भेदश्रुत्यनुरोधात् स्वामिभृत्यवदेव जीवपरयोरुपकार्य्योपकारकभावः, इति प्राप्ते इदमाह-परस्य-ब्रह्मणः अंश इवांशः, आभासरूपो वा घटाकाशादिरूपो वा जीवः। कुतः ? नानाव्यपदेशात् 'य आत्मनि तिष्ठन्' (बृ० उ० ३।७।२२) इत्यादिना। अन्यथा चापि—व्यपदेशो भवति—अनानात्वस्याभेदभावस्य प्रतिपादकः—'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवा उत' (ब्रह्मसूक्त) 'तत्त्वमसि' (छां० उ० ६।८।७) 'अयमात्मा ब्रह्म' (मां० उ० १) इत्यादि श्रुतिभिरभेदप्रतिपादनात्, एके=शाखिनः आथर्वणिकाः पामरदुष्टजीवानामपि ब्रह्मत्वमधीयते—समामनन्ति इत्यर्थः। निरंशे—ब्रह्मणि जीवस्य तदंशत्वं वास्तवं न भवतीति उपाधिनिबन्धनं काल्पनिकमेव घटाकाशस्य महाकाशं प्रतीव प्रत्येतव्यम्। दाशाः=कैवर्ताः, कितवाः=द्यूतकृतो भ्रष्टाः, दासाः=

पर होनेके कारण जीव नियम्य हैं, ऐसा श्रुति भी कहती है।' (ब्र०) इत्यादि सूत्रके द्वारा नियन्ता-ईश्वरका एवं नियम्य जीवका उपकार्य-उपकारक भाव कहा गया है। अर्थात् जीव उपकार्य हैं, और ईश्वर-उपकारक है, ऐसा पूर्व-सूत्रके द्वारा निरूपण हुआ था। यह उपकार्य-उपकारक भाव, क्या स्वामी और सेवकके समान (भेदगर्भित) है, अथवा अग्नि और विस्फुलिंग चिनगारी के समान (अभेद-गर्भित) है, ऐसा संशय होता है। तब एक पूर्वपक्षी कहता है कि—उपकार्य-उपकारक भावमें कोई नियम नहीं है, अर्थात् उपर्युक्त-दोनों विकल्पों में से कोई भी विकल्प ग्राह्य हो सकता है। स्वामी भृत्यरूप भेद-दृष्टान्त वाला भी, या अग्नि—विस्फुलिंगरूप-अभेद दृष्टान्त वाला भी उपकार्य उपकारक भाव माना जा सकता है, जैसा अच्छा लगे, वैसा कोई भी मान सकते हैं। दूसरा पूर्वपक्षी कहता है कि—भेद-बोधन करने वाली-श्रुतियोंके अनुरोधसे स्वामी और भृत्यके समान जीव और ईश्वरका उपकार्य-उपकारक भाव मानना उचित है। ऐसा पूर्व पक्ष प्राप्त होनेपर—सूत्रकार-आचार्य अपना सिद्धान्त प्रदर्शित करते हैं कि—'यह जीव परब्रह्मके अंशके समान है, यानी अंशकी भांति अंश है, अर्थात् आभास (प्रतिबिम्ब) रूप अथवा घटाकाशरूप औपाधिक-अंश है, मुख्य अंश नहीं है। क्योंकि—'जो जीवात्मा में रहता हुआ' (श्रु०) इत्यादि-श्रुतियोंके द्वारा नानात्वका व्यपदेश-उपदेश किया है। और अन्यथा यानी नानात्वसे विपरीत-अनानात्वका—अभेदभावका प्रतिपादक—व्यपदेश भी अन्य-श्रुतियोंमें मिलता है। वे श्रुतियाँ ये हैं—'ये दाश (केवट-मल्लाह) भी ब्रह्म हैं, ये दास (नौकर-चाकर) भी ब्रह्म हैं, ये कितव (धूर्त-जुआरी लोग) भी ब्रह्म हैं ' (श्रु०) 'वह तू है' (श्रु०) 'यह आत्मा ब्रह्म है' (श्रु०) इत्यादि श्रुतिवचन अभेद-

भृत्याः-किंकराः। सत्येवं भेदवादिश्रुतिजातस्य प्रत्यक्षसिद्धभेदानुवादेनाभेद-परत्वात् कल्पितभेदवानंशो जीव इति विनिर्णीयते ।

श्रीहरिर्भगवान् परमवल्लभः स्वात्मैव, अत एव तस्य ध्रुवया स्मृत्या च देहाद्यनात्मधर्माणामध्यासो व्यपगतो भवतीत्यप्याह—श्रीमद्भागवते—एकादशे—'देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः। संसार धर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥' (भा० ११।२।४६) इति। देहादीनामनात्मनां संसारधर्मैः—जन्माप्ययादिभिर्यो हरेर्भगवतः सर्वात्मनः पूर्णाद्वयस्यानन्दनिधेः स्मृत्या=निरन्तरचिन्तनरूपयाऽविमुह्यमानः=स्वात्मनि—तदारोपरहितो भवति यः, स भागवतप्रधानः=भागवतेषु=वैष्णवेषु मुख्यः—प्रशस्तः। 'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।' (गी० ७।२८) इति गीतासु श्रीमुखस्मरणात्—ते दृढं=अचलं, व्रतं—

भावके प्रतिपादक हैं, अर्थात् अथर्वणवेदकी शाखा वाले-वैदिक विद्वान् सज्जन-जीवोंकी तो क्या बात, किन्तु पामर-दुष्ट-जीवोंका भी ब्रह्मरूपसे प्रतिपादन करते है। अतः जीव, निरंश-ब्रह्मका वास्तविक-अंश नहीं हो सकता, इसलिए महाकाशके प्रति जैसे घटाकाश अंश है, वैसे ही जीव भी ब्रह्मका काल्पनिक-अंश है, जो उपाधिरूप निमित्तसे बना है, ऐसा जानना चाहिये। ऐसा निश्चित-विवेचन होजाने पर—प्रत्यक्षसिद्ध-भेदका अनुवाद करके (अनधिगत—सप्रयोजन) अभेदके बोधन करनेमें ही भेदवादी-श्रुतियों का भी तात्पर्य है, अतः कल्पित—भेदवाला औपाधिक-अंश ही जीव है, ऐसा निर्णय किया गया है।

भगवान् श्रीहरि परमप्रिय अपना आत्मा (स्वस्वरूप) ही हैं। इसलिए उसकी ध्रुवास्मृति के द्वारा देहादि—अनात्माके धर्मोंका अध्यास सर्वथा निवृत्त हो जाता है, ऐसा श्रीमद्भागवतके एकादश—स्कन्धमें भी कहते हैं—'जन्म-मृत्यु, भूखप्यास, श्रम-कष्ट, भय और तृष्णा, ये सब धर्म, क्रमशः, शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको प्राप्त होते रहते हैं, सर्वात्मा भगवान् श्रीहरि की निरन्तर चिन्तनरूपी—ध्रुवास्मृति के द्वारा जो उन धर्मोंसे मोहित (भ्रमित-व्यथित) नहीं होता, वह उत्तम—भागवत है यानी श्रेष्ठ-वैष्णव है।' (भा०) अर्थ—सर्वात्मा—पूर्ण—अद्वय—आनन्दनिधि-भगवान् श्रीहरिकी निरन्तर चिन्तनरूपी-ध्रुवास्मृतिके द्वारा जो अनात्मा-देहादियोंकें जन्म-मृत्यु आदि-धर्मोंसे मोहित नहीं होता, अर्थात् उनके आरोपसे रहित होजाता है, अपने विशुद्ध-निर्विकार आत्मामें इन धर्मोंका आरोप नहीं होने देता, वह वैष्णवों में मुख्य है—प्रशस्त है। अतएव श्रीभगवान्ने गीतामें श्रीमुखसे भी कहा है कि—'जो दृढ आत्म-भावसे-निरन्तर मेरा भजन करते रहते हैं-वे जरा मृत्युआदि द्वन्द्वके मोहसे मुक्त होजाते हैं।' (गी०) दृढ यानी अचल, व्रत, यानी नियम या निश्चय, जिनका है; वे दृढव्रत हैं,

नियमो निश्चयो वा येषां ते, भगवान् सर्वात्मा—परमानन्दनिधिः परमप्रेमास्पद एव भजनीयः चिन्तनीयो नान्य इति निश्चयवन्तः इत्यर्थः, मां=एवंरूपं भजन्ते, ते द्वन्द्वमोहेन निर्मुक्ता भवन्ति। तत्र देहस्य जन्माप्ययौ धर्मौ, प्राणस्य क्षुत्पिपासे, मनसो भयं, बुद्धेस्तर्षः=तृष्णा, इन्द्रियाणां कृच्छ्रं=श्रमः तैः।

इदमत्र विज्ञेयं—यदि केनचिद्भेदिना श्रीहरेः स्वात्मभिन्नत्वं स्वीक्रियेत, तदा तु तस्यानात्मत्वापत्तिः स्यात्, अनात्मस्मृत्या चात्रोक्तो न चानात्माध्यासो व्यपगतो भवति, सर्पज्ञानेन सर्पाध्यास इव। तथा च श्रीहरिः स्वात्मैवेति सिद्धान्तोऽप्यत्रानुपपत्तिमुखेन लक्षितो भवति।

अत एव श्रीमद्भागवतस्य तत्रैवैकादशे भागवतोत्तमस्याभेदभावशालित्वं समतत्त्वदर्शित्वमेव लक्षणं स्पष्टतोऽभिहितम्। तथाहि—'न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा। सर्वभूतसमः शान्तः, स वै भागवतोत्तमः॥' (भा० ११।२।५२) इति। वित्तेषु=ममतास्पदेषु—धनादिषु, इदं स्वकीयमिदं परकीयमिति भिदा=भेदो यस्य नास्ति। एवं आत्मनि=जीवात्मनि—परमा-

भगवान् सर्वात्मा परमानन्दनिधि, परमप्रेमास्पद ही भजन–चिन्तन-करने योग्य है, अन्य नहीं, ऐसे निश्चयवाले ही ऐसे स्वरूपका भजन करते रहते हैं, वे द्वन्द्व-मोहसे नितरां मुक्त होजाते हैं। उस अनात्म-वर्गमें देहके जन्म–मरण धर्म हैं, प्राणके क्षुधा-पिपासा, मनका भय, बुद्धिकी तृष्णा, और इन्द्रियोंके कृच्छ्र-यानी श्रम (थक-जाना) धर्म हैं।

यहाँ यह जानना चाहिये कि–यदि कोई भेदवादी श्रीहरिको स्वात्मासे यानी अपने स्वरूपसे भिन्न माने तो भगवान् श्रीहरि–अनात्मा होजायगा। और अनात्माकी ध्रुवास्मृतिसे यहाँ बतलाई हुई अनात्माके अध्यासकी निवृत्ति नहीं हो सकती है, जैसे सर्पके ज्ञानसे सर्पका अध्यास निवृत्त नहीं होता। इसलिये--अन्यथानुपपत्ति-प्रमाणके द्वारा भी यही सिद्धान्त लक्षित होता है कि-भगवान् श्रीहरि अपना–आत्मा स्वस्वरूप ही हैं।

अतएव श्रीमद्भागवतके उसी ही एकादश-स्कन्धमें भागवतोत्तमका–अभेदभाव शालित्व, समतत्त्वदर्शित्व ही लक्षण स्पष्टरूपसे कहा है—जैसे-'जो धनादिमें–'यह अपना है, और यह पराया है' ऐसा भेदभाव नहीं रखता, तथा आत्मामें भी 'आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, भगवान् उनसे भिन्न है' ऐसा भेदभाव नहीं रखता, अर्थात् एक ही आत्मा सर्वशरीरोंमें विद्यमान है, एवं यही भगवान् है, ऐसा अभेदभाव रखता है, समस्त चराचर-प्राणियोंमें समस्वरूप-परमात्माको देखता रहता है, सबमें समभाव रखता है, तथा इष्टानिष्ट-पदार्थोंसे रागद्वेष न कर सदा शान्त रहता है, वह भगवान् का उत्तम-भक्त है।' (भा०) ममतास्पद-धनादि में यह स्वकीय है, एवं यहपरकीय है, ऐसाभेद जिसे नहीं है। इस प्रकार,

त्मनि च। आत्मशब्दस्योभयसाधारण्याद्, भेदो नास्ति। सच्चिदानन्दरूपेण तयोः, सर्वेषां जीवात्मनाञ्चाभिन्नत्वात्। अत एव सर्वेषु भूतेषु=चराचरोच्चावचप्राणिष्वपि समः=समभाववान्, सर्वत्रान्तर्बहिरद्वयं ब्रह्मतत्त्वमेव समनुगतं विनिश्चित्य तदेवाजस्रं भावयतीति सर्वभूतसमः, अत एव रागद्वेषराहित्येन यः शान्तः=अभेदज्ञानलभ्यपराशान्तिसंयुक्तो यो भवति, स वै भागवतोत्तमः=वैष्णवाग्रगण्यो भवति। सति चैवं 'का विद्या'? इति भक्तोद्धवस्य प्रश्नस्योत्तररूपेण भगवता श्रीकृष्णेन तत्रैवैकादशेऽभिहितम्—'विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधः।' (भा० ११।१९।४०) 'त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता, त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधैकरसे।' (भा० १०।८७।२५) इत्यत्र वेदस्तुतौ भिदायाः अज्ञानजन्यत्वं प्रतिपादितम्। तथा चाभेदज्ञानेन तादृशस्य भेदस्य बाधो भवति। आत्मनि=प्रत्यगात्मनि अविद्यया—कल्पितयाऽवस्तुभूतया—जीवेश्वरभेदः, जीवानां परस्परभेदः, ईश्वरजगद्भेदः, इत्यादिपञ्चविधो भेदोऽध्यारोपितः तस्य बाधपूर्वकं सर्वत्राभेदस्य समाद्वयप्रत्यगभिन्नब्रह्मणोऽपरोक्षानुभव एव विद्या इत्यर्थोऽधिगम्यते। ततः=तस्मादज्ञानात् परत्र=परस्मिन्—प्रत्यग्रूपे ब्रह्मणि-अवबोधैकरसे त्वयि स अबोधोऽ-

जीवात्मा और परमात्मामें जिसे भेद नहीं है, आत्मशब्द उभय-जीव एवं ईश्वरमें साधारण रूपसे प्रयुक्त होता है। सच्चिदानन्दरूपसे जीवात्मा एवं परमात्मा, तथा समस्त जीवात्मा भी अभिन्न ही हैं। इसलिये वह समस्त चराचर-उत्कृष्ट-निकृष्ट-प्राणियोंमें भी समभाववाला बना रहता है, सबमें बाहर भीतर अद्वय-ब्रह्मस्वरूप ही समनुगत है, ऐसा दृढ निश्चय करके उसीकी ही निरन्तर जो भावना करता रहता है, वह सर्वभूतसम है। अत एव वह राग-द्वेष से रहित होनेके कारण शान्त है, अर्थात् अभेदज्ञानसे लभ्य-पराशान्ति से संयुक्त है, वही भागवतोत्तम है—यानी वैष्णव-भक्तोंमें अग्रगण्य है। ऐसा विवेचन एवं निश्चय हो जानेपर—'कौन विद्या है?' ऐसे भक्त-उद्धवके प्रश्नके उत्तररूपसे भगवान् श्रीकृष्णने उसी ही एकादश-स्कन्धमें कहा है कि—'आत्मामें भेदका बाध ही विद्या है।' (भा०) 'पुरुष जीवात्मा त्रिगुणमय है, इस प्रकारका भेदभाव केवल अज्ञानसे ही होता है, और आप-परमात्मा अज्ञानसे सर्वथा पर हैं, इसलिये-एकरस-ज्ञानस्वरूप आपमें किसी भी प्रकारका—भेदभाव नहीं है।' (भा०) इस वेदस्तुतिमें भी भेद अज्ञान जन्य है, ऐसा प्रतिपादन किया है। तथा च अभेद ज्ञानके द्वारा वैसे—भेद का बाध हो जाता है। आत्मा यानी प्रत्यगात्मामें अवस्तुभूत-कल्पित-अविद्याके द्वारा जीवेश्वरका भेद, जीवोंका परस्पर—भेद, ईश्वर एवं जगत्का भेद, इत्यादि पाँच प्रकारका भेद अध्यारोपित हुआ है। उसके बाध-पूर्वक सर्वत्र-अभेदरूप-सम-अद्वय-प्रत्यगभिन्न-ब्रह्मका अपरोक्षानुभव ही विद्या है, ऐसा अर्थ अधिगत होता है। उस अज्ञानसे पर प्रत्यग्रूप-

पि वस्तुतो न भवेद् = न संभवतीत्यर्थः। प्रचण्डतेजोमालिनि तिमिरमिव। यदा चाबोधो न वास्तविकस्तदा तज्जन्यभेदः कथं वास्तविकः स्यात् ? तथा च भेदोऽध्यारोपितोऽभेदज्ञानबाध्यश्च सिद्धयतीति भावः। अयं पुमान् = जीवात्मा, त्रिगुणमयः = गुणत्रयकार्यदेहादिरूपो निस्त्रैगुण्यात्परमात्मनो भिन्नः इति अबोधकृतो भेदः इत्यर्थः।

एवमेव संक्षेपशारीरके ग्रन्थेऽपि पूज्यैः श्रीसर्वज्ञात्ममुनिभिः—दृग्दृश्यात्मानात्मवस्तुविवेचनं ललितैः परिष्कृतैः कतिभिश्चित्पद्यैरित्थं कृतं जिज्ञासूनां सुखावबोधायात्रोपस्थाप्यते—तथाहि—'प्रत्यक्पराग्विषयवस्तु—विवेचनाय, क्लेशो न सम्भवति कस्यचिदत्र जन्तोः। दृश्यं तमो घटपटादिवदेव तस्य, द्रष्टा सुषुप्तिभुवि चिद्घनविग्रहोऽभूत् ॥१३५॥

तिस्रोऽपि चिद्घनतनोस्तव दृश्यभूताः,
दूरे चकासति मतेर्बहिरेव तावत्।

अवबोधैकरस-तुम्ह ब्रह्ममें उस अबोधका भी वस्तुतः संभव नहीं है, जैसे प्रचण्ड तेजके समूहरूप—सूर्यमें तिमिर—अन्धकारका। जब अबोध वास्तविक नहीं है, तब तज्जन्य—भेद कैसे वास्तविक होगा ?। तथा च भेद अध्यारोपित है, अभेद-ज्ञानसे बाधित है, ऐसा सिद्ध होता है, उसका भावार्थ है-यह जीवात्मा पुमान् त्रिगुणमय है, यानी गुणत्रयका कार्य—देहादिरूप बन गया है, इसलिये यह गुणत्रय रहित-परमात्मा से भिन्न है, ऐसा भेद अज्ञानकृत है, अर्थात् ज्ञावसे निवर्त्य है।

इस प्रकार पूज्य श्री सर्वज्ञात्ममुनि महाराजने—'संक्षेप—शारीरक' नामके अपने ग्रन्थमें कई-ललित-एवं परिष्कृत-पद्योंके द्वारा दृक्-दृश्य यानी आत्म-अनात्मवस्तुका इस प्रकार जो विवेचन किया है, उसको जिज्ञासुओंके आयास रहित-सुखपूर्वक-बोधके लिए-यहाँ उपस्थित किया जाता है—तथाहि— '* प्रत्यक्—आत्मवस्तु और पराङ्—अनात्म-वस्तु विषयक—विवेचनके लिए यहाँ किसी भी मनुष्यको कठिन (कष्टप्रद) नहीं है। क्योंकि—सुषुप्तिस्थलमें तमः यानी अज्ञान घटपटादिकी तरह दृश्य है, और उस अज्ञानका द्रष्टा आत्मा चैतन्यघन-स्वरूप ही है, ऐसा स्पष्ट दृक् एवं दृश्यका विवेचन सबके

---

*प्रत्यक् = प्रति—अक् यानी प्रातिकूल्येन-असजडदुःखवैलक्षण्येन सच्चित्सुखात्मना अञ्चति = स्वस्वरूपं प्रकाशते-इति प्रत्यक्। एवं पराङ्-पर-अङ् यानी ततः प्रत्यगात्मनः परतः = पृथग्भूतेन—असजड-दुःखात्मना अञ्चतीति पराङ् अर्थात्—असज्जडदुःखसे विलक्षण—सच्चितसुखरूपसे जो अपने स्वरूपको प्रकाशित करे, वह प्रत्यक् है, और प्रत्यगात्मासे पृथक् होकर जो असत्-जड एवं दुःखरूपसे अपने को प्रकाशित करे, वह पराङ् है।

आविस्तिरोभवनधर्मतया ह्यवस्थाः,
कः सङ्करो विमलचिद्वपुषस्तवाभिः ॥१३६॥
त्वय्येव कल्पितमहं—करणं बिभर्ति,
तिस्रोऽपि ताः सहितमेव तु तच्च ताभिः ।
त्वच्चित्प्रकाश—विषयत्वमुपेत्य भाति,
स्वाज्ञानवत्तव न रूपमतश्चतुष्कम् ॥१३७॥
नान्वेति तत्तव चिता व्यतिरेकिता च,
दूरे न सम्भवति तस्य चतुष्टयस्य ।
नाभावरूपभजनाय समर्थमेत—
देवं चिदेव तु चतुष्टयमेतदासीत् ॥१३८॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छिततनूनिष्क्रान्त्यवस्थासु यत्,
चैतन्यं व्यभिचारिवस्त्वनुगतं तत्सत्यमेवात्मनः ॥
यत्किञ्चिद् व्यभिचारि तन्ननु मृषा स्रक्सर्पदण्डादिवत्,
नानुस्यूतचिदात्मवस्तु वदितुं शक्यं मृषा रज्जुवत् ॥१३९॥

स्वाभाविक—अनुभवमें आता रहता है ।' 'चिद्घन विग्रहरूप-आप अन्तरात्माकी ये तीनों ही अवस्थाएँ—जाग्रत्-स्वप्न एवं सुषुप्ति दृश्यरूपा हैं, हैं ये अवस्थाएँ बुद्धिकी ही वस्तुतः, परन्तु आपमें आरोपित होकर आपकी कहलाती हैं, अर्थात् आपमें उनका वास्तविक—संसर्ग नहीं है, अत एव ये आपसे दूर ही पर प्रकाशित होती रहती हैं । ये अवस्थाएँ—आविर्भाव-तिरोभाव—धर्मवाली होनेके कारण शुद्ध—चैतन्यस्वरूप—आपके साथ इनका वास्तविक—सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? ।' 'जो अहंकार है, वह आप-प्रत्यगात्मामें कल्पित है, और ये तीनों अवस्थाएँ—जो आपमें कल्पित हैं—उनको यह अहंकार धारण करता है । और तीन-अवस्थाओंके सहित हुआ यह चतुर्थ अहंकार भी चैतन्य—प्रकाशरूप—आपका विषय (दृश्य) बनकर ही प्रकाशित होता है । अतः ये चार भी अज्ञानके समान आपका स्वरूप नहीं है ।' 'आपके चैतन्यके साथ इन चारोंका वास्तविक अन्वय (मिलाप-संसर्ग) नहीं है, और न तो अत्यन्त व्यतिरेक (पार्थक्य) ही है । अर्थात् यह चतुष्टय आपसे अत्यन्त अन्वित भी नहीं है, एवं न अत्यन्त-दूर—पृथग्भूत ही हो सकता है । सर्वानुभूत होनेके कारण इनका सर्वथा अभाव भी नहीं मान सकते, इसलिए यह चतुष्टय चैतन्यरूपही है चैतन्यसे अनन्य है—अन्य नहीं है ।' 'जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मृत्यु ये पांच अवस्थाएँ, परस्पर व्यभिचारी हैं—व्यावृत्त हैं—अर्थात् एकके रहते दूसरी नहीं रहती । परन्तु-इन व्यभिचारी—अवस्थाओंमें अनुगतरूपसे रहने वाला—आत्मा का स्वरूपभूत-चैतन्य ही परमार्थ-सत्य है । जो भी कुछ व्यभिचारी पदार्थ है, वह निश्चयसे मिथ्या ही होता है, जैसे रज्जुमें आरोपित—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधर्मकमिदं चित्तं त्वदज्ञानतः,
प्रादुर्भूतमतस्त्वमेव सततं त्वत्तो न तद्भिद्यते।
स्वाज्ञानं च तवानुभूतिबलतः सिद्धं मृषा तत्त्वतो,
नासीदस्ति भविष्यतीति भवतः पूर्णा चितिः शिष्यते ॥१४०॥
ज्योतिर्ब्राह्मणवाक्यमानबलतः संपूर्णरूपा चितिः,
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधर्मरहिता मोक्षाय निश्चीयते।
तस्मादस्मदुदीरितं स्वकवपुः श्रद्धत्स्व मानं विना,
नास्माभिः प्रतिपादिता चितिरियं वाक्यार्थसंबन्धिनी ॥१४१॥

एषामयमर्थः—स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चविलयाधारेऽप्यत्र सुषुप्तिस्थाने तत्कारणभूतस्य तमसश्चिद्घनविग्रह एष आत्मा द्रष्टा साक्षी अभूदिति सम्बन्धः। तिस्रोऽप्यवस्थाः चिदेकरसस्य तवात्मनः तावद् दृश्यभूतास्ततो घटादिवद्

परस्पर—व्यावृत्त, माला, सर्प-दण्ड-आदि। सर्वत्र-अनुस्यूत-चिदात्म-वस्तुको रज्जुके समान मिथ्या नहीं कह सकते।' 'जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति धर्मवाला यह चित्त (अन्तःकरण) आपके अज्ञानसे प्रादुर्भूत हुआ है। अतः यह भी आप ही हैं, आपसे यह भिन्न नहीं हो सकता, अर्थात् आरोपितका वास्तविक-स्वरूप अधिष्ठान ही होता है, अधिष्ठानसे आरोपित भिन्न नहीं होता? वह अपना अज्ञान भी आप-प्रत्यगात्माकी अनुभूतिके बलसे ही सिद्ध होता है। वास्तवमें वह भी मिथ्या ही है, क्योंकि—वह न प्रथम था, न अब है, एवं न आगे होगा, इस प्रकार अज्ञान का एवं अज्ञान विलसित—चित्तका भी त्रैकालिक निषेध है, ऐसा निषेध होजानेपर आपका पूर्ण-चैतन्य स्वरूप ही परिशिष्ट रह जाता है।' बृहदारण्योपनिषत्के ज्योति-ब्राह्मणके वाक्यके प्रमाण-बलसे जाग्रत् स्वप्न एवं सुषुप्तिरूपधर्मसे रहित—संपूर्णस्वरूपवाला चैतन्य ही स्वरूपावस्थानरूप मोक्षके लिए विनिश्चित होता है। इसलिए हमारे द्वारा-उपदिष्ट-स्वस्वरूपभूत-चैतन्यपर श्रद्धा रक्खो। हमारे द्वारा प्रतिपादित—यह चिति-शक्ति (चैतन्य-ब्रह्म) प्रमाणके द्वारा ही—अखण्ड-एकरसरूप-वाक्यार्थ की सम्बन्धिनी होती है, अर्थात् प्रमाणके विना वाक्यार्थके साथ सम्बन्ध नहीं रखती, इसलिये इस प्रमाण ज्ञापित—अर्थमें श्रद्धा रखना श्रेयस्कर है।'

इन पद्योंका यह अर्थ है—स्थूल एवं सूक्ष्म प्रपञ्चके विलयका आधाररूप इस सुषुप्तिस्थानमें भी उस प्रपञ्च-द्वयका कारणरूप-तमका-अज्ञानका चिद्घनस्वरूप यह आत्मा द्रष्टा साक्षी था, ऐसा वाक्योंका सम्बन्ध है। तीनों ही ये अवस्थाएँ चिदेकरस-आप आत्माकी दृश्यभूत हैं, इसलिए घटादि की तरह पृथक् बाहर हैं—आप चेतनके सत्यत्वादि-धर्मोंसे रहित हैं। अर्थात् जैसे घट-द्रष्टा घटसे भिन्न होता है, घटत्वधर्मसे रहित होता है, वैसे द्रष्टा आत्मा दृश्यसे पृथक् होता है, और दृश्यके असत्त्वादि-धर्मोंसे रहित होता है, और

बहिरेव त्वच्चेतनधर्मत्वरहिताः सन्ति। किञ्च जाग्रदवस्थाया इन्द्रियादिजन्य बुद्धिवृत्तिरूपत्वात्, स्वप्नस्य च तद्गतवासनाविलासत्वात् सुषुप्तेस्तदीय-लयात्मकसूक्ष्मरूपत्वाद्, अनात्मबुद्धिसम्बन्धिन्यस्ताः स्वरूपनिरूपणदशायां दृगात्मनो दूरे = तत्संसर्गानर्हदेशे भासन्ते, ततः कथं तासां चेतनात्मधर्मत्वं संभवति ?। सत्येवं तासामागमापायितया रज्जुसर्पवन्मिथ्यात्वादपि तदधीनाऽ-शुद्धिरात्मनः कथमपि न संभवति; संकरः = वास्तवः संश्लेषः। सहितं = मिलितं, तत् = अहंकरणं। त्वय्येवात्मनि कल्पितोऽहंकारो तिस्रोऽपि ताः अवस्थाः बिभर्ति = धारयति, अवस्थाभिश्च संमिलितोऽहंकारः त्वच्चित्प्रकाश-विषयत्वमर्थात् दृश्यत्वमुपेत्य भाति, अहंकारोऽवस्थाश्चेत्येतच्चतुष्कं वस्तुत-स्तव स्वरूपं त्वद्धर्मश्च नास्तीति फलितार्थः। तच्चतुष्टयं, तवात्मनश्चिता = त्वत्स्वरूपभूतचैतन्येन साकं नान्वेति, अन्वयोऽपि वास्तवो न संभवति, कथं ? इत्थं, शृणु तावत्, तस्य चतुष्टस्य किं सत्त्वमसत्त्वं वा, आद्येऽपि, किं चिदभेदेन सत्त्वं, उत भेदेन, भेदाभेदेन वा। नाद्यः—जडाजडयोर्व्यभिचार्य,

दृश्य भी द्रष्टाके धर्मों से रहित होता है। और—जाग्रदवस्था, इन्द्रियादिसे जन्य बुद्धि की वृत्तिरूप है, स्वप्न भी बुद्धिगत-वासनाओंका विलासमात्र है, एवं सुषुप्ति—अवस्था बुद्धिकी वृत्तियोंका विलयात्मक-बुद्धिका सूक्ष्मस्वरूप ही है। इसलिये ये तीनों अवस्था-एँ अनात्म-बुद्धिकी सम्बन्धिनियाँ हैं, अर्थात् ये बुद्धिकी ही अवस्थाएँ हैं, आत्मा की नहीं। उन अवस्थाओंके स्वरूपके निरूपण की दशामें दृग्रूप—आत्मासे दूरमें यानी आत्माके संसर्गके अयोग्य-स्थलमें वे भासित होती हैं। इसलिये इन—अवस्थाओंमें चेतन आत्माकी धर्मताका कैसे संभव हो सकता है ?। अर्थात् ये अवस्थाएँ चेतनका धर्म नहीं होसकतीं। ऐसा विवेचन हो जानेपर ये दृश्य—अवस्थाएँ-उत्पत्ति-विनाश--शाली होनेके कारण रज्जु-सर्पके समान मिथ्या हैं, इसलिए आत्माके साथ इनका वास्तविक-सम्बन्ध नहीं है, अतः इनकी अशुद्धिसे आत्मा अशुद्ध भी नहीं हो सकता है। संकर यानी वास्तविक-संसर्ग। सहित यानी संमिलित। आत्म-स्वरूप आपमें कल्पित यह अहंकार इन तीनों-अवस्थाओंको धारण करता है। और इन अवस्थाओंसे मिला हुआ यह अहंकार चैतन्यस्वरूप आपकी-विषयता यानी दृश्यता प्राप्त कर ही भासने लगता है-अतः तीनों अवस्थाएँ, और अहंकार ये चारों वास्तवमें न तो आपका स्वरूप हैं, न ही आपके धर्म हैं, यह फलितार्थ है। इन चारोंका आप—आत्माके स्वरूपभूत-चैतन्यके साथ वास्तविक अन्वय यानी संसर्गभी नहीं हो सकता है। कैसे ? इसप्रकार ! सुनो तब। ये चारों सत् हैं, या असत् हैं। यदि सत् हैं तो कैसे ? क्या चेतनसे अभिन्न होनें के कारण सत् हैं ? या चेतनसे भिन्न होनेके कारण सत् हैं ?। अथवा क्या चेतनसे भिन्न एवं अभिन्न होनेके कारण सत् हैं ?। प्रथम पक्ष ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि—जड एवं

व्यभिचारिणोश्च वस्तुतोऽभेदासंभवात् । न द्वितीयः, भेदस्यैव द्वितीयाध्यायोक्तविधया दुर्निरूपत्वेन सत्त्वायोगात् । किं च तस्यापि भेदेन सत्त्वेऽनवस्थापातात्, तदभेदस्य चोक्तविधयाऽसंभवात् । न तृतीयः, पक्षद्वयोक्तदोषापत्तेः, विरोधाच्चैकत्र भेदाभेदासंभवात् । नाप्यसत्त्वं, नरशृङ्गवद् अपरोक्षत्वानुपपत्तेः, सदनुभवविरोधाच्च । एवं वास्तवान्वयस्यासंभवमुक्त्वा संप्रति वास्तवो व्यतिरेकोऽपि न संभवतीत्याह—तस्य चतुष्टयस्य त्वत्स्वरूपचैतन्येन व्यतिरेकिता=पृथक्ताऽपि दूरे न सम्भवति । यतः उक्तचतुष्टयस्यात्मनः पृथक्त्वे तस्याद्वयत्वक्षत्यापत्तेः । एवमुक्तचतुष्टयस्य प्रत्यक्षानुभवाद्—अभावरूपताऽपि न कथमप्यङ्गीकर्तुं शक्या । तस्माद् अन्वयव्यतिरेकाभावानां परिहारेणाविद्यातत्कार्यात्मक—द्वैतप्रपञ्चस्यारोपितस्याधिष्ठानचिदेकतायाः, सन्मात्रत्वे

चेतनका और व्यभिचारी एवं अव्यभिचारीका अर्थात् व्यावृत्त एवं अनुवृत्तका वास्तविक अभेद नहीं हो सकता । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं होसकता, क्योंकि—द्वितीयाध्यायमें कथनकी हुई रीतिसे भेदका निरूपण ही दुष्कर है, इसलिये भिन्न होनेके कारण उनमें सत्त्व नहीं हो सकता, अर्थात् ये सत् नहीं हो सकतीं । और भी भेदके भी भेद द्वारा उनमें सत्ता मानने पर अनवस्था दोष हो जायगा, अर्थात् भिन्नता-प्रयोजक जो भेद है वह क्या चेतन से भिन्न है, या अभिन्न है, व्याघात होनेके कारण भेद को अभिन्न नहीं मान सकते, भिन्न माननेपर उसमें रहने वाला भेद भी भिन्न ही होगा, ऐसा आगे आगे मानने पर अनवस्था हो जाती है । भेदका भी अभेद माननेपर पूर्वोक्त-रीतिसे असंभव हो जायगा । तृतीय भेदाभेद—पक्ष भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों पक्षोंमें जो जो दोष दिये हैं, वे सब इस पक्षमें आ जाते हैं । और विरोध होनेके कारण भेद और अभेद का एकत्र रहना असंभव है । ये चारों असत् हैं, यह पक्ष भी ठीक नहीं है । क्योंकि—नरशृङ्ग के समान इनकी अपरोक्षताकी अनुपपत्ति होजायगी, अर्थात् हैं ये सबके अपरोक्ष, उनका सद्रूपसे सबको अनुभव होता है, असत् माननेपर उस-अनुभवके साथ विरोध होजायगा । इसप्रकार इनका चेतन-आत्माके साथ वास्तविक-अन्वय असंभव है—नहीं हो सकता । ऐसा कहकर अब वास्तविक-व्यतिरेक (पार्थक्य) भी नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—उन चारोंकी आपके स्वरूपभूत-चैतन्यके साथ अत्यन्त व्यतिरिक्तता यानी वास्तविक-पृथक्ता भी नहीं हो सकती है । क्योंकि—उन चारोंको आत्मासे सर्वथा पृथक् माननेपर तो आत्माके अद्वयत्व की क्षति (हानि) होजाती है, अतः इनको आत्मासे सर्वथा पृथक्-व्यतिरिक्त भी नहीं मान सकते । और ये चारों प्रत्यक्षसे सिद्ध होनेके कारण इनका अभाव भी नहीं मान सकते । इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध हुआ है कि—अन्वयका व्यतिरेकका एवं अभावका परिहार (प्रतिषेध) करनेपर अविद्या और तत्कार्यरूप जो यह द्वैत-प्रपञ्च है, वह अधिष्ठान-चैतन्य-ब्रह्ममें आरोपित

पर्यवसानाद् 'योऽयं सर्पः सा रज्जुरेषा' इतिवत् तदेव तत्त्वं, तद्विपरीतं त्वनिर्वचनीयं, तत्त्वबोधेन बाधितं सदुक्तस्वरूपेणैवावशिष्यत इति विज्ञेयम्। तनूनिष्क्रान्तिः—स्थूलशरीरान्निर्गमनं, मरणमिति यावत्। एतच्च पुनः-शरीर-प्राप्त्यवस्थोपलक्षणम्। एवं जाग्रदादिव्यभिचारि-षडवस्थासु यदनुगतमात्मनश्चैतन्यं द्रष्टृरूपं तदेव परमार्थसत्यं प्रत्येतव्यम्। 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृ० उ० ४।३।२३) इत्यादिश्रुतेः, प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्याच्च, स्वापमूर्च्छामरणाद्यवस्थास्वपि तदागमापायस्य साक्षितया चैतन्यमनुगतमस्त्येव। इतरथा तत्तदवस्थापरामर्शानुपपत्तिः, ततश्च जाग्रदादीनां व्यभिचारित्वस्य मिथ्यात्वेन व्याप्तिसिद्धेः स्रक्सर्पदण्डादिषु; चैतन्यस्यैव सर्वानुगततयाऽव्यभिचरितस्य सत्यतया व्यभिचार्यवस्थाधिष्ठानत्वं युक्तमेव। अतः तदनुस्यूतचिदात्मवस्तु रज्जुवद् मृषा वदितुं न शक्यम्। जडस्य जाग्रत्स्वप्र-

है, और उन—आरोपितोंका—अधिष्ठान-चैतन्यके साथ एकता (बाधसामानाधिकरण्य रूपा) होनेके कारण उन सबका सन्मात्र—ब्रह्ममें ही पर्यवसान होजाता है। इससे 'जो वह सर्प था, वही यह वस्तुतः रज्जु है' इस दृष्टान्तकी तरह, जो यह आरोपित-द्वैत जगत् है, वह सब चेतन-ब्रह्म ही है, वही उसका पारमार्थिक-तत्त्व है, उससे विपरीत—जो कुछ है, वह सब अनिर्वचनीय है—मिथ्या है-तत्त्वज्ञानसे बाधित होकर उक्त—चेतन ब्रह्मस्वरूप से ही अवशिष्ट रहजाता है, ऐसा समझना चाहिये। तनुनिष्क्रान्ति यानी स्थूल-शरीरसे बाहर निकल जाना, अर्थात् मृत्यु। यह पुनः शरीरकी प्राप्तिरूप-अवस्थाका उपलक्षण है। इसप्रकार जाग्रदादि-व्यभिचारी-इन—षड् अवस्थाओंमें जो अनुगत-साक्षीरूप आत्मा का चैतन्य है। वही परमार्थ सत्य है, ऐसा जानना चाहिये। 'द्रष्टा-आत्मा की स्वस्वरूपभूत-चैतन्य दृष्टिका विपरिलोप (विनाश) नहीं होता है, क्योंकि—वह अविनाशी है।' (श्रु०) इत्यादि—श्रुतिके वचन तथा प्रत्यभिज्ञा—प्रमाणसे भी यह सिद्ध होता है कि—सुषुप्ति मूर्छा आदि—अवस्थाओंमें उनके आगमापाय (उत्पत्ति—विनाश) का जानने वाला-साक्षी चैतन्य अनुगत रहता है। अन्यथा यानी साक्षी न माननेपर उन अवस्थाओंका परामर्श यानी स्मरण भी किसीको नहीं हो सकता, क्योंकि—अनुभूतका ही स्मरण होता है, जिसका अनुभव ही न हुआ हो, उसका स्मरण कैसे हो सकता है ?। इसलिये जाग्रदादि अवस्थाएँ व्यभिचारी होनेके कारण मिथ्या हैं, जैसे रज्जुमें कल्पित-माला, सर्प, दण्डादि। व्यभिचारित्वके साथ मिथ्यात्वकी व्याप्ति है, यानी जहाँ व्यभिचारित्व होगा, वहाँ मिथ्यात्व अवश्य ही रहेगा। चैतन्य-ब्रह्म सब व्यभिचारी—अवस्थाओंमें अनुगत होनेके कारण अव्यभिचारी है, अतएव परमार्थ-सत्य है, इसलिये इन व्यभिचारी-अवस्थाओंका उसे अधिष्ठान होना यथार्थ है, युक्तियुक्त है। अतः तदनुगत-चिदात्म-वस्तुको मिथ्या नहीं कह सकते, किन्तु रज्जुके समान सत्य ही मान सकते हैं। जाग्रत्

सुषुप्तिधर्मकस्यास्य चित्तस्य स्वातन्त्र्येण स्वतःस्फुरणायोगात्, चिदात्मन्येवाधिष्ठानेऽविद्याकल्पितं तदिति मन्तव्यम् ।

अत एवाधिष्ठानादध्यारोपितं वस्तुतो नातिरिच्यते इति न्यायेन त्वत्तश्चिदात्मनो न तद्भिद्यते । स्रक्सर्पादेः रज्ज्वज्ञानविलसितत्वात् सैव तत्तत्त्वं, तद्विपरीतं तु मिथ्येतियावत्, अवस्थाधर्मितयोक्तं चित्तमात्माज्ञानविलसिततयाऽऽत्मैव तत्तत्त्वं स्यात्, एवं तत्कारणीभूतमज्ञानमपि-तवानुभूतिबलतः सिद्धं त्वज्ज्ञानेन बाधितं सत्तत्त्वतो नासीदस्ति भविष्यतीति कालत्रयेऽपि मृषा सिद्ध्यति । अद्वयासङ्गस्वप्रकाशचिदात्मनि तस्य सविलासस्याज्ञानस्य वस्तुतोऽसंभवात्, जाड्यदृश्यत्वाभ्यां तस्मिन्मिथ्यात्वसिद्धेः कालत्रयेऽपि स्वतः सत्त्वहीनस्य तस्य सविलासस्याज्ञानस्य प्रतिभासेऽपि वस्तुत्वेन पूर्णानन्दचिदात्माऽवशिष्यते इति फलितार्थः । मोक्षाय = तद्धेतुवाक्यार्थबोधाय । तत्र हि ज्योतिर्ब्राह्मणे—आदित्यादीनां व्यवह्रियमाणवस्तुप्रकाशकज्योतिषां—अभावे सति, स्वप्नमनोरथादौ व्यवहारहेतुभूतं ज्योतिः किमित्यभिप्रेत्य—'किं

स्वप्न-सुषुप्ति-धर्मवाला यह अन्तः करण जड है, अतः उसका स्वतन्त्रतासे स्वतः स्फुरण नहीं हो सकता । इसलिये वह चिदात्मारूप-अधिष्ठानमें अविद्यासे कल्पित है, ऐसा मानना चाहिये । अत एव 'अध्यारोपित—यानी कल्पित-पदार्थ अधिष्ठानसे वस्तुतः अतिरिक्त नहीं हो सकता ।' इस न्यायसे वह आप-चिदात्मासे भिन्न-व्यतिरिक्त नहीं हो सकता है । जैसे माला, सर्प आदि रज्जुके अज्ञानसे भासित होनेके कारण रज्जुही उनका वास्तविक-तत्त्व है—स्वरूप है, उससे विपरीत-अतिरिक्त माननेपर माला सर्पादि मिथ्या हैं,-वैसे ही जाग्रदादि—धर्मवाला यह चित्त, आत्माके अज्ञानसे विलसित (उद्भासित) होनेके कारण आत्मा अधिष्ठान ही उसका वास्तविक-तत्त्व है । इस प्रकार अन्तःकरणादि का कारणरूप-अज्ञान भी आप-चिदात्माके अनुभव के बलसे सिद्ध है, अतएव वह आपके ज्ञान से बाधित होता है, इसलिए वह तीनों कालोंमें मिथ्या ही सिद्ध होता है, अर्थात् वह तत्त्वतः न तो था, न है, एवं न होगा, इसप्रकार इस आरोपित-चित्तका त्रैकालिक-प्रतिषेध होजाता है । अतः स्वप्रकाश—असंग—अद्वय—चिदात्मामें सविलास उस अज्ञानका वस्तुतः असंभव है । और जडत्व एवं दृश्यत्व हेतुके द्वारा उसमें मिथ्यात्व सिद्ध होता है । अतः कालत्रयमें भी सत्ता विहीन-उस-सविलास-अज्ञान का प्रतिभास होनेपर भी वास्तव में पूर्णानन्द-चिदात्मा ही परिशिष्ट रह जाता है, ऐसा फलितार्थ है । मोक्षाय का अर्थ है—मोक्षका हेतु भूत-वाक्यार्थ-बोधके लिये, यहाँ अखण्ड एकरस—ब्रह्मका साक्षात्कार ही वाक्यार्थ-बोध है ।

बृहदारण्यकोपनिषत्के उस-ज्योतिर्ब्राह्मणमें—'व्यवहारमें आने वाले—पदार्थों का प्रकाशक—सूर्यादि—ज्योतिके न होनेपर—अन्य ऐसी कौन ज्योति है ? जो स्वप्न—

ज्योतिरेवायं पुरुषः' (बृ० उ० ४।३।२) इति प्रश्नस्य 'आत्मैवास्य ज्योतिः' (बृ० उ० ४।३।६) इत्युत्तरं श्रुत्वा देहादीनां बहूनामहमितिप्रतिभासात्, तत्रासाधारणात्मस्वरूपजिज्ञासया 'कतम आत्मा' (बृ० ४।३।७) इति पुनः प्रश्ने तस्योत्तरमुक्तं—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।७) इत्यादिना। तेन हि देहेन्द्रियप्राणबुद्धितद्वृत्तिक्षणिकविज्ञानाज्ञान-विलक्षणमात्मानमुक्त्वा तस्य 'समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति' (बृ० उ०-४।३।७) इति बुद्ध्युपाधिकं संसारं निर्दिश्य तस्य 'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० उ० ४।३।७) इत्यादिना मिथ्यात्वमुक्तम्। पुनः 'सधीः स्वप्नो भूत्वा' (बृ० उ० ४।३।७) इत्यादिना जाग्रत्स्वप्नमरणजन्मनां पर्यायेण प्राप्तिमनूद्य, तेषां व्यभिचारिणामतत्स्वभावत्वं प्रतिपाद्य, पुनः 'स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे' (बृ० उ० ४।३।१५) इत्यादिना क्रमिकावस्थानुवादपुरःसरं 'स यत्तत्र किञ्चि-

---

मनोरथ आदिके व्यवहारका प्रयोजक—प्रकाशक है ? इस अभिप्रायसे यह प्रश्न किया गया है कि—'स्वप्नसमयमें यह पुरुष-यानी देहादि—कार्यकरणसंघात, किस ज्योतिवाला है ? अर्थात् स्वप्न-व्यवहार का प्रकाशक कौन ज्योति है ?' (श्रु०) उत्तर देते हैं कि—'आत्मा ही इसकी प्रकाशक ज्योति है।' (श्रु०) ऐसा उत्तर सुननेके बाद फिर जिज्ञासा होती है कि—साधारण—मनुष्योंको शरीर—इन्द्रिय आदि अनेक पदार्थ अहं-आत्मारूपसे प्रतीत होते हैं, अतः इनमें असाधारण-मुख्य-आत्मस्वरूपकी जिज्ञासा होनेपर वास्तविक-आत्मा कौन है ?' (श्रु०) ऐसा पुनः प्रश्न होनेपर, उसका उत्तर श्रुतिने ऐसा दिया है कि—'जो विज्ञानमय है—यानी बुद्धिरूप—उपाधिवाला है, एवं प्राण यानी इन्द्रियोंमें तथा हृदयके अन्दर-ज्योतिःस्वरूपसे विराजमान है, वह पुरुष यानी मुख्य-पुरुष चिदात्मा है।' (श्रु०) इत्यादिके द्वारा। इस उत्तरके कथनसे देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि, तद्वृत्ति, क्षणिक-विज्ञान, और अज्ञान, इन सबसे विलक्षण-आत्मा है, ऐसा बोधन-करके उस आत्मामें—फिर—'वह समान होकर यानी बुद्ध्यादिके सदृश-तत्तादात्म्यापन्न हुआ, इस लोक एवं परलोक—उभयलोकोंमें क्रमशः संचार करता है।' (श्रु०) इत्यादि वचनोंके द्वारा बुद्ध्युपाधिवाले-कर्तृत्व भोक्तृत्वादि-संसारका निर्देश किया। पश्चात् उस संसारको-‐'ध्यान—चिन्तन करनेवाली—बुद्धिके साथ रहा हुआ यह आत्मा ध्यान करता हुआ-सा, एवं एक विषयको छोड़कर अन्यविषयमें आने जाने वाली लेला (चंचल) बुद्धिके साथ रहा हुआ यह आत्मा चंचल-सा हुआ प्रतीत होता है, वस्तुतः यह आत्मज्योति, चिन्तन एवं चलन आदि क्रियासे रहित निष्क्रिय एवं निर्विकार है।' (श्रु०) इत्यादिके द्वारा—मिथ्या—आरोपित—अवास्तविक बोधित किया। पुनः 'बुद्धिके साथ तादात्म्यापन्न होनेके कारण वह धीरूप हुआ आत्मा बुद्धि—परिणामरूप स्वप्न—प्रपञ्च भी होकर।' (श्रु०) इत्यादि वचनसे जाग्रत्, स्वप्न, मरण, और जन्मकी क्रमशः प्राप्तिका अनुवाद करके इन

त्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) इति क्रियासमभिहारेण तत्तदवस्थागतवस्तुसाक्षिमात्रत्वेन तदसङ्गत्वमुपपाद्यानन्तरं—'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति' (बृ० उ० ४।३।१६) इति सुषुप्तिमवतार्य—'तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयं रूपम्' (बृ० उ० ४।३।२१) इत्यादि-ब्राह्मणशेषेण समस्तकामकर्मादिरहितं स्वप्रकाशनित्यचिदानन्दात्मकं त्वंपदलक्ष्यं पृष्टात्मस्वरूपं निरूपितम्। एवं 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।' (ई० उ० ८) 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥' (मु० उ० २।१।२) इत्यादि–श्रुतिभिरप्युक्तरूप एव त्वमर्थः स्वात्मा निरूपितः।

व्यभिचारी-अवस्थाओंमें आत्मस्वभावता नहीं है, किन्तु अनात्म-स्वभावता है, ऐसा प्रतिपादन करके पुनः 'वही यह इस संप्रसादमें यानी अति—प्रसन्नतावाली—सुषुप्ति-अवस्थामें।' (श्रु०) इत्यादिसे क्रमिक-अवस्थाका अनुवाद पूर्वक—पुनः 'वह आत्मा जो भी कुछ पुण्यपाप का फल-इष्टानिष्ट उस स्वप्नमें देखता है, वह उस दृष्ट-दृश्यसे अन्वागत यानी अनुबद्ध नहीं होता है, क्योंकि—यह पुरुष—आत्मा सदा असंग ही रहता है।' (श्रु०) ऐसी—उस—उस अवस्थाओंमें अवस्थित—पदार्थोंके एकमात्र साक्षीरूपसे वारंवार उसकी—असंगताका उपपादन करके उसके बाद 'जिस सुषुप्तिमें सोया हुआ—लीन हुआ यह आत्मा किसी भी काम्यमान-पदार्थकी कामना नहीं करता है, एवं न किसी स्वप्नको भी देखता है (जाग्रत् का दर्शन भी स्वप्नदर्शन ही है, ऐसा मानकर श्रुतिने 'न किसी जाग्रत्—दृश्यको भी देखता है' ऐसा पृथक् निर्देश नहीं किया, अन्यथा स्वप्नको नहीं देखता है, तो क्या जाग्रत् को देखता है ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होता)' (श्रु०) इसप्रकार सुषुप्तिका अवतरण करके पश्चात् 'उस आत्माका यह कामनावर्जित, पुण्यपापरहित निर्भय, अविद्याशून्य विशुद्ध महान्—अद्वयानन्दपूर्ण स्वरूप है' (श्रु०) इत्यादि ज्योति ब्राह्मणके शेष वचनके द्वारा समस्त कामकर्म-अविद्यासे रहित, स्वप्रकाश, नित्य, चिदानन्दघनरूप त्वंपदका लक्ष्यभूत—पूछे गये—आत्माके उपाधिविनिर्मुक्त-विशुद्ध—स्वरूपका निरूपण किया।

इस प्रकार 'वह आत्मा सर्वत्र व्यापक है, शुद्ध है (अविद्यारूप कारण शरीरसे रहित है) अकाय है (सूक्ष्म शरीरसे रहित है) व्रण—छिद्र, स्नायु—नाडियोंसे रहित है—अर्थात् स्थूल शरीरसे रहित है, शुद्ध है, पाप पुण्यसे विद्ध-बद्ध नहीं है किन्तु मुक्त है' (श्रु०) 'वह दिव्य है यानी स्वयंज्योति स्वरूप है, या अलौकिक है, अमूर्त (निराकार) है, पुरुष (पूर्ण) है, बाहर भीतर सर्वत्र वर्तमान है, अजन्मा है, प्राण एवं मनसे रहित है, शुद्ध है, अव्याकृत—मायारूप अक्षर—जो क्षरसे पर है, उससे भी यह आत्मा पर है—यानी क्षर एवं अक्षर से अतीत है, निर्माय—निर्विकार है।' (श्रु०) इत्यादि-श्रुतियोंके

ततोऽस्मिन्निरूपितेऽर्थे वेदान्तवाक्यप्रमाणतः, नाश्रद्धाकारणमस्ति तस्मा-द्युक्त्युपोद्बलितश्रुतिवाक्यैरेव स्पष्टतः प्रतिपादितां नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपा-मद्वयब्रह्मरूपामानन्दपूर्णां चितिं श्रद्धया ऐकाग्र्येण च सततं त्वं चिन्तयेति भावः ।

इदं 'सर्ववेदान्तसारं यत् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् । वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम् ॥' सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते ।' (भा० १२।१३।१२ + १५) इत्यादिवचनैः—श्रीमद्भागवतस्य भक्तिरसप्रधानस्यापि वेदा-न्तानामुपनिषदां सारभूतत्वावगमात् तच्छ्लोकविवेचनं वेदान्त—तदाचार्य वाक्योपहारमुखेन यत्कृतं तत्सुतरां स्थान एव विज्ञेयं विद्वद्भिः ।

तस्मात् सर्वेषां जीवानां स्वस्वरूपं क्षेत्रज्ञो विश्वद्रष्टा भगवान् सर्वात्मा श्रीहरिः एक एव परमार्थसत्यः, स्वयं ज्योतिपरमानन्दनिधिः पूर्णाद्वयः, तद् व्यतिरिक्ताः सर्वेऽपि देहगेहादयो बाह्यविषयाः—स्वप्नमायामनोरथकल्पाः मिथ्यैव सन्तीति शास्त्रगुरूणां वचनेभ्यो विनिश्चित्य बाह्यविषयानुरागं दुःखप्रदतया सर्वथैव

द्वारा भी पूर्वोक्त—स्वरूपवाला ही त्वमर्थ—अपने आत्माका निरूपण किया है । इसलिये वेदान्त—वाक्योंके प्रमाणों से निरूपित—उस अर्थमें—अश्रद्धा का कोई कारण नहीं है, अर्थात् अश्रद्धाका कारण अप्रामाणिकता है, अतः प्रमाणाधिगत—यथार्थ—अर्थमें श्रद्धा रखनी ही चाहिये, या रहती ही हे । अत एव विविध-युक्तियोंसे समर्थित—पूर्वोक्त-श्रुति-वाक्योंके द्वाराही स्पष्टतः प्रतिपादित—'नित्य-शुद्ध-बुद्ध—मुक्तस्वरूप-अद्वयब्रह्मस्वरूप-आनन्दपूर्ण—चैतन्यका श्रद्धा एवं एकाग्रतासे निरन्तर तू चिन्तन कर, ऐसा भाव है ।

इसप्रकार—'यह श्रीमद्भागवत समस्त-उपनिषदोंका सारभूत है, यह ब्रह्म और आत्माकी एकता को ज्ञापन करता है, अद्वितीय-ब्रह्मवस्तु ही इसका मुख्य-प्रतिपाद्य विषय है, इस वस्तुकी निष्ठा द्वारा होनेवाला—एकमात्र कैवल्य-मोक्षका लाभ ही इसका मुख्य प्रयोजन है, अतः यह श्रीमद्भागवत समस्त-उपनिषदोंका ही सार माना जाता है।' (भा०) इत्यादि वचनोंसे यह विदित-होता है कि—भक्ति—रस प्रधान भी यह श्रीमद्-भागवत सर्व-उपनिषदोंका सारभूत है, अतः श्रीमद्भागवतके इन श्लोकोंका विवेचन—वेदान्त-वाक्योंके उपहार (उद्धरण) द्वारा एवं वेदान्ताचार्य-महानुभावोंके वाक्योंके उपहार द्वारा—जो किया गया है, वह अच्छी प्रकारसे युक्त ही है, संदर्भानुसारी ही है, अयुक्त नहीं है—अप्रासंगिक नहीं है; ऐसा विद्वानोंको जानना चाहिये ।

इसलिये—समस्त जीवोंका स्वस्वरूप-क्षेत्रज्ञ-विश्वद्रष्टा-सर्वात्मा एक भगवान् श्रीहरि ही परमार्थ-सत्य है, वह स्वयंप्रकाश-परमानन्दनिधि-पूर्ण-अद्वय है । उससे अतिरिक्त देहगेहादिरूप ये समस्त बाह्यविषय स्वप्न, माया एवं मनोरथके समान सर्वथा मिथ्या ही हैं, ऐसा शास्त्र एवं गुरुओंके वचनोंसे दृढ निश्चय करके-दुःखप्रद होनेके कारण

परित्यज्य स्वात्मनि भगवत्येवैकस्मिन् परमप्रेमरूपो ज्ञानपूर्णो भक्तियोग एव संपादनीयो विवेक-विचारशीलैर्मनुजैः, इत्याह—तस्मात्=पूर्वोक्तहेतोः हे राजन् ! सर्वात्मना=सर्वात्मभावेन, भगवान् श्रीहरिरेव श्रोतव्यः=श्रीहरिविषयकं श्रवणं श्रद्धया ऐकाग्र्येण च संपादनीयं, एवं श्रवणानन्तरं श्रीहरिरेव कीर्तितव्यः= पौनःपुन्येन श्रीहरिविषयकं कीर्तनं मननाख्यं संपादनीयं, एवं श्रीहरिरेव स्मर्तव्यः= ध्यातव्यः-विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपं निदिध्यासनं कर्तव्यम्। इत्थं श्रीहरिविषयकं तादृशं सततं श्रवणं कीर्तनं स्मरणञ्च कुर्वाणा ज्ञानिनो भक्ताः सर्वत्र सर्वदा श्रीहरिमेवावलोकयन्तोऽन्तर्बहिस्तमेवानुसंदधानाः निर्द्वन्द्वाः सन्तः रागद्वेषराहित्येन परमानन्दस्फूर्त्या जीवन्मुक्तिमनुभवन्ति। इति शम्।

बाह्यविषयोंके अनुरागका सर्वथा परित्याग करके स्वात्मस्वरूप-एक भगवान्में ही ज्ञान पूर्ण-परमप्रेममय-भक्तियोग विवेक-विचारशील-मनुष्योंको संपादन करना ही चाहिये, यही बात यहाँ कहते हैं कि—हे राजन् ! पूर्वोक्तकारणों से भगवान् श्रीहरिका ही एकमात्र सर्वात्मभावसे श्रवण करना चाहिये यानी श्रद्धा एवं एकाग्रतासे श्रीहरि विषयक-श्रवण संपादन करना चाहिये। और श्रवणके बाद श्रीहरिका ही मानसिक-मनन रूप-कीर्तन करना चाहिये, अर्थात् पुनः पुनः श्रीहरिविषयक मनन संपादन करना चाहिये। एवं श्रीहरिका स्मरण करना चाहिये, अर्थात् ध्यान करना चाहिये, यानी विजातीय-वृत्तियों के अन्तरायसे रहित-सजातीय-वृत्तियोंके प्रवाहरूप-निदिध्यासन करना चाहिये। इस प्रकार श्रीहरिका वैसा श्रवण कीर्तन एवं स्मरणको करते हुए-ज्ञानीभक्त सदा सर्वत्र श्रीहरिका ही अवलोकन करते हुए-एवं बाहर भीतर श्रीहरिका ही अनुसंधान-करते हुए—निर्द्वन्द्व-हुए राग-द्वेषादिसे रहित होनेके कारण परमानन्द की स्फूर्ति (अनुभूति) के द्वारा जीवन्मुक्तिका अनुभव करते हैं। इति शम्।

(११)

(सर्वं जगत् पुरुष एव, न ततो व्यतिरिक्तं इति निश्चित्य सर्वत्र सर्वदा रागद्वेषाभाव—प्रयोजिका शान्त्यानन्दकरी सर्वात्मदृष्टिरेव संपादनीया)

यथा मृद्व्यतिरेकेण घटादेः कार्यस्य भानञ्च ग्रहणञ्च न संभवति, अतो घटादेः सर्वस्य मृदात्मकत्वं विनिश्चीयते, तथा पुरुषव्यतिरेकेण द्वैतप्रपञ्चस्य सर्वस्य भानञ्च ग्रहणञ्च न संभवति, अतः सर्वस्य प्रपञ्चस्य पुरुषस्वरूपत्वं प्रामाणिकैः शास्त्रैः शिष्टैश्च महापुरुषैः स्पष्टं निगद्यते। यदाहुः—श्रुत्यादीनि शास्त्राणि—'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० उ० २।४।६) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छां० उ० ७।२५।२) 'ब्रह्मैवेदं विश्वं' (मुं० उ० २।२।११) 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (शु० य० ३१।२) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छां० उ० ३।१४।१) 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी० ७।१९) 'नारायणः सर्वमिदं पुराणं' इत्यादीनि। एतेषां शास्त्रवचनानामयं भावार्थः—

(११)

(सर्व जगत् पुरुष-ईश्वर ही है, यह उससे व्यतिरिक्त नहीं है, ऐसा दृढ-निश्चय करके रागद्वेषके अभाव की प्रयोजिका-एवं शान्तिकरी—आनन्दकरी सदा सर्वत्र सर्वात्म-दृष्टि ही संपादन करनी चाहिये)

जैसे मृत्तिकासे पृथक् रूपसे घटादि-कार्यका भान एवं ग्रहण नहीं होसकता है, अतः समस्त—घटादिकार्य मृत्तिका रूप ही है, ऐसा निश्चय किया जाता है। वैसे ही पुरुष—आत्मासे व्यतिरिक्त रूपसे समस्त द्वैत-प्रपञ्च का भान एवं ग्रहण नहीं हो सकता है। अतः प्रामाणिक शास्त्र एवं शिष्ट-विद्वान्-महापुरुष स्पष्टरूपसे यह ठीक ही कहते हैं कि—यह समस्त द्वैत-प्रपञ्च पुरुष आत्म-स्वरूप ही है। श्रुत्यादि शास्त्र कहते हैं कि—'यह सब विश्व, यह आत्मा ही है।' (श्रु०) 'यह सब आत्मा ही है।' (श्रु०) 'यह विश्व ब्रह्म ही है।' (श्रु०) 'यह सब पुरुष ही है।' (श्रु०) 'निश्चयसे यह सब ब्रह्म है, क्योंकि—यह विश्व तज्जलान् है, अर्थात् यह उस एकमात्र ब्रह्मसे ही जायमान हुआ है, उस ब्रह्ममें ही अवस्थित है, और अन्ततः उसमें ही विलीन होजाता है, इसलिये शान्त होकर—रागद्वेषसे रहित होकर एकमात्र ब्रह्मकी ही उपासना करो।' (श्रु०) 'यह सब वासुदेव ही है।' (गी०) 'यह सब जगत् पुराण-पुरुष नारायण ही है।' (पु०) इत्यादि।

इन शास्त्रोंके वचनोंका यह भावार्थ है—'इदं सर्वं इस वचनके द्वारा प्रत्यक्षादि-प्रमाणोंसे उपस्थापित—नामरूपात्मक—आकाशादि—जडसमुदायरूप-जगत्का प्रतिपादन

इदं सर्वमित्यनेन प्रत्यक्षादिप्रमाणोपस्थापितं नामरूपात्मकं—आकाशादि जडजातं प्रतिपाद्यते, आत्मशब्देन चाद्वितीयः सर्वसाक्षी प्रत्यग्भूतः परमात्मा प्रतिपाद्यते। जडचेतनयोः परिच्छिन्नापरिच्छिन्नयो---विरुद्धस्वभावतया न मुख्यं सामानाधिकरण्यलक्षणं तादात्म्यं संभवति। न च मृद्घटयोरिव कार्य-कारणभावेन तत्संभवति, अपरिणामित्वेन कार्यकारणभावस्य निरस्तत्वात्। विवर्तत्वेन तदुपगमे—अचेतनस्य परिच्छिन्नस्य चेतनेऽधिष्ठाने कल्पितत्वमेवा-र्थादायाति। यदाह-चेममेव वेदार्थं भगवान् बादरायणोऽपि दशमे—उत्तरार्द्धे-'अखिलं चराचरं त्वय्यद्वितीये भगवन्! अयं भ्रमः।' (भा० १०।५६।३०) इति। चेतनस्य ब्रह्मणो निरवयवत्वेन विभुत्वेन च वृक्षशाखयोरिव चेतनाचेतनयो-रवयवावयविभावायोगात्—पारमार्थिको भेदाभेदोऽपि न संभवति। तस्मादिदं सर्वं अयमात्मेत्यत्र आत्मसर्वशब्दयोः बाधायामेव—एकविभक्त्यन्तत्वे सति एकार्थनिष्ठत्वलक्षणं सामानाधिकरण्यं 'योऽयं चोरः स स्थाणुरितिवत् मन्तव्यम्। तथा च यथा दृष्टान्तवाक्ये स्थाणुव्यतिरेकेण चोराभावः

किया गया है। तथा 'अयमात्मा' शब्दसे अद्वितीय-सर्वसाक्षी प्रत्यग्रूप-परमात्माका प्रतिपादन किया गया है। तथा च जड एवं चेतनका परिच्छिन्न एवं अपरिच्छिन्नका विरुद्ध स्वभाव होनेके कारण इन दोनों का मुख्य-सामानाधिकरण्यरूप—तादात्म्यसम्बन्ध नहीं हो सकता है। मृद्-घटके समान कार्यकारण भावके द्वारा भी जड-चेतनका तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि—चेतन-आत्मा अपरिणामी है, इसलिये चेतन एवं अचेतन का ऐसा कार्यकारणभाव नहीं बन सकता। विवर्तरूपसे कार्यकारणभाव स्वीकार करनेपर तो—अधिष्ठानरूप-चेतनमें यह परिच्छिन्न-जड जगत् कल्पित ही अर्थात् सिद्ध हो जाता है। अतएव इसीही वेदार्थको भगवान् बादरायण महर्षि—दशमस्कन्ध के उत्तरार्ध में कहते हैं कि—हे भगवन्! यह निखिल-चराचर-विश्व आपके अद्वितीय-स्वरूपमें भ्रम ही है—अर्थात् कल्पित ही है—वास्तविक नहीं है।' (भा०) चेतन-ब्रह्म निरयवव एवं विभु है, इसलिये वृक्ष और शाखाके समान चेतन एवं अचेतनका अवयव-अवयवीभाव नहीं बन सकता, अतः इन दोनोंका पारमार्थिक-भेदाभेद भी नहीं होसकता। इसलिये—'इदं सर्वं अयमात्मा' (यह सर्व यह आत्मा है) इस श्रुतिमें सर्व और आत्मा शब्द में बाधमें सामानाधिकरण्य है। जिसमें समानविभक्ति हो, एवं एक-अर्थमें निष्ठा हो, वह सामानाधिकरण्य कहा जाता है। ऐसा सामानाधिकरण्य यहाँ मुख्य नहीं है, किन्तु बाध होनेपर है। जैसे—'जो यह चोर था, वह स्थाणु (ठुंठ) है। इस दृष्टान्तमें बाध-सामानाधिकरण्य है। किसीको अंधकारमें प्रथम स्थाणु में चोर की भ्रान्ति हुई थी कि—सामने यह कोई चोर खडा है। फिर समीप जानेपर या प्रकाश आ जानेपर वह कहता है कि— जो यह चोर था, वह स्थाणु है —. नहीं है, यहाँ चोर

चोरस्थाणुशब्दयोः सामानाधिकरण्यादवगम्यते, तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि श्रुतिवाक्ये चेतनात्मव्यतिरेकेण कृत्स्नजडाभावः, आत्मसर्वशब्दयोः सामानाधिकरण्याद् वगम्यते। स चाभावः स्वप्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वमन्तरेणानुपपन्नः सन् कल्पितत्वं कल्पयति, इयं श्रुतार्थापत्तिः, अनयाऽचेतनस्य चेतनेऽध्यारोपितत्वमवगम्यत इति भावः। अस्यापवादो नाम अधिष्ठाने भ्रान्त्या प्रतीतस्य तद्व्यतिरेकेणाभावनिश्चय इत्युच्यते। तथा शुक्त्यादौ भ्रान्त्या प्रतीतस्य रजतादेः शुक्तिव्यतिरेकेण 'नेदं रजतं किन्तु शुक्तिरेषेत्यभावनिश्चयः।' अयमेव बाधो विलापनमिति चोच्यते। स च बाधस्त्रिविधः। शास्त्रीयो यौक्तिकः प्रत्यक्षश्चेति। 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० उ० २।३।६) 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० उ० ४।४।१९) 'यस्मिन्निदं भेदमसत्प्रतीयते' (भा० ४।१२।२६) इत्यादिशास्त्राद् ब्रह्मव्यतिरेकेण प्रपञ्चाभावनिश्चयः शास्त्रीयो बाधः। मृद्व्य-

---

एवं स्थाणु शब्दमें समान-विभक्तित्व है, और एकार्थसूचक सामानाधिकरण्य है। दोनों पदोंके सामानाधिकरण्यसे यह विदित होता है कि—स्थाणुसे अतिरिक्त यहाँ कोई पृथक् चोर नहीं है, अर्थात् यहाँ चोरका बाध यानी निषेध होकर केवल-स्थाणुका बोधन होता है, इसीको बाधसामानाधिकरण्य कहते हैं। तथा च जैसे दृष्टान्त वाक्यमें स्थाणुसे व्यतिरिक्त-चोरका अभाव, चोर एवं स्थाणु शब्दके सामानाधिकरण्यसे जाना जाता है, वैसे ही इस दार्ष्टान्तिक—श्रुतिवाक्यमें भी आत्मा एवं सर्वशब्दके सामानाधिकरण्यसे यही विदित होता है कि—चेतन आत्मासे अतिरिक्त समस्त-जड-द्वैत-प्रपञ्चका अभाव है। वह अभाव, यह सिद्ध करता है कि—अपना प्रतियोगी जो द्वैत-प्रपञ्च है, वह ब्रह्ममें कल्पित है। क्योंकि—कल्पितत्वके विना ज्ञापित वह अभाव अनुपपन्न होकर द्वैतप्रपञ्चके कल्पितत्वकी कल्पना कराता है, यह श्रुतार्थापत्ति है। इससे चेतनमें अचेतन-जगत्का आरोपितत्व जाना जाता है। श्रुत-शब्दके द्वारा आक्षिप्त-अर्थ की आपत्ति यानी प्राप्ति श्रुतार्थापत्ति है, श्रुत-बाधके द्वारा कल्पितत्व-अर्थकी यहाँ प्राप्ति है। अधिष्ठानमें भ्रान्तिसे प्रतीत—पदार्थ उससे व्यतिरिक्त नहीं है, ऐसा आरोपितके अभावका निश्चय ही इसका अपवाद कहा जाता है। जैसे शुक्त्यादिमें भ्रान्तिसे प्रतीत-रजतादि, शुक्तिसे अतिरिक्त नहीं है, 'यह रजत नहीं है, किन्तु यह शुक्ति है' ऐसा अभाव निश्चय ही रजतादिका अपवाद है। यही बाध एवं विलापन नामसे कहा जाता है। वह बाध तीन प्रकारका है—शास्त्रीय, लौकिक और प्रत्यक्ष। 'यही उसका उपदेश है, यह नहीं, यह नहीं।' (श्रु०) 'इस ब्रह्ममें नाना भिन्न-द्वैतप्रपञ्च कुछ भी नहीं है।' (श्रु०) 'जिसमें यह भेद असत्—अविद्यमान ही हुआ प्रतीत होता है।' (भा०) इत्यादि शास्त्रोंके वचनोंसे-ब्रह्मसे अतिरिक्त करनेपर प्रपञ्चके अभावका निश्चय ही शास्त्रीय-बाध है। मृत्तिकासे व्यतिरिक्त करनेपर जैसे घटाभावका निश्चय होता है, वैसे ही निखिल-विश्वके कारणरूप-ब्रह्मसे व्यतिरिक्त

तिरेकेण घटाभावनिश्चयवद् निखिलकारणीभूतब्रह्मव्यतिरेकेण निखिलप्रपञ्चाभावं निश्चित्य दृश्यमानस्य मिथ्यात्वनिश्चयेन ब्रह्मात्ममात्रत्वनिश्चयो यौक्तिको बाधः। अहंब्रह्मास्मितत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य—साक्षात्कारेणाज्ञान तत्कार्यनिवृत्तिः प्रत्यक्षबाधो विद्वद्भिस्तत्त्वदर्शिभिः प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानः। 'स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः' (भा० ११।१३।३७) 'देहं······न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्' (भा० ११।१३।३६) 'स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः' (भा० १।४।५) इत्यादिश्रीमद्भागवतप्रशस्तवचनैरपि प्रतिपाद्यमानः।

यौक्तिकबाधस्यायं क्रमः—स्थूलभौतिकप्रपञ्चः सर्वोऽपि स्थूलभूतेषु स्वकारणेषु विलाप्य तद्व्यतिरेकेण तन्नास्तीति निश्चित्य, दृश्यमानस्य कार्यजातस्य कारणसत्तातिरिक्तसत्ताया अनङ्गीकारात्। स्थूलभूतानि समष्टिव्यष्टि सूक्ष्मशरीरञ्च सूक्ष्मभूतेषु विलाप्य, तत्रापि पृथिवीमप्सु विलाप्य अपस्तेजसि, तेजो वायौ वायुमाकाशे आकाशमज्ञाने अज्ञानं चिन्मात्रे ब्रह्मणि तज्ज्ञानेन विलापयेत्। तथा च स्मृतिः—'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे! पृथिव्यप्सु प्रलीयते।

करनेपर निखिल-प्रपञ्चके अभावका निश्चय करके दृश्यमान-प्रपञ्चमें मिथ्यात्वके निश्चय द्वारा यह विश्व-प्रपञ्च, एकमात्र ब्रह्मात्माही है, ऐसा निश्चय यौक्तिक-बाध है यानी दृष्टान्तमें समझी गई युक्तिके द्वारा होने वाला बाध है। 'मैं ब्रह्म हूँ'(श्रु०) 'वह तू है'(श्रु०) इत्यादि महावाक्यों से जन्य साक्षात्कार-द्वारा अज्ञान एवं अज्ञानका कार्य—द्वैतप्रपञ्चकी निवृत्तिही प्रत्यक्ष बाध है, ऐसा बाध तत्त्वदर्शी-विद्वानोंके द्वारा प्रत्यक्षरूपसे अनुभूत होता है। 'जिसने अपरोक्षरूपसे ब्रह्मवस्तुको जान लिया है—ऐसा अपरोक्ष-ज्ञानी, स्वप्न जैसे-द्वैतप्रपञ्चका पुनः सेवन नहीं करता है।' (भा०) 'वह अपने शरीरको भी नहीं देखता है, क्योंकि—वह अपने ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होगया है।' (भा०) 'विशुद्ध—ब्रह्मदृष्टि वाले-तेरे-पुत्र शुकदेवकी दृष्टि में स्त्री-पुरुषका भेद नहीं है।' (भा०) इत्यादि—श्रीमद्भागवतके प्रशस्त—वचनोंके द्वारा भी तत्त्वदर्शियों से अनुभूत-इस प्रत्यक्ष-बाधका प्रतिपादन किया है।

यौक्तिकबाधका यह क्रम है—समस्त-स्थूल—भौतिक—पदार्थोंका अपने अपने कारण-स्थूल-पञ्चभूतोंमें विलीन करके-ऐसा निश्चय करे कि—इन कारणोंसे अतिरिक्त यह कार्य वर्ग वस्तुतः नहीं है। क्योंकि—दृश्यमान—कार्यवर्गकी कारण—सत्तासे पृथक् सत्ताको स्वीकार नहीं किया जाता। फिर इन स्थूल-भूतोंका, एवं व्यष्टि-समष्टि-सूक्ष्म शरीरोंका सूक्ष्म-भूतोंमें विलय करे, अर्थात् उसमें भी पृथिवीका जलमें विलय करे, एवं जलका तेजमें, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका अव्याकृत-अज्ञानमें, और अज्ञानका चिन्मात्र-ब्रह्ममें उसके ज्ञानसे विलय करे। यही बात स्मृति भी कहती है—कि—'हे राजर्षे! जगत्का आधारभूत यह पृथिवी जलमें लीन होती है, जल तेजमें लीन होता है, तेज वायुमें लीन होता है, वायु आकाशमें लीन होती है, आकाश,

ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते, ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥ वायुश्च लीयते व्योम्नि, तच्चाव्यक्ते प्रलीयते। अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् ! निष्कले सम्प्रलीयते ॥' इति। एवमुक्तमभियुक्तैश्च—'अकारं पुरुषं विश्वमुकारे प्रविलापयेत्। उकारं तैजसं सूक्ष्मं मकारे प्रविलापयेत्। मकारं कारणं प्राज्ञं चिदात्मनि विलापयेत् ॥' इति।

एवं सर्वं जगत् पुरुष एव न ततो मनागपि भिद्यते इति विनिश्चीयते। अत एवाहुः श्रीमद्भागवते दशमेऽपि—'कृष्ण ! कृष्ण ! महायोगिन् ! त्वमाद्यः पुरुषः परः। व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः ॥' (भा० १०।१०-२६) इति। अयमर्थः—स्तुतिं कुर्वाणौ दृष्ट्वा निजवैभवं गोपायितुमाह—गोपालं मां युवां देवौ किमिति प्रणताविति चेत्तत्राहतुः—नलकूबरमणिग्रीवौ—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! महायोगिन् = अचिन्त्यप्रभाव ! त्वं न गोपालः, किन्तु परः पुरुषः, यतः आद्यः = जगतः कारणीभूतः। तत्रापि न निमित्तमात्रं किन्तूपादानमपि त्वमेवेत्याशयेन तुष्टुवतुः—व्यक्ताव्यक्तमिति = स्थूलसूक्ष्ममिदं विश्वं ते = तव रूपं = स्वरूपमस्तीति ब्राह्मणाः = ब्रह्मविदो वेदान्ततात्पर्यविदो

अव्यक्त यानी अज्ञानमें लीन होता है, वह अव्यक्त, निष्कल-पुरुष-ब्रह्ममें लीन होता है।' इस प्रकार अभियुक्त (यथार्थवक्ता)—आचार्योंने भी कहा है—'अकार मात्रारूप-विश्वात्मा का उकार-मात्रामें विलय करे, उकार-मात्रारूप-सूक्ष्म-तैजस-आत्माका मकार मात्रामें विलय करे, मकाररूप कारण-प्राज्ञ—आत्माका विशुद्ध—अमात्र—स्वरूप—चिदात्मामें विलय करे।' इति।

इस प्रकार यह समस्त जगत् पुरुष-आत्मा ही है, उससे थोड़ा भी भिन्न नहीं है, ऐसा निश्चय होता है। अतएव श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धमें भी कहते हैं कि—'हे परम योगेश्वर ! श्रीकृष्ण ! आप आद्य-पर-पुरुष हैं, वेदज्ञ-ब्रह्मवेत्ता-ब्राह्मण यह जानते हैं कि—यह व्यक्त एवं अव्यक्त समस्त विश्व आपका ही स्वरूप है।' (भा०) यह अर्थ है—अपनी स्तुति करते हुए—नलकूबर और मणिग्रीव नामके देवजातिके यक्षों के प्रति—भगवान् श्रीकृष्णने—अपना विभुत्व-परमैश्वर्य-छिपानेके लिए इस प्रकार कहा कि—आप देव हैं, महान् हैं, ऐसे आप मेरी स्तुति क्यों करते हो ? एवं मुझे प्रणाम क्यों करते हो ? मैं तो गोपाल हूँ, यानी गाय चराने वाला साधारण-अहीर हूँ। ऐसा कहनेपर नलकूबर एवं मणिग्रीव कहने लगे कि—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे अचिन्त्य-प्रभाव शाली-महा योगेश्वर ! आप केवल गोपाल ही नहीं हैं, किन्तु परम पुरुष हैं, क्योंकि—आप आद्य हैं = सबके आदिमें हैं, जगत् के कारण हैं। इसमें भी आप केवल निमित्त कारण ही नहीं हैं, अपितु विश्वका उपादान कारण भी आप ही हैं, इस आशयसे स्तुति करते हैं कि—व्यक्ताव्यक्त यानी स्थूल—सूक्ष्म यह निखिल—विश्व, आपका ही स्वरूप है, ऐसा वेदोंके तात्पर्य को जानने वाले—महर्षि व्यास आदि ब्रह्मवित्—ब्राह्मण

व्यासाद्याः विदुः=जानन्ति इत्यर्थः ।

'सर्वमिदमि'ति—उद्देश्यबोधकं 'ब्रह्म, तज्जलान्' इति च पदद्वयं विधेयसमर्पकम् । इदं सर्वं जगदुद्दिश्य ब्रह्मत्वं विधीयते, तदुत्पत्त्यादिमत्त्वञ्च । अत्र प्रथमेन विधिना सर्वस्य ब्रह्मत्वे बोधिते सति, सर्वस्य कथं ब्रह्मत्वमित्याकाङ्क्षायां तदुपपादनाय 'तज्जलान्' इति द्वितीयो विधिरारभ्यते । तस्माद्ब्रह्मणः सकाशाज्जायत इति तज्जं, तस्मिन्नेव लीयत इति तल्लं, तेनैव—अनिति=प्राणिति—चेष्टते इत्यन् । तज्जश्चासौ तल्लश्चासौ तदन् च तज्जलान् । जगतः सर्वस्योत्पत्तिर्ब्रह्मणः एव, लयश्च ब्रह्मण्येव; तथा सत्तास्फूर्तिश्चेष्टा च जगतो ब्रह्मणैव । सर्वस्य ब्रह्मैकरूपत्वानुसंधाने सति नानात्वानुसंधानाभावेन हि रागद्वेषाभावाच्छान्तिः सुलभैव । सत्याञ्च शान्त्यां स्वत एव स्वाभाविकस्य सुखस्य सुतरामुपलब्धिः ।

जानते हैं ।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्यमें 'सर्वं—इदं' ये दो पद उद्देश्यके बोधक हैं, और 'ब्रह्म एवं तज्जलान्' ये दो पद विधेयके समर्पक हैं । इस सर्व-जगत् को उद्देश्य करके, उसमें ब्रह्मत्वका और ब्रह्मसे ही उत्पत्त्यादिमत्त्व का विधान किया जाता है । (उद्देश्य-प्रत्यक्षतः ज्ञात होता है, और विधेय-अज्ञात-एवं परोक्ष होता है—जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' इसमें पर्वत प्रत्यक्ष होनेसे उद्देश्य है, और वह्नि परोक्ष होनेसे विधेय है—इससे 'पर्वत-मुद्दिश्य तत्र वह्नि विधीयते' ऐसा बोध होता है) यहाँ प्रथमके विधि-वाक्यसे सब विश्वमें ब्रह्मत्व का बोधन करने पर, सबमें ब्रह्मत्व कैसे हो सकता है ? ऐसी आकांक्षा होनेपर सबमें ब्रह्मत्वके विधानका उपपादन (समर्थन) करनेके लिए 'तज्जलान्' ऐसा द्वितीय-विधिवाक्यका आरंभ करते हैं । उस—ब्रह्मसे ही यह समग्र विश्व उत्पन्न होता है, अतः यह 'तज्ज' है । एवं उस ब्रह्ममें ही यह विश्व विलीन होजाता है, इसलिये यह 'तल्ल' है । एवं उस ब्रह्मसे ही यह जीवित रहता है, चेष्टा करता रहता है, अतः यह 'तदन् है' । यहाँ (अन्-धातु प्राणन-जीवन अर्थमें प्रयुक्त है) सब मिलकर ऐसा 'तज्ज + ल + अन्' तज्जलान् हुआ । समस्त-जगत्की उत्पत्ति ब्रह्मसे ही है—और लय भी ब्रह्ममें ही है, तथा समस्त जगत्की सत्ता—स्फूर्ति एवं चेष्टा ब्रह्मसे ही प्राप्त होती है, इसलिये यह सर्व विश्व ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे व्यतिरिक्त नहीं है, ऐसा प्रथम विधेय द्वितीय-विधेयसे सिद्ध हुआ । समग्र-विश्वमें एक-ब्रह्मके स्वरूपका अनुसंधान करने पर एवं नानात्व (भेद-भाव) के अनुसंधानका अभाव होजानेपर किसीसे भी राग-द्वेष होते ही नहीं, (क्योंकि-ब्रह्मसे पृथक् अन्य कोई इष्ट या अनिष्ट रहता ही नहीं) उससे शान्ति सहज में प्राप्त हो जाती है, और शान्ति प्राप्त होजाने पर स्वतः ही स्वाभाविक शाश्वत-सुखकी अनुभूति होती रहती है ।

अत एवेमं श्रौतं सिद्धान्तं विस्पष्टयितुमाहुर्वेदान्ताब्जभास्करा भगवत्पादाः श्रीशंकरस्वामिनः—'केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं, घटस्य संदर्शयितुं न शक्यते। अतो घटः कल्पित एव मोहान्मृदेव सत्यं परमार्थभूतम् ॥ सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदैव, सन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति। अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो, विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः ॥ ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी, श्रौती ब्रूतेऽथर्वनिष्ठा वरिष्ठा। तस्मादेतत् ब्रह्ममात्रं हि विश्वं नाधिष्ठानाद् भिन्नताऽऽरोपितस्य ॥ मृत्कार्यं सकलं घटादि सततं मृन्मात्रमेवाभितः, तद्वत्सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवाखिलम्। यस्मान्नास्ति सतः परं किमपि तत्सत्यं स आत्मा स्वयं, तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥' इत्यादिकं सर्वमभिप्रेत्य वैदिकस्य पुरुषसूक्तस्य श्रुतिं प्रकारान्तरतो व्याख्यातुमाह—भगवान् बादरायणः—

सर्वं पुरुष एवेदं, भूतं भव्यं भवच्च यत्।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥
(भा० २।६।१५)

अतएव वेदान्तरूप-कमलोंके विकासक—महनीय मार्तण्डके समान भगवत्पाद आद्य-आचार्य श्रीशंकर—स्वामीजी महाराज—इस श्रौत-यानी श्रुतियोंसे प्रतिपादित-सिद्धान्तको विशद करते हुए-विवेक—चूड़ामणि नामक ग्रन्थमें कहते हैं कि—'कोई भी मृत्तिकासे पृथक् करके घटके स्वरूपको नहीं दिखा सकता है, इसलिये यह मानना पडता है-कि—घट मृत्तिकामें भ्रान्तिसे कल्पित है—आरोपित है। उसका मृत्तिका ही परमार्थ-सत्यस्वरूप है। उसप्रकार यह समस्त विश्व सद्ब्रह्मका कार्य है, अतः यह सन्मात्र ब्रह्मरूप ही है, ब्रह्मसे पृथक्-भिन्न नहीं है, 'ब्रह्मसे पृथक् जगत् है' ऐसा यदि कोई कहता है, तो यह समझो कि—वह भ्रान्तिसे ही ऐसा कहता है, जैसे कोई निद्रामें पडा हुआ अनाप-सनाप— बकवाद करता है, उसका मोह (भ्रान्ति) अब तक नहीं गया है। अथर्व-वेदकी अतिश्रेष्ठ-वाणीरूपा श्रुति ऐसा कहती है कि—'यह विश्व ब्रह्म ही है' इसलिये यह जगत् एकमात्र ब्रह्म ही है, क्योंकि—अधिष्ठानसे आरोपित की भिन्नता नहीं होती है। जैसे मृत्तिकाका कार्यभूत-समग्र घटशरावादि, सर्वदा मृत्तिकारूप ही होता है, वैसे ही सद्ब्रह्म-वस्तुसे यह विश्व उत्पन्न हुआ है, इसलिए यह सकल-विश्व, एकमात्र-सद्रूप-ब्रह्म ही है, सत्से भिन्न कुछ भी नहीं है, वह सत्य, स्वयं आत्मा ही है, अतः प्रशान्त—निर्मल—अद्वय जो ब्रह्म है, वह तू ही है।' इत्यादि सिद्धान्तको अभिप्राय में रखकर—'पूर्वोक्त-सिद्धान्त वेदके प्रसिद्ध—पुरुषसूक्तमें भी वर्णित है—अतः उस वैदिक सूक्तकी श्रुतिका—भगवान् बादरायण-महर्षि-व्यास, प्रकारान्तरसे व्याख्यान करनेके लिए-श्रीमद्भागवतमें कहते हैं कि—

सर्वं जगत् पुरुष एव न ततो मनागपि पृथगित्यर्थः। किं तत् ? यत्—इदं—वर्तमानं, भवत्=भवति—अस्तित्वेन ज्ञायत इति—विविधप्रत्ययगम्यं, च=तथा, यत्=भूतं=अतीतं जगत्, यच्च भव्यं=भविष्यन् जगत्, तदपि निखिलं पुरुष एव न ततोऽन्यत्।

न चैवमनित्यदुःखमयादिरूपनिखिलप्रपञ्चेन सह पुरुषस्याभेदबोधने सति पुरुषस्याप्यनित्यदुःखाद्यात्मकतापत्तिरिति वाच्यम्। नामरूपात्मकस्याध्यारोपितस्य प्रपञ्चस्य बाधे श्रुते र्बादरायणवचनस्य च तात्पर्यात्। अतोऽत्र जगत्पुरुषयो र्बाधसामानाधिकरण्यमेवाभिप्रेयते, न तु मुख्यं सामानाधिकरण्यम्। यथा हि 'सर्पोऽयं रज्जुरेव' इत्युक्ते, न हि रज्जुः कृष्णवर्णो विषधरो भवति, किन्तु रज्जुमात्रावशेषः, सर्पस्य तु बाध एवावगतो भवति। तथा सर्वाधिष्ठानभूतेन पुरुषेण ब्रह्मणा प्रपञ्चाभेदे प्रतिपादिते सति, न हि पुरुषः प्रपञ्चरूपो भवत्यपि तु पुरुषमात्रावशेषः, प्रपञ्चस्य तु बाध एवावगतो भवति। एतदभिहितमभियुक्तैः—'अधिष्ठानस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्। विषयस्य च रूपेण नाधिष्ठानं हि रूपवत्॥' इति। अधिष्ठानस्य रूपं—अस्तित्वपुरो-

---

'यह समस्त विश्व, जो भूत भविष्यत् एवं वर्तमान रूप है—पुरुष यानी चिदात्मा ही है, उस—पुरुष से यह समग्र विश्व अन्तर्बहिः समावृत है—व्याप्त है। इस विश्वकी व्याप्तिसे भी वह व्यापक-अनन्त पुरुष, एक वितस्ति (बिलस्त) ऊपरमें अपने अविकृत—शुद्ध स्वरूपमें अधिष्ठित है।'

सब जगत् पुरुष ही है, उससे अत्यल्प भी यह पृथक् नहीं है। यह जगत् क्या है ? जो इदं यानी वर्तमान है, अस्तित्वरूपसे जाना जाता है, और विविध-प्रमाण जन्य ज्ञानों का विषय है। उसप्रकार जो अतीत—(गत) जगत् है, और जो भविष्यत् जगत् है। यह सब कालत्रय में विस्तृत जगत् पुरुष ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इस प्रकार अनित्य-दुःखमयादिरूप-निखिल—द्वैत-प्रपञ्चके साथ पुरुष चिदात्माका अभेद बोधन करने पर तदभिन्न—पुरुषभी अनित्य एवं दुःखमय हो जायगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि-नामरूपात्मक-प्रपञ्च-जो पुरुषमें अध्यारोपित है, उसका निषेध बतलानेमें ही श्रुतिका एवं बादरायण-वचनका तात्पर्य है। इसलिये यहाँ जगत् एवं पुरुष का बाध—सामानाधिकरण्य ही अभिप्रेत है, मुख्य—सामानाधिकरण्य अभिप्रेत नहीं है। जैसे—'यह प्रतीत सर्प, रज्जु ही है' ऐसा कहनेपर रज्जु विषधर-काला सर्प नहीं बन जाती। किन्तु केवल रज्जु ही बाकी रह जाती है, और भ्रान्तिसे प्रतीत-सर्पका बाध ही जाना जाता है। उस प्रकार विश्वके अधिष्ठान भूत-ब्रह्मके साथ द्वैतप्रपञ्चके अभेदका प्रतिपादन करनेपर पुरुष-ब्रह्म प्रपञ्चरूप नहीं होता है, अपि तु ब्रह्म पुरुष ही अवशिष्ट (बाकी) रह जाता है, और प्रपञ्चका बाध ही जाना जाता है। यह अभियुक्त-

वर्तित्वादिकं, विषयः=आरोपितः पदार्थः। विषयस्य च रूपं=कृष्णवर्णत्व विषधरत्वानित्यत्वादिकम् ।

कुत एतादृशी व्यवस्था स्वीकृतेति चेत् ? श्रुत्यादिवचनेभ्य एवेति गृहाण । तथाहि 'तत्सत्यं स आत्मा' (छां० ६।८।४) 'सत्यस्य सत्यं' (बृ०-२।१।२०) 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (क० उ० ३।१०) 'असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥' (तै० उ०-२।६।१) 'सत्यं परं धीमहि' (भा० १।१।१) 'अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम् ।' (भा० ८।५।२६) 'एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।' (भा० १०।१४।२३) इत्यादिश्रुति-भागवतादिवचनशतैः सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मपुरुषस्यैवास्तित्वेन पारमार्थिकेन प्रतिपादनात् । द्वैतप्रपञ्चस्य तु 'नेति नेति' (बृ० उ० २।३।६) 'नेह नानास्ति किञ्चन' (क० उ० ४।११) 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० उ० ३।४।२) 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' (बृ० उ० ४।३।३२) 'अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो ध्यातुर्धिया

विद्वानोंने भी कहा है—'अधिष्ठानके रूपसे विषय रूपवाला होता है । और विषयके रूपसे अधिष्ठान रूपवाला नहीं होता है ।' अधिष्ठानका रूप—अस्तित्व-पुरोवर्तित्वादि है, और विषय—आरोपित पदार्थ है, विषयका रूप-कालापन, विष-धरत्वादि है ।

ऐसी व्यवस्था किस कारणसे मानी जाती है ? ऐसे प्रश्नके संमाधानरूपसे कहते हैं कि--श्रुत्यादि—प्रमाणोंसे, ऐसा समझो । तथाहि-यानी श्रुत्यादिके वचन दिखलाते हैं—'वह सत्य है, वह आत्मा है ।' (श्रु०) 'वह सत्यका सत्य है' (श्रु०) 'अस्ति' रूपसे ही उसकी सर्वत्र उपलब्धि (अनुभूति) करनी चाहिये ।' (श्रु०) 'जो अन्तरात्मा-ब्रह्मको असद्रूपसे-शून्यरूपसे जानता है, वह असत्-सा-शून्य-सा ही होजाता है । जो ब्रह्म को अस्तिरूपसे-विद्यमानरूपसे जानता है, विद्वद्गण उसे सन्तरूपसे जानते हैं ।' (श्रु०) 'परम सत्यका हम ध्यान करते हैं ।' (भा०) 'वह विकार रहित, सत्य, अनन्त, विश्वका कारण, हृदयरूप-गुहामें रहनेवाला, निष्कल एवं अतर्क्य है—तर्कका विषय नहीं है, या अचिन्त्य है ।' (भा०) 'तू एक ही—अद्वय—आत्मा है, पुराण-पुरुष है, सत्य, स्वयं-प्रकाश, अनन्त एवं सबके आदिमें अवस्थित कारण है ।' (भा०) इत्यादि श्रुति और भागवतके सैकड़ों—वचन, सच्चिदानन्द-ब्रह्मपुरुषका पारमार्थिक—अस्तित्वरूपसे प्रतिपादन करते हैं । एवं 'यह नहीं यह नहीं' (श्रु०) 'यहाँ नाना-भिन्न कुछ भी नहीं है' (श्रु०) 'इस परमात्मासे अन्य आर्त है—यानी दुःखमय एवं बाधित है ।' (श्रु०) 'सलिलके समान-स्वच्छ एक द्रष्टा-आत्मा ही अद्वैत है ।' (श्रु०) 'द्वैत-प्रपञ्च न होनेपर भी भासता है, जैसे चिन्तन करने वालेको बुद्धिके द्वारा स्वप्न एवं मनोरथ मिथ्या ही भासते हैं ।' (भा०) 'अपने आत्माके साक्षात्कार द्वारा जिसने अज्ञानरूप कुहरेका विध्वंसकर दिया

स्वप्नमनोरथौ यथा ।' (भा० ११।२।३८) 'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं' (भा० १।१।१) 'यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा ।' (भा० १।३।३३) 'निषेधशेषो जयतादशेषः ।' (भा० ८।३।२४) 'मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति ।' (भा० ११।२१।४३) इत्यादिशास्त्रवाक्यशतैरभावबोधनात् । तथा च यदि पूर्वोक्तश्रुत्यादिशास्त्रप्रामाण्यं स्वीकरोषि तर्ह्युक्तव्यवस्था त्वयाऽङ्गीकर्तव्या ।

तस्माद्वेदान्तदर्शनब्रह्मसूत्रमीमांसाया आरम्भणाधिकरणन्यायेन पुरुषव्यतिरेकेण सर्वस्यास्य जगतोऽभावात्, अपुरुषप्रत्ययः सर्वोऽविद्यामात्रः रज्ज्वामिव सर्पप्रत्ययः, पुरुषः परमात्मैवैकः परमार्थसत्यः पूर्णाद्वयो न तद्व्यतिरिक्तमस्ति किञ्चिदिति वेदगीताभागवतादिशास्त्राणामिदमाध्यात्मिकमनुशासनम् ।

मृद्घटदृष्टान्तेन सुवर्णसुवर्णमयदृष्टान्तेन च श्रीमद्भागवतेऽष्टमे—एकादशेऽपि च-इदं सर्वं जगत् पुरुषतः—आदौ मध्ये तथा चान्ते पृथक् नास्तीति स्पष्टतो निरूपितं—'त्वय्यग्र आसीत् त्वयि मध्य आसीत् त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे । त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् ॥'

है ।' (भा०) 'जहाँ इस सत् एवं असद्रूप-स्थूल-सूक्ष्म-प्रपञ्चको अपने अपरोक्ष-ज्ञानसे प्रतिषिद्ध-बाधित किया है ।' (भा०) 'जो अशेष-विश्वरूप है, एवं अशेषके निषेध के बाद परिशेषरूपसे रहता है, उस परमात्माकी जय हो ।' (भा०) 'प्रथम मायामात्र द्वैत प्रपञ्च का अनुवाद (अध्यारोप) किया जाता है, पश्चात् अन्तमें उसका प्रतिषेध करके प्रसन्न हो जाता है ।' (भा०) इत्यादि—सैंकड़ों शास्त्र—वाक्योंसे द्वैत-प्रपञ्चके अभाव का बोधन किया गया है । तथा च यदि तू पूर्वोक्त-श्रुत्यादि-शास्त्रों का प्रामाण्य स्वीकार करता है; तो तुझे पूर्वोक्त वह बाधसामानाधिकरण्यरूपा-व्यवस्था माननी ही चाहिये ।

इसलिए वेदान्तदर्शन यानी ब्रह्मसूत्र-मीमांसाके आरंभणाधिकरण न्यायसे भी यह सिद्ध होता है—कि—पुरुष-परमात्मासे व्यतिरिक्त करनेपर इस समस्त-जगत् का अभाव हो जाता है । पुरुषसे व्यतिरिक्त की जो प्रतीति हो रही है, वह सब अविद्यामात्र है, जैसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीति । पुरुष-परमात्मा ही एक है, परमार्थ सत्य-पूर्ण और अद्वय है, उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, ऐसा वेद, गीता, एवं भागवत-आदि शास्त्रों का यह आध्यात्मिक- ज्ञानका अनुशासन है, हितकारी उपदेश है ।

श्रीमद्भागवतके अष्टमस्कन्धमें तथा एकादशस्कन्धमें 'मृद्घटके दृष्टान्त द्वारा तथा सुवर्ण एवं आभूषणोंके दृष्टान्त द्वारा यह निरूपण किया है कि—यह समस्त-जगत् द्वैत-प्रपञ्च, आदिमें मध्यमें एवं अन्तमें भी पुरुष-परमात्मासे पृथक् नहीं है—किन्तु अपृथक् है—अनन्य है । जैसे—'आप परमात्मा में ही यह जगत् प्रथम भी अवस्थित था, मध्यमें भी यह जगत् आपमें स्थित है, और अन्तमें भी यह पुनः आपमें ही विलीन

(भा० ८।६।१०) 'यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य। तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानाऽपदेशैरहमस्य तद्वत् ॥' (भा० ११।२८।१६) इति च। अयमर्थः—इदं=विश्वं, आत्मतन्त्रे=स्वतन्त्रे—निरपेक्षस्वरूपे। परस्मात्=प्रकृतेः, परः=अतीतः—स्वमहिम्नि स्थितः। स्वकृतं=सुष्ठु कुण्डलादिरूपेण विरचितं, यद्धिरण्यं=सुवर्णं, कीदृशं?, हिरण्मयस्य=कुण्डलादेरुत्पत्तेः पुरस्तात्=अग्रे, पश्चात्—नाशाच्च, मध्ये च कटकं कुण्डलमित्यादि नानाव्यपदेशैर्व्यवहारं प्राप्यमाणमपि तदेव यथा, तद्वत् अस्य विश्वस्य कारणभूतोऽहमेव नानाभेदव्यवहारालम्बनं न तु मत्तः कारणादधिष्ठानात् पृथग्विश्वमिति। इदमत्र विज्ञेयं—न हि मृद्घटदृष्टान्तेन परमार्थतः कार्यकारणत्वमपि ब्रह्मजगतोः अत्र प्रतिपिपादयिषितम्, तस्य मायामात्रत्वात्, अद्वैतब्रह्मबुद्धिजननोपायमात्रत्वाच्च, किन्तु पारमार्थिकमेकमद्वैतं ब्रह्मैव प्रतिपिपादयि-

---

होजायगा। आप स्वयं कार्यकारणसे या प्रकृतिसे भी पर हैं—अतीत हैं परमस्वतन्त्र हैं, आपही इस विश्वके आदि मध्य और अन्त हैं, वैसे ही जैसे घटका आदि मध्य और अन्त मृत्तिका है।' (भा०) 'हे उद्धव! सुवर्णसे कंकण कुण्डल आदि अनेक प्रकारके आभूषण बनते हैं, परतु जब ये आभूषण नहीं बने थे, तब भी प्रथम सुवर्ण ही था, और जब ये गलाने पर नहीं रहेंगे, तब भी सुवर्ण ही रहेगा, इसलिये मध्यमें जब उसके कंकण कुण्डल आदि अनेकों नाम रख कर विभिन्न-आकृतियोंके द्वारा विभिन्न व्यवहार करते हैं, उस समय भी वह आभूषण-समुदाय सुवर्ण ही है। ठीक ऐसे ही इस जगत् के आदिमें अन्तमें और मध्यमें मैं ही हूँ, परमार्थतः मैं ही सत्यतत्त्व हूँ। अर्थात् मुझ परमात्मामें इस जगत्के नामरूपोंका मिथ्याही प्रतिभास होता है।' (भा०) यह अर्थ है—इदं यानी विश्व,आत्मतन्त्र यानी स्वतन्त्र निरपेक्ष—स्वरूपमें। परस्मात यानी प्रकृतिसे पर—अतीत—पृथग्भूत, अपनी महिमामें अवस्थित। स्वकृतं=अच्छी प्रकारसे आकारोंके द्वारा विरचित—कुण्डलादि; हिरण्य यानी सुवर्ण। वह कैसा है? हिरण्मय=यानी सुवर्णके कार्यरूप—कुण्डलादि की उत्पत्तिसे प्रथम, नाशके बाद एवं मध्यमें, यह कटक है, यह कुण्डल है इत्यादि अनेक नामोंके द्वारा व्यवहृत होनेपर भी उनमें वस्तुतः एकमात्र सुवर्ण ही सत्य है, आभूषण, उससे पृथक् नहीं हैं। तद्वत् इस विश्वका कारणरूप मैं—परमात्मा ही, अनेक-नाम-रूपोंके भेदोंका आलम्बनरूप हुआ हूँ, अतः उस-कारणरूप-अधिष्ठानसे यह विश्व पृथक् नहीं है। यहाँ यह बात अवश्य जानने योग्य है कि—मृद्घटके दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म और जगत्का वास्तविक-कार्यकारणभाव है, ऐसा प्रतिपादन करना अभीष्ट नहीं है, क्योंकि—यह नामरूपात्मक जगत् तो केवल मायामात्र है—आरोपित है। अतः वह दृष्टान्त, केवल-अद्वैत-ब्रह्मबुद्धिकी उत्पत्ति का उपायमात्र है। किन्तु पारमार्थिक-एक-अद्वय-ब्रह्म ही यहाँ प्रतिपादन करनेके लिए

षितम् । एवं च कारणाभिन्नकार्यस्य कारणातिरिक्तसत्ताशून्यत्वमेव कारण-तादात्म्योपदेशेनास्थेयम् । तदेव च 'मृद् घटः' "सर्वं पुरुषः' इत्यादि सामाना-धिकरण्यप्रतीत्यालम्बनं मन्तव्यम् ।

तथा चाम्नायते—'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्, यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् । वृक्ष एव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥' (श्वे० उ० ३।९) इति । अस्य चायमर्थः—ब्रह्मात्मैकत्वाविद्याऽध्यारोपितत्वात्क्रियाकारकादिरूपद्वैतप्रपञ्चस्य, एकत्वविषयकसम्यग्ज्ञानबाध्यत्वात्, एकत्वज्ञानमेव मोक्षसाधनं नान्यदित्याह—यस्मादिति । यस्मात् = पुरुषात्—विश्वाधिष्ठानादद्वयाद्ब्रह्मणः, परं = उत्कृष्टं, अपरं = अन्यत् किञ्चित् नास्ति । यद्वा परं = कारणं, प्रकृत्यादिकं, अपरं = कार्यं पृथिव्यादिकमपि, किञ्चित् नास्ति ततः पृथक् । अपास्तसमस्तातिशयपूर्णानन्दैकरसत्वात्तस्य, तस्मात्—परमुत्कृष्टं, अपरं = निकृष्टमपि ततो व्यतिरिक्तं—पृथक्सत्ताकं नास्ति,

अभीष्ट है, कार्यरूप-जगत्का प्रतिपादन करना अभीष्ट नहीं है । इस प्रकार कार्यका कारणके साथ तादात्म्य—सम्बन्ध बतलानेका अभिप्राय यह है कि—कारणसे अभिन्न कार्यकी कारणकी सत्तासे पृथक् सत्ता नहीं है । यही 'मृद्घट' 'सर्व विश्व पुरुष है' इत्यादि सामानाधिकरण्यकी प्रतीतिका आलम्बन है, ऐसा जानना चाहिये ।

तथा च श्वेताश्वतर-उपनिषद् की यह श्रुति—भगवती भी कहती है-कि—'जिस परमात्मासे पर यानी उत्कृष्ट-कारण भी कोई पृथक् नहीं है, एवं अपर यानी निकृष्ट-कार्य भी अन्य कोई पृथक् नहीं है । एवं उस परमात्मासे पृथक् अन्य कोई न अतीव सूक्ष्म है, एवं न कोई अत्यन्त बडा है, महान् है, अर्थात् एकमात्र परमात्मा ही अत्यन्त सूक्ष्म है, एवं अत्यन्त—निरतिशय महान् है, एवं वही पर-कारणरूप भी है, एवं अपर-कार्यरूप भी वही है । एवं वह आनन्दरूप-स्वप्रकाश-स्वरूपभूत—स्वर्गमें वृक्षके समान निश्चलरूपसे एकही अद्वयरूपसे अवस्थित है । उस-पुरुषसे यह समग्र-विश्व परिपूर्ण है—ओत-प्रोत है—व्याप्त है ।' (श्रु०) इसका यह अर्थ है—क्रिया, कारक (क्रियाके जनक-साधक-साधन आदि) आदिरूप यह समस्त-द्वैत-प्रपञ्च, ब्रह्म और आत्माकी एकताके अज्ञानके कारण ही ब्रह्ममें आरोपित है । अतः उनके एकत्वके सम्यक् ज्ञानसे ही यह बाधित हो जाता है, इसलिये ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानही मोक्षका साधन है, अन्य कोई नहीं है, ऐसा कहते हैं—जिससे यानी पुरुषसे—विश्वके अधिष्ठानरूप-अद्वय-ब्रह्मसे, पर यानी उत्कृष्ट;अपर यानी अन्य कोई नहीं है । अथवा पर = कारण, जो प्रकृति आदि हैं, अपर = कार्य, जो पृथ्व्यादि हैं, उस परमात्मासे पृथक् नहीं हैं; वह निरतिशय-पूर्ण आनन्दरस है, इसलिए उत्कृष्ट-कारण हो, या निकृष्ट-कार्य हो, किसी की भी उससे पृथक् सत्ता नहीं है, अर्थात् उसकी सत्ताके विना वे सब कारण कार्य स्वतः सत्ता हीन हैं ।

तदन्यस्य सर्वस्यैतदविद्याविलसितत्वात्तस्मादपरमन्यच्च नास्तीति युक्तमेव। यस्मात्—अणीयः=अणुतरं—सूक्ष्मतरं नास्ति, स्वयंप्रकाशचिदेकरसत्वादात्मनः, तदन्यस्य जडत्वेन स्थूलत्वात्। न ज्यायः=महत्तरमपि कश्चित्=किञ्चित् नास्ति। प्रत्यगात्माधीनसत्तास्फुरणत्वात्तदन्यस्य सर्वस्य। निवातदेशस्थो वृक्ष इव, स्तब्धः=अविकारो निश्चलः—सर्वविकारस्पन्दनानास्कन्दित इति यावत्। दिवि=अखण्डचिदभिव्यञ्जकत्वेन द्योतनस्वभावायां, पूर्णानन्दाभिव्यञ्जकत्वेन क्रीडारूपायां अहंब्रह्मास्मि—सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यखण्डब्रह्माकारायां बुद्धौ प्रमेयत्वेन तिष्ठति। दिवि=स्वयंप्रकाशचिदेकरसे स्वे महिम्नि तिष्ठतीति वा। दिवि=द्योतनस्वभावे आदित्यमण्डलेऽपि तिष्ठतीति वा। एकः=अद्वितीयः, तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं=स्वर्णादिभी रुचकादिवत्, रज्ज्वादिभिः सर्पादिवत्, तेन=प्रकृतेन पुरुषेण देशतः कालतो वस्तुतश्चानवच्छिन्नेन, ब्रह्मणा, इदं=दृश्यजातं सर्वं पूर्णं=सर्वतोऽन्तर्बहिर्व्याप्तं, अतः पुरुषव्यतिरिक्तं किञ्चिदपि नास्ति, अतः पुरुषैकत्वविज्ञानादेवापवर्गसिद्धिरिति प्रत्येतव्यम्। सत्येवं भगवान् बादरायणोऽपि स्पष्टाक्षरैः—कालत्रयेऽप्यव्यभि-

उससे अतिरिक्तरूपसे जो भी कुछ प्रतीयमान है, वह सब अविद्यासे ही विलसित है, अतः उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, ऐसा कहना युक्ति-युक्त है। एवं जिससे अति सूक्ष्म भी कोई नहीं है, क्योंकि—एकमात्र आत्मा ही स्वयंप्रकाश-चिदेकरस है, उससे अन्य जड होनेके कारण स्थूल हैं। उससे अन्य कोई अतिमहान् भी नहीं है; क्योंकि—तदन्य सर्व-विश्वकी सत्ता एवं स्फूर्ति प्रत्यगात्माके आधीन है। वह विशेष-पवनरहित-देशमें स्थित-स्तब्ध यानी निश्चल है, निर्विकार है-यानी समस्त-विकारोंके स्पन्दनसे अनभिभूत है। दिवि यानी अखण्ड-चैतन्यकी अभिव्यञ्जक होनेके कारण द्योतन-स्वभाववाली, तथा पूर्णानन्द की भी अभिव्यञ्जक होनेके कारण क्रीडा-प्रमोद स्वभाववाली-जो-'मैं ब्रह्म हूँ' 'यह सब ब्रह्म है' इस प्रकारकी अखण्ड-ब्रह्माकारवाली-बुद्धि है, उसमें जो प्रमेय (प्रमाणगम्य) रूपसे अवस्थित है। या दिवि यानी स्वयं-प्रकाश-चिदेकरस अपनी महिमामें अवस्थित है। या दिवि यानी द्योतनस्वभाववाले-आदित्य-मण्डलमें भी अवस्थित है। एक=अद्वितीय उस-पुरुषसे यह सर्व विश्व पूर्ण है, वैसे जैसे-स्वर्ण-आदिकारणोंसे रूचक आदि कार्य पूर्ण हैं, व्याप्त हैं, तथा जैसे रज्जु आदि अधिष्ठानोंसे सर्पादि-आरोपित, पूर्ण हैं। तेन-यानी प्रकृत-पुरुष चिदात्मा, जो देशसे कालसे एवं वस्तुसे अनवच्छिन्न ब्रह्म है, उससे यह दृश्यमान सर्व जगत् पूर्ण है यानी सर्व तरफसे अन्दर-बाहर व्याप्त है, अतः पुरुषसे व्यतिरिक्त-कुछ भी नहीं है, इसलिये पुरुषके एकत्वके विज्ञानसे ही अपवर्ग-मोक्षकी सिद्धि होती है, ऐसा जानना चाहिये।

चारिणः परमात्मनः पुरुषस्याधिष्ठानस्यैवैकस्यास्ति पारमार्थिकं सत्यत्वं, तदन्यस्य व्यभिचारिणः कल्पितस्य द्वैतप्रपञ्चस्यास्ति—अनिर्वचनीयत्वलक्षणमसत्यत्व-मित्याह—एकादशेऽपि—'न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेश-मात्रम् । भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्यत् तदेव तत्स्यादिति मे मनीषा ॥' (भा० ११।२८।२१) इति । मध्येऽपि च तत्पृथङ् नास्ति । किन्तु व्यपदेश-मात्रं=नाममात्रं । कुतः ? यतो यद्यत्परेण=अन्येन कारणेन प्रकाशकेन च भूतं=जातं, प्रसिद्धं=प्रकाशितं च; तत्तदेव कारणप्रकाशकतावन्मात्रं स्यान्न पृथक्, इति मे मनीषा=बुद्धिः । 'वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।' (छां० उ) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां० उ) इत्यादिश्रुतेः । कारणप्र-काशकव्यतिरेकेण कार्यस्य प्रकाश्यस्य चानुपलम्भादिति भावः । मम परमसर्वज्ञ-

श्रुति—भगवतीका ऐसा विवेचन एवं निर्णय होनेपर भगवान् बादरायण-व्यास भी श्रुतिके अनुसार ही स्पष्ट-शब्दोंके द्वारा-श्रीमद्भागवतके एकादश—स्कन्धमें भी—कालत्रयमें अव्यभिचारी यानी सर्वदा विद्यमान—अपरिवर्तन-शील परमात्मा का ही-जो पुरुष—अधिष्ठान एवं एक है—पारमार्थिकी—सत्यता, तथा तदन्य--व्यभिचारी (कादाचित्क-परिवर्तनशील) कल्पित—द्वैतप्रपञ्चका-अनिर्वचनीयत्वलक्षण-वाला असत्यत्व—कहते हैं-—'जो पदार्थ, उत्पत्तिसे प्रथम नहीं था, और प्रलयके पश्चात् भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि—मध्यमें भी वह है नहीं (क्योंकि—यह नियम है कि—'आदावन्ते च यन्नास्ति, वर्तमानेऽपि तत्तथा ।' (गौडपादाचार्य) अर्थात् जो पदार्थ आदि में एव अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं है) वह केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है । यह निश्चित सत्य है कि-जो पदार्थ जिससे उत्पन्न होता है, और जिससे प्रका-शित होता है, वही उत्पादक एवं प्रकाशक ही उसका वास्तविक—स्वरूप है, वही उसकी परमार्थ सत्ता है—ऐसा मेरा दृढ निश्चय है ।' (भा०) अर्थ—मध्यमें वह कार्य उस कारणसे पृथक् नहीं है, किन्तु व्यपदेशमात्र यानी नाममात्र है, अर्थात् नामके द्वारा व्यवहार होनेपर भी वह वास्तविक नहीं होता । किस कारणसे ? नाममात्र है । कहते हैं—क्योंकि—यह नियम है कि—जो जो पदार्थ, पर यानी अन्य कारणसे एवं प्रकाशक से उत्पन्न हुआ है, एवं प्रकाशित हुआ है, वह वह सब, कारण एवं प्रकाशक-मात्र ही होता है, अर्थात् कारण एवं प्रकाशक से अतिरिक्त-कार्य एवं प्रकाश्य पदार्थकी पृथक् उपलब्धि नहीं होती है । यह मेरी मनीषा यानी निश्चयात्मिका-बुद्धि है—संमति है । अतएव—श्रुतियाँ भी कहती हैं कि—विकार यानी कार्यवर्ग-वाणीसे ही केवल कहा जा सकता है—कारण व्यतिरिक्त-वस्तुसत् नहीं होता, अतः वह नाममात्र का है, कारण द्रव्य मृत्तिका ही एकमात्र-सत्य है—घटशरावादि कार्यवर्ग सत्य नहीं है ।' (श्रु०) 'निश्चय से यह सब ब्रह्म है यानी ब्रह्मसे व्यतिरिक्त कुछ नहीं है ।' (श्रु०) इत्यादि । मुझ परम

स्येयं मनीषा = निश्चयः, अतो यो मम निश्चयाद्विरुद्धं यत्किमपि जगत्सत्यत्वादिकं ब्रूयात्—तत् सर्वमप्रमाणिकतया त्याज्यमेवेति ध्येयम् ।

संप्रति विश्वप्रपञ्चेन तस्यापरिच्छेदं वक्तुं 'स भूमिं' इत्यस्य पुरुषसूक्तस्यार्थमाह—तत्पदं विभक्तिव्यत्ययेन व्याचष्टे, तेन = पुरुषेण, विश्वमिति भूमिपदस्यार्थः । वितस्तिमिति दशांगुलपदस्य, अधीत्यतिशब्दस्य, आवृतमिति वृत्वेत्यस्य, अर्थः । आवृतं=व्याप्तं, स च वितस्तिं=अधिकं व्याप्य तिष्ठतीत्याधिक्यमात्रं विवक्षितं, न तु परिमाणम्, अनुपयोगादपरिच्छिन्नत्वाच्च । तथा च घटादेर्मृदिव व्याप्यं विश्वं अतिक्रम्यायमत्यधिक इति निरवधिकव्याप्तिपरमेतदिति भावः । यद्वा वितस्तिं=दशाङ्गुलपरिमितं हृदय

सर्वज्ञ-श्रीमद्भागवत-प्रणेताका यह दृढ निश्चय है । इसलिये मेरे प्रामाणिक-निश्चयसे विरुद्ध–जो भी कुछ—'यह जगत्-परमार्थ सत्य है' इत्यादि कोई कहे, तो वह सब अप्रामाणिक होनेसे त्याज्य है, ऐसा समझना चाहिये ।

अब 'विश्व-प्रपञ्चके द्वारा–उस निर्माता-कारण पुरुषका परिच्छेद नहीं हो सकता है, अर्थात् कोई भी कार्य अपने कारण को सीमित, या प्रतिरुद्ध नहीं बना सकता, अपनी परिच्छिन्नता अपने अपरिच्छिन्न-अधिष्ठान-कारणमें स्थापित नही कर सकता' यह बतलाने के लिए–'स भूमिं विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम् ।' (शु० य०) इस पुरुषसूक्त-मन्त्रके इस उत्तरार्धका अर्थ, यहाँ अन्य शब्दोंके द्वारा बतला रहे हैं—मन्त्रमें 'सः' यह प्रथमाविभक्तिका पद है । उसकी विभक्ति बदलकर तृतीयाविभक्तिका रूप यहाँ प्रकृत श्लोकमें बतला रहे हैं–तेन यानी उस पुरुषसे । मन्त्रमें भूमिपद है, उसका अर्थ यहाँ 'विश्व' पदके द्वारा बतलाया है । भूमि यानी यह समग्र–विश्व। मन्त्रके दशांगुल पदका अर्थ–यहाँ 'वितस्ति' पदके द्वारा बतलाया है । 'अति' शब्दका अर्थ यहाँ 'अधि' शब्द द्वारा कहा है । 'वृत्वा' इसपदका 'आवृतं' ऐसा अर्थ किया है । आवृत यानी व्याप्त । सब मिलकर यह अर्थ होता है कि–उस पुरुषसे यह विश्व व्याप्त है । और वह पुरुष 'वितस्ति' यानी कार्यवर्ग की अपेक्षा अधिक ही व्याप्त होकर रहता है, ऐसा वितस्ति पदसे कारणकी अधिकतामात्र ही विवक्षित (कहना इष्ट) है, परिमाण-इतना है वह, ऐसा विवक्षित नहीं है । क्योंकि-वह पुरुष निरवधिक है–इयत्ता-शून्य है, निरतिशय–महान् है । इयत्ता शून्यकी इयत्ता-कहना, या बतलाना, विरुद्ध है–व्यर्थ है–अतएव उस कथनका कुछ भी उपयोग (प्रयोजन) नहीं है, वह व्यापक-पुरुष–अपरिच्छिन्न है । तथा च जिस प्रकार मृत्तिका स्वकार्य-घटादिको व्याप्त करके भी वह अत्यधिक है, उस प्रकार वह पुरुष इस व्याप्य-विश्वका भी अतिक्रमण करके अत्यधिक है–निरतिशय-महान् है,इस प्रकार 'अधितिष्ठति' यह पद, पुरुषकी अवधि (इयत्ता) से शून्य-व्याप्तिका बोधन करता है, यह भाव है । अथवा–वितस्ति यानी दशाङ्गुल से परिमित जो हृदय

प्रदेशं अधितिष्ठति=सत्तास्फूर्तिप्रदतया साक्षिचैतन्यरूपेणाधिष्ठायावस्थितो भवति। यद्वा नाभेः सकाशात् दशाङ्गुलप्रदेशं अधितिष्ठति=अतितिष्ठति=अतिक्रम्य हृदि स्वयं प्रकाशरूपेण स्थितो भवति। सर्वत्रावस्थितस्य हृद्यवस्थितिप्रतिपादनं तत्रोपलभ्यत्वाभिप्रायतः। तथा च ब्रह्माभिन्नस्य क्षेत्रज्ञस्यात्मनो हृद्यवस्थानमाम्नायते—स्मर्यते च—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः' (बृ०''उ० ४।३।७) इति 'भगवान् हृद्गतः सदा' (भा० ७।१३।-२१) इति च। वितस्तिमित्युपलक्षणं तस्माद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थितो भवति। यद्यपि वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलपरिमाणः, तथापि अधिके न्यूनसंख्याऽवस्थानन्यायेन द्वादशे दशाङ्गुलसद्भावेन श्रुतिवचनानुरोधेन च दशाङ्गुलमेव तेन प्रत्येतव्यम्। तेन शब्दादितन्मात्रपञ्चकं समष्टिरूपं हिरण्यगर्भं, पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतसमष्टिरूपं विराजात्मकं चोभयात्मकं बोद्धव्यम्। तं—अधि—अधिष्ठाय तिष्ठति, यद्वा अति=अतिक्रम्य, असङ्गेऽविकारेऽनन्ते सत्यसुखसंविन्मात्रैकरसेऽद्वये स्वस्वरूपे तिष्ठति। यद्वा मायाप्रकृतिः एकमङ्गुलं,

प्रदेश है, उसको वह सत्ता एवं स्फूर्ति प्रदान करके साक्षी-चैतन्यरूपसे उसमें अधिष्ठित होकर रहता है। अथवा नाभिसे लेकर दशांगुलकी दूरी पर हृदय प्रदेश है, अतः नाभिका अतिक्रमण करके वह हृदयमें स्वयंप्रकाशरूपसे अवस्थित है। सर्वत्र-अवस्थित-परमात्माका हृदयमें अवस्थितिका प्रतिपादन इस अभिप्रायसे किया है कि—वह हृदयमें उपलब्ध-यानी विशेषतः-प्रकाशित होता है। तथा च ब्रह्मसे अभिन्न-क्षेत्रज्ञ-आत्माका हृदयमें अवस्थान श्रुति एवं स्मृति कहती है कि—'वह यह क्षेत्रज्ञ-चिदात्मा,विज्ञानमय यानी बुद्धिरूपी उपाधिवाला है, वह इन्द्रियोंमें भी साक्षीरूपसे अवस्थित है, तथा वह हृदयके भीतर ज्योतिरूपसे प्रकाशित होता है।' (श्रु०) 'भगवान् हृदयमें प्रकटरूपसे अवस्थित हुआ (अज्ञानका नाश करते हैं) (भा०)।' 'वितस्ति' यह उपलक्षण है, अर्थात् वह परमात्मा हृदयसे बाहर भी सकल विश्वमें सर्व तरफसे व्याप्त होकर अवस्थित है। यद्यपि वितस्ति (बिलस्त) बारह-अंगुलके परिमाणका होता है, तथापि अधिकमें न्यून संख्याके अवस्थानरूप न्याय द्वारा—बारह अंगुलमें दशाङ्गुलका भी सद्भाव होनेके कारण एवं श्रुतिवचनका अनुरोध होनेके कारण उस वितस्ति–पदसे दशाङ्गुल ही समझना चाहिये। (अधिकमें न्यून संख्या रहती है–जैसे जिसके समीप १००) रु० हैं-उसके समीप-पचीस भी हैं, पचास भी हैं) इस दशाङ्गुलरूप वितस्तिसे शब्दादि–पंच तन्मात्रा (पंच सूक्ष्मभूत) ओंका समष्टिरूप हिरण्यगर्भ, तथा पंचीकृत-पंचमहाभूतों का समष्टिरूप विराट् इन दोनोंका ग्रहण किया है, ऐसा समझना चाहिये। अतः इन–दोनोंको अधिष्ठित करके जो अवस्थित है–वह परमेश्वर है। अथवा, अधि यानी अति, इन दोनोंका अतिक्रमण (उल्लंघन) करके–असंग, अविकार, सत्य, आनन्द-

भूतपञ्चकं पञ्चाङ्गुलं, अन्तःकरणचतुष्टयं चतुरङ्गुलञ्चैतन्मिलित्वा दशाङ्गुलं दशपर्वात्मकम् । अत्र किल पुरुषाध्यारोपितं स्थूलसूक्ष्माव्याकृतलक्षणं सर्वं विश्वं संगृहीतम् । तत्सर्वं, अधि = अधिष्ठाय अतीत्य वा तिष्ठति । यद्वा 'दशेन्द्रियाणि' 'दश दिशो वा' इत्येवमादीनि दशात्मकानि यानि तानि सर्वाण्यङ्गुलपरिमाणोपलक्षितानि परिच्छिन्नानि वस्तूनि स्थानानि चाधिष्ठायातीत्य चापरिच्छिन्ने स्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । अनेनास्य पुरुषस्य निरवग्रह महत्त्वसम्पन्नता स्वतो विशुद्धता च प्रख्यापिता भवति ।

इदमत्र ज्ञेयं—योऽयमव्यक्तमहदादिविलक्षणः सत्यज्ञानानन्दानन्ताद्वैतो निर्विशेषोऽवाङ्मनसगोचरोऽपि ज्ञानगम्यः, स एवात्र मायाद्युपाधितः—'सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान् ।' (भा० २।५।३५) 'भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां, भुवर्लोकोऽस्य नाभितः । स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोककल्पना ॥' (भा० २।५।४२) इत्यादिवचनानुरोधेन सर्वजगत्-प्राणिगतशिरोऽक्षिपादादिसर्वव्यवहारास्पदत्वरूपेण प्रत्यक्षतो दृश्यमानो विराजात्मा भवति । तस्य

चेतनमात्र—एकरस, अद्वयरूप—अपने स्वरूपमें वह अवस्थित है । अथवा माया-प्रकृति का एक-अंगुलसे, पांच-महाभूतोंका पांच अंगुलसे, और चार अंगुलसे अन्तःकरण चतुष्टय (मन बुद्धि चित्त एवं अहंकार) का ग्रहण होता है । सब मिलकर दश-अंगुल हुआ, जो दश पर्व (गांठ) वाला है । इस—दशाङ्गुलमें स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप समस्त-द्वैतप्रपञ्चका ग्रहण होगया । जो पुरुष-परमात्मामें अध्यारोपित है, उस सब-प्रपञ्चको अधिष्ठित करके या उस सबका अतिक्रमण करके, जो अपने स्वरूपमें अवस्थित है—वह परमात्मा पुरुष है । अथवा दशाङ्गुलसे दश इन्द्रियाँ, दश दिशाएँ, इत्यादि दश संख्यावाले—जो भी कोई हों, वे सब परिच्छिन्न वस्तुएँ एवं स्थान दशाङ्गुलके परिमाणसे उपलक्षित हैं । इन सबका अधिष्ठान होकर या अतिक्रमण करके-अपरिच्छिन्न स्वरूप-में वह अवस्थित रहता है । इस व्याख्यानके द्वारा पुरुषकी निरतिशय-महत्तासे संपन्नता एवं स्वतः विशुद्धता प्रख्यापित होजाती है ।

यहाँ यह जानना चाहिये कि—'यह विराट् पुरुष सहस्रों अर्थात् अनन्त जंघा, चरण, भुजाएँ, नेत्र, मुख, और शिरवाला है ।' (भा०) 'उस विराट् पुरुषके चरणोंमें भूर्लोक (पृथिवी) कल्पित है, नाभिमें भुवर्लोक की और शिरमें स्वर्लोक की कल्पना की जाती है ।' (भा०) इत्यादि—भागवतके वचनोंसे यह विदित होता है कि—जो परमात्मा, प्रकृति, महत्तत्त्व आदिसे विलक्षण है, एवं जो सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्त, अद्वैत, एवं निर्विशेष है, जो मन एवं वाणीका विषय न होनेपर भी ज्ञानगम्य है, वही माया आदि उपाधिके द्वारा विश्वके समस्त प्राणियोंके शिर, नेत्र, पाँव आदि समस्त व्यवहारोंके आस्पद-रूपसे यानी विराट्रूपसे प्रत्यक्ष ही दृष्टि गोचर होता है । उस

विराड्पुरुषस्योपासनया चेतसः चाञ्चल्यं व्यावर्तते, ऐकाग्र्यं शुद्धब्रह्माधिगम योग्यता च संपद्येते । सर्वेषु पदार्थेषु विराट्पुरुषभावनया रागद्वेषौ कल्याण परिपन्थिनौ चापगच्छतः, तमात्मतया ध्यायन् तदात्मा भवति । एवमिदमप्यत्रावधेयम्—'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।' इति न्यायेन पारमर्षमिदं वचः—प्रथमं—सहस्रात्वादिना मायया तस्याध्यारोपितं विराड्रूपमाराधयितुं दर्शयित्वा पश्चात् अधितिष्ठति—इत्यनेनानन्तमपारं तदपवादगम्यं निषेधशेषं शुद्धस्वरूपमवबोधयति । इति । यदभिप्रेत्याह-चान्यत्रापि—भगवान् बादरायणः—'अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः । प्रत्यग्धामा स्वयं ज्योतिः, विश्वं येन समन्वितम् ॥' (भा० ३।२६।३) इति ।

विश्वमय-विराट्पुरुषकी उपासनासे चित्तकी चंचलता दूर होती है । मनकी एकाग्रता और शुद्ध-ब्रह्मके साक्षात्कारकी योग्यता, संपन्न होती है । समस्त पदार्थोंमें विराट्-पुरुष की भावनासे कल्याणमार्ग के विरोधी रागद्वेष निवृत्त होजाते हैं । उस विराट्-पुरुषका आत्मारूपसे ध्यान करने वाला तद्रूप हो जाता है । यह भी यहाँ याद रखनेकी बात है कि—'अध्यारोप एवं अपवादके द्वारा प्रपञ्चरहित-परमात्माको प्रपञ्चसहित किया जाता है ।' इस न्यायसे महर्षि—व्यासदेवका विराट्रूपका प्रतिपादक पूर्वोक्त-वचन, यह बोधित करता है कि-प्रथम—मायाके द्वारा ब्रह्म-पुरुषमें आरोपित-सहस्रात्वादिरूप-विराट्रूप का उपासनाके लिए प्रदर्शित करके पश्चात् 'अधि (अति) तिष्ठति' इस पद द्वारा, अनन्त अपार, नेति नेति इस अपवादसे गम्य, शुद्ध स्वरूप ही निषेधके बाद परिशेष रूपसे रह जाता है । अतः इस अभिप्रायसे ही भगवान्-बादरायणने अन्यत्र भी कहा है कि—'यह समग्र-जगत् जिससे व्याप्त होकर प्रकाशित होता है, वह आत्मा ही पुरुष है, वह अनादि, निर्गुण एवं प्रकृतिसे पर है, वही अन्तःकरणमें स्फूरित होता है, अतः वह स्वयंप्रकाश है ।' (भा०) इति ।

(१२)

(ज्ञानज्ञेययोर्न वास्तविकोऽपि तु मायया प्रयोजित आध्यासिक एव सम्बन्धः प्रत्येतव्यः)

ज्ञानस्वरूप एवात्मा । यथाऽऽत्मा निरपेक्षः अनात्मसम्बन्धविरहितः सन् स्वतो विभाति तुर्ये । तथा ज्ञानमपि ज्ञेयनिरपेक्षं सत् ज्ञेयाभावेऽपि स्वतो विभाति । ज्ञेयन्तु ज्ञानसापेक्षं, यतो ज्ञानं विना ज्ञेयप्रतीतिर्दुर्लभा । परन्तु ज्ञानं न ज्ञेयसापेक्षं, तं विनाऽपि तस्य स्वतो भासमानत्वात्, अतः सापेक्षतया निरपेक्षज्ञाने चिदात्मनि ज्ञेयं संसाराख्यं कल्पितमेवाभ्युपेयम् । तथा चाहुर्भगवन्तो बादरायणाचार्य्या अपि—'विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम् । सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥ (भा० २।६।३६) इति । अतो ज्ञेयं ज्ञानविपरीतमेतादृशं मन्तव्यं—'अशुद्धं विविधं ज्ञेयं परागसम्यक् अनवस्थितं । असत्यमल्पं साद्यन्तसगुणमनित्यं सद्वयम् ॥' इति । अत एवाभिहितं—'ज्ञानस्य ज्ञेयतापत्तिर्बन्ध इत्यभिधीयते । तस्यैव ज्ञेयताशान्तिर्मोक्ष

---

(१२)

(ज्ञान और ज्ञेयका वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, किन्तु-माया-अविद्या द्वारा प्रयुक्त होनेसे आध्यासिक (काल्पनिक) ही सम्बन्ध है, ऐसा जानना चाहिये)

ज्ञान स्वरूप ही आत्मा है । जिसप्रकार आत्मा स्वयं निरपेक्ष और अनात्मपदार्थोंके सम्बन्धसे रहित है, अतएव वह तुरीयावस्था (समाधिदशा) में स्वयंप्रकाश रूपसे भासित होता है । उसप्रकार ज्ञान भी ज्ञेय से निरपेक्ष होकर ज्ञेयके अभावमें भी स्वयंप्रकाशित होता है । परन्तु ज्ञेय तो ज्ञान-सापेक्ष ही होता है, अर्थात् ज्ञेय, ज्ञानकी अपेक्षा रखता है, क्योंकि—ज्ञानके विना ज्ञेयकी प्रतीति दुर्लभ है—अशक्य है । परन्तु ज्ञानको ज्ञेयकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि—उसके विना भी वह स्वयंप्रकाशमान हुआ रहता है । इसलिये निरपेक्ष-ज्ञान स्वरूप-चिदात्मामें संसाररूप-ज्ञेय पदार्थ सापेक्ष होनेसे कल्पित ही है, ऐसा मानना सुसंगत है । तथा च भगवान् बादरायणाचार्य्य भी इसी सिद्धान्तका समर्थन करते हैं कि—'वह (परमात्मा) विशुद्ध है, केवल-ज्ञानस्वरूप है, वही प्रत्यगात्मा-क्षेत्रज्ञ है, एवं अखण्डैकरसरूपसे अवस्थित है, वह सत्य है, पूर्ण है, न उसका आदि है, न अन्त । वह तीनों गुणोंसे रहित-निर्गुण है, नित्य है एवं अद्वय है । (भा०) अतः ज्ञेय तो ज्ञानसे सर्वथा विपरीत (विलक्षण) है, उसे ऐसा मानना चाहिये कि—'वह ज्ञेय अशुद्ध है, अनेक-प्रकारका है, अनात्मा है, परिवर्तनशील एवं अस्थिर है । वह असत्य है, अल्प (परिच्छिन्न) और आदि एवं अन्त वाला है, वह सगुण है, अनित्य है एवं द्वैतभाव (त्रिपुटी-भेद)से युक्त है ।' इसलिये कहा भी है कि-'ज्ञानमें ज्ञेयका अध्यारोप, अर्थात् ज्ञानका ज्ञेयाकाररूपसे भासना ही बन्ध है, और ज्ञान

इत्यभिधीयते ॥' इति ।

ननु—ज्ञानस्वरूपस्य परमात्मनः साक्षाद्द्रष्टृत्वरूपं साक्षित्वं कथं ? 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्' इति पाणिन्यनुशासनात् इति चेत्—मैवं, अविद्यातत्कार्यान्यतरप्रतिफलितचैतन्यस्यैव साक्षित्वं मन्तव्यं, न तु निरुपाधिकस्य विशुद्धस्य । तथा च ज्ञानरूपस्यात्मन उपाधिना द्रष्टृत्वं बोद्धव्यं । न चोपाधेरपि साक्ष्यधीनसिद्धिकप्रातीतिकाविद्याकार्यत्वेन चक्रकाद्यापत्तिरिति वाच्यम्, उत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धस्याभावाद्———अविद्यातदुपाधिकद्रष्टृत्वयोरुभयोरप्यना-

में ज्ञेयका प्रतिषेध होना, अर्थात् ज्ञेयाकाररूपसे न भासना ही मोक्ष है, ऐसा कहा जाता है ।'

शंका—ज्ञान-स्वरूप-परमात्मामें साक्षाद्-द्रष्टृत्वरूप—साक्षित्व कैसे हो सकता है ? क्योंकि—व्याकरण-निर्माता-पाणिनि महर्षिने ऐसा अनुशासन किया है कि-साक्षाद्-देखनेवाला इस अर्थमें, और संज्ञा (वाचक-नाम) में साक्षी शब्द प्रयुक्त होता है ।' अर्थात् ज्ञान ज्ञाता कैसे हो सकता है ? ज्ञाता यानी ज्ञानका आश्रय, ज्ञान नहीं, और ज्ञेयका जानने वाला ही ज्ञाता होता है, ऐसा होनेपर उसमें ज्ञेयका सम्बन्ध अवश्य, मानना ही पडता है, तथा च वह ज्ञेय-सापेक्ष बन जाता है । अतः ज्ञानस्वरूप-परमात्मा, साक्षी कैसे बन सकता हैं ? ।

समाधान—अविद्यामें एवं तत्कार्य-अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ही साक्षी माना जाता है, निरुपाधिक-शुद्ध-चैतन्य साक्षी नहीं होसकता, तथा च ज्ञानस्वरूप-आत्मामें साक्षीत्वका व्यवहार अविद्यादि-उपाधिके द्वारा ही हुआ हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

शंका—ऐसा माननेपर चक्रकापत्तिरूप दोष आ जाता है । कैसे ? इसप्रकार अविद्याकी सिद्धि एवं प्रतीति, साक्षीके ही आधीन है, अर्थात् साक्षीके द्वारा ही अविद्या की सिद्धि होती है एवं प्रतीति होती है, और अन्तःकरणरूप-उपाधि अविद्याका कार्य है, इसलिये साक्षी होनेपर अविद्याकी सिद्धि एवं अविद्याके होनेपर अन्तःकरणकी सिद्धि एवं अन्तःकरण होनेपर उसमें प्रतिबिम्बरूपसे साक्षी की सिद्धि, इसप्रकार गोलाकार-चक्रके समान यह दोष-इन तीनोंमें ही घूमता रहता है । इन तीनोंकी एक दूसरेके अधीन ही सिद्धि होती है, स्वतः कोई नहीं सिद्ध होता ।

समाधान—साक्षी की उत्पत्तिमें एवं ज्ञप्तिमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है, अर्थात् साक्षीका प्रादुर्भाव भी अनायास ही अन्तःकरणके होनेपर स्वतः हो जाता है, जैसे दर्पणके समक्ष होनेपर मुखका प्रतिबिम्ब विना प्रयासके किसी प्रकारका प्रतिरोध विना स्वतः पड जाता है । और साक्षी ज्ञानका ही प्रतिबिम्ब होनेके कारण अन्यकी अपेक्षा न रखता हुआ स्वतः ही भासित होजाता है । इसलिये साक्षीमें उपाधिकी आधीनता नहीं है । और कथंचित् आधीनता मानने पर भी अविद्या भी अनादि है, और अविद्यारूप-

दित्वात्। तथा च पाणिनितन्त्रे भर्तृहरिणा महावैयाकरणेनाप्युक्तम्—'यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं चापि कल्पितम्। तस्यैवार्थस्य सत्यत्वमाहुस्त्रय्यन्तवादिनः॥ इति।

अपि चात्मनो ज्ञानस्वरूपत्वानभ्युपगमे सर्वेषां जडोऽस्मीति भानं स्यात्, न च तथा भानं भवति कस्यचिदपि, अतो ज्ञानस्वरूप एवात्मा प्रत्येतव्यः। एकमेव तद्विषयोपाधिभेदेन भिन्नवद् दृश्यते, नित्यञ्च तदन्तःकरणादि वृत्त्यवच्छेदेनोत्पत्तिविनाशादिवद् भ्रान्त्या प्रतिभाति। सामान्यविशेषात्मभ्याञ्च तदेवाज्ञानस्य साधकञ्च बाधकञ्च भवति, स्वप्रकाशचैतन्यरूपं यज्ज्ञानमात्रं तत्सामान्यमित्युच्यते, श्रवणादिसाध्याखण्डब्रह्माकारापरोक्षवृत्तिसमारूढं तदेव विशेष इति परिगीयते।

अपि च यथा स्वप्नस्थाने स्वपता द्रष्ट्राऽऽत्मना दृष्टश्चेतनाचेतनात्मको बहुविधो द्वैतप्रपञ्चस्तन्निद्रारूपया माययैव तत्राध्यारोपितः सन् विभाव्यते,

उपाधि में प्रतिबिम्बित-रूप द्रष्टृत्व भी अनादि है, इसलिये चक्रकापत्तिरूप दोष नहीं है - अर्थात्-अन्योऽन्याश्रय, चक्रक आदि दोष सादि-पदार्थमें माने जाते हैं, परन्तु बीजांकुरकी तरह अनादि-पदार्थ में वे दोष नहीं माने जाते। अतएव अविद्या एवं साक्षी, इन दोनों में कौन प्रथम है? ऐसा प्रश्न ही दोनोंको अनादि होनेके कारण उपस्थित नहीं हो सकता। तथा च पाणिनि-तन्त्रमें महावैयाकरण-भर्तृहरिने भी कहा है कि—'जिस ज्ञानस्वरूप-परमात्मामें, द्रष्टा, दर्शन, और दृश्य कल्पित हैं, वही अधिष्ठानरूप अर्थ ही वास्तविक सत्य है, ऐसा ब्रह्मवादी—वेदान्ती महानुभाव कहते हैं।'

और भी यदि आत्माको ज्ञानस्वरूप न माना जाय तो, 'मैं जड हूँ' ऐसा भान सर्व प्राणियों को होना चाहिये, परन्तु ऐसा भान किसीको भी नहीं होता। इसलिये आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, ऐसा मानना उचित है। वह आत्मस्वरूप ज्ञान एक ही है, तो भी वह उसकी विषयरूप—उपाधियोंके भेदसे भिन्न-भिन्न की भांति (घटज्ञान-पटज्ञान आदि) प्रतीत होता है। एवं वह ज्ञान नित्य है, तो भी वह आगमापायि—अन्तःकरणादि की वृत्तियोंके द्वारा भ्रान्तिसे उत्पत्ति-विनाशवाला—जैसा प्रतीत होता है। वही ज्ञान, सामान्यरूपसे अज्ञानका साधक होता है, और विशेषरूपसे अज्ञानका बाधक होता है। स्वप्रकाश-चैतन्यरूप जो केवल ज्ञान है, उसे सामान्य-ज्ञान कहते हैं। और श्रवणादि से साध्य (निष्पन्न) जो अखण्ड-ब्रह्माकारा—अपरोक्ष-वृत्ति है—उसमें प्रतिफलित जो चैतन्य है, उसे विशेष चैतन्य कहते हैं।

और भी जैसे स्वप्नावस्थामें सोया हुआ मनुष्य, अनेक प्रकारका जड-चेतनरूप विविध-प्रपञ्च देखता है, जो निद्रारूप-माया द्वारा उस-द्रष्टा-आत्मामें अध्यारोपित ही हुआ जाना जाता है, अतः वह स्वाप्निक-प्रपञ्च चेतन—द्रष्टासे भिन्न नहीं है, ऐसा निश्चय

अतः सः द्रष्टुश्चेतनान्न पृथगस्तीति विनिश्चीयते, यत उत्थानानन्तरं तस्यादर्शनात्। न हि सतो विद्यमानस्य समयान्तरेऽदर्शनं भवति। तथाऽयमाकाशादिरूपो द्वैतप्रपञ्चोऽपि आत्मनो न भिद्यते, यतस्तस्यात्मन्यात्माविद्याकल्पितत्वात्। सत्येवमनुमीमतेऽपि चानुमानप्रयोगप्रवीणाः स्वप्नं दृष्टान्तीकृत्येत्थं—विमतो द्वैतसंसारः, अविद्याऽध्यारोपितः, अविद्यावस्थायामेव विभाव्यमानत्वात् स्वप्नवत्। तस्मात् ज्ञानस्वरूपे परे आत्मन्येकस्मिन्नेव माययैव विविधनामरूपात्मक-ज्ञेयसम्बन्धो विभाव्यमानो भवति, न स्वतः इति विज्ञेयम्।

ननु—स्वप्नस्य निद्रादिदोषजन्यस्य युक्तोऽविद्याऽध्यस्ततया तद् द्रष्टुः पृथगसद्भावः, तेन कथं जाग्रत्प्रपञ्चस्य साम्यम्?। अत एव 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (ब्र० सू० २।२।२६) इति स्वप्नवैषम्यं सूत्रकारो बादरायणोऽप्याह—इति चेन्मैवम्। प्रमातरि सति बाधाबाधाभ्यां स्वप्नजागरितयो वैधर्म्येऽपि

किया जाता है। क्योंकि—स्वप्नसे जागने पर वह स्वप्न-प्रपञ्च देखनेमें नहीं आता है। सदा विद्यमान-सत्य वस्तुका अन्य समयमें भी अदर्शन नहीं होसकता। अर्थात् यदि वह स्वप्नप्रपञ्च, सत्य है—विद्यमान है, तो सभी समयमें सबको प्रतीत होना चाहिये, परन्तु वह अन्य समयमें प्रतीत नहीं होता, एवं प्रतीतिकालमें भी सबको प्रतीत नहीं होता, इसलिये वह आरोपित है, वास्तविक नहीं है, ऐसा निश्चय होता है। इसप्रकार यह आकाशादिरूप द्वैत-प्रपञ्च भी आत्मासे भिन्न नहीं है, क्योंकि—यह आत्मामें ही आत्मा की अविद्या द्वारा कल्पित है। ऐसा निर्णय हो जानेपर अनुमानके-प्रयोगकरनेमें प्रवीण विद्वान् स्वप्नको दृष्टान्त बनाकर ऐसा अनुमान प्रदर्शित करते हैं कि—यह विवाद का विषय द्वैत-प्रपञ्च (अर्थात् वादी-प्रतिवादी द्वैत-प्रपञ्चके विषयमें यह सत्य है कि—मिथ्या है—ऐसा विवाद करते रहते हैं) अविद्यासे अध्यारोपित है, क्योंकि—अविद्याऽवस्थामें ही प्रतीयमान होनेसे। जैसे स्वप्न निद्राकालमें ही प्रतीयमान है। इसलिए ज्ञानस्वरूप-अद्वय-एक परमात्मामें ही माया द्वारा वह विविध-नामरूपात्मक-ज्ञेयरूप-द्वैत प्रपञ्चका सम्बन्ध प्रतीयमान है, स्वतः नहीं है, ऐसा समझना चाहिये।

शंका—दृश्य-स्वप्न, निद्रादि-दोषसे जन्य है, अतः वह द्रष्टामें अविद्यासे आरोपित होनेके कारण वह द्रष्टासे पृथक् नहीं है, ऐसा मान सकते हैं, तथापि उस स्वप्नप्रपञ्चके साथ जाग्रत्-प्रपञ्चकी क्या समानता है? समानता तो नहीं है, किन्तु विषमता है। अतएव ब्रह्मसूत्रकार बादरायण-महर्षि भी ब्रह्मसूत्र में कहते हैं कि—'जाग्रत्-प्रपञ्च स्वप्नादिके समान नही है, क्योंकि—उसमें वैधर्म्य—वैलक्षण्य है।' (ब्र०)

समाधान—प्रमाताके रहनेपर स्वप्नावस्था का बाध होता है, और जाग्रदवस्थाका बाध नहीं होता, इतने—अंशमें दोनोंमें अन्तर (विषमता) है, तो भी हैं दोनों समान रूपसे द्रष्टामें अध्यस्त। अध्यस्तत्वरूप हेतुसे दोनोंमें त्रिकालासत्त्व यानी तीनों कालमें

अध्यस्तत्वेन हेतुना त्रिकालासत्त्वं तयोः समानमेव मन्तव्यम् । तथा च तयोर्न कोऽपि विशेषः । यदाहुर्दशमे भगवन्तो बादरायणाचार्य्या अपि—'न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनादनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे । अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथैर्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥' (भा० १०।८७।३७) इति । अस्य चायमर्थः—यत्=यस्मात्, इदं=विश्वं, अग्रे=सृष्टेः पूर्वं, न आस=न आसीत् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् (छां०-उ० ६।२।१) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० उ० १।१) इत्यादिश्रुतेः । निधनाद्=प्रलयाद्, अनु=अनन्तरं, न भविष्यत्=न भविष्यति, इलोप आर्षः, शत्रन्तं वा । 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' (ऋ० १०।१२९।१) इत्यादिश्रुतेः । अतः कारणात् अन्तरा=मध्येऽपि, एकरसे—केवले त्वयि परात्मनि, मृषा=मिथ्यात्वरूपमेव विभातीति मितं=निश्चितम् । यद्वा अन्त-

---

असत्त्व समान ही है, ऐसा मानना चाहिये । इसलिए इन–दोनोंमें कोई विशेषता–विलक्षणता नहीं है ।

इसलिये श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें–भगवान्-बादरायणाचार्य भी इस निर्णयका स्पष्टतः इस प्रकार समर्थन करते हैं कि–'हे भगवन् ! यह प्रतीयमान नाम-रूपात्मक-जगत् सृष्टिसे प्रथम भी नहीं था, और प्रलयके बाद भी नहीं रहेगा । इससे यह सिद्ध होता है कि—यह मध्यमें तुम-एकरस-परमात्मामें मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है । इसलिये हम श्रुतियाँ इस जगत्का वर्णन ऐसी उपमा देकर करती हैं कि—जैसे मिट्टीमें घडा, लोहेमें शस्त्र, सुवर्णमें कुण्डल आदि नाममात्र हैं–वास्तविक नहीं हैं । वास्तविक तो मिट्टी, लोहा एवं सुवर्ण ही है । वैसे ही परमात्मामें प्रतीत यह जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या, एवं मन की कल्पनामात्र है, इसे नासमझ—संसारासक्त-अविवेकी मूर्ख लोग ही परमार्थ-सत्य मानते हैं ।' (भा०) इसका यह अर्थ है–यस्मात्=जिस कारणसे, यह विश्व, सृष्टिसे प्रथम नहीं था, अतः श्रुतियाँ भी कहती हैं-कि—'हे सोम्य = प्रियदर्शन ! यह जगत् प्रथम सत्-ब्रह्म ही था, अर्थात् सत् से व्यतिरिक्त नहीं था ।' (श्रु०) 'यह जगत् सृष्टिसे प्रथम एक–अद्वितीय-आत्मा ही था ।' (श्रु०) और यह निधन-प्रलयके बाद भी नहीं रहेगा । श्लोकमें 'भविष्यत्' ऐसा लिखा है, होना चाहिये-भविष्यति । अतः इसमें जो इकार का लोप होगया है, इसे आर्ष यानी ऋषि-प्रयुक्त है, ऐसा समझना चाहिये । अथवा 'भविष्यत्' यह कृदन्तीय–शतृ-प्रत्ययान्तका रूप है, ऐसा जानना चाहिये । अतएव ऋग्वेद-संहिताकी यह प्रसिद्ध-श्रुति भी-इस जगत्को प्रथम यानी प्रलय दशामें भी पारमार्थिक-सत्य नहीं था, किन्तु सद् एवं असद् से विलक्षण–अनिर्वचनीय था, ऐसा कहती है कि—'वह जगत्का परिणामी-उपादान कारणरूप तमः (अज्ञान) अपने कार्य जगत्के साथ सत् भी नहीं था, एवं असत् भी

रापि विभातीति अनुमितं=तर्कितमित्यन्वयः । यत एवमतः श्रुत्या द्रविण जातिविकल्पपथैः=द्रविणजातीनां—द्रव्यमात्राणां मृल्लोहमणिकार्ष्णायसरूपाणां विकल्पाः = भेदाः घटकुण्डलादयः, तेषां पन्थानः=मार्गाः—प्रकाराः तैरुपमीयते सदृशतया निरूप्यते । यथा तत्र कार्याकाराणां नामधेयमात्रता, कारणं-मृदाद्येव तु सत्यं, तथाऽत्राप्याकाशादीनां नाममात्रता, ब्रह्मैव सत्यं । तथा च श्रुतिः—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छां० उ० ६।१।४) इत्यादि । तथा च 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।' (मा० गौडपादकारिका) इति परमाचार्योक्त्या मध्ये—केवले त्वय्यधिष्ठाने मृत्सुवर्णादौ घटकुण्डला-

---

नहीं था, उस समय यानी प्रलयके समय ।' (श्रु०) इस हेतुसे यानी आदि-अन्तमें शून्यत्वरूप हेतुसे यह जगत्, मध्यमें भी एकरस-तुझ-परमात्मामें मिथ्या ही प्रतीत होता है, ऐसा निश्चित है । अथवा यह बीचमें ही आगे-पीछे नहीं, प्रतीत होता है, ऐसा प्रत्यक्षसे नहीं, किन्तु अनुमानसे-तर्कसे सिर्फ जाना जाता है । अर्थात् मध्यमें भी कोई भी कार्य संपूर्ण रूपसे प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु आंशिकरूपसे ही प्रत्यक्ष होता है, इस आंशिक प्रत्यक्षके द्वारा-उसके संपूर्णरूप का तो केवल-अनुमानसे ही निश्चय किया जाता है । जब इस जगत्के विषयमें ऐसा निर्णय हो गया है, इसलिये श्रुति-भगवती भी-मृत्तिका, सुवर्ण, एवं लोहारूप-द्रव्य जातिके विकल्परूप-घटकुण्डलादिके प्रकारोंकी उपमा इस जगत्में देकर—तत्सदृश रूपसे यानी मिथ्यात्वरूपसे निरूपण करती है । लोहमणि यानी स्वर्ण, संस्कृत-साहित्यमें लोहा-ताम्बा-पित्तल आदि सभी धातुओंको लोह नामसे कहा जाता है, इसमें मणि यानी श्रेष्ठ सुवर्ण ही होता है । कार्ष्णायस यानी काले रंग का आयस—लोहा । विकल्प यानी भेद-पृथक्ता, जो वास्तविक नहीं है-वस्तुशून्य है, तथापि -भ्रान्तिसे प्रतीत होता है । अर्थात् समस्त कार्य विकल्परूप ही होता है, वह अपने कारण द्रव्यसे पृथक्-भिन्न न होने पर भी पृथक् रूपसे प्रतीत होता है । जैसे वहाँ कार्याकार-घटादि नाममात्रके हैं, और कारणरूप मृत्तिकाआदि ही सत्य हैं, वैसे यहाँ पर भी आकाशादि-जगत् नाममात्रका है, वास्तविक नहीं है, और एकमात्र ब्रह्महो परमार्थ सत्य है । इस बातको श्रुति-भगवती ही दृष्टान्तके द्वारा सिद्ध करती है कि—'हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्डसे समस्त कार्यवर्ग, मृन्मयरूपसे तदभिन्न रूपसे विज्ञात हो जाता है, विकार यानी कार्यवर्ग तो वाणीका विलासमात्र है, कहने भर का है, वास्तविक नहीं है, मृत्तिकाही वास्तविक सत्य है ।' (श्रु०) इत्यादि । इसप्रकार श्रीगौडपादाचार्य भी माण्डूक्योपनिषत् की गौडपाद-कारिकामें कहते हैं कि—'जो पदार्थ, आदि और अन्तमें नहीं होता, समझो कि—वह मध्यमें भी प्रतीयमान होनेपर भी अविद्यमान ही है ।' (मा०का०) इस परमाचार्यके कथनसे भी यह निश्चित हो

दिवत्प्रतीयमानमप्याकाशादि जगत् नाममात्रं मिथ्यैव, मृदादिवद् ब्रह्मैव सत्यमिति निश्चितम् । तस्मादस्य नामरूपात्मकस्य जगतः सत्त्वे प्रमाणाभावात्, असत्त्वे च प्रमाणस्य विद्यमानत्वात्, वितथं = मिथ्याभूतं, मनोविलासं = मनःकल्पनोद्भासितं, इदं = जगत्, ये ऋतं = सत्यमिति—अवयन्ति=जानन्ति, ते अबुधाः = अज्ञा एव ज्ञेयाः इत्यर्थः। अत्रैवं प्रयोगः—विवादाध्यासितं जगत् न सत्, आद्यन्तयोरविद्यमानत्वात्, विकारित्वात्—दृश्यत्वाच्च शुक्तिरजतादिवदित्यन्वये दृष्टान्तः । आत्मवच्चेति व्यतिरेके दृष्टान्तः ।

यस्तु कश्चित् कार्यसत्यत्ववादी—'यदिदमग्रे न आस, अनु च न भविष्यत्, किन्तु अन्तरा=मध्य एव, मृषति=एवं सृजामीत्यादि-संकल्पं करोतीति स मृषः, स चासावेकरसश्च तस्मिंस्त्वयि मितं निश्चितं—सत्यं विभाति । किञ्च इदं सत्यमपि नित्यं नास्ति, अतो द्रविणजातिविकल्पपथैः= घटकुण्डलादिप्रकारैः सत्यत्वेनैव उपमीयते, न तु रज्जुसर्पादिप्रकारैर्मिथ्यात्वेन । अतः ऋतं—सत्यमिदं विश्वं वितथं मनोविलासं ये वदन्ति, ते अबुधाः

गया है कि— मध्यमें भी केवल-तुच्छ अधिष्ठानमें प्रतीयमान, यह आकाशादि-प्रपञ्च, मृत्सुवर्णादिमें प्रतीयमान-घट कुण्डलादिके समान, नाममात्र है, मृदादिके समान एकमात्र-ब्रह्म ही सत्य है । इसलिये इस नामरूपात्मक-जगत्की सत्यतामें कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत उसकी असत्यतामें प्रमाण विद्यमान है, अतः यह जगत् मिथ्याभूत है, मन की कल्पनासे ही समुद्भूत है, अतः इस जगत्को जो परमार्थ-सत्य समझते हैं, वे अज्ञ हैं–मूढ हैं, ऐसा जानना चाहिये । यहाँ ऐसा अनुमान-प्रयोग है—विवादास्पद यह जगत्, सत्य नहीं है, क्योंकि–यह आदि एवं अन्तमें अविद्यमान है, विकारी है, एवं दृश्य है, जैसे शुक्तिरजतादि, यह अन्वयी दृष्टान्त है । व्यतिरेकी दृष्टान्तमें जैसे आत्मा । अर्थात् व्यतिरेकी दृष्टान्तमें हेतुके अभाव से साध्य का अभाव माना जाता है, आत्मा सदा विद्यमान है, अविकारी है, एवं द्रष्टा है, इसलिये वह असत्य नहीं किन्तु सत्य है ।

कोई कार्यसत्यत्ववादी अर्थात् कार्य भी सत्य ही है-मिथ्या नहीं, ऐसामाननेवाला पण्डित, पूर्वोक्त श्लोक की ऐसी मन-गढन्त व्याख्या करता है कि—'यह जगत् प्रथम नहीं था, आगे भी नहीं रहेगा, किन्तु मध्यमें-परमेश्वर—मृषति यानी मैं इसका सर्जन करता हूँ, ऐसा जो संकल्प करता है-वह मृष है, और वही एकरस है, उस तुच्छ परमेश्वर में यह जगत् मित यानी निश्चित—अर्थात् सत्य ही प्रतीत हो रहा है । और यह सत्य होनेपर भी शाश्वत–नित्य नहीं है, इसलिए इसकी उपमा, घट-कुण्डलादि–प्रकारोंके द्वारा सत्यरूप से दी जाती है, न कि—रज्जुसर्पादिके द्वारा मिथ्यारूपसे । अतः इस जगत् को जो मिथ्या—मनोविलासमात्र कहते हैं, वे अबुद्ध यानी अज्ञानी हैं ।'

इति व्याचष्टे । तत्तु सर्वथैव तुच्छम् । 'मृत्तिकेत्येव सत्यमिति' श्रुत्या कारण-द्रव्यस्यैव सत्यत्वप्रतिपादनात् विकारस्य कार्यवर्गस्य च वाचारम्भणता कथनेन मिथ्यात्वकथनाच्च तद्व्याख्यानं श्रुतिविरुद्धतया हेयम् । अपि च स्वयं भगवता बादरायणेनापि—भागवते दशमेऽपि—द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्र-मेव सत्यं, न विकारा सत्या इति स्पष्टतया प्रत्यपादि—तथाहि—'नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरम् । यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम् ॥ सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः । त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमा-यया ॥ तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वयि विकल्पिताः । त्वं चामीषु विकारेषु ह्यन्यदाऽव्यवहारिकः ॥' (भा० १०।८५।१२-१३-१४) इति । अयमर्थः— इह प्रपञ्चे नश्वरेषु भावेषु = पदार्थेषु यत्तेषां परमार्थसत्यभूतमनश्वरमवशिष्य-

---

ऐसा व्याख्यान सर्वथा तुच्छ है । 'एकमात्र मृत्तिका ही सत्य है' (श्रु०) इस श्रुतिने कारण-द्रव्यका ही सत्यरूपसे प्रतिपादन किया है, और विकार-कार्यवर्गमें वाचारम्भणता के कथन द्वारा मिथ्यात्व का ही प्रतिपादन किया है, इसलिये उसका—कार्यकी सत्यताका प्रतिपादन करने वाला व्याख्यान श्रुतिसे विरुद्ध होनेके कारण सर्वथा त्याज्य है । स्पष्ट झलकते हुए अर्थ की उपेक्षाकर खींचातानीसे शब्दोंको तोडमरोड़कर किया हुआ यह व्याख्यान, अयथार्थ है, एवं श्रुति-विरुद्ध है, अतः यह नितान्त उपेक्ष-णीय है । दूसरी बात यह है कि—भगवान्-बादरायण-व्यास ने भी—स्वयं-भागवतके दशम स्कन्धमें—द्रव्यके विकारों (परिणामभूतकार्यों) में कारणभूत द्रव्य ही सत्य है, विकार सत्य नहीं है' ऐसा स्पष्टरूपसे कहा है कि—'हे भगवन् ! जैसे मिट्टी आदि-वस्तुओंके विकार घडा वृक्ष आदियोंमें मिट्टी निरन्तर—अनुगतरूपसे वर्तमान है, और वास्तवमें वे विकार-वर्ग कारण-मृत्तिकारूप ही हैं, उससे व्यतिरिक्त सिद्ध नहीं होते हैं। उसी प्रकार जितने भी विनाशी कार्य पदार्थ हैं, उन सबमें तुम कारणरूपसे अविनाशी-तत्त्व हो । वास्तवमें वे सब चराचर पदार्थ, तुम्हारे ही स्वरूप हैं, तुमसे वे व्यतिरिक्त सिद्ध नहीं हो सकते हैं। हे प्रभो ! सत्त्व रज और तम ये तीनों गुण और उनकी वृत्तियाँ (परिणाम) महत्तत्त्वादि परब्रह्म—परमात्मस्वरूप तुममें योगमाया द्वारा कल्पित हैं । इसलिये ये जितने भी जन्म, अस्ति, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय आदि विकार वाले जो भाव (पदार्थ) हैं, वे सब सत्य नहीं हैं, आपमें इनका सर्वथा वस्तुतः प्रतिषेध है । तथापि जब वे तुझ अधिष्ठान ब्रह्ममें माया द्वारा विकल्पित होते हैं, यानी तुममें इनकी कल्पना की जाती है, तब तुम इन—विकारोंमें अधिष्ठानरूपसे अनुगत-हुए जान पड़ते हो । ब्रह्मविद्या द्वारा जब कल्पनाकी निवृत्ति हो जाती है, तब एकमात्र आपही अव्यावहारिक = निर्विकल्प-निर्विशेष-परमार्थस्वरूपसे परिशिष्ट रह जाते हो, अर्थात् कल्पित—द्वैतप्रपञ्चका सर्वथा बाध हो जाता है ।' (भा०) यह भावार्थ है—इस प्रपञ्चके

माणं रूपमस्ति, तत्त्वमेवासि, नान्यत् । यथा द्रव्यस्य=मृत्सुवर्णादेः विकारेषु= कार्येषु—घटकुण्डलादिषु नश्वरेष्वपि द्रव्यमात्रं मृत्सुवर्णादिरूपमनश्वरमेव सत्यतया निरूपितं भवति, न विकाराः सत्यतयाऽनश्वरतया च निरूपिता भवन्ति । सत्त्वादयः=प्रकृतिगुणाः, गुणकार्यभूता देहेन्द्रियान्तःकरणादयो, याश्च तेषां वृत्तयः=सुखदुःखरागलोभादयः । यद्वा तद्वृत्तयः—तत्परिणामाश्च महदादयः । ते योगमायया=आत्माज्ञानेन अद्धा=साक्षात् परे ब्रह्मणि त्वयि कल्पिताः, अहं मनुष्यो दुःख्यहं सुख्यहं शृणोम्यहमिति त्वदंशभूते जीवात्मन्यपि आरोपिताः । यर्हि=यस्मात् त्वयि कल्पिता एव तस्मादमी भावाः कार्यरूपा विकाराः न सन्त्येव, सत्याः=अबाधिताः नैव सन्ति । यदा च त्वममीषु विकारेषु स्थितःकारणात्मनाऽधिष्ठानात्मना च तदैव त्वयि सत्यतया प्रतीयन्ते, अन्यदा यदा सुषुप्त्यादौ देहादयो भावाः विलीना भवन्ति, तदा तु त्वं, अव्यावहारिकः=शुद्ध एव निर्विशेषः सन् प्रतीयसे, यद्वा अन्यदा=ज्ञानावस्थायां समाधौ अव्यावहारिकः=सर्वव्यवहारातीतोऽविकल्पो जीवेश्वरादिविकल्परहितः सन् अवशिष्यते । अतस्ते विकारा आरोपिता असत्या एव त्वयि प्रतीयन्ते, वस्तुतो न सन्त्येवेत्यर्थः ।

नश्वर-पदार्थोंमें अनश्वर—परमार्थ सत्य, निषेधके बाद जो अवशिष्यमाण है—वह तुम ही हो, अन्य नहीं । जैसे घट—कुण्डलादि—कार्य वर्ग, नश्वर—बाधित होनेपर भी उनमें मृत्सुवर्णादि—कारण द्रव्य ही अनश्वररूपसे अनुगत रहता है, अतः वही सत्यरूपसे निरूपित होता है; कार्यवर्ग, सत्य एवं अनश्वररूपसे निरूपित नहीं होता है । प्रकृतिके गुण, सत्त्व रज और तम उनके कार्य देह-इन्द्रिय, अन्तःकरणादि, और उनकी सुख दुःख राग लोभादि वृत्तियाँ । अथवा वृत्तियाँ यानी परिणाम, अर्थात् गुणत्रयके परिणामभूत जो महत्तत्त्व-अहंकारादि हैं, वे सब, योगमाया—यानी आत्माके अज्ञान द्वारा साक्षात् परब्रह्मरूप तुममें कल्पित हैं । 'मैं मनुष्य हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं सुनता हूँ, इत्यादि रूपसे तुम्हारे अंशभूत—जीवात्मामें भी ये आरोपित होजाते हैं । ये सब कार्यरूप—विकार तुम परमात्मामें कल्पित ही हैं, अतः वे सत्य-अबाधित नहीं हैं, अर्थात् मिथ्या-बाधित ही हैं । जब तुम इन विकारोंमें कारण एवं अधिष्ठानरूपसे स्थित होते हो, तभी ये तुममें सत्यरूपसे प्रतीत होते हैं । अन्य-समयमें यानी सुषुप्त्यादिमें जब देहादि—भाव विलीन हो जाते हैं, तब तो तुम अव्यावहारिक यानी शुद्ध-निर्विशेष ही हुए प्रतीत होते हो; अथवा—अन्य समयमें यानी ज्ञानावस्थारूप-समाधिमें तुम अव्यावहारिक यानी समस्त काल्पनिक-व्यवहारोंसे रहित, अविकल्प यानी जीवेश्वरादि समस्त विकल्पोंसे रहित होकर अवशिष्ट रह जाते हो । इसलिये ये आरोपित-विकार तुममें असत्य ही प्रतीत हो रहे है, वास्तवमें वे सत्य नहीं हैं ।

मितं– निश्चितं—सत्यमिति यद्व्याख्यानं तदपि शब्दमर्यादाविरुद्धं, आद्यन्तयोरभावाद्धेतोः असत्यतया निश्चितमित्यपि व्याख्यातुं शक्यत्वात् । 'ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम् ॥' (भा० ११।१३।३४) इत्यादिना एकादशेऽपि—स्पष्टाक्षरतोऽस्य जगतो मनोविलासतया वितथत्वेन प्रतिपादनात्—इदं सत्यं जगत्—मनोविलासं वितथं—ये जानन्ति, ते अबुधा इति व्याख्यानन्तु श्रीमद्भागवतप्रवक्तुरेव बादरायणमुनेः अबुधत्वं समर्पयति। एतादृशव्याख्यानकर्ता खलु भगवत्स्वरूपभूतस्य श्रीमद्भागवतस्यैव वितथमताभिनिवेशवशाद् प्रवञ्चनां कुर्वन्—भगवत्कृपापात्रतां कथमाप्नुयादिति ? न ज्ञायते, तस्मात्पक्षपातवर्जितैर्विद्वद्वरैरयं दयनीय इति मत्वा उपेक्षणीय इति ।

तथा च मायाऽध्यस्तत्वेन हेतुना स्वप्रजागरितप्रपञ्चयोः तुल्यमेव त्रिकालासत्त्वलक्षणं मिथ्यात्वं विनिश्चीयते ।

अपि च योऽयं वस्तुतः सर्वात्माऽद्वयानन्दनिधिः प्रत्यक् चेतनो महान्–

'मितं = निश्चितं यानी सत्यं' ऐसा जो मित शब्दका सत्य अर्थ किया है, वह भी शब्दकी मर्यादासे विरुद्ध है, अर्थात् मित का अर्थ सत्य कहीं भी नहीं किया जाता, और आदि-अन्तमें अभावरूप हेतुसे वह द्वैत-प्रपञ्च असत्यरूपसे मित यानी निश्चित है, ऐसा भी व्याख्यान हो सकता है, और ऐसा व्याख्यान ही पूर्वोक्तके साथ संगत है । अतः सत्यरूपसे निश्चित है, ऐसा व्याख्यान सर्वथा असंगत है, और 'यह जगत् भ्रममात्र है, मनकी कल्पना ही है, दीखने पर भी नष्ट-प्रायः है, अलात–चक्रके समान अविद्यमान है, अत्यन्त चंचल है–यानी आज है कल नहीं है–ऐसा समझे ।' (भा०) इत्यादि–वचनोंके द्वारा–भगवान् बादरायण–मुनिने श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें भी स्पष्ट–अक्षरोंके द्वारा इस जगत्का मनोविलास रूपसे एवं वितथ–मिथ्यारूपसे प्रतिपादन किया है । इसप्रकारके श्रीमद्भागवतके अनेक प्रत्यक्ष वचन रहते हुए भी–'इस सत्य जगत् को जो मनोविलास एवं मिथ्या जानते हैं, वे अज्ञ हैं' ऐसा व्याख्यान तो श्रीमद्भागवतप्रवक्ता–श्रीबादरायणमुनि में ही अज्ञताका आरोप करता है, यानी वेदव्यास को ही मूढ बतलाता है । झूठे–मतावेशके कारण ऐसा विपरीत-व्याख्यान करने वाला मानव, भगवत्स्वरूपभूत-श्रीमद्भागवतकी ही स्वयं प्रवञ्चना (ठगाई) कर रहा है । ऐसा व्याख्याता भगवान्की कृपाका पात्र कैसे बनेगा ? यह कुछ समझमें नहीं आता ।. इसलिए–पक्षपात-वर्जित-विद्वानोंको चाहिए कि—ऐसे मनुष्यको दयनीय समझकर उपेक्षा करें । प्रकृतमें यह सिद्ध हुआ कि—स्वप्न–प्रपञ्चके समान यह जागरित-प्रपञ्चभी मायासे अध्यस्त है, अतः निश्चितरूपसे त्रिकालासत्त्वरूप मिथ्यात्व-दोनोंमें समान ही है ।

और भी—जो यह वास्तविकरूपसे सबका अभिन्न स्वरूप–आत्मा है, अद्वया-

एकोऽपि—एकरूपोऽपि सन् बहुरूपयाऽनिर्वाच्यया मायया कल्पितैर्देहाद्युपाधिभिरनेकोऽनेकरूप इव च विभाव्यमानः, स उपाध्यावृतनिजस्वरूपोऽपि विविधसुखदुःखाहंममाद्याकारवृत्तिभाग्भवति । तस्मान्मुमुक्षुभिर्विमलमतिभिरात्मज्ञानेनाज्ञानाद्युपाध्यावरणं निराकृत्य स्वविशुद्धाद्वयस्वरूपसाक्षात्काराय यत्न आस्थेय इत्युपदिशति भगवान् बादरायणिः—

श्रीशुक उवाच—

'आत्ममायामृते राजन् ! परस्यानुभवात्मनः ।
न घटेतार्थसम्बन्धः, स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा ॥
बहुरूप इवाभाति, मायया बहुरूपया ।
रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते ॥
यर्हि वाव महिम्नि स्वे, परस्मिन् कालमाययोः ।
रमेत गतसम्मोहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम् ॥

(श्रीमद्भा० २।९।१-२-३)

नन्दनिधि है, प्रत्यक् चेतन है, एवं महान् है, वह एक ही रहा हुआ एवं एक ही स्वरूप वाला होता हुआ भी बहुरूपवाली-अनिर्वचनीय-मायाके कारण, कल्पित-देहादि-उपाधियोंसे अनेक-सा एवं अनेकरूप-सा प्रतीत होता है, और अनादि-उपाधियोंसे अपने स्वरूपको आवृत होने के कारण 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, यह मेरा घर है, यह मेरा धन है' इत्यादि विविध-प्रकारकी वृत्तियोंका सेवन करता रहता है । इसलिये-निर्मल-अन्तःकरणवाले-मुमुक्षुओंको चाहिये कि—वे आत्मज्ञानके द्वारा अज्ञानादि—उपाधिके आवरणका निवारण करके अपने विशुद्ध—अद्वय—स्वरूपके साक्षात्कारके लिए प्रयत्न करें, ऐसा भगवान्—बादरायणके पुत्र पूज्य श्रीशुक-मुनि उपदेश कर रहे हैं—

'हे राजन् ! परीक्षित् ! जैसे स्वप्नमें देखे जाने वाले दृश्य-पदार्थोंके साथ उसे देखने वाले—द्रष्टाका कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देहादिसे अतीत-अनुभवस्वरूप—आत्मा का मायाके विना दृश्य—देहादि—पदार्थोंके साथ वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं होसकता । अर्थात् दृश्य एवं द्रष्टाका वास्तविक नहीं किन्तु माया द्वारा आरोपित-सम्बन्ध है । विविधरूपवाली मायाके कारण ही वह आत्मा विविध-रूपवाला सा प्रतीत होता है, और जब उसके गुणोंमें रमण करता है, अभिनिवेश रखता है, तब 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है' इसप्रकार मानने लगता है । किन्तु जब यह गुणोंको क्षुब्ध करने वाला-काल, और मोह उत्पन्न करने वाली माया-इन दोनोंसे पर-अतीत अपनी अनन्त महिमामें मोहरहित होकर रमण करने लगता है—स्वात्माराम हो जाता है,

आत्मनः = हरेः मायामन्तरेण, अनुभवरूपस्य = ज्ञानस्वरूपस्य चिदात्मनः परस्य = देहादिभ्योऽतीतस्य अर्थेन दृश्येन ज्ञेयेन—देहादिना द्वैतप्रपञ्चेन सम्बन्धोऽञ्जसा = तत्त्वतो न घटेत—न संगच्छेत। स्वप्नद्रष्टुर्यथा स्वप्नदेहादिप्रपञ्चेन सह सम्बन्धस्तत्त्वतो न घटेत, तद्वत्। यथा निद्रारूपया माययैव स्वप्नद्रष्टुर्जीवात्मनः स्वाप्नदेहादिप्रपञ्चेन साकं सम्बन्धः आध्यासिको भवति, न वास्तविकः, तथा आत्ममाययैव = आत्माज्ञानेनैव जागरिते देहादिद्वैतप्रपञ्चेन सह काल्पनिक एव सम्बन्धो भवति, न पारमार्थिकः। पारमार्थिकसम्बन्धाभ्युपगमे हि तत्त्वज्ञानेन तस्योच्छेदाभावप्रसङ्गात्। द्वैतप्रतिभासरूपः संसारोऽपि माययैव कल्पितो न वास्तविक इत्याह—बहुरूपया = त्रिगुणमय्या, मायया बहुरूपः = बालयुवादिरूपो देवदेवीनरनार्यादिरूपश्चाभाति। अस्याः = मायायाः गुणेषु—सत्त्वादिषु—यद्वा गुणकार्येषु देहादिषु रममाणः = तत्तादात्म्यापन्नः सन् ममाहमिति मन्यते। अत एव ज्ञानमयेन भक्तियोगेन तन्निरासे सति स्वस्वरूपावस्थानलक्षणो मोक्षोऽपि घटत इत्याह—यर्हीति। वावशब्द एवार्थे। स्व एव महिम्नि—प्रत्यगभिन्ना-

तब मैं और मेरा का मिथ्या भाव छोड़कर यह पूर्ण—उदासीन गुणातीत होजाता है।'

आत्मस्वरूप—श्रीहरिकी मायाके विना ज्ञानस्वरूप—चिदात्मा—जो देहादिसे परे है, उसका देहादि द्वैत-प्रपञ्चके साथ—जो दृश्य एवं ज्ञेय है—वास्तविक—सम्बन्ध नहीं होसकता। जैसे स्वप्न देखने वालेका स्वप्नमें देखे जाने वाले—देहादि—गेहादि—द्वैत-प्रपञ्च के साथ वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता। जिसप्रकार निद्रारूप-मायाके कारणही स्वप्न देखने वाले—जीवात्माका स्वप्नमें देखे जाने वाले-देहादि-द्वैतप्रपञ्चके साथ आध्यासिक-सम्बन्ध होता है, वास्तविक नहीं। उसी प्रकार अपने आत्माके अज्ञानके कारणही जाग्रदवस्थामें उसका देहादि—द्वैत-प्रपञ्चके साथ काल्पनिक ही सम्बन्ध होता है, पारमार्थिक नहीं। क्योंकि—यदि द्रष्टा एवं दृश्यके सम्बन्धको पारमार्थिक माना जाय तो, तत्त्वज्ञानसे उसका उच्छेद नहीं हो सकेगा। अब द्वैतरूपसे प्रतीयमान संसार भी माया द्वारा ही कल्पित है, वास्तविक नहीं है, ऐसा कहते हैं—बहुरूपवाली—त्रिगुणमयी माया के द्वारा वह बहुरूपवाला यानी बाल, युवा, देव, देवी, नर, नारी आदि विविधरूपवाला-सा हुआ प्रतीत होता है। तब वह इस मायाके सत्त्वादि-गुणोंमें अथवा गुणोंके कार्य देहादियोंमें तादात्म्यापन्न होकर 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है' ऐसा मानने लग जाता है। अतएव ज्ञानमय—भक्तियोगके द्वारा उस अज्ञानरूप—मायाका विनाश हो जाने पर स्वस्वरूपमें अवस्थानरूप-मोक्ष भी सहजमें प्राप्त होजाता है, ऐसा कहते हैं—यर्हीति—वाव शब्दका एव अर्थ है, एव यानी ही। यर्हि = जब, अपनी ही महिमामें अर्थात् प्रत्यगात्मासे अभिन्न—अद्वय ब्रह्मस्वरूपमें वह रमण करता है, यानी देहभाव एवं जीवभावको

द्वयब्रह्मस्वरूपे, यदा रमेत—देहभावं जीवभावञ्च त्यक्त्वा परमानन्दपूर्णं ब्रह्मभावं सम्पाद्येत। तदेवाह—कालमाययोः=कामकर्मप्रयोजकस्य कालस्य चिज्जडग्रन्थिरूपस्य, मायायाः=मूलाविद्यायाः च परस्मिन्—नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वरूपे। यदा तत्त्वज्ञानेन गतसंमोहो भवति, तदा उभयं अहंममेति च त्यक्त्वा उदास्ते—उत्—ऊर्ध्वं—पूर्णब्रह्मरूपेणावतिष्ठते। तदुक्तं—'यया संमोहितो जीवः आत्मानं त्रिगुणात्मकम्। परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्—कृतं चाभिपद्यते॥ अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे॥' (भा० १।७।५) इति। अयमर्थः—यया=मायया आवरणविक्षेपशक्तिमत्या, संमोहितः=स्वरूपावरणेन विक्षिप्तः, परोऽपि=गुणत्रयाद्यतिरिक्तोऽपि, तत्कृतं=त्रिगुणत्वाभिमान-कृतं, अनर्थं=कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं, प्राप्नोति। अनर्थं—उपशमयति यः—अधोक्षजे परात्मनि साक्षाद्भक्तियोगः। एतदुक्तं भवति—विद्याशक्त्या मायानियन्ता नित्याविर्भूतपरमानन्दस्वरूपः सर्वज्ञो विश्वपतिः सर्वशक्तिरीश्वरः, तन्मायया संमोहितः तिरोभूतस्वरूपः तद्विपरीतधर्मा जीवः, तस्य चेश्वरभक्त्या लब्धस्वस्वरूपज्ञानेन मोक्षः। स्वस्वरूपावस्थानमेव मोक्षस्वरूपं नान्यदिति

छोड़कर परमानन्द-पूर्ण-ब्रह्मभाव को प्राप्तकर लेता है। इस बातको शब्दान्तरसे कहते हैं—तत्त्वज्ञानसे अज्ञानका नाशकर, जब काम और कर्मका प्रयोजक कालसे—जो चेतन अचेतनकी ग्रन्थिरूप है, और मूलाविद्यासे—पर नित्य शुद्ध बुद्ध-मुक्त-स्वरूपमें अवस्थित रहता है, तब 'मैं और मेरा' ये दोनों छोड़कर उदासीन हो जाता है। अर्थात् पर ब्रह्मरूपसे स्थित हो जाता है।

यह अन्यत्र श्रीमद्भागवतमें कहा भी है—'जिस मायासे संमोहित होकर यह जीवात्मा, वस्तुतः तीनों गुणोंसे पर होनेपर भी अपनेको त्रिगुणात्मक मान लेता है, और इस मिथ्या-मान्यता के कारण होने वाले अनर्थों को भोगता है। इन अनर्थों की शान्तिका साक्षात् उपाय है—एकमात्र अधोक्षज-भगवान्का भक्तियोग।' (भा०) यह अर्थ है—विक्षेप-एवं आवरण-शक्तिवाली जिस मायासे संमोहित होकर यानी अपने स्वस्वरूपके आवरण द्वारा विक्षिप्त-सा हुआ, तीन गुणोंसे पर-अतिरिक्त रहता हुआ भी, वह उस त्रिगुणत्वके अभिमानके कारण होने वाले—कर्तृत्व भोक्तृत्वादिरूप—अनर्थोंको प्राप्त हो जाता है। उन अनर्थोंको वही उपशमन करता है, जो अधोक्षज (इन्द्रिय जन्य-मिथ्याज्ञानका तिरस्कार करने वाला) परमात्मा का साक्षात्-अनन्य-भक्तियोग। यहाँ यह तात्पर्य कहा गया है कि-विद्याशक्तिके द्वारा मायाका नियमन करने वाला, निरन्तर आविर्भूत (प्रकट) परमानन्द स्वरूपवाला सर्वज्ञ, विश्वपति सर्वशक्तिमान्-ईश्वर है, और उस मायासे संमोहित-समावृतस्वरूपवाला, ईश्वर से विरुद्ध (अल्पज्ञत्व अल्पशक्तिमत्त्वादि) धर्मवाला जीवात्मा है, ईश्वर-भगवान् की भक्तिके द्वारा ईश्वर कृपासे इस जीवात्माको

स्पष्टमाह-द्वितीयेऽपि ब्रह्मविद्वरो महर्षिः श्रीशुकः-'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।' (भा० २।१०।६) इति। अन्यथा रूपं=अविद्याऽध्यस्तं कर्तृत्वादिरूपं-देहभावजीवभावात्मकं-ब्रह्मविद्ययाऽर्थात् हित्वा=त्यक्त्वा स्वरूपेण-ब्रह्मतया व्यवस्थितिर्मुक्तिः। अविद्याऽध्यारोपितमेवान्यथारूपं, स्वस्वरूपाद्वैलक्षण्यं भवति, अत एव तस्य विद्यया अविद्यायाः बाधे सत्येव हानं भवति, निमित्तापाये नैमित्तिकस्य स्वतोऽपायात्। यद्यपि अविद्याऽवस्थायामपि सर्वेषां जीवानां ब्रह्मस्वरूपावस्थितिः स्वाभाविकतयाऽस्त्येव, परन्तु विद्ययाऽविद्याबाधे तदध्यारोपितान्यथारूपस्य च हाने सति—विशेषतः अनावृतस्वस्वरूपावस्थितिरूपा मुक्तिः सिद्ध्यतीति बोधनाय वीति विशेषणम्; इत्यनाविलं सर्वम्।

अपने स्वस्वरूपका भगवत्तत्त्वका ज्ञान उपलब्ध होता है, और ज्ञानसे वह मोक्ष प्राप्त करता है। स्वस्वरूपमें अवस्थित होना ही मोक्षका स्वरूप है, ऐसा ब्रह्मविद्वर्य-महर्षि-श्रीशुक-मुनि द्वितीयस्कन्धमें स्वयं कहते हैं कि—'अज्ञान—कल्पित—अन्यथाभाव यानी कर्तृत्व भोक्तृत्वादि-विपरीत—अनात्मभावका परित्याग करके अपने वास्तविक-स्वस्वरूपमें स्थित होना मुक्ति है।' (भा०) अन्यथारूप यानी कर्तृत्व—भोक्तृत्वाहंममादिरूप जो देहभाव एवं जीवभावात्मक है, अतएव वह अविद्यासे आरोपित है, वह अपने स्वस्वरूपके यथार्थ-भाव से नितान्त विलक्षण है। ब्रह्मविद्यासे अविद्याका बाध होनेपर ही उस अविद्याऽध्यारोपित—अन्यथा-रूपका नाश हो जाता है। क्योंकि—निमित्त—कारणके नाशसे नैमित्तिक—कार्यका भी अर्थात् नाश हो ही जाता है। यद्यपि—अविद्याऽवस्था-में भी स्वाभाविकरूपसे सब जीवोंकी भी ब्रह्मस्वरूपमें स्थिति है ही, तो भी विद्यासे अविद्याका बाध होजानेपर उससे आरोपित—अन्यथा रूपका विनाश होनेपर ही विशेषतः स्पष्टरूपसे अनावृत—स्वस्वरूपमें अवस्थितिरूप—मुक्ति सिद्ध होती है, यह बतलानेके लिए—वि + अवस्थिति, व्यवस्थितिमें 'वि' विशेषण दिया है। यह सब निर्दोष है।

* *

*

(१३)

(चतुःश्लोकी–भागवतं–चतुर्भिःश्लोकैः श्रीमद्भागवतस्य सिद्धान्तानां संक्षेपतो वर्णनम्)

'यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।' (भा० ८।३।३) 'स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः। आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति च पाति च ॥' (भा० २।६।३८) इत्यादिना यत्किल सर्वविश्वोत्पत्तिस्थितिलयाधारभूतं तत्त्वमुक्तं, तस्यैव सर्वेण सहानन्यताऽभिहिता श्रुत्यादिभिर्युक्त्यादिभिश्च। अनन्यता हि न स्वरूपैक्यं, येन जडाजडत्वविरोधः स्यात्। किन्तु शुक्तिरजतयोरिव तद्व्यतिरेकेणासत्त्वम्। यथोक्तमारम्भणाधिकरणभाष्ये भगवत्पादेन— 'अनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः' इति। उक्तं च वाचस्पत्ये तद्व्याख्याने—'अनन्यत्वमिति भेदं व्यासेधामः, न त्वभेदं ब्रूमः' इति। न च भेदनिषेधस्याभेदव्याप्तत्वात्तस्मिन्सत्यभेदोऽपि स्यादेवेति वाच्यम्। शुक्तिरजतादिस्थले तद्व्यति-

(१३)

(चतुः श्लोकी—भागवत, चार श्लोकोंके द्वारा श्रीमद्भागवतके सिद्धान्तोंका संक्षेपसे वर्णन)

'यह समग्र जगत् उस परमात्मामें ही स्थित है, उससे ही इस जगत्की प्रतीति हो रही है, उससे ही यह व्याप्त है, और स्वयं वही इस विश्वरूपमें प्रकट हो रहा है।' (भा०) 'वही यह अजन्मा आद्य-पुरुषोत्तम है, प्रत्येक कल्पमें वह स्वयं अपने आपमें अपने आपसे अपने आपकी सृष्टि करता है, रक्षा करता है, और संहार करता है।' (भा०) इत्यादि—भागवतके वचनोंने जिसतत्त्वको समस्त जगत्की उत्पत्ति स्थिति, और प्रलयका आधार बतलाया है, उसीके साथ समग्रविश्वकी अनन्यता यानी अभिन्नता श्रुत्यादि और युक्त्यादियोंसे बतलाई गई है। अनन्यता यानी स्वरूपकी एकता नहीं है, क्योंकि—ऐसा माननेपर जडत्व, और चेतनत्वका विरोध होजाता है, अतः जड एवं चेतन की एकता नहीं हो सकती। इसलिये शुक्ति—रजतादिके समान अधिष्ठानकी सत्ता से आरोपितकी पृथक् सत्ताका न होना ही अनन्यता है। ऐसा ही ब्रह्मसूत्रके आरंभणाधिकरण-भाष्यमें भगवत्पाद-आचार्य श्रीशंकर स्वामीने भी कहा है कि—अनन्यता माने अधिष्ठानसे आरोपितको व्यतिरिक्त करनेपर उसका अभाव होजाना। उस शांकर-भाष्यकी अपनी भामती टीकामें स्वयं वाचस्पति मिश्रने भी इसका ऐसा समर्थन किया है कि—'अनन्यत्व' पदसे हम भेदका निषेध करते हैं, न कि—जड-चेतनका विश्व एवं ब्रह्मका परस्पर अभेद बतलाते हैं।

शंका—जहाँ भेद नहीं है, वहाँ अभेद है, इसप्रकार भेदका निषेध अभेदसे

रेकेणासत्स्वरूपे भेदनिषेधे सत्यपि तदभेदाभावेन तस्याभेदव्याप्त्यसिद्धेः। सत्येवं 'न तु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० उ० ४।३।२३) 'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।' (मां० उ० कारिका) 'सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं चैतन्यं सर्वगं शिवम्। तदेवेदमिदं विश्वं तस्मादन्यन्न विद्यते॥ तत्स्वरूपातिरेकेण न किञ्चिदिह विद्यते॥' इत्याद्याः श्रुतिस्मृत्यादिवादा अपि सर्वभेदाभाव एव सर्वत्वमनन्यत्वमिति स्पष्टतया प्रतिपादयन्ति। 'यद्धि यत्रोत्पद्य स्थित्वा लीयते तत्ततो नातिरिक्तम्' इत्याद्या युक्तयोऽपीममेवार्थं समर्थयन्ति। एवमिममेव सिद्धान्तमभिप्रेत्य श्रीमद्भागवतेऽपि दशमेऽभिहितं—'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभं' (भा० १०।१४।२२) इति। तदधिष्ठानभूतब्रह्मव्यतिरेकेणासत्स्वरूपमित्यर्थः स्वप्नाभं=स्वप्नदृश्यप्रपञ्चसदृशं। यथा स्वप्नदृश्यप्रपञ्चस्तद्—द्रष्टुर्नातिरिच्यते, तथाऽयमपि। तथा च काल्पनिकस्य भेदस्य निषेधे सति पारमार्थिकमद्वयमेव पूर्णं तत्त्वमवशिष्यते।

व्याप्त है, अतः भेदका निषेध करनेपर अर्थात् अभेद ही सिद्ध हो जायगा।

समाधान—शुक्ति-रजतादि स्थलमें शुक्तिसे पृथक् रजत नहीं है, ऐसा भेदका निषेध होनेपर भी शुक्ति एवं रजत का अभेद नहीं है, अतः पूर्वोक्त-भेद निषेधके साथ अभेद की व्याप्ति असिद्ध है।

ऐसा निर्णय होजानेपर—'उस ब्रह्मसे अन्य—दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो उससे अन्य पृथक् पदार्थ को देखे, अर्थात् सर्वत्र वही वह है, तदन्य कोई भी पदार्थ नहीं है, जो द्रष्टव्य बने।' (उ०) 'यह द्वैत-प्रपञ्च मायामात्र है, परमार्थसे तो अद्वैत ही है।' (उ०) 'समस्त-उपाधियोंसे रहित, कल्याण स्वरूप—चैतन्य, जो सर्वव्यापी है, वही यह विश्व है, उससे अन्य कुछ भी नहीं है; इसलिए उस सदाशिव के स्वरूपसे अतिरिक्त-यहाँ विश्वमें कुछ भी नहीं है।' (स्मृ०) इत्यादि श्रुति—स्मृतियों के वचन स्पष्ट रूपसे यही प्रतिपादन करते हैं कि—समस्त—भेदोंका अभाव ही सर्वत्व है एवं अनन्यत्व है।

'जो पदार्थ जिससे जिसमें उत्पन्न होता है, जिसमें स्थित एवं विलीन होता है, वह उससे अतिरिक्त नहीं होता।' इत्यादि युक्तियाँ भी इसी बातका समर्थन करती हैं। इसीप्रकार इस सिद्धान्तको ही अभिप्रेत करके श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धमें भी कहा है—'इसलिये यह समस्त जगत् स्वप्नके समान असत् है।' (भा०) इसका यह भाव है कि—जगत्के अधिष्ठानरूप-ब्रह्मसे अतिरिक्त, जगत्का स्वरूप सत् नहीं है। क्योंकि-यह स्वप्न—दृश्य-प्रपञ्चके समान है, जैसे स्वप्न-प्रपञ्च उसके द्रष्टासे अतिरिक्त नहीं है, वैसे यह भी। अतः यह सिद्ध हुआ कि—काल्पनिक-भेदका निषेध होजानेपर पारमार्थिक-अद्वय-पूर्णतत्त्व ही परिशिष्ट (बाकी) रह जाता है।

अपि च योऽयं जगद्ब्रह्मणोः कार्यकारणभावो निरूप्यते, सोऽपि न वास्तविकः, वस्तुतो मायैव जगतः कारणं, न मूलतत्त्वं पूर्णाद्वयं, तस्य त्वधिष्ठानत्वमात्रेण कारणत्वोपचार एव प्रतिपाद्यते। यदाहुः आचार्यप्रवरा अपि—'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य,' यदुपादानकारणम्। अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते॥ ब्रह्माज्ञानाज्जगज्जन्म, ब्रह्मणोऽकारणत्वतः। अधिष्ठानत्वमात्रेण कारणं ब्रह्म गीयते॥ अविद्यायोनयो भावाः सर्वेऽमी बुद्बुदा इव। क्षणमुद्भूय गच्छन्ति, ज्ञानैकजलधौ लयम्॥ निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वप्न-कारिणी। ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी॥ स्वप्ने वियद्गतिं पश्येद् स्वमूर्धच्छेदनं यथा। मुहूर्ते वत्सरौघञ्च मृतपुत्रादिकं पुनः॥ इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा। यथा यथेदयते यद्यद् तत्तद्युक्तं तथा तथा। ईदृशो महिमा दृश्यो निद्राशक्तेर्यदा तदा। मायाशक्तेरचिन्त्योऽयं महिमेति किमद्भुतम्॥ शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत्। ब्रह्मण्येवं निर्विकारे

और भी एक बात यह है कि—जगत् और ब्रह्मका जो यह कार्यकारण-भाव निरूपित किया जाता है, वह भी वास्तविक नहीं है, वस्तुतः माया ही जगत्का कारण है, मूलतत्त्व पूर्ण-अद्वय-ब्रह्म उसका कारण नहीं है। मायाकी अधिष्ठानता होने मात्रसे ही उसमें कारणताका उपचार ही प्रतिपादित होता है। अर्थात् ब्रह्ममें जगत्की मुख्य-कारणता नहीं है, मुख्य-कारणता मायामें है, और माया द्वारा तदधिष्ठान-भूत-ब्रह्ममें जगत्—कारणताका आरोप किया जाता है, इस लिये ब्रह्ममें आरोपित-गौण कारणता है। इस बातको हमारे पूज्य आचार्य वर्ग भी कहते हैं-कि—'इस द्वैत-प्रपञ्चरूपी इन्द्रजालका परिणामी-उपादान-कारण अज्ञान ही है, उसका उपाश्रय (अधिष्ठान) होनेसे ब्रह्म भी कारण कहलाता है। ब्रह्म वस्तुतः जगत्का कारण नहीं है, किन्तु ब्रह्माश्रित—अज्ञानसे ही जगत् की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म केवल अधिष्ठान है। बस इतनेसे ही वह कारण कहा जाता है। समस्त भावपदार्थ, अविद्यासे ही उत्पन्न हुए हैं। और वे सब बुद्बुदोंके समान क्षणमें ही उत्पन्न होकर ज्ञानरूपी-सागरमें विलीन हो जाते हैं। जीवमें स्थित निद्राशक्ति जैसे स्वप्नके नानाविध—दुर्घट-पदार्थोंका सर्जन करती है, वैसे ही ब्रह्ममें स्थित मायाशक्ति इस दृश्यमान-द्वैतप्रपञ्चका सर्जन, रक्षण एवं संहार करती है। स्वप्नावस्थामें जैसे—आकाशमें विचरना, अपने शिरका छेदन देखना, मुहूर्तरूप-अत्यल्प समयमें अनेक-वर्षोंका बीत जाना समझना, तथा मरे हुए—पुत्रादिओंको देखना, आदि दुर्घट कार्य देखने में आते हैं, 'यह ठीक है—शक्य है, यह ठीक नहीं है, अशक्य है, ऐसी व्यवस्था स्वप्नमें दुर्लभ है, यानी मानी नहीं जाती। जैसा जैसा देखनेमें आता है, वैसा वैसा मान लेना ही पड़ता है। चाहे वह अशक्य एवं असंभव भी क्यों न हो? स्वप्नमें निद्राशक्ति की जब ऐसी महिमा देखनेमें आती है, तब अचिन्त्य—शक्तिवाली मायाकी महिमाकी बात ही क्या

विकारान् कल्पयत्यसौ ॥' इति । श्रीमद्भागवतेऽप्याहुः—'मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते ।' (भा० १०।८५।५४) 'एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।' (भा० ११।३।१६) इति ।

या किल माया स्वयमविद्यमानाऽपि—वस्तुतोऽविद्यमानमेव स्वकार्यं विद्यमानमिव मिथ्याभूतमपि सदिव च दर्शयति । सा तु न स्वतोऽपरोक्षा, न च प्रत्यक्षादि-प्रमाणगम्या । कार्यञ्च तस्याः परिदृश्यमानं नामरूपात्मकं जगत्, तच्च प्रत्यक्षादि-प्रमाणगम्यम् । तदुक्तम्—'अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद्यो मानेनात्यन्तमूढधीः । स तु नूनं तमः पश्येद् दीपेनोत्तमतेजसा ॥ लौकिकी वैदिकी चापि नाज्ञाने दृश्यते प्रमा । कार्यदृष्ट्याऽथ कल्प्यं चेल्लाघवादेकमेवतत् ॥' इति ।

अपि चाहुः—'अहो नु चित्रं यत्सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम् । यदसत्यमविद्याऽऽख्यं तत् पुरः परिवल्गाति ॥ अहो नु चित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तन्तुभिरद्रयः । अविद्यमाना याऽविद्या तया विश्वं खिलीकृतम् ॥' इति । तस्मान्माययाऽधिष्ठान-

करनी ? अर्थात् मायाशक्तिकी भी आश्चर्यकर-अचिन्त्य महिमा है । निद्राशक्ति सोते हुए मनुष्यमें नानाविध-स्वप्नको सृजती है, उसीप्रकार माया-शक्ति निर्विकार-ब्रह्ममें नानाप्रकारके विकारोंका सर्जन करती है ।' (आ० वा०) इसप्रकार श्रीमद्भागवतमें भी महर्षि कहते हैं कि—'वह विष्णुकी मायासे मोहित हो गई, जिस मायासे यह संसार चक्र चल रहा है ।' (भा०) 'भगवान् की यही माया है, जो जगत् की सृष्टि स्थिति एवं प्रलय करती है ।' (भा०) इत्यादि वचन मायामें जगत्कारणताका समर्थन करते हैं ।

जो माया स्वयं अविद्यमाना है, वह वास्तवमें अविद्यमान अपने कार्यको विद्यमानके समान और मिथ्याको सत्यके समान दिखलाती है । वह माया न तो स्वतः अपरोक्ष है, न वह प्रत्यक्षादि-प्रमाणोंसे ही जानी जाती है । परन्तु यह परिदृश्यमान नामरूपात्मक जगत्-जो मायाका कार्य है, वह प्रत्यक्षादि-प्रमाणोंसे जाना जाता है । यह कहा भी है—'जो प्रमाणोंके द्वारा अज्ञानको जानना चाहता है, तो समझो कि— वह ऐसा है-जैसे कोई अत्यन्त प्रकाशमान् दीपकके द्वारा अन्धकार को देखना चाहे । अतः अज्ञानमें लौकिकी एवं वैदिकी प्रमा (यथार्थ-ज्ञान) भी नहीं है । कार्यकी दृष्टिसे उसकी कारणरूपसे कल्पना करना चाहो तो कर सकते हो, परन्तु वह कल्प्यमान-अज्ञान लाघवगुणसे एक ही मानना उचित है, अनेक मानना ठीक नहीं, गौरव होजाता है, (अर्थात् एकसे जब काम हो जाता हो, तो अनेकके पीछे पडना योग्य नहीं)

और भी कहते हैं—'अहो ! ! आश्चर्य है-कि—जो परमार्थ-सत्य ब्रह्म है, उसे तो लोग भूल ही गये, किन्तु असत्य जो-अविद्या है, वह सबके समक्ष नानाप्रकारके तमाशोंको दिखा रही है ।' अहो ! ! आश्चर्य है कि-कमलके कोमल एवं सूक्ष्म-तन्तुओं से बड़े बड़े पर्वत बांधे गये हैं । उसी प्रकार अविद्यमान-अविद्याने इस समग्र विश्वको

तत्त्वमेवाऽन्यात्कार्यात्तेन तेन कार्याकारेण अज्ञातनटवदनेकधा विकल्प्यते । न वस्तुतोऽविद्यातत्कार्यञ्च विद्यते इति प्रत्येतव्यम् । तत्त्वमस्यादिमहावाक्यपरिशीलनोत्थयाऽखण्डब्रह्माकारवृत्त्या सर्वथा निवृत्तमपि—अविद्यमानमप्यविद्यादिकं निवर्त्यते । यदाहुः सदृष्टान्तं श्रीपूज्यस्वामि-सर्वज्ञात्ममुनयोऽपि संक्षेपशारीरके-'नित्यबोधपरिपीडितं जगद्विभ्रमं नुदति वाक्यजा मतिः। वासुदेव निहतं धनञ्जयो हन्ति कौरवकुलं यथा पुनः ॥' (२।३८) इति । अयमर्थः—नित्योऽद्वयो यो बोधस्तेन परिपीडितं=अपहृतसत्त्वमित्यर्थः । एवंभूतं जगद्विभ्रमं वाक्यजा मतिः = अहं ब्रह्मेतिवाक्याज्जाताऽखण्डब्रह्माकारान्तःकरणवृत्तिर्जडापि तप्तायोगोलकवत् तत्स्वभावमापन्ना नुदति=नाशयति । वाक्यजन्यं हि ज्ञानं स्वनिवर्त्यस्यानिर्वचनीयत्वमपेक्षते, तच्चाद्वयबोधात्मनि वस्तुतोऽसंभवादध्यस्तमित्याशयेनैवमुक्तमिति द्रष्टव्यम् । ज्ञानं हि अज्ञातविषयतया निवर्तकं, अज्ञानञ्च स्वविषयात्मगोचरज्ञानेन निवर्त्यं विज्ञेयम् । ईश्वरसा-

अभिभूत कर डाला है । इसलिए अज्ञातनटके समान माया अपने अधिष्ठानतत्त्व ब्रह्म को ही उस उस कार्याकारसे अन्तिम कार्य पर्यन्त अनेक प्रकारसे विकल्पित कर रही है । वास्तवमें न तो अविद्या है, न उसका कार्य—द्वैत-प्रपञ्च ही है, ऐसा जानना चाहिये ।

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके परिशीलनसे समुत्पन्न-अखण्ड-ब्रह्माकारा-वृत्तिके द्वारा—वह अविद्या-जो वस्तुतः नित्यनिवृत्त है—एवं अविद्यमान है—उसकी निवृत्ति हो जाती है । अतएव पूज्य श्रीसर्वज्ञात्म-मुनिवर्यने—अपने संक्षेप-शारीरिक—नामक ग्रन्थमें दृष्टान्तके द्वारा इसका ऐसा प्रतिपादन किया है कि—'शाश्वत—ब्रह्मस्वरूपभूत—बोधद्वारा नष्ट-प्रायः संसार विभ्रमको—'अहंब्रह्मास्मि' आदि महावाक्योंसे समुत्पन्न—अखण्ड ब्रह्माकारा—जो वृत्ति है—वह नष्ट कर देती है । जैसे भगवान् कृष्ण द्वारा मारे गये कौरवोंको फिर अर्जुन मार देता है ।' (सं०) यह अर्थ है—नित्य=शाश्वत अद्वय—ब्रह्मरूप जो बोध है, उससे परिपीडित यानी जिसका सत्त्व अपहृत कर दिया है, उस संसार-विभ्रम को—'मैं ब्रह्म हूँ' इस महावाक्यसे उत्पन्न-अखण्ड-ब्रह्माकारा-अन्तःकरणकी वृत्ति, जो जड होनेपर भी—'अग्निसे तपे हुए—लोहाके गोले के समान' ब्रह्म चैतन्यके स्वभावको प्राप्त करके—नष्ट कर देती है । महावाक्य जन्य ज्ञान, अपनेसे निवर्त्य अज्ञानमें एवं तज्जन्य-संसार विभ्रम में—अनिर्वचनीयत्वकी ही अपेक्षा रखता है । और वह अज्ञान एवं तत्कार्य, अद्वय-बोधरूप आत्मामें वस्तुतः असंभव है, अतः वह आरोपित है, इस आशयसे ऐसा कहा है, ऐसा समझना चाहिये । अज्ञातविषयताको लेकर ज्ञानमें निवर्तकता है, अर्थात् ज्ञान, अज्ञानका निवर्तक तब बनता है, जब उसका विषय प्रथम अज्ञात रहा हो । और स्व (अज्ञान) का गोचर (विषय) जो आत्मा है—तद्विषयक-ज्ञानके द्वारा अज्ञानमें

मर्थ्येन पीडितस्यागन्तुकनिमित्तेन स्वकार्येणापि बाधे दृष्टान्तमाह—वासुदेवेति । कालात्मनेश्वरेण ग्रस्तं धनञ्जयोऽर्जुनः कुरुवंश्योऽपि पुनर्यथा कौरवकुलं हन्ति, तथाऽत्रापि । उक्तं च भगवता गीतासु—'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् !॥ (गी० ११।३३) इति ।

सा च मायाऽविद्यमानाऽपि प्रतीयमाना, भूतप्रकृतिश्चिन्मात्रसम्बन्धिनी ब्रह्मज्ञाननिवर्त्याऽनिर्वाच्यापि अनादिः । नवधा या च निर्वक्तमशक्या, तथाहि—सा हि ब्रह्मचैतन्यान्न वस्तुतो भिन्ना, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वप्रतिपादकश्रुत्यादिविरोधेन तस्यास्ततो भेदासम्भवात् । नाप्यभिन्ना, चैतन्यजडयोरैक्यायोगात् । नापि भिन्नाऽभिन्ना विरोधेनासम्भवात् । एवं न तावन्माया सती, अद्वैतश्रुतिविरोधात् । नाऽप्यसती, भूतप्रकृतित्वानुपपत्तेः ।

निवर्त्यता है, अर्थात् अज्ञान, ज्ञानसे निवर्त्य तब बनता है, जब वह ज्ञान, स्व (अज्ञान) का विषयभूत-अज्ञात-ब्रह्म का अवगाहन करता हो, ऐसा समझना चाहिये । ईश्वरके सामर्थ्यसे अभिभूत हुए—पदार्थका—आगन्तुक-निमित्तके द्वारा—जो अभिभूत पदार्थका कार्य है—बाध होनेमें यह दृष्टान्त कहते हैं—वासुदेव इति । जैसे कालरूप परमेश्वरसे ग्रस्त (अभिभूत-नष्टप्राय) कौरवकुलको—अर्जुन—जो कुरुकुलमें उत्पन्न हुआ है—फिर नष्ट कर देता है । वैसे यहाँ भी समझना चाहिये , अर्थात् शाश्वत बोध द्वारा नष्ट प्राय-अज्ञान तत्कार्यको, अज्ञानजन्य—ब्रह्माकारा वृत्ति नष्टकर देती है । अतएव श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी ऐसा ही कहा है कि—'हे सव्यसाची ! अर्जुन ! ये सब कौरव, मेरे द्वारा प्रथमसे ही मारे गये हैं, तूतो इन मरे हुओंके मारनेमें निमित्त-मात्र बन ।' (गी०)

वह माया अविद्यमाना होनेपर भी प्रतीयमाना है । वह पंच महाभूतोंकी प्रकृति है, यानी परिणामी-उपादानकारण है । चिन्मात्र-ब्रह्मकी सम्बन्धिनी है, अर्थात् माया चेतन-ब्रह्मके ही आश्रयमें रहती है, एवं उसको ही विषय (आच्छादन) करती है, इसप्रकार मायामें चिन्मात्र-ब्रह्मकी आश्रयता एवं विषयतारूप सम्बन्ध है । वह ब्रह्म ज्ञानसे निवर्त्या है, अनिर्वचनीय होनेपर भी अनादि है । नवप्रकार से भी उस मायाका निर्वचन नहीं होसकता है, इसलिये वह अनिर्वचनीय है । तथाहि-यानी वे नवप्रकार दिखलाये जाते हैं— (१) वह माया ब्रह्मचैतन्यसे वस्तुतः भिन्न नहीं है, क्योंकि-ब्रह्मसे भिन्न-(व्यतिरिक्त) समस्त—पदार्थको मिथ्या बतलाने वाली-श्रुत्यादिके साथ विरोध हो जानेकेकारण उस मायामें ब्रह्मसे भिन्नताका संभव नहीं है । (२) एवं वह माया न ब्रह्मसे अभिन्न है, क्योंकि—चैतन्य एवं जडकी एकता (अभिन्नता) नहीं हो सकती है । एवं (३) ब्रह्मसे भिन्नाभिन्न भी वह नहीं है, क्योंकि—भिन्नत्व एवं अभिन्नत्वका विरोध होनेके कारण भिन्नाभिन्न-पक्षका भी असंभव है । इसप्रकार (४) वह माया सत् भी नहीं है, क्योंकि—मायाको सत् माननेपर अद्वैत—बोधक—श्रुतियोंका विरोध हो जाता है ।

नापि सदसती, सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र विरोधात्। एवं माया न सावयवा, तस्याः सादित्वप्रसङ्गेन तत्प्रतिबिम्बभूतेश्वरस्यापि सादित्वप्रसङ्गात्। मायायाः सादित्वे तत्प्रकृतित्वेन मायान्तरापेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गाच्च। नापि निरवयवा, प्रकृतित्वाभावप्रसङ्गात्। सावयवपदार्थानामेव लोके प्रकृतित्वदर्शनाद्। नाप्युभयरूपा, सावयवत्वनिरवयवत्वयोरेकत्र विरोधात्। तस्मात् नवप्रकारेण निर्वक्तुमशक्यतया माया अनिर्वाच्यैव। सा चाघटघटनापटीयसी, तामाश्रित्यैव भगवान् जगत्सर्जनादिकं कर्तुं शक्नोति। अन्यथा—'आप्तकामस्य का स्पृहा' इति न्यायेन परिपूर्णो निष्क्रियः परमात्मा जगत्सर्जनादौ कथं वा केन हेतुना वा प्रवर्तेत।

एतदभिसंधायैव श्रीमद्भागवते एकादशे देवा भगवन्तं परमेश्वरमित्थ-

---

एवं (५) माया असत् भी नहीं है, क्योंकि—मायाको असत् माननेपर वह भूतोंकी प्रकृति यानी उपादान कारण नहीं बन सकती है, अर्थात् असत्—अलीक पदार्थ किसी का उपादान कारण नहीं बन सकता। एवं (६) माया, सद्—असद्—उभयरूपा भी नहीं है, क्योंकि—सत्त्व और असत्त्व का परस्पर विरोध होनेसे एक स्थानमें एक साथ दोनों नहीं रह सकते। इस प्रकार (७) माया सावयव भी नहीं है, क्योंकि—सावयव माननेपर माया सादि हो जाती है (अर्थात् सावयव-पदार्थकी आदि होती है—वह अनादि नहीं हो सकता) मायाके सादि होने पर उसमें प्रतिबिम्बित-ईश्वर भी सादि होजायगा। और सादि-उत्पत्तिशील-मायाके लिए उसकी प्रकृतिरूपसे दूसरी-एक मायाकी कल्पना करनी पड़ेगी, और उसके लिए तीसरीकी कल्पना, इसप्रकार अनवस्था—दोषकी प्रसक्ति हो जाती है। एवं (८) माया निरवयव भी नहीं है, क्योंकि—निरवयवसे सावयवकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, अर्थात् निरवयव-पदार्थ किसी की प्रकृति यानी उपादान कारण नहीं बन सकता। लोकमें सावयव पदार्थ ही प्रकृति रूप बने हुए देखनेमें आते हैं। एवं (९) माया सावयव-निरवयव-उभयरूपा भी नहीं है, अर्थात् मायामें सावयवत्व एवं निरवयवत्व परस्पर विरुद्ध होनेके कारण दोनों एक साथ नहीं रह सकते। इसलिये पूर्वोक्त-नवप्रकारसे मायाका निर्वचन नहीं हो सकता है, अतः वह अनिर्वचनीया है। एवं वह अघटघटना-पटीयसी है, अर्थात् असंभव-एवं अशक्य को संभव एवं शक्य बनानेमें अतीव प्रवीण है। उसीका आश्रय लेकर ही श्रीभगवान् जगत् की सृष्टि—आदि करनेमें समर्थ होता है। अन्यथा—यानी मायाको द्वार न माननेपर—'पूर्णकाम—निःस्पृह—परमेश्वरकी जगत्की रचनादि करनेमें क्या स्पृहा हो सकती है, ? नहीं हो सकती' (मा० का०) इस न्यायसे पूर्ण-निष्क्रिय परमात्मा किस प्रकार एवं किसकारणसे जगत्की सृष्टि आदिमें प्रवृत्त होगा ?।

इस अभिप्रायसे ही देवताओंने श्रीभगवान्की ऐसी स्तुति की है—जिसका

मस्तुवन्—'त्वं मायया-त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः। नैतैर्भवानजित ! कर्मभिरज्यते वै यत् स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः ॥' (भा० ११।६।८) इति। विवृतमिदं पद्यमग्रे प्रथमे, अतो न मया यत्यते इति। अतस्त्वं कर्म कुर्वन्नप्यात्मारामः परमेश्वर इति मुमुक्षुभिश्चिन्त्यस इति भावः।

ननु-भो ! इदं परिदृश्यमानं सर्वं जगत् ब्रह्मणि माययाऽध्यारोपितं चेत्, तर्हि मायाऽपि ब्रह्मण्यध्यारोपिता भवति केन ? इति माययैव मायाऽध्यारोपितेति गृहाण। लोकेऽपि स्वपरसाधकानां भावानां बाहुल्येनोपलम्भात्, मायाऽपि मायान्तरं विना मायां स्वकार्यं जगच्च ब्रह्मण्यध्यारोपयति। यथाऽन्योऽन्याभावरूपो भेदो घटपटद्वयं भेद्यं मिथो भिन्नं बोधयति, आत्मानमपि भेदं घटादेर्भेद्यस्य सकाशाद्भिनत्ति, न तु स्वप्रतियोगिकं भेदान्तरमपेक्षते, अनवस्थानात् तथा मायापि।

वर्णन श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धमें किया है—'हे अजित ! इस त्रिगुणमयी-मायाके द्वारा आप अपने आपमें इस अचिन्त्य—संसारकी रचना, पालन, और संहार करते हैं। यह सब करते हुए भी आप इन कर्मोंसे लिप्त नहीं होते, क्योंकि—आप रागद्वेषादि-समस्त-दोषोंसे सर्वथा निर्मुक्त हैं, और आप अपने निरावरण-पूर्णसुखमें सदा अभिरत रहते हैं।' (भा०) इस पद्यका विवरण आगे प्रथम श्लोकके व्याख्यानमें कर दिया है, इसलिये यहाँ विवरणके लिए यत्न नहीं किया जाता। अतः आप कर्म करते हुए भी आत्माराम और परमेश्वर हैं। अतः मुमुक्षुवृन्द आपका ध्यान करते हैं, ऐसा भाव है।

शंका—भो भगवन् ! यह दृश्यमान सर्व जगत्, मायासे ब्रह्ममें अध्यारोपित है, तो माया किसके द्वारा ब्रह्ममें कल्पित है ? अर्थात् मायासे ही मायाका आरोपमाननेपर आत्माश्रयदोष हो जाता है। अन्य मायासे अध्यारोप माननेपर अन्योऽन्याश्रयादि दोष आजाते हैं।

समाधान—मायासे ही माया ब्रह्ममे अध्यारोपित है, अतः अन्य माया की आवश्यकता नहीं है; ऐसा समझो। माया अनेक दोषोंकी निधि होनेके कारण उसमें आया हुआ आत्माश्रय दूषण नहीं है, किन्तु भूषण है। और लोकमें भी ऐसे बहुत पदार्थ मिलते हैं—जो अपने और दूसरेके साधक होते हैं। जैसे अन्योऽन्याश्रयरूप—भेद घटसे पटको, तथा पटसे घटको भिन्न बतलाता हुआ अपने को भी घट—पट दोनोंसे—जो परस्पर—अनुयोगी एवं प्रतियोगी हैं—भिन्न बतलाता है। वह दूसरे किसी-भेद की अपेक्षा नहीं रखता है, क्योंकि—अनवस्था—दोष हो जाता है। उस प्रकार माया भी अन्य मायाकी अपेक्षा न रखकर आपही अपना एवं अपने कार्यरूप—द्वैतप्रपञ्च का अध्यारोप कर देती है।

नन्वेकत्र सतो विद्यमानस्यान्यत्रारोपो भ्रमो दृष्टः, यथाऽऽपणे सतो विद्यमानस्य रजतस्य शुक्तिकायामारोपः प्रसिद्धः। मायायाः तत्कार्यस्य द्वैतप्रपञ्चस्य चात्यन्तासत्त्वे तु कथं तयोर्ब्रह्मणि विभ्रमः स्यात् इति चेन्मैवम्। यतः स विभ्रमोऽन्धपरम्परयैव भवत्यतो न दोषः, तथाहि—संस्कारजन्यो भ्रमः, संस्कारसिद्धये पूर्वप्रतीतिमात्रमपेक्षते, न तु वस्तुसत्ताम्। अतो विभ्रमस्य तस्यानादित्वात् पूर्वपूर्वभ्रमदृष्टस्योत्तरोत्तरस्मिन् आरोपो भविष्यति, अन्धपरम्परान्यायेनान्यथाविभासलक्षणो व्यवहारोऽपि सेत्स्यतीति—अत्यन्तासत्त्वं विभ्रमस्य नाप्रयोजको हेतुरिति प्रत्येतव्यम्।

अपि च निखिलविभ्रमाधिष्ठानः परमात्मा, निखिलेऽस्मिन् विभ्रमात्मके जगति स्वीयां सत्तां स्फूर्तिं प्रियताञ्च प्रदानाय प्रविष्टोऽपि वस्तुतस्तद्दृष्ट्या विभ्रमस्य तन्तुदृष्ट्या पटवदविद्यमानतया स कुत्र प्रविष्टः स्यात्? इत्यतः तस्य प्रवेशोऽपि सृष्ट्यादिवत् अविकृतब्रह्मकर्तृकतया काल्पनिक

शंका—एक स्थलमें परमार्थरूपसे विद्यमान-पदार्थका अन्यस्थलमें आरोप देखने में आता है, जैसे दुकानमें परमार्थरूपसे विद्यमान रजतका शुक्तिमें आरोप देखनेमें आता है। प्रकृतमें माया और तत्कार्य द्वैत-प्रपञ्च अत्यन्त-असत् होनेके कारण एवं परमार्थरूपसे अन्यत्र कहीं भी देखनेमें न आनेके कारण—उनका ब्रह्ममें आरोप कैसे होगा?।

समाधान—यह विभ्रम अन्धपरम्परान्यायसे ही होता रहता है। इसलिए दोष नहीं है। तथाहि—यानी इस बातको स्पष्टरूपसे कहते हैं-भ्रम संस्कारसे जन्य होता है, अतः संस्कारकी सिद्धिके लिये प्रथम केवल वस्तुकी प्रतीति ही चाहिये, चाहे वह प्रतीत-वस्तु वास्तविक हो या अवास्तविक। वास्तविक-वस्तु होनी ही चाहिये, ऐसा नियम नहीं है। और यह विभ्रम तो अनादि है, इसलिए पूर्व-पूर्वके विभ्रमसे दृष्ट-पदार्थके संस्कार उत्तर-उत्तरके आरोपमें कारण बन जायेंगे। इस अंधपरंपरा न्यायसे विपरीत-भानरूप व्यवहार भी सिद्ध होजायगा। अतः पदार्थका अत्यन्त-असत्त्व, विभ्रमका अप्रयोजक-हेतु नहीं है, किन्तु प्रयोजक हेतु है, ऐसा जानना चाहिये।

और भी-परमात्मा सकल-विभ्रमोंका अधिष्ठान है, अतः वह अपनी सत्ता स्फूर्ति एवं प्रियता देनेके लिए इस विभ्रममय-निखिल-जगत्में प्रविष्ट हुआ है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु तन्तुकी दृष्टिसे पटनामका कोई पदार्थ है ही नहीं, हुआ ही नहीं है, वैसे ही परमात्माकी दृष्टिसे यह विभ्रमरूप जगत् है ही नहीं, तब वह परमात्मा किसमें प्रविष्ट हो सकता है?। इसलिये उस अविकृत-ब्रह्मविरचित सृष्टि जैसे काल्पनिक है, वैसे उसका प्रवेश भी काल्पनिक ही है, वास्तविक नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

एव मन्तव्यो न वास्तविकः, इति सोऽप्रविष्टोऽसङ्गो निर्लेपो महान् स्वे महिम्न्येवावस्थितो मन्तव्यः । यदभिप्रेत्याह—ब्रह्मवैवर्त्तपुराणे महर्षिगौतमः—'यत्सत्ता जगतः सत्ता यत् सत्तां न विना जगत् । यस्य भासा जगद्भानं, यं विना न जगत्पृथक् । आदित्यः सोम अग्निश्च यद्भासा भान्ति नित्यशः । यदानन्दोऽखिलानन्दो विभाति स्वयमेव हि । यः शिवः परमानन्दो वर्तते सर्वजन्तुषु । उत्तमा मध्यमा हीना ये च जीवाः पृथग्विधाः । तत्त्वतो नातिरिच्यन्ते यस्मात्साम्बान्महेश्वरात् ॥' इति ।

तथा च द्वैतप्रपञ्चस्य सर्वास्ववथासु सच्चिदानन्दस्वरूपेण तस्याधिष्ठानस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मणोऽनुवृत्तत्वात्, कल्पितस्य नामरूपक्रियात्मकस्य द्वैतप्रपञ्चस्य समाध्यादौ व्यावृत्तत्वाच्च, अन्वयव्यतिरेकन्यायतः, तदेवावशिष्यमाणं त्रिकालाबाधितं पारमार्थिकमद्वयं सुखघनं स्वयंज्योतिस्तत्त्वमेव मुमुक्षुभिर्विज्ञेयं, नान्यदिति सिद्धान्तज्ञापनाय श्रीभगवदुपदेशमुखेनाह भगवान् बादरायणश्चतुर्भिः श्लोकैः—

वह परमात्मा तो परमार्थतः अप्रविष्ट है, असंग, निर्लेप एवं महान् है, और अपनी महिमामें ही सदा प्रतिष्ठित है, ऐसा मानना चाहिये । अतः इस निर्णयको अभिप्रायमें रखकर महर्षि गौतमने ब्रह्मवैवर्त-पुराणमें ऐसा कहा है कि—'उस परमात्माकी सत्ताही जगत्‌की सत्ता है । उसकी सत्ताके विना जगत् है ही नहीं । उसके चैतन्य-प्रकाशसे ही इस जगत् का भान होता है, उसके विना जगत् पृथक् है ही नहीं । आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, ये सब ज्योतियाँ, उसके प्रकाशसे ही प्रकाशमान हो रही हैं । एवं उस परमात्माका आनन्द ही जगत् का आनन्द है, अतः वह स्वयं आनन्दरूपसे सर्वत्र विभासित होरहा है । उत्तम, मध्यम, हीन आदि विविध-समस्त प्राणियोंमें वह कल्याणमय परमानन्दरूप—परमात्मा ही विराजमान है, उस साम्ब—महेश्वर—परमात्मासे वस्तुतः कुछ भी व्यतिरिक्त नहीं है ।' (ब्र० वै०)

तथा च इस द्वैत-प्रपञ्चका अधिष्ठानरूप—प्रत्यगात्मासे अभिन्न-ब्रह्म ही, इस द्वैत-प्रपञ्चकी जाग्रदादि-निखिल—अवस्थाओंमें अनुवृत्त (अनुस्यूत) है, एवं कल्पित-नामरूपक्रियात्मक-यह द्वैत प्रपञ्च तो समाध्यादि-अवस्थाओंमें व्यावृत (बाधित) है । अतः इस प्रदर्शित—अन्वय-व्यतिरेक न्यायसे वह एक—अद्वय—तत्त्व ही अवशिष्ट रह जाता है—जो तीनों कालमें अबाधित है, पारमार्थिक—सत्य है, अद्वय—सुखघन एवं स्वयंज्योति है । वही तत्त्व मुमुक्षुओंको जानना चाहिये, अन्य नहीं । यह निर्णीत-सिद्धान्तको बतलानेके लिए—महर्षि बादरायण, चारश्लोकोंके द्वारा श्रीभगवान्‌के श्रीमुखके उपदेश रूपसे कहते हैं—

'इस सृष्टिसे प्रथम केवल मैं ही मैं—परमात्मा था, मुझ परमात्मासे व्यतिरिक्त,

अहमेवासमेवाग्रे, नान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च, योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत, न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां, यथा भासो यथा तमः ॥
यथा महान्ति भूतानि, भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि, तथा तेषु न तेष्वहम् ॥
एतावदेव जिज्ञास्यं, तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां, यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥

(भा० २।६।३२-३३-३४-३५)

अहमेव = सच्चिदानन्दविग्रहः परमात्मैव, अग्रे = सृष्टेः पूर्वं, आसं = स्थितः । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० उ० १।१) इति श्रुतेः । न

न तो स्थूल-प्रपञ्च था, न सूक्ष्म प्रपञ्च था, न तो इन दोनोंका कारण अज्ञान ही था। और इस सृष्टिके विविध रूपोंमें जो भी कुछ प्रतीत होरहा है, वह भी मैं ही हूँ, और निषेध होनेपर जो कुछ अवशिष्ट रहेगा, वह भी मैं ही हूँ । वास्तविक-अर्थ रूपसे न होनेपर भी दो चन्द्रमाओं की तरह मुझ परमात्मामें यह द्वैत-प्रपञ्च मिथ्या ही प्रतीत होरहा है । एवं सदा विद्यमान होनेपर भी आकाशमें राहु की भांति, जो मेरी प्रतीति होती नहीं है, इसप्रकार अविद्यमान-अर्थ की प्रतीतिका हेतु, एवं विद्यमान-अर्थ की अप्रतीति का जो हेतु है, इसे मेरी माया समझना चाहिये । जैसे पंचभूतरचित-छोटे बड़े समस्त शरीरोंमें, आकाशादि-पञ्चमहाभूत, कार्यरूपसे निर्मित होनेके कारण प्रवेश करते भी हैं, और प्रथमसे ही उस उस स्थानोंमें एवं उस-उस रूपोंमें कारणरूपसे विद्यमान रहनेके कारण प्रवेश नहीं भी करते । वैसे ही मैं परमात्मा उन प्राणियोंके शरीरोंकी दृष्टिसे आत्माके रूपमें प्रविष्ट हुआ हूँ । और आत्माकी दृष्टिसे अपनेसे व्यतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ न होनेके कारण उनमें प्रविष्ट नहीं भी हूँ । 'यह स्थूल जगत् ब्रह्म नहीं, यह सूक्ष्म जगत् ब्रह्म नहीं, इसप्रकार व्यतिरेकरूप निषेधकी पद्धतिसे, और यह सब कुछ ब्रह्म ही है, इस अन्वय की पद्धतिसे भी यही सिद्ध होता है कि-सर्वातीत-बाधावधिरूप एवं सर्व विश्वरूप भगवान् ही सर्वदा एवं सर्वत्र अवस्थित हैं, यही वास्तविक तत्व है, जो परमात्माका तत्त्व जानना चाहते हैं-उन्हें केवल इतना ही जाननेकी आवश्यकता है ।' (भा०)

सच्चिदानन्द स्वरूप मैं परमात्मा ही सृष्टिसे प्रथम अवस्थित था । क्योंकि—श्रुति भी कहती है-'यह संपूर्ण विश्व, प्रथम एक-अद्वय आत्मा ही था ।' (श्रु०)

वाग्रे इति पदेन कालसद्भावप्रतीतेः, अन्ययोगव्यवच्छेदकस्यैवकारस्यानुपयोगः इति वाच्यम् । 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृत्तः' (गी० ११।३२) इति भगवद्वचनात्तस्य तदनतिरेकात् । किंच यथा सुषुप्तौ अज्ञानावृतस्वरूपातिरिक्तस्य कालस्याभानेऽपि समुत्थितस्य कालवासनाऽऽविष्टतया 'तदा सुखमहमस्वाप्सं न किमप्यवेदिषम् ।' इति तदाशब्देन कालपरामर्श उपपद्यते, तथा प्रलयदशायामस्यामपि तदुक्तिरुपपत्स्यते । तथा चाभिहितं पञ्चदश्यां–पूज्यविद्यारण्यस्वामिभिः—'कालाभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम् । शिष्यं प्रत्येव तेनात्र द्वितीयं न हि शङ्क्यते ॥' इति ।

एवकारव्यावृत्तिमाह—नान्यदिति । 'नान्यत्किंचन मिषत्' (ऐ० उ० १।१) मिषत्=चलं-परिणमनशीलं नश्वरमित्यर्थः । अन्यच्छब्दार्थमेव विवृणोति-यत्सदसत्परमिति । सत्=स्थूलं, असत्=सूक्ष्मं, परं=तयोः कारणञ्चेत्यर्थः । न च भवतु स्थूलसूक्ष्मयोरभावः 'नासदासीन्नो सदासीत्' (ऋ० १०।१२९।१)

शंका—श्रुतिमें 'अग्रे' ऐसा पद है, अग्रे यानी प्रथम–भूतकालमें । अग्रेपद कालका बोधक होनेसे आत्माके साथ काल भी था, ऐसा अर्थात् सिद्ध हो जाता है । फिर आत्मा एव (ही) था, ऐसा कहना–अर्थात् 'एव' पद–जो अन्य के सम्बन्धका व्यावर्तक है,–यहाँ अनुपयुक्त होजाता है ।

समाधान—काल भी भगवान् का ही स्वरूप है, अतः वह चिदात्मा–भगवान् से पृथक् नहीं है, अतः गीतामें भी श्रीभगवान् कहते हैं कि—'लोकोंका संहार करने वाला–काल देवता मैं हूँ' (गी०) और भी-जैसे सुषुप्तिमें अज्ञानसे आवृत-आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त-कालका भान नहीं होता, तो भी कालकी वासनासे युक्त होनेके कारण–सुषुप्तिसे उठने वाला व्यक्ति–ऐसा कहता है कि—उस समय 'मैं बड़े आनन्दसे सोया था, वहाँ मैंने कुछ भी नहीं जाना' ऐसा तदा (तब) शब्दसे अतीत-कालका परामर्श उपपन्न हो जाता है । उसप्रकार यहाँ भी सृष्टिसे प्रथम, यानी प्रलय-दशामें भी कालके परामर्शका कथन सुसंगत हो जायगा । तथा च पूज्य-श्रीविद्यारण्य-स्वामीजीने भी पंचदशी ग्रन्थमें ऐसा कहा है कि—'कालके न होनेपर भी श्रुत्यादिमें 'सृष्टिसे पूर्व; ऐसा कालका बोधन करने वाला–जो कथन है—वह काल-वासनासे युक्त-शिष्यको समझाने के लिए है, इसलिए वहाँ कालको लेकर ब्रह्मसे भिन्न–द्वितीय–पदार्थकी शंका नहीं करनी चाहिये ।' (पं०)

एवकारसे बोधित–तदन्यकी व्यावृत्तिको बतलाते हैं—'नान्यत्' । यानी अन्य= मुझ परमात्मासे भिन्न कुछ भी नहीं था । अतएव श्रुति भी कहती है—'अन्य कुछ भी चेष्टावाला पदार्थ नहीं था ।' (श्रु०) मिषत् = परिवर्तनशील–नश्वर–अन्य-पदार्थ कोई नहीं था । 'अन्यत्' शब्दके अर्थका विवरण करते हैं—सत्, असत्, एवं पर । सत् =

इति श्रुतेः । 'तमः आसीत् तमसा गूढमग्रे ।' (ऋ० १०।१२९।३) इति श्रुतेः कथं तमोरूपकारणाभावोक्तिरिति वाच्यम् । 'सद्योगात्तमसः सत्त्वं, न स्वतस्तन्निषेधनाद् ।' (पं०) इति श्रीविद्यारण्यमुनि-समाधानोक्तेः-सदधिष्ठानाऽऽध्यासिकसम्बन्धेन तत्सत्तयैवासीदिति श्रुत्यर्थसम्भवाद्, न स्वतः तत्कारणं तम आसीन् इति तमसः तादृशसत्त्वप्रतिषेधेनान्यत्परमपि तमः कारणं नासीत्तत्पृथक्सत्ताकमित्युक्तौ नास्ति कश्चन विरोधः । सर्गादग्रे कार्यस्य सर्वस्य कारणाव्यतिरेकेण प्रतीतेरभावान्ममैव सर्वकारणत्वात् सर्वाधिष्ठानत्वाचाहमेवासमिति युक्तमेव । तयोः परस्य प्रधानस्य कारणस्यापि तदा मय्येव लीनत्वात् अहं च तदा आसमेव केवलं, न चान्यत्किमप्यकरवम् । पश्चात्= सृष्टेरनन्तरमपि, अहमेवास्मि, यद्वा पश्चात् प्रपञ्चस्य लयोत्तरमप्यहमेव । यच्चैतन्मध्ये परिदृश्यमानं विश्वमस्ति, तदप्यहमेव, कार्यस्य कारणाव्यतिरेकाद् ।

स्थूल-जगत्, असत् = सूक्ष्म-जगत्, और पर यानी उन दोनोंका कारण अज्ञान भी नहीं था ।

शंका—सृष्टिसे प्रथम स्थूल–सूक्ष्म जगत्का अभाव हो सकता है, क्योंकि—ऋग्वेद-संहिता की श्रुति कहती है कि—'असत् नहीं था एवं सत् भी नहीं था ।' (श्रु०) परन्तु अज्ञानका अभाव नहीं हो सकता । क्योंकि—वही श्रुति पुनः कहती है कि—'तम था, प्रथम तमसे आच्छादित था ।' जब कारणरूप-तम (अज्ञान) विद्यमान था, उस समय, तब तमोरूप-कारणके अभावका कथन क्यों किया ? ।

समाधान—श्रीविद्यारण्यमुनिमहाराजने इसका ऐसा समाधान किया है-कि—'सद्ब्रह्मके सम्बन्धसे ही तम की सत्ता है, स्वतः तमकी सत्ता नहीं है, क्योंकि—उसकी स्वतः सत्ताका निषेध किया गया है ।' (पं०) सदधिष्ठान-ब्रह्ममें अध्यस्त होनेके कारण आध्यासिक–सम्बन्धसे तममें सत्ताकी प्रतीति है, अतः 'उस ब्रह्मकी सत्तासे ही सत्तावाला तम था' ऐसा पूर्वोक्त–श्रुतिका अर्थ होसकता है । जहाँ (श्रीमद्भागवतमें) तम का निषेध किया है—उसका यह तात्पर्य है-कि—स्वतः सत्तावाला उनका कारण तम नहीं था । इसप्रकार पृथक्–सत्तावान् तमका निषेध किया गया है । इसलिए श्रुति वाक्यके साथ इस भागवतके वचनका कोई विरोध नहीं है । अतः समस्त–कार्योंकी कारणसे व्यतिरिक्तरूपसे प्रतीति न होनेके कारण—सबका कारण एवं सबका अधिष्ठान-होनेसे प्रथम मैं ही था, ऐसा कहना यथार्थ ही है । क्योंकि—उससमय स्थूल, सूक्ष्म, एवं पर-प्रधान–अज्ञानरूप कारण, सबकुछ मुझ परमात्मामें विलीन होनेके कारण, मैं ही केवल एक-अद्वय था, अन्य कोई नहीं था, न तो मैं उससमय कुछ करता ही था ।

पश्चात् = सृष्टिके अनन्तर मध्यमें दृश्यमान–यह जगत् भी मैं ही हूँ, क्योंकि—कारणसे कार्य पृथक् नहीं होता । यद्वा पश्चात् = यानी प्रपञ्चके प्रलयके अनन्तर भी मैं

'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० उ० २।३।६) इत्यादिश्रुतिभिः प्रातिभासिकसर्वद्वैतप्रपञ्चबाधे सत्येव योऽवशिष्येत बाधावधितया, सोऽहमेवास्मि।

अतद्व्यावृत्तिमन्तरेणावशिष्टमधिष्ठानतत्त्वं न ज्ञायते इत्यपि सिद्धान्तितं सदृष्टान्तं श्रीमद्भागवते दशमेऽपि—'अन्तर्भवेऽनन्त ! भवन्तमेव ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः । असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः ॥' (भा० १०।१४।२८) इति । अयमर्थः-हे अनन्त !-अपरिच्छिन्न ! भगवन् ! भवतीति भवः = चिज्जडग्रन्थ्यात्मकं शरीरं, तन्मध्य एव, हि = प्रसिद्धं प्रत्यक्स्वरूपे एव त्वां परमात्मानं सन्तः = सन्निष्ठा विवेकिनः, मृगयन्ति = विचिन्वन्ति—विविच्य-जानन्ति इत्यर्थः । यद्वा अन्तर्भवे = व्यष्टिसमष्टिरूपस्य भवस्य = जगतो मध्ये । किं कुर्वन्तः ? । तत् = आत्मतत्त्वं—तद्भिन्नं—अतत् जड-दृश्य-परिच्छिन्नं—अनात्मभूतं—पिण्डब्रह्माण्डादिकं सर्वं त्यजन्तः = नेति नेतीतिवचनैः अपवदन्तः । ननु—सतो ब्रह्मणो ज्ञानेनालं, किमसतो जगतोऽप-

ही हूँ । 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतिद्वारा बोधित—प्रातिभासिक—समस्त—द्वैत—प्रपञ्चका बाध होजाने पर उस बाधकी अवधिरूपसे जो परिशिष्ट रहता है, वह मैं ही हूँ ।

अतएव श्रीमद्भागवतके दशम—स्कन्धमें दृष्टान्तके साथ यह सिद्धान्त प्रदर्शित किया है कि—अतद्व्यावृत्ति यानी-अतत्—ब्रह्मभिन्नके निषेधके विना अवशिष्ट-अधिष्ठान-तत्त्वका बोध नहीं होता है । जैसे—'हे अनन्त ! आप तो सबके अन्दर-विराजमान हैं, इसलिए सन्त महात्मा लोग, अतद्व्यावृत्तिसे यानी आपके अतिरिक्त-जो भी कुछ-द्वैत-प्रपञ्च प्रतीयमान है, उसकी व्यावृत्ति (परित्याग) करते हुए—आपको अपने भीतर ही अन्तरात्मारूपसे ढूँढते हैं । क्योंकि—यद्यपि जैसे वस्तुतः रस्सीमें सर्प नहीं है, तो भी उस प्रतीयमान-सर्पको मिथ्या निश्चय किये विना, विद्वान्—पुरुष उस सच्ची-रस्सीको क्या जान सकते हैं ?' (भा०) अर्थ—हे अनन्त !-परिच्छेदरहित ! भगवन् जो उत्पन्न होता है, वह भव है, ऐसा भव है—जड़ चेतनकी ग्रन्थिरूप यह शरीर । उसके भीतर अन्तरात्मारूपसे विराजमान-आपको महात्मागण पंचकोशके विवेक द्वारा ढूँढकर जान लेते हैं । अथवा व्यष्टि-समष्टि (पिण्ड-ब्रह्माण्ड) रूप-भव यानी समस्त-जगत्के अन्दर—तत् = आत्म-तत्त्व, उससे भिन्न अतत् है, वह जड़-दृश्य-परिच्छिन्न-अनात्मभूत-निखिल-द्वैतप्रपञ्च है, उसका 'नेति नेति' के द्वारा निषेध—अपवाद करते हुए—सन्तगण—आपको ढूँढते हैं ।

शंका—सद्-ब्रह्मके ज्ञानसे ही अलं-बस है, फिर असद्रूप—जगत्का निषेध करनेसे क्या प्रयोजन ? । अर्थात्-असत्के निषेध विना केवल सत्के ज्ञानसे ही कल्याण हो जाता है ।

समाधान—अध्यस्त-वस्तुका निषेध किये विना अधिष्ठान-वस्तुका ज्ञान नहीं

वादेनेत्याशङ्क्याध्यस्तापवादं विनाऽधिष्ठानतत्त्वं न ज्ञायते इति सतां व्यवहारेणाह—असन्तमिति । अन्ति = समीपे, असन्तं = अविद्यमानमपि प्रतीयमानमहिमन्तरेणार्थात्—तन्निषेधं विना, सन्त = विद्यमानं, गुणं = रज्जु—सन्तः किमु यन्ति = जानन्ति, न जानन्तीत्यर्थः । अर्थात्—अध्यस्तसर्पनिषेधेनैव रज्जु ज्ञातु प्रभवन्ति विवेकिनोऽपि नान्यथा; यतोऽध्यस्तापवाद एव वस्तु याथात्म्यबोधसमर्पको भवतीति भावः । तथा चाध्यारोपितदेहभावजीवभावापवादेनैव ब्रह्मभावस्य लाभात्–मोक्षः सिद्ध्यति । यद्वा अन्ति–सन्तं गुणं इति योज्यम्, यतः असतः समीपेऽवस्थानमेव न संभवति ।

यदाहुः-आचार्यप्रवरा भगवत्पादा अपि—'निषेधे कृते नेति नेतीति वाक्यैः, समाधि–स्थितानां यदाभाति पूर्णम् । अवस्थात्रयातीतमद्वैतमेकं, परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥' इति

ननु—त्वत्स्वरूपातिरिक्तं किञ्चिन्नास्ति चेत् किमिति मिथ्याद्वैतप्रपञ्चो भाति, न विभाति–परमार्थसत्यः संविदानन्दनिधिर्भवानित्याशङ्क्याह–ऋतेऽर्थमिति । अर्थं = वास्तवमर्थं, ऋते = विनापि, यत् = यतः स्वरूपाज्ञानात्,

होता है, ऐसा सत्पुरुषोंका प्रामाणिक–उपदेशरूप व्यवहार है, अतः स्वयं बादरायणमुनि कहते हैं कि—समीपमें वस्तुतः सर्प अविद्यमान है, तो भी भ्रान्तिसे प्रतीयमान-सर्पका निषेध किये विना विद्यमान-रस्सीको क्या कोई जान सकते हैं ? अर्थात् अध्यस्त सर्पके निषेध द्वारा ही विवेकी पुरुष–अधिष्ठानभूत-रस्सीको जान सकते हैं, इससे अतिरिक्त-अधिष्ठान-जानने का अन्य कोई प्रकार नहीं है । क्योंकि—अध्यस्त-वस्तुका अपवाद ही यथार्थ-वस्तुके बोधको समर्पण करता है-ऐसा तात्पर्य है । इससे यह निर्णीत हुआ–कि—आरोपित–देहभाव एवं जीवभावके अपवाद द्वारा ही ब्रह्मभावकी प्राप्तिरूप मोक्षकी सिद्धि होती है । अथवा—अन्ति सन्तं गुणं, अर्थात् समीपमें विद्यमान रस्सीको (क्या जान सकते हैं ?) ऐसा अन्वय करना चाहिये । क्योंकि–असद्वस्तु जब है ही नहीं, तब उसका समीपमें रहना संभव नहीं होसकता है ।

इस सिद्धान्तका भगवत्पाद—आचार्यप्रवर श्रीशंकर–स्वामी भी 'इसप्रकारसे वर्णन करते हैं कि—'नेति नेति' वाक्योंके द्वारा समस्त-द्वैत-प्रपञ्चका निषेध करने पर समाधिमें स्थित हुए महापुरुषोंको–जो तीनों–अवस्थाओंसे अतीत—पूर्ण-शाश्वत-एक अद्वय परब्रह्म प्रकाशित होता है, वह मैं ही हूँ ।'

शंका—यदि आपके स्वरूपके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तो यह मिथ्या-द्वैत-प्रपञ्च क्यों भासता है ? और परमार्थ-सत्य चैतन्यानन्दनिधि-आप भगवान् क्यों नहीं सर्वत्र सबको भासते हैं ? ।

समाधान—ऋतेऽर्थं = वास्तविक-अर्थके विना । जो कुछ-अनिर्वचनीय-द्वैतप्रपञ्च

किमप्यनिर्वाच्यं द्वैतमात्मन्यधिष्ठाने प्रतीयेत, सदपि च परमात्मतत्त्वं मत्स्वरूपं न प्रतीयेत, तद् अधिष्ठानस्यान्यथाभानहेतुभूतं विक्षेपशक्तिप्रधानं—अधिष्ठान मत्स्वरूपाभानहेतुभूतं——आवरणशक्तिप्रधानमज्ञानम्——आत्मनो मम—परमेश्वरस्य मायां अघट-घटनापटीयसीं–आवरणविक्षेप शक्तिमतीं–ब्रह्मविद्या-निवर्त्यां विद्यात्=जानीयात् । प्रतीयमानस्यार्थस्य परमार्थतोऽभावेऽपि येन यत्प्रतीयते, स्वाधिकरणे वर्तमानाभावप्रतियोगी यः, स मायापदार्थः, तस्य चात्मैवावच्छिन्नानवच्छिन्नरूपेणाधिष्ठानम्, तदन्यस्य सर्वस्य मायामात्रतया मायया कल्पितत्वादित्याशयेनात्मन इत्युक्तम् । तत्र वास्तवमर्थं विना प्रतीतौ दृष्टान्तः, यथा—आभासो द्विचन्द्रादिः, यथा वा शुक्त्यादौ रूप्याद्याभासः । अधिष्ठानभूतभगवत्स्वरूपस्य सतोऽप्रतीतौ दृष्टान्तः, यथा तमः, तमो=राहुः, नक्षत्रमण्डले विद्यमानोऽपि यथा न प्रतीयते । यद्वा आत्मनि—स्वप्नद्रष्टरि, यथा भासः=स्वप्नप्रपञ्चस्य प्रतीतिः, वास्तवमर्थं विनापि भवति, यथा तमः=निद्रा,

---

है, वह वास्तविकरूपसे न होनेपर भी आत्मारूप-अधिष्ठानमें प्रतीत हो रहा है, और जो आत्मतत्त्व मेरा सत्-स्वरूप है–सदा सर्वत्र विद्यमान है-तो भी वह प्रतीत नहीं हो रहा है, उसका कारण अज्ञान है, अर्थात् स्वस्वरूपके अज्ञानसे ही अविद्यमान-अर्थ की प्रतीति एवं वास्तविक- अर्थकी अप्रतीति होती है । अज्ञानकी दो शक्तियाँ हैं-उसकी विक्षेप-शक्तिसे अधिष्ठान-आत्माका अन्यथा (द्वैतप्रपञ्चरूपसे) भान होता है । और उसकी आवरण-शक्तिसे अधिष्ठानरूप मुझ–स्वरूपका भान नहीं होता है । यह अज्ञान ही चिदात्मारूप-मुझ परमेश्वर की माया है, यह विक्षेप एवं आवरण शक्तिवाली और अघटघटना-पटीयसी है । उसकी निवृत्ति ब्रह्मविद्यासे ही होती है । तथा च प्रतीयमान-अर्थका परमार्थरूपसे अभाव होनेपर भी जिसके द्वारा जो प्रतीयमान होता है, एवं जो अपने अधिकरणमें वर्तमान-अभावका प्रतियोगी है, उसकी प्रतीतिका जो प्रयोजक है--वह माया पदका अर्थ है । उस मायाका अवच्छिन्न--एवं अनवच्छिन्नरूप से आत्मा ही अधिष्ठान है । क्योंकि—इस आत्मासे अतिरिक्त–समस्त-द्वैतसंसार मायासे कल्पित होनेसे मायामात्र है, इस आशयसे कहते हैं—आत्मनः । वास्तविक–अर्थके विना भी उस अर्थकी प्रतीति में दृष्टान्त है–जैसे–आभास = मिथ्या-भासमान-द्विचन्द्रादि । आँखोंको अंगुलीसे दबा-कर देखनेसे आकाशमें दो चन्द्रमा देखनेमें आते हैं–यह एक चन्द्रमें द्विचन्द्रका मिथ्या आभास है । अथवा-शुक्त्यादिमें रजतादिका आभास । अधिष्ठान-सद्रूप-भगवत्स्वरूपकी अप्रतीतिमें दृष्टान्त है–यथा तमः = जैसे तम यानी काले–वर्णका राहु, वह नक्षत्र मण्डल में विद्यमान है, फिर भी नहीं प्रतीत होता है । अथवा प्रकारान्तरसे आभास एवं तमके दृष्टान्तको बतलाते हैं—जैसे आत्मामें यानी स्वप्न-द्रष्टामें दृश्यस्वप्न-प्रपञ्चकी प्रतीति वास्तविक–अर्थके विना ही होती है । जैसे तम यानी निद्रा, उसीके कारण स्वप्नद्रष्टा-

तद्वशात् स्वप्रद्रष्टा सामान्यतो भासमानोऽपि विशेषतो न प्रतीयेत। यथा वा तमः=नभोनीलिमा, ऋतेऽर्थं तत्तद्दिक्प्रान्ते दूरतः प्रतीयेत, तत्र गमने कृते सति न प्रतीयेत, तद्वत्। ननु—स्वप्रकाशस्यात्मनः सदा स्वतो भानात् कथं तत्राप्रकाशस्य तमसः आरोप इत्याशङ्कायामाह—यथा तमः, यथा मध्याह्नकालिक स्फीतसूर्यालोके तदभावतयोलूकैः कल्प्यमानं तम इत्यर्थः। तथा च स्वप्रकाशेऽप्यप्रकाशस्य कल्पितत्वात्तन्मूलकोऽन्यस्य सर्वस्याऽऽरोपः स्वरूपाप्रकाश एव।

तथा चात्र—अन्यथाभावेन भासमानो मिथ्याभूतः कश्चिद् दुर्घटकारित्वलक्षणः परमार्थसत्यस्वरूपाच्छादकोऽधिष्ठानतत्त्वानुभवावसानको मायाशब्दार्थो भगवतैव स्वयमुपदिष्टो वेदितव्यः।

किञ्च मिथ्याभूतस्यार्थस्य प्रतीतौ हेतुभूता सती, या च परमार्थसत्यस्वरूपस्याभानप्रयोजिका—काचनाघटनघटनापटीयसी—अनिर्वचनीया भगवच्चैतन्यस्वरूपाश्रयताविषयताभागिनी मायैवास्तीति बोधनाय श्रीमद्भागवते—भूयांसि

आत्मा सामान्यरूपसे भासता हुआ भी विशेषरूपसे नहीं भासता है। अथवा—जैसे तमः यानी आकाशकी नीलिमा—जो वास्तविक नहीं है, तथापि वह उस-उस दिशाओंके प्रान्तमें दूरसे प्रतीत होती है, और समीप जानेपर प्रतीत नहीं होती है, तद्वत्-द्वैतप्रपञ्च अविद्यमान है, तथापि दीखता है, और चिदात्मा सर्वदा विद्यमान है—तथापि नहीं दीखता है—उसका कारण है—माया।

शंका—आत्मा स्वप्रकाश है, अतः उसका स्वतः सदा भान होरहा है, तब उसमें अप्रकाशरूप-तमका आरोप कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता, प्रकाशमें तमका भान असंभव है।

समाधान—यथा तमः = जैसे—मध्याह्नकालमें सूर्यके स्पष्ट-प्रखर-प्रौढ प्रकाशमें दिवान्ध-उल्लुओंको उस प्रकाशके अभावरूपसे कल्पित तमः यानी अन्धकार दिखाई देता है, तद्वत्। तथा च आत्माके स्वयं प्रकाशमें भी उसका अप्रकाश अज्ञानसे आरोपित-कल्पित है। उसीके ही कारण अन्य सब द्वैत-प्रपञ्चका आरोप है, जो अधिष्ठान-स्वरूप का अप्रकाशरूप है।

तथा च यहाँ जो अन्यथा (विपरीत) भावसे भासनेवाला, मिथ्यारूप-दुर्घटकारित्वलक्षणवाला, परमार्थ-सत्यस्वरूपका आच्छादन करनेवाला, और अधिष्ठानतत्त्वके अनुभवद्वारा अवसान होनेवाला ही माया शब्दका अर्थ है, ऐसा श्रीभगवान्ने स्वयं उपदेश दिया है; ऐसा समझना चाहिये। जो मिथ्या-पदार्थकी प्रतीतिमें हेतु है, और परमार्थ-सत्य स्वरूपकी अप्रतीतिमें कारणरूप है, जो असंभवित-पदार्थोंके संभवितरूपसे निर्माण करनेमें अतीव निपुण है। एवं जो अनिर्वचनीय है, जो भगवच्चैतन्य-स्वरूपके आश्रयमें रहकर उसकोही विषय करती है, वह माया है। इस माया शब्दार्थको बत-

भगवच्चरितान्यपि निरूपितानि सन्ति, तत्र चतुर्मुखस्य ब्रह्मणो विमोहनचरितं, तत्कृता स्तुतिरपि–मायास्वरूपनिर्धारणेऽस्ति प्रमाणं–तथाहि—

'नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशाखिललोक—साक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायना—त्तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥
तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः, किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव ।
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव, किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥
अत्रैव मायाधमनावतारे ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिः स्फुटस्य ।
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥
यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा ।
तत्त्वय्यपीह तत्सर्वं किमिदं मायया विना ॥

लानेके लिये श्रीमद्भागवतमें भगवान्के बहुत ही चरितोंका निरूपण किया है। उनमें भगवान्की वैष्णवी-मायासे चतुर्मुख–ब्रह्माको मोहित-होना, और ब्रह्माके द्वारा की जाने वाली भगवान्की स्तुति मायाके स्वरूपका निर्धारण करनेमें प्रमाण है। तथाहि— जैसे—'हे प्रभो ! आप समस्त-जीवोंके आत्मा हैं, इसलिये आप नारायण (नार=जीव, और अयन=आश्रय–अधिष्ठान) हैं। आप चराचर–जगतके अधीश्वर हैं, इसलिये आप नारायण (नार==चराचर—जगत्, अयन==प्रेरक—प्रवर्तक) हैं। आप निखिल-लोकोंके साक्षी हैं, इसलिये भी नारायण (नार=निखिल लोक, और अयन=ज्ञाता) हैं। नर–परमात्मासे उत्पन्न होने वाले-जलमें निवास करनेके कारण जिन्हें नारायण (नर=जल, अयन=निवास स्थान) कहा जाता है। वे, जीव, लोक, जल आदि भी आपके ही एक-अंशभूत हैं, आप-अपरिच्छिन्न-परिपूर्ण-परमात्मामें वे सब परिच्छिन्न एवं विभक्तरूपसे प्रतीत होते हैं, यह प्रतीति पारमार्थिकी-सत्य नहीं है, किन्तु आपकी माया ही है, मायासे ही ऐसी मिथ्या प्रतीति होरही है।' हे भगवन् ! यदि आप-परमात्माका वह जगन्मय-विराट् स्वरूप, वास्तवमें उस समय जलमें भी था, तो मैंने उस समय उसे क्यों नहीं देखा ?, जब कि-मैं कमल नालके मार्गसे उसे सौ वर्ष तक जलमें ढूँढता रहा ? फिर मैंने जब तपस्या की, तब उसी समय मेरे हृदयमें उसका दर्शन कैसे होगया ? और फिर कुछ ही क्षणोंमें वह पुनः क्यों नहीं दीखा ?, अन्तर्धान क्यों होगया ?, (इस प्रकारका आप परमात्माका वह विराट्रूप भी मायाकी कल्पनामात्र है, वास्तविक नहीं है, ऐसा अर्थात् निर्णीत हुआ) हे मायाका नाश करनेवाले प्रभो ! दूरकी बात कौन करे–अभी इस कृष्णावतारमें आपने इस बाहर–दीखनेवाले–जगत्को अपने–उदरमें ही दिखला दिया, जिसे देखकर माता यशोदा चकित होगयी थी। इससे यही सिद्ध होता है–कि–यह संपूर्ण-चराचर-विश्व केवल आपकी माया ही माया है, अर्थात् माया द्वारा ही इसका प्रादुर्भाव है। जब आपके सहित यह संपूर्ण विश्व, जैसा बाहर दीखता है, वैसा ही आपके उदरमें भी

अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शितम्,
एकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि ।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिताः,
तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते ॥
अजानतां त्वत्पदवीमनात्मन्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाम्।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः ॥
सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि, तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य ।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय प्रभो ! विधातः ! सदनुग्रहाय च ॥
को वेत्ति भूमन्! भगवन्! परात्मन्! योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति, विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥
तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं, स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।

दीखा, तब क्या यह सब आपकी मायाके विना ही आपमें प्रतीत हुआ ? अर्थात् आपकी मायाके द्वारा ही योग्य-देशकाल-नियमादिके विना-यह निखिल-जगत् आपमें प्रतीत होता है, अतः यह जगत् केवल मायाका विलास है । उस दिनकी बात जाने दीजिये, आजकी ही लीजिये । क्या आज आपने मेरे सामने अपनेसे अतिरिक्त संपूर्ण-विश्वको अपनी मायाका खेलरूपसे नहीं दिखलाया है ? । प्रथम आप एक ही थे । फिर सम्पूर्ण-ग्वाल-बाल, बछड़े, और छड़ी-छींके भी आप ही हो गये । उसके बाद मैंने देखा कि—आपके वे सब रूप चतुर्भुज हैं, और मेरे सहित सबके सब उनकी सेवा कर रहे हैं। आपने पृथक्-पृथक्-उतने ही ब्रह्माण्डोंका रूप धारण कर लिया था । परन्तु अब आप केवल अपरिमित-अद्वय-ब्रह्मरूपसे ही अवशिष्ट रह गये हैं । जो लोग अज्ञानवश आपके यथार्थ-अद्वय-स्वरूपको नहीं जानते, उन्हींको आप प्रकृतिमें स्थित-जीवोंके रूपसे प्रतीत होते हैं । और उनपर अपनी मायाका परदा डालकर सृष्टिके समय मेरे (ब्रह्मा) रूपसे, पालनके समय अपने (विष्णु) रूपसे और संहारके समय रुद्रके रूपमें आप प्रतीत होते हैं । हे प्रभो ! आप समस्त जगत्के स्वामी और विधाता हैं, अजन्मा होनेपर भी आप देवता, ऋषि, मनुष्य, पशु-पक्षी, और जलचर आदि अनेक योनियोंमें अवतार धारण करते हैं—इसलिये कि—इन रूपोंके द्वारा दुष्ट-पुरुषोंका घमण्ड तोड दें, और सत्पुरुषोंपर अनुग्रह करें । हे भगवन् ! आप अनन्त हैं, परमात्मा एवं योगेश्वर हैं । जिस समय आप अपनी योगमायाका विस्तार करके लीला करने लगते हैं, उस समय त्रिलोकीमें ऐसा कौन है ? जो यह जान सके कि—आपकी लीला, कहाँ किस लिये, कब और कितनी होती हैं ।

'इसलिए यह संपूर्ण जगत् स्वप्नके समान-असत्य मिथ्याज्ञानमय और दुःखपर दुःख देने वाला है । आप परमानन्द, परमज्ञानरूप और अनन्त हैं । यह मायासे

त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते, मायात उद्यदपियत् सदिवावभाति ॥
एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः, पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥
एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि, स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा, ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥
(भा० १०।१४।१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१-२२-२३-२४)

एषामयमर्थः—ब्रह्मा स्तौति—भगवन्तं—यस्माद्विष्णोः पद्मनाभादहं जातः स नारायणः त्वमेवेति नानाव्युत्पत्तिभिराह—नारायण इति । त्वं किं नारायणो न हि ? अपि तु त्वमेव नारायण इत्यर्थः; न हीति काका त्वमेव नारायण इत्यापादयति । यतः सर्वदेहिनामात्माऽसि, नारं=जीवसमूहोऽयनं यस्येति व्युत्पत्त्या त्वमेव नारायणः, अधीशः=प्रवर्त्तको नियन्ता, ततश्च नारस्यायनं-प्रवृत्तिर्यस्मात्तथेति त्वमेव नारायणः । क्वचिदधीशेति संबुद्धिपाठः ।

उत्पन्न एवं विलीन होनेपर भी आपकी सत्तासे आपमें सत्यके समान प्रतीत होता है ।’

हे प्रभो ! आपही एकमात्र सत्य हैं, क्योंकि—आप सबके आत्मा हैं । आप पुराण-पुरुष होनेके कारण समस्त जन्मादिविकारोंसे रहित हैं । आप स्वयंप्रकाश हैं, इसलिए देश, काल, वस्तु—जो परप्रकाश्य हैं—किसी प्रकार आपको सीमित नहीं कर सकते । आप उनके भी आदि प्रकाशक हैं । आप अविनाशी होनेके कारण नित्य हैं । आपका आनन्द अखण्डित है । आपमें न तो किसी प्रकारका मल है और न अभाव । आप पूर्ण एक हैं । समस्त उपाधियोंसे मुक्त होनेके कारण आप अमृत स्वरूप हैं ।

आपका यह ऐसा स्वरूप समस्त जीवोंका ही अपना स्वरूप है । जो गुरुरूप सूर्यसे तत्त्वज्ञानरूप दिव्य-दृष्टि प्राप्त करके उससे आपको अपने स्वरूपके रूपमें साक्षात्कार कर लेते हैं, वे इस झूठे संसार-सागरको मानो पार कर जाते हैं । (भा०)

इन श्लोकोंका यह तात्पर्यार्थ है—ब्रह्माजी श्रीभगवान् की स्तुति कर रहे हैं—जिस पद्मनाभ-विष्णुसे मैं उत्पन्न हुआ हूँ, वह नारायण आप ही हैं । अतः नारायण नामके विविध-अर्थोंको विविध-व्युत्पत्तियोंके द्वारा कहते हैं—क्या आप ऐसे नारायण नहीं हैं ? अवश्य आपही ऐसे नारायण हैं । यहाँ ‘नहीं हैं’ इस वक्रोक्तिसे आप ही नारायण हैं, ऐसा कह रहे हैं । क्योंकि—आप सब शरीर-धारियोंके आत्मा हैं, इस अर्थमें नारायण शब्दकी ऐसी व्युत्पत्ति है—नार = जीवसमुदाय, जिसका अयन यानी स्थान है, वह नारायण है, (यहाँ सकल-आभूषण, जैसे सुवर्णके स्थान हैं, वैसे नारायण के सकल जीव अयन हैं, ऐसा समझना चाहिये, इससे सर्वात्मत्वका समर्थन होता है ।) तथा आप सबके अधीश्वर हैं—यानी नियन्ता एवं प्रवर्तक हैं, अतः आप नारायण हैं । इस अर्थके लिये नार = जीवसमूहका यानी समस्त जीवोंका अयन यानी प्रवृत्ति जिससे

तथा अखिललोकसाक्षी च त्वमसि । अतः नारं=जीवसमूहमयते-जानातीति व्युत्पत्त्या त्वमेव नारायणः । नरः=परमात्मा, तस्माद्भवन्तीति नरभुवः पदार्थाः, ते च तथा नराज्जातं जलञ्चायनं यस्य सः । एवमिमे त्वत्तः समुत्पन्ना जलादिपदार्था अपि तवैवाङ्गं=स्वरूपं, न त्वत्तो भिन्नाः सन्ति, एवं सः प्रसिद्धो जलशायी नारायणः सोऽपि तवैवाङ्गं=मूर्तिर्न त्वद्भिन्नः । उक्तं च—'नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः । तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥' इति । संप्रति जलाश्रयत्वेन प्राप्तं नारायणे परिच्छिन्नत्वं निरस्यति-तच्चापि जलायतनत्वेन त्वयि दृष्टं परिच्छिन्नत्वमपि सत्यं न भवति, किन्तु तव मायैव=मायया लीलार्थं कल्पितमेव तद्रूपम्, वस्तुतस्त्वद्रूपन्तु—अपरिच्छिन्नमनन्तमपारमेव विज्ञेयम् । १४।

संप्रति भगवतोऽपरिच्छिन्नत्वमेवोपपादयति-तच्चेदिति । चेत्=यदि, सद्=विद्यमानं जगत् यस्मिंस्तत् जगदाश्रयभूतं तव तद्वपुः नारायणस्वरूपं जलस्थं परिच्छिन्नमित्येवं यदि सत्=सत्यं स्यात्, तर्हि हे भगवन्=अचिन्त्यै-

होती है, वह नारायण है, ऐसी व्युत्पत्ति है । तथा अखिल-लोकोंके साक्षी भी आप ही हैं । इस अर्थके लिये-नार=जीवसमूह को जो अयते-जानता है, ऐसी व्युत्पत्ति है । ऐसे भी आप नारायण हैं । नर=परमात्मा, उससे उत्पन्न होनेवाले सब पदार्थ नरभुव -नार हैं, एवं जल भी नरसे समुत्पन्न होनेसे नार है, वह सब जिसका अयन है-आश्रय है, वह नारायण है । आपसे समुत्पन्न जगत्के ये सब जलादि पदार्थ आपके ही अंग हैं-स्वरूप हैं-अर्थात् आप नारायणसे ये भिन्न नहीं हैं । इसप्रकार वह प्रसिद्ध क्षीर-सागर-निवासी नारायण भी आपकी ही मूर्ति है, वह भी आपसे भिन्न नहीं, शास्त्रोंमें ऐसा कहा भी है कि—'नरसे—परमात्मासे उत्पन्न होनेवाले—सभी पदार्थोंको विद्वान् लोग नार कहते हैं । वे सब जिसका अयन है-आश्रय है-उसे नारायण कहते हैं ।' 'जलको नार कहते हैं, क्योंकि—वह नरसे यानी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है । वह जल प्रथम जिसका आश्रय था, उसको नारायण कहते हैं ।' (स्मृ०)

अब परिच्छिन्न-जलमें स्थित होनेसे प्राप्त-परिच्छिन्नत्वका निवारण करते हैं-नारायणमें-जलाश्रयत्वसे देखा गया-परिच्छिन्नत्व, परमार्थ सत्य नहीं है, किन्तु आपकी माया द्वारा लीलाके लिये उसरूपकी भी कल्पना की गई है, वस्तुतः आप नारायणका स्वरूपतो अपरिच्छिन्न, अनन्त और अपार है, ऐसा जानना चाहिये ।

अब श्रीभगवान्के अपरिच्छिन्न-स्वरूपका उपपादन (युक्ति से समर्थन) करते हैं-हे भगवन् ! हे अचिन्त्य-ऐश्वर्यसे संपन्न ! वह जगत्का आश्रयभूत-आपका विराट् नारायणरूप, यदि जलमें स्थित होनेसे परिच्छिन्न है, यह बात सत्य है, सो जब मैं कमलनाल

अर्थ ! मे=मया कमलनालमार्गेणान्तः-प्रविश्य संवत्सरशतं विचिन्वताऽपि तदा=अन्वेषणसमये एव किं न दृष्टम् ? । तदा=तपःकरणानन्तरं हृदि=स्वहृदय एव किं वा सुदृष्टं=सम्यक् दृष्टं, पुनश्च सपदि=तत्क्षणमेव तत्रापि नो व्यदर्शि=नैव दृष्टम् । अतो व्यापकस्यापरिच्छिन्नस्य सर्वात्मन एव तवेच्छया मायाख्यया तथाऽध्यारोपितं दर्शनं, न त्वयि—भूम्नि परिच्छिन्नत्वापादकं भवति, अतस्त्वन्मूर्तेः सच्चिदानन्द-विग्रहस्य देशविशेषपरिच्छेदः सत्यो न भवति; न हि सिकताकल्पिततोयस्य शीतत्वादि ज्ञातुं शक्यमसत्यत्वादेवमत्रापि वपुषो मायात्वे तत्परिच्छेदस्यापि सुतरां मायात्वमिति भावः ।१५।

वस्तुतो जलादिप्रपञ्चस्यावास्तवात्तेन तव कथं परिच्छेदः ? इत्याह—हे मायाधमन=मायोपशमन ! 'धमतेः सौत्राल्ल्युः' अत्र अस्मिन्नेवावतारे, अस्य बहिः स्फुटस्य=प्रत्यक्ष—सिद्धस्य कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्य अन्तर्जठरे=स्वजठरमध्ये, जनन्याः=यशोदायाः प्रदर्शनेन मायामात्रत्वमेव प्रपञ्चस्य, ते=त्वया भगवतैव स्वयं प्रकटीकृतम् । तथा च यदि जलादि-प्रपञ्चः सत्यः स्यात्तर्हि तेन तव परिच्छेदोऽपि सत्यो भवेत्, स तु मायाविलसितो न परमार्थ-सत्यः इति

के मार्ग द्वारा जलमें प्रविष्ट होकर सौ वर्ष तक ढूँढता रहा, तब मैंने उसे वहाँ क्यों नहीं देखा ? (यदि वहाँ विद्यमान होता, तो ढूँढने वालेको अवश्य दिखाई पड़ता) तब यानी तपस्या करनेके पश्चात् अपने हृदयमें ही वह स्पष्टतः दीख पड़ा, फिर कुछ क्षणके पश्चात् वह एकदम अन्तर्हित (गायब) होगया, अर्थात् देखनेमें नहीं आया । इसलिए—व्यापक-अपरिच्छिन्न-अद्वय-आप सर्वात्माकी माया नामकी इच्छासे ही आप अपरिच्छिन्न-परमात्मामें उस विराट्रूपका दर्शन—अध्यारोपित है—कल्पित है । अतः वह रूप आप-भूमा-ब्रह्ममें परिच्छिन्नत्वका संपादक नहीं हो सकता है । अतः आपके सच्चिदानन्द—विग्रहमें देश-विशेषका परिच्छेद सत्य नहीं हो सकता । जब मरु-मरीचिकाकी रेतीमें भासमान जल ही असत्य है—वास्तविक नहीं है, तब उस कल्पित जलके शैत्यादि धर्म कहाँसे सत्य होंगे ? उस प्रकार यहाँ पर भी जब आपका वह विराट् रूप ही मायामय है—अध्यारोपित है, तो उसके द्वारा होनेवाला परिच्छेद (विभक्तत्व) तो सुतरां मायामय है, वास्तविक नहीं है ।,

वस्तुतः जलादि-द्वैत-प्रपञ्च, अवास्तविक है; अतः उससे आपका वास्तविकरूपसे परिच्छेद (विभक्तत्व) कैसे हो सकता है ? ऐसा कहते हैं—हे मायाधमन यानी मायाका उपशमन करने वाले—हे प्रभो ! इसीही कृष्णावतारमें आपने—माता यशोदाको बाहर प्रत्यक्ष-दिखाई देने वाले-संपूर्ण-प्रपञ्चको अपने छोटे से उदरमें दिखलाकर यह बतला दिया कि—यह द्वैत-प्रपञ्च मायामात्र है । तथा च जलादि द्वैतप्रपञ्च यदि सत्य होता तो उससे किया हुआ आपका परिच्छेद भी सत्य होता । जलादि-प्रपञ्च तो मायाका

त्वयैव प्रदर्शितमिति भावः ।१६।

ननु—बहिःस्थस्य सतो जठरेऽन्तः प्रतिबिम्बोऽस्तु, तत्कुतः सर्वथा तस्य मायामयत्वमित्यत आह—यस्येति । यस्य तव कुक्षौ, इदं सर्वं, सात्मं—आत्मना त्वया सहितं, आत्मानं स्वमपरित्यज्य—सात्मं साकल्येऽव्ययीभावः । अनश्चेति, टच्, 'अव्ययीभावे चाकाले' इति सहस्य सः । यथा—भाति, तथैव तत्सर्वमपि इह—बहिरपि भाति, तदिदं भानं त्वयि मायया विना किं—कथं घटेत ? अयं भावः—त्वयि प्रतिबिम्बश्चेत् बाह्याद्विलोमतया प्रतीयेत, न तु तथास्ति, तव चादर्शस्थानीयस्य त्वयि प्रतीतिर्न स्यात् । न हि दर्पणे दर्पणो दृश्यते, अतो मायाकल्पिततया मिथ्यात्वमेवेति ।१७।

अपि च न केवलं जनन्याः, ममापि तथैव दर्शितमित्याह—अद्यैवेति । त्वदृते—त्वां विना, अस्य विश्वस्य मायामयत्वं ते—त्वया, ममैव च तदपि, अद्यैव = इदानीमेव, किं नादर्शितं—न दर्शितं, किन्तु प्रदर्शितमेव । तथाहि— प्रथमं यदा मया वत्सादयो नापहृतास्तदा, त्वमेकः श्रीकृष्णरूपोऽसि, ततः— वत्सबालादिहरणानन्तरं, व्रजसम्बन्धिनः सुहृदो बालाः वत्साः, समस्ता

विलासमात्र है, परमार्थ—सत्य नहीं है, ऐसा आपने ही स्वयं स्पष्ट कर दिया है।

शंका—बाहरमें स्थित—सत्य जगत्का आपके उदरके अन्दर प्रतिबिम्ब दिखाई दिया होगा ? तब इसको सर्वथा मायामय कैसे मान सकते हैं ? ।

समाधान—जिस आपके उदरमें यह समस्त—जगत् सात्मं—आत्माके सहित यानी आपके सहित, जैसे दिखाई दिया, वैसे ही यह सब बाहर भी दिखाई दे रहा है। अतः आपमें अन्दर एवं बाहर जगत् की यह प्रतीति, मायाके विना कैसे घट सकती है ? । इसका यह आशय है—यदि यह जगत् आपके अन्दर प्रतिबिम्बरूपसे भासित होता, तो बाहरकी अपेक्षा विलोम (उलटे) रूपसे प्रतीत होना चाहिये था, परन्तु ऐसा तो है नहीं, अर्थात् जैसा बाहर दीखता है, वैसा यह अन्दर भी समानरूपसे दीखाई दे रहा है। और दूसरी बात यह है कि—आपतो प्रतिबिम्बाधार दर्पणके स्थानापन्न हैं, दर्पणका दर्पणमें प्रतिबिम्ब नहीं होता, तब आपमें आपका दीखना, मायाके विना कैसे होसकता है ?, इसलिए यह द्वैत—प्रपञ्च मायामय है, यह सिद्ध हुआ।

और भी आपने ऐसा प्रदर्शन केवल माता-यशोदा को ही नहीं किया, अपितु मुझे भी उसी प्रकार दिखलाया है, ऐसा ब्रह्मा जी कहते हैं—अद्यैव । अभी ही, आप को छोडकर इस समस्त-जगत् की माया-मयता आपने क्या मुझे नहीं दिखलायी ? अपितु दिखलायी है। जैसे कि—प्रथम—जब मैंने बछड़े आदि नहीं चुराये थे, तब आप श्रीकृष्णरूपधारी अकेले ही थे। बछड़े ग्वाल-बाल आदिको चुरानेके अनन्तर, आपने मित्ररूप ग्वाल-बाल, बछड़े, मुरली सींगी, आदि समस्तरूप बन गये। फिर मैंने देखा

वेणुविषाणादयश्च सर्वेऽपि त्वमेवाभूः । ततो मया साकं = सह, अखिलैः सत्त्वादिभिरुपासिताः = सेविताः, तावन्तः = तावत्संख्याकाश्चतुर्भुजाः त्वमसि= त्वमभूः । ततश्च तावन्त्येव जगन्ति = ब्रह्माण्डानि त्वमभूः । पश्चात् मायामयस्य सर्वस्य यथार्थदर्शनतः प्रतिषेधात्—अमितं = अनन्तं—अद्वयं—द्वयप्रपञ्चवर्जितं ब्रह्मैव त्वत्स्वरूपमेवावशिष्यते, नान्यत् । ब्रह्माण्डदर्शनं पूर्वमनुक्तमप्यत्रत्योक्त्यैव ज्ञेयम् ।

ननु—ब्रह्मन् ! तव मया दर्शितं शुद्धमेव चैतन्यं, कथं प्रपञ्चवन्मायेत्युच्यते, सत्यम् । किन्त्वद्वितीये त्वयि नानात्वं गुणावतारमत्स्याद्यवतारेष्विव कार्यवशेन स्वतन्त्रमायानिबन्धनमित्याह—अजानतामिति । त्वत्पदवीं = तव परममद्वयस्वरूपं, अजानतामेव, अनात्मनि = प्रकृतौ स्थितः, आत्मा त्वमेव, आत्मना = स्वातन्त्र्येण, मायां वितत्य = विस्तार्य भासि, तत्र जगतः सृष्टौ—निमित्तभूतायां रजसा गुणेनाऽहं ब्रह्मेवेति भासि, जगतः, विधाने = पालने, सत्त्वेन एष त्वं विष्णुरिवेति भासि, जगतोऽन्ते प्रलये तमसा त्रिनेत्रो रुद्र इव भासि, अयं भावः—निराकारस्य परमात्मनो यथा इवपदसूचिता मायिकाकारा

कि—आपके ये इतने सब रूप चतुर्भुज हैं, और मेरे सहित सब सत्त्वादि, उनकी सेवा कर रहे हैं, और आपने अलग-अलग इतने ही ब्रह्माण्डोंके रूप भी धारण कर लिये हैं। फिर यथार्थ ज्ञान द्वारा इस सब मायामय विश्वका प्रतिषेध करनेके पश्चात् अनन्त-अद्वय (द्वैतप्रपञ्च वर्जित) ब्रह्मरूप आप ही अवशिष्ट रह गये हैं, अन्य कुछ भी परिशिष्ट नहीं रहा । ब्रह्माण्डका दर्शन प्रथम नहीं कहा था, तो भी यहाँके कथनसे इसे जान लेना चाहिए ।

शंका—(श्रीभगवान् कहते हैं) हे ब्रह्मन् ! मैंने तो तुम्हें शुद्ध ही चैतन्यरूप दिखलाया है, तो फिर आप उसे प्रपञ्चके समान मायामात्र कैसे कहते हो ? ।

समाधान—(ब्रह्माजी कहते हैं) हे प्रभो ! आपका कहना सत्य है, परन्तु आप तो वस्तुतः अद्वितीय हैं (यही शुद्ध-चैतन्य है) फिर भी मत्स्यादि-गुणावतारों के समान, कार्यवश आपका नानारूपसे प्रकट होना, आपकी स्वतन्त्र-मायाके कारणसे ही है, ऐसा मैं कहता हूँ—आपके परम-अद्वय-स्वरूपको न जानने वालोंकी दृष्टिमें स्वतन्त्रतासे अपनी मायाको फैलाकर प्रकृतिमें स्थित-साधारण जीवरूपसे आप प्रतीत होते हैं । उसमें जगत्की सृष्टिरूप—निमित्तके समय सर्जनमें प्रयोजक मायाके रजोगुण द्वारा आप ही मुख्य—ब्रह्माके रूपसे प्रतीत होते हैं । पालन के समय पालनोपयुक्त-सत्त्व गुणके द्वारा आप विष्णुरूपसे प्रतीत होते हैं । और जगत्के संहारके समय तत्प्रयोजक तमोगुण द्वारा त्रिनेत्र-रुद्रके रूपसे प्रतीत होते हैं । यहाँ यह आशय है—जिस प्रकार निराकार-परमात्माके ब्रह्मा विष्णु एवं रुद्ररूप माया-प्रयोजित ही आकार हैं, स्वतः नहीं।

ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपा विग्रहाः सन्ति, तथा—मायिकमेव जलस्थं नारायणरूपं, अवताराश्च सर्वे मायिकरूपाः, माययैव वत्सबालचतुर्भुजादीन् क्षणिकान् ब्रह्मणे चतुर्मुखाय दर्शयामास, न तु पारमार्थिकं किमपि, पारमार्थिकन्त्ववशिष्यमाणं ब्रह्माद्वयमेव, नान्यत् ।

हे प्रभो ! विधातः ! हे ईश ! अजनस्य=जन्मरहितस्यापि, ते=तव, असतां=रावणकंसादीनां दुष्कृतां दुर्मदनिग्रहाय, सतां=सज्जनानां भक्तानां, अनुग्रहाय च सुरेषु=देवेषु वामनरूपेण ऋषिषु—परशुरामादिरूपेण, नृषु=मनुष्येषु रामकृष्णादिरूपेण, तिर्यक्षु—वराहादिरूपेण, यादःसु=जलचरेषु मत्स्यादिरूपेण, यज्जन्म, तत्—मायाऽऽख्यया स्वेच्छयैव भवति, न तु पारमार्थिकं—अजस्य जन्म कथमपि संभवतीति भावः ।

ननु—च स्वातन्त्र्ये सति भवतः, कथं कुत्सितेषु मत्स्यादिषु जन्म, कथं वा वामनाद्यवतारे याच्ञादिकार्पण्यं, कथं वाऽस्मिन्नेवावतारे कदाचिद्भयपला-

यह 'इव' पदके प्रयोगसे भी सूचित किया है , उसप्रकार जलमें स्थित-चतुर्भुज नारायण का स्वरूप भी मायिक (माया-प्रयोजित) है, एवं समस्त अवतारोंके विग्रह भी मायासे प्रयोजित ही हैं । एवं इस समय प्रदर्शित ग्वाल-बालादि-एवं चतुर्भुजादिरूप भी— मायासे ही उद्भासित था—अतएव वह क्षणिक था—स्थायी नहीं था—मुझ चतुर्मुख-ब्रह्मा को आप श्रीभगवान् ने दिखलाया था । वह सब रूप पारमार्थिक नहीं है । पारमार्थिक तो प्रतिषेधानन्तर अवशिष्ट हुआ—अद्वय-ब्रह्म ही है, अन्य नहीं है ।

हे प्रभो ! हे विधाता ! हे जगत्के स्वामी ! आप वस्तुतः जन्मरहित हैं, तो भी दुष्ट-दुराचारी, जो रावण-कंसादि हैं, उनके घमण्डको चूर करनेके लिए और सज्जन-सदाचारी जो भक्त हैं, उनपर अनुग्रह करनेके लिए आपने कभी देवताओंमें वामनरूपसे ऋषियोंमें परशुरामादिरूपसे, मनुष्योंमें राम-कृष्णादिरूपसे, पशुपक्षियोंमें वराह (सुअर) आदि रूपसे, जलचरोंमें मत्स्यादिरूपसे जन्म धारण किये हैं, वह सब अपनी मायानामकी इच्छाके द्वारा ही है । क्योंकि-अजन्मा-का जन्म किसी प्रकार भी पारमार्थिक कभी हो नहीं सकता, ऐसा भाव है ।

शंका—आप स्वतन्त्र हैं, फिर कैसे इन निन्दित—मत्स्यादि—योनियोंमें आपने जन्म लिया, वामनादि-अवतार लेकर आपने कैसे याचनादि द्वारा कार्पण्य दिखलाया, और इस कृष्णावतारमें भी कभी आपका भयभीत होकर दौड़ना हुआ है, यह सब कैसे हुआ ?

समाधान—(अनेक सम्बोधनोंके द्वारा प्रदर्शित किया जाता है) हे भूमन्= विश्वव्यापक-अनन्तमूर्ते ! हे भगवन्=व्यापक होनेपर भी षडैश्वर्यादिकी श्रीसे पूर्ण ! भगवान् होनेपर भी हे परमात्मा स्वरूप ! हे योगेश्वर !=योगमाया द्वारा प्रदर्शित-

यनादि, अत आह—हे भूमन्=विश्वव्यापकानन्तमूर्ते ! हे भगवन् !=भूमत्वेऽपि षडैश्वर्यश्रीपूर्ण ! हे परमात्मन्=भगवत्त्वेऽपि परमात्मस्वरूप !, हे योगीश्वर !=योगमाययैवानुभाव्यमानभूमत्वादिमहैश्वर्य ! इत्यन्वर्थैः सम्बोधनैर्दुर्विज्ञेयत्वमाह—अहो=आश्चर्यरूपां योगमायां विस्तारयन्, यदा त्वं क्रीडसि—नानावतारैः, तदा त्रिलोक्यां, भवतः=भगवतः, उतीः=लीलाः, क=देशे भवन्ति, कथं=केन प्रकारेण वा भवन्ति, कति=कियत्संख्याकानि वा भवन्ति, कदा वा काले भवन्ति इति को वेत्ति, न कोऽपीत्यर्थः । अचिन्त्यं—तव योगमायावैभवमिति भावः ।

ननु—भवतु भवदवताराणामचिन्त्ययोगमायोद्भासिततया मायिकत्वं, परन्तु द्वैतप्रपञ्चस्य ह्यसत्त्वे कथं सत्त्वप्रतीतिरितीमामाशङ्कां सपरिकरमुपसंहरन् परिहरति—तस्मादिति । स्वप्नाभं=स्वप्नपदार्थवदाभा=प्रतीतिर्यस्य तत् । अस्तधिषणं=निरस्तप्रतिभासं—समाध्यादौ, पुरु=बहुलं दुःखानन्तरं दुःखं यत्र, इदमज्ञदृष्ट्या प्रतीयमानं नामरूपात्मकं जगत्—अशेषमसत्स्वरूपमेव=सद्विलक्षणमनिर्वचनीयमेव । मायातः, उद्यत्=उद्गच्छत्, अपियत्=नश्यत् । अपि पूर्वादिणः शता इणो यण् । सदिव, उपलक्षणतया नित्यमिव, सुखमिव, चेतनमिव,

---

भूमत्वादि महान् ऐश्वर्यसे संपन्न ! इन सार्थक-सम्बोधनोंसे यह सूचित किया गया है कि—आप वस्तुतः दुर्विज्ञेय हैं । अहो ! यानी विस्मयकारी अपनी योगमायाका विस्तार करके अनेक—अवतारोंके रूपोंसे जब आप विविध-लीलाएँ करने लगते हैं, तब किस देशमें, किस प्रकारसे, किस समयमें, कितनी लीलाएँ क्यों करते हैं ? त्रिलोकीमें ऐसा कौन है ? जो जान सकता हो ? अर्थात् कोई नहीं जान सकता । आपका यह सब लीलाचारित्र्य आपकी ही योगमायाका वैभव है, उसकी शक्ति अचिन्त्य है, यह भाव है ।

शंका—आप (भगवान्) के अवतार, अचिन्त्य-योगमायाके द्वारा प्रकटित होने से भले ही मायिक हों, परन्तु यदि यह समग्र-द्वैतप्रपञ्च असत् है, तो इसकी सत्यत्व से प्रतीति क्यों हो रही है ?

समाधान—इस शंका का—प्रयोजक कारण सहित-प्रकरणके उपसंहार के साथ परिहार करते हैं । तस्माद् । इस द्वैत जगत्की स्वप्न पदार्थके समान आभा यानी प्रतीति है । समाध्यादिमें इसके प्रतिभास का निरास भी होता है । तथापि यह दुःख पर दुःख देता रहता है । यह नामरूपात्मक—कल्पित अशेष—जगत् अज्ञानी जनोंकी दृष्टिमें प्रतीयमान है, यह सर्वथा सद्विलक्षण—अनिर्वचनीय—मिथ्या ही है । यह मायाके द्वारा ही उत्पन्न होता है एवं नष्ट भी होता है । अधिष्ठानरूप—आप परमात्माके सत्त्वचित्त्वादि—गुणोंके द्वारा ही यह सत्के समान नित्यके समान, सुखके समान एवं

अधिष्ठानभूतस्य तव गुणैः तथा तथा भातीत्यर्थः ।

त्वमेव तु सत्य इत्याह—एकस्त्वं सत्यः, कुत आत्मा, दृश्यमसत्यं दृष्टं, न चात्मा दृश्योऽतः सत्यः । किञ्च यद्विकारवत्, तदसत्यं, न च त्वयि जन्मादयो विकाराः सन्तीत्याह–आद्यः=कारणं, अतो न जन्म । आद्यत्वे हेतुः–पुराणः=पुरापि नवः, कार्यात्पूर्वमपि वर्तमानः इत्यर्थः । अत्र हेतुः पुरुषः—पूर्णतया इति। तथा च श्रुतिः 'पूर्वमेवाहमिहासम्' 'तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्' इति । 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।' (श्वे० उ० ३।९) इति । जन्मानन्तरास्तित्वलक्षणं विकारं वारयति—नित्यः=सनातन इत्यर्थः । पूर्णः, अजस्रसुखः, अक्षरः, अमृत इति चतुर्भिः पदैः—क्रमेण वृद्धिविपरिणामापक्षयविनाशान्वारयति । पूर्णत्वे हेतुः–अनन्तोऽद्वय इति च । देशकालपरिच्छेदरहितो वस्तुपरिच्छेदरहितोऽपीत्यर्थः । अमृतत्वोपपादनाय चतुर्विधक्रियाफलत्वं वारयति—स्वयंज्योतिः निरञ्जनः, उपाधितो मुक्त इति पदत्रयेण । अयंभावः—तत्रोत्पत्तिराद्य इत्यनेनैव निराकृता, प्राप्तिरपि क्रियया ज्ञानेन वा भवेत्, क्रियया प्राप्तिः आत्मपदेनैव निराकृता,

चेतनके समान वैसा वैसा भासता है । यहाँ सत्पद नित्यादिका उपलक्षण है ।

आप–परमात्मा ही सत्य हैं—ऐसा (ब्रह्माजी) कहते हैं—एक आप ही सत्य हैं, क्यों ? आप आत्मा हैं, इसलिये । दृश्य-प्रपञ्च असत्य देखा गया है, आत्मा दृश्य नहीं, किन्तु द्रष्टा है, अतः सत्य है । और जो विकारवाला होता है, वह असत्य होता है । आपमें जन्मादि विकार नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—आप आद्य यानी सबके महाकारण हैं, इसलिये आपका जन्म नहीं हो सकता । आद्यत्वमें हेतु बतलाते हैं–पुराण, यानी पुरातन होनेपर भी सदा अभिनव–परिवर्तन रहित । जगद्रूपकार्यसे प्रथम भी आप वर्तमान हैं । पुराणत्वमें हेतु है—पुरुष, पूर्ण होनेसे । श्रुति भी ऐसा कहती है–'मैं पूर्वमें यहाँ ही व्यापक रूपसे पूर्ण था, यही पुरुषका पुरुषत्व है ।' (श्रु०) 'उस पुरुषके द्वारा यह सब विश्व पूर्ण है ।' (श्रु०) जन्मके अनन्तर होनेवाले अस्तित्वरूप विकारका निवारण करते हैं—नित्यः = सनातन । पूर्ण, निरन्तरसुखरूप, अक्षर, एवं अमृत इन चारों विशेषणोंके द्वारा क्रमशः वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय, एवं विनाश इन चारों विकारोंका निवारण करते हैं । पूर्णत्वमें हेतु है—अनन्त एवं अद्वय । अनन्त यानी देश एवं कालके परिच्छेदसे रहित, अद्वय यानी वस्तुके परिच्छेदसे रहित । अमृतत्वके उपपादनके लिए स्वयंज्योति, निरञ्जन एवं उपाधिमुक्त, इन तीनों पदोंके द्वारा चार प्रकारके क्रिया–फलोंका निवारण करते हैं । यहाँ यह आशय है—उत्पाद्य, प्राप्य; विकार्य, एवं संस्कार्य ऐसे चार–प्रकारके क्रियाफल होते हैं । उनमें आद्य विशेषण से उत्पत्तिका निवारण हो गया । प्राप्ति क्रियासे भी होती है, एवं ज्ञानसे भी । क्रियासे होनेवाली–प्राप्तिका आत्मपदसे निराकरण होगया । क्योंकि–स्वस्वरूप होनेसे आत्मा

आत्मनः स्वस्वरूपत्वेन सदा प्राप्तत्वात्; ज्ञानतः प्राप्तिं वारयति—स्वयंज्योतिरिति, स्वयंप्रकाशस्य ज्ञानाविषयत्वात् । विकृतिरपि—तुषापाकरणेनावघातेन व्रीहीणामिवोपाध्यपाकरणेन—भवेत्, तत्तु—असंगत्वान्न संभवतीत्याह—मुक्त उपाधित इति । संस्कारोऽपि किमप्यतिशयाधानेन मलापाकरणेन वा । तत्रातिशयाधानं पूर्णत्वेनैव निराकृतम्, मलापकरणं निवारयति—निरञ्जन इति—निर्मल इत्यर्थः ।

एवंविधमिति—गुरुरेवार्कः—परमार्थप्रकाशकः, तस्माल्लब्धा उपनिषत् तज्जन्यं ज्ञानमेव सुचक्षुः तेन, एवंविधं=उक्तप्रकारकं स्वात्मानं=स्वस्वरूपभूतं, सकलात्मनां=समस्तजीवानामप्यात्मानं त्वां, आत्माऽऽत्मतया=स्वाभेदेन-स्वानन्यतया विचक्षते=पश्यन्ति, ते भवानृताम्बुधिं=भवतीति भवः, स एव मिथ्यात्वात् दुस्तरत्वाच्चानृताम्बुधिस्तं तरन्तीवेत्यन्वयः । भवाम्बुधेरनृतत्वात्—तत्तरणमपि तथैवेत्याशयेनेवशब्दप्रयोगः ।

अतएव 'मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावत् ।' (श्रीमद्भा० ११।५।३४)

सदा प्राप्त ही है । अब ज्ञानसे प्राप्तिका निवारण करते हैं—स्वयंज्योति इस पदसे । स्वयंप्रकाश ज्ञानका विषय नहीं होता, इसलिए वह ज्ञानसे भी प्राप्य नहीं है । जैसे कूटकर धान (व्रीहि) का छिलका हटाना, उसकी विकृति है, उसीप्रकार आत्मासे उपाधिका अपाकरण--करनारूप--विकृतिका भी यहाँ संभव नहीं है, क्योंकि—वह आत्मा असंग है, एवं उपाधिसे भी सदा विमुक्त है । संस्कार भी दो प्रकारसे होता है, एक होता है—गुणातिशयके आधान (स्थापन) से, एवं द्वितीय होता है—मलके अपनयन से, इसमें पूर्णत्वविशेषणसे गुणातिशयके आधानका निवारण किया (क्योंकि-अपूर्ण—पदार्थमें ही अतिशयका आधान होसकता है—पूर्णमें नहीं) एवं निरञ्जन (निर्मल) विशेषणसे मलापनयन का भी निवारण होगया । इसप्रकार आत्मा विकार्य एवं संस्कार्य भी नहीं है ।

सूर्यके समान परमार्थ-वस्तुका प्रकाश करने वाले—सद्गुरुदेवसे उपनिषद्रूप-ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है, उससे समुत्पन्न—विज्ञानरूपी—दिव्यदृष्टिसे जो साधक मानव, स्वस्वरूपभूत एवं समस्त जीवोंके भी स्वस्वरूपभूत—आप परमात्माको अभेद (अनन्य) भावसे अपरोक्ष देखते हैं, वे इस मिथ्या दुस्तर—संसार-सागरसे पार होजाते हैं । संसारमें सागरकी उपमा देनेसे यह बड़े कष्ट—से पार करने योग्य है । संसार-सागरको अनृत (मिथ्या) कहनेसे उसका पार होना भी वास्तविक नहीं है—केवल—अज्ञानकी निवृत्तिमात्र है, इस आशयसे यहाँ 'इव' शब्दका प्रयोग किया है । अर्थात् जब संसार -सागर भी वस्तुतः नहीं है—तो उसका तरना भी वस्तुतः कैसे माना जा सकता है, इसलिए भवाम्बुधिमें अनृत विशेषण दिया है एवं तरन्तिके साथ 'इव' जोड़ दिया है ।

'मायामाणवको हरिः' (भा० ८।१६।३२) इत्यादौ मिथ्याभूतेऽर्थे मायाशब्द प्रयोगः कृतः तमेवार्थं दृढयति । मायया कल्पितो मिथ्याभूतः स्वर्णकान्तिनिभो मारीचराक्षसवंचनाकारो मृगः, तं दयितया—सीतया प्रिययाऽऽप्तुमिष्टमन्वधावत् श्रीरामभद्र इत्यर्थः ।

अतएव सदृष्टान्तं—सविकारां मायां—अवस्तुभूतां—अविवेकिनो मूढा एव वैपरीत्येन वस्तुभूतां—पारमार्थिकीं जानन्ति, न विवेकिनो विज्ञाः, ते तु तां मिथ्यामेव जानन्तीत्यप्याहुः स्पष्टतः श्रीमद्भागवते दशमेऽपि—'मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्ते उदकाशयम् । एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु—चक्षते ॥' (भा० १०।७३।११) इति । अयमर्थः—बालाः=अज्ञाः—मूढाः, यथा मृगतृष्णां=मरु-प्रदेशसंसृष्टदिवाकरकिरणनिकरं, उदकाशयं=जलपूर्णं नदीतडागादिरूपं मन्यन्ते, अर्थात् जलरहितं—स्थलं भ्रान्त्या जलपूर्णं मन्यन्ते । तथा, वैकारिकीं= सृष्ट्यादिविकारापन्नां मायां, अयुक्ताः=अविवेकिनोऽज्ञाः, वस्तु चक्षते, अर्थात्- अवस्तुभूतां तां मिथ्यां सद्वस्तुतया पश्यन्तीत्यर्थः ।

तस्माद् अनिर्वचनीयं मिथ्याभूतं तत्त्वज्ञाननिवर्त्यमेव श्रुतिस्मृतिभाग-

अतएव श्रीमद्भागवतके—'भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मायामृगके पीछे दौड़े, जिसे अपनी प्रिया भगवती सीता प्राप्त करना चाहती थी ।' (भा०) मायाके द्वारा ही श्री हरि, छद्मवेषधारी-बालक-वामनरूप बने, इत्यादि-स्थलोंमें मिथ्या-अर्थमें मायाशब्दका प्रयोग किया है, यह मायाके पूर्वोक्त—अर्थको ही दृढ़ करता है । मायामृग यानी राक्षसी मायासे कल्पित—मिथ्याभूत-मृग, जो सुवर्णकी कान्तिके समान कान्तिवाला था, और मारीच राक्षसने श्रीरामकी वंचना करनेके लिए जिसका आकार धारण किया था । इसप्रकार भगवान् ने भी बलिकी वंचना करनेके लिए वामनका कल्पित-वेष बनाया था ।

अतएव श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धमें भी स्पष्टरूपसे दृष्टान्तके साथ-यही बतलाया है—कि—अविवेकी मूढ-जन ही विकारवाली—अवास्तविकी—मायाको उलटे वास्तविक—परमार्थ—सत्य समझते हैं, और विवेकी विज्ञ—पुरुष तो उस मिथ्या मायाको मिथ्या ही समझते हैं—'जैसे मूर्ख—जन, मृग-तृष्णिकाको ही जलाशय मान लेते हैं, वैसे ही इन्द्रिय-लोलुप-अज्ञानी-मूढ, विकारवाली मायाको सत्य-वस्तु मानते हैं ।' (भा०) यह अर्थ है—बाल यानी अज्ञ-मूढ (बच्चा नहीं) जैसे मृग-तृष्णाको यानी मरु—भूमिमें पड़ी हुई—सूर्य—किरणोंके समुदायको जल—पूर्ण नदी या तडाग आदि समझते हैं, अर्थात् जलरहित-स्थलको भ्रान्तिसे जल-पूर्ण मान लेते हैं, वैसे ही सृष्ट्यादि विविध-विकारोंको—प्राप्त हुई—मायाको अविवेकी मूढ, वास्तविक कहते हैं, अर्थात् अवास्तविक-उस मिथ्यावस्तुको वास्तविक-सत्यरूपसे देखते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि—श्रुति—स्मृति—भागवतादि-शास्त्रोंमें प्रतिपादित—मायाका स्वरूप अनिर्वचनीय-मिथ्या

बतादिशास्त्रप्रतिपादितं मायास्वरूपमिति सिद्धम् ।

एतावता मायावादः श्रुतिस्मृतिपुराणादिशास्त्रैरेव सिद्धो न केनापि व्यक्तिविशेषेण शास्त्रविरुद्धः कल्पित इत्यपि स्पष्टं सिद्ध्यति ।

एतेन ये कुतर्कव्यसनिनः परेषां मिथ्याऽऽक्षेपमात्रेण स्वमतप्रचार निपुणाः पाखण्डाः—अद्वैतब्रह्मवादिनो महानुभावान् 'इमे मायावादिनः' इत्युक्त्वा कटाक्षयन्ति, ते च खल्वर्धचन्द्र-प्रयोगेण निरस्ताः वेदितव्याः । मायाशब्दतदर्थविशेषाभ्युपगममात्रेण यदि—अद्वैतिनः, तैः कटाक्षयितव्याः स्युः; तर्हि तुल्यन्यायेन पूर्वोक्तानि सर्वाणि श्रुत्यादीनि शास्त्राण्यपि कथं न कटाक्षयितव्यानि भवेयुः ? इति त एव प्रष्टव्याः । यतः 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्' (श्वे० उ० ४।१०) 'विश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे० उ० १।१०) इत्यादिश्रुतिषु; 'मम माया दुरत्यया' (गी० ७।१४) 'संभवाम्यात्ममायया (गी० ४।६) 'मायामेतां तरन्ति ते ।' (गी० ७।१४) 'योगमायासमावृतः' (गी० ८।२५) इत्यादिगीतासु 'एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।' (भा० ११।३।१६)

ही है, तथा इसकी तत्त्वज्ञानसे निवृत्ति होजाती है ।

पूर्वोक्त—इतने निरूपणसे—मायावाद, श्रुति—स्मृति—पुराणादि शास्त्रोंसे ही सिद्ध होता है, अतः इसकी किसी विशिष्ट—व्यक्ति द्वारा शास्त्र विरुद्ध कल्पना नहीं की गई है, ऐसा स्पष्ट ही सिद्ध होता है ।

एतेन यानी पूर्वोक्त एवं वक्ष्यमाण (आगे किया जाने वाला) निरूपण द्वारा—'दूसरोंके ऊपर व्यर्थके आक्षेप करने मात्रसे अपने शास्त्र-विरुद्ध मतका प्रचार करनेमें निपुण, कुतर्क करनेके व्यसनी—पाखण्डी लोग—'ये मायावादी हैं' ऐसा कहकर अद्वैत ब्रह्मवादी—महानुभावोंके ऊपर—कटाक्ष करते हैं—उन्हें अर्धचन्द्ररूप तिरस्कारका पारितोषिक देकर निराकृत करते हैं, ऐसा समझना चाहिये । यदि मायाशब्दके प्रयोग करने मात्रसे एवं उसके अर्थ—विशेषको मानने मात्रसे अद्वैतियोंपर वे मायावादी कहकर कटाक्ष करते हैं तो तुल्यन्यायसे पूर्वोक्त-श्रुत्यादि-शास्त्रोंको भी मायावादी कहकर उनपर क्यों कटाक्ष नहीं करते ? ऐसा उनसे पूछना चाहिये, अर्थात् अद्वैत—वादियोंके समान, शास्त्र पर भी उन्हें कटाक्ष करना चाहिये ।

क्योंकि—'मायाको प्रकृति (परिणामी-उपादानकारण) और मायाके अधिष्ठाता को नियन्ता—महेश्वर समझो ।' (श्रु०) 'विश्वमायाकी निवृत्ति होती है ।' (श्रु०) इत्यादि श्रुतियोंमें, 'मेरी माया दुस्तर है ।' (गी०) 'अपनी मायाद्वारा जन्म लेता हूँ ।' (गी०) 'वे इस मायाको तर जाते हैं ।' (गी०) 'मैं योगमायासे समावृत हूँ ।' (गी०) इत्यादि गीताके वचनोंमें, 'भगवान् की यह माया विश्वकी सृष्टि स्थिति एवं संहार करती है ।' (भा०) 'संसारासक्त—अज्ञानी ही मायाको सत्यवस्तु मानते हैं ।' (भा०) 'मायाका

'मायामयुक्ताः-वस्तु चक्षते' (भा० १०।७३।११) 'चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम् ।' (भा० ४।७।२६) इत्यादि-श्रीमद्भागवते एवं सर्वत्र मायाशब्दप्रयोग तदर्थविशेषाभ्युपगमः स्पष्टतो दृश्यते। मायां विनाऽपरिच्छिन्नो निष्क्रियः परमात्मा कथं जगत्सर्जनादिकं कर्तुं शक्नुयादिति हेतोः माययैव परमात्मनि जगत्कारणत्ववाद एव मायावादो विनिश्चीयते, अत एतादृश एव मायावादः समुदाहृत—श्रुतिस्मृतिभागवतादौ सर्वत्र समुपलभ्यते ।

एतेन 'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तु ।' इत्यादि वचनमपि प्रत्युक्तम् ! तस्य कपोलकल्पिततया, ब्रह्माद्वैतसिद्धान्तविद्वेषप्रयुक्ततया च सर्वथाऽप्रामाणिकत्वात् ।

अपि च यथा ब्रह्मसत्यत्ववादिन एव ब्रह्मवादिन इत्युच्यन्ते, न ब्रह्म-मिथ्यात्ववादिनो ब्रह्मवादिन इति, तथैव मायाकारणत्वस्य सर्वत्र श्रूयमाणस्य तत्तच्छास्त्रेभ्यो निःसारणासंभवात्—सर्वप्रामाण्यानभ्युपगमे च नास्तिकत्वा-पत्तेः, ये मायायाः सत्यत्ववादिनः, त एव तत्पक्षपातितया मायावादिनो

प्रतिषेध करके आप भगवान् ही चिन्मात्र–अद्वय–अभयरूपसे परिशिष्ट रह जाते हैं ।' (भा०) इत्यादि श्रीमद्भागवतके वचनोंमें सर्वत्र मायाशब्दका प्रयोग, एवं उसके अर्थ–विशेषका स्वीकार स्पष्टरूपसे देखनेमें आता है । दूसरी बात यह है कि—अपरिच्छिन्न-निष्क्रिय-परमात्मा मायाके बिना जगत्की रचना आदि कैसे कर सकता है ? नहीं कर सकता, इसलिए माया द्वारा ही परमात्मामें जगत्कारणताका वाद ही मायावाद है, ऐसा निश्चय होता है । अतः ऐसा ही मायावाद आगे–प्रदर्शित-श्रुति, स्मृति, एवं भाग-वत आदि शास्त्रों के वचनोंमें सर्वत्र स्पष्ट समुपलब्ध होता है ।

एतेन=यानी पूर्वोक्त-शास्त्रोंके प्रमाणों द्वारा–'मायावाद सच्छास्त्र नहीं है, यानी सच्चे शास्त्रोंमें प्रतिपादित नहीं है, अतः यह छिपा हुआ एक प्रकारका बौद्धमत ही है ।' इत्यादि वचन, खण्डित होगया । क्योंकि—यह वचन कपोल-कल्पित है, और ब्रह्माद्वैत-सिद्धान्तके द्वेषके कारण किसी दुराग्रही का लिखा हुआ है, अतएव यह सर्वथा अप्रामाणिक है ।

और भी यहाँ यह समझना चाहिये—कि–जैसे-जो लोग ब्रह्मको सत्य कहते हैं, वे ही ब्रह्मवादी कहे जा सकते हैं, एवं जो ब्रह्मको मिथ्या मानते हैं, वे ब्रह्मवादी नहीं कहे जासकते । उसीप्रकार जो मायाको परमार्थ-सत्य कहते हैं,वे ही मायाके पक्षपाती होनेके कारण मायावादी कहे जा सकते हैं, अर्थात् मायाको मिथ्या मानने वाले माया-वादी नहीं कहे जासकते । और समस्त–शास्त्रोंमें जगत्की परिणामी-उपादान कारणता मायामें सुननेमें आती है, उस कारणता को कोई भी इन शास्त्रोंसे निकाल नहीं सकता । यदि उन शास्त्र–वचनोंके प्रामाण्यको नहीं माना जाय–जिनमें मायाका वैसा निरूपण

मन्तव्याः, तेषां मतस्यैव पुनर्मिथ्याभूतायां मायायां सत्यत्वभ्रमेणासद्वाद-त्वप्रसक्त्या, मायातत्कार्यसत्यत्वापादनेन निखिलश्रुतिस्मृतिभागवतादिपुराण प्रतिपाद्यस्य त्रिविधपरिच्छेदवर्जितस्य सर्वात्मनोऽद्वैतस्यानन्दपूर्णस्य ब्रह्मणो बाधेनार्थात् बौद्धत्वेऽपि वाङ्मात्रेण वेदप्रामाण्यस्वीकारेण प्रच्छन्नत्वस्यापि प्रसक्त्या तत्कपोलकल्पितमप्रामाणिकं वचनं 'भवदीयो बाणो भवन्तमेव प्रहरतीति' न्यायेन तानेवाक्षिपतीति बोध्यम् । अपि च 'यो मां पश्यति सर्वत्र' (गी० ६।३०) इत्यादिना स्वयं भगवतैवापरिच्छिन्नपरमार्थसत्यब्रह्मदृष्टीनां-ब्रह्मवादिनां स्वनाशाभावस्य कथनेन स्वप्रियभक्तत्वं, परिच्छिन्नमतीनां द्वैतिना-मेव सर्वव्यापकस्य सर्वात्मनो विष्णोः परिच्छेदाभिमत्या स्वस्यापि च विनाशेन स्वद्वेष्यत्वमर्थात्-बोधितम् । अतो मायासत्यत्ववाद एव मायावादो न तन्मिथ्या-त्ववादस्तेषां तन्मिथ्यात्वापादनेन तदपवादकत्वात् तस्माद्-ये मायां तत्कार्यमनर्थ-

---

है-तो नास्तिकत्व की आपत्ति होजाती है । अतः जो लोग मिथ्याभूत-मायाको भ्रमसे परमार्थ-सत्य मानते हैं, उनका मत ही असद्वाद है । और माया एवं तत्कार्य द्वैत-प्रपञ्च को परमार्थसत्य बतलानेसे-त्रिविधपरिच्छेदरहित-सर्वात्मा-आनन्दपूर्ण-अद्वय ब्रह्म-जो निखिल-श्रुति-स्मृति-भागवतादि पुराणोंसे प्रतिपाद्य है—उसका बाध हो जाता है । इसलिए वह द्वैतियोंका वाद ही बौद्धमत हो जाता है । उसमें प्राप्त बौद्धत्व छिपानेके लिए वे ऊपर-ऊपरसे वाणीमात्रसे वेदादिको भी प्रमाण मान लेते हैं—इसलिये उनके मतमें प्रच्छन्न-बौद्धत्व भी ठीक घट जाता है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है-कि-'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तत् ।' यह वचन उस द्वैतमतपर ही यथार्थतः घट जाता है । जो माया एवं तत्कार्य-द्वैतप्रपञ्चको परमार्थसत्य मानकर केवलाद्वैत-ब्रह्म-का निषेध करते हैं । इसलिये पूर्वोक्त कपोल-कल्पित वचन द्वारा-जो लोग अद्वैत-ब्रह्मवादियोंपर आक्षेप करते हैं—उनका यह आक्षेप-'तुम्हारा फेंका हुआ बाण तुम्हें ही हनन करता है' इस न्यायके अनुसार (अर्थात् 'मियाँके जूते मियाँके सिर पर' इस कहावतके अनुसार) पूर्वोक्त-मतवाले द्वैत-वादियोंपर ही आ पड़ता है ।

और भी—'मुझ परमात्माको जो सर्वत्र देखता है ।' (गी०) इत्यादि-वचनोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने यह बतलाया है कि-अपरिच्छिन्न-परमार्थ-सत्य ब्रह्मकी दृष्टि (भावना) वाले-ब्रह्मवादियोंका कभी विनाश नहीं होता, अर्थात् वे कभी पुरुषार्थ भ्रष्ट नहीं होते । इससे यह भी सूचित होता है कि-वे ही श्रीभगवान्‌के अत्यन्त-प्रिय भक्त हैं । और साथ ही यह भी अर्थात् बोधित होता है कि-अपरिच्छिन्न-सर्वव्यापक-भगवान् विष्णुको परिच्छिन्न-स्वात्मभिन्न मानने वाले-अनुदार कृपणमतिवाले-द्वैतवादी लोग ही अपने वास्तविक स्वरूपके विनाशके बोधन द्वारा आप-भगवान्‌के वे अप्रिय-द्वेष्य हो जाते हैं । (अर्थात् जो भी कोई किसीकी वास्तविकता छिपाकर अवास्तविकता

बहुलं द्वैतप्रपञ्चञ्च सत्यतयाऽनिवर्त्यतया चाभ्युपगच्छन्ति, त एव मायावादितया—अद्वैतब्रह्मविमुखतया च कटाक्षविषया भवितुमर्हन्ति । नाद्वैतिनोऽनन्त-परिपूर्णब्रह्मानन्दरसज्ञाः, इत्यलं बालबुद्धीनां दुराग्रहशीलानामविवेकिनां शिक्षणेन ।

ननु—द्वैतप्रपञ्चस्य मायामात्रतया सर्वथा मिथ्यात्वाभ्युपगमे सति 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति' (तै० उ० ३।१) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः' (तै० उ० २।१) 'अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेय' (तै० आ० १।१) इत्यादिश्रुतिभिः—'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२। भा० १।१।१) इत्यादिसूत्रेण श्रीमद्भागवतेन च कथं तत्कारणत्वेन ब्रह्म निरूप्यते, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० उ० २।६) 'क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः' (भा० ५।११।१४) इत्यादिना च कथं तत्प्रवेशोऽभिवर्ण्यते ?

प्रकट करता है—वह उसका मिथ्या-आक्षेपक—द्वेष्य (द्वेषका विषय) बन ही जाता है, वह उसका प्रिय—कृपापात्र नहीं रहता, तद्वत्--प्रकृतमें भी समझना चाहिये) इसलिये मायाको परमार्थ-सत्य मानना ही मायावाद है, मायाको मिथ्या मानना मायावाद नहीं। अतः जो द्वैतीलोग माया एवं तत्कार्य-अनर्थोंसे भरपूर द्वैतप्रपञ्चको परमार्थसत्य मानकर अनिवर्त्य मानते हैं—वे ही वस्तुतः मायावादी हैं, और जो अद्वैत—ब्रह्मसे सदा विमुख रहते हैं, वे ही पूर्वोक्त कटाक्षके पात्र हैं । जो अनन्त-परिपूर्ण ब्रह्मानन्दके दिव्य रसास्वादमें निमग्न रहते हैं—वे निर्द्वन्द्व—अलमस्त-अद्वैतवादी--जो मायाके मिथ्यात्वके आपादन द्वारा मायाके परमार्थ-सत्यत्वका अपवाद करते हैं--वे पूर्वोक्त कटाक्षके पात्र हो ही नहीं सकते । इसप्रकारके—इन बालबुद्धि-दुराग्रही-अविवेकी-द्वैतियोंके प्रति किये गये इस दण्डनिपातरूप शिक्षणसे अब बस (इतिश्री) करते हैं ।

शंका---द्वैत-प्रपञ्चको मायामात्र होनेसे सर्वथा मिथ्या माननेपर तो आगे बतलाये जाने-वाले—श्रुति-स्मृति-भागवतादि-वचनोंके साथ विरोध होजाता है—वे वचन ये हैं—'जिस परमात्मासे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते हैं ।' (श्रु०) 'उस-इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ ।' (श्रु०) 'पुराण-पुरुष नारायणने कामना की कि--'मैं प्रजाओंको बनाऊँ ।' (श्रु०) इत्यादि-श्रुतियोंके द्वारा तथा 'जिससे इस जगत्की उत्पत्ति आदि होती है, वह ब्रह्म है ।' (ब्र० सू० भा०) इत्यादि-ब्रह्मसूत्रके द्वारा तथा श्रीमद्भागवतके वचन द्वारा जगत्के कारणरूपसे ब्रह्म का क्यों निरूपण किया जाता है (जबकि—जगत् मिथ्या है—तब उस मिथ्या-जगत्का कारण ब्रह्म क्यों होगा ? यह आशय है) एवं 'इस जगत्का सर्जन करके उसमें यही स्रष्टा-भगवान् प्रविष्ट हुआ ।' (श्रु०) 'क्षेत्रज्ञ-आत्मा इसमें प्रविष्ट हुआ ।' (भा०) इत्यादि वचन जगत्में आत्माका प्रवेश क्यों बतलाते हैं ? (अर्थात् मिथ्या-जगत्में आत्माका प्रवेश

इत्याशङ्क्याह—यथा—महान्ति भूतानि=पञ्चीकृतमहाभूतानि, भूतेषु=भौतिकेषु तत्कार्येषु, उच्चावचेषु,=ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तप्राणिदेहेषु ब्रह्माण्डादि-घटान्तेषु च 'पटादिषु तन्त्वादिवत्' अनु=तत्सृष्टेरनन्तरं प्रविष्टानि विभाव्यन्ते, तेषूपलभ्यमानत्वात्, तथापि वस्तुतोऽप्रविष्टानि च प्रागेव कारणतया तेषु विद्यमानत्वात् । 'वाचारम्भणं—विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छां० उ० ६।४।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः, 'न ह्यात्मनोऽन्यद् यदि तन्मृषा स्यात्, क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम् ।' (भा० ११।२३।५३) इत्यादिश्रीमद्भागवतेभ्यश्च विज्ञायते यत्-पटादीनां कार्याणां तन्त्वादिकारणस्वरूपातिरेकेण पृथक्सत्त्वाभावादेव कस्मिन् प्रविष्टानि स्वीक्रियेरन् ? प्रवेशाधाराणां वस्तुतोऽभावात् । पूर्वोक्तश्रुतेः श्रीमद्भागवत-वचनस्य चायमर्थः—विकारः=घटशरावादिरूपः—कार्यसमुदायः, वाचारम्भणं=वाचैवारभ्यते इत्यारम्भणं, शाब्दिकव्यवहारमात्रं—अतो नामधेयं=नाममात्रं शब्दप्रयोगव्यतिरेकेण वस्तुतो विकारः कोऽपि सत्यो नास्ति, मिथ्येति

नहीं होना चाहिये)

समाधान—जैसे आकाशादि—पञ्चीकृत-पंचमहाभूत, अपने कार्यरूप-उत्कृष्ट-निकृष्ट-भौतिक-पदार्थोंमें अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त-प्राणियोंके शरीरोंमें एवं ब्रह्माण्डसे लेकर घटपर्यन्त के जड-पदार्थोंमें भी 'पटादिमें तन्त्वादिके समान' उनकी सृष्टिके अनन्तर प्रविष्ट हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि—उन कार्योंमें कारणरूपसे उनकी उपलब्धि होती है । तथापि वस्तुतः ये प्रविष्ट नहीं हुए हैं, क्योंकि—प्रथम भी तो वे कारणरूपसे उनमें विद्यमान ही तो थे । 'विकार यानी कार्यवर्ग, वाणी का कथनमात्र है—केवल—नाम है—अर्थ कुछ नहीं, मृत्तिका ही एकमात्र सत्य है ।' (श्रु०) इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा तथा 'आत्मासे अन्य कुछ भी नहीं है, यदि है तो वह मिथ्या है, जब सुख भी वस्तुतः नहीं है, एवं न दुःख भी, तब किस कारणसे क्रोध किया जाय ।' (भा०) इत्यादि श्रीमद्भागवतके वचनोंके द्वारा—यह विदित होता है कि—पटादि कार्योंकी तन्तु-आदिकारणस्वरूपसे अतिरिक्त-पृथक्-सत्ता नहीं है, इसलिये किसमें कारणोंका प्रवेश माना जाय, क्योंकि-प्रवेशके लिये किसी आधार की आवश्यकता होती है, प्रकृतमें प्रवेशके आधारभूत-कार्य ही वस्तुतः नहीं हैं ।

वाचारम्भण-श्रुतिका एवं श्रीमद्भागवतके पूर्वोक्त-वचन का यह अर्थ है—विकार यानी घट-शरावादि-कार्य समुदाय, वाणीसे ही जिसका आरम्भण किया जाता है, अर्थात् जो शाब्दिक-व्यवहार मात्र है, इसलिए नाममात्र हैं, शब्द-प्रयोगके व्यतिरिक्त—वस्तुतः कार्यवर्ग कोई भी सत्य नहीं है—किन्तु मिथ्या है । तब क्या सत्य है ? उपादान-कारणरूप मृत्तिका ही सत्य है, उसप्रकार ब्रह्म-कारण ही सत्य है, एवकाररूप अव-धारणसे जाना गया कार्यकी सत्ताका व्यवच्छेद (प्रतिषेध) कार्यके मिथ्यात्वका ज्ञापक

यावत्, किं तर्हि सत्यं? मृत्तिकैव–उपादानभूतं; तद्वत् ब्रह्मैव सत्यं, अवधारणेन गम्यमानः कार्यसत्त्वव्यवच्छेदस्तन्मिथ्यात्वं गमयति।

आत्मनोऽन्यत्=आत्मव्यतिरिक्तं सुखदुःखतन्निमित्तादिकं नास्त्येव, आत्मैव सर्वम्, यदि स्यात्–आत्मव्यतिरिक्तं–अस्तीति प्रतीयेत, तर्हि तन्मृषैव स्यात्, न सत्यं स्यात्, अतः कस्माद्धेतोः क्रुध्येत। यतो नास्ति कोपस्य निमित्तं, न च सुखादिकं नैमित्तिकं, निमित्तं विना नैमित्तिकस्याभावात् इति कस्यचिद्भिक्षोः चिदात्मैव सत्यः, तद्व्यतिरिक्तं नामरूपात्मकं जगन्मिथ्यैवेति निश्चयोऽनेन प्रतीयते।

तथा तेषु-भूतभौतिकेषु–अहं–परमात्मा प्रविष्ट इवाभामि, वस्तुतो न च तेष्वहं प्रविष्टोऽस्मि, मत्स्वरूपव्यतिरेकेण तेषामभावात्। तदुक्तं-'तेषु नासौ प्रविष्टोऽस्ति, प्रविष्ट इव भास्यते। व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वात्मेति हि शासनात्॥' इति; ब्रह्मणो जगत्कारणत्वादिना निरूपणन्तु–'नैतन्मनो विशति वागुत

होता है।

आत्मासे व्यतिरिक्त, सुख दुःख एवं उनके निमित्त आदि कुछ भी नहीं है, आत्मा ही सब कुछ है। यदि आत्मासे व्यतिरिक्त–'है' रूपसे कुछ प्रतीत होता है तो वह मिथ्या ही है, सत्य नहीं है अतः किस-कारणसे कोप किया जाय। क्योंकि–कोपका निमित्त कोई अनिष्ट पदार्थ-व्यहारादि कुछ है ही नहीं, एवं उन निमित्तोंसे जन्य सुख दुःखादि भी कुछ नहीं है। निमित्त कारणके विना नैमित्तिक-कार्यका सुतरां अभाव है। इसप्रकार किसी भिक्षु-संन्यासीकः–'चिदात्मा ही सत्य है, और उससे व्यतिरिक्त-यह नामरूपात्मक–जगत् मिथ्या ही है' ऐसा निश्चय इस श्रीमद्भागवतके वचनके द्वारा प्रतीत होता है।

तथा च मैं परमात्मा इन भूत–भौतिक–पदार्थोंमें प्रविष्ट हुए के समान प्रतीत हो रहा हूँ, वास्तवमें मैं उनमें प्रविष्ट नहीं हूँ, क्योंकि–मेरे स्वरूपके अतिरिक्त उनका अभाव है। यह कहा भी है—'वह उन कार्योंमें प्रविष्ट नहीं है, किन्तु प्रविष्ट-हुएके समान प्रतीत हो रहा है। व्याप्य–व्यापकता यानी आधार–आधेयभाव मिथ्या है, इसलिए वास्तविक-व्याप्य-व्यापकता सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि–सब कुछ आत्मा ही है, ऐसा श्रुतियोंका अनुशासन है।'

श्रुत्यादिमें ब्रह्मका जगत्के कारणरूपसे जो निरूपण है—वह तो अध्यारोपापवाद-न्यायके अनुसार प्रथम जगत्कारणत्वका अनुवाद करके पश्चात् उसके निषेध द्वारा-जो मन वाणी आदिका अविषय है–उस ब्रह्मस्वरूपके बोधनके लिये ही किया गया है। अतएव श्रीमद्भागवतमें भी कहा है–कि—'जैसे अग्निकी चिनगारियाँ न तो अग्निको प्रकाशित ही कर सकती हैं, एवं न तो अग्निको जला ही सकती हैं। वैसे ही उस

चक्षुरात्मा प्राणेन्द्रियाणि च यथाऽनलमर्चिषः स्वाः । शब्दोऽपि बोधकनिषेध-तयाऽऽत्ममूलमर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥' (भा० ११।३।३६) 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह ।' (तै० उ० २।६) इत्यादिशास्त्रवचनमनुरुध्य मनोवागगोचरस्य ब्रह्मणः साक्षादुक्तुमशक्यतया 'अध्यारोपापवादाभ्यांनिष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।' इति न्यायेन कारणत्वानुवादतत्प्रतिषेधाभ्यां तत्स्वरूपावबोधा-यैव संपद्यते । 'इत्थं भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः। नेत्थंभावेन हि परं ज्ञातु-मर्हन्ति सूरयः ॥ नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते । कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययाऽऽरोपितं हि-तत्' ॥ (भा० २।१०।४४-४५) इत्यादिवचनात् , 'न निरोधो

परम-तत्त्व-ब्रह्ममें न तो मन की गति है, और न वाणी की, तथा नेत्र उसे देख नहीं सकते, बुद्धि सोच नहीं सकती, प्राण और इन्द्रियाँ तो उसके पास तक फटकने नहीं पातीं । एवं जीवात्मा भी उसे इदंरूपसे नहीं जान सकता । 'नेति नेति' इत्यादि-श्रुतियों के शब्द भी 'वह ऐसा है' इस विधिके रूपमें इसका वर्णन नहीं करते, किन्तु उसका बोधन कराने वाले—जितने भी साधन हैं—उन सबका निषेध करके निषेधके मूलको अर्थात्—तात्पर्यवृत्ति द्वारा बतला देते हैं । क्योंकि—यदि निषेधके आधारभूत—चिदात्मा की सत्ता न मानी जाय तो 'निषेध कौन कर रहा है ? (उसका ज्ञाता कौन है) एवं निषेध की अवधि किसमें है ?' इन दोनों प्रश्नोंका कोई उत्तर ही न होसकेगा । एवं निषेधकी ही सिद्धि नहीं होगी । क्योंकि—निषेध की सिद्धि उसके ज्ञाताके द्वारा तथा उसके अधिष्ठानके द्वारा ही होती है ।' (भा०) 'जिससे वाणियाँ निवृत्त हो जाती हैं, मनके साथ उसे न प्राप्त होकर ।' (श्रु०) इत्यादि शास्त्र वचनका अनुरोध करके अवाङ्-मनसगोचर—ब्रह्मका साक्षाद्-विधिमुखसे निरूपण करनेके लिए अशक्य होनेके कारण—'अध्यारोप एवं अपवादके द्वारा निष्प्रपञ्च-ब्रह्मको सप्रपञ्च किया जाता है ।' इस न्यायके अनुसार जगत्कारणत्वका अनुवाद करके पश्चात् उसके प्रतिषेधके द्वारा ब्रह्मस्वरूपका अवबोधन कराया जाता है । अतएव श्रीमद्भागवतमें भी अनेकों स्थलोंपर सविशेषत्वके प्रतिषेध द्वारा ब्रह्मके निर्विशेष स्वरूपका ऐसा उल्लेख मिलता है कि—'हे परीक्षित् ! सर्वशक्तिमान्—परमेश्वरका इसप्रकार जगत्के कारणत्वादिके रूपसे यानी सविशेष (भगवत्तम)के रूपसे शास्त्रोंमें वर्णन किया है, परन्तु तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंको भगवान् का सृष्टि-स्थिति एवं संहार करने वाले विशिष्ट-ब्रह्मके रूपसे ही केवल दर्शन नहीं करना चाहिये । क्योंकि—वस्तुतः वे तो इस विशिष्टरूपसे भी पर—निर्विशेष स्वरूपमें स्थित हैं । सृष्ट्यादिके निरूपण द्वारा पूर्ण—परमात्मा में कर्मका एवं कर्तृत्वका सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया है—वह तो (स्रष्टृत्व पालयितृत्व संहर्तृत्वादि) मायासे अध्यारोपित होनेके कारण कर्तृत्व का निषेध करने के लिए है—अर्थात् उसके निषेध द्वारा निर्विशेष स्वरूपके बोधनके लिए है ।' (भा०) एवं 'न तो जगत्की वस्तुतः उत्पत्ति है, न तो

न चोत्पत्तिः' (मा० कारिका) इत्यादिश्रुत्या च परमार्थतः सृष्टिप्रवेशादि निषेधाच्च ।

पूर्वोक्त—भागवतवचनानामयमर्थः—'तदवेहि परं नरेन्द्र ! (भा० ११।३।३५) इत्यनेन प्राप्तं ब्रह्मणो विषयत्वं वारयति–नैतदिति । एतत्–ब्रह्माख्यं परं तत्त्वं कर्मभूतं, मनो न विशति—न विषयीकरोति, अत एव वागपि निरूपयितुं न शक्नोति, उतेति=अप्यर्थे । चक्षुश्च द्रष्टुं न शक्नोति । आत्मा= जीवोऽपि ज्ञातुं न शक्नोति । प्राणश्च क्रियाशक्त्या प्राप्तुं न शक्नोति । अन्यानि च घ्राणत्वक्श्रोत्ररसनाख्यानि ज्ञानेन्द्रियाणि ज्ञातुं, हस्तपादादीनि-कर्मेन्द्रियाणि च प्राप्तुं न शक्नुवन्ति । चकारान्मन आद्यधिष्ठातॄणां देवानां संग्रहः । यथा स्वाः=स्वांशभूता अप्यर्चिषो-विस्फुलिङ्गादयोऽन्यत्प्रकाशयन्तोऽप्यनलं न प्रकाशयन्ति, न दहन्ति च । च=तथा चकारात् मन आदिवृत्तयो ऽप्यात्मन्यभिव्यज्यमानात्मांशेन सर्वं बहिर्वस्तु विषयीकुर्वन्त्योऽपि तं स्वाभिव्यञ्जकं चिदात्मानं न विषयीकुर्वन्तीत्यर्थः । ननु—तर्हि श्रुतौ ब्रह्मणः कथमौपनिषदत्व व्यवहारः इत्याशङ्क्याह–शब्दोऽपि=वेदात्मकशब्दोऽपि आत्ममूलं=आत्मनि

प्रलय है ।' (श्रु०) इत्यादि—श्रुतियोंके वचनोंसे भी यही सिद्ध होता है कि–परमार्थसे न तो जगत्की सृष्टि है–एवं न उसमें प्रवेश ही वास्तविक है ।

पूर्वोक्त–भागवतके वचनोंका यह अर्थ है—'हे नरेन्द्र ! उस पर ब्रह्म को जान' (भा०) इस पूर्व श्लोकके कथनसे–ब्रह्ममें ज्ञानकी विषयता प्राप्त हुई थी–उसका निवारण करते हैं—नैतदिति । इस ब्रह्म संज्ञावाले पर--तत्त्वमें मन प्रविष्ट नहीं हो सकता है । अर्थात् मन भी उस परतत्त्वको विषय नहीं कर सकता । अतएव वाणी भी इसका निरूपण करनेके लिए समर्थ नहीं है । एवं नेत्र भी इसे देखनेके लिए समर्थ नहीं । जीव भी इसे इदंरूपसे जान नहीं सकता । प्राण अपनी क्रियाशक्ति द्वारा उसे प्राप्त नहीं कर सकता । अन्य, घ्राण, त्वक्, श्रोत्र, जिह्वा नामकी ज्ञानेन्द्रियाँ भी उसे जानने के लिए तथा हस्त-पादादि कर्मेन्द्रियाँ भी उसे प्राप्त करनेके लिए समर्थ नहीं हो सकतीं। एवं श्लोकस्थ 'चकार' से मन आदिके अधिष्ठातृ–देव भी इसे प्राप्त नहीं कर सकते । जिस प्रकार अग्निकी अंशभूत चिनगारी आदि अन्यका यत्किञ्चित् प्रकाशनादि करने पर भी अपने मूल-अंशीरूप अग्निको न तो प्रकाशित ही कर सकती हैं, न जला ही सकती हैं । उसीप्रकार मन आदिकी वृत्तियाँ अपने में अभिव्यक्त (प्रतिबिम्बित) होने वाले–आत्माके चैतन्यांशसे समस्त-बाह्यवस्तुओंका प्रकाशन करनेपर भी अपने–अभिव्यञ्जक (प्रकाशक) बिम्बभूत–चिदात्माको विषय नहीं कर सकती हैं ।

शंका—जब ब्रह्म किसी भी प्रमाणका विषय नहीं है, तब उसे औपनिषद (उपनिषद्-के ज्ञानसे गम्य) क्यों कहा जाता है ? ।

ब्रह्मणि मूलं = प्रमाणं सत् 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादेः स्वस्यैव बोधक-निषेधरूपतया, अर्थोक्तं = अर्थात्-तात्पर्याद् उक्तं यथा भवति, तथाऽऽह, तात्पर्यमात्रेण तन्निरूपयति-न साक्षाद् । यद्वा शब्दोऽपि आत्मनः = स्वस्य मूलं ब्रह्म, बोधकनिषेधतया आह-यस्य बोधकं विषयतया प्रमाणजातं किमपि नास्ति, तत्स्वयंप्रकाशं समस्तद्वैतप्रपञ्चनिषेधगम्यं ब्रह्म, इति = एवंरीत्या, अर्थादुक्तं = अर्थत एवोक्तं, न तु इदं तदिति विधिनिर्देशेनाह इत्यर्थः । ननु—तर्हि नैवाह श्रुतिः, किमिदमुच्यते-अर्थोक्तमाहेति—तत्राह-यदृत इति । यत् निषेधावधिभूत-मवशिष्टं ब्रह्म, ऋते = विना, 'यतो वाचो निवर्तन्ते 'नेति नेति' इत्यादिनिषेध-स्यैव सिद्धिर्न भवेत् । सर्वस्यैव निषेधस्य सावधिकत्वनियमस्य प्रसिद्धत्वा-दित्यर्थः । अतः स्वोक्तस्य निषेधस्यावधिभूतं ब्रह्म तात्पर्यद्वारा श्रुति-र्बोधयति न साक्षात् ।

समाधान—ब्रह्ममें प्रमाणभूत-वेदात्मक शब्द भी—'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि वचनके द्वारा ब्रह्मको साक्षात्-(शक्ति-वृत्तिसे) बोधन करने में अपनेको असमर्थ बतलाता हुआ, अर्थात् यानी तात्पर्यकी लक्षणा द्वारा आप (शब्द) जो बोधक है-उसके भी निषेधरूपसे-उस-ब्रह्मका निरूपण करता है । अथवा इसका यह भी अर्थ है-शब्द भी अपने-मूल-कारण ब्रह्मका बोधकके निषेधरूपसे निरूपण करता है—क्योंकि-वह ब्रह्म स्वयंप्रकाश (निर्विषय) होनेके कारण समस्त-द्वैतप्रपञ्चके निषेधसे गम्य है । अर्थात् कोई भी प्रमाण विषयरूपसे ब्रह्मका बोधक नहीं होसकता । इसप्रकार वह ब्रह्म साक्षात् नहीं, किन्तु अर्थात्-लक्षणासे उक्त है-बोधित है । 'वह यह है' इस प्रकारके विधिनिर्देश द्वारा कोई भी शब्द उसका निरूपण नहीं कर सकता ।

शंका—तब तो श्रुति कुछ भी नहीं कहती, स्वयं मूक हो जाती है-तब वह अर्थात् (लक्षणा द्वारा) भी ब्रह्मको कैसे कह सकती है ? ऐसी दशामें ब्रह्म अर्थात् कहा गया है—ऐसा क्यों कहा ? इसका क्या तात्पर्य है ?।

समाधान—निषेध सावधिक होता है-अर्थात् अवधि (आधार-मर्यादा) विना का निषेध नहीं हो सकता, यह नियम सिद्धान्तरूपसे सर्वत्र माना गया है । अतः निषेध की अवधिरूप ब्रह्मको माने विना 'यतो वाचो निवर्तन्ते' 'नेति नेति' इत्यादि निषेधकी ही सिद्धि नहीं होगी । इसका यह आशय है-'नेति नेति' के द्वारा किया जाने वाला-समस्त-द्वैतप्रपञ्चका निषेध किसी अवधिभूत-अधिष्ठानमें ही होगा, जो उस निषेधकी आधारभूत अवधि-परिशिष्ट रहेगी, वही स्वयंप्रकाश-निर्विषय-ब्रह्म है । इसलिये श्रुति भी स्वोक्त-निषेधकी अवधिभूत-ब्रह्मसे निवृत्त हुई-तात्पर्य-लक्षणा द्वारा ब्रह्मका बोधन करती है, साक्षात् विषयतया ब्रह्मका बोधन नहीं कर सकती । अर्थात् जहाँसे श्रुतिरूपी वाणी निवृत्त होती है-उस अवधिभूत-वस्तुका नाम ब्रह्म है, ऐसा श्रुति मूक

कर्तृत्वाद्यपवादेन परमात्मनो निर्विकारतां निर्विशेषताञ्चाह—इत्थंभावेन = स्रष्टृत्वादिरूपेण, कथितः = 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः' (तै० उ० २।१) 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० उ० १।५) इत्यादिश्रुत्या प्रतिपादितः । सूरयः = तत्त्वदर्शिनस्तु परं = केवलं—उपाधिविनिर्मुक्तं शुद्धं ब्रह्म, कर्तृत्वादिरूपेण नैव द्रष्टुमर्हन्ति । ततो किं ? यतोऽस्य विश्वस्य जन्मादौ कर्मणि परमेश्वरस्य, इत्थंभावः = कर्तृत्वं नास्ति, श्रुत्यापि तात्पर्येण न प्रतिपाद्यते, किन्तु अनुविधीयते=अनुवर्ण्यते, किमर्थं ? कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं, हि = यतो माययाऽऽरोपितं तत्, न वास्तविकम् । तथा च श्रुतयः—'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम् ।' 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्याद्याः ।

संप्रति—अन्वयव्यतिरेकरूपयुक्तिविवेचनरूपमननेन समस्तभेदभ्रमबा-

रहती हुई—इशारेसे प्रदर्शित करती है ।

कर्तृत्वादिके अपवाद द्वारा परमात्माकी निर्विकारता एवं निर्विशेषता का प्रतिपादन करते हैं—भगवान् इत्थंभावसे यानी स्रष्टृत्वादिरूपसे कथित है—अर्थात् 'इस उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ ।' (श्रु०) 'उसने कामना की-कि-मैं एक बहुत बन जाऊँ; अनेक रूपोंसे प्रकट हो जाऊँ ।' (श्रु०) इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा श्रीभगवान् सर्जन कर्ता-पालन कर्ता आदि रूपसे प्रतिपादित हुए हैं । परन्तु सूरी यानी विद्वान्-तत्त्वदर्शियों को उपाधिविनिर्मुक्त-शुद्ध-पर ब्रह्मरूप—भगवान् कर्तृत्वादिरूपसे देखना योग्य नहीं है । वह कर्तृत्वादि क्या है ? जिसका परब्रह्ममें देखनेका प्रतिषेध किया जाता है । कहते हैं-क्योंकि—इस विश्वके जन्मादि—कर्ममें परमेश्वरका इत्थंभाव यानी कर्तृत्वादि परमार्थतः नही है, अतः तात्पर्यसे श्रुति उसका प्रतिपादन नहीं करती है । किन्तु अनुविधान—अनुवर्णन (अनुवाद) मात्र करती है । किसलिये उसका आरोपात्मक—अनुवाद करती है ? उस कर्तृत्वादिके प्रतिषेधके लिए । क्यों उसका प्रतिषेध किया जाता है ? इसलिये उसका प्रतिषेध किया जाता है—कि—वह माया द्वारा आरोपित है--वास्तविक नहीं है, इसलिये उसका प्रतिषेध हो सकता है । अर्थात् पारमार्थिक—कर्तृत्वादिका प्रतिषेध नहीं होसकता । इसप्रकार कर्तृत्वादि-आरोपित-धर्मोंके प्रतिषेध द्वारा भगवान्में निर्विकारता एवं निर्विशेषताका समर्थन किया जाता है । तथा च श्रुतियाँ कहती हैं—'वह ब्रह्म निष्कल है, निष्क्रिय है, शान्त (द्वैतप्रपञ्च का उपशमरूप) है, निर्दोष एवं निरञ्जन है ।' (श्रु०) 'वह इन्द्र परमात्मा मायाओंके द्वारा बहुरूप हुआ प्रतीत होता है ।' (श्रु०) इत्यादि । प्रथमकी श्रुतिने ब्रह्मकी निर्विशेषताका एवं द्वितीय श्रुतिने उसमें मायाद्वारा बहुरूप भवनत्वादिके आरोपका समर्थन किया ।

अब अन्वय—व्यतिरेकरूप युक्तिके विवेचनरूप-मनन द्वारा समस्त भेद-भ्रमका बाधकरके—प्रत्यगभिन्न—अद्वय-ब्रह्मकी ही जिज्ञासा करनी चाहिये, ऐसा कहते हैं—

धपूर्वकं प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मैव जिज्ञास्यमित्याह—आत्मनो यत्तत्त्वं = परमार्थस्वरूपं, तत् जिज्ञासुना एतावदेव जिज्ञास्यं = विचार्यम् । 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० उ० ३।४।२) इत्यादिश्रुत्या ततोऽन्यस्य द्वैतप्रपञ्चस्य—मृषात्वेन जिज्ञास्यत्वाभावाद् 'किं तत् ? इत्यपेक्षायामाह–'यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा । सर्वत्र = आकाश वायुतेजोऽबन्नपिण्डब्रह्माण्डभुवनघटपटमठादिषु कारणतया सच्चिदानन्द स्वरूपेणाऽनुगतम् । यदेव पुनः प्रत्यक् चैतन्यं सर्वदा = जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु तत्तत्साक्षितयाऽनुगतम् ; तदन्वयव्यतिरेकाभ्यां जिज्ञास्यम् । अन्वयः = अनुवृत्तिः । व्यतिरेकः = व्यावृत्तिः । यथा कार्येषु--घटादिषु मृत्तिकायाः कारणस्यानुवृत्तिः, अत एवानुवृत्तं कारणमुपादानमुच्यते । कारणावस्थायां च कार्याणां व्यतिरेको दृश्यते, उत्पत्तेः प्राक् , नाशादूर्ध्वञ्च । अत एव कार्याणि व्यावृत्ततया वाचारम्भणनाममात्रतया चाऽऽरोपितानीत्युच्यन्ते, कारणमेवानुवृत्ततया सत्यं परिगीयते । तथा आकाशादिघटपटान्तेषु कार्येषु सच्चिदानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणः सर्वत्रान्वयस्तत्तन्नामरूपयोश्च व्यतिरेको दृश्यते । तदुक्तमभियुक्तैः—

आत्माका—जो पारमार्थिक-निर्विशेष-स्वरूप है—जिज्ञासुको इतना ही पारमार्थिक-स्वरूप जानना चाहिये, एवं उसका ही विचार करना चाहिये । क्योंकि—'इस परमात्मासे अन्य जो भी कुछ है—वह सब आर्त यानी दुःखयुक्त-नश्वर एवं बाधित है ।' (श्रु०) इस श्रुतिके द्वारा आत्मासे अतिरिक्त-निखिल-द्वैतप्रपञ्चको मिथ्या बतलाया है—इसलिये ऐसा मिथ्या प्रपञ्च जिज्ञासाके लिए एवं विचारके लिए योग्य नहीं है ।

वह जिज्ञास्य आत्म स्वरूप क्या है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं—'यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा ।' सर्वत्र—यानी सबमें—आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, पिण्ड, ब्रह्माण्ड, सकल-भुवन, घट-पटमठ-आदिमें सच्चिदानन्द-कारणरूपसे जो अनुगत है, और वही फिर सर्वदा यानी जाग्रत्, स्वप्न, और सुषुप्ति-अवस्थाओंमें उस-उस—अवस्थाके साक्षीरूपसे—प्रत्यगात्मा—चैतन्य अनुगत है । वही अन्वय-व्यतिरेक द्वारा जिज्ञासा करने योग्य है । अन्वय यानी अनुवृत्ति, जैसे कार्यरूप घटादिमें कारणरूप-मृत्तिकाकी अनुवृत्ति होती है । इसलिए कार्यमें अनुवृत्त-कारणको उपादान कहते हैं । एवं व्यतिरेक यानी व्यावृत्ति जैसे कार्यरूप घटादिका, उत्पत्तिसे प्रथम और नाशके पश्चात् कारणरूप-मृत्तिका आदि से व्यतिरेक यानी अभाव देखनेमें आता है । अत एव कार्य व्यावृत्त और वाचारम्भणमात्र है, इसलिए कार्यको आरोपित—अवास्तविक कहते हैं । कारण, अनुवृत्त-कार्योंमें अनुगत है, इसलिये उसे सत्य कहते हैं । उसीप्रकार आकाशसे लेकर घट-पटादि पर्यन्त के समस्त-कार्य पदार्थोंमें सच्चिदानन्दरूपसे ब्रह्मका अन्वय एवं उस-उस नामरूपोंका व्यतिरेक देखनेमें आता है । यह यथार्थदर्शी-आचार्योंने कहा भी है—'अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप, उन पांच-अंशोंकी प्रतीति सकल-कार्योंमें होती रहती है, इनमें

'अस्ति भाति प्रियं रूपं, नाम चेत्यंशपञ्चकम् । आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं, जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥' इति

सोऽयमित्थं विस्तरतोऽस्तिभातिप्रियरूपस्य ब्रह्मणोऽन्वयः सर्वत्राकाशादिषु नामरूपयोश्च व्यतिरेकः प्रतिपादितोऽभियुक्तैरपि—'आकाशोऽस्ति तथा भाति प्रियो, वायुस्तथैव सन् । भाति प्रियस्तथा तेजोऽबन्नं सद्भाति तत्प्रियम् ॥ ब्रह्माण्डादिघटान्तेषु सत्तां भानं प्रियं—ततम् । ब्रह्मणो, नामरूपं च नान्यस्यान्यत्र दृश्यते । अस्ति भाति प्रियं नामरूपाभ्यां व्यतिरिच्यते । अनुवृत्तेर्यथा सूत्रं मणिभ्यो भिद्यते तथा । नाम रूपं च सद्भानप्रियाद्भिन्नं तथेष्यते । व्यावृत्तत्वेन–मणयो यथा सूत्रादिति ध्रुवम् । नामरूपात्मकं विश्वमसद् भिन्नं सतो यतः । अभानं भानभिन्नत्वाद्, अप्रियं प्रियभेदतः ॥ इति ।' तथैव श्रीमद्भागवतेऽपि—'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं' (भा०) इत्यादिवचनैः स्पष्टतो जगत् मिथो व्यावृत्तं असज्जडं दुःखात्मरूपं, सच्चित्परानन्दविग्रहो ब्रह्म सर्वत्रानुवृत्तः श्रीहरिश्च प्रतिपाद्यते ।

तथाऽऽत्मनो जाग्रदाद्यवस्थासु तत्तत्साक्षितयाऽन्वयो व्यतिरेकश्च तासां

प्रथमके तीन ब्रह्मके रूप, और बाकी दोनों—नाम और रूप जगत्के काल्पनिक रूप हैं ।'

वही यह—समस्त-आकाशादिमें अस्ति-भाति-प्रियरूप-ब्रह्मके अन्वयका तथा नामरूपके व्यतिरेकका इसप्रकार विस्तारसे प्रामाणिक-विद्वान्-आचार्योंने प्रतिपादन किया है–जैसे–'आकाश है, प्रतीत होता है, एवं प्रिय है, तथा वायु है, प्रतीत होरही है, एवं प्रिय है, इस प्रकार तेज जल और पृथिवीमें भी अस्तितता भातिता एवं प्रियता है । तथा ब्रह्माण्डसे लेकर घटपटादि-तकके सकल-पदार्थोंमें अस्ति, भाति, प्रिय, इन ब्रह्मके तीनों रूपोंकी अनुवृत्ति देखनेमें आती है, साथ-साथ एक पदार्थका नाम–रूप दूसरे पदार्थमें देखनेमें नहीं आता । अतः व्यावृत्त–नामरूपोंसे अनुवृत्त-अस्ति-भाति-प्रिय, व्यतिरिक्त रूपसे लक्षित होता है । जैसे अनुवृत्त होनेसे मनकोंसे सूत्र भिन्नरूपसे प्रतीत होता है । वैसे सत्से भानसे एवं प्रियसे नामरूप भिन्न ही प्रतीत होते हैं । जैसे व्यावृत होनेके कारण मनके सूत्रसे निश्चयतः भिन्न हैं, वैसे ही यह नामरूपात्मक-विश्व भी सत् से भिन्न होनेके कारण असत् है । एवं भानसे भिन्न होनेसे अभानरूप-जड़ हैं, एवं प्रियसे भिन्न होनेसे अप्रिय-दुःखरूप है ।' उस प्रकार ही श्रीमद्भागवतमें भी–'इस लिये यह अशेष जगत् असत्स्वरूप है ।' (भा०) इत्यादि वचनोंके द्वारा परस्पर व्यावृत्त यह जगत् असद्-जड़ एवं दुःखात्मक ही है, एवं सर्वत्र-अनुवृत्त ब्रह्मरूप श्रीहरि ही सत्-चित्-परमानन्द स्वरूप हैं, ऐसा प्रतिपादन किया है ।

उस प्रकार जाग्रदादि-अवस्थाओं में उस उस–अवस्था के साक्षीरूपमे आत्मा-

समाध्यादौ । तदुक्तं च-'योऽहं नावेदिषं किञ्चिद् अस्वाप्सं सुखतस्तदा । दृष्टवान् विविधान्स्वप्नान् सोऽहं जागर्मि तत्स्मरन् । साक्षिप्रत्यक—चैतन्यानुवृत्तिरिति सर्वदा । सर्वावस्थासु तासां तु मिथो व्यावृत्तिरेव हि । स्वप्ने जागरणोऽलीकः, स्वप्नो हि जागरे नहि । द्वयमेव लये नास्ति, लयोऽपि ह्युभयोर्न च । सत्यं साक्ष्यनुवृत्तत्वात् तिस्रवस्थासु शुक्तिवत् । व्यावृत्तत्वान्मृषाऽवस्था रूप्यरंगाभ्रकादिवत् । त्रय आवस्थास्त्रयः स्वप्ना इति श्रुतिसमीरणात्। जाग्रत्सुप्ती मृषा स्यातां, अवस्थात्वाद्धि स्वप्नवत् । जाग्रन्मृषैव जाग्रत्त्वात् सुप्तजाग्रद्यथा तथा । सुप्तिर्मृ-

का अन्वय है, और समाधि-आदिमें उन अवस्थाओंका व्यतिरेक है । यह आचार्योंने कहा भी है—'मैं आनन्द से सोया था, तब मुझे कुछ भी मालूम नहीं था, पश्चात् मैंने कई प्रकार के स्वप्न देखे, वही मैं अब उन सुषुप्ति एवं स्वप्नका स्मरण करता हुआ जाग रहा हूं । इस प्रकार तीनों अवस्थाओंमें साक्षी-प्रत्यगात्मारूप चैतन्यकी अनुवृत्ति, और इन अवस्थाओंकी परस्पर व्यावृत्ति देखनेमें आती है । जाग्रत् में स्वप्न नहीं, स्वप्न में जाग्रत् नहीं, सुषुप्ति में स्वप्न-जाग्रत्–दोनों नहीं, और जाग्रत् तथा स्वप्नमें सुषुप्ति नहीं, इस प्रकार अवस्थाओंकी व्यावृत्ति देखनेमें आती है । साक्षी-आत्मा सत्य है, क्योंकि-तीनों अवस्थाओंमें वह अनुवृत्त है, जैसे अधिष्ठान-शुक्ति । अवस्थाएँ मिथ्या हैं, क्योंकि-ये व्यावृत हैं, जैसे शुक्तिमें आरोपित एवं व्यावृत्त रजत, रांगा, एवं अभ्रकादि । अतएव श्रुति भगवती कहती है-कि—'तीनों अवस्थाएं तीन प्रकारके स्वप्न ही हैं।' इसलिए यह अनुमान होता है-कि—जाग्रत् एवं सुषुप्ति, दोनों मिथ्या हैं, क्योंकि—उनमें अवस्थात्वरूप हेतु है, जैसे स्वप्नमें अवस्थात्व है, अतएव मिथ्यात्व है, एवं जाग्रत्-अवस्था भी मिथ्या है, जाग्रत्त्व होने से, सुप्त-जाग्रत्के समान (अर्थात् सोये हुए मनुष्य को स्वप्नमें जैसे जाग्रदवस्थाका भान होता है, तद्वत्) एवं सुषुप्ति भी मिथ्या है, सुषुप्तित्व होने से स्वप्न सुषुप्तिके समान (जैसे कोई स्वप्नमें गाढनिद्रावश हुआ सुषुप्तिका अनुभव करे, तद्वत्) समस्त जाग्रद्विश्व, मिथ्या है, क्योंकि–उसमें विश्वत्व है, जैसे स्वप्नके विश्वमें विश्वत्व है, अतएव मिथ्यात्व भी है ।

शंका—यह पूर्वोक्त–अनुमान दुष्ट है, यानी उपाधिग्रस्त है । वहां बाध्यत्व उपाधि है । जो साध्यका व्यापक हो और साथ ही साधन का अव्यापक हो, यह उपाधि का लक्षण है । स्वप्नविश्वरूप दृष्टान्तमें मिथ्यात्वरूप साध्य है, और वहां बाध्यत्वरूप उपाधि भी है । अतः यह उपाधि साध्य व्यापक हुई । एवं जाग्रत्-विश्वरूप पक्षमें विश्वत्व रूप साधन (हेतु) तो है, परन्तु बाध्यत्व उपाधि नहीं है, इसलिए यह उपाधि साधन की भी अव्यापक हुई । इसलिये यह उपाधि अपने अभाव द्वारा साध्य के अभाव का इसप्रकार अनुमान कराती है-कि—जाग्रत् विश्व-मिथ्या नहीं है, बाध्य न होने से ब्रह्मवत् ।

षैव सुप्तित्वात्स्वप्नदृष्टसुषुप्तिवत् । जाग्रद्विश्वं मृषा सर्वं विश्वत्वात्स्वप्नविश्ववत् ॥ बाध्यत्वं न ह्युपाधिः स्यात् , पक्षे साधनव्याप्तितः । 'नेह नानास्ति' श्रुतितो बाध्यत्वं तस्य निश्चितम् । स्वप्नत्वं न ह्युपाधिः स्यात् साधनव्याप्तितस्तथा। 'त्रयः स्वप्नाः' इदि श्रुतेस्तत्र स्वप्नत्वनिश्चयात् ॥ साक्षी तु सर्वदा सत्यः साक्षित्वात्स्वप्नसाक्षिवत् । सर्वत्रानुगतं ब्रह्म सच्चिदानन्दविग्रहम् । व्यावृत्तेभ्योऽनुवृत्तत्वाद्यन्मृषाभ्यो विवेचितम् । ब्रह्म प्रत्यगभिन्नं तत्तत्त्वमस्यादिगोचरम् ॥' इति ।

अयमत्र विवेकोऽप्यवधेयः—तथाहि—'प्राक् भगवता ब्रह्मणे यत्कथितं— 'यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः । तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥'

समाधान—जाग्रत्-विश्वमें भी बाध्यत्व है, क्योंकि—'नेह नानास्ति किंचन' 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियोंने जाग्रत्-विश्वको भी बाध्य ही बतलाया है । इसलिये बाध्यत्वरूप उपाधि साधन की भी व्यापक ही होगई, अव्यापक नहीं रही, अर्थात् जाग्रद्-विश्वरूप पक्षमें विश्वत्वरूप साधन भी रहा एवं उसमें बाध्यत्वरूप उपाधि भी रही, इसलिए बाध्यत्व उपाधि ही नहीं रही, उपाधिका लक्षण उसमें बाधित होगया । अतः पूर्वोक्त अनुमानमें उपाधि नहीं है—अनुमान निर्दोष है ।

शंका—उस अनुमानमें बाध्यत्व उपाधि नहीं हो सकती है, तो नहीं सही, परन्तु उसमें स्वप्नत्व उपाधि हो सकती है । क्योंकि—दृष्टान्त में मिथ्यात्वरूप साध्य है, एवं स्वप्नत्वरूप उपाधि भी है, इसलिये उपाधि में साध्य की व्यापकता आगई । एवं पक्षमें विश्वत्वरूप साधन है, परन्तु उसमें (जाग्रद्विश्वरूप पक्षमें) स्वप्नत्वरूप उपाधि नहीं है, इसलिए यह उपाधि साधन की अव्यापक होगई, उपाधि का लक्षण घट गया, अतः स्वप्नत्व उपाधि से पूर्वोक्त-अनुमान दुष्ट होगया ।

समाधान—'त्रयः स्वप्नाः, इस श्रुतिने जाग्रत्-विश्वको भी स्वप्न ही बतलाया है । अतः उसमें स्वप्नत्व विद्यमान होने से साधन की भी व्यापक-स्वप्नत्वरूप उपाधि होगई । उसमें साधनाव्यापकत्वरूप-लक्षणका अंश नहीं घटा, इसलिये स्वप्नत्व भी उपाधि नहीं है, अतः अनुमान निर्दोष है ।

साक्षी-चिदात्मा सर्वदा सत्य है, क्योंकि—उसमें साक्षीत्व है, जैसे स्वप्नसाक्षीमें । अतः सच्चिदानन्द स्वरूप-ब्रह्म सर्वत्र अनुगत होनेसे सत्य है, और अवस्थाएँ तथा उनमें दृष्ट-प्रपञ्च परस्पर व्यावृत्त होनेसे मिथ्या है । इसप्रकार व्यावृत्त एवं मिथ्याभूत-अवस्थाओं से अनुवृत्तत्वरूप हेतु द्वारा प्रत्यगभिन्न तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का लक्ष्य-भूत ब्रह्मका विवेचन किया ।

यहाँ यह विवेचन भी समझना चाहिये—बतलाते हैं—श्रीभगवान्‌ने ब्रह्माके प्रति प्रथम यह कहा था—कि—'स्वरूपसे मैं जितना हूं, जैसा भाव (सत्ता-सामर्थ्य) वाला हूं, और जिसके कारण मैं रूप, गुण एवं कर्म वाला हूं । उस तत्त्वविज्ञानका मेरी कृपासे

(भा० २।६।३१) । इत्यनेन, तच्चतुर्भिः श्लोकैः क्रमशो निरूपयति । तत्र यावान् स्वरूपतो योऽहमस्मि, तस्य वर्णनं 'अहमेवासमेवाग्रे' इत्यादिना प्रथमेन कृतम् ।' 'यथाऽऽत्ममायायोगेन' (भा० २।६।२६) इत्यनेन मायाया अपि पृष्टत्वात् अतो माययैव निराकारे निरूपे निर्गुणे निष्क्रिये परे ब्रह्मणि साकाररूपाणां गुणानां कर्मणाञ्चारोपितत्वात् मायां निरूपयन्, तद् द्वारा 'यद्रूपगुणकर्मकः, इत्यस्याप्यर्थात् वर्णनं 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत' इत्यादिना द्वितीयेन कृतम् । यथाभावो=यादृक्सत्तावान् इत्यस्य वर्णनं तृतीयेन 'यथा महान्ति भूतानि' इत्यादिना कृतम् । एवं तत्त्वविज्ञानस्य विचारात्मकमस्ति यत्साधनं, तस्य वर्णनं चतुर्थेन 'एतावदेव जिज्ञास्यं' इत्यादिना कृतम् । तथा च–'ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् । सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥' (भा० २।६।३०) इत्यनेन यत्प्रतिज्ञातं तत्सर्वमपि-चतुर्भिर्निरूपितम् । ज्ञानं=शास्त्रेण—श्रुतिमौलिनोपनिषत्समाख्येन यन्निरूपितम् । विज्ञानं=तत्त्वदर्शिनां–ब्रह्मविदां योऽयमनुभवः । परमगुह्यं= सुगोप्यं, अधिकारिण एव प्रदेयत्वात् सरहस्यं=तात्पर्यसहितं,तस्याङ्गं=साधनम् ।

उसीप्रकार यथार्थ–अनुभव तुम्हें हो ।' (भा०) इस श्लोकमें कहे हुए–चार विशिष्ट-विवेचनों का विशदवर्णन आगेके चार-श्लोकोंके द्वारा श्रीभगवान्‌ने किया है । ये चारश्लोक ही चतुःश्लोकी भागवत हैं । 'स्वरूपसे मैं जितना हूं' इसका विवेचन श्रीभगवान्‌ने 'अहमेवासमेवाग्रे' इस प्रथम श्लोकसे किया है । 'यथाऽऽत्ममायायोगेन' (भा०) इत्यादि पूर्व श्लोकमें मायाको भी पूछा गया है, इसलिये माया द्वारा ही निराकार–निरूप–निर्गुण–निष्क्रिय–परब्रह्ममें आकार, रूप, गुण और कर्मोंका आरोपण किया है, उसी मायाका निरूपण करते हुए श्रीभगवान्‌ने जिस मायाके कारण मैं रूप-गुण–कर्मवाला बन गया हूँ । उसीका वर्णन 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत' इस द्वितीय-श्लोकसे किया है । 'मैं जैसा भाव-सत्ता सामर्थ्य वाला हूँ' इसका विस्तार 'यथा महान्ति भूतानि' इस तृतीय-श्लोकसे किया है । तत्त्वविज्ञानका साधन विचार है, उसका वर्णन–'एतावदेव जिज्ञास्यं' इस चतुर्थ–श्लोकसे किया है । तथा च—'परमगुह्य (रहस्यमय) मेरा ज्ञान, जो विज्ञान से संयुक्त है, एवं रहस्य सहित है, और उसका अंगभूत–जो साधन है, वह सब मैं कहता हूँ, तुम ग्रहण करो ।' (भा०) इस श्लोकके द्वारा जिसके विवेचन की प्रतिज्ञा श्रीभगवान्‌ने की थी, उसका समग्र निरूपण श्रीभगवान्‌ने चार–श्लोकोंके द्वारा किया । ज्ञान वह है—जिसका–श्रुतियोंके मस्तकरूप-उपनिषत् नाम वाले शास्त्रने निरूपण किया है, तत्त्वदर्शी–ब्रह्मवेत्ताओंका अपरोक्ष–अनुभवका नाम ही विज्ञान है । परम गुह्य यानी अत्यन्त–गोपनीय, अतः खास अधिकारीको ही इसका प्रदान किया जाता है । सरहस्य यानी तात्पर्य सहित । उसका अँग है—विचाररूप साधन, साधनही फलका अँग होता है । चतुःश्लोकी भागवतकी विवृत्ति समाप्त हुई ।

अतएव चतुःश्लोकसमन्वितस्यास्य संक्षिप्तमूलभागवतस्य प्रशंसनीयं माहात्म्यमेतादृशमुक्तं-कुमारैः सनकादिभिस्तत्त्वदर्शिभिरपि–'वेदान्तवेदसुस्नाते गीताया अपि कर्तरि । परितापवति व्यासे मुह्यत्यज्ञानसागरे ॥ तदा त्वया पुरा प्रोक्तं चतुःश्लोक-समन्वितम् । तदीयश्रवणात्सद्यो निर्बाधो बादरायणः ॥' (भा० मा० २।७२+७३) इति ।

यदुकुलरत्नं कृष्णमन्यांश्च देवान्, सकलजगदिदञ्च स्वात्मभिन्नं न जाने।
परमसुखसमुद्रे मज्जनात्तन्मयोऽहं, गलितनिखिलभेदः सत्यबोधैकरूपः॥
जिज्ञासितव्यो विमलान्तरङ्गैरानन्दविज्ञानसदेकरूपः ।
वेदान्तवेद्यो यतिवर्यगम्यो गोपीजनेशः प्रदिशत्वभीष्टम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य--श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ--पूज्यपाद-महामण्डलेश्वर-स्वामिश्रीजयेन्द्रपुरी--श्रीगुरुचरणकृपाकटाक्षावाप्तविद्येन--श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य--श्रोत्रिय--ब्रह्मनिष्ठ--पूज्यपाद--महामण्डलेश्वर---स्वामिश्रीगिरीशानन्दगिरि-——श्रीगुरुचरणप्रसादासादितपारिव्राज्येन——श्रीस्वामिमहेश्वरानन्दगिरि–महामण्डलेश्वरेण–प्रणीतायाः-श्रीभागवत–संहितोपनिषच्छतकस्याध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्या अयं प्रथमः खण्डः समाप्तः। शिवमस्तु, शिवः सर्वम्, शिवोऽहं हरिः ॐ तत्सत् ।

इसलिये चार-श्लोकोंसे संयुक्त–इस संक्षिप्त एवं मूलभूत–श्रीमद्भागवतका प्रशंसा करने योग्य–इसप्रकारका माहात्म्य तत्त्वदर्शी–सनकादि–कुमारोंने भी कहा है— 'पूर्वकालमें जिस समय वेद-वेदान्तके पारगामी और गीताकी भी रचना करने वाले–महर्षि व्यासदेव खिन्न होकर अज्ञान-समुद्रमें गोते खा रहे थे। उस समय आप श्रीभगवान्‌ने ही उन्हें चारश्लोकोंमें इस संक्षिप्त–मूल भागवतका उपदेश दिया था। उसे सुनते ही श्रीव्यासके समग्र-संताप दूर हो गये थे।' (भा० मा०) इति।

यदुकुलविभूषण भगवान् पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण एवं श्रीशिव गणेश दुर्गा शारदा आदि अन्यदेव तथा इस समस्त जगत्‌को भी मैं अपने आत्मासे भिन्न नहीं जानता हूँ। परमानन्द–ब्रह्मसागर में मज्जन करनेसे (डुबकी लगानेसे) उसमें मैं तन्मय हुआ निखिल-सजातीयादि--भेदोंसे रहित होकर एक-अद्वय–सत्यज्ञानरूप ही हो गया हूँ। निर्मल-अन्तःकरण वाले जिज्ञासुओंके द्वारा जो जिज्ञास्य हैं, वेदान्त-उपनिषदोंसे जो जानने योग्य हैं, श्रेष्ठयतियोंके द्वारा जो अनुभूयमान हैं, एवं जो वस्तुतः सत्य–आनन्द-विज्ञान एवं एकरूप हैं, ऐसे जो गोपीजनोंके आराध्य-ईश्वर श्रीकृष्ण हैं, वे आप सबके अभीष्ट मनोरथका प्रदान करें।

हरिः ॐ तत्सत्
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः

श्रीमद्भागवतसंहितो पनिषच्छतकम्

अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्या, प्रस्ताविकवक्तव्येन
राष्ट्रभाषाहिन्दी - अनुवादेन च समलङ्कृतम्



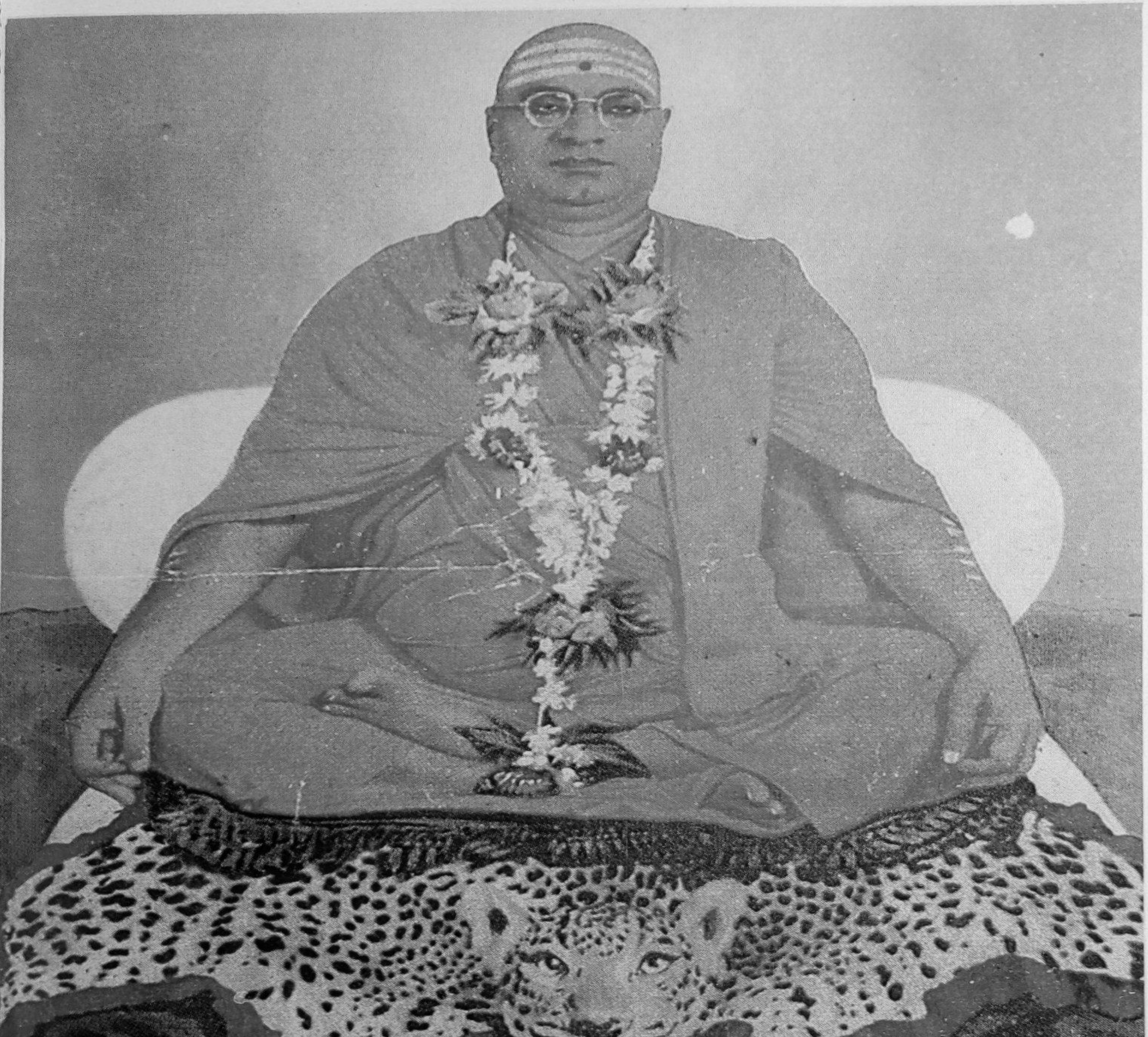
द्वितीय - खण्डः

लेखक—
स्वामी महेश्वरानन्दगिरि महामण्डलेश्वर
(सुरतगिरि बंगला - कनखल - हरिद्वार)
(सन्यासाश्रम - विलेपार्ले, बम्बई - ४०००५६)
[बद्रिकाश्रम (नर्मदातट) मुं० दरियापुर, पो० चांदोद]

विक्रम संवत् - २०१४ - गीताजयन्ती

हरिः ॐ तत्सत–श्रीविश्वनाथो विजयतेतराम् ।

वेदे वेदान्तराशौ स्मृतिवरनिचये दर्शने चेतिहासे,
व्यासोक्ते सत्पुराणे सुकृतिकृतिचये सर्वराद्धान्तसिन्धौ ।
स्नाता धीर्यस्य सारग्रहणपरवशा शुद्धसत्त्वाभिरामा,
सोऽयं राराजते श्रीयतिवरतिलको मण्डलेशो महेशः ॥



कनखल-हरिद्वार-वास्तव्य-श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-
दार्शनिक—सार्वभौम—-विद्यावारिधि—-न्यायमार्तण्ड—-वेदान्तवागीश—

श्री १०८ स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज महामण्डलेश्वर

ंगातट, सुरतगिरि-बंगला,	नर्मदातट—-बद्रिकाश्रम	विला–पारला
कनखल-हरिद्वार	दरियापुर–चांदोद	संन्यासाश्रम-बम्बई

(१) स्थायी फण्ड, जिसके द्वारा क्रमशः पुस्तकें छपती जायेंगी और उचित मूल्य के द्वारा उनका विक्रय भी होता रहेगा।

(२) योग्य, कारण-पूर्वक, साधु-संन्यासी, विद्वान् एवं अकिञ्चन मुमुक्षुओं के लिए विना मूल्य पुस्तकें देना।

इस समय - प्रवचन-सुधा (हिन्दी) ५००० पांच हजार प्रतियां जिन खर्च लगभग १५०००) रुपये होगा, पृष्ठ-संख्या ८५० है। श्रीमद्भागवत-हितोपनिषच्छतकम् - संस्कृत एवं हिन्दी तृतीय खण्ड छपाने की पूर्ण तैयारी हो रही है. लगभग ४-५ सौ पृष्ठों की यह पुस्तक बनेगी, २००० प्रतियां छपाने के लिए लगभग ४०००) रुपये तथा यजुर्वेदसंहितोपनिषच्छतकम् २००० प्रतियां केवल संस्कृत के लिए ४०००) रुपये तथा हिन्दी अनुवाद सहित ८०००) रुपये इन सबके लिए इस समय लगभग बीस हजार या पचीस हजार रुपये राशि धर्म-प्रेमी उदार धनवान् भक्तों के द्वारा एकत्रित हो जाय तो उस का बनाना सुलभ हो सकता है।

यह बड़े हर्ष की बात है कि इस सब योजनाको ध्यान में रख कर श्रीमान् सेठ जीवनदास गोविन्दजी संपत् तथा अखण्ड - सौभाग्यवती श्री लक्ष्मीदेवी जीवनदास संपत् ने बड़ी उदारता के साथ - इस ट्रस्ट के लिए ४०००) चार हजार रुपये दिये हैं। इसमें से ५००) रुपये अमूल्य वितरण फण्ड के लिए दिये हैं और उन्होंने प्रथमभी बड़ी उदारता के साथ मवार्तिक चीकरण, गायत्री-मीमांसा एवं शिवमहिम्नस्तोत्रम् आरती-पूजा आदि ग्रन्थ भी कई हजारों रुपयों का व्यय करके अमूल्य वितरण करवाये। अत एव सन्त महात्माओंके द्वारा तथा धर्म-प्रेमी सज्जनोंके द्वारा इन दोनों उदार धर्म-प्रेमी युगल - दम्पतीको जितना धन्यवाद एवं शुभाशीर्वाद दिया जाय उतना कम ही है। इस प्रकार अन्य धर्मप्रेमी-उदार धनवान् सज्जन भी इस योजना के स्थायी फण्ड में या अमूल्य वितरण-फण्ड में दान दे कर पुण्य, यश आशीर्वाद, धन्यवाद एवं भगवत्कृपा प्राप्त कर सकते हैं। और जो कोई सज्जन एक पुस्तक का पूरा व्यय देंगे और उनकी अभिलाषा होगी तो पुस्तक उनका तथा उनके माता-पिता आदि सम्बन्धियों का भी फोटो प्रकाशित एवं उनका संक्षिप्त जीवन - परिचय भी दिया जायगा तथा पुस्तक के में प्रकाशक रूपसे नाम भी दिया जायगा और जिन-जिन सज्जनों की कुछ थोड़ी-बहुत सहायताके रूप में धन-राशि आवेगी, उसकी भी पुस्तक के अन्तमें प्रकाशित की जायेगी।

हमारे शास्त्रों में विद्या-दान की महिमा विशेष रूप से कही गई है । जैसे —

अन्नेन क्षणिका तृप्तिः यावज्जीवन्तु विद्यया ।
सर्वेषामेव दानानां विद्यादानं विशिष्यते ॥

अर्थात्

अन्नदान से क्षणिक-तृप्ति मानी जाती है, परन्तु विद्यादान से जीवन पर्यन्त स्थायी तृप्ति मानी जाती है । इसलिए सभी प्रकार के दानों में विद्यादान श्रेष्ठदान माना गया है । अतः हे धर्मप्रेमी सज्जन ! तू "शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर" (अथर्ववेद) सौ हाथों के पुरुषार्थ द्वारा धन का उपार्जन कर और हज़ार हाथों के उत्साह द्वारा बड़ी उदारता के साथ तू उस धन का दान कर, सदुपयोग कर, उसमें विशेष आसक्ति मत रख । अत एव "श्रद्धया देयं अश्रद्धयाऽदेयं, श्रिया देयं, ह्रिया देयं भिया देयं संविदा देयं' (तैत्तरीयोपनिषत्) अर्थात् – श्रद्धा से देना चाहिये, अश्रद्धा से नहीं; अपनी शक्ति के अनुसार देना चाहिये; लोकलज्जा से भी देना चाहिये, भय से भी देना चाहिये और सोच-समझ कर भी देना चाहिये ।

निवेदक—

स्वामी ब्रह्मानन्द वेदान्ताचार्य-न्यायशास्त्री
स्वामी नारायणगिरि कोठारी
स्वामी रामानन्द पुजारी

हकीकतराय खन्ना
शान्तिलालभाई बोले
अमृतलालभाई अडालजा

—:o:—

श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतकस्य द्वितीय-खण्डस्य प्रास्ताविकवक्तव्यस्य विषय-सूची

❀ ❀ ❀

श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतकस्य द्वितीय-खण्डस्य विषय-सूची

विषयः पृष्ठ-संख्या

❋ ❋ ❋

॥

❀ ॐ श्रीहरिः ❀

अनुवादकीय

विश्वातीतं विश्वविधानं विबुधेशं,
विश्वान्तं विश्वम्भरमाद्यं
विद्याऽविद्यावेद्यविहीनं हृदि वेद्यं,
वन्दे विष्णुं विश्वविलासं विधिवन्द्यम् ॥

यह प्रसिद्ध है कि संसार में समस्त प्राणी निखिल दुःखों से छूटने तथा शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए अहर्निश-सतत प्रयत्न करते रहते हैं, परन्तु दुःखों के एवं परमानन्दके मूल कारण को न जानकर विपरीत उपायों से दुःखों से छूटने का एवं सुख लाभ का प्रयत्न करते रहते हैं, यही कारण है कि वे सर्वथा दुःखों से नहीं छूट पाते तथा शाश्वत सुख नहीं प्राप्त करते । अत एव हमारे परमकारुणिक सर्वज्ञकल्प ऋषि-मुनियोंने दुःखों से छूटने के लिए तथा शाश्वत सुख लाभ के लिए वेदों के सारभूत-स्मृति-पुराणादि अनेक शास्त्रोंकी रचना की । इन्हीं शास्त्रोंके अन्तर्भूत-पुराणमूर्धन्य-भगवदवताररूप श्रीमद्-भागवत-वेदान्तका चतुर्थ-प्रस्थान है – जिसका प्रणयन श्रीनारायणावतार-कृष्णद्वैपायन बादरायण-मुनिने किया ।

यद्यपि उस गौरवशाली-वन्दनीय-ग्रन्थरत्नमें सकामकर्म, निष्कामकर्म, साधनभक्ति, सिद्धभक्ति, साधनज्ञान, सिद्धज्ञान, विवेक, वैराग्य आदि सभी साधनों का अनेक विध उपाख्यानों के द्वारा वर्णन किया है, परन्तु तत्त्वदर्शी-विवेचक-विद्वानों को उसमें अनन्यभाव भक्ति-पूर्ण पारमहंस्य - ज्ञानसुधाकी सुमधुर अतीवनिर्मल महनीया-विश्वपावनी-सरिता भरपूर बहती हुई दिखाई देती है । अत एव द्वादश स्कन्ध में कहा भी है कि "यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।" (भा० १२ । १३ । १८) । अतः ब्रह्मात्मतत्त्वके जिज्ञासुओं तथा दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति चाहने वाले मुमुक्षुओं के लिए यह श्रीमद्भागवतके प्रत्येक स्कन्धों के तात्पर्योंका प्रदर्शक एवं सिद्धान्तोंका निर्णायक 'अध्यात्म-ज्योत्स्ना-विवृति तथा प्रास्ताविक-वक्तव्य सहित श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतक' अत्यन्त उपयोगी होने के कारण श्रद्धेय एवं उपादेय है ।

यद्यपि – प्रारम्भ में – उपनिषत्-विशिष्ट यह नाम सुनने में आपाततः आश्चर्यसा मालूम होगा कि श्रीमद्भागवत को 'उपनिषत्' क्यों कहा गया ?

तथापि विचार दृष्टिसे देखने पर यह अन्वर्थक नाम सिद्ध होता है। जैसे-उपनिषदोंकी सारभूता श्रीमद्भगवद्गीता-स्मृतिको उपनिषत् कहा गया है, अतः अध्यायके अन्त में 'श्रीमद्भगवद्गीतासु-उपनिषत्सु' ऐसा पढ़ा जाता है। वैसे ही उपनिषत्-प्रतिपाद्य-अद्वैत-तत्त्वरूप विषयका प्राधान्यतः निरूपण करने से 'श्रीमद्भागवतको 'उपनिषत्' कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

दूसरी बात यह है कि-- श्रीमद्भागवतके अनेक - श्लोक उपनिषत्के ही सिद्धान्त निर्णायक – अत्यल्प - परिवर्तन के साथ – संयोजित मन्त्ररूपसे देखनेमें आते हैं। जैसे 'ईशावास्योपनिषत्' का यह प्रसिद्ध प्रथम मन्त्र है – 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥' इस मन्त्रमें द्वैतवादी एवं अद्वैतवादीका विवाद उपस्थित होता है कि – वह 'ईश' क्या आत्मासे भिन्न है, या अभिन्न है ?। द्वैतवादी भिन्न कहता है और अद्वैतवादी अभिन्न कहता है। इस विवादके उपशमनके लिए एवं सिद्धान्तनिर्णयके लिए-श्रीमद्भागवतके-अष्टम स्कन्धमें- 'आत्मावास्यमिदं विश्वम्।' (भा० ८।१।१०) ऐसा कुछ परिवर्तित - प्रथमपाद प्रदर्शित किया। परिशिष्ट तीनपाद - उपनिषत् मन्त्रके आनुपूर्वी- वैसेके वैसे रक्खे गये। 'ईशा' के स्थानमें 'आत्म' पद रखकर श्रीबादरायण मुनिने वह 'ईश' आत्मा ही है, आत्म - भिन्न नहीं है, यह निर्णय सूचित किया। इससे ईश्वर और आत्मामें भेदमानने वाले - द्वैतवादीके मतका निराकरण होजाता है, और अद्वैतकी सिद्धि होजाती है। 'सर्व' पदके स्थान-पर 'विश्व' पद रखने पर संकुचित एवं परिमित अर्थकी निवृत्ति हो जाती है, और असंकुचित एवं अपरिमित अर्थकी सिद्धि होजाती है। 'सर्वे ब्राह्मणाः भोजयितव्याः' इस वाक्यमें सर्वपद परिगणित अर्थको ही कहता है। विश्वके समस्त ब्राह्मणोंको नहीं कहता। इसलिये – आत्मा एवं ईश्वरकी एकतामें प्राप्त संदेहके निवारणके लिए तथा निखिल-जगत्को ईश्वरसे व्याप्त-बोधन करनेके लिए पूर्वोक्त - परिवर्तन अत्यावश्यक - आशीर्वादके समान सिद्ध हो जाता है। यदि ऐसा तात्पर्य निर्णय न माना जाय तो विशाल - बुद्धिवाला व्यास तीन पादोंमें कुछ भी परिवर्तन न कर - प्रथमपादमें ही पूर्वोक्त - रूपसे व्यर्थका - परिवर्तन कर अपनी अल्प - बुद्धिका परिचय न देता। अत एव ऐसे तात्पर्यका निर्णय करनेके लिए ही उस ज्ञाननिधि - महर्षिने ऐसा परिवर्तन किया है, ऐसा निश्चय होता है।

इस प्रकार 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' (मु० उ० २।२।८) इस मन्त्रके चतुर्थ-पादका 'मयि दृष्टेऽखिलात्मनि।' (भा० ११।२०।३०) 'दृष्ट एवात्म-

नीश्वरे ।' (भा० १ । २ । २१) ऐसा परिवर्तन किया है, परिशिष्ट तीन पाद जैसेके तैसे रक्खे गये हैं। इस परिवर्तनके द्वारा भी 'पर' पदसे परमेश्वर और 'अवर' पदसे प्रत्यगात्मा का बोधन कर सामानाधिकरण्य के निर्देश द्वारा स्पष्ट रूपसे जीव एवं ईश्वरके एकत्वका बोधन किया है । इसलिए 'सर्व-वेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते ।' (भा० १२ । १३ । १५) 'सर्ववेदान्त-सारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् ।' (भा० १२ । १३ । १२) इत्यादि अनेक वचन श्रीमद्भागवत को वेदान्त का सार ही कहते हैं, जो स्पष्टतः ब्रह्म एवं आत्माके एकत्व का लक्षक-ज्ञापक है । वेदान्त यानी वेदों का अन्तिम परि-शिष्ट ज्ञानकाण्डभाग उपनिषत् ।

'उपनिषत्' शब्द; उप, नि, उपसर्गद्वयपूर्वक, विशरण, गति, अवसाद-नार्थक 'षद्लृ' धातुसे क्विप् प्रत्ययान्त हो कर निष्पन्न होता है । उसका अर्थ यह है कि मुमुक्षुओं को विद्या द्वारा सर्वात्मा ब्रह्मके उप यानी अत्यन्त समीप पहुंचा कर, नि - नितरां यानी अच्छी तरह हृदय-ग्रन्थि (चिज्जड - तादा-त्म्याध्यास) को शिथिल करती हुई – ब्रह्मका स्वस्वरूपसे साक्षात्कार कराकर अविद्या तत्कार्यद्वैत-प्रपञ्चका सर्वथा विनाश कर देती है । अतः उपनिषत् का अपर अन्वर्थक नाम ब्रह्मविद्या है । अतः यह प्रकृत श्रीमद्भागवतसंहितोप-निषत् भी मुमुक्षु एवं जिज्ञासु के समस्त संशयोंका छेदन करती हुई अन्त में हृदयकी दुर्भेद्य-ग्रन्थिका भी भेदन करती हुई – ब्रह्मकी साक्षात् प्राप्ति करा देती है. इसमें लेश भी सन्देह नहीं ।

श्रीमद्भागवतके महात्म्यमें कहा गया है कि 'परीक्षित् साक्षी यच्छ्रवण-गतमुक्त्युक्ति कथने ।' (६ । १००) । अर्थात् श्रीमद्भागवतके श्रवणमात्र से ही मुक्ति मिल जाती है इसमें राजा परीक्षित साक्षी हैं । परीक्षित् को श्रवण-मात्रसे ही ज्ञान लाभ द्वारा मुक्ति मिल जाती है और वह कृतकृत्य एवं धन्य बन जाता है । इस प्रकार श्रुति भी कहती है कि – 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः ।' अर्थात् यह श्रुति, श्रवणको ही आत्मसाक्षात्कारका प्रधान साधन बतलाती है । साधन चतुष्टय सम्पन्न उत्तमाधिकारी को केवल उपनिषदों के महावाक्य श्रवण मात्रसे ही आत्म-साक्षात्कार हो जाता है ।

लोग प्रायः यह शंका किया करते हैं कि केवल श्रवण द्वारा ज्ञानमात्र से कैसे मुक्ति मिल सकती है । अविद्यादि बन्धनों की कैसे निवृत्ति हो सकती है, कुछ और भी प्रयत्न तो करना ही चाहिये । जैसे बम्बई के मधुर-तम हलवेका हरिद्वार में बैठे-बैठे श्रवण किया है और हलवे का ज्ञान भी हुआ है, किन्तु इतने मात्रसे क्षुधा की निवृत्ति, रसास्वाद एवं तृप्ति नहीं देखी जाती । यह तो तभी हो सकता है, जब कि स्वयं बम्बई जाय और पैसे दे

कर उसे खरीद कर खाये, अथवा हलवा ही बम्बई से कोई ला कर खिलाये। केवल श्रवणजन्यज्ञानमात्रसे कुछ भी प्रत्यक्ष-फल नहीं मिलता । किन्तु यह विषम दृष्टान्त है, प्रायः ऐसी शङ्का करने वाले वेदान्तके वास्तविक रहस्य को नहीं जानते हैं । प्रकृत में ऐसी बात नहीं है । क्योंकि जिसका हम श्रवण करते हैं - श्रवण द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह बम्बईके हलवेके समान व्यवहित एवं परोक्ष वस्तु नहीं है, किन्तु वह व्यवधान रहित साक्षात् अपरोक्ष - वस्तु है, वह स्वयं आत्मा स्वस्वरूप ही है। जैसे 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्यके श्रवणमात्रसे दशमस्वयंरूपसे अपरोक्ष-ज्ञान होता है और शोककी निवृत्ति होजाती है। यहां विचार किया जाय कि - 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्य के श्रवण विना और क्या कोई उपाय या साधन है ? जो स्वयं दशमके ज्ञानके विना मोहसे ग्रसित हो कर रो रहा था । और कोई उपाय नहीं, केवल 'तू ही दशमव्यक्ति है' यह वाक्यका श्रवण ही उपाय है। उससे ही उसे स्वयं अपना अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है, और मोह-शोक की निवृत्ति हो जाती है । एवं प्रकृतमें भी 'यत् साक्षात् अपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० उ० ३ । ४ । १) ऐसा श्रुति कहती है। अर्थात् ब्रह्म सर्वात्मा होने के कारण सदा अपरोक्ष है । केवल वह अविद्याऽऽवरण द्वारा आच्छादित हो गया है, जिसको निवृत्ति केवल विद्या द्वारा ही होती है । किन्तु अनभिज्ञ लोग सोचते हैं कि हम अन्यान्य साधनों के द्वारा किसी विप्रकृष्ट अन्य देश-विशेष में जाकर उसका अपरोक्ष दर्शन करेंगे या वह किसी देश - विशेष से स्वयं यहां आ कर हमें सम्मुख दर्शन देगा तो हम उसका साक्षात्कार कर लेंगे । किन्तु वेदान्तके महावाक्य कहते हैं कि – तत्त्वमसि' 'त्वमेवाहं' 'अहं भवान न चान्यस्त्वं' (भा० ४ । २८ । ६१) । अर्थात् वह ब्रह्म तू ही है, तू ही मैं हूँ, मैं भगवान् स्वयं आप ही है, तू अन्य नहीं है । इन महावाक्योंके श्रवणमात्रसे ही उत्तमाधिकारियों को ब्रह्मका स्वस्वरूपसे अपरोक्ष साक्षात्कर हो जाता है । अधिकारकी न्यूनताकी पूर्ति के लिए ही मनन एवं निदिध्यासन अपेक्षित होते हैं। पूर्णाधिकारसम्पन्न के लिए इनकी आवश्यकता नहीं होती।

पूर्वोक्त दृष्टान्त कथित हलवा तो हरिद्वारसे भिन्न-विप्रकृष्टदेश बम्बई - में था, अतः उसके श्रवणमात्रसे स्वाद एवं तद्भक्षणजन्य तृप्त्यादि प्राप्त नहीं होती है। यहाँ सिद्धान्तमें ऐसी स्थिति नहीं है। जिस ब्रह्मका हम साक्षात्कार करना चाहते हैं- वह तो हमारा ही अभिन्नस्वरूप आत्मा है। वह व्यवहित नहीं, अव्यवहित है–सदा प्राप्त है–सदा सन्निहित है। सदा सर्वत्र अन्तर्बहिः परिपूर्ण है, सबमें ओत-प्रोत है। अतः जैसे 'दशम स्त्वमसि' के केवल श्रवण-मात्रसे अपरोक्ष ज्ञान एवं मोह शोकादिकी निवृत्ति हो जाती है, ठीक वैसे ही

वेदान्तके महावाक्योंके श्रवणमात्रसे अपरोक्ष ज्ञान एवं मुक्ति मिल जाती है। अतः श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषत्के विधिपूर्वक-अध्यात्म-विवेचन-सहित-श्रवण-मात्रसे उत्तमाधिकारीको परमसत्य-ब्रह्मका साक्षात्कार निःसन्देह हो जाता है। जसे कि - राजा परीक्षित् ने श्रीमद्भागवतका श्रवण किया और सात दिनमें ही उसे अभय - ब्रह्म पदकी प्राप्ति हो गई । परीक्षित् यानी 'परीक्षते' इति परीक्षित अर्थात सत् असत्का परीक्षक-परीक्षा करनेवाला-मुमुक्षु-जिज्ञासु । अत एव मुण्डकोपनिषत्की श्रुति कहती है कि – 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।' (१ । २ । १२) अर्थात् भूर्भुवादि सकल लोकोंकी परीक्षा करे, वे लोक कैसे हैं ? कर्मचितान यानी कर्मोंके द्वारा विरचित । जो कर्मजन्य होता है, वह नियमसे सस्यादिकी तरह अनित्य ही होता है । जो अनित्य होता है– वह वियोगादि द्वारा दुःखप्रद होता है । अत एव भगवान् गीतामें कहते हैं कि – 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।' (६ । ३३) अर्थात यह लोक अनित्य एवं सुखरहित - यानी प्रभूतदुःखपूर्ण है– इसे प्राप्तकर मुझ नित्य एव सुखपूर्ण - भगवान्का भजन कर । इस अनित्य संसारसे निर्वेद - यानी वैराग्य प्राप्त करे, क्योंकि-कृत - कर्मोंसे अकृत - अजन्य - शाश्वत - मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है। इस प्रकार विवेकवैराग्यादि - साधन चतुष्ट्य संपन्नको वेदान्तरूप- श्रीमद्भागवतके श्रवणका अधिकारी बतलाया। श्रीमद्भागवतके सर्वतः आदिम श्रोता परीक्षित् भी नित्यानित्य वस्तुके विवेकद्वारा अनित्य - असुख लोकसे वैराग्य प्राप्तकर शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा आदि साधन संपन्न हो कर - मुमुक्षु बन कर गंगाके पावन - शान्त - तट पर पहुंचा था। कहावत है कि – जिसे चाह है– उसे राह भी मिल जाती है । परीक्षाप्रवीण परीक्षित्को श्रोत्रिय - ब्रह्मनिष्ठ - सद्गुरु - श्रीशुकदेव जी मिल गये । उन्होंने उसकी अधिकार - संपत्ति देख-कर करुणावश श्रीमद्भागवतका विधिवत् श्रवण कराया । और अन्तमें शुकदेवजीने - 'अहं ब्रह्म परं धाम, ब्रह्माहं परमं पदम् (भा० १२ । ५ । ११) इस महावाक्यका उपदेश दिया, अर्थात् मैं सर्वाधिष्ठान - स्वयंज्योतिः परब्रह्म हूं, परमपदस्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ । ऐसी निरन्तरभावना करो । और अपनी विशुद्ध एवं एकाग्रबुद्धिको उस पर-ब्रह्ममें लगाकर उसका साक्षात्कार करो । तुम स्वयं निर्भय - अमृत - आनन्दपूर्ण - हो – मृत्युओंके भी मृत्यु हो, तक्षक सर्पकी तो बात ही क्या, स्वयं मृत्यु भी तुम्हारे समीप नहीं आसकता। 'न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ।' (भा० १२ । ५ । १२) अपने आत्मासे पृथक् विश्वको एवं शरीरको नहीं देखोगे । इस प्रकार महावाक्य - श्रवण करनेके बाद स्वयं परीक्षित् अपना अनुभव कहने लगा कि– 'भगवन् !

तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम् । प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणं अभयं दर्शितं त्वया । अज्ञानञ्च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया ।' (भा० १२ । ६ । ५ - ७) अर्थात् मैं अब तक्षकादि - मृत्युओंसे डरता नहीं हूं, मैं ब्रह्मनिर्वाण - पदमें प्रविष्ट होगया हूं, आपने कृपया मुझे अभय - शाश्वतपदका दर्शन करा दिया है, ब्रह्म एवं आत्माकी एकताका अपरोक्ष अनुभव करा दिया है, ज्ञान एवं विज्ञान की दृढ़ निष्ठासे मेरा अज्ञान नष्ट हो गया है । अज्ञानरूप मूलका नाश होने पर उसका कार्य संसारका भी ध्वंस हो गया है । अब मुझे शरीरादि संसारका दर्शन नहीं होता, केवल अनन्तानन्दपूर्ण ब्रह्मका ही अनुभव करता हूँ ।

इसका आध्यात्मिक रहस्य यह है कि नित्यानित्य वस्तुका परीक्षक वैराग्यवान् कालरूपी तक्षकसे सदा के लिए मुक्ति चाहने वाला जिज्ञासु ही परीक्षित् है । रवि, सोम इत्यादि भेदसे सातवार ही सभी के लिए सप्तदिन की परिमित आयु है । केवल राजा परीक्षित् के लिए ही ऐसी परिमित आयु थी, ऐसी बात नहीं । अर्थात् सभी को इन्हीं सात दिनों में से किसी न किसी दिनमें मरना पड़ता ही है । विश्व-विनाशक काल ही तक्षक है । जैसे बढ़ई (तक्षक) लकड़ीको छील - छाल करता है, इसी प्रकार कालरूपी तक्षक भी प्रत्येक प्राणियोंकी आयुको हमेशा क्षीण करता रहता है । अतः सभी प्राणी मृत्युसे सदा भयभीत रहते हैं । उस महाभयसे मुक्त होने के लिए तथा अभय पदको प्राप्त करने के लिए विवेकी-मानव, सद्गुरुके शरणमें जाकर उनके द्वारा सच्छास्त्रका उपदेश श्रवण कर अपना कल्याण संपादन कर ले ।

अत एव श्रीमद्भागवतके प्रत्येक-स्कन्धोंकी मननीय-विचार-धाराओंको प्रकट करने वाली – एवं विविध-रहस्योंका निरूपण तथा सिद्धान्तोंका निर्णय करने वाली – यह श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतक की अध्यात्म - ज्योत्स्ना - विवृतिरूप व्याख्या हमारे परमपूज्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य्य - श्रोत्रिय - ब्रह्मनिष्ठ - सकल - निगमागम - शास्त्ररहस्यवेत्ता

श्री १००८ स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज

द्वारा संकलित हुई है । जिसमें पुरञ्जनोपाख्यान, जडभरताख्यान आदि अनेक कथानकों द्वारा भी सरल, सहज और भावों का अजस्र बहता हुआ निर्झरण विचारक पाठकों को निर्मल रसास्वाद प्रदान करता है । अत एव यह विवेक-विचारशील-स्वाध्यायप्रेमी सज्जनोंके लिए परमोपयोगीरूपसे उपादेय एवं श्रद्धेय होगा, इसमें कुछ भी विवाद नहीं ।

इसका प्रथम खण्ड सानुवाद प्रकाशित हो गया था, जिसका बम्बई एवं अहमदाबाद संन्यासाश्रमके स्वाध्याय-प्रेमियोंने विशेषरूपसे रसास्वाद प्राप्त

किया था। अनेक - माननीय - विद्वानोंने इसकी भूरि - भूरि प्रशंसा की थी। अनेक प्रशंसनीय उद्गार पत्रादि द्वारा प्रकट किये थे। अत एव इसका द्वितीय - खण्ड भी उत्साहके साथ छप कर प्रकाशित हो गया है यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। यह समग्र ग्रन्थ पांच खण्डोंमें प्रकाशित होगा। इस द्वितीय-खण्डमें तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम स्कन्धोंकी विचार धाराओंका वर्णन हुआ है।

यद्यपि श्रीस्वामी जी महाराजका प्रथम-खण्डके समान इसका अनुवाद समग्र रूपसे करनेका आदेश था, इसके अनुसार समग्र रूपसे अनुवाद कुछ किया भी जो इसमें दिया गया है। परन्तु मूल संस्कृत-व्याख्याकी बहुलता देख कर तथा ग्रन्थका कलेवर बहुत ही बढ़ जानेके भयसे इस आदेश में कुछ परिवर्तन करना पड़ा। अतः हमारे सहयोगी वेदान्ती स्वामी कृष्णानन्द जी, पण्डित स्वामी विद्यानन्द जी, कोठारी स्वामी कैवल्यानन्द जी, सेक्रेटरी स्वामी अद्वैतानन्द जी आदि विद्वान् - महात्माओं ने अनुरोध किया कि - प्रकृत ग्रन्थ-प्रणेता पूज्य स्वामीजी महाराज की संस्कृत-व्याख्या ही हिन्दीके समान सरल एवं सुगम होनेके कारण खास - खास श्लोकोंका ही हिन्दीमें अनुवाद करने पर ग्रन्थका कलेवर भी बढ़ेगा नहीं तथा हिन्दी-प्रेमियोंकी खास रुचिका भी भंग नहीं होगा। इस परिवर्तनके लिए श्रीस्वामीजी महाराज ने भी अनुमति दी। अतः यह मेरा हिन्दी अनुवाद समग्र न होकर आंशिक माना जायगा।

और महेश्वर - ग्रन्थमालाके सप्तम - पुष्परूपसे अपने पुण्य - प्रधान सात्त्विक द्रव्यके व्ययसे इस द्वितीय - खण्ड को प्रकाशित करानेवाले - बम्बई विला-पारला मगनवाडीके निवासी-परमोदार-सत्संग एवं स्वाध्याय-प्रेमी श्रीमान् सेठ जीवनदास गोविन्द जी संपत् तथा उनकी श्रद्धाभक्तिमयी-धर्मपत्नी लक्ष्मीदेवीको जितना धन्यवाद एवं शुभाशीर्वाद दिया जाय, उतना थोड़ा ही होगा। क्योंकि - उन महानुभावोंने अपने - धनका सदुपयोग-भगवदवताररूप - विद्वानोंकी विद्याकी परीक्षाका स्थलभूत - अतीव प्रशस्त-विश्वमान्य श्रीमद्भागवतकी स्तुत्य-सेवाके लिए किया है।

अत एव विश्व - नियन्ता सर्वेश्वर परमात्मासे मैं चाहता हूँ कि भगवान् सपरिवार उन धर्म-प्रेमी दम्पतीको सदा स्वस्थ, समृद्ध एवं

सुखी बनाये रक्खे और उनकी सद्बुद्धि, सत्प्रवृत्ति ऐसे शुभकार्यों के करनेमें सदा लगी रहे।

इति सत्यं शिवं सुन्दरम्।

विदुषांमनुविधेय:

ता० २।१।६३
पौष सुदी सप्तमी,
बुधवार

स्वामी ब्रह्मानन्दगिरि वेदान्ताचार्य, न्यायशास्त्री,
सुरतगिरि बङ्गला, कनखल (हरिद्वार)
जिला-सहारनपुर, उत्तरप्रदेश।

❀ ❀ ❀

प्रास्ताविक-वक्तव्यमें समुद्धृत भागवतके वचनों की सूची

* * *

प्रास्ताविक-वक्तव्यमें समुद्धृत उपनिषदादि वचनों की सूची

❀ ❀ ❀

श्रीमद्भागवतके समुद्धृत वचन-प्रमाणोंकी सूची *

* ० यह चिन्ह पूर्ण श्लोकका ज्ञापक है और = यह चिन्ह अर्धश्लोकका ज्ञापक है।
— यह चिन्ह श्लोकके एक पादका या चतुर्थ भागका ज्ञापक समझना चाहिये।

❀ ❀ ❀

उपनिषद्-गीता एवं प्रकीर्ण-ग्रन्थोंके वचनोंकी सूची

वशीकृते 37

3

❀ ❀ ❀

श्रुत्वा स्थूलं तथा सूक्ष्मं रूपं भगवतो यतिः ।
स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेदिति ॥

भा० ४ । २६ । ३६

यति अर्थात् यत्नशील संन्यासी, विरक्त अथवा सभी मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि भगवान्के स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके रूपोंका श्रवण करके पहले स्थूलरूपमें चित्तको स्थिर करे, फिर धीरे-धीरे वहाँसे हटाकर उसे सूक्ष्ममें लगा दे ।

❀ ❀ ❀

वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च ।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥

भा० ११ । १६ । ४२

इसलिये तुम वाणीको स्वच्छन्द भाषणसे रोको, मनके संकल्प-विकल्प बन्द करो, प्राणोंको वशमें व इन्द्रियों को दमन करो । सात्त्विक बुद्धिके द्वारा प्रपंचाभिमुख बुद्धिको शान्त करो । फिर तुम्हें संसारके जन्म मृत्युरूप मार्गमें भटकना नहीं पड़ेगा ।

❀ ❀

❀ ॐ नमः शिवाय ❀

ॐ श्रीविश्वनाथो विजयतेतराम्

श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतकस्य द्वितीय-खण्डस्य

प्रास्ताविकं वक्तव्यम्

(मङ्गलम्)

यद्ब्रह्मगोचरविचित्रतमः - प्रभावात्,
संसारबीजनितदुःखमभूज्जनस्य ।
यद्ब्रह्मबीजनितसौख्यमभूच्च तस्य,
तं चित्सुखं विमलकृष्णमहं प्रणौमि ॥१॥
द्वेषादिदोषरहितस्य सतां हिताय,
वेदान्तसारकथनाय समुद्यतस्य ।
दैवाद्यदि क्वचिदिह स्खलनं तथापि,
निस्तारको भवतु मे जगदन्तरात्मा ॥२॥

(हिन्दी अनुवाद)

मानवको — जिस ब्रह्मके आश्रित विचित्र अज्ञानके प्रभावसे कल्पित संसार-विषयक मिथ्याबुद्धि - जन्य दुःख हुआ था और फिर जिस ब्रह्मसे उसी मानवको अखण्ड ब्रह्माकार - बुद्धिजन्य निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति हुई, उसी सच्चिदानन्द विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णको मैं नमस्कार करता हूं ।

रागद्वेषादि दोषोंसे रहित होकर सज्जनोंके कल्याणार्थ मैं वेदान्तके सारका कथन करनेके लिए प्रत्यत्नशील हुआ हूं । इस प्रबन्ध लेखनके विषय में दैववशात् यदि कहीं कोई त्रुटि हो जाय तो सर्वजगदन्तर — आत्मा भगवान् मेरी उस त्रुटिका परिमार्जन करें ।

सिद्धान्तनिर्णयस्तु परमावश्यकः

तदुक्तं—श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये—'अदृढञ्च हतं ज्ञानं, प्रमादेन हतं श्रुतम् । संदिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः ॥' (भा० मा० ५ । ७२) इति ।

अदृढं = संदिग्धं विपर्यस्तं वा अत एव शिथिलं तज्ज्ञानं हतं नष्टमित्युच्यते, तत्र दग्धबीजमिव स्वकीयं फलं सम्पादयितुं समर्थं भवति । श्रुतं = श्रवणं, प्रमादेन = विषयासक्तिमोहममतादिदोषरूपेण हतं न स्वफलं जनयितुमलम् । अतः 'संशयात्मा विनश्यति' (४ । ४०) इति भगवताऽपि गीतासु श्रीमुखेनोक्तम् । विनश्यति = विशेषेण-भ्रष्टपुरुषार्थतया नश्यति । अतः सिद्धान्तनिर्णयं सम्पाद्य पुरुषार्थभ्रंशकस्य संशयस्य निरासोऽवश्यं कर्तव्यः ।

सिद्धान्तका निर्णय तो परम आवश्यक है

श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें कहा है — जो ज्ञान दृढ़ नहीं होता, वह व्यर्थ हो जाता है, इसी प्रकार ध्यान न देनेसे श्रवणका, संशय करनेसे मन्त्रका और चित्तके इधर - उधर भटकनेसे जपका भी कोई फल प्राप्त नहीं होता है । एवं श्रीकृष्णभगवान्ने गीतामें भी श्रीमुखारविन्दसे कहा है कि संशयालुका विनाश होता है ।

अत एव श्रीमद्भागवतस्य सुनिर्णीतः परमः सिद्धान्तः केवलाद्वैत एव । तस्यानुभवसाधनं तल्लाभमार्गो वा भगवतः सर्वात्मनोऽनन्या भक्तिरेव । एतस्मिन् विषये श्रीमद्भागवते प्रतिपदं सन्ति भूयांसि निर्विवादानि प्रमाणवचांसि । अत एव श्रीमद्भागवते भगवतो विविधावतारान् लीलाचरितान् भागवतचरितांश्च निमित्तीकृत्य चरमफलभूतस्याद्वैतभावस्य तत्साधनभूतस्य भक्तितत्त्वस्य च पाठकसाधकानां श्रद्धैकाग्र्यपूरितेषु पावनमनःसु समङ्कितकरणाय भगवता कृष्णद्वैपायनमहर्षिणा सफलः प्रयत्नो व्यधायि ।

अत एव श्रीमद्भागवत्का सुनिर्णीत परमसिद्धान्त केवलाद्वैत ही है । उस अद्वितीय ब्रह्मके अनुभवका साधन तथा उसकी प्राप्तिका मार्ग उस सर्वान्तरात्मा भगवान्की अनन्य भक्ति ही है । इस विषयमें श्रीमद्भागवतके जगह–जगह पर अनेकों प्रामाणिक वचन विद्यमान हैं । इसीलिए इसी उद्देश्यसे श्रीकृष्ण द्वैपायन भगवान् वेदव्यासने – श्रीमद्भागवतमें भगवान्के विविधावतारके लीला चरित्रोंको तथा भागवत चरित्रोंको निमित्त बना कर स्वाध्याय प्रेमियोंके श्रद्धा - एकाग्रतापूर्ण पवित्र मनमें – तात्पर्यफलस्वरूप-अद्वैतभाव तथा उसके साधनभूत भक्तिभावको सुदृढ़ करने के लिए सफल प्रयत्न किया है ।

विरोध-परिहारः

भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् ।' (भा० ५ । ६ । १८) इत्यत्रेत्थं विरोध उपस्थितो भवति । भगवान् भजतां भक्तियोगं न ददाति, इत्युक्तं, अत्र किं भक्त्या विना ते भगवन्तं भजन्ते ? भक्त्यैव सर्वत्र भजनं सम्भवति । 'भज सेवायां' धातुस्मरणात् । भजनं-सेवनं

भोजनादे र्भक्त्यैव प्रीत्यैव सम्पद्यत इति लोके दृष्टम् । तां विना न तस्य कोऽपि सेवनं भक्षणादिरूपं करोति । अतो भक्त्यैव भगवन्तं भजतां भक्तियोगं न ददाति, किन्तु मुक्तिं ददाति, इति विरोधः । तत्परिहारस्तु ममेत्थं प्रतिभाति-मुक्तिं = सायुज्यसालोक्यादिलक्षणां, न तदात्मभावलक्षणां ब्रह्म-निर्वाणकैवल्याख्याम् । भक्तियोगं अर्थात् अनन्यभक्तियोगविशिष्टज्ञानयोगं न ददाति । सायुज्यादिगौणमुक्त्यपेक्षया तस्य गुरुतरत्वात् । यतः सायुज्यादि-मुक्तिमनुभवतां जयविजयादीनामपि वैकुण्ठस्थानात् पातित्यश्रवणात् । परन्तु तादृशभक्तियोगेन ब्रह्मनिर्वाणमुक्तिं लभमानानां 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम ।' (गी० १५।६) इति प्रामाण्यात् – अपुनरावृत्तिः सिद्ध्यति ।

विरोध-परिहार

श्रीमद्भागवतमें कहा है मुकुन्द भगवान् भजन करनेवाले भक्तोंके अनेकों कार्य करते हैं और उन्हें मुक्ति भी दे देते हैं, परन्तु मुक्तिसे बढ़कर जो भक्तियोग है, उसे सहजमें नहीं देते । इस कथनके अनुसार यह विरोध उपस्थित होता है । क्या भक्ति विना ही वे भगवान्का भजन करते हैं? किन्तु ऐसा तो कहीं देखा नहीं जाता क्योंकि भक्तिसे ही सर्वत्र भजन किया जाता है । सेवार्थक भज धातु से भजन शब्द निष्पन्न होता है । तब अर्थ यह हुआ भजन माने सेवन । भोजनादिमें भी प्रीतिरूप भक्तिसे ही सेवनरूप - प्रवृति होती है, प्रीति विना कोई भी भक्षणादिरूप सेवनमें प्रवृत्त नहीं होता । अतः भगवान् भक्तिभावसे भजन करनेवालेको भक्तियोग नहीं देते हैं, किन्तु मुक्ति दे देते हैं" । इस प्रकार भक्तिसे भजनेवालेको भक्ति नहीं देते, ऐसा विरोध होता है । इसका परिहार मुझे इस प्रकार प्रतिभासित होता है कि भगवान् सालोक्य सायुज्यादि मुक्ति देते हैं, परन्तु ब्रह्मनिर्वाण कैवल्यात्मक - तदात्मभावरूप-अभेद मुक्ति नहीं देते हैं । भक्तियोग अर्थात् अनन्य भक्तियोग विशिष्ट ज्ञानयोग नहीं प्रदान करते हैं । क्योंकि सायुज्यादि गौण मुक्तिकी अपेक्षा, अनन्य भक्तियोग विशिष्ट ज्ञानयोग अतिशय महान् है । क्योंकि सायुज्यादि मुक्तिका अनुभव करनेवाले जयविजय आदिका वैकुण्ठसे पतन हुआ, ऐसा सुननेमें आता है । परन्तु तादृश भक्तियोग द्वारा ब्रह्मनिर्वाणमुक्ति प्राप्त करनेवालोंका पुनः संसारमें पतन नहीं होता है । गीताका भी इस विषयमें प्रमाण है कि 'जहां पर जाकर पुनः जन्म, मरण, रूप, संसारमें नहीं आना पड़ता, वही मेरा धाम (स्वरूप) है ।

अतः श्रवणादिरूपया साधनभूतयाऽपरभक्त्या भजतां भगवान् तेषां सकामतया मुक्तिं कार्यभूतां गौणलक्षणां ददाति, तत्कामनापूर्तये । फलभूतं परा-भक्तिलक्षणं ज्ञानमयं योगं न ददाति, तेषां सकामानां तत्र योग्यताविरहात् । निष्कामेभ्यो वीतरागेभ्य एव तादृशं भक्तियोगं ददातीति भावः । तथा च

निष्कामा एव ज्ञानमयभक्तियोगेन प्रह्लादादिज्ञानिभक्तवत् भगवद्भावरूपमोक्षम-वाप्तुं शक्नुयुः। यदाह–महाभागवतः प्रह्लादः सप्तमे– 'विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्। तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष! भगवत्त्वाय कल्पते॥' (भा० ७।१०।६) इति। एवमन्यत्रापि – 'भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते।' इत्युक्तम्। अत एव भेददर्शनशून्यया विज्ञाताद्वयब्रह्मभावलक्षणाया परमयाऽनन्यया भक्त्यैव भगवद्भावलक्षण-मुख्यमोक्षलाभं सदृष्टान्तं प्राहुः – 'एनः पूर्वकृतं यत्तद्राजानः कृष्णवैरिणः। जहुस्तं ते तदात्मानः कीटः पेशस्कृतो यथा॥ यथा यथा भगवतो भक्त्या परमयाऽभिदा। नृपाश्चैद्यादयः सात्म्यं हरेस्त-च्चिन्तया ययुः॥' (भा० ७।१०।३९–४०) इति। कृष्णनिन्दादिना पूर्वकृतं यदेनः = पापं, तद्ध्यानेन तदात्मानः = तद्भावमापन्नाः सन्तो जहुः= परितत्यजुः। तदात्मत्वे दृष्टान्तः। कीटः पेशस्कृतो भ्रमरस्य ध्यानेन यथा तदात्मा भवतीति। अभिदा=भेददर्शनशून्ययाऽर्थात् सर्वत्र विज्ञातभगवद्भाव-लक्षणाया परमया = अनन्यया भक्त्या, हरेः सात्म्यं = तादात्म्यं, तच्चि-न्तया = तस्यैकस्यैव चिन्तया ध्यानरूपया 'ध्यै चिन्तायां' स्मरणात्। ययुः = प्रापुः।

अतः यह सिद्ध हुआ कि - भगवान् साधनात्मक श्रवणादि - अपराभक्तिवाले सकाम भक्तोंकी कामनाओंको पूर्ण करने के लिए कार्यस्वरूप गौण मुक्ति प्रदान करते हैं। क्योंकि सकामभक्तोंकी योग्यता न होने के कारण, फलात्मक पराभक्ति लक्षण-ज्ञानयोग नहीं देते हैं। तथा च निष्काम भक्तगण ही प्रह्लादादिके समान ज्ञानमय भक्तियोग द्वारा भगवद्भाव स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। इस बात को श्रीमद्भागवतमें कहा है कि हे कमलनयन! जिस समय मनुष्य अपने मनमें रहने-वाली कामनाओंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भागवतमें कहा है कि 'भक्तियोग द्वारा मन्निष्ठ हो कर मुझसे अभिन्नताको प्राप्त होता है। इसी लिए जिसमें भेददर्शन नहीं है, एवं जिसमें अद्वय ब्रह्मभाव साक्षात्कृत है। ऐसी उत्कृष्टानन्य भक्तिसे भगवद्भावरूप मुख्य मोक्ष प्राप्त होता है जिसके विषयमें दृष्टान्त पूर्वक भागवतके सप्तम स्कन्धमें कहा है कि श्रीकृष्णसे शत्रुता रखने वाले सभी राजा अन्तसमयमें श्रीकृष्णके स्मरणसे तद्रूप हो कर अपने पूर्वकृत पापोंसे सदाके लिए मुक्त हो गये। जैसे भृङ्गीके द्वारा पकड़ा हुआ कीड़ा, उसके चिन्तनसे उसका स्वरूप प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार भगवान् के प्यारे भक्त अपनी भेदभाव रहित अनन्यभक्तिके द्वारा भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर लेते हैं। वैसे ही शिशुपाल आदि नरपति भी भगवान्के वैरभावजनित अनन्य चिन्तनसे भगवान्के सारूप्यको प्राप्त हो गये।

सति चैवं - ज्ञानिनो भक्तस्यैव परं निर्विषयं निरवच्छिन्नं पूर्णं निर्मलं

स्वस्वरूपत्वेन सर्वत्र स्फुरितं सुखं, नान्येषामित्याहुः – 'मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम् । अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः । मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥ न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत् ॥' (भा० ११ । १४ । १२ - १३ - १४) इति मया = परमानन्दरूपेणात्मना स्वस्वरूपत्वेन स्फुरता । किञ्चान्येषां सकामानां तत्तल्लोकादिपरिच्छिन्नं सुखं, ज्ञानिनो भक्तस्य तु परिपूर्णमनवच्छिन्नं निर्विषयं सुखं, स्वत एव सिद्धमित्याह – अकिञ्चनस्येति । अकिञ्चनस्य = परिग्रहशून्यस्य तदपेक्षारहितस्य निःस्पृहस्य, दान्तस्य = जितेन्द्रियस्य, शान्तस्य = जितमनसः–रागद्वेषादिरहितस्य, अतएव समचेतसः = समेऽद्वये स्वाभिन्ने ब्रह्मणि संलग्नचित्तस्य समब्रह्मभाववतः, मया = परमानन्दस्वरूपेणैव सर्वत्रान्तर्बहिरनुभूयमानेन सन्तुष्टमनसः पुंसः = ज्ञानिनो भक्तस्य सर्वा दिशः सुखमया एव प्रचुरविमलसुखपूर्णा एव भवन्ति । दिग्ग्रहणं कालावस्थादेरप्युपलक्षणम् । अर्थात् निखिलोऽपि प्रातःसायंदिनरात्रिपक्षमासादिलक्षणः काल आनन्दपूर्ण एवानुभूयते, एवं सर्वाऽप्यवस्था लोकदृष्टिसिद्धदुःखसुखादिलक्षणा आनन्दपूर्णा एव प्रतीयन्ते । समब्रह्मानन्दानुभववतः परिपूर्णतामेवाह मयि = सर्वात्मनि-अनन्तानन्दनिधौ ब्रह्मणि - अर्पितात्मा = समर्पितमनाः, निजानन्दपरितृप्तः सन् पारमेष्ठ्यं = ब्रह्माधिपत्यं नेच्छति, प्रासादनिवासी जीर्णकुटीरमिव, इक्षुरसतृप्तो गजराजः कटुनिम्बपर्णानीव, मानसरोवरवास्तव्यो हंसो मलिमसं तडागमिव च । एवं महेन्द्रधिष्ण्यं – स्वर्गराज्यं नेच्छति । सार्वभौमं = कृत्स्नभूमण्डलाधिपत्यं नेच्छति, रसाधिपत्यं = पातालादिस्वाम्यं नेच्छति, योगसिद्धीः = अणिमाद्यैश्वर्याणि, नेच्छति । अपुनर्भवं = मोक्षमपि नेच्छति, तस्य स्वतःसिद्धत्वात् । किं बहुना ? । मद्विना = मां - परिपूर्णानन्दस्वरूपं हित्वाऽन्यत् किमपि नेच्छति, अन्यस्य सर्वस्य मिथ्यात्वात् । अहमेव तस्य परमप्रेमास्पदतया - परमसत्यतया च सदाऽभेदेन सिद्ध एवेत्यर्थः ।

सारांश यह हुआ कि– ज्ञानी भक्त सबसे परे निर्विषय - परिपूर्ण - शुद्ध-बुद्ध रूपसे सर्वत्र प्रस्फुरित सुखका अनुभव करता है, अन्य भेददृष्टिवाले भक्त ऐसे सुखका अनुभव नहीं कर सकते । इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें कहा है — 'हे प्रिय उद्धव ! जो सब ओरसे निरपेक्ष – वेपरवाह हो गया है, किसी भी कर्म या फल आदिकी आवश्यकता नहीं रखता, और अपने अन्तःकरणको सब प्रकारसे मुझे ही समर्पित कर चुका है, परमानन्द स्वरूप में उसकी आत्माके रूपमें स्फुरित होने लगता हूं । इससे वह जिस सुखका अनुभव करता है, वह विषय लोलुप प्राणियोंको किसी प्रकार मिल नहीं सकता । जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित-अकिंचन है, जो अपनी इन्द्रियों

पर विजय प्राप्त करके शान्त और समदर्शी हो गया है, जो मेरी प्राप्तिसे ही मेरे सान्निध्यका अनुभव करके ही सदा - सर्वदा पूर्ण सन्तोषका अनुभव करता है, उसके लिये आकाश का एक-एक कोना आनन्द से भरा हुआ हो जाता है। जिसने अपने को मुझे सौंप दिया है, वह मुझे छोड़ कर न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका, उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह स्वर्गसे भी श्रेष्ठ रसातलका ही स्वामी होना चाहता है। वह योगकी बड़ी बड़ी सिद्धियों और मोक्ष तक की अभिलाषा नहीं करता ॥ 'सर्वाः सुखमया दिशः = यहां दिशाके ग्रहणसे काल तथा अवस्था का भी उपलक्षण समझ लेना चाहिए। जैसे प्रातः सायं दिन - रात्रि - पक्ष - मास - वर्षादि रूप कालका वह आनन्दरूपसे अनुभवकरता है, एवं लौकिकदृष्टिसे सिद्ध सुख दुःखादि अवस्थाएं भी उसे आनन्दपूर्ण ही प्रतीत होती हैं।

पारमार्थिकं विष्णुतत्त्वम्

'ब्रह्म ज्योति निर्गुणं निर्विकारं, सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षात् विष्णुः।' (भा० १० । ३ । २४) इत्यादिभि र्यत्पारमार्थिकं विष्णु-तत्त्वं निरूपितं, तदेव श्रीविष्णुपुराणे विस्तरतो वर्णितम्। यथाहि – 'शुद्धः संल्लक्ष्यते भ्रान्त्या, गुणवानिव योऽगुणः। तमात्मरूपिणं देवं, नताः स्म पुरुषोत्तमम् ॥ अविकारमजं शुद्धं निर्गुणं यन्निरञ्जनम्। नताः स्म तत्परं ब्रह्म, विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ अदीर्घह्रस्वमस्थूल - मनण्वश्यामलोहितम्। अस्नेह-च्छायमतनुमसक्तमशरीरिणम् ॥ अनाकाशमसंस्पर्शमगन्धमरसं च यत्। अचक्षुःश्रोत्रमचलमवाक्पाणिममानसम् ॥ अनामगोत्रमसुखमतेजस्कमहेतुकम्। अभयं भ्रान्तिरहितमनिद्रमजरामरम् ॥ अरजोऽशब्दममृतमप्लुतं यदसंवृतम्। पूर्वापरे न वै यस्मिंस्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ परमेशत्वगुणवत् सर्वभूतमसं-श्रयम्। नताः स्म तत्पदं विष्णोर्जिह्वादृग्गोचरं न यत् ॥' (वि० पु० १ । १४। ३७ - ३८ - ३९ - ४० । ४१ - ४२ - ४३) इति। परमार्थतो योऽगुणः शुद्ध एव विष्णु र्मायालक्षणया भ्रान्त्या गुणवानिव आकारादिविशिष्ट इव प्रतीयते। स एव सर्वेषामात्मस्वरूपी देवः। 'स होवाचैतद्वै गार्गि! ब्राह्मणा अभिवद-न्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमि' (बृ० ३ । ७ । ८) त्यादिबृहदारण्यकश्रुतिभि र्यत्प्रति-पादितमशेषविशेषप्रतिषेधगम्यं सर्वाधिष्ठानभूतं तत्त्वं तदेवात्रातिस्पष्टतया वर्ण्यते।

पारमार्थिक विष्णु का तत्त्व

भागवत में ब्रह्मविद्या स्वरूपा देवकी माता भगवान् से कहती है कि हे प्रभो-जो ब्रह्म, ज्योतिः स्वरूप, समस्त गुणोंसे रहित और विकारहीन है, जिसे विशेषण-

रहित - अनिर्वचनीय, निष्क्रिय एवं केवल विशुद्ध सत्ताके रूपमें कहा गया है - वही बुद्धि आदिके प्रकाशक विष्णु आप स्वयं हैं । इसीप्रकार विष्णुपुराणमें विष्णुके पारमार्थिक स्वरूपका विस्तारसे वर्णन किया गया है । प्रचेताओं ने महासागर में रहकर उनकी इसप्रकार स्तुति की है कि — 'जो शुद्ध और निर्गुण होकर भी भ्रमवश गुणयुक्त-से दिखायी देते हैं, उन आत्मस्वरूप पुरुषोत्तमदेवको हम नमस्कार करते हैं। जो अविकारी, अजन्मा, शुद्ध, निर्गुण, निर्मल और श्री विष्णुका परमपद है, उस ब्रह्मस्वरूपको हम नमस्कार करते हैं । जो न लम्बा है, न पतला है, न मोटा है, न छोटा है और न काला है, न लाल है, जो स्नेह (द्रव), कान्ति तथा शरीरसे रहित एवं अनासक्त और अशरीरी जीवसे भिन्न है । जो अवकाश, स्पर्श, गन्ध और रससे रहित तथा आंख, कान, विहीन, अचल एवं जिह्वा, हाथ और मनसे रहित है । जो नाम, गोत्र, सुख और तेजसे शून्य तथा कारणहीन है, जिसमें भय, भ्रान्ति, निद्रा, जरा और मरण इन (अवस्थाओं) का अभाव है । जो अरजः (रजोगुणरहित) अशब्द, अमृत, अप्लुत (गतिशून्य) और असंवृत (अनाच्छादित) है एवं जिसमें पूर्वापर व्यवहारकी गति नहीं है, वही भगवान् विष्णुका परमपद है । जिसका ईशन (शासन) ही परमगुण है, जो सर्वरूप और अनाधार है तथा जिह्वा और दृष्टिका अविषय है, भगवान् विष्णुके उस परमपदको हम नमस्कार करते हैं । इस विषयमें श्रुतिका भी प्रामाण्य है 'स होवाच' इत्यादि श्रुति द्वारा सम्पूर्ण विशेष गुणों के निषेध रूपसे सर्वाधिष्ठानभूत तत्वका स्पष्ट रूपसे निरूपण किया गया है ।

तदेव मायया निखिलविश्वरूपेण प्रत्यक्षतः प्रतीयते — तत्सदृष्टान्तमित्थं निरूप्यते — 'कटकमुकुटकर्णिकादिभेदैः, कनकमभेदमपीष्यते यथैकम् । सुर-पशुमनुजादिकल्पनाभि हरिरखिलाभिरुदीर्यते तथैकः ॥' (वि०पु० ३ । ७ । १६) 'तिर्यङ्मनुष्यदेवादि व्योमशब्दादिकं च यत् । रूपं तवादेः सर्वस्य तस्मै सर्वात्मने नमः ॥' (वि०पु० ३ । १७ । ३०) 'विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोः सर्वमिदं जगत् । द्रष्टव्यमात्मवत्तस्मादभेदेन विचक्षणैः ॥' (वि० पु० १ । १७ । ८४) इति ।

वही विष्णु माया द्वारा अखिल विश्वरूपसे प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा है — इस सिद्धान्तका दृष्टान्तपुरस्सर विष्णु पुराणमें निरूपण करते हैं । जिस प्रकार सुवर्ण भेद रहित और एक होकर भी कटक, मुकुट तथा कर्णिका आदिके भेदसे नानारूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार एकही हरिका देवता, मनुष्य और पशु आदि नानाविध कल्पनाओंसे निर्देश किया जाता है । तिर्यक् मनुष्य तथा देवता आदि प्राणी आकाशादि पंचभूत और शब्दादि उनके गुण—ये सब सबके आदिभूत आप ही के रूप हैं, अतः आप सर्वात्माको नमस्कार है । यह सम्पूर्ण जगत् सर्वभूतमय भगवान् विष्णुका

विस्तार है, अतः विचक्षण पुरुषको इसे आत्माके समान अभेदरूपसे देखना चाहिए।

श्रीविष्णोश्चतुर्भुजविधारितशंखादीनामाध्यात्मिकरहस्यम्

तेनानन्तानन्दपूर्णेन पारमार्थिकविष्णुतत्त्वेन सह तादात्म्यमपरोक्षमवाप्तुं सर्वेऽपि जनाः वाञ्छन्ति, परन्तु तुच्छदेहात्मबुद्धि - शब्दादिविषयासक्ति - मानसिकरागद्वेषमयोविविधमिथ्याकल्पनाभिः समाक्रान्तास्ते न स्ववाञ्छां पूरयितुं शक्नुवन्ति। अत एव तस्य दुर्लक्ष्यस्य स्वात्मभूतस्य सूक्ष्मतत्त्वस्य परिचयाय, तत्प्रतिबन्धनिरासाय च भगवतो विष्णोः साकारं सगुणं स्वरूपमुपासनासिद्धये शास्त्रेषु वण्यते। तदेव तत्त्वं — मायायाः विशुद्धसत्त्वगुणकल्पितैर्दिव्यनामरूपाकृतिगुणकर्मादिभिः परिष्कृतं सत् भक्त्या हृदयाधिरूढं भवत् मनस एकाग्रताविशुद्धिसंपादकं भवति। अत एव श्रीश्यामसुन्दरस्य विष्णोः चतुर्भुजेषु वर्तमानानि शंखचक्रगदापद्मरूपाणि—आयुधानि-अन्तःकरणस्य वृत्तिविशेषरूपमनोबुद्धिचित्ताहंकारसंज्ञकांशेषु वर्तमानानां चतुर्विधप्रतिबन्धकानां विध्वंसं कुर्वन्ति – सन्ति, तदेव सूक्ष्मं तत्त्वं लक्षयन्ति। तत्रैकस्मिन् भुजे स्थितः शंखः, भौतिकोद्वेजकपरिच्छिन्ननादं विदाय व्यापकं दिव्यं मधुरतमं नितान्तस्पृहणीयं ब्रह्मनादं, अपरस्मिन् भुजे स्थितं चक्रं, भौतिकोद्वेजकपरिच्छिन्नप्रकाशं निवार्य शान्तमाह्लादकं दिव्यं सर्वानुस्यूतं ब्रह्मप्रकाशं, अन्यस्मिन् भुजे च स्थिता गदा, आसुरीं भौतिकीं शक्तिं विनाश्य पूर्णानन्दप्रयोजिकां दिव्यां सर्वगतां शाश्वतब्रह्मशक्तिं, एवमितरस्मिन् भुजेऽवस्थित पद्मं, भौतिकं मौढ्यव्यथाप्रयोजकं सौन्दर्यं दूरीकृत्य परमप्रेमप्रयोजकं दिव्यं निखिलानुगतं ब्रह्मसौन्दर्यं ज्ञापयन्ति।

श्रीविष्णु भगवान्के चारों भुजाओं में विधारित शंखादियोंका आध्यात्मिक रहस्य

अनन्तानन्दपूर्ण - पारमर्थिक - विष्णुतत्त्वके साथ अपरोक्ष तादात्म्य प्राप्तिकी सभी लोग इच्छा रखते हैं, परन्तु तुच्छदेहात्मबुद्धि, शब्दादि विषयोंमें आसक्ति, एवं मानसिक रागद्वेषादिरूप - विविध मिथ्या कल्पनाओंसे समाक्रान्त वे जन अपनी इच्छाकी पूर्ति करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं। इसलिए उस दुर्लक्ष्य - स्वात्मभूत - सूक्ष्मतत्त्वके परिचयके लिये, तथा उसकी प्राप्ति में विद्यमान प्रतिबन्धकों का निवारणके लिये, तथा उपासनाकी सिद्धि के लिए शास्त्रोंमें भगवान् विष्णुके चतुर्भुज सगुण साकारस्वरूपका वर्णन किया है। वही विष्णुतत्त्व - मायाके विशुद्ध सत्त्वगुण द्वारा कल्पित - दिव्य नाम - रूप - आकृति गुण - कर्मादियोंसे परिष्कृत सगुण साकार होकर भक्ति से हृदयाधिरूढ होता हुआ मनकी एकाग्रता द्वारा अन्तःकरणकी विशुद्धिका सम्पादक होता है। तथा नीलमणिवत् श्यामसुन्दर श्रीविष्णुके चारों

भुजाओं में विद्यमान शंख, चक्र, गदा, पद्मरूप आयुध अन्तःकरणके वृत्ति विशेषरूप मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकारमें विद्यमान चार प्रकारके प्रतिबन्धकोंका विध्वंस करते हैं और वे उसी सूक्ष्म तत्त्वको लक्षित करते हैं। श्रीविष्णुके एक भुजामें विराजमान शंख, उद्वेजक भौतिक परिच्छिन्न नादका ध्वंस करके, व्यापक दिव्य - मधुरतम - अत्यन्तस्पृहणीय ब्रह्मनादका, दूसरे भुजामें स्थित सुदर्शनचक्र, भौतिक उद्वेजक परिच्छिन्न प्रकाशका निवारण कर, शान्त - आह्लादक - दिव्य सर्वानुस्यूत ब्रह्म प्रकाशका, अन्य भुजामें स्थित गदा, आसुरी - भौतिकशक्तिका विनाशकर, पूर्णानन्द प्रयोजक दिव्य - सर्वव्यापक - शाश्वत ब्रह्मशक्तिका, तथा अपर भुजामें अवस्थित कमल, भौतिक मूढ़ता एवं पीड़ा-प्रयोजक-सुन्दरताको दूर कर परमप्रेमास्पद सर्वानुगत-दिव्यब्रह्म सौन्दर्यका ज्ञापन कराते हैं।

तत्रास्ति शंखः – आदिमस्य दिव्यब्रह्मनादस्य मनोरमस्य परिचायकः। अयमेव श्रीकृष्णस्य भगवतो दिव्यवंशिनिनादः सर्वचराचराकर्षकः। यदाहुः– तस्य महत्त्वं प्रख्यापनाय विद्वांसः — 'लोकानुद्धरयन् श्रुती मुखरयन् क्षोणीरुहान् हर्षयन्, शैलान् विद्रवयन् मृगान् विवशयन् गोवृन्दमानन्दयन्। गोपान् संभ्रमयन् मुनीन् मुकुलयन् सप्त स्वरान् जृम्भयन्, ओंकारार्थमुदीरयन् विजयते वंशिनिनादः शिशोः॥' इति।

उनमेंसे शंख – मनोहर आदिम दिव्य-ब्रह्मनादका परिचायक है। यही श्रीकृष्ण भगवान्‌की दिव्यवंशीका चराचरको आकर्षण करनेवाला मधुरतम निनाद है। अतः विद्वानोंने वंशीनिनादका महत्त्व इस प्रकार कहा है — 'श्रीबालकृष्णकी वंशीध्वनि लोकोंका उद्धार करती है, श्रुतियोंके सिद्धान्तोंका कथन करती है, गुल्मलतावृक्षादियोंको हर्षित करती है, कठोर पर्वतोंको पिघलाती है, मृगोंको विवश मुग्ध करती है, गौओंको आनन्द देती है, गोपोंको इधर-उधर भटकाती है, मुनियोंको समाधिस्थ करती है, सप्त स्वरोंको प्रकट करती है तथा ओंकारके अर्थोंको स्फुट करती है. ऐसी वंशीध्वनि महती विजय शालिनी है।'

यदा चानेन शंखस्य दिव्यब्रह्मनादेनास्माकं प्राकृता वाणी प्रेरिता भवति, तदा सा सर्वथा स्वस्मिन्नवस्थितान् – असत्याप्रियाहितरूपनिन्दितांशान् विहाय सत्या, प्रिया, हिता, पवित्रा च संपद्यते। एवंभूता वाणी मनसि प्रतिष्ठिता सती मनसोऽपि पावित्र्यं संपादयति। 'वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्, आविरावी र्म एधि।' (ऐ, उ० १ । १) इति श्रुतेः। तथा च यदा वाङ्मनसोः मिथः प्रतिष्ठितत्वमानुकूल्यञ्च संपद्यते, तदा स्वयंप्रकाशस्य सदासिद्धस्य स्वात्मभूतस्य ब्रह्मणः प्राकट्यं भवत्येवेत्यर्थः। यदाह — भगवान् मनुरपि—'यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा। स वै सर्वमवाप्नोति

वेदान्तोपगतं फलम् ॥' (२ । १६०) इति । यस्य वाक् अनृतादिभिरदुष्टा सत्यादिभिश्च समलंकृता, मनश्च रागद्वेषादिभिरदूषितं – शान्तितुष्टि – सुखादिभिश्च सुशोभितं भवति, एते च वाङ्मनसी निषिद्धवदनचिन्तनादिभिः सुरक्षिते भवतः, स वै वेदान्तेऽवगतं निखिलं फलं ज्ञानवैराग्यभक्तिमोक्षादिलक्षणं अवाप्नोतीत्यर्थः । अत एव चतुर्मुखो भगवान् ब्रह्मा नारदाय स्वमानसपुत्राय श्रीमद्भागवते द्वितीये भगवतो दिव्यशक्त्या प्रेरितानां स्ववाणीमनःप्रमुखानामिन्द्रियाणां सत्यां यथार्थां प्रशस्तां गतिं प्रतिपादयन्नाह — 'न भारती मेऽङ्ग ! मृषोपलक्ष्यते. न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः । न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे, यन्मे हृदोत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः ॥' (भा० २ । ६ । ३३) इति । पुत्रत्वेन स्नेहविषयत्वात् त्वं ममाङ्गभूतोऽसि, अतोऽहं यथार्थमेव वदामि, न प्रतारयामीति संबोधयति – हे अङ्गेति । यत् = यदा, यस्माद्वा मे = मम, हृदा = हृदयेन, कीदृशेन ?, औत्कण्ठ्यवता = औत्कण्ठ्यं—निर्मलः प्रेमोद्रेकः तद्वता, हरिः = सर्वात्मा परमप्रेमास्पदो भगवान धृतः = ध्यातः – अजस्रमानन्दपूर्णतया सर्वत्र चिन्तितो भवति, तदा, तस्माद्वा मे = मम भारती = वाणी क्वचिदपि विषये मृषा नोपलक्ष्यते = दृश्यते । मे मनसो गतिः = संकल्पः चिन्तनं च क्वचिद्विषये मृषा नैव भवति, हृषीकाणि = चक्षुरादीनीन्द्रियाण्यपि क्वचिदप्यसत्पथे = निन्दितविषये नैव पतन्तीत्यन्वयः ।

जब इस शंखके दिव्य ब्रह्मनादसे हम लोगोंकी प्राकृत वाणी प्रेरित होगी, तब वह वाणी अपनेमें अवस्थित - असत्य - अप्रिय - अहितरूप निन्दित अंशोंको हटा कर, सत्य - प्रिय - हितकर और पवित्र हो जाती है । इस प्रकारकी वाणी जब मनमें प्रतिष्ठित हो जाती है, तब मनमें पवित्रता सम्पादन करादेती है । श्रुतिने भी कहा है कि– 'मेरी वाणी मनमें प्रतिष्ठित हो, और मेरा मन वाणीमें प्रतिष्ठत हो, इससे ब्रह्मका प्राकट्य होता है । भावार्थ यह हुआ कि जब वाणी और मन परस्पर प्रतिष्ठित एवं अनुकूल हो जाते हैं, तब स्वयं प्रकाश स्वतः सिद्ध ब्रह्मभूत आत्माका अनुभव होता ही है । अतः भगवान् मनुने कहा भी है — 'जिसकी वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित होते हैं, वह सर्वदा वेदान्त प्रतिपादित सम्पूर्ण फलोंको प्राप्त करता है । तात्पर्य यह हुआ कि- जिसकी वाणी अनृतादि दोषोंसे रहित तथा सत्यादिगुणोंसे सुशोभित होती है, एवं मन रागद्वेषादिसे अदूषित तथा शान्ति संतोषसुखादिसे अलंकृत होता है । जब मन और वाणी ये दोनों निषिद्ध चिन्तन निषिद्ध वचनादिसे सुरक्षित होते हैं, वही इस प्रकार के मन-वाणीवाला मानव वेदान्त अवगत ज्ञानवैराग्य भक्ति मोक्षादि निखिल फलको प्राप्त करता है । अत एव चतुर्भुज ब्रह्माजीने अपने मानस पुत्र नारदके प्रति भागवतके द्वितीय स्कन्धमें भगवान्की दिव्यशक्तिसे प्रेरित वाणी - मन आदि इन्द्रियोंकी सत्य गतिका इस प्रकार प्रतिपादन

किया है — 'प्यारे नारद ! मैं प्रेमपूर्ण एवं उत्कण्ठित हृदयसे भगवान्के स्मरणमें निमग्न रहता हूं, इसीसे मेरी वाणी कभी असत्य होती नहीं दीखती, मेरा मन कभी असत्य संकल्प नहीं करता और मेरी इन्द्रियां भी कभी मर्यादाका उल्लङ्घन करके कुमार्गमें नहीं जातीं ।

एवं भगवतः सुदर्शनं चक्रञ्च विष्णुभक्तस्य बुद्धे र्मौढ्यं द्वन्द्वमयं हर्षशोकलक्षणमावरणं विदार्य, तस्या ऋतंभरताञ्च संपाद्य निर्मलमानन्दमयं स्वयंज्योतिर्लक्षणं ब्रह्मप्रकाशं सर्वत्र सदा प्रकटयति । एवं भगवतः कौमोदकी गदाऽपि परिच्छिन्नं तुच्छमहंकाराख्यं गर्वं दलयति, अत एव तस्याः गर्वं दलयतीति गदेत्यन्वर्थसंज्ञा सफला संपद्यते । तथा चाचार्यप्रवरेण भगवत्पादेनाप्युपदिष्टं-'मा कुरु धनजनयौवनगर्वं हरति निमेषात् कालः सर्वम् ।' इति । क्षणभंगुरधनजनयौवनादिक्षुल्लकगर्वविदारणशीला प्रचण्डमहाकाललक्षणा हि गदा भगवद्भक्तस्य विष्णुसमाराधकस्य देहगेहादिपरिच्छिन्नविषयानुषङ्गं विदार्य – तं हि अविनाशिब्रह्मतत्त्वं प्रति च संयोज्य स्वस्य कौमोदकीति – विशेषणमन्वर्थकं संपादयति । पालकत्वात् कोः = पृथिव्याः विशेषतस्तद्वास्तव्यस्य भक्तस्य च मोदकः प्रतिबन्धनिरासयथार्थतत्त्वप्रकाशनाभ्यां प्रहर्षकः कुमोदको विष्णुः तस्येयं कौमोदकी गदेति ।

एवं श्रीविष्णु भगवान्का सुदर्शनचक्र भी - भक्तकी बुद्धिकी मूढ़ता तथा द्वन्द्वमय हर्षशोक लक्षण-आवरणका विनाश कर, उस बुद्धिमें ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्तकराकर निर्मल आनन्दमय - स्वयंज्योतिस्वरूप ब्रह्म प्रकाशको सर्वत्र सदा प्रकट करता है तथा भगवान्की कौमोदकी गदा भी तुच्छ अहङ्काररूप गर्वको नष्ट करती है । अतः ग = गर्वको, दा = दलन करे, वह गदा है, ऐसा अन्वर्थक नाम हुआ । अतः आचार्य प्रवर भगवत्पाद शङ्कर स्वामी ने भी कहा है कि 'धन, जन तथा यौवनका गर्व मत करो, क्योंकि कालदेव एक क्षणमें ही इन सबका हरण कर लेता है ।' भाव यह हुआ कि क्षणभंगुर धन, जन और यौवनादि जन्य क्षुद्र गर्वको विदीर्ण करनेवाली प्रचण्ड महाकालस्वरूपा गदा, भगवान् श्रीविष्णुके भक्तकी देह-गेह विषयक परिच्छिन्न आसक्तिको हटा कर, अविनाशी ब्रह्मतत्त्वसे मिला देती है । गदाका विशेषण कौमोदकी भी अन्वर्थक है । कु यानी पृथ्वी, उसमें विशेषरूप से निवास करनेवाले भक्तका मोदक यानी प्रतिबन्ध हटा कर वास्तविक तत्त्वके प्रकाश द्वारा हर्ष देनेवाला श्रीविष्णु कुमोदक है उसकी गदा कौमोदकी कही जाती है ।

यदा हि भगवतः शंखनादो मनसः प्रमादालस्यलक्षणां तन्द्रामपनीय तत्र सावधानतारूपां जाग्रतिं संपादयति, तत्र च साधनलाभायोत्साहं प्रचुरं जनयति । एवं चक्रपराक्रमो बुद्धे र्मौढ्यं विदार्य तत्र विमलानन्दमयचैतन्यप्रकाशं प्रकटयति । एवं गदाऽपि – असारसंसारस्य क्षणभंगुरतां मायामात्रतां च

विज्ञाप्य तस्य गर्वं विनाश्य नित्यसारभूतचिन्मात्रतत्त्वं प्रत्यभिमुखं करोति। तदा भगवतो हस्ते स्थितं दिव्यं कमलमपि – 'लसन्मुखारविन्दं' (भा० १०। ४७। १) 'निजहस्तपङ्कजं दत्ताभयं कालभुजंगरंहसा' (भा० १०। ३८। १६) 'पद्मपत्रमिवांभसा।' (गी० ५ । १०) इत्यादिवचनैः प्रतिपादितायाः – निर्मलतायाः निर्भयताया निर्लेपतायाश्च प्रतीकभूतं – विष्णुसमाराधनतत्परस्य भक्तस्य चित्तेऽनादिकालतो वर्तमानं मालिन्यं सभयत्वं सलेपत्वञ्च दूरीकृत्य तत्राभीष्टं नैर्मल्यं निर्भयत्वं निर्लेपत्वञ्च संपादयति।

जब भगवान्‌का शङ्खनाद, मनमें प्रमाद-आलस्यरूप तन्द्राको हटा कर उसमें सावधानतारूपी जाग्रति उत्पन्न करता है तथा मनमें साधन लाभार्थ प्रचुर मात्रामें उत्साह उत्पन्न करता है। एवं चक्रका पराक्रम, बुद्धिकी मूढ़ताको विदीर्ण कर, उसमें विमलानन्दरूप चैतन्य प्रकाशको प्रकट करता है। इसी प्रकार गदा भी असार संसार में क्षणभंगुरता तथा मायामयता का विज्ञापन करवा कर, क्षुद्र अहंकारका विनाश कर शाश्वत सारभूत चैतन्य तत्त्वके प्रति अभिमुख कर देती है। तत्पश्चात् भगवान् के हस्तस्थित कमल भी 'सुशोभित मुखारविन्द' कालरूप सर्पसे अभय प्रदान करता है, 'जल में स्थित कमलपत्रवत्' इत्यादि वचनोंसे निर्भयता, निर्मलता और निलपता का प्रतीकस्वरूप कमल, भगवान् के भक्तोंके मनमें अनादि कालसे वर्तमान मालिन्य, भय एवं आसक्तिको हटा कर अत्यन्त अभीष्ट निर्भयता तथा निर्लेपता उत्पन्न करता है।

एवं–भगवतः संमिलितानीमानि शंखचक्रगदापद्मलक्षणान्यायुधानि — 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' (तै०उ० १।७) 'रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।' (अथर्व०सं०१०।८।४४) इत्यादिश्रुतिवचनैः प्रतिपादितस्य सर्वत्रानुगतस्य परमरसस्वरूपस्य सर्वात्मनो भगवतः समाराधनासिद्धये-श्रवणवदन-दर्शनस्पर्शगन्धस्वादेच्छाऽऽदिशक्तीनां व्यापकदिव्यविमलरसमयतां संपादनाय-विचारकान्–भक्तान प्रेरयन्ति। अत एव श्रीमद्भागवते षष्ठेऽपि–भगवतो विशुद्धविज्ञानपरमानन्दाद्वयब्रह्मस्वरूपं विश्वाभिन्नमित्थं वर्णयन् तत्र सर्वदा चेतसश्चक्षुरादीनाञ्चाभिमुख्यलक्षणं नमस्कुर्वन् आह—'नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये। आत्मारामाय शान्ताय, निवृत्तद्वैतदृष्टये॥ आत्मानन्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नमः। हृषीकेशाय महते नमस्ते विश्वमूर्तये॥' (भा० ६। १६। १६ - २०) इति। विज्ञानमेव विज्ञानमात्रं तस्मै विज्ञानस्वरूपाय। द्वैतस्य बाधितत्वाद्वस्तुतोऽविद्यमानत्वाच्च निवृत्ता द्वैते दृष्टिर्यस्य यस्मिन् वा तस्मै। न्यस्ताः = उपशान्ताः शक्त्यूर्मयः — मायाप्रयोजितपरिच्छिन्नेष्टानिष्टरागद्वेषादिरूपवृत्तयो यस्मात्, तस्मै।

एवं भगवान के ये सब शंख, चक्र, गदा, पद्मरूप आयुध – 'ब्रह्म रसस्वरूप

हैं' रसरूप आनन्दको प्राप्त कर आनन्दरूप ही हो जाता हैं' 'उस रसरूप आनन्दसे तृप्त हुआ किसी चीजकी इच्छा नहीं करता, किसी से कम नहीं रहता' इन श्रुतिके वचनों से प्रतिपादित सर्वत्रानुगत परमरसस्वरूप सर्वात्मा भगवान् की समाराधना की सिद्धि के लिए, श्रवण, वदन, दर्शन, स्पर्श, गन्ध, स्वाद, इच्छादि शक्तियोंमें व्यापक अलौकिक विमल रसमयता सम्पादन कराने के लिए, विचारक-भक्तोंको प्रेरित करते हैं । अत एव श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धमें भगवान्का विशुद्ध विज्ञान, परमानन्द, ब्रह्मस्वरूप विश्वसे अभिन्न है, उसमें सर्वदा चित्त चक्षु आदि इन्द्रियोंका अभिमुख लक्षण नमस्कार करते हुए कहा गया है कि —

'आप विशुद्ध विज्ञान स्वरूप हैं, आपकी मूर्ति परमानन्दमयी है, आप अपने स्वरूपभूत आनन्दमें ही मग्न और परमशान्त हैं । द्वैतदृष्टि आपको स्पर्श तक नहीं कर सकती, मैं आपको नमस्कार करता हूं । अपने स्वरूपभूत आनन्दकी अनुभूति से ही आपने माया जनित रागद्वेष आदि दोषोंका तिरस्कार कर रखा है । मैं आपको नमस्कार करता हूं, आप ही सब की समस्त इन्द्रियोंके प्रेरक परम महान् और विराट् स्वरूप हैं ।

एवं शंखादीनीमानि — प्रसिद्धदेशकालोत्पत्तिसंहारा भगवदधीना एव सन्तीति विज्ञापयन्ति । तत्रास्ति शंखो देशस्याखिलस्य प्रतीकः । स च शब्दलक्षणः शंखनादः शब्दगुणकं निःसीममाकाशं लक्षयति । तत्र च सर्वेऽपि प्रदेशाः समासते । अत एव शंखेनानेन निखिलानां देशानां भगवदधीनता सूच्यते । एवं चक्रमस्ति कालस्य समग्रस्य प्रतीकम् । अमुकामुककाल एव सर्वेऽपि प्राणिनः पदार्थाश्चाखिला जायन्तेऽवतिष्ठन्ते विलीयन्ते च कालोऽपि 'दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः, कालः क्रीडति गच्छत्यायुः ।' इति न्यायेन चक्रवत् सर्वदा परिभ्रमत्येव । न क्षणमात्रमपि कस्यापि प्रतीक्षां कृत्वाऽवतिष्ठते । अतः तादृशमेव चक्रं,भगवदायत्तो निखिलोऽपि कालोऽस्तीति बोधयति । एवं गदाऽस्ति संहारस्य प्रतीकम् । 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः ।' (गी० ११ । ३२) इति गीताप्रामाण्याद् भगवत उत्पादकत्वरक्षकत्ववत् संहारकत्वमपि नितान्तस्पृहणीयमभ्युपगम्यते । अन्यथा संहारमन्तरेण प्राणीनां जीवनमवस्थानञ्च दुर्घटमेव स्यात् । एवं पद्ममस्ति – उत्पत्तेः प्रतीकम् । विष्णोः नाभिसकाशात् समुत्पन्नं कमलमेव चतुर्मुखस्य विश्वविधातुः समुत्पादकं प्रसिद्धम् । तद्द्वारा सर्वस्य विश्वस्यापि तदेवोत्पादकं मन्तव्यम् । अतः तत्सर्वाऽप्युत्पत्ति भगवदधीनैवेति लक्षयति ।

इस प्रकार ये शंख आदि, प्रसिद्ध देश, काल, उत्पत्ति तथा संहार भगवान्के ही अधीन हैं, ऐसा विज्ञापन करते हैं । इनमें शंख सम्पूर्ण देशका प्रतीक है । शब्दरूप शंखनाद, शब्दगुणवाले - निःसीम आकाशको लक्षित कराता है । इसी आकाशमें

ही सम्पूर्ण देशका समावेश हो जाता है। अतः शंख द्वारा निखिल देश भगवान्के आधीन है, यह सूचित होता है। एवं चक्र सम्पूर्णकालका प्रतीक है। किसी न किसी कालमें ही सभी प्राणी तथा सम्पूर्ण पदार्थ- उत्पत्ति, स्थिति और विनाशको प्राप्त होते हैं। काल भी - 'दिन, रात, सायं - प्रातः, शिशिर, वसन्त, ये सब आते जाते रहते हैं; काल क्रीडा करता है, किन्तु इससे प्राणियोंकी आयु नष्ट होती रहती है।' इस न्याय द्वारा चक्रवत् सदा घूमता ही रहता है। एक क्षणमात्र भी किसीकी प्रतीक्षा करनेके लिए ठहरता नहीं। अतः तादृश चक्र— भगवान्के आधीन सर्व काल है, ऐसा ज्ञापन कराता है। ऐवं गदा संहारका प्रतीक है 'लोकोंका क्षय करने वाला प्रवृद्ध काल मैं ही हूं।' ऐसा गीताका भी प्रमाण है। भगवान् जैसे उत्पादक और रक्षक हैं, वैसे ही संहारक भी हैं, संहारकी अत्यन्त आवश्यकता है। यदि संहार न हो तो प्राणिका जीवन, तथा अवस्थान ही दुर्घट हो जायेगा। इसी प्रकार पद्म उत्पत्तिका प्रतीक है। भगवान् विष्णुका नाभिकमल - चतुर्मुख विश्वविधाताका विश्वकी समुत्पादक रूपसे प्रसिद्ध ही है। कमलसे विधाताकी उत्पत्ति होती है, और विधातासे इस प्रकार परम्परासे विश्वकी उत्पत्ति कमलसे ही माननी चाहिए। कमल की विष्णु नाभीसे उत्पत्ति हुई। इस प्रकार सभीकी उत्पत्ति भगवान्के आधीन है, ऐसा लक्षित होता है।

एवं शंखचक्रगदापद्मानि धर्मार्थकाममोक्षाणां पुरुषार्थचतुष्टयानामपि सन्ति ज्ञापकानि। तत्र शंखेन ज्ञानलभ्योऽनिष्टबन्धनिवारको मोक्षः, चक्रेणाभ्युदयप्रयोजकोऽधर्मनिवारकः सर्वत्र प्रवर्तमानो धर्मः, गदया जीवननिर्वाहजः, श्रमसाध्यः सर्वापेक्षितोऽर्थः, पद्मेन च विविधसौन्दर्यरसाभिव्यञ्जकः कामः सूच्यते।

एवं शंख चक्र,गदा, पद्म ये चारों धर्म अर्थ काम और मोक्षरूप चार पुरुषार्थों के भी ज्ञापक हैं। उनमें शंख—ज्ञानलभ्य, अनिष्ट बन्धका निवारक अभीष्ट मोक्षका, चक्र - अभ्युदयका प्रयोजक और अधर्मका निवारक सर्वत्र प्रवर्तमान धर्मका, गदा- जीवन निर्वाहक - श्रमसाध्य - सबके लिए अपेक्षित अर्थका और पद्म विविध सौन्दर्य रसका अभिव्यञ्जक कामका ज्ञापन कराता है।

भगवद्विग्रहसमीक्षा

यत्तु कश्चिदाह - चिन्मये भगवद्विग्रहे देहदेहिभावो नास्तीति चेद्बाढम्। परमार्थतो देहदेहिभावो नास्ति, किन्तु मायया कल्पितोऽस्तीत्यभ्युपगमे नास्ति कश्चन विवादः। अपि च 'योवै भूमा तत्सुखं' (छां० उ० ७। २३। १) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २। १। १) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्।' (बृ० उ० २। ५। १६) 'सदेव

सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।' (छां० उ० ६ । २ । १) 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम् ।' (मु० उ० १ । १ । ३) 'शुद्धमपापविद्धम्' (ई०उ० ८) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ०उ० ३ । ६ । २८) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।' (श्वे० उ० ६ । १६) 'अपाणिपादो' (श्वे० उ० ३ । १६) 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० उ० २ । १ । २) 'बहिरन्तश्चभूतानां' (गी० १३ । १५) 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।' (गी० १३ । १७) 'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।' (गी० २ । १७) 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः ।' (गी० २।२०) 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।' (गी० २ । २४) 'सुखं च निर्गुणं ब्रह्म' (भा० ६।१६।५५) 'अनामरूपश्चिन्मात्रः' (भा० ६ । १६ । २३) 'त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोकमानन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत् ।' (भा० ८ । १२ । ७) 'एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् ।' (भा० १० । ७४ । २१) 'एषः स्वयं ज्योतिरजोऽप्रमेयो महानुभूतिः सकलानुभूतिः ।' (भा० ११ । २८ । ३५) 'अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम् ।' (भा० ६ । १६ । २३) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभागवतमहापुराणादितात्पर्यसिद्धः परमात्मा स एव तद्विग्रहः, इत्यभ्युपगमे किमस्ति तात्पर्यम् । स वै विग्रहः किं साकार उत निराकारः । आद्ये निर्गुणस्य ब्रह्मणः परिणाम उत विवर्तः । नाद्यः निर्विकारस्य विशुद्धस्य विकाररूपपरिणामायोगात्, अन्यथा तस्य घटादिवत् अनित्यत्वं स्यात् । द्वितीये - मायाया विवर्तसाधिकाया आवश्यकत्वेन न मायाया विशुद्धसत्त्वोद्भासितः किन्तु सर्वथा चिन्मात्र एवेति कथनं सर्वथाऽनुपपन्नं स्यात् । न द्वितीयः सर्वाकारशून्यो निराकारः पुनश्च विशेषाकारेण वस्तुतो गृह्यत इति वदतो व्याघातात् । मायया तथा गृह्यत इत्यभ्युपगमे नास्ति कश्चन विरोधः ।

भगवद् विग्रह की समीक्षा

कुछ लोग कहते हैं कि चिन्मय भगवद्विग्रह में देह-देही भाव नहीं है, उनका कहना एक प्रकारसे कुछ ठीक है । परमार्थरूप से देह-देही भाव नहीं है, किन्तु माया द्वारा कल्पित है, ऐसा स्वीकार करने पर कुछ भी विवाद नहीं रहता । और भी 'जो भूमा (व्यापक) है वह सुख स्वरूप है' 'सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप ब्रह्म है' वही यह ब्रह्म अपूर्व (कारण-रहित) अनपर (कार्य-रहित) अनन्तर (अन्तः शून्य) अबाह्य (बहिः शून्य) यह आत्मा ब्रह्म है, सर्वका अनुभव स्वरूप है ऐसा अनुशासन किया गया है । हे सोम्य ! इस नाम रूप जगत्के पहले सजातीयादि त्रिविध भेदरहित सद्रूप ब्रह्म था । 'नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म' 'शुद्ध तथा पाप-पुण्य से निर्लेप है' 'विज्ञान, आनन्दरूप ब्रह्म है' 'निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य, निरञ्जन है'

'हाथ और पैर से रहित है' 'प्राण व मनसे रहित तथा शुभ्र है' 'भूतोंके बाहर और भीतर भी है' 'ज्योतियोंका भी ज्योति है और तम अज्ञान से परे है' 'जिससे यह विश्वव्याप्त है उसे ही अविनाशी समझ' 'अज, नित्य, शाश्वत यह आत्मा पुराण है' 'नित्य,सर्वगत,स्थाणु, अचल तथा आत्मा सनातन है' 'मुखरूप और निर्गुणब्रह्म है' 'नाम रूपसे रहित चैतन्यमात्र है' 'आप अमृतस्वरूप, समस्त प्राकृत गुणोंसे रहित, शोककी छाया से भी दूर स्वयं परिपूर्ण ब्रह्म हैं, आप आनन्दस्वरूप हैं, आप निर्विकार हैं। आपसे भिन्न कुछ नहीं है, परन्तु आप सबसे भिन्न हैं' 'वे भगवान् श्रीकृष्ण एक-रस अद्वितीय ब्रह्म हैं, जिसमें सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद नाम-मात्रका भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का स्वरूप है।' आत्मा अपरोक्ष है, स्वयंज्योति, अज, अप्रमेय, महाज्योतिरूप तथा सबकी और सब प्रकारकी अनुभूतियां आत्मस्वरूप ही हैं'' 'अन्दर-बाहर आकाशवत् व्यापक है। मैं उसे नमस्कार करता हूं।

इन सब श्रुति-स्मृति-भागवतमहापुराण-आदियोंके तात्पर्य द्वारा सिद्ध परमात्मा ही उसका विग्रह है। इस प्रकार स्वीकार करने पर इसका क्या अभिप्राय हुआ। वही विग्रह है, वह क्या साकार है? अथवा निराकार है? प्रथम पक्षमें विग्रह क्या निर्गुण ब्रह्मका परिणाम है, या विवर्त है?। प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि निर्विकार तथा विशुद्ध ब्रह्मका विकाररूप-परिणाम मानना अयोग्य है। परिणाम मानने पर, घटादिकी तरह अनित्यत्व की प्राप्ति होती है। द्वितीय-विवर्तरूप पक्ष मानने पर, माया विवर्तकी साधिका है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। अतः मायाके विशुद्ध सत्त्वसे वह विग्रह विवर्तरूप से उद्भासित नहीं है, किन्तु सर्वथा चैतन्यमात्र ही है, इस प्रकारका कथन सर्वथा युक्ति-विरुद्ध होगा। पूर्वोक्त-द्वितीय विकल्प, यानी वह विग्रह साकार है, ऐसा नहीं मान सकते। क्योंकि वह परमात्मा सर्वाकारशून्य निराकार है पुनः विशेषाकार से ग्रहीत होता है, ऐसा मानने पर वदतो व्याघात दोष होता है। मायाके द्वारा विशेषाकार स्वीकार करने पर तो कोई विरोध नहीं होता है।

किञ्च स विग्रहः किं हस्तपादादिमान् उत तद्रहितः?। आद्ये हस्ता-दयोऽपि किं दृश्या उतादृश्याः?। आद्ये विग्रहस्य भूतकार्यत्वाभावात् 'देहीवा-भाति मायया' (भा० १०।१४।५५) 'संभवाम्यात्ममायया।' (गी० ४।६) इति भागवतगीताप्रामाण्यानुरोधेन मायोद्भासितत्वमवश्यमभ्युपेयम्। न द्वितीयः – भक्तानां तद्दर्शनाद्यनापत्तेः। आद्यविकल्पस्य न द्वितीयः। तद्रहितो विग्रहश्चेति व्याघातात्। तस्मात्सच्चिदानन्दस्वरूपः मायावच्छिन्नः सन् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ० ३।१) 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे। यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये॥ (विष्णुसहस्रनाम) इत्यादिश्रुतिस्मृति पुराणन्यायै जग-त्कारणत्वेन प्रतिपादितो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः अशरीरी परमात्मा सर्वेश्वरो

मायातत्कार्यनियन्ता साधकभक्तानुग्रहार्थं स्वमायाविशुद्धसत्त्वोद्भासितं लीला-विग्रहं गृहीत्वा जात इव विग्रहवानिव भातीति श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणाद्यनुगृहीतं साक्षान्महेश्वरपरावताराणां प्रस्थानत्रयीभाष्यकाराणामाचार्यप्रवराणां श्रीमच्छङ्करभगवत्पादानां सर्वज्ञानां-मतमेव तत्तत्साम्प्रदायिकपक्षपातं विहाय सर्वैरपि शास्त्रविचारदक्षैः शरणीकरणीयम् ।

और भी वह विग्रह हस्तादियुक्त है, अथवा हस्तादिसे रहित है ? प्रथम पक्षमें पुनः यह शंका होती है कि वे हस्तादि क्या दृश्य हैं या अदृश्य हैं ? प्रथम पक्षमें विग्रह भौतिक न होनेके कारण 'मायासे ही वह भगवान् देहवान्की तरह भासित होता है' 'मैं अपनी मायासे ही साकाररूपसे प्रकट होता हूं' इस भागवत तथा गीताके प्रामाण्यानुरोधसे मायाद्वारा ही वह उद्भासित (प्रकट) होता है, यह अवश्यमेव मानना ही पड़ेगा । द्वितीय पक्षमें विग्रह अदृश्य है, ऐसा मानने पर भक्तोंको दर्शन आदि नहीं होगा । प्रथम विकल्पका द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि विग्रह और विग्रह-रहित, ऐसा मानने पर व्याघात दोष होता है । अतः सच्चिदानन्दस्वरूप मायाविशिष्ट ब्रह्म ही 'जिससे सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं' 'जिससे इस जगत्की उत्पत्ति जिसमें स्थिति तथा लय होता है' 'युगके आदिमें जिससे सर्वभूत उत्पन्न होते हैं, एवं युगक्षय होने पर जिसमें पुनः सर्वभूत लयको प्राप्त होते हैं' । इन श्रुति– स्मृति - पुराणोंके न्यायसे जगत्के कारणत्वका भगवान्में प्रतिपादन किया गया है । नित्य शुद्ध मुक्तस्वभाव अशरीरी परमात्मा सर्वेश्वर माया तथा मायानिर्मित कार्योंका नियन्ता साधकभक्तों पर अनुग्रह करनेके लिए अपनी मायाके विशुद्ध सत्त्वसे उद्भासित लीलाविग्रहको ग्रहणकर उत्पन्नकी भांति विग्रहवान्की तरह प्रतीत होता है । इस प्रकार प्रस्थानत्रयीके भाष्यकार - आचार्य प्रवर - साक्षान्महेश्वरावतार - सर्वज्ञ - श्रीमच्छंकर भगवत्पादके श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्र सम्मत इस सिद्धान्तको – तत्तत्सम्प्रदायगत पक्षपात छोड़ कर सभी शास्त्र - विचारक कुशल विद्वान् लोगोंको - ग्रहण करना ही चाहिए ।

अत एव – 'श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् । नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम् ॥ वक्तारमासाद्य यमेव नित्या सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽऽसीत् । निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का, नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम् ॥' (सं० श० १ । ७) इत्यादिभि र्यथार्थवादैर संस्तुताः श्रुत्यादीनां यथार्थसिद्धान्तप्रतिपादनतत्परा भगवत्पादाः मुमुक्षूणां भगवद्भक्तानां कृते परमश्रद्धेया एव सन्तीति । श्रुतिस्मृतिपुराणवचनानां निर्विवादनिर्विरोधसमन्वयप्रदर्शनेन तदेकवाक्यता प्रतिपादकत्वमेव तदालयत्वं तेषाम् । यमेव भगवत्पादमाचार्यशङ्करं श्रुतिस्मृत्यादिशास्त्रव्याख्यातारमासाद्य नित्या वेदादिलक्षणा सरस्वती, निरस्ताः=निर्मूलिता दुष्टतर्का एव मालिन्यहेतुत्वात् कलङ्काश्च, तन्मा-

ग्नानां पुनरुत्थानासंभवात्पङ्काश्च यस्याः सा, सर्वदुस्तर्कदोषनिरासेन स्वतान्-पर्यविषयीभूतार्थसमन्वितत्वेन प्रकटाऽऽसीत्, तं शंकरं सर्वलोककल्याणाकरं भगवदवतारत्वेन सर्वपूजितपादपद्मं नमामीति सम्बन्धः ।

अत एव — 'श्रुति, स्मृति, पुराणोंका आलय, करुणालय भगवत्पाद लोक शंकर शंकरको में नमस्कार करता हूं । जिस आद्य श्रीशंकराचार्यरूप प्रवक्ताको प्राप्त कर सरस्वती (वाणीकी अधिष्ठातृ देवी) अथवा नित्य वेदलक्षणा सरस्वती सदाके लिए वास्तविक-अर्थके प्राकट्य रूपसे सफल हो गयी । और जिन्होंने दुस्तर्कके कलंकरूपी कीचड़ को दूर कर दिया, जिनके चरणकमल बड़े - बड़े विद्वानोंके द्वारा समर्चित हैं, उन भगवत्पादको में नमस्कार करता हूं । इत्यादि वचनोंसे जिनकी स्तुतिकी है, श्रुति - आदिके वास्तविक सिद्धान्तका प्रतिपादन परायण भगवत्पाद मुमुक्षु - भक्तोंके लिए परम श्रद्धास्पद होते हैं । उन श्रुति स्मृति पुराणोंके वचनोंका निर्विवाद निर्विरोध समन्वय दिखा कर, उनकी एक वाक्यताका प्रतिपादन करना ही तदालयत्व है ।

दशलक्षणं-श्रीमद्भागवतम्

यदाह – 'तस्मा इदं भागवतं, पुराणं दशलक्षणम् । प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत् ।।' (भा० २ । ६ । ४३) इति । भगवता श्रीनारायणेन चतुःश्लोक्या यद्भागवतं संक्षेपेण प्रोक्तं, तद्विस्तरेण, भूतकृत् = ब्रह्मा, प्रीतः = प्रसन्नः सन पुत्राय तस्मै नारदाय दशलक्षणं भागवतं पुराणं प्राह – दशलक्षणानि = लक्षणीया अर्था विद्यन्ते यस्मिंस्तत् । दशलक्षणानि दर्शयति – 'अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः । मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ।।' (भा० २ । १० । १) इति । (१) सर्गः, (२) विसर्गः, (३) स्थानं, (४) पोषणं, (५) ऊतयः, (६) मन्वन्तरकथा, (७) ईशानुकथा, (८) निरोधः, (९) मुक्तिः, (१०) आश्रयः, इत्येवं लक्षणीयाः अनेकविधाख्यानादिभिः प्रतिपादनीया दश अर्था अत्र श्रीमद्भागवते वर्तन्ते, तेषां क्रमशोऽत्र विवेचनं विधीयते ।

दशलक्षण वाला श्रीमद्भागवत

जैसा कि कहा है – स्वयं भगवान् नारायणने दशलक्षणवाले भागवत पुराण का ब्रह्माजी के प्रति उपदेश किया था, वही संक्षिप्त श्रीमद्भागवत प्रसन्न होकर ब्रह्माजीने प्रिय नारदजी के प्रति कहा । अब इस भागवतमें दशलक्षणों को दिखाते हैं — (१) सर्ग, (२) विसर्ग, (३) स्थान, (४) पोषण, (५) ऊति, (६) मन्वन्तर कथा, (७) ईशानुकथा (८) निरोध, (९) मुक्ति, (१०) आश्रय । अनेकविध आख्यानों द्वारा श्रीमद्भागवतके इन दश लक्षणोंका क्रमशः विवेचन किया जाता है ।

(१) सर्गः

सर्गलक्षणमाह – द्वितीये 'भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्मसर्ग उदाहृतः । ब्रह्मणो गुणवैषम्यात् ।' (भा० २ । १० । ३) इति । द्वादशेऽप्याह – 'अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः । भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते ॥' (भा० १२ । ७ । ११) इति । भूतानि = आकाशादीनि, मात्राणि = शब्दादीनि, इन्द्रियाणि च । धीशब्देन महदहंकारौ गृह्येते । गुणानां - सत्त्वादीनां वैषम्यात् = परिणामात् । ब्रह्मणः = परमेश्वरात् कर्तुः भूतादीनां यद्विराड्रूपेण स्वरूपतश्च जन्म स सर्ग इत्यर्थः । अव्याकृतस्य = मायाख्यस्य प्रधानस्य गुणानां क्षोभात् = वैषम्यात् यो महान् = महत्तत्त्वं जातं, तस्मात् यस्त्रिवृत् सत्त्वादिगुणत्रयभेदेन त्रिविधोऽहङ्कारो जातः, तस्मात भूतमात्राणां = शब्दादितन्मात्राणां - भूतसूक्ष्माणां, इन्द्रियाणां च तदर्थानां च स्थूलानां देवतानां च संभवः = सर्गः–कारणसृष्टिवर्ग इत्यर्थः ।

(१) सर्ग

ईश्वरकी प्रेरणासे गुणोंमें क्षोभ होकर रूपान्तर होनेसे जो आकाशादि पञ्चभूत, शब्दादितन्मात्राएं, इन्द्रियां अहङ्कार और महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है, उसको 'सर्ग' कहते हैं । द्वादशस्कन्धमें भी कहा है – जब मूलप्रकृतिमें लीन गुण क्षुब्ध होते हैं, तब महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है । महत्तत्त्व से तामस, राजस और वैकारिक (सात्त्विक) तीन प्रकारके अहङ्कार बनते हैं । त्रिविध अहंकारसे ही पञ्च तन्मात्रा, इन्द्रिय और विषयोंकी उत्पत्ति होती है । इसी उत्पत्ति-क्रमका नाम 'सर्ग' है ।

अत्र सर्गविषये चत्वारः पक्षा उपतिष्ठन्ते । बौद्धस्य संघातवाद एकः पक्षः । कणादादेः आरम्भवादो द्वितीयः । कपिलादेः परिणामवादस्तृतीयः । वेदान्तस्य विवर्तवादः चतुर्थः पक्षः । परमाणूनां समुदाय एव घटादिलक्षणं कार्यं, न तु तदुत्पन्नं वस्त्वन्तरमिति संघातवादः । कारणात्तन्त्वादेः सकाशादत्यन्तभिन्नस्योत्पत्तेः प्रागसतः, कार्यस्य समवाय्यसमवायिनिमित्तरूपकारणत्रयेणोत्पत्तिरित्यारम्भवादः । मृदादेस्तात्त्विकोऽन्यथाभावो घटादिरिति परिणामवादः । अतात्त्विकोऽन्यथाभावो रज्जोरिव सर्पादिरिति विवर्तवादः ।

इस सर्गके विषयमें चार पक्ष उपस्थित होते हैं । प्रथम बौद्धका संघातवाद, दूसरा कणाद आदिका आरम्भवाद, तीसरा कपिल आदिका परिणामवाद, चौथा वेदान्तका विवर्तवाद । संघातवादका कहना है – परमाणुओंका समुदाय ही घटादिरूप कार्य है, कोई भिन्न वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती है । आरम्भवाद मानता है कि कारण तन्तु आदिसे कार्य पटादि अत्यन्त भिन्न है, उत्पत्तिसे प्रथम कार्य असद्रूप था । समवायि, असमवायि और निमित्त कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती है । मृदादिका अन्य

प्रकार से तात्त्विक घटादिका होना ही परिणामवाद है । अन्य प्रकारसे अतात्त्विक-मिथ्यारूप होना विवर्तवाद है, जैसे रज्जुका सर्पादिरूप से होना ।

संघातवादस्तत्खण्डनञ्च

तत्र तावद्बुद्धेन भगवताऽऽगम उपादिष्टः, स चागमो वैभाषिकसौत्रान्तिकविज्ञानवादि-सर्वशून्यवाद्याख्य-चतुर्विधशिष्यप्रतिपत्तिवैचित्र्याच्चतुर्विधो भवति । तत्र सौत्रान्तिकवैभाषिकाभ्यां हि बाह्याभ्यन्तरपदार्थाः क्षणिकाः सन्तीत्यभ्युपगतम् । पृथिव्यप्तेजोवायवश्चत्वारि भूतानि, चतुर्विधखरस्नेहोष्णेरण-स्वभावकपरमाणुपुञ्जस्वरूपाणि, एवं भौतिकानि रूपादिविषयेन्द्रियाणि परमाणुपुञ्जस्वरूपाणि । न हि परमाणुसमूहव्यतिरेकेणावयविभूतं किञ्चित्कार्यमस्ति, पुञ्जात्पुञ्जोत्पत्तिरिति तन्नियमात् । तत्र खरः पृथिवीपरमाणुः, स्नेहोष्णौ प्रसिद्धौ, ईरणः-चलनरूपो वायुपरमाणुः । परमाणुहेतुक एव पृथिव्यादिसमुदायो बाह्यः ।

सङ्घातवादका निरूपण तथा खण्डन

भगवान् बुद्धने शिष्योंको जिस आगमका उपदेश किया, शिष्योंके बुद्धि-वैचित्र्यके कारण वही आगम वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद एवं शून्यवाद ये चार मतोंके रूपमें विभक्त हुआ । उनमें से सौत्रान्तिक और वैभाषिक ने बाह्य और अभ्यन्तर पदार्थ क्षणिक हैं, ऐसा माना । पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार भूत हैं । इन चारों भूतों के क्रमशः खर (रूक्ष) स्नेह, उष्ण चलन स्वभाववाले परमाणु हैं । रूपादि, विषय तथा इन्द्रियां परमाणुओंके पुञ्जरूप भौतिक हैं । परमाणु-समूहसे भिन्न अवयवीरूप कार्य नहीं है । पुञ्जसे ही पुञ्जकी उत्पत्ति होती है, ऐसा वे मानते हैं । पृथिवीके परमाणु खर रूप हैं, स्नेह और उष्णरूप जल तथा तेजके परमाणु प्रसिद्ध हैं । ईरण = चलनरूप वायुके परमाणु हैं । बाह्य पृथिवी आदि समुदायके कारण परमाणु हैं ।

तथा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञितानां च पञ्चस्कन्धानामपर आध्यात्मिकः संघातः सकललोकयात्रावहः । रूप्यन्त एभी रूप्यन्त इति च व्युत्पत्त्या सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः । अहमहमित्यालयविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः चित्तस्य या प्रियाप्रियानुभयात्मकविषयवेदनेन सुखदुःखतद्रहित-विशेषावस्था जायतेऽसौ वेदनास्कन्धः । गौरश्व इत्यादिशब्दादिविशिष्टवस्तु-विषयकसविकल्पकप्रत्ययः संज्ञास्कन्धः । रागद्वेषमोहमदमानधर्माधर्माः संस्कारस्कन्धः । तत्र विज्ञानस्कन्धश्चित्तमित्यात्मेति च गीयते । क्षणिकविज्ञानं विहाय तन्मते नास्ति कश्चन स्थायी-ज्ञाताऽऽत्मेति । इतरे स्कन्धाश्चैत्याः चित्तप्रभवाः । एतेषां चित्तचैत्यानां स्कन्धानां समुदायः सर्वव्यवहारास्पदम् ।

तथा रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा एवं संस्कार नामवाले इन पांच स्कन्धोंका आध्यात्मिक संघात है, इन्हीं संघातोंसे लोक-व्यवहार होता रहता है । इन्द्रियां रूप स्कन्ध है, क्योंकि रूपादिका ज्ञान इन से ही होता है । 'अहं-अहं' ऐसा आलय विज्ञानका प्रवाह विज्ञानस्कन्ध है । प्रिय, अप्रिय एवं इन दोनोंसे भिन्न, विषयज्ञान द्वारा चित्तकी जो सुखदुःख तथा तद्रहित जो विशेष अवस्था है, वही वेदनास्कन्ध है । गो, अश्व इत्यादि विशिष्ट वस्तु विषयक-सविकल्पक प्रत्यय, संज्ञास्कंध है । राग-द्वेष, मोह-मद, मान, धर्म और अधर्म यह संस्कारस्कन्ध है । विज्ञानस्कन्ध ही चित्त तथा आत्मरूप से कहा जाता है । क्षणिक विज्ञान से भिन्न, उनके मतमें कोई स्थायी ज्ञाता आत्मा नहीं है । दूसरे सब स्कंध, चित्तसे उत्पन्न होनेके कारण चैत्य कहे जाते हैं । इन चित्त एवं चैत्य संघोंका समुदाय ही सभी व्यवहारोंका कारण है ।

तदिदं मतमनुपपन्नम् । परमाणूनां स्कंधानां च समुदायिनामचेतनत्वेन स्वतः समुदायायोगात्, अन्यस्य च स्थिरस्य चेतनस्य समुदायकर्तुरनभ्युपगमात् । लोके चेतनव्यापारं विनाऽचेतनेषु तददर्शनाच्च । ननु– तन्मतेऽपि चित्तं चेतनमस्ति, तज्ज्ञात्वा संयोजयिष्यतीति चेत्, न । शरीरादिसंघातोत्पत्तेः पूर्वं तस्य ज्ञातृत्वायोगात् । नन्वालयविज्ञानमहंकारास्पदं, तदेव सकलसंयोजनादिव्यवहारे कारणं भविष्यतीति चेत्, न तस्यापि विषयविज्ञानं विना तदयोगात् । विषयविज्ञानं च न संघातं विनेत्युक्तम् । किञ्चालयविज्ञानं स्थायि चेत्, तदा नामान्तरेणास्मदात्मैव भवेत् ।

इस प्रकार संक्षेपसे संघातवादका निरूपण कर अब उसका खण्डन करते हैं । यह मत ठीक नहीं है – क्योंकि परमाणु और समुदायी (अवयवरूप) स्कन्ध अचेतन होनेसे, स्वतः समुदायरूप संघात नहीं हो सकता है । अन्य स्थायी चेतन, समुदायका कर्ता नहीं माना गया है । लोकमें भी चेतन व्यापारके विना केवल अचेतनोंका संघातरूप व्यवहार देखने में नहीं आता । शंका – उसके मतमें भी चित्त तो चेतन है ही, वही जान कर संयोग करायेगा । समाधान – शरीरादि संघातकी उत्पत्तिसे पूर्व उसमें ज्ञातृत्व सिद्ध नहीं है । शंका – आलय विज्ञान अहंकारास्पद है, वही सभी संयोगादि व्यवहारका कारण हो जायगा । समाधान – विषय विज्ञानके विना व्यवहार नहीं हो सकता और संघात विना विषय विज्ञान नहीं होता और यदि आलय विज्ञानको स्थायी मानोगे तब तो नाम मात्रका विवाद रहा, अर्थात् वह हमारे सिद्धान्तमें स्वीकृत स्थायी आत्मा ही हुआ ।

क्षणिकं चेत्, तेनापि कथं संघातो जननीयः स्यात् ?। यतो ज्ञानपूर्वकेच्छाऽऽधीनप्रयत्नवच्चेतनाधिष्ठितकायव्यापारेण हि कुलालादय एकेन पदार्थेन सहापरं पदार्थं संयोजयन्ति, वियोजयन्ति च ज्ञानादीनां चैकाश्रयाणामक्षणिकानामेव लोके कार्यकारणभावः सिद्धः, 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छा-

जन्या कृति र्भवेत्, क्रिया च कृतिजन्या स्यादि'त्येवंरूपः। इति कथं क्षणिकात्मनि तदुत्पत्तिः स्यात्। एवं क्रिया - विभागाद्याश्रयानेकक्षणस्थायिन एवैकस्यापरेण संयोगः संभवतीति न क्षणिकानामणूनामन्योऽन्यसम्बन्धोऽपि सिद्ध्येत्। यत्तु सकृदेव कार्यजनकत्वादणूनां क्षणिकत्वमिति तन्न। असिद्धेः एकस्यापि सहकारिसमवधानक्रमेणानेककार्यजनकत्वस्य लोकेऽनुभवात्। अतोऽत्यन्तमयुक्त एवायं बौद्धानां संघातवादः पक्ष इति।

यदि क्षणिक विज्ञान स्वीकार करोगे तो क्षणिक विज्ञानसे संघात कैसे उत्पन्न होगा ? क्योंकि ज्ञानपूर्वक इच्छाके आधीन प्रयत्नवाले चेतनसे अधिष्ठित शरीरके व्यापारसे ही कुलाल आदि, एक पदार्थके साथ दूसरे पदार्थ का संयोग या विभाग करते हैं। और स्थायी ज्ञान आदिका एक आश्रय ही में कार्यकारण भाव देखा जाता है। यह नियम है कि ज्ञान-जन्य इच्छा होती है, इच्छा-जन्य प्रयत्न होता है और प्रयत्न-जन्य क्रिया होती है।' क्षणिक आत्मामें इन सबकी कैसे उत्पत्ति हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। एवं क्रिया-विभाग आदिका आश्रय अनेक क्षणस्थायी होता हुआ, एकका दूसरेके साथ संयोग करता है। अतः क्षणिक परमाणुओंका एक का दूसरेसे सम्बन्ध कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। यदि 'कोई यह माने कि एक साथ ही कार्योंका जनकत्व होना – यही अणुओंका क्षणिकत्व है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि – एक ही कर्ता, सहकारी सामग्रियोंसे क्रमशः अनेक कार्योंका जनक होता है, लोकमें सभीको ऐसा अनुभव है। अत एव बौद्धोंका संघातवाद अत्यन्त अयुक्त है।

आरम्भवादस्तत्खण्डनञ्च

आरम्भवादिनो वैशेषिकास्तु परमाणून् जगत्कारणान्याहुः। पटसमानजातीया अनेकसंवलिताः तन्तव एव पटमारभन्ते। एवंविधेभ्य एव सर्वत्र कार्यद्रव्यजननसंभवात्। कारणगतगुणाश्च सजातीयान् कार्ये गुणानारभन्ते, तन्तुरूपादौ तथा दर्शनात्। कार्यगतमहत्त्वं च कारणगतबहुत्वमहत्परिमाणदृढसंयोगैश्चारब्धम। एवं कार्यपरिमाणन्यूनपरिमाणापकर्षपर्यवस नभूमयः परमाणवः सिद्ध्यन्ति द्व्यणुककारणानि। द्व्यणुकपरिमाणो च परमाणुद्वित्वमसवायिकारण, त्र्यणुकपरिमाणं तु द्व्यणुकबहुत्वमिति तत्प्रक्रिया।

आरम्भवाद और उसका खण्डन

आरम्भवादी वैशेषिक लोग परमाणुओं को जगत् का कारण मानते हैं। पटके समानजातीय अनेक मिले हुए तन्तु ही पट का आरम्भ करते हैं। इस प्रकार से सर्वत्र कार्य द्रव्योंकी उत्पत्ति होती है। कारणगत समग्र-गुण कार्यमें सजातीयगुणों का आरम्भ करते हैं। तन्तुगत रूपादि, पटरूप कार्यमें देखे जाते हैं। कारणगत

बहुत्व-महत्परिमाणत्व एवं दृढ़ संयोग. कार्यगत महत्त्वका आरम्भक होता है। इसी प्रकार कार्य-परिमाणसे न्यून-परिमाणोंके अपकर्ष-परम्पराका पर्यवसान परमाणुओं में होता है और वे ही द्व्यणुकके कारण होते हैं। द्व्यणुकपरिमाणमें परमाणुगतद्वित्व असमवायिकारण है, और त्र्यणुकपरिमाणमें द्व्यणुकका बहुत्व असमवायि-कारण है, ऐसी उनकी प्रक्रिया है।

अयं पक्षोऽपि सर्वथाऽयुक्त एव। तत्र तावत् वैशेषिकः प्रष्टव्यः। किं कारणगुणानामविशेषण कार्ये समानजातीयगुणारम्भकत्वं, कि वा तद्विशेष-गुणानाम्। नान्त्यः विचित्ररूपादिमदवयव्यारम्भकावयवरूपादौ तदभावात्। विशेषगुणत्वानिरूपणस्य वृद्धैः चित्सुखीखण्डनादौ दर्शितत्वाच्च। नाऽप्याद्यः, द्व्यणुकैस्त्र्यणुकस्य महतः परिमाणस्यारम्भ इति वैशेषिकैरभ्युपगमात्। न च तत्र समवायिकारणगतं परिमाणं सजातीयं तदारभते, यतो द्व्यणुकानि ह्रस्वपरिमाणानि, त्र्यणुकञ्च दीर्घपरिमाणं वैशेषिकसम्मतम्। तथा च कारण-गतं ह्रस्वपरिमाणं त्र्यणुके कार्ये स्वसमानपरिमाणं नारभते, अतः कारणगुणाः कार्ये सजातीयगुणान् आरभन्ते इति तन्मतं तन्मतेनापि खण्डितं भवति। अपि च परमाणुद्वयादिव द्व्यणुकं, द्व्यणुकद्वयादपि किञ्चित्कार्यं स्यात्?। न च तदभ्युपगम्यते, तस्मात् आरम्भवादे द्व्यणुकद्वयस्यारम्भकत्वं नास्त्येव,द्व्यणु कत्रयस्य त्र्यणुकारम्भकत्वेऽपि। तथा च 'एकत्राभ्युपेतमन्यत्राप्यभ्युपगन्त व्यमिति नियमस्तदभ्युपगमेनैव विध्वस्तः।

यह पक्ष भी सर्वथा अयुक्त है— इस विषयमें वैशेषिकोंसे पूछना चाहिए कि, कार्यमें सामान्यरूपसे विद्यमान समानजातीयगुण आरम्भक हैं, अथवा तद्विशेष गुण। अन्तिम विकल्प नहीं हो सकता। विचित्ररूप - आदिवाला अवयवी पटका आरम्भक अवयवरूपादिमें विचित्ररूपादिका अभाव है। और विशेष गुणत्वका निरू-पण नहीं हो सकता है, इस बातको प्राचीन आचार्योंने चित्सुखी खण्डन आदि ग्रन्थोंमें दिखाया है। प्रथय पक्ष भी ठीक नहीं है; द्व्यणुकोंसे त्र्यणुकके महत्परिमाणका आरम्भ होता है, ऐसा वैशेषिक स्वीकार करते हैं। परन्तु समवायिकारणगत - परिमाण, कार्यमें सजातीयपरिमाणका आरम्भ नहीं करते हैं। क्योंकि — द्व्यणुकका ह्रस्व-परिमाण है, और त्र्यणुकोंमें दीर्घपरिमाण है, ऐसा वैशेषिक लोग मानते हैं। तब तो कारणगत ह्रस्व परिमाणने कार्यरूप त्र्यणुकमें स्वसमान परिमाणका आरम्भ नहीं किया। अतः कारणगत गुण, कार्यमें सजातीय गुणोंका आरम्भ करते हैं, ऐसा उनका मत उनके नियमसे ही खण्डित होगया। और भी परमाणु - द्वयसे द्व्यणुककी तरह, द्व्यणुक द्वयसे भी कुछ कार्य होना चाहिए। किंतु ऐसा कार्य वे नहीं मानते। इसलिए आरम्भवादमें द्व्यणुक त्रयसे त्र्यणुकका आरम्भ होने पर भी द्व्यणुक द्वयका कार्यरूपसे आरम्भ नहीं होता है, अतः एक जगह माना गया नियम, अन्यत्र नहीं माननेसे उनका

नियम उनसे ही खण्डित हो गया।

किञ्च निरवयवपरमाणुसंयोगासंभवादपि न तेषां कारणता संभवति - न हि विश्लिष्टा एव ते जगज्जनयेयुः। संयोगश्चाऽव्याप्यवृत्तिरेव लोके समधिगतः। न हि कुड्याद्ये र्वस्त्वन्तरेण संयोगस्तस्य परभागस्थमपि व्याप्नोति। न च निरवयवसंयोगः स्वाश्रयं व्याप्नुयादिति वाच्यम्। तथा सति कर्णशष्कुली-संयोगो गगनमात्रवृत्तिरिति तन्मात्रं श्रोत्रं सर्वदेशस्थानपि शब्दानुपलम्भयेत्। परमाणुसंयोगस्यापरपरमाणुव्यापने च परमाणुद्वयमेकपरमाणुमात्रं स्यादिति न तत्कार्ये परिमाणोपचयो भवेत्। अव्याप्यवर्तनं च संयोगस्य निरवयवे न संभवति, विरोधादित्याकरे विस्तरत उपपादितम्। एवं कार्यस्य प्रागुत्पत्ते-रसत्वे नरशृङ्गादविशेषादुत्पत्ति र्न स्यात्। प्रागभावप्रतियोगित्वादि तद्विशेषणं तदाऽसतोऽनुपपन्नं स्यात्। असतः सर्वत्र विद्यमानत्वात् सर्वं सर्वस्मज्जायेत? तस्मान्नासत् कार्यमुत्पद्यत इति। अतो न्यायवैशेषिकयोः— असत्कार्यवादः, आरम्भवादश्च सर्वथाऽनुपपन्न एव।

और भी निरवयव - परमाणुओंका संयोग होना असंभव है, इसलिए उनमें कारणता नहीं हो सकती; अतः वे अलग - अलग रह कर जगत्को उत्पन्न नहीं कर सकते। और संयोग अव्याप्यवृत्ति (एकदेशवृत्ति) होता है, लोकमें ऐसा सभी लोग मानते हैं। भित्ती (दीवार) से किसी वस्तु आदिका संयोग, शेष अन्य भागको व्याप्त नहीं करता है। निरवयवका संगोग, स्वाश्रयको व्याप्त कर लेता है, ऐसा कहना भी नहीं बनता। ऐसा माननेपर 'कर्णशष्कुलीका संयोग गगन मात्रवृत्ति मानना होगा, तब तो तावन्मात्र - श्रोत्र, सर्वत्र, होनेवाले शब्दोंको प्रत्यक्ष करेगा। अपिच परमाणु - संयोग दूसरे परमाणुमें व्याप्त होने पर दोनों परमाणु एक ही हो जायेंगे. तवतो उसमें परिमाणकी वृद्धि नहीं होगी, विरोध होनेसे, निरवयवमें अव्या-प्यवृत्ति संयोग भी नहीं हो सकता, आकरग्रन्थोंमें विस्तारसे इस बातका उपपादन किया है। इस प्रकार उत्पत्तिसे प्रथम कार्यको असद्रूप मानने पर, नरशृंगके समान होनेके कारण कार्यकी उत्पत्ति नहीं होगी। कार्यमें प्रागभाव - प्रतियोगित्व - जो विशेषण है, वह भी असत्कार्यमें अनुपपन्न होगा। और अभाव असत् सर्वत्र होने से सबसे सबकी उत्पत्ति होने लगेगी ? इसलिए न्याय वैशेषिकों का असत्कार्यवाद, युक्तियुक्त नहीं हो सकता। अतः असत्कार्यवाद और आरम्भवाद सर्वथा युक्ति-विरुद्ध है।

परिणामवादस्तत्खण्डनञ्च

अस्तु तर्हि — सांख्यादेः परिणामवादः। सर्वमचेतनं जगत्, त्रिगुणा-त्मकस्य प्रधानस्याचेतनस्य विकाररूपपरिणामभूतमेव। तथाहि — बाह्यमाध्या-

त्मिकं जगत् सुखदुःखमोहात्मकसामान्योपादानकं भवितुमर्हति, तदन्वितत्वात्। यद्यदन्वितं तत्तदुपादानकं, यथा मृदन्वितं घटादिकं मृदुपादानकमिति । तथा च यदेव सुखदुःखमोहात्मकं किञ्चित्सिद्धं तदेव सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकं प्रधानमिति स्वतन्त्रं जगत्कारणम् । तत्र च 'मृद् घटः' इति प्रत्यक्षं प्रमाणम् । मृद्घटयोरत्यन्तभेदे गवाश्वयोरिव सामानाधिकरण्यप्रतीत्यनुपपत्तेः । एवमत्यन्ताभेदेऽपि नहि भवति घटो घट इति धीः । तस्मात् कार्यकारणयो र्भेदाभेदस्तात्त्विक इति परिणामवादः प्रामाणिक इति ।

परिणामवाद और उसका खण्डन

तब सांख्य - आदिका परिणामवाद ठीक होगा । यह सम्पूर्ण अचेतन जगत् त्रिगुणात्मक - अचेतन प्रधानका विकाररूप परिणाम है, ऐसा वे मानते हैं। इसमें अनुमान दिखाते हैं—बाह्य और आध्यात्मिक जगत्, सुखदुःख - मोहात्मक - उपादान कारणवाला होनेके योग्य है, उससे अन्वित होनेसे इसमें व्याप्ति दिखातेहैं— जो जिससे अन्वित होता है, वह उसका उपादान कारण होता है, जैसे घट मृत्तिकासे अन्वित है, अतः घटका मृत्तिका उपादान कारण है। तथा च जो कुछ सुख दुःख मोहात्मकरूपसे जगत् सिद्ध है, वह सत्त्व - रजः - तमोगुणवाला परिणत प्रधान ही है, यही स्वतन्त्ररूपसे जगत्का परिणामी कारण है । इसमें 'मृद्घट' यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। मृद् और घटका अत्यन्त भेद मानने पर गो और अश्वकी तरह सामानाधिकरण्यकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये । एवं अत्यन्त अभेद मानने पर 'घट - घट' ऐसा भान होना चाहिये । इसलिए कार्य और कारणका भेदाभेद तात्त्विक है । अतः परिणामवाद प्रामाणिक है ।

तन्न कुतः ? लोके हि कुलालादिश्चेतनोऽचेतनमृदादि परिणमयति । सांख्यमते च जगत्परिणामकर्ता परमेश्वरो नास्तीति कथं लौकिकन्यायसिद्धं परमेश्वरं विना जडरूपवस्तुनः प्रधानस्य जगत् परिणामो घटेत ? । न हि जीवास्तत्परिणामयितारः, तेषां निर्विशेषाणां तन्मत उदासीनत्वात् । न हि किञ्चिदपि वस्तु स्वयमेव परिणममानमुभयसंप्रतिपन्नमस्ति । अपि च लोके विचित्रप्रासादादिरचनायां चेतनप्रवीणशिल्प्यादिकार्यत्वदर्शनात्, चेतनाप्रेरितात्स्रष्टव्यज्ञानशून्यादचेतनात्प्रधानात् अनेकविधविचित्रजगद्रचना कथमपि नोपपद्यते । सुखादीनाञ्चान्तरत्वप्रतीतेरतदन्वितत्वं जगतोऽसिद्धमिति पूर्वोक्तानुमाने हेतोः स्वरूपासिद्धिरस्ति । अतः स वादोऽनुपपन्न एव ।

परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है — क्योंकि – लोकमें कुलाल आदि चेतन, अचेतन मृदादिको परिणत करता है, ऐसा देखा गया है। सांख्यमतमें जगत्का परिणाम कर्ता परमेश्वर नहीं माना जाता । तब लौकिक न्यायसे सिद्ध परमेश्वरके विना, जड़-

वस्तु प्रधानका जगत् परिणाम है, यह कैसे घट सकता है। जगत् परिणामके कर्ता ये जीव नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उनके मतमें जीव निर्विशेष हैं, अत एव वे उदासीन माने गये हैं। कोई वस्तु अपने आप परिणामको प्राप्त हो, यह बात उभय वादी-सम्मत नहीं है। लोकमें विचित्र प्रासाद (महल) की रचना, चेतन कुशल शिल्पी आदि द्वारा देखी जाती है। अतः चेतनसे अप्रेरित, स्रष्टव्य ज्ञान शून्य, अचेतन प्रधानसे अनेक विध-विचित्र जगत्की रचना किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकती है। और सुख आदियोंको भीतर प्रतीति होती है। अतः बाह्य जगत्में सुखादियोंका अन्वितत्व असिद्ध है। अतः पूर्वोक्त अनुमानमें हेतु पक्षमें असिद्ध है — अतः वह हेतु स्वरूपासिद्धिरूप हेत्वाभास माना जाता है। अतः परिणामवाद युक्ति विरुद्ध है।

अपि च घटादेः कार्यस्य वस्तुतो मृदादिकारणाभेदे मृदादिरिव कुलालादिव्यापारात् प्राक् सोऽपि किमिति नोपलभ्यते ? कुलालादिव्यापारो वा किमर्थः ?। ननु — मृदादिगतपिण्डाद्यवस्थयाऽऽवरणात् तदा विद्यमानोऽपि घटादि र्नानुभूयते, आवरणभङ्गार्थश्च कुलालादिव्यापार इति चेन्न, सर्वस्यापि तत्कार्यस्य सर्वदा तत्कारणात्मना सत्त्वेन सर्वं सर्वस्यावरकमिति तदा किमपि नानुभूयेत। अतो वक्तव्यो घटादेः स्थित्यवस्थातः प्रागवस्थायां विशेषः, स च न वक्तुं शक्यते। अतः कार्यस्य किं प्राक् सत्त्वकल्पनया ?। यत्तु 'मृद्घटः' इति प्रतीत्या तयोस्तात्त्विको भेदाभेद इति। तन्न, तयोः परस्पराभावरूपयोरेक-दैकत्रानुपपत्तेः। तस्मान्नास्त्येव भिन्नाभिन्नं वस्तु। एवं च कारणाभिन्नकार्यस्य कारणातिरिक्तसत्ताशून्यत्वमेव कारणतादात्म्यम्, तदेव च 'मृद्घटः इत्यादि-समानाधिकरण्यप्रतीत्यालम्बनमिति विवर्तवाद एव प्रमाणसिद्धो भविष्यति, न परिणामवादः।

और जब कि — घटादि कार्य वस्तुतः मृदादि-कारणसे अभिन्न हैं, तब मृदादिकी तरह, कुलाल आदि व्यापारके प्रथम घटादियोंकी उपलब्धि क्यों नहीं होती ? कुलाल आदि कारणोंका व्यापार किस प्रयोजनके लिये है ?। शंका — मृदादिगत पिण्ड आदिकी अवस्थासे आवृत होनेके कारण विद्यमान घट आदि प्रतीत नहीं होते, अतः पिण्ड आदिरूप आवरण भङ्गके लिये ही कुलाल आदियोंका व्यापार माना जाता है। समाधान — तब तो सम्पूर्ण कार्य, सर्वदा तत्तत्कारणरूपसे विद्यमान होनेके कारण सभी कार्य, सब कार्यके आवरक हो जायेंगे, परन्तु ऐसा तो कभी अनुभव नहीं होता। अतः घटादिकी विद्यमान अवस्थासे प्राग् अवस्थामें कुछ विशेषता कहनी चाहिए, वह कह नहीं सकते। अतः कार्य पूर्वमें सद्रूप था, इस कल्पनासे भी क्या प्रयोजन ?। यह जो कहा है 'मृद् घट' इस प्रतीतिसे कार्य कारणका तात्त्विक भेदा-भेद है, यह भी ठीक नहीं। ये भेद और अभेद दोनों परस्पर अभावरूप होनेसे एक समयमें एक जगह नहीं रह सकते। इसलिए भिन्ना-भिन्न वस्तु कोई सिद्ध नहीं हो

सकती। अत एव कारणसे अभिन्न कार्यका कारणसे अतिरिक्त सत्ताशून्यत्व ही कारण तादात्म्य है। वही 'मृद् घट' इत्यादि सामानाधिकरण्य प्रतीतिका आलम्बन है। इस प्रकार विवर्तवाद ही प्रमाण सिद्ध होगा, परिणामवाद नहीं।

अपि च भेदाभेदाश्रयः परिणावादो वास्तविकाभेदांशेनाद्वैतसमर्थन उपकुर्यात्, काल्पनिकभेदांशेन च प्रत्यक्षादिकं चानुसरेच्चेत्, तदा नास्त्यस्माकं कश्चन विरोधः।

और भी – भेदाभेदका आश्रयवाला परिणामवाद, यदि वास्तविक अभेद अंश से अद्वैतवादके समर्थनमें उपकृत होता है, काल्पनिक भेद अंशसे प्रत्यक्ष आदिका अनुसरण करता है, तब तो हमारे सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं है।

अत एव परिणामवादं सरक्तोऽधमाधिकारी, विवर्तवादं विरक्तो मध्यमाधिकारी, एवमद्वयब्रह्मवादञ्च स्थितप्रज्ञ उत्तमाधिकारी-अभ्युपगच्छतीत्याहुः–संक्षेपशारीरकाचार्य्याः – 'कृपणधीः परिणाममुदीक्षते, क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम्। स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते, व्यपगतद्वितयं परमं पदम् ॥' (सं० शा० २। ८६) इति। कृपणधीः = द्वैतप्रपञ्चादविरक्तबुद्धिः, प्रपञ्चः सर्वोऽपि ब्रह्मणस्तात्त्विकः परिणामोऽहं च वस्तुतः कर्ता-भोक्ता, तमेव विश्वाधिष्ठातारमाराध्य तत्प्रसादाच्छ्रेयः प्राप्स्यामीत्युदीक्षत इत्यर्थः। क्षपितः = निरस्तः, कल्मषं = पापं, यस्या धियस्तद्युक्तस्तु संसाराद्विरक्तो ब्रह्मशास्त्रं शृण्वन् संसारस्य विवर्ततामुदीक्षते। श्रवणमननध्यानादिभिः परिपक्वैः स्थिरमतिः = निश्चलबुद्धिः पुरुषः पुनर्व्यपगतद्वितयं = अद्वयं विशुद्धं प्रत्यगभिन्नं परमं ब्रह्मपदं ईक्षत इत्यर्थः। स्थितमतिरिति पाठे स्थितप्रज्ञो जीवन्मुक्त इत्यर्थः।

अत एव परिणामवादका सरक्त अधमाधिकारी है, विवर्तवादका विरक्त मध्यमाधिकारी है, इसी प्रकार अद्वय ब्रह्मवादका स्थितप्रज्ञ उत्तमाधिकारी है, ऐसा माननेवाले संक्षेप-शारीरकाचार्य कहते हैं — कृपण बुद्धिवाले परिणामवादको, क्षीण-कल्मष अर्थात् विशुद्ध-बुद्धिवाले विवर्तवादको, स्थिर मतिवाले महापुरुष, द्वैतरहित परमपदरूप अद्वय ब्रह्मको मानते हैं। कृपणधीः यानी द्वैतप्रपञ्चसे अविरक्त बुद्धि वाला, अर्थात् समग्र प्रपञ्च, ब्रह्मका तात्त्विक परिणाम है और मैं वस्तुतः कर्ता भोक्ता हूं, उस विश्व-अधिष्ठाता भगवान्‌की आराधना करके उसकी प्रसन्नतासे श्रेयः प्राप्त-करूंगा, इस प्रकार जो मानता है। क्षपित कल्मषधीः = यानो पाप बुद्धि जिसकी बुद्धिमें निरस्त हो गई है। वह शुद्ध बुद्धिवाला संसारसे विरक्त हुआ ब्रह्म-प्रतिपादकशास्त्रका श्रवण करता हुआ संसारको ब्रह्मका विवर्त मानता है। स्थिरमति यानी परिपक्व-श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि से स्थिर-एकाग्र-बुद्धिवाला। स्थितमति ऐसा पाठ हो तो उसका अर्थ स्थितप्रज्ञ जीवन्मुक्त समझना चाहिए।

विवर्तवादस्तत्समर्थनञ्च

उपादानत्वाभिमतवस्तुविषमसत्ताकोऽन्यथाभावो विवर्तः। यद्वा कारणत्वाभिमतवस्तुतोऽभेदं विनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्तः। तदुक्तं पञ्चदश्यां – 'स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात्। नाऽप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात्॥' (१३।३५) इति। यदाहुः – वेदान्तब्रह्मसूत्रकाराः कृष्णद्वैपायनाचार्या अपि -- 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः।' (ब्र० सू० २।१।१४) इति। तस्माद्ब्रह्मणोऽधिष्ठानात् प्रपञ्चस्यारोपितस्यानन्यत्वं = पृथक् सत्ताराहित्यम्। कुतः ?। आरम्भणशब्दादिभ्यः। एकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं दृष्टान्त उपन्यस्तः – 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।' (छां० ६।१।४) इति।

विवर्तवाद और उसका समर्थन

उपादानत्वरूपसे अभिमत वस्तुका विषम सत्तावाला अन्यथा भाव होना विवर्त कहाता है अथवा कारणत्वरूपसे अभिमत वस्तुके साथ अभेदके विना ही उससे व्यतिरिक्त रूपसे अनिर्वचनीय (भेदाभेदादिसे दुर्निरूपणीय) कार्य-विवर्त है। पञ्चदशी में कहा है – 'वह घट, मृत्तिकासे भिन्न नहीं है, ध्वंस होने पर पृथक् रूपसे वह देखा नहीं जाता, मृत्तिकासे अभिन्न भी नहीं कह सकते, क्योंकि पिण्डदशामें वह दीखता नहीं है।' अतः वेदान्तदर्शनके सूत्रकार भगवान् श्रीवेदव्यासजीने भी कहा है – वाचारम्भण आदि शब्दोंके द्वारा जगतरूप कार्यका ब्रह्मरूप कारणसे अनन्यत्व है। अत एव ब्रह्मरूप अधिष्ठान से आरोपित प्रपंचका अनन्यत्व (पृथक् सत्ताशून्य) है। कैसे ? आरम्भण आदि श्रौत शब्दोंसे। एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जाता है, इस प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिये श्रुतिने इस दृष्टान्तका उपन्यास किया है। 'हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्डके जानने पर मृत्तिकासे बने हुए समग्र पात्रोंका ज्ञान हो जाता है। वाणीका कथन-मात्र ही विकार है, नाममात्रका है, वास्तविक अर्थ कुछ नहीं। केवल मृत्तिका ही सत्य है।

विकारो घटादिः कार्यवर्गः, वाचा = 'घटशरावादिरस्ति' इत्यादिशब्देन आरभ्यते = व्यवह्रियत इत्यारम्भणम्। वाचा व्यवह्रियत एव न वस्तुतोऽस्ति विकारः। तस्य दुर्निरूपत्वादिति भावः। कथं तर्हि 'मृद्वस्तुनः सकाशात् घटादि जातः' इति कार्यकारणयो र्भेदव्यवहारः ? इत्यत आह – नामधेयम्। भेदव्यवहारो नाममात्रं – अर्थशून्यम्। यथा 'राहोः शिरः' 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इति व्यवहारः। कार्यवस्तु तद्भेदोऽप्यनिरो-

चनीय इति भावः। किं तर्हि सत्यम् ? तत्राह– मृत्तिकेति। 'मृत्तिका' इत्यनेन मृत्तिकात्वेन रूपेण घटशरावादिविकारेषु प्रतीयमानं कारणरूपं वस्तुसत्यम्। कार्यसत्यत्वमेवकारेण व्यवच्छिद्यते। अर्थात् मृत्तिकामात्रमेव विकारस्य पारमार्थिकं स्वरूपमिति तस्मिञ्ज्ञाते वस्तुतो घटादि ज्ञातो भवतीत्युक्त्या विकारः कार्यवर्गो मिथ्या, कारणन्तु सत्यमित्ययमर्थो दृष्टान्तवाक्ये सिद्धस्तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण प्रपञ्चसत्ता नास्तीति तदनन्यत्वम्। सूत्रस्थादिशब्देन 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्।' (मु० २।२।११) 'वासुदेवः सर्वम्।' (गी० ७।१६) 'भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किञ्चन।' (भा० १०।१४।१५) इत्यादि तदनन्यत्वप्रतिपादकं गृह्यते।

विकार यानी घटादि कार्यवर्ग, वाचा यानी घट, शराव (सरवा) इत्यादि शब्दसे व्यवहारमात्र होना ही आरम्भण है। वाणीसे घटादिका व्यवहार मात्र किया जाता है, वस्तुतः कार्य वास्तविक नहीं है। क्योंकि उसका निरूपण दुर्घट है। तब मृद्वस्तुसे घटादि उत्पन्न होता है, ऐसा कार्य और कारणका भेद-व्यवहार क्यों होता है ? इसलिए कहा गया 'नामधेयं' भेदव्यवहार नाममात्र का है, वास्तविक कोई अर्थ नहीं। जैसे 'राहुका शिर' 'पुरुषका चैतन्य' ऐसा भेदव्यवहार नाममात्रका होता है। जैसे कार्य अनिर्वचनीय है, वैसे ही भेद भी अनिर्वचनीय है। तब सत्य क्या है ? मृत्तिका ही सत्य है, घटादि नहीं। मृत्तिका इस कथनसे घट-शराव आदि विकारोंमें मृत्तिकारूपसे प्रतीयमान कारणरूप वस्तु ही सत्य है। कार्यके सत्यत्वका 'एवकारसे' निराकरण किया जाता है। अर्थात् मृत्तिका ही घटादि कार्योंका, पारमार्थिक स्वरूप है। इस प्रकार मृत्तिकादिका ज्ञान होने पर तदभिन्न घटादिका भी ज्ञान हो जाता है। इस कथनसे कार्यवर्ग मिथ्या है, कारण ही सत्य है। यही बात दृष्टान्त वाक्यसे सिद्ध होती है। तथा सिद्धान्तमें भी ब्रह्मसे भिन्न प्रपञ्चकी सत्ता नहीं है। अतः ब्रह्मसे प्रपंचका अनन्यत्व है। सूत्रमें आदि शब्दसे 'यह सब ब्रह्म ही है' 'सब कुछ वासुदेव ही है' 'सम्पूर्ण जगत् भगवान्का ही स्वरूप है' 'इस जगत्में ब्रह्मसे अन्य कुछ भी नहीं है' ये सब अनन्यत्वके प्रतिपादक वाक्योंका ग्रहण होता है।

इदमत्र बोध्यम् – मृदादेरवान्तरकारणस्य तत्तत्कार्यापेक्षया सत्यत्वे सिद्धेऽपि परमार्थसत्यत्वं नोपेयते।' अतोऽन्यदार्तम्।' (बृ० ३।४।२) 'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ! (गी०७।७) 'निषेधशेषो जयतादशेषः।' (भा० ८।३।२४) 'तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते, (भा० १०।१४।१८) 'योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।' (भा० २।६।३२) इति श्रुतिस्मृतिपुराणवचनै र्ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यैव द्वैतप्रपञ्चस्य बाधितत्वावगमात्। ब्रह्मणः सर्वात्मन एवैकस्य परमार्थसत्यत्वं सर्वात्मना बाधशून्यत्वात् 'सत्यस्य सत्यं' (बृ० उ० २।३।६) (भा० १०।२।२६) 'सत्यं परं धीमहि' (भा० १।१।१) इत्यादि-

भिरभ्युपगम्यते ।

यहां यह समझना चाहिए कि मृदादि जो अवान्तरकारण हैं, वे तत्तत्कार्यकी अपेक्षासे सत्य होने पर भी, परमार्थ सत्य नहीं माने जाते । 'ब्रह्मसे अन्य सब कुछ दुःखरूप है, एवं बाधित-मिथ्या है' 'हे धनञ्जय ! मुझ से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है' 'जो द्वैतनिषेध से परिशिष्ट है एवं अशेष विश्वरूप है, उसकी जय हो' वह अनन्त अद्वय ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है' जो शेष रहता है, वह मैं हूं ।' इन श्रुति-स्मृति-पुराण वचनोंके द्वारा ब्रह्मसे भिन्न सर्वद्वैत प्रपंच बाधित है, ऐसा जाना जाता है । बाधसे रहित होनेके कारण अद्वितीय सर्वात्मा ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है । 'वह सत्य का भी सत्य है' पर सत्यका हम ध्यान करते हैं' इत्यादि वचनोंसे जाना जाता है ।

अपि च – 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म' (तै० उ० ३ । १) 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥' (मु० उ० २ । १ । ३) 'अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ।' (गी० १० । २०) 'त्व मायया त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः ।' (भा० ११ । ६ । ८) 'स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः । प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ।' (भा० ११ । ७ । ४७) ❀ इत्यादि - श्रुतिस्मृतिपुराणवचन ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वम-

---

❀ यत इति-उपादानत्वरूपं प्रकृतित्वं पंचम्यर्थः । कार्याधारत्वेसति कार्यजननादिहेतुत्वमुपादानत्वम् । प्रयन्ति = म्रियमाणानि सन्ति । गीतासु 'अहमादिश्चे-त्यादिना सर्वभूतोत्पत्तिस्थितिलयाधारत्वमुक्तं, तेन सर्वाद्वैतं सिद्धं भवति । 'यद्धि यत्रोत्पद्य स्थित्वा लीयते, तत्ततो नातिरिक्तं, इतिव्याप्तेः । 'तज्जलान्' (छा० उ० ३।४।१) इति श्रुतेश्च तद्गुणस्थः = मायागुणेषु नियन्तृत्वेन स्थितस्सन् तयाऽऽत्ममायया स्वात्मन्येवाधारभूते व्यक्तं = नामरूपादिभिरभिव्यक्तं द्वैतप्रपंचं, दुर्विभाव्यं = मनसाऽप्यवितर्क्यं – सदादिभिर्निर्वक्तुमशक्यंच सृजसि, अवसि = पालयसि, लुम्पसि = संहरसि च ।

'यतः' – इसमें उपादानरूप प्रकृतित्व, पञ्चमी विभक्तिका अर्थ है । कार्यका आधार होता हुआ, कार्यजनन आदिका हेतु होना ही उपादानत्व है । प्रयन्ति = यानी मरणके अभिमुख होते हुए । गीतामें 'अहमादिश्च' इत्यादि द्वारा सर्वभूतोंकी उत्पत्ति-स्थिति एवं लयके आधारत्वका कथन किया, इससे सब अद्वैत सिद्ध होता है । 'जो जिससे उत्पन्न हो कर, जिसमें स्थित हो कर अन्तमें जिसमें लीन होता है, वह उससे भिन्न नहीं होता । यह व्याप्ति है । 'तज्जलान्' इस श्रुतिसे यह व्याप्ति सिद्ध होती है ।

धिगतम् ।

और भी जिससे ये सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा जीवित रहते हैं, जिसमें नष्ट होकर प्रवेश करते हैं, वही ब्रह्म है, इसीसे प्राण, मन, सब इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल एवं सबको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है ।' मैं ही भूतोंका आदि, मध्य तथा अन्त हूं' 'जैसे अग्नि चौड़ी, टेढ़ी-सीधी लकड़ियोंमें रह कर उनके समान ही सीधी-टेढ़ी या लम्बी-चौड़ी दिखाई पड़ती है, वास्तवमें वह वैसी नहीं, वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुए कार्य-कारण रूप जगत्में व्याप्त होनेके कारण उन-उन वस्तुओंके नामरूपसे कोई सम्बन्ध न होने पर भी उनके रूपमें प्रतीत होने लगता है । इत्यादि श्रुति - स्मृति पुराण वचनोंसे ब्रह्म, विश्वका अभिन्न निमित्त-उपादान कारण है, यह सिद्ध होता है ।

तत्र ब्रह्मणः परिणामोपादानकारणताऽभ्युपगम्यते चेत् तदाऽस्माभिः पृच्छ्यते । किं निरवयवं ब्रह्म परिणमते, सावयवं वा । आद्ये- साकल्येन जगदाकारेण ब्रह्मपरिणामस्याभ्युपगमे, विकाररूपजगदतिरिक्तविशुद्धब्रह्माभावः, कैवल्यमोक्षाभावः, दुर्विज्ञानत्वश्रुतिविरोधश्च प्रसज्येत । कार्यस्य प्रत्यक्षत्वात् । एकदेशेन परिणामे निरवयवत्वप्रतिपादकश्रुत्यादिवचनविरोधः प्रसज्येत । सावयवस्य परिणतस्य ब्रह्मणोऽभ्युपगमे दध्यादिवत् तस्यानित्यत्वादिकं प्रसज्येत अत एव रज्ज्वादेः सर्पाद्युपादानत्ववत् विवर्तोपादानत्वं ब्रह्मण उपेयते, अतः परिणामपक्षे समुद्भासिता दोषाः अत्र न प्रसज्यन्ते । सति चैवं– भगवता कृष्णद्वैपायनमहर्षिणा ब्रह्मसूत्रे – 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ।।' (ब्र० सू० २ । १ । २८) इति सूत्रेण विवर्तवादाभिप्रायेण स्वप्नद्रष्टरि जीवात्मनि स्वरूपानुपमर्दनेनानेकाकारस्वप्नप्रपञ्चसृष्टिवत् ब्रह्मणि निर्विकारे निरवयवे मायया वियदादिसृष्टिरुपपद्यते इति सिद्धान्तितम् ।

इसमें यदि कोई ब्रह्मको परिणामी उपादान कारण स्वीकार करे तो हम उस से पूछते हैं कि 'क्या निरवयव ब्रह्म, जगद्रूप परिणामको प्राप्त होता है, या सावयव ब्रह्म । प्रथम पक्षमें — संपूर्णरूपसे ब्रह्म परिणत होता है, ऐसा मानने पर विकाररूप जगत्से अतिरिक्त विशुद्ध ब्रह्मका अभाव और कैवल्य मोक्षका अभाव, प्रसक्त होगा तथा ब्रह्म दुर्विज्ञेय है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका विरोध होगा । क्योंकि – जगद्रूपसे कार्य ब्रह्म प्रत्यक्ष है । एक देश से परिणाम मानने पर निरवयवत्व प्रति-

तद्गुणस्थः = यानी मायाके गुणोंमें नियन्तारूपसे स्थित । स्वमायया = यानी अपनी मायासे स्वात्मरूप आधारमें व्यक्त = यानी नामरूप आदिसे अभिव्यक्त द्वैतप्रपंच, दुर्विभाव्य = यानी मनसे भी अतर्क्य है, सद्-असदादिरूपसे निर्वचन करने के लिए अशक्य है ।

पादक श्रुति आदिके वचनोंका विरोध प्राप्त होगा। सावयव एवं परिणत ब्रह्म मानने पर दधिक्षीरादिके समान, उसे अनित्यत्वका प्रसङ्ग प्राप्त होगा इसलिये जैसे सर्पादियोंका रज्जु आदि विवर्तोपादान हैं, वैसे ब्रह्ममें विवर्त-उपादान स्वीकार किया जाता है। अतः परिणाम पक्षमें प्रदर्शित दोष विवर्त पक्षमें प्राप्त नहीं होते। इस प्रकार भगवान् कृष्णद्वैपायन महर्षिने ब्रह्मसूत्रमें 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' इस सूत्र द्वारा–विवर्तवादके अभिप्रायसे स्वप्नद्रष्टा जीवात्माके स्वरूपका उपमर्दन न हो कर अनेक रूपसे कल्पित स्वप्नसृष्टिके समान, निरवयव निर्विकार ब्रह्ममें माया द्वारा वियदादि सृष्टि की उपपत्ति हो जाती है, ऐसा सिद्धान्तरूप से प्रतिपादन किया है।

यथा स्वप्नद्रष्टरि जीवात्मनि निद्रादिदोषेण विचित्रा रथादिसृष्टयो जीवचैतन्यस्वरूपोपमर्दं विनैव प्रतिभासमात्रैकस्वरूपा भवन्ति न वास्तविक्यः। स्वप्नावस्थानिवृत्त्यनन्तरमपि बुद्ध्यादिसाक्षितया जीवचैतन्यस्य यथापूर्वमवस्थानात्, एवं ब्रह्मण्यधिष्ठाने तत्स्वरूपप्रच्युतिं विनैव माययाऽनिर्वाच्यया विचित्राः वियदादिसृष्टयः प्रातिभासमात्रैकस्वरूपाः भवन्ति - न पारमार्थिक्यः। तथा चोक्तं कल्पतर्वाचार्य्यैरपि – 'अधिष्ठानं विवर्तानामाश्रयो ब्रह्म शुक्तिवत्। जीवाविद्यादिकानां स्यादिति सर्वमनाकुलम् ॥' (ब्र०सू० १ । २ । २८) इत्यस्य भामतीव्याख्याने) एवं शंकासमाधानाभ्यामपि तैरुक्तम् – शंका – 'परिणाम विवर्तो वा सरूपस्योपलभ्यते। चिदात्मना तु सारूप्यं जडानां नोपपद्यते ॥' समाधानम् – 'विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः। अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते ॥' (ब्र० सू० १ । २ । २१) इत्यस्य भामतीव्याख्याने वेदान्तकल्पतरौ)

जैसे स्वप्नद्रष्टा जीवात्मामें निद्रा आदि दोषसे विचित्र रथादिकी सृष्टि जीव चैतन्य – स्वरूपके उपमर्दनके विना केवल प्रतीतिमात्र रूपा होती हैं। वास्तविकी नहीं होती हैं। स्वप्न-अवस्थाकी निवृत्तिके अनन्तर भी बुद्धि आदिके साक्षी-रूपसे जीवचैतन्य पूर्ववत् ही अवस्थित रहता है। इस प्रकार ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें उसके पारमार्थिक स्वरूपकी प्रच्युति विना ही अनिर्वचनीय माया द्वारा विचित्र वियदादिकी सृष्टि केवल प्रतिभासरूपा ही होती हैं। पारमार्थिकी नहीं होती। कल्पतरूकार आचार्य ने भी कहा है कि जीव अविद्या आदि विवर्त पदार्थोंका अधिष्ठान - आश्रय शुक्तिवत् ब्रह्म ही है। यह सिद्धान्त ही सर्वथा निर्विरोध है। ब्रह्मसूत्र (१।२।२८) की भामतीटीकाके व्याख्यान में शंका समाधान द्वारा भी उन्होंने कहा है — शंका – समानरूपवालों का ही परिणाम अथवा विवर्त होता है। चैतन्य तथा जड़ों की समानरूपताकी उपपत्ति होती नहीं। समाधान – अपरिणामी-निर्विकार ब्रह्मका यह प्रपञ्च विवर्त है, अनादि वासनासे उद्भूत हुआ है, अतः दोनोंकी समानरूपताकी अपेक्षा नहीं होती। यह ब्रह्मसूत्र (१ । २ । २१) की भामतीके कल्पतरु व्याख्यानमें

कहा गया है। जैमिनीयोपनिषत् 1-44-1 (बृ. 2-5-19)

अपि च 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' (ऋ० सं० ६।४७।१८) 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्।' (श्वे० उ० ४।१०) ज्ञानस्वरूपमत्यन्तं निर्मलं परमार्थतः। तदेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्॥ (विष्णुपुराणे) 'मोहिता मायया विष्णो र्यया सृष्टिः प्रवर्तते।' (भा० १०।।८६।५४) 'एषा माया भगवतः सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी। त्रिवर्णा वर्णिता।' (भा० ११।३।१६) 'मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति।' (भा० १०।१४।२२) 'विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया, स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः।' (भा०।११।१३।३४) 'नानेव भाति नाभाति स्वप्नमायामनोरथः।' (भा० ६।१८।४६) 'यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः। नश्वरं गृह्यमाणञ्च विद्धि मायामनोमयम्॥' (भा०।११।७।७) इत्यादि श्रुतिस्मृतिभागवतादिशास्त्रेषु द्वैतप्रपञ्चसृष्टे र्मायामयत्वप्रतिपादनं 'विवर्तवाद एव संगच्छते, विवर्तवादो हि 'स्रजि वाहिबुद्धिः' (भा० ४।२२।३८) इति दृष्टान्तानुरोधेन 'सन् घटः सन् पटः' इत्यादिप्रतीतिबलात् प्रागविचारदशायां परमार्थतयाऽऽदृतस्य कार्यकारणात्मना विभक्तस्य ब्रह्मणि – माययाऽध्यारोपितस्य निखिलस्य द्वैतप्रपञ्चस्य परमार्थसत्यत्वं निराकरोति, अधिष्ठानस्यैवैकस्य ब्रह्मणः परमसत्यत्वञ्च ज्ञापयति।

और भी 'परमात्मा, मायाद्वारा बहुरूप से प्रतीत होता है।' मायाको प्रकृति समझो। 'परमार्थ से ज्ञानस्वरूप अत्यन्त निर्मल है, वही अविद्यारूप भ्रान्ति-दृष्टिसे अनेक पदार्थोंके रूपसे भासित हो रहा है' विष्णुकी मायासे जीव मोहित होते हैं और उस मायासे सृष्टि प्रवर्तित होती है।' सृष्टि स्थिति और संहार करनेवाली भगवान् की माया है, यह त्रिगुणरूपसे वर्णित की गई है।' 'मायासे यह जगत् प्रकट हुआ है— तथापि यह सत्यकी तरह दीखता है।' 'एक ही विज्ञान स्वरूप ब्रह्म, बहुरूप हुए की तरह प्रतीत होता है, यही माया है।' 'मायाके गुणों द्वारा रचित जाग्रतादि तीन प्रकारके स्वप्नसे भासना ही विकल्प है।' परमात्माके स्वरूपमें यह जगत् स्वप्न, माया और मनोराज्यके समान कल्पित है। यह कभी अनेक नाम और रूपोंके रूपमें प्रतीत होता है और कभी नहीं भी होता।' इस जगत्में जो कुछ मनसे सोचा जाता है, वाणी से कहा जाता है, नेत्रोंसे देखा जाता है और श्रवणादि इन्द्रियोंसे अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान् है, सपनेकी तरह मनका विलास है, इसलिए मायामात्र है, मिथ्या है – ऐसा समझो।' इत्यादि श्रुति-स्मृति भागवत आदि शास्त्रोंमें द्वैत-प्रपञ्चकी सृष्टिका मायामयरूप प्रतिपादन करने से विवर्तवाद ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है। विवर्तवाद — 'मालामें सर्पबुद्धि' इस दृष्टान्तके अनुरोधसे 'सन्घट सन्पट' इत्यादि प्रतीतिबलसे प्रथम अविचार दशामें परमार्थरूपसे स्वीकृत, कार्यकारणरूपसे विभक्त

ब्रह्ममें माया द्वारा अध्यारोपित, सम्पूर्णद्वैत प्रपञ्चमें परमार्थ सत्यत्वका निराकरण करता है, और अद्वितीय अधिष्ठानरूप ब्रह्म ही परम सत्य है, ऐसा ज्ञापन कराता है।

अत एवेयं द्वैतप्रपंचसृष्टि र्ब्रह्मविवर्तरूपाऽविचारितरम्यैव मूढानां प्रतिभासते। तथा च सृष्टिप्रतिपादकवाक्यानां न सृष्टौ तात्पर्यमपि तु – अध्यारोपापवादन्यायेन प्रत्यगभिन्नाद्वय ब्रह्मबोध एव तात्पर्यम्। यदाहुः – वार्तिककाराः श्रीसुरेश्वराचार्य्या अपि – 'अविचारितरम्याऽतः सृष्टिरात्मनि कल्पिता। तथाप्यात्मैक्यबोधाय श्रुत्या सृष्टिरुदीर्यते॥' अत एव दृश्यपरिच्छिन्नजडानिर्वचनीयजगतोऽनाद्यनिर्वचनीयाऽविद्यैव मायाऽऽख्या कारणम्। न ब्रह्म, तस्य कूटस्थस्याद्वयस्य कार्यकारणविलक्षणत्वात्। 'यदेतद्ब्रह्म, अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः।' (बृ०उ०२।५।१६) इति श्रुतेः। ❀

अत एव यह द्वैत-प्रपंचकी सृष्टि ब्रह्म विवर्तरूपा है, मूढ़ोंको विना विचारे ही रमणीयरूपसे प्रतिभासती है। तथा सृष्टिके प्रतिपादक वाक्योंका सृष्टि निरूपणमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु अध्यारोप और अपवाद न्याय द्वारा प्रत्यक् अभिन्न अद्वय ब्रह्म बोधमें ही तात्पर्य है। जैसे वार्तिककार सुरेश्वराचार्यजी ने भी कहा है --- यद्यपि 'आत्मामें अविचारित रमणीयरूप से सृष्टिकी कल्पना की गई है, तथापि श्रुतिने आत्मैक्य बोधके लिए ही सृष्टिका कथन किया है। अत एव दृश्य, परिच्छिन्न, जड़, अनिर्वचनीय जगत् का अनादि-अनिर्वचनीय अविद्या नामवाली माया ही कारण है। क्योंकि अद्वय-कूटस्थ ब्रह्म कार्यकारण भावसे विलक्षण है। 'जो यह है, वह वस्तुतः ब्रह्म है, वह अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य है, वह आत्मा ब्रह्म है, सर्वका

❀ 'यदेतत्' अज्ञानतत्कार्यात्मकं जगत् ब्रह्मैव, वस्तुतो न जगतो रूपान्तरमस्तीति भावः। न विद्यते पूर्वं = कारणं यस्य तत्-अपूर्वम् = अकारणम्। न विद्यते अपरं कार्यं यस्य तत् अनपरं = अकार्यम्। अनन्तरं = अन्तर्भेदवर्जितं, अबाह्यं = बाह्यभेदवर्जितं। तस्य परोक्षत्वं निराकरोति-अयमिति-अपरोक्षमित्यर्थः। आत्मनः संसारित्वव्यावर्तनायाह – ब्रह्मेति। आत्मानं विशिनष्टि-सर्वानुभूः = सर्वात्मतया निखिलानुभवस्वरूप इत्यर्थः।

यदेतत् = अज्ञान और इसका कार्य जगत् ब्रह्म ही है, वस्तुतः जगत् का अन्य रूप नहीं है, यह भाव हुआ। जिसका कारण न हो वह अपूर्व है। जिसका कार्य न हो, वह अनपर है। भेदसे रहित अनन्तर है। बाह्य भेदसे रहित अबाह्य है। 'अयं' शब्दसे परोक्षत्वका निषेध किया। आत्मामें संसारित्वका निराकरण करने के लिए ब्रह्म, ऐसा कहा। आत्मामें विशेषण देते हैं। सर्वानुभूः = वह सब का आत्मा होने से निखिलानुभव स्वरूप है।

·वृ· M. 1-4-37 · ग · 338·
B. 1-4-186,

अनुभवरूप है, ऐसा श्रुति कहती हैं।

'न चान्त र्न बहि र्यस्य, न पूर्वं नापि चापरम्। पूर्वापरं बहिश्चान्त र्जगतो यो जगच्च यः॥' (भा० १०।९।१३) इति श्रीमद्भागवतोक्तेश्च।

'जिसमें न बाहर है न भीतर, न आदि है और न अन्त – जो जगत्के पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे, इस जगत् के भीतर तो हैं ही, बाहरी रूपोंमें भी हैं और तो क्या, जगत् के रूपमें भी स्वयं वही हैं।' इस भागवतके श्लोकमें भी श्रीकृष्णकी ब्रह्मरूपता कही गई है।

कथं तर्हि जगत्कारणत्वं ब्रह्मणः श्रुत्यादिशास्त्रेषु प्रसिद्धम्। जगत्कारण-मायाधिष्ठानत्वेन कारणत्वोपचारात्। तदुक्तमाचार्यपादैः – 'ब्रह्माज्ञानाज्जग-ज्जन्म ब्रह्मणोऽकारणत्वतः। अधिष्ठानत्वमात्रेण कारणं ब्रह्म गीयते॥' इति। उक्तञ्च वार्तिककृद्भिः – A 'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्। अज्ञानं तदु-पाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते॥ B संसाराख्यमहाव्याधेः किं मूलमिति चिन्त्यते। तदुच्छित्तये चिकित्सेयं तदा फलवती भवेत्॥ अविज्ञातनिदानेन भिषजा यच्चिकित्सितम्। तदनर्थकरं यद्वत्प्रकृतेऽप्यवगम्यताम्॥ मायामूलं द्वैतमेतदि-त्यविज्ञाते कथन्त्विदम्। अद्वैतं बुद्धिमारोहेत् स्यादतोऽन्या तु नैव धीः॥ देहादृष्टक्रियाकर्तृरागाध्यासार्थसप्तकात्। द्वारात्संसारहेतुः स्यात् आत्मा-ज्ञानन्तु लोकवत्॥ आत्माज्ञानमनर्थानां मूलं लोकेऽपि नेतरत्। स्वपराक्रम-मज्ञात्वा युध्यन् म्रियत एव हि॥

तब श्रुति - आदि शास्त्रोंमें ब्रह्ममें जगत्की कारणता कैसे प्रसिद्ध है? ब्रह्ममें अधिष्ठानताको लेकर ही जगत्की कारणताका गौणव्यवहार होता है। इस बातको पूज्य श्री आचार्यने कहा है — 'ब्रह्मविषयक अज्ञान, जगत्के जन्म आदिका उपादान कारण है, अकारणस्वरूप ब्रह्ममें अधिष्ठानत्वमात्रसे, ब्रह्म कारण है ऐसा व्यवहार होता है। ऐसा वार्तिककारोंने भी कहा है — 'इस द्वैतप्रपञ्चरूप इन्द्रजालका उपादान कारण अज्ञान है। उस अज्ञानकी आश्रयताके द्वारा ही ब्रह्ममें कारणताका व्यवहार होता है। संसार नामवाली महाव्याधिका क्या मूल है? उस व्याधिको नष्ट करनेके लिए इसका विचार करते हैं। तभी ही यह चिकित्सा फलवती हो सकती है। रोगके मूलकारणको जाने विना, वैद्य द्वारा कीगई चिकित्सा जैसे अनर्थकारी होती है। वैसे प्रकृतिमें भी द्वैत जगत्का मूल जो माया है, उसको जाने विना अद्वैत निर्णय कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता। अद्वैत बुद्धि जब मनमें आरूढ़ हो जाती है, तब अन्य कल्पित संसार विषयिणी मिथ्या बुद्धि नहीं रह सकती। देह, अदृष्ट, क्रिया, कर्ता, राग, अध्यास और पदार्थ, इन सातोंके द्वारा ही लोककी तरह, आत्माका अज्ञान संसारका हेतु होता है। लोकमें भी अनर्थोंका मूल कारण आत्माका अज्ञान ही है, अन्य

और कोई नहीं है। जो कोई अपने पराक्रमको न जानकर युद्धके लिए प्रवृत होता है, तो वह मृत्युको प्राप्त होता है।

एवं स्वात्मानमज्ञात्वा संसारानर्थमाप्नुयात्। अनर्थाज्ञानयोः कार्य-कारणत्वं प्रपञ्च्यते ॥ जिहासितस्यानर्थस्य हेतुः स्यात् सशरीरता। न प्रिया-प्रियविच्छेदः सशरीरस्य कर्हिचित् ॥ 'धर्माधर्मौ च देहस्य योनिरि'त्यागमोऽब्रवीत्। विहितं प्रतिषिद्धं च कर्म मूलं तयोरपि ॥ कर्तुरेव भवेत्कर्म, रागद्वेषाच्च कर्तृता। शोभनाशोभनाध्यासौ रागद्वेषप्रयोजकौ ॥ उक्ताध्यासोऽप्यन्यवस्तुसद्भावात् स्यान्नचान्यथा। वस्त्वन्तरस्य सद्भाव आत्माज्ञानेन कल्पितः ॥ एवं देहादिवस्त्वन्तसप्तकव्यवधानतः। संसारानर्थहेतुः स्यादात्माज्ञानं जगत्सृजेत् ॥ प्रत्यग्याथात्म्यसम्मोहाज्जगत्सदिति भासते। प्रत्यग्याथात्म्यसम्बुद्धौ न सत्तन्नासदुच्यते ॥ अवास्तवत्वाज्जगतो नाद्वयत्वं विहन्यते। दृश्यमज्ञानजत्वेन न वस्तु स्वप्नदृश्यवत् ॥ नासतो जन्मना योगः सतः सत्त्वान्न चेष्यते। कूटस्थे विक्रिया नास्ति, तस्मादज्ञानतो जनिः ॥' (बृ० उ० भाष्यवार्तिककारसुरेश्वराचार्यः)।

इस प्रकार अपने वास्तविक शुद्ध बुद्ध नित्य कूटस्थ स्वरूप आत्माको न जान कर जन्म मरणरूप अनर्थको प्राप्त होता है। अनर्थ और अज्ञानका कार्य कारण भाव है, इसका बिस्तारसे वर्णन करते हैं। त्याग करनेके लिए अभीष्ट जो अनर्थ है, उसका कारण सशरीरत्व है— अर्थात् शरीराभिमानित्व है। शरीरभिमानीका कभी भी प्रियाप्रियसे विच्छेद नहीं होता अर्थात् शरीराभिमानीको प्रियाप्रियका अनुभव होता रहता है। धर्म और अधर्म ये दोनों शरीरके कारण हैं, ऐसा शास्त्रोंमें कहा है। इन धर्माधर्मोंका मूल कारण क्रमशः बिहित कर्म और निषिद्ध कर्म हैं। कर्ता ही कर्म करनेवाला होता है, वह राग द्वेषसे कर्ता बनता है। और राग द्वेषका प्रयोजक है— शोभन (इष्ट) और अशोभन (अनिष्ट) पदार्थोंका अध्यास। उक्त अध्यास भी आत्मासे भिन्नवस्तुके सद्भावसे ही होता है अन्य प्रकारसे नहीं होता। स्वरूपभूत आत्माके अज्ञानसे ही अन्यवस्तुके सद्भावकी कल्पना होती है। इस प्रकार देह आदिसे लेकर, पदार्थ पर्यन्त सातोंकी परम्परा अनर्थरूप संसारका हेतु है। आत्माका अज्ञान ही जगत्की रचना करता है। प्रत्यगात्माके यथार्थ स्वरूपके अज्ञानसे ही जगत् सत्य-रूपसे भासता है। जब प्रत्यगात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब यह जगत् सद् असद्से विलक्षण - अनिर्वचनीय मिथ्यारूपसे भासता है। यह जगत् मिथ्या होनेके कारण आत्माके अद्वयत्वका विघात नहीं कर सकता। जैसे निद्रादि दोषसे जन्य - दृश्य होनेसे स्वप्नप्रपंच वास्तविक नहीं है. वैसे ही अज्ञानसे जन्य होनेके कारण दृश्यमान जगत् परमार्थ सत्य नहीं है। असद् वस्तुका जन्म नहीं होता, एवं सदा विद्यमान होनेके कारण सद्वस्तुका भी जन्म नहीं हो सकता, कूटस्थ चैतन्यमें जन्म

आदि विक्रिया नहीं है, अतः जगत् अज्ञानसे ही उत्पन्न होता है ।

अत एव सर्ववेदान्तसारभूते पुराणशिरोमणौ श्रीमद्भागवते दशमेऽपि स्पष्टतः द्वैतप्रपञ्चस्य जन्मादेः कारणमविद्यैव प्रतिपादिता सती महानुभावानां वेदान्ताचार्य्याणां पूर्वोक्तं सिद्धान्तं यथार्थतया समर्थयति । यथा हि – 'न तेऽभवस्येश ! भवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे । भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि ॥' (भा० १०।२।३६) इति ।

अत एव सर्ववेदान्तसारभूत - पुराणमूर्धन्य श्रीमद्भागवके दशम स्कन्धमें भी स्पष्टरूपसे द्वैतप्रपंचके जन्मादिका कारण अविद्या ही है, ऐसा किया गया प्रतिपादन, महानुभाव वेदान्ताचार्योंके पूर्वोक्त सिद्धान्तका यथार्थरूपसे समर्थन करता है । जैसे– हे प्रभो! आप अजन्मा हैं । यदि आपके जन्मके कारणके सम्बन्धमें हम कोई तर्क करें, तो यही कह सकते हैं कि यह जन्मादि आपका एकमात्र मायारूप लीलाका विनोद है । ऐसा कहने का कारण यह है कि जब इस समग्र द्वैतप्रपंचकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय, अज्ञानके द्वारा भय रहित अधिष्ठानरूप आपमें आरोपित होते हैं ।

अयमर्थः — हे ईश ! हे अभय ! = भयरहित ! 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृ०उ० १।४।२) 'यतो भिन्नदृशां भयम् ।' (भा० ३।२६।३७) इति । प्रामाण्यात् - द्वितीयभावजन्यभयशून्यतया तस्य केवलाद्वयत्वं प्रबोधितम् । हे आश्रय ! हे द्वैतजगत्तन्मूलाज्ञानारोपाधिष्ठानस्वरूप ! यद्वा अभयाश्रयात्मनीत्येकं समस्तं वाक्यम् । यतोऽद्वयाभयाधिष्ठानात्मनि त्वयि = ब्रह्मणि – परमसत्ये, अस्य भवस्य = दृश्यद्वैतप्रञ्चस्य संसारस्य, भवः = जन्म, निरोधः = विलयः स्थितिः = पालनं, चेत्येते त्रयो मायायाऽविद्यया कृताः = कल्पिताः अध्यारोपिताः, न परमार्थतः सन्तीति भावः ।

अर्थ–हे ईश ! हे अभय ! = हे भयरहित ! 'द्वितीयसे भय होता है' 'क्योंकि– भिन्नदृष्टिवालोंको ही भय होता है' ऐसा प्रमाण है । दूसरेसे होने वाले भयसे रहित होनेके कारण भगवान्का अभयरूपसे सम्बोधन किया गया है । हे आश्रय द्वैतजगत-का मूल जो अज्ञान है, उसके आरोपका अधिष्ठान स्वरूप अथवा अभयाश्रयात्मनि' ऐसा एक ही समस्त वाक्य है । क्योंकि – अद्वय - अभय – अधिष्ठान आत्मरूप आपमें दृश्य द्वैतप्रपंचका जन्म, विलय एवं पालन, ये तीनों मायारूप अविद्यासे कल्पित हैं'' परमार्थ रूपसे नहीं हैं, यह भाव है ।

अतः अभवस्य = अजस्याकारणस्य द्वैतसंसाररहितस्याद्वयस्य ते = तव, भवस्य = जन्मनः कारणं, विनोदं = मायाप्रयोजितक्रीडासंकल्पं विनाऽन्यन्न तर्कयामहे – 'संभवाम्यात्ममायया' (गी० ४।६) इति न्यायेन मायाविनोदमेव प्रयोजकतया कल्पयामः । यद्वा बतेत्यव्ययं कैमुतिकन्यायद्योतनायानाश्चर्यं इति यावत् । यदा द्वैतप्रपञ्चस्य सृष्ट्यादिका अपि त्वय्येवाधिष्ठाने त्वदाश्रितयाऽ-

विद्ययैव मायया कल्पिताः सन्ति, तदा तवेश्वरस्य साकारविग्रहजन्मादिकमपि माययैव स्यादित्यत्र किमु वक्तव्यम् ?। एवं महदादिवियदादिसर्गो मायायाः परिणामभूतोऽपि-अविकृतस्य ब्रह्मणो विवर्त एवेत्युपपादितम्। यदाह-भामती-प्रस्थानाचार्य्योऽपि – 'अनिर्वाच्याविद्याद्वितीयसचिवस्य प्रभवतो, विवर्ता यस्यैते वियदनिलतेजोबवनयः।' इति।

अतः अजन्मा, कारणरहित, द्वैत संसाररहित; आप अद्वितीय ब्रह्ममें जन्मका कारण, विनोद यानी माया प्रयोजित क्रीड़ाके संकल्पके विना अन्य किसी कारण की कल्पना हम नहीं कर सकते। 'मैं अपनी माया द्वारा प्रकट होता हूं' इस गीतोक्त न्यायसे मायारूप विनोदको ही हम प्रयोजकरूपसे मानते हैं। अथवा बत यह अव्यय पद है। कैमुतिकन्यायके द्वारा आश्चर्याभावके द्योतनके लिए है। आश्चर्याभाव बतलाते हैं — जब कि द्वैतप्रपंचकी सृष्टि आदि अधिष्ठान स्वरूप आत्माके आश्रित-अविद्या मायासे कल्पित होते हैं, तब निराकार ईश्वरका साकार विग्रह तथा उसके जन्मादि, मायासे कल्पित होवें, इसमें तो क्या ही कहना ?। इस प्रकार महदादिका तथा वियदादिका सर्ग, मायाका परिणाम होता हुआ भी अविकृत ब्रह्मका विवर्त है, ऐसा उपपादन किया गया। भामतीरूप प्रस्थानके आचार्यने भी कहा है — 'अनिर्वचनीय - अविद्यारूप द्वितीयके सहकारसे जिस ब्रह्मके आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवीरूप, विवर्त हैं।

(२) विसर्गः

संप्रति विसर्गो निरूप्यते। श्रीमद्भागवते द्वितीये द्वादशे च विसर्गस्यैतादृशं लक्षणं प्रदर्शितम्। यथाहि-'विसर्गः पौरुषः स्मृतः।' (भा० २।१०।३, पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः। विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीजं चराचरम्॥' (भा०१२।७।१२) इति। पुरुषः=विराट्, तत्कृतः पौरुषश्चराचरसर्गो विसर्गः। जीवानां भोगमोक्षप्रदानाय विविधदेहेन्द्रियविषयस्थानादिरूपो विशिष्टः सर्ग इत्यर्थः। पुरुषेण = ईश्वरेणानुगृहीतानामेतेषां महदादीनां वियदादीनाञ्च पूर्वकर्मवासनाप्रधानोऽयं समाहारः कार्यभूतविविधभोक्तृभोग्यात्मकचराचर-प्राणिरूपो बीजाद्बीजमिव प्रवाहापन्नो विसर्ग उच्यते। अत एव भामतीकारेण 'वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि स्मितमस्य चराचरम्।' इत्यनेन भगवद्वीक्षणरूपेण पञ्चभूतसर्गस्य तत्स्मितरूपेण च चराचरसर्जनरूपविसर्गस्य च कृतं प्रतीपादनं संगच्छते। वीक्षणापेक्षया स्मितस्य विशेषाह्लादकत्वमिव सर्गापेक्षया विसर्गस्यापि तत्त्वात्।

(२) विसर्ग

अब विसर्गका निरूपण किया जाता है। श्रीमद्भागवतके द्वितीय तथा द्वादश स्कन्धमें विसर्गका ऐसा लक्षण दिखाया है। जैसे – ब्रह्माजीके द्वारा जो विभिन्न

चराचर सृष्टियोंका निर्माण होता है, उसका नाम विसर्ग है। परमेश्वरके अनुग्रहसे सृष्टिका सामर्थ्य प्राप्त करके महत्तत्त्व आदि – पूर्वकर्मोंके अनुसार अच्छी और बुरी वासनाओंकी प्रधानतासे जो यह चराचर शरीरात्मक–जीवोंकी उपाधिकी एक बीजसे दूसरे बीजके समान, सृष्टि करते हैं, इसीको विसर्ग कहते हैं। पुरुष = यानी विराट्, उससे निर्मित चराचर विराट् रूप सर्ग ही विसर्ग है। जीवोंको भोग और मोक्ष देनेके लिए विविध देह – इन्द्रिय – विषय – स्थान आदि रूप विशिष्ट सर्गको ही विसर्ग कहा गया है। पुरुष ईश्वरसे अनुगृहीत उन महदादि, तथा विषयादियोंका समुदाय– जिसमें पूर्वकर्मोंकी वासना प्रधान है – और जिसमें कार्य रूप जो विविध भोक्ता - भोग्यात्मक चराचर प्राणी विद्यमान हैं; बीजसे बीजकी तरह, प्रवाहकी परम्परासे प्राप्त हैं, वह विसर्ग कहा जाता है। इसलिए भामतीकारने कहा है – 'इस परमेश्वर का ईक्षण पंचभूत हैं, तथा उनका स्मित (मन्दहास्य) चराचर प्राणी हैं।' इस कथनसे — परमेश्वरके ईक्षणरूपसे पांच भूतोंके सर्गका, तथा उसके स्मितरूपसे चराचर सर्जनरूप विसर्गका प्रतिपादन करना युक्तियुक्त है। दर्शनकी अपेक्षा, स्मितसे विशेष आह्लाद होता है। इस प्रकार सर्गकी अपेक्षा विसर्गमें भी विशेष आह्लादकता है।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।' (ऋ० ६।४७।१८) इति संहिताश्रुत्याऽस्यविसर्गस्य विविधं रूपं, अस्याधिष्ठानस्य विधातुः परमेश्वरस्य प्रतिचक्षणाय = तदनुपमबलशासनशक्तिज्ञानादिपरिचयाय तत्पारमार्थिकस्वरूपज्ञापनाय चाविष्कृतमस्तीति विज्ञायते। यदिह विविधे नामरूपे नाभिव्यज्येते, तदाऽस्य परात्मनो निरुपाधिकं रूपं सच्चित्सुखघनाख्यं न प्रतिख्यायेत। यदा हि विविधकार्यकारणात्मना नामरूपेऽभिव्यक्ते भवतः, तदाऽस्य रूपं प्रतिख्यायेत। अत एव सर्गविसर्गादिकार्यप्रदर्शनस्य प्रत्यगभिन्नाधिष्ठानब्रह्मरूपमहाकारणप्रतिपत्त्यर्थतामेव दर्शयति — छांदोग्यश्रुतिरपि — 'सोम्य! अन्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।' (छां० ६।८।४) इति।

'वह परमात्मा, अनेक रूपोंसे प्रकट हो गया, ये सब रूप उसके ज्ञापनके लिए हैं'। इस संहिता श्रुतिसे इस विसर्गका विविधरूप, इसके अधिष्ठानरूप विधाता परमेश्वरके प्रतिचक्षणके लिए है। अर्थात् उसके अनुपम बल, शासन, शक्ति, ज्ञान आदिके परिचयके लिए तथा उसके पारमार्थिक स्वरूपके बोधके लिए आविष्कृत है, ऐसा जाना जाता है। यदि इसप्रकार अनेक नाम – रूपोंकी अभिव्यक्ति न हो तो, इस परमात्माके निरूपाधिक सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन रूपका प्रतिभान नहीं हो सकता। जब विविध कार्य एवं कारणोंके द्वारा उनके नाम और रूपोंकी अभिव्यक्ति होती

है, तब ही इसके अधिष्ठान स्वरूपकी प्रसिद्धि हो जाती है। इसलिए सर्ग विसर्ग आदि कार्यों के प्रदर्शन द्वारा प्रत्यगभिन्न – अधिष्ठान – ब्रह्मरूप महाकारणका यथार्थ बोध होता है, इस बात को छान्दोग्य श्रुति भी कहती है — हे सोम्य ! कार्यभूत पृथिवीके द्वारा उसके कारणरूप जलको खोजो। हे सोम्य ! कार्यरूप जलके द्वारा उसके कारण तेजको खोजो। हे सोम्य ! कार्यभूत तेजके द्वारा उसके महाकारण सद्रूप ब्रह्मको खोजो। हे सोम्य ! इन समग्र – चराचर प्रजाका सद्ब्रह्म ही मूल है, और सद्ब्रह्म ही आश्रय है तथा सब ही इनका विलय स्थान है।

अयमर्थः – अयं देहशुङ्गोऽन्नमूलः परिनिष्पन्नोऽस्ति, यतोऽस्यान्नकार्याभ्यां शुक्रशोणिताभ्यां संयुक्ताभ्यामन्नेनैव प्रत्यहं भुज्यमानेनापूर्यमाणाभ्यां कुड्यमिव मृत्पिंडैः प्रत्यहमुपचीयमानत्वात्। यत्तु देहशुङ्गस्य मूलमन्नं निर्दिष्टं, तदपि देहवद्विनाशोत्पत्तिमत्त्वात् कस्माच्चिन्मूलादुत्पतितं शुङ्ग एवेति कृत्वाऽऽह यथा देहशुङ्गोऽन्नमूल एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेन कार्यभूतेन अपोमूलत्वमन्नस्य शुङ्गस्यान्विच्छ = प्रतिपद्यस्व। अपामपि विनाशोत्पत्तिमत्त्वाच्छुङ्गमेवेति अद्भिः सोम्य शुङ्गेन कार्येण कारणं तेजो मूलमन्विच्छ। तेजसोऽपि विनाशोत्पत्तिमत्त्वाच्छुङ्गत्वमिति तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमेकमेवाद्वितीयं परमार्थसत्यम्। यस्मिन् सर्वमिदं वाचारम्भणो विकारो नामधेयमनृतं रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पजातमध्यस्तमविद्यया, तदस्य जगतो मूलम्।

अर्थ — यह देहरूप अंकुर अन्नरूप मूलसे ही उत्पन्न हुआ है; क्योंकि प्रतिदिन भुज्यमान अन्नके कार्यशुक्रशोणितसे संयुक्त होकर जैसे मृत्तिकादिके लेपन द्वारा दीवार मोटी होती है, वैसे ही, यह देह भी वृद्धिको प्राप्त होता है। देहरूप शुङ्ग यानी अंकुरका मूल अन्न बताया है, वह भी देहके समान विनाश एवं उत्पत्तिवाला होनेसे किसी मूलसे उत्पन्न हुआ शुंग ही है, ऐसा निर्णय करके कहा है — जैसे देहरूप अंकुर अन्न मूलक है, इस प्रकार हे प्रियदर्शन ! कार्यरूप – अन्न शुङ्गका जल मूल है, अतः अन्न शुङ्गद्वारा जलरूप मूलका अन्वेषण कर। जल भी विनाश एवं उत्पत्तिवाला है, अतः कार्य ही है। इस प्रकार हे प्रियदर्शन ! जलरूप कार्यका तेजोमूल है, ऐसा अन्वेषण कर। एवं तेज भी विनाश, तथा उत्पत्तिवाला है, अतः कार्य है, ऐसा जानकर हे सोम्य ! तेजरूप कार्यका मूलकारण सद्ब्रह्म है जो एक ही अद्वितीय एवं परमार्थसत्य है। जिस सद्ब्रह्ममें अविद्या द्वारा – वाणीका विलासमात्र – विकाररूप, नाममात्र अनृत (मिथ्या) द्वैतप्रपंच रज्जुमें सर्पादि – विकल्प समुदायकी तरह – कल्पित है। वह ब्रह्म इस जगत्का मूल है।

अतः सन्मूलाः = सत्कारणाः, हे सोम्य ! = हे प्रियदर्शन !, इमाः स्थावरजङ्गमलक्षणाः सर्वाः प्रजाः। न केवलं सन्मूला एव, इदानीमपि स्थितिकाले सदायतनाः = सदाश्रया एव। न हि मृदमनाश्रित्य घटादेः सत्त्वं

स्थिति र्वाऽस्ति । अतो मृद्वत् सन्मूलत्वात्प्रजानां सदायतनं यासां ताः सदायतनाः प्रजाः । अन्ते च सदेव प्रतिष्ठा = लयः समाप्तिरवसानं परिशेषो यासां ताः सत्प्रतिष्ठाः । तस्मात्कार्याणां महाकारणेनानन्यत्वं बोधयितुमेवायं सर्गविसर्गाद्युपदेश इति सिद्धम् ।

अतः कहा है कि – हे प्रियदर्शन ! इन स्थावरजंगमरूप समस्त प्रजाका सत् ही मूलकारण है। केवल सत् - ब्रह्म मूल ही है, ऐसी बात नहीं, किन्तु वर्तमान स्थितिकालमें भी जिनका सद्ब्रह्म ही आधार है। जैसे मृत्तिकाको छोड़कर घट आदियोंकी सत्ता या स्थिति स्वतन्त्ररूपसे नहीं हो सकती । अतः मृत्तिकाकी तरह समस्त चराचर प्रजाओंका मूल सद्ब्रह्म है एवं आश्रय भी वही है। अतः समग्र प्रजा सदायतन कहे ज ते हैं । अन्तमें सद्ब्रह्म ही प्रतिष्ठा यानी लय - समाप्ति - एवं अवसानका आश्रय है, वही परिशेष रूपसे रहता है, अतः वे सब प्रजा सत्प्रतिष्ठित कही जाती हैं। इसलिए निखिल कार्योंका महाकारण ब्रह्मसे अनन्यत्वका बोध करानेके लिए ही यह सर्ग. विसर्ग आदिका उपदेश किया गया है, ऐसा सिद्ध हुआ।

'कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत् ।' इति भागवतस्मरणाच्च । एवमस्येशितव्यस्य विसर्गस्य सम्बन्धात्-तन्नियन्तृपरमेश्वरस्यास्तित्वमनुमानविधयाऽप्याह–भगवती श्रुतिः। 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः । एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति । एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्याः यां यां च दिशमनु।' (बृ० उ० ३ । ८ । ६) इति ।

कार्योंका कारण वस्तुके साथ ऐक्यदर्शन ही अनन्यत्व है, जैसे पटका तन्तुओंसे अनन्यत्व है।' ऐसा भागवतमें स्मरण किया है। एवं जगत्में शासकीयत्वके सम्बन्धसे परमेश्वरमें नियन्तृत्वके भावको अनुमान द्वारा भगवती श्रुति कथन करती है कि– हे गार्गि ! इस अविनाशी अन्तर्यामी परमेश्वरके प्रशासनमें सूर्य और चन्द्रमा नियमित एवं विधारित रहते हैं। हे गार्गि ! इस अविनाशी परमेश्वरके प्रशासनमें द्यौ और पृथिवी स्वस्वस्थानमें नियमित होकर रहते हैं। हे गार्गि ! इस अविनाशी परमेश्वरके प्रशासनमें निमिष, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर ये सब नियमित रूपसे परिवर्तित होते रहते हैं। हे गार्गि ! इस अविनाशी परमेश्वरके प्रशासनमें हिमालय पर्वतसे निकलकर पूर्व वाहिनी होकर पूर्वकी तरफ नदियां चलती रहती हैं, अन्य पश्चिम वाहिनी नदियां पश्चिमकी ओर बहती रहती हैं तथा अन्य सब नदियां प्रत्येक दिशामें बहती रहती हैं।

अयमर्थः – एतस्याक्षरस्य सर्वात्मनो ब्रह्मणः, प्रशासने = आज्ञायां,

सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ = नियमितौ तिष्ठतः = वर्तेते, भृत्यादिवत्। यथा राज्ञः प्रशासने राज्यमस्फुटितं नियतं वर्तते, तथैतेनाक्षरेण – अहोरात्रयोर्लोकप्रदीपौ-तादर्थ्येन प्रशासित्रा ताभ्यां निवर्त्यमानलोकप्रयोजनविज्ञानवता निर्मितौ च नियमितौ च स्यातां, साधारणसर्वप्राणिप्रकाशोपकारकत्वात् लौकिकप्रदीपवत्। तस्मादस्ति तद्येन निर्मितौ नियमितौ च सन्तौ तौ नियतदेशकालनिमित्तो-दयास्तवृद्धिक्षयाभ्यां वर्तेते। तत् प्रदीपकर्तृविधारयितृवत् – एतयोः प्रशासित्र-क्षरमस्त्येव। तथा यदक्षरब्रह्मप्रशासने द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतो हस्तन्यस्त-पाषाणादिवत् तदस्ति। द्यौश्च पृथिवी च सावयवत्वात् स्फुटनस्वभावे अपि सत्यौ गुरुत्वात् पतनस्वभावे संयुक्तत्वात् वियोगस्वभावेऽपि च सत्यौ, एतस्या-क्षरस्य प्रशासने स्फुटनपतनवियुक्तरहिततया विधृते तिष्ठतः। अतो नास्याक्षरस्य प्रशासनं द्यावापृथिव्यावतिक्रामतः। 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा।' (ऋ० १०।१२।१५) इति मन्त्रवर्णात्।

उनका यह अर्थ है – इस अक्षर सर्वात्मा ब्रह्मकी आज्ञामें सूर्य और चन्द्र नियमित होकर रहते हैं, जैसे स्वामीकी आज्ञामें भृत्यादि रहते हैं। जैसे राजाके प्रशासनमें राज्य फूटरहित होकर नियत रूपसे रहता है, वैसे ही दिन एवं रात्रिमें लोकके प्रकाशक प्रदीप रूपसे सिद्ध - सूर्य और चन्द्रमा, लोकोंके प्रयोजनको सिद्ध करनेके अभिप्रायवाले – अक्षररूप प्रशासकके द्वारा निर्मित एवं नियमित होते हैं। सामान्य - समस्त प्राणियोंके प्रकाश द्वारा उपकारक होनेसे, लोकसिद्ध प्रदीपकी तरह। इसलिए वह अक्षर ब्रह्म शासक है, ऐसा निश्चय होता है। एवं जिसके द्वारा निर्मित एवं नियमित हुए सूर्य एवं चन्द्रमा नियम, देश, काल एवं निमित्तोंको लेकर उदय, अस्त, वृद्धि एवं क्षय द्वारा प्रवर्तमान होते हैं। प्रदीपकर्ता एवं विधारयिताकी तरह, अतः इन सूर्य और चन्द्रका प्रशासक वह अक्षर ब्रह्म ही है तथा जिसके प्रशासनमें, हाथमें रक्खे हुए पाषाणकी तरह, स्वर्ग और पृथिवी विधृत हुए स्थित रहते हैं, वह अक्षर ब्रह्म है। स्वर्ग और पृथिवी सावयव होनेके कारण विघटन स्वभाववाले हैं, वजनदार होनेके कारण पतन स्वभाववाले हैं, संयुक्त होनेके कारण वियोग स्वभाववाले भी हैं, अतः इस अक्षर ब्रह्मके प्रशासनमें स्फुटन (टूटना) पतन एवं वियुक्त रहित हुए विधृत होकर अवस्थित रहते हैं। अतः स्वर्ग और पृथिवी इस अक्षर ब्रह्मके प्रशासनका अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं। इस बातको वेदमन्त्र भी कहता है कि जिससे द्यौ स्थिर एवं पृथिवी दृढ़ा हैं।

तथा निमेषादयः कालावयवाः सर्वजनिमतः अतीतानागतवर्तमानपदा-र्थसार्थस्य कलयितारो गणकवद्यस्य प्रशासने विधृतास्तिष्ठन्ति तदस्ति। यथा लोके प्रभुणा नियतो गणकः सर्वमायं व्ययं चाप्रमत्तो गणयति, तथा प्रभुस्था-नीय एषां कालावयवानां नियन्ता। तथा प्राच्यः = पूर्वदिग्गमनाः नद्यः =

गंगाद्याः, स्यन्दन्ते = स्रवन्ति श्वेतेभ्यः = हिमवदादिभ्यः पर्वतेभ्यः = गिरिभ्यः, ताश्च यथा प्रवर्तिता एव नियताः प्रवर्तन्ते, अन्यथा प्रवर्तितुमुत्सहन्त्योऽपि, तदेतल्लिंगं ज्ञापकं प्रशास्तु र्ब्रह्मणः। प्रतीच्योऽन्याः प्रतीचीं दिशमञ्चन्ति सिन्ध्वाद्या नद्यः, अन्याश्च यां यां दिशमनुप्रवृत्तास्तां तां न व्यभिचरन्ति, यदक्षरप्रशासनादद्यापि तथैव प्रवर्तन्ते, तदस्ति लिङ्गं – सूचकं तस्येति। एवं सूर्यचन्द्रगिरिवननद्यादिवत् तत्तन्मनोहराह्लादकविसर्गदर्शनेन कस्य सचेतसो मनस्तत्कर्तारं नियन्तारं परमेश्वरं प्रति श्रद्धयाऽभिमुखं न भवत्यपि तु सर्वस्य । तथा चोक्तं — 'येन शुक्लीकृता हंसाः, शुकाश्च हरितीकृताः। मयूराश्चित्रिता येन स विभु र्भाव्यतां हरिः ॥' इति।

तथा कालके अवयव स्वरूप, ये निमेष आदि सम्पूर्ण उत्पत्तिवाले अतीत, अनागत – वर्तमान पदार्थोंके समुदायकी – गणककी तरह, गणना करते हैं। ये भी उस अक्षरके प्रशासनमें विधृत होकर रहते हैं, अतः वह ब्रह्म है। जैसे लोकमें स्वामी से अर्थात् सेठ से नियत होकर गणना करने वाला (मुनीम) सम्पूर्ण आय और व्यय की सावधान होकर गणना करता है तथा प्रकृतमें स्वामी स्थानापन्न इन कालावयवों का नियन्ता ब्रह्म है। एवं पूर्व दिशाकी ओर बहनेवाली गङ्गा आदि नदियां, हिमालयादि सफेद बरफानी पर्वतों से निकल कर बहती हैं। यद्यपि अन्य प्रकारके परिवर्तनके लिए उत्साहित होती हुई भी, वे उससे जिस रूपसे परिवर्तित हुईं थीं, उसी प्रकार नियत होकर बहती हैं। अन्य पश्चिम दिशामें बहनेवाली सिन्धु आदि नदियां पश्चिम दिशाकी ओर बहती हैं। एवं अन्य नदियां जिस-जिस दिशामें प्रवृत्त हुई थीं, उसी-उसी दिशामें बहती हैं, विपरीत दिशामें नहीं बहती हैं। जिस अक्षर ब्रह्मके प्रशासनको मानती हुई आज भी उसी प्रकार प्रवृत्त होती हैं। उस अक्षरका यह सूचक लिङ्ग है, अतः वह ब्रह्म है। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, पर्वत, वन, नदी आदि की तरह तत्तन्मनोहर हर्षदायक विसर्गके दर्शन द्वारा किस भावुकका मन, उसके कर्ता नियन्ता परमेश्वरके प्रति श्रद्धासे अवनत नहीं होता, किन्तु सभीका होता है। तथा कहा भी है — जिसने हंसोंको सफेद बनाया, तोते हरे बनाये, मोर चित्र-विचित्र बनाये, उनका निर्माता व्यापक श्रीहरि ही हैं, ऐसी भावना रखें।

विसर्गस्य विविधदृष्टिभि र्विविधरूपेण विसृष्टत्वम्

विसर्गलक्षणे 'वासनामयः' इति विशेषणेनायं विसर्गः विविधवासनामयीभि विविधाभि र्दृष्टिभि र्विविधरूपेण प्रतीयते, इति वेदान्तप्रसिद्धो दृष्टिसृष्टिवादः प्रख्याप्यते। लोके हि तावत्-'भिन्नस्पृहाणां प्रति चार्थमर्थं-मिष्टत्वद्विष्टत्वमपव्यवस्थम्।' (नैषधीयचरित्रे श्रीहर्षमिश्रः) इति न्यायेन-एकमेव पदार्थं कश्चनेष्टबुद्ध्या पश्यति, गृह्णाति च, तमेवान्यः कश्चन द्विष्टबुद्ध्या पश्यति

त्यजति चेति प्रसिद्धम्। अतो नास्त्ययं नियमः — 'यः कस्मैचिदिष्टरूपेण प्रतीतः पदार्थोऽन्यस्मा अपि तद्रूपेण प्रतीयतामिति।' अत एव संयोगिनां कृते प्रियरूपेण सुखदत्वेन च रूपेण प्रतीतः सुधाकरो वियोगिनां कृते तद्विपरीतरूपेण प्रतीयत इति — एक एव चन्द्रो विविधदृष्टिभि विविधरूपेणास्ति विसृष्टः।

विसर्गका विविध-दृष्टियों द्वारा विविध रूपसे विशेष सर्जन

विसर्गके लक्षणमें 'वासनामयः' इस विशेषणसे यह विसर्ग, विविध-वासनामयी-विविध दृष्टियों द्वारा विविध रूपसे प्रतीयमान होता है, इस प्रकार यह वेदान्त-प्रसिद्ध दृष्टिसृष्टिवादको प्रख्यापन कराता है। 'भिन्न-भिन्न रुचिवाले (चाहवाले) पुरुषोंको प्रत्येक अर्थ, इष्टत्व एवं द्विष्टत्व रूपसे अव्यवस्थित भासता है।' ऐसा लोक में देखा जाता है, नैषधीय चरित्र महाकाव्यमें श्रीहर्षमिश्रने ऐसा कहा है। इस न्याय द्वारा एक ही पदार्थको कोई इष्ट बुद्धिसे देखता है, एवं ग्रहण करता है, तथा उसी पदार्थको अन्य कोई द्वेषबुद्धिसे देखता है तथा त्याग करता है, यह प्रसिद्ध है। अतः यह कोई नियम नहीं है कि जो कोई पदार्थ किसी एक व्यक्तिको इष्ट रूपसे प्रतीत हुआ हो तो वह पदार्थ अन्य किसीको भी इष्ट रूपसे ही प्रतीत हो। अत एव प्रिय-संयोगी पुरुषोंके लिए प्रियरूपसे तथा सुखप्रदत्व रूपसे प्रतीयमान चन्द्रमा, विरही पुरुषोंके लिए उससे विपरीत – यानी अप्रियत्व एवं दुःखप्रदत्व रूपसे प्रतीयमान होता है। इस प्रकार एक ही चन्द्रमाका विविध दृष्टियों द्वारा विविध रूपसे सर्जन किया गया है।

एकस्मिन् स्थले एकस्मिन्नेव समये चावस्थितां कामप्येकां रूपयौवन-सम्पन्नां मनोहरां सुन्दरीं निरीक्षमाणाः — विविधवासनावासितविविधदृष्टि-मन्तः पितृपतिपुत्रसपत्नीकामिव्याघ्रसंन्यासिनः तां प्रियाप्रियादिविविधरूपेण सर्जन्ति। पिता वात्सल्यप्रेमणा, पतिः प्रियभोग्यबुद्ध्या, पुत्रः स्नेहमयलालना-दिकर्तृतया, सपत्नी – द्वेषबुद्ध्याऽङ्गारवत्संतापकर्तृतया, कामी तदप्राप्तिनिब-न्धनोद्वेजकप्रियदृष्ट्या, व्याघ्रो मिष्टखाद्यभावनया, वीतरागो ब्रह्मनिष्ठः संन्यासी च देहदृष्ट्याऽस्थिमांसरुधिरादिमलीनपदार्थसार्थरूपेण, स्वात्मदृष्ट्या सच्चिदानन्दरूपेण च पश्यन्तः तामेवैकां विविधदृष्टिभि विविधसुखदुःखमोह-प्रयोजकप्रियाप्रियादिरूपेण विरचयन्ति।

एक स्थलमें तथा एक ही समय में अवस्थित कोई एक रूप यौवन सम्पन्ना मनोहरा सुन्दरी स्त्रीको देखनेवाले,विविधवासना वासित-विविध दृष्टिवाले,पिता,पति, पुत्र, सौत, कामी, व्याघ्र तथा संन्यासी, उसका प्रिय-अप्रिय आदि नानारूपसे सर्जन करते हैं। सर्जनका क्रम बिखलाते हैं – पिता, वात्सल्यप्रेमसे, पति प्रियभोग्य बुद्धिसे, पुत्र-स्नेह लालन-पालन आदिके कर्ता रूपसे, सौत द्वेषबुद्धिके कारण

अङ्गारके समान संतापक रूपसे, कामी उसकी अप्राप्ति प्रयुक्त उद्वेजकप्रिय दृष्टिसे, व्याघ्र, सुस्वादु खाद्यपदार्थकी भावनासे तथा वीतराग ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी, देहदृष्टि द्वारा हड्डी मांस रुधिर आदि मलीन पदार्थोंके समुदायरूपसे अथवा स्वात्मभावना द्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्मरूपसे देखनेवाले ये लोग उस एक ही सुन्दरी स्त्रीकी विविध दृष्टियोंद्वारा विविध सुखदुःख, मोह, प्रयोजक प्रिय-अप्रिय आदिरूपसे रचना करते हैं।

'सूर्योऽस्तं गतः' इति श्रूयमाण एक एव शब्दसार्थः — कर्मनिष्ठस्य ब्राह्मणस्य कृते संध्योपासनाद्यर्थरूपेण, विषयलम्पटानां कृते भोगलाभप्रयोजकार्थरूपेण, चौराणां कृतेऽन्यधनादिपदार्थापहरणतत्परार्थरूपेण, श्रमिकाणां च कृते श्रमनिवृत्तिपूर्वकारामार्थरूपेण च प्रतीयमानो भवति। अयमेव विविधवासनाविसृष्टो विसर्गः।

'सूर्य अस्त हो गया' ऐसा सुना गया एक ही शब्द-समुदाय, कर्मनिष्ठ ब्राह्मण के लिए संध्या - उपासनादि अर्थरूपसे, विषयलम्पट पुरुषोंके लिए नायिका आदि के संयोग द्वारा भोगलाभके प्रयोजक रूप अर्थसे, चोरोंके लिए अन्यके धनादिरूप तत्तत्पदार्थोंके अपहरणार्थ रूपसे, मजदूर वर्गोंके लिए काम से छुट्टी द्वारा श्रमकी निवृत्ति से लभ्य आराम अर्थरूपसे प्रतीयमान होता है। यही विविध वासनाओंके द्वारा एक ही पदार्थका विविध प्रकारसे सर्जनका नाम विसर्ग है।

यदा लंकायां सुवेलपर्वते वानरसेनासहितो लक्ष्मणादियुतः श्रीरामो न्यवसत्, तदा रजन्यां वानराधिपतेः सुग्रीवस्याङ्के स्वोत्तमाङ्गं, सेवकोत्तमस्य हनुमतश्चाङ्के स्वचरणकमलौ च संस्थाप्य मृगाजिने शयानः, सशरं चापमुद्यम्य पृष्ठतोऽवस्थितेन लक्ष्मणेन संरक्षितः, पार्श्वयोः संस्थिताभ्यामङ्गदविभीषणाभ्याञ्च वेष्टितो दशमुखरावणाखर्वगर्वविदारणोत्सुको जानकिजानिः श्रीरामः पूर्वदिग्गुहायां वसन्तं तिमिरगजविदारयन्तं गगनकानने विचरन्तं रजनीकान्तं चन्द्रकेसरिणं पश्यन् तत्र स्थितं कलङ्कं दृष्ट्वा स्वसमीपस्थान् सुग्रीवादीन्-अपृच्छत्-कोऽयं कलङ्कः ? इति स्वस्वमत्यनुसारतः कथयन्तु भवन्त इति।

जब लंकामें सुवेलपर्वत पर वानरसेना सहित लक्ष्मणादिसे युक्त हुए श्रीरामजी निवास कर रहे थे। उस समय रात्रीमें वानरोंके स्वामी सुग्रीवकी गोदमें अपने मस्तकको, सेवक - शिरोमणि हनुमान्की गोदमें अपने दोनों चरणकमलोंको रखकर, मृगचर्मके उपर सोये हुए, धनुष वाणको चढ़ाकर पीठभागमें अवस्थित लक्ष्मणके द्वारा सुरक्षित हुए, दोनों पार्श्वभागोंमें अंगद और विभीषणके द्वारा वेष्टित हुए, दशानन रावणके अपारगर्वको विदीर्ण करनेके लिए समुत्सुक जानकीपति श्रीरामजी पूर्व दिशा रूपी गुफामें विराजमान, अन्धकार रूप हाथीको विदारण करता हुआ, आकाश रूप वनमें विचरण करता हुआ, निशापति चन्द्ररूपसिंह को देख कर तथा उस चन्द्रमें स्थित कलङ्कको देख कर स्वसमीपवर्ती सुग्रीव आदियोंसे भगवान् श्रीरामने पूछा कि

चन्द्रमें यह प्रतीत-कलंक क्या है ? आप लोग अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार कहें।

तत्र प्रथमं विनयावनतः सुग्रीव उवाच – 'अस्मिन् चन्द्रमसि अस्या धरण्याश्छाया सङ्गता सती प्रतिभासत इति । श्रीरामप्रभावेण सुग्रीवो भूपती राजा बभूव । अतस्तस्य मनसि भूमिवृद्धिस्पृहा स्वभावतो वर्तत एव । सैव तद्वासनावासितदृष्ट्या चन्द्रे कलङ्करूपेण भूछायां निर्मिमाणा प्रतीयते । ततो विभीषण उवाच – निर्दयस्य विधुन्तुदस्य दुष्टस्य राहोः तीक्ष्णपादप्रहारैः संजाता तच्चिह्नरूपा कालिमाऽस्योरसि प्रतीयत इति । विभीषणः स्वभ्रातु दुष्टस्य रावणस्य पादप्रहारै र्व्यथितः । तज्जन्यानि कृष्णलांछनानि च स्वशरीरे बिभ्राणः सन् श्रीरामशरणमाजगाम । अतः सैव भावना चन्द्रे तादृशकलङ्क-रूपेणाभिव्यज्यते । तत अंगद उवाच – यदा विधात्रा मकरध्वजस्यालौकिक-सुन्दर्याः पत्न्या रत्याः मनोहरं मुखं निर्मितं, तदा तन्निर्माणाय चन्द्रमसोऽन्त-र्गतं सुन्दरं सारभागं ग्रहीतम् । अत एव तद्विवरोपदर्शितमिदं नीलं नभो विभाति । भगवता श्रीरामेण स्वपितर वालिं हत्वा तद्राज्यं सुग्रीवाय प्रदत्तम् । अतस्तस्य हृदये तद्ग्रहनाघातोऽद्यापि वर्तमानः सन् यदा कदा तद्वैरभावस्य कृष्णछायां प्रकटयति, अतस्स एव तदन्तर्गतो भावश्चन्द्रेऽपि तादृशं सर्गं सर्जाति ।

इनमें सबसे प्रथम विनय पूर्वक सुग्रीव बोले - इस चन्द्रमामें इस पृथ्वीकी छाया प्रतिभासमान हो रही है । उसे ऐसा भासनेका कारण यह है कि – श्रीरामके प्रभावसे सुग्रीव भूस्वामी राजा हुआ था । अतः भूपतिके मनमें भूमिकी वृद्धिकी इच्छा स्वभावसे विद्यमान रहती ही है । भूमिवृद्धिकी अभिलाषा ही उसकी वासनासे वासित दृष्टि द्वारा चन्द्रमें कलंक रूपसे भूछायाका निर्माणकर प्रतीत हो रही है । उसके बाद विभीषण बोला – चन्द्रको पीड़ा पहुंचानेवाला निर्दयी दुष्ट राहुके तीक्ष्ण पाद प्रहारों द्वारा उत्पन्न हुई चिन्हरूप जन्या कालिमा ही इस चन्द्रके वक्षस्थलमें प्रतीत हो रही है । विभीषण भी अपने ज्येष्ठ भ्राता दुष्ट रावणके पाद-प्रहारोंसे व्यथित हुआ – तज्जन्य - काले चिह्नोंको शरीरमें धारण करता हुआ श्रीरामके शरणमें आया था । इसलिए वही भावना उसे चन्द्रमें तादृश कलंक रूपसे अभिव्यक्त हो रही है । उसके बाद अंगदने कहा — जब विधाताने कामदेवकी पत्नी अलौकिक सुन्दरी रतिके मनोहर मुखका निर्माण किया था, उस समय उसके निर्माणके लिए चन्द्रमाके भीतर का सुन्दर भाग ग्रहण किया था । अत एव उसके छिद्रमें आकाशकी नीलमा दिखाई देती है । भगवान् श्रीरामने अंगदके पिता बालिको मार कर उसका राज्य सुग्रीवको दिया था, अतः उस समय उसके हृदयमें बड़ा आघात हुआ था, वही आज भी वर्तमान होता हुआ, जब कभी उसके वैरभावकी काली छाया प्रकट कराता है । इसलिए वही अन्तर्गत भाव चन्द्रमामें उस प्रकारके सर्गका

सर्जन करता है।

ततः श्रीभगवान् उवाच – 'शशिनो भ्राताऽस्ति गरलं, द्वयोः सागररूपसमानयोनिजत्वात्। अत एव स स्वभ्रातरं गरलमतिप्रेम्णा निजोरसि सदा बिभर्ति। अतः सश्चन्द्रो गरलसंयुतैः सर्वत्र विप्रसृतैः स्वकिरणैः प्रियविरहवन्नरनारीसमूहं प्रज्वालयति। अतोऽहमपि तत्किरणप्रज्वलितः सन् मम प्रियाया जनकनन्दिन्या वियोगजातस्य समुद्धताग्नेस्तत्पर्यन्तं व्याप्तं धूममपि तद्गरलछायया सह पश्यामि। एवं भगवानपि स्वान्तर्गतं भावं चन्द्रमसि विलोकयति। ततः श्रीहनुमान् उवाच – प्राक् यद्यदुक्तं तन्मम न समीचीनं प्रतिभाति, ममत्विदमेव विभाति योऽयं दृश्यमानश्चन्द्रः सोऽस्ति भावत्को भक्तसेवकः, अत एतस्य हृदये भवतो भगवतः श्यामसुन्दरा मूर्तिः सदा विराजते। अतस्तस्या एव श्यामता प्रतीयत इति। भक्तोत्तमस्य श्रीमहावीरस्य हृदये वर्तमानां स्वेष्टदेवस्य श्यामसुन्दरमूर्तिं चन्द्रमस्यपि तद्भावना प्रदर्शयतीति स्पष्टं दृष्टिसृष्टिवादोऽनेन विज्ञायते।

तत्पश्चात् भगवान् श्रीराम बोले - चन्द्रमाका भ्राता विष है, क्योंकि वे दोनों एक ही सागररूप कारणसे उत्पन्न हुए हैं। इसलिए वह चन्द्रमा अपने भाई गरल को अत्यन्त प्रेमसे अपने हृदयमें सदा धारण करता है। अतः वह चन्द्र विषयुक्त - प्रसारित निज किरणों द्वारा प्रियाविरही नर एवं प्रियविरहिणी नारियोंको जलाया करता है। अतः मैं भी उसके किरणोंसे प्रज्वलित हुआ, मेरी प्रिया जनकनन्दिनी सीताके वियोग जन्य बढ़ी हुई विरहाग्निका चन्द्रपर्यन्त व्याप्त धूम भी चन्द्रगत गरलकी छायाके साथ देखता हूं। एवं भगवान् श्रीराम भी स्वहृदयगत भावका चन्द्रमामें दर्शन करते हैं। तत्पश्चात् श्रीहनुमान् जी ने कहा — प्रथम जो-जो कहा गया, वह मुझ को समीचीन नहीं भासता, मुझे तो यही प्रतीत होता है कि यह जो दृश्यमान चन्द्रमा है, वह आपका भक्त, प्रिय सेवक है, इसलिए इसके हृदयमें भगवत्स्वरूप आपकी नवघन-श्याम मनोहर मूर्ति सदा विराजमान रहती है। अतः इस चन्द्र में उस मूर्तिकी श्यामता ही प्रतीयमान हो रही है। भक्तशिरोमणि-श्रीहनुमान् जी के हृदयमें बर्तमान अपने इष्टदेवकी श्यामसुन्दर मूर्ति ही चन्द्रमामें उनकी भावना प्रदर्शन कराती है, इस प्रकार के वर्णनसे स्पष्ट ही दृष्टिसृष्टिवाद विज्ञापित होता है।

अपि चायमेव दृष्टिसृष्टिवादः – 'येषां यादृशी भावनाऽऽसीत्, तदनुरूपैव भगवन्मूर्तिः प्रतीता बभूवेत्येवंलक्षणः – श्रीमद्भागवते दशमेऽपीत्थं प्रतिपादित उपलभ्यते। तथाहि – 'मल्लानामशनि नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्। गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः। मृत्युर्भोजपते विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां, वृष्णीनां परदेवतेति विदितो

रंगं गतः साग्रजः ॥' (भा० १० । ४३ । १७) इति । तत्र रंगभूमौ नानाविध-जनसमुदायेषु 'रसो वै सः' (तै० २० २ । ७) इति श्रुतिप्रथितशृङ्गारादिसर्व-रसकदम्बमूर्तिर्भगवान् 'यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति, तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ।' (भा० ३ । ६ । ११) इति न्यायेन तत्तत्स्वान्तर्गतविविधभावा-नुसारेण तत्तद्रूपः सन् अभिव्यक्तो भवति, न तु साकल्येन सर्वेषामित्याह —

और भी यही दृष्टिसृष्टिवाद – जिनकी जैसी भावना थी, उसके अनुरूप ही भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति प्रतीत हुई - ऐसा लक्षणवाला – श्रीमद्भागतके दशम स्क-न्धमें प्रतिपादित हुआ देखनेमें आता है– 'जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ रंगभूमिमें पधारे, उस समय वे पहलवानोंको वज्रकठोर - शरीर, साधारण मनुष्योंको नररत्न, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्डदेनेवाले शासक, माता-पिताके समान बड़े-बूढ़ोंको शिशु, कंसको मृत्यु,अज्ञानियोंको विराट्, योगियोंको परमतत्त्व और भक्तशिरोमणि वृष्णिवंशियोंको अपने इष्टदेव जान पड़े । सब ने अपने-अपने भावानुरूप एक श्रीकृष्ण मूर्तिमें क्रमशः रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य, वीर, वात्सल्य, भयानक, बीभत्स, शान्त और प्रेमभक्तिरसका अनु-भव किया । उस रङ्गभूमिमें नानाविध जनसमूह उपस्थित थे, उनमें 'रसो वै सः' इस श्रुतिप्रसिद्ध शृङ्गार आदि सर्वरसमय भगवान् श्रीकृष्ण– 'पुण्य श्लोक प्रभो ! आपके भक्तजन जिस-जिस भावनासे आपका चिन्तन करते हैं, उन साधु पुरुषों पर अनुग्रह करनेके लिए आप वही-वही रूप धारण कर लेते हैं ।' इस न्याय द्वारा तत्तद्हृदयगत विविध भावनाओंके अनुसार तत्तद्रूपसे अभिव्यक्त होते हैं । एक साथ सभी रूपसे सबके लिए अभिव्यक्त नहीं होते, इस बातको दिखाते हैं —

(१) मल्लानां = पर्वतोपमशरीराणां स्वं परमशूरं मन्यतयाऽखर्वग-ववतां वज्रमिव स्वशरीरं विभावयतां – रौद्ररसविशिष्टानां चाणूरादीनां कृते साग्रजो रंगं गतः श्रीहरिः, अशनिरिव = अतिसुकुमारसुशीतलमधुरांगोऽपि सः 'पित्तदूषितरसनैः सिताया मधुरायाः कटुत्वमिव' तद्भावनानुरूपतो रौद्र-रसरूपेण वज्र इव स्फुरति ।

(१) पर्वत सदृश शरीरधारी अपने आपको परमशूर माननेके कारण अपार अहंकारी वज्रके समान अपना शरीर दिखानेवाले रौद्ररस विशिष्ट चाणूर आदिकों के लिए बड़े भाई के सहित रङ्गभूमिमें समागत श्रीकृष्ण, अत्यन्त सुकुमार-सुशीतल मधुराङ्ग होते हुए भी वे जैसे 'पित्तदोषसे दूषित जीभ द्वारा मधुर मिश्रीमें कटुताका भान होता है' वैसे उनकी भावनाके अनुसार रौद्ररस रूपसे वज्रके समान स्फुरित हुए ।

(२) नृणां = नृसामान्यविशेषगुणादिभावनाशीलानां — प्रेमसामा-न्यवतां किमपि चमत्कारादिदर्शनाभिलाषुकाणां नराणां कृते स भगवान्

नरवरः = नरेष्वसाधारणैश्चमत्कृतगुणरूपशीलादिभिः श्रेष्ठतयाऽभिव्यक्तो भवति । भगवति त्रैलोक्योत्तरविलासादिदर्शनेनाद्भुतरसो विभावितः ।

(२) मनुष्योंके सामान्य एवं विशेष गुणादि की भावनावाले, सामान्य प्रेमवाले यत्किञ्चित् चमत्कार आदिके दर्शनाभिलाषी नरोंके लिए वह भगवान्, नरवर = नरों में असाधारण चमत्कारी, गुण, रूप, शील आदियों द्वारा श्रेष्ठ रूपसे अभिव्यक्त हुए। भगवान्में उन लोगों द्वारा अलौकिक विलास आदिके दर्शनसे अद्भुतरस प्रकट हुआ।

(३) स्त्रीणां = युवतीनां मन्मथरसास्वादशीलानां शृङ्गारप्रियाणां कृते स भगवान् तद्भावनानुरूपः साक्षात् मूर्तिमान् स्मरः = मन्मथः, दिव्यातिरसाधारणसौन्दर्यलावण्यमाधुर्यसौकौमार्यादिनिधिः सन् प्रतीतो भवति । अत्र ताभिः शृङ्गाररसो विभावितः ।

(३) काम रसास्वाद-शालिनी शृङ्गार स्वभाववाली युवतियों के लिए वही भगवान् उनकी भावनाके अनुरूप-साक्षात् मूर्तिमान् कामदेव अतिदिव्य असाधारण सौन्दर्य लावण्य माधुर्य सौकुमार्य आदिके निधिरूपसे प्रतिभासित हुए। भगवान्में उनके द्वारा ऐसा शृङ्गाररस उद्भावित हुआ।

(४) गोपीनां=श्रीदामादीनां — भगवति स्वजनसख्यभावनाभावितहृदयानां अत एव हासपरिहासादिकरणेऽसंकुचितचित्तानां वयस्यानां कृते स्वजनः सन् गजरक्तमदबिन्दुदन्तादिधारणजातविलक्षणवेषदर्शनेन सख्यहास्यरसद्वयरूपेण प्रकटितो भवति भगवान् ।

(४) भगवान्में स्वजन एवं सख्य-भावनासे भावित हृदयवाले, अत एव हास-परिहास आदि करनेमें असंकुचित चित्तवाले श्रीदामा आदि सखाओंके लिए श्रीभगवान् कुवलयापीड हाथीके रक्त-मद-बिन्दु, दांत आदिके धारण द्वारा विलक्षण वेष दर्शनसे सख्य एवं हास्य इन दो रसोंसे भगवान् प्रकट हुए।

(५) असतां = दुष्टानां कामरागसंयुक्तबलवतां युद्धोत्साहविशिष्टानां क्षितिभुजां=नाम्ना भूपालानां वस्तुतस्तु क्षितिमेव भक्षयतां स्वीयदुष्टत्वभावनाभावितानां तदीयपराक्रमातिशयदर्शनेन संजातभयानां कृते स भगवान् शास्ता = तद्रूपेण दण्डप्रदायकवीररसरूपेणाविर्भूतो भवति ।

(५) असतां यानी काम एवं रागसे युक्त बलवाले दुष्ट, अत एव युद्धोत्साह विशिष्ट, क्षितिभुजां यानी नाममात्र के भूपाल, वस्तुतः पृथ्वीके भक्षक, स्वकीय दुष्टत्व भावनासे भावित, उन भगवान्के अतिशय वीर्य-पराक्रमके दर्शन द्वारा भयभीत होने वाले इन असद् भूपालों के लिए वही भगवान् दण्डप्रदाता वीररस रूपसे आविर्भूत हुए।

(६) स्वपित्रोः = श्रीदेवकीवसुदेवयोः वात्सल्यप्रेमभरितहृदययोः कृते

तद्भावनामनुरुध्य स भगवान् अन्यैरशन्यादिक्रौर्यरूपेण प्रतीतोऽपि मार्दवादि-गुणविशिष्टः शिशुः सन् प्रतीतो भवति । अर्थात् शिशो र्मार्दवादिज्ञानेन मल्लादिदौरात्म्यशङ्कया च वात्सल्यविशिष्टकरुणरसरूपेणाविभू तो भवति ।

(६) वात्सल्यप्रेमसे भरपूर हृदयवाले श्रीदेवकी एवं वसुदेवजीके लिए उन की भावनाके अनुसार जो अन्यों द्वारा वज्र आदि क्रूररूपसे प्रतीयमान होनेवाले, वही भगवान् मृदुता आदि गुणविशिष्ट शिशु रूपसे प्रतीत हुए । अर्थात् शिशुके मृदुता आदि ज्ञानसे और मल्ल आदिकी दौरात्म्य शंकासे श्रीभगवान् वात्सल्य विशिष्ट करुणारस रूपसे आविर्भूत हुए ।

(७) भोजपतेः = कंसस्य निरपराधबालकादिमृत्युप्रयोजकत्यात एव मृत्युभावनाविशिष्टस्य प्रभूतापराधशालिनो दुष्टस्य कृते भगवान् तद्भावनानु-रूपशीघ्रमारकमृत्युरूपेण प्रतीतो भवति । अनेन भगवति भयानकरस आवि-र्भू तस्तेन विलोकितः ।

(७) निरपराध बालक आदिकों के मृत्युका प्रयोजक होनेके कारण मृत्यु भावनासे विशिष्ट अत्यन्तापराधशाली दुष्ट कंसके लिए भगवान् उसकी भावनाके अनुरूप शीघ्रमारक मृत्युरूपसे प्रतीयमान हुए । उसके द्वारा भगवान्में भयानकरस प्रकट हुआ उसने देखा ।

(८) अविदुषां = तत्त्वविद्यारहितानामर्थात् भगवदुपासकानां 'विश्व-तश्चक्षुरुत विश्वतो मुखः' (शु॰यजुः १७ । १६) इत्यादिश्रुतिप्रथिततद्विश्वरूप-महिमाभावितहृदयानां भक्तानां कृते स भगवान् तदभिप्रायानुसारतो विराट् = सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सन् प्रेमभक्तिरसरूपेण प्रतीतो भवति । यद्वा अविदुषां = कंसपुरोहितादीनां कृते सच्चिदानन्दविग्रहत्वेन विद्वद्गण-संमतेऽपि भगवति तस्मिन् विकलत्वमननेन – 'हंहो अयमेव किं परमेश्वर इत्युच्यते भ्रान्तैः, अयन्तु पारदारिकत्वेन गवादिघातित्वेन च श्रुतचरः संप्रति प्राणयस्थिरक्तकलिलगात्रो घृणास्पदत्वेन प्रतीतो विराट् = विकलः-अपर्याप्तौ भौतिकत्वेन निन्दितत्वेन च राजत इति तथा । अनेन बीभत्सरस उक्तः' ।

(८) सब ओर उसकी आंखें हैं एवं सब ओर उसके मुख हैं ।' इत्यादि श्रुति-प्रसिद्ध विश्वरूपकी महिमासे भावित हृदयवाले तत्त्व-विद्या-रहित अर्थात् भगवान्के उपासक भक्तोंके लिए – वही भगवान् – तत्तदभिप्रायके अनुसार विराट् यानी असंख्य शिरों एवं नेत्रोंवाला परमात्मा, प्रेम भक्तिरस रूपसे प्रतीत होता है ।

अथवा अविदुषां यानी जो भगवान् विद्वानोंके द्वारा सच्चिदानन्द - विग्रह - रूपसे अनुभूत होने पर भी कंसके पुरोहित आदियोंके लिए विराट् अर्थात् इस प्रकार विकलत्वरूपसे प्रतीत हुआ, जैसे कि 'अहो ! यही क्या परमेश्वर है? ऐसा तो भ्रान्त लोगोंसे कहा जाता है ? यह तो परदारगामी रूपसे एवं गौ आदि के घातक

रूपसे सुना जाता था, अब इस समय प्राणियोंके अस्थि - रक्तसे लिप्त शरीरवाला घृणास्पदत्वरूपसे प्रतीयमान विराट् यानी विकल-अपर्याप्त अयोग्य भौतिकरूपसे एवं निन्दितरूपसे विराजमान है। इसके द्वारा भगवान् में बीभत्सरस भासित हुआ।

(९) योगिनां = ज्ञानयोगिनां निरन्तरं सर्वत्रान्तर्बहिः शुद्धविमल-विशोकामृतरूपपरसत्यप्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मध्यानतत्पराणां तत्त्वदर्शिनां कृते तत्त्वं परं = सत्यं ज्ञानमनन्तमद्वयं सन् स भगवान् प्रतीतो भवति। शान्तरस-रूपेणाविर्भूतः।

(९) योगिनां यानी सदा सर्वत्र अन्दर, बाहर परिपूर्ण - शुद्ध - विमल विशोक-अमृतरूप-परमसत्य प्रत्यगभिन्न अद्वय ब्रह्मके ध्यानमें तत्पर तत्त्व - दर्शियोंके लिए तत्त्वंपरं = ज्ञानस्वरूप अनन्त अद्वितीय रूपसे भगवान् प्रतीयमान हुए। अर्थात् शान्तरस रूपसे प्रकट हुए।

(१०) वृष्णीनां = तत्प्रधानानां यादवानां स्वसङ्कटनिवारणेच्छूनां कृते परदेवता = स्वहृदयेषु - तस्य सम्बन्धस्फुरणपूर्वकपरमैश्वर्यस्फुरणेन विविधेभ्यः सङ्कटेभ्यः समुद्धारकर्त्री-महती देवता, समाराध्यैश्वर्यबलवद्देवतारूपेण भगवान् प्रतीतो भवति।

(१०) वृष्णीनां अर्थात् वृष्णी जिनमें प्रधान हैं, ऐसे अपने संकट निवारणकी ईच्छावाले - यादवोंके प्रति परदेवता यानी अपने हृदयोंमें उस सम्बन्धके स्मरण पूर्वक परम ऐश्वर्यके स्फुरण द्वारा अनेकों संकटोंसे समुद्धार करनेवाले, समाराध्य ऐश्वर्यवान् बलवान् देवता रूपसे भगवान् प्रतीत हुए।

एवं निखिलरसमय एक एव भगवान् मल्लादीनां भिन्नभिन्नद्रष्टॄणां विभिन्नाभि र्दृष्टिभिः अशन्यादिरूपेणार्थात् दशधा रौद्रादिरसरूपेण क्रमशो विदितः सन् साग्रजो रङ्गं गत इति। अभिव्यक्ता रसाः क्रमेण श्लोकेन निबध्यन्ते – 'रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हास्यं वीरो दया तथा। भयानकश्च बीभत्सः शान्तः सप्रेमभक्तिकः॥' इति। अनेन स्पष्टतो दृष्टिसृष्टिवादः समर्थितः। गर्गसंहितायामेतस्येदृशोऽनुवादो विहितः – 'मल्लाश्च मल्लं च, नरा नरेन्द्रं, स्त्रियः स्मरं गोपगणा व्रजेशम। पिता सुतं, दण्डधरं ह्यसन्ना, मृत्युं च कंसो, विबुधा विराजम्॥ तत्त्वं परं योगिवराश्च, भोजा देवं तदा रंगगतं बलेन। पृथक्-पृथक् भावनया ह्यपश्यन् सर्वे जनास्तं परिपूर्णदेवम्॥' इति। अभिहितञ्चैकमेव जगत् विभिन्नदृष्टिभि र्विभिन्नरूपेण प्रतीतमिति। यथाहि--'क्रीडास्पदं बालकानां, यूनां भोगास्पदं जगत्। चिन्तास्पदञ्च वृद्धानां, विज्ञानां चित् सुखास्पदम्॥' इति।

इस प्रकार सम्पूर्ण रसमय एक ही भगवान् मल्ल आदि भिन्न - भिन्न द्रष्टाओंकी विभिन्न दृष्टियों द्वारा अशनि आदिरूपसे अर्थात् रौद्र आदि दश प्रकारके

रसों द्वारा क्रमशः विदित होते हुए ज्येष्ठ भ्राता बलराम सहित रंगभूमिमें गये। अभिव्यक्त किये गये रसोंका यथाक्रम श्लोक द्वारा कथन करते हैं। रौद्र, अद्भुत, शृंगार, हास्य, वीर, दया, भयानक बीभत्स शान्त और सप्रेमभक्ति, ये दश रस हैं। इस चरित्र द्वारा स्पष्टरूपसे दृष्टि-सृष्टिवादका समर्थन किया। गर्ग संहितामें इसका इस प्रकार अनुवाद किया है—मल्लोंने मल्ल, नरोंने नरेन्द्र, स्त्रियोंने कामदेव, गोपोंने व्रजेश, पिताने पुत्र, असत्पुरुषोंने काल, कंसने मृत्यु, विद्वानोंने विराट्, योगियोंने परम तत्व, भोजोंने देवता, उस समय रंगभूमिमें बलदेवजीके साथ गये हुए परिपूर्ण देव उस श्रीकृष्णको समस्त लोगोंनें अपनी - अपनी भावनाके अनुरूप भिन्न - भिन्न रूपोंमें देखा। इस प्रकार विभिन्न दृष्टियों द्वारा एक ही जगत् विभिन्न रूपसे प्रतीयमान होता है, ऐसा कथन किया। जैसे कि कहा है — बालकोंके लिए यह जगत् क्रीड़ारूप, युवकोंके लिए भोगरूप, वृद्धोंके लिए चिन्तारूप, विद्वान् ज्ञानीयोंके लिए चैतन्य - सुख - पूर्ण - ब्रह्मरूप प्रतीत होता है।

(३) स्थानम्

तदुक्तं – 'स्थिति वैंकुण्ठविजयः।' (भा० २। १०। ४) इति। वैकुण्ठस्य = कुण्ठा - प्रतिघातरहितस्य भगवतो विजयः = सृष्टानां तत्तन्मर्यादापालनेनोत्कर्षः, स्थितिः = स्थानं, अर्थात् मर्यादाविरुद्धप्रवतनशीलानां दण्डप्रदानेन सन्मार्गस्थापनरूपोऽप्युत्कर्षो लक्षितः। सर्गविसर्गवर्णनानन्तरं तयोः स्थितिवर्णनमुपयुक्तमेव। भगवानेव 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां' (ऋ० १०। १२१। १) इत्यादिश्रुतिप्रथितसर्वलोकधारकः, 'य आत्मा स सेतुर्विधृति रेषां लोकानामसंभेदाय।' (छां० उ० ८। ४। १) इत्यादिश्रुतिप्रथितसर्वमर्यादानां प्रवर्तकः संरक्षकः, मर्यादाभेदकानां दण्डविधाताऽपि च। अत एव श्रीमद्भागवते प्रतिस्कन्धं मर्यादाविरुद्धप्रवर्तनशीलानामसुरराक्षसदेवदानवमानवादीनामपि दण्डप्रदानरूपोऽप्युत्कर्षो विजयः प्रतिपाद्यते। अनन्तो भगवान्, अत एव तद्रचितब्रह्माण्डानामप्यस्त्यानन्त्यम्। एकैकस्मिन ब्रह्माण्डेऽपि सन्ति चतुर्दश भुवनानि भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् (ब्रह्मलोकः), तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, पाताल-इत्याख्यानि। भूर्लोकः वसुमती धरण्यप्यस्ति सप्तद्वीपसप्तसमुद्रविशिष्टा, जम्बूप्लक्षशाककुशक्रौञ्चशाल्मलिपुष्कराख्याः सन्ति सप्तद्वीपाः। लवण-इक्षु-सुरा-घृत-दधि-दुग्ध-उदक संज्ञकाः सन्ति सप्त समुद्राः। तन्मध्ये वर्तते महान् पर्वतराजः सुमेरुः। मत्स्यपुराणे तदुक्तं – 'मेरुस्तु शुशुभे दिव्यो राजवत् स तु वेष्टितः।' (अ० ११३) इति।

(३) स्थान

श्रीमद्भागवतमें उसका लक्षण कहा है — प्रतिक्षण नाशकी ओर बढ़नेवाली सृष्टिको एक मर्यादामें स्थिर रखनेसे भगवान् विष्णुकी जो श्रेष्ठता सिद्ध होती है, उसका नाम 'स्थान' है। स्थान यानी स्थिति, अर्थात् वैकुण्ठका विजय। वैकुण्ठ यानी कुण्ठा - प्रतिघात - अभिभव - रहित भगवान्‌की विजय, विजय यानी रचित पदार्थोंका तत्तन्मर्यादा पालन द्वारा उत्कर्ष, अर्थात् मर्यादाके विरुद्ध प्रवर्तनशीलोंको दण्ड प्रदान द्वारा सन्मार्गमें स्थापन रूप उत्कर्ष, सर्ग एवं विसर्ग वर्णनके बाद, इन दोनोंकी स्थिति का वर्णन करना उपयुक्त ही है। 'उस भगवान्‌ने पृथ्वी और इस द्यौ (स्वर्ग) को धारण किया, इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध – समस्त लोकोंको धारण करनेवाला भगवान् ही है। 'जो सबकी आत्मा है, वही भगवान् इन चतुर्दश लोकोंके असंभेदन असंमिश्रण के लिए निखिल-मर्यादाओंका विधारक है, इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध, भगवान् सर्व मर्यादाओं का प्रवर्तक एवं संरक्षक है, मर्यादा भङ्ग करनेवालोंको दण्ड प्रदाता भी है। अत एव श्रीमद्भागवतके प्रत्येक स्कन्धमें मर्यादासे विरुद्ध चलने वाले, असुर, राक्षस, देव, दानव, एवं मानवोंको भी वह दण्ड प्रदान करता है, अतः भगवान्‌का इस रूपसे भी विजय प्रतिपादन किया जाता है। भगवान् अनन्त हैं, अत एव भगवद् रचित ब्रह्माण्डोंमें भी आनन्त्य है। एक - एक ब्रह्माण्डमें चौदह भुवन हैं, भूः (पृथ्वी) भुव, स्वः, महः, जन, तपः, सत्य, (ब्रह्मलोक) ये सात लोक ऊपरके हैं, तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, पाताल, ये सात लोक नीचेके हैं। भूलोक - यानी वसुमती धरणी, सप्तद्वीप सप्त समुद्र विशिष्ट है। जम्बू, प्लक्ष, शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मलि, पुष्कर, इन नामों वाले सात द्वीप हैं। लवण - इक्षु - सुरा - घृत - दधि - दुग्ध – उदक, ये नाम वाले सात समुद्र हैं। इन सबके बीचमें महान् पर्वताधिराज सुमेरु है। मत्स्य पुराणमें कहा है — जैसे' मन्त्री आदिसे परिवेष्टित होकर राजा सुशोभित होता है, वैसे ही अन्य पर्वतोंसे वेष्टित होकर दिव्य सुमेरु शोभित हो रहा है।

अत एव सामवेदस्य केनोपनिषद्यपि – वैकुण्ठस्य पूज्यतमस्य भगवतो विजयः एतादृशः प्रतिपादित उपलभ्यते। तथाहि – 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' इत्यादिना विजयशीलस्य परमेश्वरस्याद्भुतशक्त्यैव देवानां विजयः सम्पन्नः इति विज्ञायते, तथापि मौढ्यात् इन्द्रादयो देवाः – अस्माकमेव विजयोऽस्माकमेव महिमा स्वयं समर्थैरस्माभिरनुभूयते, नात्र पुनः परमेश्वरो हेतुरित्येवं पराभवबीजं मिथ्याऽभिमानं चक्रिरे। तेषामभिमानशातनाय परमेश्वरसामर्थ्यादेव विजयः सम्पन्नः, तत्र भवन्तो देवा निमित्तमात्रमेवेति च बोधनाय भगवान् प्रकृष्टतेजोमयपरमाश्चर्यजनकरमणीयसाकारविग्रहरूपेण प्रादुरभूत्।

परन्तु देवास्तं नाविदुः । तमवगन्तुं देवप्रेरितौ तत्समीपं गतौ - अनलानिलौ बृहद्देवौ विहितसर्वदहनोन्मूलनसामर्थ्यप्रतिज्ञावपि—तद्दत्तैकलघुतृणखण्डमात्र-दहनकम्पनाशक्तौ दर्शितपूर्वगर्वविभ्रंशौ व्रीडितौ समभूताम् । पश्चात् परमेश्वरसकाशं गतो अखर्वगर्वो देवराजो मघवान् दूराद् दृश्यमानं झटिति तिरोहितं तं भगवन्तं यक्षं वीक्ष्य वह्निवायुवत् सम्वादमलभमानः संदिहानः पावकपवनाविवानिवृत्तौ यत्राकाशप्रदेशे ब्रह्मान्तर्दधे, तत्रैव मनः समाधाय व्यचिन्तयत् – 'नूनमयं मत्तोऽप्यधिकतेजस्वो निरतिशयप्रभावशाली सर्वेश्वरो भगवानेव – 'अस्माकं मिथ्याभिमाननिरासायैतादृशं पूज्यतमं रूपमदर्शयत्' इति ।

अत एव सामवेदके केनोपनिषत्में भी पूज्यतम भगवान् वैकुण्ठके विजयका इस प्रकार प्रतिपादन किया गया - उपलब्ध होता है । 'निश्चय ही देवताओंके लिए ब्रह्मने विजय किया, विजयशील परमेश्वरकी अद्भूत शक्ति द्वारा ही देवताओंका विजय सम्पन्न हुआ, तथापि मूढताके कारण इन्द्र आदि सभी देव, ऐसा मानने लगे कि– यह विजय हमारा है । हम लोगोंकी यह महिमा है, इसमें अन्य कोई परमेश्वर कारण नहीं है, अपने सामर्थ्यसे यह विजय प्राप्त हुआ है, इस प्रकार इन्होंने मिथ्या अभिमान किया । उन देवताओंके इस अभिमानका नाश करनेके लिए, और परमेश्वरके सामर्थ्यसे ही यह विजय प्राप्त हुआ है, इसमें आप सब देव निमित्त मात्र हैं, ऐसा सूचित करनेके लिए – प्रकृष्ट तेजः पुञ्जमय अत्यन्त आश्चर्य जनक - परम रमणीय - सगुण साकार विग्रहरूपसे भगवान् प्रकट हो गये । किन्तु देवता लोग, उनको नहीं जान सके । उस स्वरूपको जाननेके लिए इन्द्रदेवसे प्रेरित होकर महान् शक्तिशाली अग्नि और वायुदेव उसके समीपमें गये, उसके पूछने पर कि आप लोगोंमें क्या सामर्थ्य है, तब इन लोगोंने कहा— हम सम्पूर्ण लोकोंके जलानेकी एवं उन्मूलन करनेकी सामर्थ्य रखते हैं, ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले इन दोनोंके समक्ष एक छोटासा तृण - जलाने एवं कंपानेके लिए रक्खा, किन्तु वे दोनों उसे दहन एवं कम्पन करनेमें अशक्त हुए, तथा प्रथमप्रदर्शित गर्वके नष्ट होनेके कारण अत्यन्त लज्जित हुए । तदनन्तर अति अभिमानी देवराज इन्द्र उस परमेश्वरके पास जाने लगा, उसे दूरसे ही देखकर शीघ्र भगवान् तिरोहित हो गये, तब उसे अग्नि और वायुके समान भगवान्का वार्तालाप भी प्राप्त नहीं हुआ, यक्ष भगवान्को केवल दूरसे देख ही सका, अतः वह इन्द्र सन्देहापन्न हुआ, जिस आकाश प्रदेशमें ब्रह्म अन्तर्हित हुए थे, वहीं पर एकाग्र मनसे उसका चिन्तन - ध्यान करने लगा - और विचार किया कि - 'निश्चय ही ये मुझसे भी अधिक तेजस्वी, निरतिशय प्रभावशाली सर्व नियन्ता भगवान् ही हैं,– हम लोगोंके मिथ्या अभिमानको दूर करनेके लिए उन्होंने एतादृश परम पूजनीय साकार स्वरूपको प्रकट किया ।

ततः तस्य तत्र भगवति महत्त्वानुसंधानजन्या भक्तिः समजायत । भक्त्या-तमैकाग्र्येणान्तर्ध्यायन् चिरं तत्रैव तस्थौ । स्वस्मिन् मघवतो भक्ति चित्तैकाग्र्यं च बुद्ध्वा ब्रह्मनियुक्ताऽतिशोभमानेन देवीरूपेण तत्र विद्या प्रादुरासीत् । तेन पृष्टा सा होवाच । मिथ्यागर्वव्यपोहेन युष्मान् किलानुजिघृक्षु युष्मद्भाग्यवशादिह दृग्गोचरीभूतं ब्रह्मै तत् हे मघवन् ! विजानीहि । तत्कृपयैव यूयं विजयिनो महिमाशालिनोऽभवत, न स्वत इति भगवत्युमारूपिण्या ब्रह्मविद्यया बोधितो देवराजः तद्बोधिताश्च वह्निवाय्वादयो देवा मिथ्याभिमानं परित्यज्य स्वविजयमहिमादिहेतुभूतं ब्रह्मैव तदिति विज्ञाय तदभिमुखा भक्ता बभूवुः ।

इस प्रकारके विचार द्वारा श्रीभगवान्में इन्द्रकी महत्त्वानुसंधान - जन्या भक्ति उत्पन्न हुई । भक्ति पूर्वक उस ब्रह्मका - एकाग्रमनसे हृदयमें ध्यान करता हुआ वह चिरसमय तक वहीं स्थिर रहा । अपनेमें - इन्द्रकी भक्ति तथा चित्तकी एकाग्रताको जानकर ब्रह्मसे नियुक्त हुई परम मनोहर देवीरूपसे ब्रह्मविद्या प्रकट हुई । इन्द्रसे पूछे जाने पर वह ब्रह्मविद्या स्वरूपा उमा बोली कि - आप लोगोंके - मिथ्या अभिमानका अपनयन करनेके लिए निश्चय ही आप लोगोंके भाग्यसे यहां प्रकट हुआ वह कृपालु ब्रह्म ही था, हे देवराज इन्द्र ! ऐसा जानो । आप लोग उसकी कृपासे ही विजय एवं महिमाशाली हुए हैं स्वयं अपने आपसे नहीं, ऐसा भगवती ब्रह्मविद्या स्वरूपिणी उमा द्वारा बोधित हुआ देवराज इन्द्र एवं उसके द्वारा बोधित हुए वह्नि वायु आदि देव मिथ्या अभिमानका परित्याग कर, विजय एवं महिमा आदिका कारण भूत वह ब्रह्म ही है, ऐसा जान कर, तत्परायण होकर सबके सब ब्रह्मके भक्त हुए ।

एवं भगवतः श्रीकृष्णस्य निखिलयुद्धादिसमयेऽपि विजयः प्रतिपादितः श्रीमद्भागवते बहुशः समुपलभ्यते । रुक्मिणीहरणविजयो यथा-वदर्भी रुक्मिणी भगवन्तं श्रीकृष्णमेव तद्दिव्यरूपबलादिगुणान् श्रुत्वा मनसा पतिरूपेणावृणोत् । अत एव सा भगवते विप्रद्वारा प्रेषितेन पत्रेणेदं विज्ञापितवती – 'तन्मे भवान खलु वृतः पतिरङ्ग ! जायामात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो ! विधेहि । मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद् गोमायुवन्मृगपते र्बलिमम्बुजाक्ष ! ॥' (भा० १० । ५२ । ३९) इति । हे अङ्ग ! = प्रियतम ! विभो ! अम्बुजाक्ष ! इति सम्बोधनत्रयेण भगवतः परमप्रेमास्पदत्वं-निखिलसामर्थ्यपूर्णत्वं-निखिलजनस्पृहणीयस्याप्रतिमसौन्दर्यलावण्यमाधुर्याद्यास्पदत्वं च विज्ञाप्यते । तत् = तस्मात्, मया-रुक्मिण्या भवान् श्रीकृष्णः खलु = निश्चयेन, पतिर्वृतः = पतिरूपेण स्वीकृतः । अतः अयं आत्मा = स्वदेहादिसङ्घातश्च, भवतः = भवते प्रियतमाय पत्येऽर्पितः, शेषे षष्ठी । अतस्त्वमत्रागत्य मां भवतो जायां = प्रियां भार्यां

विधेहि = सम्पादय । वीरस्य तव भागं मां, आरात् = शीघ्रमागत्य, निकटमागतो वा, चैद्यः = शिशुपालः, माऽभिमर्शतु = मास्पृशतु । अन्यथा ते लज्जा स्यात्, तव सामर्थ्यस्य परिहासश्च भवेदिति भावः । तत्र दृष्टान्तः-मृगपतेः = सिंहस्य बलिं = भागं, गोमायुः = शृगालो यथा स्पृशेत्तथेति ।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके निखिल युद्ध आदि के समय में विजयका प्रतिपादन श्रीमद्भागवतमें अनेक स्थलों पर देखने में आता है । जैसे रुक्मिणी हरण की विजय । विदर्भदेशकी राजकन्या रुक्मिणीने भगवान् श्रीकृष्णके दिव्यरूप बलादि गुणों को सुन कर उनको मन द्वारा पतिरूप से वरण किया । अत एव रुक्मिणीने भगवान् के प्रति ब्राह्मण द्वारा पत्र भेज कर यह विज्ञापित किया 'हे प्रियतम ! मैंने आपको पतिरूपसे वरण किया है । मैं आपको आत्म-समर्पण कर चुकी हूं । आप अन्तर्यामी हैं । मेरे हृदयकी बात आपसे छिपी नहीं है । आप यहां पधार कर मुझे अपनी पत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिए । कमलनयन ! प्राणवल्लभ ! मैं आप सरीखे वीरको समर्पित हो चुकी हूं, आपकी हूं, अब जैसे सिंहका भाग गीदड़ छू जाय, वैसे कहीं शिशुपाल निकटसे आकर मेरा स्पर्श न कर जाय । हे अङ्ग (प्रियतम) ! विभो ! अम्बुजाक्ष ! इन तीन सम्बोधन द्वारा भगवान् में परमप्रेमास्पदत्व, निखिलसामर्थ्य परिपूर्णत्व, निखिलजनोंके लिए स्पृहणीय अप्रतिम (निरुपम) सौन्दर्य-लावण्य एवं माधुर्य आदियोंका आस्पदत्व विज्ञापित किये । इसीलिए मुझ रुक्मिणी द्वारा आप श्रीकृष्ण निश्चय ही पतिरूपसे स्वीकृत हैं । अतः यह स्वदेहादि संघात, अतिशय प्रिय-पतिरूप आपके लिए अर्पित है । 'भवतः' यहां शेष अर्थमें षष्ठी विभक्ति है, इसलिए आप यहां आकर मुझे अपनी प्रिया भार्या रूपसे स्वीकार करें । वीर बलवान् ! आपके भागरूप मुझको शीघ्र ही आकर या समीप आकर शिशुपाल स्पर्श न करे, नहीं तो आप लज्जित होंगे अर्थात् आपके सामर्थ्य आदिका परिहास होगा । इस विषयमें वह दृष्टान्त देती है । जैसे 'सिंहके भागको शृगाल स्पर्श (ग्रहण) करे ।'

अत एव तस्याः प्रियतमभगवल्लाभायैतादृशी समुत्कण्ठा ऽऽसीत् - 'यर्ह्यम्बुजाक्ष ! न लभेय भवत्प्रसादं, जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात् ।' (भा० १० । ५२ । ४३) इति । तस्य भवतः प्रसादं = अत्रागत्य दुष्टान् विजित्य मत्पाणिग्रहणलक्षणं, यर्हि = यदाऽहं न लभेय = न प्राप्नुयां, तर्हि = तदा व्रतैः = उपवासादिभिः कृशान्-असून् = प्राणान्, जह्यां = त्यजेयम् । एवं मुहुः प्राणत्यागरूपप्रयत्ने कृतेऽपि शतजन्मभिरपि तु तव प्रसादः स्यादेवेति विश्वसीमि ।

इसलिए प्रियतम भगवान् की प्राप्ति रूप लाभके लिए उसकी इस प्रकार की तीव्र उत्कण्ठा थी । जैसा भागवतमें कहा है – 'यदि मैं आप का वह प्रसाद, आपकी वह चरणधूली नहीं प्राप्त कर सकी तो व्रत द्वारा शरीरको सुखा कर प्राण छोड़

दूंगी। चाहे उसके लिए सैकड़ों जन्म क्यों न लेने पड़ें, कभी न कभी तो आपका वह प्रसाद अवश्य ही मिलेगा।' आपका प्रसाद यानी यहां आकर दुष्टोंको जीत कर मेरा पाणिग्रहणरूप यदि में प्राप्त न कर सकी, तब उपवास आदि व्रतों द्वारा प्राणोंको छोड़ दूंगी। इस प्रकार बारम्बार प्राण त्याग करते हुए सैकड़ों जन्मोंके बाद भी आपकी कृपा होगी ही, ऐसा में विश्वास रखती हूं।

एवं सा भगवदागमनसंदेशविलम्बे सति अतीव संतप्यमाना स्वभाग्यमधिक्षिपन्तीदमुवाच – 'दुर्भगाया न मे धाता, नानुकूलो महेश्वरः। देवी वा विमुखा गौरी, रुद्राणी गिरिजा सती॥ एवं चिन्तयती बाला, गोविन्दहृतमानसा। न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले॥' (भा० १०।५३।२५-२६) इति। दुर्भगायाः = भाग्यहीनायाः, मे = मम कृते धाता = विधाता पितामहो ब्रह्मा, महेश्वरः = भगवान् शंकरश्च, अनुकूलः किं नास्ति?। देवी = दाम्पत्यसुखार्थमाराध्या रुद्राणी = रुद्रपत्नी, गिरिजा = गिरिराजकिशोरी, सती = पतिव्रताशिरोमणिः, गौरी = सौन्दर्यमाधुर्यादिगुणवती भगवती स्नेहदयापूर्णा सा विमुखा मम कृते कथं बभूव? मम कुटिलभाग्यस्यैवायं दोषः। अन्यथा सा ममोपरि कथं कृपां न विदध्यात्?। एवं चिन्तयती =चिन्तयन्ती रुक्मिणी। नुमभाव आर्षः। गोविन्देन-कृष्णेनापहृतं मानसं यस्याः सा बाला = कन्या कालज्ञा = अधुनाऽपि कृष्णागमनकाल इति मन्वाना किञ्चिदाश्वस्ता सती प्रभूतचिन्तास्तब्धे अश्रूणां कलाभिः = बिन्दुभिराकुले लोचने न्यमीलयत।

एवं वह रुक्मिणी भगवान् के आगमन विषयक सन्देश (समाचार) का विलम्ब होने पर अत्यन्त सन्तप्त होती हुई अपने भाग्यको कोसती हुई बोली—'ठीक है, मेरा भाग्य ही मन्द है। विधाता और भगवान् शंकर भी मेरे अनुकूल नहीं जान पड़ते। यह भी सम्भव है कि रुद्रपत्नी गिरिराजकुमारी सती पार्वतीजी मुझसे अप्रसन्न हों।' रुक्मिणीजी इसी उधेड़-बुनमें पड़ी हुई थी। उनका सम्पूर्ण मन और उनके सारे मनोभाव भक्तमन-चोर भगवान्‌ने चुरा लिए थे। उन्होंने उन्हींको सोचते-सोचते 'अभी समय है' ऐसा समझ कर अपने आंसु भरे नेत्र बन्द कर लिए। भाग्यहीना मेरे लिये पितामह ब्रह्मा, भगवान् शंकर, अनुकूल क्यों नहीं हैं? दाम्पत्यसुखके लिये समाराध्या-रुद्रपत्नी गिरिराजकिशोरी-पतिव्रता-शिरोमणि-सौन्दर्य माधुर्यादि गुणवती भगवती स्नेह एवं दयासे आर्द्रदेवी गौरी मेरे लिये क्यों विमुख हो गई? मेरे कुटिल भाग्यका ही यह दोष है। नहीं तो मेरे ऊपर कृपा क्यों नहीं करती? इस प्रकार चिन्तन करती हुई रुक्मिणी गोविन्द श्रीकृष्णसे अपहृत मनवाली राजकन्या, अभी भी श्रीकृष्णके आगमनका समय है, ऐसा मानती हुई कुछ विश्वसित होती हुई प्रभूत चिन्तासे स्तब्ध अश्रु-बिन्दुओंसे व्याप्त नेत्र उसने बन्द कर लिये।

अथ सा राजपुत्री प्रेषितात् प्रहृष्टवदनात् ब्राह्मणात् 'तव परमप्रेमास्पदः कृष्णोऽत्र समागतः' इति विज्ञाय प्रहृष्टमानसा बभूव । पश्चात् सा कृष्णेनैव साकं विवाहोत्सुका – 'कन्या चान्तःपुरात् प्रागाद् भटैः गुप्ताऽम्बिकालयम् । पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम् ॥ सा चानुध्यायती सम्यङ् मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥' (भा० १० । ५३ । ३६ – ४०) कन्या = रुक्मिणी, अन्तःपुरान्निर्गत्य भटैः = शूरैः रक्षकैः गुप्ता = रक्षिता सती, अम्बिकालयं = अम्बामन्दिरं, प्रागात् = गतवती । ध्यायन्ती = ध्यायन्ती, भवान्याः = भवपत्न्याः अम्बिकायाः पादपल्लवं = पल्लववत् - सुकोमलपादपद्मं द्रष्टुं = दर्शनं कर्तुं, पद्भ्यां विनिर्ययौ । स्वान्तःपुराद्भवान्यालयपर्यन्तं नरयानेन गत्वा आलयाभ्यन्तरगतांश्चतुष्पञ्चप्रकोष्ठान् पद्भ्यां ययौ इति भावः ।

उसी समय उस राजपुत्रीका भेजा हुआ ब्राह्मण आया और प्रसन्न मुखसे बोला कि 'आपके परमप्रेमास्पद श्रीकृष्ण यहां आ गये हैं, यह जान कर अत्यन्त प्रसन्न मन वाली हुई । पश्चात् श्रीकृष्णके साथ विवाहके लिए समुत्सुक रुक्मिणी अन्तःपुरसे निकल कर देवीजीके मन्दिरके लिये चली । बहुतसे सैनिक उसकी रक्षामें नियुक्त थे । वह प्रेममूर्ति श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलोंका चिन्तन करती हुई भगवती भवानीके पल्लवके समान अतीवकोमल पादोंका दर्शन करनेके लिये पैदल ही चली' । रुक्मिणी अन्तःपुरसे निकल कर शूरवीर रक्षकोंसे रक्षित होती हुई अम्बाके मन्दिरमें गई, भवानी अम्बिकाके सुकोमल पाद-पद्मोंका दर्शन करनेके लिए वह पैदल ही गई अर्थात् अन्तःपुरसे अम्बाके मन्दिर तक पालकी पर गई और मन्दिरके भीतर चार या पांच प्रकोटोंमें पैदल गयी, यह भाव है ।

आसाद्य देवीसदनं, धौतपादकराम्बुजा । उपस्पृश्य शुचिः शान्ता प्रविवेशाम्बिकाऽन्तिकम् ॥ तां वै प्रवयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोषितः । भवानीं वन्दयांचक्रु भवपत्नीं भवान्विताम् ॥' (भा० १०।५३।४४-४५) । देवीसदनं = भवानीमंदिरम्, आसाद्य = प्राप्य, तत्र धौते = प्रक्षालिते पादाम्बुजे कराम्बुजे च यस्याः, सा उपस्पृश्य = आचम्य, अत एव शुचिः = पवित्रा, शान्ता = समाहितचित्ता चाम्बिकायाः, अन्तिकं = समीपं, प्रविवेश । प्रवयसः = वृद्धाः, विधिज्ञाः = पूजाप्रकारज्ञाः, विप्रयोषितः = पुरोहितस्त्रियः, भवेन – शिवेन सह नित्यमन्वितां = सदा संयुक्तां, भवस्य = शिवस्य पत्नीं भवानीं = पार्वतीं, भवपत्नीं भवानीमित्यनयोरैकार्थ्येऽपि पार्वत्याः पतिव्रताशिरोमणित्ववाञ्छितमनोरथपूरकत्वावश्यवन्दनीयत्वप्रदर्शनाय पुनरुक्तिः । तां बालां रुक्मिणीं प्रयोज्यकर्त्रीं, प्रयोजककर्त्र्यो विप्रयोषितो वन्दयांचक्रुः = वन्दनं कारयामासुः । तामिति अणि कर्तुः कर्मत्वमार्षम् । तदा वन्दनपूजनादिसमये रुक्मिण्याः हृदये स्वयं स्फुरितं प्रार्थनामन्त्रमाह– 'नमस्ये त्वाऽम्बिकेऽभीक्ष्णं,

स्वसन्तानयुतां शिवाम् । भूयात्पतिर्मे भगवान् कृष्णस्तदनुमोदताम् ॥' (भा० १० । ५३ । ४६) इति । हे अम्बिके ! = मातः ! स्वः = स्वार्द्धांगभूतः आशुतोषः - समुदारदानशीलः - श्रीशिवः, सन्तानः = गणेशकार्तिकेयः, ताभ्यां युतां = सदा संयुक्तां, शिवां = कल्याणकारिणीं-मनोरथशीघ्रसिद्धकारिणीं मंगलरूपां त्वां, अभीक्ष्णं = पुनः पुनः श्रद्धाभक्तिपुरःसरं नमस्ये = नमस्करोमि । तद्भावार्थः । अथ सा स्वमनोरथं तस्यै विज्ञाप्य तत्साफल्यायेत्थं प्रार्थितवती - भगवान् कृष्णो मे पति भूयात् इति यत्तत् - मे मनोरथं, सर्वसमर्था प्रभूतस्नेहदयावती भवती, अनुमोदताम् = सफलं कृत्वाऽर्थात् कृष्णपतिलाभं दत्वा मामनुगृह्णातु = ममोपर्यनुग्रहं विदधात्वित्यर्थः ।

'देवीजीके मन्दिरमें पहुंच कर रुक्मिणीजीने अपने कमलाके सदृश सुकोमल हाथ - पैर धोये, आचमन किया, इसके बाद बाहर एवं भीतर पवित्र होकर एवं शान्त भावसे युक्त हो कर उसने अम्बिका देवीके मन्दिरमें प्रवेश किया । बहुतसी विधि-विधान जाननेवाली बड़ी-बूढ़ी ब्राह्मणियां उनके साथ थीं । उन्होंने-भगवान् शंकरकी अर्द्धाङ्गिनी भवानीको और भगवान् शंकरजीको भी रुक्मिणीसे प्रणाम करवाया' । वन्दन-पूजन आदिके समय रुक्मिणीके हृदयमें स्वयं स्फुरित - प्रार्थना मन्त्रको कहते हैं — 'अम्बिके माता ! आपकी गोदमें बैठे हुए आपके प्रियपुत्र गणेश जीको तथा आपको मैं बार - बार नमस्कार करती हूं । आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मेरी अभिलाषा पूर्ण हो । भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे पति हों' वह रुक्मिणी अपने मनोरथको उस अम्बिकासे विज्ञापन कर एवं उसे पूर्ण करनेके लिए प्रार्थना करने लगी – 'भगवान् श्रीकृष्ण मेरे पति हों' यह जो मेरा मनोरथ है, उसे सर्व समर्था महास्नेहवाली आप सफल करके अर्थात् श्रीकृष्णको पति रूपसे प्रदान कर, मुझ पर अनुग्रह करें ।

एतेन — 'अन्याश्रयो नैव कर्तव्यः' अर्थात् – अन्यस्य कस्यचित् - शिवाम्बिकागाणपत्यादिदेवदेवीभूतस्य, आश्रयः = तन्नमस्कारपूजनप्रार्थनातन्मन्दिरगमनतन्नामग्रहणतज्जयन्त्युत्सवतद्व्रतोपवासादिलक्षणो नैव कर्तव्यः । इति ब्रुवाणाः - स्वकीयेषु - यथार्थशास्त्रीयज्ञानशून्यान्धभक्तेषु तदशास्त्रीयस्वीयमतस्य प्रचारकाः स्वार्थान्धतयाऽतिसंकुचितमनोवृत्तयः स्वान् भागवतानुयायित्वेन मन्यमानाः सनातनार्यधर्मस्यानादिशिष्टपरम्परायाः श्रीमद्भागवतप्रतिपादितशिष्टमर्यादायाश्चाप्यनादरं कुर्वाणा द्वैतिनो–निरस्ताः । सर्ववेदान्तसारभूतस्यातएवानन्याद्वयब्रह्मवादप्रतिपादनतत्परस्यातएव तदन्यभावप्रतिषेधपरायणस्य श्रीमद्भागवतस्य 'विनाऽच्युताद् वस्तुतरां न वाच्यं, स एव सर्वं परमार्थभूतः ।' (भा० १० । ४६ । ४३) यदात्मकमिदं विश्वं' (भा० १०।७४।२०) 'एष वै देवताः सर्वाः ।' (भा० १० । ७४ । १६) इत्यादिलक्षणस्य स्पष्टाद्वय-

सिद्धान्तस्य विरुद्धत्वात् ।

इस प्रसंगके द्वारा – 'अन्यका आश्रय नहीं करना चाहिये ।' अर्थात् अन्य किसी शिव अम्बिका गणेश आदि देव - देवी समूहका आश्रयः यानी उनको नमस्कार, पूजन, प्रार्थना, उनके मन्दिरमें गमन, उनके नामोंका उच्चारण, उनका जयन्ती उत्सव मनाना, उनका व्रत - उपवास आदि नहीं करना चाहिए, ऐसे कहनेवाले शास्त्रीय यथार्थ ज्ञानशून्य अपने अन्धे भक्तोंमें इस अशास्त्रीय स्वकीय मतका प्रचार करनेवाले स्वार्थपरायण होनेके कारण अत्यन्त संकुचित मनोवृत्तिवाले अपने आपको भागवतका अनुयायी रूपसे माननेवाले – सनातन आर्यधर्मका – अनादि कालसे प्रवृत्त शिष्टोंकी परंपराका तथा श्रीमद्भागवत प्रतिपादित शिष्ट मर्यादाका अनादर करनेवाले द्वैतवादियोंके मतका खण्डन हो गया । श्रीमद्भागवत सर्ववेदान्तोंका सार है । अत एव अनन्य-अद्वय ब्रह्मके प्रतिपादनमें तत्पर है, अत एव उससे अन्यभावका प्रतिषेध किया जाता है । 'भगवान् अच्युतके विना अन्य वस्तु कथन करने योग्य नहीं है वही सर्वरूप हैं एवं परमार्थ स्वरूप भी हैं । 'यह समग्र-विश्व श्रीकृष्णका ही रूप है' यही समस्त देवताओंके रूपमें हैं ।' इत्यादि स्पष्ट ही अद्वय-सिद्धान्तके बोधक श्रीमद्भागवतसे विरुद्ध है ।

एकदा गोपालाः-'नन्दसुनन्दकादयः प्रययुस्तेऽम्बिकावनम् । तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं विभुम् । आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या देवीं च नृपतेऽम्बिकाम् ।। ब्राह्मणेभ्यो गवादिकं ददुः सर्वे देवो नः प्रियतामिति ।।' (भा० १० । ३४ । १ - २ - ३) एकदा शिवकृष्णचतुर्दश्यां तच्चाम्बिकावनं मथुरातो वायव्य-दिशि स्थितं सरस्वतीतीरस्थं श्रीशिवोमामूर्तिभूषितं तीर्थविशेषम् । अर्हणैः = पूजासाधनैः गन्धाक्षतपुष्पादिभिः देवं देवीं शिवमम्बिकां च आनर्चुः = पूजयामासुः । = देवः = महादेवः, नः = अस्माकं प्रीयतां = प्रीतो भवतु इत्यभिप्रायेण दानं कृतवन्तः । तथा च तेषां दानादिसत्कर्मापि पशुपतिमहादेव-प्रसन्नतार्थमेव ।' इत्यादि श्रीमद्भागवते प्रतिपादितमहादेवदेवीदुर्गापूजनादिशि-ष्टाचारविरुद्धत्वाच्च तत्कपोलकल्पितं मतं हेयमेव । अत एव स वै श्रेष्ठो वैष्णवो भवितुमर्हति, यो शिवविष्णुरमादुर्गादिदेवेषु भेदबुद्धिं न करोति, अभेदभावेन सर्वेषां सन्मानादिकं करोतीति । तदुक्तं–'भेदं न कुरुते यस्तु दुर्गा-विष्णुशिवादिषु । ब्रह्मत्वेनैव जानाति वैष्णवः स परो मतः ।।' (पद्मपुराणीये-भागवतमाहात्म्ये) ।

किसी एक समयमें नन्द सुनन्द आदि गोपगण, अम्बिका वनमें गये । हे परीक्षित् ! वहां उन लोगोंने सरस्वती नदीमें स्नान किया और सर्वान्तर्यामी पशुपति शंकरका तथा भगवती अम्बिकाजीका बड़ी भक्तिसे अनेक प्रकारकी सामग्रियोंके द्वारा पूजन किया । वहां उन्होंने आदरपूर्वक गाय आदिका ब्राह्मणोंको दान दिया,

इससे वे केवल यही चाहते थे कि देवाधिदेव भगवान् शंकर हम पर प्रसन्न हों। एकदा = यानी शिवकी कृष्णचतुर्दशी तिथिमें मथुरासे वायव्य दिशामें स्थित अम्बिका वन है, वहां सरस्वती नदीके तट पर श्रीशिव और उमाकी मूर्तिसे विभूषित प्रसिद्ध तीर्थ है। उन्होंने गन्ध अक्षत पुष्पादियोंसे शिव एवं अम्बिकाकी पूजा की, इत्यादि श्रीमद्भागवतमें प्रतिपादित – महादेव तथा देवी दुर्गा आदिका पूजन - आदि, जो शिष्टाचार है उसके विरूद्ध होनेके कारण उनका वह कपोल कल्पित मत सर्वथा हेय (त्याज्य) ही होजाता है। अत एव वही श्रेष्ठ वैष्णव होने योग्य है, जो शिव, विष्णु, लक्ष्मी, दुर्गा आदि देव देवियोंमें भेद बुद्धि नहीं रखता है, अभेद भावनासे सभीका सन्मान आदि करता है। इस बातको पद्मपुराणीय – भागवतके माहात्म्यमें कहा है— 'जो दुर्गा, विष्णु तथा शिवादियोंमें भेद बुद्धि नहीं करता है, तथा सबको ब्रह्मरूपसे जानता है, वही उत्तमोत्तम वैष्णव माना जाता है'।

एवं भगवतीदेवीपूजनाद्यनन्तरं यदा तदालयात् निष्क्रम्य सा रुक्मिणी भगवतः कृष्णस्य प्राप्तिं प्रसमीक्षमाणाऽत एव शनैः शनैश्चलन्ती साऽच्युतं कृष्णं प्रभूतहर्षप्रेमभरिताभ्यां चक्षुर्भ्यां ददर्श। 'तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम। रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं राजन्यचक्रं परिभूय माधवः॥ ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः शृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः॥' (भा० १० । ५३ । ५५) इति। तदा माधवः = लक्ष्मीपतिः श्रीकृष्णो रथमारोढुमिच्छतीं तां राजकन्यां द्विषतां = शत्रूणां चैद्यादीनां समीक्षतां = समीक्षमाणानां सतां जहार। शता-आर्षः। ततश्च सुपर्णलक्षणं = गरुडध्वजं रथं समारोप्य राजन्यानां = क्षत्रियराज्ञां चक्रं = मण्डलं, परिभूय = तुच्छीकृत्य, रामः = बलरामः पुरोगमः = अग्रणी येषां तैर्यदुभिः सह शनैर्ययौ। तत्र दृष्टान्तः। स्वभागं हृत्वा हरिः = सिंहो यथा शृगालमध्यान्निर्भयः शनैर्याति, तथा ययौ = जगाम। अनेन श्रीकृष्णस्य भगवतो महान् उत्कर्षलक्षणो, यद्वा जयतेरभिभवार्थकत्वात् भक्ताया रुक्मिण्याः प्रभूतदुःखाभिभवलक्षणोऽपि विजयः प्रतिपादितः।

एवं वह रुक्मिणी, भगवती अम्बिकादेवीके पूजन आदिके करनेके बाद जब मन्दिरसे बाहर निकल कर भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी प्रतीक्षा करती हुई, और इसी उद्देश्यसे धीरे - धीरे चलने लगी, इतनेमें रुक्मिणीने प्रभूत हर्ष एवं प्रेमभरी आंखोंसे अच्युत श्रीकृष्णको देखा। राजकुमारी रुक्मिणीजी रथ पर चढ़ना ही चाहती थीं कि भगवान् श्रीकृष्णने समस्त शत्रुओंके देखते - देखते उनकी भीड़मेंसे रुक्मिणीजीको उठा लिया और उन सैकड़ों राजाओंके सिर पर पांव रख कर उन्हें अपने उस रथ पर बिठा लिया, जिसकी ध्वजा पर गरुड़का चिन्ह लगा हुआ था। इसके बाद जैसे सिंह - सियारोंके बीचमें से अपना भाग ले जाय, वैसे ही रुक्मिणीजी को लेकर

श्रीकृष्ण बलरामजी आदि यदुवंशियोंके साथ वहां से चल पड़े । इस चरित्र द्वारा भगवान् श्रीकृष्णका विजयरूप महान् उत्कर्ष दिखाया, अथवा जयति धातुका अन्य अभिभवरूप अर्थ मानने पर भक्तिमती रुक्मिणीके प्रभूत - दुःखोंका अभिभव लक्षण-विजय भी अर्थात् लक्षित हुआ ।

एवमयमपरः श्रीकृष्णस्य विजयः । यथाहि – आसीत् कश्चित् कोशल-देशाधिपतिः राजा नग्नजिन्नामा, तस्य सत्यानाम कान्तिमती सुन्दरी युवती कन्याऽऽसीत् । तेन राज्ञा स्वकन्यायाः वरस्य प्राप्तीच्छया तद्बलपराक्रमादि-प्रभावस्य परीक्षार्थं, एतादृशो नियमो व्यधायि । यः कश्चित् सप्तैतान् मदो-न्मत्तान् तीक्ष्णशृङ्गान् खलान् गवेन्द्रान् युगपदेव रज्जुभि र्बद्ध्वा निगृह्णाति, स्ववशे स्थापयति, स एव मम कन्यायाः पाणिग्रहणं कर्तुं शक्नोति, नान्य इति । तदा तत्रागतं भगवन्तं श्रीकृष्णं प्रति राजा नग्नजिदिदमुवाच – 'सप्तैते गोवृषा वीर ! दुर्दान्ता दुरवग्रहाः । एतैर्भग्नाः सुबहवो भिन्नगात्रा नृपात्मजाः॥' (भा० १०।५८।४२) इति । हे वीर ! श्रीकृष्ण ! गोवृषाः = वृषश्रेष्ठाः, वृषशब्द उत्तरपदे श्रेष्ठवचनः । दुर्दान्ताः = दुर्वृत्ताः-दुर्धर्षाः, दुरवग्रहाः = वशीकर्तुमशक्याः, भग्नाः = भङ्गं प्रापिताः, तथा भिन्नानि गात्राणि येषां तथाभूताश्च जाताः । अत एव 'न तां शेकु र्नृपा वोढुमजित्वा सप्त गोवृषान् । तीक्ष्णशृङ्गान् सुदुर्धर्षान् वीरगन्धासहान् खलान ॥' (भा० १० । ५८ । ३३) वीराणां गन्धमपि न सहन्त इति तान अजित्वा तां सत्यां मम कन्यां वोढुं न शेकुः = न समर्था बभूवुः ।

इस प्रकार यह अन्य भी श्रीकृष्णकी विजय है । जैसे 'कोई कोशलदेशका अधिपति नग्नजित् नामका राजा था. उसकी कान्तिमती सुन्दरी सत्या नामकी युवती कन्या थी । उसने अपनी कन्याके वरकी प्राप्तिकी इच्छा से उस वरके बल, पराक्रम आदि प्रभावकी परीक्षार्थ इस प्रकारका नियम बनाया था । 'जो कोई इन मदोन्मत्त-तीक्ष्ण शृङ्गवाले सातों गवेन्द्रों (सांडों) को एक साथ ही रज्जुके द्वारा बांध कर निगृहीत करेगा, अपने वशमें स्थापित करेगा, वही मेरी कन्याका पाणि-ग्रहण कर सकेगा, अन्य कोई नहीं, उस समय वहां आये हुए भगवान् श्रीकृष्णके प्रति राजा नग्नजित् ने यह कहा था कि हे वीर श्रेष्ठ कृष्ण ! हमारे ये सातों सांड किसी के वशमें न आनेवाले और विना सधाये हुए हैं, इन्होंने बहुत-से राजकुमारोंके अङ्गोंको खण्डित करके उनका उत्साह तोड़ दिया है । इसलिए ही मेरी प्रतिज्ञाके अनुसार इन सात दुर्दान्त सांडों पर विजय प्राप्त न कर सकनेके कारण कोई राज-कुमार उस मेरी कन्यासे विवाह न कर सके । क्योंकि उनके सींग बड़े तीखे हैं और वे किसी वीर पुरुषकी गन्ध भी नहीं सह सकते हैं ।

यदि मे निगृहीताः स्युस्त्वयैव यदुनन्दन ! वरो भवानभिमतो दुहितुर्मे

श्रियः पते ! ॥ एवं समयमाकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं प्रभुः । आत्मानं सप्तधा कृत्वान्यगृह्णाल्लीलयैव तान् ॥ बद्ध्वा तान्दामभिः शौरिर्हृतदर्पान् हतौजसः । व्यकर्षल्लीलया बद्धान् बालो दारुमयान्यथा ॥ ततः प्रीतः सुतां राजा ददौ कृष्णाय विस्मितः ॥' (भा० १० । ५८ । ४४-४५-४६-४७) । हे यदुनन्दन ! हे श्रियः पते ! यत् = यदि इमे त्वया निगृहीताः = दमिताः स्युस्तर्हि भवानेव मम दुहितुरभिमतो वरः । यद्वा यत् = यतः, त्वयैव-पराक्रमशालिना सर्वत्र विजयिना निगृहीताः स्युरेव, अतो भवानेवाभिमतो वरः । एवंभूतं समयं = प्रतिज्ञामाकर्ण्य = श्रुत्वा, परिकरं = उत्तरीयादिकं कट्यां बद्ध्वा प्रभुः श्रीकृष्णः आत्मानं सप्तधा कृत्वा = प्रकाश्य, तान् लीलया = अनायासेनैव, न्यगृह्णात् = वशीकृतवान्-विद्धनासिकान् कृत्वा बबन्ध । बह्वीनां योषितां पूर्ण एवाहं संभोगयोग्यः स्यामिति सत्यां प्रत्यसापत्न्यदर्शनार्थमात्मनः सप्तधाकरणम् । अन्यान् सर्वान् प्रति-स्वानन्तैश्वर्यप्रदर्शनार्थञ्च । हृतं ओजः = बलं येषां तान्, अत एव हृतः = भग्नो, दर्पः = गर्वो येषां तान्, शौरिः = कृष्णः, दामभिः = रज्जुभि र्बद्ध्वा बालो दारुमयान् काष्ठनिर्मितान् गवेन्द्रान् यथाऽनायासेन बध्नाति, तथा बद्धांस्तान् लीलया व्यकर्षत् । ततो वृषनिग्रहात्-सप्तधा प्रतीयमानाच्च विस्मतः = आश्चर्यमुग्धः सन् प्रीतश्च राजा स्वसुतां सत्यां कृष्णाय ददौ । 'तां प्रत्यगृह्णात् भगवान् विधिवत् सदृशीं प्रभुः ।' (भा० १०।५८।४७) सदृशीं = स्वानुरूपां, प्रत्यगृह्णात् = उपयेमे = विवाहितवान् ।

अतः श्रीकृष्ण ! यदि इन्हें आप ही नाथ लें, अपने वशमें करलें, तो लक्ष्मीपते ! आप ही हमारी कन्याके लिये अभीष्ट वर होंगे । भगवान् श्रीकृष्णने राजा नग्नजित्का ऐसा प्रण सुनकर कमरमें फेंट कस ली और अपने सातरूप बनाकर खेल ही खेल मेंउन सांडोंको नाथ लिया, इससे सांडोंका घमण्ड चूर हो गया और उनका बल पौरुष भी जाता रहा । अब भगवान् श्रीकृष्ण, उन्हें रस्सीमें बांध कर इस प्रकार खींचने लगे, जैसे खेलते समय नन्हासा बालक काठके बैलोंको घसीटता है । राजा नग्नजित्को बड़ा विस्मय हुआ । उन्होंने प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णको अपनी कन्या सत्याका दान कर दिया और सर्व शक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णने भी अपने अनुरूप पत्नी सत्याका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया ।

एवं भगवतः श्रीकृष्णस्याश्चर्यकराः प्रशस्ता भूयांसो विजयाः, जयतेरभिभवार्थपक्षेऽपि द्रौपदीगजेन्द्रप्रभृतिभक्तानामपि विविधदुःखाभिभवलक्षणा विजयाश्चापि श्रीमद्भागवते प्रतिस्कन्धं प्रत्यध्यायमभिवर्णिताः सन्ति । अत एव श्रीकृष्णस्य विजयगाथैव श्रीमद्भागवतमस्तीत्यभ्युपगमे नास्ति काचनातिशयो

इस प्रकार भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी आश्चर्यसे चकाचौन्ध कर देने वाली अनेकों विजय गाथाओंकी प्रशस्तियाँ हैं। अभिभवार्थ पक्षमें भी द्रौपदी, गजेन्द्र प्रभृति भक्तोंके विविध प्रकारके दुःखोंका अभिभव रूप विजय भी लक्षित होता है। इनका श्रीमद्भागवतके प्रत्येक स्कन्धमें एवं प्रति - अध्यायमें वर्णन किया गया है। अत एव श्रीकृष्णकी विजय गाथा ही यह श्रीमद्भागवत है, ऐसा स्वीकार करने पर कोई अतिशय उक्ति नहीं मानी जा सकती।

(४) पोषणम्

'पोषणं तदनुग्रहः' (भा० २।१०।४) स्वभक्तेषु – 'स्वशरणागतेषु तस्यानुग्रहः = करुणाभावः तदुद्धारलक्षणः पोषणमित्यर्थः। यः कोऽपि स्यात्, भक्त्या भगवच्छरणमभ्युपैति, तं भगवान् देशजातिकुलाचारादिकमप्युपेक्ष्य सर्वतोभावेनानुगृह्णात्येव। 'भक्त्या तुष्यति केवलं, न च गुणै र्भक्तिप्रियो माधवः।' इत्यभियुक्तस्मरणात्। अपि च भगवतोऽनुग्रहो न केवलं भक्तेष्वेव, किन्तु द्वेषादपि यो भगवन्तं तन्मयतया पश्यति, तमधिक्षिपति, तमभिमुखी भवति च, तस्योपर्यपि भगवान् स्वस्याहैतुकमनुग्रहं कृत्वा तदुद्धारं करोत्येवेत्यहो भगवतः श्रद्धेयं समुदारं कृपालुत्वम्। तस्योदाहरणं शिशुपालश्चैद्यः। दुष्टा पूतना च।

(४) पोषण

अपने द्वारा सुरक्षित सृष्टिमें भक्तोंके ऊपर आपकी जो कृपा होती है, उसका नाम 'पोषण' है। अपनी शरणमें आये हुए भक्तोंके ऊपर भगवान्‌का अनुग्रह करुणाभाव जो उनके उद्धारका ज्ञापक है वह पोषण है। जो कोई भी हो, भक्तिसे भगवान्‌की शरणमे आता है, उस पर भगवान् देश, काल, कुल, आचारादिक की भी उपेक्षा कर सब प्रकारसे अनुग्रह करते ही हैं। 'केवल भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं, गुणादिसे नहीं क्योंकि माधव भक्ति प्रिय हैं। ऐसा शिष्टोंका कथन है। और भी भगवान्‌का अनुग्रह केवल भक्तोंमें ही होता हो, ऐसी बात नहीं, किन्तु द्वेषसे भी जो भगवान्‌को तन्मयता से देखता है, आक्षेप करता है, सन्मुख होता है, उसके ऊपर भी भगवान् अहेतुक अनुग्रह करके उसका उद्धार करते ही हैं। अहो! भगवान्‌की श्रद्धेय समुदार कृपालुता? उसका उदाहरण है — चैद्य शिशुपाल और दुष्टा पूतना।

यदाहुः – श्रीबादरायणाचार्याः तृतीये उद्धवमुखेन भगवतः परमानुग्रहशीलत्वम् – 'दृष्टा भवद्भिर्ननु राजसूये चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः। यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग्योगेन कस्तद्विरहं सहेत॥' (भा० ३।२।१९) इति। तस्य परमानुग्रहशीलत्वं न साधनीयं, भवद्भिरपि दृष्टत्वादित्याह–चैद्यस्य = शिशुपालस्य, कृष्णं द्विषतः = तन्मयभावेन कृष्णस्य द्वेषं कुर्वतोऽपि,

तत्परमानुग्रहलभ्यां यां सिद्धिं, योगिनः = ज्ञानभक्तियोगिनः, सम्यग्योगेन संस्पृहयन्ति = प्राप्तुमिच्छन्ति । तस्या भगवत्प्रवेशलक्षणायाः सिद्धे र्वर्णनमित्थं कृतं दशमेऽपि – 'स्वयं भगवान् क्षुरान्तचक्रेण तस्य शिरो जहार, एवं शिशुपाले हते सति, 'चैद्यदेहोत्थितं ज्योति र्वासुदेवमुपाविशत् ।' (भा० १० । ७४ । ४५) 'ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम् ।' (भा० १० । ७४ । ४६) इति । चैद्यस्य देहादुत्थितं = निःसृतं ज्योतिः = जीवचैतन्यं, वासुदेवं = श्रीकृष्णमुपाविशत् = 'भिन्ने घटे घटाकाशो महाकाशमिव' देहमुपाधिं परित्यज्य स्वस्वरूपं भगवन्तमनन्तसुखपूर्णं प्रविवेश । यतो द्वेषाविष्टया बुद्ध्या कृष्णं ध्यायन् = अहर्निशं चिन्तयन् तन्मयतां यातः = प्राप्तः । हि = यस्मात् भावः = अनुचिन्तनमेव भवस्य = ध्येयाकारशुभाशुभजन्मनः कारणं पेशस्कारिध्यानेन कीटादौ तत्प्रसिद्धेः ।

श्रीभगवान् परम अनुग्रहशील हैं, इस बातको तृतीय स्कन्धमें उद्धवजीके मुखसे श्रीबादरायणाचार्य ने कहा है — 'आप लोगोंने राजसूययज्ञमें प्रत्यक्ष ही देखा था कि श्रीकृष्णसे द्वेष करनेवाले शिशुपालको वह सिद्धि मिल गई, जिसकी बड़े - बड़े योगी भलि-भांति योग-साधना करके स्पृहा करते रहते हैं, उनका विरह भला कौन सह सकता है ? उस भगवान्के परम अनुग्रहको केवल वाणीसे ही सिद्ध नहीं किया जाता, किन्तु आप लोगों ने भी उसे प्रत्यक्ष देखा है । इसलिए कहा है कि तन्मयभाव से श्रीकृष्णसे द्वेष करनेवाले शिशुपालको उस भगवान्के परम अनुग्रहसे सिद्धि प्राप्त हुई, जिस सिद्धिको ज्ञानी - भक्त योगीजन सम्यग्योगके द्वारा प्राप्तकरनेकी इच्छा करते हैं । उस शिशुपालके भगवान्में प्रवेश लक्षणरूप सिद्धिका वर्णन दशमस्कन्धमें इस प्रकार किया है कि – 'स्वयं श्रीकृष्ण भगवान्ने शिशुपालका सिर छुरेके समान तीखी धारवाले चक्रसे काट लिया' इस प्रकार शिशुपालके मारे जाने पर शिशुपाल के शरीरसे एक ज्योति निकल कर भगवान् श्रीकृष्णमें समा गई' क्योंकि वह भगवान्का ध्यान करते-करते तन्मय हो गया था, अतः सच है – मृत्युके बाद होनेवाली गति में भाव ही कारण है । शिशुपालके देहसे निकला हुआ जीव चैतन्य श्रीकृष्णमें प्रविष्ट हो गया, जैसे घड़ा फूट जाने पर घटाकाश, महाकाशरूप हो जाता है वैसे ही देहरूप उपाधिका परित्याग कर वह स्वस्वरूप अनन्त सुखपूर्ण भगवान्में प्रविष्ट हो गया । क्योंकि उसे द्वेष-आविष्ट बुद्धिसे अहर्निश श्रीकृष्णका चिन्तन करते-करते तन्मयता प्राप्त हो गई थी । क्योंकि – अनुचिन्तन ही भव यानी ध्येयाकार शुभाशुभ जन्मका कारण है, जैसे कीट आदि भ्रमरका ध्यान करते-करते तत्स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है ।

एवं–'अहो वकी यं स्तनकालकूटं, जिघांसयाऽपाययदप्यसाध्वी । लेभे गतिं धात्र्यचितां ततोऽन्यं, कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥' (भा० ३ । २ । २३)

इति । संप्रति तस्य कृपालुता भक्तेषु सेवापरायणेष्वेवास्तीति न मन्तव्यमपितु – अपकारिष्वपि तस्य तां दर्शयन् – तस्या अहैतुकत्वं सूचयन्नाह – अहो = आश्चर्यं – कृपालुताया अहैतुकत्वे, जिघांसया = श्रीकृष्णं शिशुं हन्तुमिच्छया, स्तनयोः = कुचयोः संभृतं कालकूटं = लिप्तं विषं गरलं, यं. अपाययत् = दुग्धेन सह गरलस्यापि पानमकारयत् । बकी = पूतना, असाध्वी = दुष्टा – शिशुहिंसापरायणाऽपि, धात्र्याः = यशोदायाः उचितां गतिं = मोक्षगतिं, लेभे = भक्तवेष – तदाभिमुख्य – तदङ्कधारण - स्पर्शादिमात्रेण यः सद्गतिं दत्तवानित्यर्थः । ततः = कृष्णात् - करुणार्णवात् अन्यं कं दयालुं = विषदेभ्योऽप्यमृतदमन्यमेतादृशासाधारणदयावन्तम्, शरणं व्रजेम = गच्छेम – शरणं गत्वा भजेम, अर्थात् श्रीकृष्णं विहाय नास्ति - कश्चनैतादृशदयावान् । श्रीकृष्ण एवास्ति-अहैतुकदयाशीलः, अतः स एव शरणीकृत्य भक्त्या भजनीय इति भावः ।

एवं और भी कहा है — 'पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगा कर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नीयतसे उन्हें दूध पिलाया था; उसको भी भगवान्ने वह परम गति दी, जो धाय - यशोदादिको मिलनी चाहिये थी । अतः उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन ऐसा दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें । अब उस भगवान्की कृपा, केवल सेवा परायण भक्तोंमें ही होती है ऐसी बात नहीं, किन्तु अपकारीजनों पर भी होती है, उसकी कृपाको दिखाते हुए, तथा कृपामें अहैतुकीत्व को सूचन करनेके लिये कहा 'अहो यानी आश्चर्य, कृपालुतामें अहेतुकत्व दिखाते हैं, शिशुरूप श्रीकृष्णको मारनेकी इच्छासे कुचोंमें दूधके साथ लिप्त विषका जिसने पान कराया था, ऐसी शिशु-हिंसा-परायणा दुष्टा पूतनाने भी श्रीयशोदाजीके योग्य मोक्ष-गति छद्मवेष में उनकी ओर अभिमुख हो उन्हें गोदमें धारण एवं स्पर्श आदि मात्रसे प्राप्त कर ली । इस करुणासागर श्रीकृष्णसे अन्य ऐसा कौन दयालु हो सकता है जो विष देनेवालेको भी अमृत प्रदान करे, ऐसे असाधारण दयावान् श्रीकृष्णको छोड़ कर अन्य किसकी शरणमें जाकर उसका हम भजन करें, अर्थात् इस प्रकारका दयावान् और कोई नहीं है, श्रीकृष्ण ही अहैतुक दयाशील हैं, अतः इनकी ही शरण ग्रहणकर श्रद्धा भक्तिसे उनका ही भजन करना चाहिए, ऐसा भाव है ।

वस्तुतस्ते दुष्टा असुरा अपि भागवता एव मन्तव्यास्तदसाधारणलक्षणयोगेन । यतः- 'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ।' (भा० ७ । १ । ३१) इति न्यायेन तैः स्वचित्तं भगवति श्रीकृष्णे द्वेषक्रोधाद्यावेशमार्गेणाभिनिविष्टं कृतम् । अत एव तेऽजस्रं भगवद्ध्यानाभिनिवेशेन सर्वत्रान्तर्बहिर्भगवन्तमेवापश्यन् । 'चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यन् तन्मयं जगत् ।' (भा० १० । २ । २४) इत्युक्तत्वात् ।

वस्तुतः वे दुष्ट असुर लोग भी उस असाधारण भक्तिलक्षण योग द्वारा भगवान्‌के भक्त ही हो गये हैं ऐसा मानना चाहिए । क्योंकि – 'चाहे जैसे भी हो अर्थात् येन केन प्रकारसे अपना मन भगवान् श्रीकृष्णमें तन्मय कर देना चाहिये, इस न्यायसे उन असुर लोगोंने भी द्वेष - क्रोध आदिके आवेशमें आकर भी अपने चित्त को भगवान् श्रीकृष्णमें अभिनिविष्ट यानी तन्मय किया था । अतः वे लोग निरन्तर भगवान् के ध्यानसे अभिनिविष्ट होकर सर्वत्र बाहर-भीतर भगवान् को ही देखते थे । 'वह कंस सर्वदा ही श्रीकृष्णके चिन्तनमें लगा रहता, जहां उसकी आंख पड़ती वहां उसे श्रीकृष्ण ही दीख जाते । इस प्रकार उसे सारा जगत् ही श्रीकृष्णमय दीखने लगा । ऐसा कहा गया है ।

एवं श्रीमद्भागवते षष्ठे–दुष्टस्य मनुजाधमस्याजामिलस्योपरि भगवन्नामानुग्रहोऽभिवर्णितः । नामनामिनोरभेदात् तदनुग्रहोऽपि भगवदनुग्रह एव मन्तव्यः । तदुक्तं – 'नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः । पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः ॥ इति । अजामिलेन दुराचारिणा श्रद्धया भगवन्नाम कदापि न ग्रहीतम् । अन्तकाले तेन पापीयसाऽवशेन 'नारायणे' ति पुत्रनाममिषेण भगवन्नामोच्चरितम् । एतावतैव तस्योद्धाराय भगवता महान् अनुग्रहः प्रदर्शितः । म्रियमाणस्य तस्य यमदूतपाशबन्धनं विनष्टम्, दिव्यानां भगवत्पार्षदानां मनोहरं दर्शनञ्च सम्पन्नम् । शरीरान्तकराश्च व्याधयो विनष्टाः । यदाह – भगवन्नामानुग्रहमाहात्म्यम् – 'हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ।' (भा० ६ । २ । १५) 'वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ।' (भा० ६ । २ । १४) 'यथाऽगदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया । अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः ॥' (भा० ६ । २ । १९) इति । अवशेन = वेदनादिवशेनापि यः पुमान् हरिरित्याह – स यातनां = यमरोगादिपीडां नार्हति, पुमानित्यनेन नात्र वर्णाश्रमादिनियमः, किन्तु भगवन्नामग्रहणे मनुष्यमात्राधिकारीति सूचितम् । वैकुण्ठस्य भगवतो नाम्नां ग्रहणं = उच्चारणं, अशेषाणि = समूलानि - अघानि = पापानि हरतीति तथा विदुः = शास्त्ररहस्यज्ञाः जानन्तीत्यर्थः । अगदं = औषधं, वीर्यवत्तममिति वक्तव्ये वीर्यतममित्युक्तम् यदृच्छया = श्रद्धादिहीनमुपयुक्तं = भक्षितं, तदभिज्ञमुखादजानतोऽपि स्वगुणमारोग्यं कुर्यादेव । मन्त्रोऽपि भगवन्नामात्मकः उदाहृतः = उच्चरितः, तथा स्वकार्यं पापहरणादिलक्षणं कुर्यादेव । न हि वस्तुशक्तिः श्रद्धादिकमपेक्षत इत्यर्थः ।

एवं श्रीमद्भागवतके षष्ठस्कन्धमें दुष्ट महापापी अजामिलके ऊपर भी भगवान् के पावन नामका अनुग्रह प्राप्त हुआ था, ऐसा वर्णन किया गया है । नाम और नामीका अभेद होनेसे भगवन्नामका अनुग्रह भी भगवान् का ही अनुग्रह है ऐसा

मानना चाहिये । इस विषयमें कहा है — श्रीकृष्णका वाचक नाम, चिन्तामणि सदृश मनोवांछा पूरक है तथा चैतन्य – आनन्द स्वरूप, पूर्ण, शुद्ध, नित्यमुक्त स्वयं श्रीकृष्ण है, क्योंकि – नाम नामीका संबन्ध अभिन्न माना गया है । दुराचारी अजामिलने श्रद्धासे भगवान्‌का नाम कभी भी नहीं लिया था । अन्तकालमें उस पापीने विवश होकर 'नारायण' ऐसा पुत्र नामके बहानेसे भगवान्‌का नाम उच्चारण किया । इतने मात्रसे उसके उद्धारके लिये भगवान्‌ने महान् अनुग्रह प्रदर्शित किया । म्रियमाण-उस अजामिलको यमदूतोंके पाश बन्धनसे मुक्त किया, दिव्य देहधारी भगवान्‌के पार्षदोंका मनोहर दर्शन हुआ । शरीरके अन्त करनेवाली सारी व्याधियां नष्ट हो गयीं । जैसाकि भगवन्नामानुग्रहके माहात्म्यमें कहा है — 'विवशतासे भी जो 'हरि - हरि' ऐसे भगावान्‌के नामका उच्चारण कर लेता है, वह यमयातनाका पात्र नहीं रह जाता' । 'किसी प्रकार भी यदि कोई भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करता है तो उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, 'जैसे कोई परम शक्तिशाली - औषधका उसका गुण न जान कर अनजानमें खा ले तो भी वह अवश्य ही खानेवालेको स्वस्थ बना देती है, वैसे ही अनजानमें उच्चारण किया गया – भगवान्‌का नाम अपना फल दे कर ही रहता है । वस्तुशक्ति श्रद्धाकी अपेक्षा नहीं करती ।

तदुक्तं – विष्णुधर्मेषु - 'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः । अनच्छायाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ।। इति । भयानकयमदूतमनोहरभगवत्पार्षददर्शनप्रभावेण तस्य महान् पश्चात्तापो जातः तस्य दुर्बुद्धि विनष्टा, सुबुद्धिश्च समायाता । तेन भगवन्नामानुग्रहमहत्त्वञ्चावगतम् । तदुक्तं – 'क्व चाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः । क्व च नारायणेत्येतद् भगवन्नाममंगलम् ।। सोऽहं तथा यतिष्यामि, यतचित्तेन्द्रियानिलः । यथा न भूय आत्मानमन्धे तमसि मज्जये ॥ विमुच्य तमिमं बन्धमविद्याकामकर्मजम् । सर्वभूतसुहृच्छान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ।। मोचये ग्रस्तमात्मानं योषिन्मय्याऽऽत्ममायया । विक्रीडितो ययैवाहं क्रीडामृग इवाधमः ।। ममाहमिति देहादौ हित्वा मिथ्यार्थधी मतिम् । धास्ये मनो भगवति शुद्धं तत्कीर्तनादिभिः ।।' (भा० । २ । ३४ - ३५ - ३६ - ३७ - ३८) इति ।

अतः विष्णु धर्म पुराणमें कहा है — 'दुष्टचित्तवाले मनुष्यके द्वारा भी स्मरण किये जानेपर भगवान् श्रीहरि पापोंको हर लेते हैं । अनजानमें या अनिच्छासे स्पर्श करने पर भी अग्नि जलाती ही है ।' भयानक यमदूतोंके दर्शनसे तथा मनोहर भगवत्पार्षदोंके दर्शनके प्रभावसे उस अजामिलको महान् पश्चात्ताप हुआ । उसकी दुर्बुद्धि नष्ट हो गयी और सदबुद्धि प्राप्त हुई । और उसने भगवान्‌के नामोंके अनुग्रहका महत्त्व भी जान लिया । और स्वयं कहने लगा – कहां तो म महाकपटी, पापी, निर्लज्ज और ब्रह्म तेजको नष्ट करनेवाला तथा कहां भगवान्‌का वह परम मङ्गलमय

'नारायण' नाम ! (सचमुच में तो कृतार्थ हो गया)। अब मैं अपने मन, इन्द्रिय और प्राणोंको वशमें करके ऐसा प्रयत्न करूंगा कि - फिर अपनेको घोर अन्धकार-मय नरकमें न डालूं । अज्ञानवश मैंने अपनेको शरीर समझकर उसके लिये बड़ी - बड़ी कामनाएं कीं और उनकी पूर्तिके लिये अनेकों कर्म किये। उन्हींका फल है यह बन्धन ? अब मैं इसे काट कर समस्त प्राणियोंका हित करुंगा, दुःखियों पर दया करुंगा, और पूरे संयमके साथ रहूंगा (भगवान् की मायाने स्त्रीका रूप धारण करके मुझ अधमको फांस लिया और क्रीड़ामृग बन्दरकी भांति मुझे बहुत नाच नचाया। अब मैं अपने - आपको उस मायासे मुक्त करुंगा। मैंने सत्य वस्तु परमा-त्माको पहचान लिया है; अतः अब मैं शरीर आदिमें 'मैं' तथा 'मेरे' का भाव छोड़कर भगवन्नामके कीर्तन आदिसे अपने मनको शुद्ध करुंगा और उसे भगवान् में लगाउंगा।

कितवः = वंचकः, पापः = पापीयान्, ब्रह्मघ्नः = विप्रत्वनाशक, निरपत्रपः = निर्लज्जः, इति लज्जारूपप्रतिबन्धकाभावात् पापाचारे संकोचाभावं सूचयति । कर्तव्यमधुना निश्चिनोति - सोऽहमिति । यताः = वशीकृताः चित्तेन्द्रियानिला येन तथा भूतः सन् । अनिलः = प्राणः । अन्धे तमसि = महा-मोहव्याप्ते संसारे, आत्मानं यथा न मज्जये, तथा यतिष्यामीत्यन्वयः । प्रय-त्नप्रकारमेवाह–विमुच्येति त्रिभिः । अविद्या = देहादावात्मबुद्धिः स्वरूपाज्ञानं च, ततः कामः = विषयभोगाभिलाषः, ततः कर्म = लौकिकालौकिकव्यापारः, ततो जातो यो गृहपुत्रकलत्रवित्तासक्त्यात्मको विविधो बन्धः । तमिमं विमुच्य त्यक्त्वा, शान्तः = विषयरागद्वेषादिशून्यः । सर्वभूतेषु सुहृत् = तत्सुख-दुःखादिसमदर्शी, करुणः = दयावान्, न केवलमेतावदपि तु मैत्रः = यथाशक्तिनिरपेक्षहितकारी, आत्मवान् = आत्मा = परमात्मैव योगक्षेम-निर्वाहकोऽस्यास्तीत्यात्मवान् । यद्वा परमात्मैव सर्वदा श्रद्धया चिन्तनीयो विद्यतेऽस्य स इत्यर्थः । आत्मनः = श्रीहरे मायया योषिन्मय्या मोहिन्या शक्त्या, ग्रस्तमात्मानं मोचये इति द्वयोरन्वयः । भगवच्छरणं विना तच्चिन्त-नञ्च विना ततो विमोक्षस्याशक्यत्वादिति सूचयंस्तस्याः प्राबल्यं दर्शयति विक्रीडित इति । क्रीडामृगः = वानर इवाधमोऽज्ञोऽहं यया स्त्रियैव विक्रीडित इत्यन्वयः मिथ्यार्थधीः-प्राक् धनपुत्रादिषु - अर्थधीः = परमार्थसत्यत्वबुद्धि मिथ्याभ्रान्तिरूपा यस्य सोऽहं, यद्वा अवग्रहाकारविच्छेदेन सम्प्रति - अमिथ्यार्थे = परमार्थसत्यरूपे भगवत्येव परमार्थसत्यत्वबुद्धिर्यस्य सोऽहम् । देहादौ ममाहमिति मतिं हित्वा = त्यक्त्वा, तस्य भगवतो नामकीर्तनादिभिः शुद्धं मनो तस्मिन् भगवति धास्ये = धारयिष्यामीत्यन्वयः ।

भावार्थ – वंचना करनेवाला, पापी, विप्रत्वका नाश करनेवाला, निरपत्रपः

यानी निर्लज्ज, इस कथनसे पापाचारके प्रति लज्जा प्रतिबन्धक है, अतः निर्लज्ज होनेके कारण पाप कर्ममें संकोच नहीं होता है, यह सूचित किया। अविद्या, काम, कर्म, इन तीनोंको दिखाते हैं — अविद्या = देहादिमें आत्मबुद्धि और स्वरूपका अज्ञान, इसके बाद काम = विषय भोगोंकी अभिलाषा, इसके बाद कर्म = लौकिक वैदिक व्यापार, इसके बाद पुत्र - कलत्र एवं वित्तमें आसक्ति — रूप विविध प्रकारका बन्धन प्राप्त होता है। आत्मा - परमात्मा ही योग क्षेमका निर्वाहक है, ऐसा विश्वास रखनेवाला वह आत्मवान् है। अथवा जिसे परमात्मा ही सर्वदा श्रद्धा द्वारा चिंतनीय है वह आत्मवान् है। भगवान्‌की शरणागति विना एवं उसके चिंतनके विना, मायिक बन्धनसे छूटना असंभव है, यह सूचित करते हुए उसकी प्रबलता दिखानेके लिये कहा है — विक्रीड़ित ऐसा पद क्रीड़ा मृग यानी वानरके समान अधम कामी अज्ञानी मैं हूं, अतः मैं स्त्रीके साथ ही क्रीड़ा करता रहा, ऐसा अन्वय समझना। मिथ्यार्थधीः — धन पुत्रादियोंमें परमार्थ सत्यत्व बुद्धि जो मिथ्या भ्रान्तिरूपा है ऐसी मुझे प्रथम प्राप्त थी। अथवा इस समय अमिथ्यार्थरूप परमार्थ सत्य भगवान्‌में परमसत्यत्व बुद्धि मुझे प्राप्त हुई है। अतः मैं देह आदिमें अहंता, ममतावाली बुद्धिको छोड़ कर भगवान्‌के नाम संकीर्तन आदियोंके द्वारा शुद्ध हुए मनको उस भगवान्‌में लगाऊंगा।

श्रीशुक उवाच। इति जातसुनिर्वेदः क्षणसंगेन साधुषु। गंगाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः॥ स तस्मिन् देवसदन, आसीनो योगमाश्रितः। प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो युयोज मन आत्मनि॥ ततो गुणेभ्य आत्मानं वियुज्याऽऽत्मसमाधिना। युयुजे भगवद्धाम्नि ब्रह्मण्यनुभवात्मनि॥' (भा० ६।२।३९ - ४० - ४१) इत्येवं नामानुग्रहेण दृष्टेषु साधुषु = भगवत्पार्षदेषु यः क्षणमात्रसंगः, तेन जातसुनिर्वेदः = उत्पन्नवैराग्यः, अत एव मुक्तं = परित्यक्तं सर्वमनुबन्धनं = देहपुत्रस्त्रीधनादिस्नेहलक्षणं येन सः, गंगाद्वारं = हरिद्वारं, उपेयाय = जगामेत्यन्वयः। तत्र गत्वाऽष्टांगयोगं कृतवानित्याह — स इति आसीन इति यथोक्तासनकल्पनं सूचितम्। तस्मिन देवसदने = देवानां निवासभूते हरिद्वार इत्यर्थः। योगमाश्रित इति स्नानादिनियमाः, अहिंसादयो यमाः, पूरकादयः प्राणायामाश्चोक्ताः, प्रत्याहृतो विषयभ्य इन्द्रियग्रामो येन स इति प्रत्याहारः उक्तः। आत्मनि भगवति मनो युयोजेति धारणोक्ता। ध्यानं समाधिश्चाह — तत इति। गुणेभ्यः = सत्त्वादिभ्यः, तत्कार्यभूतशरीरत्रयेभ्यश्च आत्मानं = स्वस्वरूपं वियुज्य = विशुद्धब्रह्मध्यानप्रभावात् वियुक्तीकृत्य, आत्मसमाधिना - ब्रह्मणि = अद्वये सुखार्णवे, अनुभवात्मनि = ज्ञानस्वरूपे, भगवद्धाम्नि = भगवत्स्वरूपे युयुजे = आत्मानमभेदेन संयोजितवानित्यर्थः।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं — हे परीक्षित्! उन भगवान्‌के पार्षद महात्माओंका

केवल थोड़ी ही देरके लिये उसको सङ्ग प्राप्त हुआ था। इतनेसे ही अजामिलके चित्तमें संसारके प्रति तीव्र वैराग्य हो गया। वे सबसे सम्बन्ध और मोहको छोड़ कर हरद्वार चले गये। वहां जाकर वे भगवान्के मन्दिरमें आसन लगाकर बैठ गये। और उन्होंने योगमार्गका आश्रय लेकर अपनी सारी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा कर, मनमें लीनकर लिया और मनको बुद्धिमें मिला दिया। इसके बाद आत्मचिन्तन द्वारा उन्होंने बुद्धिको विषयोंसे पृथक् कर लिया तथा भगवान्के धाम अनुभवरूप शुद्ध परब्रह्ममें जोड़ दिया। देवसदन यानी देवोंके निवासभूत हरिद्वारमें, ऐसा अर्थ समझना। आसीन इस पदसे आसन सूचित किया। योगमाश्रित - इसके द्वारा स्नान आदि नियम, अहिंसा आदि यम, पूरक आदि प्राणायाम भी कहे गये। विषयोंसे इन्द्रियोंको लौटाना प्रत्याहार है, यह प्रत्याहृत शब्दसे कहा। आत्मरूप भगवान्में मनको लगाया, इससे धारणा बताई। ध्यान और समाधि कहते हैं — सत्त्वादि गुणोंके कार्यभूत त्रिविधशरीरोंसे स्वरूपभूत आत्माको, वियुज्य यानी विशुद्ध ब्रह्मके ध्यानके प्रभावसे पृथक् करके आत्मसमाधिके द्वारा, अद्वितीय - सुखसागर - ज्ञानस्वरूप, भगवत्स्वरूपब्रह्ममें = आत्माको अभेदरूपसे संयोजित किया।

समाधिलक्षणान्याहोपनिषत्सु – 'निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः। वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिरभिधीयते ॥ (तेजोबिन्दूपनिषत्- १।३७) 'उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसगर्भिणी। आनन्दस्यन्दिनी येषा समाधिरभिधीयते ॥ दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे ! रति र्बलोदिता याऽसौ समाधिरभिधीयते ॥' (महोपनिषत् - ४। ६१ - ६२) अहमेव परं ब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः। समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः। ब्रह्म संपद्यते योगी न पुनः संसृतिं व्रजेत् ॥' (त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषत् - १६१) सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः। इति धी र्या मुनिश्रेष्ठ ! सा समाधिरिहोच्यते ॥' (जाबालदर्शनोपनिषत् - १० - ५) 'समाहिता नित्यतृप्ता यथाभूतार्थदर्शिनी। ब्रह्मन् ! समाधिशब्देन परा प्रज्ञोच्यते बुधैः॥ (अन्नपूर्णोपनिषत् - १। ४८) इति।

उपनिषदोंमें प्रतिपादित समाधिके लक्षणोंको कहते हैं — निर्विकार अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा निखिल अन्य वृत्तियोंका विस्मरण होजाना ही उत्तम समाधि कही जाती है। 'परिच्छिन्न भावको छोड़ कर व्यापक ब्रह्मभावका उदय रूप— उदारता एवं सर्वत्र अवलोक्यमानब्रह्म सौन्दर्य तथा वैराग्य रस जिसमें अन्तर्निहित है ऐसी स्वरूपानन्दके प्रवाहकी दशा समाधि कही जाती है।' दृश्य प्रपंच कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं, ऐसे बोध द्वारा रागद्वेषादिका सर्वथा नाश होने पर साधनाभ्यासरूपबलसे उदित स्वात्मारूप ब्रह्ममें स्वाभाविकी जो रति है, उसे समाधि कहते हैं।' मैं ही परं ब्रह्म हूं ब्रह्म ही मैं हूं ऐसा दृढ़निश्चय, जो अनात्म - वृत्तियोंसे रहित है,

उसे समाधि जानो। एतादृश ज्ञानयोगी ब्रह्मको प्राप्त होता है। पुनः जन्म मरण रूप संसारमें नहीं आता। सदा साक्षिस्वरूप होनेके कारण केवल कल्याणस्वरूप मैं शिव हूं, इस प्रकारकी जो बुद्धि है वही हे मुनिश्रेष्ठ! वेदान्त शास्त्रोंमें समाधि कही जाती है।' हे ब्रह्मन्! सम = ब्रह्ममें स्थित नित्यतृप्त वास्तविक - सिद्धार्थ — दर्शिनी परा प्रज्ञा है उसे ही पण्डितोंने समाधि शब्दसे कहा है।

एतेन - नामोच्चरणमात्रेणैव तस्याजामिलस्य वैराग्यभक्तिज्ञानध्यानादिसाधनमन्तरेण मोक्षः संवृत्त इति निरस्तम्। पूर्वोक्तसंदर्भविरोधात्। नामोच्चारणप्रभावात् तस्य यमयातना निवृत्ता, भगवत्पार्षददर्शनं जातम्। ताभ्यां क्रमशस्तस्य पश्चात्तापवैराग्यादिसाधनानि लब्धानि, तेभ्यो मोक्ष इति भागवतप्रतिपादितो निरवद्यः पन्था। एवं भगवदनुग्रहो निरूपितः।

इस पूर्वोक्त कथनसे — उस अजामिलको वैराग्य — भक्ति — ज्ञान ध्यान आदि साधनोंके विना केवल नाम उच्चारणमात्रसे ही मोक्ष प्राप्त हुआ था ऐसे मतका खण्डन हो गया। क्यों कि - पूर्वोक्त संदर्भका विरोध होनेसे। तात्पर्य यह है कि — नाम उच्चारणके प्रभावसे उसकी यम यातना निवृत्त हुई, भगवान्के पार्षदोंका दर्शन हुआ। इन दोनोंके द्वारा क्रमशः उसे बादमें पश्चात्ताप — वैराग्य आदि साधन प्राप्त हुए, उन साधनों द्वारा मोक्ष प्राप्त हुआ। यही भागवत प्रतिपादित निर्दोष-सिद्धान्त मार्ग है। इस प्रकार भागवान्के विमल - अनुग्रहका निरूपण हुआ।

(४) ऊतयः

ऊतयः कर्मवासनाः।' (भा०२।१०।४) इति कर्मणां वासनाः, वेञ् तन्तुसन्ताने, ऊयन्ते कर्मभिः सन्तन्यन्ते इत्यूतयः। यद्वा वृद्ध्यर्थात् संश्लेषार्थाद्वा वयते र्धातोरिदं रूपम्। ऊयन्ते कर्मभि र्वृह्यन्ते संश्लिष्यन्ते इति वा ऊतयः। विविधकर्मजन्यविषयभोगवासना इत्यर्थः। फलेच्छा साधनेच्छां जनयतीति न्यायेन फलभूतभोगवासनैवासक्तान् कर्मठान् दुःखमयेष्वपि कर्मसाधनेषु वासनामुत्पाद्य प्रवर्तयति। अत एव भगवतो विमलानुग्रहस्य साम्राज्यं सर्वत्राप्रतिहततया वर्तमानमनादृत्य विविधभोगवासना बद्धा भगवद्विमुखा जीवाः कर्मजालेषु प्रवर्तमाना भवन्ति।

(५) ऊतियां

जीवोंकी वे वासनाएं, जो कर्मोंके द्वारा उन्हें बन्धनमें डाल देती हैं, ऊति नामसे कही जाती हैं। वेञ् 'तन्तुसन्ताने' इस धातुसे ऊतिशब्द निष्पन्न हुआ है जिसका शब्दार्थ होता है — जो कर्मोंको वासना रूप तन्तुओंसे बांध दे। अथवा वृद्धि अर्थक या संश्लेषार्थक वेञ् धातुका यह रूप है। जो कर्मोंके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हो एवं

अच्छी प्रकारसे चिपट जाता हो उसे ऊति कहते हैं । विविध कर्मोंसे जन्य विविध-विषयोंकी भोगवासाना ही ऊति है, यह भावार्थ हुआ । फलकी इच्छा, साधनकी इच्छाको उत्पन्न करती है, इस न्याय द्वारा फलभूत भोगवासना ही-आसक्त-कर्मठोंको दुःखप्रद कर्म-साधनोंमें वासना उत्पन्न कराकर प्रवृत करतीहै । अत एव भगवान् के विमल अनुग्रहके सर्वत्र सुलभ रूपसे प्रवर्तमान साम्राज्यका अनादर कर विविध भोग-वासनाओंमें बद्ध हुए एवं भगवान् से विमुख होकर, ये जीव कर्म-जालोंमें प्रवृत्त होते रहते हैं ।

यथोक्तां वासनामभिप्रेत्य बृहदारण्यके श्रूयते – स यथाकामो भवति, तत्क्रतु र्भवति, यत्क्रतुभवति, तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते (बृ०उ० ४ । ४ । ५) इति । कामो ह्यनादिसंस्कार एव, वासनाऽपरनामा कार्य-तर्क्यः पूर्वप्रज्ञाभिधः । काम्येऽर्थे रुचेरतिशयः क्रतुः । इति वासनाद्वैविध्यं प्रदर्शितं - योगवासिष्ठे वाल्मीकिना–'वासना द्विविधा प्रोक्ता' शुद्धा च मलिना तथा । मलिना जन्महेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी ॥ अज्ञानसुघनाकारा घनाहंकारशालिनी । जन्ममृत्युकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः ॥' इति । देहादीनां पञ्चकोशानां तत्साक्षिणश्चिदात्मनश्च भेदावरकमज्ञानं तेन सुष्ठु घनी-भूत आकारो यस्याः सेयमज्ञानसुघनाकारा । यथा क्षीरं तक्रमेलनेन घनीभूतं भवति, यथा वा विलीनं घृतं शीतलप्रदेशे चिरमवस्थापितं सुघनीभवति, तथा वासना द्रष्टव्या । घनीभावश्चात्र भ्रान्तिपरम्परा । तां चाऽऽसुरसंपद्विवरणे - 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चेत्यादिना भगवानाह गीतासु । मलिना च वासना त्रिधा, लोकवासना, शास्त्रवासना देहवासना चेति ।

पूर्वोक्त वासनाको अभिप्रायमें रखकर बृहदारण्यकमें ऐसा सुना गया है, वह जिस प्रकारकी कामना वाला होता है, उसके अनुरूप वैसा ही संकल्प करता है, जैसा संकल्प करता है तदनुरूप वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है, उसके अनुरूप फलको प्राप्त करता है ।' यहां कामका अर्थ अनादि संस्कार है, इसका दूसरा नाम वासना है, वह कार्य द्वारा कल्पमान हुई पूर्वके जन्मजन्मान्तरोंकी प्रज्ञाके नामसे भी कही जाती है । काम्य अर्थमें अतिशय रुचिका नाम क्रतु है । श्रीवाल्मीकिजीने योग-वासिष्ठमें वासनाका दो प्रकारसे प्रदर्शन किया है — 'शुद्धा और मलिना भेदसे, वासना दो प्रकार की कही गई है । मलिन वासना जन्म आदि बन्धका कारण है और शुद्ध वासना जन्म आदिका विनाश कर देती है । 'अज्ञानद्वारा दृढीभूता दृढ अहंकार स्वरूपिणी एवं जन्ममृत्यु प्रदायिनी मलिन वासना है, ऐसा विद्वानोंने कहा है । देहादि के, पञ्चकोशोंके तथा साक्षी चिदात्माके भेदका आच्छादन करनेवाले अज्ञानके द्वारा जिसका आकार घनीभूत हो गया है, ऐसी वह वासना 'अज्ञानसुघनाकार' कही जाती है । जैसे दूधमें तक्र (छांछ) मिलाने पर दहीरूपसे वह घनीभूत होता है

अथवा जैसे पिघला हुआ घृत ठण्डे देशमें कुछ देर रखने पर घनीभूत हो जाता है, वैसे ही वासनाओंको घनीभूत समझना चाहिए। उनका घनीभाव यानी भ्रान्तियोंकी परम्परा। इसी वासनाको आसुरसम्पद्के निरूपणमें 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च' इत्यादिके द्वारा गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है। पुनः वह मलिन वासना तीन प्रकार की है — लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना।

तदुक्तं - लोकवासनया जन्तोः, शास्त्रवासनयाऽपि च। देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥' इति। सर्वे जना यथा मां न निन्दन्तु, यथा वा स्तुवन्तु, तथैव सर्वथाऽऽचरिष्यामीत्यभिनिवेशो लोकवासना। तस्याः संपादयितुमशक्यत्वान्मलिनत्वम्। तथाहि - 'को न्वस्मिन्सांप्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।' (वा० रा०) इत्यादिना बहुधा वाल्मीकिः प्रपच्छ। इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनः श्रुतः।' (वा० रा०) इत्यादिना प्रत्युत्तरं नारदो ददौ। तादृशस्यापि भगवतो रामस्य पतिव्रताशिरोमणिभूताया जगन्मातुः सीतायाश्च श्रोतुमशक्यो जनापवादः संप्रवृत्तः किमु वक्तव्यमन्येषाम्। एवं दोषैकदर्शननिपुणा दुष्टा निन्दका जनाः महतोऽपि जनान् तेषु दोषान् प्रदर्श्य विनिन्दन्त्येव। तथाहि– 'ख्यातः शक्रो भगांको, विधुरपि मलिनो, माधवो गोपजातो- वेश्यापुत्रो वसिष्ठो, रतिपतिरतनुः, सर्वभक्षी हुताशः। व्यासो मत्स्योदरीयो, लवणजलनिधिः, पाण्डवा जारजाताः, रुद्रः प्रेतास्थिधारी त्रिभुवनविषये कस्य दोषो न चास्ति ॥' इति। अत एव ते वितथवाङ्मयपांसुवर्षैः परेषां कीर्तिनदीः आविलीकुर्वन्त्येव तेषामीदृशः स्वभाव एव।

जैसा कि कहा है — 'लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासनाके द्वारा मानवोंको यथार्थ ब्रह्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता।' सभी लोग मेरी निन्दा न करें, किन्तु स्तुति ही करें, अतः मैं सर्व प्रकारसे ऐसा ही आचरण करूंगा, इस अभिनिवेशका नाम ही लोकवासना है। उसका सम्पादन करना अशक्य है, अतः इसे मलिन कहा है और इस लोकमें इस समय कौन गुणवान् और कौन वीर्यवान् (बलवान) है ? इत्यादि बहुत प्रकारसे वाल्मीकिजीने नारदजीसे पूछा। 'वैसे लोकमें प्रसिद्ध इक्ष्वाकुकुलमें समुत्पन्न श्रीराम हैं' इत्यादिके द्वारा नारदजीने उत्तर दिया। इस प्रकारके भगवान् श्रीरामका तथा पतिव्रता - शिरोमणि जगन्माता जानकीका सुननेके अयोग्य जनापवाद यानी लोक-निन्दा प्रवृत्त हुई। जब सीता और रामकी निन्दा हुई, तब अन्योंका तो कहना ही क्या ? इसप्रकार दोषदर्शनमें निपुणनिन्दक दुष्टजन महान् पुरुषोंमें भी दोषोंका उद्घाटन कर निन्दा करते ही हैं। जैसे कहा है—इन्द्र, गोतमके शापसे सहस्र भगवाला बना, यह प्रसिद्ध है, चन्द्रमा शशलांछनसे मलिन हुआ, माधव श्रीकृष्ण गोप (ग्वाला) से उत्पन्न हुआ। वसिष्ठ मुनि वेश्यापुत्र हुआ, कामदेव बिना शरीरका हुआ, अग्नि सर्वभक्षी बना, व्यासजी मल्लाहकी बेटी मत्स्यगन्धाके पुत्र हुए,

समुद्र खारा हुआ, पाण्डव लोग जारपुत्र बने, शिव मुण्ड-मालाधारी हुआ, त्रिभुवनमें कौन ऐसा है जिसमें कोई दोष न हो । अत एव वे दुष्ट लोग, मिथ्या बकवादमयी धूलिकी वर्षा से दूसरे की स्वच्छ कीर्तिरूपी नदी को मलीन बनाते रहते हैं, क्योंकि उनका इस प्रकारका स्वभाव ही होता है ।

एवं देशविशेषेण परस्परनिन्दाबाहुल्यमुपलभ्यते । दाक्षिणात्यै र्विप्रैरुत्तरीया वेदविदो विप्रा मांसभक्षितया निन्द्यन्ते, उत्तरीयैश्च मातुलसुतोद्वाहितया यात्रासु मृद्भाण्डवाहितया च दाक्षिणात्या निन्द्यन्ते । बह्वृचा आश्वलायनशाखीयाः काण्वशाखामप्रशस्तां मन्यन्ते । वाजसनेयिनस्तु कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयशाखामप्रशस्तां, एवं वैपरीत्येन तैत्तिरीयशाखिनः स्वशाखाप्रशंसां परशाखानिन्दां कुर्वन्त्येव । एवं स्वस्वकुलगोत्रबन्धुवर्गेष्टदेवतादिप्रशंसा परकीयनिन्दा च, आविद्वदङ्गनागोपालं सर्वत्र प्रसिद्धा । एतदेवाभिप्रेत्योक्तम्–'शुचिः पिशाचो, विचलो विचक्षणः, क्षमोऽप्यशक्तो, बलवांश्च दुष्टः, निश्चिन्तचौरः, सुभगोऽपि कामी, को लोकमाराधयितुं समर्थः ।। इति । विद्यते न खलु कश्चिदुपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः । सर्वथा स्वहितमाचरणीयं कि करिष्यति जनो बहुजल्पः ।।' इति च । अतो लोकवासनाया मलिनत्वमभिप्रेत्य भगवता तुल्यनिन्दास्तुतित्वं गीतासु वर्णितम् ।

एवं देश-विशेषके द्वारा भी परस्पर निन्दा बहुत ही हुआ करती है । जैसे दाक्षिणात्य ब्राह्मण लोग, उत्तरभारतके वेद-वेत्ता ब्राह्मणों को 'ये मांसभक्षी हैं' इस कथन द्वारा निन्दा किया करते हैं । एवं उत्तरभारतके ब्राह्मण लोग दाक्षिणात्योंकी 'ये मामाकी कन्यासे विवाह करते हैं और यात्रामें मृत्पात्र वहन करते हैं', इस प्रकार के कथन द्वारा निन्दा किया करते हैं । ऋग्वेदीय आश्वलायन शाखावाले काण्व शाखाको अप्रशस्त-निकृष्ट मानते हैं । एवं वाजसनेयी–शाखावाले कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाको अप्रशस्त मानते हैं, एवं विपरीतरूप से तैत्तिरीय शाखावाले अपनी शाखाकी प्रशंसा और अन्य शाखाकी निन्दा करते रहते हैं । इस प्रकार अपने-अपने कुलकी, गोत्रकी, बन्धु-वर्गकी, इष्ट-देवता आदिकी प्रशंसा और अन्योंके कुल गोत्रादिकोंकी निन्दा करते हैं, इस प्रकारकी निन्दा आदि विद्वान् से लेकर, गडरियों तक सर्वत्र प्रसिद्ध है । इस अभिप्रायको ध्यानमें रख कर कहा है — पवित्र आचारवालेको पिशाच, प्रतिभाशालीको चंचल, क्षमाशीलको दुर्बल-असमर्थ, बलवान्को दुष्ट, निश्चिन्तको चोर तथा रूपवान्को कामी कहते हैं । अतः सम्पूर्ण लोगोंको प्रसन्न करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है अर्थात् कोई भी नहीं हो सकता । इस लिए सर्व लोगोंको सन्तुष्ट करनेका कोई उपाय ही नहीं है । अतः सर्वथा स्वहितका ही आचरण करना चाहिये, बहुत व्यर्थकी बातें करनेवाले लोग क्या करेंगे ? इस लिए लोकवासनाकी मलिनताको अभिप्राय में रख कर गीतामें भगवान् ने 'निन्दा एवं

स्तुतिमें समभाव रहनेका उपदेश दिया है ।

शास्त्रवासना च त्रिविधा – पाठव्यसनं, बहुशास्त्रव्यसनमनुष्ठानव्यसनं चेति । अनेकजन्मस्वपि – असंख्यशास्त्रपाठस्याशक्यत्वात्, बहुशास्त्राध्ययन-व्यसनस्यापि – 'दुर्वासा मुनि र्बहुविधशास्त्रपुस्तकभारैः सह महादेवं नमस्कर्तु-मागतस्तत्सभायां मुनिना नारदेन भारवाहि-गर्दभसाम्यमापादितः कोपात्पुस्त-कानि लवणार्णवे परित्यज्य महादेवेनाऽऽत्मविद्यायां प्रवर्तितः ॥' इति गाथया निन्दितत्वात्, तत्तत्फलेच्छापूर्वकतत्तत्कर्मानुष्ठानवासनायाश्च पुनर्जन्महेतु-त्वाच्च मलिनत्वम् । आत्मविद्या च सकामस्यानन्तमुखस्य गुरुकारुण्यरहितस्य न वेदादिशास्त्राध्ययनप्रवचनमात्रेणोत्पद्यते । तथा च श्रुतिः - 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बुहुना श्रुतेन ।' (कठोपनिषत् - १ । २ । २३) अन्यत्राप्युक्तम् - बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम् । अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्त्वज्ञै ज्योतिरान्तरम् ॥' इति । अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः । ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा ॥ इति । बहुशास्त्राणां कथैव तत्सदृशी कन्था = जीर्णवस्त्रशतखण्डमयी, तस्याः रोमन्थेन = पुनः पुनश्चर्वणेनेत्यर्थः । 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा' (मु १ । २ । ७) इति श्रुत्याऽपि सकामकर्मा-नुष्ठानस्य निन्दितत्वमवगम्यते ।

एवं शास्त्रवासना भी तीन प्रकारकी है — पाठ-व्यसनकी, बहुशास्त्र-व्यसनकी और अनुष्ठान-व्यसनकी । अनेक जन्मोंमें भी अनन्तशास्त्रोंका पढ़ना अशक्य है, बहुशास्त्रोंके अध्ययनका व्यसनी-दुर्वासा मुनि जब बहुविध शास्त्र-पुस्तकोंके भारोंके साथ भगवान् महादेवको नमस्कार करनेके लिए गए थे, तो उस सभामें आये हुए नारद मुनिने दुर्वासाजीको भारवाही गर्दभकी उपमा दी, तो उससे कुपित हो कर दुर्वासाजी पुस्तकोंको खारे समुद्रमें छोड़ आये, पुनः महादेवजीने उनको आत्म-विद्यामें प्रवृत्त किया । इस गाथा द्वारा बहुशास्त्राध्ययन-व्यसनकी निन्दाकी गई है, एवं उस-उस फलकी इच्छासे उन-उन कर्मोंके अनुष्ठानकी वासना पुनर्जन्मका हेतु होनेसे मलिन है । सकामी, बहिर्मुख एवं गुरुकृपापात्ररहित-पुरुषको, केवल वेदशास्त्रादियोंके अध्ययन एवं प्रवचन मात्रसे आत्मविद्या प्राप्त नहीं होती । वैसे ही श्रुति भी कहती है — 'यह आत्मा प्रवचनके द्वारा मेधा एवं बहुत शास्त्रोंके सुनने या पढ़नेसे प्राप्त नहीं होती । अन्यत्र भी कहा है — अनन्त शास्त्रोंकी कथारूपी कन्थाके वृथा चबानेसे क्या होगा ? तत्त्वज्ञोंको चाहिए कि वे प्रयत्न द्वारा अन्तःस्थित ज्योतिस्वरूप आत्माका अन्वेषण करें । सम्पूर्ण चारों वेदोंको तथा अनेक बार धर्मशास्त्रोंको पढ़ भी लिया, किन्तु ब्रह्मतत्त्वका अनुभव नहीं हुआ तो ऐसा समझो, जैसे कडछी विविध पाकरसोंमें रहती हुई भी उसके स्वादको नहीं जानती । ये सब यज्ञरूपी नौकायें अदृढ़ यानी विनाशशालिनी हैं" इस श्रुति द्वारा भी सकाम कर्मोंके अनुष्ठानकी निन्दा जानी

जाती है ।

देहवासनाया अपि निःशेषदुःखहेतुत्वान्मलिनत्वं बोध्यम् । तदुक्तं वासिष्ठे – 'आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः । इत्येकनिश्चयो राम ! बन्धायासद्विलोकनात् ।। सा कालसूत्रपदवी सा महावीचिवागुरा । साऽसिपत्रवनश्रेणी या देहेऽहमिति स्थितिः ।।' इति । एवं श्रीमद्भागवते दशमेऽपि–'यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः । यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित्, जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ।।' (भा० १० । ८४ । १३) इति । कालसूत्रमहावीचि – असिपत्रवनानि सन्ति नरकविशेषाः प्रसिद्धा गारुडादौ । वागुरा = मृगबन्धनी रज्जुः, स्थितिः = निश्चयो भावना वा । त्रयो धातवः = वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतयो यस्य तस्मिन् कुणपे = शवसदृशे निन्दनीयेऽदर्शनीये शरीरे, आत्मबुद्धिः = अहंभावः । स्वधीः = स्वीया मदीया इति बुद्धिः – मिथ्या भ्रान्तिः, भौमे = भूमिविकारे – पाषाणादावेव, इज्यधीः = देवताबुद्धिः- यजनीयत्वभ्रान्तिः, यस्य तीर्थमिति बुद्धिः सलिल एव, कर्हिचित् = कदाचित् - अभिज्ञेषु = तत्त्ववित्सु - जनेषु = महापुरुषेषु न तीर्थबुद्धिः । स एव मूढो जनः, गोखरः = यथा गवां तृणादिभारवाहः खरः = गर्दभः, तद्वदयमपि ।

देहवासना भी समस्त दुःखोंका हेतु होनेसे मलिन है, ऐसा समझना चाहिए । अतः योगवासिष्ठमें कहा है — 'पावसे लेकर मस्तक पर्यन्त माता-पितासे विनिर्मित, यह देह मैं हूं, ऐसा देहमें आत्माके तादात्म्यका निश्चय असद्विषयक होनेके कारण बन्धनका हेतु है । एवं देहमें अहं ऐसी बुद्धि ही काल-सूत्र-पदवी, महावीचिवगुरा तथा असिपत्रवनश्रेणीरूप इन नरक विशेषोंका हेतु है । अतः श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें कहा है कि 'जो मनुष्य वात, पित्त और कफ – इन तीन धातुओं से बने हुए शवतुल्य शरीरको ही आत्मा 'मैं' स्त्री-पुत्र आदिको ही अपना और मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि पार्थिव-विकारोंको ही इष्टदेव मानता है तथा जो केवल जलको ही तीर्थ समझता है, ज्ञानी महापुरुषोंको नहीं, वह मनुष्य होने पर भी पशुओंमें भी नीच गधा ही है ।'

एवं श्रीमद्भागवतेऽन्यत्र दशमेऽपि – 'मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभूष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया । कलेवरेऽस्मिन् घटकुड्यसन्निभे निरूढमानो नरदेव इत्यहम् ।।' (भा० १० । ५१ । ४८ । ४९) इति । मर्त्ये = मरणशीलेऽनात्मनि देहे, आत्मा इति बुद्धिः- भ्रान्तिरूपा विद्यते यस्य तस्य, दुरन्तया = दुःखेनापि निवारयितुमशक्यया चिन्तया = पोषणादिविषयया सुतदारकोशभूषु आसज्जमानस्य ममतया चासक्तस्य मम निखिलोऽपि समयो निष्फल एव गतः इति पूर्वेणान्वयः । दृश्यत्वानात्मत्वादिना घटः कुड्यं = भित्तिः,

तेन सन्निभे = सदृशेऽस्मिन् जडे कलेवरे देहे नरदेवः = राजाऽहमस्मीत्येवं निरूढाभिमानोऽहं जातः । इति मम निन्दनीयं मौढ्यमेवेति । अतो देहवासनाऽपि मलिनैव, ज्ञानभक्तिप्रतिष्ठाविरोधित्वाद्विवेकिभिर्हेयैव ।

एवं श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके अन्य स्थलमें भी कहा है — इस मरनेवाले शरीरको ही तो में आत्मा अपना स्वरूप, समझ रहा था और राजकुमार, रानी, खजाना तथा पृथ्वीके लोभ-मोहमें फंसा हुआ था । इन वस्तुओंकी चिन्ता दिन-रात मेरे गले लगी रहती थी । जो शरीर प्रत्यक्ष ही घड़े और भीतके समान मिट्टीका है और दृश्य होनेके कारण उन्हींके समान अपने आत्मासे पृथक् भी है, किन्तु हे नरदेव ! उसीको मैंने अपना स्वरूप मान लिया था और फिर अपनेको मान बैठा था । जिसे मर्त्य यानी मरणशील अनात्मा देहमें, आत्मा ऐसी बुद्धि-भ्रान्तिरूप है, वह मर्त्यात्मबुद्धि है । दुरन्ता यानी दुःखसे भी निवारण करने के लिए अशक्य, पोषण आदिकी चिन्तासे तथा पुत्र, कलत्र एवं खजाना आदियोंमें आसक्त होनेवाली मेरी ममतासे मेरा समग्र समय निष्फल हो गया । दृश्य-घट और भीत आदि जड़ पदार्थोंकी तरह अनात्मा इस जड़देह में 'मैं नरदेवः यानी मैं राजा हूं' ऐसा मेरा दृढ़ाभिमान हो गया है । यह मेरी निन्दनीय मूढ़ता ही है । अतः देह वासना भी मलिन ही है, ज्ञानभक्तिरूप प्रतिष्ठाका विरोधि होनेसे विवेकियों के लिए त्याज्य ही है ।

अत एवोपदिष्टं – वासिष्ठेऽपि – 'मानसी वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः । मैत्र्यादिवासनानाम्नी गृहाणामलवासनाः ॥' इति । अत्र मानसवासनाशब्देन पूर्वोक्तास्तिस्रो लोकशास्त्रदेहवासना विवक्षिताः, विषयवासनाशब्देन दम्भदर्पाद्यासुरसंपद्विवक्षिताः । यद्वा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा विषयाः, तेषां काम्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो मानसवासना, भुज्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो विषयवासना । एवं विषयभोगवासनायाः प्राबल्यं, श्रीमद्भागवते पुरञ्जनोपाख्याने जडभरतोपाख्याने च प्रदर्शितम् । प्रमदा नारीवासनावशात् पुरञ्जनो राजाऽन्यस्मिन् जन्मनि प्रमदा नारी बभूव । 'तामेव मनसा गृह्णन बभूव प्रमदोत्तमा ।' (भा० ४ । २८ । २८) इत्युक्तत्वात् । एवं प्रियमृगबालवासनाप्राबल्यात् भरतो राजर्षिरपि – अन्यस्मिन् जन्मनि मृगोऽभवत् इति । 'मृगोऽभवं मृगसंगाद्धृतार्थः ।' (भा० ५ । १२ । १४) इत्युक्तत्वात् ।

अत एव योग-वासिष्ठमें कहा है — 'प्रथम मानसिक वासना को छोड़ कर, फिर विषय - वासनाका त्याग करे, पश्चात् मैत्री आदि निर्मल वासनाको ग्रहण करे । यहां पर मानस वासनासे ये पूर्वोक्त लोक,शास्त्र, देहवासना तीनों ही विवक्षित हैं और विषयवासनासे दंभ, दर्प आदि आसुर संपद् विवक्षित है अथवा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये विषय हैं, इनकी काम्यमानत्व अवस्थासे जन्य संस्कार ही मानस-वासना है,

और इनकी भुज्यमानत्व अवस्था अन्य संस्कार, विषय वासना है। एवं विषय भोगवासनाकी प्रबलता श्रीमद्भागवतके पुरञ्जन उपाख्यान तथा जड़भरत उपाख्यानमें दिखाई है। प्रमदा नारी की वासनाके वशसे राजा पुरञ्जन दूसरे जन्ममें प्रमदानारी हो गया। 'उस प्रमदानारीका मनसे चिन्तन करता हुआ वह उत्तम प्रमदा ही हुआ।' ऐसा कहा गया है। एवं प्रिय मृगशावककी वासनाकी प्रबलतासे राजर्षि भरत भी दूसरे जन्ममें मृग हुआ। 'पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो कर मृगमें आसक्तिके कारण मैं मृग हुआ' ऐसा कहा गया है।

ननु – वासनायाः परित्यागः कथं घटते ?। नहि तासां मूर्तिरस्ति, येन संमार्जनीसमाहृतधूलितृणवद् हस्तेनोद्धृत्य बहिस्त्यक्ष्यामः, मैवम्। उपवासजागरणवत्तदुपपत्तेः। स्वभावप्राप्तयोर्भुजिक्रियानिद्रयोरमूर्तत्वेऽपि तत्परित्यागरूपे उपवासजागरणे सर्वैरप्यनुष्ठीयेते, तद्वदत्रापि मैत्र्यादिभिरमलवासनाभिः ताः मलिनवासनाः परित्याज्याः। मैत्र्यादयस्तु पतञ्जलिना सूत्रिताः- 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।' (यो०द० १ । ३३) इति। अत्र सुखादिशब्दाः तद्वत्पराः। तथा च सुखिषु – समृद्धिस्वास्थ्यादिना सुखभोगसंपन्नेषु मैत्रीं = सौहार्दं = ईर्ष्याकालुष्यनिवर्तकं, दुःखिषु = दारिद्र्यरोगादिना दुःखभोगसम्पन्नेषु करुणां = दयां – असूयाकालुष्यनिवर्तिकां, पुण्यवत्सु मुदितां = हर्षं – द्वेषनिवर्तकं, अपुण्यशब्दितपापिषु उपेक्षां = अमर्षकालुष्यनिवर्तिकां भावयेत्। यदा चायं पुण्यपुरुषेषु मुदितां भावयति, तदा तद्वासनया स्वयमेव अप्रमत्तः सन् पुण्येषु प्रवर्तते। तथा पापिषूपेक्षां भावयन् स्वयमपि पापान्निवर्तते।

प्रश्न – वासनाका परित्याग कैसे सम्भव हो सकता है ? उनकी मूर्ति तो है नहीं, जैसे झाड़ू द्वारा धूलि तृणादियों को बाहर छोड़ देते हैं, वैसे हाथसे उठा कर बाहर छोड़ आवें। उत्तर – उपवास एवं जागरण की तरह उनका त्याग हो सकता है। स्वभावसे प्राप्त भोजन-क्रिया और निद्रा, ये दोनों अमूर्त होने पर भी इनके परित्याग के लिए उपवास एवं जागरणका अनुष्ठान सभी लोग करते हैं वैसे ही यहां पर भी मैत्री आदि निर्मल वासना द्वारा उन मलिन वासनाओंका परित्याग करना चाहिए। मैत्री आदियोंका पतञ्जलि ऋषिने योगसूत्रमें ऐसा कथन किया है — 'सुखी, दुःखी पुण्यात्मा और पापी, इनमें क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावना द्वारा चित्तको प्रसन्न रक्खे। इस सूत्र स्थित सुखादि शब्द तद्वाले अर्थमें हैं। तथा च सुखिषु यानी समृद्धि स्वास्थ्य आदिके द्वारा सुखभोग सम्पन्नोंमें, मैत्री यानी सौहार्द जो ईर्ष्यारूप कालुष्यका निवर्तक है, दुःखिषु यानी दारिद्र रोग आदिके द्वारा दुःखभोग सम्पन्नोंमें, करुणा यानी दया जो असूया रूप कालुष्यका निवर्तक है, पुण्यवत्सु यानी पुण्यवानोंमें मुदिता यानी हर्ष जो द्वेषका निवर्तक है। अपुण्य शब्दसे कहे

जानेवाले पापियोंमें, उपेक्षा जो अमर्ष कालुष्यका निवर्तक है, उनकी भावना करे। जब यह पुरुष पुण्यवान् पुरुषोंमें मुदिताकी भावना करता है, तब उस वासना द्वारा स्वयं ही प्रमाद रहित होकर पुण्यकर्ममें प्रवृत्त होता है। तथा पापी पुरुषोंमें उपेक्षाकी भावना करता हुआ स्वयं भी पापसे निवृत्त होता है।

एवं मैत्र्यादिभावनाभिः- मलिनाः वासनाः निवर्तन्ते, सात्त्विको धर्मो जायते, तेन चित्तं प्रसन्नं निर्मलं भवति, ततो भगवति स्थैर्यं लभते एवं श्रीमद्भागवत एकादशेऽपि – मध्यमभक्तलक्षणरूपेण मैत्र्यादिभावनाः निरूपिताः। 'ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च। प्रेममैत्रीकृपोपेक्षां यः करोति स मध्यमः॥' (भा० ११। २। ४६) इति। ईश्वरे प्रेम = भक्तिं, तदधीनेषु = भगवद्भक्तेषु मैत्रीं, एवमुपलक्षणातः सुखसम्पन्नेष्वपि, बालिशेषु = अज्ञजनेषु-दुःखितेषु च कृपां = तद्दुःखप्रहाणेच्छां, द्विषत्सु = भगवद्भक्तद्वेषिषु-पापिषु-उपेक्षां = औदासीन्यं करोति, स मध्यमो भक्तः, भेददर्शित्वात्।

एवं मैत्री आदिकी भावनाओं द्वारा मलिन वासनाओंकी निवृत्ति होती है। सात्त्विक धर्म उत्पन्न होता है, और उससे चित्त प्रसन्न - निर्मल होता है, तत्पश्चात् वह भगवान्में निष्ठाको प्राप्त करता है। एवं श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें भी मध्यम भक्तके लक्षण द्वारा मैत्री आदि भावनाओंका ऐसा निरूपण किया है। 'जो भगवान्से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, दुःखी और अज्ञानियोंपर कृपा तथा भगवान्से द्वेष करनेवाले पापियोंकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम कोटिका भागवत भक्त है, क्योंकि वह भेदोंका दर्शन करता है।

एवं श्रीमद्भागवते पञ्चमेऽपि– मलिनवासनानिरासिका शुद्धवासना इत्थं निरूपिता। तथाहि –'स्वस्त्यस्तु विश्वस्य, खलः प्रसीदतां, ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया। मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे, आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥' (भा० ५। १८। ९) इति। स्वयं भगवन्तं प्रार्थयमानः, एवं भगवान् सदा प्रार्थनीयो युष्माभिश्चैवं वर्तितव्यमिति प्रह्लादो भक्तप्रवरो दैत्यानपि शिक्षयति - विश्वस्य = सर्वस्य चराचरस्य, स्वस्ति = अभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणं मंगलं सदाऽस्तु = भवतु, न कस्यापि कुत्रापि कदाप्यमंगलमनिष्टं स्यादिति प्रार्थनारूपा शुद्धभावना स्वहृदि स्थापनीया। विश्वस्य स्वस्तिप्रार्थने खलस्यापि भवेत्, तच्च साधुपीडां विना न स्यात्। एवमन्योऽन्यममंगलं चिन्तयतां च भूतानामन्योऽन्यघातं विना न भवेदित्याशंक्याह – खलः = दुष्टः, प्रसीदतां = प्रसीदतु द्वेषेर्ष्यादिलक्षणं क्रौर्यं त्यजतु, अर्थात् तत्त्यागाय मैत्रीकरुणादि भावयतु। भूतानि च = प्राणिनः, मिथः = परस्परं शिवमेव ध्यायन्तु = चिन्तयन्तु, नाशिवम्। तेषां मनश्च भद्रं = विषयासक्तिं परित्यज्योपशमादिकं भजतु। तादृशं भद्रं भगवद्भक्तिं विना न स्यादत आह–

नः = अस्माकमपि, अपिशब्दाद् भूतानां च मतिरहैतुकी = निष्कामा सती, अधोक्षजे = त्वयि = श्रीकृष्णे, आवेश्यतां = त्वयाऽधोक्षजेनैव स्वदयालुतया मतेः प्रवेशः साध्यतामित्यर्थः । एवं विश्वस्य स्वस्तिप्रार्थनारूपा शुभवासना सिद्ध्यति ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्धमें भी मलिन वासनाका निराकरण करनेवाली शुद्धवासनाका इस प्रकार निरूपण किया है — जैसे हे नाथ ! विश्वका कल्याण हो, दुष्टोंकी बुद्धि शुद्ध हो, सब प्राणियोंकी परस्पर सद्भावना हो, सभी एक दूसरेका हितचिन्तन ही करें, हमारा मन शुभ मार्गमें प्रवृत्त हो और हम सबकी बुद्धि निष्काम भावसे भगवान् श्रीहरि में प्रवेश करे ।' स्वयं भगवान्की प्रार्थना करता हुआ में तथा आप लोग सदा प्रार्थनीय भगवान्की ऐंसी प्रार्थना किया करें, इस प्रकार भक्त-प्रवर प्रह्लादजी दैत्योंको शिक्षा देते हैं — 'चराचर विश्वका अभ्युदय निःश्रेयसरूप मङ्गल सर्वदा हो । किसी का कहीं भी, कभी भी, अमङ्गल एवं अनिष्ट न हो, ऐसी प्रार्थनारूप शुद्धभावना अपने हृदयमें स्थापित करें । विश्वकी मङ्गल प्रार्थना करने पर दुष्टका भी मङ्गल होगा, परन्तु उसका मङ्गल साधु-पुरुषोंको पीड़ा किये विना होगा नहीं । इस प्रकार परस्पर एक दूसरे की अमङ्गल-भावना करनेवाले प्राणियोंका भी मङ्गल अन्योन्यके विघातके विना तो होगा नहीं, ऐसी शंका होने पर कहते हैं । दुष्ट, द्वेष, ईर्ष्यादिरूप क्रूरताका त्याग करे अर्थात् उनको छोड़ कर मैत्री करुणादिकी भावना करे । सभी प्राणी परस्पर कल्याणका ही चिन्तन करें, उनका मन विषयोंकी आसक्तिको छोड़ कर शम दम आदिका सेवन करे । उस प्रकार भद्र तो भगवद्भक्ति विना होगा नहीं, अतः कहा है कि हम लोगेंकी एवं अन्य प्राणियोंकी भक्तिमयी निष्काम बुद्धि अधोक्षज श्रीकृष्णमें हो । 'आवेश्यतां' के कथन से यह भाव प्रकट होता है कि आप अधोक्षज भगवान्के द्वारा अपनी दयालुता से ही बुद्धिका प्रवेश अपनेमें करायें । इस प्रकार विश्वकी स्वस्ति प्रार्थनारूप शुभवासना सिद्ध होती है ।

एवं ब्रह्माद्वयभावनया निखिलशुभाशुभवासनात्याग एव परं निःश्रेयसम् । यदाह-मुक्तिकोपनिषद्यपि- 'सम्यगालोचनात्सत्याद् वासना प्रविलीयते । वासनाविलये चेतः शममायाति दीपवत् ॥ वासनां संपरित्यज्य मयि चिन्मात्रविग्रहे । यस्तिष्ठति गतव्यग्रः सोऽहं सच्चित्सुखात्मकः ॥ संत्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥' (२ । १७ - १८ - २१) इति । परमार्थसत्यदर्शनमेव सम्यगालोचनम् । इत्येवं भगवता श्रीरामचन्द्रेण मारुतिरुपदिष्टः । इति ।

इस प्रकार अद्वय ब्रह्मकी भावनासे सम्पूर्ण शुभाशुभवासनाओंका परित्याग ही परम निःश्रेयस है । जैसा कि मुक्तिकोपनिषद् में कहा है—सत्य ब्रह्मके सम्यक् विचार

से वासनाएं विलीन हो जाती हैं । वासनाओंके विलीन होने पर चित्त दीपवत् शान्त हो जाता है । वासनाओंका परित्याग कर सच्चिदानन्द-स्वरूप मेरे में शान्त चित्तसे जो स्थित होता है, वही सच्चित् सुखस्वरूप मुझ परमात्मासे अभिन्न हो जाता है । अतः वासनाओंके परित्यागरूप मौनसे बढ़ कर और कोई उत्तम पद नहीं है । परमार्थ सत्य ब्रह्मका दर्शन ही सम्यक् आलोचन है। ऐसा भगवान् श्रीरामने हनुमानजी को उपदेश किया ।

(६) मन्वन्तरकथा

मनूनां - स्वायंभुवादीनामन्तरं = अवकाशः तदुपलक्षितः कालो वाऽधिकारो वा मन्वन्तरम् । मन्वन्तरस्य समयनिरूपणं विष्णुपुराणे इत्थं कृतम् - 'त्रिंशत्कोटयस्तु सम्पूर्णाः संख्याताः संख्यया द्विज ! । सप्तषष्टिस्तथाऽन्यानि नियुतानि महामुने ! ॥ विंशतिस्तु सहस्राणि कालोऽयमधिकं विना । मन्वन्तरस्य संख्येयं मानुषै र्वत्सरै द्विज ! ॥' (वि० पु० १ । ३ । २० - २१) इति । एवं तस्य (३०, ६७. २००००) ईदृशी - अंकसंख्या जाता । ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्यैकस्मिन् दिवसे चतुर्दश मनवः संभवन्ति, विलीयन्ते च । तदुक्तं तत्रैव - 'ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन् ! मनवस्तु चतुर्दश । भवन्ति परिमाणं च तेषां कालकृतं शृणु ॥ सप्तर्षयः सुराः शक्रो मनुस्तत्सूनवो नृपाः । एककाले हि सृज्यन्ते संह्रियन्ते च पूर्ववत् ॥ चतुर्युगाणां संख्याता साधिका ह्येकसप्ततिः (७१) । मन्वन्तरं मनो कालः सुरादीनां च सत्तम ! ॥' (वि० पु० १ । ३ । १६ - १७ - १८) इति । एककाले = पूर्वकल्पानुसारेणैकस्मिन् समये । एकसप्ततिचतुर्युगाणां समयः एकमन्वन्तरस्य कालः प्रत्येतव्यः ।

(६) मन्वन्तर कथा

स्वायंभुवादि मनुओंका अन्तरं यानी अवकाश, उससे उपलक्षित काल या अधिकार मन्वन्तर कहा जाता है । मन्वन्तरोंका समय-निरूपण विष्णुपुराणमें इस प्रकार किया है – 'हे महामुने ! मानवी वर्ष-गणनाके अनुसार मन्वन्तरका परिमाण पूरे तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हजार वर्ष है, इससे अधिक नहीं । एवं उसकी ३०,६७,२००००) इस प्रकार अंक संख्या हुई । हिरण्यगर्भ ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु उत्पन्न एवं विलीन होते हैं । यह भी विष्णुपुराणमें कहा है — हे मैत्रेय जी ! ब्रह्माके एक दिन में चौदह मनु होते हैं । उनका कालकृत परिमाण सुनो । सप्तर्षि, देवगण, इन्द्र, मनु और मनुके पुत्र राजा लोग (पूर्व कल्पानुसार) एक ही कालमें रचे जाते हैं और एक ही कालमें उनका संहार किया

जाता है। एक काल यानी पूर्व कल्पानुसार एक समयमें। अतः इकहत्तर (७१) चतुर्युगोंका समय एक मन्वन्तरका काल जानना चाहिए।

एवं श्रीविष्णुपुराणे देवानां वर्षगणनया चतुर्युगपरिमाणमीदृशमभिहितम्। मनुष्यस्यैकसंवत्सरो देवानामहोरात्रतुल्योऽस्ति। तत्र यदुत्तरायणं स देवानां दिवसः, यद् दक्षिणायनञ्च सा रात्रिस्तेषाम्। अत एव देवानामेकसहस्रवर्षपरिमितः कालो मनुष्याणां कृते देववर्षस्य षष्ट्यधिकत्रिशतदिवसानां गुणाकारेण त्रिलक्षषष्टिसहस्रवर्षलक्षणः (३६००००) संजायते। एवं चतुर्युगाणां देवानां कालेन दशसहस्रपरिमितेन सह संध्यासंध्यांशकालद्विसहस्रमेलनेन द्वादशसहस्रपरिमितः समयः संवृत्तः, स एव समयो मनुष्याणां कृते देववर्षस्य षष्ट्यधिकत्रिशत-दिवसानां गुणाकारेण त्रिचत्वारिंशल्लक्ष-विंशतिसहस्रसंख्यापरिमितः एकचतुर्युगस्य समयः (४३२००००) अंकरूपेणेत्थं निर्दिष्टः संजायते। यथाहि– अयनं दक्षिणं रात्रिः देवानामुत्तरं दिनम्। दिव्यर्वषसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम्। चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे॥ चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं, कृतादिषु यथाक्रमम्। दिव्याब्दानां सहस्राणि, युगेष्वाहुः पुराविदः॥ तत्प्रमाणैः शतैः संध्या पूर्वा तत्राभिधीयते। संध्यांशश्चैव तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि सः॥ संध्यासंध्यांशयोरन्त र्यः कालो मुनिसत्तम!। युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञितः॥ कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चैव चतुर्युगम्। प्रोच्यते तत्सहस्रं च ब्रह्मणो दिवसं मुने!॥' (वि०पु० १।३।१०-११-१२-१३-१४-१५) इति।

इसी प्रकार श्रीविष्णुपुराणमें देवताओंके वर्ष-गणनाके अनुसार चतुर्युगका परिमाण इस प्रकार कहा है। मनुष्योंका एक सम्वत्सर देवताओंके एक दिन रातके बराबर होता है। उसमें उत्तरायण देवताओंका दिन और दक्षिणायन रात्रि है। अत एव देवताओंका एक हज़ार वर्ष परिमितकाल, मनुष्योंके लिए देव वर्षके साथ ३६० तीन सौ साठका गुणा करने पर तीन लाख साठ हज़ार (३६००००) हो जाता है। एव चारोंयुगोंका, देवताओंके दस हज़ार परिमित-कालके साथ दो हज़ार संध्या एवं संध्यांशके कालको मिलाने पर द्वादश हज़ार परिमित समय होता है, वही देवताओं का समय मनुष्योंके लिए देव-वर्षके साथ ३६० तीन सौ साठ से गुणा करने पर (४३२००००) तेतालीस लाख बीस हज़ार वर्ष परिमित एक चतुर्युगी होती है। जैसा कहा भी है — देवताओंका दक्षिणायन रात्रि और उत्तरायण दिन है। देवताओंके बारह हज़ार वर्षोंके सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग नामक चार युग होते हैं। उनका अलग-अलग परिमाण मैं तुम्हें सुनाता हूं। पुरातत्त्वके जाननेवाले सतयुग आदिका परिमाण क्रमशः चार, तीन, दो और एक हज़ार दिव्य वर्ष बतलाते हैं। प्रत्येक युगके पूर्व उतने ही सौ वर्षकी सन्ध्या बताई जाती है और युगके पीछे

उतने ही परिमाणवाले सन्ध्यांश होते हैं (अर्थात् सतयुग आदिके पूर्व क्रमशः चार, तीन, दो और एक सौ दिव्य वर्षकी संध्याएं और इतने ही वर्षके संध्यांश होते हैं)। हे मुनिश्रेष्ठ ! इन संध्या और संध्यांशोंके बीचका जितना काल होता है, उसे ही सतयुग आदि नामवाले युग जानने चाहिएं । हे मुने ! सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि – ये मिलकर चतुर्युग कहलाते हैं, एक हजार चतुर्युगका ब्रह्माका एक दिन होता है ।

तत्र कलियुगस्य दैवर्षं एकसहस्र-(१०००) परिमितः, संध्यासंध्यांशसमयः द्विशत-(२००) परिमितः, द्वापरयुगस्य दैववर्षद्विसहस्र-(२०००) परिमितः, संध्यासंध्यांशसमयः चतुःशत-(४००) परिमितः । त्रेतायुगस्य दैववर्षः त्रिसहस्र-(३०००) परिमितः, संध्यासंध्यांशसमयः षट्शत-(६००) परिमितः । एवं सत्ययुगस्य दैवतर्षः चतुःसहस्र-(४०००) परिमितः, संध्यासंध्यांशसमयः - अष्टाशत - (८००) परिमितः । तथा च पूर्वोक्तदैववर्षाणां षष्ट्यधिकत्रिशतसंख्याकै दिवसै गुणिते कृते सति, पूर्वोक्ता चतुर्युगस्य मनुष्यवर्षाणां (४३२००००) संख्या परिनिष्पन्ना भवति ।

उसमें कलियुगका देव-वर्ष, एक हजार (१०००) परिमितकाल है और संध्या एवं संध्यांशका समय दो सौ (२००) परिमित है । द्वापर युगका देव-वर्ष, दो हजार (२०००) परिमित तथा संध्या और संध्यांश चार सौ (४००) परिमित है । त्रेतायुगका देववर्ष तीन हजार (३०००) परिमित एवं संध्या और संध्यांश छः सौ (६००) परिमित है । सत्ययुगका देववर्ष चार हजार (४०००) परिमित तथा संध्या और संध्यांश आठ सौ (८००) परिमित है । तथा च पूर्वोक्त देलवर्षोंके तीन सौ साठ दिवसोंके साथ गुणा करने पर पूर्वोक्त चतुयुगका मनुष्यवर्षोंकी संख्या, तेतालीस लाख बीस हजार (४३२००००) संख्या परिनिष्पन्न हो जाती है ।

एवं 'चतुर्युगसहस्रं हि ब्रह्मणो दिनमुच्यते । तत्प्रमाणां हि तां रात्रिं तदन्ते सृजते पुनः ॥ एवं तु ब्रह्मणो वर्षं, एवं वर्षशतं च यत् । शतं हि तस्य वर्षाणां परमायुर्महात्मनः ॥ एकमस्य व्यतीतं तु परार्द्धं ब्रह्मणोऽनघ ! । तस्यान्तेऽभून्महाकल्पः पाद्म इत्यभिविश्रुतः ॥ द्वितीयस्य परार्द्धस्य वर्तमानस्य वै द्विज ! । वाराह इति कल्पोऽयं प्रथमः परिकीर्तितः ॥ (वि० पु० १ । ३ । २५ - २६ - २७ - २८) अत एव स्नानादिसंकल्पसमये-धार्मिकाः 'अद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे बौद्धावतारे' इत्यापठन्ति ।

इस प्रकार ब्रह्माजीके दिनमें ये चारो युग एक हजार बार होते हैं, इतने ही

प्रमाणकी रात्रि होती है। और उसके बीत जाने पर पुनः संसारकी सृष्टि करते हैं। इस प्रकार (पक्ष, मास आदिकी) गणनासे ब्रह्माका एक वर्ष और फिर सौ वर्ष होते हैं। ब्रह्माके सौ वर्ष ही उस महात्मा – ब्रह्माकी परमायु हैं। हे अनघ ! उस ब्रह्माजीका पूर्वपरार्द्ध बीत चुका है। उसके अन्तमें पाद्म नामसे विख्यात महाकल्प हुआ था। हे द्विज ! इस समय वर्तमान उनके दूसरे परार्द्धका यह वाराह नामक पहला कल्प कहा गया है। अत एव स्नानादिके संकल्पके समयमें धार्मिक जन – आज ब्रह्माजीका द्वितीय परार्द्ध है श्रीश्वेत वाराह कल्प है, वैवस्वतमन्वन्तर है अठाईसवां प्रवर्तमान कलियुगका प्रथम पाद है। इसमें बौद्ध अवतार है— इत्यादि रूपसे पढ़ते हैं।

अत एव श्रीमद्भगवते द्वादशे - षड्विधं मन्वन्तरमुच्यते - मन्वन्तरं - मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः। ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥' (भा० १२ । ७ । १५) इति । षड्विधत्वमेवाह–मनुरिति। मन्वादयः षडेते वर्गाः स्वस्वाधिकारेण यदा प्रवर्तन्ते, तन्मन्वन्तरमित्यर्थः। अस्मिन श्वेतवाराहकल्पे ब्रह्मण एकदिवसभूते स्वायंभुवस्वारोचिषादिचतुर्दशमन्वन्तरसमूह - लक्षिते, स्वायंभुवादयः षड् मनवो व्यतीताः, सावर्ण्यादयश्च सप्त मनवो भविष्यन्ति. संप्रति वैवस्वतमनुः प्रवर्तते । तस्मिन हि हरे र्वामनाद्यंशावताराः, कश्यपात्रि - वसिष्ठ - विश्वामित्र - गौतम - जमदग्नि भरद्वाजसंज्ञकाः सप्तर्षयः। आदित्य - वसु–रुद्र–विश्वेदेव–मरुद्गणाश्विनीकुमार-ऋभुगणनामानो देवाः, पुरंदरसंज्ञकः सुरेश्वर इन्द्रः, इक्ष्वाक्वादयो मनुपुत्राश्च वतन्ते।

अत एव श्रीमद्भागवतके द्वादशस्कन्धमें छः प्रकारके मन्वन्तर कहे हैं — मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान्के अंशावतार–इन्हीं छः बातोंकी विशेषता से युक्त समयको 'मन्वन्तर' कहते हैं। मनु आदि ये षड् वर्ग, अपने-अपने अधिकारके रूपसे जिस समय प्रवृत्त होते हैं, वही मन्वन्तर है, इस श्वेत वाराह कल्पके ब्रह्माके एक दिनमें होने वाले स्वायंभुव, स्वारोचिष आदि चौदह मनुओंमें से स्वायंभुव आदि छः मनु व्यतीत हो गये हैं, सावर्णि आदि सात मनु और होंगे, इस समय वैवस्वत मनु चल रहा है। इसमें भगवान् श्रीहरिके वामनादि अंशावतार, कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, भरद्वाज, ये सप्त ऋषि, आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, ऋभुगण, इन नामवाले देवता, पुरन्दर नामवाला देवराज इन्द्र, इक्ष्वाकु आदि मनुपुत्र वर्तमान हैं।

एवं पूर्वोक्तगणनया चतुर्दशमन्वन्तरसंयुक्ते - एकस्मिन् कल्पे (४, - ३२,००,०००००) चतुर्वृन्द - द्वात्रिंशत्कोटि - मानुषवर्षाणि भवन्ति। एवं चतुर्युगसहस्रपरिमितब्रह्मदिवसस्य षष्ट्यधिकत्रिशतदिवसगणनया, तदनुरोधेन वर्षगणनया च शतवर्षपरिमितं ब्रह्मण आयुः। एवं शतब्रह्मविलयसमयपरिमितो

विष्णोः एको दिवसः, एवं तद्दिवसतदनुरोधिवर्षशतपरिमितं विष्णोरायुः। एवं शतविष्णुविलयसमयलक्षितो महारुद्रस्य महेश्वरस्यैको दिवसः। अत एव संकर्षणाख्यमहाकालाग्निरुद्ररूपेण भगवता कृष्णेन गीतासु स्वस्वरूपं- 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः।' (११ । ३२) इत्यनेन निर्दिष्टम्। तथा च योऽयमनन्तो महाकालः सर्वलोकसंहारकरः - 'कालाय नमः कलविकरणाय नमः' (कृष्णयजुर्वेदतैत्तिरीयसंहिता) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धो महारुद्ररूपः परमेश्वरोऽहमस्मीत्यर्थः।

इस प्रकार पूर्वोक्त गणनासे चौदह मन्वन्तरोंको मिला कर एक कल्पमें (४,३२,००,०००००) चार अरब, बतीस करोड़ मानुष वर्ष होते हैं एवं चतुर्युग सहस्र परिमित ब्रह्माजीके दिनका तीन सौ साठ दिवस की गणनासे ब्रह्माजी का एक वर्ष, उसके अनुसार इसे पुनः सौ से गणना करने पर ब्रह्माजीकी पूरी आयु मानी जाती है। एवं सौ ब्रह्माके विलय होनेका समय पूर्ण होने पर श्रीविष्णुका एक दिन होता, है, इस प्रकार श्रीविष्णुके दिवसोंकी गणनाके अनुसार विष्णुकी भी शत वर्ष परिमित परम आयु है। एवं सौ विष्णुके विलयका समय महारुद्र महेश्वरका एक दिन होता है। अत एव संकर्षण नामवाले महाकालाग्निरुद्र रूपसे भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अपने स्वरूपको 'मैं काल हूं लोकोंका संहार करनेके लिए प्रवृद्ध हुआ हूं' इसप्रकार निर्दिष्ट किया। तथा च – 'जो यह अनन्त महाकाल - सर्व लोकोंका संहारक है – उसको नमस्कार हो तथा संख्यात्मक कालका भी नाश करनेवालेके लिये नमस्कार हो, इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध महारुद्ररूप परमेश्वर मैं ही हूं, ऐसा अर्थ है।

सति चैवं ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणामेतादृशमहायुरपेक्षया मशककीटादिक्षुद्रप्राणिसदृशानां मनुष्याणां तुच्छातितुच्छस्य क्षणभंगुरस्यायुषो गणनैव का? यदाहुः– 'कोटयो ब्रह्मणां याताः, गताः स्वर्गपरम्पराः। प्रयाताः पांसुवद् भूपाः का धृति र्मम जीविते॥ येषां निमेषोन्मेषौ जगतः प्रलयोदयौ। तादृशाः पुरुषा नष्टा मादृशां गणनैव का॥' (योगवासिष्ठे) इति। पूर्वोक्तं मन्वन्तरब्रह्मविष्णुरुद्राणामायुः परिमाणं बृहत्पराशरस्मृतावपीत्थमभिहितम्– तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिति स्मृतम्। मन्वन्तरद्वयेनेह शक्रपातः प्रकीर्तितः॥ एतन्मानेन वर्षाणां शतं ब्रह्मक्षयः स्मृतः। ब्रह्मक्षयशतेनापि विष्णोरेकमहर्भवेत्॥ एतद्दिवसमानेन शतवर्षेण तत्क्षयः। एतत्क्षयस्त्रिगुणोऽष्टाभी रुद्रस्य त्रुटिरुच्यते॥ एवमाह्निकमानेन प्रयातेऽब्दशते द्विज!। रुद्रश्चात्मनि लीयेत, निरालम्बे निरामये॥' (१२ । १८८ - १८६ - १६० - १६१) इति।

इन ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरों की, इस प्रकारकी महान् आयु की अपेक्षा मच्छर, कीड़े-मकोड़े आदि क्षुद्र जन्तुकी तरह इन मनुष्योंकी तुच्छसे भी अति तुच्छ क्षण-भंगुर

आयु किस गिनती में है ? जैसा कि योगवासिष्ठमें कहा है — 'करोड़ों ब्रह्मा चले गये, स्वर्ग कितनी बार बना और बिगड़ा, धूलि-कणोंके समान असंख्यों राजा चले गये, अतः मेरे इस क्षणभंगुर जीवन का क्या भरोसा ? जिनके निमेष और उन्मेष द्वारा जगत् का प्रलय और उदय होता था, वैसे पुरुष भी नष्ट हो गये, तो मेरे जैसे की गणना ही क्या ? पूर्वोक्त मन्वन्तर, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रकी आयुका परिमाण बृहत्पराशर स्मृतिमें इस प्रकार कहा है — 'इकहत्तरगुणा मन्वन्तर कहा गया है, दो मन्वन्तरोंकी परिमित आयुमें इन्द्रका पतन होता है, इस प्रकारके परिमाण द्वारा सौ वर्षोंमें ब्रह्माका क्षय होता है । सौ ब्रह्माके क्षय होने पर विष्णुका एक दिन होता है, विष्णुके दिवस परिमाणसे सौ वर्ष होने पर विष्णुका क्षय होता है, विष्णुके क्षय परिमाणसे चौबीस गुणा रुद्रकी एक त्रुटि होती है । इस प्रकार अपने वर्ष परिमाण द्वारा सौ वर्ष होने पर रुद्र भी अपने स्वरूपमें लीन हो जाता है वह अन्तिम स्वरूप निरालम्ब-निराधार एवं निरामय-निर्दोष-शान्त पद है ।'

(७) ईशानुकथा

ईशानुकथायाः स्वरूपमाह – द्वितीये – 'अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम् पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥' (भा० २ । १० । ५) इति ।

(७) ईशानुकथा

भगवान्के विभिन्न - अवतारोंके और उनके प्रेमी ज्ञानवान् भक्तोंकी विविध-आख्यानोंसे युक्त गाथाएं - 'ईशानुकथा' हैं ।

जगतः स्थितावेवास्य श्रीहरेरवताराणां विविधानामनुचरितम्, हरेरनुवर्तिनां भक्तानाञ्च सत्कथा ईशानुकथाः प्रोक्ता इत्यर्थः । ताः हि विविधोपाख्यानैरुपबृंहिताः सन्ति ।

ननु – निर्गुणनिराकारस्य परमेश्वरस्य सगुणसाकाररूपेण विविधावतारग्रहणे किं प्रमाणमिति चेत् ? वेदादीनि शास्त्राण्येव प्रमाणमिति गृहाण । तथाहि 'अजायमानो बहुधा विजायते' । (शु० यजु० ३१ । १९) इति संहिता श्रुतिस्तावत्-परमार्थतो निर्गुणस्य निराकारस्य सर्वव्यापकस्य सर्वान्तर्यामिरूपेण सर्वत्रानुगतत्वेन च विद्यमानस्य नित्यस्याजस्य मायाप्रकृतिनियन्तुः परमेश्वरस्य मायाख्यया स्वेच्छयैव स्वभक्तानामनुग्रहाय सज्जनानां बुद्ध्यारोहाय नास्तिकानां मुखभंगाय पापिष्ठानां दुष्टानां विध्वंसाय चोपासनादिसौकर्यसिद्धये च सद्धर्मप्रतिष्ठायै च भक्तेप्सितचतुर्भुजपञ्चमुखद्विभुजाद्याकारविशेषाणामतिमानुषात्यद्भुतविविधदिव्यचरित्रशालिनां विशिष्टावतारविग्रहाणां प्रादुर्भाव-

कारणं 'अत्यन्त दुर्लक्ष्यमपि मामनन्तसुखनिधिममी मदाराधकाः सुजना भक्ताः पुरुषधौरेयाः साक्षात्पश्यन्तु, मत्तः सद्गुरुस्वरूपात् मम पारमार्थिकाद्वयतत्त्वावबोधं संपादयन्तु इत्येवमादिबहुप्रयोजनकमभिप्रेत्य परमार्थतो यः अजायमानः = अजन्मा परमात्मा भक्तानुग्रहादिविविधप्रयोजनानि साधयितुं स्वामनिर्वाच्यां मायां वशीकृत्य बहुधा = रामकृष्णादिविविधदिव्यसाकाररूपेण जायते - प्रादुर्भवतीत्याह । एतेन प्रकृतिनियन्तुः परमेश्वरस्य तस्य न कर्मायत्तं जन्म, किन्तु स्वेच्छायत्तं सम्यगप्रच्युतज्ञानबलैश्वर्यादिशालि दिव्यं तदिति सूच्यते । अत एव स्मर्यते गीतासु - 'अजोऽपि ··· संभवाम्यात्ममायया' (४ । ६) इति । एतेन स्वयमजायमानः कथं विजायमानः स्यात् ? विजायमानस्याजायमानत्वं वा कथमवतिष्ठेत ? सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्परविरोधे हि नैकस्याप्यवस्थानं स्यात् ? अथापि कस्मै प्रयोजनायाजायमानो विजायते ? इत्याद्याः शंकाः परास्ताः । परमार्थतोऽजायमानस्य तस्य माययैव जायमानत्वाभ्युपगमात्, मायिकं तत् पारमार्थिकमजायमानत्वं न विरोद्धुमीष्टे । विषमसत्ताकत्वेन तयोर्विरोधाभावात् प्रयोजनस्योपदर्शितत्वाच्च ।

अत एव तृतीये श्रीमद्भागवते सर्वदुर्वृत्तवधसाधुपरित्राणादिप्रयोजनायैवाजस्य निष्क्रियस्य भगवतो जन्मकर्माणि, नान्यथेति कैमुत्यन्यायेनाह 'अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम् । नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं, परो गुणानामुत कर्मतन्त्रम् ॥' (भा० ३ । १ । ४४) इति ।

भगवान् श्रीकृष्ण वास्तुतः जन्म और कर्मसे रहित हैं, फिर भी दुष्टोंका नाश-करनेके लिए और लोगोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए उनके मायोद्भासित दिव्य - जन्म कर्म हुआ करते हैं। नहीं तो भगवान्‌की तो बात ही क्या ? – दूसरे जो लोग – जीवन्मुक्त - महात्मा - गुणोंसे पार होगये हैं, उनमें भी ऐसा कौन है, जो इस कर्माधीन देहके बन्धनमें, पड़ना चाहेगा ।

अजस्यापि जन्म, अकर्तुरपि कर्माणि, पुंसां ग्रहणाय = कर्मसु प्रवृत्तये, यद्वा पुंसां सर्वेषां ग्रहणाय स्वस्मिन् – पारमार्थिकाद्वयस्वरूपे दिव्यमनोरमसाकारावग्रहद्वाराऽऽकर्षणाय, यद्वा पुंसां = मुक्तमुमुक्षुविषयिणां सर्वेषां ग्रहणाय साकारविग्रहगुणकर्मानुवादद्वारा स्वस्मिन् मनसां स्थैर्याय 'निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात् भवौषधात्' (भा० १० । १ । ४) इत्याद्युक्तत्वात् । नन्वन्यथा, अत्र न, नु इतिच्छेदेन पदद्वय बोध्यम् । नेत्यस्यान्यथेत्यनेन सम्बन्धः । वितर्कार्थस्य नुपदस्यार्थः- चेदेवं तर्हीति । अन्यथा न चेदेवं तर्हि, भगवतो दिव्यजन्मकर्मलीलादिकथा तावदास्ताम् । तया विना भगवति कथं मनसः समाधानं स्यादिति भावः । उत्पथानां = धर्मविरुद्धमार्गानुवर्तिनां दुष्टानां नाशनाय = विध्वस्तये, उपलक्षणमिदं साधुपरित्राणधर्मस्थापनादेः । कोवाऽ-

न्योऽपि गुणानां परः = गुणातीतो ब्रह्मनिष्ठो जीवन्मुक्तो महात्मा देहयोगं कर्मविस्तारं वाऽर्हतीति, यदा मायाप्रयोजिताध्यारोपं विना वस्तुतो निस्त्रैगुण्यो महात्मा देहयोगादिकं नार्हति, तदा परमेश्वरस्य गुणातीतस्य तु का वार्ता । यद्वा नन्वन्यथेत्युक्त्या यथा जीवानां स्वकर्माधीनो देहयोगस्तथा न, अपितु स्वाधीनया माययैव देहयोगादिकम् 'जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया (भा० १० । १५ । ५५) स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये । सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥' (भा० १० । २८ । ११) इत्याद्युक्तत्वात् ।

दिव्यजन्मगुणकर्मशालिनो विविधावतारा भगवतः श्रीमद्भागवते दशमेऽनुस्थमभिवर्णिताः 'यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि । तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः । नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च । हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥ अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे । क्षित्युद्धारविहाराय नमः सूकरमूर्तये ॥ नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह ! । वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥ नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे । नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥ नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च । प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥ नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने । म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥' (भा० १० । ४० । १६-१७-१८ १९-२० - २१ - २२) इति ।

प्रभो ! आप क्रीड़ा करने के लिए पृथिवी पर जो-जो रूप धारण करते हैं, वे सब साकार-अवतार लोगों के शोक-मोह को धो-बहा देते हैं और फिर सब लोग बड़े आनन्द से आपके निर्मल-यशका गान करते हैं । प्रभो ! आपने वेदों, ऋषियों, ओषधियों और सत्यव्रत आदिकी रक्षा-दीक्षा के लिए मत्स्यरूप धारण किया था और प्रलयके समुद्र में स्वच्छन्द विहार किया था । आपके मत्स्यरूपको मैं नमस्कार करता हूं । आपने ही मधु और कैटभ नामके असुरोंका संहार करने के लिए हयग्रीव अवतार ग्रहण किया था । मैं आपके उस साकाररूप को भी नमस्कार करता हूं । आपने ही वह विशाल कच्छपरूप ग्रहण करके मन्दराचलको धारण किया था, आपको मैं नमस्कार करता हूं । आपने ही पृथ्वीके उद्धारकी लीला करनेके लिए वराह रूप स्वीकार किया था, आपको मेरा बार-बार नमस्कार । प्रह्लाद जैसे साधुजनोंका भय-भय मिटानेवाले प्रभो ! आपके उस अलौकिक-नृसिंहरूपको मैं नमस्कार करता हूं । आपने वामनरूप ग्रहण करके अपने पगोंसे तीनों लोक नाप लिए थे, आपको मैं नमस्कार करता हूं । धर्मका उल्लंघन करनेवाले घमंडी क्षत्रियोंके वनका छेदन करने के लिए आपने भृगुपति-परशुरामरूप ग्रहण किया था । मैं आपके उस रूपको नमस्कार करता हूं । दुष्ट-रावणका नाश करने के लिए आपने पवित्र-रघुवंशमें भगवान्

श्रीरामके रूपसे अवतार ग्रहण किया था। मैं आपको नमस्कार करता हूं। वैष्णव-जनों तथा यदुवंशियोंका पालन-पोषण करने के लिए आपने ही अपनेको वासुदेव-कृष्ण, बलराम-संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इस चतुर्व्यूहके रूपमें प्रकट किया है। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूं। दैत्य और दानवोंको मोहित करने के लिए आप शुद्ध-अहिंसा मार्गके प्रवर्तक-बुद्धका रूप ग्रहण करेंगे, मैं आपको नमस्कार करता हूं। और पृथिवी के क्षत्रिय जब म्लेच्छ प्रायः हो जायेंगे, तब उनका नाश करने के लिए आप ही कल्कि के रूप में अवतीर्ण होंगे, मैं आपको नमस्कार करता हूं।

इह = लोके, क्रीडनार्थं = अनायाससाध्यानि - प्रलयाब्धिसन्तरण-मधुकैटभहननादीनि - क्रीडनानि तदर्थं त्वं यानि यानि - मत्स्यादीनि साकारावताररूपाणि बिभर्षि = अचिन्त्यशक्त्या मायया गृह्णासि, गृहीत्वा लोकान्कृपया दर्शयसीत्यर्थः। अतस्तैरेवानुचिन्तनादिना समाराधितैः आमृष्टा = परिमार्जिताः शुचः = आविद्यकशोकमोहादयो मला यैस्ते, लोकाः = जनाः, मुदा = हर्षेण तव यशो गायन्ति। अतस्तान्यवताररूपाणि कथयन् नमस्यन्ति-वेदोद्धारादिकारणेन स्वीकृतमत्स्यरूपाय, मदं = दैत्यदर्पं स्यति = नाशयतीति मत्स्यं, परमेश्वरत्वेन विश्वकारणश्चासौ मत्स्यश्चेति कारण-मत्स्याय। मत्स्यानां जलजीवनत्वादाह प्रलयाब्धिचराय च। प्रलयकालीन-महासागरे चरतीति तथा तस्मै नमः। मधुकैटभयो मृत्यवे = निहन्त्रे, हय-शीर्ष्णे = हयग्रीवाय तुभ्यं नमः। अकूपाराय = कूर्मरूपाय मन्दरपर्वत-धारिणे बृहते नमः। 'अकूपारः समुद्रे स्यात् कूर्मराजेऽपि कीर्तितः।' इति विश्वकोशः। क्षित्युद्धाराय विहारो यस्य तस्मै सूकरमूर्तये-वराहावताराय नमः। हे साधुलोकभयापह! = साधुलोकस्य देवादिजनस्यासुरराक्षसादिनिमित्तकं भयमपहन्तीति तथा। अद्भुतसिंहाय नरसिंहाय तुभ्यं नमः, अद्भुतः = अदृष्टपूर्वः त्रि-भयत्वापादकः सिंहः-नरत्वविशिष्टमृगेन्द्रस्तद्रूपाय। पादत्रयेण क्रान्तं-त्रिभुवनं येन तस्मै तुभ्यं वामनाय नमः। 'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णु-र्गोपाः' (ऋ० १।२२।१८) 'वामनो ह विष्णुरास' (शतपथब्राह्मणः) इत्यादि-श्रुतिवचांस्यपि सन्ति वामनावतारे प्रमाणभूतानि। दृप्तं = गर्वितमतएवोत्पथ-गामि दुष्टं क्षत्रकुलमेवकुठारच्छेद्यत्वात् वनं तच्छिन्नत्ति, तस्मै भृगूणां पतये = परशुरामाय नमः। रावणस्यान्तं = विनाशं करोति तस्मै रघुकुले वर्याय = श्रेष्ठाय श्रीरामाय नमः। चतुर्व्यूहरूपेण प्रणमति - नमस्ते वासुदेवाय = कृष्णाय संकर्षणाय = बलरामाय नमः 'गर्भसङ्कर्षणात् तं वै प्राहुः संकर्षणं भुवि। रामेति लोकरमणात् बलं बलवदुच्छ्रय तु।।' (भा० १० । २ । १३) योगनिद्रया देवक्याः गर्भस्य रोहिणीं प्रति संकर्षणात् - प्रापणाद्धेतोः संकर्षणं प्राहुः, लोकस्य रमणात् = प्रीत्युत्पादनात् रामेति, बलवत्सु उच्छ्रयात् = आधि-

कयाद्धेतोः बलं कथयन्ति। प्रकृष्टं द्युम्नं = बलं यस्य तस्मै प्रद्युम्नाय नमः, न निरुद्ध्यते केनापि परमस्वतन्त्रत्वादनिरुद्धः तस्मै नमः। सात्वताः = भगवद्भक्तास्तेषां पतये = रक्षित्रे नमः। शुद्धाय = वेदनिन्दातात्पर्यरहिताय दैत्यदानवानां मोहिने बुद्धाय नमः। म्लेच्छप्रायाणां राज्यकारिणां क्षत्राणां - क्षत्रियाणां हन्त्रे कल्किरूपिणे ते = तुभ्यं नमः। कलिं तद्दोपान् च कृन्तति = छिनत्तीति कल्किः तादृशं रूपमस्येति तस्मै।

एवमन्येऽपि-नरनारायणकपिलदत्तात्रेयसनकादिचतुष्टयः ऋषभदेवगजोद्धारकादयो भूयांसोऽवताराः श्रीमद्भागवते प्रतिपादिताः संति। यदाह-'अवतारा असंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विज।' (भा० १।३।२६) इति। अत एव भगवता कृष्णद्वैपायनव्यासेन तत्तदवतारनामभिस्तत्तत्पुराणानि मत्स्यपुराण-कूर्मपुराणवाराहपुराणवामनपुराणनृसिंहपुराणादीनि विरच्य तत्तदवतार-चरित्रसदुपदेशादिकं तत्र तत्र विस्तरतोऽभिवर्णितम्। भगवतः षाड्गुण्यपरिपूर्णस्यावतारोऽस्ति स्वसंकल्पपूर्वकभक्ताधीनाभिव्यक्तीकृतदिव्यविग्रहो भक्त-वात्सल्याद्यनेकगुणगणोपेतश्च। यदाह-तृतीय दशमे च श्रीमद्भागवते 'तान्येव तेऽभिरूपाणि, रूपाणि भगवंस्तव। यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः।' (भा० ३।२४।३१) इति।

भगवन्! आप यद्यपि परमार्थतः प्राकृत एवं भौतिक रूपसे रहित हैं, तथापि आपके जो चतुर्भुज आदि अलौकिक रूप हैं, वे ही आपको विशुद्ध - माया शक्तिसे समुद्भासित होनेके कारण, कार्यक्षम हैं, योग्य हैं तथा जो मनुष्य-सदृश-रूप आपके भक्तोंको प्रियतम हैं, वे भी आपको रुचिकर प्रतीत होते हैं। भगवान् जीवों पर कृपा करने के लिए ही अपने को मनुष्य रूपमें प्रकट करते हैं, और ऐसी लीलाएं करते हैं जिन्हें सुन कर जीव भगवत्परायण हो जाएं।

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः। भजते तादृशीः क्रीडाः, याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥' (भा० १०।३३।३७) इति। अत एव पुराणादिषु भगवतः पूर्णावतारविभवावतारस्वरूपावतारांशावतारगुणावतारव्यूहान्तरावेशावतारस्फूर्त्यवतारार्चावतारादिविशेषा अभिवर्णिताः सन्ति। यत्र किल षोडशकलाः प्रादुर्भवन्ति, स पूर्णावतारो नित्यलीलाविभूतिनिलयोऽभिधीयते। अत एव भगवन्तः श्रीकृष्णश्रीरामश्रीशिवादयः पूर्णावताररूपेण प्रसिद्धाः सन्ति। अहोभाग्यमहोभाग्यं, नन्दगोपव्रजौकसाम्। यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥' (भा० १०।१४।३२) 'गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्।' 'परं ब्रह्म नराकृति।' 'राम एव परं ब्रह्म, राम एव परा गतिः। मनःशान्तिकरो रामो ब्रह्मेन्द्रादिनमस्कृतः॥' 'सर्वव्यापिनमीशानं रुद्रं वै विश्वरूपिणम्।' 'तमीशानं जगतस्तस्थुषश्च पतिम्।' (ऋग्वेद) इत्यादि प्रामाण्यात्।

तत्र विभवावतारो नाम विविधविस्मयत्वापादकातिमानुषकार्ययोग्यं यथा भवति, तथा दिव्यं देहं प्रकटयन् स्थितः यथा वामननृसिंहमत्स्यकूर्मवराहादिः । स्वरूपावतारो नाम केषुचिच्चेतनेषु स्वस्वरूपेण सन्निधीभूय स्थितः, यथा कपिलव्यासदत्तात्रेयशेषादयः । अंशतोऽवतीर्य स्थितोंऽशावतारः यथा पृथुधन्वन्तरिप्रभृतिः । गुणतोऽवतीर्य स्थितो गुणावतारो यथा सनकादयः । व्यूहावतारो नाम कार्यविशेषकरणाय मिलित्वा समूहरूपेण स्थितः, यथा श्रीकृष्णसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धचतुष्टयः । श्रीकृष्णस्य पूर्णावतारत्वेऽपि तत्रान्तर्गततया तत्त्वमपि । आवेशावतारो नाम तत्तदद्भुतशक्त्यावेशेनाभिव्यक्तो यथा परशुरामादिः । एवं 'यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं, श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ (गी० १० । ४१) 'यत्किञ्च लोके भगवन्महस्वद्, ओजःसहस्वद् बलवत्क्षमावत् । श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं, तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम् ॥' (भा० २ । ६ । ४४) ।

इस विश्वमें जो भी कुछ मानवादि प्राणी ऐश्वर्य, तेज, इन्द्रियबल, मनोबल, शरीरबल एवं क्षमासे युक्त हैं अथवा जो भी विशेष-सौन्दर्य, लज्जा, वैभव तथा विभूति से युक्त हैं एवं जितनी भी वस्तुएं अद्भुत वर्णवाली एवं रूपवान् या अरूप हैं, वे सब के सब परम तत्त्वमय भगवत्स्वरूप ही हैं, ऐसा निश्चय करना चाहिए ।

इत्यादिना प्रतिपादिताः आधुनिका अपि महानुभावाः तत्तदसाधारणधर्मस्फूर्तिभिः प्रसिद्धाः स्फूर्त्यवताररूपा मन्तव्याः । अर्चावतारस्तु अर्चकाधीनास्थितिकः, सोऽपि गृहायतनभेदाद् द्विविधः । तत्र गृहार्चावतार उपासकैर्भक्तैर्गृहदेवालयादौ पूज्यत्वेन स्थापिता मन्त्रादिसंस्कृता मूर्तिः । अवतारत्वन्तु तस्मिन् मन्त्रादिबलतः सन्निधीभूय भगवतोऽवस्थानात् । आयतनार्चावतारस्तु शालग्रामनर्मदेश्वरतत्तत्पवित्रमंत्रनामादिषु स्वसंकल्पादिना सन्निधीभूय स्थितः । अत एव तेषां परमात्मत्वेन पूजाजपादितः फललाभ उच्यते शास्त्रेषु । यद्यपि चराचरेषु सर्वेष्वपि पदार्थेषु स एव परमेश्वरः तत्तन्न्यूनाधिकशक्त्या सन्निहितः इति सर्वस्य तदात्मत्वमुक्तं - श्रुतिस्मृतिपुराणादिषु - 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (शु० य० ३१ । २) 'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु' (शु० य० ३२८) 'वासुदेवः सर्वम् ।' (गी० ७ । १६) 'भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किञ्चन ।' (भा० १० । १४।५६) 'एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चित्तदच्युतः ।' (विष्णु पु० २ । १६ । २३) इत्यादिषु । तथापि विचित्रकार्यानुकूलशक्त्या तेष्वसन्निधानान्न तेषामवतारत्वव्यपदेशः । यद्यपि स एव भगवान् सच्चिदानन्दाश्रयरूपेण सर्वत्र निगूढतया समनुगतोऽस्ति, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० उ० ६ । ११) 'गूढोत्मा न प्रकाशते ।' (क० उ० ३ । १२) 'नाहं

प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' (गी० ७ । २५) इत्यादिशास्त्रप्रामाण्यात् । तथापि स स्वकीयकलानां तरतमभावेन यथा योग्यं सर्वत्र प्राकट्यं करोत्येव । यथाहि—अन्नमयकोशप्रधानेषूद्भिज्जयोनिषु भगवान् एककलायाः प्राकट्यमस्ति प्राणमयकोशप्रधानेषु स्वेदजयोनिषु च कलाद्वयस्य, मनोमयकोशप्रधानेषु अण्डजयोनिषु च कलात्रयस्य, विज्ञानमयकोशप्रधानेषु अश्वादिपशुयोनिषु च कलाचतुष्टयस्य, आनन्दमयकोशप्रधानेषु मनुष्ययोनिषु च कलापञ्चकस्य, ततः पञ्चकोशसंवेदान्निर्गतेषु - ब्रह्मनिष्ठतत्त्वदर्शिमहात्मसु च यथायोग्यं क्रमशः षट्सप्ताष्टकलानां प्राकट्यं भवति । यतो मनुष्यशरीरधारिषु तेषु ततोऽधिककलाधारणसामर्थ्यं नास्ति । अतस्तत्राधिककलास्फूर्तिं नावलोक्यते । तथापि ते स्फूर्त्यवतारत्वेनाभिधातुं शक्यन्त एव । परन्तु येषां विग्रहाः विशुद्धसत्त्वात्मकदिव्योपादानेन प्रकटिता भवन्ति, ते भगवतो विभवावतारादिनामभिः प्रसिद्धाः भवन्ति । श्रीकृष्णादयस्तु भगवतः पूर्णावतारा एव । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।' (भा० १ । ३ । २८) इत्याद्युक्तत्वात् । भगवान् उपासकानां भक्तानां कृते मनोहरोऽलौकिक-सामर्थ्यशाली स विग्रहो भाति, परन्तु स एव तत्त्वदर्शिनां ब्रह्मनिष्ठानां कृते सच्चिदानन्दरूपेणापि प्रतिभातीति विशेषः । यदाह—'ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं । तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्र आत्मा । अस्माकं तु प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दो मेघश्यामः कनकपरिधिः पंकजाक्षोऽयमात्मा ।' इति ।

यथा भूमौ बीजांकुरद्रुमाः सन्ति, द्रुमे च फलशलाटवः । तथा शुद्धचैतन्ये भूस्थानीये परमात्मनि बीजादिस्थानीयाः ईशसूत्रविराजः च सन्ति विराजि द्रुमस्थानापन्ने रामकृष्णादयोऽवताराः फलस्थानीयाः । अस्मदादयश्च, शलाटुस्थानापन्नाः । यथा फलान्तर्गते बीजे द्रुमप्रसवसामर्थ्यमस्ति, न शलाटुवन्तर्गते, एवं रामकृष्णादिषु जगत्सृष्ट्यादिसामर्थ्यमस्ति, नास्मदादिषु । यथा बीजादयः सन्ति भूमात्राः सत्ताविशिष्टशक्तियोगात् भुवाऽऽपूरिताः अंकुरादिभावं प्रतिपद्यन्ते एवमीशादयोऽपि वस्तुतश्चिन्मात्रा एव सन्तो मायाशक्तियोगाच्चिदापूरिताः सूत्रादिभावम् । विराजो नानावताराणामस्ति निदानत्वं फलादीनां द्रुम इवेति श्रीमद्भागवते प्रथमेऽप्याह महाभागः सूतः - 'पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा, सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् । सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं, सहस्रमौल्यंबरकुण्डलोल्लसत् ॥ एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् । यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः । (भा० १।३।४-५) ।

योगी लोग दिव्य - दृष्टि से भगवान् के उस विराट्रूप का दर्शन करते हैं । भगवान् का वह रूप हजारों यानी असंख्य-पैर, जांघें, भुजाएं और मुखोंके कारण अत्यन्त विलक्षण है, उसमें असंख्य-सिर, कान, आंखें और नासिकाएं हैं, असंख्य

मुकुट वस्त्र और कुण्डल आदि आभूषणों से वह उल्लसित रहता है। भगवान् का यही विराट्रूप, जिसे आदि नारायण कहते हैं, अनेक-अवतारोंका अक्षय कोष है, इसीसे समग्र-अवतार प्रकट होते हैं, इस रूपके छोटे-से-छोटे अंशसे देवता, पशु-पक्षी और मनुष्यादि योनियों की सृष्टि होती है।

इति एतद् विराजो रूपं योगिनां प्रत्यक्षमित्याह-पश्यन्तीति। अदभ्रं = अनल्पं - अनन्यभक्तिपूर्णमद्वयज्ञानात्मकं यच्चक्षुस्तेन। सहस्रं = अपरिमितानि यानि पादादीनि तैरद्भुतम्। सहस्रमूर्धादयो यस्मिंस्तत्। सहस्रं यानि मौल्यादीनि तैरुल्लसत् = शोभमानम्। एतत् = आदिनारायणरूपं। निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं = कार्यावसाने प्रवेशस्थानमित्यर्थः। बीजं = उद्गमस्थानं। बीजत्वेऽपि नान्यबीजतुल्यं किन्त्वव्ययम्। न केवलमवताराणामेव बीजं, किन्तु सर्वप्राणिनामपीत्याह – यस्यांशो ब्रह्मा तस्यांशो मरीच्यादिस्तेन। तत्रास्मदादीनां रामकृष्णादिभावः कीटभृङ्गन्यायेन प्रकृष्टभावनाजन्यः, विराजादिभावस्तु लवणोदकन्यायेन मनःप्रणिधानसंपाद्यो भवति।

एवं श्रीहरेरनुवर्तिनां भक्तानां कथा अपि श्रीमद्भागवते प्रतिस्कन्धं प्रत्यध्यायञ्च विविधाख्यानोपबृंहिताः सत्यो वर्णिताः संति। तत एव विज्ञेयाः। तेषां महानुभावानां कथाश्रवणेन चेतोमलानि निवर्तन्ते, दयाक्षमावैराग्यभक्त्यादिकञ्च श्रोतॄणां हृदयेषु प्रादुर्भवतीत्यलमतिपल्लवितेन।

(८) निरोधः

निरोधलक्षणमाह–द्वितीये-'निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः।' (भा० २। १०। ६) इति।

(८) निरोध

जब भगवान् योगनिद्रा स्वीकार करके शयन करते हैं, तब इस जीव का अपनी उपाधियोंके साथ उनमें लीन हो जाना 'निरोध' है।

अस्यात्मनो जीवस्य श्रीहरेर्योगनिद्रामनु = पश्चात् शक्तिभिश्च = उपाधिभिः सह शयनं = लयः-निरोध इत्यर्थः। अयमेव निरोधः - प्रलयः संप्लवः संस्था चेति पर्यायैरपि निरूप्यते। यदाह - द्वादशे 'नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः। संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः॥' (भा० १२। ७। १७) अस्य = विश्वस्य द्वैतप्रपञ्चस्य, स्वभावतः = मायातो निष्पन्नस्य, यश्चतुर्विधो लयः, स एव कविभिः = विद्वद्भिः संस्थेति पर्यायेण प्रोक्तः। नैमित्तकप्रलयस्य लक्षणमाह-'चतुर्युगसहस्रं च ब्रह्मणो दिनमुच्यते।

स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशांपते ! ॥ तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता । त्रयो लोका इमे तत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥ एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् । शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः ॥' (भा० १२ । ४ । २ - ३ - ४) इति ।

इस विश्व ब्रह्माण्डका स्वभावसे ही प्रलय हो जाता है, उसके चार भेद हैं – नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य और आत्यन्तिक । तत्त्वज्ञ-विद्वानोंने इन्हींको 'संस्था' कहा है । एक हजार चतुर्युगी का ब्रह्माका एक दिन होता है । ब्रह्माके इस दिन को ही कल्प भी कहते हैं । एक कल्प में चौदह मनु होते हैं । कल्पके अन्त में उतने ही समय तक प्रलय भी रहता है । प्रलय को ही ब्रह्माकी रात भी कहते हैं । उस समय ये तीनों लोक लीन हो जाते हैं, उनका प्रलय हो जाता है । इसका नाम नैमित्तिक प्रलय है । इस प्रलय के अवसर पर सारे विश्वको अपने अन्दर समेट कर लीन कर ब्रह्मा और तत्पश्चात् शेषशायी भगवान् नारायण भी शयन कर जाते हैं ।

तत्र तावत्कल्पस्य मानमाह–चतुर्युगेति । यत्र कल्पे क्रमेण चतुर्दशमनवो भवन्ति । मन्वन्तरमानन्तु युगानामेकसप्ततिरित्युक्तं ज्ञेयम् । तत्र मानसहितं नैमित्तिकं प्रलयमाह - तदन्त इति द्वाभ्याम् । तावान् = चतुर्युगसहस्रप्रमाणः, सैव ब्राह्मी रात्रिः । नैमित्तिकत्वं दर्शयति - यत्र = यदा, विश्वसृक् = जगत्स्रष्टा विश्वं, आत्मसात्कृत्य स्वस्मिन्नुपसंहृत्य,अनन्तः आसनं यस्य सोऽनन्तासनः = श्रीनारायणः, शेते । आत्मभूः = ब्रह्मा च तस्मिन् शेते । तयोरभेदविवक्षया वा ब्रह्मण एवानन्तासनत्वमुक्तम्; एष ब्रह्मणो निद्रां निमित्तीकृत्य प्रवर्तमानो लोकत्रयप्रलयो नैमित्तिकः प्रोक्त इत्यर्थः = प्राकृतिकप्रलयस्य लक्षणमाह – 'द्विपरार्धेत्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥ एष प्राकृतिको राजन् ! प्रलयो, यत्र लीयते । आण्डकोशस्तु संघातो विघात उपसादिते ॥' (भा० १२ । ४ । ५ - ६) इति ।

इस प्रकार रातके बाद दिन और दिनके बाद रात होते - होते जब ब्रह्माजी की अपने मानसे सौ वर्ष की और मनुष्यों की दृष्टिमें दो - परार्धकी आयु समाप्त हो जाती है, तब महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्रा – ये सातों प्रकृतियां अपने कारण मूल - प्रकृतिमें लीन हो जाती हैं । हे राजन् ! इसीका नाम प्राकृतिक प्रलय है । इस प्रलयमें प्रलयका कारण उपस्थित होने पर पंचभूतोंके मिश्रणसे बना हुआ ब्रह्माण्ड अपना स्थूल रूप छोड़ कर कारणरूपमें स्थित होजाता है, घुल-मिल जाता है ।

परमेष्ठिनः = परमे सर्वोत्तमे स्थानेऽवस्थातुः-सर्वोत्तमस्य ब्रह्मणः आयुर्भूतो द्विपरार्द्धः कालः । अयमेव महाकल्प इत्युच्यते । दैनंदिनः कल्प इत्यभिधीयते । तस्मिन् महाकल्पे त्वतिक्रान्ते सति, तदा सप्त प्रकृतयः = मह-

दहकरपञ्चतन्मात्राणि प्रलयाय कल्पन्ते । विघाते = विघातकारणे उपसादिते = प्राप्ते सति, सप्त प्रकृतीनां संघातः कार्यरूपो यत्र लीयते, स एष हे राजन् ! प्राकृतः प्रलयः = प्रकृतीनां तत्कार्यब्रह्माण्डस्य च प्रलयात् प्राकृतिक इत्यर्थः ।

विघातकारणप्रकारस्त्वेतादृशो विज्ञेयः - यदा भूमौ शतवर्षाणि पर्जन्यो न वर्षति तदा क्षुधार्दिताः सर्वेऽपि प्राणिनो म्रियन्ते । समुद्रादेः सर्वं जलं प्रलयकालिकः सूर्यः स्वकीयप्रचण्डरश्मिभिः समाकर्षति । ततः शेषरूपसंकर्षणमुखादुत्थितो वह्निः प्रचण्डवायुवेगेन प्रज्वलितो भूरादीन् सर्वान् लोकान् दहति । उपर्यधः समन्तात् वह्निसूर्ययो र्ज्वालाभिर्दह्यमानं ब्रह्माण्डं 'दग्धगोमयपिण्डवद्' विभाति । ततो बलीयान् प्रलयकालीनः प्रचण्डः पवनो वाति । तदा रजोभरावृत आकाशो धूम्रवर्णो भवति । ततः शतं वर्षाणि तीव्रगर्जितैर्महान्तो मेघा वर्षन्ति । ततश्च विश्वं एकार्णवोदकेन व्याप्तं भवति । कदाचित् तत्र तपःप्रभावात् उर्वरितः - अवशिष्टो मार्कण्डेयो महर्षिः – 'एक एवार्णवे भ्राम्यन् ददर्श पुरुषं किल । वटपत्रपुटे तोकं शयानं त्वेकमद्भुतम् ॥' (भा० १२ । ८ । ४) इति ।

जिस समय समग्र - पृथिवी प्रलयकालीन समुद्रमें डूब गयी थी, उस समय मार्कण्डेय जी उसमें डूब - उतरा रहे थे, और उन्होंने अक्षयवटके पत्तेके दोनेमें अत्यन्त - अद्भुत - और सोये हुए - बालमुकुन्दका दर्शन किया ।

अर्णवे = प्रलयार्णवे, एक एव भ्राम्यन् = भ्रमणं कुर्वन् वटपत्रपुटे शयानं, पुरुषं = पुरुषाकारं, एकं = अद्भुतं तोकं बालं ददर्श इत्यपि प्राहुः । तत्र वर्तमानस्य बालस्य स्वरूपमीदृशं प्रसिद्धं वर्णयन्ति - 'करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् । वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ॥' इति ।

तदा भूमे र्गन्धगुणमापो ग्रसन्ति, अतो ग्रस्तगंधा पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते, सा चाप्सु प्रलीयते । एवमपां रसं तेजो ग्रसति, ताश्च नीरसाः आपः तेजसि प्रलीयन्ते । तेजसो रूपं वायुर्ग्रसति, रूपरहितं – तेजस्तदाऽनिले लीयते, वायोर्गुणं स्पर्शमाकाशो ग्रसति, ततश्च स्पर्शरहितो वायुराकाशं प्रविशति । एवं नभसो गुणं शब्दं तामसाहंकारो ग्रसति । ततश्च शब्दशून्यं नभस्तत्र लीयते । एवं वृत्तिसहितानीन्द्रियाणि राजसोऽहंकारो ग्रसति । एवमिन्द्रियाधिष्ठातॄन् देवान् सात्त्विकोऽहंकारो ग्रसति । तं त्रिविधमप्यहंकारं महत्तत्वं ग्रसति, तं च प्रकृतेः सत्त्वादयो गुणाः ग्रसन्ति । एवं प्रलयकालप्रेरितमव्याकृतं प्रधानं तान् गुणान् ग्रसति । तस्य तु ब्रह्मविद्यामन्तरेण लयो न सम्भवति । 'लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाव्यक्तयो र्यदा ।

शक्तयः संप्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुताः ॥' (भा० १२ । ४ । २२) ।

यहाँ प्राकृतिक प्रलय है, उस समय पुरुष और प्रकृति दोनोंकी उपाधियाँ एवं शक्तियाँ कालके प्रभावसे क्षीण हो जाती हैं, और विवश होकर अपने मूल-निर्विशेष स्वरूपमें लीन हो जाती हैं ।

उपसंहरति – लय इति । शक्तयः = सत्त्वादयः, संप्रलीयन्ते = साम्येनानुद्बुधास्तिष्ठन्ति । शक्तयः = पुरुषोपाधिभूताः पृथिव्यादयो वा, स्वस्वकारणेषु विलीयन्ते । कालेन = प्रलयकालेन, विद्रुताः = अभिभूताः, अत एव विवशाः ।

ब्रह्मनिर्वाणाख्यः आत्यन्तिक-प्रलयः

विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पन्नस्य श्रवणादिभिर्यदा प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मसाक्षात्कारः सम्पद्यते, तदा ब्रह्मनिर्वाणाख्यः सर्वद्वैतप्रपञ्चस्य विलयात्मकोऽव्यक्तमायया सह-आत्यन्तिकलयो मोक्षः ब्रह्मविज्ञानेन सिद्ध्यति । स च द्वादशे श्रीमद्भागवते विस्तरत इत्थमुपपादितः–तथाहि 'बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम् । दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥ २३ ॥ दीपश्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथग् भवेत् । एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात् ॥ २४ ॥ बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते । मायामात्रमिदं राजन् ! नानात्वं प्रत्यगात्मनि ॥ २५ ॥ यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च । ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात् ॥ २६ ॥ सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह । विनार्थेन प्रतीयरेन् पटस्येवाङ्ग ! तन्तवः ॥ यत् सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः । अन्योऽन्यापाश्रयात् सर्वमाद्यन्तवदवस्तुयत् ॥२८॥ विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मनमन्तरा । न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत् ॥२९॥ न हि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते । नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषो वातयोरिव ॥ ३० ॥ (भा० १२ । ४) इति ।

ब्रह्मनिर्वाण नामका आत्यन्तिक प्रलय

हे परीक्षित् ! श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं – अब मैं तुम्हें आत्यन्तिक-प्रलय यानी ब्रह्मनिर्वाणरूप – मोक्षका स्वरूप बतलाता हूं । बुद्धि, इन्द्रिय और उनके शब्दादि विषयोंके रूपमें उनका अधिष्ठान - ज्ञानस्वरूप - अद्वय ब्रह्म ही भासित हो रहा है, उन सब आरोपित - बुद्ध्यादियोंका आदि भी है, और अन्त भी । इसलिये वे सब परमार्थ - सत्य नहीं हैं, किन्तु मिथ्या - प्रतिभासमात्र हैं । वे दृश्य हैं, और अपने अधिष्ठानसे भिन्न उनकी सत्ता भी नहीं है; इसलिये वे सर्वथा मिथ्या - माया-

मात्र हैं। जैसे दीपक, नेत्र और रूप; ये तीनों तेजसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही बुद्धि, इन्द्रिय और इनके विषय शब्दादि तन्मात्राएं भी अपने अधिष्ठानस्वरूप – ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं, यद्यपि वह अधिष्ठान ब्रह्म, इनसे सर्वथा भिन्न है। जैसे रज्जुरूप-अधिष्ठानमें अध्यस्त सर्पादि अपने अधिष्ठानसे पृथक् नहीं है, परन्तु अध्यस्त-सर्पादिसे अधिष्ठानका कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः वह उनसे पृथक् है। हे राजन् ! जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति – यह तीनों अवस्थाएं बुद्धिकी ही हैं, अतः इनके कारण - अन्तरात्म में जो विश्व, तैजस और प्राज्ञरूप नानात्वकी प्रतीति होती है, वह केवल मायामात्र है, बुद्धिगत नानात्वका एकमात्र सत्य आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह विश्व उत्पत्ति और प्रलयसे ग्रस्त है। इसलिये अनेक - अवयवोंका समूह - अवयवी है, अतः यह कभी ब्रह्ममें होता है, और कभी नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे आकाशमें मेघमाला कभी होती है, और कभी नहीं होती। हे प्रिय परीक्षित् ! जगत्के व्यवहारमें जितने भी अवयवी पदार्थ होते हैं, उनके न होने पर भी उनके भिन्न - भिन्न - अवयव सत्य माने जाते हैं, क्योंकि - वे उनके कारण हैं। जैसे वस्त्ररूप अवयवीके न होने पर भी उसके कारणरूप - सूतका अस्तित्व माना ही जाता है, उसी प्रकार कार्यरूप जगत्के अभावमें भी इस जगत्के कारणरूप - अवयवकी स्थिति हो सकती है। परन्तु अधिष्ठान - ब्रह्ममें यह कार्य कारणभाव भी वास्तविक नहीं है, क्योंकि– देखो, कारण तो सामान्य वस्तु है और कार्य विशेष वस्तु। इस प्रकारका जो भेद दिखायी देता है, वह केवल भ्रम ही है। इसका हेतु यह है कि – सामान्य और विशेषभाव-आपेक्षिक हैं, अन्योऽन्याश्रित हैं। विशेषके विना सामान्य और सामान्यके विना विशेषकी स्थिति नहीं हो सकती। कार्य और कारणभावका आदि और अन्त दोनों ही मिलते हैं, इसलिये भी वह स्वाप्निक - भेदभावके समान सर्वथा अवस्तु - मिथ्या मात्र है। इसमें सन्देह नहीं कि – यह द्वैतप्रपंचरूप विकार स्वाप्निक विकारके समान ही प्रतीत हो रहा है, तो भी यह अपने अधिष्ठान - ब्रह्मस्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं है। कोई चाहे भी तो आत्मासे भिन्नरूपमें अणुमात्र भी इसका निरूपण नहीं कर सकता। यदि आत्मासे पृथक् इसकी सत्ता मानी भी जाय, तो यह भी चिद्रूप आत्माके समान स्वयंप्रकाश होगा, और ऐसी स्थितिमें वह आत्माकी भांति ही अखण्ड - एकरसरूप ही सिद्ध होगा। परन्तु इतना तो सर्वथा निश्चित है कि – परमार्थ - सत्यवस्तुमें नानात्व नहीं है। यदि कोई अज्ञानी परमार्थ - सत्य वस्तुमें नानात्व स्वीकार करता है, तो उसका वह मानना वैसा ही है, जैसा महाकाश और घटाकाशका, आकाशस्थित सूर्य और जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यका तथा बाह्य वायु और आन्तरिक वायुका भेद मानना।

अयमर्थः — द्वैतप्रपञ्चस्यात्मवत्सत्यत्वे न हि लयः सम्भवतीति ज्ञानस्वरूपाद्ब्रह्मणः पृथग्भूतस्य तस्यासत्त्वमुपपादयति बुद्धिश्चेन्द्रियाणि चार्था-

श्चेत्येवं ग्राहककरणग्राह्यरूपेण तेषां बुद्ध्यादीनामाश्रयभूतमात्मस्वरूपं ज्ञानमेव भाति । न ततः पृथक् किञ्चिदस्ति । तत्र हेतुमाह – दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामिति । अतो यद् आद्यन्तवत्, तदवस्तु = मिथ्याभूतमेव । अत्रैवं प्रयोगः विमत, बुद्ध्यादिद्वैतं, परमार्थसन्न भवति, दृश्यत्वात्, कारणाव्यतिरेकाद् आद्यन्तवत्त्वाच्च रज्जुसर्पवत् स्वप्नदृश्यवत् घटादिवच्च । तत्राव्यतिरेकमेव दृष्टान्तेन प्रपञ्चयति - दीप इति । दीपचक्षूरूपाणां तेजोविशेषाणां यथा तेजसः स्वकारणादव्यतिरेकः, तथा धीः = कर्त्री, खानि = इन्द्रियाणि - करणानि, मात्राः = शब्दादयो विषयाः - अर्थाः, ऋतात् = सत्यात् - ब्रह्मणः पृथक् न स्युः, ब्रह्मकार्यत्वात् । नन्वेवं कार्यकारणयोरभेदे कार्यगतविकारः कारणे ब्रह्मण्यपि प्रसज्येत ? कार्यासत्त्वे कारणस्याप्यसत्त्वं च प्रसज्येतेत्याशङ्क्याह अन्यतमादिति । कार्यादत्यन्तव्यतिरिक्तादित्यर्थः । प्रपञ्चाद् ब्रह्मणोऽस्ति व्यतिरेकः = पार्थक्यं, परन्तु प्रपञ्चस्य तु ततो नास्ति व्यतिरेक इत्याशयः । दृष्टश्चायं विवेको मृद्घटादावपि – मृदः तत्कार्यभूता घटादयो न व्यतिरिच्यन्ते, परन्तु घटादिभ्यो मृद्द्रव्यं व्यतिरिच्यत एव । यतस्तेषामुत्पत्तिविलयाभ्यामादावन्ते च मृद एव विद्यमानत्वात् अवशिष्यमाणत्वाच्च । मृद् यदि पृथक् न स्यात्तेभ्यस्तदा तेषां विनाशे सति मृदोऽपि विनाश उपलभ्येत, नोपलभ्यते, अतो मृद् तेभ्यः पृथगेवास्तीति विनिश्चीयते । यदा तु बुद्धेरसत्त्वं, तदा तदवस्थानां जागरादीनां सुतरामसत्त्वमित्याशयेनाह – बुद्धेरिति । जागरणाद्यवस्थात्रयन्तु विवेकिभिर्बुद्धेरेवेत्युच्यते । अतो हे राजन ! प्रत्यगात्मनि त्विदमवस्थाप्रयुक्तं नानात्वं विश्वतैजसप्राज्ञरूपं मायामात्रं = अविद्याकल्पितमित्यर्थः । यद्वा ननु – विश्वतैजसप्राज्ञानामेता अवस्था न बुद्धेरित्याशंक्याह – मायामात्रमिति । विश्वादीनामौपाधिकत्वात्, उपाधीनां स्थूलादिशरीराणाञ्च मायया कल्पितत्वात् तत्प्रयुक्तं विश्वादीनां नानात्वमपि - मायाकल्पितमेव विज्ञेयं, न वास्तविकमिति भावः । इदं = विश्वतैजसप्राज्ञरूपम् । 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' इत्यतो जगत उत्पत्तिप्रलयौ न स्तः, इत्यध्वरमीमांसकमतेन विश्वस्याद्यन्तवत्त्वं नास्तीति 'आद्यन्तवत्त्वादि' त्यस्य हेतोरसिद्धिमाशंक्य सावयत्वेन हेतुना तत्साधयति । यथेति । उदयाप्ययात् = उत्पत्तिविलयात् - आद्यन्तवत्त्वात् इदं = अवयवि कार्यभूतं विश्वमपि, तथैव कदाचिद्भवति, कदाचित् विलयसमये न भवतीत्यर्थः । यत् अवयवि = सावयवं, तद् आद्यन्तवद् घटादिवत् दृष्टम् - अत एव विश्वं सन्न भवति, किन्तु आगमापायित्वाद्विश्वं मिथ्यैव सिद्ध्यति । ब्रह्म तु तदवधित्वात् तदाश्रयत्वाच्च सत्यमित्यनेन साध्यते । दृष्टान्तस्तु पूर्वोक्त एव । यथा जलधरा व्योम्नीति दृष्टान्तस्तु विश्वस्यागमापायित्वे,

ब्रह्मणस्तदवधित्वमात्र एव प्रत्येतव्यः, न तु विश्वस्य मिथ्यात्वे । अन्यतम इ तादिति प्रतिज्ञातं कारणस्य ब्रह्मणः सत्यत्वमुपपादयति - सत्यमिति । अवयवः कारणं सत्यं प्रोक्तं, कैः ? 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।' (छां० उ० ६ । १ । ४) इत्यादिश्रुतिभिः । अत्र युक्तिमपि दर्शयति - विनेति । अंग ! = हे प्रिय ! राजन् ! हि = यस्मात् अर्थेन - अवयविना विनापि तदभावदशायामपि अवयवाः पृथक् प्रतीयेरन् । तत्र दृष्टान्तः- यथा पटस्याव-यविनोऽवयवाः तन्तवः पटात् पृथक् प्रतीयन्ते, अतः पटं विना पृथक्प्रतीतेः तन्तूनां सत्वमेव, तन्तून्विना पटस्य पृथगप्रतीतेरसत्त्वमिति, तद्वदित्यर्थः । ननु-यदि कार्यकारणयो भेदो नास्ति, तदा कथं तयोर्भेदव्यवहारः ? इत्याशंक्याह-यदिति । सामान्यं = कार्यमात्रेऽनुगतं कारणम्, विशेषः = तत्तद्रूपेण पृथक्सिद्धं कार्यं, ताभ्यां यत् उपलभ्यते भेदः, स भ्रम एव । तत्र हेतुमाह - अन्योऽन्यापाश्रयादिति । पृथक्तयाऽनुपलंभादित्यर्थः । अतो यदाद्यन्तवत् तत्स-र्गमवस्तु = कारणव्यतिरिक्तं वस्तु न भवतीति सिद्धम् । यद्वा ननु - कार्याभावे कारणत्वं ब्रह्मणः कुतो घटेत ? । सत्यम् । तदपि नातीव सत्यमित्याह-यदिति । सामान्यं = कारणं, विशेषः = कार्यं, तद्रूपेणान्योऽन्यापाश्रयात् = परस्परापेक्षत्वेन कार्यत्वकारणत्वयोर्निरूपणासहत्वादित्यर्थः । अन्योऽन्यसि-द्धावन्योऽन्यापेक्षणमन्योन्याश्रयः, स च दोष एव । तथाहि - कारणत्वं हि कार्यत्वनिरूप्यं, कस्य कारणमित्यनुयोगविषयत्वात्, एवं कार्यत्वमपि कारण-त्वनिरूप्यं, कस्य कार्यमित्यनुयोगगोचरत्वादतोऽनयोः पौर्वापर्यनिर्णयाभावाद् दोषत्वमेवेति भावः । अतः-कारणत्वमवधित्वं व्यापकत्वमित्यादिकमपि यत्प-रापेक्षत्वादाद्यन्तवत्तत्सर्गमवस्त्वित्यर्थः । यद्वा तत्रैव हेत्वन्तरमेतत् । यद् भेदादिकमुपलभ्यते, स भ्रमः, सामान्यविशेषरूपत्वात्स्वप्नवत् । अन्योऽन्या-पाश्रयादितीदमपि हेत्वन्तरं, गुणगुणिविशेषणविशेष्यव्यापकत्वव्याप्य-त्वादिरूपेण परस्पराधीनसिद्धित्वात्, स्वप्नवत्, अतो यदाद्यन्तवत्तत्सर्गम-वस्त्वित्यर्थः । तदेवमनेकै र्हेतुभिः द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वलक्षणमसत्त्वं साधि-तम् । तत्र शंका । ननु - प्रपञ्चस्यापि नामरूपक्रियाभिः प्रकाशमानत्वादात्मव-त्सत्त्वं किं न स्यात् ? इति तत्राह- विकार इति । ख्यायमानः = प्रकाशमानो व्यवह्रियमाणोऽपि विकारः = कार्यप्रपञ्चः, प्रत्यगात्मानमन्तरा = प्रत्यगात्मप्रकाशं विनाऽणुमात्रोऽपि = लेशमात्रोऽपि न ततः पृथक् निरूप्यो-ऽस्ति । तं विनाऽपि स्वातन्त्र्येण निरूप्यः स्याच्चेत्, तर्हि सोऽपि चित्समः स्यात् = चिद्रूपेणात्मनः समः = स्वप्रकाशोऽविनाशी भवेत् । तथा च सति सोऽप्यात्मवत् स्यात्, एकरूपः स्यात् विविधविलक्षणरूपो न स्यादित्यर्थः । अतः प्रपञ्चः स्वातन्त्र्येण नास्ति निरूप्यः, यतोऽचितो जडस्य प्रपञ्चस्य प्रकाशः

चितं विहाय कदापि न भवत्यतश्चिदेव तत्तदाकारेण प्रकाशतेऽचितः पृथक्स-त्ताऽनङ्गीकारात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० उ०) 'नेह नानास्ति किञ्चन' (कठ० उ०) इत्यादिश्रुतेः । 'भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किंचन ।' (भा०) इति श्रीमद्भागवतस्मरणाच्च । कुत इत्यत आह । नहीति । ननु-सत्यस्याप्यात्मनो जीवब्रह्मरूपं नानात्वमस्त्येव तत्राह – यस्त्वेवं नानात्वं यो मन्यते, तर्हि सोऽविद्वान् । विद्वान् नानात्वं नहि मन्यते । कथं तर्हि तयोर्भेद-व्यहारः ? उपाधिकृत इत्याह–नानात्वमिति । तत्र छिद्रयोः = घटाकाशमहा-काशयोरिवेति परिच्छेदापरिच्छेदे दृष्टान्तः । ज्योतिषोः = आकाशजलस्थयोः सूर्ययोरिवेत्युपाधिकृतविकारसदसद्भावे । वातयोः = बाह्यशरीरस्थवाय्वोरिवेति क्रियाभेदे ।

एवं व्यष्टि-समष्टि-स्थूलसूक्ष्मकारणरूपशरीरत्रयबाधलक्षणः – आत्य-न्तिकप्रलयः – श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषदः प्रथमखण्डस्य प्रास्ताविकवक्तव्ये ऽप्यस्माभिः दृष्टान्तपुरःसरोऽभिवर्णितः, अतस्तत्रैव स द्रष्टव्यो विशेषा-वगतिमिच्छद्भिः ।

नित्यप्रलयः

नित्यप्रलयो हि द्विविधः – प्रतिक्षणमवगम्यमानो देहादिसकलपदार्था-वस्थानां परिवर्तनलक्षण एकः । द्वितीयश्च निद्रादशायामनुभूयमानः सकल-पदार्थादर्शनात्मकः । तत्र तावदादिमस्य, नित्यप्रलयस्य लक्षणमाह– श्रीमद्भा-गवते द्वादशे – 'नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परंतप ! उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः संप्रचक्षते ॥ कालस्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा । परिणा-मिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः ॥ अनाद्यन्तवताऽनेन कालेनेश्वरमूर्तिना । अवस्था नैव दृश्यन्ते, वियति ज्योतिषामिव ॥' (भा० १२ । ४ । ३५-३६-३७) इति ।

नित्य-प्रलय

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – हे शत्रुदमन ! तत्त्वदर्शी लोग कहते हैं कि – ब्रह्मासे लेकर तिनके तक जितने प्राणी या पदार्थ हैं, सभी हर समय पैदा होते और मरते रहते हैं । अर्थात् नित्यरूपसे उत्पत्ति और प्रलय होता ही रहता है । संसारके परि-णामी पदार्थ नदीप्रवाह और दीपशिखा आदि क्षण-क्षण बदलते रहते हैं, उनकी बदलती हुई - अवस्थाओंको देखकर यह निश्चय होता है कि – देह आदि भी कालरूप सोतके वेगमें बहते-बदलते जा रहे हैं, इसलिये क्षण-क्षणमें उनकी उत्पत्ति और प्रलय हो रहा है । जैसे आकाशमें तारे हर समय चलते ही रहते हैं, परन्तु उनकी गति स्पष्टरूपसे नहीं दिखायी पड़ती, वैसे ही भगवान्के स्वरूपभूत अनादि - अनन्त कालके कारण

प्राणियोंकी प्रतिक्षण होनेवाली उत्पत्ति और प्रलयका भी पता नहीं चलता ।

अयमर्थः – हे परन्तप ! एके = केचित् सूक्ष्मज्ञाः = विवेकिनः, सर्वभूतानां = ब्रह्मादीनां नित्यदा = प्रतिक्षणमेव, उत्पत्तिप्रलयौ = संप्रचक्षते = कथयन्ति । एतदेवोपपादयति - कालेति । कालस्य स्रोतसः = प्रवाहस्य, वेगेन, आशुः = शीघ्रं ह्रियमाणस्य देहादेः–नित्यदा = सर्वदा दृश्यमाना या बालयुवादिरूपा अवस्थास्ता एव नित्यदा = प्रतिक्षणं जन्मप्रलययोः = उत्पत्तिविनाशयोः हेतवः = ज्ञापिकाः सन्ति । अयमाशयः – आरम्भकावयवसंयोग एवोत्पत्तिः, तद्विभाग एव विनाशः, तत्र प्रत्यवयविनां देहादीनां प्रत्यवयवेषु भुक्तान्नादिपरमाणूनां यदि संयोगविभागौ न भवेतां तर्हि दृश्यमानो वृद्धिह्रासाद्यवस्थाभेदो न स्यात् । अतः प्रतिक्षणं प्रतिपरमाणुपर्यन्तसंयोगविभागाववश्यमङ्गीकार्यौ, ताभ्यां च वृद्धिह्रासादिकं सेत्स्यति । तत्र दृष्टान्तमाह–परिणामिनामिति । यथा परिणामिनां = नदीप्रवाहप्रदीपज्वालादीनामुच्चनीचावस्थास्ताः, जन्मप्रलयहेतवः – तज्ज्ञापिकाः, तथेति देहादिः प्रतिक्षणं प्रध्वंसी प्रतिक्षणमवस्थाभेदवत्त्वात् प्रदीपादिवदित्यनुमानम् । 'सर्वे भावाः क्षणपरिणामिनः ऋते चितिशक्तेः' । इति सिद्धान्तात् । यदि प्रतिक्षणं परिवर्तनशीला अवस्था भवन्ति, तर्हि किं न दृश्यन्ते ? अतो हेतुरसिद्ध इत्याशंक्याह– अनाद्यन्तवता । तत्र हेतुः– ईश्वरमूर्तिना कालेन जायमाना अवस्था नैव लक्ष्यन्ते, आकाशे गच्छतां ज्योतिषां सूर्यचन्द्रादीनां गमनावस्थाविशेषा यथा नैव लक्ष्यन्ते, तद्वत् । तथा च यथा तेषां प्रदेशान्तरप्राप्त्यन्यथाऽनुपपत्त्या प्रतिक्षण गमनावस्थाः कल्प्यन्ते, तद्वदत्रापि बाल्यतारुण्यादिदर्शनेन तन्मध्यवर्तिन्यः परिवर्तनशीला अवस्थाः कल्प्यन्त इति न हेतुरसिद्ध इत्यर्थः ।

द्वितीयो नित्यप्रलयः – 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति (कै०उ०) 'सता सोम्य ! तदा सम्पन्नो भवति ।' (छां० ६ । ८ । १) 'स्वं ह्येनमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते ।' (छां० ६ । ८ । १) इत्यादिश्रुतिवचनानुमोदितः । अयं जीवसार्थः स्वापकाले तमसा निद्रालक्षणेनाभिभूतः सन - आच्छादितविशेषज्ञानः सन सुखरूपं स्वात्मानं प्राप्य सकलस्य द्वैतप्रपञ्चस्य विलयमनुभवतीत्यर्थः । तदा सुषुप्तौ सता = ब्रह्मणा सम्पन्नो भवति, अत एव स तद्भिन्नं द्वितीयं नैव पश्यति ।

एवं चतुर्विधप्रलयभावनया नामरूपात्मकस्य द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं विनिश्चित्यायं मुमुक्षुः निरन्तरं सकलद्वैतप्रपञ्चविलयाश्रयभूतपरमार्थसदद्वयब्रह्मानुसंधानमप्रतिबन्धेन संपाद्य ज्ञायमानब्रह्मानन्दानुभवलक्षणं पुरुषार्थं प्राप्तुं शक्नोतीति प्रलयविचारः सफलः सिद्ध्यति ।

एवं खण्डप्रलय महाप्रलयभेदेन नैयायिका अपि प्रलयमभ्युपगच्छन्ति

सांख्या अपि – प्रकृतेर्गुणत्रयस्य वैषम्यावस्थालक्षणेन विरूपपरिणामेन सृष्टिः प्रवर्तते, एवं साम्यावस्थालक्षणेन स्वरूपपरिणामेन सृष्टेः प्रलयं संभवतीति स्वीकुर्वन्ति ।

(६) मुक्तिः

मुक्तिर्ह्यस्ति स्वभावतः सर्वेषां प्राणिनां श्रेयस्करी प्रेयसी । तस्याः सामान्यलक्षणन्त्वस्ति समस्तदुःखनिवृत्त्युपलक्षितपरमानन्दप्राप्तिरिति । अत एव तां को जनो मतिमान् न वाञ्छेत् ? अपि तु सर्वेऽपि जनास्तामभिलषन्त्येव । तल्लाभाय च विविधानि साधनान्यनुतिष्ठन्त्यपि । यदाहुः संक्षेपशारीरकाचार्य्या अपि - 'निरतिशयसुखं च दुःखजातव्युपरमणं च वदन्ति मोक्षतत्त्वम् । उभयमपि जनोऽभिवाञ्छतीति स्फुटतरमस्य सदाऽस्ति मोक्षवाञ्छा ॥' (१ । ६ - ७) इति ।

(६) मुक्ति

निरतिशय - सुखकी प्राप्ति और दुःखसमुदायकी आत्यन्तिकी निवृत्ति ही मोक्षका स्वरूप है, ऐसा विज्ञजन कहते हैं, सामान्य - मानव भी इन दोनोंकी अभिलाषा रखता है, अतः इसे अतिस्पष्टरूपसे मोक्षकी वांछा बनी रहती है ।

लौकिकैरभिलष्यमाणनिरतिशयसुखादे र्मोक्षत्वे फलितमाह – उभयमपीति - अस्य = जनस्य । एवं प्राणिमात्रस्य मुमुक्षासद्भावे, किमु वक्तव्यं निरस्तनिखिलचित्तमलस्य तीव्रवैराग्यादिसम्पन्नस्य तत्सद्भावे ? मोक्षरूप सुखस्यैव तत्तद्विषयसम्बन्धेन लौकिकैरिष्यमाणत्वान्न तल्लौकिकसुखविलक्षणमिति भावः । सति चैवं सर्वेऽपि दार्शनिका विद्वांसो वेदबाह्याः वेदानुयायिनश्च स्वस्वमतानुसारेण तां विविधैर्लक्षणैर्वर्णयन्त्येव । तथाहि तत्र तावत् - शून्यवादिनो माध्यमिकाः बौद्धाः शून्यमात्रमात्मानमुपयन्तो निखिलमिदं शून्यमेव विपर्यासदर्शनेन तु सदात्मकमवभासते, परमार्थस्तुशून्यं विहाय न किञ्चिदपि तत्त्वमस्तीति शून्यभावनाप्रकर्षपर्यन्तात्तत्त्वज्ञानाच्छून्यभाव एवापवर्गाख्या मुक्तिरित्याहुः । अत एवापवर्गस्य लक्षणमेतादृशं विद्वद्भिरभिहितम् - 'यतो न यस्मिन् पतनं फलाशा,न बन्धनं चापि भयं न मृत्युः । पवर्गहीनं पदमीक्षितं वै, वतोऽपवर्गः कथितो मुनीन्द्रैः ॥' इति ।

जिससे कभी 'प' यानी पतन नहीं होता, जिसमें 'फ' यानी किसी भी फलकी इच्छा नहीं रहती, जिसमें 'ब' यानी किसी भी प्रकारका बन्धन नहीं रहता । जिसमें 'भ' यानी भय नहीं रहता, और जिसमें 'म' यानी मृत्यु नहीं होता । इसप्रकार पांच पवर्गसे हीन मोक्षपद - जो तत्त्वदर्शियोंके द्वारा साक्षात्कृत होता है, उसे श्रेष्ठ -

मुनियोंने अपवर्ग कहा है ।

क्षणिकविज्ञानवादिनो योगाचारा बौद्धास्तु क्षणिकं विज्ञानस्कन्धमात्मत्वेन मन्यमानाः 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, सर्वं दुःखं-दुःखं, सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणं, 'सर्वं शून्यं शून्यं' इति क्षणिकदुःखस्वलक्षणशून्यभावनाभिश्चतुर्विधाभिः तस्य सोपप्लवविज्ञानसन्तानस्य प्रदीपनिर्वाणवदत्यन्तोपरमं वा निरुपप्लवविज्ञानसन्तानोदयं वा सर्वज्ञसन्तानान्तर्भावं वा मुक्तिलक्षणमपवर्गमिच्छन्ति ।

जैना आर्हतास्तु स्थिरं, न क्षणिकं, विज्ञानं देहमध्यमपरिमाणं संकोचविकाशशीलं परिणामिनमात्मानमभ्युपगम्य तस्य पुर्यष्टकपरिवेष्टितस्यार्हतशास्त्रोक्तेन तपसाऽऽत्मैकाकारसमाधिप्रकर्षेण चाष्टविधकर्मबन्धप्रध्वंसे सति सुखैकतानस्य निरावरणज्ञानरूपस्यात्मनः सततोर्ध्वगमनमलोकाकाशगमनं वा मोक्षमाचक्षते पञ्जरभञ्जन इव पञ्जरस्थस्य शुकस्य स्वातन्त्र्यम्, इदमेव च स्वातन्त्र्यं मोक्ष इति प्रसिद्धम् ।

कणादानुयायिनो वैशेषिकास्तु विभुमात्मानं ज्ञानेच्छादिनवविशेषगुणाश्रयं कल्पयन्तो जल्पन्ति–द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां यत्तत्त्वज्ञानं, तत्पूर्वकादात्मतत्त्वसाक्षात्कारादीश्वरोपासनासहितात् नवानां वैशेषिकगुणानां प्रागभावासहवृत्तिप्रध्वंसे, आत्मनः कैवल्यं मुक्तिलक्षणमिति ।

गौतमानुयायिनो नैयायिकास्तु प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानामुद्देशलक्षणपरीक्षाभिरात्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गाख्यद्वादशविधप्रमेयनिष्कर्षेण स्वात्मपरमात्मसाक्षात्काराच्छ्रवणमनननिदिध्यासनपूर्वकात् सवासनामिथ्याज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्याणां दोषाणां रागद्वेषमोहाख्यानां निवृत्तिः, ततस्तत्कार्ययोः प्रवृत्तिपूर्वकयोर्धर्माधर्मयो निवृत्तिः, ततः पूर्वार्जितकर्मणां कायव्यूहपूर्वकभोगेन क्षयाच्छरीरान्तरानारम्भः, ततो वासनालक्षणस्यैकविंशतिप्रभेददुःखस्यात्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग इति कल्पयन्ति । यदाहुः न्यायदर्शने – 'धर्मविशेषप्रसूतात्तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।' (न्याय० सू० १ । १ । १) 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।' (न्याय० सू० १ । १ । २) इति ।

धर्मविशेषके पालनसे समुद्भूत - तत्त्वज्ञानसे निःश्रेयस - मोक्षकी प्राप्ति होती है, दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष एवं मिथ्याज्ञानोंकी उत्तर उत्तरसे निवृत्ति होने पर, उसके अनन्तर-दुःखोंकी निवृत्ति होनेसे अपवर्गकी सिद्धि होती है, अर्थात् तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होती है, मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिसे रागद्वेषादि दोषोंकी निवृत्ति होती है, दोष - निवृत्तिसे शुभाशुभ-कर्म प्रवृत्तिकी निवृत्ति होती है, प्रवृत्तिकी निवृत्ति

होनेसे जन्म निवृत्त होता है, और जन्मकी निवृत्ति होने पर दुःखोंकी निवृत्ति [illegible] है, अत एव निखिल दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति ही अपवर्ग – मोक्ष है ।

तत्त्वज्ञानेन विरोधितयाऽपहृते मिथ्याज्ञाने कारणाभावाच्च रागादिदोषे, तदभावाच्च प्रवृत्तेः शुभाशुभात्मिकाया अनुत्पत्तौ तत्र [illegible] – जन्म [illegible] विशिष्टशरीरसम्बन्धलक्षणस्याभावे [illegible] पर्यम् । उक्तञ्च न्यायभाष्ये वात्स्यायनप्रणीते – शान्तः खल्वयं [illegible] सर्वोपरमोऽपवर्गः ।’ इति । ‘कश्च बुद्धिमान् सर्वदुःखोच्छेदं सर्वदुःखा[illegible] [illegible]पवर्गं न रोचयेत् ? इति च ।

अपरे त्वेकभविकवादिनः आत्मज्ञानमन्तरेणापि – सकलकर्मोच्छेद लक्षणोऽपवर्गः – निषिद्धकाम्ययोरननुष्ठानेन नित्यानां कर्मणामनुष्ठानेन चागामिसुकृतदुष्कृतयोरनुत्पादाद्, वर्तमानयोश्चोपभोगेन क्षयात् [illegible] सद्दुःखादिप्रागभावनिवृत्त्या स्वयमेव दुःखा[illegible] शून्य आत्मा भवता[illegible]हुः ।

अध्वरमीमांसका भाट्टास्तु ज्ञानकर्मसमुच्चयादेवात्मनो ज्योतिरिङ्गण इव जडबोधात्मकस्य नित्यं सुखं चोदेति, ततश्चविषयविशेषानपेक्षया नित्य-ज्ञानेन नित्यसुखाभिव्यक्तिमुक्तिरित्याहुः ।

प्राभाकरा अपि वैदिककर्मानुष्ठानाद् विहितात्मज्ञानपूर्वकाद् देहेन्द्रि-यादिसम्बन्धस्य समलधर्माधर्मपरिक्षयनिमित्तमात्यन्तिकोच्छेदलक्षणं मोक्षं मन्यन्ते ।

कपिलानुयायिनः सांख्यास्तु प्रकृतिपुरुषविवेकादनाद्यविवेकनिवृत्तौ तं पुरुषं प्रति निवृत्ताधिकारायाः प्रकृते न पुनस्तद्भोगार्था प्रवृत्तिरिति त्रिविधा-ध्यात्मिकादिदुःखानामेकान्तात्यन्तनिरोध एव स्वभावतः केवलस्य पुरुषस्य कैवल्यमेव मोक्ष इत्याहुः ।

पातञ्जला योगिनस्तु प्रकृतिपुरुषविवेकेनाभ्यासवैराग्यपरिपाकाद् - यम-नियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसम्प्रज्ञातसमाधिपूर्वकात् परमेश्वर-प्रसादजात् पञ्चविधानां प्रमाणविपर्ययविकल्पादिचित्तवृत्तीनां निरोधादेव-धर्ममेघशब्दितादसम्प्रज्ञातसमाधेः कैवल्यं मोक्ष इति प्रतिपादयन्ति । त्रिदण्डि-नस्तु जीवब्रह्मणोर्भेदाभेदमभ्युपगम्य ज्ञानकर्मसमुच्चयाभ्यासादेव कारणा-त्मकब्रह्मणि कार्यात्मकजीवस्य कर्मवासनासहितभेदांशनिवृत्तिरूपलयो मुक्ति-रिति वदन्ति । सतरङ्गनिस्तरङ्गभेदेन समुद्रद्वैविध्यवत् सविकारनिर्विकार-रूपेणावस्थाद्वयं ब्रह्मणः परिकल्प्य ज्ञानकर्मसमुच्चयाभ्यासादेव सविका-रावस्थापरित्यागेन निर्विकारावस्थाप्राप्तिरेव मोक्ष इत्यपरे । पाशुपताः शैवास्तु यथोक्तपाशुपतधर्माचरणात् पशुपाशविमोक्षणेन पशुपतिसमीपगमन-मेव पुनरावृत्तिरहितं मोक्ष इत्याहुः । एवं यथोक्तविष्णुभक्तधर्माचरण-

जनिताद्विष्णुप्रसादाद्विष्णुलोकगमनमेव मोक्ष इति वैष्णवाः। औपनिषदा वेदान्तिनस्तु निरतिशयाद्वयब्रह्मानन्दबोधरूप आत्मैवानाद्यविद्यानिवृत्त्युपलक्षितो मोक्ष इत्याचक्षते।

शून्यवादमतखण्डनम्

यत्तु – चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं निस्तत्त्वतया विचारासहत्वलक्षणं शून्यतत्त्वमेव वस्तूनां तत्त्वं शून्यवादिनो व्यवस्थापयन्ति, आत्मना सहितं सर्वं विश्वं, न सत्, बाध्यमानत्वात्, नाप्यसत्, अपरोक्षत्वात्, नापि सदसत्, सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र विरोधात्। नाप्यनुभयमनिर्वचनीयम्, एकनिषेधस्येतरविधिनान्तरीयकत्वात्। अतश्चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यं, नहि शून्यं नाम किञ्चित्तत्त्वमस्ति, अपि तु निस्तत्त्वमेव तत् तस्याजस्रानुसन्धानेनैवात्महानरूपो मोक्षः सिद्ध्यति। तत्तुच्छम्, न हि ज्ञानार्थयोरभावः शून्यमिति संभवति, प्रमाणैः तयोरुपलब्धेः, लौकिकानि हि प्रमाणानि सत्तत्त्वगोचराणि सन्ति, तैः खलु सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं व्यवस्थाप्यते। ननु–स्वप्नादिवज्जागरेऽपि ज्ञानार्थयोरसत्त्वमित्यस्तु सर्वशून्यत्वम्, इति चेन्न, जागरे पारमार्थिकत्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वाभावेऽपि बाधाबाधाभ्यां वैषम्यात्। प्रतीतस्य व्यावहारिकसत्त्वस्य ज्ञानार्थयोः सम्भवेन शून्यत्वाभावात्। स्वप्नद्रष्टर्यबाध्यमानत्ववत् - निखिलजगद्भ्रमाधिष्ठातर्यपि बाधाभावान्न सर्वशून्यत्वसिद्धिरिति। यदुक्तं वार्तिककृद्भिः सुरेश्वराचार्यैरपि – 'अभावो येन भावेन ज्ञायते शून्यवादिना। तस्य भावस्य सद्भावो वद केन निवार्यते॥' (बृ० वा०)।

शून्यवाद मतका खण्डन

जिस आत्मारूप - भावसे शून्यवादी द्वारा भी अभाव जाना जाता है, उस भावके सद्भावका भला कौन निवारण कर सकता है। यह तू कह।

विद्यारण्यस्वामिभिरपि पञ्चदश्यां – 'निरधिष्ठानविभ्रान्तेरभावात्मनोऽस्तिता। शून्यस्यापि ससाक्षित्वादन्यथा नोक्तिरस्य ते॥' इति।

निरधिष्ठान भ्रान्ति कभी नहीं होती, अर्थात् जो जो भ्रन्ति या अध्यारोप होता है उसका अधिष्ठान - आश्रय कोई माना ही जाता है। अतः आत्मरूप अधिष्ठानकी अस्तितता माननी - ही चाहिये। शून्यका भी साक्षी होता ही है, यदि शून्यका ज्ञाता साक्षी कोई भी न हो तो शून्य है, ऐसा तेरा कहना भी नहीं हो सकता।

किञ्च शून्यं नाम किञ्चित्तत्त्वमस्ति न वा? आद्ये - आगतोऽसि मार्गे, वेदान्तमतप्रवेशात्, तथा च नाममात्रे विवादः। वेदान्तसिद्धान्तस्य तु अयं सौगतमताद्भेदः–न ज्ञानाकारोऽर्थः, किन्तु - अनिर्वचनीयत्वान्मायामयः, स

चार्थक्रियाकारित्वसत्त्वोपेतोऽप्यद्वैतश्रुतिबाधाद् ब्रह्मणि कल्पितो न परमार्थसन् इति । तदुक्तं – खण्डनखण्डखाद्यकृद्भिः श्रीहर्षैः – 'सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषो यदादिमः । सर्वस्य मिथ्यात्वं वदति, द्वितीयस्त्वात्मान्यस्य ॥' इति ।

शून्यवादी सौगत (बौद्ध) एवं ब्रह्मवादीमें यही विशेषता है, यानी मतवैलक्षण्य है कि – शून्यवादी सौगत, आत्मा – ब्रह्म सहित सबको मिथ्या मानता है, तथा द्वितीय - ब्रह्मवादी, आत्मासे अन्य - द्वैतप्रपंचको ही मिथ्या - शून्य मानता है, अधिष्ठान - ज्ञाता आत्माको मिथ्या नहीं मानता ।

द्वितीये तु किंविषयकज्ञानेन मोक्षसिद्धिः ? अत एव 'तत्त्वस्य कस्यचिदनङ्गीकारेण त्वया तत्त्वज्ञानं विना सर्वबाधासंभवेन सर्वमिथ्यात्वासिद्धिः' इति तन्मतं दूषितं भामत्याम् ।

अपि च सार्वत्रिकानुभवविरुद्धत्वादेव शून्यवादोऽयमनादर्तव्यः श्रेयोऽर्थिभिः । तथाहि–'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।' (क० उ० २ । १ । ४) इति ।

स्वप्नावस्था तथा जाग्रदवस्था दोनों ही जिसके द्वारा जानी जाती है, उस महान् - विभु आत्माको जानकर या मानकर विवेकी धीर शोकरहित हो जाता है ।

श्रुत्युक्तविधया स्वप्नजागरितयोः परस्परं व्यभिचरतो मिथ्यात्वे सर्वानुभवासिद्धेऽप्युभयावस्थासिद्धः साक्षी नित्यनिरवस्थो निर्विकल्पः सर्वस्यात्मा सिद्धो भवति । अथ चेतादृशानुभवमविगणय्यैवात्राऽऽत्मापि निराक्रियते शून्यतया, न तु स निराकर्तुं शक्यते केनचित् । य एव हि निराकर्ता, तस्यैवात्मत्वात् । तस्मादात्मनः शून्यताऽऽपादनप्रयत्न आकाशस्यमुष्टिना ग्रहीतुं प्रयत्न इव मूढत्वसम्पादक इत्यलमतिपल्लवितेन ।

आर्हतमतखण्डनम्

यत्त्वात्मनो मध्यमपरिमाणत्वमुक्तमार्हतैः, तदतितुच्छम् । यतो मध्यमपरिमाणवत्त्वात्तस्य देहादिवत् अनित्यत्वं स्यात्, ततश्च कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च स्यात् । किञ्च मनुष्यकायपरिमाणो हि जीवात्मा, न हस्तिकायं कृत्स्नं व्याप्तुमर्हति, अल्पत्वात्, इत्यात्मनः कृत्स्नशरीराव्यापित्वादकात्स्न्यम्, तेन तच्छरीरानेकभागेषु जडत्वापत्तिस्स्यात् । एवं हस्तिशरीरं परित्यज्य यदा कर्मवशात् पिप्पिलिकाशरीरं प्राप्नोति तदा न तत्र कृत्स्नः सम्प्रविशतीति न शरीरपरिमाणत्वमात्मनः । एवं शैशवे च स्वल्पपरिमाणो जीवः तारुण्ये स्थाविरे च न कृत्स्नं शरीरं व्याप्नुयात् । ननु – यथा प्रदीपो घटहर्म्योदरवर्ती संकोचविकाशवान् एवं जीवोऽपि स्यात् इति चेत्, मैवम् । तद्वत् अनित्यत्वप्रसक्तेः, अस्ति हि प्रदीपः प्रतिक्षणमुत्पत्तिनिरोधधर्मा, तस्य चावयवाः सन्ति

नश्वरः । तथा च विनश्वरावयवोपगमापगमाभ्यां ह्यनिशमापूर्यमाणस्यापक्षी- [illegible] च जीवात्मनो जन्ममरणादिविक्रियावत्त्वं प्रसज्येत, तस्मादात्मनो मध्यमपरिमाणवत्त्वमतमार्हतस्य सर्वथाऽनादर्तव्यम् । अपि च सततोर्ध्व- [illegible] काशगमनेन च स्वत[illegible] क्रियाशालितया तदधीनतया [illegible] त्यर्थविवादेन ।

आ[illegible] खण्डन

जैन मतवाले आत्माका वृद्धि - क्षययुक्त मध्यमपरिमाण मानते हैं, परन्तु ऐसा मानने पर देहादि की तरह आत्मा अनित्य हो जाता है और सतत - ऊर्ध्व गमन एवं आलोकाकाश गमन को मोक्ष मानने पर स्वतन्त्र आत्मा में क्रियाशीलता एवं क्रियाकी अधीनता हो जानेसे आत्माकी स्वतन्त्रताका उच्छेद होने से मोक्षत्वकी सिद्धि न[illegible] होती ।

काणादगौतममोक्षसमालोचना

यत्तूक्तं - निखिलदुःखात्यन्ताभावो हि मोक्षः, तन्न समीचीनम् । केवलस्य दुःखाभावस्य स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वाभावात् मोक्षत्वासिद्धेः । यतो दुःखाभावस्य सुखशेषत्वेनैव पुरुषार्थत्वात्, स्वतन्त्रपुरुषार्थद्वयकल्पने गौरवात् मानाभावाच्च । सुखकाले दुःखाभावस्य नियतत्वात्, दुःखाभाववतां लोष्टादीनां सुखस्याभावाच्च । ननु - सुखस्य दुःखाभावशेषत्वमस्तु इति चेन्मैवम्, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० उ० ३ । ६ । २८) 'रसो वै सः' (तै०उ० २।७) 'रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः' (अ० सं० १० । ८ । ४४) 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' (तै० उ० २ । ४) 'केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः ।' (भा० ७ । ६ । २३) इत्यादिश्रुतिभागवतवचनैः, आनन्दस्य स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वाभ्युपगमात्, न तस्य शेषिणो मुख्यस्य दुःखाभावशेषत्वम् । अपि चात्मनो दुःखाभावो नाम कश्चिदतिशयो गुणाधानलक्षणो मलक्षालनलक्षणो वा वक्तव्यः । उभयथापि तस्य ध्रुवमनित्यत्वम् । उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृतिलक्षणानां चतुर्णामपि क्रियाफलानां विनाशित्वनियमात्, मोक्षस्य च सर्ववादिभिरविनाशित्वाभ्युपगमात्, ज्ञायमानाद्वयानन्दस्वरूपोऽविनाशी आत्मैव मोक्ष इति सिद्ध्यति । न केवलं दुःखाभाव इति । अत एवाभिहितं भगवत्पादैरपि - 'अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढप्रबोधः । प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्तिर्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः ॥' (विवेकचूडामणिः) इति ।

काणाद-वैशेषिक एवं गौतम-नैयायिकके मोक्ष की समालोचना

दुःखाभाव ही मोक्ष नहीं हो सकता, किन्तु उससे उपलक्षित - निरतिशय - शाश्वत - सुखलाभका नाम ही मोक्ष मानना चाहिये । इसलिये भगवत्पाद - आचार्य शंकर स्वामीने विवेकचूडामणि में कहा है कि — अत्यन्त वैराग्यवान् को ही समाधि होती है, अर्थात् चित्त शुद्ध एवं एकाग्र होता है, और समाहितको ही स्थिर प्रबोध होता है । और जिसे परमार्थ - अद्वयतत्त्व विज्ञात होता है, उसे ही अविद्यादि बन्धसे मुक्ति मिलती है और मुक्तात्माको ही शाश्वत सुखकी अनुभूति होती है ।

भेदाभेदमतखण्डनम्

यत्तूच्यते – ब्रह्मात्मना सर्वमभिन्नम्, प्रमाणप्रमेयप्रमात्रादिरूपेण च सर्वं भिन्नम् । अन्यथा एकान्ततोऽद्वैताभ्युपगमे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधात् लौकिकभेदव्यवहारलोपप्रसङ्गः, कर्मकाण्डानारम्भश्च प्रसज्येत एकान्तभेदाभ्युपगमे च ज्ञानकाण्डस्य निर्विषयत्वादनादरप्रसङ्गः स्यात् । तच्चोभयमयुक्तम् । ततश्च प्रत्यक्षादेः प्रामाण्यसिद्धये भेदव्यवहारलोपपरिहाराय च कर्मज्ञान-काण्डयोरारम्भसिद्धये च ब्रह्मात्मना सर्वमभिन्नं, प्रमाणप्रमेयादिरूपेण भिन्नं, एवं जीवब्रह्मणोः कार्यकारणयोश्च भिन्नाभिन्नत्वमाश्रयितुमुचितमेवेति । असङ्गतमेवैतत्, समानसत्तया एकत्र, भेदाभेदयो निरूपयितुमशक्यत्वात् - येन रूपेण सत्त्वस्य भेदः तेनैव रूपेण सत्त्वस्याभेद इति विरुद्धत्वाद् वक्तुमशक्य-मेव । किञ्च पारमार्थिकभेदस्य निवर्तकं न पश्यामः । अथ तस्य तत्त्वज्ञानं निवर्तकमिति चेत् न, तत् किं भिन्नाभिन्नविषयम्, अभिन्नमात्रविषयं वा । आद्ये न तस्य भेदनिवर्तकत्वं सम्भवति । ज्ञानस्य स्वविषयनिवर्तकत्वायोगात् । द्वितीये भेदस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वे कल्पितत्वप्रसङ्गः, कल्पितस्यैव ज्ञाननिवर्त्यत्व-नियमात् । तस्मात् अभिन्नतत्त्वबोधकप्रमाणस्य तत्त्वावेदकत्वेन प्रामाण्यम्, भेदप्रतिभासस्य च पुनरासंसारविमोक्षात् व्यावहारिकमतत्त्वावेदनलक्षणं प्रामाण्यञ्चाभ्युपगम्यते । ततश्च समस्तलौकिकवैदिकभेदव्यवहारसिद्धिरिति । सति चैवं कार्यकारणयोः जीवब्रह्मणोश्चाभेद एव परमार्थतः, भेदस्त्वाध्यासिकः- अविद्याप्रयोजितः स्वीकर्तव्यः । तथा चाद्वितीयनिरतिशयनिरवच्छिन्ननिर्विषया-नन्दप्रकाशलक्षणं ब्रह्मैव परमार्थवस्तु । प्रमाणप्रमेयादिभेदभिन्नमखिलमिदं जगत् तत्रैवाविद्यया अध्यस्तमिति सिद्धम् । तथा चोक्तं वेदान्तसारे श्रीमद्-भागवते दशमेऽपि 'त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत्सदिवा-वभाति ।' (भा० १० । १४ । २२) इति । एवमन्यत्रापि तथोक्तम् – अविद्या-योनयो भावाः, सर्वेऽमीबुद्बुदा इव । क्षणमुद्भूय गच्छन्ति ज्ञानैकजलधौ-

लयम् ॥ आत्मसत्तैव द्वैतस्य सत्ता नान्या यतस्ततः । आत्मन्येव जगत्सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥'

भेदाभेद मतका खण्डन

भेद एवं अभेद समान - सत्तासे एकमें नहीं रह सकते, विरोध हो जाता है, जैसे शैत्य एवं औष्ण्यका एकत्र अवस्थान नहीं होता । इसलिये भेद आविद्यक है - कल्पित है, और अभेद - पारमार्थिक है । ये जितने नामरूपात्मक द्वैत भाव हैं । वे सब अविद्यारूपी मूलसे समुत्पन्न हैं, अत एव ये सब बुदबुदोंके समान एकक्षणमें उत्पन्न होकर ज्ञानस्वरूप - अद्वय - ब्रह्म सागरमें विलीन हो जाते हैं, क्योंकि आत्मा-की सत्ता ही द्वैतप्रपंचकी सत्ता है, अन्य - पृथक् सत्ता नहीं है, इसलिये आत्माका यथावत् दर्शन होजाने पर समस्त - विश्वका भी दर्शन हो जाता है, एवं आत्माका श्रवण कर लेने पर निखिल–जगत्का भी श्रवण हो जाता है ।

यथा रज्जुस्वरूपे दृष्टे तत्राध्यस्तानां सर्पदण्डादीनां स्वरूपं दृष्टं भवति, तद्वदिदमपि दृष्टं भवति । तस्मात्समानसत्ताकत्वेन न न्यायसिद्धं भिन्नाभिन्न-त्वमिति । विषमसत्ताकत्वेन तदभ्युपगमे नास्ति कश्चन विरोध इति वयं समा-लोचयामः इति ।

सायुज्यादिमुक्तिः

साकारसगुणविग्रहं भगवन्तं, स्वेष्टदेवं परमेण प्रेम्णा ध्यायन्तो भक्ताः स्वस्वाराधनातारतम्येन सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यसायुज्यलक्षणाः पञ्च-विधा मुक्ती लभन्ते । तत्र भगवतो दिव्ये धामनि भवगता सह निवासः सालोक्यं, भगवत्तुल्यैश्वर्यलाभः सार्ष्टिः, भगवत्समीपे सदावस्थानं सामीप्यं, भगवत्समानस्वरूपलाभः सारूप्यं,भगवद्विग्रहे विलयः सायुज्यश्चोच्यते । श्रीम-द्भागवते सन्ति साकारभगवत्स्वरूपप्रेमाढ्यानां भक्तानां तत्तन्मुक्तिलाभस्योदा-हरणान्यनेकानि । परन्तु भगवतःपारमार्थिकस्वरूपे संलग्नमनसस्तत्वज्ञानिनो-ऽनन्यभक्ताः भगवत्परमार्थस्वरूपसेवनं विना तानि कृपालुना भगवता दीयमा-नान्यपि न गृह्णन्ति । यदाहुः तृतीये–भगवदवतारा श्रीकपिलमहर्षयः 'सालो-क्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति, विना मत्सेवनं जनाः ॥' (भा० ३ । २९ । १३) इति ।

सायुज्यादि - मुक्ति

निष्काम - ज्ञानवान् - भक्त, मुमुक्षु - सच्चिदानन्द - अद्वय - ब्रह्मके अजस्र-चिन्तन (भावना) रूपसेवनको छोड़ कर - दिये जानेपर भी सालोक्य, सार्ष्टि,

सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य - मोक्ष नहीं लेते । स्वेष्टदेव - भगवान्के वैकुण्ठादि-धाममें निवास मिलना सालोक्य है, भगवान्के समान ऐश्वर्य भोग प्राप्त करना सार्ष्टि है, भगवान्के नित्य समीप रहना स्त्री-पुत्रादिकी तरह — सामीप्य है, भगवान्का सा चतुर्भुजादिरूप प्राप्त होना सारूप्य है, उनसे एक होजाना, उनके स्वरूपमें समा जाना सायुज्य है, ये सब गौण मोक्ष हैं, मुख्य मोक्ष तो निरन्तर - ब्रह्मभावका अपरोक्ष अनुभव होना ही है, यही भगवत्स्वरूपका सेवन है, इसके समक्ष सालोक्यादि रत्नके समक्ष कांचकी तरह हेय हैं ।

अत्र मत्सेवनमित्यनेन मम परमात्मनः पारमार्थिकानन्तानन्दपूर्णाद्वय-ब्रह्मस्वरूपस्य सेवनं निरन्तराव्यवहितानुभवलक्षणं प्रत्येतव्यम् । न सगुण-साकारस्वरूपस्य सेवनं ज्ञातव्यम् । तस्य सेवनन्तु सामीप्यादिपञ्चविधमुक्तिषु वर्तत एव । अत्रापि तत्कथनं पिष्टपेषणवद्व्यर्थमेव स्यात् । अत एवात्र, उत = अपि दीयमानमपि तत्पञ्चविधं साकारस्वरूपसेवनसंयुक्तं न गृह्णन्ति, कुतस्तत्कामनेत्यर्थः । अनेन तत्त्वदर्शिनां निर्गुणब्रह्मनिष्ठानां कृतकृत्यानां भक्तानां निष्कामता कैमुत्यन्यायेनाभिव्यज्यते । अत एव 'स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः । येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥' (भा० ३ । २९ । १४) इति ।

इसप्रकारके भगवत्स्वरूपके सेवनके लिए सालोक्यादि मुक्तिका अनादर करनेवाला यह अद्वय ज्ञानपूर्ण — अनन्य - भक्तियोग ही परमपुरुषार्थ या अन्तिम साध्य - फलरूप कहा गया है। इसके द्वारा मानव अविद्यामय - सत्त्वादि - तीनों गुणोंका अतिक्रमण करके अर्थात् विध्वंसकरके मेरे—अप्राकृत - अनन्तानन्दपूर्ण-अद्वय स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ।

इत्यत्र स एवाद्वयतत्त्वज्ञानपूर्णो भक्तियोगाख्यः, आत्यन्तिक = अत्यन्ते निखिलद्वैतप्रपञ्चस्यान्ते = विलये सति भवः आत्यन्तिकः कथितः । येन = तादृशेन भक्तियोगेन त्रिगुणं = मायाकारणसहितं त्रिगुणात्मकद्वैत-प्रपञ्चं अतिव्रज्य = हित्वा मद्भावाय = निर्गुणाद्वयब्रह्मभावाय परमचरम-फलायोपपद्यते । अत एव – 'नैरपेक्ष्यं परं प्राहुः निःश्रेयसमनल्पकम् ।' (भा० ११ । २० । ३५) इत्यनेन निःश्रेयसस्य मुक्तिलक्षणस्य तस्य नैरपेक्ष्यानल्पक-विशेषणाभ्यामपरिच्छिन्नत्वं पूर्णस्वातन्त्र्यञ्च द्योत्यते । सति चैवं तत्त्वदर्शिभिर्भक्तैरनादर्तव्यत्वेन हेतुना सालोक्यादिमुक्तयो न मुख्या निःश्रेयसलक्षणाः किन्तु परिच्छिन्नविषयत्वात्स्वर्गादिवद्गौण्य एव मन्तव्याः । यदाहुः वेदान्त-तत्त्वस्पष्टप्रकाशनभास्कराः श्रीसर्वज्ञात्ममुनयः संक्षेपशारीरके – 'सायुज्यादि-विवादगोचरपदं निःश्रेयसं नो भवेत्, कार्यत्वादिह यद्यदीदृशमदो निःश्रेयसं नेक्षितम् ॥ यद्वत् कुड्यघटादितादृशमिदं तस्मादिदं तादृशं युक्तं कल्पयितुं न

तद्विसदृशं तादृङ् न दृष्टं यतः ॥ (४ । ३४) इति ।

विवादका विषय सायुज्यादि, कार्य होने से निःश्रेयस - रूप मुख्य मोक्ष नहीं हो सकता । जो जो कार्य यानी कृति साध्य होता है, वह निःश्रेयस नहीं माना जाता । एवं जो कार्य होता है– वह परिच्छिन्न होता है – वह अनित्य होता है – जैसे दीवाल घट - पटादि परिच्छिन्न है, कार्य है, अएव एव वह अनित्य है । इसलिये परिच्छिन्न - कार्य - रूप - सायुज्यादिमें मोक्षका मुख्य - लक्षण संगत नहीं हो सकता ।

अयमर्थः–कि ब्रह्मभाव एव सायुज्यं? किं वा तच्छरीरेणैव शरीरित्वं ? तत्समानशरीरत्वं वा ? नाद्यः–पूर्णरूपे स्थिते नष्टे वा वस्तुतोऽन्यस्यान्यात्मत्वासम्भवेन तस्य कर्मोपासनासहस्रेणापि साधयितुमशक्यत्वात् ,कर्मादिसाध्यस्यानित्यत्वनियमेन तस्य मुक्तित्वानुपपत्तेश्च । अनादित्वे तु ब्रह्मभावस्य. ब्रह्मवदेव न कर्मादिसाध्यत्वं संभवति । न च कर्मादे नित्यसिद्धब्रह्मभावाभिव्यञ्जकत्वमस्त्विति वाच्यम् । तदभिव्यक्तेरनिर्वचनीयाविद्यानिवृत्तिरूपाया ब्रह्मविद्यैकसाध्यत्वेन कर्मादेस्तदभिव्यञ्जकत्वासंभवात् । नापि द्वितीयः–'न तस्य काय करणञ्च विद्यते ।' (श्वे० उ०) 'अकायमव्रणम्' (ई० उ०) 'नेति नेति' (बृ० उ० २ । ३ । ६) इत्यादिश्रुतिविरोधेन ब्रह्मणो वास्तवशरीरासम्भवेन तदेकशरीरत्वरूपसायुज्यायोगात् । 'न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ।' (छां० ७० ८ । १२ । १) इति श्रुत्या प्रियाप्रिययुक्तसशरीरमुक्तेनिराकृतत्वाच्च । अत एव न तृतीयः,समानशरीरत्वस्यैव सायुज्यरूपत्वे तस्य सारूप्यरूपमुक्ते र्विशेषाभावप्रसङ्गाच्च । किञ्च नित्यसिद्धब्रह्मभावातिरिक्तसायुज्यादेः कार्यत्वावश्यंभावेनानित्यत्वध्रौव्यान्न तन्निःश्रेयसमिति तात्पर्यार्थः । अक्षरार्थस्तु विवादगोचर इति पदं विशेषणतया विद्यतेऽस्येति तथोक्तम । एतच्च विशेषणं नित्यब्रह्मभावरूपसायुज्यव्यावृत्त्यर्थम । नो भवेत् = न भवेत् । इह = लोकवेदयोः । ईदृशं कार्यं तादृशमिति द्विरुक्तिरुपनयनिगमनार्था । तद्विसदृशं कल्पयितुं न युक्तमित्यनुषङ्गः । तादृशं निःश्रेयसरूपं कार्यमिति शेषः ।

श्रीमद्भागवतसंमतमुक्तिलक्षणम्

द्वितीये श्रीमद्भागवते मुख्याया मुक्तेर्लक्षणमाह – 'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।' (भा० २ । १० । ६) इति ।

अज्ञान-कल्पित-कर्तृत्वभोक्तृत्वादि जैवभावका अनात्म-भावका अद्वयात्म-ज्ञान द्वारा परित्याग करके अपने पारमार्थिक - सच्चिदानन्दाद्वय स्वरूप परमात्मामें स्थित होना ही ब्रह्मनिर्वाणलक्षण 'मुक्ति' है ।

सैव मुख्या चरमफलरूपा मुक्ति र्वेदितव्या, या किल अन्यथा रूपं = अविद्याऽध्यस्तं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जैवरूपं हित्वा = प्रत्यगभिन्नाद्वय-

ब्रह्मविद्यया बाधित्वा स्वरूपेण = अद्वयब्रह्मस्वरूपतया व्यवस्थितिः । 'सता सोम्य ! तदा सम्पन्नो भवती'ति श्रुतिप्रतिपादितसुषुप्तिकालीनब्रह्मस्वरूपावस्थितिवारणाय 'वि' इत्युपसर्गः, स च समूलोपाधिकाध्यस्तरूपव्यावृत्तिपूर्वकानावृत्ताद्वयब्रह्मतयाऽवस्थितिमाह । अस्याः लक्षणं ब्रह्मनिर्वाणकैवल्यमुक्तावेव समीचीनतया संगतं भवति, नान्यासु सायुज्यादिगौणमुक्तिषु । अत एव 'अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः। (छां० उ० ८ । १२ । १) इति ।

इस अविद्या कल्पित - शरीरत्रय के भावसे पृथक् हो कर ज्योतिःस्वरूप पर ब्रह्मको प्राप्त कर जो अपने स्वस्वरूपसे अभिव्यक्त होता है, वह उत्तम पुरुष है ।

स्मृतिपुराणमूलभूता श्रुतिरपि विगलितसर्वशरीरादिद्वैतब्रह्मात्मस्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरूपावस्थानं प्रयोजनमाह । तस्य च वेदान्तविचाराभ्यासप्राप्तसाक्षात्काररूपा ब्रह्मविद्यैव साधनम् । तयैव चिदात्मन्यध्यस्तमन्यथारूपं बाध्यते, तद्बाधनेन च स्वस्वरूपं नित्यप्राप्तमभिव्यज्यते । यदाहुः — सर्वज्ञात्ममुनिपादा अपि — 'तस्मादध्यस्तमेतत्सकलमपि दृशौ भूमरूपातिरिक्तं, रूपं, स्वाज्ञानमात्रादिति भवति परब्रह्मधीबाध्यमेतत् ।' (१ । ५७) इति ।

इसलिये यह भूमास्वरूपसे अतिरिक्त - नामरूपात्मक सकल जगत् अपने अज्ञान मात्रसे ज्ञानस्वरूप - प्रत्यगात्मामें अध्यस्त है, अत एव यह परब्रह्मके ज्ञानसे बाध्य है ।

एतत्प्रत्यक्षं, सकलमपि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिस्वाज्ञानमात्रादेव दोषाद् दृशौ चिदात्मन्यध्यस्तम् । कुतः ? इत्याह—भूमेति । भूमरूपे हि ब्रह्मणि अल्परूपं — देहभावजावभावलक्षणं, परत्र परावभासत्वादध्यस्तमेव सम्भवतीत्यर्थः । ततः किं ? इत्यत आह—इतीति । अध्यस्ततासिद्धौ च परब्रह्मधीबाध्यत्वं सिद्धं भवतीत्यर्थः ॥

इयं हि मुक्तिः — अप्राप्तत्वभ्रमव्यपोहेन सदा प्राप्तस्य नित्यसिद्धस्य स्वस्वरूपस्य प्राप्तिलक्षणा वेदितव्या । ननु—सर्वत्र साध्यस्यैव पुरुषार्थत्वं दृष्टं, न तु प्राक्सिद्धस्य, स्वस्वरूपभूतं ब्रह्मसुखञ्च नित्यसिद्धमिति कथं तस्य प्रेक्षावदभिलाषास्पदत्वमित्याशंक्य लोके प्राक्सिद्धस्याप्यज्ञातस्य प्रेक्षाविषयत्वं दृश्यते । ज्ञानेन तदज्ञाननिवृत्तौ चेष्टं प्राप्तमित्यनुभवोऽपि, एवं प्राप्तेऽप्यज्ञाते ब्रह्मसुखे प्रेक्षावतां प्रेप्सा, तन्निवृत्तौ कार्तार्थ्यञ्चोपपद्यत इति । यदाहुः श्लोकद्वयेन सर्वज्ञात्ममुनिपादा अपि — 'करमुष्टिनिविष्टमुत्तमं कनकं प्रस्मरणादलब्धवत् । प्रतिभाति तदाप्तवाक्यतः प्रतिपत्या लभते यथा जनः ॥ परमात्मपदं पराकृतद्वितयं प्राप्तमपि स्वभावतः । अनवाप्तवदेव लिप्सते लभते चैवमयं प्रमाणतः ॥' (१ । ३०४ - ३०५) इति ।

जैसे मुट्ठीमें रक्खा हुआ सुवर्ण विस्मरण होनेसे अप्राप्तकी तरह भासित होता है, वह शिष्टके वचनसे जानलेने पर प्राप्तकी प्राप्ति करता है, वैसे द्वैत रहित-परमात्माका स्वरूप स्वभावसे सर्वत्र प्राप्त ही है, तथापि अज्ञानसे अप्राप्त की तरह हो जाता है, अतः वह वेदान्त - प्रमाण द्वारा उसे प्राप्त करता है।

मुष्टौ स्थापितमित्यर्थः। प्रस्मरणाद् = विस्मरणाद्। आप्तवाक्यतः = मुष्टिं विमुच्य पश्येत्याप्तवचनात् प्रतिपत्त्या, तल्लभत इति सम्बन्धः। दार्ष्टान्तिकमाह - स्वभावतः प्राप्तमपीति सम्बन्धः। अनवाप्तवत् = अप्राप्त-हिरण्यादिवत्। लिप्सते = लब्धुं आप्तुमिच्छति। प्रमाणतः = ब्रह्मसाक्षात्कारात्। न हि स्वस्वरूपभूतस्य ब्रह्मसुखस्य कृतिसाध्यत्वमपि पुरुषार्थत्वप्रयोजकं, गौरवात्, तस्य दुःखादिसाधारणत्वाच्च, किन्तु स्वस्य प्रकाशमानसुखत्वं, तच्च नित्यसिद्धात्मसुखेऽप्यस्ति। न च ज्ञानवैयर्थ्यं तदावरणनिवृत्तये तदपेक्षणादिति भावः।

ननु - इत्थं ब्रह्मानन्तसुखं स्वस्वरूपभूतं चेत् किमित्यस्माभिस्तथा नानुभूयते? इत्याशंक्याज्ञानेनावृतत्वात् अस्माभिर्नानुभूयते, ब्रह्मविद्योत्पत्तिमात्रेणाज्ञाननिवृत्तेः पूर्णब्रह्मसुखानुभवः स्वस्वरूपतयोपपद्यत इत्याशयेनाहुः - 'अज्ञानमात्मविषयं भवहेतुभूतं, प्रच्छादकं च परमात्मसुखस्य तूर्णम्। त्र्यन्तवाक्यजनितात्ममतिविपाक-मामाद्य हन्ति यदि तत्र किमर्थनीयम्॥' (सं० शा० १। ३०३) इति।

आत्म - विषयक - अज्ञान ही संसारका कारण है, और वही परमात्माके सुखका आच्छादक है, वेदान्तके वाक्योंसे प्रादुर्भूत - आत्मज्ञान परिपक्व हो कर उसका शीघ्र ही विनाश कर देता है, ऐसा यदि हो जाता है, तब अन्य क्या प्रार्थनीय रह जाता है?।

अज्ञानमिति। तत्र मानमाह आत्मेति। आत्मविषयं = साक्षिसिद्धम्। तस्यानर्थहेतुत्वमाह - भवहेतुभूतमिति। भवः = संसारस्तद्धेतुमित्यर्थः। पुरुषार्थप्रतिबन्धकत्वमाह - प्रच्छादकं चेति। परमात्मसुखस्य प्रच्छादकं चेति सम्बन्धः। त्र्यन्तः = वेदान्तः। तूर्णं = झटिति, हन्तीति सम्बन्धः। आपातज्ञानं व्यवच्छेत्तुमाह - विपाकमिति। श्रवणादिनिमित्तां स्वविषयब्रह्मप्रतिष्ठामित्यर्थः। तथा च ज्ञानमात्रेण कृतकृत्यतेति भावः॥ एवं तत्स्वरूपभूतं विष्णोः परमपदलक्षणमपास्तसमस्तदुःखमनन्तसुखं मोक्षमवाप्तवतो विदुषोऽनन्यभक्तस्य कृतकृत्यतामाहुः - 'यस्यापि विप्लुषिकृतार्थतया निषण्णाः। शक्रादयो जलचरा इव सागरस्य। प्रत्यक्स्वभावकमपास्तसमस्तदुःखं, तद्वैष्णवं सुखमवाप्तवतः किमन्यत्॥' (सं० शा० १। ३०२) इति।

सागरके मत्स्यादि - जलचरोंकी भांति जिस ब्रह्मानन्द सागरके छोटेसे

बिन्दुमें निविष्ट होकर इन्द्रादि देव भी अपनेको कृतार्थ हुए मान रहे हैं, उस निखिल दुःखरहित - प्रत्यक् स्वरूप - विष्णुके महान् शाश्वत - सुखको प्राप्त करनेवालेको अन्य क्या प्राप्तव्य शेष रहता है ? ।

यस्य स्वस्वरूभूतस्य ब्रह्मसुखस्यातिक्षुद्रांशेऽपि शक्रादयः = त्रिलोकीश्वरप्रभृतयः कृतार्थतया निषण्णाः = स्वरूपानन्दैकलेशभूतं त्रिलोकीशासनादिसंभवं सुखं प्राप्य वयं कृतार्था इति मन्यमानाः, नान्यदपेक्षन्त इत्यर्थः । तत्प्रत्यक्स्वभावकत्वादिविशिष्टं वैष्णवं = विष्णोः परमं पदं - सुखमवाप्तवतो विदुषः किमन्यत् कर्तव्यं स्यात् । तेषां सुखैकलेशप्राप्तिमात्रेण कार्तार्थ्ये दृष्टान्तमाह – सागरस्य विप्लुषि कृतार्थतया निषण्णा जलचरा इवेत्यर्थः ।

अपि च जन्मादिषड्भावविकारहीना कूटस्थनित्याऽखण्डैकरसा प्रत्यगात्मस्वभावा मुक्तिरेषा ब्रह्मज्ञानेन प्रमाणेन द्वैतप्रपञ्चमूलाविद्यापनोदनद्वारा स्वतो नित्यसिद्धैवाभिव्यज्यते इत्याहुः – 'ब्रह्मज्ञानं प्रमाणं भवति दृढमिदं नात्र कश्चिद्विवादो,ब्रह्मात्मा चैकरूपो न च बहुरसकस्तत्परत्वाच्छ्रुतीनाम् । एवं सत्यद्वयात्मप्रमितिफलमिह द्वैतमूलापनुत्ति, र्न ह्यज्ञानापनुत्तेरधिकमपि फलं किञ्चिदस्ति प्रमाणात् ॥' (मं० शा० ४ । ७) इति ।

ब्रह्मका यह ज्ञान ही दृढ़ प्रमाण है, इसमें कुछ विवाद नहीं, और ब्रह्मात्मा अखण्ड एकरस है, अनेकरसवाला नहीं, क्योंकि– समग्र श्रुतियां तत्पर होकर उसका ही निरूपण करती हैं, ऐसा होने पर अद्वय - आत्माकी प्रमाका फल, द्वैतप्रपंचका मूल - अज्ञानकी निवृत्ति ही माना गया है, अज्ञान निवृत्तिसे अधिक और कोई भी उक्त - प्रमाणका फल नहीं माना जाता ।

यतो ब्रह्मज्ञानं प्रमाणं भवति, अदुष्टकरणजत्वेनाबाधितविषयत्वेन च परीक्षणात् । दृढं = अप्रामाण्यशंकाऽनर्हमिदं, नात्र कश्चिद्विवादोऽस्ति । तत्त्वंपदयोर्लक्ष्यःशुद्धो वाक्यार्थो ब्रह्मात्मा, स चैकरूपो नैव भिन्नः, किन्त्वभिन्नः । भेदांशोऽपि तत्र स्यादिति नेत्याह–न च बहुरसक इति । नात्यन्तभिन्नो नापि भिन्न इत्यर्थः । उभयत्र हेतुमाह – तत्परत्वाच्छ्रुतीनामिति । बहुवचनं गतिसामान्यप्रदर्शनार्थम् , तत्प्रमितिशेषत्वं तत्परत्वं, तच्चोपक्रमादिलिङ्गै र्गतिसामान्येन च निर्णीतम् । एवं सति जीवब्रह्मणोरत्यन्तभिन्नत्वभिन्नाभिन्नत्वयोरभावे सति केवलाद्वयात्मप्रमितेर्वेदान्तवाक्यकरणिकाया विचारपरिपाकदूरीकृतप्रतिबन्धायाः 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यखण्डवाक्यार्थबुद्धेरधिष्ठानप्रमात्वेनेहात्मनि कल्पितद्वैतमूलस्याज्ञानस्यापनुतिः = उच्छेदोऽत्यन्तबाध एव फलं दृष्टद्वारा 'शुक्तिज्ञानस्येव, तदज्ञानापनुत्तिः' यदज्ञानस्य यो विषयः – तदाकारप्रमा तदज्ञानं निवर्तयतीति सर्वत्राव्याप्तेः । तदुक्तं – यतो ज्ञानमज्ञानस्यैवनिवर्तकमिति । अत एव न्यायशास्त्रप्रणेताऽक्षपादाचार्यः – 'तत्वज्ञानान्निःश्रेयसा-

धिगमः' इत्युक्त्वा तददृष्टद्वारा, दृष्टद्वारा वेति संदेहे मिथ्याज्ञाननिवृत्तिरूपदृष्टद्वारैव शुक्तिज्ञानस्येवात्मतत्त्वज्ञानस्यापि निःश्रेयसं फलमित्याह – दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायात् अपवर्गः इत्यनेन सूत्रेणेति । अत एव योगसूत्रकाराः पतञ्जलिमुनयोऽपि वेदान्तसिद्धान्तमेव स्वान्तर्निगूढमाधाय 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।' (१ । २) 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।' (१।३) इत्याहुः । चित्तवृत्तयो निरुद्ध्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या – 'वृत्तिहीनं मनःकृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि । एकीकृत्य विमुच्येत योगयुक्तः स उच्यते ॥'

मनको वृत्ति हीन बनाकर एवं परमात्मामें क्षेत्रज्ञको एक - अभिन्न बना कर वह मुक्त होजाता है, यही योगयुक्त कहा जाता है ।

इत्यादिस्मृत्या च सर्वमिथ्याप्रत्ययरूपानर्थविरोध्यखण्डाद्वयब्रह्माकारवृत्तिपर्यवासी योगो बोध्यः । विरोधिपदार्थस्यैव नाश्यनाशकरूपत्वात्, प्रागभावादौ तथा दर्शनात् । अत एव वृत्तिविशेषरूपाभ्यां संप्रज्ञातासंप्रज्ञाताभ्यां योगस्य विभजनमग्रे तैः कृतं संगच्छते । तादृशवृत्तेर्भावनासहकृतमनःप्रमाणजन्यत्वेनापरोक्षतयाऽज्ञानतत्कार्योच्छेदक्षमत्वात् । 'मनसैवेदमाप्तव्यम् ।' (क० उ० ४ । ११) इति श्रुतेः । तदा सकलचित्तवृत्तिनिरोधकाले द्रष्टुः = चित्ततद्वृत्तिनिरोधपरिणामसाक्षिणः - चितिशक्तेः पुरुषस्य, स्वरूपे = तत्त्वेन चित्तादेरप्यनवगाहितया निर्विषये-निरतिशये - निरवच्छिन्ने - निरुपप्लवे स्वप्रकाशानावृतसच्चिदखण्डानन्दरूपे अवस्थानं = 'कुसुमापाये स्फटिकस्यालोहिते स्वस्वरूप इव' अविद्यादिक्लेशापाये चित्ताद्यसंक्रमेण कर्तृत्वाद्यभिमाननिवृत्त्याऽभेदेनावस्थितिरित्यर्थः । स्वभावात् सकार्यचित्तनिरोधात्माऽपि सन् निरुपाधिविशुद्धाद्वयब्रह्मस्वरूपात्मना तिष्ठतीति यावत् । इत्थञ्च चितिशक्तेः पुरुषस्य निर्विषयस्वप्रकाशसच्चिदानन्दरूपतैव स्वरूपम् । यदाहुः त एव 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।' (यो० सू० २ । २०) इति द्रष्टा पुरुषो दृशिमात्रः = चिन्मात्रः न ज्ञानादिधर्मकः । 'ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन । ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः ॥' इत्यादिस्मृतेः ।

ज्ञान न तो आत्माका धर्म है, या न किसी भी प्रकारका गुण है किन्तु आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, वही नित्य - सर्वगत - शिव है ।

मात्रपदेन गुणान्तरस्यापि व्यवच्छेदः । अतः शुद्धोऽपि = पारार्थ्याचेतनत्वपरिणामित्वादिरूपाशुद्धिरहितोऽपि । एतेन भूतेन्द्रियाद्यन्तर्भावव्यावृत्तिः । प्रत्ययानुपश्यः = प्रत्ययं बुद्धिवृत्तिमनुसृत्य पश्यतीत्यर्थः । स्वस्य बुद्ध्यविवेकाद् वृत्तिभिरेकीभूतः सन् शब्दादीन् पश्यतीति यावत् । एतेन द्रष्टरि प्रमाणं सूचितम् । चेतनं द्रष्टारं विना दृश्यस्य जगतो भानानुपपत्तेरिति

भावः । अत एवास्य विषयग्राहिता त्वौपाधिकी न वास्तविकी । पाकनिवृत्तौ पाचकस्येव तन्निरोधोपलक्षितसाक्षिस्वरूपस्याबाधात् । एवं पातञ्जला अपि ब्रह्मविद्यालक्षणेन योगेनाविद्याकल्पितान्यथारूपपरित्यागेन स्वस्वरूपावस्थानलक्षणां मुक्तिं श्रीमद्भागवतसंमतां स्पष्टतया प्रतिपादयन्ति ।

तस्याः मुक्तेर्द्वैविध्यम्

स्वस्वरूपावस्थानलक्षणायाः मुक्ते जीवन्मुक्तिविदेहमुक्तिभेदेनास्ति द्वैविध्यम् । जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिलक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशरूपत्वाद्बन्धो भवति, तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिः । निवारणं त्वत्राध्यासप्रतिभासाभाव एव, न ध्वंसः, सति चित्ताख्ये धर्मिणि तद्धर्मध्वंसायोगात् । नन्वयं बन्धः किं साक्षिणो निवार्यते, किं वा चित्तात् । नाद्यः, तत्त्वज्ञानेनैव निवारितत्वात् वासनाक्षयादिप्रयत्नस्यैवफल्यापाताच्च । न द्वितीयः, असम्भवात् । यदा तु जलाद् द्रवत्वं वह्नेर्वौष्ण्यत्वं निवार्येत, तदा चित्तात्कर्तृत्वादिनिवारणसंभवः । स्वाभाविकत्वं तु सर्वत्र समानम् । मैवम् , आत्यन्तिकनिवारणासम्भवेऽप्यभिभवस्य संभवात् । यथा जलगतं द्रवत्वं मृत्तिकामेलनेनाभिभूयते, वह्नेरौष्ण्यं मणिमन्त्रादिना तथा सर्वाश्चित्तवृत्तयो ब्रह्मध्यानाभ्यासेनाभिभवितुं शक्यन्ते । 'विमुक्तश्च विमुच्यते ।' इति कठवल्लीश्रुत्यापि — जीवन्नेव दृढबन्धनात्कामादेर्विशेषेण मुक्तः सन् प्रारब्धकर्मसमाप्तौ शरीरपतनोपलक्षितलिङ्गशरीरध्वंसे सति विशेषेण कालत्रयेऽपि दृश्यावभासाभावरूपोत्कर्षेण मुच्यते ।

उस मुक्तिके दो भेद

विमुक्त हुआ ही विमुक्त होता है, अर्थात् जीता हुआ ही दृढ़बन्धनरूप कामादिसे विशेष रूपसे मुक्त हुआ ही प्रारब्धकर्मकी समाप्ति होने पर शरीर—पातसे उपलक्षित लिंग शरीरका ध्वंस होजाने पर कालत्रयमें भी दृश्यप्रपंचके भानका अभावरूप-उत्कर्ष द्वारा मुक्त हो जाता है ।

एवं बृहदारण्यकाद्युपनिषत्स्वपि जीवन्मुक्तिः प्रतिपाद्यते – 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते । (बृ० ४ । ४ । ७) 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव ।' (बृ० उ०) इति ।

अयमर्थः – अस्य = उपदेशाधिकारित्वेन प्रकृतस्य मुमुक्षोः, हृदि = चित्ते, श्रिताः = संस्कारद्वाराऽऽश्रिताः ये कामाः = समीहिताभिलाषरूपवृत्तिविशेषाः, उपलक्षणमिदं क्रोधादेरपि । विषयाणामनेकत्वाद्बहुवचनम् ।

ते सर्वेपि = समस्ता अपि न केचिदेव, तथात्वे तु पुनः संसारापत्तेः । यदा = यस्मिन्नविद्याध्वंसकाले, प्रमुच्यन्ते = प्रकर्षेण - सुषुप्त्यादिविलक्षणपुनरुदया-भावलक्षणोत्कर्षेण मुच्यन्ते – चिज्जडैक्यग्रन्थिभेदात्तत्त्वसाक्षात्कारदार्ढ्येन शिथिला भवन्तीत्यर्थः । किं ततस्तदाह - अथेत्युत्तरार्धेन । अथ = निरुक्त-काममोक्षलक्षणग्रन्थिभिदादिफलोत्तरक्षणमेव । मर्त्यः = मरणधर्मा मनुजः– 'मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येति' न्यायेन मनुष्यत्वाद्यध्यासोपलक्षितो मुमुक्षु-रित्यर्थः । अमृतो भवति = मोक्षः कैवल्यनिर्वाणश्रेयोनिःश्रेयसामृतम् ।' इत्यमरकोशोक्तेः, कैवल्यमोक्षाभिन्नब्रह्मात्मरूप एव जायत इत्यर्थः । किं देह-पातोत्तरं नेत्याह – अत्र = वर्तमानशरीर एव ब्रह्माद्वैतात्मतत्त्वं समश्नुते = सम् = सम्यक् जीवन्मुक्त्यवस्थावशात्सर्वदा भासमानत्वेनाश्नुते = प्राप्नो-तीत्यर्थः । तत्त्वज्ञानदार्ढ्योत्तरक्षण एवामृतत्वप्राप्ति र्न तु क्रमशः । वस्तुतः अचक्षुः स्वदृशा स्वस्मिन्नध्यासाप्रतिभासादद्वैतब्रह्मरूपत्वेन परमार्थतश्चक्षुरादि-रहितोऽपि, यावत्प्रारब्धं लोकदृष्ट्या बाधितानुवृत्त्या तस्य चक्षुराद्यवस्थिति-रस्तीति सचक्षुरिव जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः ।

एवं वाल्मिकीये योगवासिष्ठेऽपि, मुक्तेर्द्वैविध्यस्य वर्णनमित्थमुप-लभ्यते । यथाहि – 'नृणां ज्ञानकनिष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम् । प्राक् जीवन्मुक्ततादेति, पश्चात् विदेहमुक्तता ॥

एकमात्र ज्ञानमें निष्ठा रखनेव ले आत्म-ज्ञानके विचारशील मानवोंको प्रथम जीवन्मुक्ति प्रकट होती है, पश्चात् विदेहमुक्ति ।

अर्थात् देहेन्द्रियसदसद्भावमात्रेण मुक्तिद्वयस्य विशेषो न त्वनुभवतः । द्वैतप्रतीतेरुभयत्राभावात् । अत एव भगवान् श्रीरामो भगवन्तं वशिष्ठमित्थं पृच्छति – 'ब्रह्मन ! विदेहमुक्तस्य जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् । ब्रूहि येन तथैवाहं यते शास्त्रजया दृशा ॥ इति । तदुत्तरत्वेन वसिष्ठः – 'नोदेति नास्तमायाति, सुखे दुःखे मुखप्रभा । यथाप्राप्ते स्थिति र्यस्य, स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ यः सम-स्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि शीतलः । परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ इति ।

भगवान् श्रीरामने गुरु - वसिष्ठजीसे पूछा कि – हे ब्रह्मन् ! जीवन्मुक्तका तथा विदेहमुक्तका लक्षण कहें, जिससे मैं भी शास्त्र विचार समुद्भूत - दृष्टि द्वारा उस मुक्तिद्वयके लिए प्रयत्न करूं । उसको उत्तररूपसे श्रीवसिष्ठजीने कहा कि सुखके समय जिसके मुखकी कान्ति, हर्षरूपसे प्रकट नहीं होती एवं दुःखके समय, शोक रूपसे म्लान नहीं होती । यथाप्राप्तमें जो शान्त हुआ स्थिर रहता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है । जो अन्यके गृहादिकी तरह निखिल पदार्थोंके व्यवहारमें सदा शीतल-शान्त रहता है, वह पूर्णात्माका भाववाला जीवन्मुक्त कहा जाता है ।

इत्यादिभिः प्रथमं जीवन्मुक्तस्य लक्षणान्याह । अयमर्थः–मुखप्रभा = हर्षः, चन्दनसत्कारादिसुखे प्राप्तेऽपि संसारिण इव हर्षो नोदेति, अस्तमयः = दैन्यं, धनहानिधिक्कारादिदुःखे प्राप्तेऽपि न दीनो भवति । इदानींतनस्वप्रयत्नविशेषमन्तरेण प्रारब्धकर्मोपादितपूर्वप्रवाहागतभिक्षान्नादिकं यथाप्राप्तं तस्मिन् स्थितिः = देहरक्षा, ब्रह्मसमाधिदार्ढ्येन स्रक्चन्दनादिप्रतीत्यभावात् कदाचित् व्युत्थानदशायामापाततः प्रतीतावपि विवेकदार्ढ्येन हेयोपादेयबुद्ध्यभावाद् हर्षादिराहित्यमुपपद्यते । परगृहे - विवाहोत्सवादौ स्वयं गत्वा तत्प्रीत्यैतदीयकार्येषु व्यवहरन्नपि लाभालाभयो र्हर्षविषादरूपं बुद्धिसंतापं न प्राप्नोति,यथैवमयं मुक्तः, स्वकार्येऽपि शीतलः । न केवलं सन्तापाभावाच्छीतलत्वं किन्तु पूर्णब्रह्मस्वरूपानुसंधानादपि । अथ विदेहमुक्तस्य लक्षणमाह – 'जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते । विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ इति ।

अपना स्थूल देह कालके अधीन होने पर वह जीवन्मुक्तके पदका परित्याग-कर विदेह कैवल्य - मुक्तिमें प्रविष्ट होता है, जैसे वायु निःस्पन्द हो जाता है ।

यथा वायुः कदाचिच्चलत्वं त्यक्त्वा निश्चलरूपेणावतिष्ठते, तथा मुक्तात्माऽप्युपाधिकृतं संसारं त्यक्त्वा प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मस्वरूपेणावतिष्ठते ।

अयमेव जीवनमुक्तो भगवद्गीतासु द्वितीयाध्याये स्थितप्रज्ञतया, द्वादशाध्याये च भगवदनन्यभक्ततया चतुर्दशाध्याये च गुणातीततया भगवताऽभिवर्ण्यते । यथाहि – 'श्रीभगवानुवाच – प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्, पार्थ ! मनोगतान् । आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते (२ । ५५) 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न कांक्षति । शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान् यः स मे प्रियः (१२ । १७) 'उदासीनवदासीनो गुणै र्यो न विचाल्यते । गुणा वर्तन्त इत्येव, योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ (१४ । २३) इत्यादिभिः ।

अयमर्थः – कामास्त्रिविधाः – बाह्या आन्तरा वासनामात्ररूपाश्चेति । उपार्जितमोदकादयो बाह्याः, आशामोदकादय आन्तराः, पथि पतिततृणादिवदापाततः प्रतीता वासनारूपाश्च । अत्र 'काम्यन्ते' इति कामाः इति, विग्रहात्सर्वेऽपि मोदकसुन्दरीसुवर्णादीष्टविषयाः, तथा 'कामोऽभिलाषः' इति कोशाच्च विषयतदभिलाषोपलक्षिताखिलवृत्तिविशेषाः ज्ञेयाः । जीवन्मुक्तः समाहितस्तान् सर्वान् अशेषधीवृत्तिसंक्षयात्, परित्यजति । अस्ति चास्य मुखप्रसादादिलिङ्गगम्यः संतोषः, स च न कामे, किन्त्वात्मन्येव । कामानां त्यक्तत्वाद्-बुद्धेः,परमानन्दरूपेणाऽऽत्मतत्त्वाभिमुखत्वाच्च । न चात्र संप्रज्ञातसमाधाविवाऽऽत्मानन्दो मनोवृत्त्योल्लिख्यते, किन्तु स्वप्रकाशचिद्रूपेणात्मना । संतोषश्च न वृत्तिरूपः किन्तु तत्संस्काररूपः एवंविधैर्लक्षणवाचकैः शब्दैः समाहितो

जीवन्मुक्तो भाष्यते । प्रियं प्राप्य न हृष्यति, अप्रियं प्राप्य च न द्वेष्टि, तथा प्रियनाशे सति न शोचति, अप्राप्तं च प्रियं न कांक्षति । यतस्तस्य सर्वत्रोदासीनत्वादद्वयभगवद्भावनिष्ठत्वाच्च शुभाशुभयोः = प्रियाप्रिययोः परित्यागी भवति एवंभूतो यो मयि प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि भक्तिमान् स मम प्रिय एव भवति । यथा द्वयोः कलहं कुर्वतोरवलोकयिता कश्चित्तटस्थः स्वयं केवलमुदास्ते, न तु जयपराजयाभ्यामितस्ततश्चाल्यते, तथा गुणातीतो जीवन्मुक्तस्तत्त्वदर्शी प्रकाशप्रवृत्तिमोहलक्षणैस्सत्त्वरजस्तमोगुणै र्न विचाल्यते, अर्थात् अनुकूलप्रतिकूलाध्यासप्रयोजितद्वेषाकाङ्क्षाभ्यां न चाल्यते, अध्यासाभावात् तस्य ते द्वे नस्तः । यद्वा इष्टानिष्टाभ्यां न चाल्यते - हर्षद्वेषाद्युत्पादद्वारा, किन्तु स्वयमुदास्ते । गुणा एव स्वकार्येषु वर्तन्ते, न त्वहं निर्विकारः, तै सह मे न सम्बन्धोऽस्तीति विवेकादौदासीन्यम्, अहमेव करोमीत्यध्यासो विचलनम् । न चास्य तदस्ति ।

अयमेव जीवन्मुक्तो महाभारतस्य मोक्षधर्मादौ ब्राह्मणतया वर्णितः— येन पूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा । शून्यं यस्य जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

जिस एक - अद्वय - ब्रह्मतत्त्वसे आकाशके समान यह समग्र विश्व सदा पूर्ण व्याप्त हो जाता है। अत एव जिसे जन संकुल - जगत् भी शून्यके समान भासित होता है — विद्वान् उसे ब्राह्मण मानते हैं।

अयमर्थः — संसारिणामेकाकित्वेनावस्थानं भयालस्यादिहेतुत्वाद्वर्ज्यम् । जनसमूहस्त्वतथाविधत्वादभ्युपेयः । ज्ञानयोगिनस्तु तद्विपरीतत्वम् । एकाकित्वे सत्यविघ्नेन ब्रह्मध्यानानुवृत्तौ परिपूर्णनाद्वयब्रह्मपरमानन्दात्मना सर्वं विश्वं 'आकाशं पूर्णमिव' अवभासते । अतस्तस्य-भयालस्यशोकमोहादयो न भवन्ति । अत एव बृहदारण्यकश्रुतावपि — ब्रह्मभाववत एव मुख्यं ब्राह्मण्यं—'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् पाण्डित्यं च बाल्यं च निर्विद्याथ मुनिः, अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः ॥' (बृ० उ० ३ । ५ । १) इत्येवं निरूपितम् । अस्यार्थस्तु विद्यारण्यमुनिभिरनुभूतिप्रकाशे प्रदर्शितः — 'पाण्डित्यबाल्यमौनानि श्रवणादीनि तैरयम् । भवति ब्राह्मणस्तत्र ब्राह्मण्यं ब्रह्मरूपता ॥ इत्यादिना ।

श्रवण यानी पाण्डित्य, मनन यानी बाल्य, एवं निदिध्यासन यानी मौन, इन तीनों साधनोंके द्वारा यह ब्राह्मण बनता है। ब्रह्मरूपताका नाम ही ब्राह्मण्य है।

एवमयमेव जीवन्मुक्तो सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे पञ्चमाध्याये श्रीविष्णुं प्रति परमेश्वरेण श्रीशङ्करेणातिवर्णाश्रमितया वर्णितः — 'यो वर्णाश्रमनिर्मुक्तमवस्थात्रयसाक्षिणम् । महादेवं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥

'सुवर्णे हारकेयूरकटकस्वस्तिकादयः । कल्पिता मायया तद्वज्जगन्मय्येव सर्वदा ॥ इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥ इत्यादिभिः ।

जो वर्णाश्रमसे निर्मुक्त है, अवस्थात्रयका साक्षी है, उस महादेवको जो जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी हो जाता है। जैसे सुवर्णमें हार, केयूर, कटक, स्वस्तिक आदि कल्पित हैं, वैसे मुझ चिदात्मामें मायाद्वारा यह जगत् सदा कल्पित है, ऐसा जो वेदान्तोंके द्वारा जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी हो जाता है।

एवं श्रीमद्भागवतेऽपि आत्मारामतया सिद्धतया च जीवन्मुक्त इत्थं प्रतिपादितः । भवत्सु कुशलः प्रश्नः आत्मारामेषु नेष्यते । कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः ॥ (भा० ४ । २२ । १४) 'आत्मारामास्तु मुनयो निर्ग्रन्थाः' (भा० १ । ७ । १०) 'देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।' (भा० ११ । १३ । ३६) इत्यादिभिः ।

एवं पूर्वोक्तस्थितप्रज्ञभगवद्भक्तगुणातीतब्राह्मणातिवर्णाश्रम्यात्माराम-सिद्धप्रतिपादकशास्त्रवाक्यान्येव जीवन्मुक्तिसद्भावे प्रमाणानीति स्थितम् । एवं जीवन्मुक्तस्य देहपातानन्तरं विदेहकैवल्यं सिद्ध्यति तथा च श्रुतिः – न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ।' (बृ० उ०) विवृता चेयं वार्तिके श्री-सुरेश्वराचार्य्यैः – 'तस्योत्क्रामन्ति न प्राणाः, आसते नापि तत्र ते । स्थित्युत्-क्रान्त्यो हि यो हेतुरात्माविद्यादिलक्षणः ॥ ध्वस्तत्वात्तस्य सर्वस्य प्रत्यग्याथा-त्म्यदर्शनात् । यत एवमतः प्राणाः सम्यग्ज्ञानस्य जन्मनि । नोत्क्रामन्ति न तिष्ठन्ति, न च नश्यन्त्यहेतुतः । रज्जुसर्पो यथा लोके ज्ञातरज्जुसतत्त्वकः । नोत्क्रामति न चाप्यास्ते, न च नश्यति रज्जुतः ॥ स्थित्युत्क्रान्तिविनाशानां रज्जुस्तत्त्वं यतस्ततः । रज्जुज्ञानसमुत्पत्तौ रज्ज्वा नान्योऽवशिष्यते ॥ इति । एवं मुक्तेर्द्वैविध्यं निरूपितम् ।

उसके अर्थात् जीवन्मुक्त महापुरुषके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता, न तो वे वहां अवस्थित ही रहते हैं। क्योंकि – प्राणोंकी स्थिति एवं उत्क्रान्तिका प्रयोजक हेतु है – आत्माकी अविद्या काम एवं कर्मादि । प्रत्यागात्माके यथार्थ – पूर्ण - अद्वय - ब्रह्मस्वरूपके दर्शनसे उस सबका ध्वंस होगया है। अत एव सम्यक् ज्ञानका प्रादुर्भाव होने पर कारण न होनेके कारण कार्यभूत - प्राणोंका न तो उत्क्रमण होता है, न स्थिति ही रहती है, एवं न विनाश ही होता है। जैसे लोकमें – जिसने रज्जुके स्वरूपको जान लिया है, उसकी दृष्टिसे प्रथम रज्जुमें कल्पित एवं प्रतिभासित सर्प-न तो रज्जुसे उत्क्रमित ही होता है, न तो उसमें स्थित रहता है, एवं न तो नष्ट ही होता है, क्योंकि– कल्पित सर्पकी स्थिति उत्क्रान्ति एवं विनाशोंका स्वरूप रज्जु ही मानागया है। रज्जुका ज्ञान उत्पन्न होने पर सर्प एवं उसकी उत्क्रान्त्यादि रज्जुसे अन्य होकर अवशिष्ट नहीं रहती है। वैसे प्रकृत - ब्रह्म साक्षात्कार वाले - विदेह

मुक्तके प्राणोंके विषयमें समझना चाहिये। इस प्रकार मुक्तिका दो प्रकार से निरूपण हुआ।

(१०) आश्रयः

आश्रयः = विश्वाधिष्ठानः – सर्वाधारः – सर्वभूताधिवासो ब्रह्म, परमात्मा, स च स्वयं अपाश्रयः=अपगतः-विगतः-आश्रयो यस्य सः। आश्रयान्तररहितः। नवानां सर्गादीनां लक्षणान्यपि तस्यैवाश्रयभूतस्य परब्रह्मणो ज्ञापनायैव प्रदर्शितानि, यतस्तज्ज्ञानेनैवानन्यभक्तिमयेन पुरुषार्थसिद्धेः। यदाह – 'दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्। वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥' (भा० २।१०।२) इति।

(१०) आश्रय

सर्गादि दशलक्षणोंमें–जो दशवां आश्रयतत्त्व – पर ब्रह्म है, उसीका ही ठीक-ठीक निश्चय करनेके लिये ही कहीं श्रुतिसे, कहीं तात्पर्यसे और कहीं दोनोंके अनुकूल - अनुभवसे महात्माओंने अन्य सर्गादि - नौ विषयों का बड़ी सुगम रीतसे वर्णन किया है।

दशमस्य = आश्रयतत्त्वस्य, विशुद्ध्यर्थं = विशुद्धतया उपाधिरहिततया लक्ष्यार्थतया च विज्ञानार्थमित्यर्थः। नवानां सर्गादीनां लक्षणमिह = श्रीमद्भागवते वर्णयन्ति महात्मानः, केन? श्रुतेन चार्थेन = शब्दतश्चार्थतः-शक्त्या वृत्त्या लक्षणया वेत्यर्थः।

द्वितीये श्रीमद्भागवते आश्रयस्य लक्षणमाह – 'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते। स आश्रयः परं ब्रह्म, परमात्मेति शब्द्यते॥ योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः, सोऽसावेवाधिदैविकः। यतस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः॥ एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे। त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥' (भा० २।१०।७-८-९) इति।

सृष्टि और प्रलय अथवा दृश्य-जगत् का प्रतिभान एवं उसका बाध या अभाव दोनों ही अध्यारोप एवं अपवाद जिसके द्वारा प्रकाशित होते हैं, वह परब्रह्म ही आश्रय अर्थात अधिष्ठान है, उसी को परमात्मा कहते हैं। जो नेत्र आदि इन्द्रियोंका अभिमानी द्रष्टा आध्यात्मिक पुरुष है, वही इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ - सूर्यादिदेवतारूप आधिदैविक पुरुष है। और जो नेत्र-गोलकादिसे युक्त-दृश्य देहरूप आधिभौतिक पुरुष है, वही उन दोनों को पृथक्-पृथक् करता है। इन तीनों में यदि एक का भी अभाव हो जाय, तो दूसरे दो की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः इन तीनों के भाव और अभाव को अर्थात् उनके अध्यारोप एवं अपवादको जो जानता है, वह परमात्मा ही

निरपेक्ष साक्षी सबका अधिष्ठान 'आश्रयतत्त्व' है। उसका आश्रय वह स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं।

आभासः = सृष्टिः दृश्यप्रतीतिः अध्यारोपः, निरोधः = विलयः-दृश्याभावः-अपवादश्च, यतो भवति, अध्यवसीयते = प्रकाशते च चास्थितिपोषणादयः, द्वितायचान्मुक्तिश्च यतोऽध्यवसीयते = निश्चीयते स परं ब्रह्मेति परमात्मेति प्रसिद्धः-आश्रयः-अधिष्ठानं कथ्यते। आश्रयस्वरूपमपरोक्षानुभवेन स्पष्टं दर्शयितुमध्यात्मादिविभागमाह – योऽयमाध्यात्मिकः पुरुषः = चक्षुरादिकरणाभिमानी द्रष्टा जीवः, स एवाधिदैविकः = चक्षुराद्यधिष्ठाता सूर्यादिः, तत्र = एकस्मिन्नेव, उभयः = द्विरूपः-करणाभिमानी तदधिष्ठातृरूपो विच्छेदो यस्मात्स आधिभौतिक = चक्षुर्गोलकाद्युपलक्षितो दृश्यो देहः = पुरुषः इति, पुरुषस्य जीवस्य पाधरपि पुरुषशब्देन कथ्यते 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तै० ७० २। ४। १) इत्यादिश्रुतेः। एकमेकतराभाव इत्येतेषामन्योऽन्यसापेक्षसिद्धित्वे नानात्मत्वं-दर्शयति तथाहि – दृश्यं विना तत्प्रतीत्यनुमेयं करणं न सिद्ध्यति, नापि द्रष्टा न च तद्विना करणप्रवृत्त्यनुमेयस्तदधिष्ठाता सूर्यादिः सिद्ध्यति, न च तं विना करणं चक्षुरादिप्रवर्तते, न च तद्विना दृश्यं रूपादिकमित्येवं, एकतरस्याभावे एकं यदा नोपलभामहे तत्र तदा तत्त्रितयं, आलोचनात्मकेन प्रत्ययेन यो वेद = साक्षितया पश्यति, स परमात्मा आश्रयः। तेषां त्रयाणामपि परस्परमाश्रयत्वमस्त्येवेति तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणं स्वाश्रयाश्रयः इति। स्वाश्रयः = स्वएवाश्रयोऽनन्याश्रयः, स चासावन्येषामाश्रयश्चेति। तथा च श्रीभगवान एकादशे श्रीमद्भागवतेऽप्याह – 'ममाङ्ग! मायागुणमय्यनेकधा विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते। वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेकमथाधिदेवमधिभूतमन्यत् ॥ दृग्रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे परस्परं सिद्ध्यति यः स्वतः खे। आत्मा यदेषामपरो य आद्यः स्वयानुभूत्याऽखिलसिद्धसिद्धिः ॥ (भा० ११। २२। २८-२९) इति।

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजी से कहते हैं – प्रिय मित्र! मेरी माया त्रिगुणात्मिका है, वही अपने सत्व, रज आदि गुणोंसे अनेकों प्रकारकी भेद-वृत्तियां पैदा कर देती है, यद्यपि इसका विस्तार असीम है, फिर भी इस विकारात्मक सृष्टिको तीन भागोंमें बांट सकते हैं। वे तीन भाग है – अध्यात्म, अधिदेव और अधिभूत। उदाहरणार्थ-नेत्र इन्द्रिय अध्यात्म है, उसका विषय रूप अधिभूत है और नेत्रगोलक में स्थित सूर्य देवता का अंश अधिदेव है। ये तीनों परस्पर एक-दूसरे के आश्रयसे सिद्ध होते हैं। और इसलिए अध्यात्म अधिदेव और अधिभूत ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। परन्तु आकाशमें स्थित सूर्य-मण्डल इन तीनों की अपेक्षा से मुक्त है, क्योंकि वह स्वतः सिद्ध है। इसी प्रकार आत्मा भी उपर्युक्त तीनों भेदों का मूल-कारण उन

का साक्षी और उनसे परे हैं । वही अपने स्वयं-सिद्ध प्रकाशसे समस्त सिद्ध-पदार्थोंकी मूल-सिद्धि है । उसीके द्वारा सबका प्रकाश होता है । जिस प्रकार चक्षुके तीन भेद बताये गये, उसी प्रकार त्वचा, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका और चित्त आदिके भी तीन-तीन भेद हैं । जैसे – त्वचा, स्पर्श और वायु; श्रवण, शब्द और दिशा, जिह्वा रस और वरुण, नासिका गन्ध और अश्विनीकुमार, चित्त, चिन्तनका विषय और वासुदेव, मन, मनका विषय और चन्द्रमा; अहंकार अहंकारका विषय और रुद्र, बुद्धि, समझनेका विषय और ब्रह्मा इन सभी त्रिविध-अध्यात्मादि तत्त्वोंसे अधिष्ठान आत्मा का वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं है ।

अयमर्थः — हे अङ्ग ! हे प्रिय ! उद्धव ! गुणमयी, मम माया = प्रकृतिः, अनेकधा विकल्पं = भेद, तद्बुद्धीः = तज्ज्ञानानि च गुणैर्विधत्ते वैकारिकः = अनेकविकारवानपि स्थूलेन मार्गेण तावत्त्रिविधः । तत्र एकं रूपं अध्यात्मम् । अथ द्वितीयमधिदैवम्, अन्यत् = तृतीयमधिभूतम् । तानि विवृणोति । दृगिति । दृक् = चक्षु अध्यात्मम् । रूपं-अधिभूतम् . अत्र रन्ध्रे = चक्षुर्गोलके प्रविष्टं = आर्कं वपुः = सूर्यांशोऽधिदैवमिति । तत्र चक्षुषा रूपं ज्ञायते, तदन्यथाऽनुपपत्त्या चक्षुः सिद्ध्यति, तत्प्रवृत्त्यन्यथाऽनुपपत्त्या तदाधिष्ठात्री देवता सिद्ध्यति, ततश्चक्षुषः प्रवृत्तिस्ततो रूपज्ञानमित्येवमेतत् त्रयं परस्परं सिद्ध्यति । अत्र रन्ध्रे इत्युक्तविशेषणव्यावर्त्यमाह – दृष्टान्तोपयोगितया यस्तु खे = आकाशे मण्डलान्मार्कः, स तु चक्षुर्विषयोऽपि स्वतः प्रतियोग्यपेक्षां विनैव सिद्ध्यति । यत् = यस्मात्, यः = आत्मा स एषां = अध्यात्मादीनां, आद्यः = कारणभूतः, अतः एकरूपोऽभिन्नः सर्वानुगतश्च, तस्मादेतेभ्यः, अपरः = भिन्नः व्यतिरिक्तः, स च स्वयानुभूत्याऽविपरिलुप्तया = स्वतः सिद्धशाश्वतप्रकाशेन, अखिलानां सिद्धानां परस्परं प्रकाशकानामध्यात्मादीनामपि सिद्धिः = प्रकाशो यस्मात्स प्रकाशकः सर्वेषामपि सामान्यतश्चित्प्रकाशविषयत्वात् ।

एवं द्वादशे श्रीमद्भागवतेऽपाश्रयशब्देनाश्रयतत्त्वस्य निरूपणं सदृष्टान्तमित्थं कृतम् । तथाहि – 'व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु । मायामयेषु तद्ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ॥ पदार्थेषु यथा द्रव्यं, सन्मात्रं रूपनामसु । बीजादिपञ्चतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम् ॥ विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयं स्वयम् । योगेन वा तदाऽऽत्मानं वेदेहाया निवर्तते ॥' (भा० १२ । ७ । १९-२०-२१) इति ।

जीवात्माकी वृत्तियोंके तीन विभाग हैं – जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति । जो इन अवस्थाओंमें इनके अभिमानी विश्व तैजस और प्राज्ञ के मायामय रूपोंमें प्रतीत होता है और इन अवस्थाओंसे परे तुरीय-विशुद्ध-तत्त्वके रूपमें भी लक्षित होता है,

वही ब्रह्म है, उसीको यहां 'अपाश्रय' शब्द से कहा गया है। नाम विशेष और रूप विशेषसे युक्त पदार्थों पर विचार करें, तो वे सत्तामात्र वस्तुके रूपमें सिद्ध होते हैं। उनकी विशेषताएं लुप्त हो जाती हैं। असलमें वह सत्ता ही उन विशेषताओंके रूपमें प्रतीत भी हो रही है और उनसे पृथक् भी है। ठीक इसी न्यायसे पिण्ड-शरीर और विश्व-ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति से ले कर मृत्यु और महाप्रलय-पर्यन्त जितनी भी विशेष अवस्थायें हैं, उनके रूपमें परम सत्य स्वरूप ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है और वह उन से सर्वथा पृथक् भी है। यही वाक्य-भेदसे अधिष्ठान और साक्षीके रूपमें ब्रह्म ही पुराणोक्त आश्रय तत्त्व है। जब चित्त स्वयं आत्म-विचार अथवा योगाभ्यासके द्वारा सत्त्व - रजःतमोगुण सम्बन्धी व्यावहारिक-वृत्तियों और जाग्रत् स्वप्न आदि स्वाभाविक वृत्तियोंका त्याग करके उपराम हो जाता है, तब शान्त - एकाग्रवृत्तिमें 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके द्वारा आत्म-ज्ञानका उदय होता है। उस समय आत्म-वेत्ता पुरुष अविद्या-जनित कर्मवासना और कर्म-प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाता है।

अपाश्रयशब्देनाश्रयं निरूपयति - व्यतिरेकेति। जीववृत्तिषु-जाग्रदाद्यवस्थासु, यस्य साक्षितया कारणतयाऽधिष्ठानतया चान्वयः-तत्सत्त्वे तत्सत्त्वलक्षणः। व्यतिरेकः = तत्पृथक्तया स्वरूपेणावस्थानं = तदभावसाक्षितयाऽवस्थितिश्च, तद्ब्रह्म अपाश्रयशब्देन कथ्यते। ननु – जाग्रद् द्यवस्थानां बुद्धिवृत्तिरवेनोक्तत्वात्कथं जीववृत्तित्वमित्याशंक्याह – मायामयेष्विति-मायया-ऽविद्यया जीवात्मसु कल्पितास्वित्यर्थः। यद्वा जाग्रदादिष्ववस्थासु जीवतया वर्तन्त इति जीववृत्तयः = विश्वतैजसप्राज्ञाः सोपाधिका जीवात्मानः, तेषु मायामयेषु-मायाकल्पितदेहाद्युपाधिविशिष्टेषु साक्षितया निरूपाधिकतया-ऽन्वयः, समाध्यादौ च व्यतिरेकः = पार्थक्यं यस्य तद्ब्रह्म संसारप्रतीतिबाधयोरधिष्ठानात्वधिभूतमपाश्रय उच्यते। एतदेवं सदृष्टान्त प्रपञ्चयति-पदार्थेषु = घटादिषु द्रव्यं = मृदादि यथा युतं = अन्वितं, अयुतं = बहिरपि तेभ्यः पृथक्तयाऽवस्थानात्। रूपनामसु च सन्मात्रं = सत्तामात्रं, यथा समीपस्थेन हिमगिरिरयमित्युक्ते तद्रूपे सत्ताऽन्वयः, दूरस्थेन हिमगिरिरित्युक्ते तद्दर्शनाभावात्तन्नाम्न्येव सत्तान्वयः। यद्वा रूपनामयुक्तेषु पदार्थेषु सन्मात्रं द्रव्यं यथेत्यप्यपृथक्तया योजयितुं शक्यम्। एवं बीजं = गर्भाधानं, आदिर्यासां पञ्चता = पञ्चत्वं-मरणं अन्तो यासां तासु देहावस्थासु नवस्वप्यधिष्ठानत्वेन युतं साक्षित्वेनायुतञ्च यद्ब्रह्म तदपाश्रयः। अपशब्दः तस्य स्वाश्रयत्वमेव, न तस्याश्रयान्तरमस्तीति सूचनार्थः। देहस्य नवावस्थाः-एकादशस्कन्धे स्वयं भगवतैवोक्ताः – 'निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकैशोरयौवनम्। वयो मध्यं जरामृत्युरित्यवस्थास्तनो र्नव ॥' (भा० ११ । २२ । ४६) इति।

गर्भाधान, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, कुमारावस्था, जवानी, अधेड़-

अवस्था, बुढ़ापा और मृत्यु - ये नौ अवस्थाएं शरीर की ही हैं।

यदा सर्गादीनां मायामयत्वमिथ्यात्वानुसंधानेन वामदेवदत्तात्रेयादेरिव स्वयमेवाद्वयब्रह्मनिष्ठया च वृत्तित्रयं = जाग्रदाद्यवस्थात्रयं हित्वा चित्तं विरमेत = स्वकीयसंकल्पजालं परित्यजेत्, तदाऽयमावरणविक्षेपाभावादात्मानं विश्वाश्रयतयाऽद्वयब्रह्मतया वेद = साक्षात्कारोतीत्यर्थः। इहैवानुष्ठितेन योगेन = अनन्यभक्तिपूर्णज्ञानयोगेन वा देवहुत्यादिवत्। तदा चाविद्यानिवृत्तेस्तत्कार्यभूतायाः - ईहायाः कामनामयसंसाररूपाया निवर्तेत इत्यर्थः। 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥' (बृ० उ० ४।४।७) 'विमुञ्चन्ति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्। तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष, भगवत्त्वाय कल्पते ॥' (भा० ७।१०।९) इति।

प्रह्लादजी कहते हैं - हे कमलनयन! प्रभो! जिस समय मानव अपने मनमें रहने वाली सभी कामनाओंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह देह भाव एवं जीव-भाव को छोड़ कर सच्चिदानन्दाद्वय ब्रह्मरूप भगवद्भाव को प्राप्त कर लेता है।

श्रुतिभागवताभ्यां कामनामयेहानिवृत्तेरेव मोक्षत्वेन प्रतिपादनादिति। एवं श्रीमद्भागवतस्य चतुःश्लोक्यां संक्षिप्तभागवतरहस्यमध्यामपि - एतदेवाश्रयतत्त्वं निरूपितम्। एवं प्रतिस्कन्धं विश्वाधिष्ठानतया निरपेक्षतया सर्वत्र सच्चित्सुखरूपेण भासमानतया जगदुत्पत्त्यादिकर्तृतया चराचरसाक्षितयाऽन्तर्यामितया विष्णुशिवादिस्वरूपतया च तदेव ज्ञेयतयोपास्यतया चाभिवर्णितम्। तस्यैव साक्षात्कारेण निःश्रेयसं संपद्यत इत्यलमाम्रेडितेन।

आक्षेप-परिहारः

यस्तु विशिष्टाद्वैतवादी कश्चिद् निर्लज्जो वराको भगवत्पादं महनीययशसमाचार्यप्रवरं श्रीशङ्करस्वामिनं मिथ्याक्षेपैः स्वकपोलकल्पितैः श्लोकैरित्थमाक्षिपति - शृङ्गगिरिसमीपे तुङ्गभद्रातीरे शारदाप्रतिष्ठापनसमये पश्चात्तापरूपेण प्रायश्चित्तमपि कृतं शङ्कराचार्येण-'साकारश्रुतिमुल्लङ्घ्य निराकारप्रवादतः। यदघं मे कृतं देवि! तद्दोषं क्षन्तुमर्हसि ॥ विचारार्थं कृतं यच्च वेदार्थन्तु विपर्ययम्। देवानां जपयज्ञादि खण्डितं देवतार्चनम् ॥ स्वमतस्थापनार्थाय कृतं मे भूरिदुष्कृतम्। तत्क्षमस्व महामाये! परमात्मस्वरूपिणि। कृताघपरिहाराय तवार्चा स्थापिता मया। अत्र तिष्ठ महेशानि! यावदाभूतसंप्लवम् ॥' इति।

एतत्प्रजल्पनं तस्य श्रुत्यादिशास्त्रप्रतिपादिताद्वैतसिद्धान्तद्वेषनिबन्धनतया स्वमताभिनिवेशतया च तुच्छभ्रष्टमतिसूचकमेव प्रतिभाति विदुषाम्। न हि कश्चन शास्त्ररहस्यवेत्ता विपश्चिद् भगवत्पादानां साकारश्रुत्युल्लङ्घनादिकं मनुते। 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥' (महाभारतशान्तिपर्व)।

आक्षेप का परिहार तथा उपसंहार

श्रीभगवान कहते हैं–हे नारद! जो तू मुझे सगुणसाकार रूपसे देखता है, वह तो मेरी माया का ही सर्जन है। अत एव तू मुझे सर्वभूतोंके रूपादिगुणों से युक्त रूप से नहीं देख सकता है।

इत्यादिशास्त्रप्रामाण्यानुरोधेन तैः साकारनिराकारश्रुत्यादेर्व्यवस्थाऽभिवर्णिता। मां = साकारस्वरूपेण यत्त्वं पश्यसि सैषा मया माया सृष्टाऽर्थात् मायायाः विशुद्धसत्त्वरूपेण समुद्भासितं तत्स्वरूपमस्ति। भौतिकं स्वरूपं नास्ति, अतस्त्वं सर्वभूतगुणैः रूपादिभिर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि। जपयज्ञादिकं तदधिकारिणां कृते 'वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयताम्।' 'येनाकारि मुरारेः समर्चा तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम्।' इत्यादिभिः प्रतिपादितत्वात् मण्डितमेव, न तु खण्डितमिति विद्वांसो विदांकुर्वन्त्येव। यद्यपि 'निराकाराद्वयं तत्त्वं श्रुत्यादिभिः समीरितम्। समुल्लंघ्य मयादेव! साकारस्यैव बोधनात्। यत्पापं विहितं विष्णो! तद्दोषं क्षन्तुमर्हसि ॥ शास्त्राणामन्यथा व्याख्या द्वैतवाददुराग्रहात्। या कृता भगवन्! विष्णो! तया पापं मयि श्रितम्। तत्पापपरिहाराय क्षमास्तुतिर्विधीयते ॥ द्वैतवादस्य सिद्ध्यर्थं मिथ्यालापैकसंभवान्। तान् क्षमस्व दयासिन्धो अपराधान् सहस्रशः ॥' एवंभूता-आक्षेपा भगवत्पादानुयायिभिरपि द्वैतवाद्याचार्यानुद्दिश्य कर्तुं शक्यन्ते, तथापि 'न हि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः' इतिन्यायेन समुदारक्षमाशील-हृदयतया ते समदर्शिनस्तान् वक्तुमपि-लज्जन्ते। इत्यलं जलविलोडनश्रमेण।

उपसंहारः

यद्यप्यस्य प्रथमे खण्डे 'प्रास्ताविकं वक्तव्यम्' विस्तरतोऽभिवर्णितम्। तथापि श्रीमद्भागवतस्य दशलक्षणवर्णनमिषेण विस्तृतं प्रास्ताविकं वक्तव्यं द्वितीयखण्डेऽपीत्थं निरूपितं श्रद्धावित्तानां पाठकानां श्रीमद्भागवतरहस्य-जिज्ञासूनां कृते शङ्कासमाधानविविधमतवादनिराकरणसिद्धान्तनिर्णयादि-

द्वाराऽत्युपयोगितया सफलं स्यादेवेति वयं विश्वसीमः । अन्ते च पुराणमूर्धन्यस्य श्रीमद्भागवतमहापुराणस्य प्रतिपदं समुद्भासमानं भगवन्तं—

सत्यं ज्ञानमनन्तमद्वयसुखं ब्रह्मेति वेदेषु यत्-
प्रोक्तं, विष्णुशिवादिभिश्च बहुभी रूपै र्मतं वादिभिः ।
यन्मानाविषयः सदा गुरुकृपाचित्प्रेमयोगेन स-
ल्लभ्यं तं समुपास्महे हृदि सदा कृष्णं जगद्देशिकम् ॥

जगत्स्थितिलयोद्भूति हेतवे निखिलात्मने ।
सच्चिदानन्द रूपाय, परस्मै ब्रह्मणे नमः ॥

वेदोंमें सत्य, ज्ञान, अनन्त, अद्वय सुख ब्रह्मरूपसे जो कहा गया है, तथा जो विभिन्न-मतवादियोंके द्वारा विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, शक्ति आदि अनेकरूपोंसे माना गया है और जो वस्तुतः प्रमाणोंका प्रकाशक होनेके कारण प्रमाणों का विषय नहीं है और जो गुरुकृपा एवं ज्ञानपूर्ण अनन्वप्रेम योगसे ही सत्पुरुषोंके द्वारा प्राप्त किया जाता है, उस जगद्गुरु श्रीकृष्णकी हम हृदयमें सदा भलिभांति उपासना करते हैं । जो जगत् की स्थिति, विलय एवं उत्पत्ति का हेतु है एवं निखिल चराचर विश्वका आत्मा है, अभिन्नस्वरूप है, उस सच्चिदानन्दरूप परब्रह्मको नमस्कार ।

इत्युक्त्वा वयं विरमामः ।

विक्रम संवत् २०१९
गोजंर-मार्गशीर्षमास
कृष्णपक्ष, दशमी, शुक्रवार
ता० २१-१२-६२

स्वामिनो महेश्वरानन्दस्य महामण्डलेश्वरस्य
बद्रिकाश्रम (नर्मदातट)
मु०—दरियापुर, पो०—चांदोद
जिला—बड़ोदा (गुजरात)

❀

❀ ❀

❀ हरिः ॐ तत्सत् ❀

ॐ श्रीगणेशाय नमः । श्रीगुरुभ्यो नमः

श्रीवाग्देवता भगवती श्रीशारदा प्रसन्नाऽस्तु

श्रीमद्भागवत-संहितोपनिषच्छतकम्

अध्यात्म-ज्योत्स्ना-विवृति-समलङ्कृतम् ।

(द्वितीयः खण्डः) मङ्गलाचरणम्

ॐ वेदवेद्यमुमाकान्तं, कुमाराभ्यामलंकृतम् ।
नन्दीशप्रमुखैस्सेव्यं प्रणमामीष्टसिद्धये ॥
यदानन्दलवेनैव जगदानन्दमश्नुते ।
तं वन्दे प्रत्यगात्मानमसङ्गं नन्दनन्दनम् ॥

तत्र तावत्तृतीयस्कन्धस्य तात्पर्यं संक्षेपतः प्रदर्श्यते । यथाहि—

(१) यथोपनिषदादिषु भूयोभूयोऽपृथक्त्वलक्षणमनन्यत्वं प्रशस्यते पृथक्त्वलक्षणमन्यत्वञ्च निन्द्यते । तथाऽत्रोपनिषत्सारभूते श्रीमद्भागवतेऽपि अपृथक्त्वस्य प्रत्यक्षादिभिरनधिगतस्य सर्वथाऽप्यबाधितस्य सप्रयोजनस्य च प्रशस्तये बाधितमधिगतं निष्प्रयोजनञ्च पृथक्त्वदर्शनमेव दुःखप्रचुरायाः संसृतेर्बीजतया विनिन्द्यते । 'देवो भूत्वा यजेद्देवं नादेवो देवमर्चयेत् । येन केन प्रकारेण भेदभावं विवर्जयेत् ॥' इतिन्यायेन सगुणसाकारभगवद्भक्तावपि 'अपृथक्त्वदर्शनमेव' 'न पृथक् दिदृक्षेत्' इत्यनेन विधीयते । 'अत एव 'अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम् ।' (भा० ३।१३।४९) इत्यादिभिः-भक्तौ प्रदत्तमनन्यत्वविशेषणमपि अन्यत्वलक्षणभेदभावव्यावृत्तिमेव ज्ञापयति 'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा विशेषणस्य प्रयोजनम् ।' इत्यभियुक्त-

ॐ वेद-वेदान्तसे जानने योग्य— कार्तिकेय एवं गणेशरूप कुमारद्वयसे सुशोभित-नन्दीश्वर-प्रमुख-गणोंके द्वारा सेवा करने योग्य उमाकान्त-भगवान् शङ्करको मैं इष्टकी सिद्धिके लिये प्रणाम करता हूं ।

जिसके आनन्दका लेश प्राप्तकर समग्र-जगत् आनन्दित होता है, उस प्रत्यगात्मारूप-असंग-नन्दनन्दन-श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूं ।

अब तृतीयस्कंधका संक्षेपसे तात्पर्य प्रदर्शित किया जाता है । जैसे—

(१) जैसे उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें वार-वार अपृथक्त्व-लक्षणवाले अनन्यत्वकी प्रशंसा की जाती है, और पृथक्त्वलक्षणवाले — अन्यत्वकी निन्दा की

स्मरणात् । सति चैवं अनन्यदृष्ट्यैव विश्वात्मकं सर्वाभिन्नं भगवन्तं भजमानस्य भक्तस्योपरि भगवान् सर्वतोभावेन परितुष्यतीत्याह — 'यत्प्रसादादिदं विश्वं, प्रसीदति यदात्मकम् । स स्वदृक् भगवान् यस्य तोष्यतेऽनन्यया दृशा ।।' (भा० ३ । १४ । ४६) इति । विश्वप्रसादे हेतुर्यदात्मकम्, सर्वं चराचरं विश्वं यस्मान्नास्ति मनागपि विभिन्नम् । अत एव भगवत्प्रसाद एव विश्वप्रसादः, प्रसादनीयस्यैकत्वात्, नास्ति तयोर्भेदः । तथा च विष्णुसहस्रनामादौ 'विश्वं विष्णुः ।' इत्याह भगवान् कृष्णद्वैपायनः । यस्यानन्यया दृशा = न विद्यतेऽन्यो यस्यां तादृश्या, अन्यस्य सर्वस्य बाधितत्वात् अविद्यमानत्वाच्च । तत्रान्यः प्रवेष्टुं कथं शक्नुयात् ? सर्वमिदमहञ्च भगवानेव परमः सत्यः सर्वत्र सदा निरीक्षणीयो ध्यातव्यश्च, तदन्यत् सर्वं दृश्यं बाधितं मिथ्याभूतमेवेत्येवभूतया दृष्ट्या तोष्यते = तोषं प्राप्स्यते । भगवतः सर्वात्मतया तस्य तोषः स्वात्मतोष

जाती है । वैसे इस उपनिषदोंके सारभूत—श्रीमद्भागवतमें भी अपृथक्त्व की—जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अनधिगत-अज्ञात है, सर्वथा अबाधित है, तथा समस्त दुःखनिवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्तिरूप-प्रयोजनसे संयुक्त है—प्रशस्तिके लिये तथा जो बाधित है-ज्ञात है—एवं प्रयोजनरहित है — ऐसा जो पृथक्त्वदर्शन है— उसकी दुःख-प्रचुर-संसारके कारणरूपसे निन्दा की जाती है । 'देव होकर ही देवकी आराधना करे, देव-भिन्न-देह बनकर देवकी आराधना न करे, जिस किसीभी प्रकारसे भेदभावका परित्याग करना चाहिये ।' इस न्यायसे सगुण-साकार-भगवान्‌की भक्तिमें भी—अपृथक्त्वदर्शन का ही 'पृथक् देखनेकी इच्छा न करे अर्थात् आत्मारूपसे अनन्यभावसे देखने की इच्छा रक्खे' इस वचन से—विधान किया जाता है । इसलिए—जो विवेकीजन, उनकी अनन्य-भावसे भक्ति भजन करते हैं, उन्हें तो वे अन्तर्यामी परमात्मा स्वयं अपना परमपद ही दे देते हैं ।' इत्यादि वचनोंके द्वारा भक्तिमें जो अनन्यत्वविशेषण दिया है, वहभी अन्यत्वलक्षणवाले—भेदभावकी व्यावृत्तिको ही ज्ञापन कराता है । 'व्यावृत्ति या व्यवहार विशेषणका प्रयोजन है' ऐसा प्रामाणिक विद्वानोंका कहना है । ऐसा सिद्ध हो-जाने पर अनन्यदृष्टिसे ही विश्वरूप-सर्वाभिन्न-भगवान्‌को भजनेवाले—भक्तके ऊपर भगवान् सर्वतोभावसे संतुष्ट होता है—यह कहते हैं— 'जिनकी कृपासे उन्हींका स्वरूप-भूत यह जगत् आनन्दित होता है, वे स्वयं प्रकाश भगवान् उसकी अनन्य - भक्तिसे सन्तुष्ट हो जायेंगे ।' विश्वकी प्रसन्नतामें हेतु है—यदात्मक अर्थात् यह समग्र जगत् भगवद्रूपही है । सर्व चराचर विश्व जिससे थोड़ा भी विभिन्न नहीं है, इसलिये भगवान्‌की प्रसन्नता ही विश्वकी प्रसन्नता है । प्रसन्न करने योग्य तत्त्व एक है—अतएव दोनोंकी प्रसन्नतामें भेद नहीं है । इसलिए विष्णुसहस्रनामके आदिमें—भगवान् कृष्ण-द्वैपायन व्यासने नामद्वयके निर्देश द्वारा 'यह विश्व विष्णुही है' ऐसा कहा है । जिसकी

एवानुभवसिद्धः सर्वथाऽनपलपनीयः । अत एव 'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं' (भा० ३।१०।१२) 'सृजत्यमोघसंकल्पः, आत्मैवात्मानमात्मना' (भा० ३।१०।२६) अमोघसंकल्पः = मायिकसंकल्पेनैव स्रष्टुं समर्थः, स्वेनैव साधनेन स्वमेव स्वयमेव स्वतन्त्रः स्वस्मिन्नेव रचयति, न स्वस्माद्भिन्नमन्यस्मिन्। न तु कारकान्तरापेक्षी, 'कर्ता कर्म च करणं च स्वयमेव सदा हरिः ।' इति शिष्टस्मरणात् । इत्येवं सर्वस्यानन्यत्वमेव दृढयति ।

(२) ऐकाग्र्यलक्षणेन तपसैव ब्रह्मात्मैक्यविद्या लभ्यते, तया भगवतः पारमार्थिकमद्वयस्वरूपं साक्षात्क्रियतेऽधिकारिणा । तस्य मायाकल्पितद्वैत प्रपञ्चाद्विरक्तस्य ब्रह्मज्ञानिनो अनन्यप्रेमलक्षणा तस्मिन् एकस्मिन् स्वात्माभिन्ने भगवति निष्ठारूपा भक्तिरपि गङ्गाप्रवाहवत् स्वाभाविकी न तु प्रयत्नसंपाद्या विद्यत एव, अत एव न कथमपि तस्यास्तत्र विच्छेदः संभाव्यते ।

(३) निर्विशेषपरात्परब्रह्माद्वयभावेनैव वैकुण्ठनाथस्य श्रीविष्णोः

अनन्य—जिसमें अन्य नहीं है — ऐसी दृष्टिसे अन्य — सर्वका बाध होजानेसे तथा अविद्यमान होनेसे, उसमें अन्य प्रविष्ट होनेके लिए कैसे समर्थ होवे ? यह सब और में भगवान् ही परम सत्य है । सबमें सदा निरीक्षण करने योग्य एवं ध्यान करने योग्य है, उससे अन्य सब दृश्य बाधित होने से मिथ्या ही है । ऐसी अनन्यदृष्टिसे भगवान् संतोषको प्राप्त होंगे, भगवान् सबकी आत्मा हैं, इसलिये भगवान् का सन्तोष ही आत्माका सन्तोष अनुभवसिद्ध है, अत एव वह सर्वथा अपलाप करने योग्य नहीं है । इसलिए 'यह जो विश्व है, वह तन्मात्र, ब्रह्म ही है ।' 'सफल संकल्प वाले भगवान् स्वयं ही जगत् के रूपमें अपनी ही रचना करते हैं ।' अमोघ संकल्प यानी मायिक संकल्प से ही सर्जन करने के लिए समर्थ । स्वयं ही को साधन बना कर स्वयं ही स्वयं की स्वतन्त्र होकर स्वयं में ही रचना करते हैं । न स्वयं से भिन्न की अन्य में रचना करते हैं । भगवान् अन्य कर्ता-कर्म-करण आदि कारकों की अपेक्षा नहीं रखता, अतएव शिष्ट-महानुभावों ने ऐसा कहा है कि — 'कर्ता-कर्म एवं करण स्वयं सदा श्रीहरि ही हैं ।' इस प्रकार सर्वके अनन्यत्वको ही दृढ किया हैं ।

(२) एकाग्र लक्षण वाले तप से ही ब्रह्म एवं आत्माके एकत्वकी विद्या प्राप्त होती है, उसके द्वारा अधिकारी-जन भगवान् के अद्वय स्वरूपका साक्षात्कार करता है । मायाकल्पित द्वैतप्रपञ्चसे विरक्त उस ब्रह्मज्ञानी की — उस एक स्वात्मासे अभिन्न भगवान् में — अनन्यप्रेमलक्षणा, निष्ठारूपा भक्ति भी गङ्गा-प्रवाह की तरह स्वाभाविक ही विद्यमान रहती है । जो प्रयत्नसाध्य नहीं है, इसलिए उस भक्ति का उस ज्ञानी में किसी भी प्रकार से उच्छेदकी संभावना नहीं होती ।

(३) निर्विशेष-परात्पर-ब्रह्माद्वय भावसे ही वैकुण्ठनाथ-श्रीविष्णुके पारमार्थिक स्वरूप का वर्णन किया जाता है । उस का उपासना करने योग्य साकार

पारमार्थिकस्वरूपं वर्ण्यते। तस्य समुपासनीयः साकारविग्रहस्तु भारतमानचित्रमिव तत्परिचायक एवास्तीति सनकादीनामद्वयब्रह्मनिष्ठानां मुनीश्वराणामुपनिषद्रहस्यगर्भितया वाचोभङ्ग्याऽवगम्यते। अत एव वैकुण्ठवास्तव्या वैमानिका देवाः, पक्षिगणाः, विविधा वृक्षा अपि–अद्वय–विष्णुब्रह्मभावनिष्ठतयैव वर्ण्यमानास्तमेव प्रशस्तं सिद्धान्तं दृढयन्ति।

(४) सिद्धप्रवरश्रीकपिलपिता कर्दममहर्षिरपि प्राक् वैरक्त्यलक्षणां प्रव्रज्यां संपादयति। ततस्तया किल निर्द्वन्द्वो निर्ममो निरहंकारश्च सन् प्रत्यक्प्रशान्तधिया सर्वत्र सदाऽन्तर्बहिः समदृक् स्वदृक् च भवति। ततः सः स्वात्मनि भगवति फलभूतामनन्यां परां भक्तिं, ततोऽद्वयब्रह्मानुभूतिं, तया च ब्रह्मनिर्वाणं कैवल्यमधिगच्छति।

(५) सर्वत्रावस्थितं सर्वात्मानं भगवन्तमवजानानः केवलप्रतिमापूजको धर्मध्वजी पाखंड्येव मन्तव्यः। शास्त्रेषु प्रतिमाऽऽराधनोपदेशस्तु मनसो बहिर्मुखतायाः व्यग्रतायाश्च निवारणायैव विहितः। तया किल तन्निवारणं न जातं चेत्तदा तदाराधनं व्यर्थमेव सम्पन्नम्। जीवेश्वरयो र्जीवानां जडानाञ्च

विग्रह तो भारतके मानचित्र (नक्शा) की तरह उस पारमार्थिक स्वरूपका परिचय कराने वाला ही है, ऐसा अद्वय-ब्रह्मनिष्ठ सनकादि मुनीश्वरोंकी उपनिषदोंके रहस्यसे संयुक्त वाणीकी शैली से जाना जाता है। इसलिए वैकुण्ठवासी विमानों से भ्रमण करने वाले देव, पक्षीसमुदाय एवं विविध प्रकारके वृक्ष भी अद्वय-विष्णु-ब्रह्म-भावकी निष्ठावान् रूपसे ही वर्ण्यमान हुए उसी ही प्रशस्त अद्वैत-सिद्धान्तको दृढ़ करते हैं।

(४) सिद्धप्रवर श्रीकपिलके पिता कर्दम-महर्षि भी प्रथम विरक्ततालक्षण वाली प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास दीक्षा संपादन करते हैं। उसके बाद उससे वे निर्द्वन्द्व निर्मम एवं निरहंकार हुए प्रत्यगात्मा के ही अभिमुख रहने वाली प्रशान्त-बुद्धि के द्वारा सर्वमें सदा समदृष्टि वाले एवं अपने को ही सर्वत्र देखने वाले होते हैं। उससे वे स्वात्मारूप भगवान्में फलरूपा-अनन्य-पराभक्ति तथा उससे वे अद्वयब्रह्मानुभव तथा उसके द्वारा वे ब्रह्मनिर्वाणरूप कैवल्यको प्राप्त करते हैं।

(५) सर्वमें अवस्थित सर्वात्मा भगवान्की अवज्ञा करता हुआ केवल प्रतिमा की पूजा करने वाला धर्मध्वजी पाखण्डी ही मानना चाहिये। शास्त्रों में प्रतिमा की आराधनाका उपदेश तो मनकी बहिर्मुखता एवं व्यग्रताके निवारणके लिये ही किया गया है। उस आराधनासे यदि उनका निवारण न हुआ, तब तो वह आराधना व्यर्थ निष्फल ही हुई। जीव ईश्वरका तथा जीवोंका एवं जड़ पदार्थोंका परस्पर भेददर्शन ही असह्य-भय एवं दुःखका कारण है। अर्थात् सर्वत्र-अभेददर्शन ही

मिथो भेददर्शनमस्ति असह्यभयदुःखकारणम् । अर्थतः सर्वत्राभेददर्शनमेव निर्भयतायाः पूर्णशान्त्यानन्दस्य चास्ति प्रयोजकं विद्वदनुभवसिद्धम् । अतएव विवेकी शास्त्रज्ञो निखिलदेहभूतदेवालयस्थितं भगवन्तमात्मानमभिन्नदृष्ट्या यथोचितसन्मानदानाभ्याञ्च समर्चयेदिति श्रीकपिलमहर्षेः स्वमातरं देवहूतिं प्रति अयं श्रेयस्करः सदुपदेशः ।

(६) अतएव माता देवहूतिः स्वपुत्रानुग्रहतो भक्तिप्रवाहयोगं बलीयसं वैराग्यं, अद्वयब्रह्मविज्ञानञ्च लब्ध्वा स्वानुभूत्या मायागुणान् बाधित्वा ब्रह्मणि-स्वात्मनि मतिं संस्थाप्य जीवभावञ्च निवार्य 'आत्मानं ब्रह्मनिर्वाणं भगवन्तमवाप ह' (भा० ३ । ३३ । ३०) अत्रात्मभगवतोः सामानाधिकरण्यनिर्देशेन तयोरेकत्वं समर्थितम् । आत्मा भगवानेव ब्रह्मनिर्वाणं-मोक्षस्वरूपं परमं पदम् । 'ब्रह्मभाव एव मोक्षः' इति सिद्धान्तितत्वात् । यस्मिन स्थाने सा ब्रह्मसाक्षात्कारसिद्धिं लब्धवती, तन् किल—'तद्वीरासीत् पुण्यतमं, क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम् । नाम्ना सिद्धपदं यत्र, सा संसिद्धिमुपेयुषी ॥' (भा० ३।३३।३१) तत् किलोत्तर-गुर्जरदेशे सिद्धपुरमिति नाम्ना प्रसिद्धं तीर्थम् । यत्र हि सरस्वत्याः सरितः परिप्लुतं बिन्दुसरोवरं पवित्रजलं महर्षिगणसेवितं वर्तते ।

निर्भयताका तथा पूर्ण शान्ति एवं आनन्दका प्रयोजक है, ऐसा विद्वानोंके अनुभव से सिद्ध है । इसलिए विवेकी शास्त्रज्ञ, निखिल देहरूप — देवालयमें अवस्थित-भगवद्रूप-आत्माका अभिन्नदृष्टिसे तथा यथोचित-सम्मान एवं दान द्वारा-समर्चन-पूजन करे । ऐसा श्रीकपिलमहर्षिका अपनी माता देवहूतिके प्रति यह कल्याण कर सदुपदेश है ।

(६) इसलिए माता देवहूति-स्वपुत्रकी कृपासे भक्तिप्रवाहयोग, अति-बलवान् वैराग्य, तथा अद्वयब्रह्मविज्ञानको प्राप्त करके, स्वात्माके अनुभवसे माया के गुणोंका बाधकरके स्वात्मारूप ब्रह्ममें बुद्धि स्थापित करके जीवभावका निवारण करके-'ब्रह्मनिर्वाणरूप भगवान् ही आत्माको प्राप्त किया ।' इस वचन में आत्मा एवं भगवान् में समानविभक्तिकत्वरूप-सामानाधिकरण्यके निर्देशसे उन दोनोंके एकत्वका समर्थन किया गया है । आत्मा भगवान् ही है, वही मोक्षस्वरूप-परमपद-ब्रह्मनिर्वाण-रूप है । क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है कि ब्रह्मभाव ही मोक्ष है ।

जिस स्थानमें माता देवहूतिने ब्रह्मसाक्षात्काररूप सिद्धिको प्राप्त किया, वह स्थान, 'हे वीरवर ! जिस स्थान पर उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी, वह परम पवित्र क्षेत्र त्रिलोकीमें 'सिद्धपद' नामसे विख्यात हुआ ।' उत्तर–गुजरातदेशमें 'सिद्धपुर' इस नामसे प्रसिद्ध तीर्थ है । जहां सरस्वती नदीसे व्याप्त पवित्र-जल-वाला महर्षि-गण द्वारा सेवित बिन्दुसरोवर अवस्थित है ।

(७) सतां संगेन भक्तिः, तया हृदयस्य शुद्धिः, शुद्धे च तस्मिन् वैराग्यद्वारा पराभक्तिमयं ज्ञानं प्रादुर्भवति, तेन च भगवत्प्राप्तिः।

(८) 'अजस्य जन्म अकर्तुः कर्माणि, गुणानां परस्य देहयोगः' (भा० ३।१।४४) इत्यत्र प्रतिपाद्यमानो विरोधाभासो वेदान्तप्रसिद्धमध्यारोपापवाद-न्यायमेव गमयति। स च 'आभासश्च निरोधश्च यतश्चावसीयते।' (भा० २। १०।७) इत्यनेन एकार्थगमकेन पर्यायेण समर्थितः। तेन हि जन्मकर्मदेह-योगानामारोपिततया शुक्तिकायां रजतस्येव मिथ्यात्वं, एवं अजनिष्क्रियगुणा-तीतस्वरूपस्य तदधिष्ठानतया सत्यत्वमेव ज्ञापयति। अन्यथा प्रतीयमानस्य विरो-धस्य निवारणं दुर्घटम्। सति चैवं शुक्तिकायां रजताभावरजतयोरिव विरुद्ध-योस्तयोरेकत्रावस्थितिर्विषमसत्ताकत्वेनैव वेदितव्या, न तु समसत्ताकत्वेन। अत एव – 'यन्मर्त्यलीलोपयिकं तत्सर्वं स्वयोगमायाबलमेव।' (भा०३।२।१२) इत्यनेन साकारस्य भगवतो यत् – सौभाग्यातिशयस्य चरमावधिरूपं दिव्य-जन्मकर्मादिकं तत् स्वयोगमायाबलप्रकटितमेवास्ति, न तु पारमार्थिकस्वरूप-मिति स्पष्टमेव प्रतिपादितम्। तथा चायमेव सिद्धान्तः श्रीमद्भागवते प्रथमेऽपि–

(७) सन्तोंके संगसे भक्ति, उससे हृदयकी शुद्धि उस शुद्ध हृदयमें वैराग्य द्वारा पराभक्ति जिसमें प्रचुर है - ऐसा ज्ञान प्रादुर्भूत होता है, उसके द्वारा भगवान् की प्राप्ति होती है।

(८) अजन्मा का जन्म, अकर्ता के कर्म एवं गुणातीत में देहसंबन्ध, इसवचन में प्रतिपादित हुआ विरोधाभास, वेदान्त - प्रसिद्ध-अध्यारोप - अपवाद न्यायको ही ज्ञापित कराता है। वह-'जिस अद्वय-अधिष्ठान तत्त्वमें मायाद्वारा इस चराचर-जगत् का आभास यानी अध्यारोप तथा ब्रह्मविद्याद्वारा निरोध यानी अपवाद सिद्ध होता है।' इस एकार्थके बोधक पर्यायके द्वारा समर्थित होता है। उससे 'शुक्तिकामें रजत की तरह' जन्म कर्म एवं देहयोग, आरोपित होनेके कारण मिथ्या ही है, तथा अज, निष्क्रिय एवं गुणातीत स्वरूप ही उनका अधिष्ठान होने के कारण सत्य ही है, ऐसा ज्ञापित होता है। अन्यथा यानी ऐसी व्यवस्था न माननेपर प्रतीयमाम विरोध का निवारण अशक्य है। ऐसी व्यवस्था माननेपर तो जैसे शुक्तिमें रजताभाव व्याव-हारिक-सत्तावाला है एवं आरोपित- रजत प्रातिभासिकसत्तावाला है, वैसे इन-विरुद्धों की एकमें अवस्थिति विषमसत्तासे ही माननी चाहिये। अर्थात् जन्मादिकी व्यवहारिकी सत्ता एवं अजादिस्वरूपकी पारमार्थिकसत्ता। दोनोंकी समान सत्ता पारमार्थिकी सत्ता नहीं माननी चाहिये। इसलिए 'भगवान्ने अपनी योग-मायाका प्रभाव, दिखाने के लिये मानव लीलाओं के योग्य जो श्रीदिव्यविग्रह प्रकट किया था।' इस वचनके द्वारा - साकार - भगवान् का जो सौभाग्य के अतिशय

'एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः । मायागुणैर्विरचितम् ।' (भा०१।३।३०) 'एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः ।' (भा० १ । ३ । ३१) इति सुस्पष्टतया समर्थितः ।

(६) 'यद्धरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः ।' (भा० ३ । ४ । २८) 'संहृत्यस्वकुलं नूनं त्यक्ष्यन् देहमचिन्तयत् । अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञान मदाश्रयम् । अर्हति उद्धव एवाद्धा संप्रत्यात्मवतां वरः ॥' (भा० ३ । ४ । २९-३०) 'कृष्णस्य परमात्मनः । क्रीडयोपात्तदेहस्य, कर्माणि श्लाघितानि च । देहन्यासश्च तस्यैव धीराणां धैर्यवर्धनम् ॥' (भा०३ । ४ । ३३-३४) 'ययाऽहरद् भुवो भारं तां तनुं विजहावजः । कण्टकं कण्टकेनैव द्वयं चापीशितुः समम् ॥ यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः । भूभारः क्षपितो येन. जहौ तच्च कलेवरम् ॥ यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः ।' (भा० १ । १५ । ३४-३५-३६) इत्येतैः स्वमायायाः शुद्धसत्त्वप्राचुर्येण प्रकटितस्य निखिलसिद्ध्युपेतस्याभौतिकस्य परमोत्कटसौन्दर्यलावण्यसौष्ठवादिधाम्नोऽपि भगवद्देहस्य परित्यागं वर्णयता भागवतकारेण तस्यापि परिच्छिन्नतया सविशेषतया चापारमार्थिकस्वरूपमेव ज्ञापितम् । भगवतः पारमार्थिकं स्वरूपं तु निर्विशेषमपरिच्छिन्नं परात्परमद्वयं चिन्मात्रं ब्रह्मैवेत्यस्माभिस्तत्र तत्र बहुशः

की अंतिम अवधि-रूप-दिव्य जन्म कर्म आदि हैं, वह अपनी योगमायाके बल से ही प्रकटित हुआ है, वह पारमार्थिक स्वरूप नहीं है, ऐसा स्पष्ट ही प्रतिपादन किया है । जैसे यही सिद्धान्त श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कंधमें भी 'रूपरहित-निराकार, चिदात्मा भगवान् का यह साकार स्वरूप मायाके गुणोंके द्वारा विरचित हुआ है ।' 'इसप्रकार द्रष्टामें अज्ञानियोंके द्वारा दृश्य आरोपित हुआ है' ऐसा अतिस्पष्टरूपसे समर्थित हुआ है ।

(६) 'यहां तक कि — त्रिलोकीनाथ श्रीहरिको भी अपना वह साकार रूप छोड़ना पड़ा था ।' 'श्रीभगवान् ने अपने यादव-कुलका संहार कर अपने साकार श्रीविग्रह को त्यागते समय विचार किया, अब इस लोकसे मेरे चले जाने पर संयमी शिरोमणि उद्धव ही मेरे ज्ञान को ग्रहण करने के सच्चे अधिकारी हैं ।' परात्मा श्रीकृष्णने मायाकी लीलासे ही अपना श्रीविग्रह ग्रहण किया था और उसके द्वारा प्रशंसनीय कर्म किये थे, उनका वह श्रीविग्रहका परित्याग-अन्तर्धान होना भी धीरपुरुषोंका उत्साह-धैर्य बढ़ाता है । भगवान् श्रीकृष्णने लोकदृष्टिमें जिस यादव शरीरसे पृथ्वीका भार उतारा था, उसका वैसे ही परित्याग कर दिया, जैसे कोई कांटे से कांटा निकाल कर दोनों को फेंक दे । भगवान् की दृष्टि में दोनों ही समान थे । जैसे वे नट के समान मत्स्यादि रूप धारण करते हैं, और फिर उनका त्याग कर

'उद्वहत् पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम् ।' (भा० १०।१३।६१) इत्यादिभिः श्रीमद्भागवतवचनैरपि निरूपितम् । एतेषां वचनानामयमर्थः — त्र्यधीशः = त्रयाणां ब्रह्मादीनां-गुणानां-कालानां लोकानां-तिसृणाञ्च सरस्वत्यादिशक्तीनां अधीश्वरो हरिरपि, आकृति = मनुष्याकारं मनुजनाट्यं 'इति मायामनुष्यस्य हरेः ।' (भा० १०।४८।१०) 'मायाऽर्भकस्येशितुः ।' (भा० १० । १३ । १५) 'नैतद् विचित्रमनुजार्भमायिनः ।' (भा० १० । १२ । ३८) 'मायामाणवकं हरिं' (भा० ८ । १८ । २४) 'हरेरद्भुतकर्मणः । अवतारकथामाद्यां, मायामत्स्यविडम्बनम् ।' (भा० ८।२४।१) 'अहो-विभूम्नश्चरितं विडंबनम् ।' (भा० ३।१४। २८, भा० १०।८४।१७) इत्यादिभिः— मनुष्याद्याकारस्य मायाविडम्बनतया प्रतिपादितत्वात् । तत्यजे = त्यक्तवान् । उद्धव एवाधिकारितया संप्रति मदाश्रयं ज्ञानं = मम पारमार्थिकाद्वयस्वरूप-विषयकं ज्ञानमर्हति–ज्ञानयोग्यो भवति । स्वयं ग्रहीतुमन्यान् ग्राहयितुञ्च योग्यो भवति । यतः स आत्मवतां = वशीकृतान्तःकरणानां मध्ये वरः = श्रेष्ठोऽस्ति । क्रीडया = मायालक्षणया लीलाशक्त्या, उपात्तः गृहीतो देहो-यस्य, तस्य देहस्य न्यासं = परित्यागं, धैर्यवर्धनम् = यदा समर्थस्यत्र्यधीशस्य भगवतोऽपि देहत्यागः संजातः, यत उपात्तस्य त्यागान्तत्वनियमात्, तदा-

देते हैं, वैसे ही उन्होंने जिस यादव शरीरसे पृथ्वीका भार दूर किया था, उसे त्याग भी दिया । जिनकी मधुर लीलाएँ श्रवण करने योग्य हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णने जब अपने मनुष्यके-से शरीरके साथ इस पृथ्वीका परित्याग कर दिया ।' इन वचनों के द्वारा अपनी मायाके विशुद्धसत्त्वकी प्रचुरतासे प्रकटित निखिल-सिद्धियोंसे संयुक्त अभौतिक परम उत्कृष्ट सौन्दर्य लावण्य सौष्ठव (अच्छापन) आदिका धामरूप भगवान्के देहका परित्याग वर्णन करने वाले भागवतकार श्रीव्यास द्वारा भी उस श्रीविग्रहमें परिच्छिन्नता एवं सविशेषता होनेके कारण वह अपरमार्थिकस्वरूप ही है, ऐसा ज्ञापित किया है । भगवान् का पारमार्थिकस्वरूप तो निर्विशेष, अपरिच्छिन्न, परात्पर अद्वय चिन्मात्र-ब्रह्म ही है, ऐसा हमने उस-उस स्थलमें बहुत ही 'ब्रह्माजी ने देखा कि अद्वितीय परब्रह्म जो अनन्त एवं अगाधज्ञान स्वरूप है, वही गोपवंश के बालक का-सा नाट्य कर रहा है ।' इन श्रीमद्भागवतके वचनों के द्वारा भी निरूपण किया है । इन पूर्वोक्त-वचनों का यह अर्थ है – त्र्यधीश अर्थात् तीन ब्रह्मादि देवों का, तीन गुणों का, तीन कालों का, तीन लोकों का एवं तीन सरस्वती आदि शक्तियों का अधीश्वर हरि भी, आकृति यानी मनुष्यका आकार, मानवपनेका नाटक 'माया के द्वारा मनुष्य होने वाला हरि' 'ईश्वर जो मायाके द्वारा बालक बना है' 'मायाके द्वारा प्रकटित मनुष्य बालक में यह विचित्र'

ऽस्माकं साधारणानान्तु का कथा ? अतोऽस्माभिरपि प्रारब्धकर्मसमाप्तौ देहत्यागावसरे कथमपि मोहचिन्तादिकं नैव कर्तव्यम्, किन्तु स्वस्य पारमार्थिकेऽविनाशिनि स्वरूपे निष्ठां बद्ध्वा धैर्येण तस्य त्यागः कर्तव्यः । इति विचारेण धीराणां धैर्यस्य वर्धनमेव भवति न तु ह्रास इति । अत एव प्रभासक्षेत्रे हेमवत्याः सरितः तटे भगवद्देहत्यागस्थलं देहोत्सर्गः इतिनाम्ना प्रसिद्धमधुनाऽप्यस्ति ।

यत्तु कश्चिदाह—भगवद्देहस्य विनाशित्वाभ्युपगमे तस्याराधना कथमपि नैव सिद्ध्येत्, यतः-आराध्याभावे सत्याराधनस्यैवासिद्धेः । तस्माद्भगवद्विग्रहस्य नित्यत्वं मन्तव्यम् । अत्रेदं वक्तव्यम् । यथा देवालयादौ कल्पितप्रतिकृत्यादिना चेतस एकाग्रतायै समाराधना सर्वैरपि क्रियते, तथैव शास्त्रप्रतिपादितेन विशुद्धमनःपरिभावितेन विग्रहेणापि – आराधनायाः सिद्धौ नास्ति किमपि

नहीं है' 'मायाके द्वारा बालक होनेवाला हरि' 'अद्भुतकर्मवाले हरि-भगवान्के अवतारकी आदिम कथा है—मायासे निर्मित-मत्स्यविग्रहका विडंबन ।' 'अहो—आश्चर्य है—भूमा-अपरिच्छिन्न-ब्रह्मका चरित्र विडंबन है—अर्थात् वंचनामात्र है । वे होते कुछ और हैं—और दिखाते कुछ और हैं—यह उनकी अद्भुत लीला कुछ समझमें नहीं आती ।' इत्यादि वचनोंके द्वारा भगवान्के मनुष्यादि-आकार, मायाके विडंबन रूपसे प्रतिपादित किये हैं । तत्यजे यानी त्याग किया । उद्धव ही अधिकारी होनेके कारण, मेरे पारमार्थिक-अद्वय स्वरूपके ज्ञानके योग्य हैं, अर्थात् उस ज्ञानको स्वयं ग्रहण करनेके लिए तथा अन्योंको ग्रहण करानेके लिये योग्य हैं क्योंकि— वे मनका संयम करने वालोंमें श्रेष्ठ हैं । क्रीड़ाका अर्थ है, मायाके लक्षणवाली लीला-शक्ति, उसके द्वारा जिसने देहको उपात्त यानी ग्रहण किया है । उस गृहीत देहका न्यास यानी परित्याग । धैर्य-वर्धनका तात्पर्य है — जब त्र्यधीश-समर्थ भगवान्का भी देहत्याग हुआ, क्योंकि — नियमसे ग्रहणका अन्त त्याग ही होता है । तब हम साधारण मनुष्योंके देहत्यागमें तो क्या ही कहना ? इसलिये प्रारब्धकर्मकी समाप्ति होने पर देहत्यागके समय हमें किसी भी प्रकारसे मोह एवं चिन्ता आदि नहीं करनी चाहिये । किन्तु अपने पारमार्थिक-अविनाशी स्वरूपमें निष्ठा रखकर धैर्यसे देहका त्याग करना चाहिये, इस विचारद्वारा धीर-विवेकी मनुष्योंके धैर्यकी वृद्धि ही होती है— ह्रास नहीं होता । इसलिये प्रभासक्षेत्रमें हेमवती नदीके तटपर श्रीभगवान्के देहत्यागका स्थल 'देहोत्सर्ग' के नामसे अद्यावधि प्रसिद्ध है ।

जो कोई ऐसा कहता है कि — भगवान्के देहको विनाशी मानने पर उसकी आराधना किसी भी प्रकारसे सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि—आराध्यके न होनेपर आराधनाकी असिद्धि होती है । इसलिये भगवान्के श्रीविग्रहको नित्य—अविनाशी ही मानना चाहिये । यहां यह वक्तव्य है । जैसे देवालय आदिमें कल्पित-प्रतिमा आदिके

बाधकम् । अपि च तत्तद्विशिष्टभक्तानां प्रत्यक्षदर्शनसद्भावात् भगवद्विग्रहस्य तद्धामवैकुण्ठादिवत् महाप्रलयपर्यन्तस्थायित्वाभ्युपगमेऽपि तस्य ग्रहणत्यागयोः आविर्भावतिरोभावपरतया च वर्णनेऽपि–निर्विशेषाद्वयब्रह्मवत्-कूटस्थ-नित्यत्व-विरहेण नास्ति भगवतः पारमार्थिकाद्वयस्वरूपस्य कथमपि क्षतिः । तथा च शास्त्रतर्कसिद्धै तादृशव्यवस्थाया अभ्युपगमे सविशेषनिर्विशेषब्रह्मणोः प्रतिपाद्य-मानं सत्तावैषम्यं सुतरां संगच्छते । अत एव संभवाम्यात्ममायया' (गीता ४।६) 'देहीवाभाति मायया' (भा० । १० । १४ । ५५) इत्यादिना-आत्मनो मायया देहवानिव भवामि, जात इव, न परमार्थतो लोकवत् । यथा लोके कश्चिज्जातो देहवानालक्ष्यते, एवमहमपि मायामाश्रित्य तया स्ववशया संभवामि, जन्मादि-व्यवहारमनुभवामि, तेनेश्वरस्य मायामयमेव दिव्यदेहसंयोगलक्षणं जन्म, न पारमार्थिकं, तथापि आवृतज्ञानवतो लोकस्य भगवज्जन्मादिविषये परमार्थत्व-भ्रान्तिः संभवति, न तु तत्त्वज्ञस्येति स्पष्टं प्रतिपादितम् ।

(१०) 'मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः । प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्य-

द्वारा चित्त की एकाग्रताके लिये सभी आराधना करते हैं । वैसे शास्त्रप्रतिपादित–विशुद्ध मनके द्वारा परिभावित-विग्रह द्वारा आराधनाकी सिद्धि होनेमें कुछभी बाधक नहीं है । और भी उन-उन विशिष्ट-असाधारण भक्तोंके द्वारा—भगवान्के श्रीविग्रह-का प्रत्यक्षदर्शन होनेके कारण—भगवान्का विग्रह — भगवद्धाम-वैकुण्ठादिकी तरह महाप्रलय पर्यन्त स्थायी माननेपर और ग्रहण-त्यागका आविर्भाव एवं तिरोभाव रूप-से वर्णन करनेपर भी-निर्विशेष-अद्वय-ब्रह्म जैसे कूटस्थनित्य है, वैसे भगवान्का विग्रह कूटस्थनित्य नहीं है, परिणामी-नित्य है, इस प्रकार भगवान् के पारमार्थिक-अद्वयस्व-रूपकी किसीभी प्रकारसे क्षति नहीं होती । इसप्रकार शास्त्र एवं तर्कसे सिद्ध-ऐसी व्यवस्था माननेपर सविशेष एवं निर्विशेष ब्रह्ममें प्रतिपादित सत्ताकी विषमता अच्छी प्रकारसे संगत हो जाती है । इसलिये 'अपनी मायासे प्रकट होता हूं' मायासे मैं देह-वान्की तरह भासित होता हूं' इत्यादि–गीता एवं भागवतके वचन द्वारा भी–अपनी मायासे देहवान्की भांति, उत्पन्न हुए के समान, लोककी तरह, परमार्थसे नहीं। जैसे लोकमें कोई जीव उत्पन्न हुए – देहवान्की तरह लक्षित होता है, वैसे मैं भी मायाका आश्रयकर स्वाधीन मायाके द्वारा--जन्मादि व्यवहारका अनुभव करता हूं, इससे ईश्वरका दिव्य देहका संबन्धरूप लक्षणवाला जन्म मायामय ही है, पारमार्थिक नहीं है, तथापि जिनका ज्ञान आवृत है ऐसे लोगों को भगवान्के जन्मादिके विषयमें परमार्थत्वकी भ्रांति हो जाती है । परन्तु तत्वज्ञको ऐसी भ्रान्ति नहीं होती--ऐसा स्पष्ट ही प्रतिपादित हुआ है ।

(१०) 'व्यासपुत्र-विदुरजीने-मैत्रेयके प्रति-अपनी वाणीद्वारा प्रसन्न करते'

भाषत ॥' (भा० ३ । ५ । १) इति मैत्रेयमहर्षिं प्रति कृष्णद्वैपायनव्याससुतो बुद्धिमान् विदुरः, भारत्या = प्रार्थनारूपया वाण्या प्रीणयन्निव = प्रसन्नतां जनयन्निव प्रत्यभाषत = प्रश्नं विविधमकरोत् । 'विदुर उवाच— 'ब्रह्मन् ! कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः । लीलया चापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ॥' (भा० ३ । ७ । २) चिन्मात्रस्याद्वयस्य ब्रह्मणो निर्गुणस्य गुणाः, अविकारिणः = जन्मादिषड्विकारवर्जितस्य जन्माद्याः क्रियाः, लीलयाऽपि कथं युज्येरन् ? विरोधात् । लीलयेत्युक्तिः परप्रयोजनाभावं परिहरति, न तु वस्तुविरोधं परिहरति । स्वप्रयोजनं विनाऽप्याप्तकामः पूर्णतृप्तो भगवान बालवत् कथंचित् क्रियागुणयोगधारणे प्रवर्तमानो भवति, तथापि तेजस्तिमिरवत् निर्गुणे निर्विकारे गुणक्रियायोगस्तु वस्तुतः कथमपि कदापि न संभवति । वस्तुतो लीलयाऽपि बालेनापि न कण्टकेषु पादौ दीयेते, प्रत्युत दुःखप्रयोजकतया ते परिह्रियन्ते । अत एव भगवतोऽर्भकवत् लीलाऽपि न युज्यते, वैषम्यात् । तदेव विवृणोति—'क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषाऽन्यतः । स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदाऽन्यतः ॥' (भा० ३ । ६ । ३) इति । अर्भस्य = बालस्य क्रीडायां उद्यमयति-प्रवर्तयतीत्युद्यमः = प्रवर्तकः-कामोऽस्ति । अन्यतः = अन्यवस्तुद्वारा, अन्यबालप्रवृत्तिद्वारा वा तस्य चिक्रीडिषा = क्रीडेच्छा भवति ।

हुये कहा ।' कृष्ण-द्वैपायन व्यासके पुत्र बुद्धिमान् विदुरने मैत्रेय महर्षिके प्रति प्रार्थनारूप वाणीसे प्रसन्न करते हुये—विविध प्रश्न किये । 'विदुरजीने पूछा-ब्रह्मन् ! भगवान् तो शुद्ध बोधस्वरूप-निर्विकार एवं निर्गुण हैं, उनके साथ लीलासे भी गुण और क्रियाका संबन्ध कैसे हो सकता हे ?' चिन्मात्र-अद्वय-निर्गुण ब्रह्ममें गुण, जन्मादि-षड्विकार रहितमें जन्मादि क्रिया, लीलासे भी कैसे विरोध होनेसे संयुक्त होसकती है ? लीलाका कथन पर-प्रयोजनके अभावका परिहार करता है, वस्तु-विरोधका परिहार नहीं करता । स्वप्रयोजनके विना भी आप्तकाम पूर्णतृप्त भगवान् बालककी तरह किसीभी प्रकारसे क्रिया-गुणोंका संबन्ध धारण करनेमें प्रवर्तमान होता है । तथापि प्रकाश एवं अन्धकारकी तरह, निर्गुण निर्विकारमें गुण क्रियाका योग वस्तुतः किसीभी प्रकारसे कभीभी नहीं हो सकता है । वस्तुतः लीलाके द्वाराभी बालक अपने पैरोंको कांटोंमें नहीं रखता, प्रत्युत--दुःखका प्रयोजक होनेसे उनका परित्याग करता है । इसलिये भगवान्की बालककी तरह लीला भी नहीं हो सकती, विषमता होनेके कारण। इसीही बातको विस्तारसे कहते हैं—'बालकमें तो कामना और दूसरोंके साथ खेलनेकी इच्छा रहती है, इसलिये वह खेलने के लिये प्रयत्न करता है, किन्तु भगवान् तो स्वतः नित्यतृप्त-पूर्णकाम और सर्वदा असङ्ग हैं, वे क्रीड़ाके लिये भी क्यों संकल्प या कामना करेंगे ।' बालकी क्रीडामें प्रवर्तक कामना है । अन्य पदार्थ द्वारा या अन्य

परमेश्वरस्य तु स्वतः सदा तृप्तस्य कथं कामः स्यात् ? अत एव मिथ्याभूतादन्यस्मात् सदा निवृत्तस्यासंगस्याद्वितीयस्य कथमन्यतः क्रोडेच्छा स्यात् ? यतः स्वस्मादन्यस्य सर्वस्य बाधितत्वादविद्यमानत्वाच्च । भगवान् मायया विश्वं सृजति, रक्षति, ध्वंसते च (भा०३।७।४) इति कथनमप्ययुक्तम्, कथं ? यतः—'देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः । अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताऽजया कथम् ? ॥' (भा० ३ । ७ । ५) इति । योऽसौ देशादिभिरविलुप्तावबोध एव आत्मा = स्वरूपं यस्य सः, जीवात्मा परमात्मा चोभययोर्ब्रह्मस्वरूपत्वात्, सः कथमजया = माययाऽविद्यया च युज्येत ।

तत्र वृत्तिरूपस्य ज्ञानाभासस्य तु पंचधा लोपो नाशः संभवति । (१) देशतो नाशो यथा घटज्ञानं घटेन परिच्छिन्नं, न पटं विषयीकरोतीत्यतस्तस्य पटादिदेशतोऽभावः। (२) कालतो नाशो यथा कालान्तरेण विस्मरणात् । (३) अवस्थातो नाशो यथा स्वप्ने जाग्रदवस्थावस्तूनां स्मृतिज्ञानाभावात् । (४) स्वतोनाशो यथा–उदासीनज्ञानानां संस्काराननाधायकत्वात् । (५) अन्यतोऽपि नाशो यथा विरोधिगुणप्रादुर्भावात् । परन्तु स्वरूपभूतपरात्मज्ञानस्य तु देशतो 'दीप-

---

बालककी प्रवृत्तिद्वारा उसमें क्रीड़ाकी इच्छा होती है । परमेश्वर तो स्वतः सदा तृप्त है, उसमें कैसे कामना होगी ? इसलिये—जो अन्य मिथ्या-पदार्थसे सदा निवृत्त है, असङ्ग है—अद्वितीय है—उस परमेश्वरमें अन्य द्वारा कैसे क्रीडाकी इच्छा होगी ? क्योंकि – उसकी दृष्टिमें अन्य सब बाधित है—अविद्यमान है । 'भगवान् मायासे विश्वका सर्जन, रक्षण एवं विध्वंस करता है ।' यह कथन भी अयुक्त हैं । कैसे ? क्योंकि--जिनके ज्ञानरूप आत्माका देश, काल, अथवा अवस्था से, अपने आप या किसी दूसरे निमित्तसे भी कभी लोप नहीं होता, उनका मायाके साथ किस प्रकार संयोग हो सकता है ।' देशादियोंसे जिसका अवबोध स्वरूप-अविलुप्त है, ऐसा परमात्मा या जीवात्मा दोनों ही ब्रह्मस्वरूप हैं, वे कैसे अजा यानी मायासे एवं अविद्यासे--संयुक्त होसकते हैं ।

उसमें वृत्तिरूप ज्ञानाभास का (वृत्ति मुख्य ज्ञानरूप नहीं है, किन्तु ज्ञानका अवच्छेदक होनेसे उसमें ज्ञानत्वका गौण प्रयोग है, अतएव वह ज्ञानाभास है) पांच प्रकारसे लोप यानी नाश होता है । (१) जैसे देशसे नाश–घटका ज्ञान घटसे परिच्छिन्न है । अतः वह पटको विषय नहीं करता है, अतः उसका पटादि देशसे अभाव है । (२) जैसे कालसे नाश अन्य–समयमें विस्मरण हो जाता है । (३) अवस्थासे नाश जैसे – स्वप्नावस्थामें जाग्रदवस्थाके पदार्थों का स्मृतिज्ञान नहीं रहता । (४) अपने आपसे नाश जैसे–तटस्थ-उदासीनज्ञान, संस्कार स्थापित नहीं करते, इसलिए उनका स्वतः नाश हो जाता है । (५) अन्य से भी नाश जैसे – विरोधी-गुण-इच्छा

प्रभाया इव' लोपो नास्ति सर्वगतत्वात्, दीपप्रभा तु क्वचिद्देशेऽस्ति, क्वचिन्नास्ति, अत एव तस्य देशतो लोपः संभवति, किन्तु परात्मज्ञानस्य तु सर्वत्र व्यापकत्वात् देशतः परिच्छिन्नता न संभवति । न कालतो लोपो 'विद्युत् इव' नित्यत्वात् । विद्युच्च कदाचिद्भवति, कदाचिन्न भवति, अत एव तस्याः कालतो लोपः संभवति । परन्तु परात्मज्ञानस्य प्रागभावप्रध्वंसाभावयोरविद्यमानत्वात् कालतोऽपि परिच्छिन्नता न संभवति । नाऽप्यवस्थातः 'स्मृतिवत्' अविक्रियत्वात् । स्मृतिर्हि क्वचिदवस्थायां संभवति, क्वचिच्च न संभवति, परन्तु परात्मज्ञानस्य निखिलावस्थातीतत्वात् ताभिरवस्थाभिर्लोपः कथमपि न संभवति । न स्वतः 'स्वप्नवत्' सत्यत्वात् । स्वप्नस्तु स्वतोबाधितो भवति, किन्तु परात्मज्ञानस्य कालत्रयेऽप्यबाधितत्वात् निर्विषयत्वाच्च न स्वतो लोपः कथमपि संभवति । नान्यतो घटादिवत्' अद्वितीयत्वात् । घटो यथा स्वस्मादन्येन मुद्गरादिना प्रहारेण नष्टो भवति, परन्तु परात्मज्ञानस्याद्वयस्य-स्वस्मादन्यस्य कस्यचिद्-भावादेव कथमन्यतोऽपि लोपः संभवेत् ? । एवमेतैर्देशादिभिर्यस्य शाश्वतः पूर्णोऽद्वयो बोधो न लुप्यते, स कथं, अजया = मायया-त्रिगुणात्मिकया मूल-

आदिके प्रादुर्भाव होने से । परन्तु स्वरूपभूत-परात्मज्ञानका तो 'दीपप्रभा के समान' देशसे भी लोप नहीं होता । सर्वगत होने के कारण । दीपप्रभा तो किसी देशमें रहती है, किसी देशमें नहीं रहती । इसलिए उसका देश से लोप संभवित है । किन्तु परात्मज्ञान तो सर्वत्र व्यापक होने के कारण उसमें देशकृत-परिच्छिन्नताका संभव नहीं है । विद्युत् के समान उसका कालसे भी लोप नहीं होता, नित्य होने से । विद्युत् कभी होती है, कभी नहीं होती, इसलिए उसका कालसे लोप संभवित है । परन्तु परात्मज्ञानका प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव न होने के कारण कालसे भी परिच्छिन्नताका संभव नहीं है । स्मृतिके समान अवस्थासे भी लोप नहीं होता, अविक्रिय होने से, स्मृति किसी अवस्थामें होती है, किसी में नहीं होती । परन्तु परात्मज्ञान, समस्त अवस्थाओं से अतीत होने के कारण उन अवस्थाओं से उसका किसी भी प्रकार लोपका संभव नहीं । स्वप्नके समान स्वतः भी लुप्त नहीं होता, सत्य होनेके कारण । स्वप्न तो स्वतः बाधित होता है, किन्तु परात्मज्ञान कालत्रयमें भी अबाधित होने से एवं निर्विषय होने से उसका स्वतः लोप किसी भी प्रकार संभवित नहीं है । घटादिके समान अन्यसे भी लोप नहीं होता, अद्वितीय होने से । जैसे घट स्वसे अन्य मुद्गरादि प्रहार से नष्ट होता है, परन्तु अद्वय-परात्मज्ञानका स्वसे अन्य किसी का सद्भाव न होने के कारण अन्यसे लोप कैसे संभवित हो सकेगा ? । इस प्रकार इन देशादियों से जिसका शाश्वत-पूर्ण-अद्वय-बोध लुप्त नहीं होता है, वह कैसे त्रिगुणात्मिकामूलप्रकृति-अजा-माया से संयुक्त हो सकेगा । अजा मूल प्रकृति एक ही है । लाल-सफेद एवं काला

प्रकृत्या युज्येत ? । एकस्या एवाजायाः – 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां' (श्वे० उ० ४ । ५) इतिश्रुतेः, मूलप्रकृतेः – 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति ।' (उपनिषत्) इति श्रुतिसिद्धौ द्वौ कल्पितौ रूपभेदौ स्तः । रजस्तमोऽनभिभूतशुद्धसत्त्वप्रधाना माया, तदभिभूतमलिनसत्त्वा अविद्येति मायाऽविद्याभेदं परिकल्प्य मायायां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः, अविद्यायां चित्प्रतिबिम्बो जीवः इत्यभ्युपगमात् । वस्तुत उपाधिविनिर्मुक्तयोर्जीवात्मपरमात्मनोः परब्रह्मस्वरूपत्वादविलुप्तावबोधात्मत्वादेकत्वाच्च, जीवेश्वरस्वरूपे मायाऽविद्यायोगाऽसंभवलक्षणः प्रश्नः । एतेन–'अजा चात्राविद्यैव, न माया, तस्या अवबोधेन विरोधाभावात् ।' इति व्याख्यानं निरस्तम् । मायाऽविद्ययोः कल्पितरूपभेदसत्त्वेऽपि मूलप्रकृत्या सहैकत्वात्, तयोरेकत्वमस्माभिर्विस्तरेण प्रतिपादयिष्यते । 'विश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे० उ० १ । १०) 'मायां विधूय वयुनोदयेन' (भा० ५ । ११ । १५) इत्यादिभिः प्रामाणिकवचनैः — 'अविद्याया इव' मायाया अपि-अवबोधेन सह 'प्रकाशेन तमस इव' विरोधस्य सत्त्वादेव तेन मूलप्रकृतेः, तन्मायाऽविद्यारूपभेदस्य च सर्वथा विनिवृत्तिः

वर्णवाली अर्थात् सत्त्वादिगुणत्रयरूपा अजा माया एक ही है ।' इस श्रुति–प्रमाणसे भी वह एक ही सिद्ध होती है । मूलप्रकृतिके कल्पित दो रूप विशेष हैं 'जीव और ईश्वर का आभास (प्रतिबिम्ब) द्वारा निर्माण करती है, और माया औरअविद्या आप ही होती है ।' इस श्रुति द्वारा वे रूप विशेष सिद्ध होते हैं । रज तम से अनभिभूत-शुद्ध सत्त्वगुणकी प्रधानता वाली माया है और रज-तम से अभिभूत मलिनसत्त्वगुणवाली अविद्या, इसप्रकार माया और अविद्याके भेदकी कल्पना करके मायामें चेतनका प्रतिबिम्ब ईश्वर है और अविद्यामें चेतनका प्रतिबिम्ब जीव है, ऐसा माना गया है । वस्तुतः उपाधि-विनिर्मुक्त जीवात्मा एवं परमात्मा, परब्रह्म स्वरूप होने से, अलुप्तज्ञानस्वरूप होने से तथा एक–अभिन्न होने से ईश्वर–स्वरूपमें माया का योग और जीव-स्वरूपमें अविद्याका योग नहीं हो सकता है, ऐसा सम्मिलित एक ही प्रश्न उपस्थित होता है । इससे–'यहां अजा अविद्या ही है, माया नहीं, क्योंकि – मायाका अवबोध के साथ विरोध नहीं है ।' ऐसा व्याख्यान निरस्त हो गया । क्योंकि माया और अविद्याका कल्पित रूपभेद होने पर भी मूलप्रकृतिके साथ दोनोंका एकत्व है । इन दोनों का एकत्व, आगे हम विस्तारसे प्रतिपादन करेंगे । 'संपूर्ण माया की निवृत्ति' 'ज्ञानके उदयसे मायाका विधूनन करके ।' इत्यादि प्रामाणिक वचनोंके द्वारा अविद्याकी तरह मायाका भी अवबोध के साथ 'प्रकाशका अन्धकारकी तरह' विरोधका सद्भाव होने के कारण ही, उस अवबोधसे मूलप्रकृतिकी और उस के माया अविद्यारूप विशेषकी भी सर्वथा निवृत्तिका प्रतिपादन किया है । तथा च

प्रतिपाद्यते । तथा चेश्वरस्य भगवतो मायायोगस्यासंभवेन तया विना कथं विश्वसर्जनादि कर्तुं शक्नुयादिति । एवं जीवात्मनोऽपि ब्रह्मस्वरूपस्याविद्यायोगः 'प्रकृष्टप्रकाशे तमोयोग इव' कथं संभवेदित्येक एव प्रश्नो मूलप्रकृतिमजामादाय । अत एव ब्रह्मस्वरूपत्वादेव जीवात्मनोऽविद्याकल्पितः संसारोऽपि मोहशोकादिलक्षणो न विद्यते इत्याक्षिपति — 'भगवानेक एवैषः, सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः । अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः (भा० ३ । ७ । ६) इति सर्वक्षेत्रेषु=सर्वशरीरेषु-क्षेत्रज्ञरूपेणावस्थित एष कर्ता भोक्ता जीवात्माऽपि वस्तुतो भगवानेक एव चिद्रूपेण तद्व्यतिरेकाभावात् । यदाह — श्रीमद्भागवते द्वादशे महाभागः सूतः-'स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति वृत्तिभिः । अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान् परिभाव्यते ॥' (भा० १२ । ११ । २२) इति । एवं सति, अमुष्य = जीवात्मनः, दुर्भगत्वं = दौर्भाग्यं-आनन्दादिभ्रंशः, कर्मभिर्हेतुभूतैः मोहशोकादिलक्षणः क्लेशो वा कुतः ? तस्य वस्तुतः कर्मसम्बन्धाभावात् । अन्यथा परमेश्वरस्यापि तत्प्रसंगः स्यादिति भावः । 'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव

ईश्वर-भगवान् में मायाके सम्बन्धका असंभव होने के कारण, मायाके विना वह विश्वसर्जनादि करने के लिए कैसे समर्थ हो सकता है, इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप-भूत जीवात्मामें भी 'प्रकृष्ट प्रकाशमें अन्धकारके सम्बन्ध की तरह' अविद्याका सम्बन्ध भी कैसे हो सकता है ? इस प्रकार मूल-प्रकृति-अजाको लेकर यह एक ही प्रश्न है । इसलिए ब्रह्मस्वरूप होने के कारण जीवात्मामें भी अविद्याकल्पित, मोह-शोकादि लक्षणवाला संसार भी नहीं हो सकता है, ऐसा आक्षेप करते हैं—'एकमात्र वे भगवान् ही समस्त क्षेत्रोंमें उनके ज्ञाता, साक्षी-प्रेरक-आत्मारूपसे स्थित हैं, फिर उन्हें दुर्भाग्य या किसी प्रकारके कर्मजनित-क्लेशकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ।' सर्वक्षेत्रों में यानी सर्वशरीरों में क्षेत्रज्ञरूपसे अवस्थित यह कर्ता-भोक्ता-जीवात्मा भी वस्तुतः एक भगवान् ही है, चिद्रूप होने से जीवात्मा भगवान् से व्यतिरिक्त नहीं है । यही बात श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धमें महाभाग्यवान् सूत जी कहते हैं — 'वे भगवान् ही जाग्रत्-अवस्था के अभिमानी 'विश्व' बनकर शब्दादि विषयों को ग्रहण करते हैं, और वे ही स्वप्नावस्थाके अभिमानी 'तैजस' बनकर बाह्यविषयों के बिना ही मन ही मन अनेक कल्पित विषयों को देखते और ग्रहण करते हैं, वे ही सुषुप्ति अवस्थाके अभिमानी 'प्राज्ञ' बन कर विषय और मनके संस्कारों से युक्त अज्ञानसे ढक जाते हैं, और वे ही सब के साक्षी विशुद्ध 'तुरीय' रह कर समस्त वृत्तिरूप ज्ञानों के अधिष्ठान चिद्रूप हुए रहते हैं ।' ऐसा मानने पर उस जीवात्मामें आनन्दादिसे प्रच्युतिरूप दौर्भाग्य, कारणरूप कर्मों के द्वारा मोह-शोकादि लक्षणवाला क्लेश भी कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता । क्योंकि उसमें वस्तुतः कर्मका सम्बन्ध ही नहीं है । अन्यथा

सुकृतं विभुः ।' (गीता ५ । १५) इति वचनेन परमेश्वरस्य कर्मसम्बन्धाभावस्य प्रतिपादितत्वात् । संप्रति प्रश्नमुपसंहरति – 'एतस्मिन् मे मनो विद्वन् ! खिद्यतेऽज्ञानसङ्कटे । तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत् ॥' (भा० ३ । ७ । ७) इति । समाधाने त्वं समर्थोऽसीत्याशयेन संबोधयति-विद्वन्निति । एतस्मिन् अज्ञानरूपे संकटे = दुर्गमे, मे = मम मनः खिद्यते, तन्मानसं कश्मलं = खेदं, नः = अस्माकं त्वं पराणुद = अपाकुरु, इत्यन्वयः । अवश्यमेव तदपाकरणीयं नोपेक्षणीयमिति सूचयन् विशिनष्टि – महदिति । न केवलं ममैवायं खेदः, किन्तु अन्येषामपि बहूनामिति सूचयितुं 'नः' इति बहुवचनम् ।

(११) 'श्रीशुक उवाच — स इत्थं चोदितः क्षत्रा, तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः । प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः ॥' (भा० ३ । ७ । ८) इति । सः = मैत्रेयः, इत्थं = उक्तप्रकारेण, क्षत्रा = विदुरेण, चोदितः = आक्षेपपूर्वकमापृष्टः, स्मयन्निव = विस्मयं प्रकटयन्निव, अहो ! साधारणविद्वज्जनद्वारा दुःसमाधाना इमे आक्षेपा इत्याश्चर्यमाविष्कुर्वन्, वस्तुतो मैत्रेयस्यासाधारणवैदुष्योपेतत्वान् स्वयन्तु गतस्मयः = आश्चर्यरहित एव, प्रत्याह = उत्तरं दत्तवानित्यन्वयः । विदुरप्रश्नस्योत्तरमवश्यं देयमित्याशयेन विशिनष्टि–तत्त्वजिज्ञासुनेति ।

परमेश्वरमें भी कर्म-सम्बन्धकी प्रसक्ति हो सकती है, यह भाव है । 'वह व्यापक परमेश्वर किसीके पापको एवं पुण्यको ग्रहण नहीं करता है ।' इस गीताके वचनसे परमेश्वरमें कर्म-सम्बन्धके अभावका प्रतिपादन किया है । अब प्रश्नका उपसंहार करते हैं — 'भगवन् ! इस अज्ञान सङ्कटमें पड़कर मेरा मन बड़ा खिन्न हो रहा है, आप मेरे मनकी इस महती भ्रान्तिको कृपा करके दूर कीजिए ।' इस प्रश्नके समाधान में तू समर्थ है, इस आशयसे 'हे विभो' ऐसा सम्बोधन करते हैं । सामर्थ्यमें हेतु को सूचित करते हुए, पुनः सम्बोधन करते हैं — विद्वन् ! ऐसा । वह मानसिक खेद अवश्य ही दूर करना चाहिए, उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, ऐसा सूचित करता हुआ कश्मलमें 'महत्' ऐसा विशेषण देता है । केवल मुझे ही यह खेद होरहा है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु अन्य–बहुतोंको भी ऐसा खेद होता है, ऐसा सूचन करने के लिए 'नः' यह बहुवचन दिया है ।

(११) 'श्रीशुकदेवजी कहते हैं — तत्त्वजिज्ञासु विदुरजीकी यह प्रश्नप्रेरणा प्राप्तकर अहंकार एवं आश्चर्यसे रहित श्रीमैत्रेयजीने भगवान्का स्मरण करते हुए मुस्कराते हुए कहा ।' चोदित यानी आक्षेपपूर्वक पूछा । विस्मय प्रकट करते हुएके समान, वस्तुतः विस्मय रहित । अहो ! साधारण विद्वान्के द्वारा इन आक्षेपोंका समाधान अशक्य है, ऐसा आश्चर्य प्रकट करता हुआ । वस्तुतः मैत्रेय जी असाधारण वैदुष्यसे युक्त होनेके कारण स्वयं आश्चर्य रहित हैं, इसलिए उनका उत्तर दिया । विदुर

तदुत्तरदाने तस्य सामर्थ्यद्योतनाय तं विशिनष्टि-मुनिरिति। मननशीलोहि विद्वान् यथार्थोत्तरदाने समर्थो भवतीति भावः। गतस्मयत्वे हेतुमाह—भगवच्चित्तः = भगवति सर्वात्मनि संलग्नचित्तत्वात्तस्य तत्कृपातस्तत्समाधानस्फुरणादाश्चर्य-रहित इत्याशयः। 'मैत्रेय उवाच — 'सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते। ईश्वरस्यविमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्॥ यदर्थेन विनाऽमुष्य पुंस आत्मविपर्ययः। प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः॥' (भा०३।७।९-१०) इति। मैत्रेय-कृतं समाधानं दर्शयति-सेयमिति। भगवतः = अचिन्त्यशक्तेर्महेश्वरस्य, सेयं माया, नयेन = तर्केण विरुद्ध्यते इति यत्। तर्कविरोधमेवानुवदति-ईश्वरस्य = ऐश्वर्यानन्दादिमतः कथमानन्दादिभ्रंशेन कार्पण्यं-दैन्यं. अत्र जीवस्येश्वरांश-तया 'राजपुत्रस्य राजत्ववत्' ईश्वरत्वं प्रत्येतव्यम्। विमुक्तस्य कथं बन्धनम्?। अत्र कथमिति पदं नयविरोधप्रदर्शनाय योजनीयम्। एवमुपलक्षणातः – 'अवि-कारिणः कथं क्रियाः? निर्गुणस्य कथं गुणाः? स्वतस्सदा पूर्णतृप्तस्यैकाकिनः कथं क्रीडा? अवबोधात्मनः स्वयंप्रकाशस्य कथमविद्यातमःसंश्लेषः? इत्यादि

के प्रश्नका उत्तर अवश्य देना ही चाहिए, इस आशयसे 'तत्त्वजिज्ञासु' ऐसा विशेषण दिया है। प्रश्नके उत्तर देनेमें सामर्थ्य सूचित करनेके लिए-'मुनि' ऐसा विशेषण दिया है। क्योंकि-मननशील-विद्वान् ही यथार्थ उत्तर देनेमें समर्थ होता है। विस्मयरहित होनेमें कारण बतलाते हैं- भगवच्चित्तः-अर्थात् सर्वात्मा-भगवान्में संलग्नचित्त होनेके कारण भगवान्की कृपासे-उस प्रश्नके समाधानका स्फूरणहोनेसे आश्चर्यरहित है, यह आशय है। 'श्रीमैत्रेयजीने कहा - जो आत्मा सबका नियन्ता-स्वामी है, और सर्वथा मुक्तस्वरूप है, वही दीनता और बन्धनको प्राप्त हो—यह बात—युक्तिविरुद्ध अवश्य है किन्तु वस्तुतः यही तो भगवान्की माया है जो अघटितको घटित करके दिखा देवे।' 'जिसप्रकार स्वप्न देखनेवाले पुरुषको अपना शिर कटना आदि मिथ्या व्यापार न होने पर भी अज्ञान-निद्राके कारण सत्यवत् भासते हैं। उसीप्रकार इस जीवको बन्धनादि न होते हुए भी अज्ञानवश भास रहे हैं।' मैत्रेयकृत समाधानको प्रदर्शित करते हैं 'सेय-मिति' अचिन्त्यशक्ति-महेश्वर-भगवान्की यही माया है जो तर्कसे विरुद्ध मालूम पड़े। तर्क विरोधका ही अनुवाद करते हैं—ऐश्वर्य-आनन्द-आदिसे युक्त-ईश्वरमें आनन्दादिकी प्रच्युति द्वारा कैसे दीनता होसकती है?। यहां जीव, ईश्वरका अंश होने से 'राजपुत्रमें राजत्वकी तरह' ईश्वर कहा गया है,ऐसा समझना चाहिये। विमुक्तका बंधन कैसे? यहां 'कथं' ऐसा पद, तर्कविरोधके प्रदर्शनके लिए योजित करना चाहिये। इसप्रकार उप-लक्षण न्यायसे अविकारीमें क्रियाएं कैसी?, निर्गुणमें गुण कैसे? स्वतः सदा पूर्ण तृप्त-एकाकीमें क्रीडा कैसी?, ज्ञानस्वरूप-स्वयंप्रकाशमें अविद्याअन्धकार का संबन्ध कैसा? इत्यादिरूप विरोध – जो वदतोव्याघातका लक्षणवाला है? समझना चाहिये।

रूपो वदतोऽव्याघातलक्षणो विरोधः, परन्तु सः अघटघटनापटीयस्यां मायायामकिञ्चित्कर एव 'मायायां सर्वसम्भवात्' इति न्यायेनासंभवस्यापि संभवं कर्तु दक्षतमाया आश्चर्यमयमृषाप्रतीतिरूपाया मायायाः कृते नैवास्त्याश्चर्यम्, नैतदयुक्तमिति । वस्तुतस्तु जीवेश्वरस्वरूपे वास्तविकगुणक्रियाबन्धनक्लेशादिकं नास्त्येव, किन्तु-मायाऽविद्याभ्रान्तिकल्पितमेवेति सोदाहरणमाह-यत्=यथा, अर्थेन = वास्तविकेन स्वशिरश्छेदनादिना विनाऽपि, उपद्रष्टुः = स्वप्नद्रष्टुः ममेदं शिरश्छिन्नमिति - आत्मविपर्ययः = आत्मनि-शिरश्छेदरहिते शरीरे विपर्ययः-विरुद्धावभासः केवलं मृषैव प्रतीयते, तथा अर्थेन = सत्येन कारणेन वा विना, अमुष्य पुंसः=जीवस्येश्वरस्य च आत्मविपर्ययः प्रतीयते=निर्गुणे निष्क्रिये ईश्वरात्मनि गुणक्रियाभानरूपः, एवमानन्दपूर्णे विमुक्ते जीवात्मनि च कार्पण्यबन्धनभानरूपो विपर्ययः = तदभाववति तद्भावाध्यारोपलक्षणो मृषैव प्रतीयते । अन्यगतमपि शिरश्छेदादिकं यथा स्वप्नमायया स्वस्मिन्नध्यारोपयति, तथाऽऽत्मा मायाकल्पितोपाधिगतं बन्धकार्पण्यादिकं स्वस्मिन्नध्यारोपयति, एवं ईश्वरात्मन्यपि तद्गतं गुणक्रियादिकमप्यध्यारोपयतीतिभावः । तथा च प्रतीय-

परन्तु वह विरोध—अघटघटनापटीयसी-मायामें अकिञ्चित्कर है, कुछ नहीं करनेवाला है। 'मायामें विरुद्ध-अविरुद्ध सब कुछ होसकता है' इस न्यायसे असंभवका भी संभव करने में अतिप्रवीण-आश्चर्यमय--मिथ्या प्रतीतिरूप मायाके लिए आश्चर्य कुछ नहीं है, अयुक्त-कुछ नहीं है ।

वस्तुतः जीवेश्वरस्वरूपमें वास्तविक-गुण, क्रिया, बन्धन, क्लेश आदि नहीं ही हैं । किन्तु माया-अविद्याकी भ्रान्तिसे कल्पित ही हैं, ऐसा उदाहरणद्वारा कहते हैं। जैसे वास्तविक शिरछेदनादि के विना भी स्वप्नद्रष्टा में 'मेरा यह शिर कट गया' ऐसा शिर छेदन रहित-शरीरमें केवल मिथ्या ही विरुद्ध प्रतीति होती है । यही आत्म-विपर्यय है । वैसे सत्य-अर्थ के या कारण के विना ही इस जीव एवं ईश्वररूप पुरुष में आत्म-विपर्यय प्रतीत होता है । निर्गुण निष्क्रिय-ईश्वरात्मामें गुणक्रियाका भानरूप, इस प्रकार आनन्दपूर्ण-विमुक्त-जीवात्मामें कृपणता एवं बन्धनका भानरूप विपर्यय-जो तदभावमें तद्भावका आरोपलक्षणवाला-मिथ्याही भासित होता है । जैसे अन्यमें स्थित शिरछेदन आदि स्वप्नकी मायासे अपनेमें आरोपित होता है, वैसे आत्मा, मायाकल्पित-उपाधिमें स्थित-बन्धकृपणता आदि अपनेमें आरोपित करता है । इसप्रकार ईश्वरात्मा मेंभी उपाधिगत-गुण क्रिया आदि आरोपित किये जाते हैं । तथा च प्रतीयमान-अर्थका परमार्थरूपसे अभाव होने पर भी जिसके द्वारा जो प्रतीयमान होता है, एवं जो अपने अधिकरणमें अभावका प्रतियोगी है, उसकी प्रतीतिका जो प्रयोजक है, वह मायापदका अर्थ है । उस मायाका अवच्छिन्न एवं अनवच्छिन्न रूपसे आत्मा ही अधिष्ठान है ।

मानस्यार्थस्य परमार्थतोऽभावेऽपि येन यत्प्रतीयते, स्वाधिकरणे वर्तमानाभाव-प्रतियोगी यः स मायापदार्थः, तस्य चात्मैवावच्छिन्नानवच्छिन्नरूपेणाधिष्ठानम् तदन्यस्य सर्वस्य मायामात्रतया मायया कल्पितत्वात् मिथ्यात्वं, अधिष्ठानस्यैवैकस्यात्मनः परमसत्यत्वमिति निर्गलितोऽर्थः। मायापदार्थो श्रीमद्भागवते द्वितीये चतुःश्लोक्यामप्येवमभिहितः – 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत, न प्रतीयेत चात्मनि। तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः॥' (भा० २।६।३३) इति। व्याख्यातमिदं पद्यं विस्तरतोऽध्यात्मज्योत्स्नाविवृतौ प्रथमखण्डे प्रागस्माभिः, तत्रैव द्रष्टव्यम्।

मायाऽविद्याकल्पितोपाधिगता धर्माः उपाधिविशिष्ट एवात्मनि प्रतीयन्ते, न तदुपलक्षिते विशुद्धे स्वरूपे इति सोदाहरणमाह — 'यथा जले चन्द्रमसः कंपादिस्तत्कृतो गुणः। दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः॥' (भा० ३।७।११) इति यथा जले प्रतिबिम्बितस्यैव चन्द्रमसो जलोपाधिकृतः कंपादिधर्मो दृश्यते, न त्वाकाशे स्थितस्य चन्द्रबिम्बस्य जलोपाध्युपलक्षितस्य। तथाऽनात्मनो = देहादेर्धर्मः जन्ममरणक्षुत्पिपासादिकः, असन्नपि = वस्तुतो

क्योंकि उस आत्मासे अतिरिक्त-समस्त-द्वैत संसार मायासे कल्पित होनेसे मायामात्र-मिथ्या ही है। अधिष्ठान-एकमात्र आत्मा ही परमसत्य है, यह साररूपसे प्रकट हुआ अर्थ है। मायापदका अर्थ श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धकी चतुःश्लोकीमें ऐसा कहा है-'वास्तविक अर्थ न होनेपर भी दो चन्द्रमाओंकी तरह मुझ परमात्मामें यह द्वैत-प्रपञ्च मिथ्याही प्रतीत होरहा हैं, एवं सदा विद्यमान होने पर भी आकाशमें राहुकी भांति मुझ-परमात्मा की प्रतीत नहीं होती है, इसप्रकार अविद्या अविद्यमान पदार्थकी प्रतीति का हेतु एवं विद्यमान अर्थकी अप्रतीतिका जो हेतु है इसे मेरी माया समझनी चाहिये।' इस श्लोकका विस्तारसे हमने प्रथमखण्डकी अध्यात्म-ज्योत्स्नाविवृतिमें व्याख्यान किया है, वहां ही देखना चाहिये।

माया-अविद्याकल्पित-उपाधियोंमें स्थित-धर्म, उपाधिविशिष्ट ही आत्मामें प्रतीत होते हैं, उपाधिसे उपलक्षित-विशुद्धस्वरूपमें नहीं, ऐसा उदाहरण सहित कहते हैं-'जिसप्रकार जलमें होनेवाली कंपन आदि क्रिया, जलमें प्रतीत-चन्द्रप्रतिबिम्बमें न होनेपर भी भासती है, आकाशस्थ तदुपलक्षित-चन्द्रमें नहीं, उसी प्रकार देहाभिमानी विशिष्ट जीवमें ही देहके मिथ्याधर्मों की प्रतीति होती है, तदुपलक्षित-विशुद्ध-परमात्मा में नहीं।' अनात्मा-देहादिका जन्ममरण क्षुधा-पिपासा आदि धर्म, वस्तुतः अविद्यमान-मिथ्या होनेपरभी-देहाभिमानी देहविशिष्ट द्रष्टा जीवात्मामें ही प्रतीत होता है, उपाध्युपलक्षित-विशुद्ध-आत्मस्वरूपमें नहीं। यहां यह विवेक है कि-स्वाधीनमायावाले ईश्वरात्मामें-मायाकल्पित-उपाधिके गुण-क्रिया-आदिरूप धर्म, स्वस्वरूपका ज्ञान होनेके

मृषाभूतोऽपि, तदभिमानिनस्तद्विशिष्टस्य द्रष्टुरात्मनो जीवस्यैव, न तु तदुपलक्षितस्य विशुद्धात्मस्वरूपस्येत्यर्थः । अयमत्र विवेकः – स्वाधीनमायस्येश्वरात्मनस्तु मायाकल्पितोपाधिधर्माः गुणक्रियादिरूपाः स्वस्वरूपज्ञानसत्त्वात् मायाकृतावरणाभावाच्च जीवात्मभिस्तत्राध्यारोपिता अपि न प्रतीयन्ते, विशिष्टानां जीवात्मनान्तु स्वस्वरूपज्ञानाभावात् अध्यारोपितास्तद्धर्माः जन्ममरणादयः प्रतीयन्ते । एवं 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति ॥' (ऋग्वेद १ । १३४ । २०) इति ऋग्वेदीयश्रुत्यनुरोधेन एकस्मिन्नपि शरीरवृक्षे बिम्बप्रतिबिम्बभावेनावस्थितयोर्जीवेश्वरयोः स्वस्वरूपज्ञानाज्ञानाभ्यां मोक्षबन्धलक्षणे स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ये भवतः । यथैकवृक्षारूढयोर्मानववानरयोरधःस्थितेन सिंहेन प्राक् वानरदेहच्छाया हस्तेन ताडिता, तामेवात्मानं मन्यमानो मूढो वानरः किलकिलेति स्वजातिशब्दं कृत्वा प्रभूतभयेनाऽधः पतति, सिंहश्च तं खादति । पुनः तेन मानवदेहच्छायाऽपि ताडिता, स्वस्वरूपज्ञानवान् भ्रान्तिरहितो विवेकी मानवः छायातः आत्मानं व्यतिरिक्तं मत्वा न बिभेति, न च पतति, प्रत्युत स तं सिंहञ्च हसति, नाहं वानरवन्मूढोऽस्मीति । सिंहस्तु पुनः पुन-

कारण, मायाकल्पित-आवरण न होने के कारण, जीवात्माओंके द्वारा उसमें आरोपित होने पर भी—प्रतीत नहीं होते हैं, विशिष्ट—जीवात्माओं में स्वस्वरूपका ज्ञान न होनेके कारण-अध्यारोपित-जन्ममरणादि उपाधिधर्म प्रतीत होते हैं । इस प्रकार 'दो सखा-साथ-साथ रहनेवाले सुपर्ण-हंस हैं, एक ही वृक्षमें संयुक्त हुए बैठे हैं, इन दोनोंमें से एक हंस उस वृक्षके स्वादु फल खाता है, और दूसरा हंस नहीं खाता हुआ केवल देखता ही है ।' इस ऋग्वेदकी श्रुतिके अनुसार एक ही शरीररूप वृक्षमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावसे अवस्थित-ईश्वर और जीवमें स्वरूपका ज्ञान एवं अज्ञान द्वारा मोक्षलक्षण स्वातन्त्र्य और बन्धलक्षण पारतन्त्र्य हैं । जैसे एक ही वृक्षमें मानव एवं वानर बैठे हैं, नीचे सिंह स्थित है, उसने प्रथम वानरकी छाया हस्तद्वारा ताडित किया । छायाको ही अपना स्वरूप माननेवाला मूढ़ बन्दर 'किलकिल' ऐसा अपनी जातिका शब्द करता हुआ महान् भयसे नीचे गिर जाता है, और सिंह, उसे खाजाता है । फिर उस-सिंहने मनुष्यके देहकी छायाका भी ताड़न किया, स्वरूपका ज्ञानवाला-भ्रान्तिरहित विवेकी मानव छायासे अपनेको पृथक् मानकर न भयभीत होता है--न तो नीचे गिरता ही है, प्रत्युत वह उस सिंहकी हंसी करता है कि मैं बन्दरकी तरह मूर्ख नहीं हूं, ऐसी । सिंह तो बार-बार उसके देहकी छायाका ताड़न करके भी मनुष्यमें भयकंपन एवं पतनका अभाव जानकर 'यह नहीं गिरेगा' ऐसा मानकर अन्यत्र चला जाता है । वैसे ही यह अज्ञानी मूढ़ जीव, देहादिमें आत्माके अभिमान द्वारा उसके धर्मोंका अपने

स्तद् हृच्छायां ताडयित्वा तस्य भयकंपपतनाभावं विज्ञाय 'नायं पतिष्यतीति' मत्वाऽन्यत्र गच्छति । तथैव मूढोऽज्ञो जीवो देहाद्यात्माभिमानेन तद्धर्मान् स्वात्मन्यध्यारोपयन् पारतन्त्र्येण दुःखसहस्रमनुभवति । परन्तु तत्त्वज्ञः सर्वज्ञः परमेश्वरो मायोपाधिकल्पितधर्मान् गुणक्रियादिकान् – जीवात्मभिस्तत्र प्रतीयमानानपि स्वात्मन्यनध्यारोपयन् स्वातन्त्र्येण स्वस्वरूपपरमानन्दमजस्रमनुभवति, न तु लेशतो दुःखच्छायामपि ।

(१२) अपि च – 'अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथं ? ।' (भा० ३ । ७ । ५) इत्याक्षेपेण किं मायायाः परमेश्वरे, अविद्यायाश्च जीवात्मनि नास्तित्वं 'प्रौढप्रकाशे तम इव' ब्रुवाणो विदुरः – अयुक्तत्वात्, अभानाद्वा, कारणाभावाद्वा तदभिप्रैति । आद्ये इष्टः । असङ्गाद्वितीयस्वप्रकाशात्मन्ययुक्तत्वं भूषणमेव, न तु दूषणम् । न द्वितीयः – इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।' (ऋ० ६ । ४६ । १८) 'संभवाम्यात्ममायया (गीता ४ । ६) 'त्वं मायया त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः । (भा० ११ । ६ । ८) इत्यादिभिः – परमात्मनि दुर्विभाव्याया दुर्घटाया मायाया अपि मिथ्याभानाभ्युपगमात्, तथैव जीवात्मन्यप्यविद्यायाः – 'अज्ञः

आत्मामें आरोप करता हुआ परतन्त्रतासे हजारों दुःखोंका अनुभव करता है । परन्तु तत्त्वज्ञ-सर्वज्ञ-परमेश्वर-मायाकी उपाधिके कल्पित-धर्म गुण क्रिया आदि-जीवात्माओंके द्वारा उसमें प्रतीयमान हुए भी अपने आत्मामें अध्यारोपित न करता हुआ-स्वतन्त्रता से निरन्तर परमानन्दका अनुभव करता है, दुःखकी छायाका लेशभी अनुभव नहीं करता ।

(१२) और भी 'अलुप्तज्ञानस्वरूप ब्रह्म, मायासे कैसे युक्त होग ? इस आक्षेप द्वारा माया क्या परमेश्वरमें और अविद्या क्या जीवात्मामें 'उत्कृष्ट–प्रकाशमें तम की तरह' नहीं है, ऐसा कहने वाले विदुरजी उसकी अविद्यमानता–अयुक्त-होनेसे, या अभान होनेसे, या कारणका अभाव होनेसे, कहनेका अभिप्राय रखते हैं । प्रथम प्रक्ष, अभीष्ट है, असंग-अद्वितीय प्रकाशात्मा में अयुक्तत्व भूषण है, दूषण नहीं । द्वितीय पक्ष ठीक नहीं है । क्योंकि 'इन्द्र परमात्मा मायाशक्तियोंके द्वारा बहुरूप हुआ प्रतीत होता है' 'अपनी मायासे उत्पन्न होता हूं' 'तू मायाके द्वारा मायाके गुणोंमें अवस्थित हुआ अपनेमें दुर्विभाव्य-अचिन्त्य व्यक्त-जगत्का सर्जन रक्षण एवं विलय करता है ।' इत्यादि वचनोंके द्वारा परमात्मामें दुर्विभाव्य यानी दुर्घट मायाका मिथ्याभान माना गया है । इसी ही प्रकार जीवात्मामें भी अविद्याका भी 'तत्त्वसे विमुख-अज्ञानी भिन्नदृष्टिवाला होता है ।' इत्यादिके प्रामाण्यसे 'मैं अज्ञ हूं' ऐसे अपने अनुभवसे भी मिथ्याभान माना जाता है । इससे अभान असिद्ध है । तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं । मायाके भानमें मायाको ही कारण माना गया है, इसलिये कारणाभाव असिद्ध है ।

पृथग्दृष्टिः तत्त्वतो विमुखो भवेत् ।' (भा० ४ । २ । २१) इत्यादिप्रामाण्येन, 'अज्ञोऽस्मीति' स्वानुभवेनापि च मिथ्याभानमभ्युपगम्यते । तेनाभानमसिद्धम् । न तृतीयः । मायाभाने मायाया एव कारणत्वाभ्युगमान् न कारणाभावोऽसिद्धः । न चात्माश्रयो दोषः स्यात्, यतो दोषैकमात्रनिधिभूतायां तस्यां तस्याकिञ्चित्करत्वात् । यदाहुः — संक्षेपशारीरकाचार्या अपि 'द्वारं तमोऽन्वयमपेक्ष्य दृशा हि दृश्यं, सङ्गच्छते सकलमत्र न नो विवादः । मोहोऽपि दृश्यवपुरत्र च संवदध्वे, तस्मात्तदन्वयनिमित्तमपीह मोहः ॥' (१ । ५२) इति । इदमज्ञानमात्मन्यज्ञाननिबन्धनमेव न परमार्थम् इति दर्शयति – द्वारमिति । अत्र मोहपदं तमोमायाऽविद्याऽज्ञानार्थकं वेदितव्यम् । सकलं दृश्यं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च यदस्ति, तत्सर्वं तमोऽन्वयं = अज्ञानसम्बन्धमपेक्ष्य हि दृशा = असंगेन चैतन्यात्मना संगच्छते = दर्शनविषयतया संबद्धयते, इत्यत्र नः = अस्माकं न विवाद इत्यक्षरयोजना । इदमौपनिषदं दर्शनं – विनाऽज्ञानं दृशो न दृश्यसम्बन्धोऽस्तीति सर्वस्य दृश्यध्यस्ततयैव सिद्धेः, अध्यासस्य च विनाऽज्ञानमसम्भवादिति भावः । एतावता प्रबन्धेन व्याप्तिरुक्ता । यद्यद् दृश्यं तत्तत्सर्वं दृश्यध्यस्तमज्ञानादिति । इदानीं हेतोः दृश्यस्य पक्षधर्मतां दर्शयन्ननुमानमाह — मोहोऽपीति । 'संवदध्वे' इत्यन्तं पक्षधर्मता प्रदर्शनपरम् । लटो मध्यमपुरुषस्य बहुवचनम् । मोहस्य = मायाऽविद्या-

आत्माश्रय दोष नहीं होगा, क्योंकि-दोषोंकी एकमात्रनिधिरूप मायामें वह दोष अकिञ्चित्कर है । इसलिये संक्षेप--शारीरकाचार्य भी कहते हैं कि 'समस्त दृश्य, द्रष्टा आत्मासे अज्ञान सम्बन्धरूप द्वार की अपेक्षा करके ही संयुक्त होता है, इस विषयमें हमारा कुछ भी विवाद नहीं है । अज्ञान भी दृश्यरूप है, इसमें आपका भी संवाद अनुमति है । इसलिये, द्रष्टामें दृश्यरूप अज्ञानके सम्बन्धमें अज्ञानही निमित्त कारण है ।' यह अज्ञान, आत्म में, अज्ञान प्रयोजित ही है, परमार्थतः नहीं है यह दिखाते हैं, द्वारमिति । यहां मोह पद, तम माया अविद्या एवं अज्ञान अर्थवाला है, ऐसा समझना चाहिये । समस्त-बाहरका एवं भीतरका जो दृश्य है, वह सब अज्ञान-सम्बन्धकी अपेक्षा करके असंग-चैतन्य द्रष्टासे सम्बद्ध होता है अर्थात् दर्शनकी विषयतासे संयुक्त होता है । इस विषयमें हमारा विवाद नहीं है, ऐसी अक्षर योजना है । यह उपनिषदोंका दर्शन शास्त्र है । अज्ञानके विना द्रष्टाका दृश्यसे सम्बन्ध नहीं ही है, इसलिये सकल दृश्य द्रष्टामें अध्यस्तरूपसे ही सिद्ध होता है, अज्ञानके विना अध्यासका असंभव है, यह भाव है । इतने कथनसे व्याप्ति कही गई है । जो जो दृश्य है, वह सब द्रष्टामें अज्ञानसे अध्यस्त है, ऐसी । अब दृश्यहेतु की पक्षधर्मता दिखलाते हुए अनुमान कहते हैं—मोहोऽपीति । 'संवदध्वे' यहां तकका वाक्य, पक्षधर्मता प्रदर्शन के लिए है । यह लट् लकारके

ऽज्ञानादिसंज्ञान्तरस्यापि दृश्यरूपत्वे युष्माकमपि न विवाद इत्यर्थः । तस्मादित्यनुमानमुक्तम् । तथा चायमनुमानप्रयोगः – आत्मन्ययमवभासमानो मोहसम्बन्धो. मोहायत्तो दृश्यत्वात्, मोहकार्यद्वैतप्रपञ्चवदिति । यद्वाऽऽत्मन्यज्ञानसम्बन्धोऽज्ञानकृतः, दृग्दृश्यसम्बन्धत्वात्, घटज्ञानसम्बन्धवदिति । यस्मादसङ्गया दृशा सकलमेव दृश्यं घटादि सम्बध्यमानमज्ञानसम्बन्धं द्वारीकृत्याध्यासिकेन तादात्म्येनैव सम्बद्धयते, अन्यस्य संयोगसमवायादेरशक्यनिरूपणत्वात् । न च मोहान्यत्वमुपाधिः, तस्य साधनव्यापकत्वात्, मोहसम्बन्धस्यापि दृश्यस्य मोहान्यत्वात् । एवमप्यात्माश्रयत्वदोषपरिहाराय मोहान्तरनिबन्धनत्वमेव कस्मान्न कल्प्यते, इति न वाच्यम् । गौरवापत्तेरनवस्थाप्रसङ्गाच्च । तस्मात् नैयायिकादिपरिकल्पितविशेषसमवायादिवन्मोहोऽपि स्वपरनिर्वाहकः संभाव्यत एव । जगति स्वपरनिर्वाहकानां दीपशब्दभेदज्ञानादीनां बहूनां भावानामुपलम्भादिति भावः ।

(१३) नन्वेवं चेत्तर्हि तस्यात्मविपर्ययस्य मायाऽज्ञानमूलस्य निर्वृत्तिः कथं स्यादित्यपेक्षायामाह – मैत्रेयो महर्षिः विदुरं प्रति – 'स वै निवृत्तिधर्मेण

मध्यमपुरुषका बहुवचन है । मोह-जिसका माया-अविधा-अज्ञान-ऐसा अन्य नाम है, उसके दृश्यरूप होनेमें आप लोगोंका भी विवाद नहीं है किन्तु संवाद है । इसलिये ऐसा अनुमान कहा गया-अनुमानका यह प्रयोग है-यह आत्मामें प्रतीत मोहका सम्बन्ध, मोहके आधीन है, दृश्य होनेसे, मोहकार्य द्वैत प्रपञ्चकी तरह । अथवा-आत्मामें अज्ञानका सम्बन्ध, अज्ञान कृत है, दृक् दृश्यका सम्बन्ध होनेसे, घटज्ञानके सम्बन्धकी तरह । क्योंकि-असंग द्रष्टासे सकल घटादि दृश्य सम्बन्धित हुआ अज्ञानके सम्बन्धको द्वार करके ही आध्यासिक-तादात्म्य सम्बन्धसे ही सम्बन्धित होता है । अन्य संयोग समवाय आदि सम्बन्धोंका निरूपण अशक्य है । पूर्वोक्त-अनुमानमें मोहान्यत्व उपाधि है, ऐसा नहीं कहना, क्योंकि-वह साधनका व्यापक है, मोहसम्बन्ध-जो दृश्य है-वह मोहसे अन्य है ही । इसप्रकार आत्माश्रयता दोषके परिहारके लिए अन्यमोहप्रयोजकताकी क्यों कल्पना नहीं करते, ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि—गौरवापत्ति एवं अनवस्था दोषकी प्राप्ति होती है । इसलिये नैयायिकादिद्वारा कल्पित-विशेष-समवाय आदिकी तरह मोह भी स्वपरका निर्वाहक है-ऐसा संभव होसकता है । जगत्में दीप, शब्द, भेद, ज्ञान आदि स्वपरनिर्वाहक बहुत ही पदार्थ उपलब्ध हैं, ऐसाभाव है ।

(१३) शंका – यदि ऐसा है तब उस आत्मविपर्ययकी जिसका माया अज्ञान मूल है, निवृत्ति कैसे होगी ? ऐसी अपेक्षा होनेपर मैत्रेय महर्षि विदुरजीके प्रति कहते हैं - 'निष्कामभावसे शुभ कर्मोंका आचरण करनेसे भगवत्कृपा प्राप्त होती ह और

वासुदेवानुकम्पया । भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ॥ यदेन्द्रियोपरमोऽथ द्रष्ट्रात्मनि परे हरौ । विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः ॥' (भा० ३ । ७ । ११-१२) इति । वै = निश्चये । निवृत्तिधर्मेण = भगवदर्पितनिष्कामकर्मानुष्ठानेन वासुदेवस्य सर्वात्मनो भगवतोऽनुकंपा = कृपा संजायते । तथा च भगवति श्रवणकीर्तनाद्यारभ्य – अनन्यपरमप्रेमपर्यन्तो भक्तियोगो भवति, 'भक्त्या मामभिजानाति' (गीता १८।५५) इति सिद्धान्तानुरोधात्-भक्तियोगेन ज्ञानयोगः सिद्ध्यति, तेनार्थात् भक्तियोगाल्लब्धेन, शनैरित्यनेन संसूचितेन 'भजतां प्रीतिपूर्वकं ददामि बुद्धियोगं, (गीता १० । १०) 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥' (गीता १० । ११) 'सत्त्वात्मनस्तदनुसंस्मरणानुपूर्त्या, ज्ञानं विरक्तिमदभूत् ।' (भा० ४ । २३ । ११) 'ज्ञानवैराग्यवीर्येण स्वरूपस्थोऽजहात्प्रभुः ।' (भा० ४ । २३ । १८) 'श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम् । सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम् ॥' (भा० ४ । २४ । ७५) इति प्रमाणवचनसहस्रावगतेन भगत्कृपाचरमफलभूतेन ज्ञानयोगेन अनाद्यज्ञानस्य सर्वानर्थमूलस्य

उससे भक्तियोग एवं 'शनैः' पदसे सूचित ज्ञानयोग द्वारा यह विपर्यय प्रतीति निवृत होजाती है । जिस समय अन्तः करण सहित समस्त इद्रियां विषयोंसे हटकर साक्षी द्रष्टा-परात्मा श्रीहरिमें निश्चल भावसे स्थित होजाती हैं उस समय-गाढ़ निद्रामें सोये हुए-मनुष्यके समान जीवके अविद्यादि-समग्र क्लेश सर्वथा नष्ट होजाते हैं' भगवान्में-श्रवण कीर्तनादिसे लेकर अनन्य परमप्रेम पर्यन्त भक्तियोग होता है। 'भक्तिके द्वारा वह मुझे जानता है ।' इससिद्धान्तके अनुसार भक्तियोगसे ज्ञानयोगकी सिद्धि होती है ।'तेन' अर्थात् भक्तियोगसे लब्ध-'शनैः' इस पदसे संसूचित-प्रीतिपूर्वक मेरा भजन-स्मरण करने वाले भक्तोंको मैं प्रसन्न हुआ भगवान् ज्ञानयोगका दान करता हूं ।' 'उन भक्तों पर अनुकंपा करनेके लिए मैं भगवान् उनके आत्मभावमें अवस्थित हुआ-मेरे द्वारा प्रदत्त-भास्वान्-कभी नहीं बुझने वाले-ज्ञानदीपसे-अज्ञान जन्य विपर्यय भ्रान्तिरूप तमका विनाश करता हूं ।' 'अन्तःकरण शुद्ध-सात्त्विक होजाने पर निरन्तर भगवच्चिन्तनके प्रभावसे प्राप्त हुई इस अनन्य भक्तिसे उन्हें वैराग्य सहित ज्ञानकी प्राप्ति हुई ।' मायामयी उपाधिका भी उन्होंने ज्ञान और वैराग्यके प्रभावसे अपने-शुद्ध-ब्रह्म स्वरूपमें स्थित होकर त्याग किया ।' 'इसलोकमें भक्ति-वैराग्य आदि कल्याणके साधनोंमें मोक्ष प्रद-ज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ है । ज्ञान-नौका पर चढ़ा हुआ पुरुष अनायास ही इस दुस्तर-अविद्या कल्पित-संसार-सागरको पार कर लेता है ।' इत्यादि सहस्रप्रमाणवचनोंके द्वारा – जाना गया – भगवान् की कृपाका अन्तिम फलरूप ज्ञानयोग द्वारा समस्त अनर्थों का कारण अनादि-अज्ञानका नाश होजाने से उस

नाशात्, तत्कार्यरूपाध्यासलक्षण आत्मविपर्ययस्तिरोधत्ते = अदृश्यो विनष्टो भवतीत्यर्थः । तथा च ज्ञानयोगरहितेन केवलेन भक्तियोगेनाज्ञानमूलस्यात्मविपर्यस्य 'प्रकाशरहितेनान्येन साधनेन तमस इव' कथमपि विनाशो न भवतीति हेतोः — अज्ञानतत्कार्ययोर्विनाशाय भक्तियोगप्रकटितज्ञानयोगानुसरणमवश्यमेव कार्यम् । यथा—'तत्तेजोऽसृजत' (छां० ६ । २ । ३) इति छांदोग्यश्रुतौ-अश्रुतयोरप्याकाशवाय्वोः — 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः' (तै० २ । १ । १) इति तैत्तिरीयश्रुत्यनुरोधेन 'प्राक् आकाशं ततो वायुश्च सृष्टा' इत्यध्याहारेण श्रुतिद्वयसमन्वयो विधीयते, तद्वत् अत्रापि 'वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः । जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥' (भा० ३ । ३२ । २३) इत्याद्यन्यवचनानुरोधेनाश्रुतस्यापि ज्ञानयोगस्याध्याहारं विधाय निखिलवचनसमन्वयः कर्तव्य इति निरवद्यः पन्था ।

अतएव कोऽसौ ज्ञानमयो भक्तियोगः, येन निखिलाविद्यादिक्लेशविनाशः सिद्ध्यतीत्याह — अथ = ज्ञानप्रचुरभक्तियोगेन यदा मनःप्रमुखानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनामुपरमः = दृश्यकल्पितनामरूपद्वैतप्रपञ्चात् — उपरतिः सिद्ध्यति, तदा द्रष्ट्रात्मनि परे = क्षराक्षरातीते हरौ, क्लेशाः कृत्स्नशः = सर्वे

कार्यरूप-अध्यास लक्षणवाला-आत्मविपर्यय नष्ट होजाता है । तथाच ज्ञानयोग रहित-केवल भक्तियोगसे अज्ञान मूलक-आत्मविपर्ययका-प्रकाश रहित अन्यसाधन द्वारा तमका जैसे नाश नहीं होता-तद्वत्-किसी भी प्रकारसे विनाश नहीं होता है, इस कारणसे अज्ञान और तत्कार्यके विनाशके लिए-भक्तियोगसे प्रकटित-ज्ञानयोगका अनुसरण अवश्यही करना चाहिये । जैसे-'उस ब्रह्मने अग्निका सर्जन किया' इस छांदोग्य श्रुतिमें-आकाश एवं वायु अश्रुत हैं-तथापि 'उस-इस आत्मासे आकाश उत्पन्न-हुआ, आकाशसे वायु ।' इस तैत्तिरीय-श्रुतिके अनुसार-प्रथम आकाश और उसके बाद वायुका सर्जन करके-ऐसा अध्याहार करके-दोनों-श्रुतियोंका समन्वय किया जाता है, तद्वत्-यहां भी-'भगवान् वासुदेवमें-प्रयोजित-भक्तियोग तुरन्त ही संसारसे वैराग्य और ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञानकी प्राप्ति करा देता है ।' इत्यादि-अन्य वचनोंके अनुसार साक्षात्-अश्रुत भी ज्ञानयोगका अध्याहार करके-समस्त-भागवतके वचनोंका समन्वय करना चाहिये, यही निर्दोष-निर्विवाद-मार्ग है । इसलिए-वह कौन ज्ञानप्रचुर भक्तियोग है ? जिससे निखिल-अविद्यादि क्लेशोंका नाश सिद्ध होजाता है-यह कहते हैं-अथ यानी ज्ञानप्रचुर-भक्तियोग, उसके द्वारा जब मनः सहित-चक्षुरादि इन्द्रियोंकी कल्पित-नाम-रूप प्रपञ्चसे उपरति सिद्ध होजाती है, तब-क्षराक्षरातीत-द्रष्टा-आत्मा हरिमें समस्त समूल-अविद्यादि क्लेश विलीन होजाते हैं । समग्र क्लेश विलय मात्रमें दृष्टान्त है-संसुप्त । यद्यपि-संसुप्तका-जब गाढ़निद्रासे उत्थान होता है, तब उसे क्लेश होजाते हैं,

समूलाः-अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशात्मकाः विलीयन्ते । कृत्स्नक्लेश-विलयमात्रे दृष्टान्तः-संसुप्तस्येति । यद्यपि संसुप्तस्य पुनरुत्थाने क्लेशा भवन्ति, परन्तु परात्मना सहैक्यं प्राप्तस्य तत्त्वज्ञानिभक्तस्य तु पुनः कदापि ते न भवन्तीति विशेषः । यदाह—श्रीमद्भागवते षष्ठेऽपि–'यदोपरामो मनसो-नामरूप-रूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात् । य ईयते केवलया स्वसंस्थया हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ॥' (भा० ६ । ४ । २६) इति । 'एकं स्वयंज्योतिरनन्य-मव्ययं स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम् ॥' (भा० १०।७०।५) व्याख्यातमिदं प्राक् । यः केवलया स्वसंस्थया = केवलेन निष्ठापर्यन्तेन स्वस्वरूपज्ञानेन ईयते=प्रतीयते-साक्षात्क्रियते । स्वसंस्थया-अविद्यादिकल्मषं सदैव निरस्तमनु-भूयते । अत्र ज्ञानयोगलभ्यसाक्षात्कारलक्षणप्रतीतिकथनेन, पूर्वोक्तश्लोक-प्रतिपादितभक्तियोगान्निखिलक्लेशनिवृत्तिकथनेन च द्वयोः समन्वयभावात् ज्ञानिश्रेष्ठभक्तयोरेकत्ववत् अपरोक्षज्ञानपराभक्त्योरपि-अभेदसिद्ध्या ज्ञान-प्रचुरो भक्तियोगः, भक्तिप्रचुरो ज्ञानयोग एव सिद्ध्यति । इति सर्वमनाविलम् ।

(१४) 'विदुर उवाच — 'संछिन्नः संशयो मह्यं, तव सूक्तासिना विभो ! । उभयत्रापि भगवन् ! मनो मे संप्रधावति ॥ साध्वेतद्व्याहृतं विद्व-

परन्तु परमात्माके साथ एकत्व प्राप्त करने वाले-तत्त्वज्ञानी भक्तको तो वे क्लेश कदापि नहीं ही होते हैं, यही विशेषता है । यह-श्रीमद्भागवतके-षष्ठ स्कंधमें भी कहा है-'जब निर्विकल्प समाधिमें-निखिल प्रमाण-विपर्यय-विकल्पादि दृष्ट-ज्ञान, और स्मृतियोंका लोप होजानेसे इस नामरूपात्मक-जगत्का निरूपण करने वाला मन उपरत होजाता है-उस समय-केवल-सच्चिदानन्दमयी-अपनी प्रबुद्ध स्वरूपस्थिति द्वारा आपही एक-अद्वयरूपसे प्रकाशित होते रहते हैं । प्रभो ! आप शुद्ध हंस हैं, और शुद्ध-हृदय-मंदिरमें ही आपका प्रकट निवास है, आपको मेरा नमस्कार है ।' 'भगवान् सजातीयादि त्रिविध-भेदरहित एक-अद्वय हैं स्वयंप्रकाश-अनन्य-सर्वाभिन्न-अव्यय-अविनाशी हैं, अपने स्वस्वरूपके ज्ञानसे-जिसमें समस्त अविद्यादि-कलमष निरस्त-हुए अनुभूत होते हैं ।' जो केवल-स्वसंस्था यानी निष्ठापर्यन्त होने वाले-स्वस्वरूपके ज्ञानसे साक्षात्कृत होते हैं । इस श्लोकमें-ज्ञानयोगलभ्य-साक्षात्कार लक्षण प्रतीतिके कथनसे और पूर्वोक्त श्लोकमें-प्रतिपादित-भक्तियोगसे निखिल क्लेशोंकी निवृत्तिके कथनसे-दोनों श्लोकोंके समन्वयभावसे 'ज्ञानी और श्रेष्ठ-भक्तमें एकत्वकी भांति' अपरोक्षज्ञान और परा-भक्तिकी अभेदसिद्धिके द्वारा 'ज्ञानप्रचुर भक्तियोग' और 'भक्तिप्रचुर ज्ञानयोग' ही सिद्ध होता है, ऐसा प्रतिपादन सर्वथा निष्कलंक है ।

(१४) श्रीविदुरजीने कहा-भगवन् ! आपके युक्ति युक्त- वचनोंकी तलवार-से मेरे संशय छिन्नभिन्न होगये हैं, अब मेरा चित्त भगवान्की स्वतन्त्रता और जीवकी

न्नात्ममायायनं हरेः । आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्बहिः ॥ यश्च मूढतमो लोके, यश्चबुद्धेः परं गतः । तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥ अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः । तां चापि युष्मच्चरणसेवयाऽहं पराणुदे ॥' (भा०३।७।१५-१६-१७-१८) इति । मैत्रेयस्य यथार्थं हृदयंगममुत्तरमभिनन्दन्नात्मनः कृतार्थतामाविष्करोति-संच्छिन्न इति । गुरोस्तत्त्वोपदेष्टुस्तव प्रभावादेव मम संदेहो निवृत्तो न मम बुद्धिबलादित्याशयेन संबोधयति-विभो इति । चिन्मात्रस्य विभोः कथं जगत्कर्तृत्वादिकं, कथं वा निर्गुणस्य-गुणसम्बन्धः,कथं वाऽविलुप्तावबोधात्मनो मायाऽविद्यायोगः, चिद्रूपत्वाविशेषेऽपि कथं वा भगवतः स्वातन्त्र्यं, जीवस्य च पारतन्त्र्यं संसारश्च इत्यादिपूर्वोक्तो यो मह्यं = मम, संशयः, आसीत् , सः, तव सूक्तं = सोपपत्तिकं वाक्यमेवासिः = खड्गस्तेन संच्छिन्नः = सम्यक् निवृत्तः । अतः इदानीं मे मनः, उभयत्रापि = ईश्वरस्वातन्त्र्ये जीवपारतन्त्र्ये च संप्रधावति = सम्यक् प्रविशति । एवं वाऽविलुप्तावबोधरूपस्यात्मनः कथमविद्यया बन्धः, कुतो वा तन्निवृत्तिरिति

परतन्त्रता-दोनों ही विषयोंमें खूब प्रवेश कर रहा है । विद्वन् ! आपने यह बात बहुत ठीक कही कि जीवको जो रागादि क्लेशोंकी प्रतीति होरही है, उसका कारण-आधार-केवल भगवान्‌की माया ही है, वे क्लेश मिथ्या एवं निर्मूल ही हैं, क्योंकि इस नामरूपात्मक विश्वका मूल कारण ही मायाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस संसारमें-दो ही प्रकारके लोग सुखी हैं, या तो अत्यन्त मूढ़-अज्ञान ग्रस्त हैं, या जो बुद्धि आदिसे अतीत श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर चुके हैं । बीचकी श्रेणीके संशयापन्न-लोग तो दुःख ही भोगते रहते हैं। भगवन् ! आपकी कृपासे मुझे यह निश्चय होगया है कि-ये अनात्मपदार्थ-वस्तुत हैं नहीं, केवल मिथ्या प्रतीत ही होते हैं । अब मैं आप सद्गुरुदेवके चरणोंकी सेवाके प्रभावसे-लब्ध-ब्रह्मतत्त्वके अजस्रानुसंधान द्वारा उस प्रतीतिको भी हटा दूंगा ।' विदुरजी-मैत्रेयजीके हृदयंगम-यथार्थ-उत्तरका अभिनन्दन करते हुए-अपनी कृतार्थता अभिव्यक्त करते हैं—'संच्छिन्न' इत्यादिसे । तत्त्वोपदेष्टा-आप सद्गुरुके प्रभावसे ही मेरा संदेह निवृत्त हुआ है, मेरी बुद्धिके बलसे नहीं, इस आशयसे सम्बोधन दे रहे हैं, हे विभो! ऐसा । चिन्मात्र-व्यापकमें जगत्कर्तृत्वादि कैसे ? निर्गुणमें गुणसम्बन्ध कैसे ? चिद्रूपतासमान होने पर भी भगवान्‌में स्वतन्त्रता, कैसे ? और जीवात्मामें संसार एवं परतन्त्रता कैसे ? इत्यादि पूर्वोक्त-जो मेरा संशय था-वह आपके युक्तियुक्त-वचनरूपी तलवारसे अच्छीप्रकारसे निवृत्त हुआ । अतः अब मेरा मन ईश्वरकी स्वतन्त्रतामें एवं जीवकी परतन्त्रतामें खूब समाधान रूपसे प्रवेश कर रहा है । इसप्रकार-अलुप्त-बोधरूप-आत्मामें अविद्या प्रयुक्त बंध कैसे ? और इसकी निवृत्ति कैसे ? यह संशय है, उभयत्र यानी बन्ध एवं मोक्षमें, ज्ञानका

संशयः। उभयत्रेति बन्धे मोक्षे चेत्यर्थः। ज्ञानाभावेऽज्ञानादेव बन्धः, सति च ज्ञानेऽज्ञाननिवृत्त्या मोक्षः,इतिनिर्णयो मे जातः। त्वमेव तत्त्वज्ञानिश्रेष्ठभक्तत्वात् एवं समाधातुं शक्त इति सूचयन्संबोधयति-विद्वन्निति। हरेः = परमात्मनः शक्तिर्याऽऽत्ममाया - त्रिगुणात्मिका मूलप्रकृतिः - स्वाश्रयताविषयताभागिनी तदयनं = तदाश्रयमेव तदायत्तमेव, ईश्वरे स्वाश्रयाव्यामोहिकया मायया जगत्कर्तृत्वादिकं, जीवे च स्वाश्रयव्यामोहिक्याऽविद्यया दुर्भगत्वादिकं च, एवं निर्गुणे निर्विकारे गुणक्रियायोगादिकं मायाकृतमेव, अपार्थं = अवस्तुभूतं मिथ्यैव, निर्मूलं =वास्तविकमूलशून्यं-स्वशिरश्छेदादिवत् , आभाति= प्रतीयते, जीवात्मनि च देहाद्यात्माध्यासरूपमिथ्यामूलप्रसूतं - सुखदुःखादिकमपि अपार्थमेवाभाति। यत् =यस्मात् अस्य मूलं = बीजं, विश्वस्य = नामरूपात्मकद्वैतप्रपञ्चस्य मूलं-स्वाज्ञानं, बहिः = विना नास्ति, अस्यानर्थस्य मूलमज्ञानमेव नान्यदिति भावः। अल्पज्ञत्वादेव प्राक् अहं संशयक्लेशमनुभूतवानिति सूचयन् लोकव्यवस्थामाह — यश्चेति। लोके = संसारे यश्च जनो मूढतमो = देहाद्यध्यासेन विषयाविष्टचित्तः, यश्च बुद्धेः परं = परमात्मानं

अभाव होने पर अज्ञानसे बन्ध है, और ज्ञान होने पर अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेसे मोक्ष है, ऐसा मेरा निर्णय होगया। आप ही तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठभक्त होनेके कारण इसप्रकार समाधान करनेके लिए समर्थ हैं, ऐसा सूचित करते हुए विदुरजी सम्बोधन करते हैं, हे विद्वन् ! ऐसा। हरि-परमात्माकी शक्ति जो आत्ममाया त्रिगुणात्मिका मूलप्रकृति है, जो स्वाश्रयता एवं स्वविषयताका सेवन करती है, अर्थात् वह जिसके आश्रयमें रहती है उसीको ही विषय करती है - जैसे अन्धकार दीवालके आश्रयमें रहकर दिवालको ही आच्छादित करता है। उस मायाके अधीन ही अर्थात् ईश्वरमें जो माया है- स्वाश्रयको मोहित नहीं करती-उसके द्वारा ही जगत्कर्तृत्वादि है, जीवमें जो अविद्या है--वह स्वाश्रयको मोहित करती है - उसके द्वारा ही दौर्भाग्य आदि हैं, इसप्रकार निर्गुण निर्विकारमें गुण-क्रिया-योगादि भी मायाकृत ही हैं, अत एव वे सब अवास्तविक मिथ्या ही हैं, निर्मूल यानी वास्तविक मूलसे रहित-जैसे स्वप्नमें स्वशिरच्छेदनादि हुए प्रतीत होते हैं। जीवात्मामें-देहादियोंमें-आत्माका अध्यासरूप-मिथ्यामूल जन्य सुखदुःखादि भी मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि—इसका मूल—नामरूपात्मक-द्वैत प्रपञ्चका स्वाज्ञानरूप मूलके विना अन्य नहीं है, अर्थात् इस अनर्थका मूल, अज्ञान ही है, अन्य नहीं, यह भाव है। अल्पज्ञ होनेके कारण ही प्रथम मैंने संशयके क्लेशका अनुभव किया-ऐसी सूचना करते हुए लोककी व्यवस्था कहते हैं, 'संसारमें जो जन अतिमूढ़ है-देहादिके आत्माध्यास द्वारा विषयोंमें संलग्नचित्तवाला है-तथा जो बुद्धिसे पर परमात्माको प्राप्त होगया है-ऐसा तत्त्वनिष्ठ विद्वान्-है-वे दोनों ही सुखके साथ

ततः = प्राप्तो विद्वान्-तत्त्वनिष्ठः, तौ द्वौ, सुखं यथा भवति, तथा एधेते = जीवत इत्यर्थः। अतिमौढ्यात्-प्रकृष्टवैदुष्याच्च द्वयोः संशयक्लेशाभावात्। एतेन—'एवं बुद्धेः परं = कामं बुद्ध्वा' (गीता ४।४३) इति रामानुजाचार्य्यस्य गीताव्याख्यानं बुद्धिपरतया हेयस्य क्लेशजनकस्य कामस्य प्रतिपादनपरं निरस्तम्। नन्वेवं-बुद्धेः परं कामं प्राप्तोऽपि सुखेन जीवतीति चेन्मैवम्। तत्तु मूढतमत्वेनैव गतार्थं, अत्रापि तद्योजने पौनरुक्त्यापातात् कामस्य बुद्धिधर्मत्वेन ततः परत्वायोगाच्च। यस्तु-अन्तरितः = तन्मध्यस्थ अल्पज्ञः दुःखानुसन्धानेन प्रपञ्चं जिहासति, स्वानन्दानुभवाभावाद् हातुं च न शक्नोति, स नानाविधसंशयविपर्ययाभ्यां क्लिश्यत्येवेत्यर्थः। इदानीं तु कृतार्थोऽस्मि, त्वदुपदेशेन मम संशयविभ्रमनिवृत्तावपि — द्वैतप्रपञ्चस्य केवलं बाधितानुवृत्तिरवशिष्यते, सापि युष्मत्प्रसादान्निवर्तिष्यत इत्याह — अर्थेति। आत्मनि = अधिष्ठानेऽविद्यया प्रतीतस्यापि नात्मनः = देहेन्द्रियादिरूपस्य द्वैतप्रपञ्चस्य, अर्थाभावं = पारमार्थिकोऽर्थोऽत्र नास्ति, किन्तु मृषाप्रतीतिमात्रमिति विनिश्चित्य, तां प्रतीतिमप्यहं युष्मच्चरणसेवया = युष्माकं श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठानां चरणसेवोपल-

---

जीते हैं। अतिमूढ़ता होनेसे एवं उत्कट-वैदुष्य होनेसे दोनोंको संशयका क्लेश नहीं होता। इससे — 'इसप्रकार बुद्धिसे पर कामको जान कर' ऐसा रामानुजाचार्यका गीताका व्याख्यान खण्डित होगया। जो बुद्धिसे पररूपसे हेय एवं क्लेशजनक कामका प्रतिपादन करता है। शंका-इसप्रकार बुद्धिसे पर कामको प्राप्त हुआ प्राणी भी सुखसे जीता है, ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि वह तो मूढ़तमत्वके कथनसे गतार्थ है। यहां भी उसकी योजना करने पर पुनरुक्ति होजाती है। काम तो बुद्धिका धर्म है, अतः वह उससे पर हो ही नहीं सकता। जो बीचका मध्यस्थ-अल्पज्ञ-जन है, वह दुःखानुसंधानसे प्रपञ्चके त्यागकी इच्छा रखता है, परन्तु स्वात्मानन्दका अनुभव न होनेसे उसको छोड़ नहीं सकता, वह अनेक प्रकारके संशय और विपर्ययके द्वारा क्लेशका अनुभव करता ही है। विदुरजो कहते हैं—अब मैं तो कृतार्थ होगया हूं, आपके सदुपदेश द्वारा मेरे संशय और विभ्रम निवृत्त होगये हैं, तो भी केवल द्वैत-प्रपञ्चकी बाधितानुवृत्ति परिशिष्ट है, वह भी आपकी कृपासे निवृत्त होगी ही, यह कहते हैं- आत्मारूप अधिष्ठानमें अविद्यासे प्रतीत देहेन्द्रियादिरूप अनात्मा-द्वैत प्रपंच है, उसमें पारमार्थिक अर्थ कुछ भी नहीं है, किन्तु वह मिथ्या प्रतीति मात्र है, ऐसा निश्चय करके वह प्रतीति भी आप श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं की चरण-सेवासे उपलक्षित-ब्रह्मानुसन्धानके अभ्यास बलसे हटा ही दूंगा। यह कहा है—श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें भी 'आस्तिक-श्रद्धालुजन भगवान्के एवं भगवत्स्वरूप-ब्रह्मनिष्ठ सन्तोंके चरणकमलोंकी सेवा करके आत्मविद्याका भलिभांति संपादन करते हैं। और उसके

च्छितेन ब्रह्मानुसंधानाभ्यासबलेन पराणुदे = अपनेष्यामीत्यर्थः । यदाह — 'यत्पादसेवोर्जितयाऽऽत्मविद्यया, हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् । लभन्त आत्मीयमनन्तमैश्वरम् ।' (भा० १० । ७७ । ३२) इति ।

—❀—

(१४)

(पृथक्त्वदर्शनमेव दुःखप्रचुरायाः संसृते र्बीजम् , अर्थतोऽपृथक्त्वदर्शनमेव संसृतिविध्वंसपूर्वकपरमानन्दावाप्तिरूपकैवल्यस्य कारणम्)

पृथक्त्वं, अन्यत्वं, नानात्वं, भेदः अन्तरं इति सन्त्यनर्थान्तराणि पदानि । तानीमान्येकमेवार्थं प्रतिपादयन्ति । तच्च पृथक्त्वमस्ति सापेक्षं कस्मात् कस्येति, अर्थात् तत् स्वप्रतियोग्यनुयोगिनौ कांक्षति । अयं किलाज्ञो जीवः स्वात्मनो भगवन्तमनादिकालतः पृथग्भेदाभिमनुते । सत्येवं स्वात्मा पार्थक्यस्य प्रतियोगी अनुयोगी चास्ति भगवान् । पार्थक्याभिमाने कारणमादिरहितमज्ञानमेव, नान्यत् । अत एवाभिहितं श्रीभागवते चतुर्थेऽपि– 'अज्ञः पृथग्दृष्टिस्तत्त्वतो विमुखो भवेत् ।' (भा० ४ । २ । २१) इति । यथा 'धनवान् सुखी' इत्यत्र सुखस्य हेतुभूतं धनवति विशेषणतया प्रविष्टं धनमभिगीयते, तथा 'अज्ञः पृथग्दृष्टिः' इत्यत्रापि पृथग्दर्शनेऽज्ञे विशेषणतया प्रविष्टमज्ञानमेव

द्वारा शरीर आदिमें वर्तमान आत्मबुद्धि आदि रूप अनादि-मिथ्याज्ञानको मिटा डालते हैं तथा आत्माका अनन्त-ऐश्वर्य पूर्ण-शान्ति अखण्डानन्द आविरूप प्राप्त करते हैं । इति ।

(१४)

(पृथक्त्व-दर्शन ही दुःखप्रचुर-संसारका कारण है, अर्थात् अपृथक्त्व-दर्शन ही संसारकी निवृत्तिपूर्वक-परमानन्दकी प्राप्तिरूप-कैवल्यमोक्षका कारण है) ।

पृथक्त्व, अन्यत्व, नानात्व, भेद, अन्तर ये सब पद-अन्य अर्थके नहीं किन्तु ये सब एक ही अर्थका प्रतिपादन करते हैं । वह पृथक्त्व सापेक्ष है – किससे किसका पृथक्त्व है, अर्थात् वह अपने प्रतियोगी एवं अनुयोगीकी आकांक्षा रखता है । यह अज्ञानी जीव अनादि कालसे स्वात्मासे भगवान्‌को पृथक् ही मानता आया है । ऐसा होने पर स्वात्मा पृथक्त्वका प्रतियोगी है, और भगवान् अनुयोगी है । पृथक्ताके अभिमानमें (अभिमानो हि भ्रान्तिः) कारण-आदिरहित अज्ञान ही है, अन्य नहीं । इसलिए श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें कहा भी है–'तत्त्वज्ञानसे विमुख-अज्ञानी ही भेदबुद्धिवाला होता है ।' जैसे 'धनवान् सुखी' इस वाक्यमें सुखका कारण-धनवानमें

हेतुभूतं प्रतिपाद्यते। स चापृथग्भूताद्वैततत्त्वतः पराङ्मुखो भवत्येव। नानुभवति तत्परमानन्दप्रयोजकं पारमार्थिकं तत्त्वम्। तच्चाज्ञानं मायैव। अत एव चतुर्थे महाभागवतो ध्रुवोऽपीत्थमभिदधाति—'दैवीं मायामुपाश्रित्य प्रसुप्त इव भिन्नदृक्। तप्ये द्वितीयेऽप्यसति भातृभातृव्यहृद्रुजा' ॥ (भा० ४।६।३३)। देवस्य भगवत इमां तदाश्रयताविषयताभागिनीं मायामेव समाश्रित्याहं ध्रुवः प्रसुप्तो जनो यथा भिन्नदृक् सन् मिथ्याभूतान् स्वप्नान् पश्यति, स्वप्नद्रष्टैव स्वप्नदृश्यरूपेण प्रतिभासते, नान्यत्ततो भिन्नमस्ति किञ्चिदित्यजानानः स्वस्माद्भिन्नमेव स्वप्नदृश्यं पश्यति. सिंहव्याघ्रचौरादिरूपे द्वितीयेऽसत्यपि तज्जं दुःखमवाप्नोति। तथैव कल्पितया मायया प्रकल्पिते द्वितीये इष्टानिष्टपदार्थसार्थरूपे वस्तुतोऽसत्यपि – अयमस्ति ममेष्टभ्राता, तत्राहमतीवानुरागं, अयञ्चास्ति ममानिष्टो भातृव्यः–शत्रुः, तत्र च प्रभूतं द्वेषं कुर्वाणोऽहं भवामीत्यादिरूपया भिन्नदृष्टया संजातेन हृद्रुजाः = हृदयशोकेन तप्ये = तापं

विशेषणरूपसे प्रविष्ट धन ही कहा जाता है। वैसे–'अज्ञः पृथग्दृष्टि' इस वाक्यमें भी पृथक्दर्शनमें-अज्ञानीमें विशेषणरूपसे प्रविष्ट-अज्ञान ही कारणरूपसे प्रतिपादित होता है। वहअज्ञानी अपृथग्भूत-अद्वैत—तत्त्वसे पराङ्मुख होता ही है। वह परमानन्दका प्रयोजक-पारमार्थिक-तत्त्वका अनुभव नहीं ही करता है। वह अज्ञान माया ही है। इसलिए चतुर्थ स्कन्धमें महाभागवत ध्रुव भी ऐसा ही कहता है कि 'यद्यपि-विश्वमें आत्मा के विना अन्य कोई भी पदार्थ नहीं। सब कुछ आत्मा ही है, तथापि जैसे सोया हुआ मनुष्य अपने में ही भिन्नरूप से कल्पना किये हुए वस्तुतः अविद्यमान व्याघ्रादि पदार्थों से संतप्त होता है, उसी प्रकार मैं भी भगवान्की दैवी-माया से विभ्रान्त होकर वस्तुतः भ्राता - शत्रु आदि द्वैतके अविद्यमान होने पर भी - अपने आत्मारूप भाई को ही शत्रु मान लिया, और व्यर्थ ही द्वेषरूप हार्दिक रोग से जलने लगा।

देव - भगवान् को यह - उसके ही आश्रयमें रह कर उसको ही विषय करनेवाली - माया का ही आश्रय करके - अर्थात् उससे विभ्रान्त होकर ही मैं ध्रुव, जैसे सोया हुआ मानव, एकमें ही भिन्नदृष्टिवाला होकर मिथ्याभूत - स्वप्नोंको देखता है - 'स्वप्नद्रष्टा ही स्वप्नदृश्यरूपसे प्रतिभासित होता है, अन्य उससे कुछ भिन्न नहीं' ऐसा नहीं जानता हुआ - स्वसे भिन्न ही स्वप्नदृश्यको देखता है। सिंह, व्याघ्र चौर आदिरूप द्वितीयके न होने पर भी तज्जन्य दुःख को प्राप्त करता हैं।' वैसे ही कल्पित-माया के द्वारा प्रकल्पित - द्वैतमें - जो इष्ट व अनिष्ट - पदार्थों का समूह रूप है—वस्तुत अविद्यमान है—'यह मेरा इष्ट भ्राता है, उसमें मैं अत्यन्त-अनुराग, और यह है मेरा अनिष्ट-शत्रु, उसमें मैं बहुत द्वेष करता हूं' इत्यादि रूप भिन्नदृष्टिसे उत्पन्न-हृदयके शोकसे निरन्तर सन्तापका अनुभव करता हूं, अथवा भ्राता

सन्ततमनुभवामीत्यर्थः । यद्वा-भ्रातृभ्रातृव्यपदं शत्रुमित्रार्थं बोधयति, स च सुखदुःख-लाभहानि-जयपराजय-निन्दास्तुत्यादिरूपं द्वन्द्वं ज्ञापयति, तच्च हृदये हर्षशोकादिरूपं सन्तापजनकं रोगं जनयतीति सार्वजनीनम् । यदाह दशमेऽपि—'अज्ञानप्रभवाहंधीः स्वपरेति भिदा यतः ।' (भा० १० । ४ । २६) तथा अज्ञानां भिन्नदृष्टिनां प्रभूतं मृत्युपरम्परादिरूपं भयमपि तृतीये प्रतिपाद्यते – 'तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् । (३ । २६ । ३६) 'यतो भिन्नदृशां भयम् ।' भा० ३ । ३६ । ३७) इति ।

तत्त्वदर्शिनो ज्ञानिनस्तु स्वात्मानं भगवतो न भिन्नं पश्यन्ति, किन्तु भगवानेव स्वात्मा, स्वात्मैव च भगवान् इत्यनन्यभावेनानुभवन्ति तदात्मताम् । यदाहुः भगवन्तः श्रीकृष्णद्वैपायनाः–भगवतः कपिलस्य मुखेन— 'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम् ॥ (भा० ३ । २८ । ४२) । सर्वभूतेषु = अव्यक्तादिस्थावरान्तेषु, आत्मानं, यथाऽस्य देहस्य कार्यकरणसंघातस्यात्माहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेतयिताऽनन्यः केवलो निर्गुणोऽनेनैवानन्यभावेनाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्मा भगवान् इति सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं केवलमद्वयानन्दचिन्मात्रं ईक्षेत = पश्येत् । च = तथा आत्मनि-भगवति, सर्वभूतानि ईक्षेत = आत्मव्यतिरिक्तानि

एवं भ्रातृव्य पद मित्र एवं शत्रु अर्थका बोधन करता है, वह सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति आदि लक्षणवाले-द्वन्द्वको ज्ञापित कराता है । वह हृदयमें हर्ष शोकादिरूप, सन्तापजनक रोगको उत्पन्न करता है, यह सर्वजन प्रसिद्ध है । यह दशम स्कन्धमें भी कहा है — 'जीव अज्ञान से शरीर आदि अनात्मामें अहंबुद्धि कर लेता है, और अज्ञानसे ही स्व और अन्यका भेद होजाता है ।' वैसे भिन्न दृष्टिवाले अज्ञानियोंको मृत्यु परम्परादिरूप प्रभूतभय भी तृतीय स्कन्धमें प्रतिपादित किया है । 'उस भिन्नदर्शीको मैं भगवान् मृत्यु रूपसे महान् भय उपस्थित करता हूं ।' 'क्योंकि-भिन्नदर्शियोंको भय होता रहता है ।'

तत्त्वदर्शी-ज्ञानवान् तो स्वात्माको भगवान्से भिन्न नहीं देखते हैं, किन्तु भगवान् ही स्वात्मा तथा स्वात्मा ही भगवान् हैं, ऐसा अनन्यभावसे तादात्म्य अनुभव करते हैं । भगवान् कृष्णद्वैपायन, भगवान् कपिलके मुख से कहते हैं कि 'जिस प्रकार जरायुज, अण्डजादि देह पंचभूतमात्र ही हैं, उनसे भिन्न नहीं, उसी प्रकार आरोपित समस्त भूतोंमें तथा भूतकार्य शरीरादियोंमें आत्माको, और अधिष्ठान आत्मामें सम्पूर्णभूतोंको अनन्यभावसे देखे । अर्थात् आरोपित-अधिष्ठानसे अन्य नहीं होता, ऐसा निश्चय रखे ।' अव्यक्तादि-स्थावरान्त सर्वभूतोंमें आत्माको—जैसे इस कार्य करण-संघातरूप देहका आत्मा—जो निखिलवृत्तियोंका साक्षी-चेतन-केवल-निर्गुण एवं अनन्य

नेक्षेतेत्यर्थः, 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूदि'तीशावास्यश्रुतिप्रामाण्यादपि। तदात्मतामेवेक्षेत भूतेष्विव = यथा पञ्चमहाभूतपरिणामभूतेषु-सर्वेषु उच्चावचशरीरेषु भूतात्मतां ईक्षेत, तथा तेषु सर्वभूतेषु तदात्मतामेव न भिन्नात्मतामीक्षेत। अनन्यभावः = भगवदात्मव्यतिरिक्तो नास्त्यन्यः स्वस्मिन् तेषु च भावः, किन्तु त्वयि मयि चान्यत्र सर्वत्र भगवदात्मभाव एव पूर्णतयाऽवस्थितोऽस्ति, तथा च सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतत् भगवदात्मस्वरूपमेवास्तीति दृढं निश्चिनुयात्, अजस्रं विभावयेच्च। अत एवोक्तं षष्ठेऽपि 'स्थिरचरसत्त्वकदम्बेष्वपृथग्धियो यमुपासते त्वार्याः।' (भा० ६। १६। ४३) स्थावरजङ्गमप्राणिसमुदायेषु-स्वात्मतयाऽवस्थितं यं = भागवतधर्माधिष्ठातारं भगवन्तं, अपृथग्धियः = अभेददर्शिनः आर्याः उपासते = भजन्ति-अनुसंदधते। अनेन केवलाद्वयात्मभाववन्तोऽपृथग्धिय एव आर्याः श्रेष्ठाः-श्रद्धेयाः-मान्याश्च भवितुमर्हन्ति, अर्थतः पृथग्धियो = भिन्नदर्शिनो द्वैतिनस्तु अनार्या एवेति विज्ञाप्यते।

इदमत्र विज्ञेयं अस्ति किल सनातनज्ञानमयभक्तिपथस्येयं पद्धतिः।

है, उसी ही अनन्यभावसे-अव्यक्तादि - स्थावरान्तभूतोंका मैं ही आत्मा भगवान् हूं, इसप्रकार सर्वभूतोंमें-निर्विशेष-अद्वयानन्द - चिन्मात्र-आत्माको देखे, तथा भगवद्रूप-आत्मामें सर्वभूतोंको आत्मासे अव्यतिरिक्त-अभिन्न देखें। 'जिस-ज्ञानमें सर्वभूत, आत्मा ही होगया।' इस ईशावास्योपनिषत्की-श्रुति प्रामाण्यसे भी भूत और आत्माका तादात्म्य ही देखें। जैसे पंचभूतोंके परिणामरूप-ऊंचनीच शरीरोंमें भूतरूपता देखता है, वैसे सर्वभूतों में आत्मरूपता देखें, भिन्नात्मता न देखें। अनन्य - भावका अर्थ है— भगवान् रूप आत्मासे अतिरिक्त-अन्यभाव अपनेमें तथा उन भूतोंमें नहीं है। किन्तु तेरेमें, मेरेमें, तथा अन्य सबमें भगवद्रूप - आत्मभाव ही पूर्णरूपसे अवस्थित है। वैसे जो मैं हूं, जो तू है, जो यह सर्व है, वह आत्मस्वरूप भगवान् ही है, ऐसा दृढ़ निश्चय रक्खें, और ऐसी निरन्तर भावना बनाये रक्खें। इसलिए षष्ठ स्कन्धमें भी कहा है कि--'आर्य - सन्त पुरुष, चराचर-समस्त - प्राणियोंमें अनन्य - अपृथक्त्व - बुद्धि रखते हुए - जिसकी उपासना करते हैं।' स्थावर - जंगम प्राणी समुदायोंमें स्वात्मारूपसे अवस्थित - भागवतधर्म के अधिष्ठाता भगवान्की अपृथक् बुद्धिवाले - अभेददर्शी आर्य, उपासना - भजन - अनुसंधान करते हैं। इस कथन से - केवल - अद्वय - आत्मभाववाले - अपृथक् बुद्धिवाले - अभेददर्शी ही आर्य यानी श्रेष्ठ - श्रद्धेय - मान्य हो सकते हैं, अर्थात् पृथक् बुद्धिवाले - भिन्नदर्शी द्वैतवादी अनार्य (अनाडी) ही हैं, ऐसा विज्ञापित होता है।

यहां यह जानना चाहिये - सनातन - ज्ञानमय भक्तिमार्गकी यह पद्धति है —

प्रथमं तावत् भगवति भक्तिमान् विवेकी मानवः, स्वमनसो व्यग्रतानिवारणा-यैकाग्रतासंपादनाय च सगुणं साकारं मनोहरं स्वेष्टदेवं सततं ध्यायेत् । पश्चात् ध्यानाभ्यासे दृढीभूते सति, तत्र च प्रेम्णः प्रकृष्टायामभिवृद्धौ सत्यां तं भगवन्तं—'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानम् ।' (भा० १०।१४।५५) 'स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि । इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ॥' (भा० ४।२९।५१) इति सिद्धान्तन्यायमनुसृत्य विवेकज्ञानेन स्वात्मन्यध्यारोपितं देहभावं जीवभावञ्च विहाय तत्र स्वात्मभावं बद्ध्वाऽहंभावनया ध्यायेत् । इयमेवास्ति वेदान्तप्रसिद्धा साकारब्रह्मगोचराऽहंग्रहोपासना । 'आत्मानं तन्मयं ध्यायन्मूर्तिं संपूजयेद् हरेः ।' । (भा० ११ । ३ । ५४) इति वेदान्तसारभूतश्रीमद्भागवतवचःप्रामाण्यात् । तया किल परमात्मप्रसादात् निर्गुणनिर्विशेषप्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मसाक्षात्कारो भवति । अत एव श्रीमद्-भागवते तृतीयेऽष्टाविंशेऽध्याये— 'प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणं । नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥' (भा० ३ । २८ । १४) 'ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ।' (भा० ३ । २८ । १८) 'यच्छौचनिःसृतसरि-

कि - भगवान्में भक्ति रखने वाला विवेकी मानव प्रथम अपने मनकी व्यग्रता-निवारणके लिए तथा एकाग्रता संपादनके लिए सगुण - साकार - मनोहर - अपने इष्टदेवका सतत ध्यान करे । पश्चात् ध्यानाभ्यास दृढ़ होने पर, उसमें प्रेमकी प्रकृष्ट-अभिवृद्धि होने पर उस भगवान्का -- 'इस कृष्णको तू अपना आत्मा जान' 'वह श्रीहरि ही प्रियतम आत्मा है, उससे अणुमात्र भी भय नहीं होता । भय आत्मभिन्न से होता है, आत्मासे नहीं । ऐसा जो मानव जानता है, वही विद्वान् है, और जो विद्वान् है वही गुरु एवं साक्षात् श्रीहरि ही है ।' इस सिद्धान्तके न्यायका अनुसरण करके विवेकज्ञान द्वारा अपने आत्मामें अध्यारोपित - देहभाव एवं जीवभावका परित्याग करके - उस इष्टदेवमें स्वात्मभाव बांधकर - अहंभावसे ध्यान करे । यह है - वेदान्त प्रसिद्ध - साकार - ब्रह्मविषयिणी - अंहग्रह - उपासना । 'अपने आपको भगवन्मय - उस साकार स्वरूपसे अभिन्न - ध्यान करते हुए ही भगवान्की मूर्तिका पूजन करना चाहिये ।' इसमें वेदान्तका सारभूत श्रीमद्भागवतके वचनका यह भी प्रामाण्य है । उससे ही परमात्मा के अनुग्रहसे निर्गुण - निर्विशेष - प्रत्यगभिन्न - अद्वय-ब्रह्मका साक्षात्कार होता है । इसलिये - श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके अट्ठावीसके अध्यायमें - 'भगवान् श्रीविष्णुका मुखकमल आनन्दसे प्रफुल्ल है, नेत्र कमल - कोशके समान रतनारे हैं, शरीर नीलकमल-दलके समान श्याम है, हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये हैं ।' 'इसप्रकार श्रीभगवान्के सम्पूर्ण-अंगोंके सहित तब तक ध्यान करें, जब तक चित्त वहांसे उपरत न हो ।' 'श्रीभगवान्के चरण कमलके प्रक्षालनसे ही

त्प्रवरोदकेन, तीर्थेन मूर्धन्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।* ध्यातुर्मनःशमलशैल-निसृष्टवज्रं ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥' (भा० ३ । २८ । २२) 'भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम् । यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ॥ (भा०३।२८।२६) भृत्येषु = भक्तेषु, अनुकम्पिता = कृतानुकम्पा या धीस्तया गृहीता मूर्तिर्येन तस्य, विस्फुरती ये मकरकुण्डले, तयोर्वल्गितेन = प्रचलनेन विद्योतितावमलौ कपोलौ यस्मिंस्तत् । उदारा = उन्नता नासा यस्मिंस्तत् । इत्यादिभिः साकारस्य भगवतो ध्यानमभिहितम् । ततः तत्र परमप्रेमास्पदे साकारेऽपि ब्रह्मणि स्वात्मभावं विधाय 'स एवाहमस्मि, ततो नास्मि मनागपि पृथक्, इति 'आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः ।' (भा० ११ । १८ । २१) इति न्यायेन तमभेदेन सततं ध्यायेत्, तत्र मनः सर्वथा समर्पितं च कुर्यात्, इत्याहुः तत्रैव—

नदियोंमें श्रेष्ठ-श्रीगंगाजी प्रकट हुई थीं, जिनके पवित्र जलको मस्तक पर धारण करनेसे स्वयं मंगलमय श्रीमहादेवजी और भी अधिक मंगलमय होगये । ये अपना ध्यान करनेवालोंके पापरूप-पर्वतों पर छोड़े हुए इन्द्रके वज्रके समान हैं, भगवान्के इन चरणकमलोंका चिरकाल तक ध्यान करे ।' 'भक्तों पर कृपा करनेके लिए ही यहां साकार रूप धारण करने वाले श्रीहरिके मुखकमलका ध्यान करे, जो सुघड़-अल्पोन्नत-नासिकासे सुशोभित है, और झिलमिलाते हुए मकराकृत-कुण्डलोंके हिलनेसे अतिशय-प्रकाशमान-स्वच्छ कपोलों (गालों) के कारण बड़ाही मनोहर जान पड़ता है ।' इत्यादि वचनोंके द्वारा-साकार-भगवान्का ध्यान कहा गया है । उसके बाद उस परम-प्रेमास्पद-साकार ब्रह्ममें भी स्वात्मभाव करके-'वही मैं हूं, उससे थोड़ा भी पृथक् नहीं हूं' ऐसा—'मुनि, मुझ भगवान्से अभिन्न एक ही आत्माका चिन्तन करे ।' इस न्यायसे उस भगवान्का अभेदभावसे निरन्तर ध्यान करे । उसमें मनको सभी प्रकारसे सम-

* यस्य शौचेन = क्षालनेन, निःसृतायाः सरित्प्रवरायाः गंगाया उदकेन तीर्थेन = संसारतारकेण, मूर्ध्नि-अधिकृतेन = धृतेन शिवोऽपि भगवान् शिवोऽभूत् = अत्यधिकं सुखं प्राप्तेत्यर्थः । ध्यातुर्मनसि यः शमलशैलः = पापपर्वतः, तस्मिन्निसृष्टं = क्षिप्तं वज्रमिव यत् । यद्वा शमलशैले निःसृष्टं स्वलांछनरूपं वज्रं येन तत् । एवमेव यच्चरणारविन्दं ध्यातुर्भक्तस्य मनोहस्तिनः स्ववर्त्मन्यानेतुमंकुशं स्वलांछनरूपं पादतले तादृशरेखात्मकं धत्ते, मनः-सरसीमलंकर्तुं कमलं, मनसे सर्वोत्कर्षसाम्राज्यं दातुं ध्वजं सर्वोत्कृष्टं यशो दातुं यवं, त्रिविधतापोपशमनाय छत्रं, सर्वतो रक्षणार्थं चक्रादिकमपि धत्ते, इत्यपि ज्ञेयम् । 'संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं, वज्रांकुशध्वजसरोरुहलांछनाढ्यम् ॥' (भा० ३ । २८ । २१) इत्युक्तत्वात् ।

'ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत् स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो र्भक्त्याऽऽर्द्रयाऽर्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ॥
(भा० ३ । २८ । ३३) अयमर्थः — विष्णोः स्वेष्टदेवस्य प्रहसितं = उच्चैर्हसितं ध्यायेत् । कीदृशं ध्यानायनं = अतिसुन्दरतया प्रयत्नं विनैव ध्यानस्य विषयभूतम् , सौन्दर्यमेवाह—बहुलया = अधिकयाऽधरोष्ठस्य भासा = कान्त्याऽरुणीभूतास्तनवः = लघवः,द्विजाः = दन्ता एव शुक्लवर्णकुन्दपुष्पमुकुलानि तेषां पंक्तिः स्फुरति यस्मिंस्तत । देहकुहरे = हृदयाकाशेऽवसितस्य = स्वात्मभावेन ज्ञातस्य प्रेमरसेनार्द्रया भक्त्या = अनन्यप्रीत्या तस्मिन्नेव मनोहरे साकारविग्रहे अर्पितमनाः स्यात् । तं साकारविग्रहमपि न पृथक् दिदृक्षेत् = स्वात्मभिन्नं द्रष्टुं नेच्छेत् । अहंभावनया समर्पितं चित्तं ततो नान्यत्र विचालयेदित्यर्थः ।

यथा कृष्णप्रेयसी श्रीराधा परमया भक्त्या प्रेयांसं श्रीकृष्णं श्यामसुन्दरमनुध्यायती तत्रैवार्पितमना सती श्रीकृष्णभावमापन्नाऽहमेव कृष्णोऽस्मीति ब्रुवाणा स्वसखीः पृच्छति स्म 'सा राधा क्व गतेति । एवं गोपस्त्रियो-

र्पित कर दे, यही बात उस तृतीय स्कन्धमें भी कहते हैं—'अत्यन्त प्रेमार्द्र भावसे अपने हृदयमें विराजमान श्रीहरिके खिल-खिलाकर हंसनेका ध्यान करें, जो वस्तुतः ध्यानके ही योग्य है, तथा जिसमें ऊपर और नीचेके दोनों होठोंकी अत्यधिक-अरुणकान्तिके कारण उनके कुन्दकलीके समान शुभ्र-छोटे-छोटे दान्तों पर लालोमा-सी प्रतीत होने लगी है, इसप्रकार साकार भगवान्के ध्यानमें मनको समर्पित करके तन्मय होकर उनके सिवा किसी अन्य पदार्थको देखनेकी इच्छा न करे, तथा अपने आत्माको भी उससे भिन्न देखनेकी इच्छा न करे, अर्थात् उस साकार भगवान्में भी अभेदभाव स्थापित करता हुआ उसका अहंभावसे, आत्मभावसे ध्यान करें।' यह अर्थ है—इष्टदेव विष्णुका खिल-खिलाकर हास्यका ध्यान करे । वह कैसा है ? अतिसुन्दर होनेसे प्रयत्नके विना ही ध्यानमें आजाता है । उसका सौन्दर्य कहते हैं—अधर-और ओष्ठकी अधिक लालकान्तिसे-छोटे-छोटे दान्त — जो शुक्लवर्णके मुकुलित-पुष्पके समान हैं — उनकी पंक्ति-लालिमा-सी प्रतीत होरही है । हृदयाकाशमें स्वात्मभावसे ज्ञात-भगवान्के मनोहर-साकार विग्रहमें-प्रेमरससे आर्द्र-अनन्य भक्तिसे मनको अर्पित करे । उस साकार विग्रहको भी अपने आत्मा से भिन्न देखनेकी इच्छा न करे । उसमें अहंभाव द्वारा समर्पित-चित्त उससे अन्यमें विचलित न होने दे ।

जैसे कृष्णप्रेयसी राधा, परमभक्तिसे प्रियतम-श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका ध्यान करती हुई-उसमें ही मनको समर्पित करती हुई - श्रीकृष्णभावको प्राप्त करती हुई 'मैं ही कृष्ण हूं' ऐसा बोलती हुई अपनी सखियोंसे पूछने लगी थी—कि-वह राधा कहां

ऽपि साकारमनोहरविग्रहेण प्रियतमेन कृष्णेन सह प्रेमध्यानेन तादात्म्यं प्राप्ताः अपृथग्दर्शना अभूवन्निति – 'ता मन्मनस्का मत्प्राणाः मदर्थे त्यक्तदैहिकाः। मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः॥' (भा० १०।४६।४) बल्लव्यो मे मदात्मिकाः।' (भा० १०।४६।६) 'लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः।' (भा० १०।३०।१४) 'कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः। (भा० १०।३०।१६) इत्यादिश्रीमद्भागवतवचनैरप्यवगम्यते। तथा च 'अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम्।' (भा० ३।१३।४६) 'ये त्वाऽनन्येन भावेन भावयन्त्यात्मभावनम्। (भा० ३।१५।६) 'लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित् पराभवः।' (भा० ३।१५।७) इत्यादिभिः अनन्यभावनया भजतां भक्तानां महत्फलं दर्शयति।

एवमपृथक्भावनया साकारे ब्रह्मणि तन्मयतां प्राप्तं चित्तं, उत्पुलकप्रेमबाष्पादिसात्त्विकभावोद्गमपुरस्सरं परमं प्रमोदमनुभवति। पश्चात् स एव करुणानिधि भक्तवत्सलो भगवान्-स्वभक्तस्य तादृशं चित्तं-'वशीकृते मन-

गई है। इसप्रकार गोपियां भी साकार मनोहर विग्रहवाले प्रियतम श्रीकृष्णके साथ–प्रेमपूर्ण–ध्यान द्वारा-तादात्म्य-भावको प्राप्त करतो हुई – अभिन्न दर्शन वाली बनी थीं। 'ऐसा गोपियोंका मन निरन्तर मुझमें ही लगा रहता है, उनके प्राण उनका जीवन, उनका सर्वस्व मैं ही हूं, मेरे लिये उन्होंने अपने शरीरके पति-पुत्र आदि - सभी सम्बन्धियोंको छोड़ दिया है, उन्होंने बुद्धिसे भी मुझीको अपना प्यारा - प्रियतम - आत्मा - अभिन्न स्वरूप ही मान रक्खा है।' 'गोपियां मुझमें ही तन्मय रहती हुई - मुझसे अभिन्न होगई हैं।' 'गोपियाँ भगवन्मय होकर भगवान्की विभिन्न लीलाओंका अनुसरण करने लगीं।' 'मित्रो ! 'मैं श्रीकृष्ण हूं' तुम लोग मेरी यह मनोहर चाल देखो।' इत्यादि श्रीमद्भागवतके वचनोंके द्वारा भी जाना जाता है। तथा च–'गुहाशय पर-आत्मा-भगवान् स्वयं, अनन्य दृष्टिसे भजनेवाले भक्तोंको अपनी परमगति-कैवल्यधाम प्रदान करते हैं।' 'समस्त जीवोंको आत्मभावसे जानने-मानने वाले-भगवान्का जो अनन्य-स्वात्मभावसे ध्यान करते हैं।' 'जिन भक्तोंने आपका अनुग्रह प्राप्त किया है, उनका किसीसे भी पराभव नहीं हो सकता।' इत्यादि वचनोंके द्वारा अनन्यभावनासे भजन चिन्तन करने वाले भक्तोंको महान् फल दिखाते हैं।

इसप्रकार अपृथक्-अनन्य अभेद-भावनासे साकार ब्रह्ममें तन्मयता प्राप्त करने वाला चित्त, रोमांच-प्रेमाश्रु-आदिसात्त्विक - भावोंके प्रादुर्भावपूर्वक परम प्रमोदका अनुभव करता है। पश्चात् वही करुणानिधि-भक्तवत्सल-भगवान्-अपने भक्तका वैसा

ध्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् । तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥' (वेदान्तकल्पतरुः) इतिन्यायेन साकारब्रह्मध्यानाद्वियोज्य, स्वस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं प्रत्यगभिन्नमद्वयं निर्गुणनिराकारं चित्सुखमात्रं पारमार्थिकं स्वरूपं साक्षात्कारयितुकामो ज्ञानयोगबलसमर्पणेन तत्रैव संयोजयति । तत्र संयुक्तं चित्तं 'हुतभुजि समर्पितं हविरिव' ध्यातृध्यानादित्रिपुटीभेदशून्यं भवत् चिन्मात्रतयैवावशिष्यते । ततो भगवदनुकम्पितः स ज्ञानयोगी भक्तोऽविद्यादिक्लेशशून्यं भेदत्रयवर्जितं स्वस्वरूपमधिगच्छन् जीवन्मुक्तो भवतीत्याह – चतुर्भिःश्लोकैः —— 'एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात् । औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानस्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ॥' मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः । आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥

चित्त - 'साकार ब्रह्मके ध्यानादि अभ्यास द्वारा जिनका मन वशमें-एकाग्र होजाता है, तब उसी ही मनमें उपाधियोंकी कल्पनासे रहित-साक्षात्-निर्विशेष-निराकार ब्रह्मका प्राकटच होजाता है ।' इस न्यायसे साकार-ब्रह्मध्यानसे अलग करके-अपना-जो नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वरूप-प्रत्यगात्मासे अभिन्न-अद्वय - निर्गुण निराकार - चित्सुखमात्र-पारमार्थिक स्वरूप है—उसकी साक्षात्कार करानेकीं इच्छा रखता हुआ--ज्ञानयोगके बल समर्पण द्वारा-उसीही स्वरूपमें लगा देता है । उसमें संयुक्त हुआ चित्त-'अग्निमें समर्पित घृतादि हविकी तरह' ध्याता ध्यानादि त्रिपुटीभेदसे रहित हुआ--चिन्मात्ररूप से ही अवशिष्ट रहता है । इसके बाद-भगवान्से अनुग्रहित हुआ वह ज्ञानयोगी भक्त अविद्यादि क्लेशशून्य-भेदत्रय वर्जित-स्वरूपको प्राप्त करता हुआ-जीवन्मुक्त होजाता है-यही बात चारश्लोकोंके द्वारा कहते हैं– 'इसप्रकारके अनन्य—स्वात्मभावमय ध्यानके अभ्याससे साधकका श्रीहरिमें परमप्रेम होजाता है, उसका हृदय भक्तिसे द्रवित हो जाता है, शरीरमें आनन्दातिरेकके कारण रोमांच होने लगता है, उत्कण्ठ जनित प्रेमाश्रुओंकी धारासे वह बारम्बार अपने शरीरको नहलाता है, और फिर मछली पकड़नेके कांटेके समान श्रीहरिको अपनी ओर आकर्षित करनेके साधनरूप अपने चित्त को भी धीरे—धीरे उस साकार—ध्येय वस्तुसे हटा लेता है । जैसे तेल आदि समाप्त होजाने पर दीपशिखा अपने कारणरूप—तेजस्—तत्त्वमें लीन होजाती है, वैसेही आश्रय, विषय और रागसे रहित होकर मन शान्त—अद्वय—अखंड—ब्रह्माकार होजाता है । इस अवस्थाके प्राप्त होने पर जीवात्मा, गुण प्रवाहरूप—देहादि-उपाधिके निवृत्त होजानेके कारण, ध्याता ध्येय आदि त्रिपुटी-विभागसे रहित-एक-अखण्ड—परात्माको ही सर्वत्र-अभिन्न-अनुगत देखता है । ब्रह्मभावरूप योगाभ्याससे प्राप्त हुई चित्तकी इस अधिकार-रहित-लयरूप निवृत्तिसे अपनी सुखदुःखादि द्वन्द्वरहित-अद्वय-ब्रह्मरूप - महिमामें

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयो र्यत् स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥
देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥' (भा० ३ । २८ । ३४-३५-३६-३७)। अयमर्थः — एवं = अपृथग्भावनामयध्यान-मार्गेण हरौ = मधुरतमे मनोहारिणि प्रतिलब्धभावः = प्रति-देहादिप्रातिकूल्येन सच्चित्सुखात्मना लब्धः = प्राप्तः भावः = तादात्म्यभावो येन तथा भक्त्या अनन्यप्रेम्णा, द्रवद्धृदय यस्य, प्रमोदादुद्गतानि-पुलकानि यस्य, औत्कण्ठ्य-प्रवृत्तय-अश्रुकलया मुहुरर्द्यमानः = माधुर्यानन्दसागरे निमज्जमानोऽपि यद्यपि भवति भक्तः, तथापि तस्य साकारमात्रनिष्ठस्य तत्-चित्तबडिशं शनकैः निरा-कारेऽद्वये ब्रह्मणि प्रसञ्जयितु ततो ध्येयाद्वियुंक्ते = वियोजयति भगवानिति-शेषः । यतोऽस्य मधुरतमे साकारे भगवति संलग्नमपि चित्तं बडिशमिवाश्म-सारमयतया लीयमानं न भवति, अतस्तस्य स्वयंज्योतिःप्रकाशरूपे निराकारे ब्रह्मणि विलयायार्थतः सबीजसमाधेः प्रचाव्य निर्बीजसमाधिलाभाय तादृशं

अवस्थित होकर परमात्म-तत्त्वका साक्षात्कार कर लेने पर वह ज्ञानयोगी—जिस सुख—दुःखादिके भोक्तृत्वको प्रथम अज्ञानवश अपने स्वरूपमें देखता था, उसे अब अविद्या—कृत-अहंकारमें ही देखता है । जिसप्रकार मदिराके मदसे मतवाले पुरुषको अपनी कमरपर लपटे हुए वस्त्रके रहने या गिरने की कुछ भी सुधि नहीं रहती, उसीप्रकार तुरीयावस्थाको प्राप्त हुए - सिद्ध - पुरुषको भी अपनी देहके बैठने - उठने अथवा प्रारब्धवश कहीं जाने या लौट आनेके विषयमें कुछभी ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि - वह अपने परमानन्दपूर्ण - अद्वय - ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थित होगया है ।'

यह अर्थ है -- इसप्रकार - अपृथक्-भावनाप्रचुरध्यानमार्गसे मधुरतम मनोहारी श्रीहरिमें देह दिसे प्रतिकूल - सच्चित्सुखरूपसे तादात्म्यभाव प्राप्त किया है, तथा अनन्यप्रेमसे हृदय द्रवित हुआ है, प्रमोदसे रोमाञ्च हुए हैं, उत्कण्ठासे प्रवृत्त-अश्रुबिन्दुओंसे वह माधुर्यानन्द सागरमें निमज्यमान यद्यपि होगया है । तथापि उस एकमात्र साकारस्वरूपमें ही निष्ठा रखनेवाले भक्तका चित्तरूपी लोहेका कांटा - धीरे धीरे वह भगवान् , अपने - निराकार - अद्वय - ब्रह्मस्वरूपमें लगानेके लिए उस ध्येय - साकारस्वरूपसे हटा देता है। क्योंकि - इस भक्तका मधुरतम साकार भगवान्में लगा हुआ चित्त भी बडिश - लोहेके कांटेके समान - पाषाणका सारस्वरूप लोहमय होनेके कारण विलीन नहीं होता है। इसलिये - उस चित्तबडिशका - स्वयं-ज्योतिः - प्रकाशस्वरूप - निराकार - ब्रह्ममें विलय करनेके लिए - अर्थात् - सबीज समाधिसे हटाकर निर्बीजसमाधिके लाभके लिये - वैसाचित्त - उस साकारध्यानसेभी

चित्तं ततोऽपि शनैः शनै र्निवर्तयतीति भावः । अत एवोक्तं भगवता पतञ्जलिनापि—'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजसमाधिः।' (यो० द० १।५१) तस्य सावलम्बनभूतस्य सबीजस्य निरोधे = प्रविलये सति, सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयात्' नेतिनेतीति पर्युदसनाच्च, निरालम्बनभूतो निर्वीजः समाधिराविर्भवति । तथा च तस्य निराकाराद्वयब्रह्मनिष्ठनिर्बीजसमाधिमाह — यर्हि = यदा भगवत्कृपातो निर्बीजसमाधौ लब्धे सति, तस्य चित्तं निर्विषयं = निरालम्बं भवति, अत एव मुक्ताश्रयं = आश्रयवर्जितञ्च भवति, यतोऽस्य ध्येयसम्बन्धं विना ध्यातर्यवस्थानासंभवात् । न च पूर्ववच्छब्दादिर्विषयः स्यात्, यतस्तेभ्योऽपि विरक्तं भवति, अतोऽद्वयब्रह्मानन्दानुभवेन निर्वाणं = प्रविलयं ऋच्छति = वृत्तिरूपतां परित्यज्याखण्डब्रह्माकारेण परिणमत इत्यर्थः । यथा अर्चिः = ज्वाला, दीपकलिका, आश्रयविषयापगमे = तैलवर्तिपात्रादिराहित्ये सति महाभूतज्योतिरूपेण परिणमते, तथा । अत्र = अस्यां निर्बीजसमाधिलाभरूपदशायां, अव्यवधानं = ध्यातृध्येयविभागशून्यं स्वगतसजातीयविजातीयभेदत्रयवर्जितं एकं = अद्वयं, आत्मानं प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मानं, अन्वीक्षते = अनुगतमीक्षते, अर्थात् ततो नान्यद्भिन्नं किमपीक्षते । अत्र हेतुः-प्रतिनिवृत्तः = अपगतः-अद्वयब्रह्मज्ञानेन विध्वस्तः, गुणप्रवाह = गुण-

धीरे धीरे निवृत्त कराता है। इस लिए - भगवान् पतंजलिने भी योगशास्त्रमें कहा है कि - 'उस सबीजसमाधिका निरोध होनेपर समग्रत्रिपुटीभेदका भी निरास होजानेसे निर्बीज-निर्विकल्प समाधिका लाभ होता है।' सबीजसमाधिमें कुछ अवलम्बन होता है, उसका प्रविलय होने पर निखिलचित्तवृत्तियोंका भी अपने कारणमें प्रविलय होजानेसे और 'यह नहीं, यह नहीं' ऐसा द्वैतप्रपंचका भी निषेध हो जानेसे आलम्बनरहित-निर्बीज - समाधिका प्राकट्य होजाता है, तथा च — उसकी निराकार-अद्वय - निर्गुण - ब्रह्मनिष्ठ - निर्बीज - समाधि कहते हैं - जब भगवान् की कृपासे निर्बीजसमाधिका लाभ होजाने पर उसका चित्त, विषयरूप आलम्बनसे रहित होजाता है, इसलिए वह आश्रयसे भी रहित होजाता है। क्योंकि - इसका ध्येय सम्बन्ध विना ध्यातामें अवस्थान नहीं होसकता है। प्रथमकी तरह - शब्दादि विषय नहीं होगा, क्योंकि - उनसेभी वह विरक्त होता है। इसलिये अद्वय - ब्रह्मानन्दानुभवसे प्रविलय को प्राप्त होता है, वृत्तिरूपताका परित्यागकर अखण्ड-ब्रह्माकाररूपसे परिणत होता है, यह अर्थ है। जैसे शिखारूप - ज्वाला, तेल - बत्ति - पात्र - आदि से रहित होने पर महाभूत ज्योतिरूप से परिणत होती है, वैसे, इस निर्बीज - समाधि - लाभ - रूप दशा में ध्याता - ध्येयादि - विभाग से रहित, स्वगत-सजातीय - विजातीय भेद-त्रय वर्जित एक - अद्वय - प्रत्यगभिन्न - ब्रह्मात्माको अनुगतरूपसे देखता है, अर्थात्

अयात्मिकया मायया सह द्वैतप्रपञ्चरूपस्तत्प्रवाहो यस्य । सत्येवं श्रीमद्भागवते पञ्चमेऽपीत्थं प्रतिपादितम्– 'गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात् । यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन् शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम् ॥ पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् । (भा० ५ । ११ । ८) 'न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र ! विधूय मायां वयुनोदयेन । विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत् ॥ (भा० ५ । ११ । १५) । अयमर्थः — व्यसनाय = दुःखमयसंसाराय । क्षेमाय = मोक्षाय । नैर्गुण्यं = निर्गुणं अर्थात् मायागुणभूतद्वैतप्रपञ्चाभिमानित्वमेव संसारः, तद्राहित्यं कैवल्यम् । अथो इति कार्त्स्न्येन दृष्टान्तेन स्फुटयति-यथेति अन्यदा = घृतादिक्षये, स्वपदं = महाभूतात्मरूपं । अन्यत्र = अन्यदा अद्वयब्रह्मसाक्षात्कारसमये, तत्त्वं = अनारोपितं-अद्वयब्रह्मरूपं श्रयते = भजते-सेवते । तनुभृत् = देही वयुनोदयेन = अद्वयब्रह्मज्ञानोत्पत्त्या यावत्पर्यन्तं, मायां = त्रिगुणात्मिकां, विधूय = विध्वस्य. आत्मतत्त्वं = आत्मनः स्वस्य पारमार्थिकमद्वयस्वरूपं न वेद = न जानाति, तावत्पर्यन्तं, इह = गुणत्रयप्रवाहरूपे संसारे घटी

उससे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं देखता है । उसमें हेतु है - गुणत्रयात्मिका - माया के साथ द्वैत-प्रपंचरूप गुणप्रवाह—अद्वयब्रह्मज्ञानसे विध्वस्त होजाता है ।

ऐसा होने पर श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्धमें भी ऐसा प्रतिपादन किया है । 'विषयासक्त-मन जीवको संसार-सङ्कटमें डाल देता है, विषयहीन होने पर वही उसे शान्तिमय मोक्षपद प्राप्त करा देता है । जिस प्रकार घीसे भीगी हुई बत्तीको खानेवाले दीपकसे तो धुएंवाली शिखा निकलती रहती है, और जब घी समाप्त हो जाता है, तब वह अपने कारण अग्नितत्त्वमें लीन हो जाती है—उसी प्रकार विषय और कर्मोंमें आसक्त हुआ मन तरह-तरहकी वृत्तियोंका आश्रय लिये रहता है, और इनसे मुक्त होने पर वह-अपने तत्त्वमें लीन होजाता है । राजन् ! जबतक मनुष्य ज्ञानोदयके द्वारा इस मायाका तिरस्कार कर, सबकी आसक्ति छोड़कर तथा कामक्रोधादि छः शत्रुओंको जीतकर आत्मतत्त्वको नहीं जान लेता, तबतक वह इस लोकमें योंहि भटकता रहता है ।' यह अर्थ है व्यसन = यानी दुःखमय-संसार । क्षेम-यानी मोक्ष, नैर्गुण्य-यानी निर्गुण, अर्थात् मायाका गुणभूत द्वैतप्रपंचका अभिमानीपना ही संसार है, उससे रहित होना ही कैवल्य है,'अथो' इस पदसे पूर्णदृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं, - यथेति, अन्यदा-यानी घृतादिके क्षय होने पर, अपना स्वरूप जो महाभूत रूप है । अन्य समयमें अर्थात् अद्वय ब्रह्म-साक्षात्कारके समयमें, अनारोपित-अद्वय ब्रह्म-तत्त्वका सेवन करता है । तनुभृत्-यानी देहधारी, जबतक अद्वय ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिसे त्रिगुणात्मिका माया-का विध्वंस करके अपना पारमार्थिक अद्वय स्वरूपको नहीं जानता है,तबतक इस गुण-

यन्त्रवत् भ्रमतीत्यर्थः ।

न च सुषुप्त्युत्थित इव पुनः संसरतीत्याह – सोऽपि = स एव ज्ञानयोगी पुरुषः, तस्मिन्-महिम्नि = प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मरूपे सुखदुःखबाह्ये = सुखदुःखादिद्वन्द्ववर्जिते अवसितः = अवसानं निष्ठां प्राप्तः । कया ? । मनसो निवृत्त्या, चरमया = अविद्यारहितयेति सुषुप्ताद्विशेषः । तत्र ह्यविद्याऽस्ति, न त्वत्र तुरीयेऽद्वयब्रह्मानुभवे । अत्र हेतुः । एलया = ब्रह्माभ्यासकृतया विद्ययेत्यर्थः । नन्वेवमपि–सुखदुःखयोरात्मधर्मत्वे कुतो ब्रह्मैक्यं तत्राह–दुःखयोः = सुखदुःखयो र्हेतुत्वं = सुखदुःखहेतुशुभाशुभकर्मकर्तृत्वं भोक्तृत्वञ्च यत्पूर्वमासीदविद्यादशायां, अन्तःकरणरूपेऽहंकारे स्वात्मत्वाभिमानादात्मनि यन्मिथ्याभूतं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चासीत्, तदप्यसत्यविद्याकृते कर्तर्यहंकारे, विधत्ते = असदहंकारनिष्ठमेव पश्यतीत्यर्थः; यतः उपलब्धपरात्मकाष्ठः = अपरोक्षीकृताद्वयब्रह्मात्मतत्त्वः । तस्य जीवन्मुक्तिमाह-चरमः = तुरीयदशाऽऽपन्नः सिद्धः, देहमपि न विपश्यति, कुतः सुखदुःखे ? आसनादुत्थितं, उत्थाय तत्रैव स्थितं, ततो दैवस्य = प्रारब्धस्य वशात् पुनरप्युपेतं वा न विपश्यति । यतः स्वरूपं = अद्वयब्रह्मस्वरूपं, अध्यगमत् = प्राप्तः, यतो देहात्स्वरूपमध्यगमत्त

मय-प्रवाहरूप संसारमें घटीयंत्रकी तरह भ्रमण करता रहता है ।

सुषुप्तिसे उत्थित पुरुषकी तरह पुनः संसारका अनुभव नहीं करता है, यह कहते हैं–वही ज्ञानयोगी पुरुष, उस प्रत्यगभिन्न अद्वय ब्रह्मस्वरूपकी महिमामें निष्ठाको प्राप्त कर लेता है, किससे ? मनकी अविद्या रहित निवृत्तिसे । इस प्रकार सुषुप्तसे ज्ञानयोगीकी विशेषता है । उसमें अविद्या है. और इस अद्वय ब्रह्मानुभव रूप तुरीयमें अविद्या नहीं है । इसमें हेतु यह है । ब्रह्माभ्याससे सम्पादित विद्याके द्वारा अविद्या की निवृत्ति हो जाती है । शंका—सुख और दुःख आत्माका धर्म होने पर ब्रह्मैक्य कैसे होगा ? उस पर कहते हैं, प्रथम अविद्यादशामें सुख दुःखका हेतु शुभाशुभ कर्मों की कर्तृता और फल भोक्तृता थी, अर्थात् अन्तःकरणरूप अहंकारमें स्वात्मत्वके अभिमानसे आत्मामें जो मिथ्या कर्तृत्व-भोक्तृत्व था, उसे अविद्या कल्पित कर्ता अहंकारमें ही देखता है । क्योंकि-वह अद्वय ब्रह्मात्मत्त्वका अपरोक्ष अनुभव कर लेता है । उसकी जीवन्मुक्ति कहते हैं । तुरीय-दशाको प्राप्त हुआ सिद्ध ज्ञानयोगी देहको भी नहीं देखता है, तब देहके सुख दुःख कैसे देख सकता है ? प्रारब्धवशात् आसनसे उठा हुआ उठकर पुनः उसमें बैठा हुआ–देहको भी नहीं देखता है, क्योंकि-वह अद्वय ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होगया है । अथवा जिस देहके द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त हो गया है, उस देहको भी नहीं देखता है। विद्यमान—अर्थके अनुसन्धान न होनेमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे मदिराके मदसे

देहमिति वा। सतोऽप्यननुसंधाने दृष्टान्तः। वासः परिकृतं = कटितटे परिवेष्टितं स्थितं गतं वा मदिरामदेनांधो यथा न पश्यति।

तथा च यथोपनिषदादिषु भूयो-भूयोऽपृथक्त्वमनन्यत्वं प्रशस्यते, पृथक्त्वञ्च निन्द्यते। तथा चात्रोपनिषत्सारभूते श्रीमद्भागवतेऽपि-अपृथक्त्वस्य प्रत्यक्षादिभिरनधिगतस्य सर्वथाऽप्यबाधितस्य सप्रयोजनस्य च प्रशस्तये, बाधितमधिगतं निष्प्रयोजनञ्च पृथक्त्वं विनिन्दन्तः प्राहुर्ब्रह्ममुखेन भगवन्तो बादरायणाचार्याः—

यावत्पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ-
मायाबलं भगवतो जन ईश! पश्येत्।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत,
व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था॥

(भा० ३।६।६)

यावत् = यावत्पर्यन्तं, आत्मनः = इत्यत्र प्रतियोगित्वं पञ्चम्यर्थः, भगवत इत्यत्रानुयोगित्वं षष्ठ्यर्थः। अर्थात् आत्मप्रतियोगिकं भगवदनुयोगिकं,

अन्धा हुआ मानव—कमर में लपेटा हुआ वस्त्र रहा है, या गिर गया है—नहीं देखता है।

तथा च जैसे उपनिषदादिशास्त्रोंमें बार-बार अनन्यत्वकी प्रशंसाकी जाती है और पृथकत्वकी निन्दा की जाती है, वैसेही इस उपनिषदोंका साररूप श्रीमद्भागवतमें भी अपृथक्त्वकी – जो प्रत्यक्षादि से अनधिगत है, सर्वथा भी अबाधित है प्रयोजनयुक्त है – प्रशस्ति के लिए—बाधित-अधिगत-निष्प्रयोजन जो पृथक्त्व है उसकी निन्दा करते हुए ब्रह्माजीके मुख से भगवान् बादरायणाचार्य कहते हैं —

'हे स्वामिन्! जबतक मनुष्य इन्द्रिय और विषयरूपी मायाके प्रभावसे आपसे अपनेको भिन्न देखता है, तबतक उसके लिये इस संसारचक्रकी निवृत्ति नहीं होती। यद्यपि यह संसार मिथ्या है, तथापि कर्मफल भोगका क्षेत्र होनेके कारण अज्ञानवशात् उसे नानाप्रकार के दुःखोंमें डालता रहता है।'

यावत् = यानी जबतक 'आत्मनः' इस पदमें पंचमी विभक्तिका अर्थ प्रतियोगित्व है, 'भगवतः' इस पदमें षष्ठी विभक्तिका अनुयोगित्व अर्थ है, अर्थात् आत्मप्रतियोगिक-भगवदनुयोगिक, इस लोकमें सर्वत्र प्रसिद्ध – जो पृथक्त्व यानी भेद है अथवा 'भगवतः' इस पदमें पंचमी, 'आत्मनः' इस पदमें षष्ठी विभक्ति समझनी

इदं = लोके सर्वत्र प्रसिद्धं पृथक्त्वं = अन्यत्वं-भेदः । यद्वा भगवत इति पंचमी आत्मन इतिषष्ठी, अर्थात् भगवत्प्रतियोगिकमात्मानुयोगिकं पृथक्त्वम् । हे ईश ! अयमज्ञो जनः, पश्येत् = जानीयात्, अनुभवेत्, तावत् = तावत्पर्यन्तं, असौ = इयं सर्वानुभवसिद्धा संसृतिः = संसारः, न प्रतिसंक्रमेत् = नोपरमेत् । अर्थात् स्वस्य भगवतो भिन्नत्वं, भवतो भगवतः स्वस्माद्भिन्नत्वञ्च यावद् विजानाति, तावत्संसारदुःखं निवारयितुमयं न शक्नोति, यतोऽविद्ययैव भेद-भावः संसारश्चाविर्भवति । प्रत्यगभिन्नब्रह्मविद्यामन्तरेण तयोः कथमपि संक्षयो न भवति । कीदृशं पृथक्त्वं ? तत्र विशेषणमाह – इन्द्रियार्थमाया-बलं = इन्द्रियाणामर्थरूपा = शब्दादिविषयभूता एव प्रत्यक्षा माया, तस्याः बलं-वर्तते यस्मिन् तत् इति । संसृतिः कीदृशी ? इत्यपेक्षायामाह–क्रियार्था = कर्मफलरूपा, क्रियाणां-कर्मणां अर्थः = फलं यस्यां सेति । पुनः सा कीदृशी ? व्यर्था = मिथ्याभूता-पारमार्थिकसत्यत्वरहिता । अपि = तथापि सा दुःख-निवहं = जन्ममरणजरारोगादिविविधदुःखसमूहं वहति = प्रापयतीति ।

अज्ञाः भिन्नदर्शिनः संसारासक्ता जनाः संसारेऽस्मिन् एतादृशं भय-शोकप्रमादादिरूपं विविधं दुःखमनुभवन्तीत्याह-एतस्मिन्नेवाध्याये ☞ 'दैवेन ते

चाहिए अर्थात् भगवत्प्रतियोगिक आत्मानुयोगिक जो पृथक्त्व है, उसका – हे ईश्वर ! यह अज्ञानीजन जबतक अनुभव करता है, तबतक इस सर्वानुभव-सिद्ध संसारकी उपरति नहीं होती अर्थात् भगवान्से अपनी भिन्नता और अपने से आप भगवान्की भिन्नता को जब तक जानता है, तब तक यह संसार दुःखका निवारण करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता । क्योंकि – अविद्यासे भेदभाव और संसारका आविर्भाव होता है । प्रत्यगभिन्न-ब्रह्म-विद्या विना इन दोनोंका किसी भी प्रकार क्षय नहीं होता । पृथक्त्व कैसा है ? उसमें विशेषण कहते हैं – इन्द्रियोंके शब्दादि विषय-रूप ही प्रत्यक्ष माया है, उसका बल उसमें रहता है । संसार कैसा है ? ऐसी अपेक्षा होने पर कहते हैं — जिसमें कर्मों के फल हैं, पुनः वह कैसा है – पारमार्थिक सत्यत्व से रहित मिथ्याभूत है, तथापि वह जन्म-मरण जरा रोग आदि विविध दुःख समुदाय को प्राप्त कराता रहता है ।

अज्ञानी-भिन्नदर्शी-संसारासक्त जन इस संसारमें इसप्रकार भयशोक प्रमादादि रूप विविध दुःखका अनुभव करते हैं, यह इसी अध्यायमें कहते हैं — 'जो लोग सब प्रकारके अमंगलोंको नष्ट करने वाले आपके श्रवण-कीर्तनादि प्रसंगोंसे इन्द्रियोंको हटा कर, लेशमात्र-विषय - सुखके लिए दीन और मन ही मन लालायित होकर निरन्तर दुष्कर्मोंमें लगे रहते हैं, उन बेचारोंकी बुद्धि दैवने हर ली है । हे अच्युत! उरुक्रम ! इस प्रजाको भूख, प्यास, वात, पित्त, कफ, सर्दी, गर्मी, हवा और वर्षासे परस्पर

हृतधियो भवतः प्रसङ्गात्सर्वाशुभोपशमनाद् विमुखेन्द्रिया ये । कुर्वन्ति काम-सुखलेशलवाय दीना लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत् ॥ क्षुत्तृट्त्रिधातु-भिरिमा मुहुरर्द्यमानाः शीतोष्णवातवर्षैरितरेतराच्च । कामाग्निनाऽच्युतरुषा च सुदुर्भरेण सम्पश्यतो मन उरुक्रम ! सीदते मे ॥' (भा० ३ । ६ । ७–८) । अयमर्थः — दैवेन = जन्मान्तरसम्पादिताकुशलकर्मणा - संप्रत्यनिष्टफल-प्रदानसमर्थेन दुष्टप्रारब्धकर्मणा, ते जनाः, हृतधियः = नष्टविवेकमतयः, भवतः प्रसङ्गात् = श्रवणकीर्तनादिरूपात् - सर्वदुःखाद्यशुभनिवर्तकान् विमुखानीन्द्रि-याणि येषां ते । कामसुखस्य = क्षुद्रेन्द्रियकभोगतुच्छसुखस्य, यो लेशलवः, अत्यल्पक्षणिकपरिणामः, तस्मै, दीनाः = दैन्याभिभूताः, लोभेन = जैह्वशैश्न-वित्तादिभोगातितृष्णारूपेण, अभिभूतं = समाक्रान्तमत एव शास्त्रीयकल्याण-मार्गतश्च्यावितं मनो येषां ते तथा । शश्वत् = सर्वदा, अकुशलानि = अक्षेम करााणि चौर्यव्यभिचारादीनि, काम्यकर्माणि च कुर्वन्ति । तेषां अकुशलत्वमेव दर्शयति-क्षुच्च तृट् च त्रिधातवश्च = वातपित्तश्लेष्माणस्तैः, सुदुर्भरेण = दुःसहेनानलेन कामाग्निना, अच्युतया रुषा = अविच्छिन्नक्रोधेन चैवं भूतै-राध्यात्मिकैः संतापैः, शीतोष्णवातवर्षैराधिदैविकैः, इतरेतरात् = स्त्रीपुत्रशत्रु-मित्रादित इत्याधिभौतिकैः इमाः प्रजाः, देवदानवमानवादिरूपाः सर्वाः पीड्य-मानाः संपश्यतो मे = मम चतुर्मुखस्य ब्रह्मणो मनः सीदति = अहो कथमेषां

एक दूसरेसे तथा कामाग्नि और दुःसह क्रोधसे बार-बार कष्ट उठाते देखकर मेरा मन बड़ा खिन्न होता है ।' यह अर्थ है — दैव — यानी दुष्ट प्रारब्धकर्म, जो प्रथम जन्मा न्तरमें सम्पादित दुष्टकर्म था । अब अनिष्टफल देनेके लिए समर्थ होरहा है । उससे जिनकी विवेकमति नष्ट हो गई है, वे आपके समस्त दुःखादि अशुभ निर्वतक श्रवण-कीर्तनादिरूप आपके प्रसंगसे अपनी इन्द्रियोंको विमुख बनाते हैं, वे इन्द्रियोंका जो तुच्छ सुखभोग है, उसका अति अल्प-क्षणिक परिणामके लिए दीनतासे अभिभूत रहते हैं । जिह्वा, शिश्न, धन आदिके भोगोंकी अति तृष्णारूप लोभसे जिनका मन समाक्रान्त रहता है । इसलिए शास्त्रीय कल्याणमार्गसे भी प्रच्युत रहता है । इसलिए वे चोरी, व्यभिचारादि दुष्टकर्म तथा काम्यकर्म करते रहते हैं । उनकी अकुशलताका दर्शन कराते हैं — क्षुधा, तृषा, वात, पित्त और कफसे, दुःसह कामाग्निसे अविच्छिन्न क्रोधसे, ऐसे आध्यात्मिक सन्तापों द्वारा तथा शीत, उष्ण, वात, वर्षारूप आधिदैविक सन्तापों द्वारा स्त्री, पुत्र, शत्रु, मित्र आदि आधिभौतिक संतापोंद्वारा पीडित हुई ये देव, दानव, मानवादिरूप प्रजाको देखनेवाले मुझ चतुर्मुख ब्रह्माका मन खिन्न होता है, अहो ! इनका कैसे निस्तार-उद्धार होगा ? ऐसे । इसमें स्पष्ट ही संसारका दर्शन प्रदर्शित किया है ।

निस्तारो भवेदिति खिद्यते। इत्यत्र स्पष्टं संसृतिदर्शनं प्रदर्शितम्।

सत्येवं — संतापप्रचुरसंसृतिजनकाज्ञानजन्यं पृथक्त्वदर्शनमेव सर्व-विधानर्थहेतुतया हानायासकृत् शास्त्रेषु सर्वत्र विनिन्द्यतेऽर्थतः अपृथक्त्व-दर्शनमेव तत्र रुचिनिष्ठाजननाय भूयोभूयः स्तूयते इति। अतएव माण्डु-क्योपनिषत्कारिकासु बादरायणमुनेः प्रशिष्याः श्रीमद्भागवतप्रवक्तुः श्रीशुकस्य च शिष्याः श्रीशङ्करभगवत्पादस्य च परमगुरवो भगवन्तः श्रीगौडपादाचार्या अप्याहुः — 'जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते। नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम्॥ जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत् प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम्। भवि-ष्यद्वृत्त्या गौणं तन् मुख्यत्वं हि न युज्यते॥ (वैतथ्य प्रकरणे १३-१४)। अयमर्थः — जीवात्मनोः = जीवस्य परस्य चात्मनोऽनन्यत्वं = अपृथक्त्वं, अभेदेन = अभिन्नत्वोक्त्या, प्रशस्यते = स्तूयते, उपनिषदादिशास्त्रेण बाद-रायणादिमहर्षिभिश्च। यच्च नानात्वं = पृथक्त्वं सर्वप्राणिसाधारणं स्वाभा-विकमविद्याकृतं तिरस्कृतशास्त्ररहस्यैः कुतार्किकै र्विरचितं नानात्वदर्शनं निन्द्यते, तदेवं हि समञ्जसं = सरलावबोधं-समुचितं-न्याय्यमित्यर्थः। शास्त्रेण तावत् - 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।' (मु० ३।२।९)। 'य एवं

ऐसा होने पर सन्ताप प्रचुर संसारका जनक — जो अज्ञान है, उससे जन्य पृथक्त्वदर्शन ही सर्व प्रकारके अनर्थका हेतुभूत है। उसकी हानि-निवृत्तिके लिए उसकी बार-बार सभी शास्त्रोंमें निन्दा की गई है अर्थात् अपृथक्त्व दर्शनकी ही उसमें रुचि और निष्ठा उत्पन्न करानेके लिए बार-बार स्तुति की जाती है, इसलिए माण्डु-क्योपनिषद्की करिकाओंमें — बादरायणमुनिके प्रशिष्य, श्रीमद्भागवतके प्रवक्ता श्रीशुकके शिष्य श्रीशङ्करभगवत्पादके परमगुरु भगवान् श्रीगौडपादाचार्य भी कहते हैं—'अभेदभाव द्वारा जीवात्मा और परमात्माके अनन्यत्वकी प्रशंसा की जाती है। और नानात्वकी निन्दा की जाती है, यह समुचित ही है। उत्पत्तिसे प्रथम जीवात्मा और परमात्माका जो पृथक्त्व कहा गया है, वह भविष्यद् वृत्तिसे गौण ही है, वह मुख्य नहीं होसकता है।' यह अर्थ है — उपनिषदादि शास्त्रोंके द्वारा बादरायणादि-महर्षियोंसे जीवात्मा और परमात्माके अपृथक्त्व-अभिन्नत्वकी उक्ति द्वारा स्तुतिकी जाती है। और जो — सर्वप्राणी-साधारण-अविद्या कल्पित — जिन्होंने शास्त्र-रहस्यका तिरस्कार किया है—ऐसे कुतार्किकोंके द्वारा — प्रतिपादित — जो स्वाभाविक नानात्व दर्शन है, उसकी निन्दा की जाती है। वही समुचित है, सरलावबोधसे एवं न्यायसे युक्त है। शास्त्रके द्वारा जो कोई उस परब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। 'जो कोई इसप्रकार 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा जानता है, वह यह सर्वरूप हो जाता है' वहां दूसरा कोई नहीं है, तब उससे अन्य विभक्त कैसे देखेगा।' इत्यादि वाक्योंके

वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति ।' (बृ० १ । ४ । १०) । 'न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ।' (बृ० ४ । ३ । २३) इत्यादिभिर्वाक्यैरनन्यत्वं प्रशस्यते । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति ।' (क० उ० २ । १ । १०) 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति ।' (तै० २ । ७) 'द्वितीयाद्वै भयं भवति ।' (बृ० १ । ४ । २) । 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद ।' (बृ० १ । ४ । १०) 'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद ।' (बृ० २ । ४ । ६) इति च नानात्वं निन्द्यते । एवं बादरायणादिमहर्षिभिश्च – 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।' (गी० ७ । १९) । 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! ।' (गी० १३ । २) 'निष्किञ्चना ये मुनयः आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय । विषममतिर्न यत्र नृणां त्वमहमिति मम तवेति यदन्यत्र ॥' (भा० ६ । १६ । ४०-४१) 'यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते । मृण्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः ।' (भा० ६ । १६ । २२) 'ओतं प्रोतं पटवद् यत्र विश्वम् ।' (भा० ६ । ३ । १२) 'हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत् ।' (भा० २ । ८ । ५०)

द्वारा अनन्यत्वकी प्रशंसा की गई है — 'जो कोई इस अद्वय ब्रह्ममें भिन्नकी तरह देखता है, वह एक मृत्युसे दूसरी मृत्युको अर्थात् मृत्यु परम्पराको प्राप्त होता रहता है ।' 'जो कोई उस ब्रह्ममें थोड़ा भी भेदभाव करता है, उसे भय होता रहता है ।' 'द्वितीयसे अर्थात् आत्मभिन्नसे ही भय होता है ।' 'जो कोई आत्मासे भिन्न मान कर अन्य देवताकी उपासना करता है, अन्य वह है, अन्य मैं हूं, ऐसा जो मानता है, वह कुछ भी नहीं जानता है ।' 'ब्रह्म उसका तिरस्कार करे, जो आत्मासे ब्रह्मको अन्य जानता है ।' इस प्रकारके वचनोंके द्वारा नानात्वकी अर्थात् भेदभावकी निन्दा की गई है । इसप्रकार बादरायणादि महर्षियोंके द्वारा भी अभेदभावकी प्रशंसा, और भेदभावकी निन्दा की जाती है । जैसे— 'यह सब कुछ वासुदेव ही है, ऐसा जो जानता है, वह अतिदुर्लभ महात्मा है ।' 'हे भारत! सर्व क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ-आत्मा निश्चय से मैं ही हूं, यह जान ।' अपने पास कुछ भी संग्रह-परिग्रह नहीं रखने वाले, किसी भी वस्तुमें अहंता-ममता न करने वाले, आत्माराम सनकादि परमर्षि भी परम साम्य और मोक्ष प्राप्त करनेके लिए उसी भागवतधर्मका आश्रय लेते हैं । वह भागवतधर्म इतना शुद्ध है कि – उसमें सकामधर्मोंके समान मनुष्योंकी वह विषमबुद्धि नहीं होती कि 'यह मैं हूं, यह मेरा है, यह तू है और यह तेरा है ।' 'यह कार्यकारणरूप जगत् जिनसे उत्पन्न होता है, जिनमें स्थित है, और जिनमें लीन होता है, तथा जो मिट्टीकी वस्तुओंमें व्याप्त मृत्तिकाके समान सबमें ओतप्रोत हैं – उन विश्वाभिन्न परब्रह्मस्वरूप आपको मैं नमस्कार करता हूं ।'

भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां ।' (भा० ४ । ७ । ४६) । 'तद्भावभावमापन्न-स्ततोऽसौ परमात्मना । भवत्यभेदी भेदस्तु तस्याज्ञानकृतो भवेत् ॥' (वि०पु० ६ । ७ । ६५) 'अनाद्यविद्यया दृष्टे जीवे मरणजन्मनी । देहस्यात्मन्यहं बुद्ध्या मन्येते न हि तत्र ते । तन्निवृत्तौ स तद्ब्रह्म शुद्धं रूपविवर्जितम् ॥' (पाद्मे उत्तरखण्डे-कालिन्दीमाहात्म्ये) 'अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्विष्णुरित्येव चिन्तयेत् । ब्रह्मात्मनोर्यदेकत्वं स योगश्चोत्तमो मतः ॥' (गारुडे आचार-खण्डे ब्रह्मज्ञानप्रकरणे) 'आत्मानं द्विविधं प्राह परापरविभेदतः । परस्तु निर्गुणः प्रोक्तो ह्यहंकारयुतोऽपरः । तयोरभेदविज्ञानं योग इत्यभिधीयते ॥' नारदीये ३३तमाध्याये) 'सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् । वस्त्व-द्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम् ॥' (भा० १२ । १३ । १२) । इत्यादि-वाक्यैरनन्यत्वं प्रशस्यते । 'प्रसुप्त इव भिन्नदृक्' (भा० ४ । ६ । ३३) 'यतो भिन्नदृशां भयम्' (भा० ३ । २६ । ३७) 'तत्र मृषा स्पर्धन्ते पृथगभिमत्या ।' (भा० ६ । १६ । ३५) 'भ्रान्तदृष्टिभिरात्मापि तथैकोऽपि पृथक्-पृथक् ।'

"तन्तुओंमें पटके समान जिस अद्वय ब्रह्ममें यह विश्व ओत प्रोत है ।' विश्वसे व्यतिरिक्त - हरिसे यह मूर्तामूर्त – जगत् व्यतिरिक्त नहीं है (यद्यपि मिथ्या जगत्से अधिष्ठान श्रीहरि पृथक् होता है, तथापि अध्यारोपित जगत् अधिष्ठान श्रीहरिसे पृथक् नहीं होता, यह सिद्धान्त है) 'जो आत्मामें भूतोंको पृथक् देखने की इच्छा नहीं रखते हैं, वे महापुरुष हैं ।' परमात्मभावकी भावना प्राप्त करने वाला वह ज्ञान योगी परमात्मासे अभिन्न होजाता है, उसका भेद तो अज्ञान कल्पित ही है, जो अभेद ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है । 'अनादि अविद्याके द्वारा जीवमें जननमरण देखे गये हैं, देहकी अहं बुद्धिसे आत्मामें वे माने जाते हैं, वस्तुतः आत्मामें जन्ममरण नहीं रहते । क्योंकि—वह अजन्मा और अविनाशी है ।' देहमें अहंभावकी निवृत्ति होने पर वह जीवात्मा रूपरहित - शुद्ध ब्रह्म ही हो जाता है ।' 'मैं परब्रह्म हूं, ज्योतिस्वरूप विष्णु हूं, ऐसा ही चिन्तन करे, ब्रह्म और आत्माका जो एकत्व है, वही उत्तम योग माना गया है ।' 'पर और अपर - के भेदसे आत्मा दो प्रकारका कहा गया है, पर तो निर्गुण है, और अपर अहंकारसे युक्त है, इन दोनोंका अभेद—विज्ञान ही योग कहा गया है ।' 'श्रीमद्भागवत सर्ववेदान्तका सार है, ब्रह्म और— आत्माके एकत्वका बोधक है, उसमें अद्वितीय ब्रह्म वस्तुका प्रतिपादन किया गया है, जिसका एकमात्र कैवल्य - मोक्ष ही प्रयोजन है । 'इत्यादि वाक्योंके द्वारा अनन्यत्वकी प्रशंसा की गई है। 'स्वप्नदर्शी के समान वह अज्ञानी भिन्नदर्शी होता है ।' 'क्योंकि भिन्नदृष्टि वालोंको भय होता रहता है ।' 'उस एक आत्मामें भेदभावका अभिमान रखकरके ही मिथ्या स्पर्धा करते रहते हैं । 'तथा एक आत्मा भी भ्रान्त दृष्टियोंके द्वारा पृथक्

(वि०पु० २।१६।२६) 'विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥' (वि०पु० ६।७।९६) 'द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः।' (वि० पु० २। १४। ३१) इत्यादिभिश्च वाक्यैर्नानात्वं निन्द्यते। सेयं जीवात्मनोरनन्यत्वस्य प्रशंसा; तन्नानात्वस्य निन्दा, चाद्वैतस्य केवलस्य शास्त्रीयत्वे✽ द्वैतस्य चाशास्त्रीयत्वेऽङ्गीक्रियमाण एव संगच्छते। यास्तु द्वैतासक्तहृदयैः कुतार्किकैः परिकल्पिताः कुदृष्टयस्सन्ति, ताः अनृज्व्यो विचार्यमाणा न सम्यक्त्वं लभन्ते। नाप्येतादृशः शास्त्रानुग्रहोऽस्ति तासामित्यभिप्रायः।

ननु-श्रुतिभिरपि जीवपरमात्मनोः पृथक्त्वं प्रकीर्तितं कर्मकाण्डादौ। तत्र हि स्वर्गकामो ग्रामकामः पशुकामः पुत्रकाम आयुष्काम आरोग्यकामो ब्रह्मवर्चसकाम इत्यनेकशः कामभेदतः - इदंकामोऽदःकाम एतत्कर्म कुर्यादिति, तत्तत्कामनाभेदेन तत्तत्कर्म विहितमिति कर्मवाक्यानि कर्तृभोक्तृरूपजीवभेदमाश्रित्यैव प्रवृत्तानीत्यनपवदनीयमेतत्। तथा जीवेभ्यः पृथक्त्वेन परश्चैश्वर्यादियुक्तः प्रकीर्तितः कर्मकाण्डादौ-'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।' (ऋ० १०। १२१। १) इत्यादिमन्त्रवर्णैः; तत्र कथं कर्मज्ञान-

---

पृथक् दीखता है।' 'अज्ञान भेदका जनक है, उसका अभेद ज्ञान द्वारा आत्यन्तिक-नाश हो जाने पर आत्मा और ब्रह्मके अविद्यमान भेद को कौन करेगा ?।' द्वैतवादी मिथ्यादर्शी होते हैं।' इत्यादि वचनों द्वारा नानात्वकी निन्दा की जाती है। वही यह जीव और आत्माके अनन्यत्वकी प्रशंसा तथा उसके नानात्वकी निन्दा - केवल अद्वैत ही शास्त्र तात्पर्यका विषय है, और द्वैत शास्त्रतात्पर्यका विषय नहीं है, ऐसा मानने पर ही संगत होती है। द्वैतमें आसक्त हृदयवाले कुतार्किकोंसे परिकल्पित जो कुदृष्टियां हैं, वे विचार करने पर समीचीन सिद्ध नहीं होती हैं। उनमें ऐसा शास्त्रका अनुग्रह भी नहीं है, यह अभिप्राय है। शंका - कर्मकाण्डादिमें श्रुतियोंके द्वारा भी जीवात्मा और परमात्माका पृथक्त्व कहा गया है। उनमें स्वर्गकी कामनावाला,ग्रामकी कामनावाला, पशुकी कामनावाला, पुत्रकी कामनावाला, आयुष्यकी कामनावाला, आरोग्यकी कामनावाला, ब्रह्मवर्चसकी कामनावाला, ऐसे अनेक कामनाओंके भेदसे यह कामना वाला, वह कामनावाला, इस कर्मको करे, इस प्रकार उस-उस कामनाके भेदसे उस-उस कर्मका विधान किया गया है, इस प्रकार कर्मबोधक वाक्य कर्ता-भोक्ता रूप जीवोंके भेदका आश्रय करके ही प्रवृत हुए हैं, इसका अपलाप नहीं कर सकते। तथा कर्मकाण्डादिमें-'उसने पृथ्वी स्वर्ग और अन्तरिक्षको धारण किया, उस एक आनन्दरूप देवके लिये हम हवि समर्पण द्वारा उसकी उपासना करते हैं।'

✽ शास्त्रतात्पर्यविषयत्वे।

काण्डयोर्विरोधे ज्ञानकाण्डवाक्यार्थस्यैवैकत्वस्य सामञ्जस्यमवधार्यते । किञ्च ज्ञानकाण्डवाक्यान्यपि जीवात्मनोः पृथक्त्वाभिधायीनि विद्यन्ते । 'तरति शोकमात्मवित् ।' (छां० ७ । १ । ३) 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ।' (छां० ८ । ७ । १) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम् ।' (तै० २ । १) इत्यादीनि । न हि यः शोकतरणाभिलाषी स एव परमात्मेति युज्यते । न च यः परमात्मनोऽन्वेष्टा स एवान्वेष्टव्यः । नापि यो ब्रह्मविद्यया परं प्रेप्सते, स एव ब्रह्मेति । तदेवं श्रुतिभिरपि जीवात्मनोः पृथक्त्वं प्रकीर्तितमिति कथमेकत्वस्यैव सामञ्जस्यमिति ? ।

अत्र वदामः । प्रागुत्पत्तेः = उत्पत्त्यभिधाय्युपनिषद्वाक्येभ्यः पूर्वं, यज्जीवात्मनोः पृथक्त्वं प्रकीर्तितं, तन्न परमार्थतः न तात्पर्यतः, किं तर्हि गौणं = अमुख्यं-सोपाधिकं महाकाशघटाकाशादिभेदवत् । न हि वचनमात्रात्क्वचिदर्थस्य सिद्धिर्भवेत् । किन्तु तात्पर्यवतो वचनात् । अन्यथा – ओदनं पचतीति प्रयोगात् पाककाल एवौदननिष्पत्तिः प्रसज्येत । यथा तु तत्र भविष्यन्तीमोदननिष्पत्तिमाश्रित्य पचतीति गौणः प्रयोगः, तथाऽत्रापीति युक्तम् । न हि

इत्यादि मन्त्रोंके अक्षरों द्वारा जीवोंसे, ऐश्वर्यादिसे युक्त परमात्मा पृथक् रूपसे कहा गया है । इसप्रकार कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डका विरोध होने पर ज्ञानकण्डके वाक्योंका अर्थ एकत्व ही समीचीन है, ऐसा कैसे निश्चय कर सकते हैं, ? और ज्ञानकाण्ड के–'आत्मवेत्ता शोकका अतिक्रमण करता है ।' 'उसका अन्वेषण करना चाहिए उसकी विशेष जिज्ञासा रखनी चाहिए ।' 'ब्रह्मवेत्ता परब्रह्मको प्राप्त होता है' इत्यादिवाक्य भी जीव और परमात्माके पृथक्त्वका कथन करने वाले विद्यमान हैं । जो शोकके अतिक्रमणका अभिलाषी है, वही परमात्मा है, ऐसा नहीं संगत होता । और जो परमात्माका अन्वेषण करता है, वही अन्वेष्टव्य है, ऐसा भी नहीं होता, जो ब्रह्मविद्यासे परब्रह्म प्राप्तिकी इच्छा रखता है, वही ब्रह्म है, ऐसा समीचीन नहीं, इसप्रकार श्रुतियोंके द्वारा भी जीव और परमात्माका पृथक्त्व कहा गया है, तब एकत्व ही समीचीन है, ऐसा कैसे हो सकता है ?

ऐसी शंका होने पर हम समाधान कहते हैं–उत्पत्तिरूप अर्थके बोधक उपनिषद् वाक्योंसे प्रथम जो जीव और परमात्माका पृथक्त्व कहा गया है, वह परमार्थसे नहीं, तात्पर्यसे नहीं है । क्या है तब?। गौण है, अमुख्य है, सोपाधिक है, महाकाशघटाकाशादिके भेदकी तरह । वचनमात्रसे किसी अर्थकी सिद्धी नहीं होती, किन्तु तात्पर्यवाले वचनसे अर्थकी सिद्धी होती है । ऐसा न मानने पर 'ओदन (भात) पकाता है' इस वचनके प्रयोगसे पाक कालमें ही ओदनकी निष्पत्ति प्रसक्त होगी । जैसे उसमें भावी-ओदन निष्पत्तिका आश्रय करके पचति ऐसा गौण प्रयोग है, वैसे

महाकाशघटाकाशयो र्भेदो मुख्य एव भवति घटाकाशव्यवहारमात्रात्। परमार्थतः स्वाकाशस्य न भेदोऽस्ति, न चाकाशे भेदव्यवहारोऽस्ति वस्तुकृतो घटादिपरोपाधिकृतं द्वारमन्तरेण। तथा च तत्र घटाद्युपाधिकृत एव भेदव्यवहारो गौणो मन्तव्यो न मुख्यः।

ननु–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३ । १) 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः' (बृ० २ । १ । २०) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः' (तै० २ । १) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत'(छां० ३ । २ । ३) इत्यादि-उत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येषु जीवतत्संघातानामुत्पत्तिः श्रूयते । कर्मकाण्डादिवाक्येषु च जीवात्मभेदः प्रकीर्तित इत्युक्तम् । न। भेदवाक्यानामतत्परत्वात् । न हि भेदवाक्यानां कदाचिदपि मुख्यभेदार्थत्वमुपपद्यते । कर्मकाण्डे तावत् स्वाभाविकाविद्यावत्प्राणिभेददृष्ट्यनुवादेन कर्माणि विहितानि । तथा च फलार्थिनां फलसाधनत्वेन मुमुक्षूणामुपात्तदुरितक्षयार्थत्वेन च कर्माणि विदधच्छास्त्रं, न जीवात्मनोः पृथक्त्वेऽपि व्याप्रियते । वाक्यभेदप्रसङ्गात् । इह चोपनिषत्सूत्पत्तिप्रलयादिवाक्यैर्जीवपरमात्मनोरेकत्वमेव प्रतिपिपादयिषितम् । 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' (तै० २ । ८) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १ । ४ । १०) 'तत्त्वमसि' (छां० ६ । ८ । ७) इत्यादिश्रुति-

यहां भी गौण प्रयोग है, ऐसा मानना युक्तियुक्त है। महाकाश, घटाकाशका घटाकाशके व्यवहारको छोड़कर मुख्य भेद नहीं होता। परमार्थसे आकाशमें भेद नहीं है, घटादि अन्य उपाधिकृत द्वारके विना न भेद व्यवहार है। तथा च आकाशमें घटादि उपाधिसे ही गौण भेद व्यवहार मानना चाहिए, मुख्य नहीं।

शंका–'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं।' 'जैसे अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारियां।' 'इस उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ।' 'उसने इच्छा की, एक मैं–बहुत होजाऊं, अनेक रूपसे प्रकट होजाऊं, ऐसा संकल्प करके उसने तेजका सर्जन किया।' इत्यादि उत्पत्ति बोधक उपनिषद् वाक्योंमें जीवोंकी, उनके कार्यकरण संघातोंकी उत्पत्ति सुननेमें आती है। कर्मकाण्डादि–वाक्योंमें भी जीव परमात्माका भेद कहा है, ऐसा कहा। ऐसी शंका, ठीक नहीं। क्योंकि-भेदबोधक वाक्य कभी तत्पर नहीं होते, भेद वाक्योंकी कभी भी मुख्य-भेदार्थत्वकी उपपत्ति नहीं है। कर्मकाण्डमें स्वाभाविक-अविद्या वाले प्राणियोंकी भेद-दृष्टिके अनुवाद द्वारा कर्मोंका विधान किया गया है। तथा फलार्थियोंके लिए फलसाधनतारूप से, मुमुक्षुओंके लिए-प्राप्तपापोंके क्षय रूप प्रयोजनसे कर्मोंका विधान करता हुआ शास्त्र, जीव और परमात्माके पृथक्त्वमें भी व्यापार युक्त नहीं होता। क्योंकि– वाक्य भेदका प्रसङ्ग होजाता है। तथा इन उपनिषदोंमें उत्पत्ति प्रलयादि बोधक वाक्यों के द्वारा जीव और परमात्माका एकत्व

भ्यस्तदवगमात् । 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' (बृ० १ । ४ । १०) इति नानात्वापवादश्रुतिभ्यश्चेत्यावेदितम् । अत एवोत्पत्त्यादिभिरुपनिषत्स्वेकत्वं श्रुत्या प्रतिपिपादयिषितं भविष्यतीति भाविनीमेकत्ववृत्तिमाश्रित्याविद्यावल्लोकभेददृष्ट्यनुवादोऽन्यार्थत्वाद् गौण एवेत्यवधेयम् । 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादिष्वपि भाविनीमेकत्ववृत्तिमाश्रित्यैव गौणो लोकदृष्टिप्राप्तभेदानुवादः । न हि तन्मुख्यत्वं युज्यते । 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छां० ७ । २५ । २) 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुषः' (छां० ८ । १२ । ३) 'स एकः' (तै० २ । ८) इति चोपसंहारदर्शनात् ।

अथवाऽस्य श्लोकस्यौपनिषदोत्पत्तिवाक्यार्थनिर्धारणार्थपरतयैव व्याख्यानं कर्तव्यम् । कथम् ? यद्यपि 'तदैक्षत, तत्तेजोऽसृजत' (छां० ६ । २ । ३) इत्यादिश्रुत्या कार्यकरणसंघातोत्पत्तिः परस्य जीवात्मना प्रवेशश्चोपदिष्ट इव, ततश्च जीवात्मनोः पृथक्त्वमपि श्रुत्युक्तमिति भाति, तथापि भविष्यद्वृत्त्या गौणं तत् । न हि तन्मुख्यत्वं युज्यते । कुतः ? यदुत्पत्तेः प्राक् = उत्पत्तिवचनात् प्राक् 'एकमेवाद्वितीयम्' (छां० ६ । २ । १) इत्येकत्वं प्रकीर्तितम् । तदेव चैकत्वं, 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छां० ६ । ८ । ७) इति प्रति-

---

ही प्रतिपादन करनेके लिए इष्ट है । 'वही यह चिदात्मा इस मनुष्य शरीरमें है, वही यह आदित्य मण्डलमें है, दोनों एक अभिन्न ही हैं ।' 'मैं ब्रह्म हूं' 'वह तू है' इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा एकत्वका बोध होता है । 'वह अन्य है मैं अन्य हूं ऐसा जो मानता है, वह कुछ भी नहीं जानता है'' इस प्रकारकी नानात्वका निषेध करने वाली-श्रुतियोंसे भी आवेदित होता है । इसलिये उपनिषदोंमें उत्पत्ति आदियोंके द्वारा श्रुतिसे प्रतिपादन करनेके लिए इष्ट एकत्व होगा, ऐसी भाविनी-एकत्ववृत्तिका आश्रय करके अविद्यावाले लोगोंकी भेद दृष्टिका अनुवाद अन्यार्थक होनेके कारण, गौण ही है, ऐसा निश्चय करना चाहिए 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि वाक्योंमें भी भाविनी-एकत्ववृत्तिका आश्रय करके ही लोकदृष्टिसे प्राप्त भेदका अनुवाद गौण है, उसमें मुख्यता युक्त नहीं है । 'यह सब कुछ आत्मा ही है' 'पर ज्योतिको प्राप्त करके अपने स्वरूपसे जो अभिव्यक्त होता है वही उत्तम पुरुष है ।' 'वह एक ही है' इस प्रकारके उपसंहारके दर्शनसे एकत्व ही मुख्य रूपसे सिद्ध होता है'

अथवा इस गौडपादीय श्लोकका-उपनिषदोंके उत्पत्ति वाक्योंके अर्थ निर्धारण-प्रयोजनरूपसे व्याख्यान करना चाहिए । कैसे ? यद्यपि 'तदैक्षत' इत्यादि श्रुतिसे कार्यकरण संघात की उत्पत्ति, परमात्माका जीवात्मारूपसे प्रवेश, उपदिष्ट की तरह है, उससे जीवात्मा और परमात्माका पृथक्त्व भी श्रुत्युक्त है, ऐसा प्रतीत होता है ।

पादितं भविष्यतीति तां भविष्यद्वृत्तिमपेक्ष्यैव तज्जीवात्मनोः पृथक्त्ववचनं, न तत्परं भवितुमर्हति। तदेवमुपनिषत्स्वपि यत्र क्वचिद् गम्यमानं जीवात्मपृथक्त्वं तद्भाविनीमेकत्वप्रतिपत्तिमपेक्ष्यैव लोकदृष्ट्यनुवादेनोक्तं गौणमेवेति बोध्यम्। यथौदनं पचतीति प्रयोगे तण्डुलेष्वोदनशब्दप्रयोगस्तद्वदिति।

तस्माज्जीवानां तदुपाधिभूतकार्यकरणसंघातानां चोत्पत्तिः, 'आकाशात् घटाकाशोत्पत्तिवत् स्वप्नदृश्योत्पत्तिवच्च आविद्यक्येव न वास्तविकीत्युपपादेनेन सर्वेषां श्रुतिस्मृतिपुराणादिवचनानां साक्षात् परम्परया वा जीवब्रह्मैक्य एव तात्पर्यं प्रदर्शितम्। सत्येवं विनिश्चितेऽर्थे संसृतिहेतुतया विनिन्दितस्य तत्पृथक्त्वस्याभावसंपादनाय तज्जनकाज्ञानप्रहाणाय तदैक्यज्ञानलाभाय च मुमुक्षुभिर्भगवद्भक्तैः प्रयतनीयमिति विज्ञापितमित्यलमतिविस्तरेण।

तथापि भविष्यद् वृत्तिसे वह गौण ही है, उसमें मुख्यत्व युक्त नहीं है, किस कारण से? उत्पत्तिवचनसे प्रथम 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म था' ऐसा एकत्व कहा गया है, वही एकत्व 'वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है' ऐसा प्रतिपादित होगा, ऐसी भविष्यद् वृत्तिकी अपेक्षा करके उस जीव और परमात्माका पृथक्त्व वचन तत्पर नहीं हो सकता है। इस प्रकार उपनिषदोंमें भी जहां कहीं जीव और परमात्माका पृथक्त्व प्रतीयमान है, वह भावी-एकत्वकी प्रतिपत्तिकी अपेक्षा करके ही लोक दृष्टिके अनुवाद द्वारा गौण ही कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए, जैसे भात पकाता है, इस वचनमें चावलोंमें भात शब्दका प्रयोग गौण है, वैसे।

इसलिये जीवोंकी और उनकी उपाधिरूप-कार्यकरण संघातोंकी उत्पत्ति आकाशसे घटाकाश और घटकी उत्पत्तिकी तरह, स्वप्न दृश्य उत्पत्तिकी तरह, आविद्यकी ही है। वास्तविकी नहीं है, ऐसा युक्तियोंके द्वारा प्रतिपादन करने पर समग्र श्रुतिस्मृति-पुराणादि वचनोंका साक्षात् या परम्परासे जीव ब्रह्मकी एकतामें ही तात्पर्य प्रदर्शित किया है। ऐसा निश्चित अर्थ होने पर संसारके कारण रूपसे निन्दित, उस पृथक्त्वके अभावका सम्पादनके लिए, उसका जनक अज्ञानके नाशके लिए, तथा उसके एकत्व ज्ञानके लाभके लिये, भगवद्-भक्त मुमुक्षुओंको प्रयत्न करना चाहिए, एसा विज्ञापित किया है, अति विस्तारसे बस,।

—❀—

(निर्विशेषं निर्गुणं शुद्धमद्वयं ब्रह्म ज्ञानगम्यं परमं लक्ष्यं, सविशेषं सगुणं सृष्ट्यादिकर्तृ भक्तिलभ्यमीश्वरमवान्तरं लक्ष्यञ्च प्रतिपाद्य तल्लाभसाधननामभक्त्यादेः प्रतिपादनम्) ।

यतो जीवानां भेदाज्ञानाभ्यां बन्धः संपन्नः, अतो ब्रह्माभेदज्ञानेनैव संपद्यते मोक्षः । ज्ञानाज्ञानयोर्भेदाभेदयोश्च समानविषयत्वनियमात् । अतो भेदाभाववज्ज्ञानेनैव परमपुरुषार्थः कैवल्यं सिद्ध्यति । आत्मा हि परमार्थतो निर्विकल्पकज्ञानस्वरूपः । अतस्तस्मिन्नेवाज्ञानेनाज्ञानं तत्कार्यं नामरूपाद्यात्मकञ्च द्वैतमारोपितम् , अत एवारोपितयोर्द्वैताज्ञानयोः अधिष्ठानं तदेव परमद्वयं ब्रह्मात्मतत्त्वम् । अत एव भेदमोहनिरासोपलक्षितमभेदेन ज्ञायमानमद्वयामृतसुखचिन्मात्रमेव श्रीमद्भागवतविनिश्चितं परमं लक्ष्यम् । 'एकं समाधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ।' (भा० १ । ६ । ४२) इत्याद्युक्तत्वात् । अतः परमार्थतः समधिगम्यमेकत्वमेवास्ति, पृथक्त्वविकल्पस्त्वविद्ययैव । तथा चाविद्याप्रयोजितो भेदविकल्पो द्वैतप्रपञ्चसंज्ञको वस्तुशून्य एव भवति । 'अवस्तु-

(निर्विशेष, निर्गुण, शुद्ध, अद्वय, ब्रह्म, जो ज्ञानगम्य है, वह परमलक्ष्य है, सविशेष सगुण सृष्टिआदिका कर्ता भक्तिसे लभ्य जो ईश्वर है, वह अवान्तर लक्ष्य है, ऐसा प्रतिपादन करके उसके लाभके साधन-नामभक्ति रूपभक्ति आदिका प्रतिपादन) ।

क्योंकि– जीवोंको भेद और अज्ञानसे बन्धन प्राप्त हुआ है, इस लिये ब्रह्मके अभेद ज्ञानसे ही मोक्ष प्राप्त होता है, ज्ञान और अज्ञानका तथा भेद और अभेदका समान-विषयताका नियम है, इस लिए अभेद-भावके ज्ञानसे ही परमपुरुषार्थरूप कैवल्य मोक्ष सिद्ध होता है, परमार्थसे आत्मा निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप है, इस लिए उसमें ही अज्ञानसे अज्ञान तथा उसका कार्य - नामरूपात्मक द्वैतप्रपंच आरोपित हुआ है, इसलिए आरोपित द्वैत और अज्ञानका अधिष्ठान वही पर अद्वय ब्रह्मात्मतत्त्व है, इसलिए भेद और अज्ञानके निषेधसे उपलक्षित—अभेदसे ज्ञायमान-अद्वय, अमृत, सुख चिन्मात्र ही श्रीमद्भागवत द्वारा विनिश्चित परमलक्ष्य है' 'भेद और अज्ञानसे रहित हुआ मैं भीष्म, उस एक अद्वयको प्राप्त हो गया हूं ।' इत्यादि कहा गया है । अतः परमार्थसे जानने योग्य एकत्व ही है । पृथक्त्वका विकल्प तो अविद्यासे ही है, तथा च अविद्यासे प्रयोजित भेदका 'विकल्प वस्तुतः शून्य ही होता है ।' 'आत्मा किसीमें

त्वाद्विकल्पस्य' (भा० ७।१५।६३) '※ आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापाय-लक्षणः ।' (भा० ११ । २५ । २७) इत्याद्युक्तत्वात् । अतस्तस्य निरासोऽपि सुकरः संपद्यमानो भवति, अतस्तस्य परमलक्ष्यस्यारोहयोग्यतासंपादनाय तद-वान्तरलक्ष्यभूतस्य सविशेषब्रह्मणो निरूपणं विधाय तस्याराधनप्रकारमप्याह—

शश्वत्स्वरूपमहसैव निपीतभेदमोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै ।
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीलारासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय ॥
यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि, नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
ते नैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा, संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥

(भा० ३ । ९ । १४-१५)

स्वरूपमहसैव = स्वस्वरूपभूतचैतन्यप्रकाशेनैवाखण्डब्रह्माकारवृत्तिप्रति-

लीन नहीं होता, वह उपाधिरहित अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है। वह जगत्-विकल्पका और लयका अधिष्ठान एवं अन्तिम अवधि है' इत्यादि कहा गया है। इसलिए उस मिथ्या विकल्पका प्रतिषेधभी अनायाससे प्राप्त होता है। अतः उस परम-लक्ष्यमें आरूढ़ होनेकी योग्यताका सम्पादनके लिये उसके अवान्तर लक्ष्य रूप सविशेष ब्रह्मका निरूपण करके, उसके आराधनका प्रकार भी कहते हैं—

'आप सर्वदा अपने अद्वय-ब्रह्मस्वरूपके प्रकाशसे ही प्राणियोंके भेद भ्रमरूप-अज्ञानान्धकारका नाश करते रहते हैं, तथा पूर्ण ज्ञानके अधिष्ठान साक्षात् परम पुरुष हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूं। संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके निमित्तसे जो मायाकी लीला होती है, वह आपका ही खेल है, अतः आप परमेश्वरको मैं बार-बार नमस्कार करता हूं। जो लोग प्राणत्याग करते समय, आपके अवतार गुण और कर्मोंको सूचित करने वाले देवकीनन्दन, जनार्दन कंसनिकन्दन, आदि नामोंका विवश होकर भी उच्चारण करते हैं, वे अनेकों जन्मोंके पापोंसे तत्काल छूटकर मायादि-आवरणोंसे रहित अद्वय ब्रह्मपद प्राप्त करते हैं। आप नित्य - अजन्मा हैं, मैं आपकी शरण लेता हूं।'

'स्वरूपमहसैव' = यानी अखण्ड-ब्रह्माकार वृत्तिमें प्रतिबिम्बित स्वस्वरूप

※ केवलः = अद्वयः, आत्मस्थः = स्वमहिम्नि स्थितः, सकलद्वैतप्रपंचाधा-रोऽपि स्वयमनाधार इतियावत् । विकल्पापायलक्षणः = विकल्पस्य द्वैतप्रपंचस्या-पायेन = निषेधेन, लक्ष्यते = निषेधशेषतयोपलक्ष्यत इतियावत् । 'निषेधशेषो जयतात् अशेष' (भा० ८ । ३ । २४) इति प्रामाण्यात् ।

फलितेन, शश्वत् = सर्वदा, निपीतभेदमोहाय = निरस्तभेदमोहाय, अत्र मोहो भेदकारणमज्ञानमेव । 'यावन्मोहस्तु भेदः स्याज्जीवस्य च परस्य च ।' 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः ।' इतिपुराणवचनसुरेश्वराचार्य-वार्तिकादावपि मोहशब्दोऽज्ञानार्थे प्रयुक्त उपलभ्यते । 'अहं ममेत्यसद्भावं दे ादौ मोहजं त्यजेत् ।' (भा० ७ । ७ । २०) इत्यादौ च श्रीमद्भागवतेऽपि ।

इदमत्र विज्ञेयं — वृत्तिरूपं ब्रह्मज्ञानं नाज्ञानतन्मूलद्वैतप्रपञ्चनिवर्तकम्, तमोभूतस्याज्ञानस्य प्रकाशनिवर्त्यत्वनियमेन जडरूपवृत्तिनिवर्त्यत्वायोगात् । किन्तु अखण्डब्रह्माकारवृत्त्यारूढचैतन्यप्रकाश एव तन्निवर्तकः, स्वरूपेण तस्याज्ञानादिसाक्षितया तदनिवर्तकत्वेऽप्यखण्डाकारवृत्त्युपारूढस्य तस्य तन्निवर्तकत्वोपपत्तेः । तदुक्तमभियुक्तैरपि—'तृणादे र्भासिकाऽप्येषा सूर्यदीप्तिस्तृणं दहेत् । सूर्यकान्तमुपारुह्य तन्न्यायं तत्र योजयत् ।।' एवं च यथा क्वचित् काष्ठमुपारुह्य ग्रामनगरादिकं दहन् वह्निर्दहत्येव तदपि काष्ठम् तथा च चरमवृत्तिमुपारुह्य निखिलप्रपञ्चमुन्मूलयन्नखण्डचैतन्यप्रकाशस्तन्निवर्तनेऽपि प्रकल्पते इति न तन्नाशे काचिदनुपपत्तिरिति । सत्येवं केवलोऽद्वयश्चैतन्यप्रकाश एव

भूत चैतन्य प्रकाशसे ही जिसमें भेद और मोहका सर्वदा निरास होता है, यहां भेदका कारण अज्ञान ही मोह है। 'जबतक मोह है, तबतक जीवात्मा और परमात्माका भेद है,' मोहकी निवृत्ति ही ज्ञातत्वसे उपलक्षित आत्माका स्वरूप है ।' ऐसे पुराण वचनमें और सुरेश्वराचार्यके वार्तिक आदिमें भी मोह शब्द अज्ञान अर्थमें प्रयुक्त हुआ उपलब्ध होता है । 'शरीर आदिमें अज्ञानके कारण जो मैं और मेरेका झूठा भाव हो रहा है, उसे छोड़ दें' इत्यादि श्रीमद्भागवतमें भी मोह शब्द अज्ञानार्थमें प्रयुक्त हुआ है ।

यहां यह जानना चाहिए – वृत्तिरूप ब्रह्मका ज्ञान, अज्ञान और अज्ञान मूलक द्वैत प्रपंचका निवर्तक नहीं है, तमरूप अज्ञान नियमसे प्रकाशसे निवर्त्य होता है, इसलिए जड़वृत्तिसे निवर्त्य नहीं हो सकता, किन्तु अखण्ड ब्रह्माकार वृत्तिमें आरूढ़ चैतन्य प्रकाश ही उसका निवर्तक है, स्वरूपसे चैतन्यप्रकाश, अज्ञानादिका साक्षी है, इसलिए उसका निवर्तक न होने पर भी अखण्डाकार वृत्तिमें उपारूढ़ उस प्रकाशसे उसकी निवर्तकता हो सकती है। यह शिष्ट पुरुषोंने कहा भी है- 'यद्यपि सूर्यका प्रकाश, तृणादियोंका भासक है, तथापि सूर्यकान्त-मणिमें आरूढ़ हो कर तृणको जलाता है, वह न्याय, उसमें जोड़ना चाहिए । 'इसप्रकार जैसे किसी काष्ठमें आरुढ़ अग्नि, ग्राम नगर आदिको जलाती हुई उस काष्टको भी जलाती ही है। वैसे अन्तिम वृत्तिमें आरूढ़-अखण्ड चैतन्य-प्रकाश निखिल-द्वैतप्रपंचका उन्मूलन करता हुआ उस वृत्तिके निवारणमें भी समर्थ होता है, इसलिए उसके नाश होनेमें कोई

बाधावधित्वेन परिशिष्यते।

पुनश्च बोध एव = चैतन्यप्रकाश एव धिषणा = आश्रयः-अधिष्ठानं भेदमोहयोरितिशेषः। अत एव तयोरध्यारोपः, चैतन्यप्रकाशेन तदपवादोऽपि। 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चः प्रपञ्च्यते।' इति सत्संप्रदायोक्तत्वात्। अत एव सामान्यचैतन्यं, तदारोपप्रयोजकं, विशेषचैतन्यञ्च तदपवादप्रयोजकमिति केवलाद्वैतवेदान्तप्रवीणाः प्राहुः।

अत एव परस्मै = द्वैतप्रपञ्चातीताय निर्विशेषायाद्वयाय, नमः = सर्वदा तदनुसन्धानपरो भवामीति यावत्।

संप्रत्याराधनाय सविशेषं सगुणं ब्रह्म वर्णयन्नाह — विश्वोद्भवस्थितिलयेषु = निमित्तभूता-कारणभूता या माया, अज्ञानं, तस्या या लीला = द्वैतप्रपञ्चविलासः, तया रासः = क्रीडा यस्य ते = तुभ्यं इदं-नमो-नमनं-आराधनलक्षणं, चकृम = कृतवन्तो वयम्।

मायया तद्विलासभूतप्रपञ्चेन च सह रममाणोऽपि भगवान्, ताभ्यां सर्वदा व्यतिरिक्तो निर्लेपश्च वर्तते – इत्यप्याह – श्रीमद्भागवते-पञ्चमेऽपि — 'विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म ते, ह्यकर्तुरङ्गीकृतमप्यपावृतः। युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे, सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुतः॥' (भा० ५।१८।५)

अनुपपत्ति नहीं है। ऐसा मानने पर केवल अद्वय चैतन्य प्रकाश ही बाधकी अवधि रूपसे परिशिष्ट रहता है, और भेद और मोहका चैतन्य प्रकाश ही अधिष्ठान है, इसलिए इन दोनोंका चैतन्य प्रकाशमें ही अध्यारोप है, चैतन्य प्रकाशसे ही उसका अपवाद होता है, 'निष्प्रपंच ब्रह्म, अध्यारोप और अपवाद द्वारा सप्रपंच होता है' ऐसा सच्ची सम्प्रदायमें कहा गया है। इसलिए 'सामान्यचैतन्य अज्ञानसे द्वैतके आरोपका प्रयोजक है, और विशेषचैतन्य ज्ञानसे द्वैतके अपवादका प्रयोजक है' ऐसा केवलाद्वैतवेदान्तमें प्रवीण विद्वान् कहते हैं। इसलिए द्वैतप्रपंचसे अतीत निर्विशेष-अद्वय ब्रह्मके लिए नमस्कार है। नमः यानी सर्वदा उसके अनुसंधानमें मैं तत्पर होता हूं, यह है। अब आराधनाके लिए सविशेष सगुण ब्रह्मका वर्णन करते हुए कहते हैं— विश्वका उद्भव-स्थिति एवं लयमें कारण भूत जो माया-अज्ञान है, उसकी जो लीला है वही द्वैत-प्रपंचका विलास है, उस लीलाके द्वारा उसकी क्रीड़ा होती है, उसके लिए हम आराधनाका बोधक नमस्कार करते हैं।

मायाके तथा उसका विलासभूत प्रपंचके साथ रमण करता हुआ भी भगवान् इन दोनोंसे सर्वदा व्यतिरिक्त और निर्लेप ही है, ऐसा श्रीमद्भागवतके पंचम स्कन्धमें कहा है—'परमात्मन्! आप अकर्ता और मायाके आवरणसे रहित हैं, तो भी जगत्की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय ये आपके ही मायिककर्म माने गये हैं।

अयमर्थः — अकर्तुः = कर्तृत्वरहितस्य-कर्मशून्यस्य, ते = तव विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म = विश्वस्योत्पत्तिरक्षणविलयात्मकं कर्म, अङ्गीकृतं = अध्यारोपिततया वेदादिशास्त्रेण स्वीकृतं, न परमार्थतः निष्क्रिये कर्मसद्भावस्य समानसत्तया विरोधात् । वस्तुतः तस्याकर्तृत्वमुपपादयति-अपावृतः = पञ्चमीयमकर्तुर्विशेषणं अपगता = निरस्ता, आवृत् = मायिकमावरणं यस्मात्तादृशस्यापि तेऽङ्गीकृतमित्यन्वयः । यतः सर्वात्मनि कार्यकारणे = कार्यस्य द्वैतप्रपञ्चस्य विवर्तोपादानकारणभूते, यद्वा कार्यकारणोभयात्मके सृष्ट्यादिकर्तरि मायया कर्म युक्तम्, त्वयि तन्न चित्रम् = आश्चर्यकरम् । वस्तुतः = परमार्थतः, सर्वव्यतिरिक्ते = निखिलद्वैतप्रपञ्चातीते, निरुपाधावनावृतत्वमकर्तृत्वञ्च युक्तमेव ।

निर्विशेषशुद्धब्रह्मवर्णनानन्तरं सविशेषसगुणेश्वरवर्णनस्यायमभिप्रायः — तथाहि – 'प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः' (भा० ८ । ६ । ११) इत्यादि श्रीमद्भागवतवचनप्रामाण्यादपि 'प्रतिबिम्बो जीवः, बिम्बस्थानीय ईश्वरः, उभयानुस्यूतं शुद्धं ब्रह्मचैतन्यम् ।' इति सिद्धान्तो विनिर्णीतो भवति । तथा च भेदमोहाभ्यां युक्तस्य यावत्सर्वमुक्तिर्न स्यात्तावत् सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वसर्वे-

वह ठीक ही है, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । क्योंकि-सर्वात्मा रूपसे आप ही संपूर्ण कार्योंके कारण हैं और अपने शुद्ध स्वरूपमें वस्तुतः इस कार्यकारण द्वैतसे सर्वथा अतीत हैं ।'

यह अर्थ है-कर्तृत्व रहित कर्मशून्य आप भगवान्में विश्वकी उत्पत्ति रक्षण और विलय रूपकर्म वेदादिशास्त्र द्वारा अध्यारोपित रूपसे स्वीकार किया है, परमार्थसे नहीं, निष्क्रियमें कर्मका सद्भाव विरोध होनेसे समानसत्तारूपसे नही माना जाता । वस्तुतः उसके अकर्तृत्वका प्रतिपादन करते हैं । 'अपावृतः, यह पञ्चमी विभक्ति है, अकर्त्ताका विशेषण है, जिसमें मायाका आवरण निरस्त हो गया है, उस आपमें कर्म सद्भावका अङ्गीकार किया है । क्योंकि - आप सर्वात्मा हैं, द्वैतप्रपंचका विवर्त उपादान कारण हैं, अथवा कार्यकारण उभयरूप हैं, सृष्टि आदि कार्यके कर्ता हैं उस आपमें मायाके द्वारा कर्म युक्त हो सकता है, आपमें यह आश्चर्य की बात नहीं है, परमार्थसे आप निखिल द्वैत प्रपंचसे अतीत हैं । निरुपाधि हैं, उन आप में अनावृतत्व और अकर्तृत्व युक्त ही है ।

निर्विशेष शुद्ध ब्रह्मके वर्णनके बाद, सविशेष सगुण ब्रह्मके वर्णनका यह अभिप्राय है, 'जैसे मुखकी शोभा प्रतिबिम्बमें स्वतः होजाती है' इत्यादि श्रीमद्भागवतके वचनोंके प्रामाण्यसे भी जीव प्रतिबिम्ब है, बिम्बस्थानापन्न ईश्वर है, इन दोनोंमें अनुस्यूत शुद्ध ब्रह्म चैतन्य है, ऐसा सिद्धान्त-निर्णीत होता है । तथा च जबतक भेद–मोहसे युक्त

श्वरत्वसत्यकामत्वादिगुणकपरमेश्वरभावापत्तिरभ्युपगम्यते । यथा अनेकेषु दर्पणेषु एकस्य मुखस्य प्रतिबिम्बे सति, एकदर्पणापनये तत्प्रतिबिम्बो बिम्बभावेनावतिष्ठते, न तु मुखमात्ररूपेण, तदानीमपि दर्पणान्तरसन्निधानप्रयुक्तस्य मुखे बिम्बत्वस्यानपायात्, तथैकस्य ब्रह्मचैतन्यस्यानेकेषूपाधिषु प्रतिबिम्बे सति, एकस्मिन् प्रतिबिम्बे ब्रह्मविद्योदये तेन तदुपाधिविलये तत्प्रतिबिम्बस्य बिम्बभावेनावस्थानावश्यम्भावात् । न च मुक्तस्याविद्याऽभावात् सत्यकामत्वादिगुणविशिष्टसर्वेश्वरत्वानुपपत्तिः । तदविद्याऽभावेऽपि तदानीं बद्धपुरुषान्तराविद्यासत्त्वात् । न हीश्वरस्येश्वरत्वं सत्यकामादिगुणवैशिष्ट्यं च स्वाविद्याकृतम्, तस्य निरञ्जनत्वात्, किन्तु बद्धपुरुषाविद्याकृतमेव तत्सर्वमेष्टव्यम् ।

अत एव 'उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु' (ब्र०सू० १ । ३ । १९) इत्यस्य ब्रह्मसूत्रस्य शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमच्छङ्करभगवत्पादा अपि — 'तस्मादविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृत्वभोक्तृत्वरागद्वेषादिकलुषितमनेकानर्थयोगि, तद्विलयनेन तद्विपरीतमपहतपाप्मत्वादिगुणकं पारमेश्वरं रूपं

सर्वजीवोंकी मुक्ति नहीं होती, तबतक सर्वज्ञत्व - सर्वकर्तृत्व - सर्वेश्वरत्व - सत्यकामत्व आदि गुण वाला परमेश्वरका सद्भाव माना जाता है । जैसे — 'अनेक दर्पणों में एक मुखका प्रतिबिम्ब होने पर, एक दर्पणको हटा देने पर उसका प्रतिबिम्ब बिम्बभावसे स्थित रहता है, मुखमात्ररूपसे नहीं, उस समय भी अन्य दर्पणोंके सन्निधान प्रयुक्त मुखमें बिम्बपनेकी निवृत्ति नहीं होती है । वैसे एक ब्रह्म चैतन्य का अनेक उपाधियों में प्रतिबिम्ब होने पर, एक प्रतिबिम्बमें ब्रह्मविद्याका उदय होने से, उसकी उपाधिका विलय हो जाता है, उसका प्रतिबिम्ब बिम्बभावसे अवश्य ही अवस्थित रहता है । मुक्त पुरुषमें अविद्या न होनेके कारण सत्यकामत्वादि गुणों से विशिष्ट - सर्वेश्वरत्वकी अनुपपत्ति नहीं है, उस समय अपनी अविद्या न होने पर भी, अन्य बद्ध जीवों की अविद्याका सद्भाव रहता है, ईश्वर का ईश्वरत्व और सत्यकामादि-गुणोंका वैशिष्ट्य, अपनी अविद्याकृत नहीं है, क्योंकि - वह ईश्वर स्वतः निरंजन है, किन्तु बद्धपुरुषोंकी अविद्याकृत ही, वह सर्व है, यह मानना चाहिए ।

अत एव 'यदि उत्तर - वाक्यके संप्रसादशब्दसे जीवका प्रतिपादन है — ऐसा नहीं मानना चाहिये, क्योंकि - वह आविर्भूत - स्वरूप मुक्त - जीव है, इस ब्रह्मसूत्रके शारीरक - मीमांसा भाष्यमें श्रीमच्छंकरभगवत्पाद भी—'इसलिये अविद्या - कल्पित कर्तृत्व भोक्तृत्व - राग - द्वेष - आदिसे कलुषित - अनेक अनर्थोंका सम्बन्धी जीवका रूप मिथ्या है'— उसके विलय द्वारा, उससे विपरीत अपहतपाप्मत्वादि - गुणोंवाला परमेश्वरका रूप विद्याके द्वारा प्रतिपादित होता हैं' इसप्रकार मुक्त पुरुषोंमें सगुण

विद्यया प्रतिपाद्यते ।' इति सुस्पष्टं मुक्तस्य सगुणेश्वरभावापत्तिमाहुः ।

न च 'यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति ।' (छां० उ० । ३ । १४ । १) 'तं यथा यथोपासते' इत्यादिश्रुतिषु सगुणोपासकानामद्वयब्रह्मविद्यारहितानामपीश्वरसायुज्यश्रवणात्, मुक्तेः सगुणोपासनाफलेन सहाविशेषापत्तिः स्यादिति वाच्यम् । केवलसगुणोपासकानामखण्डब्रह्मसाक्षात्काराभावाद् नाविद्यानिवृत्तिः, न वा तन्मूलाहंकारादेर्विलयः, आवरणानिवृत्तेर्नाखण्डानन्दस्फुरणम् । 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।' (ब्र० सू० ४ । ४ । १७) 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' (ब्र०सू० ४ । ४ । २१) इत्यादिसूत्रोक्तन्यायेन तेषां परमेश्वरेण भोगसाम्येऽपि सङ्कल्पमात्रात् स्वभोगोपयुक्तदिव्यदेहेन्द्रियवनितादिसृष्टिसामर्थ्येऽपि सकलजगत्सृष्टिसंहारादिस्वातन्त्र्यलक्षणं न निरवग्रहमैश्वर्यम् । मुक्तानां तु निरसन्धिबन्धमीश्वरभावं प्राप्तानां तत्सर्वमिति महतो विशेषस्य सद्भावात् ।

अपि च परमेश्वरस्य तदवताराणाञ्च जन्मादिकमपि वस्तुतो नास्ति, किन्तु 'मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य' (भा० ११ । ३१ । ११) इति श्रीमद्-

ईश्वर - भावापत्ति अतिस्पष्ट कहते हैं 'इस लोकमें जैसी भावनावाला पुरुष होता है, मरनेके बाद वह वैसा ही होजाता है 'उसकी जिस-जिस भावनासे उपासना करते हैं' इत्यादि श्रुतियोंमें सगुण ब्रह्मके उपासक, जो अद्वैत ब्रह्मविद्यासे रहित हैं, उनकी भी ईश्वरकी सायुज्य - मुक्ति सुननेमें आती है, इसलिए सगुण-उपासनाके फलके साथ मुक्तिकी विशेषता कुछ भी नहीं रहेगी, समानता हो जायेगी, ऐसा नहीं कहना चाहिए । केवल सगुण ब्रह्मके उपासकोंको अखण्ड ब्रह्मका साक्षात्कार न होनेके कारण, उनकी अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती है । अविद्या मूलक - अहंकारादियोंका विलय भी नहीं होता है । आवरणकी निवृति न होनेसे अखण्डानन्दका स्फुरण भी नहीं होता । 'प्रकरणसे असन्निहित होनेसे जगत् व्यापारको छोड़कर' 'भोगमात्रकी समानताकी सूचनासे' इत्यादि सूत्रोक्तन्याय द्वारा उन सगुणोपासकोंका परमेश्वरके साथ भोगोंकी समानता होने पर भी संकल्पमात्रसे स्वभोगके उपयोगी दिव्य देह, इन्द्रिय, वनिता, आदिकी सृष्टिका सामर्थ्य होने पर भी, सकल जगत्की सृष्टि संहारादिकी स्वतंत्रताका सूचक प्रतिबन्ध - रहित ऐश्वर्य नहीं है । मुक्त पुरुष बन्ध और प्रतिबन्ध-रहित ईश्वर भावको जो प्राप्त हुए हैं उनके लिए वह प्रतिबन्ध-रहित सब ऐश्वर्य प्राप्त होता है, इस प्रकार सगुणोपासक और मुक्त - पुरुषमें महान् विशेषका सद्भाव है ।

और भी वस्तुतः परमेश्वर और उसके अवतारोंका जन्मादि भी नहीं है, किन्तु जैसे 'नट अनेकों प्रकारके स्वांग बनाता है, परन्तु रहता है, उन सबसे निर्लेप

भागवतप्रामाण्यात्, नटवत् तदभिनयमात्रपरतयैव तत्प्रतिपाद्यते ।

एवं 'ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे ।' (भा० ११४।५४) इति श्रीमद्भागवतवचनानुरोधेनापि घटाकाशकल्पानां जीवानामपि परमार्थत उत्पत्त्यादिकं नास्ति । यथा घटादेरुत्पत्त्या प्रलयेन च घटाकाशादेरुत्पत्तिः प्रलयश्च मृषैव व्यवह्रियते—घटाकाश उत्पन्नो नष्टश्चेति । तथा देहाद्युपाधि-संघातस्योत्पत्त्या, प्रलयेन च जीवानामुत्पत्तिः प्रलयश्चारोप्यते, अतस्तेषां स्वत उत्पत्तिः प्रलयश्च नास्ति ।

ननु—तर्ह्युपाधिमूलकस्यापि जीवोत्पत्त्यादेरस्तु पारमार्थिकत्वम् ? इति चेन्मैवम् । यत उपाधीनामपि बाह्यानां पृथिव्यादिसंघातानामाध्यात्मिकानां कार्यकरणलक्षणानामप्युत्पत्त्यादिकं मृषैव वेदितव्यम् । यथा घटाकाशादि-दृष्टान्ते — आकाश एव हि वाय्वग्न्यप्पृथिव्यादिक्रमेण घटमणिकमल्लिका-दिभि र्जायमान इव विकल्प्यते, कारणादनन्यत्वात्कार्यस्य । 'कार्यकारणव-स्त्वैक्यदर्शनं पटतन्तुवत् ।' (भा० ७ । १५ । ६३) इति श्रीमद्भागवतस्मरणा-दपि कार्याणां कारणादव्यतिरेकोऽधिगम्यते । अतो जीवात्मनां तदुपाधीना-

और पृथक, वैसे ही भगवान्‌का मनुष्योंके समान जन्म लेना आदि उनकी मायाका कल्पना मय - विलास मात्र है' इस श्रीमद्भागवतके प्रामाण्यसे नटकी तरह उसका अभिनय मात्र रूपसे ही जन्मादिका प्रतिपादन किया है, इस प्रकार 'महाकाशमें घटाकाशके समान सर्वाधिष्ठान ब्रह्ममें क्षेत्रज्ञ आत्माको एक अभिन्न कर दिया' इस श्रीमद्भागवत वचनके अनुसार भी घटाकाशके सदृश जीवोंकी भी परमार्थसे उत्पत्ति आदि नहीं, जैसे घटादिकी उत्पत्तिसे और नाशसे, घटाकाश उत्पन्न हुआ घटाकाश नष्ट हुआ, ऐसा घटाकाशादिकी उत्पत्ति और प्रलयका मिथ्या ही व्यवहार होता है, वैसे देहाधिरूप - उपाधि - संघातकी उत्पत्ति और नाशसे जीवोंमें उत्पत्ति और प्रलयका आरोप किया जाता है। इसलिए उनकी-स्वत: उत्पत्ति और नाश नहीं है।

शंका—तब उपाधि है मूल-जिसके, ऐसे जीवोत्पत्ति आदिमें भी पारमार्थिक सत्यत्व हो, ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि-बाह्य पृथ्वी आदि संघातरूप उपा-धियोंका तथा आध्यत्मिक - कार्यकरण लक्षण - उपाधियोंका भी उत्पत्ति आदि मृषा ही समझना चाहिए। जैसे घटाकाशादि - दृष्टान्तमें, आकाश ही, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदिके क्रमसे घट, मणिक-(आचारका बड़ा पात्र - माण) मल्लिक आदि से जायमानकी तरह विकल्पित होता है, कारणसे कार्यकी अनन्यता होनेसे 'जैसे' वस्त्र, सूत्ररूप ही होता है, वैसे ही कार्य भी कारणमात्र ही है, भेद वास्तविक नहीं, इसप्रकार सबकी एकताका विचार भावाद्वैत है' इस श्रीमद्भागवतके स्मरणसे भी कारणसे कार्योंका अभेद जाना जाता है। इसलिए जीवोंके और उसकी उपाधियोंके

मपि जन्मलयादिकमपि विकल्पमात्रमेवास्ति, न वास्तविकम् । एवं कार्यस्य जगतः कारणेन ब्रह्मणाऽनन्यत्वं बोधयितुमेव जगतो जन्मादेरुपदेशो न परमार्थतो जन्मादिकमपि तस्यास्ति, अविद्याऽऽध्यारोपमन्तरेण । अतएव श्रीमद्भागवतेऽष्टमेऽपि-अजातवादसिद्धान्ताभिप्रायं ज्ञापयितुं चतुर्मुखेन ब्रह्मणा नमस्कारेण श्रीभगवान् इत्थं स्तुतः तथाहि 'ब्रह्मोवाच — 'अजातजन्मस्थितिसंयममायागुणाय निर्वाणसुखार्णवाय । अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने, महानुभावाय नमो नमस्ते ॥' (भा० ८ । ६ । ८) इति । भगवतो नित्यत्वापरिच्छिन्नत्वादिकं बोधयितुं वस्तुतो जन्मादिमपाकरोति – अजातजन्मस्थितिसंयमाय = न जाताः = प्रादुर्भूताः — जन्मस्थितिविलया यस्य तस्मै, यद्वा 'प्रसक्तं प्रतिषिध्यते' इतिन्यायेन भगवति स्वतो जन्मादिकं न प्रसक्तमतस्तत्प्रतिषेधोऽप्यनुपयुक्त एव प्रतिभाति, अतस्तत्र प्रकारान्तरेण जन्मादेः प्रसक्तिं विधाय तत्प्रतिषेधति-यथा घटाकाशै र्महान् आकाश उत्पन्नः स्थितो विलीनश्च, तथाऽयं परमात्माऽऽकाशवत् सर्वगतः सूक्ष्मोऽसंगोऽपि जीवात्मभिः स्वांशभूतैरप्युत्पन्नः स्थितो विलीनश्चेति व्यवहारोऽपि मृषैव, न पारमार्थिकः, अतो जीवात्मभिरपि यस्य जन्मादयो न जाताः सन्ति । एवं

जन्मलयादि भी विकल्पमात्र ही है, वास्तविक नहीं है, एवं कारण - ब्रह्मसे कार्य जगत्का अनन्यत्व बोधन करनेके लिए ही जगत्के जन्मादिकका उपदेश किया गया है, परमार्थसे अविद्याका अध्यारोप विना उसके जन्मादि नहीं हैं, इसलिये श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धमें भी अजातवाद - सिद्धान्तको ज्ञापित करनेके लिए चतुर्मुख ब्रह्माने नमस्कार द्वारा श्रीभगवान्की इसप्रकार स्तुति की थी, जैसे 'ब्रह्माजीने कहा-जो जन्म स्थिति और प्रलयसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते, प्राकृत गुणोंसे रहित एवं मोक्षस्वरूप परमानन्दके महान् समुद्र हैं, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हैं, और जिनका स्वरूप अनन्त है उन परमैश्वर्य - शाली प्रभुको हम लोग वार-वार नमस्कार करते हैं' भगवान्के नित्यत्व अपरिच्छिन्नत्व आदिके बोधन करनेके लिए वस्तुतः जन्मादिका निवारण करते हैं 'अजात जन्म - स्थिति - संयमाय' अर्थात् जिनके जन्म - स्थिति, विलय प्रादुर्भूत ही नहीं हुए हैं, अथवा 'प्रसक्त ही प्रतिषिद्ध होता है' इस न्यायसे भगवान्में स्वतः जन्मादिक प्रसक्त नहीं, इसलिए उसका प्रतिषेध भी अनुपयुक्त ही प्रतीत होता है, इसलिए उसमें अन्यप्रकारसे जन्मादिककी प्रसक्ति करके उसका प्रतिषेध करते हैं । जैसे घटाकाशोंके द्वारा महाकाश उत्पन्न, स्थित एवं विलीन हुआ प्रतीत होता है, वैसे यह परमात्मा भी आकाशके समान सर्वगत सूक्ष्म एवं असंग है, वह अपने अंशभूत जीवात्माओंके द्वारा भी उत्पन्न, स्थित, और विलीन हुआ है, ऐसा व्यवहार भी मिथ्या ही है, पारमार्थिक नहीं, इसलिए जीवात्माओंके द्वारा भी

स्वप्नमायामनोरथतयोपमितेन जगताऽपि यस्य तत्कारणस्योत्पत्त्यादिकं न जातम् । एवं तदवताराणामप्यभिनयमात्रतया जन्मादे वस्तुतः प्रतिषेध एव । अतोऽजातजन्मस्थितिसंयमाय' इति विशेषणेन वेदान्तप्रसिद्धोऽजातवादः सूच्यते, वेदान्तसारे श्रीमद्भागवतेऽपि । कुतोऽजातजन्मादिकं ? अत आह-अगुणाय = परमार्थतो गुणत्रयात्मिकप्रकृतिसम्बन्धरहिताय । यतः प्रकृति-सम्बन्धेनैव तत्र जन्मादिकमारोप्यते, तदभावे कुतस्तत्त्वं स्यात् ?। अतो निर्वाणसुखस्यार्णवाय = अपारमोक्षसुखरूपायेत्यर्थः । यतो गुणसम्बन्धवतो मोक्षानन्तसुखासंभवात् । तथाप्यणोरप्यणिम्ने = अतिसूक्ष्माय अवाङ्मन - सगोचरायाप्रमेयायेत्यर्थः । अपरिगण्यधाम्ने = अपरिगण्यं - इयत्तातीतं - देशकालवस्तुपरिच्छेदवर्जितं-धाम = स्वयंज्योतिश्चैतन्यस्वरूपं यस्याद्वयब्रह्मणः-तस्मै । 'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।' (भा० १ । १ । १) इतिस्मरणात् । न चैतदसंभवग्रस्तम् । यतो महान् - अचिन्त्योऽनुभावः प्रभावो यस्य तस्मै ते नमो नमः = तत्पारमार्थिकस्वरूपचिन्तनाभ्यासपरो भवामीति यावत् ।

जिसके जन्मादि जात यानी प्रादुर्भूत नहीं हैं, इसप्रकार जिसकी स्वप्न, माया, एवं मनोरथ रूपसे उपमा दी है—ऐसे इस जगत्के द्वारा भी उसका कारण परमेश्वरके उत्पत्त्यादिक जात नहीं है, इसप्रकार उनके अवतारोंका भी जन्मादिक अभिनय मात्र होनेके कारण वस्तुतः जन्मादिकोंका प्रतिषेध ही है, इसलिए 'अजात - जन्म-स्थिति-संयमाय' इस विशेषणसे वेदान्त प्रसिद्ध अजातवाद, वेदान्तसार श्रीमद्भागवतमें-भी सूचित किया जाता है, वह अजात जन्मादि क्यों है ? कहते हैं, वह अगुण है, परमार्थसे गुणत्रयात्मिकप्रकृतिके सम्बन्धसे रहित है, क्योंकि - प्रकृति-रूप-मायाके सम्बन्धसे ही उसमें जन्मादिका आरोप किया जाता है । प्रकृति सम्बन्धका अभाव होने पर उसमें कैसे जन्मादिक होगा ? नहीं होसकता । इसलिए वह परमात्मा निर्वाणरूप - मोक्षका अपार - सुखरूप है, क्योंकि - गुणसंम्बन्ध - वालेको मोक्षका सुख नहीं हो सकता, तथा वह वाणी एवं मनका अगोचर है, अतिसूक्ष्म है, अतएव अप्रमेय है, जिसका स्वयंज्योतिः चैतन्य स्वरूपधाम, इयत्तासे अतीत है, परिगणना-से रहित है, देश, काल, वस्तु परिच्छेदसे वर्जित है । 'अपनी स्वयं प्रकाश ज्योतिसे सर्वदा और सर्वथा माया और माया कार्य द्वैत प्रपंचसे पूर्णरूपसे मुक्त रहने वाले परम सत्यरूप परमात्माका हम ध्यान करते हैं' ऐसा श्रीमद्भागवतका स्मरण होनेसे, यह असम्भव ग्रस्त है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि - उसका महान् अचिन्त्य प्रभाव है, उसे - बार - बार नमस्कार है । उसका अर्थ है—उसके पारमार्थिक स्वरूपके चिन्तन अभ्यासके परायण होता हूं, यह है ।

सम्प्रति तत्कैवल्यलाभाय तदाराधनविधिं बोधयति—यस्य भगवतः कृष्णाद्यवताराणा तद्दिव्यगुणानां तद्दिव्यकर्मणाञ्च विडम्बनं अनुकरणं-तद्भावार्थानुसंधानमस्ति येषु तानि लोकोत्तरसामर्थ्ययुक्तानि नामानि। तत्र कृष्णाद्यवतारविडम्बनानि-कृष्ण ! राम ! देवकीपरमानन्द ! यशोदानन्दन ! भक्तवत्सल! सर्वभूतसुहृत् ! इत्यादीनि। गुणविडम्बनानि — 'स ह्यात्मा दयितो हितः' (भा० ८। ५। ४८) 'स वै प्रियतमश्चात्मा' (भा० ४। २६। ५१) 'सर्वदेवमयं देवमात्मानम्' (भा० ६। १६। २०) 'क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामिति ह्योवाच भारत !।' (भा० ८। १७। ११) 'सत्यः स्वयंज्योतिरजः पुराणः' (भा० ८। १। १३) 'सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् !' (भा० ७। ६। ४८) 'स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः' (भा० ।७। १०। ४६) 'अनन्यमेकं जगदात्मकेतं' (भा० १०। ६३। ४४) इत्यादिवचनेषु प्रतिपादितानि—प्रियतमत्वात्मत्व – सर्वदेवमयत्व – क्षेत्रज्ञत्व—सत्यत्व—स्वयंज्योतिष्ट्वाजत्वपुराणत्व—सर्वमयत्व—भूमत्व – ब्रह्मत्व— कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतित्वानन्यत्वैकत्वजगदात्माधिष्ठानत्वप्रभृतिस्वस्वरूपभूतगुणस्मारकानि । कर्मविडम्बनानि—'प्रत्यर्पितो मे भवताऽनुकम्पिना भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः ।' (भा० ११। २६। ३८) 'विद्यागुरवे नमो नमः' (भा० ३। १३। १६) 'अन्तः प्रविश्य भूतानि यो बिभर्त्यात्मकेतुभिः ।' (भा० ५। २०। २८) 'व्यादत्ताव्या-

अब उसके कैवल्य - मोक्षके लाभके लिए उसकी आराधना विधिको बोधित करते है—जिस भगवान्के—कृष्णादि - अवतारोंके, उसके दिव्य गुणोंके, उसके दिव्य कर्मोंके, भावार्थोंका अनुसंधान जिनमें हैं ऐसे अलौकिक - सामर्थ्यसे युक्त, जो नाम हैं, उनमें कृष्णादि अवतारोंके अनुसरण करने वाले कृष्ण, राम, देविकीपरमानन्द, यशोदानन्दन, भक्तवत्सल सर्वभूतसुहृत् इत्यादि। गुणोंके अनुसरण करने वाले प्रियतम, आत्मा, सर्वदेवमय, क्षेत्रज्ञ, सत्य स्वयंज्योति, अज, पुराण, सर्वमय, भूमा, ब्रह्म, कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिस्वरूप, अनन्य, एक, जगदात्माधिष्ठान, आदिस्वस्वरूपभूत गुणोंके स्मारक नाम हैं। 'वह आत्मा प्रिय है और हित-निःश्रेयसरूप है'— 'वही प्रियतम आत्मा है' वह सर्वदेवमय आत्मा देव है' 'हे भारत ! वह सर्वभूतोंका क्षेत्रज्ञ आत्मा है, ऐसा कहा है' 'वह सत्य स्वयं ज्योति, अज, पुराण है' 'हे भूमन् ! तू ही सर्व है, सगुण एवं निर्गुण है' 'वही यह ब्रह्म है, महान् पुरुषोंके द्वारा खोजने योग्य-कैवल्य-निर्वाण सुखानुभूतिरूप है, 'वह अनन्य है, एक है, जगत्का आत्मारूप अधिष्ठान है' इत्यादि वचनोंमें स्वरूपभूत गुणोंके प्रतिपादक नामोंका प्रतिपादन किया है। कर्म विडम्बन नाम हैं — विज्ञानमय प्रदीप समर्पक, विद्यागुरु, निखिलभूत अन्तः प्रवेशक, आत्म - चैतन्य - धारक, अत्यल्प-मुखनिविष्ट-अतिविस्तृत विश्वप्रदर्शक

हृतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः। सा तत्र ददृशे विश्वं जगत् स्थास्नु च खं दिशः॥' (भा० १०।८।३६-३७) इत्यादिभिरवगम्यमानानि — विज्ञानमयप्रदीपसमर्पकत्व— विद्यागुरुत्व— निखिलभूतान्तः प्रवेशकत्वात्मचैतन्यतद्धारकत्वास्यलग्नमुखनिष्ठातिविस्तृतविश्वप्रदर्शकत्व — कालियनागमर्दकत्व — गोवर्धनोद्धारकत्व—कंसदमनत्वप्रभृतीनि—नामानि, ये=भक्ताः सज्जनाः, विवशाः =भगवदनन्यप्रेमपरवशाः सन्तः। अनेन तेषां चित्तेषु प्रेममाधुर्यमैकाग्र्यं पावित्र्यञ्च सूच्यते। असुविगमे सति=कार्यकरणसंघातेऽसोः=प्राणस्य ज्येष्ठतया श्रेष्ठतया च 'वैशेष्यात्तद्वादः' इति न्यायेन तेन कृत्स्नः संघातोऽभिलक्ष्यते। तथा च प्राणोपलक्षितेऽस्मिन् समग्रे शरीरे यैरहंत्वा॥दरूपस्य प्ररूढस्य दौर्जन्यस्य विगमे = निरासे कृते सति। 'त एतदधिगच्छन्ति विष्णो र्यत्परमं पदम्। अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम्॥' (भा० १२।६।३३) 'ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां, नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये।' (भा० २।७।४२) इति प्रामाण्यात्। गृणन्ति = वैखर्यादिभिः —उच्चारयन्ति— 'व्याहरन् मामनुस्मरन्' (गी० ८।१३) 'तज्जपस्तदर्थभावनम्।' (यो० सू०

कालिय नागमर्दक, गोवर्धनोद्धारक आदि। 'आपने कृपा करके मुझ सेवकको विज्ञानमय प्रदीप अर्पित किया है' 'विद्यागुरुके लिए वार-वार नमस्कार' 'जो भीतरमें प्रविष्ट होकर आत्म-चैतन्य द्वारा भूतोंको धारण करता है' 'भगवान् कृष्णने अपना मुंह खोल दिया, वे केवल लीलाके लिए ही मनुष्यके बालक बने हुए हैं, उनके ऐश्वर्य अनन्त हैं। यशोदाजीने देखा कि— उनके मुखमें चर-अचर सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है' इत्यादि वचनोंके द्वारा वे नाम जाने जाते हैं। जो सज्जन भक्त, भगवान्के अनन्य प्रेमके परवश हैं, विवश इस विशेषणसे उनके चित्तोंमें प्रेमकी मधुरता, एकाग्रता एवं पवित्रता सूचित होती है। कार्यकरण संघातमें प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है' 'जिसमें जिसकी विशेषता होती है, उसीका नाम लिया जाता है' इस न्यायसे प्राणद्वारा समग्र-संघात अभिलक्षित होता है। तथा च प्राणसे उपलक्षित इस समग्र शरीरमें जिनके द्वारा—अहंत्वादि रूप प्ररूढ़ जो दैन्य है उसका विनाश करने पर जो उन उन नामोंका - उस उस अर्थके अनुसंधान पूर्वक अभ्यास करते हैं। "विष्णुका परम पद उनहीं लोगोंको प्राप्त होता है, जिनके हृदयमें शरीरके प्रति अहंभाव नहीं और इसके गृह आदि पदार्थोंमें ममभाव नहीं, अहंभाव और ममभावका आरोप ही बड़ी दुर्जनता है' 'कुत्ते और शियारोंके कलेवा - रूप अपने और पुत्रादिके शरीरोंमें मैं यह हूं और मेरा है ऐसा भाव जो नहीं रखते हैं, वे ही उस देवकी दुस्तर मायाके पार जा पाते हैं' इन वचनोंके प्रामाण्यसे 'गृणन्ति' -यानी वैखरी आदि वाणीसे उच्चारण करते हैं। 'मेरे नामका उच्चारण करता हुआ, अर्थरूप मुझ भगवान्का

१।२८) इति न्यायेन तदर्थानुसंधानपूर्वकं अभ्यस्यन्ति। ते = तादृशाः, नैकजन्मशमलं = अनेकजन्मस्वनुस्यूताविद्यारागद्वेषादिरूपं, शमलं = पापमुद्वेजकं, सहसैव हित्वा = भगवदनुग्रहतो लब्धयाऽद्वयब्रह्मविद्ययाऽनायासतो विधूय अपावृतं = अपगतं आवृतं यत्र तत्—निरस्ताविद्यावरणं, ऋतं = सच्चिदानन्दं भगवन्तं स्वस्वरूपं, संयान्ति = प्राप्नुवन्ति, तमजं ब्रह्म अहं प्रपद्ये = शरणं व्रजामीत्यर्थः।

ये तु असुविगमे = प्राणान्तकालेऽपि रोगादिना विवशाः सन्तः केवलं नामानि उच्चारयन्ति, नतु ध्यायन्ति। तेऽपि ज्ञानध्यानादिसाधनशून्या अजामिलादिसदृशा विषयिणः पामरा अपि, नैकजन्मशमलं हित्वा सत्यं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति,इति व्याख्यानं विदधति, तत्केवलं प्ररोचनमात्रम्, न तु तत् तात्त्विकं, श्रीमद्भागवतरहस्यानुकूलं विचारकाणां मनस्तुष्टिकरं वेति विज्ञेयम्।

स्मरण करता हुआ' 'मन्त्रके जपके साथ उसके अर्थकी भी भावना करनी चाहिए' इस न्यायसे नाम - जपके साथ उसके अर्थानुसंधानका भी विधान किया है, वैसे अभ्यास निष्ठ - भक्त - अनेक जन्मोंमें अनुवर्तमान अविद्या, राग द्वेषादि रूप जो उद्वेजक पाप हैं उनका-सहसा त्याग करके अर्थात् भगवान्की कृपासे प्राप्त अद्वय ब्रह्मविद्यासे अनायास ही विध्वंस करके जिसमें अविद्या आदि आवरणकी सदा निवृत्ति है, उस स्वस्वरूपभूत सच्चिदानन्द भगवान्को प्राप्त होते हैं। उस अज ब्रह्मके शरणमें मैं जाता हूं।

जो पण्डित-प्राणान्तकालमें भी रोगादिसे विवश हुए केवल नामोंका उच्चारण करते हैं, उनके अर्थोंका ध्यान नहीं करते, वेभी अजामिल आदिके सदृश ज्ञानध्यानादि साधनोंसे रहित, विषयी एवं पामर हैं, वे भी अनेक जन्मके पापोंको छोड़कर सत्य ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, ऐसा व्याख्यान करते हैं, वह केवल प्ररोचन मात्र है, वह तात्त्विक व्याख्यान नहीं है, न तो श्रीमद्भागवतके रहस्यके अनुकूल है, न तो विचारशीलोंके मनको सन्तुष्टि करने वाला है, ऐसा समझना चाहिए।

—※—

(तपोलब्धया ब्रह्मात्मैक्यविद्ययाऽधिगम्यमानस्य भगवतः पारमार्थिकस्वस्वरूपस्य स्वमुखेनैव वर्णनम्) ।

'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' (तै०उ० ३ । ४ । २) इति श्रुत्या यावद् यथावत् ब्रह्मणोऽधिगति र्न भवति, यावच्च ब्रह्मजिज्ञासा न निवर्तते, तावत् तप एव तत्साधनमित्यवगम्यते । सर्वेषां हि नियतसाध्यविषयाणां साधनानां तप एव साधकतमं साधनमिति हि लोके शास्त्रे च प्रसिद्धम् । तच्च मुख्यं तपो बाह्यकरणानामन्तःकरणस्य चैकाग्र्यम् । 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः । तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥' (महा० ३ । २६० । २५) इति स्मृतेः, तेन हि ब्रह्माधिगतिः संपद्यतेऽधिकारिणः । 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' (क० उ० १ । ३ । १२) इति श्रुतेः । तस्य परमधर्मभूतस्य यतीनां चतुर्थाश्रमिणामसाधारणलक्षणरूपस्य परमस्य तपसो लाभाय सन्त्यपराणि तपांसि स्वाध्याय-प्रवचन-दान-ब्रह्मचर्य-प्राणायाम-हितमितमेध्याशन-गीतोक्त शारीरादि त्रिविध-व्रतोपवासादीनि बहुविधानि प्रतिपादितानि । एतेषां विशद-विवेचनमस्माभिः ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकस्याध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्तौ विहित-

(१६)

(तपसे प्राप्त ब्रह्मात्मैक्यविद्यासे अनुभूयमान भगवान्के पारमार्थिकस्वरूपका भगवान्के मुखसे ही वर्णन) ।

'तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर' इस श्रुतिके द्वारा 'जबतक यथावत् ब्रह्मकी अनुभूति नहीं होती, जबतक ब्रह्म जिज्ञासाकी निवृत्ति नहीं होती, तबतक उसका साधन तप ही है, ऐसा जाना जाता है । नियत साध्य है विषय जिन्होंका ऐसे सभी साधनोंमें तप ही श्रेष्ठ फल-साधक साधन है' ऐसा लोकमें और शास्त्रमें प्रसिद्ध है । वह मुख्य तप बाह्य करणोंकी और अन्तःकरणकी एकाग्रता है, उससे अधिकारीको ब्रह्मकी अनुभूति प्राप्त होती है, 'एकाग्र बुद्धिके द्वारा ब्रह्म अनुभूत होता है' मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परमतप है, वह सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है, वही परमधर्म कहा जाता है, इस श्रुति और स्मृतिके वचन द्वारा पूर्वोक्त बातकी सिद्धि होती है, वह परम तप परमधर्म रूप है, और चतुर्थाश्रमी यतियोंका असाधारण लक्षण है, उसके लाभके लिए अपर तप—जैसे स्वाध्याय, प्रवचन, दान, ब्रह्मचर्य, प्राणायाम, हितमित-मेध्याशन, गीतोक्त शारीरादि त्रिविध-तप, व्रत, उपवासादि बहु प्रकारके प्रतिपादित किये हैं, इनका विशद विवेचन हमने ऋग्वेद-संहितोपनिषच्छतककी अध्यात्म-

मिति, तत एव विचारकै र्विज्ञेयमतोऽत्र नाधिकविलेखनाय प्रयत्यते ।

तेन हि मुख्येन तपसा भगवदनुग्रहतो ब्रह्मविद्या लभ्यते, तयाऽधिगम्य-मानस्य भगवतः पारमार्थिकं स्वरूपं कीदृशमिति ? तत् स्वयं श्रीभगवान् स्वनाभिपद्मसमुद्भूतं ब्रह्माणं प्रति वर्णयति—

भूयस्त्वं तप आतिष्ठ, विद्यां चैव मदाश्रयाम् ।
ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन् ! लोकान् द्रक्ष्यस्यपावृतान् ॥
तत आत्मनि लोके च, भक्तियुक्तः समाहितः ।
द्रष्टाऽसि मां ततं ब्रह्मन् ! मयि लोकांस्त्वमात्मनः ॥
यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम् ।
प्रतीचक्षीत मां लोको जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम् ॥
यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः ।
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति ॥

(भा० । ३ । ६ । ३०-३१-३२-३३)

ब्रह्माणं निमित्तीकृत्य निखिलान् मानवान् प्रति 'मनुष्याधिकारत्वा-

ज्योत्स्ना विवृतिमें किया है, इसलिए वहांसे ही विचारकोंको उन्हें जानने चाहिए, अतः यहां उनके अधिक लिखनेके लिये प्रयत्न नहीं किया जाता ।

उस मुख्य तपसे भगवत् कृपा द्वारा ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है उससे अनुभू-यमान भगवान्‌का पारमार्थिक स्वरूप कैसा है ? यह स्वयं श्रीभगवान् अपनी नाभि कमलसे उत्पन्न ब्रह्मासे वर्णन करते हैं —

'तुम एक बार फिर तप करो, और भागवत - ज्ञानका अनुष्ठान करो। उनके द्वारा तुम सबलोगोंको स्पष्टतया अपने अन्तः करणमें देखोगे । फिर भक्तियुक्त और समाहितचित्त होकर तुम सम्पूर्ण लोकमें और अपनेमें मुझको व्याप्त देखोगे । तथा मुझमें सम्पूर्ण लोक और अपने आपको देखोगे । जिस समय जीव, काष्ठमें व्याप्त अग्निके समान समस्त भूतोंमें मुझे ही स्थित देखता है, उसी समय वह अपने अज्ञान रूप मलसे मुक्त होजाता है । जब वह अपनेको भूत, इन्द्रिय, गुण और अन्तःकरणसे रहित तथा स्वरूपतः मुझसे अभिन्न देखता है, तब मोक्षपद प्राप्त कर लेता है ।'

ब्रह्माको निमित्त बनाकर निखिल मानवोंके प्रति—'शास्त्रमें मनुष्योंका अधि-

कुशास्त्रस्येति' न्यायेन भगवान् श्रीनारायणः ससाधनां ब्रह्मात्मैक्यविद्यां समुपदिशति – 'त्वं हे मानव ! तपः = इति जातावेकवचनम्, व्यक्त्यभिप्रायेण बहुवचनमुन्नेयम्, अतः प्राक् अपराणि तपांसि = स्वाध्यायब्रह्मचर्यादीनि, आतिष्ठ = अनुतिष्ठ, भूयः = पुनस्त्वं तपः = ऐकाग्र्यलक्षणं परमं तपः- आतिष्ठ = संपादयेत्यर्थः। तेन हि मदाश्रयां = मद्विषयां मन्निष्ठां मत्संस्थां वा विद्यां त्वं प्राप्स्यसीति क्रियापदाध्याहारः। आश्रयशब्देनात्र 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।' (छां० २। २३। १) 'शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।' (गी० ६। १५) इति छान्दोग्यश्रुतिगीताऽनुसारेण ब्रह्मनिर्वाणोपायभूताऽनन्यव्यापारता ब्रह्मानन्दरूपा मनसः सूच्यते। तत्र हि संपूर्वस्य तिष्ठतेः समाप्तिवाचितया ब्रह्मसंस्थाशब्दबोधितायाः ब्रह्मणि समाप्तेरनन्यव्यापाररूपता ऽधिगम्यते। 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ।' (मुं० उ० २। २। ५) 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।' (गीता ६। २५) 'ब्रह्मण्याधाय मानसं' ··· 'दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेत्।' (भा० ६। १६। १९–२०) इति श्रुतिस्मृतिभागवतवचनैः कण्ठत एव व्यापारान्तरप्रतिषेधाच्च।

कार है' इस न्यायसे भगवान् श्रीनारायण साधन-सहित ब्रह्मात्मैक्य-विद्याका उपदेश करते हैं। 'हे मानव! तू तप कर' 'तपः' इस पदमें जाति अभिप्रायसे एकवचन है और व्यक्ति अभिप्रायसे बहुवचन है, ऐसी कल्पना करनी चाहिए, अतः प्रथम तू स्वाध्याय ब्रह्मचर्य आदि अपर तपोंका अनुष्ठान कर, फिर तू एकाग्रता लक्षणवाला परमतपको सम्पादन कर, उससे तू मेरे स्वरूपका अनुभव करने वाली विद्याको प्राप्त होगा, ऐसा क्रियापदका अध्याहार है। यहां आश्रय शब्दसे—'ब्रह्ममें निष्ठा वाला अमृतत्वको प्राप्त होता है।' 'तत्त्व साक्षात्कार द्वारा भगवत्-स्वरूप-परमानन्द रूप मोक्षपर्यवसायिनी-सर्ववृत्तियोंकी उपरति—जो शान्तिरूप निष्ठा है—उसको प्राप्त होता है' इस छांन्दोग्य श्रुति एवं गीताके अनुसार मत्संस्थाका अर्थ—ब्रह्मनिर्वाणके उपाय भूत ब्रह्मानन्द रूप मनकी अनन्य-व्यापारता, सूचित होती है। उसमें सम् उपसर्ग पूर्वक 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' धातु, समाप्तिका वाचक होनेसे ब्रह्मसंस्था शब्दबोधित ब्रह्ममें समाप्ति अनन्यव्यापाररूप जाननेमें आती है 'उसी ही एकको जानो, अन्य वाणियोंको छोड़ो' 'आत्मामें मनको परिनिष्ठित बनाकर अन्य कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिए' 'ब्रह्ममें मनको स्थापित करके दृष्ट और श्रुत—जो कुछ है, वह अशाश्वत और मिथ्या है, ऐसा जान करके अन्य किसीका भी ध्यान न करे' इन श्रुति और स्मृति एवं भागवतके वचनोंके द्वारा स्पष्ट ही अन्य—चिन्तनादि—व्यापारोंका निषेध किया गया है।

ताभ्यां = तपोविद्याभ्यां, त्वं हे ब्रह्मन् ! लोकान् सर्वान् = स्थावर-जङ्गमान् भूरादीन् वा निखिलान्, हृदि-अन्तः = हृदयाधिष्ठिते स्वात्मनि, अपावृतान् = अविद्याद्यावरणरहितान्, ब्रह्मस्वरूपभूतान् द्रक्ष्यसि । यदाहुः श्रीमच्छङ्करभगवत्पादा अपि दक्षिणामूर्तिस्तवे — 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी-तुल्यं निजान्तर्गतं, पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया ।' इति तदुक्तं-भारतीतीर्थैरपि पञ्चदश्यां – 'निश्छिद्रदर्पणे भाति वस्तुगर्भं बृहज्जगत् । सच्चित्सुखे तथा नानाजगद्गर्भमिदं जगत् ॥', (१३।६६) योग-वासिष्ठे शिलोपाख्यानेऽपि इदमुक्तं – 'द्यौः क्ष्मा वायुरथाकाशः पर्वतास्सरितो दिशः । सन्ति तस्यां शिला सा च सुषिरा न मनागपि ॥ अप्यत्यन्तघनाङ्गाया-स्सुनीरन्ध्राकृतेरपि । विद्यतेऽन्तर्जगद्वृन्दं व्योम्नीव विततोऽनिलः ॥' इति (निर्वाण प्रकरणे ४६, अध्याये) ।

यथा नीरन्ध्रे स्वच्छेऽसङ्गे निर्विकारे सूक्ष्मे दर्पणे नानाविधवाहन-संकुलाऽनेकमनोहरहट्टादिमार्गविभूषिता नगरी प्रतिबिम्बिता सती दर्पणरूप-तयाऽवलोक्यमाना भवति, तथा प्रत्यक्स्वरूपे स्वात्मनि विविधप्रत्ययगम्यं सर्वमिदं वियदादि जगत् प्रतिबिम्बितं सत् बिम्बभूतब्रह्मरूपतयाऽवगम्यमानं

उस तप और विद्यासे हे ब्रह्मन् ! तू अपने हृदयाधिष्ठित आत्मामें स्थावर जंगम रूप लोकोंका या भूरादिक समस्त लोकोंका—अविद्यादि आवरण रहित—ब्रह्म-स्वरूपसे दर्शन करेगा । इसलिए दक्षिणामूर्ति स्तोत्रमें श्रीमच्छंकर—भगवत्पाद भी कहते हैं—'यह विश्व, दर्पणमें दृश्यमान नगरीके समान है, यद्यपि यह अपने अन्तर्गत है तथापि मायाके द्वारा बहिस्थितकी तरह उद्भूत हुआ दीख रहा है, जैसे निद्राके द्वारा 'अन्तः अवस्थित स्वप्न - दृश्य बहिःस्थितकी तरह दीखता है, वैसे, यह भारती-तीर्थने भी पंचदशीमें कहा है—'जैसे छिद्र-रहित दर्पणमें जिसके भीतर अनेक वस्तुएं हैं, ऐसा बड़ा जगत् दिखता है, वैसे सच्चित्-सुख रूप आत्मामें अनेक पदार्थ-जिसके गर्भमें हैं, ऐसा जगत् दिखता है' योगवासिष्ठके शीलोपाख्यानमें भी ऐसा कहा है—'स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियां, एवं दिशायें, उस शीलामें विद्यमान हैं, जिसमें अत्यल्प भी छिद्र नहीं है, किन्तु जो ठोस है, जैसे आकाशमें वायु व्याप्त है, वैसे अत्यन्तघन रूप - छिद्र रहित - आकृतिवाली शीलाके अन्तर्गत, यह जगत् समुदाय विद्यमान है ।

जैसे छिद्र रहित - स्वच्छ - असंग, - निर्विकार सूक्ष्म दर्पणमें नानाप्रकारके मनुष्यादि प्राणियोंसे रथादि वाहनोंसे भरी हुई, तथा अनेक मनोहर हाट आदि-जिनमें हैं - ऐसे मार्गोंसे विभूषित नगरी प्रतिबिम्बित हुई, दर्पणरूपसे अवलोक्यमाण होती है, वैसे प्रत्यक्स्वरूप स्वात्मामें, विविध चाक्षुषादि वृत्तियोंसे ज्ञायमान यह

विभाति। यथा निद्रया स्वाप्नं जगत् साक्षिणि स्वस्मिन्नध्यस्ततया स्थितमपि स्वस्माद्बहिःस्थितमिवानुभवति तद्वदेवेदं जाग्रत्प्रपञ्चमपि मायया स्वस्मिन् प्रत्यक्-चैतन्येऽध्यस्ततया स्थितमेव स्वाध्यस्तदेहादितादात्म्याध्यासवशात् स्वस्माद्बहिरिव पश्यति। अन्यथा जडस्य जगतः प्रत्यक्चैतन्येन सह संयोगाद्यन्यतमसम्बन्धासम्भवेन प्रतीचस्सकाशाज्जगद्भानं न स्यात्। तस्मात्तत्र स्वात्मन्यधिष्ठानेऽध्यस्तमेव तद्विभातीति प्रत्येतव्यम्। अध्यस्तञ्च रज्जुसर्पादिवत् अधिष्ठानरूपादनतिरिक्तमेव बाधसामानाधिकरण्यतया बोध्यम। तथा च प्रत्यगात्मानं प्रकृत्य श्रुतिस्मृत्यपीत्थं बोधयतः—'मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम॥ (कै०उ० १।१६) 'यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः। तथा जाग्रत् प्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः॥' इति।

ततः = तस्मात्, भक्तियुक्तः = अनन्यप्रेमलक्षणया भक्त्या संयुक्तः, समाहितः = समाधानयुक्तः – बाह्यविषयेभ्यो निगृहीतस्य मनसः सर्वात्मनि भगवत्येव संलग्नचित्ततारूपसमाधिनिष्ठः सन, आत्मनि = स्वस्मिन्, लोके चास्मिन् निखिले भूरादौ, स्थावरे जंगमे वा, मां – सच्चित्सुखरूपं भगवन्तं

आकाशादि सकल जगत् प्रतिबिम्बित हुआ, बिम्बभूत ब्रह्मरूपसे अनुभूत होकर विभूषित हो रहा है। जैसे निद्रासे स्वप्नक जगत्, अपने साक्षी-आत्मामें अध्यस्त रूपसे अवस्थित हुआ भी अपनेसे बहिःस्थितकी तरह अनुभूत होता है। उसी प्रकार ही यह जाग्रत् प्रपंच भी मायासे अपने प्रत्यक् चैतन्यमें अध्यस्त-रूपसे अवस्थित है, तथापि अपनेमें अध्यस्त देहादियोंमें तादात्म्य-अध्यासके वशसे अपनेसे बहिःस्थितकी तरह दिखता है। ऐसा न मानने पर, जड़ जगत्का प्रत्यक् चैतन्यके साथ संयोगादि — अन्यतम सम्बन्धके असम्भवसे प्रत्यगात्मासे जगत्का भान नहीं होगा। इसलिए उस अधिष्ठान स्वात्मामें अध्यस्त हुआ ही यह जगत् भासित होता है, ऐसा निश्चय करना चाहिए, रज्जु - सर्पादिकी तरह बाधसामानाधिकरण्य द्वारा अध्यस्त, अधिष्ठान स्वरूपसे अतिरिक्त नहीं होता है, ऐसा समझना चाहिए। तथा च प्रत्यगात्माको उद्देश्य करके श्रुति और स्मृति इस प्रकार बोधन करती हैं, 'मुझ आत्मामें ही सकल जगत् उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही सब प्रतिष्ठित है, मुझमें ही सब का विलय होता है, वह अद्वय ब्रह्म मैं ही हूं' 'जैसे यह स्वप्न प्रपंच मायासे मेरेमें मिथ्या भासित है, वैसे यह जाग्रत प्रपंच भी मुझमें मायाद्वारा मिथ्या भासित होता है।'

इसलिए अनन्यप्रेम - लक्षणा - भक्तिसे संयुक्त होकर बाह्यविषयोंसे निग्रहित मनकी, सर्वात्मा भगवान्में ही संलग्न-चित्ततारूप समाधि निष्ठ होकर अपने में तथा

ततं = 'आभरणेषु सुवर्णमिव' 'मृण्मयेषु मृत्तिकामिव' 'पटेषु तन्तूनिव' च व्याप्य स्थितं द्रष्टासि = द्रक्ष्यसि। तथा हे ब्रह्मन्! मयि = सच्चित्सुखात्मनि सर्वानुस्यूते त्वं 'सुवर्णे आभरणानीव' 'मृत्तिकायां घटशरावादीनीव' 'तन्तुषु शाटीव च' सर्वान् लोकान् तथा आत्मनः = निखिलान्-जीवांश्च तादात्म्येनावस्थितान् द्रक्ष्यसि।

सति चैवं जगद्भगवतोः कार्यकारणभावख्यापनेन तादात्म्यमवगमयितुं तदेव दृष्टान्तत्रयमभिहितं श्रीमद्भागवतेऽन्यत्रापि बहुशः — 'यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।' (भा० ११।२८।१६) 'मृण्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः।' (भा० ६।१६।२२) 'यस्मिन् ओतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तन्तुषु।' (भा० ६।६।७) इति।

सर्वत्रान्तर्बहिः तादात्म्येनावस्थितस्य ममास्तिभातिप्रियरूपस्य भगवतो दर्शनेन मिथ्याभेददर्शनलक्षणो मोहो निवर्तत इति फलप्रदर्शनेन सम्यग्दर्शनं स्तुवन्नाह—यदा तु = निश्चयेन, दारुषु = काष्ठेषु अग्निमिव = अव्यक्तनिराकाररूपेणावस्थितमनलमिव, सर्वभूतेषु अधिष्ठानतया साक्षितया तदात्मतया च स्थितं मां लोकः = अयं मानवः, प्रतिचक्षीत = पश्येत् = अवलो-

इस समग्र भूरादि लोकमें, या स्थावरजङ्गमादि लोकमें 'आभूषणोंमें सुवर्णकी तरह' 'घटादि पात्रोंमें मृत्तिकाकी तरह' 'पटोंमें तन्तुकी तरह' मुझ सच्चित्सुखरूप भगवान्को व्यापकरूपसे अवस्थित देखेगा, तथा हे ब्रह्मन्! मुझ सर्वगत सच्चित्सुखरूप आत्मामें तू सुवर्णमें आभूषणों की तरह, मृत्तिकामें घटशरावादिकी तरह तथा तन्तुमें साड़ी की तरह' समस्त लोकोंको एवं निखिल जीवोंको तादात्म्यरूपसे अवस्थित हुआ देखेगा।

ऐसा मानने पर जगत् और भगवान्का कार्यकारण-भावके बोधन द्वारा तादात्म्यसम्बन्धको बतलानेके लिए वे ही तीन दृष्टान्त श्रीमद्भागवतके अन्यस्कन्धोंमें भी बहुत कहे हैं। 'जैसे सुवर्णके कङ्कन कुण्डल आदि बहुतसे आभूषण बनते हैं, परन्तु जब वे आभूषण नहीं थे, तब भी सुवर्ण था और जब नहीं रहेंगे तब भी सुवर्ण रहेगा।' 'मृत्तिकाके घटादि पात्रोंमें जैसे मृत्तिका-द्रव्य, अभेदरूपसे अनुगत रहता है, वैसे ब्रह्म भी इस विश्वमें अनुगत-व्याप्त है, उस ब्रह्मको नमस्कार' 'तन्तुओंमें साड़ीकी तरह जिसमें यह विश्व ओतप्रोत है।'

सर्वत्र अन्दर बाहर तादात्म्यरूपसे अवस्थित-अस्ति, भाति, प्रियरूप-मुझ भगवान्के दर्शनसे मिथ्या भेद-दर्शनका प्रयोजक मोह-अज्ञान निवृत्त हो जाता है, ऐसे फलके प्रदर्शन द्वारा सम्यग्दर्शनकी स्तुति करते हुए कहते हैं—जब निश्चयसे काष्ठोंमें अव्यक्त निराकाररूपसे अवस्थित, अग्निकी तरह सर्वभूतोंमें अधिष्ठानरूपसे, साक्षी-

कथेत् , पश्यति वा, तर्ह्येव = तदैव, कश्मलं = मोहं-मिथ्याज्ञानं जह्यात्= परित्यजेत् । परित्यजति वा ।

अनात्मन्यात्मभावादिरूपमिथ्याज्ञाननिवृत्तिपुरस्सरं तत्त्वंपदार्थलक्ष्ययोरैक्यमपारोक्ष्येण यदाऽयं मुमुक्षुरनुभवति तदैवायं ब्रह्मनिर्वाणाख्यं स्वाराज्यमधिगच्छतीत्याह — यदा, भूतेन्द्रियगुणाशयैः = भूतपरिणामभूतस्थूलदेहेन, अन्तर्बहिःकरणैः प्रकृतेर्गुणैः कामकर्माद्याशयभूतहृदयेन च रहितं = पृथग्भूतं - आत्मानं, स्वरूपेण = शुद्धत्वंपदार्थस्वरूपेण स्वस्यात्मभूतेन मया = शुद्धेन तत्पदार्थलक्ष्येण, उपेतं = एकीभूतमभेदभावमापन्नं पश्यन् = अनुभवन् भवति, तदाऽयं स्वाराज्यं = ब्रह्मनिर्वाणं कैवल्यमोक्षं, ऋच्छति = प्राप्नोति ।

सति चैवं श्रीमद्भागवते एकादशेऽपि— आत्मनिष्ठं यावन्नानात्वं अर्थात् पृथक्त्वं-तत्त्वंपदार्थयोर्भिन्नत्वं वर्तते, तावत्पर्यन्तं दुःखनिदानं पारतन्त्र्यमनुवर्तते, न च स्वातन्त्र्यलक्षणं शाश्वतसुखपूर्णं स्वाराज्यं लभते, अतः प्रत्यगात्मब्रह्मैक्यबोधेनात्मनि वर्तमानस्याविद्याकल्पितस्य नानात्वभ्रमस्य निवृत्तिरवश्यं संपादनीया स्वाराज्यलाभाय इत्यप्याहुः —'नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि ।' (भा० ११ । १० । ३२) । 'प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद् विनि-

रूपसे, उनके आत्मारूपसे अवस्थित मुझ भगवान्‌को यह मानव देखता है, तभी ही मिथ्या ज्ञानरूप मोहका परित्याग करता है । अनात्मामें आत्मभाव आदि रूप जो मिथ्याज्ञान है, उसकी निवृत्ति पूर्वक तत्पदार्थ और त्वंपदार्थके लक्ष्यकी एकता जब यह मुमुक्षु अपरोक्षरूपसे अनुभव करता है, तभी ही यह ब्रह्मनिर्वाण - नामवाले स्वाराज्यको प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं — जब भूतोंका परिणाम रूप स्थूल देहसे अन्तःकरण एवं बहिःकरणोंसे प्रकृतिके गुणोंसे तथा कामादिका आश्रयरूप हृदयसे पृथक् जो आत्मा है, उसको शुद्ध त्वंपदार्थ रूपसे तथा शुद्धतत्पदार्थका लक्ष्य रूप मुझ भगवान्‌से एकीभूत हुआ—अभेदभावापन्न हुआ अनुभव करता है, तभी यह ब्रह्मनिर्वाण रूप-कैवल्य मोक्षरूप-स्वाराज्यको प्राप्त होता है ।

ऐसा होने पर श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें भी जबतक आत्माका अनेकत्व अर्थात् पृथकत्व-तत्पदार्थ और त्वंपदार्थकी भिन्नता रहती है, तबतक दुःखका कारण परतन्त्रता रहती है, स्वतन्त्रतासे लक्षित शाश्वतसुखपूर्ण स्वाराज्य प्राप्त नहीं होता, इसलिए प्रत्यगात्मा और ब्रह्मके एकत्वके बोध द्वारा आत्मामें वर्तमान अविद्या कल्पित नानात्वकी निवृत्ति अवश्य ही स्वाराज्य - लाभके लिए सम्पादन करनी चाहिए, ऐसा भी कहते हैं—'जबतक आत्माकी अनेकता है—भिन्नता है—तबतक तो उन्हें काल अथवा कर्म किसीके अधीन परतन्त्र रहना ही पड़ेगा' 'स्वप्नसे जाग्रत हुए के

वर्तते ।' (भा० ११ । ११ । १६) । 'एवं जिज्ञासयाऽपोह्य नानात्वभ्रममात्मनि ।' (भा० ११ । ११ । २१) इति । जिज्ञासया = जिज्ञासोपलक्षितब्रह्मात्मैक्यदृढविचारेणेत्यर्थः ।

एवं स्पष्टतो ब्रह्मात्माभेदबोधनमपि तत्रैवैकादशेऽपि–'आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः ।' (भा० ११ । १८ । २१) । 'आत्मनि च सर्वभूतेषु च मां परं अपृथग्धीरुपासीत ।' (भा० ११ । १७ । ३२) । परं = परमात्मानं सच्चित्सुखरूपं मां, अपृथग्धीः = भेदबुद्धिरहितः, उपासीत = अनुसंदधीतेत्यर्थः ।

अतएवायमुपास्यो ज्ञेयश्च भगवान् सर्वेषां जीवात्मनामभिन्नस्वरूपः परमप्रेमास्पद आत्मैव, न तेभ्यः कथमपि कदाचिदपि क्वापि भिन्न इति श्रीमद्भागवते यत्र तत्राऽन्यत्र सर्वत्र भगवान् आत्मतयैव प्रतिपादित उपलभ्यते । तथाहि – 'सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा ।' (भा० ३ । ६ । २२) । 'अहमात्माऽऽत्मनां धातः ! प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि । अतो मयि रतिं कुर्यात् देहादिर्यत्कृते प्रियः ॥' (भा० ३ । ६ । ४२) इति । भिन्नत्वं वारयति–एक इति । अभिन्नत्वं बोधयति-आत्मेति । हे धातः ! आत्मनां = देहाद्युपाधीनां घटाकाशस्थानीयानां जीवात्मनां, आत्मा = महाकाश इवाभिन्नस्वरूपो-

समान ज्ञानवान् भेदभावसे निवृत्त होता है' 'इस प्रकार जिज्ञासासे आत्मामें आरोपित नानात्वका निराकरण करके' जिज्ञासा - यानी उससे उपलक्षित ब्रह्म और आत्माके ऐक्यका दृढ़ विचार ।

इस प्रकार उसी ही एकादशस्कन्धमें स्पष्टरूपसे ब्रह्म और आत्माके अभेदका बोधन किया है 'मननशील महात्मा मुझ परमात्माके साथ अभेदभाव रखकर अपने ही एक आत्माका चिन्तन करे । 'अभेद - बुद्धिवाला होकर अपनेमें और सर्वभूतोंमें अभेदरूपसे अवस्थित मुझ परमात्माकी उपासना करे' इसलिए यह उपास्य तथा ज्ञेय भगवान् सर्व जीवात्माओंका अभिन्न स्वरूप परमप्रेमास्पद आत्मा ही है, उनसे किसी भी प्रकार कभी भी कहीं भी भिन्न नहीं है' ऐसा श्रीमद्भागवतमें जहां तहां अन्य सब जगह आत्मारूपसे ही भगवान् प्रतिपादित हुआ उपलब्ध होता है । जैसे- 'समस्त जगत्का वह परमात्मा सुहृद् रूप एक आत्मा ही है' 'हे विधाता ! मैं समस्त जीवात्माओंका भी अभिन्न स्वरूप आत्मा हूं; और स्त्री, पुत्र, धनादि प्रियोंका भी अतिप्रिय हूं, प्रिय देहादिभी मेरे लिए ही प्रिय लगते हैं, इसलिए मुझ अन्तर आत्मासे ही परम प्रेम करना चाहिए' । एक पदसे भिन्नताका वारण करते हैं, आत्मा पदसे अभिन्नताका बोधन करते हैं 'आत्मनाम्' यानी देहादि - उपाधि वाले, घटाकाश स्थानापन्न, जीवात्माओंका महाकाशके समान अभिन्न स्वरूप मैं परमात्मा हूं, इसलिए

ऽहमस्मि । अतः प्रेयसां = अतिप्रियाणां-स्त्रीपुत्रवित्तदेहादीनामपि मध्येऽहं परमात्मा प्रेष्ठः = प्रियतमः-निरुपाधिप्रेमास्पदः । अतो मयि सर्वात्मनि भगवति रतिं = प्रीतिं कुर्यात् । यत्कृते = यदर्थम् । कलत्रादिषु प्रीतिर्देह-सम्बन्धेन, देहे प्रीतिर्जीवात्मसम्बन्धेन, जीवात्मनि प्रीतिस्तु विशुद्धनिरुपाधि-स्वस्वरूपभूत–परमात्मसम्बन्धेन, अतः परमात्मनि प्रीतिः सन्ततानुवर्तमाना स्वाभाविक्येव, अन्यत्र त्वौपचारिकी कादाचित्का । अतः 'मयि रतिं कुर्यात्' इत्यत्र निरर्थकतया नापूर्वादिविधिर्मन्तव्यः, अप्राप्त्यभावात् । 'विधिरत्यन्तम-प्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।' इत्यध्वरमीमांसान्यायात् । किन्तु तदितरप्रीति-वर्जनरूपपरिसंख्याविधि र्विज्ञेयः । यथा 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ।' (वाल्मीकि रामायणे, किष्किन्धाकाण्डे – १७ । ३६) इत्यत्र न पञ्चसंख्याक - पञ्चनख-भक्षणं विधीयते, भक्षणस्य रागत एव प्राप्तत्वात् । नापि नियमः कल्प्यते, फलकल्पनापत्तेः 'निवृत्तिस्तु महाफला' (मनुस्मृतिः ५ । ५६) इति मांस भक्षणनिवृत्तिबोधकशास्त्रविरोधाच्च । अतोऽनेन पञ्चनखभक्षणतदितरभक्षणयो युगपत्प्राप्तौ सत्यां पञ्चपञ्चनखातिरिक्तपश्वादिमांसभक्षणनिवृत्तिरेव बोध्यते । अतः 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्यस्य वचनस्य पञ्चपञ्चनखातिरिक्ताः पशवा-

---

मैं परमात्मा ही, स्त्री, पुत्र वित्त देहादि जो अतिप्रिय हैं, उनके मध्यमें मैं ही उपाधि रहित परम प्रेमास्पद हूं, इसलिए मुझ सर्वात्मा भगवान्में प्रीति करे । स्त्री आदि पदार्थोंमें देहके सम्बन्ध द्वारा प्रीति होती है, देहमें प्रीति जीवात्माके सम्बन्ध द्वारा, और जीवात्मामें प्रीति तो विशुद्ध निरुपाधि स्वस्वरूपभूत परमात्माके सम्बन्ध द्वारा होती है । इसलिए परमात्मामें निरन्तर रहने वाली स्वभाविकी प्रीति है, अन्य देहा-दियोंमें कभी कभी रहने वाली गौण प्रीति है, अतः मुझमें रति करे, इस वाक्यमें निरर्थक होनेके कारण अपूर्वादि विधि नहीं माननी चाहिए, अप्राप्ति नहीं होनेसे । अत्यन्त अप्राप्तिमें अपूर्व विधि होती है । पाक्षिक - अप्राप्ति होने पर नियम विधि होती है, ऐसा अध्वरमीमांसाका न्याय है, किन्तु 'मयि रतिं कुर्यात्' – इस वाक्यमें परिसंख्या विधि समझनी चाहिए, जो तदितर प्रीतिका निवारण करती है, जैसे 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' इस वाक्यमें पंचसंख्यावाले पंचनखवाले प्राणियोंके भक्षणका विधान नहीं किया जाता है, क्योंकि भक्षण रागसे प्राप्त है, न तो नियमविधिकी कल्पना की जा सकती है, फलकी कल्पनाकी प्राप्ति होनेसे, 'निवृत्ति महाफलवाली है' ऐसे मांस भक्षणकी निवृत्ति-बोधक शास्त्रका विरोध होनेसे, इसलिये इस वचनद्वारा पंचनखवालों का भक्षण, तदन्य प्राणियोंका भक्षण, एक साथ प्राप्त होने पर पंचपंचनख प्राणियोंसे अतिरिक्त पशु आदिके मांस भक्षणकी निवृत्तिका ही बोधन किया जाता है अतः 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' इस वचनका पंच पंचनखोंसे अतिरिक्त पशु आदि अभक्ष्य हैं, पंच

दयोऽभक्ष्याः, न तु पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्यर्थः पर्यवस्यति।

तथाऽत्रापि परमप्रेमास्पदे भगवत्यात्मनि प्रीतेः स्वाभाविक्याः सर्वदा प्राप्तत्वात्, सर्वथाऽप्राप्ति–पाक्षिक्यप्राप्त्योरभावात् परिसंख्यान्यायेन 'नान्यत्र सज्जेत यत आत्मपातः' (भा० २। १। ३९ इति वचनादपि तदितरदेहादि-मिथ्याप्रीतिवर्जनमेव बोध्यते। तदितरप्रीतेः स्वाभाविकी-सदाविद्यमान-परमात्मप्रीति-प्रतिबन्धकतया चन्द्रकान्तमणौ विद्यमानाग्निशक्ति-प्रतिबन्धकत्वमिव तद्वर्जनेन स्वाभाविक्यास्तस्याः प्राकट्यसंभवात्। अतो 'मयि रतिं कुर्यात्' इत्यस्य वचनस्य तदन्यत्र रतिं न कुर्यात्, तां यत्नेन परित्यजेत्, सति चैवं भगवति स्वात्मनि वर्तमाना स्वाभाविकी प्रीतिः प्राकट्येन समवस्थिता स्यादित्यर्थः पर्यवस्यति।

एतेनेदं — 'परमात्मनि स्वाभाविक्याः प्रीते वर्तमानत्वेऽप्यनुभवा-भावाद्, अज्ञातस्वबहुवित्तस्य वणिजो दारिद्र्यमिव प्रीत्यभाव इति प्रीतिं विधत्ते शास्त्रमिति परिहृतम्। सुखादिवत् वर्तमानायाः प्रीतेरज्ञातत्वाभावात्, अतः स्वाभाविक्यास्तस्या अनुभूताया अपि तदितरप्रीतिप्रतिबध्यतया तत्प्रति-बन्धकमिथ्याप्रीतिवर्जनमेवात्र न्याय्यम्, न तु तस्याः विधानम्।

पंचनखवाले भक्ष्य हैं, ऐसा अर्थ पर्यवसन्न नहीं होता है।

वैसे यहां भी परमप्रेमास्पद भगवद्रूप आत्मामें स्वभाविकी प्रीति सर्वदा प्राप्त है। सर्वथा अप्राप्ति, और पाक्षिकी अप्राप्तिका अभाव होनेसे परिसंख्या न्यायसे 'अन्यमें आसक्त न बने, क्योंकि आत्माका पतन हो जाता है' इस वचनसे भी उस आत्मासे अन्य देहादिकी मिथ्या-प्रीतिका वर्जन ही बोधित होता है, तदितर प्रीति - जैसे चन्द्रकान्त - मणि, विद्यमान - अग्नि शक्तिका प्रतिबन्धक है, वैसे स्वाभाविकी सदाविद्यमान परमात्मप्रीतिको प्रतिबन्धक है, इसलिए उसके वर्जन द्वारा उस स्वभाविकी प्रीतिका प्राकट्य होता है, अतः 'मयि रतिं कुर्यात्' – इस वचनका–तदन्यमें रति न करे, प्रयत्न द्वारा उसका परित्याग करे–ऐसा अर्थ करने पर स्वात्मारूप भगवान्में वर्तमान स्वाभाविकी प्रीति प्रकट होकर अवस्थित रहती है। ऐसा अर्थ पर्यवसन्न होता है।

इस वर्णन द्वारा यह—परमात्मामें स्वाभाविकी प्रीति वर्तमान है, तथापि उसका अनुभव नहीं होता, जैसे कोई वणिक् अपने बहुत गडे हुए धनको न जानकर दरिद्र बना रहता है, वैसे प्रीतिका अभाव है, इसलिए शास्त्र प्रीतिका विधान करता है–ऐसा खण्डन किया गया। सुखादिकी तरह वर्तमान प्रीति कभी भी अज्ञात नहीं हो सकती है, अतः स्वाभाविकी अनुभूत वह प्रीति तदन्य प्रीतिसे प्रतिबध्य होनेके कारण तत्प्रतिबन्धक मिथ्या प्रीतिका निवारण करना ही यहां न्याय संगत है, उसका

यत्तु कश्चिदाह — 'वस्तुतः प्रेष्ठोऽपि परमात्मा ज्ञानिभिः साक्षादनुभूतोऽपि रत्या विना प्रेमास्पदं न भवति। अतो भक्तानामेव स प्रेष्ठो भवति, न ज्ञानिनामिति' तत्तस्य मिथ्याप्रलपितमेव। परमप्रियतया साक्षादनुभूतेऽपि तस्मिन् प्रीति र्न भवतीति कथनं सर्वथा विरुद्धमेव। 'ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः' नान्योऽर्थो मद्दते प्रियः।' (भा० ११। १६। २) 'ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे' (भा० ११। १६। ३) 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।' प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहम्।' (गीता ७। १७) इति भागवतगीतावचनेभ्योऽपि विरुद्धम्। सर्वतो विरक्तस्य ज्ञानिनः सदाऽनन्यप्रेमलक्षणा भगवन्निष्ठाऽस्तीत्येकभक्तिरिति विशेषणम्। एकस्मिन्मय्येव भक्तिरनुरक्तिर्यस्य स तथोक्तः। अपि च 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' (गी० ७। १६) इति वचनप्रामाण्याद् ज्ञानिनोऽपि भक्ता एव, न केवलं भक्ता अपि तु श्रेष्ठभक्ताः 'विशिष्यते (गी० ७। १७) इत्यनेन भगवतैव तेषु श्रैष्ठ्यस्य स्वयमुक्तत्वात्। तथा च भक्तानां स प्रेष्ठो भवति, न ज्ञानिनामिति, ज्ञानिभ्यो भक्तानां विभक्ततया कथनं सर्वथा गीताभागवतशास्त्रविरुद्धतया हेयमेव। तथा च वस्तुतो ज्ञानिनो न भक्तिशून्याः, एवं वास्तविका भक्ता अपि नाज्ञानिनः, इति ज्ञानभक्त्योरेकाधिकरणवृत्तित्व-

---

विधान उचित नहीं है।

जो कोई ऐसा कहता है — परमात्मा वस्तुतः परमप्रिय होने पर भी ज्ञानियों के द्वारा साक्षात् अनुभूत होने पर भी रतिके विना वह प्रेमास्पद नहीं होता है। अतः वह भक्तोंके लिए ही परमप्रिय होता है, ज्ञानियोंके लिए नहीं, उसका ऐसा कहना मिथ्या प्रलापमात्र है। परमप्रियरूपसे साक्षात् अनुभूत उस परमात्मामें प्रीति नहीं होती है, ऐसा कथन सर्वथा विरुद्ध ही है 'ज्ञानवान्के लिए मैं भगवान् इष्ट हूं, परम प्रिय हूं' 'मेरे विना उनको कोई भी अन्य अर्थ प्रिय नहीं है' अतः 'ज्ञानी मुझे अतिप्रिय है' 'उनमें ज्ञानी नित्ययुक्त है और एक भक्तिवाला है, इसलिये वह सबसे श्रेष्ठ है, ज्ञानवान् को मैं भगवान् अत्यन्तप्रिय हूं' इन भागवत और गीताके वचनोंसे भी विरुद्ध है, एक-भक्ति इस विशेषणसे सबसे विरक्त ज्ञानवान्की सदा अनन्य प्रेमलक्षणा भगवन्निष्ठा है, एक मुझमें ही उसकी अनुरक्ति है, ऐसा कहा गया है। और भी चार प्रकारके जन मेरी भक्ति करते हैं, इस वचनके प्रामाण्य से ज्ञानवान् भक्त ही हैं, केवल भक्त ही नहीं, किन्तु श्रेष्ठ भक्त हैं, 'विशिष्यते' इस वाक्यसे स्वयं भगवान् ने ही उसकी श्रेष्ठता कही है, तथा च भगवान् भक्तोंको ही परमप्रिय होता है, ज्ञानवानोंको नहीं, ऐसा ज्ञानियोंसे भक्तोंका विभक्त रूपसे कथन सर्वथा गीता और भागवत शास्त्रसे विरुद्ध होनेके कारण त्याज्य है, तथा च वस्तुतः ज्ञानवान् भक्ति शून्य नहीं होते, और वास्तविक-भक्त भी अज्ञानी नहीं होते, इस प्रकार ज्ञान और

मेव यथार्थः सिद्धान्त इति ज्ञेयम् ।

यत्तु कश्चित् स्वपाण्डित्यप्रदर्शननिपुणः 'स्वाराज्यं' इत्यस्य स्वेन = स्वीयेन प्रभुणा सह राजत इति स्वराट् = दासः, तस्य भावः कर्म वा दास्य-मृच्छति' इति व्याख्यानं करोति । तदतितुच्छम । स्वातन्त्र्यस्य पारतन्त्र्य-व्याख्यानमिव स्वाराज्यस्यार्थो दास्यमिति दुराग्रहिणं स्वसंप्रदायपुच्छसंबद्धं विहाय कश्चन मतिमान् सुसंगततया न हि मनुते, इत्यलमतिविस्तरेण ।

—❀—

(१७)

(ब्रह्माद्वयभावेन वैकुण्ठनाथस्य, श्रीविष्णोः पारमार्थिकस्वरूप-वर्णनम्, तस्य साकारविग्रहस्तु भारतमानचित्रमिव तत्परिचायक एव) ।

अद्वैतभाव एवानन्तशान्तिसुखपूर्णः, न तत्र लेशतोऽपि भयं दुःखमनिष्ट-शङ्का वा विद्यते । अत एव श्रीमद्भागवतादिशास्त्रैः भगवतः पारमार्थिकस्वरूप-मद्वैतभावेनैव वर्ण्यते । द्वैतभावस्तु प्रभूतदुःखपूर्णः, भयस्य शङ्कायाश्च निदा-

भक्ति एक ही अधिकरणमें वर्तमान रहती है, ऐसा यथार्थ-सिद्धान्त समझना चाहिए ।

जो कोई - अपने पाण्डित्यके प्रदर्शनमें निपुण है, वह स्वाराज्य इस पदका दास्य ऐसा व्याख्यान करता है, अपने प्रभुके साथ जो विराजमान रहता है वह स्वराट् है अर्थात् दास है उसका जो भाव है, या कर्म है, उसका नाम दास्य है ऐसा व्याख्यान अतितुच्छ है । जैसे कोई स्वातंत्र्य पदका पारतंत्र्य रूप अर्थसे व्याख्यान करे, वैसे स्वाराज्यका अर्थ दास्य करना दुराग्रही - स्वसम्प्रदायकी पुच्छमें सम्बद्धको छोड़कर, कोई भी मतिमान् सुसंगत रूपसे नहीं मान सकता है, अति विस्तारसे बस है ।

(१७)

(ब्रह्माद्वयभावसे वैकुण्ठनाथ श्रीविष्णुके पारमार्थिक स्वरूपका वर्णन, उसका साकार विग्रह तो भारतके मानचित्रकी तरह उस पारमार्थिक स्वरूपका परिचायक ही है) ।

अद्वैतभाव ही अनन्तशान्ति और सुखसे पूर्ण है, उसमें लेश भी भय दुःख और अनिष्टकी शंका नहीं रहती है, इसलिए श्रीमद्भागवतादि - शास्त्रोंके द्वारा भगवान्का पारमार्थिक स्वरूप अद्वैतभावसे ही वर्ण्यमान होता है, द्वैतभाव तो प्रभूत-

नम्। अत एव तैरसकृद् स हेयतया कथ्यते । यथा श्रीमद्भगवद्गीताध्यान-श्लोके 'अद्वैतामृतवर्षिणी' इत्यनेनामृतताऽद्वैतभावस्योपादेयतया 'भवद्वेषिणी' इत्यनेन द्वैतभावमयस्य भवस्य द्वेषविषयताबोधनेनार्थगम्या विषता हेयतया च प्रतिपाद्यते । तथऽत्रापि श्रीमद्भागवते तृतीये श्रीवैकुण्ठनाथस्य विष्णोः पारमार्थिकस्वरूपस्य वर्णनमपि ब्रह्माद्वैतभावेनैव प्राशस्त्याय ध्यानाय च क्रियते श्रीसनकादिभि मुनिभिः। द्वैतभावमयविषमस्वभाववतो जयविजययो-र्भगवदालयद्वारपालयोः स्वकृतं तर्जनं दण्डपातञ्च वर्णयद्भिर्द्वैतभावो विनि-न्द्यते । तथाहि — 'सर्वत्र तेऽविषमया मुनयः स्वदृष्ट्या ये सञ्चरन्त्यविहता विगताभिशङ्काः ।' (भा० ३ । १५ । २६) इत्यादिना प्रतिपादिता विदित-ब्रह्मात्मतत्त्वाः समदर्शिनो भयशंकारहिताः सर्वत्रानिवारितपादप्रचाराः सनकादयो मुनयः कदाचित् सुहृत्तमस्य श्रीहरेर्दर्शनकांक्षया प्रशस्ततममद्भुत-दर्शनं विश्वगुरुणा श्रीहरिणाऽधिष्ठितं श्रीवैकुण्ठमभिजग्मुः । तत्र गत्त्वा तं भुवनैकवन्द्यं दिव्यतमं भगवदालयं दृष्ट्वा परां मुदमापुः । तस्य सौन्दर्यसौरभ्यदिव्यतायुक्तेषु हर्म्यप्राकारद्वारादिषु अपि विषयबुद्धिमकुर्वाणाः,

---

दुःखसे पूर्ण है, भय और शंकाका कारण है, इसलिए उनके द्वारा वह बार-बार हेय रूपसे कहा जाता है । जैसे श्रीमद्भगवतगीताके ध्यान श्लोकमें 'अद्वैतामृतवर्षिणी' इस विशेषणसे उपादेयताके लिए अद्वैतभावमें अमृतताका - 'भवद्वेषिणी' इस विशेषणसे द्वैतभावप्रचुर - संसारमें द्वेषकी विषयताके बोधन द्वारा हेयरूपसे अर्थगम्य विषताका प्रतिपादन किया जाता है । वैसे यहां श्रीमद्भागवद्के तृतीयस्कन्ध-में भी श्रीवैकुण्ठनाथ विष्णुके पारमार्थिक स्वरूपका वर्णन भी प्रशस्तिके लिए तथा ध्यानके लिए ब्रह्माद्वैतभावसे ही श्रीसनकादि-मुनियोंके द्वारा किया जाता है । द्वैत-भावमय विषम स्वभाव वाले भगवदालयके द्वारपाल — जो जय विजय हैं, उनका स्वकृत ताड़न, और दण्ड प्रदानके वर्णन करने वाले सनकादियोंके द्वारा द्वैतभावकी निन्दा की जाती है, जैसे 'उन सनकादियोंकी दृष्टितो सर्वत्र समान थी, भेदभावसे रहित थी, अतएव वे निःशंक होकर सर्वत्र विना प्रतिबन्धके विचरते थे' इत्यादि वचनके द्वारा प्रतिपादित सनकादिकमुनि, जो समदर्शी थे, भय और शंकासे रहित थे, सर्वत्र उनका पाद - संचार किसीसे भी निवारित नहीं था, जिन्होंने ब्रह्मात्म तत्त्व-का साक्षात्कार किया था, वे - कदाचित् अतिसुहृद् श्रीहरिके दर्शनकी इच्छासे जो अतिप्रशस्त है—अद्भुत दर्शनीय है - विश्वगुरु श्री हरिके द्वारा अधिष्ठित है, ऐसे श्रीवैकुण्ठमें गये । वहां जाकर भुवनैकवन्द्य - यानी सभी भुवनोंके द्वारा एकमात्र वन्दनीय - अतिदिव्य उस भगवदालयको देखकरके परम प्रसन्नताको प्राप्त हुए, उसके सौन्दर्य सौरभ्य और - दिव्यतासे युक्त महल, किला, द्वार आदियोंमें भी विषय बुद्धि

अतएव तत्रासज्जमाना द्वारपालौ जयविजयाख्यौ देवावपश्यन् । ते ताव-पृष्ट्वैव यथा तस्य षट् प्राकारद्वाराणि विविशुः, तथैव सप्तमायामपि द्वारि निर्विविशुः । तान् ब्रह्मसमवयस्कान् पंचवर्षबालकवत्प्रतीयमानान् नग्नान् ब्रह्मविद्वरीयसः तौ तिर्यग्वेत्रधारणेन 'भगवदन्तःपुरं यूयं मा विशतेति वाचा च निवारितवन्तौ । इत्थं श्रीहरे द्वारपालपतिभ्यां जयविजयाभ्यां वैकुण्ठीयदेवेषु पश्यत्सु वार्यमाणास्ते - मुनयः ऊचुः—

को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चैः,
तद्धर्मिणां निवसतां विषमः स्वभावः ।
तस्मिन् प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां,
को वाऽऽत्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः ॥
न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षा-
वात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः ।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं,
व्युत्पादितं ह्युदरभेदि भयं यतोऽस्य ॥

नहीं करने वाले, अत एव उनमें आसक्त न होने वाले, उन मुनियोंने - जय विजय नामके द्वारपाल - देवोंको देखा । वे मुनि उनको न पूछकरके ही, जैसे उस भगवदालयके छः किलोंके द्वार प्रविष्ट हुए थे, वैसे ही इस सप्तम द्वारमें भी प्रविष्ट होने लगे, जो ब्रह्माजीके समान आयुष्यवाले, पांच वर्षके बालकके समान प्रतीयमान-नग्न और ब्रह्मवेत्ताओंमें अतिश्रेष्ठ थे । उनका—टेढि बेंतके धारण द्वारा तथा 'आप लोग भगवान्के अन्तःपुरमें प्रष्टि न हों' इस वाणीके द्वारा उन्होंने निवारण किया, इसप्रकार श्रीहरिके द्वारपालोंके नायक जय विजयोंके द्वारा देखनेवाले वैकुण्ठके देवताओंके समक्ष - निवारित किये गये, अतः उन—

'मुनियों ने कहा — अरे द्वारपालो ! जो लोग भगवान् की महती सेवा — भक्तिके प्रभावसे इस वैकुण्ठ लोकको प्राप्त होकर यहां निवास करते हैं, वे भगवान्के समान ही समदर्शी अद्वय-ब्रह्मभावापन्न होते हैं । तुम दोनों भी उन्हींमें से हो, किन्तु तुम्हारे स्वभावमें यह विषमता क्यों है ? भगवान् तो परम शान्तस्वभाव हैं, उनका किसीसे भी विरोध नहीं है, फिर यहां ऐसा कौन है—जिस पर शंका की जा सके । तुम स्वयं कपटी हो, इसीसे अपने ही समान दूसरों पर शंका करते हो । भगवान्के उदरमें यह सारा ब्रह्माण्ड अवस्थित है, इसलिये यहां रहनेवाले ज्ञानी जन, सर्वात्मा श्रीहरि

तद्धाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः,
कर्तुं प्रकृष्टमिह धीमहि मन्दधीभ्याम्।
लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्ट्या,
पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ॥

(भा० ३ । १५ । ३२-३३-३४)

तदुक्तिमेव दर्शयति — को वामित्यादिभिस्त्रिभिः — उच्चैः = महत्या, जन्मान्तरेष्वनेकेषु कृतया भगवत्सायुज्यप्राप्तिकामनया भगवत्परिचर्यया = भगवदाराधनया, एत्य = इमं वैकुण्ठलोकं प्राप्य, इह निवसतां तद्धर्मिणां = तस्य भगवतः समदर्शित्व - भेदभावबर्जितत्व - सत्यत्वानन्तत्वादयो धर्माः तद्वतां मध्ये, वां = युवयोः, कोऽयं निन्दनीयः = परिहरणीयः, क इत्याक्षेपे, विषमः = भगवत्स्वभावपरिपन्थी स्वभावः = भेदभावयुक्ता कैश्चित्प्रवेष्टव्यं, कैश्चिन्नेति समभावरहिता बुद्धिः । ननु — स्वामिनो रक्षणाय द्वारपालयोरेवं स्वभावो न निन्दनीयोऽपितु प्रशंसनीय इति चेत्तत्राहुः—तस्मिन्निति—आत्मवत् =स्वदृष्टान्तेन, 'आत्मवन्मन्यते जगत्' इति लौकिकन्यायात् । यथा आवां कुटिलौ, तथाऽन्योऽपि कश्चित् कुटिलः प्रवेदयतीत्येवं परिशंकनीयः, वां = युवयोः तस्मिन् भगवति को वाऽस्ति = भगवद्विरोधी कोऽपि नास्तीत्यर्थः । भगवतः सर्वात्मत्वात् , आत्मविरोधः केनापि कर्तुं न शक्यत इति भावः । सति चैवं भगवानपि सर्वत्र स्वात्मानमेवान्तर्बहिः पश्यति, न त्वात्मभिन्नं कमपि कदापि पश्यति, अतएव भगवति स्वस्वरूपानुकूल एव विशेषणे प्राहुः— गतविग्रहे-प्रशान्तपुरुषे इति । गतविग्रहे = त्यक्तकलहे—परित्यक्तप्रियत्वाप्रियत्वादिप्रयुक्तरागद्वेषादिरूपविरोधे, 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।' (गी० ६ । २६) इति गीतासु श्रीमुखस्मरणात् । तत्रापि हेतुमाह —

से अपने आत्माका कोई भेद नहीं देखते, बल्कि महाकाशमें घटाकाशकी भांति, उनमें अपना अन्तर्भाव - अभेदभाव देखते हैं । तुम तो देवरूपधारी हो, फिर भी तुम्हें ऐसा क्या दिखाई देता है । जिससे तुमने भगवान्के साथ कुछ भेदभावके कारण होनेवाले भयकी कल्पना कर ली । तुम हो तो इन भगवान् वैकुण्ठनाथके पार्षद, किन्तु तुम्हारी बुद्धि बहुत मन्द है, अतएव तुम्हारा कल्याण करनेके लिए हम तुम्हारे अपराधके योग्य दण्डका विचार करते हैं । तुम अपनी भेदबुद्धिके दोषसे इस वैकुण्ठलोकसे निकलकर उन पापमय योनियोंमें जाओ, जहां काम, क्रोध, लोभ, प्राणियोंके ये तीन शत्रु निवास करते हैं ।'

प्रशान्ते = पराशान्तिब्रह्माद्वयनिष्ठापरमानन्दत्वादिगुणयुक्ते, पुरुषे = क्षराक्षरातीते पुरुषोत्तमे। अतोऽत्रानन्यभगवद्भक्तिं, भगवत्तत्त्वज्ञानञ्च विना कस्यचिदप्यागमनासंभवात्, तादृशे - इष्टानिष्टभेदभावरहिते सर्वात्मनि भगवति विरोधाभावेन, 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृ० उ० १। ४। २) 'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्' (भा० ११। २। ३७) इति श्रुतिभागवतवचनाभ्यां द्वितीयाद् = आत्मभिन्नादेव भयं संपद्यते। अतोऽत्राद्वितीये ब्रह्मणि स्वात्मभेदाभावाद् भयसंभावनैव नास्ति। तत्र भयमिषेणास्मत्प्रतिषेधकर्त्रोर् युवयोरेव कौटिल्यं भेददर्शित्वलक्षणमित्याहुः—कुहकयोः = कुटिलचित्तयोः।

यद्वा ननु—मुनिवेषेणात्र केचन भगवद्द्वेषिणोऽपि कपटेन प्रवेक्ष्यन्तीत्यतो मुनयोऽपि जिज्ञास्या एव, ततः प्रवेशनीया इति चेत्तर्हि युवामेव भगवद्भक्तवेषेण कपटिनौ, तदीयप्रशान्तत्वादिदिव्यगुणलोपे प्रवृत्तौ तद्द्वेषिणावत्रत्यौ को वा शङ्कनीय इति काक्वा" युवामेव परिशङ्कनीयौ न त्वन्यः कोऽपि तस्य द्वेषित्वेन शङ्कनीय इत्याहुः तस्मिन्निति। अतो युवां केवलं धूर्तावेवेति।

अनिष्टोत्पादनं द्वेषकर्तृत्वञ्च भयशंकाबीजं भेददर्शनपूर्वकमेव भवति, तदत्र समभावमये भगवदालय आगतस्य कस्यापि भेददर्शनं न संभवतीत्याहुः—इह = अस्मिन्, भगवति. अन्तरं = भेदः-नानात्वं-पृथक्त्वं, नहि = नैवास्तीति वाक्यशेषः। 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० उ० ४। ४। १६) इति श्रुतिप्रामाण्यादपि। नानात्वप्रत्युपस्थापिकाया अविद्याया निवृत्तत्वादिह ब्रह्मणि नाना = भिन्नत्वं नास्ति, किञ्चनाणुमात्रमपीत्यर्थः। तत्र हेतुमाह— समस्तकुक्षौ = निखिलविश्वाधिष्ठान इत्यर्थः। समस्तं चराचरं विश्वं विविधभेदभिन्नं नामरूपकर्माद्यात्मकं कुक्षौ यस्य तस्मिन्। यथा कुक्षि र्विविधानामन्नानामधिष्ठानं तथा भगवानपि विश्वाधिष्ठानः। अतोऽत्रत्यः कुक्षिशब्दो भगवत्यधिष्ठानतामर्थाद्विश्वस्याध्यस्ततांञ्च ज्ञापयति, सति चैवमध्यस्तस्य विश्वस्याधिष्ठानानतिरिक्ततया तद्भेदः कथमपि तत्र नावतिष्ठते इति भावः।

अतो धीराः = अविकृतबुद्धयो विद्वांसः, यत्र = यस्मिन्, आत्मनि- परमात्मनि, आत्मानं = चराचरजीवसमुदायं, नभसि = महाकाशे, नभः इव = घटाकाशमिवाभेदेनावस्थितमेव पश्यन्ति, न मनागपि आत्मनोऽन्तरं-भेदं पश्यन्ति। यतः = यस्मात् यथाऽन्यस्य राजादेरुदरभेदि = उदरभेदप्रयुक्तं, उत = अपि, अरः = अल्पो, यो भेदः, तज्जन्यं भयं भवति, तथाऽस्य श्रीहरेः सर्वात्मनो विश्वाधिष्ठानस्य तादृग्भयं, सुरलिङ्गिनोः = देववेषधारिणो र्युवयोः = युवाभ्यां, कि व्युत्पादितं = विशेषेणोत्पादितं - परिशंकितं तत् किम्? न किञ्चिदित्यर्थः। तस्माद् युवयो र्देवानां वञ्चनानिदानं वेषमात्रमेव,

भगवति भेदभयदर्शितया स्वभावस्यासुर एवेति भावः ।

श्रीमद्भागवतमहापुराणस्य सर्ववेदान्तसारभूततया तद्वचनानामपि 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' इति कपिकुलगुरूक्तन्यायेन स्वमूलभूतोपनिषत्श्रुतिवचनानुसरणशीलत्वात् 'उदरभेदिभयं' तैत्तिरीयारण्यकश्रुतावपि स्पष्टमित्थं प्रत्यपादि । तथाहि – 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति, तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य ।' (तै०उ० २ । ७) । अयमर्थः – उच्छब्दोऽपिशब्दार्थे वर्तते, अरशब्दोऽल्पवाची, अन्तरशब्दो भेदवाची, तथा चोदरमन्तरं इत्यस्य अल्पमपि = यत्किञ्चिदपि भेदमित्यर्थोऽवसेयः । यदा = अविद्यावस्थायां, हि = यस्माद् एषः = अविद्यावान् - लौकिको जनः, अविद्यया प्रत्युपस्थापितं सद्वितीयं वस्तु तैमिरिकद्वितीयचन्द्रवत् पश्यति, आत्मनि चैतस्मिन् ब्रह्मणि उद् = अपि, अरं = अल्पमपि, अन्तरं = छिद्रं भेददर्शनं कुरुते, स्वस्माद् भेदेन ब्रह्म पश्यति । भेददर्शनमेव ह्यन्तरकरणं, अल्पमपि सेव्यसेवकत्वादिलक्षणं भेदं पश्यतीत्यर्थः । जीवब्रह्मभेदस्य वास्तवत्वाभावाभिप्रायेणाल्पमपीत्युक्तम् । भेददर्शिनो जन्ममरणादिसंसारभयप्राप्तिं श्रुत्यन्तरसिद्धां हिशब्देन दर्शयति । 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति ।' (बृ० उ० ४ । ४ । १९) 'ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' (बृ० उ० २।४।६) इत्याद्याः श्रुतयो द्रष्टव्याः । अथ = तदा-तस्माद्भेददर्शनाद्धेतोरस्य भेददर्शिन आत्मनो भयं भवति । यद्वा यदा एतस्मिन् - स्वात्माभिन्ने ब्रह्मणि स्वात्मभेदं पश्यति, तदा तस्य संदिग्धस्य विपर्ययस्थस्याज्ञानिनश्च । भयं = अविद्यातत्कार्यतत्संस्कारजन्यं, अध्यात्माधिभूताधिदैवभेदभिन्नं वाचि मनसि काये चासह्यदुःखकारणं जन्मादिलक्षणं भवति, ब्रह्म व संदेहविपर्ययाज्ञानैरुक्तभयरूपं भवति, स्रगिव सर्पाद्याकारैः । तस्मादात्मैवाऽऽत्मनो भयकारणमविदुषस्तदेतदाह–तद् = ब्रह्म, तु = एव, भयं भेददर्शिनो विदुषः = ईश्वरोऽन्यो मत्तोऽहमन्यः संसारी' इत्येवं विदुषः, भेददृष्टमीश्वराख्यं तदेव ब्रह्म, अल्पमप्यन्तरं कुर्वतो भयं भवति - एकत्वेनामन्वानस्य । तस्माद्विद्वानप्यविद्वानेवासौ योऽयमेकमभिन्नं ब्रह्मात्मतत्त्वं न पश्यति, उच्छेदहेतुदर्शनाद् हि, उच्छेद्याभिमतस्य भयं भवति, अनुच्छेद्यो हि उच्छेदहेतुः, तत्रास्त्युच्छेदहेतावनुच्छेद्ये तद्दर्शनकार्यं भयं युक्तम् । यद्वा शास्त्रीये कर्मणि यागादावधिकृतस्य विदुषः, ब्रह्मविदश्च न साम्यं, भिन्नाभिन्नबुद्धित्वेन विरुद्धत्वात् अमन्वानस्य = ब्रह्मास्मीत्यभेदेन मननरहितस्य । इदमेव वैषम्यं कर्मब्रह्मविदोः । अतः कर्मविदुषोऽपि ब्रह्मतत्त्वमजानतो भेददर्शित्वात्तदेव भयं = अत्यन्तमूढस्येव जन्ममरणादिसंसारभयं भवति ।

यदा त्वयं साधको ब्रह्मविद्यादशायां परमात्मनि स्वात्मभेदं न पश्यति, तदाऽभयं गतो भवति, इत्यपि तैत्तिरीयोपनिषद्श्रुतिः प्राह–'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।' (तै० २। ७) इति। अयमर्थः — एतस्मिन् = स्वात्मरूपेणात्यन्तसन्निहिते स्वानुभवगम्ये, ब्रह्मणि, कीदृशे ? अदृश्ये = बाह्यान्तरेन्द्रियज्ञानाविषयेऽविकारे, अनात्म्ये = आत्मन इदमात्म्यं–त्रिविधं शरीरं न यस्यासावनात्म्यस्तस्मिन्-त्रिविधशरीरशून्येऽशरीरिणि, अनिरुक्ते = निरुक्तशून्ये-वाचामगोचरे, अनिलयने = निलयनं - आश्रयं तद्हीने - अनाधारे - स्वमहिम्नि प्रतिष्ठिते सर्वकार्यधर्मविलक्षणे ब्रह्मणीति वाक्यार्थः। अभयं = अविद्यासंस्कारा भयानकजन्मादिसंसारहेतुभूताः भयं, तच्छून्यमभयमित्यर्थः। प्रतिष्ठां = इदमहमस्मीति तादात्म्येन प्रतिकूलसंस्कारराहित्यलक्षणेन प्रकर्षेण स्थितिं विन्दते = लभते एव। अथ = तदा, सः = साधको विद्वान्–अस्मिन् प्रतिष्ठां प्राप्तः, अभयं = स्वयंप्रकाशाद्वयानन्दपूर्णात्मस्वरूपाविर्भावं गतः = प्राप्तः सन् सर्वदा जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः। अभयामिति वा लिङ्गान्तरं परिणम्यते। प्रतिष्ठां = ब्रह्मात्मभावलक्षणां स्थितिं। अथ - तदा सः तस्मिन्नानात्वस्य भयहेतोरविद्याकृतस्यादर्शनादभयं गतो भवति। स्वरूपप्रतिष्ठो ह्यसौ यदा भवति, तदा नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति। अन्यस्य ह्यन्यतो भयं भवति, न आत्मन एवात्मनो भयं युक्तम्। तस्मादात्मैवात्मनोऽभयकारणम्। सर्वतो हि निर्भया ब्रह्मविदो ब्राह्मणा दृश्यन्ते सत्सु भयहेतेषु। तच्चायुक्तमसति भयत्राणे ब्रह्मणि। तस्मात्तेषामभयदर्शनादस्ति तदभयकारणं ब्रह्मेति। कदाऽसौ अभयं गतो भवति साधकः ? यदा नान्यत्पश्यति, आत्मनि चान्तरं-भेदं न कुरुते, तदाऽभयं गतो भवतीत्यभिप्रायः। यद्वाऽभयशब्देन द्वैतराहित्यमित्युच्यते, बिभेत्यस्मादितिव्युपत्त्या भयं = ब्रह्मव्यतिरिक्तमविद्याकल्पितं वस्तु कथ्यते 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इतिश्रुत्यन्तरात्। अहमन्यो ब्रह्मान्यदित्येतादृशं द्वैतं भयं तद्रहितमभयं तद्यथा भवति, तथा प्रतिष्ठां लभत इति योजनीयम्।

यत्तु द्वैतिनः कस्यचिद् 'उदरभेदि भयमि' त्यस्य व्याख्यानमिदं - कश्चिच्छत्रुर्वेषान्तरेण प्रविश्य प्रभोरस्योदरं भेत्स्यतीति भयमिति। तदतीवतुच्छम। पूर्वोक्तप्रबलतरश्रुतिप्रमाणविरुद्धत्वात्, सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वाद्यनन्तकल्याणगुणगणार्णवे भगवति तदुदरभेदनप्रयुक्तभयस्यायुक्तत्वात्, भयशङ्काशोकादिराहित्येन वर्णितस्य महामहिमशालिनो भगवदालयस्य वैकुण्ठस्य स्वरूपनाशप्रसङ्गाच्च। 'न ह्यन्तरं भगवतीह' इत्यनेन सामान्यतः स्वगतादि-

सकलभेदनिषेधस्य, 'नभो नभसीव' इत्यनेन घटाकाशमहाकाश - दृष्टान्तज्ञापिताभेदभावस्य 'समस्तकुक्षौ' इत्यनेन सर्वविश्वाधिष्ठानत्वस्य च बोधनं अल्पस्यापि भेदस्य भयहेतुत्वमेव प्रकृतसंगततया समर्थयति, अन्यथा तद्बोधनमसंगतमेव स्यादित्यलम् ।

संप्रति तयोर्द्वारपालयो र्भगवत्यद्वयब्रह्मणि भेदस्य तज्जन्यभयस्य च दर्शनरूपस्य महापराधस्याद्वयब्रह्मलक्षकाद् वैकुण्ठात् सद्यः पतनरूपं, भेदभययोर्विविधकामादिदोषस्य चास्पदभूताविद्यादुःखमयनिकृष्टलोकप्राप्तिरूपञ्च दण्डनिपातं कथयन्तः सनकादयो मुनयः प्राहुः — यस्माद् वृथैव भगवति भेदभयमारोप्य वयं निवारिताः, तत् = तस्माद्, अमुष्य परमस्य = परमेश्वरस्य, विकुण्ठभर्तुः = वैकुण्ठनाथस्य, वां = युवाभ्यां भृत्याभ्यां मन्दधीभ्यामपि, प्रकृष्टं भद्रमेव कर्तुमिह = अस्मिन् अपराधे, यद्युक्तं तत् धीमहि = वयं चिन्तयेम - विचारयेम, इत्युक्त्वा यच्चिन्तितं तदेवाहुः - लोकानिति । अन्तरस्य = भेदस्य, अविद्याकल्पिततया वस्तुतोऽसतोऽपि, भावः = सत्ता, तस्य मिथ्यादृष्ट्या, मृषाभेददर्शनेन दोषेण इतो = वैकुण्ठस्थानात् , पापीयसो लोकान्व्रजतमित्यन्वयः । के ते लोकाः ? इत्यपेक्षायामाहुः-यत्र = येषु लोकेषु 'कामःक्रोधस्तथा लोभः, इमे त्रयोऽस्य भेदद्रष्टुरज्ञानिनः रिपवः सन्तीति । यद्वा 'पापीयसः' इति अस्य-अन्तरभावद्रष्टुः विशेषणम् । अर्थात् भेदभावद्रष्टा अतिशयेन पापी, तस्य रिपवः कामादयः सन्तीत्यर्थः । तदेतदुक्तं स्मृत्यापि 'अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिबुद्ध्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥' इति भेदभावरहितमात्मानं अन्यथा = भेदभावयुक्तम् ।

अत एव 'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' (ऋ० ६ । ४७ । १८) इति ऋग्वेदीयन्यायेनास्य वैकुण्ठनाथस्य श्रीविष्णो र्मुनिमनोहारी दिव्यतमसुन्दरतमसाकारविग्रहस्तु तस्य पारमार्थिकाद्वयब्रह्मस्वरूपस्यैव 'भारतराष्ट्रस्य मानचित्रमिव' परिचायकः प्रत्येतव्यः । 'भक्त्या मामभिजानाति' (गी० १८ । ५५) इति गीतोक्तन्यायेन तदुपासनयाऽपि तस्यैवाधिगमो भवति । सत्येवं वैकुण्ठवास्तव्या दिव्यतमा देवाः पक्षिणो वृक्षलतादयो ये केऽपि सन्ति, ते सर्वेऽपि 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः । निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥' (गी० ५ । १९) इति श्रीमुखवचनस्य, 'अजित ! जितः सममतिभिः साधुभिर्भवान् ।' (भा० ६ । १६ । ३५) इति श्रीमद्भागवतवचनस्य च प्रामाण्याद् निर्विकारे समेऽद्वयेऽनन्तानन्दपूर्णे ब्रह्मणि समवस्थानतया द्वैतसंसारप्रपञ्चातीततया धन्यतमा भवन्ति । अत एव तेषु दिव्यविषयसंनिधानेऽपि नास्ति विषयविकारः, अहं त्वमिति पृथगभिमतिः, तव ममेति च

भेदभावः, स्पर्धाऽसूयेर्ष्याद्यासुरभावश्च । तस्मात्प्ररोचकभाषयाऽभिवर्णितो नितान्तस्पृहणीयो वैकुण्ठलोकोऽपि प्रशस्ततमस्य भक्त्यादिसकलसाधनफल-भूतस्याद्वयब्रह्मानन्दपूर्णस्य 'कैवल्यमिव मूर्तिमत्' (भा० ३ । १५ । १६) इति समाधिभाषागम्यस्य समभावस्यैवास्ति परिचायक इति । तथाहि—

'वैमानिकाः सललनाश्चरितानि यत्र गायन्ति लोकशमलक्षपणानि भर्तुः । अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः ॥ पारावतान्यभृतसारसचक्रवाकदात्यूहहंसशुकतित्तिरिबर्हिणां यः । कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चैः, भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने ॥ मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण - पुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः । गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्याः यस्मिंस्तपः सुमनसो बहुमानयन्ति ॥' (भा० ३ । १५ । १७-१८-१९) ❀ । तत्र वर्तमानालौकिकभोगसामग्र्यामपि वैरक्त्य-प्रदर्शनपूर्वकं भगवत्स्वरूपादिचिन्तनपरतां तत्रत्यानां देवानामाह — वैमानिका इति । अन्तर्जले = जलमध्ये, अनुविकसन्मधवः = प्रसरन्मकरन्दाः माधव्यः = मधुकालीनाः सुमनसः-वसन्तसमयविकसन्पुष्पाणि, तासां गन्धेन दिव्येन खण्डिता = विघ्निता = चालिता धीर्येषां, तथा भूता अपि । तद्-गन्धप्रापकं-अनिलं, क्षिपन्तः = अगणयन्तः, तत्रानुरागं परित्यजन्तः, सल-लनाः = सस्त्रीकाः वैमानिकाः = विमानसंचारिणो देवाः, यत्र वैकुण्ठधामनि,

---

❀ वहां विमानसंचारी देवगण अपनी प्रियाओंके सहित अपने प्रभुकी पवित्र लीलाओंका गान करते रहते हैं । जो लोगोंकी सम्पूर्ण पापराशिको भस्म कर देने-वाली हैं, उससमय सरोवरमें खिली हुई मकरन्दपूर्ण वासन्तिक - माधवी - लताकी सुमधुर-गन्ध उनके चित्तको अपनी ओर खींचना चाहती है, परन्तु वे उसकी ओर ध्यान नहीं देते, परंतु उस गन्धको उड़ा कर लानेवाले वायुको ही बुरा भला कह कर भगवान्के उस पारमार्थिक - अद्वयानन्दमें ही निमग्न रहते हैं । जिससमय भ्रमरराज, ऊंचे स्वरसे गुंजार करते हुए मानो हरिकथाका गान करते हैं, उस समय थोड़ी देरके लिए कबुतर, कोयल, सारस, चकवे, पपीहे, हंस, तोते, तीतर और मोरोंका, कोलाहल बन्द होजाता है । मानो वे भी उस कीर्तनके अद्वयानन्दमें बेसुध हो जाते हैं । श्रीहरि तुलसीसे अपने श्रीविग्रहको सजाते हैं, और तुलसीकी-गन्धका ही अधिक आदर करते हैं - यह देखकर वहांके मन्दार, कुन्द, कुरबक, उत्पल (रात्रिमें खिलने वाले कमल) चम्पक, अर्ण, पुन्नाग, नागकेशर, बकुल, (मौलसिरी) अम्बुज (दिनमें खिलने वाला कमल) और पारिजात आदि पुष्प सुगन्ध युक्त होने पर भी तुलसीका ही तप अधिक मानते हैं । अर्थात् उससे ईर्ष्या, द्वेषादि, नहीं करते हैं परन्तु उसमें अभेदभाव मानकर प्रसन्न होते हैं ।

भर्तुः = स्वस्वामिनो भगवतश्चरितानि गायन्तीत्यन्वयः। भगवत्स्वरूपप्रेमोन्मत्ताः सन्तस्तत्स्वरूपादिकमेव सततं चिन्तयन्तीत्यर्थः। दिव्यानिलाक्षेपप्रकारस्त्वित्थम् – अरे! माधवीपुष्पामोदतुंदिल! सुमन्दशीतलानिल! भगवत्स्वरूपध्यानानन्तानन्दार्णवमाधुर्ये निमज्जिता अस्माकं धियो वृत्तीः कथमाक्रष्टुं यतसे? । न वयं त्वां परिच्छिन्नविषयदृष्ट्याऽवलोकयामः किन्तु 'नमस्ते वायो! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' (तै० उ० १।१) इति श्रुतिवचनानुसारेण त्वां भगवत्स्वरूपमेव जानीमः। न केवलं त्वामेवापि तु वैकुण्ठतद्वास्तव्यदेवदेव्यादितद्वनस्थवृक्षपुष्पलताभूजलादिकं निखिलमपि भगवत्स्वरूपमेव मन्यामहे, न तद्व्यतिरिक्तं किमपि जानीमहे।

ननु–तथाभूतानिलसहकृतदिव्यस्त्रीसंनिधानेनापि कथं न तेषां कामादिविकार इत्याशंक्याह–लोकशमलेति। लोकानां = सर्वजनानां शमलानि = कामादिदोषमूलभूतानि - अविद्यादिपापानि क्षपयन्ति = निराकुर्वन्तीति तथाभूतानि - भगवच्चरितानि सन्ति, तद्गानेनैवार्थात्तदर्थचिन्तनपरेणैव सर्वदोषपापनिरासान्न तेषां भगवदनन्तानन्दध्याननिष्ठानां कामादिविकारसंभव इति भावः।

एतेन 'वैकुण्ठीयसकलपदार्थानां ब्रह्मानन्दरूपत्वेऽपि-आक्षेपाद्-ब्रह्मानन्दादपि भजनानन्दोऽत्यधिक इति निरस्तम्। परमपुरुषार्थ-भूतस्य ज्ञायमानानन्दस्य भगवत्स्वरूपत्वात् भगवतश्चानन्तत्वात्, अतस्त्रिविधभेदवर्जिते तदानन्दे न्यूनाधिकभेदस्यासंगतत्वात्।

एवं तावत्तत्रत्यानां देवानां निर्विकारतापूर्वकभगवच्चिन्तनपरतां प्रदर्श्य तत्रत्यानां दिव्यानां पक्षिणामपि - 'तत्र मृषा स्पर्धन्ते पृथगभिमत्या।' (भा० ६।१६।३५) इतिन्यायेन व्यतिरेकतः पृथगभिमत्यभावलभ्यमृषास्पर्धादिविकाराभावपूर्वकभगवद्भजनापारानन्दमाह–पारावतेति। यत्र पारावतादीनां पक्षिविशेषाणां यः कोलाहलः = निर्द्वन्द्वतासूचकस्वच्छन्दस्वस्वालापरूपः, सः, भृंगाधिपे = भृंगश्रेष्ठे हरिकथामिवोच्चै र्गायमाने सति अचिरमात्रं = क्षणमात्रं विरमते = समाप्तो भवतीत्यन्वयः। वैकुण्ठवनस्थाः पारावतादयः स्वस्वजात्यनुरूपं मधुरतरमालापं कुर्वन्तोऽपि हरिहरीति भृङ्गध्वनिमाश्रुत्यायमहो भृङ्गराजो हरिकथां गायतीत्यभिप्रायेण स्वकोलाहलं त्यक्त्वा क्षणमात्रं श्रीहरिस्वरूपवर्णनपरां भृंगध्वनिं श्रुत्वा हरिध्यानमग्ना भवन्तीत्यर्थः। अन्यभृताः = कोकिलाः दात्यूहाः = चातकाः, बर्हिणः = मयूराः। एतेन तेषां निर्मत्सरत्व–मनन्यभक्तिनैष्ठ्यञ्च द्योतितम्।

एवं पद्यादीनां भगवन्माधुर्यैकतानतामुक्त्वा स्थावराणां वृक्षादीनामपि

तामाह-यस्मिन् वैकुण्ठे, मंदारपारिजातौ सुरतरुविशेषौ, कुरवः = तिलकवृक्षः, उत्पलं = रात्रिविकासि कमलं, अम्बुजं = दिनविकासि पद्मं, नागः = नागकेसरः, अर्णः = करवीरः, पुन्नागः = सुरकर्णिकारः, एताः सुमनसः = पुष्पजातयः सुगन्धा अपि, तुलसिकाभरणेन = तुलसिकाभिः रचितान्याभरणानि कण्ठहस्तादौ धार्यमाणानि यस्य तेन भगवता हरिणा, तस्याः = तुलस्याः, गन्धे अर्चिते = संमानिते सति, तस्याः तुलस्याः तपो बहुमानयन्ति-अहो ! धन्यतमा त्वं तुलसि ! यदाभरणगन्धेन सर्वात्मा भगवान् प्रीयते इति। अनेन तत्रत्या वृक्षादयोऽपि-गुणग्राहिण एव न मत्सरिणो न चासूयादिमन्तः। अत एव तेषामपि - एकरसपरमानन्दमयत्वमात्मारामविहंगमस्पृहणीयत्वञ्चार्थतो द्योतितम्। किञ्च दिव्यधामनि वैकुण्ठे शोभार्थं पक्षिणो वृक्षादयश्च भगवदिच्छाकल्पिता एव, न कर्मवशतस्समायाताः केचन क्षुद्रजीवविशेषाः। 'वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः। रमया प्रार्थ्यमानेन' (भा० ८।५।५) इत्युक्तत्वात्। तथा च 'तदात्मानमेव स्वयमकुरुत' (तै०उ० २।७) 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' (छां०६।२।३) इति श्रुतिदर्शितरीत्या समग्रं वैकुण्ठं भगवत्स्वरूपविवर्त एवेति बोध्यम्)।

—❀—

(१८)

(श्रीकपिलपितुः कर्दममहर्षेः प्रव्रज्यायाः अनन्यभक्तेरद्वयब्रह्मनिष्ठायाः कैवल्यस्य च वर्णनम्)।

व्रतं स आस्थितो मौन-मात्मैकशरणो मुनिः।
निःसङ्गो व्यचरत् क्षोणीमनग्निरनिकेतनः॥
मनो ब्रह्मणि युञ्जानो यत्तत्सदसतः परम्।
गुणावभासे विगुण एकभक्त्याऽनुभाविते॥

(१८)

(श्रीकपिलके पिता कर्दममहर्षिकी प्रव्रज्या (संन्यास) का अनन्यभक्तिका अद्वय-ब्रह्मनिष्ठाका तथा कैवल्यमोक्षका वर्णन)।

'वहां अहिंसामय-अभेदभावमय संन्यासधर्मका पालन करते हुए वे एकमात्र आत्मस्वरूप श्रीभगवान्की शरण होगये, उसके सततानुसंधानमें लग गये। तथा अग्नि

निरहंकृतिर्निर्ममश्च, निर्द्वन्द्वः समदृक् स्वदृक् ।
प्रत्यक्-प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः ॥
वासुदेवे भगवति, सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि ।
परेण भक्तिभावेन, लब्धात्मा मुक्तबन्धनः ॥
आत्मानं सर्वभूतेषु, भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत् सर्वभूतानि, भगवत्यपि चात्मनि ॥
इच्छाद्वेषविहीनेन, सर्वत्र समचेतसा ।
भगवद्भक्तियुक्तेन, प्राप्ता भागवती गतिः ॥

(भा० ३ । २४ । ४२ - ४३ - ४४ - ४५ - ४६ - ४७)

तस्य प्रव्रज्यां दर्शयति-सः = कर्दमो महर्षिः, मुनिः = ब्रह्मतत्त्वमनन-शीलः, मौनं = मौनोपलक्षिताहिंसाब्रह्मचर्यादिलक्षणं व्रतं, आस्थितः = समाश्रितः, आत्मैकशरणः = आत्मा = परमात्मैव, एकः = मुख्यः शरणं = रक्षको यस्य सः । अत एव निःसंगः = विषयासक्तिरहितः, संसारिजनसंगरहितश्च, अनग्निः = परित्यक्तगृहाश्रमत्वाद् - अङ्गीकृतसंन्यासाश्रमत्वाच्च, आहवनीयाद्यग्निरहितः, अनिकेतनः = नियतावासरहितः, परिव्राजकः सन्, क्षोणीं = भूमिं व्यचरत् । तस्य चानन्यभक्तिनिष्ठां दर्शयति-यत् सदसतः = कार्य - कारणसंघातात् , मूर्तामूर्तरूपसमष्टिब्रह्माण्डात् व्यक्ताऽव्यक्तरूप - द्वैतप्रपञ्चाच्च, परं = अतीतं-विलक्षणं, तस्मिन् - ब्रह्मणि, मनो युञ्जानः =

और आश्रमका त्याग करके निःशङ्कभावसे पृथ्वी पर विचरने लगे । जो कार्यकारणसे अतीत है, सत्त्वादि गुणोंका प्रकाशक एवं निर्गुण है, और अद्वय-ज्ञानमयी अनन्यभक्ति से ही प्रत्यक्ष होता है, उस परब्रह्ममें उन्होंने अपना मन लगा दिया, वे अहंकार, ममता और सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे छूटकर समदर्शी (भेद-दृष्टिसे रहित) हो, सबमें अपने आत्माको देखने लगे, उनकी बुद्धि अन्तर्मुख एवं रागद्वेष रहित-शान्त हो गई । उस समय धीर कर्दमजी शान्त लहरोंवाले समुद्रके समान जान पड़ने लगे । अद्वय-ज्ञानमय - परमभक्ति भावके द्वारा सर्वान्तर्यामी - सर्वज्ञ श्रीवासुदेवमें चित्त स्थिर हो जानेसे वे सारे बन्धनोंसे मुक्त हो गये । सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्मारूप श्रीभगवान्को और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मस्वरूप श्रीहरिमें स्थित देखने लगे, इस प्रकार इच्छा और द्वेषसे रहित सर्वत्र सम-अभेदभावयुक्त बुद्धि और भगवद्भक्तिसे सम्पन्न हो कर श्रीकर्दमजीने भगवान्का परमपद-ब्रह्मनिर्वाण-कैवल्य प्राप्त कर लिया ।'

एकाग्रीकुर्वन् , तं भगवन्तमात्मानं सर्वभूतेष्ववस्थितमपश्यदिति चतुर्थेनान्वयः । तद् ब्रह्म कीदृशमिति तद्विशिनष्टि - गुणावभासे = प्रकृतेः त्रयाणां गुणानां कार्यकारणरूपेण परिणतानां सर्वत्र प्रसृतानामवभासः = प्रकाशो भानं भवति, यस्मात्तस्मिन्नित्यर्थः । विगुणे = प्राकृतगुणसंसर्गरहिते । तदुक्तं गीतास्वपि 'असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।' (१३ । १४) इति असक्तं = परमार्थतः सर्वसम्बन्धशून्यम् , तथापि सर्वभृत् = सर्वद्वैतप्रपञ्चाधारभूतम् , निरधिष्ठानाध्यासायोगात् । तथा परमार्थतो निर्गुणमपि गुणभोक्तृ = सत्त्वादिगुणतत्कार्यसुखदुःखादिप्रकाशकमित्यर्थः । एकया = एकान्तयाऽव्यभिचारिण्याऽनन्य-भक्त्याऽनुभाविते = अपरोक्षीकृते ।

संप्रति - तस्य ब्रह्मनिष्ठां वर्णयति-निरहंकृतिरित्यादिना । निर्द्वन्द्वः = शीतोष्णाशनायापिपासादुःखसुखादिद्वन्द्वरहितः, तत्र हेतुमाह — प्रत्यक्प्रशान्तधीः = प्रतीचि-आत्मनि-प्र = प्रवणाऽभिमुखीभूता तन्मयतामापन्ना अत एव शान्ता = व्यग्रतारहिता धीर्यस्य सः । तत्र दृष्टान्तमाह — प्रशान्तोर्मिः = प्रशान्ता उर्मयो यस्य सः, उदधिः = समुद्रो यथा तथेति । तत्र हेतुमाह — निरहंकृतिः = देहेन्द्रियान्तःकरणादावात्माभिमानरहित इत्यर्थः । अत एव निर्ममः = देहसम्बन्धिषु-स्त्रीपुत्रवित्तादिषु ममतारहितः – स्वीयत्वबुद्धिरहित इत्यर्थः । अहंकारादिनिवृत्तौ हेतुमाह—समदृक् = सर्वत्रान्तर्बहिः सम-विषमतावर्जितं ब्रह्मैव पश्यति, नान्यत्किमपि पश्यतीति समदृक् । तत्समं ब्रह्म, स्वस्मादनन्यं न मनागपि अन्यत्, अत आह-स्वदृक् = तद्ब्रह्म स्वस्वरूपतयैवाभेदेन पश्यतीति तथा सः । आभ्यां विशेषणाभ्यां – 'तत्त्वमसी' त्यादिमहावाक्यवत् स्वसमयो जीवात्मेश्वरात्मनोरेकत्वं भागत्यागलक्षणया द्योतितम् । अन्यथा पुनरुक्तिप्रसङ्गात् । तादृशदर्शने हेतुमाह – मुक्तबन्धनः = ब्रह्माद्वयविद्यया मुक्तं = निवृत्तं, बन्धनं-अविद्यामिथ्याज्ञानलक्षणं आत्मावरकं यस्य सः । कथं मुक्तबन्धनः ? इत्यपेक्षयामाह—सर्वज्ञे वासुदेवे भगवति परेण = उत्कटेन, भक्तिभावेन । तत्रोत्कटत्वं ज्ञानमयतयेति बोध्यम् । अन्यथा मुक्तबन्धनताऽयोगात् । भक्तिभावेन = अनन्यप्रेमभावेन ज्ञानमयेन, लब्धात्मा = लब्धो = विज्ञातः स्वात्मतया भगवान् येन सः । अत्र लाभो ज्ञानमेव, अतोऽत्र न हि कश्चिद् ज्ञानानन्तरमलब्धस्य लाभो मन्तव्यः । आत्मनोऽलब्धत्वायोगात् , ब्रह्मात्मलाभफलस्याविद्यापगममात्रत्वात् , लब्धस्यानन्यतया सदालब्धस्यात्मनो लब्धव्यताव्यपदेशादविद्यानिवृत्तिव्यतिरेकेणान्यस्य कार्यस्यादर्शनात् , ज्ञानातिरिक्तो लाभो न प्रत्येतव्यः, अतोऽत्र प्रयुक्ते लब्धात्मा मुक्तबन्धनः इति विशेषणे समुपपद्येते ।

अत एव भगवति प्रत्यगात्मनीति विशेषणं सार्थकमेव । प्रतीचो जीवात्मनः पारमार्थिके स्वस्वरूपे इत्यर्थः' । सति चैवमनन्यस्मिन् एतस्मिन् एवंभूतो भक्तिभावः संगच्छतेतराम् । अन्यथाऽन्यस्मिन् तस्मिन कथमेवं परमः स्नेहः स्यादिति । अत एव स धीरः = अविकृतब्रह्मात्मभावेन सदास्थितो निर्विकारः इत्यर्थः । अतः स न केवलं भगवन्तमेव सर्वत्रान्तर्बहिरवस्थितमपश्यत् , किन्तु भगवदभिन्नत्वादात्मानमपीत्याह – आत्मानमिति । अत एव भगवति तदभिन्ने आत्मनि च सर्वभूतान्यभेदेनापश्यदित्यन्वयः । एवंभूतमभेददर्शनं श्रीमद्भागवत एकादशेऽपीत्थं प्रत्यपादि – 'त एते भगवद्रूपं, विश्वं सदसदात्मकम् । आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन् महीम् ॥' (भा० ११ । २ । २२) ❀ इति । त एते = नव योगेश्वराः । अधुनाऽभेदानुभवलक्षणाया ब्रह्मनिष्ठायाः फलमाह– भगवद्भक्तियुक्तेनार्थात् ज्ञानेन साक्षात्कारलक्षणेनेत्यर्थः । अत एव तेनाविद्यानिवृत्त्या-इच्छाद्वेषादिविहीनेन, सर्वत्र समेन चेतसा = दर्शनेन, हेतुभूतेन कर्दममहर्षिणा भागवती = भगवत्प्राप्तिलक्षणा ब्रह्मनिर्वाणकैवल्यरूपा गतिः प्राप्ता ।

पूर्वोक्तश्लोकसंदर्भेण - कर्दममहर्षे र्जीवन्मुक्तलक्षणं - 'समदृक्' 'स्वदृक्' 'आत्मानं भगवन्तमपश्यत्' 'लब्धात्मा' इत्यादिभिः - स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मात्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डाद्वयानन्दब्रह्मणि साक्षात्कृते सति 'मुक्तबन्धनः' इत्यनेनाज्ञानतत्कार्यसञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहिते च सति ब्रह्मनिष्ठत्वरूपं ज्ञापितम् । पश्चादस्य प्रारब्धकर्मफलभोगावसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने च सति, लेशाविद्यातत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशादयं विवर्जिताखिलभेदप्रतिभासपरमानन्दैकरसब्रह्मनिर्वाणकैवल्य-भूताखण्डब्रह्मात्मनाऽवतिष्ठते, इयमेवास्य लब्धभागवतीगतिरूपा विदेहमुक्तिः प्रत्येतव्या । एतेन-भगवत्पार्षदत्वलक्षणा साकारभगवत्सायुज्यलक्षणा वा भागवती गतिर्निरस्ता । पूर्वोक्तसंदर्भविरोधात् इति सर्वमनाविलम् ।

❀ वे नवयोगेश्वर इस कार्य-कारण और व्यक्त-अव्यक्त भगवद्रूप जगत्को अपने आत्मा से अभिन्न अनुभव करते हुए पृथ्वी पर स्वच्छन्द विचरण करते थे ।

—❀—

(निखिलभूतेषु वसन्तं भगवन्तमवजानतः केवलप्रतिमापूजकस्य दम्भिनो भर्त्सना)

निखिलेषु मानवपशुपक्ष्यादिशरीररूपेण परिणतेषु चराचरेषु भूतेषु साक्षिप्रेरकरूपेणावस्थितमेकं समस्तभूताधिष्ठातारं वास्तविकं भगवन्तं-यो धर्मध्वजी दम्भी पाखण्डी वैष्णवंमन्यो 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया' इत्येवमखर्वगर्वारूढः स्वमेव सर्वोत्तमं मन्यमानो मूढो मानवः, न केवलं न जानात्यपि तु तमवजानाति कटुशब्दप्रहारादिभिः । भगवदालयस्थिता प्रतिमैवास्ति भगवान्, तदतिरिक्तो नास्ति कुत्रचिद्भगवान् इति मनुते, भगवानेव प्रतिमाऽर्थात् सर्वत्र विद्यमानो व्यापको भगवान् प्रतिमायामपि, अतो विश्वरूपो भगवानेवाराधनासिद्धये प्रतिमारूप इति च नैव मनुते । अपि च प्रतिमास्थितं भगवन्तमपि नैव मनुते, किन्तु स्वजीवननिर्वाहसाधनभूतैवेयं जडा प्रतिमेति मन्यमानस्तद्दर्शकानां नरनारीणां मुखान्येव निरीक्षमाणस्तेभ्यः किमपि द्रव्यादिकमभिलषमाणस्तानुद्दिश्य 'दीयतां भगवते लक्ष्मीपतये किमपि' इति

(१९)

(समस्त भूतोंमें अवस्थित - भगवान्की अवज्ञा - तिरस्कार करनेवाले केवल-प्रतिमाकी ही पूजा करनेवाले दंभीकी ताड़ना)

मानव - पशु - पक्षी आदिरूपसे परिणत - निखिल - चराचर भूतोंमें साक्षी एवं प्रेरक रूपसे अवस्थित - जो समस्त भूतोंका अधिष्ठाता- वास्तविक - एक भगवान् है--- उसको--- जो धर्मध्वजी - दंभी - पाखण्डी - अपनेको वैष्णव माननेवाला - 'मेरे सदृश और कौन है' इसप्रकार - प्रचुरगर्वसे भरा हुआ - अपनेको ही सर्वोत्तम माननेवाला - मूढ मानव — केवल नहीं जानता है, यह बात नहीं, किन्तु - उसकी कड़वे शब्दोंके प्रहार आदिके द्वारा - अवज्ञा करता रहता है । भगवान्के मंदिरमें स्थित - प्रतिमा ही भगवान् है, उससे अतिरिक्त कहीं भी भगवान् नहीं है, ऐसा मानता है। भगवान् ही प्रतिमा है अर्थात् - सर्वत्र विद्यमान - व्यापक - भगवान् प्रतिमामें भी है, इसलिये विश्वरूप भगवान् ही आराधनाकी सिद्धिके लिये प्रतिमा रूप है, ऐसा नहीं मानता है । और वह प्रतिमामें स्थित - भगवान्को भी नहीं मानता है, किन्तु अपने जीवन - निर्वाहकी साधनभूत ही - यह जड़ प्रतिमा है, ऐसा मानता हुआ उसके दर्शन करनेवाले - नर एवं नारियोंके मुखोंको ही देखता हुआ उनसे कुछ द्रव्य आदिकी अभिलाषा रखता हुआ उनको उद्देश्य करके भगवान् लक्ष्मीपतिके लिए कुछ दीजिये' ऐसा बारंबार कहता हुआ अपने भीतर छिपे हुए -

पौनःपुन्येन भाषमाणस्त्वा॰तर्निगूढं नास्तिक्यमभिव्यनक्ति।

अत एव सर्वभूतस्थितमीश्वरमात्मानमुपेक्ष्य भूतग्रामावमानं कुर्वाणो दाम्भिको जनः षोडशोपचारपूजाद्रव्यै वैदिक्या तान्त्रिक्या च विविधया क्रियया प्रतिमां लोकप्रदर्शनद्रव्यलाभादिकाम्यया पूजयति, स तामेव विडम्बयति = वञ्चयति, तस्य तत्पूजा भस्महोमवत् निष्फलैव मन्तव्या। तत्कृतजडपूजया भगवान् कदापि नैव तुष्यति। वस्तुतः शास्त्रस्य प्रतिमाऽऽराधनोपदेशः 'आस्तिकः श्रद्धालुः स्वस्य बहिर्मुखं व्यग्रञ्च मनः तदाराधनेनान्तर्मुखमेकाग्रञ्च कुर्यात्' इति प्रयोजनाय सामान्यजनता च तद्दर्शनेन कामपि शान्तिं श्रद्धोद्रेकञ्च प्राप्नुयात्, भगवत्प्रार्थनास्तुत्यादिकञ्च विदध्यादिति हेतोः। यदा च तदाराधनलाभसंपादनद्वारा सर्वभूतावस्थितं भगवन्तमद्वयात्मानमयं साक्षादन्तर्बहिरनुभवति, तदा तस्य तदाराधनाधिकारो विनिवर्तते, लोक-संग्रहाय तदाराधनं कुर्वाणस्यापि।

अपि च भिन्नदर्शी द्वेषवैरादिदुर्गुणाढ्योऽभिमानी जनः प्रतिमापूजनेन द्रव्यादिलाभं कथञ्चित् संपादयेदपि - स्वमनःशान्ति कदापि क्वापि संपादयितुं न शक्नोति। यदा चायं विवेकी जनः-असह्यभयदुःखकारणं जीवे-

नास्तिकत्वको प्रकट करता है।

इसलिए - सर्वभूत - स्थित - ईश्वर - आत्माकी उपेक्षा करके भूत समुदायका अपमान करता हुआ—जो दांभिक जन है - वह षोडशोपचार पूजाके पदार्थोंसे - और वैदिक - तान्त्रिक - विविध क्रियाके द्वारा लोक-प्रदर्शन एवं द्रव्यलाभादिकी कामनासे प्रतिमाकी पूजा करता है, वह उस प्रतिमाको ही ठगता है। उसकी पूजा 'भस्ममें होमकी तरह' निष्फल ही माननी चाहिये। उस दंभीसे की हुई जड़ प्रतिमाकी पूजासे भगवान् कभी भी सन्तुष्ट नहीं होता है। वस्तुतः- शास्त्रका प्रतिमाकी आराधनाका उपदेश – आस्तिक श्रद्धालु अपने बहिर्मुख एवं व्यग्र मनको उसकी आराधनाके द्वारा अन्तर्मुख एवं एकाग्र करे, इस प्रयोजनके लिए और सामान्य जनता उसके दर्शन द्वारा - कुछ भी शान्ति एवं श्रद्धाकी उत्कटताको प्राप्त करे, और भगवान्की प्रार्थना स्तुति आदि करे, इस हेतुसे—किया गया है। जब उसकी आराधनाका एकाग्रता आदि लाभके संपादन द्वारा सर्वभूत स्थित - अद्वय - आत्मारूप भगवानको साक्षात् - बाहर भीतर अनुभव करता है, तब लोक संग्रहके लिए - प्रतिमाकी आराधना करने वालेका भी प्रतिमा आराधनाका अधिकार निवृत्त होजाता है।

और भी—भिन्नदर्शी - द्वेष - वैर आदि दुर्गुणोंसे भरा हुआ - अभिमानी जन, प्रतिमा पूजनके द्वारा किसी भी प्रकारसे द्रव्य आदि लाभको संपादन भी करे,

श्वरयो र्जीवानाञ्च जडानाञ्च मिथो भेददर्शनं तन्मूलकद्वेषादिदोषांश्च भगवद्द्वयतत्त्वज्ञानेन विजहाति, निखिलभूतदेवालयस्थितं भगवन्तमात्मानमभिन्नदृष्ट्या यथोचितसन्मानदानाभ्याञ्च समर्चति, तदा तस्य परा शान्तिः, भगवदमलानन्तानन्दश्च संपद्यते, इत्यभिप्रेत्याह – भगवान् श्रीकपिलदेवः स्वमातरं देवहूतिं प्रति —

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्माऽवस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः, कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु, सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद्, भस्मन्येव जुहोति सः ॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य, न मनः शान्तिमृच्छति ॥
अहमुच्चावचै र्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे ! ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां, भूतग्रामावमानिनः ॥

तो भी वह अपने मनकी शान्ति कभी भी संपादन नहीं कर सकता । जब वह विवेकी मानव — असह्य भय एवं दुःखका कारण, जीव और ईश्वरके भेदका तथा जीवोंके तथा जड़ पदार्थोंके परस्पर भेदका, और भेददर्शनमूलक द्वेषादि दोषोंका भगवान्के अद्वय ज्ञानद्वारा परित्याग करता है, निखिल देहरूप - देवालयमें अवस्थित - भगवद्रूप आत्माका - अभिन्नदृष्टि द्वारा तथा यथायोग्य - सम्मान एवं दानके द्वारा अर्चन - पूजन करता है । तब उसे परा शान्ति, भगवान्का निर्मल - अनन्त आनन्द प्राप्त होता है, ऐसा अभिप्राय रखकर भगवान् श्रीकपिलदेव - अपनी माता देवहूतीके प्रति कहते हैं—

'मैं आत्मारूपसे सदा सभी शरीरोंमें स्थित हूं, इसलिए जो लोग मुझ सर्वभूतस्थित - परमात्माका अनादर करके केवल प्रतिमामें ही मेरी पूजा करते हैं, उनकी वह पूजा केवल स्वांग मात्र ही है, नकली है, एवं वञ्चनामात्र है । मैं सबका आत्मारूप परमेश्वर सभी भूतोंमें स्थित हूं, ऐसी दशामें जो मोहवश मेरी उपेक्षा करके केवल प्रतिमाके पूजनमें ही लगा रहता है, वह तो मानो भस्ममें ही हवन करता है । जो भेददर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवोंके साथ वैर बांधता है और इसप्रकार उनके शरीरोंमें विद्यमान मुझ आत्मासे ही द्वेष करता है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिल सकती । माताजी ! जो दूसरे जीवोंका अपमान करता है, वह बहुतसी घटिया-बढ़िया सामग्रियोंसे अनेक प्रकारके विधि-विधानके साथ मेरी

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृद् ।
यावन्न वेद स्वहृदि, सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥
आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्यु विंदधे भयमुल्बणम् ॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद् दानमानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा ॥

(भा० ३ । २६ । २१-२२-२३-२४-२५-२६-२७)

यः किल पारमार्थिकं भगवन्तं तिरस्कृत्य काल्पनिकमेव वास्तविकतयाऽवलम्बते, तं निन्दति-यो मर्त्यः = मरणधर्मकदेहात्मदर्शी विवेकशून्यः, सर्वेषु भूतेषु = ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु-उच्चावचेषु, अहं = अन्तर्यामी द्रष्टा भगवान् भूतात्मना सदाऽवस्थितोऽस्मि । तं-मां पारमार्थिकं भगवन्तं, अवज्ञाय = तिरस्कृत्य, अर्चाविडम्बनं = अचर्या-प्रतिमया भगवतः काल्पनिकया मूर्त्या तस्यैव विडम्बनं = वञ्चनं कुरुते, यद्वा तया लोकान् श्रद्धाजडान् स्वमपि च 'चिन्तामणिमनादृत्य काचं गृह्णन्तमिव' विडम्बयति = वञ्चयतीति, तथा । अत्र विडम्बनं वञ्चनमेव बोध्यम् । 'मां खेदयत्येतदजस्य जन्म विडम्बनं यद्वसुदेवगेहे ।' (भा० ३ । २ । १६) 'मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य ।' (भा० ११ । ३१ । ११) 'माया आज्ञाकरी यस्य पिशाचचर्या, अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ।' (भा० ३ । १४ । २८) 'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्' (भा० ७ । ८ । ५२) इत्यादिवचनप्रामाण्यात् । वस्तुतोऽजस्य जन्मैव न सम्भवति, तथापि तस्य जन्मप्रतिभासो वञ्चनमेव, यथा शुक्तिका रजतप्रतिभासेन, यथा च पुमान् नटः सुन्दरस्त्रीप्रतिभासेन च दर्शकं जनं वञ्चयति, तथाऽजोऽपि भगवान् स्वनिष्ठासंभावितजन्मप्रदर्शनेन लोकं मायया वञ्चयति,

मूर्त्तिका पूजन भी करे तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं हो सकता । मनुष्य अपने धर्मका अनुष्ठान करता हुआ तब तक मुझ ईश्वरकी प्रतिमा आदिमें पूजा करता रहे, जब तक उसे अपने हृदयमें एवं सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित परमात्माका अनुभव न हो जाय । जो व्यक्ति आत्मा और परमात्माके बीचमें थोड़ासा भी अन्तर - भेदभाव करता है, उस भेददर्शीको मैं मृत्युरूपसे महान् भय उपस्थित करता हूं । अतः सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर घर बना कर उनप्राणियोंके ही रूपमें स्थित मुझ परमात्माका यथायोग्य दान, मान, मित्रताके व्यवहार तथा सम- अभिन्न दृष्टिके द्वारा पूजन करना चाहिए ।'

अत एव तेन खेदकथनमपि संगच्छत एव । अत एव लोकेऽपि 'बड़ी विडम्बना में फंस गये' इत्यादिप्रयोगेषु वञ्चनविपत्त्यर्थे एवोलपभ्यते ।

यः = मूढो जनः, सर्वेषु भूतेषु, सन्तं = साक्षिप्रेरकरूपेण विद्यमानं आत्मानं, तदभिन्नमीश्वरं मां हित्वा = उपेक्ष्य मौढ्याद्-हेतोः, वास्तविक-भगवतस्तिरस्कारोपेक्षाद्वेषादिदोषैस्तस्मिन् मौढ्यं लक्ष्यते, अर्चां = जडां प्रतिमामेव, भजते = सेवते, स भस्मन्येव न त्वग्नौ जुहोति. अर्थात् मूढजन-कृताऽर्चासेवा भस्मनि होमवन्निष्फला भवति । आभ्यां-चित्तशुद्धिः सर्व-भूतात्मेश्वरदृष्ट्यैव भवति, न केवलप्रतिमासेवयेति, अतः सर्वभूतानि-ईश्वरा-त्मभावनया संमाननीयानि, तदभावे प्रतिमासेवाऽपि न सम्यक् फलतीति च द्योतितम् । तदेतदुक्तं तत्रैव तृतीयेऽपि — 'मनसैतानि भूतानि, प्रणमेद् बहु मानयन् । ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥' (भा० ३।२९।३४) ❀ इति ।

मनसः शान्तिलाभाय, द्वेषस्य, मिथ्याभिमानस्य, भेददर्शनस्य वैर-विरोधस्य च सत्संगसद्विचारादिना प्रयत्नेन निवारणमेव कर्तव्यं श्रेयस्कामैः । अन्यथा तेषां दोषाणां स्वहृदि विद्यमाने सति प्रतिमासेवादिनाऽन्येन केनापि साधनेन मनः शान्तिर्न संपद्यते इत्याह—परकाये = परेषां-अन्येषां काये = शरीरे चिदात्मना विद्यमानं मां परमेश्वरं द्विषतः = द्वेषं कुर्वाणस्य, अनेन परकायद्वेषो न परस्मिन्नेव तिष्ठति, किन्तु तदधिष्ठातरि मय्येव परमेश्वरे पर्यवसितो भवतीति सूच्यते । मानिनः = अभिमानिनः, देहगेहवित्ताद्यहंका-रिणः भिन्नदर्शिनः = 'इमे प्राणिनो मत्तो भिन्नाः, अहं च तेभ्यो भिन्नः, परमेश्वरोऽपि भिन्नः' इत्येवमत्र तत्रान्यत्र सर्वत्र भिन्नमेव तत्त्वं द्रष्टुं शीलस्य, अतएवैकत्वदृष्टिरहितस्य तस्य स्वस्य दुःखादिकमिवान्यस्यापि तत्समानमित्य-जानतः, अत एव भूतेषु = मानवादिप्राणिषु बद्धं-विरूढं-वैरं विरोधकलहत-दिष्टापहारहिंसादिलक्षणं विद्यते यस्य सः, तस्य, मनः, कदापि क्वापि शान्तिं न ऋच्छति = प्राप्नोति, किन्तु तन्नाशकं विक्षेपभयदुःखादिकमेव लभते । भूतवैरे द्वेषे च हेतुः- भिन्नदर्शनं, तत्र हेतुर्देहादावात्माभिमानः, इति विवेकः ।

हे अनघे ! = सर्वदोषरहिते विशुद्धस्वभावे मातः ! अहं = भगवान् भूतग्रामावमानिनः = उच्चावचभूतसमुदायस्यावज्ञाद्वेषनिन्दादिकं कुर्वाणस्य,

---

❀ अतः यह मानकर कि—जीवरूप अपने औपाधिक अंशसे साक्षात् भगवान् ही सबमें अनुगत हैं, इन समस्त प्राणियोंको बड़े आदरके साथ मनसे प्रणाम करे ।

उच्चावचैः द्रव्यैः गन्धमाल्यवस्त्राभरणादिरूपैः, तैः उत्पन्नया = संपादितया क्रियया = आराधनरूपया, अर्चायां अर्चितः = पूजितोऽपि नैव तुष्ये = सन्तुष्टो नैव भवामीत्यर्थः ।

न चानेन वचनसंदर्भेण प्रतिमापूजादर्शनप्रतिष्ठादिनिषेधोऽनुमातव्यः स्यादिति वाच्यम् । ❀ 'मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः ।' (भा० ३।२६। १६)'प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम् । पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात् ॥'(१) (भा० ११।२७।५२) इत्यादिभिः फलसाहित्येन तेषां तत्र तत्र विधानात् । तन्निषेधो नास्ति, अतः स कथमपि नादरणीयः । किन्तु – 'भूतेषु मद्भावनया ° सत्त्वेनासङ्गमेन च । महतां बहुमानेन,दीनानामनुकम्पया ॥ मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु, यमेन नियमेन च । आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसंकीर्तनाच्च मे । आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहङ्क्रियया तथा । ❀ मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ॥'(२) (भा० ३।२६।१६-१७-१८-१९) इत्यादिषु प्रतिपादितैः चित्तशुद्धिसाधकैरेतैर्गुणैः सार्कं भगवदर्चाऽर्चनादेः साहचर्यविधानाय तत्साहचर्यरहितस्य केवलप्रतिमाऽर्चनस्य भूतद्वेषावमाननिन्दाऽभिमानादिदोषसंयुक्तदंभिजनकृतस्य निन्दायाः — 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुम् ।' इति न्यायेन सा विधेयं स्तोतुमत्र-प्रतिभास उपलभ्यत इति ।

तथा च भूतावज्ञादिदोषरहिता पूर्वोक्तगुणसंयुक्ता प्रतिमापूजा तु कार्यैवेत्याशयेन तदवधिमाह– तावत्पर्यन्तं, ईश्वरं = अन्तर्यामिणं मां, अर्चादौ-

(१) भगवान्की मूर्तिकी प्रतिष्ठा करनेसे पृथ्वीका एकछत्र राज्य, मन्दिर निर्माणसे त्रिलोकीका राज्य, पूजा आदिकी व्यवस्था करनेसे ब्रह्मलोक, और इन तीनोंके द्वारा मेरी समानता - सारूप्यमुक्ति प्राप्त होती है ।

(२) मेरी प्रतिमाका दर्शन, स्पर्श, पूजा, स्तुति और वन्दना करनेसे, प्राणियों में मुझ भगवान्की भावना करने, धैर्य और वैराग्यके अवलम्बन, महापुरुषोंका मान, दीनों पर दया और स्वसमान स्थिति वालोंके प्रति मित्रताका व्यवहार करने, यम नियमोंका पालन, अध्यात्म-शास्त्रोंका श्रवण और मेरे नामोंका उच्च स्वरसे कीर्तन करनेसे तथा मनकी सरलता, सत्पुरुषोंके संग और अहंकारके त्यागसे मेरे धर्मोंका (भागवत - धर्मोंका) अनुष्ठान करनेवाले भक्त - पुरुषका चित्त अत्यन्त शुद्ध हो जाता है ।

❀ मद्धिष्ण्यं = मत्प्रतिमालयादिकम् । ० सत्त्वेन = धैर्येण, असंगमेन = संगत्यागलक्षणवैराग्येण । ❀ मद्धर्मणः = भगवद्धर्मानुष्ठातुः, आशयः = चित्तम् ।

अर्चयेत = पूजयेत्, कीदृशं मां ? इत्यपेक्षायामाह – सर्वभूतेष्ववस्थितमिति विशेषणं पुनःपुनः प्रयुज्यमानं सर्वभूतावस्थितस्य भगवदात्मनः साक्षादपरोक्षस्य विशेषत आदरसन्मानादिविधानायेति बोध्यम्। स्वकर्मकृत् = स्वस्ववर्णाश्रम-विहितकर्मकृत् ❀। एवमर्चाद्यर्चनेन सर्वभूतेषु भगवद्भावनया च परिशुद्धे स्वहृदि, यावत् = यावत्पर्यन्तं भगवन्तमात्मानं विश्वाभिन्नं न वेद = आप-रोक्ष्येण न जानाति। अनेन - प्रतिमापूजायाः सर्वत्रान्तर्बहिरीश्वरदर्शनावधित्वं सूचितम्। एवं कर्मनिष्ठाया अपि स एवावधिरित्युक्तं भवति। तथा चार्चादा-वर्चनं नानर्थकमपि तु भूतावज्ञादिदोषा एवानर्थसंपादका इति मन्तव्यम्।

संप्रति जीवेश्वरयो र्भेददर्शिनो जन्ममरणादिरूपं संसारभयं नैव निव-र्तत इत्याह - आत्मनः = जीवात्मनः, च = तथा, परस्य = परमात्मनोऽपि, यः, उत् = अपि, अरं = अल्पम्, अन्तरा = अन्तरं - भेदम्, करोति, तस्य भिन्नदृशः = भेददर्शिनः तस्य मृत्युरूपोऽहं भगवान्, उल्बणं = दुःसहं भयं = संसारभयं विदधे = विदधामि - संपादयामीत्यर्थः। यद्वा अन्तरा = मध्ये, जीवेश्वरयोरितिशेषः, उदरं = तदुपलक्षितं व्यष्टिसमष्टिशरीरोपा-धिप्रयुक्तं वास्तविकं भेदं पश्यति, अर्थात् घटकाशमहाकाशवत् काल्पनिकं भेदं वास्तविकमभेदं नैव पश्यति। तदेतद्भगवत्या स्वतःप्रमाणया श्रुत्याऽप्युक्तं - 'एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति।' (तै०उ० २।७) 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।' (बृ०उ० ४।४।१६) असति नाना-त्वे, नानात्वं = भिन्नत्वमध्यारोपयत्यविद्ययाऽद्वये ब्रह्मणि। इवेत्यव्ययं नानात्वस्य काल्पनिकत्वं द्योतयति। स मृत्योः = मरणान्मृत्युं = मरण-माप्नोति, अर्थात् मृत्युपरम्परां नैवातिवर्तते। कोऽसौ ? य इह नानेव पश्यति, अविद्याऽध्यारोपणव्यतिरेकेण नास्ति परमार्थतो द्वैतमित्यर्थः।

एतेनेदं – आत्मनः स्वस्योदरं, परस्य = अन्यस्याप्युदरं यः भिन्नं करोति, तस्य भयं विदधेऽहं, उदरं खलु जाठरानलज्वालायुक्तं यथाऽऽत्मन-स्तथा परस्यापीति ज्ञात्वा क्षुधार्तं जनमात्मानमिव भोजयेदेवान्यथा मृत्युभयं भवतीति - आपातरमणीयं लौकिकं व्याख्यानं निरस्तम्। तस्य श्रुतिवचन-विरुद्धत्वात् प्रकृतार्थासङ्गतत्वात्, भागवतवचनानां वेदान्तसारत्वबाधाच्च। अपि च पृथिव्यामनन्ता एव प्राणिनः क्षुधार्ताः, ते चान्नदातारमायान्त्येव, तान्सर्वान् भोजयितुं कः समर्थः ? रन्तिदेव इव कः स्वभोजनं समर्प्य स्वक्षुधा-ऽसह्यदुःखं सोढुं धैर्यं धत्ते ? यदि कस्यचिदुदरं स्वसामर्थ्याभावेन न संतोषितं

❀ तत्कर्माणि कुर्वन्नेव तदविरोधेन यथावकाशमर्चादिःपर्चनं विधेयम्, न तु तदर्थं स्वकर्माणि त्याज्यानि।

चेत्, तदापि भयमेव संपद्यते, इत्येवमभयत्वस्यावसर एवान्नदातुरपि दुर्लभः। यथाशक्ति-अन्नदानं तु सर्वत्र विहितमेव यज्ञादिवत्, अतोऽत्रासह्य-भयहेतुतया कस्मिन्नप्युदरभोजनासमर्पणस्य प्रतिपादनं सर्वथाऽसम्बद्ध-प्रलपितमेव।

अथ = अतः, सर्वभूतेषु कृतालयं = विहितावासं 'प्रविष्टो भगवानिति' (भा० ३। २६। ३४) इति भागवतात्। तत्र हेतुः। भूतानामात्मानं = अभिन्नस्वरूपमन्तर्यामिणं, अभिन्नेन चक्षुषा = अभेददर्शनेनेत्यर्थः 'अभेद-दर्शनं ज्ञानं, ध्यानं निर्विषयं मनः।' (ब्रह्मबिन्दु उ०) इति श्रुतेः। 'ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम्। (भा० ११। १६। २७) 'सर्वभूतेषु मन्मतिः।' (भा० ११। १६। २१) इति च भागवतात्। सर्वान् भगवदात्मबुद्ध्या अर्हयेत् = पूजयेत्। अत एव यथायोग्यं समानान् मैत्र्या = सौहार्देन चार्हयेत्। विद्याविनयसम्पन्नान् उत्तमान् सम्मानेन, दीनान्-दरिद्रान् अन्नादिदानेन चार्हयेत्। तथापि तेषु सर्वेषु भगवद्भावस्तु विदध्यादेवेति।

—❀—

(२०)

(सत्संगेन भक्तिः, तया हृदयशुद्धिः, शुद्धे च तस्मिन् वैराग्यद्वारा पराभक्तिमयं ज्ञानं प्रादुर्भवति, तेन च भगवत्प्राप्तिः)

सत्सङ्गकथाश्रवणादिना प्रभवया भगवद्भक्त्या चेतोमलानि नश्यन्ति, हृदयञ्च विशुद्धमेकाग्रं भवति, तत्रैव सद्गुरुप्रसादतो भगवत्तत्त्वविज्ञानं जायते, इत्यस्मिन् विषये सन्ति श्रीमद्भागवतस्य वचनसहस्राणि प्रमाणानि। तथाहि — 'यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या, संमृज्यमाने हृदयेऽवधाय। ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा व्रजेम तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम्॥ (१)। (भा० ३। ५। ४१)।

(२०)

(सत्संगसे भक्ति, भक्तिसे हृदयकी शुद्धि, शुद्ध हृदयमें वैराग्य द्वारा परा-भक्तिमय-ज्ञानका प्रादुर्भाव होता है, और ज्ञानसे भगवान्की प्राप्ति होती है)

(१) हम आपके चरणकमलोंकी उस चौकीका आश्रय ग्रहण करते हैं, जिसे भक्तजन श्रद्धा और श्रवणकीर्तनादिरूप भक्तिसे परिमार्जित अन्तःकरणमें धारण करके वैराग्यपुष्टज्ञानके द्वारा धरकधीर - निर्विकार एवं परमानन्दमग्न होजाते हैं। जब

'यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या, चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि। तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं, साक्षाद् यथाऽमलदृशोः सवितृप्रकाशः॥ (भा० ११।३।४०)। 'तत्साधुवर्यादिश वर्त्म शं नः, संराधितो भगवान् येन पुंसाम्। हृदि स्थितो यच्छति भक्तपूते ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम्॥ (भा० ३।५।४)। (१)

अयमर्थः — श्रद्धया = शास्त्रगुरुवचनयथार्थावधारणरूपया, च = तथा, श्रुतवत्या = श्रवणादिपूर्विकया कीर्तनस्मरणादेरुपलक्षणमिदम्, भक्त्या-हृदये संमृज्यमाने = संशोध्यमाने सति, यद् भगवत्पदं, अवधाय = ध्यात्वा, वैराग्यं = शब्दादिविषयेष्वनासक्तिः, तदेव बलं यस्य तेन ज्ञानेन = स्वस्वरूपैक्यज्ञानेन, धीराः = देहगेहादावहंममाभिमानरहिता अविकृत-प्रज्ञाः स्वस्वरूपनिष्ठाः परमाद्वयानन्दनिमग्नाः भवन्ति, ते = तव, अंघ्रिसरो-जपीठं = चरणकमलरूपाश्रयं, वयं व्रजेमेत्यन्वयः। यर्हि = यदा, वित्तैष-णादि विहाय केवलं, अब्जनाभस्य = पद्मनाभस्य श्रीनारायणस्य भगवतश्चर-णैषणया = पदलाभेच्छया जाता, या उरुः = महती-निष्कामा, परमप्रेम-लक्षणाऽनन्या भक्तिः तया गुणकर्मजानि = गुणाः-सत्त्वादयस्तत्प्रयुक्तानि यानि कर्माणि - विहिताविहितानि ततो जातानि चेतसो मलानि = पुण्यपाप-रागद्वेषलोभादीनि, भक्तः, विधमेत् = नाशयेत्। यद्वा चेतः कर्तृपदं, तानि स्वगतानि मलानि यदि विधमेत् = क्षालयेत्। तदा तस्मिन् चेतसि विशुद्धे सति, साक्षाद् = अव्यवधानेन आत्मतत्त्वं-भगवदभिन्नं उपलभ्यते। यथेति अमलयोर्दृशोः = चक्षुषोरेव, यथा पूर्वमेव सिद्धोऽपि सवितृप्रकाश उप-लभ्यते, न त्वन्धस्य, तथा सदा प्रकाशमानोऽपि भगवदात्मा शुद्धैकाग्रचित्त-स्यैवोपलभ्यते, न तु विषयवासनाकलुषितचित्तस्येत्यर्थः।

अगाधबोधं मैत्रेयमहर्षिं प्रति तं प्रशंसन् विदुरः पृच्छति-साध्नोति स्वपरकल्याणमिति साधुः। भवांस्तु भगवदनन्यभक्ततया साधुवर्यस्ततः श्रेष्ठ-

भगवान् कमलनाभके चरणकमलोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे तीव्र भक्ति की जाती है, तब वह भक्ति ही अग्निकी भांति गुण और कर्मोंसे उत्पन्न हुए चित्तके सारे मलोंको जला डालती है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है—जैसे नेत्रोंके निर्विकार होजाने पर सूर्यके प्रकाशकी प्रत्यक्ष-अनुभूति होती है, वैसे ब्रह्मात्मतत्त्वकी प्रत्यक्षानुभूति होने लगती है।

(१) हे साधुशिरोमणे! आप मुझे उस शान्तिप्रद साधनका उपदेश दीजिये, जिसके अनुसार आराधना करनेसे भगवान् अपने भक्तोंके भक्तिपूत हृदयमें आकर विराजमान हो जाते हैं, और अपने अद्वयपूर्ण स्वरूपका अपरोक्ष अनुभव करानेवाला सनातनज्ञान प्रदान करते हैं।

तमः, अतो भवताऽस्मदुद्धाराय कल्याणलाभाय प्रयत्नोऽवश्यमेव कर्तव्यः इति सूचयन् संबोधयति-साधुवर्येति । ननु – त्वया पृष्टो निरतिशयसुखस्योपायस्तु भक्तिपूते हृदये भगवदनुग्रहेणाविर्भूतं ज्ञानमेवेति चेत्तर्हि, येम वर्त्मना =मार्गेण, आराधितः=संसेवितो भगवान् भक्तियोगेन पूते-पवित्रिते-निर्मलीभूते हृदि स्थितः सन् सतत्त्वाधिगमं = तत्त्वस्य-अद्वयब्रह्मणः, अधिगमः = आपरोक्ष्यं, तत्त्व-विज्ञानं, तत्सहितं, पुराणं = अनादिवेदप्रमाणकमेव ज्ञानं, प्रयच्छति=ददाति, तत्, शं = सुखपूर्णं, वर्त्म = मार्गं, नः = अस्मभ्यं, आदिश = उपदिशेत्यन्वयः ।

यद्यपि — श्रवणादिसाधनभक्त्या हृदयस्य शुद्धि र्जायते, शुद्धे च तस्मिन् ज्ञानं प्रादुर्भवति, तथापि सा भगवद्भक्ति र्हृदयस्य विशुद्धिं कृत्वा न नश्यति, न वोपरमते, किन्तु वैराग्यबलेन प्रवर्धमाना सा पराभक्तिरनन्यप्रेमलक्षणा भूत्वा ज्ञाने संमिलिता-तादात्म्यमापन्ना सती 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।' (गी० १८ । ५४) इति गीतोक्तन्यायेन वैराग्यशालिनं भक्तं कामशोकादिरहितं प्रसन्नात्मानं ब्रह्मभूतं कृत्वा चिन्मात्रेऽद्वये ब्रह्मणि विलीनं करोति, इदमेव ब्रह्मनिर्वाणं गीताप्रसिद्धं कैवल्यम् ।

तदेतदुक्तं — देवस्य भगवतो भागवतस्य समकक्षे श्रीदेव्याः भगवत्याः भागवतेऽपि — 'भक्तेस्तु या परा काष्ठा, सैव ज्ञानं प्रकीर्तितम् । वैराग्यस्य च सीमा सा, ज्ञाने तदुभयं यतः ॥ (१) (दे०भा० ७।३७।२८) । 'परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद् यो ह्यतन्द्रितः । स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः ॥ (दे० भा० १५ । ७ । ३७) । (२)

अहमेव सच्चिदद्वयानन्दब्रह्मस्वरूपिणी भगवती अस्मीति भावनारूपेण स्वाभेदेनेत्यर्थः । 'इत्थं जाता पराभक्ति र्यस्य भूधर ! तत्त्वतः । तदैव तस्य चिन्मात्रे मद्रूपे विलयो भवेत् ॥ (३) (दे०भा० ७।३७।२७) एवमेतद्भागवते तृतीयेऽप्यभिहितम् — 'मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा । निःश्रे-

(१) भक्तिकी जो पराकाष्ठा है तथा वैराग्यकी जो अन्तिमसीमा है, वही ज्ञान है, ऐसा कहा जाता है। क्योंकि—ज्ञानमें, वैराग्य और भक्ति दोनों ही अभेदरूपसे सम्मिलित हो जाते हैं ।

(२) जो प्रमादरहित एकाग्र चित्तवाला होकर ज्ञानमयी-पराभक्तिके द्वारा मेरा जो चिन्तन करता है, तथा अपनेसे अभेदरूपसे मुझको सर्वदा जानता है, भिन्नरूपसे नहीं जानता है ।

(३) हे भूधर ! इस प्रकार जिसे तत्त्वज्ञानमयी-तात्त्विकी पराभक्ति प्राप्त होती है, उसीका ही मेरे चिन्मात्र - स्वरूपमें उसी ही समय विलय होता है ।

यसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम् ॥ (भा० ३।२७।२८) प्राप्नोतीहांजस धीरः स्वदृशा छिन्नसंशयः। यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे ॥ (१) (भा० ३।२७।२९) लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्। अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ (२) (भा० ३।२९।१२) स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः। येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ (३) (भा० ३।२९।१४) ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः। द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः ॥ (४) (भा० ३।३२।३२) अयमर्थः – प्रतिबुद्धः = विज्ञातो मद्रूपेण तत्पदलक्ष्येण, अथः = त्वंपदार्थो येन सः, विदितब्रह्मात्मतत्त्वः। निःश्रेयसं = निरतिशयानन्दम्। स्वसंस्थानं = द्वैतप्रपञ्चातिरिक्तं - अद्वयपूर्णस्वरूपम्। मदाश्रयं = मदेकनिष्ठम्। स्वदृशा = आत्मज्ञानेन, छिन्नाः संशयाः = मिथ्याज्ञानानि यस्य। लिङ्गाद्विनिर्गमे = लिङ्गशरीरनाशे सतीत्यर्थः। इह = संसारे। सगुणा भक्तिस्तु सात्त्विकादिभेदेन बहुविधाऽस्ति, तत्र च भेददर्शनं वर्तते, परन्तु निर्गुणा भक्तिरेकविधैव, तत्र भेददर्शनं विलीयते, भेददर्शन–प्रयोजकस्य गुणसद्भावस्याभावादित्याह– लक्षणं = स्वरूपम्। अहैतुकी = फलकामनाशून्या, अव्यवहिता = भेददर्शनरहिता। आत्यन्तिकः = अति - द्वैतप्रपञ्चमतिक्रम्य, अन्ते = अवशेषे भवः = विद्यमानः। तदेव स्पष्टयति - येन भक्तियोगेन ज्ञानतादात्म्यापन्नेन, मद्भावाय = अद्वयब्रह्मभावाय। संप्रति - ज्ञानभक्तियोगयोरुत्कर्षापकर्षविवादनिवारणाय तयोरेकत्वं समर्थयति - मन्निष्ठः = मय्यद्वयेऽखण्डैकरसे ब्रह्मणि निष्ठा = संस्था - समाप्तिः तदतिरिक्तस्य जीवजगदीश्वरादिरूपस्य द्वैतप्रपञ्चस्य यस्मिन् सः। भक्तिलक्षणयोगोऽपि नैर्गुण्यः = निर्गतः प्रकृतेस्त्र-

(१) मेरा वह धैर्यवान् भक्त मेरी ही महती कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आत्मानुभवके द्वारा सारे संशयोंसे मुक्त होजाता है, और फिर लिङ्गदेहका नाश होने पर एकमात्र मेरे ही आश्रित अपने स्वरूपभूत-कैवल्य-संज्ञक कल्याणमय परम पदको सहजमें ही प्राप्त कर लेता है, जहां पहुंचने पर योगी फिर लौटकर नहीं आता।

(२) मुझ पुरुषोत्तममें निष्काम और अनन्य-व्यवधान रहित भक्ति होना, यह निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है।

(३) यह ज्ञानपूर्ण भक्तियोग ही परमपुरुषार्थ अथवा साध्यफलरूप कहा गया है इसके द्वारा पुरुष अविद्याके तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर मेरे भावको अर्थात् मेरे प्रेमपूर्ण अद्वयानन्दमय-अप्राकृत स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

(४) अद्वय ब्रह्मविषयक ज्ञानयोग और निर्गुण भक्तियोग इन दोनोंका फल प्रयोजन एक ही है, और वह भगवच्छब्दके द्वारा लक्षित होता है।

यो गुणाः अर्थात् तत्कार्यनामरूपकर्मात्मकं जगदपि निर्गतं यस्मिन् सः। सति चैवं द्वयोरपि भक्तिज्ञानयोगयोः, एक एवार्थः = लक्ष्यार्थः - द्वैतप्रपञ्चप्रतिषेधगम्योऽद्वयब्रह्मरूपः सिद्ध्यति। अत एव भक्तौ अनन्यत्वं, ज्ञाने चाद्वयं विशेषणं प्रयुज्यमानं सुतरां संगच्छते। कोऽयमर्थः ? आह–भगवच्छब्दलक्षणः = भगवच्छब्देन लक्ष्यते-विज्ञायत इति। तदुक्तं प्रथमेऽपि '··· यज्ज्ञानमद्वयं ··· भगवानिति शब्द्यते।' (भा० १ । २ । ११) इति। यद्वा अर्थः = प्रयोजनमपि, एक एव न पृथक् पृथक् प्रयोजने। लक्ष्यार्थस्यैकत्वमिव प्रयोजनस्याप्यस्त्येकत्वम्। कथमिति ? उच्यते। वस्तुतो ज्ञायमानाखण्डानन्दस्वरूपः परमपुरुषार्थरूपो हि भगवान्। तदुक्तं - 'केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः। (भा० ७ । ६ । २३) 'ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्। प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति।' (भा० ५ । १२ । ११) इति। तत्राखण्डाकारया ज्ञानवृत्त्याऽभानापादकमावरणं विनाश्य, भगवति ज्ञायमानता, तदेकाकारया प्रेमवृत्त्या चानानन्दापादकमावरणं विध्वस्याखण्डानन्दता विकास्यते। तथा च ताभ्यां द्वाभ्यां मिथः तादात्म्यापन्नाभ्यां वस्तुतो भेदशून्याभ्यां ज्ञायमानानन्दरूपमेकमेव प्रयोजनं संपाद्यते इति निर्विवादं सिद्ध्यति, एतच्चानुपदमेव विस्तरेण स्पष्टीकरिष्यते।

द्वयोरप्येकार्थत्वं, एकस्यैव भगवतः शास्त्रीयभावभेदैर्नानात्वेन प्रतीयमानत्वञ्च दृष्टान्तेन स्पष्टयति — 'यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः। एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥ (१) (भा० ३।३२।३३) 'योगेन विविधाङ्गेन, भक्तियोगेन चैव हि। (भा० ३।। ३२ । ३५) 'आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च। ईयते भगवानेभिः, सगुणो निर्गुणः स्वदृक्॥ (२) (भा० ३ । ३२ । ३६)।

अयमर्थः — यथा बहूनां रूपरसगन्धस्पर्शादिविविध - गुणानामाश्रयः

---

(१) जिस प्रकार रूप रस एवं गन्धादि अनेक गुणोंका आश्रयभूत एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा विभिन्नरूपसे अनुभूत होता है, वैसे ही शास्त्रके विभिन्नवत् प्रतियमान भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि मार्गों द्वारा 'एक ही भगवान्की प्रेमरूपसे, आनन्दरूपसे, ज्ञानरूपसे, निर्विकाररूपसे, आदि अनेक प्रकारसे अनुभूति होती है।

(२) नाना प्रकारके यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन आदि अङ्गवाले कर्मयोगसे तथा भक्तियोगसे, आत्मतत्त्वके ज्ञानसे, दृढ़ वैराग्यसे इत्यादि सभी साक्षात् एवं परम्परारूप साधनोंसे सगुण - निर्गुण रूप स्वयं प्रकाश-सर्वात्मा भगवान्को ही प्राप्त किया जाता है।

आम्रफलश्रीखण्डापूपादिः एक एव पदार्थः, पृथग्द्वारैः = मार्गभेदप्रवृत्तैः चक्षुर्जिह्वानासिकादिभिरिन्द्रियै र्नाना प्रतीयते, चक्षुषा पीतः शुक्ल इति, रसज्ञया मधुर इति, घ्राणेन सुगन्धिरिति, स्पर्शेन मृदुः शीत इति । तद्वत् – एकोऽपि भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः = शास्त्रप्रतिपादितभावभेदैः, ज्ञानवृत्त्या स्वयंज्योतिः स्वरूपोऽद्वयो निर्गुणश्च, प्रेमवृत्त्या परमप्रेमास्पदोऽद्वयानन्दनिधि र्निजात्मा माधुर्यसौन्दर्यादिगुणाकरश्च । वैराग्यवृत्त्या निर्द्वन्द्वो निर्लेपो निर्विकारश्च । योगवृत्त्या प्रशान्तो निर्विकल्पश्च । तानेव शास्त्रप्रतिपादितभावभेदानेव प्रपञ्चयति —योगेनेत्यादिना सगुणः = परमप्रेमास्पदत्वाद्यनन्तकल्याणगुणगणपूर्णः, स्वदृक् = स्वयंप्रकाशः-अवेद्यत्वे सति साक्षादपरोक्षव्यवहारविषयतायोग्यतारूप इति यावत् । यदाहु र्भक्तिनिर्णयकारा अपि–'सैव प्रौढा विरक्तिः, सुचरितरचना सम्प्रयुक्तिः प्रसिद्धाः, सैवान्तः संशयादिक्षयकृत्, उपनिषत्तत्त्वविद्याप्रसक्तिः । बोधव्यक्तिश्च सैव प्रकटितपरमानन्दसर्वस्वभुक्तिः । सैवाद्वैता च मुक्तिः कथमपि कमलाकामुके या तु भक्तिः ॥ (१) इति, इदमत्र विज्ञेयम्-एकस्यैव भगवदात्मनोऽस्ति कल्पितभेदेनांशत्रयम् । सत्ता (अस्तित्वं) स्फूर्तिः (चैतन्यं) आनन्दश्च । तदुक्तमभियुक्तैः–'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् । आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं, जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥ (२) इति । तत्र सत्तांशस्य व्यवहारे असत्त्वापादकं, स्फुरणांशस्याभानापादकं आनन्दांशस्य चानानन्दापादकमज्ञानावरणं प्रतिबन्धकम् । तत्र परोक्षज्ञानमसत्त्वापादकं, अपरोक्षज्ञानञ्चाभानापादकमज्ञानावरणं यथा निवारयति, तथा भगवद्विषयिणी पराभक्तिरूपाऽनन्यप्रकृष्टप्रेमवृत्तिः अनानन्दापादकमज्ञानावरणं निवारयति । अत एव – आत्मारामाः चिज्जडग्रन्थिरहिता अपरोक्षज्ञानिनोऽपि पूर्णानन्दलब्धयेऽहैतुकीं भक्तिं कुर्वन्ति, इति श्रीमद्भागवते प्रथमे, ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा

(१) कमलापति भगवान् श्रीनारायणमें किसी भी प्रकारसे - किसी भी सत्संगादि साधनसे-प्रकट होनेवाली, जो अनन्यभक्ति है, वही प्रौढ़ यानी पूर्णविकसित-विरक्ति है, वही अच्छे चरित्रोंकी उदारता मधुरवाणी-प्रेम-सद्भाव, विनय आदि रचनाओंकी प्रसिद्ध सम्प्रयुक्ति है, और वही भक्ति ही भीतरके संशय, विपर्यय, आदि कल्मषोंका निवारण करने वाली होती है, उसीसे ही उपनिषदोंकी रहस्य - विद्याकी प्राप्ति होती है । और वह भक्ति ही अपरोक्ष-बोधकी अभिव्यक्तिरूप है, वही प्रकटित परमानन्दके सर्वस्वका उपभोगरूप वही अद्वैत भावमयी मुक्ति है ।

(२) समस्त विश्वमें अस्ति-भाति प्रिय रूप और नाम ये पञ्च अंश वर्तमान हैं, आदिके तीन अंश जो परिवर्तन - रहित निश्चल अंश हैं, वे ब्रह्मस्वरूप हैं, और अन्तिम दो अंश परिवर्तित एवं बाधित होनेके कारण मिथ्या जगत्के अंश हैं ।

परां भक्तिं लभते इति च गीतास्वपि-अभिहितं पूर्वोक्तमेव प्रमाणयति । अपि चायमस्ति विश्वजनीनः सिद्धान्तः – यथाहि – यस्मिन् कस्मिंश्चित् पदार्थे यस्य प्रेमरूपा प्रियता वर्तते, तं स्मृत्वा दृष्ट्वा च स स्वभावतस्तत आनन्दं लभते, यदि तत्र प्रियता न भवेत्, तदा न कस्यापि तं दृष्ट्वाऽपि तत आनन्दानुभूतिर्जायते । एवं भगवतोऽपरोक्षसाक्षात्कारे सत्यपि तत्र यदि परमप्रियता न स्यात्, तदा भगवत्स्थितपरमानन्दांशस्याभिव्यक्तिः कथमपि कस्यापि न सिद्ध्येत् ।

एवं केचन केवलभक्तिप्रशंसकाः भगवदात्मैक्यज्ञानं नाद्रियन्ते, ते च स्वप्रशस्तां परां भक्तिमेवावमानयन्ति यतः तदैक्यज्ञानमन्तरेण पराभक्तेरसंभवात् । ज्ञानप्रशंसकानि च – 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।' (श्वे० ३ । ८) 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम् ।' 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'तरति शोकमात्मवित् (छां० ७ । १ । ३) 'नानुशोचन्ति पण्डिताः' (गी० २ । ११) 'ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय, पुरुषस्यात्मदर्शनं । यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम् ॥ (श्रीमद्भा० ३ । २६ । २) 'अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम् ।' (श्रीमद्भा० ३ । १३ । ४६) 'ज्ञानेनाशमयत्क्षत्ता शोकमुत्पतितं बुधः ।' (श्रीमद्भा० ३ । ४ । २३) इत्यादीनि श्रद्धास्पदानि हितकराणि शास्त्रवचांसि तिरस्कुर्वन्ति । लोकेऽपि साक्षात्कारात्मकस्य ज्ञानस्य माहात्म्यं प्रसिद्धमेतत् - तथाहि - दूरस्थे पतिपत्नीपुत्रादौ प्रेम्णः प्रकृष्टत्वेऽपि तत्साक्षात्काराभावेन पूर्णतया नानन्दस्याभिव्यक्तिर्भवति, प्रत्युत वियोगाद्धेतोः हृदयेऽतीवव्याकुलता दुःखरूपा संपद्यते, अत एव तत्र प्रकृष्टप्रेमवत् पूर्णानन्दाभिव्यक्तये साक्षात्कारात्मकं ज्ञानमप्यपेक्ष्यते लौकिकैः । तथैव प्रकृते भगवदात्मतत्त्वेऽपि, यथाऽधिकारी परमं प्रेमाणं संपादयति, तथाऽपरोक्षज्ञानमपि । सति चैवं भक्तेः ज्ञानस्य च समप्रधानता तयोः तादात्म्यसिद्धये शास्त्रैः प्रतिपाद्यते, अत एव ज्ञानिनो भगवदात्मत्वं, एकभक्तित्वञ्च गीतासु 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।' (गी० ७।१८) 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः, एकभक्तिर्विशिष्यते ।' (गी० ७ । १७) इत्यादिना प्रतिपादितं संगच्छते । एतेन तयोः पराभक्तिसाक्षात्कारात्मकज्ञानयोश्चोत्कर्षापकर्षत्वं निरस्तम् ।

यत्र च शास्त्रवचने ज्ञानापेक्षया भक्तेः उत्कर्षः प्रतिपादितः,तत्र ज्ञानं परोक्षं, भक्तिश्च परा फलात्मिका वेदितव्या । यतः परोक्षज्ञानात् पराभक्तेरस्ति श्रैष्ठ्यं निर्विवादम् । एवं यत्र भक्त्यपेक्षया ज्ञानस्योत्कर्षः प्रतिपादितः, तत्र भक्तिः श्रवणादिसाधनरूपा ज्ञानञ्च तत्फलात्मकमपरोक्षं प्रत्येतव्यम् । यतः साधनभक्तेः अपरोक्षाद्वयज्ञानस्य श्रैष्ठ्यस्य सर्वसंमतत्वात् । अत एव साधनभक्त्या पराभक्तिमयस्य साक्षात्कारात्मकस्य ज्ञानस्य समुद्भूतत्वं – 'भक्त्या संजातया भक्त्या

विभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ।' (भा० ११ । ३ । ३१) 'न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि । सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥' (भा० ३ । २५ । १९) 'आराध्य भक्त्या लभतामलं तज्ज्ञानं यतो ब्रह्म परं विदन्ति ।' (भा० ४ । १६ । २५) इत्यादीनि वचांसि समादरेण प्रतिपादयन्ति । ब्रह्मसिद्धये = ब्रह्मणोऽद्वयस्यापरोक्षात्मकज्ञानस्य सिद्धये भगवति प्रयुज्यमाना भक्तिरेव कल्याणमयो मार्गः नास्ति तत्सदृशोऽन्यः इत्यर्थः । अनेन कर्मादेर्व्यतिरेकः सूच्यते, न तु ज्ञानस्य । सति चैवं 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।' (श्वे० ३ । ८) इति श्रुतिपुराणवाक्ययोरेकार्थता समर्थिता भवति, तयोः तादात्म्यापत्तिरप्यर्थतः ।

यद्यपि सर्वस्याऽप्यस्ति निजात्मनि परमप्रेमा स्वतःसिद्धः, तथापि सः कामादिभिः प्रतिच्छन्नतया न स्फुटमवभासते, अतस्तस्य स्फुटावभासाय वैराग्यादिसाधनेन तत्प्रतिरोधापनोदनं विधीयते मुमुक्षुभिः तथापि स स्फुटावभासितोऽपि परमप्रेमा यावत् परमात्मना सहैक्यज्ञानं न जायते, तावत् तस्य परिच्छिन्नविषयतयाऽपरिच्छिन्ने परमात्मनि संयोजयितुमशक्यत्वात् परमपुरुषार्थता न सिद्ध्यति । यदा च तत्त्वबोधात् 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ०१।४।१०) 'तत्त्वमसि' (छां० ६ । ८ । ७) 'अहं भवान न चान्यस्त्वं, त्वमेवाहं' (भा० ४ । २८ । ६२) 'आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया ·निः ।' (भा० ११ । १८ । २१) इत्यादिरूपोऽभेदात्मकः साक्षात्कारः प्रादुर्भवति, तदा सः परमप्रेमा परिच्छिन्नविषयतां विहायापरिच्छिन्न-परात्मविषयकः सुतरां संपद्यते । अत एवाभेदज्ञानिनः परमात्मनि - अपरिच्छिन्नो महान् प्रेमा 'एकभक्तिर्विशिष्यते, (गी० ७ । १७) 'ब्रह्मभूतः परां भक्तिं लभते ।' (गी० १८ । ५४) इत्यादिभिः शास्त्रवचनैः प्रतिपादितः संगच्छते ।

एवं श्रवणादिभिः साधनैर्यस्य कठिनं हृदयं द्रुतं पूतञ्च भवति, तस्मिन् ज्ञानस्वरूपो भगवान् स्वतः समङ्कितः सन चकास्ते । तदुक्तं—भक्तिरसायने मधुसूदनस्वामिपादैः—'चित्तद्रव्यं तु जतुवत् स्वभावात् कठिनात्मकम् । तापकै विषयै योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते ॥' (१ । ४) ततो भक्तिमान् भगवत्प्रियः स तादृशे हृदि निहितं भगवत्स्वरूपं विश्वस्य समस्तेषु चराचरपदार्थेषु समवलोकते । यदाहुः—श्रुतिस्मृतिपुराणवादाः – 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां० उ० ३ । १४ । १) 'वासुदेवः सर्वमिति ।, (गी० ७ । १९) सकलमिदमहञ्च वासुदेवः' (वि० पु० २ । ७ । ३२) 'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो नान्यत्ततः' (वि०पु० १।२२।८७) 'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।' (भा० ११ । २ । ४५) इत्याद्याः । अत एव ज्ञानं चिन्मात्रं, प्रेमाऽप्यानन्दमात्रं, प्रतिपादयन्तो विद्वांसस्तयोरेक-

त्वमेव समर्थयन्ति । सति चैवं भक्तिपथानुयायिनः परायाः भक्तेः – 'स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः' (नारदभक्तिसूत्रं) 'नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं, परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति ।' (भक्तिरसायने मधुसूदन सरस्वती) इत्यादिभिः फलरूपतां परमपुरुषार्थरूपताञ्च प्रतिपादयन्ति । ज्ञानपथानुयायिनश्च — 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।' (गी० । ४। ३८) 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।' (गी० ४ । ३६) 'ज्ञानं परं मन्महिमावभासं यत्सूरयो भागवतं वदन्ति ।' (१) (भा० ३।४।१३) इत्यादिभिः – तत्त्वज्ञानस्य फलरूपत्वं परमपुमर्थत्वञ्च निरूपयन्ति । समदर्शिनस्तु-तयोर्विवादं विरोधञ्च निवारयितुं तेषां समेषां ज्ञानभक्तिमहत्त्वप्रतिपादकवचनानां समन्वयितुं तयोरेकत्वमेवात्यादरेण 'सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।' (गी० ५ । ४) द्वयोरप्येक एवार्थः ।' (भा० ३ । ३२।३२) इत्यादिभिः प्रमाणयन्ति ।

तथा च सत्सङ्गश्रवणकीर्तनादिभिरपरा भक्तिः प्रादुर्भवति, तया च चेतसो नैर्मल्यं, निर्मले च तस्मिन् दृढवैराग्यद्वारा पराभक्तिमयं सद्गुरुप्रसादात्तत्त्वदर्शनमाविर्भवति, तेन च विष्णोरच्युतस्य परमपदस्याधिगतिरिति यथार्थं क्रमं प्रदर्शयितुमाह —

पानेन ते देव ! कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं, यथाऽञ्जसाऽन्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥(२)
(भा० ३ । ५ । ४५)

देवाः भगवन्तं स्तुवन्ति, हे देव ! = चराचरेऽस्मिन् जगति चैतन्यानन्दात्मना द्योतमान, स्वयंप्रकाश, भगवन् ! ते = तव, कथासुधायाः = अमृतवन्मधुरतमायाः कथायाः पानेन-इदमत्र बोध्यम्-कथासु सारः हृद्याः-स्तुतयः, तासु च परमात्मस्वरूपनिर्णायकः प्रशस्ततमः सिद्धान्तः सारः, तद्विशिष्टायाः कथायाः सुधावन्माधुर्यं ज्ञेयम् । यथा दुग्धस्य सारं नवनीतं, तस्य सारं घृतं,

(१) अपनी अद्वैत-आनन्दपूर्ण महिमाके प्रकट करनेवाले जिस श्रेष्ठ अभेद ज्ञानका उपदेश किया था । और जिसे विवेकी विद्वान् लोग भागवत ज्ञान कहते हैं ।

(२) हे देव ! आपके कथामृतका पान करनेसे उमड़ी हुई अनन्यभक्तिके कारण जिसका अन्तःकरण निर्मल होगया है, वे लोग – वैराग्य ही जिसका सार है– ऐसा आत्म-ज्ञान प्राप्त करके अनायास ही आपके कुण्ठारहित – शाश्वत-अद्वयब्रह्मधामको प्राप्त हो जाते हैं ।

तेनैव दुग्धस्य माधुर्यमुपलभ्यते, तद्रहितस्य माधुर्याभावमिव, स्तुतिसिद्धान्त-शून्यायां कथायामपि सुधामाधुर्यस्याभाव एवावतिष्ठते, अत एव भगवदनुरागिभिर्मुमुक्षुभिः सारभूतस्तुतिसिद्धान्तानुसंधानसंयुक्ता एव कथाः श्रद्धया श्रोतव्या। तथा च भागवतीकथासु सर्वत्र सिद्धान्तबोधनपराः स्तुतयो विराजन्ते इति भागवतस्वाध्यायव्रतिनां न तिरोहितमेतत्। यथा मुखद्वारा पीतो मधुर-रसोऽन्तः स्थाप्यते, तथा श्रवणद्वारा पीता कथासुधा अपि हृदये स्थापनीया इति पानपदं द्योतयति। तेनान्तःस्थापितेन कथासुधायाः भगवद्भक्तिरवश्यं प्रवृद्धा भवत्येव, बहिःस्थापितेनार्थात् पानेन भक्तिर्न प्रवृद्धा भवति, अपि तु क्षीणा भवतीति सूच्यते। तथा चैकाग्र्येण श्रद्धया च कथासुधायाः पानं कर्तव्यम्, येन साऽन्तःस्थापिता भवेदिति च द्योत्यते। अनैकाग्र्येणाश्रद्धया च श्रुताः कथासुधा बहिरेव स्थापिता स्यात् नान्तः इति। प्रवृद्धभक्त्या ये विशदाशयाः = पापरागादिदोषनिवृत्त्या विशुद्धहृदया भवन्ति। ते वैराग्यं = विषयवैतृष्ण्यमेव सारं = बलं यस्य, तं बोधं = जीवात्मपरमात्मैक्यज्ञानं, प्रतिलभ्य = साक्षात्कारपर्यन्तं लब्ध्वा, यथा = सत्संगश्रवणादिक्रमेण अंजसा-अनायासेन, अकुण्ठधिष्ण्यं = कालादिप्रतिघातरहितमच्युतं विष्णोः परमं पदं, अन्वीयुः = प्रापुः।

तत्र तावच्चतुर्थस्कंधस्य तात्पर्यं संक्षेपतो निरूप्यते यथाहि —

(१) पवित्रकीर्तेर्विश्वशासकस्य जगद्गुरोर्भगवतो महादेवस्य येन केनापि दुर्जनेन विहिता निन्दा द्रोहश्च तस्य महाऽनर्थकारी भवतीति ज्ञापनाय श्रीशिवस्य दाक्षायण्याः सत्याश्च विशदचरित्रवर्णनम्। अनेन त्रयाणां ब्रह्म-विष्णुगिरिशानामेकत्वमेव मुख्यं दृढीक्रियते। 'यद्वै ध्यायति ते वयम्।' (भा० ४।१।३०) इति – अत्रिमहर्षिं प्रति त्रयाणामयमुपदेशः – ते त्रयः समारो-

अब चतुर्थस्कंधका तात्पर्य संक्षेपसे निरूपण करते हैं। जैसे—

(१) पवित्रकीर्तिवाले - विश्वके शासक - जगद्गुरु - भगवान् महादेवकी जिस किसी दुर्जनके द्वारा की हुई निन्दा एवं द्रोह, उसके लिए महान् अनर्थ करनेवाला होता है, इसका ज्ञापन करानेके लिए ही श्रीशिवके तथा सती दाक्षायणीके विशद-चरित्रका वर्णन किया गया है। इसके द्वारा ब्रह्मा विष्णु एवं गिरीश इन तीनोंका मुख्य - एकत्व ही दृढ़ किया जाता है। 'जिस तत्त्वका तू ध्यान करता है, वह हम ही हैं।' ऐसा अत्रिमहर्षिके प्रति - इन तीनों देवोंके द्वारा किया गया उपदेश—वे हम तीन-यद्यपि हमारेमें कुछ काल्पनिक गौण भेद आरोपित किया गया है, परन्तु वस्तुतः

पितभेदा अपि वयं वस्तुतो यदेकमद्वयं ब्रह्म, भवान् ध्यायति, तदेव स्मः। अत एव नास्ति-अस्माक ब्रह्मस्वरूपे कथमपि भेदस्य लवलेशोऽपि।

(२) अतः 'एका मूर्तिः त्रयो देवाः, ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।' इति न्यायेन त्रयाणामेकत्वदर्शिन एव शाश्वतशान्तिसौख्यलाभः संपद्यते। अर्थात् भेददर्शी कथमपि शान्तिसौख्यं न लभते इति भगवतो नारायणस्यायमुपदेशः सर्वेषां सनातनधर्मानुयायिनां कृते परमहितकरतयाऽवश्यमुपादेय एव।

(३) पुरुषशब्दस्य निरुक्तोपनिषद्भागवतादिशास्त्रविहिता व्युत्पत्तिः जीवात्मपरमात्मनोरेकत्वमेव प्रत्याययति। अतस्तदेकत्वस्य सम्यक्ज्ञानमेवाज्ञानादिकल्मषनिवारकं, परमानन्दपूर्णापवर्गप्रापकञ्च वेदितव्यम्, न भेदज्ञानं तादृशम्, तस्य सर्वप्राणिसौलभ्यात् नानिष्टप्रध्वंसकं, न चाभीष्टसमर्पकं दृष्टम्। प्रत्युताभीष्टनिवारकमनिष्टसम्पादकमेव तत्सर्वजनानुभवसिद्धतयाऽवलोक्यते। अतस्तत्प्रयत्नतोऽपनेयम्, उपनेयमेकत्वमेवेति ध्येयम्।

(४) अस्ति चास्माकं प्रामाणिकेषु शास्त्रेषु तात्पर्यतो निरूपितो भक्तिवैराग्यज्ञानानां श्रेयस्करो निखिलक्लेशहरश्च समन्वयः। स एव सन्-

जो एक अद्वय ब्रह्म है, जिसका आप ध्यान करते हैं,—वही हैं। इसलिए हमारे मुख्य-ब्रह्मस्वरूपमें किसी भी प्रकारसे भेदका लवलेश भी नहीं है।

(२) अतः 'ब्रह्मा विष्णु एवं महेश्वर ये तीन देव हैं, परन्तु उनकी एक ही मूर्ति है - अर्थात् सद्घन चिद्घन आनन्दघनरूप एक ही पूर्ण ठोस स्वरूप है।' इस न्यायसे इन तीनोंमें एकत्व - अभेद दर्शन करनेवालेको ही शाश्वतशान्ति एवं सुखका लाभ प्राप्त होता है। अर्थात् भेददर्शी किसी भी प्रकारसे शान्ति एवं सुखको प्राप्त नहीं कर सकता, ऐसा भगवान् श्रीनारायणका यह उपदेश, सनातनधर्मके अनुयायियोंके लिए परमहितकारी होनेके कारण अवश्य ही ग्रहण करना ही चाहिये।

(३) निरुक्तमें उपनिषदोंमें एवं भागवत आदि शास्त्रोंमें 'पुरुष' शब्दकी जो व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है — वह जीवात्मा एवं परमात्माके एकत्वको ही बोधन कराती है। इसलिए उसके एकत्वका यथार्थ ज्ञान ही - अज्ञानादि कल्मषका निवारक एवं परमानन्द पूर्ण अपवर्ग (मोक्ष) का प्रापक है - ऐसा समझना चाहिये। भेदका ज्ञान ऐसा नहीं है, वह तो सर्वप्राणियोंको अनायास स्वभावसे ही प्राप्त है, अतः वह न तो अनिष्टका विध्वंसक है एवं न तो अभीष्टका समर्पक देखा गया है। प्रत्युत वह अभीष्टका निवारक एवं अनिष्टका सम्पादक रूपसे ही सर्वजनोंके अनुभवोंके द्वारा सिद्ध हुआ देखा गया है। इसलिये वह भेद-ज्ञान, प्रयत्नसे हटाना चाहिये, और वह एकत्वज्ञान प्रयत्नसे ग्रहण करना चाहिये।

(४) हमारे प्रामाणिक-शास्त्रोंमें - तात्पर्यसे निरूपित है — भक्ति - वैराग्य

न्वयोऽन्यत्र विहितोऽर्थात् विविधाखिलसंप्रदायेषु निखिलवर्णभेदेषु निखिल-देशविभागेषु समग्रभाषाविशेषेषु च संयोजितो लोकाभ्युदयसम्पादको राष्ट्रो-न्नायकश्च सम्पद्यत एव। अत एव तस्य प्राशस्त्यमवर्णलभ्यमेव प्रसिद्ध्यति।

(५) सतां संगात् साकारसगुणब्रह्मभक्तिस्ततश्चित्तशुद्धिलक्षकं विषय-वैराग्यं, ततो निर्गुणनिराकारब्रह्मभक्तिस्ततोऽद्वयब्रह्मविज्ञानं ततो ब्रह्मनिर्वाण-लक्षणः कैवल्यमोक्ष इति सर्वशास्त्रेषु विशेषतश्च श्रीमद्भागवते च प्रतिपादितः क्रम एव यथार्थो निर्विवादो निर्विरुद्धश्च वेदितव्यः।

(६) अद्वयब्रह्मभाव एव शास्त्रप्रयोजनं मोक्षलक्षणम्। अयमेव वास्त-विकं स्वतःसिद्धं नितान्तस्पृहणीयं स्वास्थ्यं प्रतिरोधनिरासद्वारा समुपादेयं स्वात्मनि पूर्णाद्वये समवस्थानलक्षणम्। तस्य लाभस्तु ब्रह्मात्मविज्ञानेनाविद्या-कल्पितद्वैतप्रपञ्चोपशमेनैव संपद्यते।

(७) सगुणसाकारस्य भगवतो दिव्यमनोहरस्वरूपस्य ध्यानं मनसः परिशुद्धेः एकाग्रतायाश्चास्ति प्रशस्तं प्रयोजकं कारणम्। अत एव तल्लाभसंपा-दनायैव प्रयोजनाय श्रीमद्भागवते शास्त्रे तत्स्वरूपमहत्त्ववर्णनं प्रथमाधिका-

एवं ज्ञानका समन्वय, जो श्रेयः— कल्याण कारी है, एवं निखिल क्लेशोंका नाशक है। वही समन्वय, अन्य स्थलमें किया जाय, अर्थात् विविध - अखिल संप्रदायोंमें, समस्त वर्णोंमें, देशके समग्र प्रान्तीय विभागोंमें, एवं निखिल भाषाविशेषोंमें संयोजित किया जाय तो लोगोंके अभ्युदयका सम्पादक तथा राष्ट्रकी उन्नतिका प्रयोजक हो जाता है। इसलिए उस समन्वयका प्राशस्त्य विना कहे ही प्रसिद्ध होजाता है।

(५) सत्संगसे साकार सगुण ब्रह्मकी भक्ति, उससे चित्तशुद्धिका परिचायक विषयोंसे वैराग्य, उससे निर्गुण निराकार ब्रह्मकी भक्ति, उससे अद्वय-ब्रह्मका विज्ञान एवं उससे ब्रह्म-निर्वाण लक्षणवाला कैवल्यमोक्ष, ऐसा समस्त शास्त्रोंमें तथा विशेष रूपसे श्रीमद्भागवतमें प्रतिपादित क्रम ही यथार्थ, विवाद एवं विरोधरहित है, ऐसा समझना चाहिये।

(६) मोक्षलक्षणवाला— अद्वयब्रह्मभाव ही शास्त्रोंका प्रयोजन है। यही स्वतः सिद्ध, अतीवस्पृहणीय - स्वास्थ्य है,—जो प्रतिरोधोंके निरास द्वारा पूर्णाद्वयरूप-स्वात्मामें अवस्थान लक्षणवाला—उपादेय है। उसका लाभ तो ब्रह्मात्माके विज्ञानसे अविद्याकल्पित द्वैत प्रपञ्चके उपशम द्वारा ही संपन्न होता है।

(७) दिव्य-मनोहर - स्वरूपवाले - सगुण- साकार - भगवान्का ध्यान मन-की शुद्धिका तथा एकाग्रताका प्रशस्त - प्रयोजक कारण है। इसलिए उसके लाभसंपाद-नरूप प्रयोजनके लिए ही श्रीमद्भागवत - शास्त्रमें उसके स्वरूपके महत्त्वका वर्णन-

रिणां कृतेऽत्युपयुक्ततया विधीयते ।

(८ सर्वत आदिमस्य सत्संगसाधनस्य, ततो जायमानभक्तिरूपद्वितीयसाधनस्य, ततो जायमानचित्तविशुद्धिरूपतृतीयसाधनस्य, ततो जायमानपरमार्थतत्त्वानुभवलक्षणस्य चतुर्थसाधनस्य च विस्तरेण महिम्नः प्रदर्शनम् ।

(९) मलयध्वजनाम्नः राज्ञः त्यागवैराग्यभक्तिज्ञाननिष्ठासमाधिवर्णनम् ।

(१०) पुरञ्जनरूपकोपाख्यानद्वारा वेदान्तमहावाक्यैः प्रतिपादितस्य प्रत्यगात्माद्वयब्रह्मणोरेकत्वस्यातिस्पष्टतया भगवन्मुखेनैव वर्णनम् ।

(११) विद्यते श्रेयःसंपादनस्योत्कटेच्छैव सर्वसाधनलाभप्रयोजिका, सा हि स्वनिष्ठप्रचुरदुःखपूर्णबन्धननिरीक्षणादेव प्रभवति । ततोऽनायासत एव संसारोपरतिं, परमानन्दनिधौ भगवति प्रगाढां रतिञ्च जनयत्येव, ताभ्यां भगवत्प्रसादः सर्वाभीप्सितसिद्धिलाभप्रयोजकः संभवत्येव ।

प्रथम कोटीके अधिकारियोंके लिए अत्यन्त-उपयोगी रूपसे किया गया है ।

(८) सबके आदिमें सत्संग - साधन होता है, उसके बाद उससे समुत्पन्न भक्ति रूप द्वितीय साधन, उससे समुत्पन्न-चित्तशुद्धिरूप तृतीय साधन, और उससे समुत्पन्न-परमार्थ-तत्त्वका अनुभवरूप लक्षणवाला चतुर्थ साधन होता है । इन क्रमिक साधनोंकी महिमाका विस्तारसे वर्णन ।

(९) मलयध्वज नामके राजाका त्याग, वैराग्य, भक्ति, ज्ञान-निष्ठा एवं समाधिका वर्णन ।

(१०) पुरञ्जन रूपकके उपाख्यान द्वारा- उपनिषदोंके महावाक्योंके द्वारा प्रतिपादित - जो प्रत्यगात्मा एवं अद्वय ब्रह्मका एकत्व है, उसका अतिस्पष्ट रूपसे श्रीभगवान्‌के स्वयं मुखद्वारा ही वर्णन ।

(११) श्रेयः संपादनकी उत्कट इच्छा ही सर्वसाधनोंके लाभकी प्रयोजिका होती है । वह अपनेमें प्रचुर दुःखसे पूर्ण बन्धनके निरीक्षणसे ही उत्पन्न होती है । उससे अनायास ही संसारसे उपरति, तथा परमानन्दनिधि-भगवान्‌में प्रगाढ - रति प्रकट होती है, इन दोनोंके द्वारा - भगवान्‌की प्रसन्नता - जो निखिल-अभीष्ट - सिद्धियोंके लाभकी प्रयोजिका है - होजाती ही है ।

—❀—

(पवित्रकीर्तेर्विश्वशासकस्य जगद्गुरो भगवतो महादेवस्य येन केनापि विहिता निन्दा द्रोहश्च तस्य महानर्थकारी भवति)

पुरा किल विश्वसृजां देवविशेषाणां सत्रे प्रयागतीर्थे त्रिवेणीतटे सर्वे देवाः मुनयः ऋषयश्च सम्मिलिता आसन् । तत्र स्वात्मारामः प्रियाप्रियसमो भगवान् कैलासपतिः श्रीशङ्करोऽपि समायातः । तत्र दक्षप्रजापतिमायान्तमवलोक्य निखिला देवाः ऋषयश्च ब्रह्माणं शिवञ्च विना तत्संमानाय स्वीयासनेभ्य उदतिष्ठन् । अभ्युत्थानादिभिरकृतादरं ब्रह्मानन्दनिमग्नं स्वासनासीनं स्वजामातरं श्रीशङ्करमभिवाच्य तच्छ्वशुरत्वाभिमानी स दक्षप्रजापतिः क्रोधेन प्रज्वलन्निव अंगुलिनिर्देशेन तं प्रदर्शयित्वा 'एष मे शिष्यतां प्राप्तो यन्मे दुहितुरग्रहीत् । पाणिं विप्राग्निमुखतः सावित्र्या इव साधुवत् ॥' (१) (भा० ४ । २ । ११) इति सर्वान् श्रावयित्वा, 'अटत्युन्मत्तवन्नग्नो व्युप्तकेशो हसन् रुदन् ।' (२) (भा० ४ । २ । १४) । शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रियः ।' (३) (भा०४।२।१५) इत्यादिभिस्तं निन्दित्वा 'अयं देवयजने देवैः सह स्वभागं न लभतामि'ति श्रीशङ्कराय शापं दत्वा ततः स्वनिकेतनं जगाम । शिवानुचराग्रणी नन्दीश्वरोऽपि रोषान्वितः सन् गच्छते दक्षाय विविधान् शापान् ददौ । ततः प्रभृति समाधिनिष्ठस्य निर्द्वन्द्वस्य महादेवस्य स दक्षप्रजापतिः विद्वेषं विनिन्दाञ्च कुर्वन्नासीत् ।

अत एव स श्रीरुद्रतिरस्कारायैव बृहस्पतिसवं नाम यज्ञं समारेभे । तत्र तेन समाहूताः सभार्या देवाः नभसि यानैः समगच्छन् । गच्छतां तेषां

(२१)

(पवित्रकीर्तिवाले-विश्वशासक-जगद्गुरु-भगवान् महादेवकी जिस किसीके द्वारा भी की गई निन्दा एवं द्रोह उसके लिए महान्-अनर्थकारी होता है)

(१) इसने सत्पुरुषोंके समान मेरी सावित्री सरीखी मृगनयनी पवित्र कन्याका अग्नि और ब्राह्मणोंके सामने पाणिग्रहण किया था। इसलिये यह एक प्रकार से मेरे पुत्रके समान हो गया है ।

(२) पूरे पागलकी तरह सिरके बाल बिखेरे नंग धड़ंग भटकता है, कभी हंसता है, कभी रोता है ।

(३) यह बस नामभरका ही शिव है, वास्तवमें है पूरा अशिव-अमङ्गल रूप । जैसे यह स्वयं मतवाला है, वैसे ही इसे मतवाले ही प्यारे लगते हैं ।

मुखान् सती दाक्षायणी देवी स्वपितृयज्ञमहोत्सवं विदाञ्चकार । हर्षोद्रेकात् न [illegible] भू[illegible]ति मित्थमभ्यभाषत । हे भगवन् ! ते श्वशुरस्य प्रजापते मम पितु यज्ञमहोत्सवः साम्प्रतं प्रवर्तते । यदि भवतोऽभिलाषा स्यात्, तर्हि वयं तत्र गच्छामः । तस्मिन् मम भगिन्यः स्वभर्तृभिः सहागमिष्यन्ति । चिरोत्सुकमना अहं तत्र गत्वा स्नेहार्द्रचित्तां स्वमातरं ताभिः सह द्रक्ष्यामि । हे सुरश्रेष्ठ ! प्रभो ! पितृगेहोत्सवं श्रुत्वा कस्याः सुताया देहं तं द्रष्टुं न प्रचलेत् ? देहजनकस्य पितुर्गेहमनाहूता अपि तत्सुता अभियान्ति । इत्थं स्वप्रिययाऽभिभाषितः श्रीभगवानुवाच — हे शोभने ! त्वया यत्कथितं तत् शोभनमेव, यदि तव पिता मयि दोषदृष्टि र्न स्यादिति । परन्तु स मयि प्रभूतदोषान् समारोप्य मामतितरां द्वेष्टि निन्दति च । मम द्वेषात् तवापि द्वेषं, न तु स्नेहं विधास्यति, अतस्त्वयाऽपि तत्र न गन्तव्यम् । 'यदि व्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचो भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति । संभावितस्य स्वजनात्पराभवो यदा स सद्यो मरणाय कल्पते ॥ (१)' (भा० ४ । ३ । २५) । गमनानुज्ञाने बलान्निवारणे चोभयत्र सतीदेहनाशं वितर्कयन् भगवान् श्रीशङ्कर एतावदुक्त्वा विरराम । दाक्षायणी भवानी च सुहृद्दिदृक्षुस्ततो निष्क्रामन्ती श्रीरुद्रात् परिशङ्किता पुनर्निर्विशन्ती न च गता न च स्थिता दोलावत् तस्या उभयनिष्ठा गतिरभवत् । पश्चात् सा सुहृद्दिदृक्षाप्रतिघातदुर्मनाः स्नेहाद्रुदन्ती, अश्रुपूर्णाकुलेक्षणा जातवेपथुः अतिविह्वला श्रीरुद्रं रुषा प्रधक्ष्यतीवैक्षत । ततो विनिःश्वस्य शोकेण रोषेण च दूयता हृदा सा तं स्वपतिं भगवन्तं श्रीशङ्करं विहाय पित्रो गृहानगात् । तां शीघ्रमेकाकिनीं गच्छन्तीं सतीं वीक्ष्य श्रीरुद्रसंकेतेन तत्पार्षदाः मणिमद्रादयो वृषभेन्द्रमारोप्य तया सह ययुः । तत्र गत्वा सा देवी पितु र्यज्ञसदनं समाविशत् । दक्षभयात्तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियत् । जननी भगिन्यश्च प्रेमाश्रुनिरुद्धकण्ठयः सत्यस्तां मुदा परिपस्वजुः । स्वपित्राऽनादृता सती सा मात्रादिभि र्दत्तं वरमासनं सपर्याञ्च नादत्त । तस्मिन् यज्ञे रुद्रभागाभावमवेक्ष्य श्रीशिवस्य विविधामवज्ञाञ्च विज्ञाय सा दाक्षायणी रुषा लोकान् धक्ष्यतीवातीव चुकोप । ततः सा स्वकोपं दृष्ट्वोपद्रवार्थं समुत्थितान् भूतगणान् करप्रतिषेधमात्रेण निवार्य, तत्रस्थसर्वजनसमूहस्य शृण्वतः समक्षं येनास्यानौचित्यं सर्वत्र प्रसिद्धं स्यादिति हेतोः — श्रीशिवस्य भगवतो महान्तं महिमानं वेदादिसकलशास्त्रादिभिः परिगीयमानं विज्ञापयन्ती-शिवद्विषं शिव-

(१) यदि तुम मेरी बात न मानकर वहां जाओगी, तो तुम्हारे लिये अच्छा न होगा । क्योंकि—जब किसी प्रतिष्ठित व्यक्तिका अपने आत्मीय-जनोंके द्वारा अपमान होता है, तब वह तत्काल उनकी मृत्युका कारण हो जाता है ।

निन्दकं स्वपितरं निनिन्द । येन तत्सदृशोऽन्यो यः कोऽपि शिवद्वेषनिन्दाकर्ता भवेत्, तस्यापि श्रीमद्भागवतप्रसिद्धा प्रभूतानर्थकारिणी गर्हा प्रसिद्धा स्यादिति हेतोः ।

श्रीदेव्युवाच —

न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायनः प्रियस्तथाऽप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः ।
तस्मिन् समस्तात्मनि मुक्तवैरके ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत् ॥
दोषान् परेषां हि गुणेष्वसाधवो गृह्णन्ति केचिन्न भवादृशा द्विज ! ।
गुणांश्च फल्गून् बहुलीकरिष्णवो महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम् ॥
नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु ।
सेर्ष्यं महापूरुषपादपांसुभि - र्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम् ॥
यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥
यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभि - र्निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः ।
लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिनस्तस्मै भवान् द्रुह्यति विश्वबन्धवे ॥(१)

(भा० ४ । ४ । ११-१२-१३-१४-१५)

(१) देवी सतीने कहा — पिताजी ! भगवान् शङ्करसे बड़ा तो संसारमें कोई भी नहीं है । वे तो सभी देहधारियोंके प्रिय आत्मा हैं । उनका न कोई प्रिय है, न अप्रिय । अत एव उनका किसी भी प्राणीसे वैर नहीं है । वे तो सबके कारण एवं सर्वरूप हैं । आपके सिवा और ऐसा कौन है, जो उनसे विरोध करेगा । द्विजवर ! आप जैसे लोग दूसरोंके गुणोंमें भी दोष ही देखते हैं, किन्तु कोई साधु पुरुष ऐसा नहीं करते । जो लोग दोष देखनेकी बात तो अलग रही — दूसरोंके थोड़ेसे गुणोंको भी बड़े रूपमें देखना चाहते हैं, वे सबसे श्रेष्ठ हैं । खेद है कि—आपने ऐसे महापुरुषों पर भी दोषारोपण ही किया । जो दुष्ट मनुष्य, इस शवरूप जड़ शरीरको ही आत्मा मानते हैं, वे यदि ईर्ष्यावश सर्वदा ही महापुरुषोंकी निन्दा करें, तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । क्योंकि—महापुरुष तो उनकी इस चेष्टा पर कोई ध्यान नहीं देते, परन्तु उनके चरणोंकी धूलि उनके इस अपराधको न सहकर उनका तेज नष्ट कर देती है । अतः महापुरुषोंकी निन्दा जैसे जघन्य कार्य उन दुष्ट पुरुषों को ही शोभा देता है । जिनका शिव यह दो अक्षरोंका नाम प्रसङ्गवश एक बार भी मुखसे निकल जाने पर मनुष्यके

तत्रादौ तस्मिन् श्रीशिवे पूर्णब्रह्मत्वं, महनीयभगवत्त्वञ्च द्योतयितुमाह - न यस्येति - यस्य = यदपेक्षया, लोके = समस्तभुवनमध्ये, अतिशायनः = अति - अतिक्रम्य शेते - वर्तते इति, अभ्यधिकः - ऐश्वर्यादिना भगवद्गुणोत्कृष्टो नास्ति, 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते, (श्वे० ६ । ८) इति श्रुतेः । अत एव मुक्तवैरके = सर्वथा वैरद्वेषेर्ष्यादिसमस्तदोषरहिते निष्कलंके भगवति परब्रह्मस्वरूपे तस्मिन् अद्वयब्रह्मानन्दनिमग्ने श्रीशिवे, भगन्तं ऋते = विना, कतमः = कः, प्रतीपयेत् = ईर्ष्याद्वेषादिना प्रतिकूलमाचरेदित्यन्वयः । अत एव तस्मिन् निर्वैरे-वैरकरणं तव सर्वथाऽयुक्तम् । यद्वा कुतस्तस्य निर्वैरत्वमित्याशंक्य तत्र वैरहेतूनामन्योत्कर्षदर्शनादीनामभावादित्याह - न यस्येति । लोके हि स्वापेक्षयाऽन्यस्योत्कर्षं दृष्ट्वा स्वस्मिंस्तत्संपादनाशक्तस्य परोत्कर्षासहनाद्धेतोः तत्रेर्ष्याद्वेषनिन्दावैरादिकं भवति, तदुक्तं - 'दह्यमानाः सुतीक्ष्णेन नीचाः परयशोऽग्निना । अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते ।(१) इति । तथा च श्रीशिवापेक्षयाऽन्यस्य कस्यचिदुत्कर्षाभावात् श्रीशिवे तत्कथं स्यादिति भावः । अनेन श्रीशिवस्य परमेश्वरत्वं प्रद्योतितम् ।

ननु - स्वप्रयोजनाभावेऽपि स्वप्रियस्य मित्रादेः प्रयोजनं पुरस्कृत्य यस्मिन् कस्मिंश्चित् द्वेषवैरादिकस्य संभवात्, तथा श्रीशिवस्यापि कुतो न स्यात्तत्राह - प्रियस्तथेति । तथापि प्रियोऽपि यस्य लोके नास्तीत्यर्थः । यद्यप्यस्मदादयः श्रीशिवस्य भूयांसो भक्ताः तत्प्रियत्वेन प्रसिद्धाः सन्ति, तथापि तत्तदुपासनानुसारेण तत्तत्फलदाने भगवतस्तस्यानुग्रह एव, न तु जीववत् स्वार्थपर्यवसायि, प्रियत्वम् । तर्हि तस्य कश्चिदप्रियो द्वेष्यः स्यात् ? लोके व्याघ्रादौ सर्वस्य स्वाभाविकद्वेष्यत्वदर्शनात्तत्राह - तथाऽप्रिय इति । तथा लोके यस्य अप्रियः- द्वेष्यश्च नास्ति । तथा च गीतास्वपि भगवता श्रीकृष्णेनापीदमभिहितम् 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः । (९ । २९) इति । एवं वाल्मीकिरामायणेऽपि श्रीरामस्य भगवतः प्रियाप्रियराहित्यमीदृशमुक्तम् -

---

समस्त पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है, और जिनकी आज्ञाका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता, अहो ! उन्हीं पवित्रकीर्ति मङ्गलमय भगवान् शङ्करसे आप द्वेष करते हैं । अवश्य ही आप अमङ्गलरूप हैं । अरे ! महापुरुषोंके मन मधुकर, ब्रह्मानन्दमय रसका पान करनेकी इच्छासे जिनके चरणकमलोंका निरन्तर सेवन किया करते हैं और जिनके चरणारविन्द सकाम - पुरुषोंको उनके अभीष्टभोग भी देते हैं, उन विश्वबन्धु भगवान् शिवसे आप द्रोह करते हैं ।

(१) नीच लोग - अन्योंकी सुतीक्ष्ण - यशरूपी अग्निसे जलते हुए, उनके स्थानको प्राप्त करनेके लिए असमर्थ हुए - उन महापुरुषोंकी निन्दा करने लगते हैं ।'

'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च । न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥' (१) इति । तथा च श्रीरामकृष्णवत् भगवतः श्रीशिवस्यापि समानलक्षणवर्णनेन निर्विवादं भगवत्त्वं निरूपितम् ।

ननु – लोके प्रियत्वस्य परस्परसापेक्षत्वदर्शनात्, यदि लोके तस्य कश्चिदपि प्रियो नास्ति, तदा सोऽपि कस्यापि प्रियो न स्यादित्याशंक्याह– देहभृतामिति । यो देहभृतां = देहधारिणां सर्वेषां प्राणिनां प्रियश्चासावात्मा च तस्य प्रियात्मनः, 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० ४ । ५ । ६) 'स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि । इति यो वेद स वै विद्वान्, यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ॥' (भा० ४ । २९ । ५१) 'अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः ।' (गी० १० । २०) इति श्रुतिस्मृतिभागवतप्रामाण्यादपि – तस्याऽन्यत्र प्रीतिरहितस्यापि सर्वात्मत्वेन सर्वप्राणिप्रियत्वं निर्विवादं सिद्ध्यति। अन्यत्र देहादौ प्रियत्वस्यात्मार्थकत्वेनौपाधिकत्वात्, आत्मनि च प्रेम्णो निर्निमित्ततया निरुपाधिकप्रियत्वं वेदितव्यम् । अत एव लोकदृष्टान्तेन न तद्विषयकशंकाऽवसरः । अतस्तस्य समस्तात्मत्वेन परमप्रेमास्पदत्वात्, वैरविषयत्वाभावान्मुक्तवैरके, परमानन्दनिधौ तस्मिन् समस्तरूपे विश्वकारणभूते द्वेषनिन्दादिना प्रतिकूलाचरणं सर्वथाऽनुचितमत एव परिणामे प्रभूतानर्थप्रयोजकमिति-भावः ।

एतेन 'न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा । आत्मत्वात् सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः ॥' (२) (भा० ६ । १७ । ३३) इति श्रीहरेः शिवस्य चानन्यभक्ताभ्यां प्रह्लाददाक्षायणीभ्यामीदृशसमानलक्षणवर्णनेन तयोः शिवनारायणयोरैक्यमपि विज्ञापितं भगवता बादरायणमुनिना । उपासनाऽध्वनि काल्पनिकभेदस्तु रुचीनां वैचित्र्याद् विज्ञेयः – तदुक्तं अप्पयदीक्षितेन विद्वदुत्तमेन परमशिवभक्तेन – 'पुरारौ च मुरारौ च, नास्ति भेदः कथञ्चन । तथापि मदीया भक्तिः (बुद्धिः) चन्द्रचूडे विधावति ।' (३) इति । तस्य च

(१) भगवान् श्रीराम राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त होनेके लिए बुलाये गये, परन्तु कैकयीके द्वारा वन जानेके लिए प्रोत्साहित किये गये, ऐसे श्रीरामके मुख पर इन दोनों दशाओंमें भी आकृतिका हर्ष-शोक-रूप विभ्रम मैंने नहीं देखा ।

(२) भगवान्को न कोई प्रिय है, न अप्रिय । उनका न कोई अपना है, और न पराया, वे सभी प्राणियोंके आत्मा अभिन्नस्वरूप हैं, इसलिये सभी प्राणियोंके प्रियतम हैं ।

(३) पुरारी शिवमें तथा मुरारी विष्णुमें किसी भी प्रकारसे भेद नहीं है, तथापि मेरी भक्तिपूर्णबुद्धि चन्द्रचूड़-भगवान् शंकरकी तरफ दौड़ती है ।

प्रतिकूलाचरणं द्वेधा, महत्तमद्रोहेण, साक्षात्तद्द्रोहेण च । तत्र पुरुषाणां चातुर्विध्यं वदन्ती दाक्षायणी सती महत्तमद्रोहमाह – दोषानिति - द्वाभ्यां श्लोकाभ्याम् । हे द्विज ! इत्यधिक्षेपः । यद्वा द्विजेति सम्बोधनेन तव वैदिक-धर्मनिष्ठत्वेन सदाचारपालनमेव युक्तं न तु तदुल्लंघनमुचितम् इति सूचयति । भवादृशाः = भवत्सदृशाः त्वद्विधाः, असाधवः = दूषितान्तःकरणाः, साधु-जनप्रेमसद्भावक्षमादयादिधर्मरहिता एव न केवलमपि तु असाधुजनेर्ष्याद्वेप-निन्दादिदोषाढ्यास्ते परेषां = शत्रुत्वेनाभिमतानां वस्तुतः सर्वलोकोपकर्तृ-णां निर्दोषाणां निर्वैराणां प्रभूतगुणाढ्यतयोत्कृष्टानां गुणेषु दोषानेव स्वारो-पितान वस्तुतस्तत्राविद्यमानानेव गृह्णन्ति, न तु विद्यमानान् गुणान् ते अधमाः खला उच्यन्ते । तदुक्तं – 'पश्यति परस्य दोषान् असतोऽपि खलः सतोऽपि नैव गुणान् । तद्विपरीतः स्वस्मिन् धातुः काचन मोहलीला जयति ॥' (१) इति ।

केचिन्मध्यस्था गुणेषु दोषान्न गृह्णन्ति, किन्तु यथास्थितान् गुण-दोषान् विवेकेन गृह्णन्ति, ते तु महान्त उच्यन्ते । साधवस्तु केवलं गुणानेव गृह्णन्ति, न दोषान्, ते तु महत्तरा उच्यन्ते । महत्तमास्तु दोषान्न गृह्णन्त्येव, ते च प्रत्युत फल्गून् = तुच्छानपि गुणान् बहुली-कुर्वन्तीति करिष्णवः समृद्धान् कुर्वाणाः स्वल्पानपि नमस्कारादीन् बहुमन्य-मानाः भवन्ति, जगत्यस्मिन् न केऽपि दुष्टाः सन्ति, किन्तु सर्वे एव साधवः सज्जनाः सन्तीत्येव ये मन्वते, ते महत्तमाः मन्तव्याः । भगवतः श्रीशिवस्यापि स्वल्पेनापि स्तुतिपूजानमस्कारादिना गुणेन हेतुनाऽऽशुतोषत्वं सद्यो बहुफल-दातृत्वञ्च प्रसिद्धम् । अत एव तस्य सर्वत्र ब्रह्मात्मभावनया: समाधिनिष्ठस्य आत्मारामस्य कुत्रापि भिन्नत्वदर्शनमेव न विद्यते, अत एव मया तन्मुखात् कदापि तव स्वल्पस्यापि दोषस्य श्रवणं न कृतम् । तथा च तस्य निर्विवादं महत्तमत्वम् । तेषु = श्रीशिवतत्सदृशेषु महत्तमेषु भवान्-अघं = दोषं, अवि-दत् = आरोप्य निश्चितवान् - अविद्यमानं कल्पितवानित्यर्थः । तच्च – 'इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मनिष्ठानभिभूय च । बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतू-त्तमम् ॥' (२) (भा० ४ । ३ । ३) इत्यनेन सूचितम् । अतो महान् बुद्धि-

(१) खल - दुष्टमानव अन्यके अविद्यमान - दोषोंको देखता है, परन्तु विद्यमान गुणोंको नहीं देखता है । उसके विपरीत अपनेमें अविद्यमान गुणोंको देखता है और विद्यमान दोषोंको नहीं देखता है, यह विधाताकी कोई मोह-भ्रान्तिमयी लीला ही विजयनी हो रही है ।

(२) दक्षप्रजापतिने भगवान् शंकर आदि ब्रह्मनिष्ठोंको यज्ञभाग न देकर

ऽव्यतिक्रमो भवतो जात इति भावः । सर्वजनप्रसिद्धमेवैतदुक्तं न संदिग्धमित्याह – हीति । क्वचित् – 'गुणेषु साधवः' इति पाठः, तत्र केचित् साधवो दोषान न गृह्णन्ति, भवादृशाः अर्थात् असाधवस्तु दोषान् गृह्णन्ति इति योजयितव्यम् । केचिदिति पद एवंभूताः स धवो दुर्लभा विरलाः सन्तीति सूचयति ।

एवमुक्तेऽपि तस्य प्रभूताभिमानत्वेन स्तब्धत्वं दृष्ट्वा तमधिक्षिपन्ती एतच्च दुर्जनेषु युक्तमेवेति प्राह – नाश्चर्यमिति । असत्सु = असज्जनेषु-अन्तःकरणस्याभिमानादिदोषेण भ्रान्तेषु दुष्टेषु एतन्नाश्चर्यं, किन्तु तदेव शोभनमिति सम्बन्धः । एतत्किमित्यपेक्षायामाह – सेर्ष्यं यत् सर्वदा महद्विनिन्देति । ईर्ष्या = अक्षान्तिः - तत्प्रभावासहनसंतापः, तया सहितं यथा भवति तथा यत् सर्वदा न तु कदाचित् महतां पुरुषाणां विनिन्दा = गुणेषु दोषानारोप्य पुनःपुनः कथनम् । तेषामसत्त्वं भ्रान्तत्वमेवाह – कुणपात्मवादिषु = कुणपं-शववत्कुत्सितं जडं शरीरं, तदेवात्मेति वदनं शीलं स्वभावो येषां तेषु । ननु - एवमनात्मन्यात्मबुद्धिरूपा भ्रान्तिस्तेषां कथं जाता ? इत्याशंक्य–'हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ।' इत्यादिवचनानुरोधेन महदतिक्रमरूपापराधेन यथार्थग्रहणयोग्यताया निरस्तत्वादित्यभिप्रेत्याह – महापूरुषेति । यद्यपि महापुरुषाः क्षमाशीलाः तदपराधं न गणयन्ति, स्वनिन्दां च कारुण्यात् सहन्ते, तथापि तत्पादपांसुभिः = तत्पावनचरणरेणुभिः निरस्तं तेजः = विवेकज्ञानादियोग्यत्वं, येषां तेषु, यद्वा तेजः = प्रभावो निरस्तं येषामिति । तत्पादरेणवस्तदसहमानास्तेषां तेजो निरस्यन्ति । अतोऽशक्तेषु महद्विनिन्दनमेवोचितमित्यर्थः । नाश्चर्यं, देहाभिमानजन्यत्वेनाकस्मिकत्वाभावात्, आकस्मिकमेवाश्चर्यजनकं भवति, न प्रसिद्धसाधनसामग्र्या जनितमतस्तेषु-तदेवं शोभनं, स्वनिष्ठासत्त्वसाधकत्वात् अन्यथा तेषामसत्त्वमेव न सिद्ध्येदिति भावः । वस्तुतस्त्वाक्षेपपरमपीदं श्रीभवानीवाक्यं यथार्थमपि भवितुमर्हति । असतां महद्विनिन्दनं शोभनं = शोभाजनकमेव, अन्यथा महापापरूपाया निन्दाया अभावे दण्डाभावादभिमानतादवस्थ्येन कलुषितस्य पुरुषार्थरूपधर्मसिद्धिर्न स्यादतः परम्परया निन्दनादेरपि शोधकत्वेन शोभनत्वं हिरण्यकशिपुकंसशिशुपालप्रभृतीनामपि तथात्वदर्शनादितिभावः ।

एवं सामान्यतो महत्तमेष्वसतां द्रोहाद्यपराधदर्शनेन दक्षमधिक्षिप्य विशेषतः शिवेतरस्य तस्य तस्मिन् श्रीशिवे साक्षात्कृतमनर्थमूलं द्रोहं प्रदर्शय-

उनका तिरस्कार करते हुए पहले तो वाजपेय यज्ञ किया और पश्चात् बृहस्पतिसव नामक महायज्ञ आरम्भ किया ।

न्नधिक्षिपन्ती भगवती प्राह-यद् द्व्यक्षरमिति-यदिति व्यस्तमव्ययं, यस्य नाम द्व्यक्षरं-शिव-रुद्र-शम्भु-मृड-भव-हर इत्यादिकं सुखोच्चार्यं, तदपि गिरेरितं = वाचोच्चरितं विस्पष्टमस्पष्टं वा, न तु हृदयेन तदर्थमवधार्य, तच्च सकृत् = एकवारं, न बहुवारं, तदपि प्रसंगात् = संकेताद्यनुषंगादपि, न तु श्रद्धादिना, अघं = सर्वप्रकारकं-अवधीरितमहदल्पभेदं, आशु = शीघ्रमेव न तु कालान्तर-व्यवधानेन हन्ति = हिनस्ति, तत्रापि न नामिनो भगवतश्चित्तमावर्ज्य, किन्तु तत्स्वयमेव, तच्च सर्वेषां नृणां न द्विजानामेवेति । एवं पुराणान्तरेष्वपि — 'शिवेति विमलं नाम, येनोच्चारितमादरात् । तेन भूयो न संसार-सागरः समवाप्यते ।। शिवेति द्व्यक्षरं नाम, यस्य वाचा प्रवर्तते । भस्मीभवन्ति तस्याशु महापातककोटयः ।। शिवेति यद्वाचि हि वर्णयुग्मं, प्रवर्तते यस्य न तस्य पापम् । स्वर्गस्य लाभः सुलभोऽन्यधर्माः प्रत्यूहवन्तः कलिदोषदुष्टाः ।। (१) इत्यादिभिः संसारनिवर्तकत्वेन असंख्यमहापातकविनाशकत्वेन स्वर्गादिलाभसंपादकत्वेन च शिवेति द्व्यक्षरनाम्नः प्रसिद्धं महत्त्वमुपवर्ण्यते — ब्रह्महत्यासहस्राणि, पुरा कृत्वापि पुल्कसः । शिवेति नाम विमलं श्रुत्वा मोक्षं गतः पुरा ।। महादेवेति नामेदं, यः शृणोति वदिष्यति । न तस्य नरके वासः, सत्यं सत्यं न संशयः ।। (२) । इत्यादिवाक्यान्तरैरपि – उच्चारणावच्छवणस्यापि तादृशं फलं ज्ञायते । सति चैवं भगवन्नाम्नि श्रद्धालुभिरर्थवादत्वशंकाऽपि न कार्या, यतः – 'मन्नामकीर्तनफलं विविधं निशम्य, न श्रद्दधाति मनुते यदुतार्थवादम् । यो मानुषस्तमिह दुःखचये क्षिपामि, संसारघोरविविधार्त्तिनिपीडिताङ्गम् ।। (३) । इत्यादिना तथात्वाङ्गीकारे दोषश्रवणात् । तं शिवं = कल्याणरूपं

(१) शिव ऐसा पवित्र नाम जिसने आदरके साथ – यानी श्रद्धा एकाग्रता के साथ उच्चारण किया है, वह पुनः संसार - सागरको प्राप्त नहीं होता है । जिसकी वाणीके द्वारा 'शिव' ऐसा दो– अक्षरवाला नाम प्रवृतमान होता है, उसके कोटानुकोटी महापाप शीघ्रही भस्मीभूत होजाते हैं, जिसकी वाणीमें 'शिव' ऐसे दो वर्णवाला नाम प्रवर्तमान होता है, उसको कोई पाप नहीं लगता है । स्वर्गका लाभ सुलभ होता है, कलियुगके दोषोंसे दुष्ट – अनेक विघ्नवाले-अन्य-धर्म भी निर्विघ्न निर्दोष रूपसे सुलभ होजाते हैं ।

(२) पूर्व समयमें किसी चाण्डालने हजारों ब्रह्महत्याएं की थीं, परन्तु शिव ऐसा पवित्र नाम श्रद्धासे सुनकर उसने उन पापोंसे मोक्ष प्राप्त किया था । 'महादेव' ऐसा नाम जो कोई सुनता है तथा बोलता है, उसका नरकमें वास नहीं होता, यह सत्य ही है, इसमें संशय नहीं ।

(३) भगवान् शंकर कहते हैं—मेरे संकीर्तनके अनेक प्रकारके फलोंको सुन

परमेश्वरं, पवित्रकीर्तिं = पवित्रा = सर्वपापसंतापनिवर्तिका कीर्तिर्यस्य तं, अलङ्घ्यशासनं = अनुल्लंघनीयं शासनं = आज्ञा यस्य तं, भगवन्तं कल्याणकरं, भवानहो द्वेष्टि, इत्यनेन स्वल्पेनापि यद्भजनेन सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्भवति, तस्य द्वेषात्तु पुरुषार्थार्थिनोऽपि भवतः सर्वोऽप्युद्यमः स्वविनाशायैव स्यादिति सूचयति। अत एवाह – शिवेतरः– अमंगलरूपः-कल्याणविरोधिपापप्रचयरूपः इत्यर्थः।

एवं शिवद्वेषनिन्दादौ निखिलानिष्टप्राप्तिस्तस्य प्रेम्णा सद्भावानुसरणभजनादौ तु सकलपापसंतापाद्यनिष्टनिवृत्तिरिति प्रदर्शितम्, संप्रति ततः समस्तभोगमोक्षरूपाभीष्टलाभं प्रदर्शयन्ती तद्द्रोहस्यायुक्तत्वमाह – यत्पादेति। यस्य भगवतः परब्रह्मस्वरूपस्य शिवस्य पादपद्मं = चरणकमलं, ब्रह्मैव रसः = परमानन्दः, स एवासवः = सर्वविस्मृतिकरं पूर्णतृप्तिजनकं दिव्यं मधु, तदर्थिभिः = तदभीप्सुभिः, महतां = सर्वपूज्यानां सनकादीनां मनांस्येव, अलयः = भ्रमराः, त निंतरां सेवतम्। एतेन ब्रह्मनिर्वाणमोक्षेप्सूनां ब्रह्मज्ञानप्रदत्वेन श्रीशिवस्य जगद्गुरुत्वं स्पष्टं निरूपितम्। तदेतदुक्तम्– 'ददृशुः शिवमासीनं त्यक्तामर्षमिवान्तकम्। सनन्दनाद्यैर्महासिद्धैः शान्तैः संशान्तविग्रहम्॥ उपास्यमानं सख्या च भर्त्रा गुह्यकरक्षसाम्। विद्यातपोयोगपथमास्थितं तमधीश्वरम्॥ चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलम्॥ लिङ्गं च तापसाभीष्टं भस्मदण्डजटाजिनम्॥ अंगेन संध्याभ्ररुचा चन्द्रलेखां च बिभ्रतम्। उपविष्टं दर्भमय्यां बृस्यां ब्रह्मसनातनम्। नारदाय प्रवोचन्तं, पृच्छते शृण्वतां सताम्॥ (१) (भा० ४। ६। ३३-३४-३५-३६-३७)। 'तं ब्रह्म-

करके उनमें जो श्रद्धा नहीं रखता है। प्रत्युत उस फल–श्रुतिको अर्थवादमात्र मानता है, वह मानव बड़ा अपराधी है, उसको मैं संसारकी भयंकर विविध विपत्तियोंसे व्यथित करता हुआ दुःख-समुदायमें डाल देता हूं।

(१) उस महायोगमय और मुमुक्षुओंके आश्रयभूत वटवृक्षके नीचे देवताओंने भगवान् शंकरको विराजमान देखा। वे साक्षात् क्रोधहीन प्रशान्त - कालके समान महाकाल जान पड़ते थे। भगवान् भूतनाथका श्रीअङ्ग, बड़ा ही आनन्दमय-शान्त था। सनन्दनादि शान्त महासिद्धगण, और सखा - यक्षराक्षसोंके स्वामी कुबेर, उनकी सेवा कर रहे थे, जगत्पति महादेव जी सारे संसारके सुहृद् हैं। स्नेहवश सबका कल्याण करनेवाले हैं। वे लोकहितके लिये ही उपासना, चित्तकी एकाग्रता, और समाधि आदि साधनोंका आचरण करते रहते हैं। संध्याकालीन मेघकी सी कान्ति वाले - शरीर पर वे तपस्वियोंके अभीष्टचिन्ह भस्म, दण्ड, जटा और मृगचर्म, एवं मस्तक पर चन्द्रकला धारण किये हुए थे। वे एक कुशासन पर बैठे थे। और

निर्वाणसमाधिमाश्रितं व्युपाश्रितं गिरिशं योगकक्षाम् । सलोकपाला मुनयो मनूना-माद्यं मनुं प्राञ्जलयः प्रणेमुः ॥ (१) (भा० ४ । ६ । ३६) ।

अयमर्थः — सख्या = कुबेरेण, विद्या = ब्रह्मविद्या, तपः = चित्तैकाग्र्यं, योगः = समाधिः, तेषां पन्थानं-प्रवर्तनद्वाराऽऽस्थितं = अङ्गीकृतं, लोकस्य मङ्गलं = हितं-कल्याणं, ननु – तस्येश्वरस्य किमर्थं विद्याद्यनुष्ठानं ? तत्राह – वात्सल्यात् = स्नेहाच्चरन्तं = कुर्वन्तम् । स्वस्य परमश्रेष्ठत्वात् 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' (गी० ३ । २१) इति गीतोक्तन्यायेन स्वाचारं दृष्ट्वा लोकानां तत्र प्रवृत्त्यर्थं तदाचरणमिति भावः । कथं तस्यैवं लोके वात्सल्यं ? तत्राह– विश्वसुहृदं = विश्वस्य–सर्वस्य निर्व्याजतो हितचिन्तकं, कथं तस्य सर्वहितैषित्वं ? तत्राह–तदधीश्वरमिति – तस्य सर्वस्य लोकस्य, अधीश्वरं = उत्पत्तिपालनसंहारकर्तारं विश्वस्वामिनं विश्वनाथमित्यर्थः । यदा स्वामी हितं न कुर्यात् ? तदा तत्कः कुर्यादिति भावः । अत एव वेषमपि तादृशमेव बिभर्तीत्याह–लिङ्गमिति । भगवतः श्रीशिवस्य कर्पूरवत्स्वतो गौरवर्णत्वेऽपि भस्मधारणेन संध्याभ्रवत् रुक् = कान्तिः स्वल्पश्यामला यस्य तेनांगेन, तापसानामभीष्टं भस्मादिलिङ्गं = चिन्हं, चन्द्रलेखां च बिभ्रतमित्यन्वयः । व्रतिनामासनं बृसी तस्याम् । अनेन महतां सनकादिनारदादीनामपि ब्रह्मविद्याप्रदातृत्वेन श्रीशिवस्य जगद्गुरुत्वकथनेनात्मारामत्वपरमदयालुत्वादिकं प्रदर्शितम् । अत एव मैत्रेयं महर्षिं प्रति श्रीविदुरस्यायं प्रश्नोऽपि – 'कस्तं चराचरगुरुं, निर्वैरं शान्तविग्रहम् । आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत् ॥' (२) (भा० ४ । २ । २) इति । श्रीशिवस्य चराचरस्य जगतो गुरुत्वं पूज्यत्वं नियन्तृत्वञ्च, 'जगतो दैवतं महदि'त्यनेन महादेवत्वञ्च बोधयति ।

ब्रह्मनिर्वाणं = अखण्डब्रह्मानन्दः, तत्र समाधिः = तल्लीनता, तमाश्रितं, मनवः = मननशीलाः मुनयः, तेषामाद्यं-मुख्यं-आदिनाथम् ।

इदानीं श्रीशिवस्य ऐहलौकिकपारलौकिकैश्वर्यभोगाद्यभ्युदयार्थिनां तत्तदभीष्टफलदातृत्वमाह — लोकस्येति । यश्च श्रीशिवः, अर्थिनः = अभ्युदया-

अनेकों साधु श्रोताओंके बीचमें श्रीनारदजीके पूछनेसे सनातन - ब्रह्मका उपदेश कर रहे थे ।

(१) वे योगपट्ट (काठकी बनी हुई टेकनी) का सहारा लिये, एकाग्र चित्तसे ब्रह्मानन्दका अनुभव कर रहे थे । लोकपालोंके सहित समस्त मुनियोंने - मननशीलोंने सर्वश्रेष्ठभगवान् शंकरको हाथ जोड़कर प्रणाम किया ।

(२) महादेव जी चराचर जगतके गुरु, वैर रहित, शान्तमूर्ति, आत्माराम और जगत्के परम आराध्य देव हैं । उनसे भला कोई क्यों द्वेष-निन्दा-वैर करेगा ? ।

र्थिनः, लोकस्य आशिषः = तत्तदभीष्टभोगैश्वर्यादिकामान्, वर्षति = अल दददाति, तस्मै विश्वबन्धवे = जगतो हितकारिणे-भोगमोक्षप्रदात्रे भवान् द्रुह्यति, अहो भवतो बुद्धिवैपरीत्यमिति शेषः ।

एवं श्रीमद्भागवते तृतीयेऽपि कश्यपो महर्षिर्भगवतः श्रीशङ्करस्यानवद्याचरणस्य निर्द्वन्द्वताज्ञापकस्य हास्यं कुर्वतो दुर्भगान् जनान् विनिन्दन् तस्य स्तुत्यं महत्त्वं प्रदर्शयन् – इत्थमाह — 'यस्यानवद्याचरितं मनीषिणो गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः । निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं, पिशाचचर्यामचरद् गतिः सताम् ॥ हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः स्वात्मन् रतस्याविदुषः समीहितम् । यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम् ॥ ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला यत्कारणं विश्वमिदं च माया । आज्ञाकरी तस्य पिशाचचर्या अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥ (१) (भा० ३।१४।२६-२७-२८) । यस्य = श्रीमहादेवस्य, अनवद्यं = स्वतो निर्दोषं-सर्वदोषनिवर्तकं, परदुःखनिरासविश्वरक्षणाद्यर्थं त्रिपुरवध-विषपान-श्रीहरिचक्रप्रदानादिरूपं सर्वविषयत्यागेन ब्रह्मसमाधिरूपं च मनीषिणः = बुद्धिमन्तः, गृणन्ति = श्रद्धया कीर्तयन्ति-गायन्तीत्यर्थः, गृह्णन्तीति पाठान्तरं, किमर्थं मत्यपेक्षायामाह— अविद्येति । अविद्याकृतं यत्पटलं = ब्रह्मात्माऽऽवरणं, तद् यदनुग्रहाल्लब्धया ब्रह्मविद्यया बिभित्सवः = भेत्तुं विध्वंसितुं = इच्छव इत्यर्थः । अविद्यानिवृत्तये तस्य विमलचरित्रस्य ते यशो गानं कुर्वन्तीति यावत् । यो हि भगवान् निरस्तसाम्यातिशयोऽपि = निरस्तं साम्यं, समत्वं, अतिशयः = अभ्यधिकत्वं, यस्मात् तथाभूतोऽपि । अर्थात् तत्समोऽपि कश्चन न विद्यते, अभ्यधिकस्तु कुतः स्यात् ? अनेन तस्य महेश्वरत्वं व्याख्यातम् । एवं भूतोऽपि स्वयं वैरा-

(१) विवेकी - पुरुष अविद्याके आवरणको हटानेकी इच्छासे उनके निर्मल चरित्रका गान किया करते हैं, उनसे बढ़कर तो क्या ? उनके समान भी कोई नहीं है, और वे सन्तोंकी गति रूप अर्थात् उनतक केवल सत्पुरुषोंकी ही पहुंच है । यह सब होने पर भी वे स्वयं पिशाचोंका सा आचरण करते हैं । यह शरीर कुत्तोंका भोजन है, जो अविवेकी पुरुष उसे अपना आत्मा मानकर वस्त्र, आभूषण, माला और चन्दनादिसे इसको सजाते संवारते रहते हैं— वे अभागे—दुष्टमानव ही आत्माराम भगवान् शंकरके आचरणोंको हंसते हैं । हम लोग तो क्या ? ब्रह्मादिलोकपाल भी उन्हींकी बांधी हुई - धर्ममर्यादाका पालन करते हैं, वे ही इस विश्वके अधिष्ठान हैं तथा यह माया भी उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करने वाली है, ऐसा हो कर भी वे प्रेतोंका सा आचरण करते हैं । अहो ! उन जगद्व्यापक-भूमा प्रभुकी यह अद्भुत लीला कुछ समझमें नहीं आती ।

भ्यस्य निर्द्वन्द्वतायाः विधिनिषेध-पारतन्त्र्याभावस्य च ज्ञापनाय, यत् पिशाचचर्यामचरत् = सर्वभोगविभवत्यागेन पिशाचवन्नग्नभस्मावलेपकृत्तिधारणादिरूपेणाचरणं कृतवान्, तत् सतां = सत्पुरुषाणां-मुमुक्षूणां-जिज्ञासूनां, गतिः = आचरणेन, न तु वदनेन शिक्षको गुरुः सन् । मुमुक्षवोऽप्येवं कुर्युरिति तच्छिक्षार्थं कृतवानित्यर्थः ।

तर्हि कुतः केचित्तदाचरितमुपहसन्तीत्यपेक्षायामाह - हसन्तीति । हीत्यवधारणे । दुर्भगाः = दुष्टभगजन्याः वर्णसंकराः नरकगामिनो महापापिन एव । यस्याचरितं हसन्ति । तत्र हेतुमाह — आत्मन् = आत्मनि, रतस्य तस्यात्मारामस्य समीहितं = अभिप्रायं, परप्रबोधादिविषयकं, अविदुषः = अविद्वांसः-अजानाना इत्यर्थः, द्वितीया प्रथमार्थे, कीदृशास्ते ? इत्याकांक्षायां-लोके हि समानशीलव्यसनं स्तुवन्ति, तद्विपरीतं हसन्ति निन्दन्ति चेति, महादेवाद्विपरीतस्वभावांस्तान् मूढानाह-यैरिति । वस्त्राणि = कौशेयादीनि विविधानि, माल्यानि = पुष्पाणि, आभरणानि = कटककुण्डलादीनि, अनुलेपनानि = चन्दनादीनि, तैः साधनैः, यैः = अज्ञैर्मानवैः, श्वभोजनं = शुनां भोज्यं शरीरं, स्वात्मतया = स्वस्वरूपत्वेनोपलालितं, ते भ्रान्ता एव दौर्भाग्यशालिनो हसन्तीत्यन्वयः ।

सम्प्रति तस्य श्रीशिवस्य सर्वेश्वरत्व-विश्वकारणत्व-मायानियतृत्वादीनि सर्वोत्कृष्टत्वे महादेवत्वे च प्रयोजकानि लक्षणानि प्रदर्शयन्नाह – सर्वदेवोत्तमा हि ब्रह्मादयः, तेऽपि येन श्रीशिवेन भगवता कृताः = विहिताः विधिनिषेधादिरूपाः सेतवो = मर्यादाः, तत्पालकाः सन्ति, तत्कृतमर्यादामनुवर्तन्ते, नातिक्रमन्ते । इदं समग्रं विश्वं, यत्कारणं = यः श्रीशिवः कारणं यस्य तत् । अर्थात् निखिलस्य चराचरस्य विश्वस्य योऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणमस्ति, निखिलानि वेदादिशास्त्राणि च 'तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं' (ऋ० १ । ८९ । ५) इत्यादिना विश्वजनिस्थितिसंहृतिकारणतां यस्य प्रतिपादयन्ति । श्रीमद्भागवतेऽपि चतुर्थे तथैवाभिहितम् – 'त्वमेव भगवन् ! एतच्छिवशक्त्योः सरूपयोः । विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा ॥ (१) (भा० ४ । ६ । ४३) । हे भगवन् ! इति सम्बोधनेनश्वर्यादिषड्भगवत्त्वात् तवैव विश्वसृष्ट्यादिकरणे सामर्थ्यमस्ति, नान्यस्येति सूचयति । सरूपयोः = अविभक्तयोः, शिवशक्त्योः = प्रकृतिपुरुषयोः तृतीयार्थे षष्ठी । ताभ्यां मिथो भेद-

(१) भगवन् ! आप मकड़ीके समान ही अपने स्वरूपभूत - शिवशक्तिके रूपमें क्रीड़ा करते हुए लीलासे ही संसारकी रचना, पालन और संहार करते रहते हैं ।

रहिताभ्यां परस्परं सम्पृक्ताभ्यां शिवशक्तिभ्यां, त्वमेव, एतत् विश्वं, सृजसि = निर्मिमीसे, पासि = पालयसि, अत्सि = संहरसि । क्रीडन् सन् । विश्वसर्जनादिकं तव सर्वशक्तिमतस्सर्वज्ञस्य कृते क्रीडामात्र-अनायाससाध्यम् । ननु—सहायान्तरं विना साधनान्तरञ्च विना कथमेकेन सर्वभेदशून्येन परमेश्वरेण विश्वसृष्ट्यादिकरणं सम्भवतीत्याशंक्य दृष्टान्तेन तत्सम्भावयति । ऊर्णपटो यथा । ऊर्णपटो = ऊर्णनाभिः-लूताकीटः, स यथा सहायान्तरं साधनान्तरञ्च विना स्वस्मादेवोर्णान् तन्तूविशेषान् सृजति, तत्र विहरति, पुनः संहरते च तथेत्यर्थः ।

ब्रह्मादिसर्वजनमोहिनी च माया यस्याज्ञाकरी आज्ञामनुसरती । अहो ! आश्चर्यं, तस्य विभूम्नः = परब्रह्मस्वरूपस्य देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदविवर्जितस्य पिशाचवत् चर्या = नग्नत्वभस्मलेपनादिरूपा विडम्बनम् = अनुकरणमात्रं दुर्भगजनवञ्चनहेतुकमित्यर्थः । न तु विकृतिजनिका वास्तविकी पिशाचवत् चर्या तस्याऽस्तीति भावः ।

अत एव—'ब्रह्मादयो मूर्धभि र्दधति तच्चरणावसृष्टम् ।' (भा० ४ । ४ । १६) 'जगद्गुरु !' (भा० ४ । ५ । २७) 'सुरासुरेशैरभिवन्दिताङ्घ्रिः ।' (भा० ४ । ६ । ४०) इत्यादिभिः तस्यानितरसाधरणं, कीर्तनेन पावनकरं महामहत्त्वमत्यादरेण वर्णयन्ति श्रीमद्भागवतेऽपि बादरायणमहर्षयः । तस्य चरणाभ्यां अवसृष्टं = गलितं परित्यक्तं पत्रपुष्पादिरूपं निर्माल्यं ये ब्रह्मादयो महान्तो देवा अपि मूर्धभिः = पावनाय मूर्धसु, सप्तम्यर्थे तृतीया, श्रद्धया, दधति = धारयन्ति ।

'एका मूर्तिस्त्रयो देवाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।' इति त्रयाणामभेदसिद्धान्तज्ञापनाय श्रीशिवस्याज्ञाकरणोद्देशेन प्रवृत्तं दक्षयज्ञं ब्रह्मविष्णू न जग्मतुः । तथैवाह – 'उपलभ्य पुरैवेतद्भगवान् अब्जसंभवः । नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः ॥ अब्जसंभवः = ब्रह्मा, कस्य = दक्षप्रजापतेः, अध्वरं = यज्ञम् ।

तथा च पूर्वोक्तप्रकारेण सती दाक्षायणी, शिवद्रोहिणं स्वपितरं दक्षं निर्भर्त्स्य—'व्रीडा ममाभूत कुजनप्रसंगतः, तज्जन्म धिक् यो महतामवद्यकृत् ।' (भा० ४ । ४ । २२) इत्युक्त्वा सा भगवती देवी क्षितौ शान्तवाक् सती उदीचीं दिशं निषसाद । जलं स्पृष्ट्वा पीतदुकूलसंवृता दृक् निमील्य योगपथं समाविशत् । ततः स्वभर्तु र्जगद्गुरोः परब्रह्मणः श्रीशंकरस्य चरणाम्बुजं ध्यायन्ती समाधिजाग्निना स्वदेहं सद्यः प्रजज्वाल । भगवान् श्रीभवः प्रजापतेरसत्कृतायाः भवान्याः निधनं नारदादवगम्यापारं क्रोधमादधे । रोषेण जटां

स्वकीयामुत्पाटय ततो वीरभद्रमुत्पाद्य – 'हे वीरभद्र ! मत्पार्षदसैन्यभटानां महाबलिनां त्वमग्रणी भूत्वा सयज्ञं दक्षं जहि । तदनुयायिनामपि यथोचितं दण्डं विधेहि ।' इति तमाज्ञापयामास । अपारबलनिधि र्वीरभद्रस्तत्र गत्वा दक्षस्य शिरः छित्त्वा प्रज्वलिते यज्ञकुण्डे जुहाव । रुद्रगणैः पराजिताः छिन्न-भिन्नतत्तदङ्गाः भयाकुला देवगणा अपि, ससदस्या ऋत्विजोऽपि ततो दुद्रुवुः । यो भृगु र्महर्षिः सदसि दक्षमुखात् श्रीशिवनिन्दां श्रुत्वा श्मश्रूणि स्पृशन् भगवन्तं तमहसत्, तस्य श्मश्रूणि वीरभद्र उत्पाटितवान् । यश्च भगसंज्ञको देवः शिवनिन्दां कुर्वन्तं दक्षमक्षिचालनेन पुनरपि तत्कर्तुं प्रेरयामास । तस्य नेत्रे उज्जहार । पूष्णश्च देवस्य दन्तान् अपाटयत्, यो दतः प्रदर्शयन् दुष्टै र्निन्दितं शिवमहसत् ।

इत्येवं दक्षयज्ञविध्वंसं विधाय सगणो वीरभद्रः कैलासाद्रिमाजगाम । देवगणाश्च स्वयंभुवे चतुर्मुखाय नमस्कृत्य कात्स्र्न्येनैतत् न्यवेदयन् । ब्रह्मा तानुवाच—अकृतागसि तेजीयसि भगवति तस्मिन् श्रीशंकरे यूयं कृतद्वेषादि-किल्बिषाः स्थ । अतो भवतां कथं क्षेमं स्यात् ? अथापि यूयं तस्य क्षिप्र-प्रसादस्य वरदौ पादपद्मौ परिशुद्धेन चेतसा प्रगृह्य त भगवन्तं प्रसादयध्वम् । तमाशु देवं प्रियया विहीनं क्षमापयध्वम्, हृदि विद्धं दुरुक्तैः । स इत्थं देवा-नादिश्य प्रजेशपितृदेवादिभिः समन्वितः सन् कैलासमद्रिप्रवरं पुरारेः श्रीशङ्करस्य रमणीयं प्रियं निलयं ययौ । भूतपतिगिरिं विलोक्य विबुधाः सर्वे विस्मयं ययुः । तत्रासीनं श्रीशिवं दृष्ट्वा तं नमस्कृत्य विविधैः स्तोत्रैःतुष्टुवुः । ब्रह्मप्रमु-खान् देवान् स्वसम्मुखेऽवस्थितान् वीक्ष्य करुणावरुणालयो भगवान् श्रीशङ्करः तान् इत्थं सत्कारेण सम्भावितवान् । यदाह – कविकुलगुरुः कालिदासः श्रीशिवस्य स्तुत्यगौरवं प्रकटयितुकामः — 'कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिं, वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन । आलोकमात्रेण सुरानशेषान् सम्भावयामास यथा प्रधानम् ॥' (१) (कु० सं० ७ । ४६) इति ।

तै र्विहिता विविधा स्तुतिः, तत्र भगवतः श्रीशङ्करस्य परमेश्वरत्व-बोधिका रोषादिदोषाभावबोधिकाच स्तुतिरीदृशी, तथाहि — 'त्वं कर्मणां मङ्गल ! मङ्गलानां, कर्तुः स्म लोकं तनुषे स्वः परं वा । अमङ्गलानां च तमिस्र-मुल्बणं, विपर्ययः केन तदेव कस्यचित् ॥ न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां, भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव । भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां प्रायेण रोषोऽभि-

(१) जिस भगवान् शंकरने ब्रह्माजीका सिरके कम्पन द्वारा, श्रीहरिका 'स्वागतम्' इस वाणीके द्वारा, इन्द्रका मन्दहासद्वारा, तथा अन्य सम्पूर्ण देवताओंका केवल - अवलोकन द्वारा यथायोग्य आदर-सत्कार किया ।

भवेद्यथा पशुम् ॥ (१) (भा० ४ । ६ । ४५-४६) ।

'फलमत उपपत्तेः' (ब्र० सू० ३ । २ । ३८) इति वेदान्तदर्शनन्यायेन 'योऽस्ति कर्मफलानां विधाता, स एव विज्ञेयः परमेश्वरः' इति विज्ञापितः सर्व-सम्मतः सिद्धान्तः । तथा च भगवतः श्रीशंकरस्य तत्तत्कर्मफलदातृत्वेन परमेश्वरत्वं स्पष्टमत्र प्रतिपादयन्ति बादरायणमुनयो देवस्तुतिमुखेन– हे मंगल != कल्याणस्वरूप ! मंगलानां = शुभानां शास्त्रविहितानां कर्मणां यज्ञदानादीनां कर्तुः यजमानस्य कृते, लोकं–सकामानां स्वः = स्वर्गादिलोकं, निष्कामानां परं पदं = ब्रह्मविद्यया लभ्यं ब्रह्मनिर्वाणाख्यं, सायुज्यादिमोक्षं वा तनुषे = विस्तारयसि = ददासीत्यर्थः । तथा, अमंगलानां = पापकर्मणां कर्तुश्च दुर्जनस्य कृते उल्बणं = घोरं, तमिस्रं = नरकं, तनुषे । ननु–तदा दक्षस्य कथं शुभे कर्मणि विपर्ययो जात इति शंकानिरासार्थमाह – विपर्यय इति । केनचित् = प्रबलेनेश्वरनिन्दाद्वेषादिरूपेण निमित्तेन तदेव = तस्मिन्नेव कर्मणि, कस्यचित् फलविपर्ययो भवति, यथा दक्षस्याभिमानद्वेषादिवशात् तव यज्ञभागनिराकरणेन च । यथा च शिशुपालादेर्निषिद्धभगवन्निन्दादिकुर्वतोऽपि जन्मत्रयानुगुणितध्यानवशात् तत्सायुज्यप्राप्ति र्बभूव इति भावः । हे मंगल ! इति सम्बोधनेन परमानन्दरूपस्य परमेश्वरस्य श्रीशिवस्य तव न शुभाशुभकर्मलेपगन्धोऽप्यस्तीति सूचितम् । नास्मिन्निरूपितेऽर्थे कश्चित् कस्यचित्संदेहोऽस्ति । शास्त्रप्रमाणसिद्धत्वादित्याह - स्मेति - अव्ययं । तथा च दक्षापराधेनैवैतादृशफलविपर्ययो जातः, तत्र न कश्चित्तवापराध इति भावः ।

ननु—रुद्ररोषसमुत्पन्नवीरभद्रादिद्वारा कृतस्य दक्षादिनाशस्य प्रत्यक्षत्वात्कथं न तस्यापराधः ? इति कस्यचित् शंकां मनसि निधाय, तां निवर्तयन् यथादोषं प्राणिशिक्षादण्डं विदधतोऽपि परमेश्वरस्य न दुष्टत्वं, रोषाद्यसंभवादित्यभिप्रेत्य तत्र तदसंभवं कैमुत्यन्यायेनाह — 'न वै' इति । सतां = सत्पुरुषाणां—सदाचारसद्विचारपरोपकारादिपरायणानाम । कथं तेषां तत्त्वमित्याकांक्षायामाह — त्वच्चरणेति । तव परमेश्वस्य भक्तकल्पद्रुमस्य चरणयोः, अर्पितः = स्थिरीकृतः, आत्मा = मनो यैस्तेषां । सर्वेषु भूतेषु स्थावरजंगमेषु

(१) हे मङ्गलमय - महेश्वर ! आप शुभ कर्म करनेवालोंको स्वर्गलोक अथवा मोक्षपद प्रदान करते हैं, तथा पापकर्म करने वालोंको घोर नरकोंमें डालते हैं, फिर भी किसी - किसी व्यक्तिके लिए इन कर्मोंका फल विपरीत कैसे हो जाता है। जो महानुभाव आपके चरणोंमें अपनेको समर्पित कर देते हैं, जो समस्त प्राणियोंमें आप परब्रह्मकी झांकी करते हैं और समस्त जीवोंको अभेददृष्टिसे अपने आत्मामें ही देखते हैं, वे पशुओंके समान प्रायः क्रोधके आधीन नहीं होते ।'

तवात्मानमिति शेषः, यद्वा त्वां सच्चिदानन्दं भगवन्तं, द्वितीयार्थे षष्ठी । अभितो व्यापकतया ओतप्रोततया पश्यतां-अविभक्ततया, दर्शनं कुर्वतां, भूतानि चात्मानि त्वयि स्वस्मिन् वा पश्यतामेव अपृथग्दिदृक्षतां = भेददर्शनरहितानां इच्छार्थकः सन्प्रत्ययोऽत्र न विवक्षितः । पश्यतामित्यनेन विरोधात् । यद्वाऽपृथग्दिदृक्षतां मुमुक्षूणां साधकानां चेत्यर्थः । त्वद्भक्तास्तत्त्वदर्शिनः सर्वत्र त्वामेवाभेदेनान्तर्बहिः पश्यन्तस्सर्वसम्मानं कुर्वन्ति, न रोषादिकं कुर्वते इति भावः । वै इत्येवकारार्थः । एवं भूतानां सतां = सतः द्वितीयार्थे षष्ठी । प्रायेण रोषो नैवाभिभवेत्, स्ववशीकृत्यानुचितं नैव कारयेदित्यर्थः । वैधर्म्येण दृष्टान्तमाह—यथा—पशुमिति । त्वच्चरणारविन्दभक्तिभावाद्विमुखं पशुतुल्यमज्ञं जनं रोषो यथा वशीकृत्याकार्यं कारयति, तथैतान्नैव कारयेदित्यर्थः । एवं रोषवशत्वाभावेऽपि कदाचिद्धर्मबाधे प्राप्ते शिक्षार्थं तेषां सतां महादेवभक्तानामपि रोषोद्भवसंभवात् प्रायेणेत्युक्तम् । तथा च भगवता श्रीरुद्रेण रोषेण यज्ञादिनाशः कृत इति तु दुरापास्तमिति भावः ।

दक्षसदृशाः पशुतुल्याः कामक्रोधादिसंयुक्ता मूढा अज्ञाः कीदृशाः सन्तीत्याह — 'पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः, परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम् । परान् दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुंतुदाः तान्मावधीद् दैववधान्भवद्विधः ॥ (१) (भा० ४ । ६ । ४७) । ब्रह्मादयो देवा भगवन्तं श्रीशिवं स्तुवन्तः पशुतुल्यानज्ञान् दर्शयन्ति पृथग्धियः = जीवेश्वरयोः परस्परं जीवात्मसु च भेददर्शिनः । अत एव कर्मण्येव दृष्टिः = तत्तत्कामभोगैश्वर्यस्वर्गादिपुरुषार्थसाधनबुद्धिर्येषां, भगवद्भक्तौ विषयवैराग्ये ब्रह्मात्मज्ञाने च कल्याणसाधनबुद्धिरहिताः भगवद्विमुखाः । अतो विषयाविष्टत्वात् दुः = दुष्टः-मलिनः, आशयः = अन्तःकरणं येषां ते दुराशयाः । अत एव परेषां सज्जनानां-उदयेन = समृद्ध्या-अभ्युदयेन, तद्दर्शनमात्रेण अर्पिता = उद्भूता हृदि रुक् = पीडा येषां ते तथा । 'परसम्पदुत्कर्षो हि हीनसम्पदं पुरुषं दुःखाकरोति, इति न्यायात् । स्वार्थसम्पादनेऽशक्तानां भगवद्द्रोहिणां दुष्टानां आसुरस्वभावत एव सर्वदा पीडा भवतीत्याह — अनिशमिति । एवं सदा पीडिता अपि पुनराधिकपीडासाधनमेवानुतिष्ठन्ति, न श्रेयःसाधनमित्याशयेनाह — परानिति । परान् =

(१) जो लोग भेदबुद्धि होनेके कारण कर्मोंमें ही आसक्त हैं, जिनकी नीयत अच्छी नहीं है, दूसरोंकी उन्नति देखकर जिनका चित्त रातदिन कुढ़ा करता है, और जो मर्मभेदी अज्ञानी अपने दुर्वचनोंसे दुसरोंका चित्त दुःखाया करते हैं । आप जैसे महापुरुषोंके लिये उन्हें भी मारना उचित नहीं है, क्योंकि—वे बेचारे तो विधाताके ही मारे हुए हैं ।

सज्जन न, तदभ्युदयमसहमाना दुर्जना दुरुक्तैः – द्वेषनिन्दादिसंयुक्तै दुष्ट-भाषणैः वितुदन्ति = अतिशयेन व्यथयन्ति । तदपि तेषां स्वाभाविकमेवेत्या-शयेनाह – अरुन्तुदाः = मर्मभेत्तारः । यदाहुः – कवयोऽपि – 'पिशुनत्वमेव विद्या, परदूषणमेव भूषणं येषाम् । परदुःखमेव सौख्यं, शिव ! शिव ! ते केन वेधसा सृष्टाः ॥ यशःसौरभ्यलशुनः, शान्तिशैत्यहुताशनः । कारुण्यकुसुमा-काशः, खलः सज्जनदुःखदः ॥ प्रायः परोपतापाय दुर्जनः सततोद्यतः । अवश्यकरणीयत्वात्, न कारणमपेक्षते ॥ (१) सज्जनानां कीर्तिरेव सौगन्ध्यं, तन्नाशकत्वात् लशुन इव, लशुनो हि कस्तूर्यादेः सौगन्ध्यं नाशय-तीति प्रसिद्धिः । शान्तिरेव शैत्यं तन्नाशकत्वादग्निरिव । कारुण्यमेव कुसुमं, तस्याकाशः = आकाशस्य यथा पुष्पं कदापि नोपलभ्यते तद्वत् खले कारुण्यं कदापि नोपलभ्यत इत्यर्थः ।

अतस्तान्-खलान दैववधान् = दैवेन दुष्टस्वप्रारब्धकर्मणैव वधो = विनाशो येषां तान्-मृतप्रायान् भवद्विधः = भवत्सदृशो निरुपमः सर्वसमर्थो भगवान् , माऽवधीत्=न हन्यात्=नैव हन्ति-समर्थोऽप्युपेक्षत इत्यर्थः ।

इत्येवमादिस्तुतिभिः प्रसन्नो भगवान् तान् ब्रह्मादिदेवान् श्रीमहादेव उवाच — 'नाघं प्रजेश ! बालानां वर्णये नानुचिन्तये । देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया ॥ प्रजापते दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः । मित्रस्य चक्षुषेक्षेत, भागं स्वं बर्हिषो भगः ॥ पूषा तु यजमानस्य दद्भिर्जक्षतु पिष्टभुक् । देवाः प्रकृतसर्वाङ्गा ये म उच्छेषणं ददुः ॥ (२) (भा० ४ । ७ । २-३-४) ।

(१) जिन खलोंका – दुष्टोंका पिशुनत्व ही अर्थात् चुगलखोरीपना ही विद्या है, दुसरोंको दुषण देना ही जिनके लिए भूषण है, अन्योंका दुःख ही जिनके लिए सुख है, शिव ! शिव ! किस विधातानें उनका सर्जन किया है । खल, सज्जनोंके यशरूपीसुगन्धीका नाशक लशुनके समान है । शान्तिरूपी शीतलताका नाशक अग्निके समान है । जिनमें करुणा आकाशपुष्पके समान है, ऐसे खल, सज्जनोंके लिए सदादुःखप्रद ही रहते हैं । दुर्जन, अन्योंको सन्तप्त करनेके लिए बहुत करके निरन्तर प्रयत्नशील रहता है । अवश्यकरणीय होनेके कारण वह कारणकी अपेक्षा नहीं करता है ।

(२) श्रीमहादेवजीने कहा – प्रजापते ! भगवान्की मायासे मोहित हुए दक्ष जैसे नासमझोंके अपराधकी न मैं चर्चा करता हूँ, और न याद ही । मैंने तो केवल सावधान करनेके लिए ही उन्हें थोड़ा - सा दण्ड दे दिया । दक्षप्रजापतिका सिर जल गया है इसलिये उनके बकरेका सिर लगा दिया जाय, भगदेव मित्रदेवताके नेत्रोंसे अपना यज्ञभाग देखें । पूषा पिसा हुआ अन्न खानेवाले हैं, वे उसे यजमानके

हे प्रजेश ! देवासुरादिप्रजानां स्वामिन् ! ब्रह्मन् ! अहं एषां = दक्षादीनां बालानां = अज्ञानां मूढानां, अघं = अपराधं, न वर्णये = न कथयामि । तर्हि तदनुचिन्तया मनसि सन्तापः स्यादित्याशंक्याह-नानुचिन्तये = नैव चिन्तयामि । तर्हि कथं दक्षादेर्नाशः कृतस्तत्राह – दण्ड इति । तत्र = तेषामपराधे सति, तेषु मया शासकेन, धर्ममर्यादासंरक्षणाय दण्डो धृतः = कृतः । अन्यथाऽन्योपि तथा कुर्यात्, तदा मर्यादा लुप्येत, अतो यथावत् दण्डस्य विहितत्वात्, नेदानीं तदनुचिन्तनमस्तीति भावः; तेषामज्ञत्वे कारणमाह – देवमायाभिभूतानां = देवस्य भगवतो माययाऽभिभूतानां मोहितानां भ्रान्तानामित्यर्थः । मम द्वेषाद्यभावात् त्वया सर्वदेवोत्तमेन पितामहेन पूज्येन – 'जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताक्षिणी भगः । भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत् ॥' (१) (भा० ४ । ६ । ५१) इत्यादिभिः प्रार्थितत्वाच्च, तदस्तु, इत्याह – प्रजापतेः = दक्षस्य, अजस्य = छागस्य मुखं यस्मिन् तथाभूतं शिरोऽस्तु । तथात्वे हेतुमाह – दग्धशीर्ष्ण इति । तच्छिरसो यज्ञकुण्डे दग्धत्वादित्यर्थः ।

वस्तुतः – 'सोऽस्त्वतितरां दक्षो बस्तमुखोऽचिरात् ।' (भा० ४।२।२३) इति नन्दीश्वरशापस्यावश्यकत्वात् ब्रह्मणा तु जीवनमात्रस्य प्रार्थितत्वात्, स्वकृतदण्डविज्ञापनस्थापनस्याप्यावश्यकत्वाच्च, अन्यथा कृतो दण्डो न केनापि स्मर्येत्, अत एव सर्वत्र दक्षादिषु वैसादृश्येनैव निर्वाहमात्रं कृतं भगवता सर्वज्ञेनेति ज्ञेयम् ।

एवं मित्रस्य = मित्रसंज्ञकस्य देवस्य चक्षुषा बर्हिषः = यज्ञस्य सम्बन्धिनं स्वभागं, उद्धृतनेत्रो भग ईक्षेत । अत्रापि अन्यस्य चक्षुषाऽन्यस्य दर्शनं वैसादृश्यमेवास्ति । यजमानस्य दद्भिः = दन्तैः यज्ञभोजनं जक्षतु = भुनक्तु । अत्रापि-अन्यदन्तैरन्यस्य भोजनं वैलक्षण्यमेव । पक्षान्तरमाह – पिष्टभुक् वा भवतु । 'पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि सः' इति श्रुतेः । प्रकृतानि = यथापूर्वं स्थितानि, यद्वा प्रकर्षेण कृतानि लग्नानि सर्वाणि अङ्गानि येषां ते तथा भवन्तु इति शेषः । एवं देवानां विशेषानुग्रहे हेतुमाह – य इति । ये देवाः, मे = मह्यं रुद्राय उच्छेषणं = यज्ञावशिष्टं भागत्वेन ददुरित्यर्थः ।

दांतोंसे भक्षण करें, तथा अन्य - सब देवताओंके अङ्ग प्रत्यङ्ग भी स्वस्थ हो जायें, क्योंकि – उन्होंने यज्ञसे बचे हुए पदार्थोंको मेरा भाग निश्चित किया है ।

(१) प्रभो ! ऐसा कीजिये जिससे यजमान दक्ष फिर जी उठे, भगदेवताको नेत्र मिल जाय, भृगुजीके दाढ़ी मूंछ आ जाय, और पूषाके पहलेके ही समान दांत निकल आयें ।

पश्चात् – ब्रह्मादयो देवा भगवतः श्रीशिवस्यानुग्रहेण दक्षस्य मृते काये, यज्ञपशोः = छागस्य शिरः संधाय तं जीवयामासुः । स च सद्यः सुप्त इवोत्तस्थौ, अग्रतोऽवस्थितं करुणाकूपारं श्रीशिवं प्रसन्नमुखाम्भोजं ददर्श । तदा स शिवस्य करुणामयावलोकाद् प्राक् वृषभध्वजद्वेषकलुषितात्मा तदनु लब्धदण्डो दक्षप्रजापतिः शरत्कालीनह्रदइव निर्मलात्माऽभवत् । स च — 'भवस्तवाय कृतधीर्नाशक्नोदनुरागतः । औत्कण्ठ्याद् बाष्पकलया संपरेतां सुतां स्मरन् ॥ कृच्छ्रात्संस्तभ्य च मनः प्रेमविह्वलितः सुधीः । शशंस निर्व्यलीकेन भावेनेशं प्रजापतिः ॥ (१) (भा० ४ । ७ । ११-१२) ।

दक्ष उवाच — 'भूयाननुग्रह अहो ! भवता कृतो मे, दण्डस्त्वया मयि भृतो यदपि प्रलब्धः ।' (भा० ४ । ७ । १३) इति ।

यदपि = यद्यपि, मया, अज्ञेन भवान्-भगवान् प्रलब्धः = द्वेषनिन्दाप्रियाविनाशादिना पराभूतो बभूव तथापि त्वया सर्वसमर्थेन कृपालुना मम हृदयकालुष्यनिवारणाय दण्डो भृतः = शिक्षा कृता, न तूपेक्षितोऽस्मि इत्येतत् अहो ! आश्चर्यं, ममोपरि भवतः, भूयान्-अतिशयेनाधिकोऽनुग्रहः = करुणैवास्ति । करुणा चानुकम्पाकृपाभ्यां विशिष्टा परहिताय सद्यः कार्यकारिणी शक्तिरूपाऽस्ति । अत एवानुकम्पाकृपाकरुणानामीदृशा भेदा विज्ञैः प्रदर्शिताः सन्ति । तथाहि — हृदयस्य द्रवीभावो ह्यनुकम्पेति कथ्यते । उपकारं कर्तुमिच्छा कृपेत्याहुर्मनीषिणः ॥ (२) । हितं सद्यः करोति या करुणेत्यभिधीयते । अनुकम्पा = दयेत्यर्थः, अनेन वृत्तान्तेन सुनिश्चितं विज्ञायते यत् - जगद्गुरो भगवतो महादेवस्य येन केन पि विहिता निन्दा द्वेषोऽनादरो द्रोहश्च तस्य महानर्थकारी भवति, यदि स विष्णुदासतयाऽपि स्वात्मानं मन्यमानः किं न स्यात् ? । विष्णोरनन्यभक्तस्तु तुलसीदासादिसदृशः श्रीशिवस्यादरस्तुतिभक्त्यादिकमेव करोति न निन्दादिकम् । तन्निन्दादिकुर्वाणस्तु न कथमपि

---

(१) दक्षप्रजापतिने महादेवजीकी स्तुति करनी चाही, किन्तु अपनी मरी हुई बेटी सतीका स्मरण हो जानेसे स्नेह और उत्कण्ठाके कारण उनके नेत्रोंमें आंसू भर आये, उनके मुखसे शब्द न निकल सका। प्रेमसे विह्वल परम बुद्धिमान् प्रजापतिने जैसे तैसे अपने हृदयके आवेगको रोक कर विशुद्ध-भावसे भगवान् शिवकी स्तुति करनी आरम्भ की । दक्षने कहा — भगवन् ! मैंने आपका अपराध किया था, किन्तु आपने उसके बदलेमें मुझे दण्डके द्वारा शिक्षा देकर बड़ा ही अनुग्रह किया है।

(२) हृदयके द्रवीभावका नाम अनुकम्पा है, उपकार करनेकी इच्छाका नाम कृपा है, शीघ्र ही जो दयनीयका हित करती है, वह करुणा है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ।

विष्णुभक्तोऽपि तु दम्भी पाखण्डी एव स मन्तव्यः ।

परमेश्वरस्य श्रीशिवस्य प्रशस्तस्यास्य चरितस्य श्रवणकीर्तनाभ्यामभीष्टानि फलानि सिद्ध्यन्तीति फलश्रुतिबोधकमिदं मनोरमं पद्यं प्रियपाठकेभ्यः समर्प्य विस्तृतलेखनादुपरमामि - 'इदं पवित्रं परमीशचेष्टितं यशस्यमायुष्यमघौघमर्षणम् । यो नित्यदाऽऽकर्ण्य नरोऽनुकीर्तयेद् धुनोत्यघं कौरव ! भक्तिभावतः ॥ (१) (भा० ४ । ७ । ६१) । इदं ईशस्य = परमेश्वरस्य श्रीशिवस्य, परं = प्रशस्तं-स्तुत्यं चेष्टितं = यज्ञदक्षनाशतत्पूर्त्तितज्जीवनानुग्रहादिलीलात्मकं शृण्वतः कीर्तयतश्च, पवित्रं = अन्तःकरणस्य शोधकं कुतः ? यतः अघौघमर्षणं = पापसमूहनाशकं, यशस्यं = लोके विस्तृतयशःप्रदं, आयुष्यं = आयुषः-प्रशस्तस्य जीवनस्य वर्धनम् । यो नरः = मानवः, नित्यदा = सर्वदा, आकर्ण्य = श्रुत्वाऽनुकीर्तयेत् = शृणोति कीर्तयति = कथयति, स भक्तिभावतः, ताभ्यां जातो यो भक्तिलक्षणो भावः = निरुपाधिकोऽनन्यप्रेम। श्रीशिवचरणयोरिति शेषः, तस्माद्धेतोः आत्मनः, अघं = दुःखमयं संसारमविद्यारचितं श्रीशिवानुग्रहाल्लब्धया विद्यया धुनोति, हे कौरव ! = हे विदुर ! इति ।

—❀—

(२२)

(ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणामेकत्वदर्शिन एव शाश्वतः शान्तिसौख्य-लाभो भवति — अर्थात् भेददर्शी कथमपि शान्तिसौख्यं न लभते, इति भगवतो नारायणस्यायमुपदेशः समस्तलोकहितकाम्यया प्रवर्तते) (२)

'एकमेवाद्वितीयम्' (छां० ६ । २ । १) 'ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारं, सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं ।' (भा० १० । ३ । २४) इत्यादिश्रुतिभागवत-

---

(१) श्रीशुकदेवजी कहते हैं, हे कुरुनन्दन ! श्रीमहादेवजीका यह पावन चरित्र, यश और आयुको बढ़ानेवाला तथा पाप पुञ्जको नष्ट करनेवाला है । जो पुरुष भक्ति — भावसे इसका नित्यप्रति श्रवण और कीर्तन करता है । वह अपनी पापराशिका नाश कर देता है ।

(२२)

(२) ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर — इन तीनोंमें एकत्व - अभेदभावका दर्शन करनेवाला ही शाश्वत शान्ति एवं सुखको प्राप्त करता है, अर्थात् भेददर्शी किसी भी

वचनै र्मायाद्वैतप्रपञ्चातीतस्य निर्विशेषस्य शुद्धस्य चित्सुखाद्वयस्य ब्रह्मस्वरूपस्यै-कत्वस्य – 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् ।' (श्वे०उ० ४ । ६) 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । (गी० १० । ८) 'विश्वस्य हेतुरुदयस्थितिसंयमानां, आत्मेश्वरश्च तदपेक्षयाऽनपेक्षः ।' (भा० ८ । १२ । ७) 'त्वं मायया त्रिगुणया-ऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः ।' (भा० ११।६।८) इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणैः मायाविशिष्टस्य परमेश्वरस्य ब्रह्मस्वरूपस्यापि-एकत्वस्य च निश्चयो निर्विवादः । एवं रजस्तमोऽनभिभूतशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिकेषु शिवविष्ण्वादिविग्रहेष्वपि - ईश्वरत्व - सर्वज्ञत्व - सर्वशक्तिमत्त्व-नियामकत्व-वशीकृतमायत्व - अनावृत्तचैतन्यादीनां शास्त्रप्रतिपादितधर्माणां तुल्यतायाः दर्शनेन तेषामप्येकत्वं विनिश्चीयते । अन्यथा परमेश्वरानेकत्वापत्त्या – 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति' (तै० उ० ३ । १) इत्या-दिपरमेश्वरैकत्वबोधकश्रुतिस्मृतिभागवतवचनविरोधापत्तेः । तस्माद्यथा एकस्यैव देवदत्तस्य तत्तद्व्यापारभेदेन पूजकपाचकपाठकयाचकनर्तकादिसंज्ञामात्रभेदं विना संज्ञिभेदो नाभ्युपगम्यते, तद्वन्मायोपहितस्यैकस्यैव परमेश्वरस्य सत्त्वादि-तत्तद्गुणवैशिष्ट्यभेदेन सृष्ट्यादिव्यापारभेदेन च ब्रह्मविष्णुशिवादिसंज्ञामात्र-भेदं विना संज्ञिभेदो वक्तु न शक्यते । यथा वा एकस्यैव देवदत्तस्य कम्बल-दुकूलकौशेयादिविविधवेषभूषापरिधानमात्रेण तत्प्रयुक्तः तरतमभावो न संभ-वति । तद्वत् एकस्यैव परमेश्वरस्य विविधमूर्तिपरिग्रहमात्रेण तरतमभावोऽभ्युप-गन्तुमशक्यः । अन्यथा-तरतमभावाभ्युपगमे-उत्तममध्यमाधमेश्वरप्रसंगेन पर-मेश्वरनानात्वापत्तेः । 'यो ब्रह्मविष्णुरुद्राणां भेदं तरतमभावतः । साधयेदुदर-व्याधियुक्तो भवति मानवः ॥' (१) इति शातातपस्मृत्यादिवचनैः ब्रह्मादीनां तरतमभावस्य निन्दितत्वात् । अपि च भक्तैः कल्पितोऽपि ज्येष्ठकनिष्ठादिरूप-स्तरतमभावोऽपि नैकत्र रूढः, किन्तु त्रयाणां साधारणतया गम्यमानस्तेषामेक-त्वमेव दृढयति – यदाह – कविकुलगुरुः कालिदासोऽपि कुमारसंभवे — 'एकैव मूर्ति र्बिभिदे त्रिधा सा, सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् । विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद् वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥ (२) (७ । ४४) ।

प्रकारसे शान्ति सुखको प्राप्त नहीं होता । ऐसा भगवान् नारायणका यह उपदेश समस्त लोकोंके हितकी इच्छासे प्रवर्तमान होता है)

(१) जो मानव, ब्रह्मा विष्णु रुद्रमें न्यूनाधिक भावसे भेद सिद्ध करता है, वह उदरकी व्याधिसे युक्त होता है ।

(२) एक ही ब्रह्ममूर्तिका तीन प्रकारसे औपाधिक विभेद हुआ है, उनमें ज्येष्ठ कनिष्ठ भाव अर्थात् उत्कृष्ट निकृष्ट भाव समान है । भक्तोंकी कल्पनासे कभी

अयमर्थः — सा प्रसिद्धा एका-एव मूर्तिः = स्वरूपं, त्रिधा = प्रकारत्रयेण. सृष्टिस्थितिप्रलयकार्यापेक्षया ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मकत्वेन, त्रिभिदे = भिन्नाऽभूत्। औपाधिकोऽयं भेदो न तु वास्तविकः। अत एव एषां = हरिहरहिरण्यगर्भाणां प्रथमावरत्वं = ज्येष्ठकनिष्ठभावः, सामान्यं = समानम्। कल्पनयैव सर्वे ज्येष्ठा भवन्ति कनिष्ठाश्च। कदाचित् = जातुचित्, हरः = शिवः, विष्णोः = नारायणस्यापेक्षया आद्यः = प्रथमः उत्कृष्टः। कदाचित् हरिः तस्य हरस्य, आद्यः प्रथमो ज्येष्ठः। कदाचित्-वेधाः ब्रह्मा तयोः = हरिहरयोः आद्यः = प्रथमः, कदाचित् तौ = हरिहरावपि धातुः = ब्रह्मणः सकाशात् आद्यौ = प्रथमौ स्तः। एकैव परब्रह्मस्वरूपा शिवमूर्तिः, ब्रह्मविष्णुहररूपेण त्रिधा भिन्ना प्रतीयते। अत एवैषां हरिहरहिरण्यगर्भाणां पौर्वापर्यप्रयुक्तं ज्येष्ठत्वं कनिष्ठत्वञ्च न नियतमपि तु भक्तेच्छाधीनं काल्पनिकं वेदितव्यम्। अत एव – 'नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं, प्राक् सृष्टेः केवलात्मने। गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे॥ तिसृभिस्त्वमवस्थाभि र्महिमानमुदीरयन्। प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः॥ (१) (२।४–६) इति कुमारसम्भवे कालिदासकविनाप्युक्तम्। 'वेदानुवर्तिनो रुद्रं देवं नारायणं तथा। एकीभावेन पश्यन्ति मुक्तिभाजो भवन्ति ते॥ यो विष्णुः स स्वयं रुद्रो, यो रुद्रः स जनार्दनः। इति मत्वा भजेद् देवं, स याति परमां गतिम्॥' (२) इत्यादिशास्त्रवचनै र्हरिहरयोरर्थतः शब्दतश्चाभेदाभ्युपगमाच्च। अत एव श्रीमद्भागवते द्वितीये मङ्गलाचरणे वीतरागेणाद्वयब्रह्मनिष्ठेन श्रीशुकेन परमेश्वरो भगवानित्थं स्तुतः, तस्यैकत्वं विज्ञापयितुम्। तथाहि – श्रीशुक उवाच — 'नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे, सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया। गृहीतशक्तित्रित-

विष्णुकी अपेक्षासे शिव श्रेष्ठ हो जाता है, कभी शिवकी अपेक्षासे हरि श्रेष्ठ हो जाता है, तो कभी ब्रह्मा।

(१) त्रिमूर्तिरूप आप भगवान्को नमस्कार। जो सृष्टिसे प्रथम केवल आत्मस्वरूप थे – अभिन्न थे। गुणत्रय-विभागके लिए पश्चाद् काल्पनिक-भेदको अङ्गीकार कर जो भिन्नवत् प्रतीयमान होते हैं, प्रलय, स्थिति, सर्जनकी तीन अवस्थाओंके द्वारा अपनी महिमाको प्रकट करता हुआ एक ही परमात्मा जगत्की उत्पत्तिआदियोंका कारण तीनरूपोंके द्वारा कहा जाता है।

(२) वेदानुयायी धार्मिकजन, रुद्रदेव तथा नारायणदेवको एक-रूपसे देखते हैं, इसलिए वे मुक्तिलाभ प्राप्त करते हैं। जो विष्णु है वह स्वयं रुद्र है, जो रुद्र है वह जनार्दन है, ऐसा मानकरके जो देवका भजन करता है, वह परम-गतिको प्राप्त होता है

याय देहिनामन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥ (१) (भा० २।४।१२)।

अयमर्थः — परस्मै = सर्वोत्तमाय, परमेश्वराय, तत्र हेतुः भूयसे = अपरिमितमहिम्ने, तद् दर्शयति – सतः = व्यावहारिकसत्तावतो द्वैतप्रपञ्चस्य तस्य, पारमार्थिकसत्ताऽभ्युपगमे ब्रह्मवदुद्भवाद्यनुपपत्तेः । उद्भवः = उत्पत्तिः, स्थानं = पालनं-रक्षणं, निरोधः = संहारः, तेषु निमित्तभूता परिणाम्युपादानभूता च या मायारूपा लीला, तया, गृहीतं ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपेण रजआदिगुणशक्तित्रितयं येन तस्मै, देहिनां = प्राणिनां, अन्तर्भवाय = अन्तर्यामिणे चिदात्मने, अत एव सर्वान्तरत्वात् अनुपलक्ष्यं-दुर्विज्ञेयं, प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मविज्ञानलक्षणं वर्त्म = श्रेयोमार्गः यस्य तस्मै ।

अत एव जीवितेन बस्तमुखेन दक्षप्रजापतिना क्षमाप्रार्थनाप्रणतिस्तुतिभिः प्रसादितो भगवान् श्रीशिवो ब्रह्माणं चतुर्मुखं विध्वस्तस्य यज्ञस्य पुनर्यथावत् संपादनाय प्रेरयामास । ब्रह्मणानुज्ञातो दक्ष ऋत्विगुपाध्यायादिभिः तं यज्ञं प्रवर्तयामास । तत्र यजमानो दक्षोऽध्वर्युणाऽऽत्तहविषा सह विशुद्धैकाग्र्यया धिया श्रीहरे र्नारायणस्य ध्यानं चकार । तेन च सद्यो भगवान् श्रीविष्णुः प्रादुरभूत् । प्रादुर्भूतं भगवन्तमवलोक्य संजाताह्लादा दक्षब्रह्मादयस्तं विविधाभिः स्तुतिभिः प्रसादयामासुः । प्रीयमाणः श्रीनारायणो दक्षादीन् निमित्तीकृत्य सर्वान् मानवान् प्रति त्रयाणां ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणामेकत्वं विज्ञापयितुं – इत्थं श्रीभगवानुवाच—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च, जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा, स्वयंदृगविशेषणः ॥
आत्ममायां समाविश्य, सोऽहं गुणमयीं द्विज ! ।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं, दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥
तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये, केवले परमात्मनि ।
ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि, भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति ॥

(१) श्रीशुकदेवजीने कहा — उन पुरुषोत्तम भगवान्‌के चरणकमलोंमें मेरे कोटि–कोटि प्रणाम हैं । जो संसारकी उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय-लीला करनेके लिए सत्त्व रज तथा तमोगुणरूप तीन शक्तियोंको स्वीकार कर ब्रह्मा, विष्णु और शंकरका रूप धारण करते हैं, जो समस्त चर-अचर प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं, जिनका स्वरूप और उसकी उपलब्धिका मार्ग बुद्धिके विषय नहीं हैं, जो स्वयं अनन्त हैं, तथा जिनकी महिमा भी अनन्त है ।

यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु, शिरःपाण्यादिषु क्वचित् ।
पारक्यबुद्धिं कुरुते, एवं भूतेषु मत्परः ॥
त्रयाणामेकभावानां, यो न पश्यति वै भिदाम् ।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् ! स शान्तिमधिगच्छति ॥(१)

(भा० ४।७।५०-५१-५२-५३-५४)

अहं = विष्णुः, ब्रह्मा = पद्मभवः, शर्वः = शङ्करश्च, अहमेवैतौ द्वौ, तौ द्वावेवाहं, नास्त्यस्माकं मनागपि भेदः, अत एव वयं मिथः सम्मिलिता एकत्वमापन्ना एव, जगतः = चराचरस्य निखिलस्य विश्वस्य, परं = स्वकारणरहितं कारणं = अभिन्ननिमित्तोपादानभूतं कारणम् । उपादानकारणताप्रदर्शनायाह - आत्मेति । निमित्तकारणत्वमाह - ईश्वर इति, उत्पादको नियामकश्चेत्यर्थः । उपद्रष्टा = यथा ऋत्विग्यजमानेषु यज्ञकर्मव्यापृतेषु तत्समीपस्थोऽन्यः स्वयमव्यापृत एव यज्ञविद्याकुशलत्वात् ऋत्विग्यजमानव्यापारगुणदोषाणामीक्षिता तथा कार्यकरणव्यापारेषु स्वयमव्यापृतो विलक्षणस्तेषां कार्यकरणानां सव्यापाराणां समीपस्थो निर्विकारः कूटस्थो द्रष्टा । स्वयंदृक् = स्वयंप्रकाशः ।

अत एव श्रीमद्भागवते तृतीये प्रत्यगात्मानं विश्वद्रष्टारं भगवन्तं स्वयंप्रकाशतयाऽर्थात् अन्यप्रकाशनिरपेक्षप्रकाशतयाऽत एवावेद्यतया स्तुवन्तः लोकपाला ऊचुः — 'दृष्टः किं नो दृग्भिरसद्ग्रहैस्त्वं ? प्रत्यग्द्रष्टा दृश्यते येन दृश्यम् । माया ह्येषा भवदीया हि भूमन् ! यस्त्वं षष्ठः पंचभिर्भासि भूतैः ॥(२)

(१) श्रीभगवान्ने कहा—जगत्का परमकारण मैं, ब्रह्मा और महादेव ही हूं मैं सबका आत्मा ईश्वर और साक्षी हूं तथा स्वयंप्रकाश और उपाधिशून्य हूं, हे विप्रवर ! अपनी त्रिगुणात्मिका मायाको स्वीकार करके मैं ही जगत्की रचना पालन और संहार करता रहता हूं और मैंने ही उन कर्मोंके अनुरूप ब्रह्मा विष्णु और शंकर – ये नाम धारण किये हैं । ऐसा जो भेद रहित - विशुद्ध परब्रह्मस्वरूप मैं हूं, उसमें अज्ञानी पुरुष ब्रह्मा, रुद्र तथा अन्य समस्त जीवोंको विभिन्न रूपसे देखता है । जिसप्रकार मनुष्य अपने सिर, और हाथ आदि अङ्गोंमें 'ये मुझसे भिन्न हैं' ऐसी बुद्धि कभी नहीं करता, उसी प्रकार मेरा भक्त प्राणिमात्रको मुझसे भिन्न नहीं देखता, हे ब्रह्मन् ! हम ब्रह्मा, विष्णु, और महेश्वर तीनों स्वरूपतः एक ही हैं, और हम ही सम्पूर्ण जीवरूप हैं, अतः जो हममें कुछभी भेद नहीं देखता, वही शान्ति प्राप्त करता है ।

(२) लोकपालोंने कहा — अनन्त परमात्मन् ! आप समस्त अन्तःकरणोंके

(भा० ४ । ७ । ३७) यस्त्वं परमार्थतः सर्वस्य चराचरस्य जगतः प्रत्यक् = प्रत्यगात्माऽसि, प्रति = प्रातिकूल्येन - असज्जडदुःखरूपदेहादिविलक्षणतया सच्चित्सुखात्मना स्वात्मानं, अञ्चति = प्रकाशत इति प्रत्यक् । अत एव त्वं सर्वस्य द्रष्टाऽसि, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३ । ७ । २३) इति श्रुत्या बोधितात् द्रष्ट्रन्तराभावात् न कथमपि कदापि केनापि त्वं दृश्यो भवसि । तदेव स्पष्टयति - येन त्वया प्रत्यगात्मना दृश्यं-विश्वं दृश्यते = प्रकाश्यते, परन्तु स्वयं त्वं न केनापि दृश्यः = प्रकाश्यो भवसि, स्वतःप्रकाशत्वात् । आह च भगवती श्रद्धेया श्रुतिरपि - 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ (१) (क० ५ । १५) । अत एव नः = अस्माकं, असद्ग्रहैः = असत्पदार्थग्राहकैः, दृग्भिः = चक्षुरादिभिः - इन्द्रियैः, किं त्वं दृष्टो भवसि ? न कथमपि दृष्टो भवसि, अदृश्यत्वात् । इन्द्रियदृष्टत्वे दृश्यत्वं प्रसक्तं स्यात्, विश्वद्रष्टृत्वं च विहन्येत । सर्वप्रत्ययवेद्यत्वं तु भवतो वैशिष्ट्यरूपेण, न तु शुद्धरूपेण, तेन रूपेण तु - अवेद्यत्वमेव स्वतःप्रकाशस्य ज्ञापकं मन्तव्यम् । अत एव हे भूमन् ! अपरिच्छिन्नाद्वयब्रह्मरूप ! यस्त्वं षष्ठः = वस्तुतो पञ्चभूतेभ्यो व्यतिरिक्तः सन्नपि, पञ्चभिः-भूतैः आकाशादिभिः तत्सृष्टभौतिकशरीरादिभिः सह विशिष्टः सन् अज्ञानतस्तत्तादात्म्यापन्नः सन् भासि = विविधनामरूपकर्मसंयुक्ततया त्वं प्रतीयसे । हि = निश्चयेन, एषा = सर्वानुभवसिद्धा, भवदीया = भवदाश्रिता माया = अनिर्वचनीया, अघटघटनापटीयसी ब्रह्मविद्यानिवर्त्या त्रिगुणात्मिका शक्तिविशेषा । निरवच्छिन्नस्यावेद्यस्याद्वयब्रह्मणः सावच्छिन्नत्ववेद्यत्वसंपादनेऽस्मिन् तद्बुद्धिप्रयोजिका मायैव हेतुः, माययैव निरवच्छिन्नः प्रत्यगात्मा, सावच्छिन्नतया, स्वयंप्रकाशोऽवेद्यः शुद्धः सर्वेन्द्रियजन्यप्रत्ययवेद्यतया मलिनतया च प्रतीयते ।

अत्र कश्चित् - पूर्वापरानुसन्धानशून्योऽनर्गलप्रलपनशीलो द्वैतवादी

साक्षी हैं, यह सारा जगत् आपके ही द्वारा देखा जाता है । तो क्या मायिक-पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली हमारी इन नेत्र आदि—इन्द्रियोंसे कभी आप प्रत्यक्ष हो सके हैं ? । वस्तुतः आप हैं तो पञ्चभूतोंसे पृथक्, फिर भी पाञ्चभौतिक शरीरोंके साथ जो आपका सम्बन्ध प्रतीत होता है, यह आपकी मिथ्या-प्रतिभासरूपा माया ही है ।

(१) उस स्वयंप्रकाश - अद्वय - ब्रह्मस्वरूपमें सूर्य प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्र, न तारागण, ये विद्युत् भी प्रकाशित नहीं होतीं, तब वह अग्नि तो कहांसे हो ? । उस अधिष्ठान परमात्माके प्रकाशके पीछे ही इस विश्वका प्रकाश होता है, उसके प्रकाशसे ही यह सब प्रकाशित होता है ।

माया भगवदिच्छैव, न त्वनिर्वचनीया काचनावरणविक्षेपशक्तिमती विद्यानिवर्त्या मिथ्याभूता मायाऽस्तीति ब्रवीति । तत्तुच्छम् । 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ।' (१) (श्वे० उ० १।१०) 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते ॥' (गी० ७ । १४) । 'यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति, माया विवेकविधुति स्रजि वाऽहिबुद्धिः । तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्धतत्त्वं, प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये ॥' (२) (भा० ४ । २२ । ३८) । 'भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् । भवत्पदानुस्मरणादृते सतां, निमित्तमन्यद् भगवन्न विद्महे ॥' (भा० ४ । २० । २६) । 'त्वन्माययाऽद्धा जन ईश ! खण्डितो यदन्यदाशास्त ऋतात्मनोऽबुधः ॥' (३) (भा० ४ । २० । ३१) ।

इत्यादिशतसहस्रश्रुतिगीताभागवतवचनविरोधात् । अद्वयब्रह्मसाक्षात्कारनिवर्त्यत्वेन श्रुत्याद्युक्तमायाया मिथ्यात्वस्यावश्यं भावात् , ऐन्द्रजालिकेषु गजतुरगादिषु मिथ्याभूतेष्वेवार्थेषु लोके मायाशब्दव्यवहाराच्च, द्वैतवादिसंमता नित्यस्य भगवतो नित्येच्छारूपा माया कथमपि न संभवति । गीताद्युक्तवचनानामयमर्थः – ये मामेव प्रपद्यन्ते, त एतां मायां तरन्तीति प्रथमान्वयः । प्रपत्तिरत्र ज्ञानं, गत्यर्थानां ज्ञानार्थकत्वात्, ज्ञानस्यैव मायाऽऽख्याविद्यानिवर्तकत्वेन तत्तरणहेतुत्वाच्च । न चाविद्याऽतिरिक्तेयं मायेति युक्तम् । 'अविद्या प्रकृति र्माया तमोऽज्ञानमजानृतम् ।' इत्यादिशास्त्रवचनै र्मायाऽविद्य-

(१) उस अधिष्ठान अन्तरात्मा ब्रह्मके अभिध्यानसे, उसमें चित्तको संलग्न करनेसे, तथा तत्त्वभाव अर्थात् परमार्थ - अद्वय - ब्रह्मभाव प्राप्त करनेसे प्रारब्ध कर्मका अन्त होनेपर फिर इस सम्पूर्णमायाकी निवृत्ति हो जाती है ।

(२) जैसे मालाका ज्ञान होजाने पर उसमें सर्पबुद्धि नहीं रहती, उसी प्रकार विवेकज्ञान होने पर–जिसका कहीं पता नहीं लगता, ऐसा यह मायामय द्वैतप्रपंच–जिसमें कार्यकारणरूपसे प्रतीत हो रहा है, और जो – स्वयं कर्मफलसे कलुषित प्रकृतिसे परे हैं । उस नित्यमुक्त–निर्मल और ज्ञानस्वरूप परमात्माको मैं प्राप्त हो रहा हूं ।

(३) इसीलिये निष्काम महात्मा, ज्ञान होजानेके बाद भी आपका भजन करते हैं, आपमें मायाके कार्य अहंकारादिका एवं द्वैतविभ्रमका सर्वथा अभाव है । भगवन् ! मुझे तो आपके चरण – कमलोंका निरन्तर चिन्तन करनेके सिवा, सत्पुरुषोंका कोई और प्रयोजन नहीं जान पड़ता । प्रभो ! आपकी मायासे ही मनुष्य, अपने वास्तविक स्वरूप – आपसे विमुख होकर अज्ञानवश अन्य-स्त्री-पुत्रादिकी इच्छा करता है ।

योरभेदावगमात् ।' 'मामेव प्रपद्यन्ते' इत्येवकारेण द्वितीयज्ञेयनिषेधाद् द्वितीयात्मज्ञानं दर्शितम् । निरस्तसमस्तभेदं निरुपाधिकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-प्रत्यगभिन्नब्रह्मचैतन्यं ये प्रपद्यन्ते = जानन्ति-साक्षात्कुर्वन्ति, ते एतां 'त्रिभि-र्गुणमयै र्भावैः' इदं जगन्मोहितं' 'नाभिजानाति माम्' (गी० ७ । १३) इति प्रागुक्तां त्रिगुणात्मिकामखिलानर्थहेतुमविद्यारूपां मायामतितरन्ति = अतिक्रामन्ति-नाशयन्तीति यावत् । 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि' (गी० ४।३६) 'बुद्धिर्व्यतितरिष्यति' (गी० २ । ५२) इति तरते र्नाशार्थकत्वेन प्रयोगदर्शनात् 'तरति ब्रह्महत्यां' 'तरति शोकमात्मवित्' (छां० ७ । १ । ३) 'सर्वं पाप्मानं तरति (बृ० ४ । ४ । २३) इत्यादिश्रुतिप्रयोगाच्च, 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' । इति विनाशस्यैव श्रवणाच्च ।

स्यादेतत् — किमाश्रयेयं माया ? किं विषया ? किं प्रामाणिका ? कीदृग्रूपा ? किमधीना ? इति पञ्चप्रश्नानां क्रमेणोत्तराण्याह—पूर्वार्धेन-दैवीति । 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० ६ । ११) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धे स्वयं द्योत-नवति देवे स्वप्रकाशचैतन्ये तदाश्रयतया तद्विषयतया च कल्पितेत्यर्थः । अनेन स्वप्रकाशचिन्मात्रमेवाज्ञानस्याश्रयो विषयश्चेति प्रथमप्रश्नद्वयस्योत्तरम् । 'देव-स्येयम्' इति सम्बन्धसामान्यव्याख्याने मम मायेत्यनेनैव तत्सिद्धे दैवीति पदं व्यर्थं स्यात् । 'देवेन मया क्रीडार्थं निर्मिता दैवी' इति श्रीरामानुजव्याख्याने मम मायेत्येतद्व्यर्थं, 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' (गी० १३।१९) इति भगवद्वचनविरोधश्चेति यथोक्त एव दैवीपदस्यार्थः ।

अथ – अविद्यारूपायां मायायां किं प्रमाणमिति तृतीयप्रश्नस्योत्तर-माह – एषेति । एषा = 'अहमज्ञः' 'मामन्यं च न जानामि' इति सर्वजन-प्रत्यक्षसिद्धेत्यर्थः । हि शब्देन तत्प्रसिद्धि र्द्योत्यते । न च विशुद्धचिन्मात्रा-श्रयस्याज्ञानस्य विशिष्टजीवरूपाहमर्थानाश्रयत्वात् 'अहमज्ञः' इति प्रत्यक्षं कथं प्रमाणं स्यादिति वाच्यम् । दग्धृत्वानाश्रयस्याप्ययसो वह्निप्रत्यासत्तेः 'अयो दहति' इतिवत् अज्ञानानाश्रयस्याप्यहमर्थस्य चैतन्यतादात्म्याध्यासात् 'अहमस्मि' इति प्रत्यक्षप्रतीत्यविरोधात् । कीदृग्रूपेति – चतुर्थप्रश्नस्योत्तरमाह– गुणमयीति । सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयात्मिका, तत्कार्यसुखदुःखमोहात्मिका चेत्यर्थः । अत एव दुरत्यया = त्रिगुणरज्जुरिवातिदृढत्वेनाभेद्यबन्धनत्वा-दत्येतुमशक्या, ज्ञानं विनाऽनुच्छेद्येति यावत् । किमधीनेति पञ्चमप्रश्नस्यो-त्तरम् – मम मायेति । मम = परमेश्वरस्य वशवर्तिनीत्यर्थः । 'यत्कारणं विश्वमिदं च माया आज्ञाकरी तस्य' (भा० ३ । १४ । २८) इति भागवत-स्मरणात् । अतो मदीयां मायां मत्प्रपन्ना एव तरन्ति ।

ननु - सत्यमेवेदमद्वयब्रह्मतत्त्वज्ञानादज्ञानरूपाया मायाया निवृत्तिरिति, परन्तु तदेव त्वविदुर्लभम्, 'श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्' (गी० २ । २९) इति भवता भगवतैवात्मज्ञानस्य जगत्यसंभवोक्तेः, इत्याशङ्कायामप्येतदेवोत्तरं भगवतः परमकारुणिकस्यावर्तनीयम्, मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते' इति । मां - अग्रतोऽवस्थितमभिनवजलधरश्यामलमतिवेलसौन्दर्यमखिल - लोकशरण्यमनवरतप्रसादसुमुखमरविन्दपलाशलोचनमखण्डभक्त्या ये प्रपद्यन्ते = शरणमुपगच्छन्ति, तेषां मदनुग्रहतोऽतिसुलभं तत्त्वज्ञानं. तेन च ते एतां मायां तरन्ति, मायया ते नाभिभूयन्ते, मायैव वराकी तु तेभ्यो भयेनापसर्पति, वारवनितेव क्रोधनतपोधनात् । अत एतादृशं भक्तिमयं मत्प्रपदनं तत्त्वज्ञाननिदानं मायातरणार्थिभिरखिलैरपि कर्तव्यमिति भगवतोऽभिप्रायः ।

अथ पूर्वोक्तभागवतवचनानामयमर्थः--इतः प्राक् सनत्कुमारेण ब्रह्मर्षिणा नरेन्द्राय पृथवे - 'प्रत्यक् चकास्ति भगवान् तमवेहि सोऽस्मि' (भा० ४ । २२ । ३७) इत्यनेन प्रत्यगभिन्नब्रह्मज्ञानमुपदिष्टं, परन्तु-वैराग्यं विना तस्याऽतिदुर्लभत्वात्, द्वैतप्रपञ्चस्य सत्यत्वप्रतीतेः कथं तत्रासक्तस्य वैराग्यं स्यात् ? अतः प्रथमं वैराग्यसौलभ्याय तस्य मिथ्यात्वमाह - यस्मिन् = भगवति - प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि, इदं-प्रत्यक्षं नामरूपकर्मात्मकमखिलं विश्वं, सदसदात्मकतया = उत्कृष्टनिष्कृष्टभावेन, स्थूलसूक्ष्मभावेन, कार्यकारणभावेन, व्यक्ताव्यक्तभावेन वा विभाति = प्रतीयते, तत्, माया = मिथ्यैवास्ति, मायया कल्पितं विभाति, न वास्तविकं विभाति । 'ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं' 'विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया' (भा० ११ । १३ । ३४) इति श्रीमद्भागवत एकादशेऽपि तथैव स्मरणात् । तमहं प्रपद्ये = शरणं व्रजामि । मिथ्यात्वे दृष्टान्तमाह — स्रजि वाऽहिबुद्धिरिति । वाशब्दो दृष्टान्ते, यथा स्रजि = अन्धकाराच्छन्नमार्गे पतितायां मालायां, अहिबुद्धिः = सर्पज्ञानं भ्रमः, तद्विषयस्य च सर्पस्य मिथ्यात्वं, तथैव भगवति-विश्वाधिष्ठाने द्वैतप्रपञ्चबुद्धिर्भ्रमः, तद्विषयस्य द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमेव । न हि दृष्टान्तमात्रेण वस्तुसिद्धिर्भवति युक्तिमन्तरेणेत्याशंक्य तत्र युक्तिमाह — विवेकविधुतीति । द्वैतप्रपञ्चस्य विशेषणमिदं. विवेके सति = अधिष्ठानभूतभगवत्तत्त्वज्ञाने सति. विधुतिः = निरासो यस्य तत्तथेत्यर्थः । अधिष्ठानज्ञाननिवर्त्यत्वादेवाध्यस्तस्य द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं युक्तिसिद्धम् । संप्रति प्रतीतस्य द्वैतस्य कल्पितत्वादेव तदधिष्ठानस्य पारमार्थिकसत्यत्वमर्थसिद्धमेव विवृणोति - तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्धतत्त्वमिति । नित्यं = सर्वदा, मुक्तं = मायातत्कार्यद्वैतप्रपञ्चाभ्यां विनिर्मुक्त, अत एव परिशुद्धम् । न हि तत्र मायातत्कार्यसम्बन्धः संभवति,

स्वयंप्रकाशचैतन्यघनत्वादित्याशयेनाह – विबुद्धतत्त्वमिति । विबुद्धं = स्वयं-प्रकाशितं, तत्त्वं = पारमार्थिकमद्वयस्वरूपमित्यर्थः । नित्यमुक्तत्वमेव विशदयति - प्रत्यूढेति । प्रत्यूढा = सर्वतो दूरनिरस्ता ब्रह्मविद्यया बाधिता, कर्मभिः = उपलक्षणमिदं, नामरूपकर्मभिरित्यर्थः, कलिला = मलिना, प्रकृतिः = द्वैत-प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानरूपा-माया यस्मात्तमित्यर्थः । मायाप्रपञ्चातीतमिति यावत् । अत्र किल मायाशब्दो मिथ्यार्थे बाधितार्थे च स्पष्टतया प्रयुक्त उप-लभ्यते, न भगवन्नित्येच्छार्थे । अनेन सह – 'यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसं-विदा' 'आत्मन्यविद्याकृते' (भा० १ । ३ । १३) इत्यस्य संयोजनेन माया-ऽविद्ययोरेकत्वमेव सुस्पष्टं निर्णीतं भवतीति पूर्वापरभागवतवचनानामर्थ-निर्णायिकां संगतिं सुधियः समालोचयन्तु ।

व्युदस्तः = दूरतः प्रक्षिप्तो निरस्तो मायागुणानां विभ्रमस्य-मिथ्या-ज्ञानस्याहंताममताऽऽस्पदस्योदयो यस्मात् स तथा तमित्यर्थः । हे ईश ! इति सम्बोधनं तव दुरत्यायाः मायायाः प्राबल्यप्रदर्शनार्थम् । अद्धा = इत्यव-धारणे । अयमबुधः = अज्ञो जनः, त्वन्मायया, ऋतात्मनः = परमार्थसत्य-स्वरूपात्त्वत्तः, खण्डितः = पृथक्कृतः-पराङ्मुखीकृत एवेत्यन्वयः । कथमेवं ज्ञायते ? तत्राह – यदिति । यत् = यस्मात्, त्वत्तोऽन्यत् मिथ्याभूतं पुत्रवित्ता-दिकमाशास्ते = अभिलषति । अतो मायया वञ्चितानां पुनर्वरः प्रलोभनेन त्वयाऽपि दयालुना वञ्चनं न कार्यमिति । अत्रापि माया भगवदिच्छा नास्त्येव, तस्याः व्युदस्ततया स्वगुणकृतविभ्रमोदयहेतुतया अज्ञजनखण्डनकारणतया च प्रतिपादनात् । न हि नित्या भगवदिच्छा व्युदस्ता विभ्रमजनिका च भवति, न च कञ्चनाज्ञं वराकं खण्डयति वञ्चयति-मर्दयति च । सति चैवं दुष्टेच्छावति भगवति प्रीतिविलोपप्रसङ्गात् ।

अविशेषणः = अविद्यमानानि - विशेषणानि-जातिगुणक्रियासम्बन्धा-दिकृता विशेषाः यस्मिन् सः-निर्विशेषः । एवंभूतो योऽहं, स एव ब्रह्मा च शर्वः = शिवश्च, नास्माकं भेदोऽस्ति मनागपीत्यर्थः ।

ननु – कथं तर्हि भेदप्रतीतिरित्याशंक्योपाधिभेदान्नाममात्रेण भेदो, न वस्तुत इत्यभिप्रायेणाह – आत्ममायामिति । सः = परमकारणभूतोऽहं परमा-त्मैव. आत्ममायां = स्वाधीनां प्रकृतिं रजआदिगुणमयीं, विभक्तगुणां समाविश्य = अधिष्ठाय-अङ्गीकृत्य, विश्वसृष्ट्यादि कुर्वन्, क्रियोचितां संज्ञां, दधे = धारयामि । तत्र रजोगुणमधिष्ठाय स्वाधीनीकृत्य विश्वं सृजन् तद्-वृद्धिहेतुत्वात् ब्रह्मेति संज्ञा, तथा सत्त्वगुणमधिष्ठाय विश्वं रक्षन् सर्वरक्षाया व्यापकाधीनत्वात् व्यापनाद्विष्णुरिति संज्ञा, विष्लृ व्याप्तौ इति पाणिनि

स्मरणात् । तथा तमोगुणमधिष्ठाय – वशीकृत्य विश्वं संहरन् हरणाद् हर इति संज्ञां । एवं तत्तत्क्रियोचितां संज्ञां धारयामि । न हि तत्तत्क्रियाभेदेन क्रियावतः कथमपि भेदः सिद्ध्यति ।

ननु – कथं तर्हि लोके त्रयाणामेकभावानां भेददर्शनमित्याशंक्य तस्याज्ञानप्रयुक्तत्वादित्याह – तस्मिन्निति । तस्मिन् = सर्वकारणकारणे ब्रह्मणि = विश्वव्यापके, अद्वितीये = सजातीयविजातीयस्वगतभेदरहिते, केवले = द्वितीयवर्जिते-सर्वसंगविनिर्मुक्ते, परमात्मनि = सर्वान्तर्यामिणि विश्वद्रष्टरि, मय्येव, ब्रह्मा भिन्नः शिवो भिन्नः, भूतानि = जीवाः जडाश्च, भिन्नानीति भेदेन अज्ञः = मूढः-शास्त्रतात्पर्यज्ञानशून्यः साम्प्रदायिकमिथ्याभिनिवेशयुक्तः, अनु = सर्वत्र सर्वदा पश्यति । विज्ञस्तु सर्वत्र सर्वदाऽभेदभावमेव पश्यति मनुते – प्रसारयति च ।

मद्भक्तो विद्वांस्तु न कुत्रापि भेदबुद्धिं कुरुत इति सदृष्टान्तमाह – यथेति । पुमान् = सर्वोऽपि प्राणिवर्गः, यथा शिरःपाण्यादिषु स्वाङ्गेषु क्वचित् = कस्मिन्नपि देशे, कस्मिन्नपि काले, कस्यामप्यवस्थायां, पारक्यबुद्धिं-परभावबुद्धिं-स्वभेदबुद्धिं न कुरुते, एवं मत्परः = अहमेव परः = उत्कृष्टः-सच्चित्सुखरूपो विश्वानन्यो ध्येयो यस्य सो मत्परायणो, ममानन्यभक्तः तत्त्वदर्शी विनिर्मुक्ताविद्यामिथ्याज्ञानादिबन्धनः, त्रिषु-देवेषु चराचरेषु सर्वेषु भूतेषु च भेदबुद्धिं-कस्मिन्नपि देशे कस्मिन्नपि काले न कुरुते, किन्तु सततमभेदबुद्धिं विधाय परमानन्दनिमग्नो भवतीति यावत् ।

एवं भेददर्शनेनानिष्टप्राप्तिं, अभेददर्शनेन चाभीष्टसिद्धिश्च निरूप्य मुमुक्षुणा निःश्रेयसार्थिना पराशान्तिपरमानन्दलाभायाभेददर्शनमेव सततं विधेयमित्याह – त्रयाणामिति । वस्तुत एक एव भावः = प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मस्वरूपं येषां, तेषामेकभावानां, त्रयाणां = ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां, सर्वाणि भूतानि स्थावरजङ्गमात्मकानि आत्मानः = स्वरूपाण्येव येषां ते सर्वभूतात्मनस्तेषां, यो भिदां = भेदं न पश्यति, स वै = स एव महानुभावः, शान्तिं = मत्संस्थां ब्रह्मनिर्वाणपरमां - सर्वोपद्रवनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दलक्षणां, अधिगच्छति = प्राप्नोति, यदाह – 'परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः । शान्तिं मे समवस्थानं ब्रह्मकैवल्यमश्नुते ।' (१) (भा० ४ । २० । १०) इति । अर्थात् योऽज्ञो मूढो भेदं पश्यति, सः कथमपि क्वचिदपि शान्तिं नैवा -

(१) चित्त शुद्ध होनेपर उसका विषयोंसे एवं सत्त्वादिगुणोंसे सम्बन्ध नहीं रहता, तथा उसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, फिरतो वह मेरी समतारूप अद्वय-ब्रह्मभावमयी स्थितिको प्राप्त हो जाता है । यही परम शान्तिमय ब्रह्मपद कैवल्य है ।

धिगच्छति, किन्तु शान्तिविरोधिशोकसन्तापञ्च भूयोभूयोऽधिगच्छति । हे ब्रह्मन्निति सम्बोधनेनाभेददर्शनस्यैवानधिगतत्वादबाधितत्वात् सप्रयोजनत्वाच्च वेदादिशास्त्रतात्पर्यविषयतायाः अभिधानात् त्वयोत्तमाधिकारिणाऽभेददर्शनमेव कर्तव्यमिति सूचयति ।

—❀—

(२३)

('पुरि' शयनाद्वा, पूर्णत्वाद्वा पुरुषः, इति व्युत्पत्तिः जीवपरात्मनोः सच्चिदानन्दरूपं समानं लक्षणं ज्ञापयित्वा तयोरेकत्वमेव दृढयति) (१)

अस्ति पुरुषपदस्य निरुक्तेऽभिहिता व्युत्पत्तिः – 'पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयते वा' (नि० २ । ३ । १) इति । पूः = शरीरं बुद्धिं वा तयोरसौ विषयोपलब्ध्यर्थं सीदति - अवतिष्ठत इति पुरुषाद इति पुरुषः । अथवा पुरिशयः – तयोरसौ शेते = विशेषणास्ते इति पुरिशयः सन् पुरुष इत्युच्यते । पूरयते वा - पूर्णमनेन पुरुषेण, सर्वगतत्वात् जगदिति पुरुषः ।' 'पुरः पुरुष आविशत् ।' (बृ० उ० २ । ५ । १८) 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं' (श्वे० उ० ३ । ९) 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।' (गी० १८ । ६१) 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।' (गी० २ । ४) 'अन्तः प्रविश्य भूतानि यो बिभर्त्यात्मकेतुभिः । अन्तर्यामीश्वरः साक्षात् पातु नो यद्वशे स्फुटम् ॥' (२) (भा० ५ । २० । २८) 'देवदेव ! जगद्व्यापिन् ! जगदीश ! जगन्मय ! । सर्वेषामपि भावानां त्वमात्मा हेतुरीश्वरः ॥ (३) (भा०८।१२।४) इति श्रुतिस्मृतिपुराणवादेभ्यः । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ॥' (तै० २ । ६)

(२३)

(१) (शरीर रूपी पुरियोंमें शयन करनेसे, या सर्वमें पूर्ण होनेसे पुरुष है, ऐसी व्युपत्ति, जीव और परमात्मा का सच्चिदानन्दरूप एक - समान लक्षणका ज्ञापन कराके इन दोनों के एकत्वको ही दृढ़ कराती है)

(२) जो प्राणादि वृत्तिरूप अपनी ध्वजाओंके सहित प्राणियोंके भीतर प्रवेश करके उनका पालन करते हैं, तथा सम्पूर्ण दृश्य जगत् जिनके आधीन है, वे साक्षात अन्तर्यामी वायु - भगवान् - तदधिष्ठित - अन्तरात्मा हमारी रक्षा करें ।

(३) समस्त देवोंके आराध्यदेव ! आप विश्वव्यापी जगदीश्वर एवं जगत्स्वरूप हैं । समस्त चराचर पदार्थों के मूलकारण ईश्वर और आत्माभी आप ही हैं ।

'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।' (भा० ३ । २६ । ३४) इत्याद्याः सहस्रशः शास्त्रवादाः सृष्टिकर्तुरेवासंसारिणः शरीरप्रवेशं दर्शयन्ति । सर्वशास्त्रेषु च पूर्णेऽद्वये ब्रह्मण्यात्मशब्दप्रयोगात् । आत्मशब्दस्य च प्रत्यगात्माभिधायकत्वात्, प्रत्यगात्मनश्च देहेन्द्रियादेः स्वतःसत्तास्फूर्तिप्रियतारहितस्य तत्प्रदातृत्वेन प्रसिद्धत्वात् 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा' (क० उ० ५ । ११) 'भगवति सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण समीयुः ।' (१) (भा० ५ । १ । २७) इत्यादिशास्त्रवचनेभ्यः परमात्मव्यतिरेकेण संसारिणो जीवस्याभावात् जीवपरात्मनो युक्तमेवैकत्वमवधारयितुम् ।

प्रत्यगात्मा च स्वस्मिन् अज्ञानादध्यस्तशरीरेन्द्रियादेः सत्ताप्रदत्वात्, कालत्रयेऽप्यबाध्यमानत्वात् सर्वदा सद्रूपोऽस्ति । जाग्रति देहेन्द्रियादिसाक्षितया, स्वप्नेऽन्तःकरणवासनामयप्रपञ्चसाक्षितया, सुषुप्तावज्ञानसाक्षितया सर्वदा सर्वत्र प्रकाशमानत्वात् चिद्रूपोऽस्ति । दुःखाद्यनुभवकालेऽपि, आत्मा कस्याप्यप्रियो न भवति, किन्तु सदा प्रियतम एव भवति, दुःखादौ द्वेषस्याऽऽत्मस्नेहनिमित्तत्वात्, शत्रुदुःखादौ द्वेषस्यादर्शनात्, परमप्रेमास्पदत्वात् आनन्दरूपश्चास्ति । तथा चात्रेदमनुमानं विवक्षितं – 'प्रत्यगात्मा ब्रह्मणो न भिद्यते, सच्चिदानन्दरूपत्वात् ब्रह्मवदिति' । ननु– अनुमानस्यास्य 'नाहमीश्वरः' इति प्रत्यक्षविरोध इति चेत्, मैवं, न तावदात्मनोऽब्रह्मत्वे बाह्यप्रत्यक्षविरोधः, आत्मनि रूपाद्यभावात् बाह्यस्य तत्राऽप्रवृत्तेः । नापि मानसप्रत्यक्षविरोधः, मनसो मनःसाक्षिण्यात्मनि प्रवृत्तेरसंभवात्, न हि दृश्यं स्वद्रष्टारं गोचरयति । दृश्यत्वविलोपप्रसङ्गात् । ननु – जीवेश्वरौ भिन्नौ किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिविरुद्धधर्माश्रयत्वात्, दहनतुहिनवदित्यनुमानविरोध इति चेन्न । विरुद्धधर्मवता बिम्बप्रतिबिम्बयोः घटाकाशमहाकाशयोश्च व्यभिचारात् ।

ननु – 'द्वा सुपर्णा' (मु० ३ । १ । १) इत्यादिशास्त्रविरोध इति चेन्न, तस्यातत्परत्वेन 'तत्त्वमसि' (छां० ६ । ८ । ७) इत्यादिशास्त्रेणाभेदप्रतिपादकेन बाध्यमानत्वात्, पैङ्गिरहस्यब्राह्मणे बुद्धिजीवात्मपरतया व्याख्यातत्वेन जीवेश्वरभेदाबोधकत्वात्, तत्र तु द्वित्वं बुध्यते, न तु वास्तविको भेदो, येनाभेदनिषेधः स्यात् । द्वित्वस्य भेदव्याप्तत्वन्तु बिम्बप्रतिबिम्बादौ व्यभिचरति । तस्मान्नाहमीश्वर इति भेदबुद्धिर्देहाद्युपाधिनिमित्ता भ्रान्तिरेव, न तु शुद्धजीवस्वरूपं विषयीकरोति । तथा च जीवेश्वरस्वरूपयोः सद्बोधानन्दपूर्णतायाः तुल्यतया तयोरेकत्वं विवादविरोधरहितं मुमुक्षुरवधारयेत् ।

(१) सम्पूर्ण-भूतोंके एवं जीवोंके आत्मभूत प्रत्यगात्मा भगवान्में अपनी निर्विशेष-एक - अद्वय-ब्रह्मभावसे अभिन्न - स्थिति प्राप्त होगई ।

ननु – परमेश्वरः सर्वज्ञतया सर्वशक्तिमत्तया सर्वजगत्कारणतया च शास्त्रवचनेभ्योऽवगम्यते । प्रत्यगात्मा तु स्वशरीरादिकमपि साकल्येन न जानाति, स्वातन्त्र्येण किञ्चिदपि कर्तुं न शक्नोति, तत्कथमस्य सर्वज्ञेन सर्वशक्तिमता सर्वकारणेन च परमेश्वरेणाभेद इति चेन्मैवम् । इदमत्र तावत् शङ्कासमाधानप्रयोजकं तात्पर्यं विज्ञेयम् । तथाहि – मिथ्यापदार्थस्य द्रष्टैवोपादानं, यथा स्वप्नप्रपंचस्य । तथा जाग्रत्प्रपञ्चस्यापि सर्वस्य दृश्यत्वेन मिथ्यात्वात् तद्द्रष्टा प्रत्यगात्मैवोपादानं वक्तव्यम् । तदुक्तमभियुक्तैः – 'यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽय मयि मायाविजृम्भितः । एवं जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि मयि मायाविजृम्भितः ॥' इति । सति चैवं प्रत्यगात्मनस्तद्द्रष्टृत्वलक्षणं सर्वज्ञत्वं, तदधिष्ठानलक्षणं सर्वकारणत्वं च सिद्ध्यति । ननु – बहुदूरव्यवहितदेशवर्तिमेर्वादीनामदृश्यमानानां कथं प्रत्यगात्मा द्रष्टा, कथं वा तदुपादानमिति चेच्छृणु-तर्हि रहस्यम् । एतावन्तं कालं मेर्वादिकमहं नाऽज्ञासिषमिति ह्यज्ञानविशेषणतया मेर्वादिकं स्मर्यते । तच्च स्मरणं मेर्वाद्यनुभवं विनाऽनुपपद्यमानं सन्मेर्वाद्यनुभवं कल्पयति । तत्र चेन्द्रियादीनामप्रवृत्तेः, प्रत्यगात्मचैतन्येऽध्यस्ततयैव मेर्वाद्यनुभवो वक्तव्यः, अध्यस्तस्य चाधिष्ठानमेवोपादानं, तद्भानादेव भानं च भवति । तथा च प्रत्यगात्मा स्वाध्यस्तमेर्वादेरप्यज्ञातसाक्षी तदुपादानं च भवति । तदभिहितं – स्कान्दीयसूतसंहितास्थब्रह्मगीतायां – 'ज्ञातरूपेण चाज्ञातस्वरूपेण च साक्षिणः । सर्वं भाति तदा भाति ततस्तद्व्यापि सर्वदा ॥' (१) (स्क० सू० ब्र० ६ । ४) । तथा च प्रत्यगात्मा सर्वज्ञः सर्वकारणञ्चेति सिद्धम् ।

ननु – प्रत्यगात्मा परिच्छिन्न एवानुभूयते, अहमिहैव सदनेऽस्मि जानान इति प्रतीतेः । परमेश्वरश्च सर्वगतो विभुः शास्त्रेण प्रतिपाद्यते, तत्कथं तयोरैक्यमिति चेन्मैवम् । शृणु तावत् प्रत्यगात्मनः सर्वगतत्वसाधकं रहस्यम् । तथाहि – बहुयोजनदूरवर्तिचन्द्रसूर्यमण्डलं, ततोऽप्यतिदूरवर्ति ध्रुवादिनक्षत्राणि च प्रत्यगात्मन एव भासन्ते, तच्च भानं जडानां तेषां स्वतो न संभवति, स्वप्रकाशरूपात्मचैतन्यसम्बन्धबलेनैव तद्वक्तव्यम् । स्वतोऽप्रकाशस्य घटादेः स्वप्रकाशदीपादिसम्बन्धबलेनैव प्रकाशदर्शनात् । यदि प्रत्यगात्माऽत्रैव तिष्ठेत् ? कथं ध्रुवादिना सम्बध्येत ? सम्बन्धं विना च कथं तस्य भानं स्यात् ? 'वर्तमानं सम्बद्धञ्च गृह्यते चक्षुरादिना ।' इति नियमात् । ततो ध्रुवादिभासकत्वात् प्रत्यगात्मा सर्वगतः । परिच्छिन्नताप्रतीतिश्चात्मनोऽभि-

(१) ज्ञातरूपसे तथा अज्ञातरूपसे सर्वके साक्षी चिदात्मासे यह सम्पूर्ण विश्व भासित होता है, और वह चिदात्मा सदा स्वयं भासित रहता है इसलिए वह सर्वदा व्यापक है ।

व्यंजकोपाधिपरिच्छेदाद् भ्रान्त्योपपद्यते । तदुक्तं – ब्रह्मगीतासु – 'स्वयं भातु-मशक्तं हि जडाजडात्मकं जगत् । चित्सम्बन्धबलेनैव खलु भाति न चान्यथा ॥ स्वाभिव्यञ्जकसंकोचात् संकोचप्रतिभाऽऽत्मनः । स्वस्वरूपेण चिद्-रूपः सर्वव्यापी सदा खलु ॥' (१) (स्क० सू० ब्र० ६ । ५-३) ततः प्रत्यगात्मा सर्वगतो विभुरिति सिद्धम्, तथा च प्रत्यगात्मपरमेश्वरयोरैक्यं समानलक्षण-योगेन निर्विवादं सिद्ध्यति ।

दृश्यस्य मिथ्यात्वे, द्रष्टुरात्मनः तद्विवर्तोपादानकारणत्वे, सर्वगतत्वे, प्रत्यगात्मपरमेश्वरयोरेकत्वे च श्रद्धेयस्य श्रीमद्भागवतस्यापीमानि प्रशस्तानि वचांस्यादरेणानुसंधेयानि – 'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभं' (भा० १० । १४ । २२) 'त्वयि विभाति मृषैकरसे' (भा० १० । ८७ । ३७) 'प्रत्यक् द्रष्टा दृश्यते येन दृश्यम्' (भा० ४ । ७ । ३७) 'एवं जागरणादीनि' 'माया-मात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत् ।' (भा० ६ । १७ । ५४) 'पटे तन्तुवत् समनुगतः, हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः ।' (भा० ४ । २६ । ५०) 'द्रष्टुर्न दृग्यस्य गुणैर्विदूष्यते, तस्मै नमोऽसक्तविविक्तसाक्षिणे ।' (२) (भा० ५ । १६ । १२) 'स एव हि पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः सकल-जगत्कारणकारणभूतः सर्वत्र प्रत्यगात्मत्वात् सर्वगुणाभासोपलक्षित एक एव पर्य-वशेषितः ।' (३) (भा० ६ । ६ । ३८) 'आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्धः एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः । अविक्रियः स्वदृग्हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः ॥' (भा० ७ । ७ । १६) 'सुखं च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम् ।' (भा० ६ । १७ । ५५)

(१) जड़ चेतनात्मक समग्र जगत् स्वयं प्रकाशित होनेके लिए असमर्थ है, इसलिए वह चेतनके सम्बन्धके बलसे ही प्रकाशित होता है, अन्यथा नहीं । अपनी अभिव्यञ्जक - वृत्तियोंके संकोचसे आत्माके भानका संकोच होता है स्वरूपसे तो वह सदा सर्वव्यापी – चिद्रूप ही है ।

(२) द्रष्टा होने परभी जिनकी दृष्टि, दृश्यके गुणदोषोंसे दूषित नहीं होती है, उन असंग एवं विशुद्ध—साक्षिस्वरूप जीवाभिन्न ब्रह्मरूप भगवान् नर-नारायणको नमस्कार है ।

(३) विचारपूर्वक देखनेसे मालूम होता है कि—आप ही समस्त वस्तुओंमें वस्तुत्वके रूपसे विराजमान हैं, सबके स्वामी हैं, और सम्पूर्ण जगत्के कारण ब्रह्मा प्रकृति आदिकेभी कारण हैं । आप सबके अन्तर्यामी अन्तरात्मा हैं, इसलिए जगत्में जितने भी गुण-दोष प्रतीत हो रहे हैं, उन सबकी वृत्तियां अपने अधिष्ठान स्वरूप आप काही संकेत करती हैं, और श्रुतियोंनें समस्त पदार्थोंका निषेध करके अन्तमें निषेधकी अवधिके रूपमें केवल - आपको ही शेष रक्खा है ।

'तेनैकमात्मानमशेषदेहिनां, कालं प्रधानं पुरुषं परेशम् । स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं, आत्मैकभावेन भजध्वमद्धा ॥' (१) (भा० ४ । ३१ । १८) 'प्रत्यक् चकास्ति भगवान् तमवेहि सोऽस्मि ।' (भा० ४ । २२ । ३७) इत्यादीनि । एषामयमर्थः— असत्स्वरूपं = सद्विलक्षणं न तु वन्ध्यापुत्रादिवत् सर्वथाऽसत्, अन्यथाऽभानप्रसङ्गात्, अनिर्वचनीयं मिथ्येति यावत् । प्रकृतिः = जगतो विवर्तोपादानकारणं, ईश्वरः = निमित्तकारणं नियन्तेत्यर्थः । स एव हि = जगति नानारूपेण प्रतीतोऽपि, वस्तुतः वस्तुस्वरूपः = अद्वयसच्चिद्रूपः, पटे तन्तुवत् समनुगतः, सर्वेषां गुणानां = विषयाणां, आभासैः = प्रकाशैरुपलक्षितः, एक एव = जीवत्वेश्वरत्वजगत्त्वादिभेदरहितः 'नेति नेति' इत्यादिशास्त्रवचनैः पर्यवशेषितः = निषेधशेषतया विज्ञापितः 'निषेधशेषो जयतादशेषः' (भा० ८ । ३ । २४) इति भागवतस्मरणादपि । तेन = सर्वकारणत्वेन हेतुना, कालः = जडचेतनसंयोगात्मको निमित्तम् । प्रधानं = उपादानकारणम् । अद्धा = साक्षात्, भजध्वम् = अजस्रमनुसंदध्वम् । कथं ? आत्मनः = स्वस्मात् एकभावेन = अभिन्नत्वेन । स्वतेजसा = स्वस्यापरोक्षज्ञानेन । चकास्ति = प्रकाशते, तमवेहि = जानीहि । कथं ? सोऽस्मीति । स एव भगवान् अहं प्रत्यगात्माऽस्मीत्यभेदभावेन विद्धीति यावत् । इत्यादिकं निखिलं तात्पर्य भगवत्कृपातो विनिश्चित्य, प्राक् हृत्पद्मकोशे स्फुरितं भगवन्त श्रीनारायणमवलोक्य पश्चात् सहसा बहिःस्थितमपि दृष्ट्वा दण्डवत् प्रणम्य 'दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन्निवार्भकश्चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन् ।' (२) (भा० ४ । ६ । ३) ध्रुवः परमेण प्रेम्णा तं स्तोतुमभिलषन्नपि वाचोऽसामर्थ्यात् मूक इवावतस्थौ । सर्वस्य हृद्यवस्थितः प्रत्यगात्मा भगवान् तस्य तज्ज्ञात्वा कृपया तस्य कपोले ब्रह्मज्ञानमयस्य शङ्खस्य स्पर्शं विधाय तत्सामर्थ्यं प्रददौ । श्रीनारायणानुग्रहसंप्राप्तदिव्यवाक्सामर्थ्येन विविधैः श्लोकैस्तं श्रीहरिं ध्रुवोऽस्तौत् । तत्रादिमेन श्लोकेनान्तःप्रवेशज्ञापितं पुरुषपदबोधितं प्रत्यगात्मपरमेश्वरयोरनन्यप्रेमप्रयोजकमनन्यत्वं बोधयितुं भगवन्तं प्रणमन् । ध्रुव उवाच—

(१) अतः तुम ब्रह्मादि-समस्त लोकपालोंकेभी अधीश्वर श्रीहरिको अपनेसे अभिन्न मानते हुए भजो ।, क्योंकि – वे ही समस्तदेहधारियोंके एकमात्र आत्मा हैं, वे ही जगत्के निमित्तकारण, तथा, उपादानकारण, प्रधान और नियन्ता पुरुषोत्तम हैं तथा अपनी चिन्मयी—काल शक्तिसे वे ही इस गुणोंके प्रवाहरूप द्वैतप्रपंचका संहार कर देते हैं ।

(२) वे ध्रुव इसप्रकार अनन्य प्रेमभरी–दृष्टिसे उन भगवान्की ओर देखने लगे–मानों नेत्रोंसे उन्हें पी जायेंगे, मुखसे चूम लेंगे और भुजाओंमें कस लेंगे ।

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां,
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्,
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥ (१)
(भा० ४।९।६)

यः = परमात्मा, मम = तत्प्रतिबिम्बकल्पस्य शरीरेन्द्रियादिसंघात-विशिष्टस्य, अन्तः = हृदयस्य मध्ये, प्रविश्य = अनुप्रविश्य । स्वधाम्ना = स्वभूतचैतन्यप्रकाशेन प्रविश्य, इमां = प्रसिद्धां, वाचं = वागिन्द्रियं वैखर्यादिसंज्ञकं, जिह्वां वा कीदृशीं ? प्रसुप्तां = जडवत् स्थितां, सञ्जीवयति = चैतन्यस्फूर्तियुक्तां स्वव्यवहारक्षमां करोति, मृतवदवस्थितां जडां तां स्ववदनादि-व्यवहारे प्रवर्तयतीति यावत् ।

अत्रायं विचारः प्रवर्तते । कथं तस्य प्रवेशः ? किमस्ति तावत्तस्य प्रयोजनम् ? व्यापकस्य तस्य विभोः अत्यल्पे हृदयादौ वास्तविकः प्रवेश एव सुतरां न संभवति । अत एव सृष्ट्यादिवत् तस्य प्रवेशोऽपि-अविकृत-ब्रह्मकर्तृकतया काल्पनिक एव प्रत्येतव्यः । काल्पनिकोऽपि तस्य प्रवेशः किमर्थ इति चेत् ? प्रतिबिम्बकल्पैः जीवात्मभिः सह स्वस्यानन्यत्वज्ञापनायेति गृहाण । प्रवेशस्य प्रयोजनमपि स्पष्टमेव । यतः स्वतः सत्तास्फूर्तिप्रियतारहितस्यासज्जडदुःखात्मकस्य देहेन्द्रियादिसमुदायस्य सत्तायाः चैतन्यस्य प्रियतायाश्च समर्पणमेव प्रयोजनं स्वधाम्नेति पदं स्पष्टं विज्ञापयति । चैतन्यबोधकं स्वधामपदं स्वरूपभूतधर्माणां सदानन्दादीनामप्युपलक्षकम् । यत एकरसोऽखण्डः परमात्मा-तेषां सच्चिदानन्दादिस्वभूतधर्माणां परस्परभिन्नत्वेऽभ्युपगते सति-नानारसः स्यात् अतस्तेषां मिथः कथमपि नास्ति विभिन्नता । सत्ता यदि चैतन्याद्भिन्ना स्यात्, तर्हि जडायास्तस्याः शुक्तिरूप्यादेरिवसत्यत्वमेव न स्यात्, एवं यदि चैतन्यं सत्तायाः भिन्नं स्यात्, तदा सत्तारहितस्य चैतन्यस्य जडत्वनियमेन ज्ञातृत्वं न स्यात् । ततः सत्यज्ञानयोः सत्यत्वज्ञानत्वसिद्धयेऽत्यन्तं परस्पराभेदोऽङ्गीकर्तव्यः । एवं यदि ज्ञानादानन्दोऽपि भिन्नः स्यात्, तदा ज्ञानभिन्नस्य तस्य

(१) ध्रुवजीने कहा — प्रभो ! आप सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं, आप ही मेरे अन्तःकरणमें आत्मारूपसे प्रवेशकर अपने चैतन्यतेजसे मेरी इस सोई हुई वाणीको सजीवन करते हैं, तथा हाथ, पैर, कान और त्वचा आदि अन्यान्य-इन्द्रियों एवं प्राणोंको भी चेतना देते हैं । मैं आप अन्तर्यामी सर्वात्मा भगवान् को प्रणाम करता हूं ।

घटादिवदनानन्दत्वमेव स्यात् । तथाऽऽनन्दादपि यदि ज्ञानं भिन्नं स्यात्, तदाऽनानन्दस्य तस्य घटादिवत्, जडत्वेन ज्ञानत्वमेव न स्यात् ततो ज्ञानानन्दयोरपि ज्ञानत्वानन्दत्वसिद्धयेऽत्यन्तमभेदोऽभ्युपगन्तव्यः । एवं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तत्वादिष्वपि एवमेवोह्यम् । न च तेषामत्यन्ताभेदे तद्वाचकसच्चिदादिपदानां पर्यायता स्यादिति वाच्यम्, वाच्यार्थानां भेदस्याङ्गीकारात् । सत्यपदं पारमार्थिकव्यावहारिकमुख्यामुख्यसत्यरूपब्रह्माकाशशबलरूपे सत्ये व्युत्पन्नं, ज्ञानपदं चैतन्यान्तःकरणवृत्तिरूपमुख्यामुख्यज्ञानद्वयशबलरूपे ज्ञाने व्युत्पन्नं, आनन्दपदं च प्रत्यग्-बुद्धिवृत्तिरूपमुख्यामुख्यानन्दद्वयशबलरूपे आनन्दे व्युत्पन्नं, एवं नित्यशुद्धादीन्यपि पदानि मुख्यामुख्यतत्तद्द्वयशबलरूपे तस्मिन्-तस्मिन् व्युत्पन्नानीति द्रष्टव्यम् । एतत्सर्वं संक्षेपशारीरके सर्वज्ञात्ममुनिभिरप्यभिहितम् – 'आकाशादौ सत्यता तावदेका, प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या । तत्संपर्कात्सत्यता तत्र चान्या, व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र ॥ बुद्धे वृत्तौ ज्ञानता तावदेका, प्रत्यग्बोधे ज्ञानता काचिदन्या । तत्संपर्काज्ज्ञानता तत्र चान्या, व्युत्पन्नोऽयं ज्ञानशब्दस्तु तत्र ॥ बुद्धे वृत्तौ तावदानन्दतैका, प्रत्यङ्मात्रे काचिदानन्दताऽन्या । तत्संपर्कात्काचिदानन्दताऽन्या व्युत्पन्नोऽयं तत्र चानन्दशब्दः ॥ ❀ (१) (१ । १७८-१७९-१८०) । न च तर्हि वाच्यार्थ-

(१२) आकाशादियोंमें व्यावहारिकी सत्यता है, प्रत्यगात्मामें पारमार्थिकी सत्यता है, इन दोनोंके आध्यासिक-सम्बन्धसे आकाशादि-विशिष्ट-आत्मामें मिश्रित सत्यता है। इसप्रकार सत्यशब्द उस उस अर्थमें व्युत्पन्न हुआ है। बुद्धिवृत्तिमें गौणी ज्ञानता है, आत्मस्वरूप-ज्ञानमें, मुख्य ज्ञानता है। इन दोनोंके सम्बन्धसे वृत्तिविशिष्टमें मिश्रित ज्ञानता है। इसप्रकार ज्ञान शब्द उस-उस अर्थमें व्युत्पन्न हुआ है। बुद्धिवृत्तिमें आनन्दता गौण है, प्रत्यगात्मामें आनन्दता मुख्य - पारमार्थिक है। इन दोनोंके सम्बन्धसे वृत्तिविशिष्टमें मिश्रित आनन्दता है, इस प्रकार आनन्दशब्द उस उस अर्थमें व्युत्पन्न हुआ है।

❀ आकाशादौ, व्यावहारिकी सत्यता, ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वेऽपि तदितरज्ञानाबाध्यतयाऽऽपेक्षिकी सत्यता । प्रत्यङ्मात्रे = चिन्मात्रेऽद्वये ब्रह्मणि-अत्यन्ताबाध्यत्वलक्षणा पारमार्थिकी सत्यता । तत्सम्पर्कात् = तयोः आकाशादिप्रत्यगात्मनोः अधिष्ठेयाधिष्ठानयोः परस्पराध्यासलक्षणात्-सम्बन्धात्-तत्र संपृक्ते मिथुनीभूते शबलरूपे व्यावहारिकत्वतात्त्विकत्वमिथुनीभूता सत्यताऽन्याऽस्ति । बुद्धिवृत्तौ ज्ञानता-लोकसिद्धा-औपचारिकी । प्रत्यग्बोधे ज्ञानता नित्यसिद्धा मुख्या पारमार्थिकी । बुद्धिवृत्तौ आनन्दताऽऽभासरूपा गौणी, प्रत्यगात्मनि चानन्दता पारमार्थिकी मुख्या इति विवेकः ।

भेदे सति सत्यादीनामत्यन्ताभेदः कथमुक्त इति वाच्यम् । वाच्यार्थभेदेऽपि तल्लक्ष्यार्थानामभेदादित्यवधारय ।

ननु – तव वाचमहं कथं जीवयामीत्याशंक्य न केवलं ममैव किन्तु सर्वस्यैव प्राणिवर्गस्य वाचां प्रवृत्तिस्त्वत्त एव संभवतीत्यभिप्रेत्य तत्र हेतुमाह—

अखिलशक्तिधरः इति । अखिलाः सत्ताज्ञानप्रियतादिरूपाः शक्तीः धरति = स्वभावतो बिभर्तीति । 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।' (श्वे० उ० ६ । ८) इति श्रुतेः । अपि च न केवलां वाचमेव संजीवयति भवान्, किन्तु अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन् प्राणान् = इन्द्रियाणि, स्वधाम्ना = स्वचैतन्यतेजसा सच्चिच्छुरणेन संजीवयति = पूर्वसंस्कारोद्बोधनेन स्वस्वव्यापारे प्रवर्तयति, तस्मै भगवते = समग्रैश्वर्यादिषड्विधभगयुक्ताय, परमेश्वराय, पुरुषाय = प्रत्यगात्मने तुभ्यं नमः इत्यन्वयः ।

पुनरपि ध्रुवो भगवन्तं स्वेष्टदेवं श्रीनारायणं प्रत्यगभिन्नतया निखिलबुद्ध्यवस्थाद्रष्टृतया नित्यशुद्धबुद्धमुक्ततया चाभिष्टौति – 'त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा, कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः । यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या, द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से ॥ (१) (भा० ४ । ९ । १५) । हे भगवन् ! त्वं आत्माऽसि = सर्वेषां स्थावरजंगमानामभिन्नस्वरूपोऽसि, 'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानम्' (भा० १० । १४ । ५५) 'अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः' (गी० १० । २०) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २ । ५ । १९) इत्यादिशास्त्रवादेभ्योऽपि – भगवत आत्मत्वमेव न त्वात्मभिन्नत्वमवगम्यते । कीदृशस्त्वं ? पुनरपीत्यपेक्षायामाह – विशेषणानि । नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्धः । त्वं नित्यमुक्तः = सर्वदा अविद्यादिबन्धनरहितः । अत एव त्वं परिशुद्धः = रागद्वेषादिमलरहितः, त्वञ्च विबुद्धः = स्वप्रकाशचैतन्यज्योतिःस्वरूपोऽसि । कूटस्थोऽसि = कूटवत् निर्विकारेण तिष्ठसि । आदिपुरुषः = आदिश्चासौ पुरुषः, सर्वस्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणतया विश्वादिः, पुरुषः = व्यष्टिशरीरेषु समष्टिब्रह्माण्डेषु च परिपूर्णः । भगवान् = ऐश्वर्यादिभगपूर्णः, अत एव त्वं त्र्यधीशोऽसि = त्रयाणां =

(१) प्रभो ! आप अपनी अखण्ड चिन्मयी–दृष्टिसे बुद्धिकी सभी अवस्थाओंके साक्षी हैं, तथा नित्यमुक्त शुद्ध-सत्त्वमय सर्वज्ञ परमात्मस्वरूप निर्विकार-आदिपुरुष षडैश्वर्य-सम्पन्न एवं तीनों गुणोंके अधीश्वर हैं, आप जीवोंसे सर्वथा भिन्न हैं, परन्तु जीव आपसे भिन्न नहीं हैं, तथा संसारकी स्थितिके लिये यज्ञाधिष्ठाता विष्णुरूपसे विराजमान हैं ।

सत्त्वरजस्तमसां मायागुणानां यद्वा त्रयाणां भूरादिलोकानां, यद्वा त्रयाणां भूतभविष्यद्वर्तमानानां कालानां-अधीशः = नियन्ताऽसि ।

यद्यपि अज्ञानदशायां जीवात्मा नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्धतया कूटस्थतया ग्यधीशतया भगवत्तया च न प्रतिभासते, किन्तु नित्यबद्धतया मलिनतया विकारवत्तया भगहीनतया च प्रतीयते. तथापि भगवदनुग्रहाल्लब्धया ब्रह्मविद्यया यदाऽविद्या निवर्तते, तदा तु भगवतो नित्यमुक्तत्वादिपूर्णस्वरूपतया तदभिन्नतया च निःसंशयं चकास्त एव । 'स यो वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।' (मु० ३ ।२।६) 'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।' (गी० ५।२४) 'इति वेद स वै विद्वान्, यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ।' (भा० ४ । २६ । ५१) इत्यादिशास्त्रवचनप्रामाण्यात् ।

अत एव यद् = यतः बुद्ध्यवस्थितिं = बुद्धेस्तां तां जाग्रदाद्यवस्थां, अखण्डितया = अविपरिलुप्तया निरवच्छिन्नया, स्वदृष्ट्या = स्वभूताविनाशिचैतन्यशक्त्या द्रष्टा = पश्यसि । यदाह – श्रुतिरपि – 'नहि द्रष्टुर्दृष्टे विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् ।' (बृ० उ० ४ । ३ । २३) यथाऽग्नेरौष्ण्यं यावदग्निभावि, तथाऽयं चात्मा द्रष्टाऽविनाशी, अतोऽविनाशित्वादात्मनो दृष्टिरप्यविनाशिनी, यावत् द्रष्टृभाविनी हि सा । यथा आदित्यादयो नित्यप्रकाशस्वरूपा एव सन्तः स्वाभाविकेन नित्येनैव प्रकाशेन प्रकाशयन्ति, न ह्यप्रकाशात्मनः सन्तः प्रकाशं कुर्वन्तः प्रकाशयन्ति । तथाऽयमप्यात्मा भगवान् अविपरिलुप्तस्वयंज्योतिःस्वभावयाऽखण्डितया चैतन्यदृष्ट्या नित्यया द्रष्टेत्युच्यते ।

ननु – बुद्धे जाग्रदाद्यवस्थाद्रष्टृत्वेन जीवात्मा प्रसिद्धः, अहं जानामि तां तामवस्थामागमापायिनीमिति, न च तद्भिन्नः कश्चन द्रष्टाऽनुभूयते, तथा च तदन्यस्य भगवतो द्रष्टृत्वं कथमुच्यते ? इति चेन्मैवं – यतस्तदन्यत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थं भगवत्या स्वतःप्रमाणया सर्वशास्त्रमूलभूतया बृहदारण्यकश्रुत्येदमभिधीयते – 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' ...... 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तम् ।' इति (बृ० उ० ३ । ७ । २३) । अतः = अस्मादन्तर्यामिणो भगवतो नान्योऽस्ति द्रष्टा, अमृतः = सर्वसंसारधर्मवर्जितः, अस्मादीश्वरादात्मनोऽन्यद्, आर्तं = दुःखयुक्तं-बाध्यं मिथ्येति यावत् ।

द्रष्टेति तृन्प्रत्ययान्तम्, अत एव बुद्ध्यवस्थितिमिति द्वितीयाविभक्तिप्रयोगः साधुः । अन्यथा षष्ठी स्यात् । सत्कर्मणां तत्तत्फलदाताऽपि त्वमेवेत्याह – स्थिताविति । जगतः स्थित्यर्थं, अधिमखः = मखस्य यज्ञस्याधिष्ठाता तत्तत्फलदाता विष्णुस्त्वम् । असत्कर्मणामपि फलदाता त्वमित्यपि बोध्यम् । दुष्टनिग्रहं विना पालनासंभवात् ।

सम्प्रति असज्जडदुःखरूपादविद्याकल्पितात्संसारात्, अज्ञेभ्यः संसारिभ्यो जीवेभ्योऽपि च भगवतो वैलक्षण्यबोधनायाह - त्वं व्यतिरिक्तः = पृथग्भूतो विलक्षण एव, आस्से = तिष्ठसि-स्वमहिम्नि सर्वदा प्रतितिष्ठसीत्यर्थः ! इदमत्र विज्ञेयम् - यद्यपि परमात्मा जीवेभ्यो व्यतिरिक्तोऽस्ति - परन्तु जीवात्मानः परमात्मनो व्यतिरिक्ता न भवन्ति, यतस्तत्सत्तयैव तच्चैतन्येनैव तदानन्देनैव च तेषां सत्तावत्त्वात् चैतन्यवत्त्वात्, आनन्दवत्त्वाच्च । अत एव श्रीमद्भागवते तत्र तत्रात्रापि-भगवति-कथ्यमानमात्मत्वं भगवतो जीवात्मनामव्यतिरिक्तत्वमनन्यत्वलक्षणं विद्योतयति । एतेन - तद्वैलक्षण्यप्रदर्शनेन जीवात्मनां भगवतः पृथक्त्वमेवावगतं भवतीति निरस्तम् । यथा सूर्यबिम्बः स्वप्रतिबिम्बेभ्यो विविधेभ्योऽनेकेभ्यः पृथग्भूतोऽस्ति, तान् विनाऽपि नभोमण्डले स्वतः एकाकित्वेन विभासमानत्वात्, परन्तु प्रतिबिम्बाः सोपाधिकाः स्वबिम्बादपृथग्भूताः सन्तीति निश्चप्रचम्, यतस्तत्सत्तादित एव तेषां सत्तादिमत्त्वात् । तथैव प्रकृते प्रतिबिम्बभूतजीवात्मबिम्बभूतपरमात्मविषयेऽपि प्रत्येतव्यम् ।

एवमेव चतुर्थेऽस्मिन् श्रीमद्भागवते भगवतः परमेश्वरस्य श्रीमहादेवस्य विमलानुग्रहाल्लब्धजीवनाध्यात्मतत्त्वज्ञानेन दक्षेण प्रजापतिना भगवान् श्रीनारायणस्तत्तद्बुद्ध्यवस्थातत्प्रयोजकमायाविनिर्मुक्तेन विशुद्धरूपेण तत्संयुक्तेनापरिशुद्धरूपेण च स्तुतः सन् तयो र्विशुद्धविशिष्टयो र्जीवात्मपरमात्मनोरौपाधिकः काल्पनिको भेदो वास्तविकोऽभेदश्च विज्ञाप्यते - तथाहि । दक्ष उवाच — 'शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्ध्यवस्थं, चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम् । तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्यां, आस्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः ॥ (१) (भा० ४ । ७ । २६) ।

विशुद्धं स्वरूपं वर्णयति - भवान् शुद्धं चिन्मात्रमेकमभयमास्ते, कुत्र ? स्वधाम्नि = स्वमहिम्नि-निराधारे स्वस्वरूपभूते तिष्ठन् । चिन्मात्रं = चिदेव चैतन्यघनः । अतः एकं = भेदशून्यं, व्यापकचैतन्यभेदे प्रमाणाभावात्, अत एवाभयं - अद्वितीयं, 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृ० १ । ४ । २) इति श्रुतेः । शुद्धत्वे हेतुः - उपरता = नित्यनिवृत्ताऽखिलाः बुद्ध्यवस्था जाग्रदाद्याः यस्मात् । तत्र हेतुः - मायां = अनिर्वचनीयां—आवरणविक्षेपशक्ति-

(१) दक्षने कहा — भगवन् ! अपने स्वरूपमें - आप बुद्धिकी जाग्रदादि-सम्पूर्ण अवस्थाओंसे रहित, शुद्ध, चिन्मय, भेदरहित, अत एव निर्भय हैं, आप मायाका तिरस्कार करके स्वतन्त्ररूपसे बिराजमान हैं, तथापि जब मायासे जीवभावको स्वीकार कर उसी मायामें स्थित हो जाते हैं तब अज्ञानीसे - मलीनसे दीखने लगते हैं ।

मतीं-ब्रह्मविद्यानिवर्त्यां, प्रतिषिध्य = निवार्य - बाधित्वा, भवान् शुद्धमास्त इत्यन्वयः । सम्प्रति—मायासंयुक्तमशुद्धं स्वरूपं वर्णयति—तयैव = माययैव हेतुना पुरुषत्वं = व्यष्टिसमष्टिपुरीशयानत्वाख्यं जीवत्वनाट्यमुपेत्य, तस्यां = मायायां तिष्ठन्—तत्संयुक्तःसन् अपरिशुद्ध इव = रागादिमानिव, कर्तृभोक्तृत्वादिमालिन्ययुक्तः सन् आस्ते । अपरिशुद्ध इवेत्युपलक्षणं, जन्ममरणादिविकारवानिव, परिच्छिन्न इव, जड इव, अज्ञ इव, दुःखीव च भासत इत्यर्थः । तथापि भवान् आत्मतन्त्रः = स्वतन्त्र एवात्रतिष्ठते, यतः इवपदं तत्र रागाद्यशुद्धेः काल्पनिकत्वमेव विद्योतयति ।

अपि चेमानि श्रीमद्भागवतस्य चतुर्थेऽवस्थितानि वचांस्यपि पूर्वोक्तसिद्धान्तसमर्थकतयाऽनुसंन्धेयानि रहस्यार्थविद्भिः – तथाहि – 'संधीयमान एतस्मिन्, माया गुह्यकनिर्मिताः । क्षिप्रं विनेशुर्विदुर ! क्लेशा ज्ञानोदये यथा ॥' (१) (भा० ४।११।२) 'सर्वभूतात्मभावेन भूतावासं हरिं भवान् । आराध्याप दुराराध्यं विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥' (२) (भा० ४ । ११ । ११) 'तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु । समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति ॥ संप्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः । विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥' (३) (भा० ४ । ११ । १३ - १४) 'अहं त्वमित्यपार्था धीरज्ञानात्पुरुषस्य हि । स्वाप्नीवाभात्यतद्ध्यानाद् यया बन्धविपर्ययौ ॥' तद्गच्छ ध्रुव ! भद्रं ते, भगवन्तमधोक्षजम् । सर्वभूतात्मभावेन सर्वभूतात्मविग्रहम् ॥ भजस्व भजनीयाङ्घ्रिमभवाय भवच्छिदम् । युक्तं विरहितं शक्त्या गुणमय्याऽऽत्ममायया ॥' (भा० ४ । १२ । ४–५–६) (४) । मैत्रेय उवाच — 'सराजराजेन

(१) उसे बाणके चढाते ही यक्षों द्वारा रची हुई नाना प्रकारकी माया उसी क्षण नष्ट हो गई । जिस प्रकार ज्ञानका उदय होनेपर अविद्यादि-क्लेश नष्ट हो जाते हैं ।

(२) तुमने सम्पूर्ण भूतोंके आश्रय-अधिष्ठान-स्थान श्रीहरिकी सर्वभूतात्म भावसे आराधना करके उनका परमपद प्राप्त कर लिया है ।

(३) सर्वात्मा श्रीहरि तो–अपने से बड़े पुरुषोंके प्रति सहनशीलता, छोटोंके प्रति दया, बराबर वालोंके साथ मित्रता, और समस्त जगत्में समताका बर्ताव करने से ही–प्रसन्न होते हैं । और प्रभुके प्रसन्न हो जाने पर पुरुष, प्रकृतिके गुण एवं उनके कार्यरूप लिङ्ग शरीरसे छूट कर, परमानन्दस्वरूप अद्वय - ब्रह्म - पद प्राप्त कर लेता है ।

(४) यह मैं – तू आदि मिथ्या भेद-बुद्धि तो जीवको अज्ञानवश स्वप्नके समान शरीरादिको ही आत्मा माननेसे उत्पन्न होती है । इससे मनुष्यको

वराय चोदितो ध्रुवो महाभागवतो महामतिः । हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः ॥ (१) (भा० ४ । १२ । ८) 'सर्वात्मन्यच्युतेऽसर्वे तीव्रौघां भक्तिमुद्वहन् । ददर्शात्मनि भूतेषु तमेवावस्थितं विभुम् ॥' (भा० ४ । १२ । ११) (२) 'मन्यमान इदं विश्वं मायारचितमात्मनि । अविद्यारचितस्वप्नगन्धर्वनगरोपमम् ॥' (३) (भा० ४ । १२ । १५) इति ॥

एषामयमर्थः — ध्रुवेण श्रीमन्नारायणनिर्मितेऽस्त्रे—एतस्मिन् संधीयमाने सति, गुह्यकेन—धनेश्वरेण निर्मिताः = प्रकटिता मायाः = मेघविद्युतादिरूपाः मृषाभूताः क्षिप्रमेव विनेशुः = विनष्टाः बभूवुः, तत्र दृष्टान्तः = ज्ञानस्य = प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मज्ञानस्य सद्गुरुभगवदनुग्रहात् उदये सति यथा अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशात्मकाः पञ्चक्लेशाः नश्यन्ति, तद्वत् । एतेन - मायाऽस्ति भगवदिच्छारूपैवेति निरस्तम्, मृषाभूते निवर्त्येऽर्थे, अत्रैवान्यत्रापि मायाशब्दप्रयोगस्याऽसकृच्छ्रुतत्वात् ।

अपि च 'मायामेतां तरन्ति ते' (गी० ७ । १४) इति भगवत्प्रपत्तिमतां 'दिष्ट्येदृशी धीर्मयि ते कृता यया मायां मदीयां तरति स्म दुस्त्यजाम् ।' (भा० ४ । २० । ३२) इति भगवति धीसंयोजनं कृतवतां च, 'ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये ।' (भा० २।७।४२) इत्यनात्मनि तुच्छे देहादावहंममेति मिथ्याबुद्धिं च निराकुर्वतां मायातरण-

बन्धन एवं दुःख आदिमय—विपरीत अवस्थाओंकी प्राप्ति होती है । ध्रुव ! अब तुम जाओ, भगवान् तुम्हारा मंगल करे । तुम संसारपाशसे मुक्त होनेके लिये सब जीवों में समदृष्टि रख कर सर्वभूतात्मा-भगवान् हरिका भजन करो । वे संसारपाशका छेदन करनेवाले हैं, तथा संसारकी उत्पत्ति आदिके लिये अपनी त्रिगुणात्मिका मायाशक्तिसे युक्त होकर भी वास्तवमें उससे रहित हैं । उनके चरण-कमल ही सबके लिये भजन करने योग्य हैं ।

(१) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं — विदुरजी ! यक्षराज – कुबेरसे जब इस प्रकार वर मांगने के लिये आग्रह किया, तब महाभागवत महामती ध्रुवजीने, उनसे यही मांगा कि–मुझे श्रीहरिकी अखण्ड-स्मृति बनी रहे, जिससे मनुष्य सहज ही दुस्तर संसार सागरको पार कर जाता है ।

(२) सर्वोपाधिशून्य सर्वात्मा श्रीअच्युतमें प्रबल वेग युक्त भक्ति रखते हुए ध्रुवजी अपनेमें और समस्त-प्राणियोंमें सर्वव्यापक श्रीहरिको ही अभिन्नरूपसे देखने लगे ।

(३) इस सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चको अविद्यारचित, स्वप्न और गन्धर्वनगरके समान मायासे अपने आत्मामें ही कल्पित मानने लगे ।

सामर्थ्यमुक्तं गीतासु भागवते च । 'विधूय मायां वयुनोदयेन' (भा० ५ । ११ । १५) इति ज्ञानोदयेन मायाविधूननं, 'उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ।' (भा० ११ । ७ । ४६) इत्यत्र यदुच्छिष्टमानन्दपूर्णमद्वयं ब्रह्म, तद्भोजिनां मायाविजयसामर्थ्यञ्चोक्तं श्रीमद्भागवते च । न चेश्वरेच्छा तर्तव्या विधूननीया विजेतव्या च भवेदिति नैव मायाशब्देनेश्वरेच्छा विवक्षितेत्यवगम्यते। तस्मादभागवतमिदमिच्छावादिमतम् ।'मायेतीच्छा समुद्दिष्टा' इत्यादिवचनबलादेवमवसीयते इति चेत् ? साधु भोः कृतं भवद्भिः, यतः प्रज्ञानामसु मायां पठन्ति वैदिकनिघण्टुकाराः । शाम्बर्यां मिथ्याप्रतिभासरूपायां च प्रचुरः प्रयोगो दृश्यते लोके । भवद्भिस्तु विचित्रप्रज्ञैः केनाप्यनाघ्रातनामगन्धाः स्मृतय एव प्रमाणीकृताः । अतस्तासां कपोलकल्पिततया तद्वचनबलमपि तद्धीनमेवाभ्युपेयम् । तस्मात् नास्ति माया भगवदिच्छारूपेति विज्ञेयम् ।

भूतेषु = प्राणिषु, प्रत्यगात्मरूपेणावासो यस्य, भूतान्यावसन्त्यस्मिन्निति वा भूतावासः तं, सर्वभूताधिवासं, विश्वाध्यारोपाधिष्ठानमिति यावत् , भगवन्तं वासुदेवं हरिं = भक्तजनसंसारदुःखहर्तारं अत एव दुराराध्यमपि भवान् बाल्ये, सर्वभूतात्मभावेन = सर्वेषां भूतानां स्थावरजङ्गमानां, आत्मभावेन-अभेदभावेन आराध्य = ध्यात्वा-प्रत्यक्षीकृत्य, ततो यद्विष्णोस्तस्य परमं पदं तदाप = प्राप्तवानित्यर्थः । महत्सु-तितिक्षया तत्कृततिरस्कारादिसहनेन, निकृष्टेषु करुणया, समेषु मैत्र्या, अखिलजन्तुषु-सर्वप्राणिषु समत्वेन = स्वसमानसुखदुःखादिदर्शनेन, दण्डद्वेषादित्यागेन च भगवान् संप्रसीदति । भगवति प्रसन्ने किं भवति ? तत्राह – संप्रसन्न इति । प्राकृतैः गुणैः = रजःसत्त्वतमोभिः, विशेषेण मुक्तोऽत एव तत्कार्येण जीवेन = जीवभावेन कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरूपेण जीवशब्दवाच्यविशेषणीभूतेन लिंगदेहेनापि विनिर्मुक्ते, निर्वाणं = द्वैतसंसारातीतमद्वयं ब्रह्म ऋच्छति = प्राप्तमेव सत् अविद्याद्युपाधिनिरासेन प्राप्नोति ।

अज्ञानात् = ब्रह्मात्मस्वरूपस्याज्ञानात्, अतद्ध्यानाच्च = तत्-आत्मा, अतत् = तद्भिन्नानात्मदेहादि, तस्य मृषाभूतस्य ध्यानात् = आत्मत्वेन सत्यत्वेन चानुसंधानात्, अहं त्वं, इति धीः = स्वदेहेऽहमिति, परदेहे त्वमिति भेदबुद्धिः, अज्ञस्य मूढस्य पुरुषस्य । हि शब्दोऽवधारणे, तत्र दृष्टान्तमाह – स्वाप्नीवेति । यथा स्वप्नदृष्टस्यार्थस्य बाध्यत्वात्, मृषाभूतत्वाच्च, स्वाप्नी धीर्मृषा, तथाऽत्रापि देहादावनात्मनि, आत्मधीर्मिथ्यैव मन्तव्या । यया = भ्रान्तिरूपया धिया, देहगेहभार्यापुत्रादिस्नेहेन, तत्तत्कर्मभिश्च बन्धः, दुःखि-

त्वादिविपर्ययश्च भवति तथा चेयं मृषाधीः निखिलानर्थकारणं, त्वया सर्वथा त्याज्येत्युपदिशति ध्रुवं प्रति यक्षाधिराजः कुबेरः ।

कथमियं मृषाबुद्धिर्निवर्तेतेत्याकाङ्क्षायां भगवद्भजनादेवेत्याह - तदिति द्वाभ्यां-यस्मात् अहं त्वामिति भेदबुद्धिरनर्थकारणं, तत = तस्मात् तन्निवृत्त्यर्थं युद्धस्थलमिमं विहाय त्वं गृहं गच्छ, गत्वा च तत्र भगवन्तं भजस्वेति द्वयोरन्वयः । भगवन्तं भजनीयं विशिनष्टि-अधोक्षजं = अधः-कृतं = तिरस्कृतं, अक्षजं = इन्द्रियजन्यं ज्ञानं यस्मात् तं, लौकिकेन्द्रियजन्यज्ञानाविषयम् । एवं निराकारत्वमेव तस्य किं न स्यादित्याशंकां वारयन्नाह - भजनीयेति । भजनीयौ = अवश्यं भजन-सेवनयोग्यावंघ्री यस्य तम्, भजनीयांघ्रित्वे हेतुमाह- भवच्छिदम् = द्वैतसंसारनिवर्तकं - ब्रह्मनिर्वाणमुक्तिप्रदमित्यर्थः । अतोऽभवाय = द्वैतसंसारतत्कारणाविद्यानिवृत्तये तं भजस्वेत्यन्वयः । अधोऽक्षजत्वे हेतुमाह - विरहितमिति । गुणमय्याऽऽत्मशक्त्या मायया प्रकृत्या = द्वैतसंसारपरिणाम्युपादानकारणभूतया विरहितं - नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं निर्विशेषं चिन्मात्रमद्वयानन्दपूर्णं, भजनलब्धविज्ञानेनातद्व्यावृत्त्या विज्ञेयम् । केन भावेन तस्येन्द्रियातीतस्य निर्विशेषस्य भजनं स्यादित्यपेक्षायामाह - यावत्तत्कृपया तस्य तात्त्विकस्वरूपस्य साक्षात्कारो न स्यात्, तावत्, 'यावन्न जायेत पराऽवरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः । तावत्स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियाऽवसाने प्रयतः स्मरेत ॥ (१) (भा० २।२।१४) इति न्यायेन तस्य स्थूलमिन्द्रियगम्यं सोपाधिकमेव स्वरूपं, सर्वभूतात्मभावेन भजस्वेत्याह - सर्वभूतात्मको विग्रहो यस्य तम् । सर्वभूतात्मविग्रहे हेतुमाह - मायया तया युक्त विशिष्टम् । 'भक्ति ज्ञानाय कल्पते' इति न्यायेन सविशेषस्य भजनलक्षणया भक्त्या निर्विशेषस्य तस्य ज्ञानं संपद्यते इति भावः । हे ध्रुव ! अहं एतत्कथनेन तव हितमेवोपदिशामि, अनेन ते = तव भद्रं = कल्याणं भविष्यति । मैत्रेयो मुनीन् प्रत्युवाच — 'एवं वृणीहि कामं नृप ! यन्मनोगतं मत्तस्त्वम्' (भा० ४।१२।८) इत्यादिना स ध्रुवो राजराजेन कुबेरेण वराय = वरं याचितुं यदा चोदितः = प्रेरितः, तदा स ध्रुवो हरौ = श्रीहरिशुद्धस्वरूपविषयिकां, अचलां = विघ्नैर्दोषैश्च चालयितुमशक्यां स्मृतिं = अनन्यभक्तिपूर्णां - अविस्मृतिं धनदाद् वव्रे = वृतवान्-याचितवान् । यया स्मृत्या

(१) हे विश्वेश्वर भगवान्, दृश्य नहीं द्रष्टा हैं, सगुण, निर्गुण सब कुछ इन्हीं का स्वरूप है, जबतक इनमें ज्ञानमय-अनन्य-भक्तियोग न हो जाय, तबतक साधकको नित्यनैमित्तिक कर्मोंके बाद एकाग्रता से भगवान्‌के उपर्युक्त स्थूल-मनोहर-स्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिये ।

जनो दुरत्ययं = उपायान्तरेणात्येतुमशक्यं तमः = आत्मावरकमज्ञानं, अयत्नेन = अनायासेनैव तरति-निवर्तयति-विनाशयति । एवं धनादिकमुपेक्ष्य तस्य हरिध्रुवानुस्मृतिवरणे हेतुमाह – महामतिरिति । यतो महती-उदारा धनाद्यपेक्षात्यागसमर्था मति र्यस्य सः । महामतित्वे हेतुमाह – महाभागवत इति । नहि भगवद्भक्तं ज्ञानिनं विनाऽन्यो विषयासक्तो धनाद्यपेक्षात्यागसमर्थ-बुद्धिमान् भवितुमर्हतीति भावः ।

एवं सोऽपि ध्रुवः स्वपुरं प्रत्यपद्यत, 'अथायजत यज्ञेशं क्रतुभिर्भूरि-दक्षिणैः ।' (भा० ४ । १२ । ११) एवं यज्ञादिभिः शुभकर्मभिः शुद्धान्तः-करणस्य सर्वत्र भगवदात्मदर्शनं संजातमित्याह – सर्वस्यात्मनि-अभिन्नस्वरूपे, असर्वे = सर्वोपाधिविवर्जिते, अच्युते = स्वरूपतो धर्मतश्च च्युतिरहिते, तीव्रौघां = अखण्डितप्रवाहां – कालव्यवधानरहितां भक्तिं – ज्ञानमयीं, उद्वहन्-आत्मनि स्वस्मिन्, भूतेषु-सर्वभूतेषु च तमेवाभेदस्वरूपेणावस्थितं विभुं-व्यापकं भगवन्तं ददर्शेत्यन्वयः ।

जगन्मिथ्यात्वभावनया तस्य ध्रुवस्य ज्ञानभक्तिदार्ढ्यप्रयोजकं संजातं वैराग्यमाह – मन्यमान इति । विरक्तः सन् राज्यैश्वर्यं परित्यज्य, स ध्रुवः, विशालां = बद्रिनाथपुरीं प्रययौ. इति । 'तस्यां विशुद्धकरणः शिववार्विगाह्य, बद्ध्वाऽऽसनं जितमरुन्मनसाऽऽहृताक्षः । स्थूले दधार भगवत्प्रतिरूप एतद् ध्यायंस्तदव्यवहितो व्यसृजत्समाधौ । भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्रमा-नन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः । विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो नात्मान-मस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ॥ (१) (भा० ४ । १२ । १७–१८) इति । अय-मर्थः – तत्र = बदरिकाश्रमसंज्ञायां विशालायां भगवत्पुर्यां तत्कृतमष्टांगयो-गमाह – तस्यां अलकनन्दायाः शिवं-कल्याणमयं वाः = उदकं विगाह्य-

---

(१) वहां हिमालयके बद्रिका-आश्रममें, उन्होंने पवित्र जलसे स्नान कर इन्द्रियोंको विशुद्ध (शान्त) किया । फिर स्थिर आसनसे बैठ कर प्राणायाम द्वारा वायुको वशमें किया । तदनन्तर मनके द्वारा इन्द्रियोंको बाह्यविषयों से हटाकर मनको भगवान्के स्थूल - विराट्स्वरूपमें स्थिर कर दिया । उसी विराट् स्वरूपका चिन्तन करते - करते वे अन्तमें ध्याता और ध्येयके भेदशून्य निर्विकल्प समाधिमें लीन हो गये और उस अवस्थामें विराट्रूपका भी परि-त्याग कर दिया । इसप्रकार भगवान् श्रीहरिके प्रति निरन्तर ज्ञानमय भक्तिभाव का प्रवाह चलते रहनेसे उनके नेत्रोंमें बार-बार आनन्दाश्रुओं की बाढ़ आ जाती थी, इससे उनका हृदय द्रवीभूत हो गया और शरीरमें रोमाञ्च हो आया । फिर देहा-भिमान गलित हो जाने से उन्हें ' मैं ध्रुव हूं ' इसकी भी स्मृति न रही ।

प्रविश्य, इति स्नानादिनियमा उक्ताः, विशुद्धकरणः, इति शमादयो यमाः, आसनादीनि स्फुटमेवोक्तानि, जितो मरुत् = प्राणो येन, इति प्राणायाम उक्तः, आहृतानि-संयमितानि, अक्षाणि येन, इति प्रत्याहारः, भगवतः-अद्वयानन्दपूर्णस्य निर्विशेषस्य प्रतिरूपे = प्रतिनिधिभूते, प्रतिमासदृशे 'शिलावत्प्रतिमैषा हि विष्णोर्लोकचतुर्दशी।' इति शिष्टस्मरणात्। विराड्रूपे एतन्मनो दधार =धारणामकरोत् ध्यायन्, अव्यवहितः=ध्यातृध्यानध्येयरूपत्रिपुटीभेदशून्यः सन् समाधौ = निर्विकल्पेऽसंप्रज्ञाते स्थितः सन् तत्स्थूलरूपं व्यसृजत्, अर्थात् तत्स्थूलरूपाधिष्ठानं निर्विशेषं सच्चित्सुखमात्रमद्वयं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म साक्षात्कृतवानित्यर्थः। तात्त्विकस्वरूपसाक्षात्कारमन्तराऽतात्त्विकस्थूलरूपपरित्यागासंभवात्। विसर्जनरूपत्यागेन लिङ्गेन तस्यातात्त्विकत्वमर्थतोऽवगम्यते।

एवमजस्रं = नित्यं, हरौ=निर्विशेषेऽद्वयानन्दपूर्णे ब्रह्मणि 'रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्मज्योति निर्गुणं निर्विकारम्। सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः॥' (भा० १०।३।२४) इति देवकीजननीस्मरणात्। भक्तिं = अनन्यां ज्ञानमयीं प्रकर्षेण वहन्, असौ ध्रुवोऽहमित्यात्मानं परिच्छिन्नतया भगवत्स्वरूपपृथक्तया न सस्मार = विस्मृतवान्। यतो मुक्तलिङ्गः = त्यक्तस्थूलसूक्ष्मादिशरीराभिमानः, तत्र हेतवः आनन्दबाष्पस्य=अखण्डानन्दानुभवेन जातस्य बाष्पस्य=अश्रुरूपस्य कलया-बिन्दुप्रवाहेण, मुहुरर्द्यमानः = पुनः पुनरभिभूयमानः, विक्लिद्यमानं-द्रवद्धृदयं यस्य, पुलकैः = रोमाञ्चैः-व्याप्तांगः सन्, परिच्छिन्नमात्मानं न सस्मार, किन्तु अपरिच्छिन्नमद्वयं ब्रह्मात्मानमभेदेन साक्षात्कृतवानिति। अत्रापि-अपरिच्छिन्नाऽऽनन्दपूर्णब्रह्मात्मसाक्षात्कारं विना परिच्छिन्नात्मविस्मृत्यसंभवात्। ज्ञायमानानन्दस्यैव परमपुरुषार्थतयाऽभ्युपगमात्।

अयं भावः—केवलाद्वैतवेदान्तसिद्धान्ते ब्रह्मनिर्वाणकैवल्याख्या मुक्तिर्द्विधा, क्रममुक्तिः सद्योमुक्तिश्च; तत्र ध्रुवस्य समाधौ त्रिपुटीभेदवर्जिताद्वयनिर्विशेषानन्दपूर्णब्रह्मसाक्षात्कारे सत्यपि प्राचीनभावनावशात्—राज्यलाभ इव क्रमशो मुक्तिर्लब्धा भवति, अत एव 'भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।' इतिन्यायेन 'ह्येष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम्।' (भा०४।१२।२६) इत्यनेन बोधितं प्रकाशबहुलं दिव्यं सौन्दर्यलावण्यपूर्णं शरीरं धृत्वा विमानद्वारा भगवतो विष्णोर्वैकुण्ठलोकं नितान्तस्पृहणीयं जगाम। तत्र च स्वेष्टदेवेन नारायणेन भगवता सहाभेदभावमापन्नोऽपि काल्पनिकं भेदमङ्गीकृत्य तेन सह सायुज्यं सारूप्यञ्च गौणं मोक्षमवाप्तवान्। पश्चात् महाप्रलये—'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परमं पदम्॥' इति

श्रौतन्यायेन विदेहकैवल्यस्य मुख्यमोक्षस्य प्राप्तस्यापि प्राप्ति र्भविष्यति । ब्रह्मणा =वैकुण्ठलोकाधिष्ठात्रा श्रीनारायणेन सह, ते सर्वे ध्रुवाद्यो ज्ञानिनो भक्ताः प्रतिसंचरे = महाप्रलये, परस्य = नारायणस्यान्ते — तदधिकारक्षमाप्तौ. कृतात्मानः = कृतः—संपादितो ब्रह्मरूपेणात्मसाक्षात्कारो यैस्ते । अत एव- 'शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरञ्जनाः । यान्त्यञ्जसाऽच्युतपदमच्युतप्रिय-बान्धवाः ॥' (भा० ४ । १२ । ३७) इत्यादिना ते कृतात्मानः श्रीमद्भागवते चतुर्थेऽपि संस्तुताः । अत एव-'सुदुर्जयं विष्णुपदं जितं त्वया ।' (भा० ४ । १२ । २४) 'आतिष्ठ जगतां वन्द्यं तद्विष्णोः परमं पदम् ।' (भा० ४ । १२ । २६) इत्यादिना सुनन्दादयः पार्षदाः— 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥' (सामवेदसंहिता, १६७२) इति श्रुतिप्रसिद्धं तत्त्वदर्शि-विद्वदनुभवगम्यं विष्णोः परमं पदं तदेवाभिवर्णयन्ति । यतः—श्रुतिस्मृतिपुराण-वाक्यानामेकार्थप्रतिपादनेन समन्वयाभ्युपगमात् ।

इदमत्र प्रत्येतव्यम् — 'कथा इमास्ते कथिता महीयसां, विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् । विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो ! वचो विभूती र्न तु पारमार्थ्यम् ॥' (भा० १२ । ३ । १४) इति न्यायेन ध्रुवस्येयं कथेदृशमाध्यात्मिकं रहस्यं प्रत्याययति । तथाहि—ध्रुवस्य पिता खलु राजा उत्तानपादः । उत्तानौ= ऊर्ध्वीभूतौ पादौ अर्थात् अवनतशिरो यस्य सः, इति व्युत्पत्त्या सर्वोऽपि मानवो गर्भावस्थायामुत्तानपादतयोत्तानपादसंज्ञया विज्ञायते । तस्य द्वे भार्ये, एका प्रेयसी, इतरा च सर्वथापेक्षिता । तदुक्तम् — 'जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः । सुरुचिः प्रेयसी पत्यु र्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ॥' (भा० ४ । ८ । ८) इति । उत्तानपादभूतस्य सर्वस्यापि मनुजस्य — 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।' (क० उ० २ । २) इति कठश्रुत्यनुरोधेन— प्रेयोभावनैव सुरुचिः प्रेयसी सहचारिणी परमया प्रीत्या स्वहृदये स्थापिता पत्नी, श्रेयोभावनारूपा सुनीति र्न प्रेयसी, न च सहचारिण्यपितु दूरतः परित्यक्ता सर्वथोपेक्षिता च । ऐहलौकिकपारलौकिकशब्दादिविषयोपभोगतत्प्रयोजकैश्वर्यवैभवतृष्णारूपाऽत्र सुरुचि र्विज्ञेया । सा हि प्रेयोभावना स्वभावतः सर्वेषां मानवानामभिरततें प्रेयसं, न श्रेयोभावनारूपा सुनीतिः । परन्तु सुरुचिरूपप्रेयोभावनातो न ध्रुवस्य=शाश्वतस्य पराशान्त्यच्युतसुखमयस्य सकलमानवाभिलषितस्य तत्त्वज्ञानस्य कदापि प्रादुर्भावो भवति, अपि तु श्रेयोभावनारूपसुनीतेः सकाशादेव तादृशो ध्रुवः प्रादुर्भवति । अनन्यभक्तिमयः तत्त्वज्ञानरूपो ध्रुवः संसारासक्तस्य मूढस्य मानवस्योत्तानपादस्याङ्के हृदयरूपे आरोढुमभिलषन्नपि तं राजोत्तानपादो न प्रीत्याऽङ्गीकरोति, प्रत्युत स तस्य हृदये स्थिततया प्रेयोभावना-

कृपया सुरुच्याऽनादृतः तिरस्कृतो भवति । तादृशी सुरुचि हि संसारस्योत्तमौ योगक्षेमावेवाभिवृणोति । अयमेव तस्याः प्रादुर्भूत उत्तमनामा पुत्रः । न त्वनन्यभक्तिमयं तत्त्वज्ञानरूपं ध्रुवमभिवृणोति । यमनियमविवेकवैराग्यशमदमत्यागब्रह्मचर्यसत्यादिरूपा श्रेयोभावनैव सुनीतिः । तस्याः सकाशादेव तादृशो ध्रुवः प्रादुर्भवति । परन्तु तादृशो ध्रुवः प्रकृष्टवैराग्यमन्तरेण, संसारभोगत्यागमन्तरेण च न भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारं कर्तुं प्रभवति । अत एव तस्य राज्यत्यागवनगमनतपश्चर्याऽऽराधनादि प्रकृष्टं वैराग्यं संसारभोगसंकल्पत्यागञ्च सूचयति । 'ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते, ध्यानात्कर्मफलत्यागः, त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥' (गी० १२ । १२) इति भगवद्गीतोक्तन्यायेन ज्ञानध्यानापेक्षया कर्मफलरूपस्य संसारस्य त्याग एव तत्साफल्यप्रयोजकं परमं प्रशस्तं साधनमधिगम्यते । तेन विना ज्ञानध्यानौ निष्क्रियावेवावतिष्ठेते । न स्वफलं भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारं जनयितुं समर्थौ स्तः । यदा चानन्यभक्तिमयः तत्त्वज्ञानरूपो ध्रुवः संसारसंकल्पान् प्रकृष्टवैराग्यभावनया परित्यजति । तदा 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः ।' (कै० १ । २) इति न्यायेन त्यागसंयुक्तः स भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारं कर्तुं प्रभवति, यदा चोत्तानपादो विवेकविचारबलात् सुरुचिमुपेक्ष्य सुनीतिं प्रीत्याऽङ्गीकरोति, तदा तस्य ध्रुवद्वारा ध्रुवशान्तिमयं शाश्वतसुखपूर्णकल्याणमवश्यं संपद्यते ।

अत एव भगवत्प्रियस्य ध्रुवस्य चरितं मैत्रेयो महर्षिस्तन्महत्त्ववर्णनेन प्रशंसति— 'ध्रुवस्योद्दामयशसश्चरितं सम्मतं सताम् । धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ॥ स्वर्ग्यं ध्रौव्यं सौमनस्यं प्रशस्यमघमर्षणम् ॥ श्रुत्वैतच्छ्रद्धयाऽभीक्ष्णमच्युतप्रियचेष्टितम् । भवेद्भक्तिर्भगवति यया स्यात् क्लेशसंक्षयः ॥' (भा० ४ । १२ । ४४-४५-४६) इति (१) । धन्यं = धनादेरपि निमित्तम् । ध्रौव्यं = ध्रुवस्थानविष्णुपरमपदप्रापकम् । प्रशस्यं = प्रशंसार्हं, स्तुत्यम् । अघमर्षणम् = पापनाशकम् । तच्छ्रवणस्य फलमाह—भक्तिः = ज्ञानमयी, भगवति भवेत् , यया अविद्यादिपञ्चक्लेशसंक्षयः स्यात् , ज्ञानवर्जितया तया नाविद्यादिक्लेशसंक्षयः स्यादतोऽर्थतो भक्तेः ज्ञानमयीत्वमापतति ।

(१) साधुजन, उदारकीर्ति ध्रुवजीके इस चरित्रकी बड़ी प्रशंसा करते हैं, यह धन, यश, मंगल और आयुकी वृद्धि करनेवाला, परम पवित्र और अत्यन्त मङ्गलमय है । इससे स्वर्ग और अविनाशी पद प्राप्त हो सकता है । यह देवत्वकी प्राप्ति करानेवाला बड़ा ही प्रशंसनीय और समस्त पापोंका नाश करनेवाला है । भगवद्भक्त ध्रुवके इस पवित्र-चरित्रको जो श्रद्धापूर्वक बार-बार सुनते हैं, उन्हें भगवान्की भक्ति प्राप्त होती है, जिससे उनके सभी दुःखों का नाश हो जाता है ।

अपि च ध्रुवचरितालोचनद्वाराऽर्थतो गम्यमानमेतादृशमाध्यात्मिकरहस्यज्ञानं यो रहस्यवेत्ता कृपालु विंद्वान् अज्ञाततात्त्विकरहस्याय मुमुक्षवे ददाति, तस्योपरि भगवान्, भगवदाश्रिता देवाः, सर्वेऽपि लोकाश्चानुग्रहं कुर्वन्ति, तं ज्ञानदातारं सद्गुरुं – 'दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरो ज्ञानदातुः, स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम्।' (१) इत्यादिना निरुपमेयतया प्रशंसन्ति। अर्थात् ज्ञानलब्धॄन् मुमुक्षूनपि ते सर्वेऽनुगृह्णते-इत्याह– 'ज्ञानमज्ञाततत्त्वाय यो दद्यात्सत्पथेऽमृतम् । कृपालो र्दीननाथस्य देवास्तस्यानुगृह्णते ॥ (२) (भा० ४ । १२ । ५१) इति । अज्ञाततत्त्वाय = अज्ञाताध्यात्मिकरहस्याय, मूढाय दीनाय, मुमुक्षवे अमृतं = मिथ्यासंसारतत्प्रयोजकाज्ञाननिवर्तकं, अमृतवत्परमानन्दप्रयोजकं-पौनःपुन्येनास्वादनीयं । दीननाथस्य = दीनोद्धारकस्य दीनानुग्रहं कुर्वाणस्य कृपालोः तस्य महात्मनः, अनुगृह्णते = न विघ्नं कुर्वन्ति देवाः, प्रत्युताऽनुग्रहमेव कुर्वन्तीत्यर्थः । यद्यपि — 'पशुरेव स देवानाम्' (बृ० १ । ४ । १०) 'तदेतन्न प्रियं देवानां यदेतन्मनुष्या विद्युः ।' (बृ० १ । ४ । १०) इत्यादिश्रुतिभिः मनुष्यादे र्देवाराधकत्वेन, तत्पशुतुल्यत्वात् - मनुष्येभ्यो दीयमानं पशुत्वनिवारकं ज्ञानं तल्लभ्या मुक्तिश्च देवानां न रोचते इत्यवगम्यते, तथापि - सत्पथे = भगवद्भक्तिमार्गेऽवस्थिताय भगवदाराधकाय दीयमानं ज्ञानं प्रति तल्लभ्यां मुक्तिं प्रति च भगवदनुग्रहसामर्थ्यात् भगवत्स्वरूपकृपालुसद्गुरुकरुणासामर्थ्याच्च विघ्नकर्तारो देवा अपि विघ्नं न कुर्वन्ति, इत्यर्थतोऽवगम्यते । तस्य = भागवतरहस्यज्ञानदातु विंदुषो न केवलं भगवानेवानुगृह्णाति, किन्तु तत्तदिन्द्रियाभिमानिनो देवाः — 'दिग्वातार्कप्रचेताश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ।' इत्याद्या अप्यनुगृह्णन्तीत्यर्थः । इत्येवं तच्चरितालोचनावगम्याध्यात्मिकरहस्यज्ञानस्यामृतत्वविशेषणेन तद्दातुः सद्गुरोश्च कृपालुत्वादिविशेषणेन च महत्त्वमनन्यसामान्यं वर्णयति मैत्रेयो महर्षिः, इति सर्वमनाविलम् ।

(१) त्रिभुवनके मध्यमें ज्ञानदाता सद्गुरुके विषयमें कोई दृष्टान्त देखा नहीं गया । उसके विषयमें पारस-मणिके दृष्टान्तकी कल्पना की जाय, तो भी यह दृष्टान्त योग्य नहीं है । क्योंकि–वह लोहेको सुवर्ण बनाती है, परन्तु अपनी जैसी पारस नहीं बनाती । परन्तु सद्गुरु अपने शिष्योंको अपने समान ब्रह्मस्वरूप बना देते हैं ।

(२) साक्षात् भगवत्-विषयक-अमृतमय-अद्वय-ज्ञान है । जो लोग भगवत्तत्त्वके मर्मसे अनभिज्ञ हैं, उन्हें जो कोई इसे प्रदान करता है । उस दीनवत्सल कृपालु पुरुष पर देवता अनुग्रह करते हैं ।

—❀—

(मायाकल्पिततया नानात्वं हेयं, विद्याज्ञापिततया भेदभ्रान्तिरहितमेकत्वमेवोपादेयमहर्निशं परिचिन्तनीयञ्च) (१)

शुद्धमेकमद्वयं परं ब्रह्मैव संसारविभ्रमाधिष्ठानम्, न हि निरधिष्ठानो विभ्रमोऽस्ति, न वा निरवधिर्बाधः, सर्वस्यापि मायया कल्पितस्य नानात्वविभ्रमस्य साधिष्ठानत्वात् सर्वस्यापि बाधस्य च सावधिकत्वात् यत्किल निखिलविभ्रमाधिष्ठानं सर्वबाधावधिभूतञ्च सिद्ध्यति तदेव परमार्थसत्यम्।

एकस्य निर्विशेषस्य परमात्मनो मायया नानारूपतया सविशेषतया च भ्रान्तप्रतीतिः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (ऋ० ६ । ४७ । १८) इति श्रुतिप्रसिद्धैव श्रीमद्भागवतादिषु पुराणेषु स्मर्यते। यदाहुः – श्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादाः – 'निरुपमनित्यचिदंशकेऽप्यखण्डे, मयि चिति सर्वविकल्पनादिशून्ये । घटयति जगदीशजीवभेदं, अघटितघटनापटीयसी माया ॥ (२) इति । 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्, मायिनन्तु महेश्वरम् ।' (श्वे० उ० ४ । १०) इति श्रुतेः — सच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मात्मिका निर्विशेषा संविदेव विशुद्धसत्त्वप्रधानायां स्वविषयायां स्वाश्रयायामनाद्यनिर्वाच्यायां स्वानुभवगम्यायां मायायां प्रतिबिम्बिता तदुपहिता तदवच्छिन्ना वा स्वतन्त्रः सर्वज्ञो जगन्निर्माता जगदीश्वर इत्यभिधीयते । यदाह श्रीमद्भागवते चतुर्थेपि — 'य एतदादावसृजच्चराचरं स्वमायया ऽऽत्माश्रयया ऽवितर्क्यया । (भा० ४।१७।३१) इति । तस्यामेव पूर्वोक्तायां मलिनसत्त्वाधिक्यवत्यामविद्येति नाम्ना व्यवह्रियमाणायां प्रतिबिम्बिता तदुपहिता तदवच्छिन्ना वा सा संविदेव मायाकल्पितान्तःकरणाद्यनन्तोपाधिभेदात् – किञ्चिज्ज्ञाः, परतन्त्राः प्रायो दुःखमनुभवितारो विविधा जीवा इत्युच्यन्ते । विशुद्धसत्त्वप्रधाना भगवतो माया भगवदधीना सत्येव जगन्निर्माणपालनाद्यर्थमत्यर्थं शोभते, मलिनसत्त्वाधिक्यवती तु अविद्यारूपा माया सर्वान् जीवान् सारमेयवानरादिवत् स्वैरं नर्तयति । तस्मात्

(२४)

(१) (मायासे कल्पित होनेके कारण नानात्व यानी भेदभाव हेय है । विद्यासे ज्ञापित होनेके कारण भेदभ्रान्ति रहित एकत्व ही अर्थात् अभेदभाव ही उपादेय है । अहर्निश श्रद्धा एवं एकाग्रतासे चिन्तनीय है)

(२) उपमा-रहित नित्य चिन्मात्र-अखण्ड सर्वविकल्पनादिशून्य मुझ चेतन ब्रह्ममें जगत् ईश्वर एवं जीवोंके भेदको – जो अघटित है – उसे घटित हुआ दिखाती है वह अघटित-घटना-पटीयसी माया है ।

स्वगतसजातीयविजातीयभेदत्रयरहिताया एव प्रागुक्तायाः संविदो विशुद्धेऽद्वये स्वरूपे ईशजीवजगदिति विभेदापादिका पूर्वोक्ता द्विविधा मायैव । यदाहुः — सर्वज्ञात्ममुनिपादाः — संक्षेपशारीरके — स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्व — जीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा । स्वाभाविकस्वमहिमस्थितिरस्तमोहा, प्रत्यक्-चितिर्विजयते भुवनैकयोनिः ॥ (१) इति । (१ । २) ।

अयमर्थः — स्वस्य स्वस्मिन् यदज्ञानं — स्वाश्रयविषयकमनादिभावरूपमनिर्वचनीयमावरणविक्षेपशक्तिमत् तेनावरणशक्त्याऽऽत्मस्वरूपभानं तिरोधाय विक्षेपशक्त्या कल्पितानि = अध्यस्तानि यानि जगत् — परमेश्वरत्व-जीवत्वानि तैरनुयोगित्वेन प्रतियोगित्वेन च तन्निमित्तो जीवजगदादिपरस्पर-पञ्चविधो भेदस्तेन कलुषीकृतः = अकलुषोऽपि कलुषः कृतोऽध्यारोपितदोषेणा-सत्कल्पनामापादितो भूमा = बाहुल्यं यस्य सः, तादृक्कलुषीकृतभूमा भावः = सद्भावो यस्याः सा तथा । चिते र्भावो न कलुषीकृतः, सर्वभासकत्वेन सर्वदा प्रकाशमानत्वात् किन्तु तत्तद्भेदकल्पनया तदपरिच्छिन्नस्वरूपो भूमैव कलुषी-कृतः, पूर्णत्वेनाप्रकाशमानत्वात् । तदुक्तं – वार्तिके-सूरेश्वराचार्यैः 'तस्यैकमपि चैतन्यं बहुधा प्रविभज्यते । अङ्गाराङ्कितमुत्पाते वारिराशेरिवोदकम् ॥'(२) इति । कलुषीकरणेन किं भूमा नाशितो ? नेत्याह – स्वाभाविकेति । भूम्नः कलुषी-करणं हि परिच्छिन्नत्वारोपमात्रं, न तु स्वरूपहानिः, आरोपेण वस्तुसत्ताऽनपा-यात् । 'यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते ।' (शा० भा०) इति न्यायात् । स्वाभाविकी = नित्यसिद्धा, अध्याससहस्रे-णाप्यपनेतुमशक्या, स्वमहिमस्थितिः = स्वरूपादप्रच्युति र्यस्याः सा तथा । तथापि सर्वाध्यासकारणस्याज्ञानस्यानारोपितत्वात्तेनैव द्वितीयेनाद्वितीयस्वरूपो भूमा कलुषः कृत इत्यत आह – अस्तमोहेति । अस्तः = अध्यस्तोऽपरमार्थ-सन्मोहोऽज्ञानाख्यो यस्यां सा तथा । अज्ञानाध्यासस्याप्यज्ञानमूलत्वादनादि-त्वाच्च नात्माश्रयादिदोषप्रसङ्गः । तदुक्तं वार्तिके — 'अविद्याऽस्त्यविद्यायामेवाऽऽसित्वा प्रकल्प्यते । ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन

(१) अपने अज्ञानसे कल्पित जगत्, परमेश्वरत्व और जीवत्वके द्वारा जिसका भूमभाव – ब्रह्मभाव कलुषित हो गया है, जिसकी वस्तुतः अपनी स्वाभाविक महिमामें सदा स्थिति है, जिसका मोह नष्ट हो गया है, वह भुवनत्रयकी एकमात्र कारण प्रत्यक् चिति – अहंकारोपलक्षित चेतन सर्वोत्कृष्टरूपमें बिराजमान है ।

(२) जैसे उत्पातके समय समुद्रका जल, अङ्गाराङ्कित हुआ भिन्न-भिन्न रूप से दीखता है, वैसे ही वह एक ही ब्रह्म चैतन्यस्वरूप उपाधियोंके द्वारा बहुधा प्रविभक्त हो जाता है ।

युज्यते ॥ (१) इति ।

ननु – अज्ञानाध्यासस्य किमधिष्ठानं ? न जीवः ईश्वरो वा, अनयोरध्यासपरिनिष्पन्नत्वेनान्योऽन्याश्रयात् । नापरः, तदनिरूपणादित्याशंक्याह – प्रत्यक्चितिरिति । प्रतीची = जीवेश्वरविभागरहिता चितिः = स्वप्रकाशज्ञप्तिः, सा भुवनस्य = अज्ञानसहितस्याध्यस्ताकाशादिप्रपञ्चस्य विवर्त्तस्य योनिः = अज्ञानद्वारोपादानम् । एकैव योनि र्न द्वितीयसापेक्षा, सत्यत्वेनाज्ञातत्वेन च तस्या एवाधिष्ठानत्वोपपत्तेः । तथा च वक्ष्यति – 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेवकेवला ।' (सं०शा० १।३१६) इति । वार्तिकञ्च 'अन्त्यात् कार्यात्तदेव स्यात्, यदाद्यं प्रति कारणम् ।' इति । सा च विजयते = परमार्थसत्यस्वप्रकाशपरमानन्दरूपत्वेन सर्वोत्कृष्टा भवति । अतस्तां प्रत्यस्मि प्रणत इति ध्वन्यते । भुवनैकयोनिरिति तटस्थलक्षणं प्रत्यक्चितिरिति स्वरूपलक्षणमिति विवेकः । एतेन मिथ्याप्रपञ्चोपादानत्वेन तत्पदवाच्यनिरूपणात् 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १ । १ । २) इति व्याख्यातम् । अत एव 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृ० १ । ४ । २) 'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात् । (भा० ११ । २ । ३७) इति श्रद्धेयाभ्यां श्रुतिभागवतवचनाभ्यामवगम्यते – आत्मस्वरूपभिन्नद्वैतभावनैव निखिलस्य दुःखस्य बीजम्, अर्थात् प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मानुभूतिरेव परमस्य सुखस्य हेतुरिति । 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।' (ईशा०७) भूमैव सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैवामृतम्, यदल्पं तन्मर्त्यम् ।' (छां० ७ । २३ । १) 'ज्ञानञ्चैकात्म्यदर्शनम् ।' (भा० ११ । १९ । २७) 'विद्याऽऽत्मनि भिदा बाधः ।' (भा० ११ । १९ । ४०) 'तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ।' (भा० ३ । २९ । २६) इति श्रुतिभागवतवचनेभ्योऽप्ययमेव सिद्धान्तः पर्यवस्यति ।

यथा लोके प्रतिकूलवेदनीयत्वादस्वाभाविकमारोपितं दुःखमयमस्वास्थ्यमेव, अनुकूलवेदनीयत्वात् स्वाभाविकं वास्तविकं सुखशान्तिमयञ्च स्वास्थ्यमेवावगम्यते । तथैव परमार्थस्वरूपानुभूतिरूपं परमसुखशान्तिहेतुभूतं परं वास्तविकं स्वास्थ्यमनुकूलवेदनीयं स्थूलदृष्टे र्बहिर्मुखस्याज्ञजनसार्थस्य शान्तिसुखाभिलाषुकस्यापि चित्ते सहसा नाविर्भवति, आविर्भवति च पौनःपुन्येन तादृशमस्वास्थ्यं विभ्रमात्मकमित्यत्र भगवतोऽवितर्क्या मायैव हेतुरित ज्ञायते । यदा च विवेकवैराग्याद्यधिकारवतो भगवदाराधनाजन्यतत्कृपातः श्रेयस्करोऽभिन्नाधिष्ठानाद्वयब्रह्मात्मानुभवः स्वस्वरूपावस्थानात्मकः संपद्यते,

(१) अविद्या है ऐसी कल्पना अविद्यामें ही रह कर की जा सकती है । ब्रह्म-दृष्टिसे तो यह अविद्या किसी भी प्रकार सङ्गत नहीं हो सकती ।

तद्वा निखिलानर्थव्रातभूताः क्रियाकारकद्रव्यगुणादिरूपा द्वैतविभ्रमोर्मयः प्रशाम्यन्ति, आविर्भवति च स्वानन्दसाम्राज्यम्, इति निखिललोकमाता महनीया भगवती धरा भगवन्तं विश्वात्मभूतं स्तुवन्ती नमस्कुर्वता चोवाच—

'नमः परस्मै पुरुषाय मायया विन्यस्तनानातनवे गुणात्मने ।
नमः स्वरूपानुभवेन निर्धुतद्रव्यक्रियाकारकविभ्रमोर्मये ॥ (१)
(भा० ४ । १७ । २९)

प्रथमं भगवती पृथ्वी भगवन्तं सविशेषरूपतया सोपाधिकतया च स्तौति-मायया = सत्त्वप्रधानया तया विन्यस्ताः = रचिताः, नाना = रामकृष्णशिवशक्त्यादिरूपानन्तेश्वरावतारविग्रहाः येन तस्मै, गुणात्मने = सत्त्वप्रधानगुणमयत्वेन प्रतीयमानाय, तस्मै परस्मै पुरुषाय = पुरुषोत्तमाय नमः । यद्वा मायया = मलिनसत्त्वाधिक्यवत्या तया त्रिगुणात्मिकया रचिता नाना = असंख्याता जीवभूता विविधास्तनवः-शरीराणि येन तस्मै, अत एव गुणात्मने = मलिनसत्त्वाधिक्यप्रबलरजस्तमोरूपगुणमयत्वेन प्रतीयमानाय तस्मै सोपाधिकाय भगवते नमः, यदाह – योगेश्वर एकादशेऽपि — 'हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ।' (भा० ११ । २ । ४१) तत्रैव योगेश्वराणामनन्यभगवद्भावमयीं प्रशस्तां नितान्तस्पृहणीयां दृष्टिमप्याह – 'त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम् । आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तोऽव्यचरन्महीम् ॥' (भा० ११ । २ । २२) इति ।

संप्रति – निर्विशेषनिरुपाधिकनिर्गुणविशुद्धाद्वयस्वरूपतया तमेवाभिष्टवीति – वस्तुतः स्वरूपानुभवेन = स्वरूपस्य - सच्चिदानन्दात्मकाद्वयपूर्णब्रह्मात्मस्वरूपस्य, अनुभवेन = साक्षादापरोक्ष्येण निर्धुताः = निरस्ताः-दूरीकृताः द्रव्यादिरूपाः, त्रिगुणात्मकप्रकृतिकार्यभूताः - विभ्रमात्मिकाः जीवत्वप्रयोजकोपाधिरूपा मायाऽध्यारोपिता ऊर्मयो यस्मात्तस्मै । तत्र द्रव्याणि = पञ्चमहाभूतानि, तद्रचितानि विविधानि वा स्थूल-शरीराणि. क्रियाः चक्षुरादीनीन्द्रियाणि, कारकाः = तत्तदिन्द्रियाधिष्ठातारो देवाः, अधिभूताध्यात्माधिदैवरूपाः, तेषु विभ्रमः = तत्संघातेषु विविधेषु स्थूलसूक्ष्मादिशरीरेषु – अतस्मिंस्तद-

(१) पृथ्वीने कहा – आप साक्षात् परम पुरुष हैं तथा अपनी मायासे अनेक प्रकारके शरीर धारण कर गुणमय जान पड़ते हैं, वास्तवमें आत्मानुभवके द्वारा आप अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैव सम्बन्धी अभिमान और उससे उत्पन्न हुए राग-द्वेषादिसे सर्वथा रहित हैं । मैं आपको बार-बार नमस्कार करती हूं ।

ध्यासरूपोऽहंप्रत्ययात्मको मोहः तेन संजाताः = ऊर्मयः = रागद्वेषकाम-क्रोधादयो क्षुत्पिपासादयो वा । अत एव – अध्यग्रहकल्पनेन अगुणात्मने = निर्गुणनिर्विशेषविशुद्धस्वरूपाय गुणतत्कार्यव्यतिरिक्तपूर्णाद्वयात्मने नमः । एतेन – श्रीमद्भागवतस्य सर्ववेदान्तसारभूतत्वसूचनाय – 'ब्रह्माधिष्ठानं सत्यं, तत्राध्यारोपितं त्रिगुणात्मकं जगन्मिथ्येति वेदान्तसिद्धान्तबोधनाय च पूर्वार्द्धेनाध्यारोपः, उत्तरार्द्धेन चापवादो वेदान्तप्रसिद्धः प्रदर्शितः । यदाह – 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चः प्रपञ्च्यते । मुमुक्षूणां बोधसिद्ध्यर्थ तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः ॥ इति । श्रीमद्भागवते द्वितीयेऽपि – एतावेवाध्यारोपापवादौ, आभासनिरोधरूपपर्यायशब्दाभ्यां प्रतिपाद्येते । 'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते । स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥ (१) (भा० २।१०।७) इति । आभासः = मायाध्यारोपिता सृष्टि मिथ्या-प्रतिभासरूपा, निरोधः = अपवादात्मक आत्यन्तिकः प्रलयः, आश्रयः = प्रपञ्चविवर्तस्य, प्रपञ्चबाधस्य चाधिष्ठानमित्यर्थः ।

अत एव श्रीमद्भागवते द्वितीयेऽपि - भगवतो मायया सृष्टे सविशेषे स्थूलसूक्ष्मरूपे कारणकार्योपाधिके परापरब्रह्मसंज्ञया बोध्यमाने उपासनयाऽऽविष्कृते, तया मनसो वशीकारे सति निर्मलैकाग्रस्वान्ताः विपश्चितः = ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः, आरोपिततया बाध्यमानत्वात् न गृह्णन्ति, अर्थात् निर्विशेषं निष्प्रपञ्चं परात्परं निर्गुणं निर्विकारं स्वयंज्योतिरखण्डानन्दपूर्णमद्वयं ब्रह्म न प्रत्यगात्माभिन्नं ध्येयतया 'सत्यं परं धीमहि' (भा० १ । १ । १) 'तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ।' (भा० १२ । १३ । १९) 'वरेण्यं-भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।' इति श्रुतिभागवतन्यायेन परिगृह्णन्तीत्याहुः — 'अमुनी भगवद्रूपे मया ते अनुवर्णिते । उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः ॥' (२) (भा० २ । १० । ३५) इति । व्याख्यातञ्च श्रीधरस्वामिपादैः — उपासनार्थं भगवत्यारोपितं रूपद्वयमदवदति— अमुनी इति । न गृह्णन्ति = वस्तुतो नाङ्गीकुर्वन्ति, यतो मायासृष्टे । एतेन– विपश्चितः = शुद्धभक्तिमन्तः, रामकृष्णनारायणनृसिंहादिरूपं शुद्धसत्त्वमेव

---

(१) परीक्षित् ! इस चराचर जगत्का अध्यारोप और अपवाद जिस अधिष्ठानतत्त्वसे प्रकाशित होते हैं, वह परम ब्रह्म ही 'आश्रय' है । शास्त्रोंमें उसीको परमात्मा कहा गया है ।

(२) मैंने तुम्हें भगवान्के स्थूल और सूक्ष्म, व्यक्त और अव्यक्त जिन दो रूपोंका वर्णन सुनाया है, ये दोनों ही भगवान्की मायाके द्वारा रचित हैं । इसीलिए विद्वान् पुरुष इन दोनों को स्वीकार नहीं करते ।

गृह्णन्ति, इति वंशीधरेण यद्व्याख्यातं तत् — मूलतत्त्वामिथ्याख्यानविरुद्धत्वाद् हेयमेव। अत्र किल 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।' (केन उ० १। ४) इति श्रौतन्यायेन स्पष्टत उपास्यं ब्रह्म परित्यज्याधिकारिणा ज्ञेयं ब्रह्मैव ध्येयमित्यस्यार्थस्य प्रतिपादितत्वात्। अत्रापि अध्यारोपापवादौ प्रदर्शितौ स्तः। माययाऽध्यारोपः, विद्यया चापवादः।

सति चैवं—केवलाद्वैतसंप्रदायविदोऽद्वैतमकरन्दकाराः लक्ष्मीधरकवयो विद्वद्वरा अप्याहुः— 'परात्परस्य ब्रह्मणो निर्विशेषस्य त्रिविधपरिच्छेदवर्जितस्याखण्डैकरसत्वं प्रतिपादयन्तः—नहि नानास्वरूपं स्यादेकं वस्तु कदाचन। तस्मादखण्ड एवास्मि विजहज्जागतीं भिदाम्॥ परोक्षतापरिच्छेद — शाबल्यापोहनिर्मलम्। तदसीति गिरा लक्ष्यं अहमेकरसं महः॥ उपशान्तजगज्जीवशिष्याचार्येश्वरभ्रमम्। स्वतः — सिद्धमनाद्यन्तं परिपूर्णमहं महः॥' इति॥ (१)

अयमर्थः— एकं = अद्वितीयं सच्चिदानन्दात्मकं ब्रह्म कदाचिदपि, उपाधिकाले, तदभावकालेऽपि नानास्वरूपं = नानारसं न स्यात् = न भवतीत्यर्थः। विद्यया जागतीं भिदां = आकाशादि—शरीराद्युपाधिप्रयुक्तं भेदं विजहत् = परित्यजन् अखण्डैकरसश्चिदात्मैवाहमस्मि। 'एकधैवानुद्रष्टव्यं एतदप्रमयं ध्रुवम्।' (बृ० ४।४।२०) इति श्रौतन्यायेन परमार्थवस्तुन एकरसत्वमुपपद्यते, न नानारसत्वम्। परोक्षता ईश्वरस्य, परिच्छेदो जीवानां, आकाशादिपदार्थानाञ्च, एतद्द्वयं – जीवेश्वरोभयगतविरुद्धधर्माणां सर्वेषामित्युपलक्षणम्। शाबल्यं = वैशिष्ट्यं – जीवेश्वरोभयगतपरोक्षत्वपरिच्छिन्नत्वादिप्रयोजकमायाऽन्तःकरणरूपोपाधिद्वयनिमित्तसमस्तसम्बन्धविशेषः, तेषां मायाऽध्यारोपितानामपोहेन = परित्यागेन निर्मलं—शुद्धमखण्डैकरसं तत्त्वमसीत्यादिमहावाक्यलक्ष्यं जहदजहल्लक्षणया ज्ञापितं महः = सत्यानन्दचैतन्यरूपमहं प्रत्यगात्माऽस्मीत्यर्थः। अत्रापि श्रौतार्थेऽनुग्राहकयुक्तय एवमनुसंधेयाः — यद्यात्मा ब्रह्मभिन्नः स्यात्, तदाऽऽत्मनः सर्वान्तरत्वलक्षणमात्मत्वमेव न स्यात्, एवं ब्रह्मापि यद्यात्मभिन्नं स्यात्, तदा निरतिशयमहत्त्वलक्षणं ब्रह्मत्वमेव ब्रह्मणो न स्यात्। यदाहुः — श्रद्धेयाः संक्षेपशारीरककाराः सर्वज्ञात्ममुनयोऽपि —

---

(१) एक ही ब्रह्म वस्तु कभी भी परमार्थतः अनेक स्वरूप नहीं हो सकती, इसलिए जगत्के काल्पनिक-भेदोंका परित्याग करता हुआ मैं अखण्ड ब्रह्म ही हूं। परोक्षता परिच्छेद-शाबल्य यानी वैशिष्ट्य, इन तीनोंके बाधसे तत्त्वमसि' इस वाणीका जो निर्मल लक्ष्य है, वह एक रस चैतन्य ब्रह्म मैं हूं, जिसमें जगत्, जीव, शिष्य, आचार्य एवं ईश्वरका भेद—भ्रम उपशान्त हो गया है, वह स्वतः सिद्ध अनादि—अनन्त परिपूर्ण चैतन्य ब्रह्म मैं हूं।

'अद्वैतेऽर्थे प्रत्यगर्थोऽस्ति तद्वत्, प्रत्यक्तत्त्वे चाद्वयस्यापि भावः। यद्यप्येवं नातिरेकाऽवकाशः, पूर्णे तत्त्वे तत्त्वमर्थोपपत्तः ॥ (१।१६२) (१) उपशान्तः = जीवन्मुक्त्यवस्थायां सम्यग्बाधितः, विदेहमुक्त्यवस्थायां सर्वात्मना निवृत्तः, जगज्जीवशिष्याचार्येश्वरलक्षणो भेदभ्रमो यस्मिन्, तत्, स्वतःसिद्धं = स्वयं-प्रकाशं दरिपूर्णं = अपरिच्छिन्नं महः = चैतन्यमहमस्मीत्यर्थः।

अत एव—'अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि' इति न्यायेन शुद्धे निजात्मनि अविद्याऽध्यारोपितस्य शरीराद्यनात्मवर्गस्यापवादाय आत्मनः परमार्थस्वरूपावबोधाय च श्रीभगवानपि पृथुराजं चतुर्थे इत्थमुपदिशति—तथाहि—'सुधियः साधवो लोके नरदेव! नरोत्तमाः। नाभिद्रुह्यन्ति भूतेभ्यो यर्हि नात्मा कलेवरम् ॥' (२) (भा० ४।२०।३) 'अतः कायमिमं विद्वान्, अविद्याकामकर्मभिः। आरब्ध इति नैवास्मिन् प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते ॥ असंसक्तः शरीरेऽस्मिन, अमुनोत्पादिते गृहे। अपत्ये द्रविणे वाऽपि कः कुर्यान्ममतां बुधः ॥ एकः शुद्धः स्वयंज्योति निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः। सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्माऽऽत्माऽऽत्मनः परः ॥ य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुषः। नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स मयि स्थितः ॥' (भा० ४।२०।५-६-७-८) (३) 'परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः। शान्ति मे समवस्थानं ब्रह्मकैवल्यमश्नुते ॥ उदासीनमिवाध्यक्षं द्रव्यज्ञानक्रियात्मनाम्। कूटस्थमिममात्मानं

(१) अद्वैत अर्थमें प्रत्यगर्थ - चिदात्मा अभेद रूपसे है, वैसे ही प्रत्यगर्थमें अद्वैतरूपता भी अभेदरूपसे रहती है। यद्यपि एक ही वस्तुमें भिन्न-भिन्न निरूपकों-से निरूपित अद्वयत्व और प्रत्यक्त्व दो धर्म हैं, तथापि उनका भेद नहीं, क्योंकि एक ही पूर्ण ब्रह्मतत्त्वमें 'तत्' तथा 'त्वम्' दोनों पदोंकी लक्ष्यता बन जाती है।

(२) हे नरदेव! जो श्रेष्ठ मानव, साधुता और सद्बुद्धिसे सम्पन्न होते हैं, वे दूसरे जीवोंसे द्रोह नहीं करते; क्योंकि यह शरीर, आत्मा नहीं है।

(३) ज्ञानवान् पुरुष इस शरीरको अविद्या, वासना और कर्मोंका ही बना हुआ - मिथ्या पुतला समझकर इसमें आसक्त नहीं होता। इसप्रकार जो इस शरीरमें ही आसक्त नहीं है, वह विवेकी पुरुष इससे उत्पन्न हुए घर, पुत्र और धन आदिमें भी किस प्रकार ममता रख सकता है। यह आत्मा एक, शुद्ध, स्वयं प्रकाश, निर्गुण, गुणोंका आश्रयस्थान, सर्वव्यापक, आवरणशून्य, सबका साक्षी एवं अन्य-आत्माके भेद भावसे रहित है; अत एव शरीरसे भिन्न है। जो पुरुष इस देहस्थित-आत्माको इस प्रकार - शरीरसे भिन्न जानता है, वह प्रकृतिसे सम्बन्ध रखते हुये भी उसके गुणोंसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि उसकी अभिन्न स्थिति मुझ परमात्मामें रहती है।

यो वेदाऽऽप्नोति शोभनम् ॥' (भा० ४ । २० । १०-११) इति । (१) एषामयमर्थः — लोके ये नरेषु = मानवेषु — उत्तमाः सद्गुणैरभ्यधिकाः सन्ति, ते तु भूतेभ्यो नाभिद्रुह्यन्ति = प्राणिमात्रस्य कस्यापि सापराधस्याऽपि द्रोहं नाभिचरन्तीत्यन्वयः । के ते नरोत्तमाः ? इत्यपेक्षायामाह-साधवः = सच्चरित्राः — सज्जनाः । तेषामपि किंलक्षणमित्याह—सुधिय इति । सुष्ठु-सर्वत्र समाना शत्रुमित्रादिभेदशून्या, ब्रह्ममात्रावलोकनपरा धी येषां ते । कुत एवं भेदशून्यता घटते ? तत्राह—यर्हीति । यर्हि = यस्मात् आत्मा कलेवरं न भवति, द्रोहस्य आत्मभेददर्शनाधीनत्वात्, तस्य च देहात्माभिमानजन्यत्वात्, तदभिमानरहिताः सर्वत्र स्वात्मानमेकमेव निरीक्षमाणा भूतेभ्यो न द्रुह्यन्तीत्यर्थः । तव चैवं द्रोहादिजनको भ्रान्तप्रत्ययो राज्यसम्बन्धादेव जात इति सूचयन्संबोधयति—हे नरदेवेति । यतो मायामोहितानामेवायं विपर्ययो जायते, अतः प्रतिबुद्धः— तत्त्वदर्शी—आत्मज्ञः पुरुषोऽस्मिन् देहे नैवानुषज्जते = अहमित्यात्मबुद्धिं नैव करोतीत्यन्वयः । प्रतिबुद्धः किंलक्षणो भवतीत्यपेक्षायां तं निरूपयति-कायमिति । अविद्या = स्वरूपाज्ञानं ततः कामः = भोगाभिलाषः, ततस्तदनुरूपाणि शुभाशुभकर्माणि, तैरारब्धः = विरचितः, निजात्मनि विशुद्धेऽध्यारोपितः इति यावत्, इत्येवमिमं कायं विद्वान् — आत्मभिन्नं — बाध्यं 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३ । ४ । २) इति न्यायेनार्यत आत्मैक एवाबाध्यः परमार्थतो विजानतीत्यन्वयः ।

ननु – मा भूद् देहेऽनुषंगस्तथापि गृहादौ ममता स्यादेव, तथापि भेददर्शनस्य विद्यमानत्वाद् रागद्वेषादिना भूतद्रोहादिः स्यादेवेत्याशंक्य ममतायाः तद्विषयस्य च देहाध्यासाहंतापूर्वकत्वात् नैवमित्याह—असंसक्त इति । बुधः = आत्मज्ञानी-अभेददर्शी, अत एवास्मिन् शरीरे असंसक्तश्चेत् तदा अमुना-शरीरेणोत्पादिते गृहे, अपत्ये, द्रविणे = धने वाऽपि ममतां कः कुर्यात् ? न कोऽपि कुर्यादित्यर्थः, एवमुपलक्षणन्यायेन सर्वत्राभेदात्मदर्शिनः रागद्वेषादिः कथं स्यात् ? न कथमपि भवितुमर्हतीत्यर्थः ।

कोऽसौ देहाद्भिन्न आत्मा ? यं जानन् देहे न सज्जत इत्याकांक्षाया-

(१) चित्त शुद्ध होनेपर उसका विषयों एवं सत्त्वादि गुणोंसे सम्बन्ध नहीं रहता, तथा उसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होजाती है । फिर तो वह मेरी समतारूप अद्वय ब्रह्मभावमयी स्थितिको प्राप्त हो जाता है । यही परमशान्ति, ब्रह्म अथवा कैवल्य है । जो पुरुष यह जानता है कि शरीर, ज्ञान, क्रिया और मनका साक्षी होने पर भी कूटस्थ आत्मा उनसे निर्लिप्त ही रहता है, वह कल्याणरूप-अद्वय-ब्रह्ममय-मोक्षपद प्राप्त करलेता है ।

मात्मानं दर्शयति – एक इति । असावात्मा, आत्मनः = मिथ्यात्मनो देहात् परः = पारमार्थिको भिन्न इत्यन्वयः । कुतो देहाद्भेदः ? वैलक्षण्यादिति मत्वा नवधा वैलक्षण्येन भेदं साधयति-एक इति । नवभिः पदैः, आत्मा एकः, देहस्त्वनेकः, आत्मा शुद्धः, देहस्तु पांचभौतिकत्वान्मलिनः, आत्मा स्वयंज्योतिः = स्वयंप्रकाशः, देहस्तु जडः परप्रकाशः, आत्मा निर्गुणः = सत्त्वादिगुणेभ्यो व्यतिरिक्तः, देहस्तु गुणकार्यः – अत एव गुणाश्रितः सगुणः । आत्मा तु तेषामाश्रयः आत्मा सर्वगः = व्यापकोऽपरिच्छिन्नः, देहस्तु परिच्छिन्नः । आत्मा व्यापकत्वादेवानावृतः, देहस्तु परिच्छिन्नत्वादेव वस्त्रादिनाऽऽवृतः । आत्मा चेतनत्वात् सर्वसाक्षी विश्वद्रष्टा, देहस्तु जडत्वाद्दृश्यः, आत्मा निरात्मा = स्वाधिकरणकात्मान्तररहितः, देहस्तु सात्मा = आत्मन आयतनम् , एवं जीवात्मनः समानलक्षणबोधनेन जीवेश्वरस्वरूपयोरैक्यज्ञानं मोक्षसाधनमर्थात् प्रदर्शितम् । 'आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् । तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥' (भा० ३ । २६ । २६) इत्यादिवाक्यैः भेददर्शनस्य भयजनकसंसारहेतुत्वं 'अहं भवान् न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भो ! (भा० ४ । २८ । ६२) इति वाक्यैः अभेददर्शनस्य निर्भयमोक्षहेतुत्वञ्च प्रदर्शितमिति ध्येयम् ।

एवमात्मज्ञानवतः कृतार्थतामाह – य इति । यः पुरुषः, एवं = वर्णितप्रकारकं, सन्तं = सदा सर्वत्र विद्यमानं, अत एवात्मस्थं = स्वशरीर एव परमप्रेमास्पदतया परमानन्दतया चिन्मात्रतया चावस्थितमात्मानं, वेद = विजानाति, स प्रकृतिस्थोऽपि = प्रकृतिकार्ये त्रिगुणात्मके देहे स्थितोऽपि तद्गुणैः = सुखदुःखपुण्यपापादिभिर्नाज्यते = न लिप्यते । यतः स मयि = प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि — अभेदभावेन स्थितोऽहं भगवानिव निर्लेपो भवति, । 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।' (क० उ० ५ । ६) इतिश्रुतेः । 'सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ।' (गी० १३ । ३२) इति च गीतास्मृतेः । देहादावहंताममताराहित्येन तत्प्रतिसंधानाभावात् , अद्वय य ब्रह्मण एव सदा सर्वत्रानुसंधानसद्भावात्तस्य जीवत एव ब्राह्मी स्थितिरेवावतिष्ठत इति भावः । 'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।' (गी०२।७१) "एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।' (गी० २ । ७२) इति गीतास्मरणात् ।

एवं यदा विशदाशयः = विशुद्धचित्तः = प्रसन्नमनाः भवति, तदा परित्यक्तगुणः परित्यक्ताः गुणाः सत्त्वादय शब्दादयो वा येन तथाभूतः, सर्वतो विरक्तो निर्गुणो भवति एवं सम्यग्दर्शनः = प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मानुभवो

भवति, तेन शान्ति = परां शान्ति अश्नुते = प्राप्नोति। शान्तिमेवाह – मे = मम, भगवतः सम्यक् औदासीन्येन द्वैतप्रपञ्चराहित्येनावस्थानमेवाद्वयं ब्रह्म तदेव कैवल्यमश्नुते। सम्यग्दर्शनमेवाह — उदासीनमेवात्मानं, उदासीनमिव साक्षिमात्रं शिवं शान्तमद्वैतमिममात्मानं यो वेद — जानाति। स शोभनं, = सत्यं शिवं सुन्दरं-शुद्धं निर्विशेषमक्षरं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यन्वयः कीदृशं तं जानातीति विशिनष्टि — द्रव्यज्ञानक्रियात्मनाम् = द्रव्यं = देहः, ज्ञानानि = ज्ञानेन्द्रियाणि, क्रियाः = कर्मेन्द्रियाणि, आत्मा = मनः, तेषां अध्यक्षं-तानधिकृत्य प्रेरयितारं सत्तास्फूर्तिप्रदातारं — द्रष्टारमित्यर्थः। द्रष्टुरपि उदासीनतायां हेतुमाह — कूटस्थमिति, कूटवत् निर्विकारतया स्थितमित्यर्थः।

—*—

(२५)

(पृथुराजोपदिष्टो भक्तिवैराग्यविज्ञानानां श्रेयस्करो निखिलक्लेशहरश्च समन्वयः) (१)

तत्र तावत् श्रीमद्भागवते चतुर्थेऽस्मिन्-अनवद्यचेष्टस्यादिराजस्य धम — भक्तिज्ञानवैराग्यैश्वर्यादिभिरशेषैः सद्गुणैर्विजृम्भितं गुणवत्प्रशंसितं यशो वैष्णवं तेजश्च बिभ्राणस्य पृथोः स्तुत्यस्वास्थ्ययौवनकान्तिमण्डितां शरीरशोभां वर्णयन् आह मैत्रेयो महर्षिः। एकदा तेन धर्मप्रियेण महासत्रदीक्षा गृहीता आसीत्, तत्रोत्सवे दिवौकसां देवानां ब्रह्मर्षीणां राजर्षीणां च समाजः संमिलितो बभूव। तत्र सदसो मध्ये ताराणामुडुराडिव सनातनधर्मोपदेशायोत्थितोऽभूत् महाराजः पृथुः। कीदृशः स? इति जिज्ञासायां तं वर्णयति मैत्रेयः — 'प्रांशुः पीनायतभुजो गौरः कञ्जारुणेक्षणः। सुनासः सुमुखः सौम्यः पीनांसः सुद्विजस्मितः॥ व्यूढवक्षा बृहच्छ्रोणिर्वलिवल्गुदलोदरः। आवर्तनाभिरोजस्वी काञ्चनोरुरुदग्रपात्॥ सूक्ष्मवक्रासितस्निग्धमूर्धजः कम्बुकन्धरः। महाधने दुकूलाग्र्ये परिधायोपवीय च॥ व्यञ्जिताशेषगात्रश्री नियमे न्यस्तभूषणः। कृष्णाजिनधरः श्रीमान् कुशपाणिः कृतोचितः॥ शिशिरस्निग्धताराक्षः समैक्षत

(२५)

(१) (पृथु राजासे उपदिष्ट भक्ति वैराग्य और विज्ञानका श्रेयः—कल्याण-करनेवाला तथा निखिल—क्लेशोंका हरण करने वाला समन्वय)

समन्ततः । ऊचिवानिदमुर्वीशः सदः संहर्षयन्निव ॥ चारु चित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढमविक्लवम् । सर्वेषामुपकारार्थं तदा अनुवदन्निव ॥ (श्रीमद्भा० ४ । २१ । १५ - १६ - १७ - १८ - १९ - २०) । (१)

अयमर्थः—सामुद्रिकोक्तमहाराजलक्षणवत्त्वेन पृथुं वर्णयति-प्रांशुः = उन्नतः पीनौ = पीवरौ, आयतौ = लम्बौ भुजौ यस्य, गौरः = गौरवर्णः, कंजवद् अरुणे ईक्षणे यस्य । अत्रेदं चिन्त्यम्-अरुणे नेत्रे क्रोधं लक्षयतः, न सौहार्दं, तामभ्युद्धादौ क्रोधान्वितस्य तादृशनेत्रयो भूषणत्वेऽपि सात्विकसत्रदीक्षायां कथं तादृशयोस्तयो भयजनकतया रोगसूचकतया च प्राशस्त्यमिति न ज्ञायते । सति चैवं प्रियदर्शनत्वलक्षणं सौम्यत्वमेव व्याहतं भवति । सौम्यः = प्रियदर्शनः, पीनौ अंसौ = स्कन्धौ यस्य सः । शोभनाः = श्वेतसमदर्शनीयाः द्विजाः = दन्ताः स्मितश्च यस्य, व्यूढं = विस्तीर्णं वक्षो यस्य. बृहन्त्यौ श्रोणी = नितम्बौ यस्य, वलिभिः = त्रिभिर्वल्गु = सुन्दरं दलवत् — अश्वत्थपत्रवत् उपरि विस्तृतमधस्तात् संकुचितं चिक्कणं चोदरं यस्य । आवर्तवद् = अम्भसां भ्रम इव निम्ना नाभिर्यस्य, कांचनवत् उज्ज्वलावूरू यस्य, उदग्रौ = उन्नताग्रौ पादौ यस्य । सूक्ष्माश्च ते वक्राश्च असिताः = कृष्णाश्च स्निग्धाः = चिक्कणाश्च मूर्धजाः केशा यस्य । कंबुवत् = शंख इव

(१) उन राजा पृथुका शरीर ऊंचा, भुजाएं भारी और विशाल, रंग गोरा, नेत्र कमलके समान सुन्दर और अरुणवर्ण, नासिका सुघड़, मुख मनोहर, स्वरूप सौम्य, कंधे ऊंचे और मुस्कानसे युक्त दन्तपंक्ति सुन्दर थी । उनकी छाती चौड़ी, कमरका पिछला भाग स्थूल और उदर पीपलके पत्तेके समान सुडौल तथा बल पड़े हुये होनेसे और भी सुन्दर जान पड़ता था, नाभि भंवरके समान गम्भीर थी, शरीर तेजस्वी था, जंघायें सुवर्णके समान देदीप्यमान थीं, तथा पैरोंके पंजे उभरे हुयें थे । उनके बाल बारीक, घुंघराले, काले और चिकने थे; गरदन शङ्खके समान उतार - चढ़ाववाली तथा रेखाओंसे युक्त थी, और वे उत्तम बहुमूल्य रेशमी धोती पहने और वैसी ही चादर ओढ़े थे । दीक्षाके नियमानुसार उन्होंने समस्त आभूषण उतार दिये थे; इसीसे उनके शरीरके अङ्ग प्रत्यङ्गकी शोभा अपने स्वाभाविक रूपसे स्पष्ट झलक रही थी । वे शरीर पर कृष्णमृगका चर्म और हाथोंमें कुशाधारण किये हुए थे । इससे उनके शरीरकी कान्ति और भी बढ़ गयी थी । वे अपने सारे नित्यकृत्य यथाविधि सम्पन्न कर चुके थे । राजा पृथुने मानों, सारी सभाको हर्षसे सराबोर करते हुए अपने शीतल एवं स्नेह-पूर्ण नेत्रोंसे चारों ओर देखा और फिर अपना भाषण प्रारम्भ किया । उनका भाषण अत्यन्त सुन्दर, विचित्र पदोंसे युक्त, स्पष्ट, मधुर गंभीर एवं निश्शंक था, मानो उस समय वे सबका उपकार करनेके लिये अपने अनुभवका

त्रिरेखाङ्किता कंधरा यस्य, महत् धनं — बहुमूल्यमणिरत्नसुवर्णादिविभूषितं ययोस्ते महाधने, ये दुकूलाग्र्ये = कौशेयवस्त्रश्रेष्ठे, तयोरेकं वसित्वा, एकमुपवीय = उत्तरीयञ्च कृत्वा। महासत्रदीक्षारूपनियमे निमित्ते सति न्यस्तानि = त्यक्तानि भूषणानि येन। अत एव तैरनावृतत्वाद्, व्यञ्जिता = प्रकटिता, अशेषगात्रेषु श्रीः = स्वाभाविकी मनोहारिणी शोभा येन, कृष्णमृगचर्मधरः, श्रीमान् = कान्तिमान्, कुशाः दर्भाः पाणौ हस्ते यस्य, कृतानि— उचितानि-आवश्यकानि संध्यावन्दनगायत्रीजपादीनि कर्माणि येन सः, शिशिरे-संतापहरे प्रसन्ने, स्निग्धे = स्नेहसंयुक्ते च तारे = कनीनिके ययोस्ते अक्षिणी = चक्षूंषी यस्य सः। सर्वतो दृष्ट्वा च सदः = सभां, संहर्षयन्निव, इवशब्दोऽत्रावधारणार्थकः, इदं = वक्ष्यमाणं वाक्यं, उर्वीशः = भूपतिः, पृथुः, ऊचिवान् = उक्तवानित्यन्वयः। हर्षहेतुत्वेन वाक्यं विशिनष्टि — चारु = रमणीयं श्रोत्रप्रियम्, चित्राणि = चित्ते चमत्कारजनकानि — सालंकाराणि पदानि यस्मिंस्तत्। 'अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती।' इति शिष्टस्मरणात्। श्लक्ष्णं = प्रशस्तं, मधुराक्षरम्, मृष्टं = शुद्धं, रागद्वेषादिना पक्षपातशून्यं गूढं — गंभीरार्थम्। अविक्लवं = व्याकुलतारहितं — झटित्यर्थबोधकं — सारल्यसहितम्।

स च महानुभावः पृथुः – 'गंगायमुनयो र्नद्योरन्तराक्षेत्रमावसन्।' (भा० ४। २१। ११) 'सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक्।' (१) (भा० ४। २१। १२) शरीरशोभामिव मनसः सद्गुणैः संजातां प्रशस्तां शोभां बिभ्राण एतादृशीभिरुपमाभिरभिवर्णितोऽभूत्। तथाहि–'सर्वेषां लोकपालानां दधारैकः पृथु र्गुणान्॥ गोपीथाय जगत्सृष्टेः काले स्वे-स्वेऽच्युतात्मकः। मनोवाग्वृत्तिभिः सौम्यै र्गुणैः संरञ्जयन् प्रजाः॥ राजेत्यधान्नामधेयं सोमराज इवापरः। सूर्यवद्विसृजन् गृह्णन प्रतपंश्च भुवो वसु॥ दुर्धर्षस्तेजसेवाग्निः, महेन्द्र इव दुर्जयः! तितिक्षया धरित्रीव, द्यौरिवाभीष्टदो नृणाम्॥ वर्षति स्म यथाकामं पर्जन्य इव तर्पयन्। समुद्र इव दुर्बोधः सत्त्वेनाचलराडिव॥ धर्मराडिव शिक्षायां, आश्चर्ये हिमवानिव। कुबेर इव कोशाढ्यो गुप्तार्थो वरुणो यथा। मातरिश्वेव सर्वात्मा बलेन सहसौजसा॥ अविषह्यतया देवो भगवान् भूतराडिव॥ कन्दर्प इव सौन्दर्ये, मनस्वी मृगराडिव। वात्सल्ये मनुवन्नृणां प्रभुत्वे भगवानजः॥ बृहस्पति र्ब्रह्मवादे आत्मवत्त्वे स्वयंहरिः। भक्त्या

ही अनुवादकर रहे हों।

(१) महाराज पृथु गङ्गा और यमुनाके मध्यवर्ती देशमें निवास करते थे, सातों द्वीपोंके सभी पुरुषों पर अखण्ड एवं अबाध उनका शासन था।

गोगुरुविप्रेषु विष्वक्सेनानुवर्तिषु । ह्रिया प्रश्रयशीलाभ्यामात्मतुल्यः परोद्यमे ॥
कीर्त्योर्ध्वगीतया पुम्भिस्त्रैलोक्ये तत्र तत्र ह । प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषु स्त्रीणां रामः
सतामिव ॥ (१)' (श्रीमद्भा० ४ । २२ । ५३ अस्मादारभ्य ६३ पर्यन्तम् ।

अयमर्थः — अन्तरा = मध्ये, क्षेत्रं = पुण्यप्रदेशं । अस्खलितः = अप्रतिहतः आदेशः = आज्ञा यस्य सः । कुत एवं ? यतः सप्तद्वीपेष्वेकः स एव दण्डधृक् = साम्राज्यसिंहासने स्थित्वा दण्डधारकोऽभूत । यदाह – गृहेषु वर्तमानोऽपि स साम्राज्यश्रियाऽन्वितः । नासज्जतेन्द्रियार्थेषु निरहंमतिरर्कवत् ॥' (२) (भा० ४ । २२ । ५२) इति । गोपीथाय = रक्षणाय, स्वेस्वेकाले = तत्त-

(१) महाराज पृथु जगत्के प्राणियोंकी रक्षाके लिये अकेले ही समस्त लोकपालोंके गुण धारण कर लिया करते थे, अपने उदार मन, प्रिय और हितकर वचन, मनोहर मूर्ति और सौम्य गुणोंके द्वारा प्रजाका रंजन करते रहनेसे दूसरे चन्द्रमाके समान उनका 'राजा' यह नाम सार्थक हुआ । सूर्य जिस प्रकार गरमीमें पृथ्वीका जल खींचकर वर्षा कालमें उसे पुनः पृथ्वी पर बरसा देता है । तथा अपनी किरणोंसे सबको ताप पहुँचाता है । उसी प्रकार वे कररूपसे प्रजाका धन लेकर उसे दुष्कालादिके समय मुक्तहस्तसे प्रजाके हितमें लगादेते थे। तथा सब पर अपना प्रभाव जमाये रखते थे । वे तेजमें अग्निके समान दुर्धर्ष, इन्द्रके समान अजेय, पृथ्वीके समान क्षमाशील और स्वर्गके समान मनुष्योंकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करने वाले थे । समय-समय पर प्रजाजनोंको तृप्त करनेके लिये वे मेघके समान उनके अभीष्ट अर्थोंको खुले हाथसे लुटाते रहते थे। वे समुद्रके समान गम्भीर और पर्वतराज सुमेरुके समान धैर्यवान् भी थे। महाराज पृथु दुष्टोंके दमन करनेमें यमराजके समान, आश्चर्यपूर्णवस्तुओंके संग्रहमें हिमालयके समान, कोषकी समृद्धिमें कुबेरके समान, और धनको छिपानेमें वरुणके समान थे । शारीरिक बल, इन्द्रियोंकी पटुता तथा पराक्रममें सर्वत्र गतिशील वायुके समान और तेजकी असह्यतामें भगवान् शङ्करके समान थे। सौन्दर्यमें कामदेवके समान, उत्साहमें सिंहके समान, वात्सल्यमें मनुके समान और मनुष्योंके आधिपत्यमें सर्वसमर्थ ब्रह्माजीके समान थे। ब्रह्मविचारमें बृहस्पति, इन्द्रियजयमें साक्षात् श्रीहरि तथा गौ, ब्राह्मण, गुरुजन एवं भगवद्भक्तोंकी भक्ति, लज्जा, विनय, शील एवं परोपकारादि गुणोंमें अपने ही समान अनुपम थे। लोग त्रिलोकीमें सर्वत्र उच्च स्वरसे उनकी कीर्तिका गान करते थे, इससे वे स्त्रियों तकके कानोंमें वैसे ही प्रवेश पाये हुए थे, जैसे सत्पुरुषोंके हृदयमें श्रीराम ।

(२) जिस प्रकार सूर्यदेव सर्वत्र प्रकाश करने पर भी वस्तुओंके गुणदोषोंसे निर्लेप रहते हैं, उसी प्रकार सार्वभौम साम्राज्य लक्ष्मीसे सम्पन्न और गृहस्थाश्रममें रहते हुये भी अहंकार शून्य होनेके कारण वे इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं हुए ।

द्वर्षादियोग्ये समये, ये ये सर्वेषां लोकपालानां, इन्द्रादीनां पृथक्-पृथक् वर्षणादयो गुणास्तान् सर्वान् एक एव पृथुः स्वयं दधारेत्यन्वयः । नन्वेवं गुणाहंकारेण पुनः प्रपञ्चासक्तिः स्यादित्याशंकयाह — अच्युतात्मकः = अच्युते भगवत्येव आत्मा मनो यस्य स तथा, यद्वाऽच्युतात्मभावमापन्नतयाऽहंकारादिमिथ्याभावनिवृत्तिः स्वतः एव सिद्ध्यति । लोकपालगुणधारणमेव प्रपञ्चयति — मन इति नवभिः । मनोवृत्तयः = स्वपरहितचिन्तनानि, वाग्वृत्तयः = हितमितसत्यप्रियभाषणानि ताभिः, सौम्यैः = मनोहरै गुणैः सुखभावादिभिः प्रजाः संरंजयन = राजेति स्वस्य नामधेयमधात् = दधार । अतोऽपरः = द्वितीयः सोमराजश्चन्द्र इव जात इत्यर्थः । सूर्यो यथा पक्षपातराहित्येन समं सर्वत्र प्रतपन्, भुवो वसु = जलं, अष्टौ मासान् गृह्णाति विसृजति च वर्षाकाले तथा सर्वत्र समं आज्ञा प्रवर्तनेन प्रतपन् करादिकाले धनादि गृह्णन् दुर्भिक्षादिकाले च विसृजन् असौ सूर्यवदित्यन्वयः । तेजसाऽग्निरिव दुर्धर्षः = धर्षयितुं अभिभवितुमशक्यः । तितिक्षया = परापराधसहनेन शीतोष्णादिसहनेन वा पृथिवीवत् अभीष्टदः = मनोरथपूरकः, द्यौः = स्वर्ग इव । पर्जन्यो यथा प्रजास्तर्पयन् वर्षासु जलं वर्षति, यथाकामं = यथाऽपेक्षितं । समुद्रो यथागांभीर्येणैतावानिति न बुध्यते, तथा असौ, अप्यभिप्रायतो दुर्बोध इत्यर्थः । सत्त्वेन = स्थैर्येण-धैर्येण-दाढर्येन, अचलराट् = सुमेरुरिव, शिक्षायां = दण्डप्रदाने पक्षपातराहित्येनानुल्लंघितशासनत्वेन च धर्मराट् = यमराज इव । आश्चर्ये = अद्भुते अलौकिकवस्तुप्रदर्शने, हिमाचल इव । कुबेरः = यक्षाधिराज इव धनादिप्रभूतकोशयुक्तः धनौघपतिः । गुप्तः = अज्ञातः सुरक्षितश्च धनादिपदार्थो यस्य स तथा जलान्तर्गतस्य दर्शनायोगात् । मातरिश्वा = पवनः, स यथा बलेन = शरीरसामर्थ्यप्रदानेन, सर्वत्र संचारेण च सहसा = मनःसामर्थ्यप्रदानेन, ओजसा = इन्द्रियसामर्थ्यप्रदानेन च सर्वेषां प्राणिनां आत्मा = नियन्ता, तथाऽसावपि चारैः = गुप्तचरैः सर्वत्र संचारेण सर्वावलोकनेन च । 'चारैः पश्यन्ति राजानः ।' इति स्मरणात् । सर्ववृत्तान्तबोधनेन च वृत्त्यादिप्रदानेन देहेन्द्रियादिनिर्वाहकत्वेन च सर्वेषां नियन्तेत्यर्थः । अविषह्यतया = युद्धादौ शत्रुभिः सोढुमशक्यत्वेन, भूतराट् = श्रीरुद्र इव । भूतश्रेष्ठोऽपि कश्चिद्भूतराडिति व्यवह्रियते, तद्व्यावृत्त्यर्थं देव इति । इन्द्रादिदेवसामान्यव्यावृत्त्यर्थं भगवानिति विशेषणम् । कन्दर्पः = कं न स्वावेशेन दर्पयति — हर्षयति — उन्मत्तयतीति, कामः । मृगराट् = सिंह इव मनस्वी = धीरो वीरो निर्भयः स्वाधिकप्रहर्ता । वात्सल्ये = प्रीतौ, स्नेहप्रदर्शने, प्रभुत्वे = स्वामित्वे-महत्त्वे, भगवान् अजः = चतुर्मुखो ब्रह्मैव यद्वा अजः = वेदः 'वेदो नारायणः, साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुमः ।' (भा० ६ । १ । ४०) इत्युक्तेः

स्वयंभूत्वेन तस्य अजत्वम्, प्रभुत्वे = आज्ञादाने, यथाऽजस्य वेदस्य विधिनिषेधमयीमाज्ञां सर्वे गृह्णन्ति तथा तस्यापीतिभावः। ब्रह्मवादे = ब्रह्मविचारे, देवगुरुबृहस्पतिरिव। आत्मवत्त्वे = देहेन्द्रियादिसंघातवशित्वे-जितेन्द्रियत्वे स्वयं हरिः = श्रीकृष्ण इव। श्रीकृष्णस्य जितेन्द्रियत्वं जैमिनीयेऽश्वमेधे, नागहृतार्जुनशिरआनयने गोपालतापनीयोपनिषदि च गोपीयमुनोल्लंघने च प्रतिपादितमस्ति। यदाह – भगवान् बादरायणो मुनिरपि 'पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः। (भा० ११।६।१८) इति। 'प्रमदोत्तमास्ता यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः।' (भा० १।११।३६) (१) इति।

कुहकैः = कपटैर्विभ्रमैः। विष्वक्सेनः = श्रीहरिः, तदनुवर्तिनः तद्भक्ताः तेषु। ह्रिया लज्जया, प्रश्रयेण = नम्रीभावेन, शीलेन = सुचारित्र्येण-शोभनस्वभावेन च परोद्यमे = परहितसम्पादकप्रयत्ने, आत्मतुल्यः = आत्मना-स्वेनैव तुल्यो वस्तुतो निरुपम एवेत्यर्थः। पुंभिः = सत्पुरुषैः, रामः = सीतापति यथा, स्त्रीणां = सत्स्त्रीभिश्चानसूयादिभिरुर्ध्वं सर्वोत्कृष्टत्वेन गीतया, कीर्त्या द्वारभूतया तत्र तत्र पुंसां स्त्रीणाञ्च कर्णरन्ध्रेषु प्रविष्टः श्रीराम इव पृथुरपि स्वोत्कृष्टकीर्तिद्वारा सर्वेषां कर्णछिद्रेषु प्रविष्टोऽभूदित्यर्थः।

एवंभूतो बाह्यशरीरसौन्दर्येणान्तःस्थितसुमतिसौन्दर्येण च समन्वितो महान् श्रद्धेयः पृथुराजः भक्तिवैराग्यज्ञानानां श्रेयस्करं निखिलक्लेशहरञ्च समन्वयं स्वकीयसदसः सभ्येभ्यो जिज्ञासुभ्य इत्थं समुपदिशति —

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनां, अशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती, यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित्॥
विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमान्, असङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान्।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनः, न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते॥
तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभिः, मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः।
अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजं, यथाऽधिकारावसितार्थसिद्धयः॥

(१) सोलह हजारसे अधिक रानियां आपके साथ रहती हैं। काम कलाकी विविध रीतियोंसे आपका मन आकर्षित करना चाहती हैं परन्तु फिर भी वे अपने परिपुष्ट काम बाणोंसे आप भगवान्‌का मन तनिक भी न डिगा सकीं, वे असफल ही रहीं।

असाविहानेकगुणोऽगुणोऽध्वरः, पृथग्विधद्रव्यगुणक्रियोक्तिभिः ।
सम्पद्यतेऽर्थाशयलिङ्गनामभिः, विशुद्धविज्ञानघनः स्वरूपतः ॥
प्रधानकालाशयधर्मसंग्रहे, शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम् ।
क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते, यथाऽनलो दारुषु तद्गुणात्मकः ॥ (१)

(भा० ४ । २१ । ३१ - ३२ - ३३ - ३४ - ३५)

एवं शुभकर्मानुष्ठानेन विशुद्धान्तःकरणानां सदसद्विवेकिनां जाता, यस्य—भगवतो विशुद्धसत्त्वप्रधानमायामयसाकारविग्रहस्य 'संभवाम्यात्ममायया' (गी० ४ । ६) 'देहीवाभाति मायया' (भा० १० । १४ । ५५) इति प्रामाण्यात्, यद्वा चिन्मयविग्रहस्य दिव्ययोः पादयोः—सेवायां = भजने भक्तौ वा 'भजसेवायामि' ति पाणिनिस्मरणात्, याऽभिरुचिः—प्रसिद्धा क्षुधितस्य पिपासितस्य भोजनपानयोरिव, अन्वहं = प्रतिदिनं, एधती = वर्धमाना सती, तपस्विनां = आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन त्रिविधतापतप्तानां

(१) जिन भगवान्‌के चरणकमलोंकी सेवाके लिये निरन्तर बढ़ने वाली अभिलाषा उन्हींके चरणनखसे निकली हुई गङ्गाजीके समान, संसारतापसे संतप्त जीवोंके समस्त जन्मोंके सञ्चित मनोमलको तत्काल नष्ट कर देती है, जिनके चरणतलका आश्रयलेनेवाला पुरुष सब प्रकारके मानसिक दोषोंको धो डालता तथा वैराग्य और तत्त्व साक्षात्कार रूप बलपाकर फिर इस दुःखमय संसारचक्रमें नहीं पड़ता और जिनके चरणकमल सब प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करने वाले हैं । उन प्रभुको आप लोग अपनी - अपनी आजीविकाके उपयोगी वर्णाश्रमोचित - अध्यापनादि कर्मों तथा ध्यान - स्तुति - पुजादि मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रियाओंके द्वारा भजें । हृदयमें किसी प्रकारका कपट न रक्खें तथा यह निश्चय रक्खें कि हमें अपने-अपने अधिकारानुसार इसका फल अवश्य प्राप्त होगा । भगवान् स्वरूपतः विशुद्ध, विज्ञानघन और समस्त विशेषणोंसे रहित - निर्विशेष पूर्णाद्वय हैं । किन्तु इस कर्म मार्गमें जौ, चावल आदि विविध द्रव्य, शुक्लादि गुण, अवघात - कूटना आदि-क्रिया एवं मन्त्रोंके द्वारा, और अर्थ, आशय—संकल्प, लिङ्ग—पदार्थशक्ति तथा ज्योतिष्टोम आदि नामोंसे सम्पन्न होनेवाले, अनेक विशेषणयुक्त यज्ञके रूपमें प्रकाशित होते हैं । जिसप्रकार एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न काष्ठोंमें उन्हींके आकारादिके अनुरूप भासती है, उसी प्रकार वे सर्वव्यापक प्रभु परमानन्द स्वरूप होते हुये भी प्रकृति, काल, वासना और अदृष्टसे उत्पन्न हुये शरीरमें विषयाकार बनी हुई बुद्धिमें आत्मा रूपसे स्थित होकर उन यज्ञ-यागादि क्रियाओंके फल रूपसे अनेक प्रकारके जान पड़ते हैं ।

संसारिणां संतापकारणमशेषै र्जन्मभिरुपचितं = वृद्धं धियो मलं = कामादिवासनालक्षणं, सद्यः क्षिणोति = क्षपयति । तत्पादसम्बन्धस्यैवेदं माहात्म्यमित्यभिप्रेत्य दृष्टान्तमाह—यथेति । यथा तत्पादांगुष्ठविनिःसृता सरित् श्रीगंगा अन्वहं सेवमाना दर्शनस्नानादिभिः, मानवानामशेषजन्मोपचितं मलं पापपुञ्जं क्षिणोति तथेत्यर्थः ।

क्षीणमलस्य किं फलं भवतीत्यपेक्षायां तदाह—विनिर्धुताः = निरस्ताः अशेषा मनोमलाः—व्यग्रतादयो यस्य स पुमान्, असंगो = वैराग्यं, तेन विज्ञानस्य = प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मविज्ञानस्य विशेषः = तत्साक्षात्कारः संपद्यते । यदाह—भगवान् सनत्कुमारः पृथुराजं प्रति–'न कुर्यात् कर्हिचित् संगं, तमस्तीव्रं तितीरिषुः ।' (भा० ४ । २२ । ३४) इति । अतः तीव्रं तमः = मिथ्यासंसारमूलमज्ञानं, तर्त्तुमिच्छुः अर्थात् = ब्रह्मविज्ञानसाक्षात्कारं लब्धुमिच्छुः पुरुषः, कर्हिचित् = कुत्रचिदपि—स्त्री-पुत्रगृहद्रविणमठमन्दिरादावपि संगं = रागमासक्तिं, शब्दादिविषयेष्वपि स्वदेहादावपि न कुर्यात् — अर्थात् तेभ्यो वैराग्यमुपरतिञ्च संपादयेत्, येन विज्ञानस्य विशेषः संपद्येत । अन्यथा विज्ञानं निष्फलमेवावतिष्ठेत । अद्वयब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कार एव वीर्यं = बलं यस्य तथाभूतः सन् । 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।' (मु० ३ । २ । ४) इति श्रुतेः । यदाहुः पञ्चमे ऋत्विजोऽपि—'असंगनिशित—ज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावानामात्मारामाणां मुनीनाम् ।' (भा० ५ । ३ । ११) इति । असंगेन = वैराग्येण — उपरामेण वा निशितं = तीक्ष्णीकृतं — साक्षात्कारयोग्यं कृतं यज्ज्ञानं—स एवानलस्तेन विधूता अशेषा मला येषाम्, अतो भवतः = भगवतः इव स्वभावो ब्रह्मात्मनाऽवस्थानलक्षणो येषाम्, तानेवाहुः – आत्मारामाणां = आत्मनि त्वय्येव परब्रह्मणि सदा रममाणानाम् । अत एव भगवान् ऋषभदेवोऽपि भक्तिवैराग्यज्ञानानां परमहंसधर्मतयैकत्र साहचर्यं वक्तुमित्थं शिक्षयति — 'महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः ।' (भा० ५ । ५ । २८) इति । जडभरतोऽपि रहूगणं प्रति पंचमे – 'मृगाऽभवं मृगसंगाद्धतार्थः ।' (भा० ५ । १२ । १५) 'तस्मान्नरोऽसंगसुसंगजातज्ञानासिनेहैव विवृक्णमोहः ॥ (भा० ५ । १२ । १६) । अयमर्थः — विषयसंगस्तु भक्तिज्ञानयोगभ्रंशक इति वदन् स्वानुभवमाविष्करोति-हतोऽर्थः = प्रयोजनं भगवत्प्राप्तिलक्षणं यस्य । असंगै र्महद्भि र्यः सुसंगस्तेन, यद्वा असंगेन-वैराग्येण, सुसंगेन च जातं ज्ञानमेवासिः खड्गस्तेन छिन्नमोहो भवति ।

अत एव संसारादुपरतो भगवद्भक्तो भगवदनुग्रहेण प्रतिबुद्धतत्त्वार्थो भवत्येव, येन निःश्रेयसं कैवल्यं लभ्यत इत्याह - स्वयं श्रीभगवान् तृतीयेऽपि -

'मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा । निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम् ॥' (भा० ३ । २७ । २८) इति । प्रतिबुद्धार्थः = विदित ब्रह्मात्मतत्त्वः, स्वसंस्थानं = स्वस्वरूपावस्थानात्मकम् निःश्रेयसं = निर्विशेषनिर्विषयनिरतिशयानन्दलक्षणम्, मदाश्रयं = भगवदेकनिष्ठम् । एवं भक्तियोगो वैराग्यं ज्ञानञ्च जनयत्येव, अर्थात् न जनयति चेत्, स भक्तियोग एव न भवेत् - मिथ्यादंभयोग एव स मन्तव्यः इत्याह - तृतीये सिद्धानां कपिलो महामुनिरपि - 'वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः । जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥' (भा० ३ । ३२ । २३) इति । ब्रह्म दर्शयतीति ब्रह्मदर्शनम् ब्रह्मसाक्षात्काररूपमित्यर्थः । अनेन ज्ञानवैराग्ययो र्भक्तिजन्यत्वमेव सिद्ध्यति । वैराग्यवीर्येण, ज्ञानविशेषश्च ।

संप्रति-एतादृशो महानुभावो ब्राह्मीं स्थितिं लब्ध्वा संसारभयात्सर्वथा विमुक्तः सन् कृतकृत्योऽतिधन्यो भवतीति तत्फलं वर्णयन्नाह - 'यदङ्घ्रिमूले कृतकेतन, इत्यादिना । यस्य श्रद्धे यस्य साकारविग्रहस्य योऽयं प्रीत्या सेवनीयोऽङ्घ्रिः = पादः, तस्य यत्पारमार्थिकं मूलं = विवर्ताधिष्ठानं निराकारं निर्गुणं निर्विशेषं सच्चिदानन्दघनं परात्परमपरिच्छिन्नं विजातीयादिभेदत्रयशून्यमद्वयं सर्वात्मभूतं ब्रह्म, यतोऽत्रैव 'विशुद्धविज्ञानघनः स्वरूपतः ।' इत्युक्तत्वात् । यदाह - षष्ठे श्रीहरिं तोष्टुयमानः प्रजापतिः - तस्य पारमार्थिकं प्रसिद्धं स्वरूपं प्रतिपादयन् - 'यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै यद् यो यथा कुरुते कार्यते च । परावरेषां परमं प्राक्प्रसिद्धं तद्ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम् ॥' (१) (भा० ६ । ४ । ३०) । अयमर्थः — भगवतो विश्वरूपत्वमाह - यस्मिन् - अधिकरणे, यतः = अपादानात्, येन = करणेन, यस्य = सम्बन्धि, यस्मै संप्रदानाय, यत् = ईप्सिततमं, यः = कर्ता, कुरुते स्वतन्त्रः, कार्यते चान्येन प्रयोज्यकर्त्रा, तद्ब्रह्मेति प्रत्येकं सम्बन्धः । सप्तभिर्यच्छब्दैः सप्त विभक्त्यर्थाः

(१) भगवान् ! आपमें ही यह सारा जगत् स्थित है। आपसे ही निकला है। और अपने—और किसीके सहारे नहीं—अपने आपसे ही इसका निर्माण किया है। यह आपका ही है। और आपके लिये ही है। इसके रूपमें बननेवाले भी आप हैं। और बनानेवाले भी आप ही हैं। बनने—बनानेकी विधि भी आप ही हैं आप ही सबसे कामलेनेवाले भी हैं। जब कार्य और कारणका भेद नहीं था, एवं जब कार्यकारणोपाधिक-अपर एवं पर सविशेष ब्रह्म नहीं था, तब भी आप निर्विशेष, स्वयं सिद्ध स्वरूपसे स्थित थे इसीसे आप सबके मूलकारण हैं। सच्ची बात तो यह है कि—आप जीव — जगत्के भेद और स्वगत भेदसे सर्वथा रहित एक, अद्वितीय हैं आप स्वयं अद्वय ब्रह्म हैं। आप मुझ पर प्रसन्न हों।

दर्शिताः। संप्रति-तस्य पारमार्थिकतत्त्वमाह - परेषां = परब्रह्मतया प्रसिद्धानां विराड्हिरण्यगर्भपरमेश्वरेतिनामभिर्व्यवह्रियमाणानां कारणोपाधिकानां, अव-रेषां = अपरब्रह्मतया प्रसिद्धानां ब्रह्मविष्णुमहेश्वरेति संज्ञाभिर्व्यवह्रिय-माणानां कार्योपाधिकानां साकारविग्रहाणामपि परमं - कारणं परात्परतया - 'तस्मिन्दृष्टे परावरे।' (मु० २।२।८) 'अक्षरात्परतः परः ।' (मु० २।१।२) इति श्रुत्यादिभि र्मम स्तुतिवचनेभ्योऽपि प्राक् प्रसिद्धं । यद्वा प्राक् = तेभ्यः सर्वेभ्यः परापरस्वरूपेभ्यः प्राक्-मूलकारणतया प्रसिद्धम् । परोऽपि अवरः = निकृष्टो यस्मात्, परतः = परस्मात्-अक्षरात् = अव्यक्तमायोपाधिकात्-परमेश्वरादपि परः, तस्मिन् परात्परे ब्रह्मणि प्रत्यगभिन्ने दृष्टे = साक्षात्कृते सति, इति श्रुत्यर्थः। तत् परात्परं ब्रह्मैव तेषां परेषामपरेषाञ्च हेतुः = विव-र्ताधिष्ठानं निरपेक्षमेव मूलकारणम्। अनन्यत् = विजातीयभेदशून्यं, एकं = सजातीयभेदशून्यं, स्वगतभेदशून्यमुपलक्षणतः। यदाह - तृतीये स्वयं श्रीभगवानपि - 'ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः। क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम्॥' (१) (भा० ३।२५।४३) इति। एवं चतुर्थे भग-वतो ज्ञानी भक्तो नारदोऽपि - 'हरिर्देहभृतात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः। तत्पाद-मूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह॥' (भा० ४।२९।५०) एवं चतुर्थे प्रचे-तस अप्याहुः - 'प्रसन्नो भगवान् येषामपवर्गगुरुर्गतिः।' वरं वृणीमहेऽथापि नाथ! त्वत्परतः परात्। न ह्यन्तस्त्वद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे॥ पारि-जातेऽञ्जसा लब्धे सारंगोऽन्यन्न सेवते। त्वदङ्घ्रिमूलमासाद्य साक्षात् किं-किं वृणीमहि॥' (२) (भा० ४।३०।३०-३१-३२) इति। एषामयमर्थः - योगिनः = ज्ञानिभक्ताः, क्षेमाय = कल्याणाय - पुनर्दुःखाभावोपलक्षित - परमानन्दावाप्तये, पादस्य = पादोपलक्षितसाकारविग्रहस्य, यन्मूलं = परा-

(१) योगीजन ज्ञान वैराग्य युक्त भक्तियोगके द्वारा शान्ति प्राप्त करनेके लिये मेरे निर्भय चरणकमलोंके मूलतत्त्वमें प्रविष्ट होते हैं।

(२) हे जगदीश्वर! आप मोक्षका मार्ग दिखलानेवाले और स्वयं पुरुषार्थस्वरूप हैं। आप हम पर प्रसन्न हैं, इससे बढ़कर हमें और क्या चाहिये। बस, हमारा अभीष्ट वर तो आपकी प्रसन्नता ही है। तथापि नाथ! हम एक वर आपसे अवश्य मांगते हैं। प्रभो! आप प्रकृति आदिसे परे हैं और आपकी विभूति-योंका भी कोई अन्त नहीं है; इसलिए आप अनन्त कहे जाते हैं। यदि भ्रमरको अनायास ही कल्पवृक्ष मिल जाय, तो क्या वह किसी दूसरे वृक्षका सेवन करेगा? तब आपके चरणोंके मूल पारमार्थिक-तत्त्वको प्राप्त कर अब हम क्या - क्या मांगें? अर्थात् तदन्यकी अविद्यमानता होनेके कारण मांगना समाप्त हो जाता है।

स्परं सच्चिन्मात्रमद्वयानन्दपूर्णं, मे = मम विष्णोः परमं पदं – 'स वै महा-भागवतः परीक्षिद्, येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः । ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम् ॥' (१) (भा० १ । १८ । १६) इत्यत्र गरुडध्वजस्य श्रीविष्णोः पादमूलस्यैवापवर्गाख्यापरिच्छिन्नपरमपदत्वेनाभिधानात् । तत्-कीदृशं ? अकुतोभयं = सर्वथा संसारभयविनिर्मुक्तम् । 'मृत्युरस्मादपैति' (भा० १० । ३ । २७) इति देवक्युक्तेः । प्रविशन्ति = यथा गङ्गाद्याः नद्यः समुद्रं स्वमूलं प्रविशन्ति. तद्वत् योगिनः स्वमूलं निर्विशेषमद्वयं ब्रह्मैव, तदेव पादमूलं नान्यत् । पादमूलस्यापरिच्छिन्नत्वमन्तरेण तेषां प्रवेशयोग्यता-राहित्यात् ।

एतेन– 'पादैव मूलं' इति व्याख्यानं निरस्तम् । यतस्तस्य परिछिन्नतया प्रवेशयोग्यताऽभावात् । 'तत्पादसलिलं यथा' (भा० १० । १ । १६) इत्यत्र पादस्य सलिलमिव, पादस्य मूलमिति व्याख्यानं प्रशस्ततरमेव । हरेः परम-फलत्वं दर्शयन्नाह – 'हरिः प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मरूपेण विज्ञातः सन् अज्ञान-तत्कार्यदुरितादिहरणशीलत्वात् । 'अज्ञातं ब्रह्म विषयो ज्ञातं ब्रह्म प्रयोजनम् ।' इत्यद्वैतसम्प्रदायविद्भिरुक्तत्वात् । स्वयं प्रकृतिः = चराचरविश्वविवर्तोपादान-कारणम् । ईश्वरः = निमित्तकारणं नियन्ता स्वामी । तत्पादमूलमेव शरणं = आश्रयः, स्वस्वरूपावस्थानात्मिका मुक्तिरिति यावत् । 'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।' (भा० २ । १० । ६) इति द्वितीये श्रीशुकेनादिम-प्रवक्त्रैवाभिहितत्वात् । यतः = यस्मिन् क्षेमः = अपवर्गाख्यं कल्याणम् । येषां = अस्माकं, भगवान् प्रसन्नः = भगवत्प्रसाद एवास्माकमीप्सितो वर इत्यर्थः । अपवर्गगुरुः = मोक्षतन्मार्गोपदेष्टा सद्गुरुः, गतिः = स्वतः पुरुषार्थ-भूतः स्वाभिन्नतया ज्ञायमानाद्वयानन्तानन्दस्यैव परमपुरुषार्थत्वात् । यद्यप्येवं तथापि हे नाथ ! त्वत् = त्वत्तः कथंभूतात् ? परात् = परस्मात् ब्रह्मणोऽपि परात् — वरमेकं वृणीमहि । अतो यद्यपि त्वं दातुं समर्थो, न च देयानां त्वद्विभूतीनामन्तोऽस्ति, यतोऽनन्तविभूतित्वात्, त्रिविधान्तरहितत्वाच्च त्वं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २ । १) इति श्रुत्या गीयसे । तथापि यथा सारंगः = भ्रमरः, पारिजाते अंजसा = सुखेन लब्धे सति, सुलभमप्यन्यद्वृक्षा-न्तरं न सेवते, सारंगस्य पारिजातकुसुममकरन्दमात्रग्राहित्वात् अन्यपुष्प-मकरन्दवांछैव नोदेति । तथैव वयमपि त्वदनुग्रहलब्धज्ञानभक्तिमन्तः साक्षात्

(१) भगवान्‌के परम प्रेमी महाबुद्धिमान् परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेवजीके उपदेश किये हुये जिस ज्ञानसे मोक्षस्वरूप—भगवान्‌के चरणकमलोंके मूलतत्त्वको प्राप्त किया ।

अश्वत्थरूपसंसारवृक्षस्य मूलभूतं त्वदंघ्रिमूलं-चित्सुखमात्रं प्राप्य किं-किं वृणीमहि, न किञ्चिदित्यर्थः, तद्भिन्नस्य सर्वस्य बाधितत्वात्। यद्वा किमप्यन्यत्तुच्छं किमर्थं वृणीमहि ? परन्तु 'तावद्भवत्प्रसंगानां संगः स्यान्नो भवे भव।' (भा० ४।३०।३३) भवति = परब्रह्मणि प्रकृष्टो निष्ठालक्षणः संगो येषां, तेषां वीतरागाणां ब्रह्मनिष्ठानां संगोऽस्माकमनवरतः स्यात्। येनास्माकमपि सद्ब्रह्मनिष्ठा-असत्संसारोपरतिश्च सुदृढाभवेदितीममेकं वरं याच्यामहे इति भावः। अत एव श्रीहरेः पादमूलमेव तस्य परमपदतया श्रीसर्वज्ञात्ममुनयः संक्षेपशारीरकेऽभिवर्णयन्ति — 'अनृतजडविरोधिरूपमन्त-त्रयमलबन्धनदुःखताविरुद्धम्। अतिनिकटमविक्रियं मुरारेः परमपदं प्रणयादभिष्टवीमि ॥ (१) अद्वैतं परिशोधितं भगवतो विष्णोः परं यत्पदम्, तच्छब्देन समर्पितं परिगृहीतादेयमात्मप्रभम्। यच्चोपाधिविवर्जितं तव निजं साक्षात् स्वरूपं तयोरेकत्वं परिवर्जितव्यवधिकं प्रत्यक्षमीक्षस्व भो ! ॥ (१।२६५) 'अनृतजडविभक्तदुःखतुच्छासहनवपुः परमं पदं मुरारेः। परिहृतसकलप्रपञ्चमात्मा तव तदवेहि तमो निरस्य वाक्यात ॥ (२) (१।२६६) तस्मात्तत्परवेदवाक्यगतिभिर्न्यायेन चात्मप्रभं, सर्वद्वैतविवर्जितं विगलितध्वान्तं शिवं शाश्वतम्। प्रत्यग्रूपमरूपगन्धरसकं तच्छब्दवाच्यं स्थितम्, वाक्यार्थान्वयि लक्षितं भगवतो विष्णोः पदं गृह्यताम् ॥ (३।२६१) अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं, निचाय्यतामीदृशं पदमीदृशं हरेः ॥ (४) (३।२६२)।

(१) मिथ्या तथा जड़ प्रपंचके विरोधि—सत्य एवं स्वयं प्रकाश; सर्वरूप, त्रिविधपरिच्छेद, रागद्वेषादिमल, धर्माधर्मादिबन्धन और दुःखसे विरुद्ध—अनन्त, शुद्ध, मुक्त एवं सुखरूप, अत्यन्त निकटवर्ती सर्वात्मा सर्वानन्यरूप जन्मादि विकारोंसे रहित मुरारिके परमपदका पूर्णश्रद्धाभक्तिसे संस्तवन करता हूं।

(२) भगवान् विष्णुका जो परम पद शोधित अद्वैत, स्वयं-प्रकाशतत्त्व है वह भागत्यागलक्षणाद्वारा निर्णीत तत्पदसे उपादेय है। और जो उपाधि-रहित तेरा साक्षात् निजस्वरूप है, उन दोनोंका कोई व्यवधान—भेद नहीं, भो शिष्य ! उनकी एकताका प्रत्यक्ष दर्शन कर। मुरारीका अनृत, जड़, विभक्त, सान्त, दुःख और तुच्छसे विलक्षण, सकल प्रपंचातीत परम पद तेरा आत्मा है। उसे विवेकादिकी सहायतासे अविवेकरूपी तमको हटाकर 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा समझ।

(३) इसलिये तत्परक वेदवाक्योंके अर्थ बोधन प्रकारोंके द्वारा द्वैत-प्रपंचका मिथ्यात्व साधक न्यायोंकी सहायतासे स्वयंप्रकाश, सर्वद्वैतरहित, अनावृत, शाश्वत, प्रत्यगात्मा, रूपरसगन्धसे रहित, शिव-'तत्' शब्दका वाच्य निर्णीत

अयमर्थः – मुरारेः = जगदुपद्रवकारिमुराद्यसुरसंहरणाज्जगत्पालयितुः श्रीविष्णोः जगत्कारणमायासत्त्वांशप्रतिबिम्बचैतन्यात्मनोऽन्तर्यामिणः, परमं = मायाकल्पितजगत्कारणत्वादिशून्यत्वेन सर्वोत्कृष्टमधिष्ठानमूलं–बिम्बभूतं पदं-स्वरूपम् । उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेन बिम्बे स्वधर्माकल्पकत्वात् । बिम्बेश्वरपक्षेऽज्ञानप्रतिबिम्बितजीवचैतन्यप्रतियोगितया बिम्बत्वेन व्यवह्रियमाणस्य विष्णोः परमं पदम् = बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनाशून्यं निरुपाधिस्वरूपम् । 'बिम्बे तमो निपतिते प्रतिबिम्बके वा' (२ । १७६) इत्यादिनेश्वरस्य द्वैरूप्यं वक्ष्यति । परमत्वं चापरमत्वापादकोपाधिराहित्येन । पदत्वं चाविद्यातिरोधानापनयाय सर्वपदनोयत्वेन स्वरूपस्य द्रष्टव्यम् 'तद्विष्णोः परमं पदं' (ऋ० ७ । १ । ५) इति श्रुतेः, 'तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा' (बृ० १ । ४ । ७) इति श्रुतेश्च । अभिष्टवामीति – अभितः स्तौमीत्यर्थः । 'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः' इति पद्मपादटीकोक्तेरकल्पितधर्मस्य क्वाऽप्यनुपपत्तेः, कल्पितसत्यत्वादिधमपुरस्कारेण गुणकथनरूपा स्तुति मुख्यैव निर्गुणेऽपि वस्तुनि सम्भवतीति तु तत्त्वम् । एतादृशभगवत्स्तुतौ च तद्भक्तिरेवासाधारणं कारणमित्याह – प्रणयादिति । प्रणयः = परा प्रीति र्भक्तिरित्यर्थः । सा हि स्वरसतः परमानन्दरूपे परमात्मनि समुल्लसन्ती धारासन्ततिरूपा मनोवृत्ति र्भागवती भक्तिरित्युच्यते । तया चाविघ्नेन सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्त्यादिद्वारेण परं निःश्रेयसं लभ्यते । 'यस्य देवे परा भक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ ।' (श्वे० ६ । २३) 'भजतां प्रीतिपूर्वकम्, ददामि बुद्धियोगं तम् ।' (गी० १० । १०) इति गीतास्मृतेः । 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (यो० सू० १ । २३) 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।' (यो०सू० १।२९) इति योगसूत्राच्च । निर्गुणेऽपि ब्रह्मणि भक्तिरुपपद्यत इति । व्याख्यातं भगवद्गीतासु 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' (गी० ७ । १६) 'एकभक्तिर्विशिष्यते' (गी० ७ । १७) इत्यादिना । तत्र निर्विशेषे वस्तुनि जगत्त्वेन जीवत्वेन परमेश्वरत्वेन च प्राप्तां विक्रियां निषेधति-अविक्रियमिति । जगति जन्माद्याः विक्रियाः, जीवे जाग्रदाद्याः, ईशे सृष्ट्याद्या विक्रिया मायया प्रसक्ताः निर्विशेषे निर्गुणे वस्तुनि सर्वथा न सम्भवतीति तदविक्रियम् । एतेन सर्वविकारशून्यत्वात्सर्वेन्द्रियाग्राह्यतारूपा सूक्ष्मता, सर्वोपाधिसम्बन्धशून्यतारूपा नित्यमुक्तता च दर्शिता ।

होता है । तत् शब्दका वाच्य अर्थविशिष्ट है और 'तत्' पदका लक्ष्य है—शुद्धब्रह्म, वह शुद्धब्रह्म महावाक्योंके द्वारा ही अभिलक्षित होता है । जो नित्य, शब्दादिरहित, अव्यय तथा रसगन्ध आदिसे शून्य है, ऐसा आदि अन्त रहित महत्तत्वसे परे भगवान्का ध्रुव पद निश्चेतव्य है ।

एवं सामान्यतः सर्वविक्रियाशून्यतामुक्त्वा विशेषेणाप्याह – अनृतेत्यादिना । अत्र अनृतविरोधि = परमार्थसत्यमबाध्यम् । जडविरोधि = स्वप्रकाशं ज्ञानम् । रूपं = सर्वानुस्यूतं सन्मात्रम् । अन्तत्रयविरुद्धम् = अन्तानां-देशकालवस्तु-परिच्छेदानां यत् त्रयं तद्विरुद्धं, देशपरिच्छेदो ह्यत्यन्ताभावस्तदप्रतियोगित्वेन विभुः, कालपरिच्छेदौ च ध्वंसप्रागभावौ तदप्रतियोगित्वेन नित्यम्, वस्तुपरि-च्छेदश्चान्योऽन्याभावः, तदप्रतियोगित्वेनाद्वितीयम् । एतेन प्रपञ्चधर्माणामन-नृतत्वजडत्वव्यापृतरूपत्वाविभुत्वानित्यत्वसद्वितीयत्वानां व्यावृत्तिः सिद्धा । 'मलबन्धनदुःखताविरुद्धम्' इति जीवधर्माणां व्यावृत्तिः । मलः = कर्तृत्व-भोक्तृत्वरागादिलेपोऽशुद्धिः, तद्विरुद्धं = कर्तृत्वादिलेपशून्यं शुद्धं, बन्धनं = धर्माधर्मतत्फलसम्बन्धः, तद्विरुद्धं मुक्तं, दुःखताविरुद्धं = परमानन्दरूपं न तु तदाश्रयः । नापि दुःखरूपस्तदाश्रयो वा । जीवो हि रागादिमलैर्धर्माधर्मादि-बन्धनेन सुखदुःखाश्रयत्वेन च प्रसिद्धः । अतिनिकटं इतीश्वराद्व्यावृत्तिः, भेद-वादिभिर्हि पराग्रूपः परोक्षः एवेश्वरः कल्पितः । इदं त्वतिनिकटं साक्षादपरोक्षं प्रत्यगात्मस्वरूपमत्यव्यवहितमित्यर्थः । एतेन – 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २ । १) 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् ।' (बृ० २ । ५ । १९) सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छां० ६ । २ । १) 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' (मु० १ । १ । ६) 'विमुक्तश्च विमुच्यते ।' (क० उ० ५ । १) 'न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् ।' (बृ० ४ । ४ । २३) 'शुद्धमपाप-विद्धम्' (ईशा० ८) 'एष एव परम आनन्दः' (बृ० ४ । ३ । ३३) यत्सा-क्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३ । ४ । १) 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ४।३।१) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २ । ५ । १९) 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (क० उ० २ । १८) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६ । १९) इत्याद्याः श्रुतयोऽसत्यत्वादितत्तद्भ्रमापोहेनाखण्डप्रत्यगभिन्नं ब्रह्म मुमुक्षुजिज्ञास्यं प्रतिपादयन्ति, न तु सत्यत्वादिरूपेण, तस्य निर्विशेषत्वेन सर्व-धर्मानाधारत्वादिति प्रतिपादितं भवति ।

भगवतो विष्णोर्यत्परं पदं, परिशोधितं सत्यादिवाक्येनेति शेषः । तदेव भागलक्षणया तत्पदेनोपादेयमित्याशयेनाह परिगृहीतादेयमिति । परि-गृहीतं-आदेयं = उपादेयांशो यथा स्यात्तथा समर्पितमित्यर्थः । उपाधि-वर्जितं = अहंकारादिरहितं, अत एव साक्षादित्युक्तम् । परिवर्जित-व्यवधिकं निरस्तपरस्परभेदकम् । एतच्चैकत्वविशेषणमत्यन्ताभेदाभि-प्रायम् । एतेन तत्त्वं पदद्वयलक्ष्ये भेदकाभावात् कथमपि भेदो न संभवतीति कथं न निःसंशयं प्रेक्षणं स्यादिति सूचितम् । परिगृहीतादेयमित्यनेन सूचितं सत्याद्यवान्तरवाक्यसिद्धं परमं पदं, तत्र सत्यादिपदानामनृतादिव्यवच्छेद

एव प्रातिस्विकं प्रयोजनमिति दर्शयन्–अनृतादिव्यावृत्तिमखण्डवाक्यार्थ-प्रपञ्चनमुपसंहरति–अनृतजडेति। विभक्तेत्यनन्तपदव्यवच्छेद्यं परिच्छिन्नमुक्तम्, तुच्छेति सत्पदव्यावर्त्यम्, एताननृतादीन्न सहत इत्यसहनम्, एतद्विलक्षण-मिति यावत्। एवंविधं वपुर्यस्य तदित्यर्थः। तमः = त्वंपदार्थाविवेकं, तद्विवेचनेन निरस्य, यत्सत्यज्ञानानन्तानन्दसद्रूपं परिहृतसकलप्रपञ्चमद्वयं मुरारेः परमं पदं, तत्त्वात्मेति तत्त्वमादिवाक्यादवेहीति सम्बन्धः। एवमेव सर्ववेदान्तसारे श्रीमद्भागवते चतुर्थेऽपि सनत्कुमारोपदिष्टं 'प्रत्यक् चकास्ति भगवान् तमवेहि सोऽस्मि।' (भा० ४।२२।३७) इतीदृशं वेदान्ततात्पर्यार्थ-स्मरणमप्युपपद्यते।

निर्गुणब्रह्मबोधकवाक्यानां तत्परत्वाद् अन्यथा नेतुमशक्यत्वाच्च तदनुरोधेन सगुणब्रह्मबोधकवाक्यानामारोपितद्वैतविषयत्वमभ्युपेयम्। अत उपासनाबोधकवाक्यानि, उपास्तिविधिपराणि, न वस्तुबोधनपराणि, उपा-सनं च 'वाचं धेनुमुपासीत' (बृ० ५।८।१) इत्यादाविवारोपितोपास्य-रूपमादायाप्युपपद्यत इति निर्गुणब्रह्मबोधकश्रुतिस्मृतिभागवतादिशास्त्रबलादु-पेयमिति निर्विशेषनिर्गुणब्रह्मणो न वस्तुतः सगुणसविशेषत्वं मन्तव्यम्। न तावन्निर्गुणब्रह्मवाक्यं ब्रह्मप्रशंसापरतया नेतुं शक्यम्, सर्वगुणनिषेधेन स्तोत्रापरपर्यायप्रशंसायाः कर्तुमशक्यत्वात्, वस्तुतः सगुणस्य गुणप्रतिषेधे निन्दाया एव प्रतीतेश्च। अतः सगुणब्रह्मवाक्यानामारोपितोपास्यरूपविषयक-तयाऽन्यपरत्वेन दौर्बल्यात्, निर्गुणवाक्यानां तु स्वार्थपराणां प्रबलत्वात् दुर्बलानुरोधेन प्रबलस्यान्यथा नयनं न कस्यापि सम्मतमपितु प्रबलानुरोधेन दुर्बलस्यान्यथा नयनं सर्वसम्मतं प्रत्येतव्यम्। नापि तत्प्राकृतगुणाभावपरमिति वक्तुं शक्यम्। सर्वेषां गुणानां प्राकृतत्वेन विशेषणायोगात्। 'न च सर्वगन्धः सर्वरसः' (छां० ३।१४।४) इत्यादिवचनैरप्राकृतगुणसिद्धे विशेषणोप-पत्तिरिति वाच्यम्। तत्र गुणानामप्राकृतत्वाप्रतीतेः, पृथिव्यादिगतगन्धादिभिरेव तत्कारणसगुणब्रह्मणः सर्वगन्धादिमत्त्वेनोपास्तिविधिसंभवे तदतिरिक्ताप्राकृत-गुणकल्पनाऽयोगाच्च। इतरथा सर्वशब्दात्तत्राप्राकृतदुर्गन्धादिरपि भवेत्। तस्मात् 'केवलो निर्गुणश्च' (श्वे० ६।११) 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्पर-मात्माऽयमव्ययः।' (गी० १३।३१) 'आत्मनि दृढा रति ब्रह्मणि निर्गुणे च या।' (भा० ४।२२।२१) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभागवतवचांस्यन्यथा नेतुम-शक्यानि। इत्यभिप्रेत्य तत्पदवाच्ये सविशेषे ब्रह्मणि भागत्यागलक्षणयोपादेयं निर्गुणं निर्विशेषं निष्प्रपञ्चं शिवं शाश्वतं भगवतो विष्णोः परमं पदं बोध-यति – तस्मात्तत्परेति। प्रवृत्तिर्गतिशब्दार्थः। उपाधीनां मायिकगुणानामौपा-धिकानां सविशेषसाकारादीनां च मिथ्यात्वसाधको न्यायो न्यायेनेत्युक्तः।

शिवं = सुखैकतानम्। तस्य परोक्षत्वं निवारयति — प्रत्यग्रूपमिति । अस्पर्शगन्धरसकमिति शंक्यमानसमस्तगुणराहित्योपलक्षणार्थम् । उक्तरूपस्य तत्पदलक्षितत्वे हेतुं वाक्यार्थान्वयीत्ति। निर्गुणनिर्विशेषाद्वयब्रह्मबोधादेव परमपुरुषार्थलाभात्तदेव वेदान्तगम्यमित्यत्र कठश्रुतिं प्रमाणत्वेनोदाहरति — 'अशब्दमिति। अव्ययं = अपक्षयरहितम्। नित्यं - सदा । महतः = समष्टिबुद्धिरूपहिरण्यगर्भात् । ध्रुवं = कूटस्थं । 'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' इति मन्त्रगतचतुर्थचरणस्य तात्पर्यार्थमाह — निचायनीयमिति । निचायनीयं = तात्पर्यतो विज्ञेयं हरेरीदृशं पदम्।

अतः श्रीमद्भागवते द्वादशेऽप्युपसंहारे - ईदृशमेव तन्मूलभूतं विष्णोः परमं पदं 'नेति नेति' (बृ०२।३।६) श्रुतिबाधितं स्पष्टतया प्रतिपादितमुपलभ्यते। तथाहि–'न यत्रवाचो न मनो न सत्त्वं तमो रजो वा महदादयोऽमी । न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा न सन्निवेशः खलु लोककल्पः ॥ न स्वप्नजाग्रन्न च तत्सुषुप्तं, न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः । संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति ॥ (भा० १२ । ४ । २० - २१) 'पर पदं वैष्णवमामनन्ति तद् यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।' (भा० १२ । ६ । ३२) इति व्याख्यातानीमान्यस्माभिः प्राक् । अतो नेह प्रयस्यते । अत एव श्रद्धेयः सर्वज्ञात्ममुनयोऽपि— 'निर्गुणे निर्विशेषेऽद्वये ब्रह्मणि परिनिष्ठितो दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो विद्वान्-ईदृश एव विष्णोःपरमे पदे तिष्ठतो'ति प्रतिपादयन्तः प्राहुः—'मूर्त्तामूर्त्ततदुत्थलिङ्गपुरुषव्यामिश्रभूता चितिः, वीप्सापूर्वकनेतिनेतिवचनप्रध्वस्तसर्वद्वया । संपूर्णे परमे सुखे परिहृताशेषे शिवे शाश्वते, नित्ये शुद्धमहिम्नि तायिनि परे भूम्न्यक्षरे तिष्ठति । (१) (सं० शा० ३ । २३०) ।

अयमर्थः — 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।' (ब्र० सू० ३ । २ । २२) इति वेदान्तदर्शनसूत्रनिर्णीतमूर्त्तामूर्त्तबृहदारण्यकब्राह्मणतात्पर्यादपि भूतभौतिकतत्तद्वासनात्मकसमस्तप्रपञ्चनिषेधेनाद्वयचिदानन्दादिरूपाखण्डब्रह्मण एव परमार्थतया निर्धारितत्वाद् अविकृतब्रह्मपरिणामवादस्तस्वतो वदतोव्याघातदोषाक्रान्तत्वान्न ग्राह्य इत्याशयेनाह - मूर्त्तामूर्त्तेति । तायिनि=व्यापके । 'निषेधशेषो जयतात्' (भा०८।३।२४) इति श्रीमद्भागवतबोधितं निषेधशेषमेव परिहृताशेषं विज्ञेयम् । 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवा-

(१) मूर्त - अमूर्त-भूतोंसे जन्य - लिङ्गशरीरसे तादात्म्यापन्न चेतनका जब वीप्सा-घटित नेति-नेति वाक्योंसे समस्तद्वैतप्रपंच प्रध्वस्त हो जाता है, तब वह अपने सम्पूर्ण, परम, सुख, निर्विशेष, शाश्वत, सत्य, शुद्धमहिम, व्यापक, परभूमा, अक्षरस्वरूपमें स्थित हो जाता है ।

मूर्तं च' (बृ० २ । ३ । १) इत्यादिनाऽध्यात्ममधिभूतं च पृथिव्यप्तेजांसि मूर्तं, वाय्वाकाशे अमूर्तमिति सर्वं जगद् द्वैराश्येनोपपाद्य अध्यात्ममधिदैवं चामूर्तरसात्मकं लिङ्गात्मकं पुरुषं चोक्त्वा 'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासः' (बृ० २ । ३ । ६) इत्यादिना तद्वासनामयं स्वप्नादिप्रपञ्चमुपन्यस्य 'अथात आदेशो नेति-नेति' (बृ २ । ३ । ६) इत्यादिना वीप्सया प्रकृतसमस्तद्वैतं साक्षात् प्रतिषेधन्ती श्रुतिस्तस्य सर्वस्य ब्रह्मभिन्नस्य मिथ्यात्वमेव दर्शयति । 'नह्येतस्मात्' (बृ० २ । ३ । ६) इत्यादिना च प्रतिषेधावधिभूतं रूपि ब्रह्म वास्तवं प्रतिपादयति । ततो न परिणामवादो युक्त इत्यर्थः ।

तादृशे पादमूले-सर्वेषां पारमार्थिकस्वस्वरूपे 'स्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् ।' (भा० ८ । ६ । १०) इति शब्दिते कृतकेतनः = लब्धाभेदावस्थानः । संसृतिं = जन्माद्यनर्थपरम्पराभूतामविद्याऽध्यारोपितां, क्लेशवहां = अविद्यादीन् पञ्चक्लेशान् वहति = प्रापयतीति तच्छीलां, पुन र्न प्रपद्यते = प्राप्नोति । अनेन-विज्ञानविशेषस्य वीर्यं प्रदर्शितम् । अयंभावः — विज्ञानविशेषेण संसृतिमूलमज्ञानं निवर्तते, प्रकाशेन तम इव । एवं तन्नाशात् तत्कल्पिता संसृतिरपि, इति संसृते मिथ्यात्वबोधनायाज्ञानदशायामिव ज्ञानदशायां न पुनः प्रपद्यते इत्युक्तम् । तस्याः सर्वथा तन्मूलबाधेन बाधितत्वाद्-बाधितां शून्यभूतां कथं कः प्रपद्येतेति । तदेतदभिहितमेकादशेऽपि स्वयं भगवता श्रीनारायणेन स्वाश्रयं भक्तमुद्धवं प्रति — 'यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा । स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह ! तथा संसार आत्मनः ॥' (भा० ११ । २२ । ५४) 'अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते । ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥' (१) (भा० ११ । २२ । ५५,–११ । २८ । १३,–३ । २७ । ४, – ४ । २९ । ७३) इति । अयमर्थः — अज्ञानकल्पितस्य कर्तृत्वादिसुखित्वाद्यनुभवात्मकस्य संसारस्य मिथ्यात्वे दृष्टान्तद्वयमाह — यथा हे दाशार्ह ! उद्धव ! एताः प्रसिद्धाः मनोरथधियः, यथा च स्वप्नदृष्टा धियो मृषा तथा आत्मनो विषयानुभवः संसारो देहाद्यात्माध्यासात्मकश्च मृषा ।

(१) जैसे मनके द्वारा सोचे गये तथा स्वप्नमें देखे गये भोगपदार्थ सर्वथा मिथ्या—अलीक ही होते हैं, वैसे ही हे दाशार्ह ! आत्माका विषयानुभवस्वरूप द्वैत संसार भी सर्वथा असत्य है । आत्मा तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वभाव ही है । विषयोंके सत्य न होने पर भी जो जीव विषयोंका ही चिन्तन करता रहता है, उसका यह जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्र कभी निवृत्त नहीं होता, जैसे स्वप्नमें प्राप्त मिथ्या अनर्थ परम्परा जागे विना निवृत्त नहीं होती ।

ननु – यदि मृषा तर्हि किं तन्निवृत्तिश्रमेण ? अत आह – अर्थे देहाद्युपाधिसम्बन्धेऽविद्यमानेऽवस्तुभूतेऽपि संसृतिः = संसारसम्बन्धोत्थं दुःखं न निवर्तते, कस्य ? अस्याज्ञस्य भोग्यबुद्ध्या सत्यबुद्ध्या च विषयान्ध्यायतोऽस्य जीवस्य, न तु तत्त्वज्ञस्य । अवस्तुभूतस्यापि दुःखदत्वे दृष्टान्तः – स्वप्नेऽनर्थागमः = सर्पदंशशिरश्छेदादि वस्तुतः असन्नपि निद्रावशात् सत्य इव प्रतिभाति, जाग्रतिमन्तरेणान्यैरुपायै र्न च तन्निवर्तते, तथैव विज्ञानविशेषमन्तरेण मृषाभूतसंसारो न निवर्तते । 'यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थकृत् । स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥' (१) (भा० ३ । २७ । २५) अविवेकावस्थायामनर्थहेतुरपि विवेकज्ञानावस्थायां न भवतीति सदृष्टान्तमाह — प्रस्वापः = स्वप्नः, बहून्-अनर्थान् बिभर्ति = पुष्णाति-मिथ्याभूतान् आविष्करोति, प्रतिबुद्धस्य = जाग्रतिं लभमानस्य संस्कारवशेन स्फुरन्नपि दृढतरमिथ्यात्वनिश्चयात् न वै मोहाय = मोहं-भ्रान्तिं जनयितुं कल्पते = समर्थो भवतीत्यर्थः । 'अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृति र्न निवर्तते । मनसा लिङ्गरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा । अथाऽऽत्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा । संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ ॥ वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः । सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानञ्च जनयिष्यति ॥' (२) (भा० ४ । २९ । ३५-३६-३७) इति । अयमर्थः — ननु – तर्ह्यज्ञानाध्यारोपितया द्रष्टरि दृश्यस्य संसृतिहेतोरप्यसत्त्वात् किं तन्निवर्तनप्रयासेन ? तत्राह — अर्थे हीति । लिङ्गरूपेण =

(१) जैसे सोये हुये पुरुषको स्वप्नमें कितने ही अनृत-अनर्थोंका अनुभव करना पड़ता है, किन्तु जाग पड़ने पर उसे उन स्वप्नके अनुभवोंसे किसी प्रकारका मोह नहीं होता, उसी प्रकार जिसे तत्त्व ज्ञान हो गया है और जो निरन्तर मुझ अद्वय ब्रह्ममें ही मन लगाये रहता है, उस आत्माराम मुनिका प्रकृति माया कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती, क्योंकि स्वप्नदृश्यके समान वह वस्तुतः कुछ है ही नहीं ।

(२) जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें अपने मनोमय लिङ्गशरीरसे विचरने वाले प्राणीको स्वप्नके पदार्थ न होने पर भी भासते हैं, उसी प्रकार ये दृश्यपदार्थ वस्तुतः न होने पर भी, जब तक अज्ञान निद्रा नहीं टूटती, बने ही रहते हैं और जीवको जन्म-मरणरूप-संसारसे मुक्ति नहीं मिलती । अतः इनकी आत्यन्तिक निवृत्तिका उपाय एकमात्र आत्मज्ञान ही है । राजन् ! जिस अविद्याके कारण परमार्थस्वरूप आत्माको यह जन्म-मरणरूप अनर्थ परम्परा प्राप्त हुई है, उसकी निवृत्ति गुरुस्वरूप श्रीहरिमें सुदृढ़ ज्ञानमयी भक्ति होने पर ही हो सकती है । भगवान् वासुदेवमें एकाग्रतापूर्वक सम्यक् प्रकारसे किया हुआ भक्तिभाव ज्ञान और वैराग्यका आविर्भाव कर ही देता है ।

उपाधिभूतेनात्मन्यध्यस्तेन दुःखहेतुना मनसा हेतुना सह स्वप्ने विचरतः पुरुषस्य यथा तदा दृष्टव्याघ्रसर्पचौरादिपदार्थे प्रतीयमानेऽपि वस्तुतोऽविद्यमाने जागरेण निद्रादोषापगममन्तरेणान्योपायेन व्याघ्रादिदर्शनजनितं दुःखं न निवर्तते । तथा जागरणेऽपि चराचरस्य नामरूपक्रियात्मकस्य दृश्यद्वैतप्रपंचस्याहंताममताऽऽस्पदस्याविद्याकाल्पततया वस्तुतोऽविद्यमानत्वेऽपि यावदात्मज्ञानेनाविद्यादोषो न निवर्तते, तावदुपायान्तरेण कल्पितदृश्यदुःखसन्ततिः संसृतिरूपा नैव निवर्तत इत्यर्थः । तदेवं संसृतिप्रकारमुक्त्वा तन्निवृत्तिप्रकारमाह - अथ = तस्मात्, अर्थभूतस्य = पुरुषार्थभूतस्यात्मनो यतः = अज्ञानात् अज्ञानमिथ्याज्ञानमयात् मनसो वा दुःखाद्यनर्थपरम्परारूपा संसृति भवति, तद्व्यवच्छेदः = तस्याज्ञानस्य तादृशमनसो वा व्यवच्छेदः = विनाशः, गुरौ = प्रत्यगभिन्नेऽद्वये ब्रह्मणि परमया = वैराग्यविज्ञानप्रचुरया भक्त्यैव, केवलया भक्त्या न व्यवच्छेद इति बोधयितुं ज्ञानेनाज्ञानकल्पितदृश्यदुःखव्यवच्छेदो युक्तिसङ्गत इति च ज्ञापयितुं परमयेति विशेषणम् ।

यत आत्मा पारमार्थिकः एक एवाद्वयः सत्यः, दृश्यतज्जनितदुःखाद्यनर्थपरम्परारूपा संसृतिः असत्या, अज्ञानकल्पिता, अतः प्रबोधं विना यथा स्वाप्निकं दृश्यदुःखं न निवर्तते, तथैवात्मप्रबोधमन्तरा संसारदुःखमपि, अतो वैराग्यभक्तिप्रचुरात् - ज्ञानादेव संसृतिस्तन्मूलमज्ञानञ्च निवर्तते, न तु केवलया ज्ञानवैराग्यरहितया भक्त्या; 'तरति शोकमात्मवित्' (छां० ७।१।३) 'नानुशोचन्ति पण्डिताः' (गी० २।११) 'पण्डिताः समदर्शिनः' (गी० ५।१८) 'मामात्मानं स्वयं ज्योतिः ...... वीक्ष्य विशोकोऽभयमृच्छसि ।' (भा० ३।२४।३६) इति श्रुतिस्मृतिभागवतवचनेभ्योऽपि निर्णीतं सिद्धान्तं वक्तुं भक्तियोगेन प्रादुर्भूते तत्फलभूते ज्ञानवैराग्ये स्तः, अतो भगवद्भक्तौ तयोः प्राचुर्यं तत्साफल्यायाह — वासुदेवे इति । समाहितः = सम्यक् = सत्संगेन शास्त्रविचारेण सद्गुरूपदेशेन च आहितः = निर्मले मुमुक्षुहृदये स्थापितः, सध्रीचीनेन = समीचीनेन प्रकारेण - 'भक्त्या मामभिजानाति ।' (गी० १८।५५) 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते ।' 'ददामि बुद्धियोगं तं भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।' (गी० १०।१०) इत्यादिशास्त्रबोधितेन वैराग्यं ज्ञानञ्च जनयिष्यसि । तयोर्जननमन्तरा भक्तेर्वैयर्थ्यं निश्चितम्, अतस्तयोरुत्पत्त्या तद्द्वारा अज्ञानसंसृतिनिवर्तनेन तस्याः साफल्यं संभवति, केवलया भक्त्या यदि अज्ञानसंसृतिव्यवच्छेदः संभवेत्, तदा तज्जननं वैयर्थ्यमेवात्रोक्तमापद्येतेति, पक्षपातवर्जितैर्विद्वद्भिरिदं कर्णीकृत्य समालोचनीयम् ।

एवं भगवद्भजनस्य विज्ञानविशेषद्वारा महत्फलं निरूप्य, तत्र स्वकीयाः प्रजाः नियोजयति महाराजः पृथुः-तमेव-'भगवान्, ... सगुणो निर्गुणः

स्वदृक् ।' (भा० ३ । ३२ । ३६) इति न्यायेन सगुणत्वेऽपि वस्तुतो निर्गुणं, साकारत्वेऽपि परमार्थतो निराकारं सर्वात्मानं भगवन्तं यूयं– अमायिनः सन्तः = सत्कारमानपूजाद्यर्थदंभादिकपटरहिताः सन्तः, आत्मवृत्तिभिः = स्वस्ववर्णाश्रमानुसारेणाध्यापनरक्षणकृषिवाणिज्यसेवादिरूपाभिः, मनोवचःकायगुणैः = =मनोगुणः-ध्यानं, वचोगुणः-स्तुतिः, कायगुणः-परिचर्या तैः, तथा स्वकर्मभिः यज्ञदानाद्यनुष्ठानैः, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।' (गी० १८ । ४६) इति भगवद्गीतास्मृतेः । भजत = आराधयत परया प्रीत्येति शेषः ।

ननु–भगवद्भजनस्य परंपरया मोक्षहेतुत्वं चेत्तदा सकामानां तद्भजनेन कामपूर्ति र्न स्यादित्याशंक्याह–कामदुघाङ्घ्रिपंकजं = आराधकानां कामान् अभिलषितान् पदार्थान् ऐहलौकिकान् पारलौकिकान् वा पूरयतीति कामधुक् तादृशमंघ्रिपंकजं यस्य तम् । अतस्तद्भजने न कामाद्यनुपपत्तिरिति भावः । 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ।।' (१) (भा० २ । ३ । १०) इति स्मरणाच्च । न च कामसंपत्त्या भजनस्य चरितार्थत्वान्मोक्षो न स्यादिति शंकनीयम् । यतः–'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते । भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ।।' (२) (भा० १० । २२ । २६) इति न्यायेन भगवद्भजनस्य संस्कारादिवशात् मध्ये कामसंपादनेऽपि–अन्ततो मोक्षपर्यवसायित्वात् । ननु–तथापि ब्रह्मादिभि र्महद्भिराराध्यस्य कथमस्मदाराधनेन प्रसन्नता स्यात्, येन तत्सफलं स्यादित्याशंक्याह—यथेति–यथाऽधिकारमेवाराधनेन अवसिताः = शास्त्रेण निश्चिताः, अर्थानां = तत्तत्फलानां सिद्धयो भवन्ति । 'नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिणः ।' (भा० १ । १८ । २३) इति न्यायेन न सर्वेषां समानमाराधनमपेक्षितं, येनाराधनस्य निष्फलत्वं स्यादिति भावः ।

संप्रति भगवद्भजनस्य 'भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।'

---

(१) जो बुद्धिमान् पुरुष हैं, वह चाहे निष्काम हो, समस्त कामनाओंसे युक्त हो अथवा मोक्ष चाहता हो, उसे तो तीव्र भक्तियोगके द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवान्‌की ही आराधना करनी चाहिये ।

(२) जिन्होंने अपना मन और बुद्धि मुझे समर्पित कर रक्खा है, उनकी कामनायें उन्हें सांसारिक भोगोंकी ओर ले जानेमें समर्थ नहीं होती, ठीक वैसे ही, जैसे भुने और उबाले हुए बीज फिर अंकुरके रूपमें उगनेके योग्य नहीं रह जाते ।

(गी० ६ । १३) 'अतस्तदपवादार्थं ❀ भज सर्वात्मना हरिम् । पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः ॥' (१) (भा० ४ । २६ । ७६) इति न्यायेन तत्परमार्थज्ञानवैशिष्ट्यबोधनाय—'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।' (श्वे०उ० १।१२) – जीवजगदीश्वराणां–अर्थात् कर्तृकर्मतत्फलतत्प्रेरकानां शुद्धविज्ञानघनब्रह्ममात्रत्वात् तदेव परमार्थतः सत्यमभिप्रेत्य तत्र श्वेताश्वतरमन्त्रमुदाहरति-व्याख्यातञ्चैतत् सर्वज्ञात्ममुनिभिः संक्षेपशारीरके–'भोक्ता भोज्यं प्रेरितारञ्च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् । जीवेशानौ सृज्यमानं जगच्च, शुद्धं ब्रह्मेत्याह वेदान्तवाक्यम् ॥' (२) (३ । २६६) भोक्तेति द्वितीयार्थे प्रथमा - भोक्तारं मत्वा = युक्तितोऽसत्यतया निश्चित्य, ब्रह्ममिति छान्दसम् । अथवा मे = मया, तत् = त्रिविधं सर्वं ब्रह्म प्रोक्तमिति मन्त्रदृशो वचनम् । अस्य मन्त्रस्य तात्पर्यार्थमाह–जीवेशानाविति । इति श्रौतन्यायेन सर्वं कर्मतत्कर्तृतत्फलाद्यात्मकं विश्वं भगवद्रूपमेव, नास्ति ततो मनागपि व्यतिरिक्तमिति निश्चयाय–'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥' (गी० ४ । २४) इति न्यायेन यागतदंग — तत्कर्तृतत्फलेषु-रागद्वेषादिदोषापनोदाय भगवद्भाव एव विधातव्यः तदज्ञानारोपितोऽन्यो नामरूपगुणदोषाद्यात्मको मिथ्याभावः सर्वथाऽपसारणीयो भगवद्भजनसाफल्यायेत्यभिप्रेत्य तेषां भगवद्रूपतामाह – असाविति द्वाभ्याम । असौ भगवानेव, स्वरूपतः = परमार्थस्वरूपतः विशुद्धविज्ञानघनः . उपलक्षणमिदम्, विशुद्धसद्घनानन्दघनयोः । अत एव सः, अगुणः = सत्त्वादिगुणत्रयातीतो निर्विशेषोऽपि सन्, इह = कर्ममार्गे पृथग्विधानि यानि द्रव्यादीनि तैरनेकगुणः = नानाविशेषवान्,

(१) अत एव उस अविद्या – काम एवं कर्म-बन्धन से छुटकारा पानेके लिये सम्पूर्ण विश्वको भगवद्रूप देखते हुये सर्वात्मभावसे श्रीहरिका भजन करो, उन्हीं से इस विश्वकी उत्पत्ति और स्थिति होती है तथा उन्हींमें लय होता है ।

(२) भोक्ता, भोग्य और प्रेरकका अद्वय ब्रह्म रूपसे मनन करके सब कुछ त्रिविध ब्रह्म मैंने कहा है । जीव, ईश्वर एवं सृज्यमान जगत् यह सब शुद्ध ब्रह्म है । इस प्रकार वेदान्त वाक्यने कहा है ।

❀ तस्य = अविद्याकामकर्मात्मकस्य बन्धस्य अपवादार्थं = बाधाय, सर्वात्मनेति भावप्रधाननिर्देशः, सर्वात्मभावेनेत्यर्थः । यतः = यत्र यस्य स्थितिः, अप्ययश्च, यस्मादुत्पत्तिस्ततस्तन्मातिरिच्यते इति नियमात् ।

अध्वरः = यज्ञात्मकः-श्रेष्ठतमकर्मरूपः सन् संपद्यते = प्रतीयत इत्यर्थः । 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः । अनेकगुणत्वमेवाह — तत्र पृथग्विधानि द्रव्याणि-व्रीह्यादीनि, पृथग्विधाः शुक्लादयो गुणाः, पृथग्विधाः क्रियाः = अवघातादयः, पृथग्विधा उक्तयो मन्त्राः, पृथग्विधोऽर्थः = अङ्गसाध्यः-उपकारः । आशयः = संकल्पो भावना वा लिङ्गं = पदार्थानां शक्तिः, नाम = ज्योतिष्टोमादि. तेऽर्थादयोऽपि पृथग्विधा एव मन्तव्याः । तैश्च सर्वैः सम्मिलितैः = विष्णुरूपोऽध्वरः संपद्यते ।

यागतदंगानां भगवद्रूपत्वमुक्त्या यागकर्तुर्जीवात्मनः, तत्फलस्यापि च भगवद्रूपतामाह – प्रधानेति । एषः = सच्चिदानन्दघनो विभुः = सर्वत्रान्तर्बहिर्व्यापकोपि भगवान् प्रधानादिसंग्रहे शरीरे चेतनां = तत्तद्विषयाकारायां बुद्धौ स्वप्रतिबिम्बरूपां प्रतिपद्य = चिदाभासलक्षणं जीवभावं लब्ध्वा तद्रूपतया विभाव्यते = प्रतीयते, एवं तत्तद्यागादिक्रियाफलत्वेन = तदभिव्यंग्यानन्दरूपत्वेनापि प्रतीयते । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति (बृ० ४ । ३ । ३२) इति श्रुतेः । तत्र प्रधानं = त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः, कालस्तद्गुणक्षोभकः, आशयः = अन्तःकरणम्, धर्म इत्युपलक्षणतो धर्माधर्मात्मकमदृष्टम्, तैः संगृह्यते = जन्यत इति प्रधानकालाशयधर्मसंग्रहस्तस्मिन् शरीरे । एकस्यैव विशुद्धविज्ञानघनस्य विभो भगवत उपाधिवशात्तत्तद्भावप्राप्तौ दृष्टान्तमाह – यथेति । यथैक एव विशुद्धोऽनलो दारुषु = काष्ठेषु स्थितस्तेषां ये गुणा दैर्घ्यवक्रत्वादयस्तदात्मकः तद्वान् भवति, तद्वत्तया प्रतीयते तथेत्यर्थः ।

एवमत्र भक्तिज्ञानवैराग्याणां कर्मभिः सह समन्वयः स्पष्टतया प्रदर्शितोऽवलोक्यते, तथा च श्रीमद्भागवतेऽस्मिन् नास्ति केवला भक्तिः, नास्ति केवलं ज्ञानम्, किन्तु ज्ञानप्रचुराभक्तिः, भक्तिपूर्णञ्चज्ञानम्, सर्वत्र प्रतिपादितमुपलभ्यते । ज्ञानरहिताया भक्तेरन्धतया, तथा भक्तिशून्यज्ञानस्य पंगुतयाऽनर्थजनकत्वेन निन्दितत्वात् । एवं ताभ्यां सहानिवार्यतो मिथ्यादेहादिसंसारोपरतिरपि वैराग्यरूपाऽऽविर्भवत्येव । न चेदं कदापि मन्तव्यम्-ज्ञाने लब्धे सति परमप्रेमलक्षणा भक्ति विनिष्टा स्यादिति. किन्तु सुदृढा स्यादिति मन्तव्यम् । यतः प्रेम्णस्तद्विषयमहत्त्वज्ञानजन्यत्वात्, परमप्रेमास्पदे निजात्मनि प्रेम्णः स्वाभाविकतया विनाशयोग्यताभावात्, प्रेमलक्षणं ज्ञानं, ज्ञानलक्षणश्चप्रेमा सन् तयोरैक्यं प्रशस्तं संपद्यते । एवं तैः सह कृतं कर्मापि ब्रह्मसमाधिभूतं सन निष्कामतया बन्धभावरहितमेव संपद्यते ।

एवमत्रेदमपि बोध्यम्—अविद्याप्रकृतिरचितत्वात् एतादृशदेहस्य, तत्र प्रतिबिम्बकल्पस्य चिदाभासरूपस्य जीवभावस्य च, कर्मफलत्वेन प्रतीयमानस्य त्रिगुणात्मकसंसारस्यापि चावस्तुतया बाध्यत्वलक्षणं मिथ्यात्वम्, एवं

तदाध्यारोपाधिष्ठानभूतस्य सर्वाभिन्नस्य ब्रह्मण एकस्यैव निषेधशेषतयाऽबाध्यतया च परमार्थसत्यत्वमिति निश्चितः सिद्धान्तोऽत्र सर्ववेदान्तसारे स्पष्टो विलोक्यते विचारदक्षैः । सोऽयं पञ्चमे श्रीजडभरतचरित्रेणाप्यवगम्यते । तथाहि — 'अविद्यया रचितद्रव्यगुणकर्माशयस्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि संस्थानविशेषेऽहंममेत्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो ब्रह्मभूतः तूष्णीं शिबिकां पूर्ववदुवाह ।' (१) (भा० ५ । १० । ६) इति ।

अयमर्थः — अविद्यया = परमार्थस्वरूपाज्ञानेन मिथ्याध्यासहेतुभूतेन, विहिताः = अध्यारोपिताः कामकर्मादिनोपस्थापिताः संगृहीता एकीकृता द्रव्यादयो यस्मिन्-तस्मिन् स्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि = परमार्थवस्त्वात्मव्यतिरिक्ते मिथ्याभूते आत्माभिन्नस्य सर्वस्य बाध्यतया मिथ्यात्वनियमात्, संस्थानविशेषे = हस्तपादाद्याकारविशेषेण परिणते, अनध्यारोपितोऽहंममेति मिथ्याप्रत्ययोऽभिमानो येन, अनारोपे हेतुमाह — ब्रह्मभूत इति । साक्षात्कृतब्रह्मात्मभावेन विद्यालक्षणेन हेतुनाऽध्यासकारणाविद्याया निवृत्तत्वादित्यर्थः । द्रव्याणि = महाभूतानि - आकाशादीनि, गुणाः = सत्त्वादयः, इन्द्रियाणि च कर्माणि = पुण्यपापानि, आशयोऽन्तःकरणचतुष्टयम् इत्यलम् ।

(१) श्री जड़भरतजीकी दृष्टिमें तो पंचभूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणका सङ्घातरूप यह अपना अन्तिम शरीर, अविद्याका ही कार्य था। यह विविध अङ्गोंसे युक्त दिखायी देने पर भी वस्तुतः था ही नहीं, इसलिये उसमें उनका 'मैं' 'मेरेपन' का मिथ्या अध्यास सर्वथा निवृत्त हो गया था और वे अद्वय पूर्ण ब्रह्मरूप होगये थे। वे पहलेकी ही भांति चुपचाप राजाकी पालकी उठाये चलते रहे, उन्होंने इसका कुछ भी बुरा न माना।

—❀—

(सत्सङ्गसंजातया सगुणसाकारब्रह्मभक्त्या संसारवैराग्यं प्रादुर्भवति, ततो निर्गुणनिराकारब्रह्मभक्तिः, ततो निर्विशेषपरात्परब्रह्मविज्ञानं, ततो ब्रह्मनिर्वाणलक्षणा विमुक्तिरिति प्रशस्तः शास्त्रीयो निर्विवादः क्रमः) (१)

सतां संगतिरेव सर्वेषां साधनानां मूलम् । यथा हिमवतो मूलादेव सर्वा गंगाद्या नद्यः प्रादुर्भवन्ति, तथैव सत्संगान्मूलादेव धर्मभक्तिवैराग्यज्ञानादीनि साधनानि । अत एवोक्तं – राजर्षिणा भर्तृहरिणैतदेव–'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ।' किं किं साधनं न संपादयत्यपितु सर्वाणि साधनानि । यद्वा तत्तत्साधनलाभद्वारा किं-किं अभ्युदयं निःश्रेयसञ्च न संपादयति, अपि तु तत्सर्वम् ।

अत एव श्रीमद्भागवतेऽपि तत्र-तत्र सत्सङ्गस्य परमं महत्त्वमभिहितम् । तथाहि – 'संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधि र्नृणाम् ।' (२) (भा० ११ । २ । ३०) 'न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च । ······ 'यथाऽवरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥' (भा० ११।१२ । १–२) 'सत्संगेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः । ······ वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः । रजस्तमः प्रकृतयः ······ बहवो मत्पदं प्राप्ताः ॥' 'ये नाधीतश्रुतिगणाः ······ सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥' (३) (भा० ११ । १२ । ३-४-५–७) 'ततो दुःसङ्गमु-

(२६)

(१) सत्संगसे प्रादुर्भूत सगुण–साकार-ब्रह्मकी भक्तिसे संसारसे वैराग्य प्रादुर्भूत होता है । उसके बाद निर्गुणनिराकार ब्रह्मकी भक्ति, उसके बाद निर्विशेष-परात्पर ब्रह्मका ज्ञान, उससे ब्रह्म निर्वाण लक्षणा विमुक्ति प्राप्त होती है । यह प्रशस्त-शास्त्रप्रतिपादित-विवाद रहित क्रम है)

(२) इस संसारमें आधेक्षणका सत्संग भी मनुष्योंके लिये परम निधि है ।

(३) भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं । प्रिय उद्धव ! जगत्में जितनी आसक्तियां हैं, उन्हें सत्सङ्ग नष्ट कर देता है । यही कारण है कि सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वशमें कर लेता है, वैसा साधन न योग है, न सांख्य, न धर्मपालन । सत्सङ्गके द्वारा ही दैत्य-राक्षस, पशुपक्षी आदिको भी मेरी प्राप्ति हुई है । मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी, तमोगुणी प्रकृतिके बहुतसे जीवोंने मेरा परम पद प्राप्त किया है । ब्रजकी गोपियां, यज्ञपत्नियां और दूसरे लोग भी सत्सङ्गके प्रभावसे ही मुझे प्राप्त कर सके हैं । उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय आदि किया था ।

त्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् । सन्त एतस्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥' (भा० ११ । २६ । २६) 'सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः । निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥ (१) (भा० ११ । २६ । २७) 'यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् । शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥ निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् । सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौ र्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥' (२) (भा० ११ । २६ । ३१-३२) 'सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः । देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माऽहमेव च ॥ (३) (भा० ११ । २६ । ३४) 'तुलयामो लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥' (४) (भा० १ । १८ । १३) 'स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ।' (भा० १ । १६ । ८) 'संगो यः संसृते र्हेतुरसत्सु विहितोऽधियां । स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय

(१) इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि पुरूरवाकी भांति कुसङ्ग छोड़कर सत्पुरुषोंका सङ्ग करे । संत पुरुष अपने सदुपदेशोंसे उसके मनकी आसक्ति नष्ट कर देते हैं । संत पुरुषोंका लक्षण यह है कि-उन्हें कभी किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती । उनका चित्त मुझ भगवान्में लगा रहता है । उनके हृदयमें शान्तिका अगाध समुद्र लहराता रहता है । वे सदा-सर्वदा सर्वत्र सबमें सब रूपसे स्थित भगवान्का ही दर्शन करते हैं । उनमें अहंकारका लेश भी नहीं होता, फिर ममताकी तो सम्भावना ही कहां है । वे सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें एक रस रहते हैं तथा बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक और पदार्थ सम्बन्धी किसी प्रकारका भी परिग्रह नहीं रखते ।

(२) जिसने उन संत पुरुषोंकी शरण ग्रहण कर ली, उसकी भी कर्मजड़ता, संसारभय और अज्ञानादि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं । भला, जिसने अग्नि भगवान्का आश्रय ले लिया उसे शीत भय अथवा अन्धकारका दुःख कैसे हो सकता है ? जो इस घोर संसार-सागरमें डूब उतरा रहे हैं । उनके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्त संत ही एक मात्र आश्रय हैं , जैसे जलमें डूब रहे लोगोंके लिये दृढ़ नौका ।

(३) जैसे सूर्य आकाशमें उदय होकर लोगोंको जगत् तथा अपनेको देखनेके लिये नेत्रदान करता है, वैसे ही संत पुरुष अपनेको तथा भगवान्को देखनेके लिये अन्तर्दृष्टि देते हैं । सन्त अनुग्रहशील देवता हैं । सन्त अपने हितैषी सुहृद् हैं । सन्त अपने प्रियतम आत्मा हैं । और अधिक क्या कहूं, स्वयं मैं ही सन्तके रूपमें विद्यमान हूं ।

(४) भगवत्प्रेमी भक्तोंके लवमात्रके सत्संगसे स्वर्ग एवं मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती, फिर मनुष्योंके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है ?

कल्पते ॥' (१) (भा० ३ । २३ । ५५) इति । एषामयमर्थः — अस्मिन् असारे-संसारे क्षणार्धकालभवोऽपि सतां = वीतरागाणां ब्रह्मनिष्ठमहात्मनां सङ्गः, मानवानां कृते शेवधिः = निधिलाभवत् परमानन्दप्रद इत्यर्थः । यथा सत्संगो मां = परमात्मानं, अवरुन्धे = वशीकरोति तथा योगादिकं न रोधयति = न वशीकरोति, हि = यतः, सर्वसङ्गापहः = अन्यदेहगेहादिसंसारसङ्गनिवर्तकः, तत्र योगः = आसनप्राणायामादः, सांख्यं = चतुर्विंशतितत्त्वानां विवेकः, धर्मः = सामान्यतः परोपकारादिः, हि = यस्मात्, सत्संगेन, रजस्तमःप्रकृतयोऽपि दैतेययातुधानादयः, बहवः, तस्मिन् तस्मिन् युगे मत्पदं = सायुज्यादिलक्षणं मोक्षधाम प्राप्ताः बभूवुः । तत्र यातुधानाः = राक्षसाः, दैतेयाः = दैत्याः-दितिपुत्राः । न अधीताः श्रुतिगणा यैस्ते, केवलात्सतां सङ्गादेव, मां = भगवन्तं, उपागताः = संप्राप्ताः । ततः = तस्माद्धेतोः, मनोऽव्यासङ्गं = विषयासक्तिं, उक्तिभिः = हितोपदेशैः ।

तत्र सतां लक्षणमाह – सन्त इति । अत्र विशेषणाष्टकस्य यथेष्टं हेतुहेतुमद्भावः । विभावसुं = अग्निं प्रज्वलितं सेवमानस्य, यथा शीतं = जाड्यं, भयं = व्याघ्रादिजन्यं, तमः = अन्धकारश्च, अप्येति = नश्यति तथा साधून् संसेवतः = सेवमानस्य, शतृप्रत्यय आर्षः, कर्मजाड्यं, संसारभयं, तन्मूलमज्ञानञ्च नश्यतीत्यर्थः । अप्सु निमज्जतां यथा दृढा नौरुत्तरणसाधनं तथा घोरे = भयंकरे, भवाब्धौ = संसारसमुद्रे निमज्ज्योन्मज्जतां = उच्चावचा योनीः दशा वा गच्छतां, ब्रह्मविदः शान्ताः सन्त एव परायणं = परमाश्रयः-परशान्तिसुखलाभस्थलमित्यर्थः । समुत्थितः = सम्यगुदितोऽप्यर्को बहिर्विषये एकमेव चक्षुर्दिशति, अर्थात् बाह्यमेव तमो निरस्य चक्षुषो दर्शनसामर्थ्यं सम्पादयति । सन्तस्तु अन्तरात्मविषये तदावरकाज्ञानं निरस्य, सगुणनिर्गुणज्ञानात्मकानि चक्षूंषि दिशन्ति, सतामनेकप्रशस्तचक्षुःप्रदत्वादर्कादाधिक्यमस्तीतिभावः । अतः सन्त एव देवताः = तद्वदाराध्याः, पूज्याश्च । बान्धवाः = हितकारिणः तद्वत् सत्काराहाः, सन्त एवात्मा प्रेमास्पदः, आत्मवत्प्रीतियोग्याः, किं बहुना ? सन्तः अहमेव = मद्दृष्ट्या-भगवद्बुद्ध्या सेव्या इत्यर्थः ।

भगवत्संगिनः = विष्णुभक्ताः, तेषां संगस्य यो लवः = अत्यल्पः कालः तेनापि स्वर्गं न तुलयामः = तत्समं न पश्यामः, न चापवर्गम्,

(१) अज्ञानवश असत्पुरुषोंके साथ किया हुआ जो संग वह संसार-बन्धन का कारण होता है । वही सत्पुरुषोंके साथ किये जाने पर असंगता प्रदान करता है ।

सम्भावनायां लोट् । मर्त्यानां तुच्छा आशिषः = काम्यमानाः राज्याद्या न तुलयामेति किमुवक्तव्यम् । 'भगवत्संगिसंगस्य' इत्यनेन – 'न तथाऽस्य भवेत्-क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा पुंसस्तथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥' (१) (भा० ११ । १४ । ३०) इत्यत्र योषित्सङ्गाद्, योषित्सङ्गिनां यथा सङ्गोऽतिनिन्द्यतयोक्तस्तथैवात्र भगवत्सङ्गादपि भगवत्सङ्गिनां सङ्गोऽतिप्रशस्ततयोक्त इति गम्यते । यद्वा यदा स्वर्गापवर्गसुखमपि-अत्यल्पसत्सङ्गसुखेन समं न पश्यामः, तदा लौकिकराज्यादिसुखं न तुलयामेति किमु वाच्यम् ।

अत एव महाराजेन यशस्विना पृथुना-आत्मारामाणां –'कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः ।' (२) (भा० ४ । २२ । १४) इति लक्षणलक्षितानामिष्टानिष्टसंसारदर्शनाभावोपलक्षिताखण्डैकरसाद्वयानन्दपूर्णपरब्रह्मदर्शनप - राणां – सनत्कुमारादीनां सतां सङ्गो भगवत्कृपया लब्धः । सर्वलोकहितचिन्तकेन जिज्ञासुना तेन प्रीतेभ्यस्तेभ्यः पृष्टमिदम् , 'भव एतस्मिन् क्षेमः केनाञ्जसा भवेत् ।' (भा० ४ । २२ । १५) इति, अर्थात् एतस्मिन् प्रत्यक्षतया इष्टानिष्टतयाऽनुभूयमाने भवे = संसारे भ्रमतां जीवानां केन साधनेनानायासतः कल्याणं सम्पद्येत इति प्रश्नो विहितः । तस्य प्रश्नं श्रुत्वा प्रीत्या सनत्कुमार उवाच — 'साधु पृष्टं महाराज ! सर्वभूतहितात्मना । भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी ॥ सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः । यत्संभाषणसंप्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥ अस्त्येव राजन् ! भवतो मधुद्विषः, पादारविन्दस्य गुणानुवादने । रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी कामं कषायं मलमन्तरात्मनः । शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः । असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या ॥' (३)

(१) स्त्रियोंके संगसे और स्त्रीसङ्गियोंके-लम्पटोंके सङ्गसे पुरुषको जैसे क्लेश और बन्धनमें पड़ना पड़ता है, वैसा क्लेश और बन्धन और किसीके भी सङ्गसे नहीं होता ।

(२) आप आत्माराममें यह कुशल - इष्ट है और यह अकुशल-अनिष्ट है । इस प्रकारकी वृत्तियां कभी होती ही नहीं ।

(३) श्रीसनत्कुमारजीने कहा – महराज ! आपने सब कुछ जानते हुये भी समस्त प्राणियोंके कल्याणकी दृष्टिसे बड़ी अच्छी बात पूछी है । सच है, 'साधुपुरुषोंकी बुद्धि ऐसी ही हुआ करती है । सत्पुरुषोंका समागम श्रोता और वक्ता दोनोंको ही अभिमत होता है, क्योंकि उनके प्रश्नोत्तर सभी का कल्याण करते हैं । राजन् ! श्रीमधुसूदन भगवान्के चरण कमलोंके गुणानुवादमें अवश्य ही आपकी अविचल प्रीति है । हर किसीको इसका प्राप्त होना बहुत कठिन है और प्राप्त हो

(भा० ४ । २२ । १८-१९-२०-२१) इति ।

अयमर्थः — तत्रादौ पृथोः प्रश्नमभिनन्दति-साध्विति । हे महाराज ! भवता साधु पृष्टमित्यन्वयः । न च तवैतदविज्ञातमस्तीत्याह — विदुषा चापीति । कथं वाऽस्य प्रश्नस्य साधुत्वं ? ज्ञात्वा वा कथं प्रश्ने प्रवृत्तिरित्याकांक्षायामाह— सर्वभूतहितात्मनेति । सर्वेषां भूतानां = प्राणिनां हिते = हितचिन्तने हितकथने हिताचरणे च आत्मा = मनो यस्य तेनेत्यर्थः । सर्वभूतहितैषित्वात् । सर्वेषां श्रेयःसाधने निश्चयो भवतु महर्षिसदुपदेशद्वाराऽपीत्यभिप्रेत्य ज्ञात्वाऽपि तव प्रश्ने प्रवृत्तिः । सर्वभूतहिते रतत्वादेव च प्रश्नस्य साधुत्वमिति भावः । तवैतदेव युक्तमिति सम्बोधनाभिप्रायः । न चैतदाश्चर्यम्, अन्येषामपि साधूनां भव दृशां मतिः ईदृशी = सर्वभूतहितविषयैव भवति । यथा त्वमस्मत्संगमभिनन्दसि, तथा तवापि साधुत्वात्संगमोऽस्मत्संमत इत्याशयेनाह - संगम इति । साधूनां = सज्जनानां विवेकविचारशीलानां संगमः = संगः, उभयेषां = पृच्छकानां तदुत्तरदातॄणां - अर्थात् श्रोतॄणां वक्तॄणाञ्च येषां संभाषणसहितः संप्रश्नः संमत एव = समादृत एवेत्यर्थः । कुत एवं तत्राह - सर्वेषां = तत्रत्यानां परम्परया वा श्रोतॄणां च साधनानुष्ठानद्वारा शं = शान्ति सुखञ्च तनोति = विस्तारयति । तदेवं सर्वेषां साधनानां मूलभूतं सतां सङ्गमं, तत्सविधे क्रियमाणं प्रश्नञ्चाभिनन्द्यानुवादमुखेनैव परम्परया मोक्षसाधनभूतां सगुणसाकारभगवतः प्रशस्तदिव्यगुणकर्मादिश्रवणादिरूपां साधनभक्तिमुपदिशति - हे राजन् ! मधुद्विषः = मधुसूदनस्य भगवतः पादारविन्दस्य-साकारचिन्मयविग्रहस्य ये - ये प्रशस्ता दिव्या गुणाः सन्ति, तेषामनुवादने प्रश्नद्वारेणानुवादप्रवर्तनेऽर्थात् श्रवणादौ भवतो नैष्ठिकी = निश्चला, रतिः = प्रीतिः भक्तिः अस्त्येवेत्यन्वयः । सा च भगवत्कृपया तल्लभ्यसत्सङ्गसामर्थ्येन च तव सुलभापि भगवद्विमुखानां तु दुर्लभेत्याह - दुरापेति । तस्याः फलं प्रदर्शयति - विधुनोतीति - या रति जायमाना पुरुषस्यान्तरात्मनः = अन्तःकरणस्य नानाविधकामात्मकं मलं = संसारहेतुभूतं कषायं = गैरिकरागवदुपायान्तरैरनिवर्त्यं विधुनोति = विनाशयति ।

इदानीं यत्पृष्टं क्षेमस्य साधनं, तच्छास्त्रतो विनिश्चितं सत्सङ्गलभ्य-

जाने पर यह हृदयके भीतर रहनेवाले उस वासना रूप मलको सर्वथा नष्ट कर देती है, जो और किसी उपायसे जल्दी नहीं छूटता । शास्त्र जीवोंके कल्याणके लिये भलीभाँति विचार करने वाले हैं, उनमें आत्मासे भिन्न देहादिके प्रति वैराग्य तथा अपने आत्मस्वरूप-निर्गुण ब्रह्ममें सुदृढ़ अनुराग होना यही कल्याणका साधन निश्चित किया गया है ।

सगुणब्रह्मश्रवणादिभक्तिजन्यं संसारवैराग्यलक्षणमेकं, ततो जायमानं प्रत्यगात्माभिन्ननिर्गुणब्रह्मभक्तिलक्षणं द्वितीयञ्च दर्शयति शास्त्रेष्विति। सध्र्यग्विमृशेषु = सम्यक् विचारितेषु तेषु वेदादिशास्त्रेषु नृणां = मानवानां क्षेमस्य = कल्याणस्य-ब्रह्मनिर्वाणलक्षणस्य मोक्षस्य हेतुः = साधनं, इयानेव = एतावानेव सुनिश्चितः - निःसंदिग्धोऽस्तीति शेषेण सम्बन्धः। कोऽसावित्यपेक्षायामाह - असङ्ग इति। आत्मव्यतिरिक्ते = आत्मभिन्ने अविद्याकल्पिततया सर्वथा वस्तुतोऽविद्यमानेऽपि प्रतीयमाने नामरूपात्मके द्वैतप्रपञ्चे असङ्गः = सङ्गत्यागोपलक्षितं दृढतरमिथ्यात्वनिश्चयाज्जायमानं वैराग्यं तथा आत्मनि = प्रत्यगात्मनि दृढा रतिः = ज्ञानमयी नैष्ठिकी भक्तिश्चेत्येतत् द्वयमेव साधनमस्ति। ननु - स्वात्मनि सर्वेषां स्वाभाविकी दृढा रतिरस्त्येवेत्याशंक्यात्मानं विशिनष्टि—ब्रह्मणीति। ब्रह्मस्वरूपतया देहादिविलक्षणतया च तस्यात्मनोऽपरोक्षतोऽज्ञायमानत्वात मिथ्यासंसाररतिप्रतिरुद्धत्वाच्च सा स्वाभाविक्यपि रतिर्न किञ्चित्फलं जनयतीति भावः। ब्रह्मणि = भूम्नि - परिच्छेदत्रयवर्जिते निष्प्रपञ्चेऽद्वये ब्रह्मणीत्यर्थः, निर्गुणे = द्वैतप्रपञ्चप्रतीतिप्रयोजकत्रिगुणात्मकमायावर्जिते प्रत्यगभिन्ने परमार्थवस्तुनि स्वस्वरूपे या विज्ञानमयी रतिः सा मोक्षहेतुरित्यर्थः। 'भक्त्या मामभिजानाति' (गी० १८। ५५) 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' ··· मद्भक्तिं लभते पराम्' (गी० १८। ५४) इति गीतोक्तन्यायेन ज्ञानस्य पराकाष्ठा भक्तिः, भक्तेश्च पराकाष्ठा ज्ञानं, द्वयं मिथस्तादात्म्यापन्नं सन्नित्यसिद्धं स्वस्वरूपावस्थानलक्षणं मोक्षं प्रतिरोधनिरासेन जनयतीति भावः।

तदेतत्सर्वं — सत्संगात् साकारब्रह्मभक्तिः, ततः संसारवैराग्यं, ततो निर्गुणनिराकारब्रह्मभक्तिः, ततः प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मविज्ञानं ततो ब्रह्मनिर्वाणलक्षणा विमुक्तिरित्यभिप्रेत्य यत्प्राक्संक्षेपतोऽभिहितं, तदेव भगवान् महर्षिवर्यः सनत्कुमारः पृथुं महाराजं निमित्तीकृत्य निखिललोकानुजिघृक्षया विस्तरेण प्रतिपादयति—

हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूर - गुणाभिधानेन विजृम्भमाणया।
भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चांजसा रतिः॥
यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमान् , आचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा।
दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः॥
दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो नैवात्मनो बहिरन्तर्विचष्टे।
परात्मनोर्यद् व्यवधानं पुरस्तात् स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे॥

आत्मानमिन्द्रियार्थञ्च, परं यदुभयोरपि ।
सत्याशय उपाधौ वै, पुमान् पश्यति नान्यदा ॥
निमित्ते सति सर्वत्र जलादावपि पूरुषः ।
आत्मनश्च परस्यापि भिदां पश्यति नान्यदा ॥ (१)

(भा० ४ । २२ । २५ - २६ - २७ - २८ - २६)

तच्छब्देन भगवानेव परः सर्वत उत्कृष्टतया भजनीयो येषां भक्तानां ते, तत्पराः श्रीहरिभक्ताः, तेषां कर्णपूराः = कर्णालंकारभूताः, = कर्णयोः पूरणं यैस्ते तथेति वा, एवंभूताः साकारविग्रहस्य श्रीहरेर्गुणाः = दिव्यश्रद्धेय-यशांसि—तेषामभिधानेन—कीर्तनेन, श्रवणस्मरणादेरप्युपलक्षणम् । तदपि-कीर्तनश्रवणादिकं नैकदा, किन्तु मुहुः = अहर्निशं, तेन विजृम्भमाणया = प्रतिक्षणं वर्धमानया हरिभक्त्या च, हि = अवधारणे, एवं सत्संगश्रवण-कीर्तनादिजन्यया भक्त्यैव, सदसति = मूर्तामूर्तात्मके कार्यकारणरूपे अना-

---

(१) भक्तजनोंके कानोंको सुखदेनेवाले श्रीहरिके गुणोंका बार-बार वर्णन करनेसे और बढ़ते हुये भक्तिभावसे मनुष्यको कार्यकारणरूप सम्पूर्ण जड़ प्रपंचसे वैराग्य हो जाता है। और आत्मस्वरूप निर्गुण परब्रह्ममें अनायास ही उसकी अनन्य प्रीति हो जाती है। परब्रह्ममें सुदृढ़ प्रीति हो जाने पर पुरुष सद्गुरु-की शरण लेता है; फिर ज्ञान और वैराग्यके प्रबल वेगके कारण वासनाशून्य हुये-अपने अविद्यादि पांच प्रकारके क्लेशोंसे युक्त अहंकारात्मक अपने लिङ्गशरीरको वह उसी प्रकार भस्म कर देता है, जैसे अग्नि लकड़ीसे प्रकट हो कर फिर उसीको जला डालती है । इस प्रकार लिङ्गदेहका नाश हो जाने पर वह उसके कर्तृत्वादि सभी गुणोंसे मुक्त हो जाता है। फिर तो जैसे स्वप्नावस्थामें तरह-तरहके पदार्थ देखने पर भी, उससे जग जाने पर उनमेंसे कोई चीज दिखायी नहीं देती, उसी प्रकार वह तत्वज्ञ-अद्वयब्रह्मनिष्ठ-पुरुष शरीरके बाहर दिखायी देनेवाले घट पटादि और भीतर अनुभव होनेवाले सुख-दुःखादिको भी नहीं देखता । ऐसी ब्राह्मी स्थितिके प्राप्त होनेसे पहले ये पदार्थ ही जीवात्मा और परमात्माके बीचमें रहकर उनका भेद कर रहे थे । जबतक अन्तःकरणरूप उपाधि रहती है, तभी तक पुरुषको जीवात्मा, इन्द्रियोंके विषय और इन दोनोंका सम्बन्ध करानेवाले अहंकारका अनुभव होता है, इसके बाद नहीं। बाह्य जगत्में भी देखा जाता है कि – जल, दर्पण आदि निमित्तोंके रहने पर ही अपने बिम्ब और प्रतिबिम्बका भेद दिखायी देता है, अन्य समय नहीं।

त्मनि = आत्मव्यतिरिक्ते मिथ्याभूतेऽसारे द्वैतप्रपंचे, असंगः = वैराग्यं जायते, ततो निर्गुणे = गुणत्रयातीते निराकारे पूर्णेऽद्वये ब्रह्मणि रतिः = भक्तिः, अंजसा = साक्षात् दृढा स्यादित्यन्वयः। 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।' इति श्रुत्या कार्यकारणात्मकजीवेश्वरोपाधावनात्मनि यदा दृढतरमिथ्यात्वभावनयाऽसंगभावः संपद्येत, तदा तस्यानात्मनामरूपात्मकद्वैतप्रपञ्चस्य बाधेन तद्विविक्ते प्रत्यग्रूपे निर्गुणे निराकारेऽपरिच्छिन्नेऽद्वये ब्रह्मणि स्वाभाविकी निर्निमित्ता परमप्रेमलक्षणा रतिः स्यादेवेति भावः।

ततः किं भवतीत्यपेक्षायामाह—यदा पुमान्—आचार्यवान् भवति, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठस्य विद्यानिधेः सद्गुरोरनुग्रहं प्रणिपातपरिप्रश्न—सेवादिभिः संपादयति, तदा ब्रह्मणि नैष्ठिकी = निश्चला रतिः समुत्पद्यते। आचार्यानुग्रहं विना न तु निश्चला रतिरुदयते परा रतिश्च विज्ञात एव वस्तुनि भवति, ज्ञानञ्च 'आचार्यवान् पुरुषो वेद, (छां० ६। १४। २) इति श्रुतेराचार्यानुग्रहादेवोत्पद्यत इति भावः। ततः = आचार्यानुग्रहात् नैष्ठिकोरतिप्रभावाच्च ज्ञानविरागयोः रंहः = वेगः-प्रपञ्चबाधब्रह्मसाक्षात्कारप्रयोजकस्तीव्रतालक्षणः संजायते, तेन ज्ञानविरागरंहसा। जीवकोशं = जीवस्य कोशं तदावरकं, हृदयं = लिङ्गशरीरं, अवीर्यं = पुनः प्ररोहायोग्यं यथा भवत्येवं दहतीत्यन्वयः। एतद्दाहं विना न संसारबाधलक्षणा विमुक्तिरतस्तत्पर्यन्तः प्रयत्नो विधेय इत्याशयेन विशिनष्टि-जीवकोशमिति। तद् दाहसंभावनार्थं विशिनष्टि—पञ्चात्मकमिति, पञ्चमहाभूतात्मकमित्यर्थः। यद्वा अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा इति योगसूत्रोक्तपञ्चक्लेशात्मकमित्यर्थः। ननु – हृदयादुत्पन्नेन ज्ञानवेगेन हृदयस्यैव कथं दाहः संभवत्युपजीव्यविरोधादित्याशंक्य दृष्टान्तेन संभावयति – योनिमिवेति। यथाऽरण्यादित उत्थितः = प्रज्वलितोऽग्निः स्वयोनिं = अरण्यादिकं दहति तथेत्यर्थः। ततश्च कृतार्थो धन्यो भवतीत्याह – दग्धाशय इति, दग्धः आशयः-कामकर्माद्याशयं हृदयं उपाधि र्यस्य सः। अत एव मुक्तास्समस्ताः = निखिलाः, तद्गुणाः = कर्तृत्वभोक्तृत्वादयो यस्मात् सः। आत्मनः सकाशाद् बहिः = घटपटादिकं जगत्, अन्तः = सुखित्वदुःखित्वादिकं जगत्, स तत्त्वदर्शी निवृत्ताविद्यो विज्ञः नैव विचष्टे = नैव पश्यति। 'सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।' (भा० ११। १३। ३६) 'स्वप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः।' (भा०। ११। १३। ३७) इति स्मरणात्। कुत इत्यपेक्षायां द्रष्टृदृश्यात्मकजगत्प्रतीतेरन्तःकरणहेतुत्वादित्याह–परेति। परः = आत्मभिन्नोऽविद्यारचितो दृश्यवर्गः, आत्मा = चेतनो द्रष्टा। तयोः = अधिष्ठानाध्यस्तयो र्जडचेतनयोः सत्यानृतयोः यद्व्यवधानं = व्यवधायकं-भेदकं-अहंकाराख्यमन्तःकरणं। पुरस्तात् = पूर्वं,

अज्ञानप्रयोजितव्यवहारदशायां, आसीत्, तस्येदानीं ब्रह्मविज्ञानेनाज्ञाननाशेन विनाशे सति, नैव विचष्टे इति पूर्वेणान्वयः । तत्र दृष्टान्तमाह—स्वप्न इति । यथा स्वप्ने 'राजाऽहमि' त्यारोपितसैन्यादिद्रष्टारं, दृश्यं सैन्यञ्च स्वप्नावस्थानाशे न पश्यति, तद्वत् । पूर्वोक्तमेव—अन्तःकरणस्य द्रष्टृदृश्यभेदप्रतीतिहेतुत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामुपपादयति—आत्मानमिति । उपाधिभूते-आशयेऽन्तःकरणे सत्येव, जाग्रत्स्वप्नयोः, आत्मानं = द्रष्टारं, इन्द्रियार्थं = इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां – अर्थं – विषयभूतं दृश्यं जगत्, उभयोस्तयोः परं = यत्सम्बन्धहेतुभूतं-अहंकारं चापि, पुमान् पश्यति, अन्यदा = सुषुप्तिसमाध्याद्यवस्थायां, अन्तःकरणस्य लीनत्वात् न तथा पश्यतीत्यन्वयः । अयं भावः – लिंगदेह एव जीवस्योपाधिः, स एव व्यवधानशब्दवाच्यः, तत्सत्त्वेऽविद्याकल्पितं जडचेतनात्मकं जगत् पश्यति । तदभावे परमात्मानमेवान्तर्बहिर्विततं पूर्णं पश्यति, नान्यत् किमपि पश्यति लिङ्गदेहसद्भावादेव-उपाधिग्रस्तं भोक्तारमात्मानं भोग्यमिन्द्रियशब्दाद्यर्थं परं = भोक्तृभोग्यसम्बन्धोत्थं सुखदुःखादिभोगजातञ्च त्रिपुटीभेदं पश्यति । तदभावे सति न पश्यति-अध्यस्तं जगत्, किन्तु अधिष्ठानमेव पारमार्थिकं सत्यं पश्यतीति । तदेतदभिहितमभियुक्तैरपि—'दृश्यानुरञ्जितं द्रष्टृ, दृश्यं द्रष्ट्रनुरञ्जितम् । अहंकृत्योभयं रक्तं, तन्नाशेऽद्वैतताऽऽत्मनः ॥' उपदेशसाहस्री (१) इति ।

एकस्मिन्नात्मनि दृश्यादिभेदप्रतीतिरौपाधिकीति दृष्टान्तेन साधयति—निमित्त इति । लोकेऽपि सर्वत्र जलदर्पणादौ भेदनिमित्ते उपाधौ सत्येव, आत्मनः = बिम्बभूतस्य, परस्य = औपाधिकस्य प्रतिबिम्बस्य च, भिदां = भेदं पश्यति, नान्यदा = जलाद्युपाध्यभावदशायां न पश्यति, यथा तथेत्यर्थः । तदेतत् – मनोविकल्पनामात्रमेव भोक्तृभोग्यभोगादिरूपं त्रिपुटीभेदभिन्नं द्वैतं, मनोविकल्पनाया अभावे सति-द्वैतं नैवोपलभ्यते, किन्तु सर्वाभिन्नमद्वैतमेवोपलभ्यते, इति वेदान्तसिद्धान्तं प्रतिपादयन्तः—श्रीमद्भागवतादिप्रवक्तृश्रीशुकशिष्याः गौडपादाचार्या अप्याहुः – मांडूक्योपनिषत्कारिकासु—'मनो दृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम् । मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥' (२) (३ । ३१) इति । यथा रज्जुस्वरूपापरित्यागेन सर्पः कुण्ड-

(१) दृश्यसे संयुक्त द्रष्टा और द्रष्टासे संयुक्त दृश्य एवं अहंकारके साथ दृश्य और द्रष्टा दोनों ही संयुक्त हो गये हैं । ज्ञानके द्वारा उनका नाश होने पर आत्माकी अद्वैतता सिद्ध होती है ।

(२) जो कुछ यह सचराचर द्वैत है । वह मनो दृश्य है अर्थात् मनसे कल्पित है मनको अमनभाव अर्थात् ब्रह्मभाव प्राप्त होने पर द्वैत-उपलब्ध नहीं होता ।

ग्राभोगादिमानिवावभासतेऽज्ञानावस्थायां तथा परमार्थत आत्मचैतन्यमात्रं सन्मनस्तत्स्वरूपापरित्यागेन भोग्यभोक्तृभोगादिवदवभासतेऽज्ञानादिति अन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते । कथम् ? मनोदृश्यमिदं द्वैतं । तेन हि मनसाऽन्तःकरणेन रज्जुसर्पादिवत् विकल्प्यमानेन दृश्यं — मनोदृश्यमिदं सर्वलोकप्रत्यक्षं द्वैतम् । सर्वं मनः, तद्विकल्पनामात्रमेवेति प्रतिज्ञा, तद्भावे भावात् , तदभावेऽभावाच्चेति हेतुः, कथं पुनस्तदभावेऽभाव इति । ब्रह्मानुसन्धानाभ्यासवैराग्याभ्यां मनसो ह्यमनोभावे रज्ज्वामिव सर्पे, निरुद्धे लयं गते वा सुषुप्ते, द्वैतं नैवोपलभ्यते । सुषुप्तौ तावद् द्वैताभावो मनोऽभावे सर्वजनप्रसिद्धः । निरोधे च तथैवेति विदुषां तत्त्वदर्शिनां प्रसिद्ध इत्येवं मनसोऽभावेऽभावाद् सिद्धं रज्जुसर्पादिवत् द्वैतस्य मनोविकल्पनामात्रतयाऽसत्त्वमित्यर्थः । तदेतत्स्पष्टतो निरूपितं दृष्टान्तपुरस्सरं श्रीमद्भागवतेऽपि श्रीगौडपादगुरुभिः श्रीशुकाचार्यैरपि – 'ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते, रज्ज्वामहे र्भोगभवाभवौ यथा ।' (भा० १० । १४ । २५) 'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभम् ।' (भा० १० । १४ । २२) 'ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासम् ।' (भा०११।१३।३४) 'वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ।' (भा० १० । ८७ । ३७) इति ।

—❀—

(२७)

(ब्रह्मात्मज्ञानेन द्वैतप्रपञ्चोपशमे सति स्वात्मन्यवस्थानरूपा स्वस्थता अद्वैतभाव एव शास्त्रप्रयोजनम्) (१)

यथा लोके धातुवैषम्यमेव खलु रोगनाम्ना व्यवह्रियते । तदभिभूतञ्च स्वास्थ्यं स्वभावभूतमेव सच्चिकित्सया वैषम्योपशमे सत्यभिव्यज्यत इति चिकित्सासाध्यमित्युच्यते । तथेहापि मुमुक्षोः स्वभावभूतैव स्वस्थता स्वात्मन्यवस्थानरूपा ब्रह्मात्मज्ञानेन द्वैतप्रपञ्चोपशमे सत्यभिव्यज्यत इति ज्ञानसाध्येति व्यपदिश्यते । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरियांस्तु विशेषः । रुग्णस्य स्वस्थता कालान्तरविशिष्टा रोगाभिभूता काचिदवस्था, अतएव सा धातुवैषम्योपशमनाय चिकित्साद्रव्यं च स्वोत्पत्तिव्यतिरिक्तं व्यापारान्तरमप्यपेक्षते, येन सा साधन-

(२७)

(१) (ब्रह्मात्मज्ञानसे द्वैतप्रपंचका उपशम होने पर स्वात्मामें अवस्थानरूपा-स्वस्थता, जो अद्वैत ब्रह्मभावरूपा है, वही शास्त्रका प्रयोजन है)

व्यापारापेक्षया साध्या भवति । ब्रह्मात्मज्ञानन्तु–स्वोत्पत्तिमात्रेण द्वैतप्रपञ्चोपशमं कर्तुमलमिति तावन्मात्रेणाऽद्वैतभावः स्वस्थता प्रयोजनं लभ्यत इति । कथमेतदिति ? उच्यते । द्वैतप्रपञ्चस्याविद्याकृतत्वात्, विद्यया तदुपशमः स्यादेव अद्वैतभावरूपाहि स्वस्थता नित्यप्राप्ता मुमुक्षोः स्वभाव एव । अत एव नित्यप्राप्तैव सा व्यवधानापोहेन प्राप्यते, वस्तुतो नित्यनिवृत्त एवाविद्यादिद्वैतप्रपञ्चो निवर्त्यते । सा चाविद्या न वस्तुसती, नाप्यागन्तुकी, येन कयाचित् प्रक्रिययोपशमनीया स्यात् । ब्रह्मविद्योत्पत्तिकालमेव तूपशाम्यति सा सकार्या । प्रतीतिमात्रशरीरत्वात् प्रदीपप्रकाशोत्पत्तिसमकालमिव तमः । अत एव श्रीमद्भागवताभिर्वणितं ब्रह्मात्मज्ञान-प्रदीपोपमया यत्र तत्राभिवर्णितमुपलभ्यते — 'अखिलश्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।' (भा० १२।१२।३) साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा नृप ! । विशुद्धज्ञानदीपेन स्फुरता विश्वतो मुखम् ॥' (१) (भा० ४।२८।४१) 'ज्ञानदीपेन दर्शयन्' (भा० ११।२९।२७) 'विज्ञानमयः प्रदीपः' (भा० ११।२९।३८) इत्यादौ । गीतास्वपि — 'ज्ञानदीपेन भास्वता' 'तमो नाशयामि' (गी० १० । ११) इति ।

सति चैवमविद्याकृतमेव द्वैतप्रपञ्चनिमित्तमारोपितं दुःखमात्मनः, स्वस्थतारूपन्तु सर्वदुखासंभिन्नं निरतिशयं निरवच्छिन्नं परमं सुखमद्वैतब्रह्मविद्यया समूलद्वैतप्रपञ्चोपशमेन सदा सिद्धमेव सदभिव्यज्यते । अयमेव परमप्रयोजनरूपो मुख्यो मोक्षः । अत एव श्रीसनत्कुमारेणाभिहितमपि — 'तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते ।' (भा० ४ । २२ । ३५) स्वस्वरूपावस्थानलक्षणो मोक्ष एवार्थः = प्रयोजनं, आत्यन्तिकतया = निवृत्तस्य दुःखस्य पुनरनुत्पादः अत्यन्तः, तस्य भावस्तत्तया, भविष्यद्दुःखासहवर्तितया-दुःखप्रागभावाप्रतियोगितयेति यावत् ।

अत एवौपनिषदाः — निरतिशयाद्वयानन्दबोधरूपआत्मैवानाद्यविद्यानिवृत्ति – उपलक्षितो मोक्ष इत्याचक्षते । अविद्यायाश्च दुःखजडानृतरूपनिखिलद्वैतप्रपञ्चोपादानत्वाद् आत्मतत्त्वसाक्षात्कारेण निवृत्तायां तस्यां तदुपादानकस्य निखिलद्वैतप्रपञ्चस्य नाशादनादेश्च तस्याः पुनरुत्पत्त्यापादनस्याशक्यत्वात् — आत्यन्तिकनिखिलदुःखनिवृत्तिरप्युपपद्यते । तस्य च स्वरूपे साधनानपेक्षत्वेऽपि व्यञ्जकतयाऽनाद्यविद्याऽऽवरणापनयेन वेदान्तमहावाक्यकरणकस्तत्त्वरूपसाक्षात्कार एव प्रतिबन्धचतुष्टयरहितः साधनम् । विषयभोगवासना, प्रमाण-

(१) राजन् ! गुरु स्वरूप साक्षात् श्रीहरिके उपदेश किये हुये तथा अपने अन्तःकरणमें सब ओर स्फुरित होनेवाले – विशुद्ध विज्ञानदीपकसे उन्होंने परमतत्त्वको देखा ।

गतासम्भावना, प्रमेयगतासंभावना, प्रमितिगतासंभावना चेति प्रतिबन्धचतुष्टयम् । तत्र विषयभोगवासनायाः श्रवणाङ्गभूताः शमादयो निवर्त्तकाः, प्रमाणगतासंभावनायाः श्रवणं निवर्त्तकम्, प्रमेयगतासंभावनायाः निवर्त्तकं मननम, प्रमितिगतासंभावनायाश्च साक्षात्करोमीत्येवं विपरीतव्यवहारविरोधिन्या निदिध्यासनं निवर्त्तकमिति शमादिश्रद्धाभक्त्यादिसहितेन मुमुक्षुणा श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य मोक्षसाधनब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारप्रतिबन्धासंभावनादिनिवृत्तये वेदान्तसिद्धान्तविचारस्तन्निवृत्तिपर्यन्तमावर्तनीय इति ।

अत एव वेदान्तसारभूते श्रीमद्भागवतेऽपि प्रतिस्कन्धं प्रत्यध्यायं वेदान्तसिद्धान्तः सुस्पष्टतयाऽनेकविधोपाख्यानभगवच्चरितादिवर्णनपुरस्सरः समाविष्कृतोऽवलोक्यते सुधीभिः । तस्यैव पौनःपुन्येन समावर्तनीयः शास्त्रो विचारो भगवद्भक्तानां मुमुक्षूणां परमप्रयोजनलाभाय प्रस्तूयतेऽस्माभिः ।

अतएव महाराजः पृथुरपि मुमुक्षुः सन् सनत्कुमारं सद्गुरुमुपसृत्य तदनुग्रहाद् ब्रह्मात्मैक्यज्ञानयोगं लब्धवान् । तस्य च साक्षात्काराय स सर्वं राज्यैश्वर्यादिकं परित्यज्य तपोवनमगात् । तत्र सः —

सनत्कुमारो भगवान्, यदाहाध्यात्मिकं परम् ।
योगं तेनैव पुरुषमभजत् पुरुषर्षभः ॥
भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततः सदा ।
भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाऽभवत् ॥

तस्यानया भगवतः परिकर्मशुद्ध-
सत्त्वात्मनस्तदनुसंस्मरणानुपूर्त्या ।
ज्ञानं विरक्तिमदभून्निशितेन येन,
चिच्छेद संशयपदं निजजीवकोशम् ॥
छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीह-
स्तत्तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन । (१)

(भा० ४ । २३ । ९-१०-११-१२)

(१) भगवान् सनत्कुमारने—उन्हें जिस परमोत्कृष्ट—अध्यात्मज्ञानमयितयोग की शिक्षा दी थी, उसीके अनुसार राजा पृथु पुरुषोत्तम श्रीहरिकी आराधना करने

भगवान् सनत्कुमारः = पृथुं प्रति-यत्-परं = श्रेष्ठं, यदाह – 'श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम् । सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम् ॥' (भा० ४ । २४ । ७५) इति । श्रेयसां = श्रेयःसाधनानां श्रद्धाभक्तिविवेकादीनां मध्ये । ज्ञानमेव नौः, सुखं = अनायसेन, व्यसनार्णवं = दुःखार्णवं संसारम् । आध्यात्मिकं = अध्यात्मतत्त्वबोधकं-योगं = ज्ञानयोगं – प्रत्यक् चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि ।' (भा० ४ । २२ ३७) 'यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति माया' 'तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्धतत्त्वं' (भा०४।२२।३८) 'नैवात्मनो बहिरन्तर्विचष्टे' (भा० ४ । २२ । २७) इत्यादिनाभिहितम् । तेनैव = ज्ञानयोगेनैव पुरुषं = परमात्मानं, अभजत् = अचिन्तयत् । महतां सिद्धानामुपदेशः सफलो भवत्येवेति ज्ञापयितुं तं विशिनष्टि-भगवानिति । भगवद्धर्मिणः = भगवति सर्वक्रियासमर्पणेन तदाराधनपरस्य, साधोः = विशुद्धान्तःकरणत्वेन निष्कपटस्य सच्चरित्रस्य, श्रद्धया = श्रद्धेत्युपलक्षणं शमादेरपि । श्रद्धादिना यततः सदा भगवज्जपध्यानप्रयत्नं कुर्वाणस्य, तस्मिन् भगवति-ब्रह्मणि-अनन्यविषया = अव्यभिचारिणी भक्तिः, अभवत्, तस्या भक्तेः भगवन्तं विहायान्यो विषयो नास्ति, यतस्तदन्यविषयस्य मिथ्यात्वबुद्ध्या परित्यक्तत्वात्, परमार्थसद्बुद्ध्या भगवत एवैकस्यात्मत्वेन परिग्रहीतत्वाच्च तस्या अनन्यविषयता सिद्धा ।

सर्वपुरुषार्थहेतुत्वेन भगवद्भक्तेः कल्पतरुस्वभावत्वात् तस्याः मातृकल्पायाः सकाशात् ज्ञानवैराग्ये पुत्रकल्पे समुत्पन्ने भवतः, यदुत्पत्त्या तस्या वन्ध्यत्वनिवृत्तिपूर्वकं साफल्यं प्रभवति । इत्याह — तस्य = पृथोः महाराजस्य, विरक्तिमत् = वैराग्यसहितं ज्ञानमभूदित्यन्वयः । तस्य ज्ञानस्य माहात्म्यं दर्शयति येनेति । येन प्रत्यगभिन्नब्रह्मज्ञानेन, स निजजीवकोशं =

लगे । इस तरह भगवत्परायण होकर श्रद्धापूर्वक सदाचारका पालन करते हुए, निरन्तर साधन करनेसे परब्रह्म परमात्मामें उनकी अनन्यभक्ति हो गयी । इस प्रकार भगवदुपासनासे अन्तःकरणशुद्ध सात्त्विक हो जानेपर निरन्तर भगवच्चिन्तनके प्रभावसे प्राप्त हुई इस अनन्यभक्तिसे उन्हें वैराग्यसहित ज्ञानकी प्राप्ति हुई और फिर उस तीव्र ज्ञानके द्वारा उन्होंने जीवके उपाधिभूत अहंकारको—लिङ्गदेहको नष्ट कर दिया । जो सब प्रकारके संशय - विपर्ययका आश्रय था । इसके पश्चात् देहात्मबुद्धिकी निवृत्ति और परमात्मा-अद्वय ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने पर अन्य सब प्रकारकी सिद्धि आदिसे भी उदासीन होजानेके कारण उन्होंने उस वृत्तिरूप ज्ञानको भी छोड दिया । जिसकी सहायतासे पहले अपने जीवकोशका नाश किया था ।

निजस्य = अद्वयब्रह्मस्वरूपभूतस्य जीवकोशं = जीवत्वप्रयोजकं कृमिकोशवद् आवरकं-चिज्जडतादात्म्यरूपां हृदयग्रथिं, कीदृशं तत् ? संशयपदं = संशयानां = असंभावनाविपरीतभावनादीनां पदं = आश्रयं, तद्द्वारा संसारकारणं चिच्छेद = विच्छिन्नं विनष्टमकरोत् । यद्वा जीवकोशं = जीवत्वप्रयोजकान्नमयादिकोशपंचकमित्यर्थः । नन्वस्य ज्ञानस्य संसारबीजहृदयग्रन्थ्युच्छेदे कथं सामर्थ्यमित्याशंक्य तस्य भगवद्भक्तिजन्यत्वादित्याशयेनाह — तदनुसंस्मरणेति । तस्य भगवतोऽनु = निरन्तरं सं = सम्यक्तत्परमार्थस्वरूपानुसंधानपूर्वकं स्मरणं 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (यो० सू० १ । २८) इति न्यायात्, तेन अनुपूर्त्तिः = निरन्तरमभिवृद्धिः यस्यास्तया, अनया भक्त्याऽनन्यया निशितेन = तीक्ष्णीकृतेन येन = ज्ञानयोगेनेति सम्बन्धः । नन्वेवमतिदुर्लभं प्रमाणान्तरेणानधिगतं सफलं ज्ञानं तस्य कथमभूदित्याशंक्य भगवतो विश्वरूपस्य महतः परिचर्यादिजन्यानुग्रहात् 'ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतभावना । महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ॥' इत्यभियुक्तस्मरणादित्यभिप्रेत्य तं विशिनष्टि – भगवत इति । भगवतः परिकर्म = भगवन्तमेव विविधविश्वरूपेण परितः = सर्वतो दृष्ट्वा तत्परितोषाय क्रियमाणं सेवादिरूपं कर्म, तेन शुद्धे सत्त्वे आत्मा अन्तःकरणं यस्य तस्येत्यर्थः । शुद्धः = निर्मलः, सत्त्वः = प्रसन्नः आत्मा = मनो यस्येति वा । अद्वयब्रह्मात्मज्ञानस्य साफल्यं बोधयत् तस्य कृतार्थतामाह – छिन्नेति । छिन्ना = निवृत्ता अन्यधीः = भेदबुद्धिर्यस्य स तथा, यतो भगवदद्वयस्वरूपेण सहाभेदभावापन्नतया बुद्धेर्भेदभावस्य विच्छिन्नत्वं युक्तमेव । तदेवाह – अधीति । अधिगता-विज्ञाता, आत्मनः = स्वस्वरूपस्य, गतिः अद्वय-चित्सुखपूर्णं पारमार्थिकं तत्त्वं येन स तथा । अद्वयब्रह्मनिष्ठतया भेदास्फुरणादेव निरीहः = ईहा = स्पृहा, चेष्टा वा, शरीरनिर्वाहार्थमपि निश्चेष्टो निःस्पृहो वा ।

नन्वस्ति ब्रह्मविद्या अखण्डब्रह्माकारवृत्तिरूपा, तस्याः उत्पत्तिमात्रेण अविद्यातत्कार्यचिज्जडग्रन्थ्यादिबाधकत्वेऽपि स्वबाधकत्वायोगात्, तस्या बाधकान्तरं वाच्यम्, तस्या अबाध्यत्वे च द्वैतापत्तेः, ततश्चानवस्थेत्याशंक्य स्वस्या अप्यविद्याकार्यान्तःकरणवृत्तिरूपत्वात् स्वयमेव बाधिका, स्वपरबाधकानां बहूनां पदार्थानामुपलंभात्, ततश्चाधिष्ठानब्रह्मचैतन्यमात्रपरिशेषान्न द्वैतापत्तिर्नवाऽनवस्थेत्यभिप्रेत्याह — तत्तत्यजे इति । येन वयुनेन = प्रत्यगभिन्नब्रह्मज्ञानेन, इदं = अविद्यातत्कार्यजातमावरकं द्वैतप्रपञ्चं, अच्छिनत् = विच्छिन्नमकरोद्, तदपि तेनैव तत्यजे = परित्यक्तवान् । ज्ञानेनैव ज्ञानं बाधित्वाऽद्वयचिन्मात्रमेव परिशिष्टमभूत् ।

यदाहुः — वेदान्तरहस्यविदो भगवन्तः सर्वज्ञात्ममुनिपादाः संक्षेप-

शारीरकेऽपि — 'वेदान्तवाक्यजनिता मतिवृत्तिरेव-मुत्पत्तितः सकलमेव भवार्णवाम्बु । पीत्वा स्वयं च खलु शाम्यति दग्धलोहपातं यथाम्बु चितिमेव तु शेषयित्वा ॥(१) (४।२८)। स्वपरविरोधित्वे वस्तुपरिशेषे च दृष्टान्तमाह – दग्धलोहेति । दग्धलोहे सिक्तमम्बु दाहं शमयत् स्वयं च शाम्यति, लोहं तु परिशिष्यते तद्वत् 'पूर्णमेवावशिष्यते' (बृ० उ० ५।१।१) 'तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते' (भा० १०।१४।१८) इति श्रुतिभागवतस्मरणात् ।

तस्य पृथोः प्रथमं जीवन्मुक्तिमुक्त्वा सम्प्रति विदेहमुक्तिमाह — 'एवं स वीरप्रवरः संयोज्याऽऽत्मानमात्मनि । ब्रह्मभूतो दृढं काले तत्याज स्वं कलेवरम् ॥' (२) (भा० ४।२३।१३) इति । एवं स पृथुः, ब्रह्मभूतः = ब्रह्मात्मैक्यानुसंधानपरो त्यक्तदेहभावजीवभावतया ब्रह्मभावमापन्नो वा, दृढं = यथा भवति तथाऽन्यानुसन्धानरहितः सन् काले = देहत्यागावसरे प्रारब्धकर्मसमाप्तिलक्षणे प्राप्ते सति, आत्मानं = मनः, जीवात्मानं वा आत्मनि-परमात्मनि, संयोज्य = उपाधि परित्यागेन स्थिरीकृत्य स्वं कलेवरं = देहं तत्याजेत्यन्वयः । यथाऽज्ञानां देहत्यागावसरे मोहशोकादिकं भवति, तथाऽस्य ब्रह्मभूतस्य विज्ञस्य नाभूत्, प्रत्युतोत्साहानन्द एव संजात इति सूचयन् विशिनष्टि-वीरप्रवर इति । वीराणां प्रवरत्वं तत्त्वदर्शिनो जीवन्मुक्तस्यैव भवति नान्यस्येति भावः । संप्रति पृथोः – अपरोक्षब्रह्मज्ञाननिष्ठया सहाष्टांगयोगनिष्ठां विज्ञापयत् तस्य देहत्यागप्रकारं दर्शयति – 'संपीड्य पायुं पार्ष्णिभ्यां वायुमुत्सारयन् शनैः । नाभ्यां कोष्ठेष्ववस्थाप्य हृदुरःकण्ठशीर्षणि ॥ उत्सर्पयन् स तं मूर्ध्नि क्रमेणावेश्य निःस्पृहः । वायुः वायौ क्षितौ कायं तेजस्तेजस्ययूयुजत् ॥ खान्याकाशे द्रवं तोये यथास्थानं विभागशः । क्षितिमंभसि तत्तेजस्यदो वायौ नभस्यमुम् ॥ इन्द्रियेषु मनस्तानि तन्मात्रेषु यथोद्भवम् । भूतादिनाऽमून्युत्क्षिप्य महत्यात्मनि संदधे ॥ तं सर्वगुणविन्यासं जीवे मायामये न्यधात् । तं चानुशयमात्मस्थमसावनुशयी पुमान् ॥ ज्ञानवैराग्यवीर्येण स्वरूपस्थोऽजहात्प्रभुः ॥' (भा० ४।२३।१४-१५-१६-१७-१८) (३) ।

(१) वेदान्त वाक्यजन्य प्रत्यगभिन्न-ब्रह्माद्वयविषयिणी एकाग्रबुद्धि ही अपने जन्ममात्रसे अज्ञान सहित सकलभवार्णवको पीकर-नष्ट कर एक मात्र चैतन्यतत्त्वको शेष रखकर स्वयं वैसे ही शान्त हो जाती है, जैसेकि तपे हुये तवे पर पड़ा पानी तवेको ठण्डा करके स्वयं विलीन हो जाता है ।

(२) फिर जब अन्तकाल उपस्थित हुआ तो वीरवर पृथुने अपने चित्तको दृढ़तापूर्वक परमात्मामें स्थिरकर ब्रह्मभावमें स्थित हो अपना शरीर त्याग दिया ।

(३) उन्होंने एड़ीसे गुदाके द्वारको रोककर प्राणवायुको धीरे-धीरे

अयमर्थः — पार्ष्णिभ्यां पायुं = गुदं संपीड्य तद्द्वारा वायुर्मा निःसरत्विति तस्य मुद्रणं कृत्वा, वायुं =प्राणं, मूलाधाराच्छनैरुत्सारयन् = ऊर्ध्वं नयन् कोष्ठेषु = प्राणस्थानेषु अवस्थाप्य, निःस्पृहः = संसारस्पृहारहितः सच, तं वायुं = प्राणं, वायौ = महाभूतसमष्ट्यात्मके, अयूयुजत् = तयोरभेदं भावयामासेति द्वयोरन्वयः। संपीड्येत्यनेन मुक्तासनं सूचितम्। कोष्ठान्येवं दर्शयति नाभ्यामित्यादिना। हृदादीनां द्वन्द्वसमासैकत्वम, तत्र। नाभ्यां = मणिपूरके चक्रेऽवस्थाप्य, ततो हृदि = अनाहतचक्रे, तत उरसि = कण्ठस्याधोदेशे- विशुद्धे चक्रे, ततः कण्ठे = तस्यैव चक्रस्याग्रदेशे, ततश्च शीर्षणि = भ्रुवो मध्ये आज्ञाचक्रे, अवस्थाप्येति सर्वत्रानुषङ्गः। स तं = प्राणं, असूनिति पाठे, प्राणानेवमुत्सर्पयन् = ऊर्ध्वं नयन् क्रमेण मूर्ध्नि = ब्रह्मरन्ध्रे आवेश्य, ततो देहारंभकपंचमहाभूतानि समष्टिपञ्चमहाभूतेषु अयूयुजत् — व्यष्टीनां समष्टीनां चाभेदं भावयामासेत्यर्थः। वायुं = शरीरगतं व्यष्टिभूतं, वायौ समष्टिभूते, कायं = पार्थिवभागं देहस्थितं, क्षितौ = पृथिव्याम्। यद्यपि कायं पांचभौतिक- मेव तथापि पार्थिवांशाधिक्यात्कायशब्दः पृथिव्यंशपर एव 'वैशेष्यात्तद्वादः' (ब्र. सू० २।४।२२) इति न्यायात्। शरीरगतं तेजः तेजसि। खानि = इन्द्रियच्छिद्रावच्छिन्नाकाशप्रदेशान्, आकाशे-समष्टिलक्षणे। द्रवं = शरीर- गतं जलांश, तोये = समष्टिजले। एवं यथास्थानं = यथायोग्यं। यथास्थानं = यस्य यत उत्पत्तिस्तस्य तत्र स्थान एव लयं संभावयेदित्यर्थः। विभागशः=

मूलाधारसे उपरकी ओर उठाते हुये उसे क्रमशः नाभि, हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ और मस्तकमें स्थित किया। फिर उसे और ऊपरकी ओर लेजाते हुये क्रमशः ब्रह्मरन्ध्रमें स्थिर किया॥ अब उन्हें किसी प्रकारके सांसारिक भोगोंकी लालसा नहीं रही॥ फिर यथा स्थान विभाग करके प्राणवायुको समष्टि वायुमें, पार्थिव शरीरको पृथ्वीमें, और शरीरके तेजको समष्टि तेजमें लीन कर दिया। हृदयाकाशादि देहावच्छिन्न आकाशको महाकाशमें, और शरीरगत रुधिरादि जलीय अंशको समष्टि जलमें लीन किया। इसी प्रकार फिर पृथ्वीको जलमें, जलको तेजमें, तेजको वायुमें, और वायुको आकाशमें लीन किया। तदनन्तर मनको (सविकल्प ज्ञानमें जिसके अधीन वह रहता है) उन इन्द्रियोंमें, इन्द्रियोंको उनके कारणरूप तन्मात्राओंमें और सूक्ष्म भूतों - तन्मात्राओंके कारण अहंकारके द्वारा आकाश, इन्द्रिय और तन्मात्राओंको उसी अहंकारमें लीनकर, अहंकारको महत्तत्वमें लीन किया। फिर सम्पूर्ण गुणोंकी अभिव्यक्ति करनेवाले उस महत्तत्त्वको मायोपाधिक जीवमें स्थित किया। तदनन्तर उससायारूप जीवकी उपाधिको भी—उन्होंने ज्ञान और वैराग्यके प्रभावसे अपने शुद्ध अद्वय - आनन्दपूर्ण ब्रह्म स्वरूपमें स्थित होकर त्याग किया।

पृथक्-पृथक् अयूयुजदिति पूर्वस्यैवानुषङ्गः। एवं देहविलयं विभाव्य प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थं महाभूतानामपि विलयं विभावितवानित्याह – क्षितिमिति। क्षितिं = पृथिवीं, अंभसि = जले स्वकारणे अयूयुजदित्यस्यैव सर्वत्रानुषङ्गः। अयूयुजत् = एकीकृतवान्। तत् = अंभः, तेजसि, अदः = तेजः वायौ, अमुं = वायुं, नभसि = आकाशे, प्रविलयं विभावयामास।

एव तामसाहंकारकार्यस्याकाशपर्यन्तस्य पंचमहाभूतस्य विलयभावनामभिधाय सात्त्विकराजसाहंकारकार्याणामपि विलयभावनां दर्शयति–इन्द्रियेष्विति। मन इन्द्रियेष्वयूयुजत्। अत्र देवानामप्युपलक्षणम्। सविकल्पे विशेषणवैशिष्ट्यावगाहिनि ज्ञाने 'घटोऽयं पटोऽयमित्यादिरूपे मनस इन्द्रियैराकर्षणात्' तेषु लयाभिधानमुक्तम्, न तु कार्यत्वात्। मनस इन्द्रियाधीनत्वं गीतास्वपि भगवता बोधितम् – 'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।' (गी० २। ६७) इति। चरतां = स्वं स्वं विषयं प्रति गच्छतां, अनुविधीयते = अनुसरति। अत्र च भागवतेऽपि 'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः।' (भा० ४। २२। ३०) इति च। इन्द्रियेषु नभः इति पाठेऽप्ययमर्थः। भट्टादीनां मते नभश्चाक्षुषं, केषांचिन्मानसम्। नभोगुणश्च शब्दः श्रोत्रग्राह्योऽत इन्द्रियग्राह्यत्वादिन्द्रियेषु नभो विलापितमिति। तानीन्द्रियाणि यथोद्भवम्, उद्भवः = वृत्तिलाभः, तमनतिक्रम्य स च विषयाधीन इति। श्रोत्रादीनां विषयेषु शब्दादिषु लयः। यद्वा तन्मात्रकार्याण्येवेन्द्रियाणि, मनोऽप्यपंचीकृततन्मात्रकार्यम्। अमूनि = अवशिष्टानि भूतादिना = अहंकारेण, उत्कृष्य = परतो नीत्वा संयोज्य भूतादौ क्षिप्त्वा, नभः सहितानीन्द्रियाणि। तं चाहंकारं महत्यात्मनि = महत्तत्त्वे संदधे = योजितवानित्यन्वयः। तत्रावशिष्टं नभो, मात्राणि च तामसाहंकारे, मन इन्द्रियदेवताश्च सात्त्विकाहंकारे, इन्द्रियाणि च राजसाहंकारे, इत्येवं यथोद्भवं लयविभावना ज्ञेया। सर्वेषां गुणानां गुणकार्याणाञ्च विन्यासः = स्थिति यस्मिन् 'वृक्षस्य बीजमिव' तं सर्वसंसारबीजभूतं महान्तं, मायामये = मायोपाधिप्रचुरे त्रिगुणात्मकप्रकृतिप्रधाने जीवे = जीवोपाधौ लिङ्गशरीरे, न्यधात्। सर्वं सुखदुःखादिकार्यजातं लिङ्गशरीर एव पर्यवस्यति, नात्मनि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव इति चिन्तयामासेत्यर्थः। तं चानुशयं = लिंगदेहोपाधिभूतं, यः = पूर्वं अज्ञानदशायां, अनुशयी = लिङ्गशरीराभिमानी पुमान् पृथुः आसीत्, स इदानीं, समाधिदशायां ज्ञानवैराग्यवीर्येण = प्रभावेण, स्वस्वरूपस्थः सन् = स्वस्याद्वयपूर्णानन्दस्वरूपेऽवस्थितः सन् तं चात्मस्थं = आत्मन्यविद्ययाऽऽरोपितं स्वसम्बन्धितया प्राक् स्थितं अनुशयं = लिङ्गशरीरं, अविद्यारूपकारणशरीरविनाशानन्तरं, अजहात् = परित्यक्तवान्-बाधितवान्। यतः प्रभुः = त्यक्तुं समर्थ-इत्यन्वयः। अद्वय-

ब्रह्मभावं लब्ध्वा यत्कृतं जीवत्वं तमविद्यामायालक्षणमुपाधिमनुशयाख्यमनायासेनाजहादिति भावः ।

स्वस्वरूपमद्वयं निरतिशयानन्दं ब्रह्म प्राप्तस्य कर्तृकरणादिसाधनाभावात्—कर्तव्यं नास्ति किमपि, ज्ञातृज्ञेयादित्रिपुटीभेदाभावाच्च ज्ञातव्यञ्च किमपि नास्ति, अतस्तस्य कृतकृत्यता पूर्णता धन्यता च स्वत एव सिद्ध्यति । यदाहुः– श्रीसंक्षेपशारीरकाचार्य्याः– रूपं तावकमुज्झितद्वयमभूदद्वैतमेवाञ्जसा । तच्चाद्वैतमपास्य मोहजनितं पारोक्ष्यमात्मा ह्यभूत् ॥ एवं वेदशिरःपदान्वयवशादेकत्वमेकान्ततः । सिद्धं प्रत्यगनन्तयोरिति तव श्रेयः समाप्तिं गतम् ॥ (१) (१ । २६६) ।

अयमर्थः — तावकं रूपं = स्वरूपं, उज्झितद्वयं = परित्यक्ताहंकारतद्धर्मादिद्वैतं, यथा स्यात्तथा, अञ्जसा = स्वभावतोऽद्वैतमेव पूर्णं ब्रह्मैवाभूत् , तच्चाद्वैतं मोहजनितं = अज्ञानारोपितं, पारोक्ष्यमपास्याञ्जसा तदात्मा = स्वस्वरूपमभूद्धीति सम्बन्धः । हीति वैदिकप्रसिद्धौ । एवं च सति तत्त्वमस्यादिवाक्यादहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कार उदिते पूर्णपुरुषार्थलाभ इत्याह—एवं वेदशिर इति । तव श्रेय इति तावतैवेति शेषः । समाप्तिं गतं = निरवशेषं प्राप्तमित्यर्थः । प्रत्यगात्मनः परमानन्दाद्वयब्रह्मप्राप्तेरेव श्रेयः समाप्तित्वात् । 'सा काष्ठा सा परा गतिः' (क० उ० ३ । ११) इति श्रुतेः । 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' (आपस्तम्ब - धर्मसूत्र १ । २२ । २) 'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ।' (गी० १५ । २०) इति स्मृतेश्च ।

सत्संगलब्धभक्तिवैराग्यज्ञानवतः प्राक् जीवन्मुक्तस्य पश्चाद्विदेहमुक्तस्य पृथोः चरितमतीव प्रशस्तम् , तदनुसंधानपरो यः कोऽपि जनः स्यात् ,स तत्पदवीं प्राप्य तद्वत् कृतार्थो भवतीत्याह—'इत्थम्भूतानुभावोऽसौ पृथुः स भगवत्तमः । कीर्तितं तस्य चरितं उद्दामचरितस्य ते॥ य इदं सुमहत्पुण्यं श्रद्धयाऽवहितः पठेत् । श्रावयेच्छृणुयाद्वापि स पृथोः पदवीमियात् ॥' (भा० ४ । २३-३०-३१) (२)

(१) शिष्य ! तेरा रूप द्वैत - शून्य साक्षात् अद्वैत ब्रह्म ही था । वह अद्वैत, मोह (अज्ञान) जन्य परोक्षताको दूर कर तेरा अपरोक्ष आत्मा हो गया । इस प्रकार वेदान्तपदसमन्वयके द्वारा प्रत्यगात्मा और अनन्त, अद्वयब्रह्मतत्त्वमें अत्यन्त अभेद सिद्ध हो गया, इतने मात्रसे ही तेरा श्रेय - कल्याण सम्पन्न हो जाता है ।

(२) परमभागवत पृथुजी ऐसे ही प्रभावशाली थे, उनके चरित बड़े उदार हैं मैंने तुम्हारे सामने उनका वर्णन किया । जो पुरुष इस परम पवित्र चरित्रको श्रद्धापूर्वक-निष्कामभावसे एकाग्रचित्तसे पढ़ता, सुनता अथवा सुनाता है, वह भी

अयमर्थः — इत्थंभूतः = आश्चर्यमयोऽतिदुर्लभः, त्यागवैराग्यभक्तिज्ञानादि-रूपोऽनुभावः = प्रभावो यस्य स तथाभूतोऽसौ, भगवत्तमः = अपरोक्षतया लब्धो भगवद्भावो येन सः। 'भगवत्त्वाय कल्पते।' (भा० । १ । १० । ६) 'गुरुदेवतात्मा' (भा० ११ । २ । ३७) इति च स्मरणात्। उद्दामचरितस्य = उद्गतं — दाम = तत्तदभीष्ट — फलदाने बन्धनं = प्रतिबन्धो यस्मात्तथाभूतं चरितं यस्य तस्येत्यर्थः। संप्रति तस्य श्रवणकीर्तनादिफलं दर्शयति—अवहितः = श्रवणे तदर्थानुसंधाने च सावधानः सन्। सुमहत्पुण्यं = कामादिदोषनिवारणपूर्वकस्वान्तःशुद्धिभगवत्प्रसादवैराग्यभक्त्यादिलाभानु-कूलपुण्यजनकमित्यर्थः। पदवीं = तद्विष्णोः परमं पदम्। 'इदं स्वस्त्ययनं पुंसाममंगल्यनिवारणम्। धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं कलिमलापहम् ॥' (भा० ४। २३ । ३४) (१) स्वस्त्ययनं = सर्वथा कल्याणकरं — परश्रेयोलाभसाध-नमिति यावत्। अमंगल्यस्य = दुःखशोकभयादे निवारकम्। धन्यं = योग-क्षेमनिर्वाहकधनादिप्रापकम्, यशस्यं = यशःप्रापकम्। आयुष्यं = प्रशस्तस्य आयुषो वृद्धिकारकम्। स्वर्ग्यं = स्वर्गप्रापकं-निर्मलानन्दप्रापकं वा। 'अनुदिन-मिदमादरेण शृण्वन्पृथुचरितं प्रथयन्विमुक्तसंगः। भगवति भवसिन्धुपोतपादे स च निपुणां लभते रतिं मनुष्यः ॥' (२) (भा० ४ । २३ । ३६) विमुक्तसंगः = परित्यक्तरागद्वेषादिरूपसंसारसंगः। अनुदिनं = निरन्तरम प्रथयन् = स्वाध्यायप्रवचनादिना सर्वत्र विस्तारयन्। भवसिन्धोः = संसारसागरस्यो-त्तरणार्थं पोतो = नौकारूपः पादो यस्य तस्मिन्नित्यर्थः। निपुणां = वैराग्य-ज्ञानजनिकां तन्मयीं वा रतिं = भक्तिं लभते = प्राप्नोतीत्यर्थः। इत्यलमति-विस्तरेण।

महाराज पृथुके पद - भगवान्के धामको प्राप्त होता है।

(१) यह चरित्र मनुष्यमात्रका कल्याण करनेवाला और अमङ्गलको दूर करनेवाला है, यह धन, यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला, स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला और कलियुगके दोषोंका नाश करनेवाला है।

(२) जो पुरुष इस पृथुचरितका प्रतिदिन आदर पूर्वक निष्कामभावसे श्रवण और कीर्तन करता है। उसका, जिनके चरण संसार सागरको पार करनेके लिये नौकाके समान हैं। उन श्रीहरिमें सुदृढ़ अनुराग हो जाता है।

—❀—

२।१

(मनसः परिशुद्धये वशीकाराय च भगवतः सगुणसाकारदिव्यस्वरूपमनुध्येयम्) (१)

अस्ति हि मनो दुर्दान्तं स्वभावतश्चंचलमिति सर्वेषां प्रसिद्धम्। मदोन्मत्तवनगजस्येव प्रतिक्षणप्रवर्धमानशब्दादिविषयवासनासहस्रानुविद्धतया सर्वदोपचीयमानं सद्शास्त्रसद्गुरुसद्बोधवचनश्रवणेनाऽपि मनागपि न कृशं भवति। अत एव न तद्विधारयति, न च शुद्धं वशीभूतञ्च भवति। अपि च स्वात्मापेक्षयाऽपि तत् बलिष्ठं प्रतिभाति, यतो निर्विकारमात्मानं विकारीकृत्य पशुमिव नासिकाप्रोतमितस्ततः समाकर्षति। दुःखभूयिष्ठं तुच्छं विषयजातं मत्वाऽपि पौनःपुन्येन तत्रैवासज्जति। ततो नात्मनापि निग्राह्यं भवति। एवं तत् देहेन्द्रियाण्यपि भूयो भूयः प्रमथ्नाति। अतो देहेन्द्रियैरपि न तन्मनो निग्राह्यं भवति। सति चैवं महाकाशे दोधूयमानस्य वायोश्चैलाञ्चल इव मनसो निग्रहं कर्तुं अशक्यमेव प्रतिभाति। अत एव परया कृपया पुरतोऽवस्थाय भद्रया मुद्रया कल्याणकरं योगं समुपदिशन्तं लीलापुरुषोत्तमं भगवन्तं वासुदेवं प्रति स्वभक्तशिष्योऽर्जुनो योगोपदेशं शृण्वन्नपि स्वमनसो दुर्दशां बोधयितुमित्थं ब्रवीति–'चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥' (गी० ६। ३४) इति। पार्थसारथिना भगवताऽपि–तदुक्तं मनसस्तादृशत्वं–'असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्।' (गी० ६। ३५) इत्यनेनानुमोदितमपि – तस्य परिशुद्धिपूर्वकाय निग्रहायाभ्यासवैराग्यलक्षणं यथार्थं साधनद्वयम् – 'अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते।' (गी० ६। ३५) इत्यनेनोपदिष्टम्।

तत्रापि विषयवैराग्येण जपादिसाधनाभ्यासेन च सह भगवतो दिव्यस्य सगुणसाकारविग्रहस्य मदनकोटिसुन्दरतमस्य मरकतोपलश्यामलस्य मन्दस्मितरुचिरबिम्बाधरस्य मणिमयकिरीटकुण्डलवलयहारकेयूरमुद्रिकाद्याभूषणालंकृतस्य पीताम्बरस्य महनीयाद्भुतचरितस्य पौनःपुन्येन परया प्रीत्या क्रियमाणो ध्यानाभ्यासस्तुच्छविषयासक्तस्य मनसः परिशुद्धये वशीकारायचास्ति सर्वोत्तमं साधनमिति बोधयितुं तप्तहेमनिकायाभः शितिकण्ठस्त्रिलोचनो

(१) (मनकी परिशुद्धिके लिये एवं वश - एकाग्र करनेके लिये भगवान्के सगुण साकार दिव्यस्वरूपका ध्यान करना चाहिये)

भगवान् श्रीरुद्रः – वेदिषदः पुत्रेभ्यः प्रचेतोभ्यः कृपया भगवतः श्रीविष्णोः साकारविग्रहदर्शनप्रार्थनया सह सर्वेषां साधकानां ध्यानाय तद्वर्णयति —

दर्शनं नो दिदृक्षूणां देहि भागवतार्चितम् ।
रूपं प्रियतमं स्वानां सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनम् ॥
स्निग्धप्रावृड्घनश्यामं, सर्वसौन्दर्यसंग्रहम् ।
चार्वायतचतुर्बाहुं, सुजातरुचिराननम् ॥
पद्मकोशपलाशाक्षं, सुन्दरभ्रु सुनासिकम् ।
सुद्विजं सुकपोलास्यं समकर्णविभूषणम् ॥
प्रीतिप्रहसितापाङ्गं, अलकैरुपशोभितम् ।
लसत्पङ्कजकिंजल्क - दुकूलं मृष्टकुण्डलम् ॥
स्फुरत्किरीटवलय - हारनूपुरमेखलम् ।
शङ्खचक्रगदापद्म - मालामण्युत्तमर्द्धिमत् ॥
सिंहस्कन्धत्विषो बिभ्रत्सौभगग्रीवकौस्तुभम् ।
श्रियाऽनपायिन्याऽऽक्षिप्तनिकषाश्मोरसोल्लसत् ॥
पूररेचकसंविग्न - वलिवल्गुदलोदरम् ।
प्रतिसंक्रामयद्विश्वं नाभ्याऽऽवर्तगभीरया ॥
श्यामश्रोण्यधिरोचिष्णु- दुकूलस्वर्णमेखलम् ।
समचार्वङ्घ्रिजङ्घोरु - निम्नजानुसुदर्शनम् ॥

पदा शरत्पद्मपलाशरोचिषा,
नखद्युभि र्नोऽन्तरघं विधुन्वता ।
प्रदर्शय स्वीयमपास्तसाध्वसं,
पदं गुरो ! मार्गगुरुस्तमोजुषाम् ॥

एतद्रूपमनुध्येयमात्मशुद्धिमभीप्सताम् ।
यद्भक्तियोगोऽभयदः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥

भवान् भक्तिमता लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनाम् ।
स्वाराज्यस्याप्यभिमतः एकान्तेनात्मविद् गतिः ॥
तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया ।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत्पादमूलं विना बहिः ॥ (१)

(भा० ४ । २४ । ४४ इत्यारभ्य ५५ पर्यन्तम्)

(१) प्रभो ! हमें आपके दर्शनकी अभिलाषा है; अतः आपके भक्तजन जिसका पूजन करते हैं और जो आपके निजजनोंको अत्यन्त प्रिय हैं, अपने उस अनुपमदिव्यरूपकी आप हमें झांकी कराइये, आपका वह रूप अपने गुणोंसे समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाला है । वह वर्षा कालीन मेघके समान स्निग्ध - श्याम और सम्पूर्ण सौंदर्योंका सार–सर्वस्व है । सुन्दर चार विशाल भुजाएं, महामनोहर मुखार-विन्द, कमलदलके समान नेत्र, सुन्दर भौंहें, सुघड़ नासिका, मनमोहिनी दन्तपंक्ति, अमल–कपोलयुक्त, मनोहर मुखमण्डल और शोभाशाली समान कर्णयुगल हैं । प्रीति पूर्ण उन्मुक्त हास्य, तिरछी - चितवन, काली - काली घुंघराली अलकें, कमल कुसुमकी केसरके समान फहराता हुआ पीताम्बर, झिलमिलाते हुये कुण्डल, चमचमाते हुये मुकुट, कङ्कण, हार, नूपुर और मेखला आदि विचित्र आभूषण, तथा शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, वनमाला और कौस्तुभमणिके कारण उसकी अपूर्व शोभा है । उसके सिंहके समान स्थूल कंधे हैं, जिन पर हार, केयूर एवं कुण्डलादिकी कान्ति झिल-मिलाती रहती है । तथा कौस्तुभमणिकी कान्तिसे सुशोभित मनोहर ग्रीवा है । उसका श्यामल वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्नके रूपमें लक्ष्मीजीका नित्यनिवास होनेके कारण कसौटीकी शोभाको भी मात करता है । उसका त्रिवलीसे सुशोभित - पीपलके पत्ते-के समान सुडौल उदर श्वासके आने - जानेसे हिलता हुआ बड़ा ही मनोहर जान पड़ता है । उसमें जो भंवरके समान चक्करदार नाभि है, वह इतनी गहरी है कि उससे उत्पन्न हुआ यह विश्व मानो फिर उसीमें लीन होना चाहता है । श्यामवर्ण कटिभागमें पीताम्बर और सुवर्ण मेखला शोभायमान है । समान और सुन्दर चरण, पिंडली जांघ और घुटनोंके कारण आपका दिव्य विग्रह बड़ा ही सुघड़ जान पड़ता है । आपके चरणकमलोंकी शोभा शरद्–ऋतुके कमल - दलकी कान्तिका भी तिरस्कार करती हैं । उनके नखोंसे जो प्रकाश निकलता है, वह जीवोंके हृदयान्ध-कारको तत्काल नष्ट कर देता है । हमें आप कृपा करके भक्तोंके भयहारी, एवं आश्रयस्वरूप उसी रूपका दर्शन कराइये । जगद्गुरो ! हम अज्ञानावृत प्राणियोंको अपनी प्राप्तिका मार्ग बतलानेवाले आप ही हमारे गुरु हैं । प्रभो ! चित्तशुद्धिकी

आस्तिकः श्रद्धालुः स्वमनसः परिशुद्धये, तत्त्वसाक्षात्कारयोग्यतायै च भगवतो दिव्यसाकारविग्रहदर्शनं प्रार्थयेत्, तल्लाभाय च भूयो भूयस्तद्रूपध्यानमभ्यसेदित्याह—दर्शनमिति। नः = अस्माकं आस्तिकानां श्रद्धालूनां, दिदृक्षूणां = दर्शनेच्छूनां कृते कृपया दर्शनं देहीत्यन्वयः। कीदृशं दर्शनमित्यपेक्षायां सत्यामाह — भागवतैः = भगवदनुरागिभिः, भगवत्प्रियैस्त्वद्भक्तैरर्चितं = सत्कृतं बहुमानेनाङ्गीकृतमित्यर्थः। दर्शनं देहीत्यस्यैव विवरणं 'रूपमित्यादि प्रदर्शयेत्यन्तम्'। स्वानां = स्वकीयानां भक्तानां प्रियतमं रूपं प्रदर्शयेति नवमेनान्वयः। रूपमेव विशिनष्टि—सर्वेषां चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां ये गुणाः दिव्यरूपादयस्तेषां अंजनं = व्यंजकं—सर्वेन्द्रियालौकिकविषयसंयुक्तमित्यर्थः। यद्वा आराधकस्य सर्वेन्द्रियाणि स्वगुणैः — अनन्यसाधारणदिव्यसौन्दर्यलावण्यसौगन्ध्यमाधुर्यसौकोमार्यादिभिः अनक्ति = रंजयति—आह्लादयतीति सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनं = सर्वेन्द्रियाह्लादकदिव्यगुणयुक्तमित्यर्थः। कीदृशस्य रूपस्य भक्तजनाह्लादकजनकत्वमित्यपेक्षायां रूपविशेषणानि—स्निग्धेति। स्निग्धः = चिक्कणः, प्रावृषि = वर्षाकाले यो घनः = मेघः, तद्वच्छ्यामम्, स्नेहवत्त्वस्नेहजनकत्वादिकमुक्तं स्निग्धेत्यनेन। परमानन्दरसवर्षित्व—सर्वसंतापोपशमनत्व—भक्तजनमनश्चातकहर्षजनकत्वादीनि प्रावृड्घनेत्यनेन च सूचितम्। सर्वेषां लौकिकालौकिकवस्तुनिष्ठानां सौन्दर्याणां संग्रहो यस्मिंस्तत् यद्वा सुन्दरीणां समूहः—सौन्दर्यं, सर्वं च तत्सौन्दर्यं समस्तविश्वगतस्त्रीसमूहं—सर्वसौन्दर्यं तेन सम्यग्गृह्यते यत्तत्तथा, 'दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः' (भा० १०।४७।१५) 'का स्त्री, सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्' (भा० १०।२१।४०) इत्यादिस्मरणाच्च। चारवः = मनोहराः, आयताः = दीर्घाः—चत्वारो बाहवो यस्मिंस्तत्। चतसृषु दिक्षु भुजा यस्येति, पद्मनाभोपासकाः; चत्वारो भुजा यस्येति वैकुण्ठनारायणोपासकाः। प्रेयसीश्रीराधासाहित्यादेव चतुर्भुजा इति श्रीकृष्णोपसकाः विवेचयन्ति।

अभिलाषा रखनेवाले पुरुषको आपके इस रूपका निरन्तर ध्यान करना चाहिये। इसकी भक्ति ही स्वधर्मका पालन करनेवाले पुरुषको अभय करनेवाली है। स्वर्गका शासन करनेवाला इन्द्र भी आपको ही पाना चाहता है। तथा विशुद्ध आत्मज्ञानियोंकी गति भी आप ही हैं। इस प्रकार आप सभी देहधारियोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ हैं, केवल भक्तिमान् ज्ञानी पुरुष ही आपको प्राप्त कर सकते हैं। सत्पुरुषोंके लिये भी दुर्लभ - अनन्य-भक्तिसे भगवान्को प्रसन्न करके, जिनकी प्रसन्नता किसी अन्य साधनासे दुःसाध्य है, ऐसा कौन होगा जो उनके चरणके मूलपारमार्थिक स्वरूपसे अतिरिक्त और कुछ चाहेगा।

सुजातं = कोमलं यथोचितसर्वनासिकाद्यवयवैः रुचिरं आननं यस्मिंस्तत्। पद्मस्य = कमलस्य कोशे = मध्ये यानि-पलाशानि-दलानि तद्वद् कोमले-विस्तृतेऽक्षिणी यस्मिन्। सुन्दर्यौ भ्रुवौ यस्मिंस्तत्, शोभना — मनोहरा नासिका यस्मिंस्तत्, शोभनाः = समाः शुक्लाः द्विजाः = दन्ताः यस्मिंस्तत् सुकपोलं = आस्यं—मुखं यस्मिंस्तत्। समौ = अन्यूनाधिकौ कर्णौ विभूषणं यस्य तत् कुण्डलयोरग्रे वक्ष्यमाणत्वत्। प्रीतिव्यञ्जकं—प्रहसितं—अपांगे = नेत्रप्रान्ते यस्य तत्। यद्वा प्रीत्या प्रहसिताविवापांगौ कटाक्षौ यस्मिंस्तत्। अलकैः = केशैः कुञ्चितैः — भ्रमरश्यामनिभैरुपशोभितम् 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' इति कोशोक्तेः। लसन्तः = शोभमानाः, ये पंकजस्य किंजल्काः = केसराः तत्सदृशे पीते दुकूले कौशयवस्त्रे यस्मिंस्तत्। मृष्टे—दिव्यरत्नमण्डिततया समुज्ज्वले कुण्डले यस्मिंस्तत्। स्फुरन्ति = देदीप्यमानानि—किरीटादीनि यस्मिंस्तत्, तत्र किरीटं—शिरोभूषणं, वलये हस्तयो र्भूषणे, हारः कण्ठभूषणं, नूपुरे = चरणयो र्भूषणे, मेखला = कटिरत्नखचितसुवर्णसूत्रम्। तथा शंखादिमत्, तत्र शंखादीनि चत्वारि चतुर्भुजेषु, वनमालामणयश्च तत्तदाभरणस्थाः, एतैः उत्तमा ऋद्धिः — लक्ष्मीः — दिव्यशोभा संपत्तिः, यद्वा एतैरुत्तमा ऋद्धिः = शोभोत्कर्षो यस्यास्ति तत्, सिंहस्य स्कन्धे परितः — प्रसरन्तः केसरा एव त्विषः = दिव्यकान्तीः, तादृशीः - सर्वतस्त्विषो बिभ्रच्चासौ सौभगग्रीवश्च कौस्तुभो यस्मिन्। यद्वा सिंहस्कन्धसदृशौ - स्थूलौ - अप्रकटास्थिकौ यौ स्कन्धौ तयोः त्विषः = कुण्डलहारादिदीप्ती बिभ्रद् इति पृथग्विशेषणम्। सौभगयुक्ता ग्रीवा येन स कौस्तुभो यस्मिन्। अनपायिन्या श्रिया लक्ष्म्या हेतुभूतया क्षिप्तः = तिरस्कृतः-निकषाश्मा = स्वर्णरेखांकितो निकषणपाषाणो येन तादृशेनोरसा उल्लसत् = शोभमानम्। पूररेचकाभ्यां= श्वासोच्छ्वासाभ्यां, संविग्नाः = चंचलाः वलयाः = उदररेखा, ताभि र्वल्गु = मनोहरं, दलवत् = अश्वत्थपत्रसदृशं — उदरं यस्मिंस्तत्। आवर्तयुक्तया दक्षिणावर्तेन निम्नया गम्भीरया नाभ्या द्वारभूतया बहिर्निर्गतं विश्वं तयैव पुनः प्रतिसंक्रामयत् — यत् यतो निर्गतं तेनैव द्वारेण पुनः प्रवेशयदिव, स्वसौन्दर्येणोत्कर्षयदिव स्थितम् दुकूलमेखले पूर्वमुक्तेऽपि, तयोः स्थानविशेषाप्रदर्शनात्, तत्तत्स्थानविशेषप्रदर्शनपूर्वकं पुनराह - श्यामेति। श्यामश्रोण्या = श्यामनितम्बेन, अधि = अधिकं यथा स्यात्तथा रोचिष्णु - यत्पीतं दुकूलं, तत्र दिव्यरत्नमण्डिता स्वर्णमयीमेखला, यस्मिन् तत्, अंघ्री च जंघे च ऊरू च निम्ने = अनुन्नते - जानुनी च समैः चारुभिरेतैः शोभनं दर्शनं यस्य तत्, समाः चारवोऽङ्घ्र्यादयो यस्मिन्, निम्नेजानुनी यस्मिन्, शोभनं दर्शनं यस्येति पदत्रयं वा। पदा = प्रदीपसदृश

स्वचरणारविन्देनोपलक्षितं पदं स्वीयं - निखिलसौन्दर्यमाधुर्यलावण्यादिनिधानं शरणापन्नभक्तजनचिन्तनीयं स्वकीयं स्वरूपं प्रदर्शयेत्यन्वयः। चरणस्य सौन्दर्यातिशयप्रदर्शनाय - विशेषणं - शरदि यत्पद्मं, तस्य यत्पलाशं तद्वत् रोचिः = मनोहरा शोभा यस्य तेन। लौकिकदीपवद् धूमतापादिदोषरहितत्वपूर्वकं चरणारविन्दस्यालौकिकदीपत्वसम्पादनाय विशेषणान्तरमाह - नखेति। चन्द्रकिरणवद् — आह्लादजनिकाभि र्नखद्युभिः = नखदीप्तिभिः, नः = अस्माकमुपासकानां, अन्तः — अघं = अन्तःस्थितं शार्वरतमोवत् स्वरूपावरकं अज्ञानं — पापमयकामादिदोषरूपकार्यसहितं विधुन्वता = दूरीकुर्वता = विनाशयता पदोपलक्षितं पदं — स्वरूपं दर्शयेति सम्बन्धः।

नन्वेवं स्वरूपदर्शनस्य किं फलमित्याशंक्य संसारनिखिलदुःखनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दप्राप्तिरेवेत्यभिप्रेत्य तद्विशिनष्टि—अपास्तं = दूरीकृतं-विध्वस्तं—भक्तानामुपासकानां साध्वसं = संसारविविधदुःखं येन तत्। नन्वेवमज्ञानादिनिवृत्तिपूर्वकस्वरूपदर्शनार्थं तन्मार्गप्रदर्शको गुरुः प्रष्टव्य इत्याशंक्य संबोधयति—हे गुरो! इति। यतः तमोजुषां = अज्ञानतिमिरान्धचक्षुषां अस्माकं मार्गगुरुः = ज्ञानवैराग्यभक्तिलक्षणमार्गप्रदर्शको गुरुस्त्वमेवेति, 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुमि' ति स्मरणात्। यद्वा कल्याणमार्गोपदेष्टा त्वमेव गुरुरूपधारीत्यर्थः। 'आचार्यं मां विजानीयात्' (भा० ११। १७। २७) इत्युक्तत्वात्।

संप्रति—एतस्य दिव्यसाकारस्वरूपस्य साक्षात् दर्शनाय, मनसः परिशुद्धये वशीकराय च एतद्रूपं पौनः पुन्येनाहर्निशं ध्यातव्यमित्याह—एतदिति। एतत् —पूर्वाभिवर्णितविशेषणविशिष्टं रूपं, अनुध्येयं = असकृत् — ध्यातव्यम्। तत्फलमाह—आत्मशुद्धिं = आत्मनो = मनसः शुद्धिं = पावित्र्यं-ऐकाग्र्यलक्षणं, अभीप्सतां = अभ्याप्तुमिच्छतां, भक्तिमन्तरेण ध्यानं दुर्लभं, भक्तिरपि स्वधर्ममनुतिष्ठतामेव संपद्यते, अर्थात् स्वधर्मं परित्यजतां भगवद्भक्ति दुर्लभैवेत्याह—यदिति। यस्मात् यस्य तवैतत्स्वरूपस्य भक्तियोगः = भक्त्या —प्रीत्या, संपद्यमानो योगः जपध्यानादिलक्षणो अभयदः = जन्ममरणादिलक्षणसंसारभयनिवर्तकः, स्वधर्मं = स्वकीयं धर्मं = मातृपितृसेवा स्वकुटुम्बपालननीतिप्रामाणिकतायुक्तस्वानुरूपोद्योगसंध्यावन्दनगायत्रीजपादिलक्षणम्। अनुतिष्ठतां = अनुष्ठानं कुर्वतामेव तादृशः सफलो भक्तियोगः सिद्ध्यति। भक्तियोगस्य भगवद्दर्शनलक्षणं फलमाह—भवान् = दिव्यसाकारविग्रहवान् भगवान्, भक्तिमतां = भक्तियोगसाधकैरेव लभ्यः = सुलभो भवति, सर्वदेहिनां = भवद्विमुखानां—तुच्छसांसारिकविषयाविष्टचित्तानां सर्वदेहधारिणां दुर्लभोऽपि भक्तिमद्भिरेव लब्धुं योग्यो भवतीत्यर्थः। दुर्लभत्वप्रदर्शनार्थमेव

विशेषणद्वयमाह—यतो भवान् स्वर्गे राज्यं—स्वामित्वं यस्य स स्वाराज्यः = देवेन्द्रः, उपलक्षणतो ब्रह्मादिरपि, तस्याप्यभिमतः = सेव्यतया प्राप्यत्वेन संमतो नितान्तस्पृहणीयः। यद्वा स्वःपदवाच्ये निखिलदुःखासंभिन्ने निस्त्रैगुण्ये ब्रह्मानन्दे राज्यं यस्य सः, तस्य स्वाराज्यस्य ब्रह्मानन्दनिमग्नस्य तत्त्वदर्शिनोऽप्यभिमतः = ध्यातव्यतया संमतः। अत एव एकान्तेन = स्वर्गादितोऽपि विरक्ततया यः केवलमात्मवित् आत्मारामस्तस्यापि गतिः = गम्यः तस्यापि त्वत्तो लीलापुरुषोत्तमात् श्रीकृष्णात् परं तत्त्वं किमपि ज्ञातव्यं नास्तीत्यर्थः। 'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।' इति केवलाद्वैतवेदान्ताचार्यस्मरणात्। अतस्तं पुरुषोत्तमं, अत एव दुराराध्यं = अतिदुःखेन—सर्वविषयाभिलाषत्यागपूर्वकं तदेकप्रवणचित्तत्वेनाराधयितुं योग्यं, सतां = सदाचारपराणामपि दुरापया = तदनुग्रहमन्तरेण दुर्लभया — एकान्तया = अनन्यया—अव्यभिचारिण्या—ज्ञानमय्या भक्त्या आराध्य = प्रसाद्य, तत्पादमूलं विना ततोऽन्यत्—बहिः = तुच्छं विषयसुखं कः = पण्डितो वाञ्छेत्? प्रभूतेक्षुदण्डरसास्वादेन तृप्तो हि गजराजः कटुनिम्बवृक्षस्य पत्राण्यत्तुं कथं वाञ्छेत्? अतस्तस्य पादस्य तदुपलक्षितसाकारविग्रहस्य यत्पारमार्थिकं मूलं सच्चिदानन्दघनं परात्परं निर्विशेषमद्वयं प्रत्यगभिन्नं तत्त्वमेवान्तिमं लक्ष्यमाराधनाजन्यभक्तिमयविज्ञानगम्यमस्ति, तदनुभूय तदन्यत् सर्वं बाह्यभूतं मिथ्याभूतमेव तस्य प्रतिभाति, अतस्तस्य हृदये तद्वांछा कथमपि नैवोदेतीति यावत्।

'यद्ब्रह्म परमं मूलं, प्रतिष्ठाऽक्षरमव्ययम्। योऽन्तरात्माऽद्वयं तत्त्वं तद्विष्णोः परं पदम्॥ अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं भजनहेतवे। तादृशी यदि भक्तिश्चेत् सा तु ज्ञानशताधिका॥' द्वैतमारोपितमिति शेषः, तादृशी = अद्वैतज्ञानप्रचुरा, भक्तिशून्यज्ञानशताधिका इत्यर्थः।

—❀—

(२९)

(सत्संगभक्तिचित्तशुद्धिपरमार्थतत्त्वानुभवानां चतुष्टयानां क्रमशः प्रादुर्भूतानां महत्त्ववर्णनम्) (१)

यदा वीतरागाणां सज्जनानां भगवद्भक्तानां ज्ञानाढ्यानां सत्संगः

(२९)

(१) (सत्सङ्ग, भक्ति, चित्तशुद्धि एवं परमार्थतत्त्वानुभव, ये चार जो क्रमशः प्रादुर्भूत हैं, उनके महत्त्वका वर्णन)

संपद्यते, तदा निश्चेतव्यमस्माकमुपरि भगवतो विमलोऽनुग्रह एव संजात इति। भ्रान्तलोकाः मन्यन्ते—यस्य कस्यचित् धनाद्यैश्वर्यलाभादिकं विलोक्यास्योपरि भगवदनुग्रहः संजात इति। परन्तु नास्ति तद्भगवदनुग्रहफलं, किन्तु पुण्यमय-प्रारब्धकर्मफलमिति शास्त्रदृष्ट्या विवेचका विनिर्णयन्ति। अत एव भगवदनु-ग्रहादेव भगवदीयसाधुजनसंगमो लभ्यते। 'सत्संगसुधया तात! मन आनन्दितं यदा। निश्चेतव्यं तदा मोहान्मम मोक्षो भविष्यति ॥' (१) मोह-मोक्षादनु दुर्लभा श्रवणादिरूपा भगवद्भक्ति र्निष्पद्यते। ततो मलीमसं चित्तं विशेषतः शुद्ध्यति। विशुद्धञ्च तच्चित्तं स्त्रीपुत्रधनादिबाह्यार्थान् सुखबुद्ध्या सत्यत्वभावनया च न चिन्तयति, कदाचित् संजातान्यपि तच्चिन्तनानि दृढतरमिथ्यात्वबुद्धिप्राबल्यात् धियं न विक्षेपयन्ति। आलस्यप्रमादनिद्रादि-रूपतमोगह्वरे च न तत्-प्रविष्टं सत् लीनं भवति। तत्र हेतुः—भक्तियोगा-नुग्रहतः संजातं चेतस ऐकाग्र्यलक्षणं पावित्र्यमेव। तादृशे पवित्रे चित्ते परमा-र्थतत्त्वमननशीलो निस्पृहो मुनि भगवतो वास्तविकमजमद्वैतं सच्चित्सुखघ-नस्वरूपं स्वाभिन्नतया साक्षात् पश्यति।

अस्त्ययं – प्रामाणिको निर्विवादो गीताभागवतादिशास्त्रसमर्थितो वेदा-न्तसिद्धान्तः—दृष्टादृष्टप्रतिबन्धरहितायामत एव विशुद्धायामखण्डब्रह्माकार-वृत्तावभिव्यक्तं पूर्णं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मचैतन्यमेव तत्साक्षात्कारः, तस्यैव द्वैत-संसारबीजभूताविद्यामायानिवर्तकत्वमिति। यदाहुः — वेदान्तरहस्यविदः सर्वज्ञात्ममुनिपादा अपि-'वाक्योत्थापितबुद्धिवृत्तिरमला यज्ञादिभिर्निश्चला। वेदान्तश्रवणादिभिः स्फटिकवत्स्वच्छा सती तावकम् ॥ रूपं दर्पणवद्बिभर्ति परमं विष्णोः पदं संनिधेः, एतस्मादिह कारणादथ भवेत्ससारबीजक्षयः ॥' (२) (संक्षेपशारीरके—१। २४८) इति।' अयमर्थः—वाक्यानि = 'तत्त्व-मस्यादि'—अहं भवान् न चान्यस्त्वं' इत्यादीनि महावाक्यानि तैः उत्थापिता = अखण्डब्रह्माकारतया परिष्कृता बुद्धिवृत्तिः, कीदृशी सा? अमला = प्रक्षीणविक्षेपादिप्रतिबन्धा, यज्ञादिभिरमलेति सम्बन्धः, आदिना दानतपो-भक्त्यादिपरिग्रहः। वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनै र्निश्चला = संशयविपर्यय-

(१) हे प्रिय! सत्सङ्गरूपी सुधासे मन जब आनन्दित हो जाता है। तब निश्चय करना चाहिये, कि मोहसे मेरा मोक्ष - यानी छुटकारा होगा ही।

(२) महावाक्यजन्य अखण्डब्रह्माकारा बुद्धिवृत्ति, यज्ञाद्यनुष्ठानसे निर्मल, वेदान्त श्रवणादिसे निश्चल, तथा स्फटिकवत् स्वच्छ हो कर, हे शिष्य! तेरे रूप-विष्णुके परमपदको सन्निधिमात्रसे धारण कर लेती है। इस कारणसे इस आत्मामें द्वैतसंसारका बीज अज्ञानका क्षय होता है।

रहिता, अत एव स्वच्छा पवित्रा सन्निधेः = अत्यन्तसंनिधानादभेदभावलक्षणादेव यद्विष्णोः परमं पदं, तदेव तावकं रूपं सच्चित्सुखपूर्णं बिभर्ति = तत्प्रतिबिम्बं गृह्णाति । 'बोधेद्धा वृत्तिः, वृत्तीद्धो बोधो वा फलम् ।' इत्यभियुक्तस्मरणात् । एतस्मात् साक्षात्कारलक्षणात् ज्ञानात् सविलासाज्ञाननिवृत्तिरित्यर्थः ।

अपि चाभेदतत्त्वज्ञापकमहावाक्यरूपा वाचोऽपि लक्षणयैव तत्र प्रवर्तमाना भवन्ति, न तु मुख्यवृत्तिरूपया शक्त्या । यदाहुः संक्षेपशारीरकाचार्या अपि—'षष्ठीजातिगुणक्रियादिरहिते सर्वस्य विज्ञातरि, प्रत्यक्षे परिवर्जिताखिलजगद्द्वैतप्रपञ्चे दृशौ । सन्त्यक्तव्यवधानके परमके विष्णोः पदे शाश्वते, त्वय्यज्ञानविजृम्भिता न हि गिरो मुख्यप्रवृत्तिक्षमाः ॥' (१ । २३६) (१)

(१) हे शिष्य ! सम्बन्ध, जाति, गुण और क्रियादिसे रहित सर्व - साक्षी, अपरोक्ष, निखिलद्वैतप्रपंचशून्य, चैतन्य स्वरूप, व्यवधान - भेद रहित, विष्णुके परमपद, नित्यस्वरूप तुझमें अज्ञान निर्मित ये शब्द - प्रवृत्ति - क्षम नहीं हैं । अज्ञान निर्मित ये समस्त शब्द तेरे निर्विशेष अद्वय, स्वरूपको मुख्यरूपसे कहनेमें कथमपि समर्थ नहीं, अतः लक्षणावृतिसे ही शुद्ध स्वरूपका बोध करा सकते हैं । शुद्ध ब्रह्ममें मुख्यवृत्तिसे शब्दोंकी प्रवृत्ति क्यों नहीं ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही ब्रह्मका विशेषण देते हैं । षष्ठीजातिगुणक्रियाविरहिते, षष्ठी पदसे यहां 'सम्बन्ध' अर्थ विवक्षित है, कोई भी शब्द, सम्बन्ध, जाति,गुण और क्रियादिको निमित्त मान कर ही कहीं मुख्य वृत्तिसे प्रवृत्त होता है । जैसे समस्त तद्धितान्तादिशब्द, सम्बन्धाधीनसे गवादिशब्द, गोत्वादि जातिके निमित्तसे, शुक्लादिशब्द गुणके निमित्तसे, पाचकादिशब्द क्रियाके निमितसे, डित्थादिशब्द मूर्तस्वरूपके निमित्तसे प्रवृत्त होते हैं । अर्थात् सम्बन्ध, जाति आदिके योगसे ही मुख्यवृत्तिके द्वारा शब्द किसी अर्थको कह सकते हैं । किन्तु शुद्ध ब्रह्ममें इन सभी निमित्तोंका अभाव है । अतः कोई शब्द मुख्य वृत्तिसे उसे कैसे कह सकेगा ? सम्बन्धादिकी शून्यतामें हेतु है—सर्वस्य विज्ञातरि । वह अशेषवस्तुका—अधिष्ठान हो कर भासक है, उससे भिन्न कुछ है ही नहीं, फिर सम्बन्धादि कैसे बनेंगे ? यदि उसे किसी शब्दसे नहीं कहा जा सकता ? तब उसका अभाव क्यों न मान लिया जाय ? इस आक्षेपका उत्तर है, प्रत्यक्षे । वह सर्व प्रत्यक्ष है, उसका अपलाप कैसे हो सकेगा । प्रत्यक्षतामें हेतु है दृशौ । चित्स्वरूप—आत्माका भान न होने पर जगत्का भान ही कैसे होगा ? परोक्षभानका निराकरण करनेके लिये कहा—संत्यक्तव्यवधानके । व्यवधान न होनेसे वह परोक्ष क्यों होगा ? अहंकारादि - रूपताकी—व्यावृत्तिके लिये कहा—विष्णोः परमके पदे । विष्णुपदसे वैकुण्ठलोककी भ्रान्ति न हो, इसलिये कहा—शाश्वते । शाश्वतका अर्थ है, सदेकरूप । वैकुण्ठ वैसा नहीं । उसका भेदाभाव दिखानेके लिये कहा—त्वयि । शब्दका

इति । अयमर्थः — षष्ठी = सम्बन्धः, ब्रह्मण्यद्वये तेषामन्यतमस्याप्यसंभवादित्यर्थः तत्र हेतुमाह — सर्वस्य विज्ञातरि = विश्वावभासक इत्यर्थः । ननु— स्वावभासकत्वे तस्य स्वात्मनि वृत्तिविरोध इति कथं सर्वस्य विज्ञातेति चेत्, न । तस्य स्वप्रकाशतया स्व एव नित्यापरोक्षत्वादित्याह — प्रत्यक्ष इति । तदुपपादनाय दृशावित्युक्तम् । तथा चावभास्यघटादेरवभासकेऽभाव इव, चेतनाचेतनात्मकद्विविधप्रपञ्चशून्यत्वात्तस्मिन्न षष्ठ्यादिसंभव इत्याह—परिवर्जितेति । जगदिति जरायुजादिचतुर्विधचेतनप्रपञ्चो निर्दिष्टः, द्वैतशब्देन तदितरः, वैपरीत्येन वेति विवेक्तव्यम् । ननु दृग्रूपमपि पुरुषान्तरसंवेदनं न प्रत्यक्षं, तद्वद् ब्रह्मापि किं न स्यादित्याशंक्य तस्योपाध्यन्तरेण व्यवधानात्तथात्वं, न निरुपाधिकब्रह्मणस्तदित्याशयेनाह— सन्त्यक्तव्यवधानक इति । ननु – निखिलप्रपञ्चकारणस्य कथं परिवर्जितेत्याद्युक्तमिति चेन्न । मायाशबलात्मना तस्य तथात्वेऽपि स्वस्वरूपेण परिशुद्धत्वादित्यभिप्रेत्याह – परमके विष्णोः पदे इति । शाश्वते = निर्विकारे इति गुणक्रियाराहित्ये हेत्वन्तरमुक्तम् । शिष्येणैवंभूते ब्रह्मणि प्रत्यगभेदबुद्धिः कर्तव्येति शिक्षयन्नाह – त्वयीति । किञ्चाज्ञानकार्याणां गिरां तादृशेनैवार्थेन संबन्धो युक्तः, समस्वभावयोरेव लोके सम्बन्धदर्शनात् । 'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' इति शब्दतदभिधेययोराविद्यकत्वश्रवणाच्च, न त्वज्ञानतत्कार्यविरुद्धेन दृग्रूपेण प्रत्यगात्मनेत्याशयेनाह—अज्ञानविजृम्भिता इति । एवं च कोऽपि शब्दस्तत्र साक्षात् प्रवर्त्तितुं नार्हतीति सर्वपदलक्षणैवोचितेति भावः।

अपि च सर्वेषु शास्त्रेषु – अद्वयस्य ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणताबोधनाय जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुत्वं ब्रह्मलक्षणत्वेन निर्दिश्यते, जगतश्चोपादानं ब्रह्मेत्यवगते, जगदधिष्ठानं ब्रह्म, तस्मिंश्च माययाऽध्यस्तं जगदिति पर्यवस्यति । अत एव यथाऽधिष्ठानभूते शुक्तौ तदज्ञानाद् रजतं प्रतिभासते, रजते चारोपिते तस्मिन् स्वाधिष्ठानशुक्तेः इदन्त्वसत्त्वादिकमनुगततयाऽवभासते । तथैवाधिष्ठानभूतेऽद्वये ब्रह्मणि तदज्ञानेनेदं 'ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम्' (भा० ६।३।१२) नामरूपक्रियात्मकं प्रतिभासते । आरोपिते चास्मिन् विश्वस्मिन तत्तत्त्वमनुगतसच्चित्सुखरूपेणावभाति । यत् त्वंपदलक्ष्यं प्रत्यक्चैतन्यं व्यष्टिकार्यकरणसंघातस्याधिष्ठानं, तदेव तत्पदलक्ष्यं व्यापकं पूर्णं ब्रह्म चैतन्यं समष्टि-

विशेषण 'अज्ञानविनिर्मिता' देकर सूचित किया कि मायामय शब्दोंका कभी भी मायातीत ब्रह्ममें सीधा सम्बन्ध नहीं बन सकता । शुद्ध ब्रह्म केवल शब्दका ही अविषय नहीं; अपितु किसी भी प्रमाणका वह विषय नहीं, क्योंकि जो मनका भी विषय नहीं वह किसी बाह्य प्रमाणका विषय कैसे होगा । फिर उसमें किसी शब्दका लक्षणाको छोड़कर शक्तिग्रह हो ही नहीं सकता ।

ब्रह्माण्डाधिष्ठानं, नास्ति तयो र्मनागपि भेदः। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३। ७। २३) 'तत्त्वमसि' (छां० ६। ८। ७) इति श्रुतेः। 'नान्यत् किञ्चान्तरं बहिः' 'नराय हरये नमः' (भा० ८। १६। ३४) 'एकान्तमद्वयं शान्तं तस्मै भगवते नमः' (भा० ५। २०। ३२) 'प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसञ्ज्ञम्' (भा० ५। १२। ११) इति श्रीमद्भागवतस्मरणाच्च।

अत एव शास्त्रेषु सर्जनपालनक्षपणसंयमनप्रवेशबोधकानि सन्ति पञ्चविधानि वचनानि भूतार्थवादतयाऽभिप्रेतानि, तत्त्वमस्यादिमहावाक्यस्यैवाज्ञातज्ञापकतया विधिस्थानीयत्वमभ्युपगतम्, अर्थवादवाक्यानां हि विधिवाक्येनैवास्त्यन्वय इति प्रसिद्धम्। अत एव तैरर्थवदवाक्यैः प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मज्ञापकतत्त्वमस्यादिमहावाक्यस्यैवोपोद्बलनं विधीयते। तथा च तादृशार्थवादान्वितस्य तत्त्वमस्यादेरेव फलवत्प्रमितिजनकत्वं प्रत्येतव्यम्।

यदाहुः सर्वज्ञात्ममुनिपादा अपि- 'सृष्टिस्थितिप्रलयसंयमनप्रवेश, व्यापारजातकथनच्छलतः प्रवृत्तैः। सानुग्रहादवगतिः खलु तत्त्वमादेर्वाक्यात्परस्य घटते न ततोऽपरस्मात्॥' (१) (संक्षेपशारीरके — १।२६०)। अयमर्थः— सृष्टिः = वियदादेः सर्जनम्, तस्य तत्रैव स्थितिस्तत्पालनमिति यावत्। प्रलयस्तस्य तत्रैव लयस्तत्संहरणमिति यावत्, संयमनं = नियन्तृत्वं, प्रवेशः = जीवरूपेण प्रतिफलनम्। त एव व्यापारास्तेषां जातं = समूहः, तत्कथनच्छलतः = तद्व्याजेन प्रवृत्तैः = अर्थवादैः कृतो योऽनुग्रहः तत्सहितात्तत्त्वमादेर्वाक्यादिति योजना। वेदान्तेषु हि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३। १। १) एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः? (बृ० ३। ८। ९) 'स एष इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यः (बृ० १। ४। ७) इत्यादयः श्रूयन्ते श्रीमद्भागवतेऽपि — 'विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान् गुणैः स्वलीलया संदधतेऽव्ययात्मने।' (भ० ७। ८। ४०) 'नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः (२) (भा० ११। ६। १४)

(१) सृष्टि, स्थिति, प्रलय, नियमन और प्रवेश रूपी पांच व्यापारोंके कथन से प्रवृत्त - अर्थवादोंके अनुग्रहसे युक्त तत्त्वमादि वाक्योंसे ही प्रत्यगभिन्न परब्रह्मका ज्ञान होता है। उससे भिन्न - निषेध वाक्यसे नहीं।

(२) ब्रह्मा आदि जितने देव मानव दानवादि भी शरीरधारी हैं। वे सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंके परस्पर विरोधी त्रिविधभावोंकी टक्करसे जीते मरते रहते हैं। वे सुख दुःखके थपेड़ोंसे बाहर नहीं हैं और ठीक वैसे ही आपके वशमें हैं। जैसे नथे हुये बैल अपने स्वामीके वशमें होते हैं।

'स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः। प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥' (१) (भा० ११।७।४७) 'सृष्ट्वं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्टश्चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन।' (भा० ४।२४।६४) इत्यादयः। ते च भूतार्थवादा एव। निर्गुणाद्वयब्रह्मप्रकरणगतत्वात्, स्वतः प्रयोजनशून्यतया वेदान्तार्थाद्वयब्रह्म प्रतिपादनशेषत्वाच्च। तत्र सृष्ट्यादित्रयेण कारणस्य ब्रह्मणः कार्यप्रपञ्चभेद-निषेधः।

'कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत्।' (भा० ७।१५।६२) इति शब्दितेन कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन सिद्ध्यति। नियमेन नियन्तुः कारणस्य चैतन्यम्' प्रवेशेन तस्य जीवानन्यत्वमित्येभिरद्वयचैतन्यात्मकप्रत्यक्ब्रह्माभेदपर-तत्त्वमादेरेवार्थदृढीकरणात्तस्यैव तत्कृतोपकारभाक्त्वं मन्तव्यम्। तथा च तत्त्वमादेरेव वाक्यात्तदर्थस्याद्वयब्रह्मणोऽवगति र्घटते, न ततोऽपरस्मान्निषेधादि-वाक्यादित्यर्थः।

अपि च 'एक एव पर्यवशेषितः' (भा० ६।६।३८) 'योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्' (भा० २।१०।३२) 'त्रीन् स्वप्नान् धुनुते मुनिः।' (भा० ७।१५।६२) 'व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम्।' (भा० ४।२०।२६) 'विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधः।' (भा० ११।१६।४०) इत्यादिभिः स्पष्टतया प्रतिपादितो विविधभेदापवादोऽध्यारोपमन्तरेण न संभवति, यतः प्रसक्तस्यैव प्रतिषेधार्हत्वात्। अतः स्वाश्रयविषययाऽविद्यामायाशब्दितयाऽनिर्वाच्ययाऽनाद्याऽऽवरणविक्षेपशक्तिमत्या त्रिगुणात्मकयाऽद्वयब्रह्मस्वरूपभानं तिरोधाय जीवजगद्-भेद–जीवपरमेश्वरभेद— जीवपरस्परभेद — जगत्परमेश्वरभेद — जगत्परस्पर-भेदलक्षणान् पञ्चविधान् भेदान् अद्वये ब्रह्मणि स्वस्मिन् स्वयमेवाध्यारोपयति। सति चैवं जडत्वाज्जगत् स्वरूपेणैवाध्यारोपितम्, जीवेश्वरौ तु चैतन्यस्वरूपत्वात् स्वरूपेण सत्यावपि केवलमेकस्मिन्नेव चैतन्ये बिम्बप्रतिबिम्बादिभावेन जीवत्वमीश्वरत्वञ्चाध्यारोपितमिति विवेक्तव्यम्। तस्मादेवमध्यारोपसंभवात्-अद्वय-ब्रह्मविद्यया तस्यापवादः प्रतिपाद्यमानो युक्त एव। तस्मिन् सिद्धे सति-एकमेवाद्वयं निखिलभेदशून्यं स्वस्वरूपभूतं ब्रह्मैव स्वसंवेद्यतया परिशिष्यते, इत्येतत् सव रहस्यजातं लक्ष्यीकृत्य श्रीरुद्रेण भगवता मुमुक्षुभ्यः प्रचेतोभ्यो यदुक्तं तदाहुः

(१) साधक पुरुषको इसका विचार करना चाहिये कि - जैसे अग्नि लम्बी चौड़ी, टेढ़ी–सीधी, लकडियोंमें रहकर उनके समान ही सीधी–टेढ़ी या लम्बी–चौड़ी दिखायी पड़ती है, वास्तवमें यह वैसी है नहीं; वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुये कार्यकारणरूप जगत्में व्याप्त होनेके कारण उन–उन वस्तुओंके नाम रूपसे कोई सम्बन्ध न होने पर भी उनके रूपमें प्रतीत होने लगता है।

श्रीकृष्णद्वैपायनाचार्य्याः—

अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्तितीर्थयोः, अन्तर्बहिःस्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां, स्यात्संगमोऽनुग्रह एष नस्तव ॥
न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं, तमोगुहायां च विशुद्धिमाविशत् ।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा, मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतम् ।।
यत्रेदं व्यज्यते विश्वं, विश्वस्मिन्नवभाति यत् ।
तत् त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव विस्तृतम् ॥
यो माययेदं पुरुरूपयाऽसृजद् बिभर्ति भूयः क्षपयत्यविक्रियः ।
यद्भेदबुद्धिः सदिवात्मदुःस्थया तमात्मतन्त्रं भगवन् ! प्रतीमहि ॥ (१)

(भा० ४ । २४ । ५८-५९-६०-६१)

अथ = अतो हेतोः, अनघौ = संसारसंतापहेतुभूतसर्वकामादिपापनिवारकौ, अंघ्री = पादौ यस्य तस्य तव भगवतः, कीर्तिः = दिव्यं यशः,

(१) प्रभो ! आपके चरण, सम्पूर्ण पापराशिको हर लेनेवाले हैं । हम तो केवल यही चाहते हैं कि जिन लोगोंने आपकी कीर्ति और तीर्थ - गङ्गाजीमें आन्तरिक और बाह्य स्नान करके मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकारके पापोंको धो डाला है तथा जो जीवोंके प्रति दया, रागद्वेषरहित चित्त, और सरलता आदि गुणोंसे युक्त हैं, उन आपके भक्तजनोंका सङ्ग हमें सदा प्राप्त होता रहे । यही हम पर आपकी बड़ी कृपा होगी । जिस साधकका चित्त भक्ति योगसे अनुगृहीत एवं विशुद्ध हो कर न तो बाह्य विषयोंमें भटकता है और न अज्ञानगुहारूप प्रकृतिमें ही लीन होता है, वह अनायास ही आपके अधिष्ठानरूप-अद्वय ब्रह्मस्वरूपका दर्शन पाजाता है । जिसमें यह सारा जगत् अध्यस्त हुआ दिखायी देता है और जो स्वयं सम्पूर्ण जगत्में भास रहा है, वह आकाशके समान विस्तृत और परम प्रकाशमय अद्वय ब्रह्मतत्त्व आप ही हैं । भगवन् ! आपकी माया अनेक प्रकारके रूप धारण करती है । इसके द्वारा आप इस प्रकार जगत्की रचना, पालन और संहार करते हैं । जैसे यह कोई सद्वस्तु हो, किन्तु इससे आपमें किसी प्रकारका विकार नहीं आता । मायाके कारण दूसरे लोगोंमें ही भेदबुद्धि उत्पन्न होती है, आप परमात्मा पर यह अपना प्रभाव डालनेमें असमर्थ होती है, आपको तो हम परम स्वतन्त्र ही समझते हैं ।

तीर्थं = सर्वतीर्थमयी गङ्गा, तस्मै यथाक्रमेणान्तर्बहिःस्नानाभ्यां विधूतः = निरस्तः, पाप्मा = अन्तर्बहिःस्थितः, येषां भगवद्भक्तानां तेषां । अतः सर्वदोषरहितत्वादेव, भूतेषु = निखिलेषु प्राणिषु, अनुक्रोशः = कृपा-करुणा, सुसत्त्वं = कामक्रोधादिरहितं पवित्रं चित्तं, शीलं = निष्कपटमार्जवादिकं विद्यते येषां तेषां सङ्गमः, नः = अस्माकं, मुमुक्षूणां स्याद् अहर्निशमिति शेषः, एष एव तवानुग्रह इत्यन्वयः । अर्थात् भगवदनुग्रहत एव सतां सङ्गमो लभ्यते, नान्यथेति भावः । तव भगवतः पारमार्थिकस्याद्वयब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानं च त्वद्भक्तानुग्रहाद् संजातया भक्त्या संजाते विशुद्धे चित्त एव प्रादुर्भवति, न मलिने चित्ते, इत्याशयेनाह — न यस्येति । यत् = यदा, त्वद्भक्तसंगजातेन त्वद्भक्तियोगेनानुगृहीतं सत् चित्तं विशुद्धं भवति । ननु = निश्चितमेतत् । तत्र = तदैव, अंजसा = अनायासेनैव, आवृत्या तत्र = तस्मिन्नेव विशुद्धे चित्ते, स मुनिः = मननशीलस्सन् ते = तव, गतिं = तत्त्वं = पारमार्थिकमद्वयं सच्चित्सुखघनं विचष्टे = पश्यति, नान्यथेत्यन्वयः । यत्तु कश्चिद् व्याचष्टे-गतिं = चेष्टां लीलालावण्यादिकं विचष्टे, इति । तद् दुराग्रहनिमित्तत्वाद् तदुत्तरश्लोकसंगतिविरुद्धत्वाच्च हेयमेव ।

भगवद्भक्त्या संजाते निर्मले चित्त एव ब्रह्मात्मस्वरूपस्य साक्षादुपलब्धिर्भवति, अतो भक्तियोगः चित्तशुद्धेः साधनमिति एकादशेऽपि, योगेश्वरः पिप्पलायनोऽभिधत्ते — 'यह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि । तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं साक्षाद्यथाऽमलदृशोः सवितृप्रकाशः ॥' (भा० ११।३।४१) इति । अयमर्थः — वित्तैषणादि विहाय केवलं, अब्जनाभस्य = भगवतः चरणैषणाया पाददर्शनोत्कटेच्छया जाता या उरुः = महती परमप्रेमलक्षणा भक्तिः, तया, गुणाः = सत्त्वादयः, तत्प्रयुक्तानि यानि कर्माणि विहितनिषिद्धात्मकानि, ततो जातानि यानि चेतसो मलानि = पुण्यपापरागलोभादीनि, भक्तः, विधमेद् = विनाशयेत् । यद्वा चेतः कर्तृ पदं, तानि स्वगतानि मलानि यदि विधमेद् = क्षालयेद्, तदा = तस्मिन् चेतसि विशुद्धे सति, साक्षाद् = अव्यवधानेन आत्मतत्त्वं = आत्मनः — स्वस्य यद्वास्तविकमद्वयब्रह्मस्वरूपं, उपलभ्यते । यथेति । अमलयोर्दृशोरेव, यथा पूर्वमेव सिद्धोऽपि सवितृप्रकाश उपलभ्यते, न त्वन्धस्य, तथा सदा प्रकाशमानोऽप्यात्मा शुद्धचित्तस्यैवोपलभ्यते, न तु विषयवासनाकलुषितचित्तस्येत्यर्थः ।

एवमुक्तं तृतीयेऽपि— 'तत्साधुवर्याऽऽदिश वर्त्म शं नः संराधितो भगवान् येन पुंसाम् । हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते, ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ॥' (भा० ३।५।४) इति । तत् = तस्मात् हे साधुवर्य ! शं = सुखरूपं-

वर्त्म = कल्याणमार्गं, नः = अस्मभ्यं, आदिश = कथय, येन वर्त्मना = सत्सङ्गसंयमतत्परादिमार्गेण, संराधितः = सम्यक्-श्रद्धादिनोपासितः, अत एव भक्त्या पूते = पवित्रे-निर्मले, हृदि = चित्ते स्थितः सन्, तत्त्वाधिगमः = आत्मापारोक्ष्यं, तत्सहितं ज्ञानं, पुराणं = अनादिवेदप्रमाणकं, यच्छति = ददातीत्यर्थः ।

संप्रति चित्तस्य शुद्धत्वज्ञापकं लक्षणं दर्शयति – बहिरर्थविभ्रमं नेति । रजसा व्याप्तं सद् यदा बाह्येषु विषयेषु आसक्तं विक्षिप्तं न भवतीत्यर्थः । तमोगुहायां चाविशन्नेति । तमोरूपायां-गुहायां-दृष्टादृष्टसर्वव्यवहारलोपे हेतुभूतायां, आविशत् – लयं प्राप्तं च यदा न भवतीत्यर्थः ।

चित्तस्य विक्षेपलयौ एवाशुद्धी, तयोर्वैराग्य तत्त्वचिन्तनाभ्याससहकृतया भक्त्यैव निरासः सम्भवति । यदाहुः – श्रीशुकदेवमुनिशिष्याः – गौडपादाचार्य्या अपि मांडूक्यकारिकासु – 'उपायेन निगृह्णीयाद्, विक्षिप्तं कामभोगयोः । सुप्रसन्नं लये चैव, यथा कामो लयस्तथा ॥ दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् । अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥ लये संबोधयेच्चित्तं, विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ॥ (१) (मा० का० ३ । ४२-४३-४४) इति ।

अयमर्थः — कामभोगयोः = कामे भोगे च तद्विषये-भोग्यवस्तुनि विक्षिप्तं = विप्रसृतं मनो निगृह्णीयात् = आत्मन्येव निरुन्ध्यादित्यर्थः । किं च लीयतेऽस्मिन्निति लयः = सुषुप्तम् । तस्मिंल्लये चैव सुप्रसन्नं = विषयेन्द्रियसंयोगकालुष्यजातं परित्यज्याऽऽत्मन्येव स्थितत्वात् सुप्रसन्नमपीत्यर्थः । निगृह्णीयात् इत्यनुवर्तते । संप्रबोध्य निरुन्ध्यादित्यर्थः । ननु – सुप्रसन्नं चेत् कस्मान्निगृह्यत इति ? उच्यते । यस्माद् यथा कामोऽनर्थहेतुस्तथा लयोऽपि । विक्षेपबीजत्वात् । अतः कामविषयस्य निग्रहवल्लीनस्यापि निग्रहः कर्तव्य इत्यर्थः । उपायेन निगृह्णीयादित्युक्तम् । कः स उपाय इति ? उच्यते । वैराग्यतत्त्वज्ञानाभ्यासौ मनोनिग्रहस्योपायः । सर्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितं दुःखमेवेत्यनुस्मृत्य कामभोगात् = कामनिमित्तो भोगः कामभोगः इच्छाविषयः,

(१) काम और भोगोंमें विक्षिप्तमनको अभ्यासादि उपायके द्वारा निगृहीत करें, तथा लयमें सुप्रसन्न रूपसे लीन हुये मनको भी निगृहीत करें। जैसे काम प्रतिबन्धक है, वैसे लय भी प्रतिबन्धक है। निखिल संसारमें दुःखोंकी भावना करके मनको काम एवं भोगोंसे निवृत्त करें । वस्तुतः समस्त जगत् अज - ब्रह्मरूप ही है। ऐसा निश्चय करके उत्पन्न हुआ कोई भी पदार्थ नहीं है, ऐसा निरीक्षण करें । लीन हुये चित्तको ब्रह्मध्यानमें जागृत करे, और विक्षिप्त हुये मनको पुनः शान्त करें ।

तस्माद्विप्रसृतं मनोवैराग्यभावनया निवर्तयेदित्यर्थः। कामभोगस्य दुःखहेतुत्वं गीतास्वपि भगवतोपदिष्टम् — 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः ॥' (गी० ५।२२) इति। इह लोके तावत्कामभोगेभ्य आध्यात्मिकादीनि-दुःखानि तन्निमित्तान्येवोद्भवन्ति दरीदृश्यन्ते। तथा परलोकेऽपीति गम्यते। न केवलं भोगस्थितिकाले, किन्तूत्पत्तेः पूर्वमप्राप्त्या विनाशादूर्ध्वञ्च, तद्भावस्मृत्युद्भावनेन दुःखकारिण एव ते भवन्ति। तस्मान्न विवेकी तेषु रमत इति गीताश्लोकार्थः। पातंजला अप्याहुः— 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' (यो० सू० २।१५) इति तदेवं वैराग्यभावना तावदेक उपायो मनोनिग्रहे। अयमपर उपायः। 'अजं ब्रह्म सर्वम्' 'वासुदेवः सर्वमि'त्येतच्छास्त्राचार्य्योपदेशतोऽनुस्मृत्य, तदनुसन्धानेन द्वैतजातं विषयेन्द्रियादिकं किमपि नैव पश्यति, तदभावनिश्चयात्। स एष ज्ञानाभ्यासरूप उपायः। दुःखहेतुत्वेनानुस्मृतेऽपि विषये कदाचिन्मनः प्रवर्तेतापि। ज्ञानाभ्यासेन त्वभावतां गमिते नैव मनसो विक्षेपो न वा लयः संभवतीत्याशयवानाह — जातं नैव तु पश्यतीति। एवमनेन ज्ञानाभ्यासवैराग्यभावनोपायद्वयेन विक्षेपे परिहृतेऽपि मनः सुषुप्ते लीयेत, अविद्यादिबीजभावेनावशिष्येत। तदप्यनर्थायैवेति तच्चित्तं संबोधयेत्। चित्तं मन इत्यनर्थान्तरम्। निद्राशेष — अजीर्णान्नशेषश्रमा विवेकाभ्यासेऽनादरश्च लयहेतवः। तस्मात्पर्याप्तनिद्रानुभवसुजीर्णाल्पसात्त्विकान्नभोजन-अतिश्रमपरिहारैः विवेकाभ्यासेन च लीनं चित्तं संबोधयेदित्यर्थः। आत्मविवेकदर्शनेन योजयेत्। अत्र किल विवेकदर्शनं नाम — शास्त्राचार्य्योपदेशानुसारेण 'आत्मैव सत्यमजं ब्रह्म, चित्तं, चित्तदृश्यं सर्वं नामरूपक्रियात्मकं मायाहस्तिस्वप्नदृश्यगन्धर्वनगरादिवद् असदेवात्मनि सदिव विकल्पितमिति पुनः-पुनः प्रसंख्यानम्। सुषुप्ते लीनं चित्तमेवं विवेकदर्शनेन संयोज्य प्रबोधयेत्। विक्षिप्तं च कामभोगेषु शमयेत्पुनः पूर्वोक्तविधया द्वैतस्य दुःखहेतुत्वानुस्मरणेन।

एवमुपायद्वयसहकृतया श्रवणस्मरणादिरूपया भगवद्भक्त्या हि चित्तं विशुद्ध्यति। विक्षेपलययोर्वशगं न भवति। पूर्वोक्तोपायद्वयेन साकं नास्ति भक्तेः कथञ्चन विरोधः। अपि तु परस्परमभीष्टः सहकार एवास्ति। 'सहकारेणैव कार्याणि सिद्ध्यन्ति' इत्यस्ति लोकेऽपि प्रसिद्धम्।

अतएव प्रबोधसुधाकरे भगवत्पादैः श्रीशंकरस्वामिभिरपि—'वैराग्यमात्मबोधभक्तिश्चेतित्रयं गदितम्।' 'चेतःपशुमशुभपथंप्रधावमानं निराकर्तुम्। वैराग्यमेकमुचितं गलकाष्ठं निर्मितं धात्रा ॥ प्राणस्पन्दनिरोधात् सत्संगाद् वासनात्यागात्। हरिचरणभक्तियोगान्मनः स्ववेगं जहाति शनैः ॥ शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते। वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः॥

यद्वत् समलादर्शे सुचिरं भस्मादिना शुद्धे । प्रतिफलति वक्त्रमुच्चैः शुद्धे चित्ते तथा ज्ञानम् ॥' (१) इति ।

कीदृशं तत्त्वं मुनिः पश्यतीत्येपक्षायामाह - यत्रेति । यत्र = यस्मिन् अधिष्ठाने सच्चित्सुखघनेऽनामरूपे तदज्ञानेन इदं = नामरूपक्रियात्मकं असज्जडदुःखरूपं विश्वं, व्यज्यते = प्रकाशते तन्तुषु पट इव।ध्यारोपिततया विभातीत्यर्थः विश्वस्मिंश्च यत्तत्त्वं = सच्चिदानन्दरूपेणावभाति-विवर्तोपादान-कारणतयाऽधिष्ठानतया चावभाति, पटे तन्तुवत् तत् ब्रह्मतत्त्वं विचष्टे इत्यनुषंगः । प्रतीमहीत्युत्तरेणान्वयो वा । पुनः कीदृशं तत् ? परं ज्योतिः 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।' (गी० १३ । १७) इति स्मरणात् । किञ्च तत् आकाशमिव विस्तृतं = व्यापकं, 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' (सर्वोपनिषत् ४) इति श्रुतेः । अनेन संसारदोषप्रसक्तिः परिछिन्नत्वञ्च व्यावर्त्यते । अत्र किल—समाधिभाषया जगद्गुरुः श्रीशंकरः—'तत् त्वं ब्रह्म परं ज्योतिरसि' इति तत्त्वमसिमहावाक्यस्य – शुद्धमधिष्ठानं परं ज्योतिःस्वरूपमपरिच्छिन्नं तत्पदार्थमनुवदन् तस्यैव जाग्रदाद्यवस्थातद्धर्मकामकर्तृत्वादिरहितासंगज्ञप्तिमात्रतया सिद्धत्वात् अद्वयमखण्डमात्मतत्त्वमेवास्तीति लक्ष्यार्थमभिवर्णयति । यदाहुः संक्षेपशारीरकाचार्य्याः सर्वज्ञात्ममुनिपादा अपि – 'अस्थूलादिवचोनिरस्तनिखिलद्वैतप्रपञ्चं परं । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवर्जितमिदं प्रत्यक् स्वरूपं तथा । एकीकृत्य परस्परेण पदयोरर्थद्वयं तत्त्वतः, प्रत्यक् चाद्वयमद्वयं च तदिति प्रत्यस्व निःसंशयम् ॥ (२) (१ । २६४) इति ।

(१) वैराग्य, आत्मबोध, और भक्ति ये तीन समुच्चित - संमिलित साधन ही मोक्ष—प्रयोजक रूपसे कहे गये हैं । चित्तरूपी पशु जो अशुभ मार्गमें दौड़रहा है, उसको वहांसे हटानेके लिये विधाताने गल – काष्ठके समान एक मात्र वैराग्य ही उचित साधन कहा है । प्राणस्पन्दके निरोधसे, सत्सङ्गसे, वासना त्यागसे तथा हरिचरणके भक्ति योगसे धीरे—धीरे मन अपने बहिर्मुख वेगका परित्याग करता है, कृष्णके चरण कमलोंकी भक्तिके विना अन्तरात्मा कभी शुद्ध नहीं होता है, जैसे क्षार जलसे वस्त्र प्रक्षालित होता है, वैसे ही भक्तिसे चित प्रक्षालित होता है । जैसे मलीन दर्पणको अच्छी प्रकार भस्मादि द्वारा शुद्ध करने पर ही स्पष्ट रूपसे उसमें मुख प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही शुद्ध चित्तमें ज्ञान प्रकट होता है ।

(२) 'अस्थूलम्' आदि वाक्योंसे निरस्त होगया है द्वैतप्रपंच जिसका, ऐसा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति - रहित प्रत्यगात्माका 'तत्' 'त्वम्' दोनों पदोंके अर्थोंका परस्पर पारमार्थिक - एकीकरण करके प्रत्यगात्मा ही अद्वय ब्रह्म है तथा अद्वय

परं = परमात्मतत्त्वम्, तथेति समुच्चये, पदार्थद्वयशोधनफलमाह – एकीकृत्येति परस्परेण = परस्परं, पदयोः = तत्त्वंपदयोः। एकीकरणप्रकारमेवाह तत्त्वत इत्यादिना। निःसंशयं यथा स्यात्तथेत्यर्थः।

जगतो विवर्त्तोपादानकारणत्वेनापरिच्छिन्नं प्रत्यगभिन्नमद्वयं ब्रह्मतत्त्वं लक्षितम्। संप्रति निमित्तत्वेनापि तदेवलक्षयन्नाह – य इदं = नामरूपात्मकं विश्वं, वस्तुतः असदपि – 'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपम्' (भा० १०।१४।२२) इत्युक्तत्वात्, सदिव = परमार्थसदिव माययाऽसृजत्। कथंभूतया?। पुरुरूपया = एकस्याद्वयस्यापि ब्रह्मणः पुरुरूपाणां = अनेकत्रिविधद्वैतरूपाणां प्रकाशनसमर्थया 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' (ऋ० ६।४७।१८) 'विज्ञानमेकमुरुधेव बिभर्ति माया' (भा० ११।१३।३४) इति श्रुतिभागवताभ्याम्। तादृश्या मायया ब्रह्मरूपेण सृजति, विष्णुरूपेण बिभर्ति = पालयति, रुद्ररूपेण क्षपयति = संहरति। अनेन त्रयाणामेकत्वं विज्ञापितम्। भूय इति सृष्ट्यादिपरम्परया अनादित्वं दर्शितम्। मायायाः अविद्यारूपायाः प्राबल्यं दर्शयति – यदिति। यया मोहितानां प्राणिनां विश्वस्मिन् = त्वत्तोऽधिष्ठानादुपादानकारणात् भेदबुद्धि र्भवति, विश्वं च त्वत्तो भिन्नतया सदिवावभातीत्यर्थः। नहि कार्यस्य स्वोपादानाद्भिन्नत्वं भिन्नसत्ताकत्वं वा सम्भवति, तथापि मायावशाद्भेदबुद्धि र्भवति। जीवा ब्रह्मादिमशकान्ता निखिला अपि त्वत्तः, परमेश्वरात् – सन्ति स्वतन्त्रसत्ताकाः सर्वथा पृथक्भूताः, इति यया भेदबुद्धि र्भवति मूढानाम्। पुनः कथंभूतया? आत्मनि त्वयि दुःस्थया = स्वकार्यं मोहादिकं कर्तुमसमर्थया स्वं दौःस्थ्यं दर्शयन्त्या = प्रकाशे तम इवारोपमन्तरेण वस्तुतः स्वावस्थितिमशक्यतयाऽसम्भवतया च प्रदर्शयन्त्या वा। अत एव सृष्ट्यादिकर्तृत्वेऽपि – विभिन्नतया प्रतीयमानत्वेऽपि परमार्थतः अविक्रियः = सृष्ट्यादिजाग्रदादिविक्रियावर्जितः, तत्रासक्त्यादिविकाररहित एव भवानित्यर्थः। मायया भगवति वास्तविकस्वकार्यकरणे सामर्थ्याभावे हेतुसूचनाय सम्बोधनं हे भगवन्निति। तं त्वां भगवन्त आत्मतन्त्रं = स्वतन्त्रं – स्वमहिमप्रतिष्ठितं–वस्तुतो निरस्तभेदं वयं प्रतीमहि = जानीमः। स्वभिन्नस्य कस्यचित्सद्भावाभ्युपगमे स्वतन्त्रतायाः परिक्षयात्, निरस्तभेदत्वलक्षणमेवात्र स्वातन्त्र्यं प्रत्येतव्यम्।

ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा है, इस प्रकार असंदिग्धरूपसे हे शिष्य ! तू साक्षात्कार कर।

(निर्द्वन्द्वो निर्वासनो जितेन्द्रियः पराभक्तिमानेव सद्गुरुप्रदत्त-विशुद्धज्ञानदीपेन प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मसाक्षात्कारं संपादयितुं शक्नोति) (१)

मलयोपलक्षिते दक्षिणदेशे महाभागवतो मलयध्वजनामा राजा आसीत्। स हि श्रीकृष्णमाराराधयिषुः सन् संसारमिथ्यात्वभावनया गृहान् सुतान् विविधान् भोगांश्च हित्वा कुलाचलपर्वतस्य पावनमेकान्तस्थलं जगाम। तत्र प्रवाहितायाः ताम्रपर्णीसरितः पुण्यसलिलैः सत्संगयमनियमादिभिश्च मनोमलानि क्षालयन् कृष्णोपासनायामभिरतो बभूव। तस्या भक्तिमय्याः प्रभावेणानुकूल-प्रतिकूलविषयकस्पृहाद्वेषपरित्यागेन स निर्द्वन्द्वोऽभूत्। भगवद्ध्यानदशायां द्वन्द्वानां शीतोष्णादीनामस्फुरणात्, व्युत्थानदशायाञ्च तत्फुरणेऽपि तेषां मिथ्यात्वनिश्चयात् सर्वत्र समब्रह्मदर्शनाच्च तैः पीड्यमानोऽपि न तैः क्षोभमवाप्नोत्। स्वप्नानुभूतद्वन्द्वैरिव जागरितेऽपि स तैरतीतः संजातः। अत एव स गृहस्थलिङ्गदारासंयुक्तोऽपि संन्यासिसदृशोऽभूत्। यदाह – भगवान् वासुदेवोऽपि गीतासु–'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति। निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो! सुखं बंधात्प्रमुच्यते॥' (५।३) यः प्रतिकूलविषयं न द्वेष्टि, न चानुकूलविषयं कांक्षति, स नित्यसंन्यासी ज्ञेयः। यो हि रागद्वेषशून्यतया निर्द्वन्द्वो भवति, स भवबंधात् अनायासेन मुच्यत इत्यर्थः। स किल स्वात्मानं न देहभावेन न च जीवभावेनापि तु ब्रह्मभावेन सुदृढं भावयमानस्तुच्छां खेदप्रचुरां कामादिवासनां भस्मसादकरोत्। अत एव स परावरे विश्वद्रष्टरि स्वात्मभूते वासुदेवे तादात्म्यापन्नः सन् सर्वाणि बाह्येन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, मनःप्रभृत्यन्तरिन्द्रियाणि च प्राणाश्चाखिलाः सहजतः स्ववशे स्थापयामास। यदाह – भगवान् नारायणो गीतासु – 'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।' (गी०२।६१) यस्य हि प्रज्ञा स्वात्मनि ब्रह्मणि प्रतिष्ठिता भवति, तस्येन्द्रियाणि सहजतो वशे भवन्तीत्यप्यन्योऽर्थः। एवं तत्रैव परमानन्दनिधौ परमप्रेमास्पदे भगवति प्रभूतामनन्यां ज्ञानमयीं रतिमुद्वहन्, बहुकाल स्थाणुरिवैकत्र निवसन्, समाधेर्विमलं विशोकममृतं शाश्वतं निरवच्छिन्नं सुखमनुभवन, तदन्यत् न किमप्यपश्यत्। ततो भगवद्रूपसद्गुरुप्रदत्तविशुद्धज्ञानदीपेन प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मसाक्षा-

(३०)

(१) (निर्द्वन्द्व, वासना - रहित, जितेन्द्रिय, पराभक्तिमान् ही सद्गुरु-प्रदत्त-विशुद्ध ज्ञानदीप द्वारा प्रत्यगभिन्न अद्वयब्रह्मके साक्षात्कारको सम्पादन करनेके लिये समर्थ होता है)

त्कारं सम्पादयन् स मानवजीवनलाभस्य कृतार्थतां धन्यताञ्च प्रकटयामास ।
तदेतत् सर्वं भगवान् कृष्णद्वैपायनो बादरायणमुनिश्चतुर्थे प्राह —

शीतोष्णवातवर्षाणि, क्षुत्पिपासे प्रियाप्रिये ।
सुखदुःखे इति द्वन्द्वा - न्यजयत् समदर्शनः ॥
तपसा विद्यया पक्व - कषायो नियमैर्यमैः ।
युयुजे ब्रह्मण्यात्मानं, विजिताक्षानिलाशयः ॥
आस्ते स्थाणुरिवैकत्र, दिव्यं वर्षशतं स्थिरः ।
वासुदेवे भगवति, नान्यद्वेदोद्वहन् रतिम् ॥
सव्यापकतयाऽऽत्मानं, व्यतिरिक्ततयाऽऽत्मनि ।
विद्वान् स्वप्न इवामर्श - साक्षिणं विरराम ह ॥
साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा नृप ! ।
विशुद्धज्ञानदीपेन स्फुरता विश्वतोमुखम् ॥
परे ब्रह्मणि चात्मनं, परं ब्रह्म तथाऽऽत्मनि ।
वीक्ष्यमाणो विहायेक्षा - मस्मादुपरराम ह ॥ (१)

(भा० ४ । २८ । ३७-३८-३९-४०-४१-४२)

(१) महाराज मलयध्वजने सर्वत्र समदृष्टि रखकर शीत-उष्ण, वर्षा,वायु, भूख-प्यास, प्रिय - अप्रिय और सुख-दुखादि सभी द्वन्द्वोंको जीत लिया । तप और उपासनासे वासनाओंको निर्मूल कर तथा यम-नियमादिके द्वारा इन्द्रिय, प्राण और मनको वशमें करके वे अपने आत्मामें - 'आत्मा ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे भिन्न नहीं' ऐसी ब्रह्मभावना करने लगे । इस प्रकार सौ दिव्य वर्षों तक स्थाणुके समान निश्चल भावसे एक ही स्थान पर बैठे रहे । भगवान् सर्वात्मा वासुदेवमें सुदृढ़ प्रेम हो जानेके कारण इतने समय तक उन्हें शरीरादिका भी भान न हुआ । राजन् । गुरुस्वरूप साक्षात् श्रीहरिके उपदेश किये हुये तथा अपने अन्तःकरणमें सब ओर स्फुरित होने-वाले विशुद्ध विज्ञानदीपकसे उन्होंने देखा कि अन्तःकरणकी वृत्तिका प्रकाशक आत्मा स्वप्नावस्थाकी भांति देहादि समस्त उपाधियोंमें व्याप्त तथा उनसे पृथक् भी है । ऐसा अनुभव करके वे सब ओरसे उदासीन हो गये । फिर अपनी आत्माको परब्रह्ममें और परब्रह्मको आत्मामें अभिन्नरूपसे देखा और अन्तमें इस अभेद चिन्तनको भी त्याग कर सर्वथा शान्त - ब्रह्म रूप हो गये ।

शीतोष्णादीनि द्वन्द्वानि - प्रियाप्रियविषयकाणि, अजयत् = सेहे, प्राप्तानि तानि न गणितवान्, तत्रानुकूलविषये स्पृहां, प्रतिकूलविषये च द्वेषं परित्यक्तवानित्यर्थः । तत्र हेतुमाह-समदर्शन इति । समे = अखण्डैकरसेऽद्वये ब्रह्मणि दर्शनं = दृष्टि यस्य सः । समस्य = वासुदेवस्याखिलात्मनः सर्वत्र सदा दर्शनं यस्य स इति वा । अतो देहाद्यनुसंधानाभावान्न शीताद्यनुसंधानमिति भावः । यदाह-भगवान् गीतासु- 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः । निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥' (५ । १९) इति । इहैव = जीवनदशायामेव तैः सर्गो जितः, सृज्यत इति सर्गः=द्वन्द्वमयसंसारप्रपञ्चोऽतिक्रान्तः, देहपातादूर्ध्वमतिक्रान्त इति किमु वक्तव्यम् ? । कैः ? येषां मनः साम्ये = समत्वे, सर्वपदार्थेषु-अनुकूलप्रतिकूलविषयतया विषमेष्वपि-अखण्डैकरसतया वर्तमानस्याद्वयस्य ब्रह्मणो निष्प्रपंचे शिवे शान्ते समभावे स्थितं = निश्चलमवस्थितमभूदित्यर्थः । तत्र हेतुः-हि = यस्मात् ब्रह्म समं = एकमद्वयं, निर्दोषं = निर्विकारञ्च, तस्मात् ते = समदर्शिनः, ब्रह्मण्येव स्थिताः न तुच्छे द्वैतप्रपंचे इत्यर्थः । अतो निर्दोषब्रह्मरूपा जीवन्मुक्तास्तत्त्वदर्शिनः स्वप्नवत्-कल्पितद्वैतप्रपञ्चदोषगंधेनापि न स्पृश्यन्ते इति भावः ।

समदर्शनत्वमेव विशदयति - तपसेति द्वाभ्यां - तपसा = हितमितमेध्यकन्दमूलफलाद्याहारादिनाऽनाशकेन, विद्यया = पूर्णप्रेमाढ्ययोपासनया, जयादिनियमैः हिंसाऽनृतादिपरिहाररूपैर्यमैः पक्वकषायः = दग्धकामादिवासनः, अत एव विजिता अक्षादयो येन सः, अक्षाणि = इन्द्रियाणि, अनिलाः = प्राणाः, आशयः = अन्तःकरणम् । ब्रह्मण्यात्मानं युयुजे = आत्मनो ब्रह्मतां भावयामास — ब्रह्मात्मनोरैक्यं सुदृढं चिन्तयामासेति यावत् । एवमैक्यं भावयन् स्थिरः = अनुद्विग्न-शान्तानन्दपूर्णचित्तः सन् दिव्यवर्षशतपर्यन्तं स्थाणुरिवैकत्र स्थाने समाधिनिष्ठतयाऽऽस्ते स्मेत्यन्वयः । वासुदेवे = निखिलात्मनि पूर्णचैतन्यानन्दानिधौ भगवति रतिं = ज्ञानमयप्रीतिप्रवाहं उद्वहन् अन्यत् देहादिप्रपञ्चजातं न वेद = नापश्यदित्यर्थः । वासुदेवातिरिक्तं किमपि न ज्ञातवान्, किन्तु वासुदेवः सर्वमिति ज्ञात्वाऽपरिच्छिन्नस्वस्वरूपभूतप्रेमानन्दसन्दोहमनुभवितवानिति यावत् । तदा तस्य भक्तिवैराग्यपूर्णं साक्षात्कारलक्षणं ज्ञानं जातं, तेन जीवन्मुक्तोऽभूदित्याह - स इति । सः = एवं भगवत्परायणतया वर्तमानो मलयध्वजो महाराजः, आत्मनि = कार्यकारणसंघाते पिण्डे वर्तमानमात्मानं व्यापकतया = अपरिच्छिन्नब्रह्मतया विद्वान् = विजानन्, विरराम ह = देहाद्यध्यासं त्यक्त्वा विमुक्तः संजात इत्यर्थः । हेत्याश्चर्ये, 'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (गी० ७।३) इत्युक्तत्वात् । ननु - देहाद्यावृतस्य कथं व्यापकता ब्रह्मता च सम्भवति ?

तत्राह–व्यतिरिक्ततया = देहाद्युपाधिव्यतिरिक्तत्वेनेत्यर्थः। देहाद्युपाध्यनुसन्धानाभावेन ब्रह्मानुसंधानसंभवादिति भावः। ननु–ब्रह्मत्वज्ञानस्यापि ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यात्मकत्वात् कथं तदवच्छिन्नस्य व्यापकतेत्यत आह – आमर्शसाक्षिणमिति। आमर्शो नामान्तःकरणवृत्तिः, तत्साक्षिणं - तस्या जडायाः प्रकाशकमित्यर्थः। वृत्त्यवच्छिन्नत्वं नाम वृत्त्यध्यस्तत्वमेव, इदानीं साक्षात्कारदशायामध्यासस्य निवृत्तत्वान्न तत्परिच्छेद इति भावः। तदेव दृष्टान्तेनोदपादयति, स्वप्न इवेति। यथा स्वप्नद्रष्टुः पुरुषस्य स्वप्नादुत्थितस्य जागरे स्वप्नदृष्टान्तःकरणाध्यासेनाध्यस्तान् पदार्थान् स्मरतोऽप्यध्यासस्य निवृत्तत्वात्तैः परिच्छेदो न भवति, तथेत्यर्थः।

ननु – एवमभेदलक्षणमपरोक्षं ज्ञानं तस्य कथं जातमित्याकांक्षायां – 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।' (गी० १०।१०) 'तेषामेवानुकम्पार्थं — ज्ञानदीपेन भास्वता' (गी० १०।११) 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (गी० ४।११) इत्यादिवचनेभ्यस्तद्भावनानुसारेण भगवतो विमलानुग्रहादेवेति प्रदर्शयन् पूर्वोक्तं तन्मुक्तिप्रकारमेव विशदयति – साक्षादिति द्वाभ्याम्। साक्षाद् भगवान् हरिरेव यो गुरुस्तेनोक्तेन = अन्तःकरणे प्रकाशितेन, अत एव विश्वतः = सर्वतो मुखं यथा भवति तथा स्फुरताऽनवच्छिन्नतया प्रकाशमानेन विशुद्धेन ज्ञानदीपेनेक्षमाण इत्युत्तरेणान्वयः। एवमन्तःकरणे ज्ञानप्रकाशनसामर्थ्यं – ऐश्वर्यादिमत्त्वेन तस्यैवेत्यभिप्रेत्याह – भगवतेति। अत एव तस्य साक्षाद्गुरुत्वं, तत्सम्पादितज्ञानस्य यथार्थानवच्छिन्नविषयकत्वञ्च। अतस्त्वमपि तदेकशरणो भवेति सूचनार्थं हे नृप ! इति सम्बोधनम्। तदेवाह – परेऽद्वये ब्रह्मणि, आत्मानमभेदेनेक्षमाणः, तथाऽऽत्मनि परं ब्रह्म चाभेदेनेक्षमाणः, तां वृत्तिरूपामीक्षामपि विहायास्माद्–देहादिसंघातबन्धनात् — द्वैतप्रपञ्चबन्धनाच्च उपरराम = सर्वथा विनिर्गतो विदेहमुक्तोऽभूदित्यन्वयः। तत्र 'ब्रह्मैवाहं न संसारी' ति ब्रह्मण्यात्मन ईक्षणे कृते सति, संसारधर्माणां शोकादीनां निवृत्तिः संपद्यते। एवं — 'अहमेव ब्रह्म, न मत्तो मनागपि तत् पृथक्' इत्यात्मनि ब्रह्मण ईक्षणे ब्रह्मपारोक्ष्यनिवृत्तिः। अतः परस्परव्यतिहारेणेक्षणमुक्तम्। परस्परयोरेकीकरणं व्यतिहारः। यथा श्रुतौ— 'त्वं वा अहमस्मि भगवो ! देवते ! अहं वै त्वमसि भगवो देवते !।' गीतास्मृतौ च 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत !।' (गी० १३।२) इति। क्षेत्रज्ञं = प्रत्यगात्मानं, मां = अद्वयं ब्रह्म विद्धि, अपि च मां = क्षेत्रज्ञं विद्धि। व्यतिहारेण सफलमेकत्वमेव दृढीभवति। तथाप्येवमीक्षणस्यैव ब्रह्मात्मनो व्यवधायकत्वात् कथमैक्येन मुक्तिरित्याशंकानिवृत्त्यर्थं—ईक्षां विहायेत्युक्तम्। कायकारणाध्यासस्यावलम्बनस्य निवृत्तत्वात् ईक्षाऽपि दग्धेन्धनानलवत् स्वयमे-

वोपशान्तेति भावः। एवमात्मैक्यज्ञानेन मुक्तैरपि, भगवदनन्यभक्त्यधीनत्वात् अहो भक्तेर्माहात्म्यमित्याश्चर्येणाह — हेति।

अत्र किल श्रीमद्भागवतस्य सर्ववेदान्तसारत्वबोधनाय — ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणज्ञापनायाद्वितीयपूर्णप्रत्यगभिन्नब्रह्मवस्तुप्रतिपादनाय कैवल्यैकप्रयोजननिरूपणाय चोपनिषत्प्रसिद्धतत्त्वमस्यहं ब्रह्मास्मि — इत्यादिनिखिलवाक्यशिरोरत्नभूतमहावाक्यानामर्थः स्पष्टतयाऽभिवर्णितोऽवलोक्यते स्वतन्त्र-प्रज्ञैः शास्त्ररहस्यविद्भिः। यदाहुः संक्षेपशारीरकाचार्य्याः सर्वज्ञात्ममुनयोऽपि— 'प्रत्यक्त्वं लक्षयेत्त्वंपदार्थः, तच्छब्दार्थो लक्षयेदद्वितीयम्। एवं पूर्णं प्रत्यगात्मानमेतौ, शब्दौ ब्रूतो लक्षणावर्त्मनैव ॥ पारोक्ष्यं च ब्रह्मणि प्रत्यगर्थे, दुःखित्वं च ध्वान्तसम्भूतमाहुः। सम्यग्ज्ञानध्वस्तमोहस्य पुंसः, प्रध्वंसेते हेत्वभावेऽफलत्वात् ॥ (१) (१।२३७-२३८)

केन पदेन कीदृशोऽर्थो लक्ष्यते, येन तदर्थयोर्विरोधः परिह्रियेत, ऐक्यं च लक्षयेत् इति निरूपयति — प्रत्यक्त्वमिति। अहंकारादिसाक्षिसर्वान्तरचैतन्यमित्यर्थः। त्वं पदार्थ इति। पदार्थस्य लक्षकत्वमाश्रित्योक्तम्। सर्वान्तरस्य साक्षिणः प्रत्यगात्मनः सर्वव्याप्यद्वयब्रह्माभेदे तत्त्वंपदसामानाधिकरण्येन सिद्धे निरतिशयबृहत्त्वशालि ब्रह्म सिद्ध्यतीत्याशयेनाह — एवं पूर्णमिति। एवकारेण गौण्यादिवृत्त्यन्तरं व्यावर्त्तयति। ननु-एवमपि कथं पूर्णाद्वयवस्तुलाभः, परापरयोः पारोक्ष्यदुःखित्वादेरनपायादित्याशंक्याह — पारोक्ष्यं चेति। ब्रह्मणि पारोक्ष्यं चेति, उपलक्षणतो जगत्कारणत्वादि समुच्चिनोति। दुःखित्वं चेति। सुखित्वादि समुच्चिनोति। तयोरविद्यामायासंभूतत्वे किं सिद्धं ? तदाह—सम्यगिति। प्रध्वंसेते पारोक्ष्यं दुःखित्वं चेत्यनुषंगः। तत्र सामान्यन्यायमाह— हेत्वभाव इति। अफलत्वादितिच्छेदः। कारणाभावे कार्याभावादित्यर्थः। प्रत्यगभिन्नेऽद्वये ब्रह्मणि वेदान्तमहावाक्यप्रामाण्यमबाधितमिति तयोर्मानमेयसिद्धिरित्याहुस्तत्रैव सर्वज्ञात्मपादाः—'ब्रह्मास्मीति' वचोनिविष्टपदयोर्माने भवेदन्वयः, साक्षादद्वयवस्तु तस्य च भवेन्मेयं ततस्तद्गतेः। यद्यत्र प्रमिति करोति भवति प्रामाण्यमत्रास्य च, स्पष्टं दृष्टमिदं हि युक्तिघटितं रूपे यथा चक्षुषः ॥

(१) त्वम्पदार्थकी–प्रत्यगात्मा जीव-साक्षीमें लक्षणा तथा तत्पदार्थकी अद्वितीय – ईश्वर साक्षीमें लक्षणा होती है, इस प्रकार ये दोनों पद लक्षणा द्वारा ही पूर्ण अद्वय ब्रह्म स्वरूप प्रत्यगात्माको कहते हैं। ब्रह्ममें परोक्षत्व और प्रत्यगात्मामें दुःखित्वको अज्ञानजन्य कहते हैं, सम्यक् ज्ञानके द्वारा जिस पुरुषका अज्ञान नष्ट हो गया है, उसके परोक्षत्व और दुःखित्व दोनों नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि कारणके न रहने पर कार्य नहीं रहा करता।

(१) (१ । २६३)

अयमर्थः— ब्रह्मास्मीतिपदयोरन्वय इति सम्बन्धः । मानं = प्रमाणं-प्रमितिजननयोग्यः । साक्षादपरोक्षं प्रत्यगभिन्नमद्वयं ब्रह्मेति यावत् । तस्य च = ब्रह्मास्मीति वचनस्य, चोऽवधारणे, भवेदेवेति सम्बन्धः । मेयं = अखण्ड-ब्रह्माकारवृत्तिविषयतायोग्यम् । उभयत्र-मानमेययोः प्रमाणमाह—तत इति । ततः = तस्माद्वचसः । तद्गतेः = तस्य = अद्वयवस्तुनः, गतेः = अवगतेरित्यर्थः । ततश्चायोग्यात् फलानिष्पत्तेः, तदुभयं तद्योग्यमित्यर्थः । एतस्याप्रमाणे व्यभिचारमाशङ्क्य प्रमाणसामान्यलक्षणं कथयन् तं परिहरति-यद्यत्रेति । यत् = करणं, यत्र = यस्मिन्नर्थे, प्रमितिं = अबाधिताज्ञातार्थावबोधं करोति, अत्रार्थेऽस्य प्रामाण्यं = प्रमाजननयोग्यत्वं भवत्येव, इदं हि स्पष्टं दृष्टं युक्तिघटितं च । एतदेवोदाहरणविशेषे दर्शयति— रूपे यथा चक्षुषः इति । यद्-अनधिगतमबाधितं येन निश्चीयते, तत्र तत् प्रमाणमिति हि प्रमाणसामान्य - लक्षणम् । यथा तादृशरूपादौ चक्षुरादि, नैवमप्रमाणमिति भावः ।

प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रकृते दर्शयन् फलमाह — मानान्तरानधिगतं परिनिष्ठितंयद्, वेदः समर्पयति चेतसि तत्परः सन् । तत्तथ्यमेव भवतीति समाश्रयस्व, श्रेयस्करो विधिगिरोऽवगतो यथैव ॥ (२) (सङ्क्षेप शारीरके-१ । २६४)

मानान्तरानधिगतमिति — यद् = ब्रह्म, तदन्यद्वा, वेदः-तत्तात्पर्यवान् भूत्वा, अन्यप्रमाणैरज्ञातं —परिनिष्ठितमपि = सदा सिद्धमपि, यच्चेतसि समर्पयति = बोधयति, तत् — तथ्यमेव = अबाध्यमेव भवतीति समाश्रयस्व, यथैव विधिगिरः = विधिवाक्यादवगतो यज्ञादिलक्षणो धर्म इति सम्बन्धः । अत्रोपास्यगुणसंसर्गस्य व्यावृत्तये 'तत्परः' इत्युक्तम् । वेदतात्पर्यगोचरविपरीतग्राहिण एवामानत्वात्, वेदतात्पर्यादधिगतोऽद्वयब्रह्मरूपोऽर्थोऽबाधित एवेति वेदस्तत्र प्रमाणमेवेति भावः ।

अत एव मुमुक्षुभि र्भगवत्स्वरूपे परारतिमद्भिः-यच्छुद्धं विमलं विशो-

(१) 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यमें निविष्ट दोनों पदोंका परस्पर अभेदान्वय प्रमाण है, उसकी साक्षात् अद्वयवस्तु प्रमेय होती है, क्योंकि-उस प्रमाणसे उस अद्वय ब्रह्मकी प्रमिति होती है, जो जिस अर्थकी प्रमिति उत्पन्न करता है, उसका उस अर्थमें प्रामाण्य होता है; जैसे चक्षुका प्रामाण्य रूपमें । यह न्याय स्पष्ट रूपसे लोकमें देखा जाता है और युक्ति-युक्त भी है ।

(२) वेद तत्परक हो कर जिस-प्रमाणान्तरसे अज्ञातसिद्ध-प्रत्यगभिन्न अद्वयब्रह्मरूप वस्तुका चित्तमें समर्पण करता है, वह तथ्य ही होता है । ऐसा निश्चय करना चाहिए, जैसे कि विधिवाक्यसे अवगतधर्म ।

कममृतं सत्यं परं धीमहि' (भा० १२ । १३ । १६) प्रत्यक् चकास्ति भगवान् तमवेहि सोऽस्मि' (भा० ४ । २२ । ३७) इत्यादिभिरभिहितं पौनः पुन्येनान्तर्बहिर्ध्यातव्यं निखिलश्रुतिस्मृतिपुराणतात्पर्यगोचरस्वरूपं प्रतिपादयन्तोऽप्याहुस्तत्रैव —

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः, सत्यः सूक्ष्मः सन् विभुश्चाद्वितीयः। आनन्दाब्धि र्यः परः सोऽहमस्मि, प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्त ॥ (१) (सं० शा० १ । १७३) अयमर्थः — नित्यः = वस्तुतः कालत्रयापरिच्छेद्य, शुद्धः = अविद्याकलंकरहितः, बुद्धः = स्वप्रकाशबोधो न तु विषयः, मुक्तः = रागद्वेषादिबन्धरहितः, सत्यः = त्रिकालाबाध्यः, सूक्ष्मः = स्थौल्यरहितो दुर्विज्ञेयो वा। सन् = विद्यमानो भावस्वरूप इति वा। विभुः = देशापरिच्छिन्नः स्वतन्त्र इति वा, अद्वितीयः = वस्त्वन्तररहितः, आनन्दाब्धिः = अनवच्छिन्नानन्दः, परः = परमात्मेति विशेष्यम् । एवं तत्पदलक्ष्यस्वरूपं निर्दिश्य त्वंपदलक्ष्यस्वरूपमाह — प्रत्यग्धातुरिति । अहमनुभवे प्रकाशमानोऽहंकारादिसाक्षी प्रत्यग्धातुः स्वरूपवाची। सोऽपि उक्तलक्षण एव, अतो न किञ्चिदपि तदुभयवैलक्षण्यमिति तदत्यन्तमभिन्नमेवेत्याशयेन वाक्यार्थमाह – सोऽहमस्मीति । विद्धीति शेषः । अस्यार्थस्य प्रागुपपादितत्वात् चाग्रे चोपपादयिष्यमाणत्वात्संशयं मा कुर्वित्याशयेनाह — नात्रेति । एवमेव — 'सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म' (तै० २ । १) 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् (क० ५ । १३) 'महान् अज आत्मा' (बृ० ४ । ४ । २५) 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योति र्भवति' (बृ० ४ । ३ । ६) 'असंगो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४ । ३ । १५) 'अकामं रूपं शोकान्तरम्' 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (क० ५ । १) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् ।' (बृ० २ । ५ । १९) 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' मुं० १ । १ । ६) 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।' (छां० ६ । २ । १) शुद्धमपापविद्धम्' (ईशा० ८) 'एष एव परम आनन्दः' (बृ० ४।३।३३) 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३।४।१) 'अयमात्मा ब्रह्म'(बृ० २ । ५ । १९) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६ । १९) 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (क० २ । १८) इत्याद्युपनिषद्वाक्यैः । एवं—'अव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारं, सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं ।' (भा० १० । ३ । २४) 'आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्धः एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः । अविक्रियः स्वदृक् हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृत्तः ॥' (भा० ७ । ७ । १९) 'एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः । नित्योऽ-

(१) जो नित्य, शुद्ध, मुक्त स्वरूप, सत्य, सूक्ष्म, सत्, व्यापक, अद्वितीय, परमानन्दरूप परमात्मा हैं; मैं प्रत्यगात्मा वही हूं, इसमें कोई संशय नहीं ।

त्वरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥ (१) (भा० १० । १४ । २३) 'एकान्तमद्वयं शान्तं (भा० ५ । २० । ३३) 'ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् । प्रत्यक् प्रशान्तं' (भा० ५ । १२ । ११) तत् त्वं ब्रह्म परं ज्योतिः आकाशमिव विस्तृतम् ।' (भा० ४ । २४ । ६०) 'अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः । प्रत्यक् धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ॥' (भा० ३ । ३६ । ३) 'अनामरूपश्चिन्मात्रः' (भा० ६ । १६ । २१) 'एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक् । (भा० ६ । १६ । ९) 'एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्तृणां गुणदोषयोः ।' (भा० ६ । १६ । १०) 'ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम् ।' (भा० १० । १४ । ६१) इत्यादि श्रीमद्भागवतवचनैरपर्यायैस्तात्पर्यतश्चित्सुखैकरसं नित्यशुद्धादिस्वभावं प्रत्यगभिन्नमद्वयं ब्रह्म मुमुक्षुभक्तैरहर्निशं परिचिन्तनाय प्रतिपाद्यत इति । अत एव — निस्तरङ्गोऽतिगंभीरः सान्द्रानन्दसुधार्णवः माधुर्यैकरसाधारः एक एवास्ति सर्वतः ॥ 'नाहं न चान्यद्वाऽस्तीति ब्रह्मैवास्ति निरन्तरम् । आनन्दपूर्णं सर्वत्रेत्यनुद्वेगादुपास्यताम् ॥' इति ।

(१) प्रभो ! आप ही एक मात्र सत्य हैं। क्योंकि आप सबके आत्मा जो हैं। आप पुराण पुरुष होनेके कारण समस्त जन्मादि-विकारोंसे रहित हैं, आप स्वयं प्रकाश हैं; इसलिये देश, काल और वस्तु जो पर प्रकाश हैं—किसी प्रकार आपको सीमित नहीं कर सकते। आप उनके भी आदि प्रकाशक हैं। आप अविनाशी होनेके कारण नित्य हैं। आपका आनन्द अखण्डित है। आपमें न तो किसी प्रकारका मल है और न अभाव। आप पूर्ण, एक हैं। समस्त उपाधियोंसे मुक्त होनेके कारण आप अमृत स्वरूप हैं।

—❀—

(अज्ञातसखेन साक्षाद्भगवता जीवात्मानं प्रति व्यतिहारेणोपदिश्यमानः श्रेयस्करः स्तुत्योऽभेदोपदेशोऽयं मुमुक्षुभिर्भगवद्भक्तैरतीव श्रद्धातव्यः) (१)

प्राचीनबर्हिः संज्ञको राजा नारदं प्रत्युवाच — 'ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभिः।' (भा० ४ । २५ । ५) इति । कर्मभिः, तत्कारणकामभिः तत्कारणादज्ञानादित्यर्थः, ज्ञानात्साक्षादज्ञानस्य निवृत्तिः संपद्यते, न कर्मणाम्, कारणाभावात् कार्याभाव इतिन्यायेन कर्मणामपि परंपरया निवृत्ति र्न साक्षादिति वेदितव्यम् । तस्य प्रश्नं श्रुत्वा नारद उवाच-अत्र ते कथयिष्येऽमुमितिहासं पुरातनं । पुरञ्जनस्य चरितं निबोध गदतो मम ।।' (२) (भा० ४ । २५ । ६) इति । पुरञ्जन नामा कश्चन राजा आसीत् । तस्य च कश्चित् अज्ञातनामा अज्ञातचेष्टितः सखा आसीत् । स किमपि भोगायतनमन्वेषमाणः पृथिवीं बभ्राम । परन्तु स यदा तत्स्वानुरूपमलभमानस्तदा विमना इवाभूत् । भूतले यावती पुरः आसन्, ताःसर्वाः न साधु मेने । स एकदा हिमाचलस्य दक्षिणेषु सानुषु शोभनलक्षणाढ्यां निखिलदोषरहितां नवभिर्द्वार्भिः संयुक्तां प्राकारोपवनाट्टालपरिखैः अक्षतोरणैः स्वर्णरौप्यायसैः शृङ्गैश्च संकुलां, नीलस्फटिकवैदुयमुक्तामरकतारुणैः सप्तहर्म्यस्थलीं श्रिया दीप्तां भोगवतीमिव, सभाचत्वररथ्याभिः, आक्रीडायतनापणैः चैत्यध्वजपताकाभि र्विद्रुमवेदिभिश्च युक्तां कामप्येकां मनोरमां पुरीं ददर्श । तस्याः पुर्याः बाह्यं दिव्यद्रुमलताकुलं नदद्विहंगालिकुलकोलाहलजलाशयं हिमनिर्झरविप्रुष्मत्कुसुमाकरवायुचलत्प्रवालविटपनलिनीतटसंपदं नानाऽरण्यमृगव्रातबाधारहितमुपवनं किमपि मनोहरमपश्यत् । यत्र कोकिलकूजितैः पान्थः स्वमाहूतं मन्यते । तत्र यदृच्छयाऽऽगतां, एकैकशतनायकै र्दशभिर्भृत्यैः सहायन्तीं पञ्चशीर्षाहिना प्रतीहारेण सर्वतो रक्षितां प्रतिक्षणविविधशृङ्गारधारिणीं सुनासां सुदतीं सुकपोलां वराननां समविन्यस्तकर्णाभ्यां कुण्डलश्रियं बिभ्रतीं कस्याप्यपरिगृहीतपाणिमत एव बालां भर्तारं स्वेप्सितमृषभमन्वेषमाणां पिशंगनीवीं सुश्रोणीं कनकमेखलां श्यामां नूपुरैः क्वणद्भ्यां पद्भ्यां शनैः शनैश्चलन्तीं देवतामिव, समवृत्तौ व्यञ्जितकैशोरौ स्तनौ वस्त्रान्तेन व्रीडया निगूहन्तीं गजगामिनीं कामपि प्रमदोत्तमां ददर्श ।

(१) (जो अज्ञात सखा रूप है-ऐसे साक्षात् भगवान्के द्वारा जीवात्माके प्रति व्यतिहारसे उपदिश्यमान जीव और ईश्वरका यह अभेद उपदेश, श्रेयस्कर एवं स्तुत्य है, उसमें भगवद्भक्त, मुमुक्षुओंको अत्यन्त श्रद्धा रखनी चाहिये)

(२) अच्छा, इस विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन उपाख्यान सुनाता हूं, वह राजा पुरंजनका चरित्र है, उसे तुम मुझसे सावधान होकर सुनो ।

तां सव्रीडस्मितशोभनां तस्याः स्निग्धेनापांगपुंखेन प्रेमोद्भ्रमद्भ्रुवा विद्धः पुरञ्जनो वीरो ललितमिदं वचः प्राह—हे कंजपलाशाक्षि ! का त्वमसि ? कस्यासि कन्यका ? हे सति ! कुतः स्थानादिहागतासि ? हे भीरु ! अस्याः पुर्याः समोपस्थां भुवमालक्ष्य किं कर्तुमिच्छसि ? यत्पृष्टं तत्सर्वं मह्यं प्रेम्णा कथय। कंजपलाशाक्षि, सतीति सम्बोधनद्वयेन त्वया यौवनं रुचिरं मुधा न नेयं, सत्या त्वया स्वानुरूपः पतिर्ग्राह्य एवेति ध्वनितम् भीरु इत्यनेन पुर्यामभ्यः-मेकाकिनी कथमहं तिष्ठेयमिति मा भैषीः, द्वितीयोऽहमागतोऽस्मि तव सहचर इति ध्वन्यते। यदि ते निवासादिरुचिस्तर्ह्यहमपि तत्काम एव, एकाकित्वादत्र सहसाऽहं न प्रविशामि, संप्रति त्वया प्रियया सहैवात्र प्रवेष्टुमभिलषामीति तस्यान्तर्निगूढो भावः।

अपि च - एते के सन्ति महाभटा एकादश तवानुचराः ?, हे सुभ्रूः ! एतास्तवानुगामिन्यो ललनाः काः सन्ति ?, कोऽयमहिस्तेऽग्रचरोऽस्तीति त्वं ब्रूहि। प्राक् देवतामिवेत्युक्तत्वात् संप्रति तत्प्रसादाय तामुत्कृष्टतया विकल्पयति - त्वं काऽसि ?, एकान्ते वने स्वपतिं धर्मं विचिन्वती किं त्वं ह्रीसंज्ञादेवताऽसि ? अथवा त्वं स्वपतिं श्रीशिवमन्वेषमाणा गिरिराजकिशोरी भवान्यसि ?, अथवा त्वं स्वपतिं ब्रह्माणं विचिन्वती वाग्देवता सरस्वत्यसि ?, अथवा त्वं स्वपतिं श्रीविष्णुं विचिन्वती महालक्ष्मी रमाऽसि ?। भवानीति कथनेन दिव्यं सौन्दर्यं, सरस्वतीत्यनेन महाबुद्धिमत्त्वं, लक्ष्मीरित्यनेन महासमृद्धिशालित्वञ्च तस्याः तत्स्तुतयेऽभिव्यनक्ति पुरंजनः। यदि त्वं रमाऽसि, तर्हि तव कराग्रात् लीलाकमलमसाधारणलक्षणं क्व पतितं ?। एवं वाक्चातुर्येण स्ववशीकरणाय तत्रोत्कृष्टत्वमारोप्येदानीं तन्निरासेन स्वभोगयोग्यतामाह-आसां ह्र्यादीनां मध्ये त्वमन्यतमाऽपि न भवसि, यतो नहि देवता भुवं स्पृशन्ति, त्वन्तु भुवं स्पृशसि। अतस्त्वं श्रेष्ठतमा मनुजाऽसि। अतस्त्वं मम मनुजश्रेष्ठस्य भोग्या पत्नो भवितुमर्हसीति ज्ञापनाय - संबोधयति - हे वरोरु ! इति। अतो यथा विष्णुना पुरुषोत्तमेन सह श्री वैकुण्ठमलंकरोति, तथा त्वं महाबलपराक्रमवता संभोगदक्षेण तत्साधनसंपन्नेन मया सहेमां पुरीमलंकर्तुमर्हसि। संप्रति - कारणकथनपुरःसरं तदनुग्रहं प्रार्थयते - तव सव्रीडस्नेहपूरितस्मितविभ्रमद्भ्रुवा कटाक्षेण करणेन संमोहितेन्द्रियोऽहं त्वया कर्तृभूतया प्रेरित एषोऽतीव समर्थो मनोभवः कामो मामत्यर्थं प्रबाधते। अत एव त्वं हे शोभने ! मय्यनुग्रहं कृत्वा तद्बाधानिवृत्तये मया सह पुरीमिमां प्रविश्य रमस्व। तत्रादौ कामव्याकुलचित्तस्य ममाश्वासनाय प्रथमं लज्जया नम्रीभूतं शोभनं स्वमुखमुन्नीय मह्यं प्रदर्शय। कीदृशं तस्य शोभनत्वमिति स्वयं तद्विशेषणै वर्णयति - शोभनौ भ्रुवौ यस्मिन् तत्। मनोहरे

स्निग्धकृष्णवर्णे कनीनके यस्य तत्, व्यालम्बिनो नीलाः चिक्कणा अलकास्तेषां वृन्देन संवृत्तम्। मनोरमाणि वचनानि यस्मिन् तत्। त्वत्प्रेरितकामाग्निदाहस्य त्वत्स्मितसुधयैव शान्तिर्भविष्यति, नान्यथेति सूचयन् संबोधयति-हे शुचिस्मिते! कामसंतापस्य शान्तिकरं स्मितं यस्यास्तत्संबोधनम्।

इत्थं कामवशात् अधीरवत् प्रार्थयमानं पुरञ्जनं तं स्वाभिलषितभोगसंपादनसमर्थं वीरं मत्वा तेन मोहिता हसन्ती सती सा नारी स्वभर्तृत्वेनाङ्गीचकार, एवं तं स्वीकृत्य तत्प्रश्नानामुत्तराण्याह—हे पुरुषर्षभ! यत्त्वया पृष्टं कस्य गोत्रे कस्य कन्या किंनामा त्वमसीति। तत्र मम कर्तारं, तवापि कर्तारं गोत्रं, नाम च वयं सम्यक् न विद्मः। वयमिति बहुवचनं ममानुवर्तिनोऽपि न जानन्तीत्यभिप्रायेण। सम्यगित्यनेनापाततो यथा कथञ्चित् ज्ञातमपि तत्र यथार्थनिश्चयाभावात् तन्न वक्तव्यमिति सूचयति। नामगोत्रादिज्ञानमस्तु वा, मा वाऽस्तु। त्वं तु पुरुषश्रेष्ठो मया नारीरत्नेनाङ्गीकृत एव, नात्र संदेहलेशोऽस्तीति ज्ञापनाय सम्बोधनं हे—पुरुषर्षभेति। मम तव च शरणीभूतेयं पुरी, येन निर्मिता, तमपि वयं न विदामः। किन्तु — अस्यां पुर्यां विद्यमानमात्मानं मामेवाहं वेद्मि। अत्र त्वां विहायान्यस्य कस्यचित्स्वामित्वाभावात्, आवयोरेव स्वामित्वात्, आवयोः रमणीरमणयोः रति निष्प्रत्यूहेति सूचयन्ती संबोधयति – हे वीर इति। यत्पृष्टं, क एतेऽनुचरा? इति तत्राह–हे मानद! एते नरा मम सखायः, एता नार्यश्च मम सख्यः, मम भोगसंपादने निरतत्वात् तेषां सखित्वम्। अयञ्च नागो मयि सुप्तायां ममेमां पुरीं पालयन् जागर्ति। हे मानदेति सम्बोधनेन 'अहमेतेषां स्वामिनी, यदि तव वशवर्तिनी भार्या जाता, तर्हि एतेषामपि ममानुयायिनां सम्मानकर्ता स्वामी त्वमेव, अतो नैतै भोगे कश्चन प्रतिबन्ध आशंकनीयः, प्रत्युत तत्साधकत्वमेवैतेषामिति सूचयति। यत्पृष्टमत्रागत्य किं कर्तुमिच्छसीति तत्राह – मम भूरिभाग्येनैव भवान् अत्रागतोऽसि, 'त्वं ह्रीरित्यादिना' भवता यदुक्तं, तत्सत्यमेव। प्रियपत्यन्वेषणार्थमेवाहमत्रागताऽस्मीति। अतस्त्वं यान् विषयभोगान् इच्छसि, तान् सर्वान् – अभीष्टान् तुभ्यं पत्येऽहं स्वसखिभिः स्वसखीभिश्च सह प्रापयिष्यामि, अतो मया प्रियपत्न्या प्रापितान् कामभोगान् उपभुञ्जानः सन् त्वं शतसंवत्सरपर्यन्तमिमां नवमुखीं पुरीमधितिष्ठस्व।

यदुक्तं — भवता — 'अनुगृहाण शोभने' इति। त्वन्तु रतिज्ञः, श्वः किं भविष्यतीति देहादिनिर्वाहाय तत्तत्पदार्थचिन्तयिता, परलोकसुखलाभस्यापि कृते तत्साधनानुष्ठाता कोविदोऽसि, तादृशं त्वां विहाय तद्विपरीतलक्षणकं मूर्खकमहं कथमुपयामि, वृणे रमये वा, न कथमपि, अतस्त्वामेवाहमुपयामि वृणोमि रमयिष्ये च। संप्रति सर्वाश्रमोपजीव्यत्वात् गृहस्थाश्रम एव सर्वश्रेष्ठो

धन्यश्चेति ज्ञापयितुं सा तं प्रति ब्रवीति — 'धर्मो ह्यत्रार्थकामौ च प्रजानन्दोऽमृतं यशः। लोका विशोका विरजा यान्न केवलिनो विदुः ॥' पितृदेवर्षिमर्त्यानां भूतानामात्मनश्च ह। क्षेमं वदन्ति शरणं भवेऽस्मिन् यद्गृहाश्रमः ॥' (१) (भा० ४ । २५ । ३९ - ४०) इति। अयमर्थः—अत्र = गार्हस्थ्ये, यज्ञदानाद्यनुष्ठानात् धर्मः सिद्ध्यति, अतोऽन्तःकरणशुद्धिभक्तिज्ञानादिनाऽमृतं = मोक्षोऽपि सिद्ध्यति। लौकिकप्रयत्नेनार्थकामौ च सिद्ध्यतः। प्रजोत्पत्त्यर्थरत्युत्थानन्दः पुत्रपौत्रादिलालनादिजनितानन्दश्च सिद्ध्यति ॥ परोपकारादिना यशः सिद्ध्यति। काम्यकर्मानुष्ठानेन च विरजा = शुद्धाः — दिव्यसुखजनकाः विशोकाः = दुःखादिरहिताश्च स्वर्गादिलोकाः सिद्ध्यन्ति। अतो गार्हस्थ्यमेव प्रशस्ततरम्। यान् धर्मादीन् केवलिनः = नैष्ठिकब्रह्मचारिणो यतयो न विदुः = न जानन्ति। अस्मिन् भवे = संसारे, पित्रादीनां सर्वेषामपि क्षेमं = निर्वाहकं, शरणं = आश्रयञ्च गार्हस्थ्यमेव वेदवादिनो वदन्ति। संप्रति सा पुनरपि पुरञ्जनं प्रशंसति — 'का नाम वीर! विख्यातं, वदान्यं प्रियदर्शनं। न वृणीत प्रियं प्राप्तं मादृशी त्वादृशं पतिम् ॥' (२) (भा० ४ । २५ । ४१) इति। लोकेऽस्मिन् बलपराक्रमादिना विख्यातं, वदान्यं = समुदारचित्तं, प्रियदर्शनं = अतिसुन्दरं, त्वादृशं = विविधगुणालयं स्वयं प्राप्तं पतिं, मां वृणीष्वेति, प्रार्थयमानं, मादृशी — गुणज्ञा सा का नाम न वृणीत? नाम = प्रसिद्धा, लोके तादृशी न कापि विद्यत इति भावः। अत्र कामिनी स्वयोग्यं कामिनमेव बहुमन्यते, न विरक्तमिति ध्वन्यते। तथा च ममापि मनस्त्वय्येव संलग्नम्, अतस्तव सर्पदेहसदृशकोमलसुचिक्कणयोः सवलयोर्भुजयोर्मध्ये समाविष्टुं कस्याः कामिन्या मनो न सज्जेत? अपि तु सर्वस्या एव। अतो भवान् कृपाप्रवृत्तेन स्मितावलोकनेन मम मनःपीडां शमयितुं विचरतीत्यहं मन्ये। एवं परस्परानुमोदनं कृत्वा यत्कृतवन्तौ तत् – नारद उवाच – 'इति तौ दंपती तत्र, समुद्य समयं मिथः। तां प्रविश्य पुरीं राजन्! मुमुदाते शतं समाः॥' (भा०

(१) अहो! इस लोकमें गृहस्थाश्रममें ही धर्म, अर्थ, काम, सन्तान - सुख मोक्ष, सुयश और स्वर्गादि दिव्य लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है। संसारत्यागी यतिजन तो इन सबकी कल्पना भी नहीं कर सकते। महापुरुषोंका कथन है कि इस लोकमें पितर, देव, ऋषि, मनुष्य तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके और अपने भी कल्याणका आश्रय एकमात्र गृहस्थाश्रम ही है।

(२) वीरशिरोमणे! लोकमें मेरी - जैसी कौन स्त्री होगी, जो स्वयं प्राप्त हुये, आप जैसे सुप्रसिद्ध, उदारचित्त और सुन्दर पतिको वरण न करेगी।

४ । २५ । ४३) (१) इति । इति = एवं, दंपती स्त्रीपुरुषौ तौ, तत्र = उपवने, समयं = संकेतं, मिथः = परस्परं, समुद्य = समुदीर्य, समाः = संवत्सरान् ' मुमुदाते । पुरीप्रवेशसमय एव लोकस्य महानुत्सवो जात इत्याह –'उपगीयमानो ललितं तत्र तत्र च गायकैः । क्रीडन् परिवृतः स्त्रीभि र्ह्रदिनीमाविशच्छुचौ ॥' (२) (भा० ४ । २५ । ४४) गायकैः=सूतमागधादिभि ललितं= मनोहरं यथा भवति, तथोपगीयमानः, स्त्रीभिश्च परिवृतः पुरञ्जनः क्रीडन् बभूव । ततः शुचौ = निदाघकाले तापापनोदनार्थं, ह्रदिनीं=सरसां स्वच्छशीतलजलमाविशदित्यन्वयः । नवभिर्द्वार्भि र्युक्तां पुरीं ददर्शेत्युक्तं, तत्र ता द्वारः कुत्रेत्यपेक्षायां, तत्स्थानं दर्शयति — सप्तद्वारः तस्याः पुर्याः उपरि कृताः, द्वे द्वारौ तस्याः अधोकृते स्तः, यतः तत्स्वामिनः पृथक् पृथक् देशे गमन सुकरं भवेदिति । तासु सप्तसु पंच द्वारस्तु पूर्वस्यां दिशि वर्तन्त, एका द्वाः दक्षिणस्यां, तथैका उत्तरस्यां दिशि वर्तते । ये द्वे अधोद्वारौ, ते तु पश्चिमायां दिशि वर्तेते ।

संप्रति तासां नामवर्णनपूर्वकं सहकारिविशेषेण सह गम्यदेशविशेषान् दर्शयति — पूर्वस्यां दिशि निर्मिते ये द्वे द्वारौ स्तः, तयोः एका वामभागे स्थिता द्वाः 'खद्योता' इति नाम्ना, अन्या दक्षिणभागे स्थिता द्वाः 'आविर्मुखी' इति संज्ञया च व्यवह्रियमाणा स्तः । ताभ्यां द्वाभ्यां तत्पुरीस्वामी पुरञ्जनः 'द्युमान्' इति नाम्ना प्रसिद्धेन सहकारिणा सख्या गन्तव्यदेशाभिज्ञेन सह विभ्राजितं नाम देशविशेषं गच्छति । एवं पूर्वस्यां दिशि तदन्ये ये द्वे द्वारौ निर्मिते स्तः,तयोः नलिनी नालिनी च नामधेये स्तः, ताभ्यामवधूतसज्ञेन सख्या सह पुरञ्जनः सौरभनामकं देशविशेषं याति । एवं तस्याः पुर्याः पुरस्तात् वर्तमाना-एका द्वाः अस्ति, तस्याः मुख्या नाम, तया पुरराट् पुरंजनो राजा यदा रसज्ञेन सख्या समन्वितो भवति, तदा बहूदनसंज्ञकं देशं याति, यदा तु विपणेन सख्या संयुक्तो भवति. तदाऽऽपणसंज्ञकं देशं तयैव याति । अन्याभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यामेकं देशं याति,अनया त्वेकयैव द्वौ देशौ यातीत्यस्या द्वारोमुख्यत्वं सूचितम् । एवं दक्षिणस्यां दिशि वर्तमाना या द्वाः, तस्याः पितृहू नामास्ति, तया पुरञ्जनः श्रुतधरसंज्ञकेन तद्देशाभिज्ञेन सख्या सहितो दक्षिणपांचाल देशं याति । एवमुत्तरस्यां दिशि देवहूर्नाम द्वारस्ति, तया पुरञ्जनः श्रुतधारेणाभिज्ञेन सख्याऽन्वितः उत्तरपांचालं राष्ट्रं गच्छति । एवं पश्चिमदिग्भवाऽस्ति द्वाः, तस्याः आसुरी नाम वर्तते, तया

(१) श्रीनारद जी कहते हैं—राजन् ! उन स्त्री - पुरुषोंने इस प्रकार एक दूसरेकी बातका समर्थन कर फिर सौ वर्षों तक उस पुरीमें रहकर आनन्द भोगा ।

(२) गायक लोग सुमधुर स्वरमें जहां-तहां राजा पुरंजनकी कीर्ति गाया करते थे । जब ग्रीष्मऋतु आती, तब वह अनेकों स्त्रियोंके साथ सरोवरमें घुसकर जल क्रीड़ा करता ।

दुर्मदसंज्ञकेनाभिज्ञेन सख्या सह पुरञ्जनो ग्रामकं नाम देशं याति। एवं यदन्या पश्चिमदिग्भवा द्वारस्ति, तस्या निऋ॑तिर् नामधेयम्। तया तन्मार्गाभिज्ञेन लुब्धकसंज्ञकेन सख्या सह पुरञ्जनो वैशसनामकं देशं याति। एवं – एतासां पुरद्वाराणां मध्ये, द्वौ द्वारौ बहिर्निर्गमच्छिद्ररहितौ स्तः, तत्र द्वारपानामधिपतिः पुरञ्जनः, निर्वाक्संज्ञकेन द्वारेण यत्र तत्र गच्छति, पेशस्कृत्संज्ञकेन च विविधानि कर्माणि करोति।

एवं द्वानिरूपणं कृत्वा पुरीं प्रविष्टस्य पुरञ्जनस्यान्तः पुरे विविधं भोगं निरूपयति - स पुरञ्जनः सर्वनायकेनाखिलाभिज्ञेन स्वस्त्रिया अन्तरंगेण नपुंसकेन समन्वितो यदाऽन्तःपुरं गतो भवति, तदा तत्र जायापुत्रादिनिमित्तं मोहं प्रसादं हर्षं वा प्राप्नोति स्म। एव जायाद्यर्थं तत्तद्भोगसाधकेषु कर्मस्वत्याग्रहेण प्रवृत्तः पुरञ्जनो महिषी यद्यत्करोति स्म, तत्तदेव स्वमप्यनुकरोति स्म। ए मनुकरणे हेतुमाह — तया मोहितो जातः। तत्र हेतुमाह — कामात्मा स बभूव। यतः कामिन एव स्त्रिया मोहो भवति, नान्यस्य। कामात्मत्वे हेतुमाह– अबुधः=अज्ञः, तस्यैव कामवश्यताऽस्ति। स्त्रीवशवर्त्तित्वमेव प्रपञ्चयति- महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्तत 'क्वचित्पिबन्त्यां पिबति, मदिरामदविह्वलः। अश्नन्त्यां क्वचिदश्नाति, जक्षत्यां सह जक्षिति॥ क्वचिद् गायति गायन्त्यां, रुदत्यां रुदति क्वचित्। क्वचिद्धसन्त्यां हसति, जल्पन्त्यामनुजल्पति॥ क्वचिद्धावति धावन्त्यां, तिष्ठन्त्यामनुतिष्ठति। अनुशेते शयानायामन्वास्ते क्वचिदासतीम्॥ क्वचिच्छृणोति शृण्वन्त्यां, पश्यन्त्यामनुपश्यति। क्वचिज्जिघ्रति जिघ्रन्त्यां स्पृशन्त्यां स्पृशति क्वचित्॥ क्वचिच्च शोचतीं जायामनुशोचति दीनवत्। अनुहृष्यति हृष्यन्त्यां, मुदितामनुमोदते॥ विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवञ्चितः। नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैब्यात्क्रीडामृगो यथा॥' (१) (भा०। ४। २५। ५७-५८-५९-६०-६१-६२) इति। अयमर्थः – विह्वलः = सर्वानुसंधा-

(१) उसकी रानी जो-जो काम करती थी, वही वह भी करने लगता था, वह जब मद्यपान करती, तब वह भी मदिरा पीता और मदसे उन्मत हो जाता था। जब वह भोजन करती, तब आप भी भोजन करने लगता और जब कुछ चावती, तब आप भी यही वस्तु चबाने लगता था। इसी प्रकार कभी उसके गानेपर गाने लगता, रोने पर रोने लगता, हँसने पर हँसने लगता, और बोलने पर बोलने लगता। वह दौड़ती तो आप भी दौड़ने लगता। खड़ी होती तो आप भी खड़ा हो जाता, सोती तो आप भी उसीके साथ सोजाता और बैठती तो आप भी बैठ जाता, कभी वह सुनने लगती तो आप भी सुनने लगता, देखती तो देखने लगता, सूंघती तो सूंघने लगता और किसी चीजको छूती तो आप भी छूने लगता। कभी उसको

नशून्यः अश्नन्त्यां = ओदनादिभोजनं कुर्वन्त्यां, जक्षत्यां = चणकादिभक्षयन्त्यां, आसतीं = आसीनां । विप्रलब्धः = वञ्चितः-जडीकृतः, अतएव सर्वप्रकृतिवञ्चितः = विचारपूर्वकप्रवृत्ति स्वभावाद् भ्रष्टः । क्लैब्यात् = कामपारवश्याद् अनिच्छन्नपि स्त्रियमनुकरोति, यतोऽज्ञः, तत्र दृष्टान्तः, क्रीडामृगः = गृहमर्कटः ।

एकदा स राजा पुरञ्जनो महत् धनुरादाय, रथमारुह्य पंचप्रस्थसंज्ञकं वनमगात् । तत्र कीदृशं रथमारुह्य वनं गतवानित्यपेक्षायां रथं विशिनष्टि— पंच अश्वाः संयोजिता यस्य तम् । शीघ्रगामिनम् । द्वे – ईषे = दण्डिके यस्य तम् । द्वे चक्रे यस्य तम् । एकः अक्षो यस्य तम् । त्रयो वेणुयुक्ता ध्वजा यस्य तम् । पञ्च बन्धनानि यस्य तम् । एकः प्रग्रहो यस्य तम् , एको नियन्ता सारथि र्यस्य तम् । एकं रथिन उपवेशस्थानं यस्मिंस्तम् । द्वौ कूबरौ = युगबन्धनस्थाने यस्य तम् । पंचानां—वस्तूनां प्रहरणं = प्रक्षेपो यस्मिंस्तम् । यद्वा पंच प्रहरणानि = आयुधानि यस्मिंस्तम् । सप्तवरूथाः = रक्षार्थमावरणानि यस्य तम् । पंच विक्रमाः = गतिप्रकारा यस्य तम् । हैमाः = स्वर्णनिर्मिताः, उपस्कराः = आभरणानि यस्य तम् । अधुना स्वयं कीदृशो भूत्वा वनमगादिति रथिनं विशिनष्टि — स्वर्णमयं वर्म = कवचं यस्य सः । अक्षयः = सदा बाणपूर्णः, इषुधिः = निषंगो यस्य सः । एकादश, चमूनाथः = सेनापतिर्यस्य सः । पंच प्रस्थाः = सानवः शिखराणि यत्र, तद्वनमगादित्यर्थः ।

एवं मृगमांसभक्षणेऽतिस्पृहावान् गर्वितश्चसन् स पुरञ्जनो राजा त्यागायोग्यामपि स्वकीयां प्रेयसीं भार्यां परित्यज्य धनुर्बाणांश्चादाय तत्र वने मृगयां चचार = हननार्थं मृगादीन् पशून् अन्वेषितवान् । कृपारहितो भयकंरस्वरूपःसन् स क्रूरामासुरीवृत्तिमाश्रित्य वनेषु विचरतो मृगादीन् तीक्ष्णैर्बाणै न्यहनत् । ननु – मृगयाऽपि राज्ञो विहितैव कथं सा निन्द्यते-तत्राह – 'तीर्थेषु प्रतिदिष्टेषु राजा मेध्यान पशून् वने । यावदर्थमलं लुब्धो हन्यादिति नियम्यते ॥' (१) (भा० ४ । २६ । ६) इति । अयमर्थः – नहि

प्रिया शोकाकुल होती तो आप भी अत्यन्त दीनके समान व्याकुल हो जाता, जब वह प्रसन्न होती, आप भी प्रसन्न होजाता । और उसके आनन्दित होने पर आप भी आनन्दित हो जाता । इस प्रकार राजा पुरंजन अपनी सुन्दरी रानीके द्वारा ठगा गया । सारा प्रकृति वर्ग - परिकर ही उसको धोखा देने लगा, वह मूर्ख विवश हो कर इच्छा न होने पर भी खेलके लिये घर पर पाले हुये बन्दरके समान अनुकरण करता रहता ।

(१) जिसकी मांसमें अत्यन्त आसक्ति हो, वह राजा केवल शास्त्र प्रदर्शित

मृगया शास्त्रेण विधीयते, तस्या रागप्राप्तत्वेन विधेयत्वायोगात्, किन्तु नियम्यते = नियमकरणेन यथेष्टप्रवृत्तिः संकोच्यते। नियममेव षड्विधं दर्शयति-यदि - अलं = अत्यर्थं, लुब्धः = मांसभक्षणासक्तः सन् पशून् हन्यात्, तदा तीर्थेषु = श्राद्धादिष्वेव हन्यात्। तत्रापि प्रतिदिष्टेषु = शास्त्रेणोपदिष्टेषु, येषु हननं शास्त्रेण विहितं तेष्वेव, न नित्यश्राद्धादिष्वित्यर्थः। तत्रापि राजैव, नान्यो ब्राह्मणादिः। तत्रापि मेध्यान् = विहितानेव नान्यान्। तत्रापि वन एव नान्यत्र। तत्रापि यावदर्थं = यावदुपयोगमेव नाधिकमिति।

तत्र वने पुरञ्जनस्य विचित्रपक्षैर्बाणैर्निर्भिन्नगात्राणामत एव दुःखितानां मृगाणां करुणाशीलानां कृते दुःसहो विनाशोऽभूत्। तत्र शशान् वराहान् महिषान् गवयान् रुरुशल्लकान् विविधान् पशून् विनिघ्नन् स श्रममध्यगात्। अतस्तस्माद्वनान्निवृत्तः सन् क्षुत्तृड्भ्यां व्यथितः सन् च स्वगृहमेयिवान्। तत्र स स्नानं कृत्वा, यथेष्टमाहारं लब्ध्वा शय्यायां चोपविश्य श्रमरहितः संजातः। यदा चन्दनालेपसुगन्धिपुष्पमालाधारणादिभिश्च सम्यगलंकृतसर्वाङ्गो जातस्तदा महिष्यां मनो दधे, तामन्वेषितवान्। तदन्वेषणे कारणानि दर्शयन्, तददर्शनमाह—स भोजनेन स्वादुना तृप्तः, अत एव हृष्टो यौवनैश्वर्यादिना गर्वितश्च कंदर्पाकृष्टमानसः सन् वरारोहां गृहमेधिनीं भार्यां नापश्यत्। मृगयाव्याजेन वनं गत्वा कामपि कामिनीं रमयामासेत्याशंक्य सा पुरञ्जनी मानिनी बभूवेति हेतोः सा कुत्रचित् गृहकोणे प्रच्छन्नाऽभूत्। अत एव तद्दर्शनं तस्य न जातम्। यदा भार्यां नापश्यत्तदा विमना इवान्तःपुरस्त्रियोऽपृच्छत्। प्रश्नमेव दर्शयति — हे रामाः ! स्वामिनीसहितानां युष्माकमपि किं कुशलमस्ति ?। कथमियं शंका ? तत्राह — यथा मृगयागमनात्पुरा गृहसंपदोऽशोभन्त, तथेदानीं गृहेषु गृहसंपदो न शोभन्ते, अतः शंका जायते, कुशलमस्ति न वेति। एवं गृहसंपदामशोभनत्वं मम पत्न्यदर्शनप्रयुक्तमेवेत्याशयेनाह — 'यदि न स्याद् गृहे माता, पत्नी वा पतिदेवता। व्यंगे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत दीनवत्॥' (भा० ४। २६। १५) (१) पतिदेवता = पतिव्रता। तत्र मातृरहिते पत्नीशून्ये च गृहे को नाम प्राज्ञो दीनवदासीत्। तत्र दृष्टान्तमाह —

कर्मोंके लिये वनमें जाकर आवश्यकतानुसार अनिषिद्ध पशुओंका वध करें; व्यर्थ पशुहिंसा न करे। शास्त्र इस प्रकार उच्छृङ्खल प्रवृत्तिको नियन्त्रित करता है।

(१) क्या कारण है, आज इस घरकी सम्पत्ति पहले जैसी सुहावनी नहीं जान पड़ती ? घरमें माता अथवा पतिपरायणा भार्या नहो, तो वह घर बिना पहियेके रथके समान हो जाता है; फिर उसमें कौन बुद्धिमान् दीन पुरुषोंके समान रहना पसंद करेगा।

व्यंगे = गमनहेतुचक्राद्यंगरहिते रथे स्थितौ यथा दैन्यं भवति, तेन गन्तुमशक्यत्वात्, अतो बुद्धिमांस्तत्र नास्ते, तथा गार्हस्थ्यनिर्वाहकमात्राद्यभावे तत्र दैन्यमेव भवति ततस्तत्र कः आसीतेत्यर्थः।। 'क्ववर्तते सा ललना, मज्जन्तं व्यसनार्णवे। या मामुद्धरते प्रज्ञां दीपयन्ती पदे पदे ।।' (१) (भा० ४। २६। १६) इति। अतो व्यसनार्णवे = दुःखसागरे मज्जन्तं = ब्रूडयन्तं, मम प्रज्ञां दीपयन्ती = उद्धरोपायं प्रतिबोधयन्ती मां पदे पदे = क्षणे क्षणे, उद्धरते, सा ललना मम प्रेयसी क्व वर्तते, इत्यन्वयः।

एवं पृष्टानामुत्तरमाह—रामा ऊचुः। 'नरनाथ ! न जानीमः, त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति। भूतले निरवस्तारे शयानां पश्य शत्रुहन् !।।' (भा० ४। २६। १७) (२) इति। हे नरनाथ ! = नृप ! त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति = निश्चिनोति, तद्वयं न जानीमः क्वसाऽस्तीत्यपेक्षायामाहुः — हे शत्रुहन् ! निरवस्तारे = आस्तरणरहिते भूतले शयानां तां पश्य। महत्त्वबाधनार्थं सम्बोधनद्वयम्। 'पुरंजनः स्वमहिषीं निरीक्ष्याऽवधूतां भुवि। तत्संगोन्मथितज्ञानो वैक्लव्यं परमं ययौ ।। सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा, हृदयेन विदूयता। प्रेयस्याः स्नेहसंरंभलिङ्गमात्मनि नाभ्यगात् ।। अनुनिन्येऽथ शनकैः, वीरोऽनुनयकोविदः। पस्पर्श पादयुगलमाह चोत्संगलालिताम् ।।' (३) (भा० ४। २६। १८ - १६ - २०) इति। इदं नारदवाक्यम्। अवधूतां = पतितां — त्यक्तदेहादरां, तत्संगेनोन्मथितं = शिथिलीकृतं ज्ञानं यस्य स पुरंजनः परमं वैक्लव्यं = व्याकुलत्वलक्षणं मोहं ययौ। तदा हृदयेन विदूयता = कम्पमानेनोपलक्षितः सन् श्लक्ष्णया = मधुरया वाचा तां सान्त्वयन्, प्रेयस्यास्तस्याः स्नेहसंरंभस्य = प्रणयकोपस्य लिङ्गं = सूचकं कारणं. आत्मनि — स्वस्मिन् नाभ्यगात् = न ज्ञात-

(१) अतः बताओ वह सुन्दरी कहां है, जो दुःख समुद्रमें डूबने पर मेरी विवेक बुद्धिको पद - पद पर जाग्रत् करके मुझे उस सङ्कटसे उबार लेती है।

(२) स्त्रियोंने कहा—नरनाथ ! मालूम नहीं, आज आपकी प्रियाने क्या ठानी है। शत्रुदमन ! देखिये, वे बिना बिछौनेके पृथ्वी पर ही पड़ी हुई है।

(३) श्रीनारद जी कहते हैं—राजन् ! उस स्त्रीके सङ्गसे राजा पुरंजनका विवेक नष्ट हो चुका था, इसलिये अपनी रानीको पृथ्वी पर अस्त - व्यस्त अवस्थामें पड़ी देख कर वह अत्यन्त व्याकुल हो गया, उसने दुःखित हृदयसे उसे मधुर वचनों द्वारा बहुत कुछ समझाया, किन्तु उसे अपनी प्रेयसीके अन्दर अपने प्रति प्रणयकोपका कोई चिन्ह नहीं दिखायी दिया। वह मनानेमें भी बहुत कुशल था, इसलिये अब पुरंजनने उसे धीरे - धीरे मनाना आरम्भ किया। उसने पहले उसके चरण छूए और फिर गोदमें बिठा कर बड़े प्यारसे कहने लगा।

वान्। यद्वा लिङ्गं = कुटिलदृष्ट्यादिकं स्वस्मिन्न लब्धवान् अथ = अनन्तरं, अनुनयकोविदः = वशीकरणे चतुरः, वीरः पुरञ्जनस्तां शनकैरनुनिन्ये = वशीचकार. केन प्रकारेण वशीचकारेत्यपेक्षायां तत्प्रकारं दर्शयति — पस्पर्शेत्यादिना। प्रथमं तस्याः पादयुगलं पस्पर्श = शिरसा नमश्चकार, ततश्चोत्संगमारोप्य लालितां तामाह। अनुनयवचनान्येव दर्शयति—हे शुभे! स्वामिनि! कृतापराधेष्वपि येषु सेवकेषु स्वामिनः 'अस्मदीयोऽयमि' ति मत्वा शिक्षार्थं दण्डं न कुर्वन्ति, ते सेवकाः पुण्यशून्या एव सन्ति। स्वामिना विहितो यो दण्डः, स तु पुनरपराधान्तरप्रतिबन्धकत्वात् सेवकानामुपरि तस्य परमोऽनुग्रह एव मन्तव्यः। यस्तेन दण्डितः सेवकोऽसहमानो भवति, दण्डेन विषीदति, क्रुध्यति च, स तु बालवदज्ञ एव प्रत्येतव्यः। यतस्स्वामिनस्तस्य हिताचरणं दण्डलक्षणं स जानाति। हे तन्वि! तव सौन्दर्येणाहं तव सेवको भूयासम्, इति सम्बोधनेन सूच्यते। एवं सति मम कश्चिदपराधश्चेत्, तदा साक्षात्तन्निदर्शनपूर्वकं दण्डनीयोऽहं. येन पुनस्तथा न कुर्याम्, न तु एवं कोपेन सन्तापनीय इति भावः। त्वत्कोपेऽस्माकं कुत्रापि शरणं नास्ति, स्वामिनीत्वादित्याशयेन बहुधा सम्बोधयन् प्रार्थयते — 'सा त्वं मुखं सुदति! सुभ्र्वनुरागभारव्रीडाविलम्बविलसद्धसितावलोकम्। नीलालकालिभिरुपस्कृतमुन्नसं नः, स्वानां। प्रदर्शय मनस्विनि! वल्गुवाक्यम्॥' (१) (भा० ४। २६। २३) इति। हे सुदति हे सुभ्रु इति। सम्बोधनद्वयेन तन्निमित्तां कामकृतां पीडां द्योतयति॥ हे मनस्विनीत्यनेन,तवैवं नैष्ठुर्यं धीरत्वं न युक्तं, मम तव प्रियस्य पीडाकरत्वादिति सूचयति। अतः सा त्वमस्माकं स्वामिनी, स्वानां=स्वकीयानां नः = अस्माकं स्वमुखं प्रदर्शयेत्यन्वयः। मुखस्य स्वमोहकत्वं सूचयन् मुखं विशिनष्टि — अनुरागभारेण व्रीडया = लज्जया च यो विलम्बः = मन्थरता, तेन विलसन् = शोभमानः, हसितावलोको यस्मिंस्तत्। नीला अलका एवालयः = भ्रमराः, तैरुपस्कृतं = विभूषितम्। उन्नसं — उन्नतनासिकं, वल्गु = मनोहरं मधुरतरं वाक्यं यस्मिंस्तत् 'तस्मिन्दधे दममहं तव वीरपत्नि!, योऽन्यत्र भूसुरकुलात्कृतकिल्बिषस्तम्। पश्ये न वीतभयमुन्मुदितं त्रिलोक्यामन्यत्र

(१) सुन्दरदन्तवाली और मनोहर भौंहोंसे शोभा पानेवाली मनस्विनि! अब यह क्रोध दूर करो और एक बार मुझे अपना समझकर प्रणयभार तथा लज्जासे झुका हुआ एवं मधुर मुस्कानमयी चितवनसे सुशोभित अपना मनोहर मुखड़ा दिखाओ। अहो! भ्रमर पंक्तिके समान नीली अलकावाली, उन्नत नासिका और सुमधुर वाणीके कारण तुम्हारा वह मुखारविन्द कैसा मनोमोहक जान पड़ता है।

वै मुररिपोरितरत्र दासात् ॥ वक्त्रं न ते वितिलकं मलिनं विहर्षं संरम्भभीमम-विमृष्टमपेतरागम् । पश्ये स्तनावपि शुचोपहतौ सुजातौ बिम्बाधरं विगतकुङ्कुमपङ्कराागम् ॥ तन्मे प्रसीद सुहृदः कृतकिल्बिषस्य, स्वैरं गतस्य मृगयां व्यसनातुरस्य । का देवरं वशगतं कुसुमास्त्रवेगविस्रस्तपौंस्नमुशती न भजेत कृत्ये ॥' (१) (श्रीमद्भा० ४ । २६ । २४ - २५ - २६) हे वीरपत्नि ! = वीरस्य मम भार्ये ! इति सम्बोधनेन मयि वीरे पत्यौ विद्यमाने सति तवैवं विषादो नोचित इति सूचयति । अतो यस्ते = तव कृतकिल्बिषः = अपराधकर्ता, तमादिशेति शेषः । किं तत्प्रकथनेन ? तत्राह — तस्मिन् अहं दमं = दण्डं, दधे = करोमि । न च शंकनीयं — दण्डकरणेऽसमर्थोऽयमिति । यतो ममापराधकर्तारं वीतभयं = निर्भयं, उन्मुदितं = महामोदयुक्तं, त्रिलोक्यां, अन्यत्र वै = लोकत्रयाद् बहिरपि, न पश्ये — पश्यामि ननु — ब्राह्मणकुले भगवद्भक्ते च कथं तव दण्डकरणे सामर्थ्यमित्याशंकयाह — भूसुरकुलादन्यत्र = अन्यस्मिन् , मुररिपोः = विष्णोर्दासात् — भक्तादितरत्र चेति । एवं सामर्थ्येऽपि त्वं यदि मया निवेदितेऽप्यपराधिनि दण्डं न कुर्याः, तदा किं निवेदनेनेत्याशंक्याह — अहं तवेति । त्वदीयोऽहं तवाऽऽज्ञामवश्यं करिष्यामीति भावः । यस्तेऽपराधो, स यत्र कुत्रापि गतो मद्भयादेवासौ मरिष्यतीत्यर्थः । तवैवमौदासीन्येन विषादेन च मम महान् खेदो जायते इत्याशयेनाह - वक्त्रमिति । ते = तव वक्त्रं = मुखं, इतः पूर्वं, कदाचिदपि वितिलकं = ललाटस्थितरक्तबिन्दुरहितं, न पश्ये = न पश्यामि । पुनः कीदृशं तत् — मलिनं, विहर्षं = आह्लादशून्यं अर्थात् खेदपूर्णं, संरम्भेण = कोपावेशेन भीमं = भयंकरं

(१) वीरपत्नि ! यदि किसी दूसरेने तुम्हारा कोई अपराध किया हो तो उसे बताओ; यदि वह अपराधी ब्राह्मण कुलका नहीं है, तो मैं उसे अभी दण्ड देता हूं । मुझे तो भगवान्के भक्तोंको छोड़ कर त्रिलोकीमें अथवा उससे बाहर ऐसा कोई नहीं दिखायी देता जो तुम्हारा अपराध करके निर्भय और आनन्द पूर्वक रह सके । प्रिये ! मैंने आज तक तुम्हारा मुख कभी तिलक हीन, उदास, मुरझाया हुआ, क्रोधके कारण डरावना, कान्तिहीन और स्नेहशून्य नहीं देखा, और न कभी तुम्हारे सुन्दर स्तनोंको ही शोकाश्रुओंसे भीगा तथा बिम्बफलसदृश अधरोंको स्निग्ध केसरकी लालीसे रहित देखा है । मैं व्यसन वश तुमसे बिना पूछे शिकार खेलने चला गया, इसलिये अवश्य अपराधी हूं, फिर भी अपना समझकर तुम मुझ पर प्रसन्न हो जाओ; कामदेवके विषम - बाणोंसे अधीर हो कर जो सर्वदा अपने आधीन रहता है, उस अपने प्रिय पतिको उचित कार्यके लिये भला कौन कामिनी स्वीकार नहीं करती ।

अविमृष्टं = अनुज्ज्वलं, अपेतरागं = स्नेहशून्यं न पश्यामीत्यन्वयः। तथा सुजातौ = शोभनौ ते स्तनावपि, शुचा = शोकाश्रुभिरुपहतौ न पश्यामि, इतः पूर्वमित्यन्वयः। तथा बिम्बफलसदृशं — अतिरक्तं, तवाधरमपीतः पूर्वं, विगतः — कुंकुमपङ्कतुल्यः — ताम्बूलस्य रागः = रक्तता यस्मात्तादृशं न पश्यामि। इदानीं मम दौर्भाग्यादेव पश्यामि, कथमेवं सर्ववैपरीत्यं जातं ? तत्र कारणं वदेति शेषः। 'पश्यन् स्तनावपि शुचोपहतौ सुजातौ विन्दामि शं विगतकुंकुमपङ्करागौ।' इति पाठान्तरमुपलभ्यते। एवंभूतं मुखं स्तनौ च पश्यन् शं=शान्तिसुखं, न विन्दामि=लभे इत्यन्वयः, विगतः कुंकुमपङ्करागो याभ्यामिति स्तनयोर्विशेषणम् मम मृगयार्थं वनगमनेनैवेयं कुपितेति तत्कोपकारणं स्वयमेव विचार्य तन्निवेदयन् प्रार्थयते - तदिति। यस्माद् - त्वद्रोषेणातिदुःखितोऽहं, तत् = तस्मात् मे = मम, कृतकिल्बिषस्य = कृतापराधस्यापि त्वं प्रसीद = अपराधक्षमां कृत्वा प्रसादं कुर्वित्यन्वयः। अपराधमेव दर्शयति स्वैरमिति। स्वैरं = स्वातन्त्र्येण स्वामिनीं त्वामपृष्ट्वैव मृगयां गतस्येत्यन्वयः। एवं गमने हेतुमाह - व्यसनेति। मृगयायां यद्व्यसनं = स्वतःस्वभावः, तेनातुरस्य = विवशस्येत्यर्थः अतो ममान्तःकापट्यं नास्तीत्याह—सुहृद इति। सु = सुष्ठु त्वयि स्नेहवत् हृत् = हृदयं यस्य तस्येत्यर्थः। अतोऽहं तव कृपापात्रं, त्वञ्च मयि तत्कर्तुं योग्येत्यभिप्रायेणाह—केति। देवरं = देवः—देवनं क्रीडा रतिस्तां राति ददातीतिदेवरः—कान्तः प्रियतमस्तम्। कुसुमास्त्रस्य = पुष्पायुधस्य कामदेवस्य वेगेन विस्रस्तं = अपगतं, पौंस्नं = पौरुषं धैर्यं यस्य तम्। अत एव स्ववशगतं, उशती = कमनीया—कामयमाना वा त्वादृशी—चतुरशिरोमणिः, कृत्ये = कर्तुं योग्ये - सेवनीयेऽर्थे सेवनयोग्ये देशे काले च न भजेत = नांगीकुर्यात्– अंगीकृत्य भोगं न प्रदद्यादेवंभूता कापि रमणी नास्तीत्यर्थः। एवंभूतं कान्तं या नांगीकरोति मिथ्याभिमानेन, साऽपि मूर्खैवेति, त्वं तु न तादृशीति भावः।

नारद उवाच – 'इत्थं पुरञ्जनं सध्र्यग्वशमानीय विभ्रमैः। पुरञ्जनी महाराज ! रेमे रमयन्ती पतिम्॥ (भा० ४। २७। १) (१) इति। सध्र्यक् = सम्यक्। विभ्रमैः = विलासैः। स राजा सुस्नातां समलंकृतां भोजनादिना तृप्तां रुचिराननामुपागतां तां प्रियां दृष्ट्वाऽभ्यनन्दत्, हर्षेण भोगार्थमङ्गीकृतवान्। 'तयोपगूढः परिरब्धकंधरो रहोऽनुमन्त्रैरपकृष्टचेतनः।

(१) श्रीनारद जी कहते हैं — महाराज ! इस प्रकार वह सुन्दरी, अनेकों नखरोंसे पुरंजनको पूरी तरह अपने वशमें कर उसे आनन्दित करती हुई विहार करने लगी।

न कालरंहो बुबुधे दुरत्ययं दिवानिशेति प्रमदापरिग्रहः ॥ (१) (भा० ४। २७। ३) तया = प्रेयस्या, उपगूढः = परिरब्धः – समालिङ्गितः सन् परिरब्धा कंधरा तस्या येन, रहः = एकान्ते, अनुमन्त्रैः = अनुकूलैः गुह्यभाषणैः, अपकृष्टा चेतना = विवेको यस्य । कालरंहः = आयुःक्षयम् । दिवानिशा = अहर्निशं, प्रमदैव परिग्रहो, न ज्ञानसाधनं यस्य । अतः कालवेगानवबोधेन मरणादिभयाभावाद् अति वृद्धः कामादिमदो यस्य सः, तस्या महिष्याः प्रेयस्याः भुज एव उच्छीर्षकं कृत्वा उत्कृष्टशय्यायां शयानः सन् तां महिषीमेव तत्संगसुखमेव च परं पुरुषार्थममन्यत, अज्ञानतमोऽभिभूततया निजस्वरूपभूतं ब्रह्म परमपुरुषार्थतया नामन्यत । 'तयैवं रममाणस्य कामकश्मलचेतसः । क्षणार्धमिव राजेन्द्र ! व्यतिक्रान्तं नवं वयः ॥' (२) (भा० ४। २७। ५) काममोहितचित्तस्य, नवं वयः = युवावस्थोपलक्षितः कालः, क्षणार्धमिव, व्यतिक्रान्तं = अज्ञात एवापगतः । तं प्रतिरोद्धुं महतामपि युष्माकं राज्ञां सामर्थ्यं नास्तीति हे राजेन्द्र ! इति सम्बोधयति । तस्यां पुरञ्जन्यां भार्यायां पुरंजनो राजा एकादशशतानि पुत्रान् दशोत्तरशतं शीलौदार्यगुणोपेताः दुहितृश्च अजनयत् । इयं पुत्रकन्यासंख्या च बाहुल्यमात्रविवक्षयोक्ता, न तु वास्तविकी तावता आयुषोऽर्द्धं पञ्चाशदब्दात्मकमतिक्रान्तवान् । स पांचालपतिः पुरञ्जनः स्ववंशविवर्धकान् पुत्रान् दारैः, तथा कन्याश्च सदृशैः वरैः संयोजयामास, अर्थात् तान् ताश्च विवाहितवान् । 'पुत्राणां चाभवन् पुत्रा एकैकस्य शतं शतं । यैर्वै पौरंजनो वंशः पंचालेषु समेधितः ॥' (३) भा० ४। २७। ६) तद्रिक्थहारेषु तेषु पुत्रेषु तेषाञ्च पुत्रेषु गृहेषु कोशेषु अनुजीविभृत्यादिषु शब्दादिविषयेषु च स पुरंजनोऽतिदृढेन ममत्वेन हेतुनाऽत्यासक्तो जातः । एवं स विविधकामः सन् पशुहिंसाप्रधानैः क्रतुभि र्देवादीन् आराधयामास । 'युक्तेष्वेवं प्रमत्तस्य कुटुम्बासक्तचेतसः । आससाद स वै कालो

(१) पुरंजनीने राजाका आलिङ्गन किया और राजाने उसे गले लगाया। फिर एकान्तमें मनके अनुकूल रहस्यकी बातें करते हुये वह ऐसा मोहित हो गया कि - उस कामिनीमें ही चित्त लगा रहनेके कारण उसे दिन–रातके भेदसे निरन्तर बीतते हुये कालकी दुस्तर गतिका भी कुछ पता न चला।

(२) राजन् ! इस प्रकार कामातुर चित्तसे उसके साथ विहार करते करते राजा पुरंजनकी जवानी आधे क्षणके समान बीत गयी।

(३) पुत्रोंमेंसे प्रत्येकके सौ - सौ पुत्र हुये, उनसे वृद्धिको प्राप्त कर पुरंजनका वंश सारे पांचाल देशमें फैल गया।

थोऽप्रियः प्रिययोषिताम् ॥' (१) (भा० ४ । २७ । १२) एवं कुटुम्बासक्त-तसस्तस्य, अत एव युक्तेषु = कर्तुं योग्येषु भगवदाराधनेषु प्रमत्तस्य = अनवहितस्य पुरञ्जनस्य स एव कालः समागमः, यः प्रिया योषितो येषां, तेषां कृतेऽप्रियो = जराऽवस्थालक्षणः । तस्य कान्ताप्रियाणां कान्ताजना-नाञ्चोभयेषां संभोगप्रातिकूल्यात् — अप्रियत्वं विश्वविदितम् ।

यदा प्रभृति पुरंजनः पुर्यां तया प्रियया सह प्रविष्टः, तदा प्रभृति तस्य रोगजरादिभयं संलग्नमासीत्, परन्तु तद्विषयाविष्टत्वेन हेतुना स न ज्ञातवान् इत्यभिप्रायेणाह — 'चण्डवेग इति ख्यातो गन्धर्वाधिपति नृंप ! । गन्धर्वा-स्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च सितासिताः। परिवृत्त्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम् ॥ (२) (भा० ४ । २७ । १३-१४) इति गन्धर्वाणां अधिपतिः = राजा, चण्डः = प्रचण्डो निरोद्धुमशक्यो वेगो यस्य सः, 'चण्डवेगः' इत्यन्वर्थनाम्ना विख्यातः कश्चिद् दुःखप्रदः शत्रुरस्ति । तस्य बलिनः = महाबलवतः षष्ट्युत्तरशतत्रयसंख्याकाः (३६०) गन्धर्वाः सन्ति, तेषामपि स्वानिष्टाचरणे प्रतिरोधस्याशक्यत्वेन बलवत्त्वं सिद्धमेव । तथा, अस्य = चण्डवेगस्य, गन्धर्व्यः, तादृशीः = तादृश्यः — बलवत्यः षष्ट्यधिकशतत्रयसंख्याकाः (३६०) सितासिताः = श्वेतकृष्णवर्णवत्यः, ताश्च मैथुन्यः = गन्धर्वैः सह मिलिताः सत्यः, सर्वकामविनिर्मितां = सर्वैः कामैः = भोगविषयैः सह विनिर्मितां पुरंजनपुरीं परिवृत्त्या = परिभ्रमणेन, पर्यायेण वा विलुम्पन्ति = प्रहरन्ति — तस्याः आयुर्बलकान्त्यादेर्विनाशं कुर्वन्ति । ते पूर्वोक्ताः चण्डवेगस्यानुचराः योद्धारो गन्धर्वा गन्धर्व्यश्च यदा प्रभृतितः पुरंजनपुरं प्रहर्तुमारेभिरे, तत्र तदा प्रभृतित एव तान् पुरपालकत्वेना-वस्थितः सदा जागरूकः पंचशिरानागः स्वपुरविनाशं यथाशक्योपायैर्निवारित-वान् । स पुरञ्जनपुरस्याध्यक्षः प्रबलः पालकः एक एवास्ति यद्यपि, तथापि स सप्तभिः शतैर्विंशत्या च (७२०) गन्धर्वैः सह शतंसमाः = शतसंवत्सर-पर्यन्तं युयुधे । बहुभिस्तैः सह बहुकालपर्यन्तेन युद्धेन तस्मिन् एकस्मिन् स्वसम्ब-

(१) इस प्रकार वह जीवनभर आत्माका कल्याण करनेवाले कर्मोंकी ओरसे असावधान और कुटुम्बपालनमें व्यस्त रहा, अन्तमें वृद्धावस्थाका वह समय आ पहुंचा, जो स्त्री लम्पट पुरुषोंको बड़ा अप्रिय होता है ।

(२) राजन् ! चण्डवेग नामका एक गन्धर्वराज है, उसके अधीन तीन सौ साठ महाबलवान् गन्धर्व रहते हैं, इनके साथ मिथुनभावसे स्थित कृष्ण और शुक्लवर्णकी उतनी ही गन्धर्वियां भी हैं । ये बारी - बारीसे चक्कर लगाकर भोग विलासकी सामग्रियोंसे भरी पूरी नगरीको लूटती रहती हैं ।

न्धिनि, पुररक्षके बलादिना क्षीयमाणे सति स पुरंजनो राजा पुरहितकर्ता स्वामी आर्त्तः सन् महतीं चिन्तां जगाम। 'स एव पुर्यां मधुभुक्, पञ्चालेषु स्वपार्षदैः। उपनीतं बलिं गृह्णन् स्त्रीजितो नाविदद् भयम्॥' (१) (भा० ४। २७। १८) पञ्चालेषु = उपवनादिबहिर्देशेषु, मधुभुक् = मधुवद् सरसविषयसुखभोक्ता, अतः स्वपार्षदैः = स्वानुचरैः, प्रापितं बलिं = विषयजातं गृह्णन् = भुंजानः तथा स्त्रीजितः = स्त्रिया प्रेयस्या च जडीकृतः सर्वदा पुरीप्रवेशादारभ्य प्राप्तामपि युद्धादिभयं नाविदत् = न ज्ञातवानित्यर्थः।

एवमेकस्य भयस्य चण्डवेगसंपादितस्य सर्वदा विद्यमानत्वेऽपि ततोऽपि महद् भयान्तरं तस्योपस्थितं, तत्प्रपञ्चयति – 'कालस्य दुहिता काचित् त्रिलोकीं वरमिच्छती। पर्यटन्ती न बर्हिष्मन्! प्रत्यनन्दत कश्चन॥' (२) (भा० ४। २७। १९) इत्यादिना हे बर्हिष्मन्! प्राचीनबर्हिरिति सम्बोधनं नारदाभिहितं भयान्तरश्रवणे सावधानार्थम्। दुहिता = कन्या, अस्तीति शेषः। अत एव वरान्वेषणार्थं त्रिलोकीं पर्यटन्तीमपि कश्चन कोऽपि वरो न प्रत्यनन्दत = असाध्वीं दुर्भगां मत्वा तां नाङ्गीकृतवानित्यर्थः। शुक्राचार्यशापात्प्राप्तायाः ययातिना राज्ञा स्वपुत्रेभ्यो दीयमानायाः, यद्वादिभिरनंगीकारेऽपि पूरुणा स्वपितृयौवनसुखेच्छयाऽङ्गीकृतत्वात् स्वभोगावसाने तुष्टो ययातिस्तस्मै पूरवे राज्यं ददौ, इति राज्यप्राप्ते जराग्रहणनिमित्तत्वात् तस्याः कालकन्याया जरायाः काचन निन्दया साकं स्तुतिरियम्। सैवं वरान्वेषणाय सर्वत्राटमाना कदाचिद् ब्रह्मलोकान्महीतलं प्राप्तं मां — 'अयं नारदो नैष्ठिको ब्रह्मचारी' ति जानत्यपि काममोहिता सती त्वं मम भर्ता भव, मां भार्याभावेनाङ्गीकुरु' इत्युक्तवती। तदा तद्वचनं प्रत्याख्यातवति मयि क्रोधं कृत्वा सा 'हे मुने! त्वं मां पापिष्ठां दुर्भगेति नाम्ना विख्याताञ्च मत्वा नाङ्गीकरोषि, अतस्त्वमेकत्र स्थाने स्थातुं नार्हसि, किन्तु सर्वत्र इतस्ततो भ्रमणमेव करिष्यसीति मह्यं दुःसहं शापमदात्। नारदस्य कृपालुत्वेन लोकोपकाराय सर्वत्र सदा पर्यटनमेव तस्याः शापफलमिष्टत्वेन तेनाङ्गीकृतम्। पश्चात् सा कालकन्या नारदेन ज्ञापितं यवनेश्वरं भयनामानं पतिं वव्रे। वरणप्रकारमेव परोक्तकथासौन्दर्यार्थं लोकरीत्या दर्शयति — त्वां वीरमीप्सितमहं पतित्वेन वृणे, त्वयि कृतः प्राणिनां संकल्पो

(१) वह इतने दिनों तक पाञ्चाल देशके उस नगरमें अपने दूतों द्वारा लाये हुये करको लेकर विषयभोगोंमें मस्त रहता था, स्त्रीके वशीभूत रहनेके कारण इस अवश्यम्भावी भयका उसे पता ही न चला।

(२) बर्हिष्मन्! इन्हीं दिनों कालकी एक कन्या वरकी खोजमें त्रिलोकी में भटकती रही, फिरभी उसे किसीने स्वीकार न किया।

नैव विफलो भवति, अतस्त्वं ममापि संकल्पं पूरय । मत्प्रार्थनाऽनंगीकारे लोके तव निन्दा भविष्यति, इति सूचयन्ती सामान्यतो लोकव्यवहारं दर्शयति- 'द्वाविमावनुशोचन्ति, बालावसदवग्रहौ। यल्लोकशास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति ॥ अथो भजस्व मां भद्र ! भजन्तीं मे दयां कुरु। एतावान् पौरुषो धर्मो यदार्त्ताननुकंपते ॥' (१) (भा० ४ । २७ । २५ – २६) इति । इमौ - द्वौ = पुरुषौ, लोके सज्जनाः, अनुशोचन्ति = अनुशोचनीयतया निन्दन्ति । कौ तौ ? इत्यपेक्षायामाह — यदिति । लोकव्यवहारतः शास्त्रतो वोपादेयत्वेन प्राप्तं यद् = दोयमानं ग्राह्यं यो नेच्छति = न गृह्णाति, एवं तत् = याच्यमानं देयं यो न राति = न ददाति, तौ । एवं तयो र्दानग्रहणप्रतिबन्धको दुराग्रह एवेत्याशयेन विशिनष्टि — असदवग्रहाविति । असन् = मिथ्याभूतः, अवग्रहः = आग्रहो — हठो ययोस्तौ ॥ आग्रहेऽपि हेतुमज्ञानमाह — बालौ = अज्ञौ। यस्मादेवं लोके सज्जनव्यवहारः, अथो = तस्मात्, हे भद्र ! उभयलोकसुखसंपादनतत्परां त्वां भजन्तीं = सेवमानां दीनां काममोहितां त्वामनुवर्तमानां मां त्वं भजस्व = सेवस्व - भार्यात्वेनाङ्गीकुरु। न स्वभोगसिद्धये त्वयि लोकनिन्दाभयमुत्पादयामि, किन्तु प्रार्थये इत्यभिप्रायेणाह — म इति । ममोपरि दयां कुर्विति । एवमपि दयां कुर्वतस्तेऽस्मिंल्लोके यशः, परलोकार्थं धर्मश्च सेत्स्यतीत्यभिप्रायेणाह — एतावानिति । यद्- आर्त्तान् = दुःखितान् अनुकंपते = तानुद्दिश्य कृपां करोति, पौरुषः = पुरुषेणानुष्ठेयः परो धर्मः, एतावानित्यर्थः । एवं भयनामा यवनेश्वरः कालकन्ययोक्तं वचः श्रुत्वा देवानां गुह्यं किञ्चित्कार्यं चिकीर्षुः सस्मित तामभाषत । मया समाधिना तव पति र्विचारितोऽस्ति । अयं प्राणिसमूहः त्वया याच्यमानोऽपि त्वामभद्रामनिष्टकरीं मत्वा नाङ्गीकरोति, अतस्त्वमव्यक्तगतिः सती कर्मनिर्मितं निखिलप्राणिशरीरं बलात्कारेण भुंक्ष्व, एवं सती सर्वोऽपि लाकस्तव पतिः स्यादिति । अतस्त्वं मम यवनानां सेनया सह याहि, तथा चैवं विपुलसहकारे सति तव भोगे कः संदेहः स्यात् ? । प्राणशरीराणि भुक्त्वा च त्वं प्रजानां नाशं करिष्यसि । अयं प्रज्वारसंज्ञको मम भ्राताऽस्ति, त्वं च मम भगिनी भव, इत्थमुभाभ्यां युवाभ्यां द्वारभूताभ्यां सह भयंकरै र्यवनसैनिकैश्च

(१) जो मनुष्य लोक अथवा शास्त्रकी दृष्टिसे देने योग्य वस्तुका दान नहीं करता, और जो शास्त्र दृष्टिसे अधिकारी होकर भी ऐसा दान नहीं लेता, वे दोनों ही दुराग्रही और मूढ़ हैं, अत एव शोचनीय हैं । भद्र ! इस समय मैं आपकी सेवामें उपस्थित हुई हूं, आप मुझे स्वीकार कर अनुगृहीत कीजिये । पुरुषका सबसे बड़ा धर्म दीनों पर दया करना ही है ।

साकमहं प्रजानां नाशं कुर्वन् अलक्षित एव चरिष्यामि, अतो ममापि प्रजानाश इष्ट एव तत्र त्वमपि सहायभूता संमिलिता भव, इति मे मनीषाऽस्ति।

एवं यवनेश्वरभयस्य संभाषणानन्तरं किं जातमित्यपेक्षायामाह–'नारद उवाच — 'सैनिका भयनाम्नो ये बर्हिष्मन्! दिष्टकारिणः। प्रज्वारकालकन्याभ्यां विचेरुरवनीमिमाम्॥ त एकदा तु रभसा पुरञ्जनपुरीं नृप!। रुरुधुर्भौमभोगाढ्यां जरत्पन्नगपालिताम्॥ कालकन्याऽपि बुभुजे पुरञ्जनपुरं बलात्। यया ऽभिभूतः पुरुषः सद्यो निःसारतामियात्॥' (१) (भा० ४।२८।१-२-३) इति। भयनाम्नः — यवनेश्वरस्य। दिष्टकारिणः = आज्ञाकारिणः हे बर्हिष्मन्! इति सम्बोधनेन राजाज्ञाया अनुल्लंघनत्वं तु त्वया ज्ञायत एवेति सूचयति। सैनिकाः योद्धारः। प्रज्वारकालकन्याभ्यां सह प्रजाविनाशार्थं, इमामवनीं विचेरुः = सर्वत्र पर्यटन्ति स्मेत्यर्थः। एकदा = एकस्मिन् समये तु, भौमभोगेन = प्रभूतविषयभोगेन, आढ्यां = संभरितां, पुरञ्जनपुरीं तरसा = वेगेन, बलात् रुरुधुः = आवृतवन्तः इत्यर्थः। कीदृशीं तां? जरत्पन्नगेन = क्षीणबलेन सर्पेण पालिताम्। बहुभिर्गन्धर्वैः सहैकस्य तस्य पन्नगस्य रक्षकस्य युद्धेन क्षीणबलत्वेन तन्निवारणे सामर्थ्याभावात् ते बलात् रुरुधुरिति भावः। कालकन्यापि पुरञ्जनपुरं बुभुजे = स्वाधीनीकृतवतीत्यर्थः। यया, अभिभूतः = यथेष्टभोगादिना तिरस्कृतः, पुरुषः = मानवः सर्वोऽपि यः कोऽपि सद्यो निःसारतां = असमर्थतां, इयात् कालकन्ययोपभुज्यमानां तां सकलां पुरीं सर्वतो दिशं द्वार्भि र्यवनाः प्रविश्य सुभृशं बभंजुः। तस्यां पुर्यां प्रपीड्यमानायां तदभिमानी पुत्रादिमान् पुरञ्जनोऽहंताममतासंकुलः सन् बहुप्रकारान् सन्तापान् अवाप। कालकन्यया समालिङ्गितः सन् स विनष्टश्रीः हृतैश्वर्यो नष्टप्रज्ञश्च बभूव, नष्टप्रज्ञतायां हेतुः – विषयासक्तः विषयविरक्तस्यैश्वर्ये नष्टेऽपि मोहाभावात् न प्रज्ञा नष्टा भवति, परन्तु सरक्तस्य मोहेन प्रज्ञा नष्टा भवत्येव। अत एव स कृपणो दीनो हीनश्च जातः। पुनश्च स स्वपुरीं विशीर्णां वीक्ष्य, पुत्रान् पौत्रान् अमात्याद्यनुचरान् अस्वाधीनान् आदरमकुर्वाणान् प्रतिकूलाँश्चालोक्य त्यक्तसौहृदां स्वभार्याञ्च वीक्ष्य आत्मानं कालकन्यया ग्रस्तं,

---

(१) श्रीनारदजी कहते हैं—राजन्! फिर भयनामक यवनराजके आज्ञाकारी सैनिक, प्रज्वार और कालकन्याके साथ इस पृथ्वी तलपर सर्वत्र विचरने लगे। एक बार उन्होंने बड़े वेगसे सांपसे सुरक्षित और संसारकी सब प्रकारकी सुख-सामग्रीसे सम्पन्न पुरंजनपुरीको घेर लिया। तब, जिसके चंगुलमें फंस कर पुरुष शीघ्र ही निःसार हो जाता है, वह कालकन्या बलात्कारसे उस पुरीकी प्रजाको भोगने लगी।

अरिभिर्गन्धर्वयवनादिभिर्दूषितान् पञ्चालान् देशाँश्च वीक्ष्य, दुरन्तां चिन्तामापन्नः, स कालकन्यादिनिराकरणपूर्वकयथापूर्वस्वपुरीसुस्थतासंपादनस्योपायलक्षणां प्रतिक्रियां न लेभे। तथापि सो विगतरसानपि विषयानभिलषन् पुत्रदारांश्च लालयनपि ऐहिकपारलौकिकसुखसाधनानुष्ठानराहित्येन हेतुना प्रभूतदैन्यसंयुक्तः सन् — 'गन्धर्वयवनाक्रान्तां कालकन्योपमर्दितां। हातुं प्रचक्रमे राजा पुरीमनिकामतः॥ भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता प्रज्वारः प्रत्युपस्थितः। ददाह तां पुरीं कृत्स्नां भ्रातुः प्रियचिकीर्षया॥' (१) (भा० ४। २८। १० - ११) आक्रान्तां = वशीकृतां, उपमर्दितां = भग्नां, अनिकामतः = अनिच्छन्नपि, हातुं = परित्यक्तुं, प्रचक्रमे = उपक्रान्तवान्। अग्रजः = ज्येष्ठः, प्रियचिकीर्षया = प्रियं कार्यं पुरीविनाशं कर्तुमिच्छयेत्यर्थः। प्रत्युपस्थितः = पुरीं प्रत्यागतः। तस्यां पुर्यां संदह्यमानायां भार्यापुत्रभृत्यवर्गपुरप्राकारादिसहितः पुरञ्जन उपातप्यत। कालकन्यया पुर्यां ग्रस्तायां सत्यां यवनोपरुद्धायतनः प्रज्वारसंसृष्टः पुरपालः पंचशिरा नागोऽप्यनुत्तणमतप्यत। अत एव तस्य बहुकष्टेन हेतुना बहुप्रकम्पो जातः, अतस्तत्र स्थितोऽपि तां पुरीं रक्षितुं स पुरपालो न समर्थो जातः। अत एव यथाऽग्निना दह्यमानाद् वृक्षकोटरात्सर्पो निर्गन्तुमिच्छति, तथैव स ततो बहिर्गन्तुमैच्छत्। 'शिथिलावयवो यर्हि गन्धर्वैर्हृतपौरुषः। यवनैररिभी राजन्! उपरुद्धो रुरोद ह॥' (२) (भा० ४। २८। १५) यर्हि = यदा शिथिला अवयवाः करचरणादयो यस्य सः, तत्र हेतुः गन्धर्वैर्हृतं पौरुषं = सामर्थ्यं यस्य सः, अरिभिः = शत्रुभिः उपरुद्धः, अतो झटिति बहिरदि निर्गन्तुमशक्तः सन् तदा पुरपालको नागो रुरोदैव = केवलं वेगेन घुरघुरध्वनिं चकार न तत्र किञ्चित्पराक्रमं कर्तुं शशाक, हकारोऽवधारणे। मरणसमये प्रेयसीभार्यापुत्रपौत्रदुहितृस्नुषाजामात्रादीनां वियोगे समुपस्थिते सति देहेन्द्रियादावहमिति गृहभार्यादौ ममेति मिथ्याभावं दृढमङ्गीकृत्य स कुमतिः पुरंजनस्तेषामेव प्रभूतचिन्तालक्षणं ध्यानमेव चकार अथ तस्य प्रभूतां चिन्तामेव दर्शयति – 'लोकान्तरं गतवति, मय्यनाथा कुटुम्बिनी।

(१) ऐसी अवस्थामें उससे बिछुड़नेकी इच्छा न होने पर भी उसे उस पुरी को छोड़नेके लिये बाध्य होना पड़ा; क्योंकि - उसे गन्धर्व और यवनोंने घेर रक्खा था, तथा कालकन्याने कुचल दिया था। इतनेमें ही यवनराज भयके बड़े भाई-प्रज्वारने अपने भाईका प्रिय करनेके लिये उस सारी पुरीमें आग लगा दी।

(२) उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग ढीले पड़ गये थे, तथा गन्धर्वोंने उसकी सारी शक्ति नष्ट कर दी थी; अतः जब यवनशत्रुओंने उसे जाते देखकर रोक दिया, तब वह दुःखी होकर रोने लगा।

वर्तिष्यते कथं त्वेषा वालकाननुशोचती ॥ न मय्यनाशिते भुङ्क्ते, नास्नाते स्नाति मत्परा । मयि रुष्टे सुसंत्रस्ता, भर्त्सिते यतवाग्भयात् ॥ प्रबोधयति माऽविज्ञं, व्युषिते शोककर्शिता । वर्त्मैतद् गृहमेधीयं, वीरसूरपि नेष्यति ॥ कथं नु दारका दीना दारकी र्वा परायणाः । वर्तिष्यन्ते मयि गते भिन्ननाव इवोदधौ ॥' (१) (भा० ४ । २८ । १८ - १९ - २० - २१) इति । मयि = स्वामिनि, एषा मम प्रेयसी भार्या, अनाथा = मया नाथेन विरहिता, कुटुम्बिनी = पुत्रादिकुटुम्बवती, कथं तु वर्तिष्यते ? । तु शब्देन तद्वर्तनस्य सभवितत्वं सूचयति । एतदेव विवृणोति — नेति द्वाभ्यां । अनाशिते = अभोजिते स्वयं न भुङ्क्ते = न भोजनं करोति । तथा मयि अस्नाते, स्वयं न स्नाति । मयि रुष्टे = कुपिते सति स्वयं सुत्रस्ता = भयभीता भवति । मया भर्त्सिते = भर्त्सने कृते सति भयात् हेतोः यतवाक् = गृहीतमौना भवति । तत्रैवंभावे हेतुः मत्परा = अहमेव तत्स्वामो परः = केवलः आश्रयो यस्याः सा तथा । मां, अविज्ञं = कदाचिद्विस्मृतव्यवहारं प्रबोधयति । व्युषिते = देशान्तरं गते सति, मद्वियोगेन शोकेन कर्शिता भवति । सैवंभूता मत्परायणा, एतद् गृहमेधीयं वर्त्म = गृहस्थमार्गं, वीरसूः = पुत्रादिसन्तानवत्यपि, किं नेष्यति = अनुवर्तिष्यति ? कि वा मद्वियोगेन मरिष्यत्येव । अपीति संभावनायामुभयमपि संभवतीति भावः । दारकाः = पुत्राः, दारकीः = दारक्यः—पुत्र्यः, परायणाः = पराश्रयाः, अत एव दीनाः = दैन्योपेताः, कथं नु वर्तिष्यन्ते ? । तेषां वर्तनं तु न संभवतीति दृष्टान्तेनाह — भिन्नेति । उदधौ = समुद्रे, भिन्ना = नष्टा नौ र्येषां तेषां स्थिति र्यथा न संभवति तथैतेषा-

(१) हाय ! मेरी भार्या तो बहुत घर-गृहस्थी वाली है, जब मैं परलोकको चला जाऊंगा, तब यह असहाय होकर किस प्रकार अपना निर्वाह करेगी ? इसे इन बाल-बच्चोंकी चिन्ता ही खा जायेगी । यह मेरे भोजन किये विना भोजन नहीं करती थी, और स्नान किये विना स्नान नहीं करती थी, सदा मेरी ही सेवामें तत्पर रहती थी, मैं कभी रूठ जाता था तो यह बड़ी भयभीत हो जाती थी और झिड़कने लगता तो डरके मारे चुप रह जाती थी । मुझसे कोई भूल हो जाती तो यह मुझे सचेत कर देती थी, मुझमें इसका इतना अधिक स्नेह है कि यदि मैं कभी परदेश चला जाता था, तो यह विरहव्यथासे सूखकर कांटा हो जाती थी, यों तो यह वीरमाता है, तो भी मेरे पीछे क्या यह गृहस्थाश्रमका व्यवहार चला सकेगी ? मेरे चले जाने पर एकमात्र मेरे ही सहारे रहने वाले ये पुत्र और पुत्री भी कैसे जीवन धारण करेंगे ? ये तो बीच समुद्रमें नाव टूट जानेसे व्याकुल हुये यात्रियोंके समान बिल बिलाने लगेंगे ।

प्पीति भावः ।

एवं कृपणया बुद्ध्या शोचन्तमतदर्हणं । ग्रहीतुं कृतधीरेनं भयनामाऽभ्यपद्यत ॥ पशुवद् यवनैरेष नीयमानः स्वकं क्षयं । अन्वद्रवन्ननुपथाः शोचन्तो भृशमातुराः ॥ पुरीं विहायोपगत उपरुद्धो भुजंगमः । यदा तमेवानु पुरी विशीर्णा प्रकृतिं गता ॥ विकृष्यमाणः प्रसभं यवनेन बलीयसा । नाविन्दत्तमसाऽऽविष्टः सखायं सुहृदं पुरः ॥' (१) (भा० ४ । २८ । २२ - २३ - २४ - २५) एवं कृपणया = मोहितया अतदर्हणं = वस्तुतः सच्चिदानन्दरूपतया शोकानर्हं, एवं पुरञ्जनं ग्रहीतुं कृता धीर्येन, स भयनामा यवनेश्वरः, अभ्यपद्यत = आजगाम । यदा यवनैः पशुवद् पाशैर्बध्वा एष पुरञ्जनः, स्वकं क्षयं = स्थानं प्रति नीयमानो जातस्तदा येऽस्यानुपथाः = अनुसारिणोऽनुजीविनो भृत्या नागादयस्तेऽपि भृशमातुराः = अत्यन्तव्याकुलाः सन्तः शोचन्तः = शोकं कुर्वाणास्तमन्वद्रवन् = अन्वगच्छन् । प्रथमं यवनैरुपरुद्धः पुरीपालको भुजंगमः, यदैव पुरीं विहाय, उपगतः = बहिर्निगतस्तदा तमेवानु = तत्पश्चादेव, सा पुरी विशीर्णा = विशकलिता सती प्रकृतिं गता = स्वकारणे भूमौ लीना जातेत्यर्थः । बलीयसा = प्रबलेन, प्रसभं = बलात्कारेण, विकृष्यमाणोऽपि पुरञ्जनः, पुरः = पूर्वं, सुहृदं = हितकर्तारं, सखायमलक्षिततया सह वर्तमानमपि नाविन्दत् = न सस्मार, यदि तदापि स स्मृतः स्यात्तदाऽऽविर्भूय ततस्तं विमोचयेदितिभावः । अस्मरणे हेतुमाह – तमसा = अज्ञानेन, आविष्टः = व्याप्तः । अनेन दयारहितेन पुरञ्जनेन प्राक् यज्ञे ये पशवः स्वकामनावशान्मारितास्ते, अनेनोत्पादितां स्वपीडां स्मरन्तः क्रुद्धाः = नानाभयङ्करवेषधारिणः सन्तो लोहमयैः कुठारैस्तं मार्गे चिच्छिदुः । एवमनन्तवर्षपर्यन्तं विविधां पीडामनुभूयातिमहति तमसि निमग्नः सन् स पुरञ्जनः प्राक् प्रमदासंगेन दूषिततया विदर्भाधिपतेः राज-

(१) यद्यपि ज्ञानदृष्टिसे उसे शोक करना उचित न था, फिर भी अज्ञानवश राजा पुरंजन इस प्रकार दीनबुद्धिसे अपने स्त्री–पुत्रादिके लिये शोकाकुल हो रहा था, इसी समय उसे पकड़नेके लिये वहां भयनामक यवनराज आ धमका। जब यवन लोग उसे पशुके समान बांधकर अपने स्थानको ले चले, तब उसके अनुचरगण अत्यन्त आतुर और शोकाकुल होकर उसके साथ हो लिये। यवनोंद्वारा रोका हुआ सर्प भी उस पुरीको छोड़कर इन सबके साथ ही चल दिया, उसके जाते ही सारा नगर छिन्न - भिन्न होकर अपने कारणोंमें लीन होगया। इस प्रकार महाबली यवनराजके बलपूर्वक खींचने पर भी राजा पुरंजनने अज्ञान वश अपने हितैषी एवं पुराने मित्र अविज्ञातका स्मरण नहीं किया।

सिंहस्य गृहे 'तामेव मनसा गृह्णान् बभूव प्रमदोत्तमा ।' (भा० ४।२८।२८) तामेव प्रेयसीमतिसुन्दरीं पुरञ्जनीं भार्यां मनसा गृह्णान् = परमसुखरूपेण ध्यायन् स प्राक् पुरुषोऽपि सततप्रमदाध्यानात् 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥' (गी० ८ । ६) इति गीतोक्तन्यायेन प्रमदोत्तमा = सर्वोत्तमा सुन्दरी नारी बभूव । तां विदर्भदेशजां पाण्ड्यदेशाधिपति र्मलयध्वजो राजा तस्याः स्वयंवरे स्वपराक्रमं प्रदर्श्यान्यान् राजन्यान् निर्जित्य विवाहितवान् । तस्यां वैदर्भ्यां स मलयध्वजोऽसितेक्षणामेकां कन्यां, कनिष्ठान् सप्तसुतांश्च जनयांचक्रे । तेषां पुत्राणामेकैकस्य पुत्रस्य भूयांसः पुत्रा अभवन् । पश्चात् स राजर्षि र्मलयध्वजः स्वशासितां भूमिं तनयेभ्यो विभज्य श्रीकृष्णमारिराधयिषुः सन् कुलाचलपर्वतं पुण्यक्षेत्रं जगाम । पतिव्रता मदिरेक्षणा सा वैदर्भ्यपि सर्वान् सुतान् भोगांश्च हित्वा 'ज्योत्स्नेव रजनीकरं चन्द्रमसं' तं प्रियपतिं पाण्ड्येशमन्वधावत ।

तत्र सा स्वपत्या राज्ञा सह तपोऽतप्यत । भक्तितपःप्रभावेण तस्य ज्ञानमभूत्, तेन च विमोक्षः प्रादुर्भूतः । तस्य ज्ञाननिष्ठाया विमोक्षस्य च वर्णनमितः प्राक् विहितमस्माभिः । यदा सा समाधिनिष्ठस्य पत्युः पादमर्चती सती तस्मिन् ऊष्माणं नापश्यत्, तदा यूथभ्रष्टा मृगीव, संविग्नहृदयाऽऽसीत् । विपिने साऽऽत्मानं पतिहीनमत एव दीनमनुभूय शोकं प्रभूतं कुर्वाणा व्याकुलचित्ताऽश्रुभिः स्वस्तनावासिच्य सुस्वरं प्ररुरोद । हे राजर्षे ! इमां पृथिवीं दुष्टेभ्यः पातु त्वं सद्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ, इत्यादिवचांसि शोकावेगेन ब्रुवन्ती भूयो-भूयो विलपन्ती सा प्राणहीनस्य स्वभर्त्तुः पादयोः पतिता रुदन्ती च सती अश्रुप्रवाहं मुमोच । तदा काष्ठचितिं कृत्वा, तस्यां पत्युः कलेवरं निधाय, अग्निना तामादीप्य च स्वयमपि प्रदीप्तचिति प्रवेशेन मरणे मनो दधे । तस्मिन् समये तत्र स्थले च कश्चित् पूर्वतरः सखाऽऽत्मज्ञानवान् ब्राह्मणस्वरूपधरः तां रुदतीं मनोहरेण प्रियवाक्येन सान्त्वयन् आह-'का त्वं ? कस्यासि ? को वाऽयं शयानो यस्य शोचसि । जानासि किं सखायं मां येनाग्रे विचचर्थ ह ॥ अपि स्मरसि चात्मानमविज्ञातसखं सखे ! । हित्वा मां पदमन्विच्छन् भौमभोगरतो गतः ॥ हंसावहं च त्वं चार्य ! सखायौ मानसायनौ । अभूतामन्तरा वौकः सहस्रपरिवत्सरान् ॥ स त्वं विहाय मां बन्धो ! गतो ग्राम्यमतिर्महीं । विचरन्पदमद्राक्षीः कयाचिन्निर्मितं स्त्रिया ॥' (१) (भा० ४।२८।५२-५३-५४-५५)

---

(१) ब्राह्मणने कहा — तू कौन है ? किसकी पुत्री है ? और जिसके लिये तू शोक कर रही है, वह यह सोया हुआ पुरुष कौन है ? क्या तू मुझे नहीं

इति । का त्वं नामतो गोत्रतो लिङ्गतश्च, तव परमार्थस्वरूपे एतत् त्रयमेव न सम्भवति, यद्वा का = किं जातिविशिष्टाऽसि, न त्वयि किमपि न जातिवैशिष्टयमस्ति, असङ्गत्वात् । कस्यासि पुत्री भार्या वा, न कस्यापि, यद्वा कस्यासि = कं पुरुषविशेषमाश्रित्य तिष्ठसि, न कमपि, यतस्तव चैतन्यानन्दस्वरूपेण सर्वस्मिन्ननुस्यूतत्वान्न कमपि विशिष्टं शक्यते वक्तुम् । को वाऽयं शयानः, यस्य शोचसि, यस्येति द्वितीयार्थे षष्ठी, यं शोचसि, यदीयाऽहमिति मत्वा वर्तसे, अयं शयानः–शरीरलक्षणः पदार्थः कः पाञ्चभौतिकत्वात्तव परमार्थसच्चित्स्वरूपस्यानेन न कोऽपि वास्तविकः सम्बन्धोऽस्ति । अग्रे = सृष्टेः पूर्वं, येन = मया सख्या सह त्वं विचचर्थ = मयि स्थितत्वेन सख्यसुखमनुभूतवानसि, तं मां सखायं = समानख्यानवन्तं किं न जानासि ? अज्ञानादेव तव सर्वं विपरीतज्ञानं जातमिति खेदं द्योतयति हेति । ननु - नाहमावयोः सख्यं सहचरत्वं च जानामीति चेत्तत्राह – यद्यपि मां न जानासि, तथाप्यात्मानं त्वां, अविज्ञातसखं = अविज्ञातः कश्चिन्मे सखा आसीदित्येवं किं स्मरसि ? । सख इति पुंस्त्वनिर्देशः प्राक्तनपुंस्त्वस्मरणाय । यद्वा सख इति पुंस्त्वं जीवाभिप्रायेण । यतस्त्वं भौमभोगे रतः = आसक्तः, पदं = भोगस्थानं पुरमन्विच्छन् = अन्वेषयन् , मां सखायं हित्वा गतः, तस्मादेवायं तवानर्थो जात इति शेषः । तर्हि त्वमेव सर्वं वृत्तं कथय, सख्यञ्च स्मारयेत्यभिप्रायमालक्ष्य स्वयमेव कथयति — हंसाविति । हे आर्य ! = श्रेष्ठ ! अहं च त्वं च द्वावपि हंसौ = सुपर्णौ पक्षिणौ, सखायौ-सयुजौ, मानसायनौ = मानस-सरसि बिम्बप्रतिबिम्बभावेन कृतनिवासौ स्वो यतस्ततः पूर्वं सहस्रपरिवत्सरान् = महाप्रलयो यावत् , तावत्कालपर्यन्तं, अन्तरा = विनैव, वा शब्द एवार्थे । ओकः = गृहं, विनैव, अभूतामित्यन्वयः । भोगस्थानस्य तदानीं विलोयमानत्वात् । 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।' (ऋ० १ । १६४ । २०) इति श्रुतेः । स हंस एव त्वं,ग्राम्ये = तुच्छविषयसुखे मतिर्यस्य स तथाभूतः सन् , मां = सुहृदं हितसुखकरं विहाय, महीं गतः, तत्र, विचरन् कयाचित् स्त्रिया-वञ्चनाप्रवीणया

जानती ? मैं वही तेरा मित्र हूं, जिसके साथ तू पहले विचरा करती थी । सखे ! क्या तुम्हें अपनी याद आती है, किसी समय में तुम्हारा अविज्ञात नामका सखा था । तुम पृथ्वीके भोग भोगनेके लिये निवास स्थानकी खोजमें मुझे छोड़कर चले गये थे । आर्य ! पहले मैं और तुम एक दूसरेके मित्र एवं मानस निवासी हंस थे । हम दोनों सहस्रों वर्षों तक विना किसी निवास स्थानके ही रहे थे । किन्तु मित्र ! तुम विषय-भोगोंकी इच्छासे मुझे छोड़कर यहां पृथ्वी पर चले आये । यहां घूमते-घूमते तुमने एक स्त्रीका रचा हुआ स्थान देखा ।

निर्मितं पदं = पुरं, त्वं अद्राक्षीः = दृष्टवानसि । सत्यं ब्रवीमि, नात्र काचन प्रतारणाऽस्ति इति द्योतयन् सम्बोधयति – हे बन्धो ! इति । तत्पुरमेव वर्णयति – 'पञ्चारामं नवद्वारमेकपालं त्रिकोष्ठकम् । षट्कुलं पञ्चविपणं पंचप्रकृतिस्त्रीधवम् ॥' (१) (भा० ४ । २८ । ५६) इति । पञ्च आरामाः = उपवनानि यस्मिंस्तत्, नव द्वाराणि यस्मिंस्तत्, एकः पालः = रक्षको यस्मिंस्तत्, त्रीणि कोष्ठानि = प्राकारा यस्मिंस्तत्, षट्कुलानि = अभीष्टविषयप्रापका वणिजो यस्मिंस्तत्, पंच विपणाः = हट्टा यस्मिंस्तत्, पञ्चप्रकृतिः = उपादानकारणं यस्मिंस्तत्। स्त्री धवः=पतिः स्वामिनी यस्मिंस्तत् । एवं प्राचीनबर्हिवत् तस्य पुरञ्जनस्य स्त्रीशरीरं प्राप्तस्यापि बहिर्मुखत्वात्साक्षादध्यात्मज्ञानं दुर्घटमालक्ष्य नारदवद् भगवतापि पारोक्ष्येणैव पुरवर्णनं कृतमिति विज्ञेयम् । एवं पारोक्ष्येणोक्तसामर्थ्यं पुरं, तस्य मनस्यनारूढमालक्ष्य स्वयमेव तद्व्याचष्टे – 'पंचेन्द्रियार्था आरामा द्वारः प्राणा नव प्रभो ! । तेजोऽबन्नानि कोष्ठानि, कुलमिन्द्रियसंग्रहः । विपणस्तु क्रियाशक्तिर्भूतप्रकृतिरव्यया । शक्त्यधीशः पुमानत्र प्रविष्टो नावबुध्यते ॥ तस्मिंस्त्वं रामया स्पृष्टो रममाणोऽश्रुतस्मृतिः । तत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं प्रभो ! ॥' (२) (भा० ४ । २८ । ५७-५८-५९) पंचेन्द्रियाणां चक्षुरादीनां अर्थाः = रूपरसादयो विषया आरामा ज्ञेयाः । नव प्राणाः = इन्द्रियच्छिद्राणि द्वारो ज्ञेयाः, एकः प्राणः पालः = पालकः इत्यपि ज्ञेयं, एतत्स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम् । तेजोऽबन्नानि = पृथिव्यप्तेजांसि, कोष्ठानि ज्ञेयानि, इन्द्रियाणां संग्रहः = पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, एकं मन इति षट् कुलं ज्ञेयम् । क्रियासु शक्तिर्यस्य स कर्मेन्द्रियवर्गो विपणो ज्ञेयः । पञ्च महाभूतान्येव प्रकृतिः = उपादानकारणं

(१) उसमें पांच बगीचे, नौ दरवाजे, एक द्वारपाल, तीन परकोटे, छः वैश्यकुल, और पांच बाजार थे, वह पांच उपादान कारणोंसे बना हुआ था, और उसकी स्वामिनी एक स्त्री थी ।

(२) महाराज ! इन्द्रियोंके पांच विषय उसके बगीचे थे, नौ इन्द्रिय-छिद्र द्वार थे; जल, तेज और अन्न - तीन परकोटे थे; मन और पांच ज्ञानेन्द्रियां—छः वैश्यकुल थे, क्रियाशक्ति रूप कर्मेन्द्रियां ही बाजार थीं, पांच भूत ही उसके कभी क्षीण न होने वाले उपादान – कारण थे, और बुद्धिशक्ति ही उसकी स्वामिनी थी, यह ऐसा नगर था, उसमें प्रवेश करनेपर पुरुष ज्ञान शून्य हो जाता है – अपने स्वरूपको भूल जाता है । भाई ! उस नगरमें उसकी स्वामिनीके फंदेमें पड़ कर उसके साथ विहार करते - करते तुम भी अपने स्वरूपको भूल गये और उसीके सङ्ग तुम्हारी यह दुर्दशा हुई है ।

ज्ञेयम् । तस्य शरीरनाशेऽप्याप्रलय नाशाभावादव्ययत्वम् । शक्तिः = माया-कार्यभूताऽज्ञानमिथ्याज्ञानविशिष्टा बुद्धिरेवाधीशा यस्य स पुमानत्र शरीर-लक्षणे पुरे प्रविष्टाऽहंताममताऽध्यासेन मुह्यति, अत एव स आत्मानं नाव-बुद्ध्येत = न जानाति । तत्पदं स्त्रीस्वामिकमत एव तत्र प्रविष्टः पुमानपि स्त्रीस्वामिकस्तद्वशो भवेदित्यत्र किमु वाच्यम् । तस्मिन् शरीरलक्षणे पुरे त्वं प्रविष्टः, रामया = राजसतामसबुद्धिलक्षणया स्त्रिया स्पृष्टः = मोहितोऽभि-भूतो वा, तया रममाणः = तस्यां कृताऽऽत्माध्यासः, अत एव न विद्यते श्रुते सर्ववेदेतिहासपुराणादिशास्त्रवर्णिते स्वस्य ब्रह्मत्वे स्मृति र्यस्य सोऽश्रुतिस्मृतिः । तत्संगात् = तादृशीबुद्धिसंगाद् ईदृशीं = तवायोग्यां पापीयसीं = दुःख-शोकबहुलां दशां प्राप्तोऽसीत्यन्वयः । इदानीमपि त्वं चेतनत्वात् विवेकेन तां जडां रामां त्यक्त्वा सुखीभवितुं समर्थोऽसीति सूचयन् सम्बोधयति हे प्रभो ! इति । यद्वा त्वं साक्षात् सच्चिदानन्दः प्रभुरपि सङ्गदोषादेवात्मानमप्रभुं जाना-सीति सम्बोधनस्याभिप्रायः ।

अस्मिन् प्रकरणे एतावदेव प्रकृतोपयोगि विवक्षितम् । पुरञ्जनस्य स्त्रीध्यानेन स्त्रीत्वप्राप्तावपि पतिव्रताध्यानेन प्राक्तनशुभादृष्टेन च धार्मिकस्य विदर्भाधिपते गृहे प्रशस्तं जन्माभूत्, धार्मिकेन भागवतेन मलयध्वजेन च सह तस्य संगो जातः । ततो भक्तिस्ततश्चित्तशुद्धिः ततो वैराग्यं, ततस्तमेव भर्तृरूपं गुरुं पातिव्रत्यधर्मेण भजतस्तस्यैतादृशो भगवत्प्रसादो लब्धः, स च ज्ञानं मोक्षञ्च जनिष्यत्येव ।

पुरञ्जनो ब्रूते – सत्यं, मम कापि स्वस्वरूपविषयिणी स्मृति र्नास्ति, अतस्त्वां दयानिधानं भगवन्तं शरणमागतोऽस्मि, त्वं कृपया मह्यं सख्ये तव शिष्याय तत्त्वमुपदिश, येन तस्य ध्रुवां स्मृतिं लब्ध्वा, मिथ्याचिज्जडग्रन्थिं च भित्वा दुःखसागरात्संसाराद्विमुक्तो भवेयमिति तदभिप्रायमालक्ष्य भगवान् 'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं' (भा० १ । २ । ११) इति श्रीमद्भागवतस्योपक्रमे वर्णितं अद्वैतज्ञानलक्षणं तत्त्वमुपदिशति - मुमुक्षूणां भगवद्भक्तानां हिताय —

न त्वं विदर्भदुहिता, नायं वीरः सुहृत्तव ।
न पतिस्त्वं पुरंजन्याः, रुद्धो नवमुखे यया ॥
माया ह्येषा मया सृष्टा, यत्पुमांसं स्त्रियं सतीम् ।
मन्यसे नोभयं यद्वै, हंसौ पश्यावयोर्गतिम् ॥
अहं भवान्न चान्यस्त्वं, त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः ।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि ॥

यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्श - चक्षुषोः ।
द्विधाभूतमवेक्षेत तथैवान्तरमावयोः ॥
एवं स मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः ।
स्वस्थस्तद् व्यभिचारेण नष्टामाप पुनः स्मृतिम् ॥
बर्हिष्मन् ! एतदध्यात्मं, पारोक्ष्येण प्रदर्शितम् ।
यत्परोक्षप्रियोदेवो भगवान् विश्वभावनः ॥ (१)

(भा० ४। २८ । ६०-६१-६२-६३-६४-६५)

त्वं विदर्भस्य न दुहिता = नापत्यं-पुत्री, अयं = निश्चेष्टः सन् शयानो वीरोऽपि मलयध्वजो न तव सुहृत् = हितकरः पतिः । किन्तु अहमेवैतद्रूपेण त्वद्गुरुर्भूत्वा स्वभक्तिमुपदिश्य सख्यनुरूपं कल्याणकरोपदेशलक्षणं कृत्यं करोमि । यया नवमुखे पुरे त्वं रुद्धस्तस्याः पुरञ्जन्यास्त्वं पतिरपि न भवसि । अर्थात् त्वन्तु एतेभ्यो दुहितृत्वपत्नित्वपतित्वादिमिथ्याऽऽरोपितभावेभ्यो विलक्षणः सच्चिदानन्दरूपः परात्मैवासीति तस्य निगूढाभिप्रायः । ननु – कथं तर्हि

---

(१) देखो । तुम न तो विदर्भराजकी पुत्री ही हो, और न यह वीर मलयध्वज तुम्हारा पति ही । जिसने तुम्हें नौ द्वारोंके नगरमें बन्द किया था, उस पुरञ्जनीके पति भी तुम नहीं हो । तुम पहले जन्ममें अपनेको पुरुष समझते थे, और अब स्त्री मानते हो—यह सब मेरी ही फैलायी हुई माया है, वास्तवमें तुम न पुरुष हो, न स्त्री । हम दोनों तो हंस - आत्मा हैं । हमारा जो वास्तविक - अद्वय ब्रह्म स्वरूप है, उसका तुम अनुभव करो । मित्र ! जो मैं ईश्वर हूं, वही तुम जीव हो, तुम मुझसे भिन्न नहीं हो और तुम विचार पूर्वक देखो, मैं भी वही हूं, जो तुम हो। ज्ञानी पुरुष हम दोनोंमें कभी थोड़ासा भी अन्तर - भेद नहीं देखते । जैसे एक पुरुष अपने शरीरकी परछाईंको शीशेमें और किसी व्यक्तिके नेत्रमें भिन्न-भिन्न रूपसे देखता है वैसे ही— एक आत्मा, कारण और कार्यकी उपाधिके भेदसे अपनेको ईश्वर और जीवके रूपमें दो प्रकारसे देख रहा है । इस प्रकार जब हंस ईश्वरने उसे सावधान किया, तब वह मानसरोवरका हंस–जीव अपने स्वरूपमें स्थित हो गया, और उसे अपने मित्रके बिछोहसे भूला हुआ आत्मज्ञान फिर प्राप्त हो गया । प्राचीनबर्हि ! मैंने तुम्हें परोक्षरूपसे यह आत्मज्ञानका दिग्दर्शन कराया है; क्योंकि – जगत्कर्ता जगदीश्वरको परोक्ष वर्णन ही अधिक प्रिय है ।

मे तथा तथा प्रतीतिरित्याशंक्याह – यत्पूर्वजन्मनि त्वमात्मानं पुमांसं = पुरुषं, अमन्यथाः, तथेदानीं सतीं = श्रेष्ठां स्त्रियं त्वमात्मानं यन्मन्यसे, सैषा माया = भ्रान्तिलक्षणा, मया = अधिष्ठानेनाज्ञातब्रह्मणा सृष्टा = निर्मिता । यत उभयमपि तत् शुद्धे चिदात्मनि वस्तुतो नास्ति, तत्राविद्याप्रयोजितेन स्त्रीपुरुष-शरीराध्यासेनैव तथा व्यवहारात् । यत् = यस्मात् . वै = निश्चयेन, आवां हंसौ = शुद्धौ सच्चिदानन्दलक्षणौ स्तः, अतः, आवयोर्वक्ष्यमाणां गतिं = भेदरहितमद्वयब्रह्मस्वरूपं त्वं पश्य = विचारय-अनुसंधत्स्वेत्यथः । तत्र तत्त्वम-स्यादिश्रौतमहावाक्योक्तं – 'सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणं' (भा० १२ । १३ । १२) 'अखिलश्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपं' (भा० १ । २ । ३) इति निखिलोपनिषत्सारभूतश्रीमद्भागवतस्य प्रधानलक्षणतयोपदिष्टं ब्रह्मात्मैक्यमु-पदिशति-अहमिति । अहं = परमात्मा ब्रह्मैव, भवान् . एवं तत्त्वं पदार्थयोः सच्चिदानन्दस्वरूपेणैक्यमनेन स्पष्टं वर्णितम् । तथा च त्वया स्वाविद्यया कर्तृत्वभोक्तृत्वदुःखसुखादिमनोधर्माः स्वस्मिन्नारोपिताः सन्ति, अत एव त्वयि ते संसारधर्माः मिथ्यैव प्रतिभासन्ते, परमार्थतस्त्वयि न सन्तीति तत्पदार्थपरमा-त्मना सह जीवात्मनोऽभेदकथनेन संसारित्वं निराकृतम् । उपचारं वारयति-नचान्यस्त्वम् । मत्तः परमात्मनोऽद्वयब्रह्मणो न पृथगसि किन्त्वभिन्न एवासि । अत्र पुत्रादिष्विवौपचारिकं गौणमैक्यं नावयोः किन्तु मुख्यमेव पारमार्थिक-मैक्यं मन्तव्यम् । अतस्त्वमेवाहम् . यः परमार्थतस्त्वमसि, सोऽहमस्मि, अनेन त्वंपदार्थजीवात्मना सह परमात्मनोऽभेदकथनेन स्वपारोक्ष्यं निराकृतम् । अयं तत्त्वंपदार्थयोः परस्पराभेदबोधको व्यतिहारोपदेशः श्रुतिस्मृतिब्रह्मसूत्रादिषु प्रसिद्धोऽत्र स्पष्टतयाऽभिवर्णित इति त्वं विचक्ष्व = श्रद्धयैकाग्र्येण चानुसंध-त्स्वेत्यर्थः । भो सखे ! इति सम्बोधनं तत्र दृढविश्वासोत्पादनाय । अस्मिन् अभेदोपदेशे मनागपि संशयो न कर्तव्यः । 'सत्यं, ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे' (गी० १८ । ६५) इति गीतोपदेशवत्, अयमप्युपदेशो मृषा प्रशंसालक्षणो नार्थवादोऽस्ति । सत्यं अद्वयब्रह्मतत्त्वं यथार्थमेवाहमुपदिशामि, प्रियस्य सख्यु-र्मिथ्यावादेन प्रतारणा हितचिन्तकेन सख्या न क्वचिदपि क्रियत इति भावः । एव व्यतिहारोपदेशेनावगम्यमानेऽभेददर्शने फलसाधनयो र्भ्रान्तिरहितानां तत्त्वदर्शिनां शिष्टानां सदाचारलक्षणं प्रमाणमाह – नेति । यतो वस्तुतस्तत्त्वं-पदार्थलक्ष्ययोर्भेदो नास्त्यतः कवयः = तत्त्वदर्शिनो मेधाविनः, नौ = आवयोः जीवेश्वरस्वरूपयोः, मनाक् = ईषदपि, छिद्रं = अन्तरं-भेदं, जातु = कदा-चिदपि न पश्यन्तीत्यन्वयः ।

ननु – कथं तर्ह्यावयोरज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिधर्मभेदप्रतीतिस्तत्राह – यथेति । यथा पुरुषः = मानव एकमेवात्मानं = स्वदेहं, आदर्शे = निर्मले दर्पणे,

महान्तं स्थिरं तेजस्विनं, परस्य = अन्यस्य चक्षुषि च ततो विपरीतं समलमल्पं चलं तुच्छं निस्तेजस्कं, एवं द्विधाभूतं = द्विप्रकारकं – अवेक्षेत = अवलोकयति – पश्यति, तथैवावयोरपि = मम तव चापि विद्याकृतं सर्वज्ञत्वादि, अविद्याकृतं चाज्ञत्वादि, अन्तरं = भेदः, न स्वरूपेण वस्तुतो भेदोऽस्ति । दर्पणस्योपाधे नैर्मल्यमहत्त्वादिधर्मभेदात्, चक्षुष उपाधेरल्पत्वसमलत्वादिधर्मभेदाच्च तत्र तत्र प्रतिबिम्बितस्य देहस्य यथा वैलक्षण्यं प्रतीयते, तथापि तन्मूलभूतस्य बिम्बदेहस्य नास्ति वैलक्षण्यं, तत्कृतो भेदोऽपि तत्र नोपलभ्यते, तथैव विद्याविद्योपाधिभेदादेव तत्रैकस्मिन् चिदात्मनि सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वादिभेदप्रतीतिः, उपाधिद्वयस्य प्रतिषेधे संजाते तु नास्ति तस्मिन् प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मस्वरूपे भेदस्य लवलेशोऽपि । तदुक्तमेकादशस्कन्धेऽपि–'योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो, विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ।' (भा० ११ । ११ । ७) इति । अत्र मायायाः विशुद्धसत्त्वप्राचुर्यमेव तस्येश्वरस्य विद्यामयत्वम् । 'सत्त्वात्सजायते ज्ञानम् ।' (गी० १४ । १७) इति गीतोक्तेः । इतिहासमुपसंहरति – एवमिति । एवं = उक्तप्रकारेण, यः पूर्वं पुरंजनत्वेन, संप्रति वैदर्भीत्वेन चोक्तः स मानसः = मानससरोनिवासी हंसः, हंसेन = प्राक् अविज्ञातेन सख्या परमेश्वरेण प्रतिबोधितः, अतः स्वस्थः = पतिवियोगजनितं शोकं विहाय सावधानचित्तेन तदैक्योपदेशानुसंधाननिष्ठः स्वात्मन्यखण्डैकरसे स्थितश्च सन् तद्व्यभिचारेण = तेन सख्या सह, पूर्वं जातेन वैमुख्येन, तेन च जातया विषयासक्तबुद्ध्या च नष्टां स्वात्मनः स्मृतिं = 'अहं ब्रह्मास्मीति' स्वस्वरूपज्ञानं आप = भगवत्प्रसादात्पुनः प्राप्तवान् । कथामात्रमेतदिति बुद्धिं वारयति – बर्हिष्मन्निति । पारोक्ष्येण = राजकथामिषेण, एतत् अध्यात्मं = शरीरादिविवेकेनात्मनः पारमार्थिकोऽद्वयब्रह्मभावः प्रदर्शितः, अतोऽत्र कथामात्रं कथितमिति बुद्धिं मा कृथा इति शेषः । एवमेव श्रीमद्भगवद्गीतास्वपि – अष्टमे – 'किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मम्' (गी० ८ । १) इत्यर्जुनस्य प्रश्नद्वयस्योत्तररूपेण भगवतैतदेवाभिहितम् । तथाहि – श्रीभगवानुवाच– 'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।' (८ । ३) न क्षरति = न विनश्यतीति वा, अश्नुते = सर्वं व्याप्नोतीति वा अक्षरम् । तदेवात्र ब्रह्म विवक्षितम् । सविशेषब्रह्मणस्तेन रूपेणाविनाशित्वव्यापित्वयोरभावात्तद्व्यावृत्तिः । अथ तस्यापि स्वरूपेण नित्यत्वव्यापित्वसत्त्वात्, प्रणवे चाक्षरशब्दस्य रूढत्वेन योगाद्रूढेर्बलीयस्त्वात्सविशेषं ब्रह्म, प्रणवो वाऽत्राक्षरमिति शंका स्यात्, तां वारयितुं परममिति विशेषणम् । पारम्यं च निरतिशयमहत्त्वरूपम् । तच्चेह संकोचकाभावन्यायेन त्रिविधपरिच्छेदराहित्य एव पर्यवस्यन्निर्विशेषमेवाद्वयब्रह्म गमयति । तथा च

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यं' (मु० उ० १ । १ । ६) 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' (बृ० उ० ३ । ८ । ८) 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' (ब्र० सू० १ । ३ । १०) इत्यादिश्रुतिन्यायप्रसिद्धं निर्विशेषाद्वैतचिदानन्दरूपं परं ब्रह्मैवाक्षरमिति भावः । एवं 'किं तद्ब्रह्म' इत्यस्योत्तरमुक्त्वा 'किमध्यात्मम्' इत्यस्योत्तरमाह—स्वभावोऽध्यात्ममिति । यत् 'अक्षरं ब्रह्म परमं' इत्युक्तं तस्य स्वभावः = स्वरूपम् । 'स्वरूपं च स्वभावश्च' इत्यमरकोशः । त्वंपदलक्ष्यं निष्कृष्टाहंकारशुद्धजीवचैतन्यमिति यावत् । तदेव आत्मानं = देहमधिकृत्य वर्तमानत्वादत्राध्यात्ममित्युच्यते । 'तत्त्वमसि' (छां० उ० ६ । ८ । ७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० उ० १ । ४ । १०) 'अयमात्मा ब्रह्म' (मां० उ० २) 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३ । ७ । २३) इत्यादिश्रुतिशतप्रसिद्धेः, तद्वेदनस्य च भगवदनुग्रहायत्तचित्तशुद्धिसमाधिगम्यत्वेन भगवद्भजनफलत्वोपपत्तेरिति भावः ।

तथा प्रदर्शने हेतुमाह – यदिति । यत् = यस्मात्, भगवान् देवः = श्रीनारायणः, परोक्षप्रियः = परोक्षकथनमेव प्रियं यस्य सः, तत्प्रीतय एवं कथितमिति भावः । तथा च श्रुतिः 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' (ऐ०उ०१।३।४) इति । पूज्यानां विदुषां 'विद्वांसो वै देवाः' इति श्रुतेः परोक्षतयैव सर्वसाधारणं न त्वसाधारणं परिचायकं नाम वक्तव्यम्, अत एवाऽऽचार्य्या उपाध्यायाः स्वामिन इत्युक्ता एव प्रीतिं कुर्वन्ति लोके, न तु विष्णुमित्ररामानन्दादिसाक्षान्नामग्रहण इति भावः । यस्माद् यदा देवाः परोक्षनामग्रहणप्रियाः सन्ति, तदा, सर्वदेवानामपि देवे महेश्वरे किमु वक्तव्यम् ? । अत्र परोक्षत्वं नाम यथार्थस्वरूपपरिचायकनाम्नः रूपान्तरकरणेन वास्तविकस्वरूपाच्छादनम् । कथामन्तरेण साक्षादात्मज्ञानकथनेन तव चेतसि तत्त्वमनाकुलं नारूढं स्यादिति मत्वा परोक्षकथाकथनेन तत्तत्त्वमनायासेन समारूढं स्यादिति भावः । यद्वा तत्र परोक्षकथने हेतुं सूचयन् विशिनष्टि-विश्वं भावयति = वर्धयतीति विश्वभावनः दीव्यति = विश्वरूपेण क्रीडतीति देवः । तथा च स्पष्टकथनेऽनेकेषामनायासेनापरोक्षं ज्ञानं स्यात्, तेन च मोक्षे सति सद्यो विश्वह्रासप्रसङ्गः स्यात्, स च तस्यानभिप्रेतमतः परोक्षमेव तस्य प्रियं, एवं 'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (गी० ७ । ३) इति ज्ञानस्य दौर्लभ्यं सुरक्षितं स्यादिति भावः ।

तदेवं नारदेनोत्थापिताकांक्षो राजा प्राचीनबर्हिः परोक्षेणोक्तस्य कथावृत्तान्तस्याध्यात्मरहस्यव्याख्यानं प्रार्थयते—'प्राचीनबर्हिरुवाच—'भगवंस्ते वचोऽस्माभिर्न सम्यगवगम्यते । कवयस्तद्विजानन्ति, न वयं कर्ममोहिताः ॥' (१)

(१) राजा प्राचीनबर्हिने कहा — भगवन् ! मेरी समझमें आपके वचनोंका

(भा० ४ । २९ । १) इति । हे भगवन् ! त्वदुक्तार्थस्य सम्यग्ज्ञानमस्माकं न जातमित्यर्थः । सम्यगित्यनेन कश्चित्कश्चिदर्थो ज्ञात इति सूचितम् । तदज्ञाने तस्य गम्भीरार्थत्वं हेतुं सूचयन्नाह – कवय इति । कवयः = विवेकिनो विद्वांसः, न वयं, कर्म मोहिताः = कर्मनिष्ठत्वेनात्मविद्यायामकृताभ्यासाः, अतस्त्वमेव तद्व्याख्याहीति शेषः, तेन सर्वसन्देहनिवारणं कृत्वा तद्रहस्यप्रबोधने समर्थोऽसीति सूचनार्थं सम्बोधनं हे भगवन्निति ! । नारद उवाच — 'पुरुषं पुरञ्जनं विद्यात् यद्व्यनक्त्यात्मनः पुरम् । (१) (भा० ४।२९।२) इति । एवं प्रार्थितो नारदः तस्याध्यात्मव्याख्यानं प्रकटयति पुरुषं = जीवात्मानं पुरञ्जनं विद्यात् = जानीयात् । पुरञ्जननामनिरुक्तिमाह – यदिति । यत् = यस्मात्, स आत्मनः = स्वस्य, पुरं = एकद्वित्रिचतुष्पादं बहुपादमपादकञ्च विविधं शरीरं व्यनक्ति = स्वाविद्यया स्वकर्मणा च जनयति = प्रकटयतीति पुरञ्जन इत्यर्थः । यद्वा व्यनक्ति = लिपति जडं शरीरं चेतनीकरोतीत्यर्थः । तत्रैकः पादः पिशाचादेः, द्वौ मनुष्यादेः, त्रयो ज्वरादेः, चत्वारः पश्वादेः, बहवः खाजूर्यादेः, अपादः सर्पादेरिति । स च बृहच्छ्रवा राजा = देहेन्द्रियादिसंघातेन विराजमानत्वाद् राजा, अमात्यादिकृतकर्मणां राजनि पर्यवसानवत्, संघातकृतकर्मणां जीवात्मनि पर्यवसानात्तस्य बृहच्छ्रवस्त्वम् । तस्याविज्ञातनामाऽविज्ञातचेष्टितः सखा आसीत् । न विज्ञातं शास्त्रसंस्कारशून्यैः जनैः सार्थकं नाम यस्य सः, तथा न विज्ञातं जीवप्रेरणादिलक्षणं चेष्टितं यस्य सः, तादृश ईश्वरोऽन्तर्यामी तस्य जीवस्य पुरुषस्य सखा आसीत् । स पुरुषो जीवो निवासस्थानं भोगायतनमभीप्सितं शरीरमन्वेषमाणस्तत्साधनधर्माधर्मादि कुर्वन् त्रिलोकीं बभ्राम अर्थतो विविधासु योनिषु जन्म प्राप । यदा स्वाभिलषितभोगयोग्यं शरीरं नाविन्दत्, तदा स विमना इव अभूत् = विषण्णचित्तो जातः । श्वसूकरादियोनिष्वपि विषयानन्दस्य विद्यमानत्वाद्, मोक्षोपयोगि पूर्णविवेकविरागादिकं कुत्रापि न जातमितीवशब्देन सूचयति । असौ पुरञ्जनो जीवो भूतले विद्यमानानि यावत्यः पुरः = शरीराणि क्रमशः कर्मवशात् प्राप्तोऽपि विषयभोगान् कामयमानः, तत्प्राप्त्यै तानि साधु न मेने, सर्वयोनिषु भ्राम्यन्नपि कुत्रापि भोगेन संतोषं न प्राप । कामस्य सर्वथा दुष्पूर-

अभिप्राय पूरा-पूरा नहीं आरहा है । विवेकी पुरुष ही इसका तात्पर्य समझ सकते हैं, हम कर्म - मोहित - जीव नहीं ।

(१) श्रीनारदजीने कहा — राजन् ! पुरंजन, नगरका निर्माता जीव है । जो अपने लिये एक, दो, तीन, चार अथवा बहुत पैरोंवाला या बिना पैरोंका शरीररूप पुर तैयार कर लेता है ।

त्वात् । अथ तत्तच्छरीरे यथेष्टकामपूर्त्यभावदर्शनानन्तरं हिमालयस्य नगाधिराजस्य दक्षिणदेशेषु कर्मक्षेत्रेषु भारतवर्षेषु विद्यमानं नवद्वारं द्विहस्तांघ्रि मनुष्यशरीरं सर्वविषयभोगौपयिकतया स साधु अमन्यत । अत्र शरीरावयवा एव प्राकारादिपुरावयवत्वेन निरूप्यन्ते । अतस्तादृशं शरीरं प्राकारादिभिरभिवर्णितपुरीरूपेणेत्थं ज्ञेयम् । तत्राहंकारादिममताऽन्तास्त्वगादयः शरीरावरकत्वात्प्राकारा दुर्गभित्तिरूपाः ज्ञेयाः । उपवनानि = शब्दादिविषयसमूहाः, आरामलक्षणाः अट्टालो मुखं उच्चशिरोनासादिमत्त्वात्, परिखा = निषिद्धमार्गः, पतनहेतुत्वादत्र विवेकविरागादिप्रवेशप्रतिबन्धकत्वाच्च । दुर्गबहिः परितः खाता नदीः । गवाक्षाः = इन्द्रियाणि, तोरणानि = रोमरंध्राणि, दन्तनासिकाभ्रूललाटाद्यवयवविशेषाः स्वर्णादिशृङ्गाणि, यद्वा वातपित्तकफलक्षणा धातवः, सात्त्विकराजसतामसस्वभावा एव च शृङ्गाणि विवक्षिताः । आधारकुड्यादिस्थानविशेषाः गृहाः । तैर्व्याप्तं शरीरम् । तत्र नीलादिमणिवर्णा नाड्यो ज्ञेयाः, हृदयकण्ठभ्रूमध्यस्थानानि हर्म्यस्थल्यः, देहान्तरापेक्षयोत्कृष्टत्वेन तस्य शोभाढ्यत्वम् । अत्रान्तःकरणमेव पुरञ्जनस्य जीवस्योपवेशस्थानतया सभा ज्ञेया । ताल्वधः स्थलमेव चतुष्पथं चत्वरं मन्तव्यम् । तत्रैव मुखनासिकानयनकर्णानां चतुर्णां चत्वारो मार्गाः सन्ति । इडापिंगलासुषुम्नाख्याः राजमार्गा रथ्याः सन्ति । इन्द्रियगोलकाः द्यूतादिक्रीडास्थानानि, मनोगोलकोऽत्र क्रयविक्रयादिस्थलात्मको हट्टो ज्ञेयः, विश्रामस्थानं देवालयं चैत्यमत्र चित्तमध्यम् । अत्र भगवद्वैमुख्यरूपोध्वजः, पञ्चक्लेशलक्षणाः पताकाः, आधारादिचक्रमध्यवर्तिस्थानविशेषाः विद्रुमवेदयो ज्ञेयाः । तैः सर्वैः संयुक्तं प्रशस्तं मानवशरीरं साधुतया स पुरञ्जनो जीवो मेने । तदत्यनुरागेण स्वात्मतया गृहीतवान् । तस्याः शरारपुर्याः बाह्योपवनस्थानीयाः शब्दादिविषया एव वेदितव्याः । अत एव विषयनिष्ठबुद्धियोगेन जीवस्य देहसम्बन्ध इति विवक्षया विषयवर्गो बाह्योपवनत्वेनात्र निरूप्यते । तत्र रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाश्रयत्वेन स्रक्चन्दनवनितादीनां द्रुमलताजलाशयादिभावः प्रत्येतव्यः । रसादिभोक्तृत्वेन शब्दकर्तृत्वेन च वनितापुत्रादीनामेव विहङ्गालिकुलत्वं च कोलाहलश्च तेषां विहारादिकमेव ज्ञेयम् । हिमनिर्झरविप्रुष्मदिति रससम्पत्तिः, कुसुमाकरेति गन्धसम्पत्तिः वायुना चलत्प्रवालविटपेति स्पर्शसम्पत्तिः, नलिनीतटसम्पदिति रूपसम्पत्तिश्च तत्र प्रदर्शिता ज्ञेयाः । नानाप्रकारवनमृगतुल्या भृत्यादयः तेषां स्वाम्यधीनत्वेन तैर्विषयोपभोगे बाधा सम्भवान्मुनिव्रतत्वम् । दारापत्यादीनां प्रियवचनान्येव कोकिलकूजितानि, तैः संसारमार्गे वर्तमानोऽन्योऽपि पान्थो विषयी जीवः, आत्मानं तत्राहूतं मन्यतेऽर्थात् तद्गृहस्थितविषयोपभोगमभिलषन् तत्र समाकृष्टो भवति । कूजितपदेन मनोहरशब्दसम्पत्तिर्दर्शिता । तत्रागतां दर्शनीयां प्रमदो-

त्तमां बुद्धिरूपेणेत्थं वर्णयति श्रीनारदः – 'बुद्धिं तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृतम् । यामधिष्ठाय देहेऽस्मिन् पुमान्भुङ्क्तेऽक्षभिर्गुणान् ॥' (१) (भा० ४।२६।५) इति । मायाकार्यभूता विषयोन्मुखा या बुद्धिः सैव प्रमदोत्तमा स्त्रीः, अविद्यावृत्तिरूपत्वात्तस्याः स्त्रीत्वम्, रजोभिर्व्याप्तत्वात् प्रकृष्टो मदो यस्या इति प्रमदात्वम्, पश्वादिबुद्ध्यपेक्षयोत्कृष्टत्वादुत्तमत्वम् । तत्सम्बन्धेन मोहितस्य पुरञ्जनस्य जीवात्मनोऽन्तःकरणाध्यासप्राणाध्यासेन्द्रियाध्यासदेहाध्यासपूर्वकं परमार्थस्वस्वरूपस्य विस्मरणाद् मिथ्याज्ञानमयो द्वन्द्वात्मकः संसारो वस्तुतोऽविद्यमानोऽपि प्रतीयमानो भवति, तदुक्तमेकादशेऽपि – 'अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।' (भा० ११ । २ । ३८) इति । अत एवाविद्यामिथ्याज्ञानमय्या बुद्ध्यैव कृतं = प्रकटितं ममाहमिति भवति । यां बुद्धिमधिष्ठाय = आश्रित्य-पुरस्कृत्यास्मिन् देहे पुमान् जीवोऽक्षभिः = इन्द्रियैर्गुणान् = रूपरसादीन् विषयान् भुङ्क्ते । सा बुद्धिरेवाप्रौढाऽपरिगृहीतपाणिः नानाशृङ्गारधारिणी जीवविमोहनायैव नानाविधकामभोगवासनावती युवती सुन्दरी भूत्वा जीवं चेतनं भोक्तारमन्वेषमाणा सती प्रवर्तते । तत्र बुद्ध्यवयवा गन्धरसादिवृत्तिज्ञानलक्षणा किञ्चित् किञ्चित्सादृश्यमवलम्ब्य एव कथाऽलंकारार्थं सुनासत्वादिना निरूप्यन्ते । रसास्वादचर्वणासक्तयो दन्ताः, सुकपोलत्वं बुद्धेः स्वच्छता, आननं बुद्धेरग्रभागः तीक्ष्णत्वम् । इत्यादिकं साल्लक्षण्यमुन्नेयम् । यद्वा बुद्ध्यभिमानिदेवतायां नासिकाद्यवयवाः सन्तीति तदभिप्रायेण तन्निरूपणं ज्ञेयम् । रजोगुणप्रयुक्तकर्मानुष्ठानवासनावृततया तस्याः पिशङ्गनीवीत्वम्, 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' (छां० ६ । ५ । ४) इति 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छां० ६ । ४ । १) इत्यादिश्रुत्यनुसारेण बुद्धेरन्नमयत्वाच्छ्यामात्वमुक्तम् । तत्र सत्त्वांशस्यापि विद्यमानत्वात्कनकमेखलात्वम्, एवं श्रोण्यादिभावेन तदवयवविशेषाः कथंचित् ज्ञेयाः, बुद्धेः प्रचुरकामनावत्याश्चञ्चलत्वं प्रसिद्धमेवेति चलतीमित्युक्तम् । देवतामिवेत्यनेन तस्याः अभीष्टविषयासक्तायाः जीवमोहने सामर्थ्यं दर्शितम् । लज्जया मादकाकर्षकस्व स्तनयोर्वस्त्रान्तेनाच्छादनत्वं गजवन्मन्थरगमनशीलत्वादिकञ्च मोहनस्य प्रकारत्वमेव ज्ञेयम् । 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।' (गी०३।३४) इति गीतोक्तौ रागद्वेषावेव व्यग्रताजनकौ बुद्धिस्तनत्वेन विज्ञेयौ । कैशोरावस्थायामेव तयोः प्राबल्यात्तद्व्यञ्जकत्वम् । अत एव वृद्धस्यापि रागद्वेषौ

---

(१) अविद्यामयी बुद्धि ही तुम पुरञ्जनी नामकी स्त्री जानो; इसीके कारण देह और इन्द्रिय आदिमें मैं – मेरेपनका भाव उत्पन्न होता है, और पुरुष इसीका आश्रय लेकर शरीरमें इन्द्रियों द्वारा विषयोंको भोगता है ।

नित्यतरुणावेव लोके दृश्येते इति । उभयोस्तयोः श्रेयोमार्गे परिपन्थित्वात्सम-त्वम् । सहचारित्वान्निरन्तरत्वम्, श्रेष्ठस्यैव लज्जा भवतीति पश्वादिबुद्ध्यपेक्षया मनुष्यबुद्धेः श्रेष्ठत्वात् लज्जावत्त्वम् । जीवस्य भगवदीयत्वविवेकविचारशील-त्वादिना कदाचिद्विरक्तत्वे सति बुद्धेः स्तनस्थानीययोः रागद्वेषयो र्निगूहनम् । यद्वा सरक्तैः शिष्टजनैरपि स्वान्तर्वर्तिनौ रागद्वेषावपि ह्रीविनयाभ्यां निह्नूयेते एव । तस्याः कटाक्षेण तस्य विद्धत्वं, मायाकार्यभूतया तया प्रयोजितं मोहन-मेव ज्ञेयम्, 'यया संमोहितो जीवः' (भा० १ । ७ । ५) इति प्रथमोक्तेः । 'का त्वं कस्यासि' इत्यादिः तयोः परस्परसंवादस्तु परस्पराध्यासदार्ढ्याय । न चाध्यासात्पूर्वं तयोः तालुवागिन्द्रियाद्यभावात्कथमेवं वागादिव्यवहारः सम्भवतीति शङ्कनीयम् । आधिदैविकरूपे कारणरूपाणां ताल्वादीनां सत्त्वात्, अत एव श्रुतौ 'चक्षुरगायत' (बृ० १ । ३ । ४) इत्यादि वाग्व्यवहारः, तृतीय-स्कन्धे तत्त्वादीनां स्तुतिश्च संगच्छते इति ध्येयम् । वस्तुतस्तु सर्वदैव बुद्ध्या-दयो जीवे सन्त्येव, अन्यथा 'न साधुमेने ताः सर्वाः' (भा० ४ । २५ । १२) इति पश्वादिशरीरप्राप्त्युक्ति र्न संगच्छेत । तथापि मनुष्यशरीरे बुद्ध्यादयस्ततो विलक्षणा इत्यभिप्रायेण नूतनया तया संबन्धप्रदर्शनमिति ज्ञेयम् । अत एव 'कुतः आगताऽसी' त्यादिकन्तु कथालंकारमात्रम् ।

'सखाय इन्द्रियगणा ज्ञानं कर्म च यत्कृतम् । सख्यस्तद्वृत्तयः प्राणः पंचवृत्ति र्यथोरगः ।। बृहद्बलं मनो विद्यादुभयेन्द्रियनायकम् । पंचालाः पंच-विषया यन्मध्ये नवखं पुरम् ।।' (भा० ४ । २९ । ६ - ७) (१) इति । यत्कृतं = यैरिन्द्रियैर्जनितं ज्ञानं कर्म च भवति, तत्र श्रोत्रत्वग्घ्राणदृग्जिह्वाख्यैः पंचज्ञानेन्द्रियैः श्रवणादिपंचविधं ज्ञानं भवति, वाग्दोर्मेढ्रांघ्रिपाय्वाख्यैः पंचकर्मेन्द्रियै र्भाषणादि पंचविधं कर्म भवति । सख्यः तेषामुभयविधेन्द्रियाणां वृत्तयो ज्ञेयाः । प्राणापानसमानव्यानोदानभेदेन पंचवृत्तयो यस्य स प्राणः पंचशिरा उरग इव भवतीति स एव पुरपालकः पंचशिरा नागो ज्ञेयः । एकादशमहाभटः' इत्यनेन एकादशो महाभटो नायकः— ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां विषयं प्रति नेतृत्वादुभयेन्द्रियनायकत्वम्, तेन बृहद्बलं = महाबलं मनो

(१) दश इन्द्रियां ही उसके मित्र हैं, जिनसे कि - सब प्रकारके ज्ञान और कर्म होते हैं । इन्द्रियोंकी वृत्तियां ही उसकी सखियां और प्राण - अपान - व्यान - उदान - समानरूप पांचों वृत्तियोंवाला प्राणवायु ही नगरकी रक्षा करने वाला पांच फनका सर्प है । दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके नायक मनको ही ग्यारहवां महाबली योद्धा जानना चाहिये । शब्दादि पांच विषय ही पाञ्चाल देश है । जिसके बीचमें यह नौ द्वारोंवाला नगर बसा हुआ है ।

विद्यात् । पंचालशब्देन कथिता देशविशेषाः पंचज्ञानेन्द्रियविषयाः रूप-रसादयो ज्ञेयाः । यत् = येषामिन्द्रियाणां मध्ये नवखानि = द्वारत्वेनोक्तानीन्द्रियछिद्राणि यस्मिंस्तथाविधं पुरं = शरीर भवतीत्यर्थः । नव द्वाराणि दर्शयति – 'अक्षिणी नासिके कर्णौ, मुखं शिश्नगुदाविति । द्वे द्वे द्वारौ बहिर्याति, यस्तदिन्द्रियसंयुतः ॥' (१) (भा० ४ । २६ । ८) इति । अक्षिणी, नासिके कर्णाविति द्वे द्वे द्वारौ एकत्रनिर्मिते स्तः मुखं शिश्न गुदश्च पृथगिति । तत्र यस्तत्तदिन्द्रियसंयुतो जीवः स तैरक्ष्यादिच्छिद्रै र्बहिर्विषयदेशे याति । तत्राक्षिणी नासिके आस्यमिति पंचद्वारः शरीरस्याग्रभागे कृताः, दक्षिणः कर्णो दक्षिणदिशि भवा द्वा; तथोत्तरः कर्णः उत्तरस्यां दिशि भवा द्वाः स्मृता । इहाधो गुदं शिश्नञ्चोच्यते, ते द्वे द्वारौ पश्चिमे स्तः, ये च खद्योताविर्मुखी प्रागेवात्र निर्मिते द्वारावुक्ते, तेऽत्र शरीरे नेत्रे ज्ञेये. खद्योतवदल्पप्रकाशत्वात्खद्योता वामनेत्रम्, आविर्मुखी प्रकाशबहुलत्वाद्दक्षिणनेत्रम्, तत्र प्रकाशाधिक्यं 'दक्षिणोऽर्द्ध आत्मनो वीर्यवत्तरः' इति श्रुतेः स्वानुभवाच्च सिद्धम् । यत्तु विभ्राजितं जनपदमुक्तं तद्रूपं ज्ञेयम् । यो द्युमान् सखोक्तस्तच्चक्षुरिन्द्रियम् । ताभ्यां नेत्राभ्यां पुरञ्जनो जीवो विभ्राजितं रूपं पश्यति ।

ये नलिनीनालिनी द्वे द्वारावेकत्रोक्ते, ते नासिकाछिद्रे ज्ञेये । वाम-दक्षिणनासिकयोरपि तयोः संज्ञाभेदात् कार्ये न्यूनाधिक्यं ज्ञेयम् । सौरभदेशो गन्ध उच्यते, अवधूतसखा घ्राणेन्द्रियम्, मुख्या द्वाः, आस्यं मुख ज्ञेयम्, तस्यैव संभाषणभोजनद्वारा सर्वशरीरनिर्वाहकत्वान्मुख्यत्वम्, 'रसज्ञविपणान्वितः' इत्यत्र विपणो वागिन्द्रियम्, रसज्ञं रसनेन्द्रियम्, आपणो देशो वाग्व्यापारो भाषणम्, बहूदनदेशोऽत्रास्वाद्यं नानाविधमन्नं ज्ञेयम् । पितृहूर्नाम दक्षिणस्यां द्वाः, दक्षिणः कर्णः, उत्तरदिशि देवहूर्द्वाः. उत्तरः कर्णो ज्ञेयः । दक्षिणपंचालं यातीत्यत्र पंचालसंज्ञितं प्रवृत्तं शास्त्रं कर्मकाण्डात्मकम्, उत्तरपंचालं यातीत्यत्र पंचालसंज्ञितं निवृत्तं शास्त्रमुत्तरकाण्डात्मकं ज्ञेयम् । 'याति श्रुतधरान्वितः' इत्यत्र श्रुतधरशब्दितं श्रोत्रेन्द्रियं ज्ञेयम्, यतः प्रवृत्तं शास्त्रं श्रुत्वा तदुक्तं कर्मानुष्ठाय पितृभिराहूतः पितृयानं धूमादिमार्गं, निवृत्तं च शास्त्रं श्रुत्वा तदुक्तोपासनाद्यनुष्ठाय देवैराहूतो देवयानमर्चिरादिमार्गं, परम्परया श्रोत्रादेव निर्मितान् लोकान् पुमान् व्रजति । पंचानां विषयाणां

(१) उस नगरमें जो एक - एक स्थानपर दो - दो द्वार बताये गये थे - वे दो नेत्र - गोलक, दो नासिकाछिद्र और दो कर्ण छिद्र हैं । इनके साथ मुख, लिङ्ग और गुदा - ये तीन, और मिला कर कुल नौ द्वार हैं; इन्हींमें होकर वह जीव इन्द्रियोंके साथ बाह्य विषयोंमें जाता है ।

प्रमाणान्तरेणानवगतानां बोधनायालमिति पांचालं = शास्त्रं, श्रवणकाले च बलाधिक्यात्प्रथमं दक्षिणकर्ण एव प्रवर्तते । अत एव मन्त्रोऽपि दक्षिणकर्णे एव प्रथमं गुरुणोपदिश्यते ॥ शास्त्रे च प्रथमं श्रोतव्यं कर्मकाण्डमित्येतावता साम्येन प्रवृत्तसंज्ञस्य कर्मकाण्डस्य दक्षिणेन कर्णेन श्रवणमिष्यते, अतः कर्मकाण्डशास्त्रं दक्षिणपांचालशब्दितं ज्ञेयम् । अतः – दक्षिणकर्णप्रवृत्त्यनन्तरं प्रवृत्तेन वामकर्णेन निवृत्तं शास्त्रमुपासनाकाण्डलक्षणमुत्तरपांचालसंज्ञकं ज्ञेयम् । तस्य श्रवणमपि प्रथमं कर्मकाण्डश्रवणानन्तरं दक्षिणकर्णप्रवृत्त्यनन्तरञ्च प्रवृत्तेन वामकर्णेनेति ज्ञेयम् । तथा चात्र कर्णभेदेन श्रवणे शास्त्रभेदकथनं च कर्णशास्त्रयोः पूर्वपश्चाद्भावेन प्रवृत्तिसमत्वमात्रेणैव, न नियमेन तथात्वं मन्तव्यम् । तदुक्तं– 'इह वाऽमुत्र वा काम्यं, प्रवृत्तमभिधीयते । वैराग्यज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमभिधीयते ॥' इति । अर्वाक् – असुराणां = असुषु प्राणेषु – इन्द्रियेष्वेव रममाणानां विषयलोलुपानामेवेयमासुरी द्वाः, मेढ्र –शिश्नं, तेन 'ग्रामकं नाम विषयं यातो' त्यत्र ग्रामस्थानां-गृहस्थानां कं = सुखं यस्मात्तद्ग्रामकं व्यवायं-रतिः = स्त्रीसंभोगो ज्ञेयः,दुर्मदशब्देन गुह्येन्द्रियमुपस्थः प्रोक्तः,तेन च युक्तो जीवः स्त्रीसुखं संपादयतीत्यर्थः । यद्यपि लिंगस्य पुरोभागभवत्वं, तथापि तस्य गुदसहचारतया कथाऽलंकारार्थं अर्वाक्त्वरूपपृष्ठभवत्वनिर्देशो ज्ञेयः । निर्ऋतिशब्देन गुद उच्यते, साऽपि पश्चिमदिग्भवा द्वाः, मृत्युद्वारत्वात्तस्य राक्षसनाम्ना निर्देशः, लुब्धकः पायुरिन्द्रियं, तेन समन्वितो जीवो गुदेन मलत्यागं करोति, मरणसमये कदाचित्तेन मार्गेण निःसृतश्चेत्तदा नरकं याति । अन्धौ द्वारौ हस्तपादौ उच्येते, तयोश्छिद्रत्वाभावादन्धत्वम् । अत एवेन्द्रियाधिपतिर्जीवः पादेन गच्छति, हस्तेन करोति ।

'अन्तःपुरं च हृदयं विषूचिर्मन उच्यते । तत्र मोहं प्रसादं वा हर्षं प्राप्नोति तद्गुणैः ॥ यथा - यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा । तथा तथोपद्रष्टाऽऽत्मा तद् वृत्तीरनुकार्यते ॥' (१) (भा० ४ । २६ । १६ - १७) एवं द्वार्निरूपणं कृत्वा पूरीं प्रविष्टस्य जीवस्यान्तः पुरे हृदये भोगं निरूपयति–

---

(१) हृदय अन्तःपुर है, उसमें रहनेवाला मन ही विषूचि (विषूचीन) नामका प्रधान सेवक है, जीव उस मनके सत्त्वादि गुणोंके कारण ही प्रसन्नता, हर्षरूप विकार अथवा मोहको प्राप्त होता है । बुद्धि राजमहिषी पुरंजनी जिस-जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें विकारको प्राप्त होती है और जाग्रत् अवस्थामें इन्द्रियादिको विकृत करती है उसके गुणोंसे लिप्त हो कर आत्मा-जीव भी उसी-उसी रूपमें उसकी वृत्तियोंका अनुकरण करनेको बाध्य होता है, यद्यपि वस्तुतः वह उनका निर्विकार साक्षीमात्र ही है ।

तत्रेति । विषूचिः = सर्वविषयाभिज्ञः सर्वेन्द्रियनायकं मनः, तच्च नपुंसकमेवात एवान्तःपुरे बुद्धिर्महिष्या अन्तरंगत्वं तस्य । पुरञ्जनस्य जीवस्य जा बुद्धिः, आत्मजास्तनयाः– तत्परिणामाः संशयभ्रमप्रमादनिश्चयाद्यात्मकाः, यद्वा चाक्षुषश्रावणादिलक्षणाः चक्षुरादीन्द्रियपरिणामाः विज्ञेयाः, तेभ्यः समुद्भूतं मोहादिकं, तत्र तमस उद्रेके मोहं, सत्त्वोद्रेके प्रसादं, रजस उद्रेके हर्षं मनःसंयुक्तो जीवो बुद्ध्यादिगुणैः प्राप्नोति । 'महिषी यद्यदीहेते' त्यादेरर्थं संगृह्याह-यथा - यथा बुद्धिः दैववशात् करितुरगादिदृष्टाश्रुतवस्तुवासनावासिता सती स्वप्ने विक्रियते, जाग्रति विकरोति वा = इन्द्रियाणि परिणामयति, तदा तस्य गुणैः सत्त्वादिभिः आक्तः = लिप्तः, आत्मा, तथा तथा वृत्तीः = दर्शनस्पर्शनाद्याः, केवलमुपद्रष्टैव सन् बलात्तया बुद्ध्यैवानुकार्यते, बुद्धिसङ्गादकर्तर्यात्मनि कर्तृत्वं, अभोक्तरि तस्मिन् भोक्तृत्वञ्च प्रतीयते । आत्माज्ञानाद् बुद्ध्याद्यध्यासाधीनमेव जीवस्य सकललौकिकालौकिकसाधनप्रवृत्ति भोजनपानादिनिखिलविषयभोगश्चास्ति, न स्वातन्त्र्येण ।

एवं जाग्रद्देहः शतसंवत्सरोपभोग्यपुरत्वेन प्रोक्तः, संप्रति – निद्रावासनादिसमुद्भूतस्य प्रतीतिमात्रस्वरूपस्य तत्कालीनस्य सपरिकरस्य स्वप्नदेहस्य रथरूपत्वमाह – 'देहो रथस्त्विन्द्रियाश्वः, संवत्सररयोऽगतिः । द्विकर्मचक्रस्त्रिगुणध्वजः पञ्चासुबन्धुरः ॥ मनोरश्मिर्बुद्धि सूतो हृन्नीडो द्वन्द्वकूबरः । पंचेन्द्रियार्थप्रक्षेपः सप्तधातुवरूथकः ॥ आकूति र्विक्रमो बाह्यो मृगतृष्णां प्रधावति । एकादशेन्द्रियचमूः पञ्चसूनाविनोदकृत् ॥ (१) (भा० ४ । २६ । १८-१९-२०) इति । देहः = स्वप्नदेहो रथः, पंचज्ञानेन्द्रियाण्यश्वा यस्मिन् सः, 'आशुगं रथमि' त्येतद्व्याचष्टे - संवत्सरस्येवाप्रतिहतो रयो = वेगः प्रतीतितो यस्य स तथा, वस्तुतस्त्वगतिः = स्वप्नशरीरादेर्बुद्धावेव विवर्त्तत्वेन देशान्तरगत्यभावात् । द्वीषमि' त्यस्य व्याख्या नारदेन न कृता, अतः द्वे -अहंताममते,

(१) शरीर ही रथ है । उसमें ज्ञानेन्द्रियरूप पांच घोड़े जुते हुये हैं । देखनेमें सम्वत्सररूप कालके समान ही उसका अप्रतिहत वेग है, वास्तवमें वह गति हीन है । पुण्य और पाप—ये दो प्रकारके कर्म ही उसके पहिये हैं । तीनगुण ध्वजा हैं, पांच प्राण डोरियां हैं, मन बागडोर है, बुद्धि सारथी है, हृदय बैठनेका स्थान है, सुख दुःखादि द्वन्द्व जुए हैं, इन्द्रियोंके पांच विषय उसमें रक्खे हुए आयुध हैं, और त्वचा आदि सात धातुएं उसके आवरण हैं । पांच कर्मेन्द्रियां उसकी पांच प्रकारकी गति हैं । इस रथपर चढ़ कर रथीरूप यह जीव मृग तृष्णाके समान मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ता है । ग्यारह इन्द्रियां उसकी सेना हैं तथा पांच ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको अन्यायपूर्वक ग्रहण करना ही उसका शिकार खेलना है ।

द्वीषे = दण्डके यस्मिन् सः, द्वीषो रथः प्रत्येतव्यः। द्वे पुण्यपापात्मके कर्मणी चक्रं यस्य सः, त्रयो गुणा एव ध्वजा यस्य सः, पञ्च प्राणा बन्धुराणि = बन्धनानि यस्य सः, सवासनं मनो रश्मिः = प्रग्रहो यस्य सः, बुद्धिरेव सूतो यस्य सः हृत् = हृदयमेव नीडं = रथिन उपवेशस्थानं यस्मिन् सः, द्वन्द्वौ = शोकमोहौ कूबरौ = युगबन्धनस्थानं यस्य सः, पंचेन्द्रियार्थाः शब्दादयो विषयाः प्रक्षिप्यन्तेऽस्मिन्निति तथा सः, इन्द्रियाणां स्वविषयेषु स्वव्यापाराणां प्रक्षेपः, सप्तधातवस्त्वगादयो वरूथाः = रक्षार्थमावरणानि यस्य स तथा। पंचविक्रममिति व्याचष्टे-आकूतिः = कर्मेन्द्रियपंचकं बाह्यो विक्रमो ज्ञेयः। चचार मृगयामिति व्याचष्टे-मृगतृष्णां प्रातीतिकविषयसुखमित्यर्थः। तदुक्तं-सुखवद् दूरतो दृश्यं, तत्काले दुःखमेव यत्। मृगतृष्णोत्यतः प्राहु भोंगं वैषयिकं बुधाः ॥' इति। जीवो मृगतृष्णावत् स्वप्ने मिथ्याभूतानेव विषयान् प्रति धावतीत्यर्थः। धावमानो जीवः कीदृशः? इत्यपेक्षायां तमेव विशिनष्टि-एकादशेन्द्रियाण्येव चमूः = सेना यस्य सः, यद्वा एकादशः = संकल्पविकल्पात्मको मन एव ज्ञानकर्मभेदेन दशेन्द्रियलक्षणा या चमूस्तस्या नाथः = नायकः एकादशश्चमूनाथः यस्य सः। पंचभिरिन्द्रियैः सूनाविनोदमिव = हिंसाविनोदमिवान्यायेन विषयोपभोगविनोदं करोतीति पञ्चसूनाविनोदकृत्। स पुरञ्जनो जीवः कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिनिवेशलक्षणं धनुरादाय पूर्वोक्तं स्वाप्नदेहरूपं रथमारूह्य विषयभोगसुखावाप्तये पंचप्रस्थसंज्ञकं = पंच पृथिव्यादयः शब्दादयो विषया वा प्रस्थाः सानवो यत्र तद्वनं स्वप्नप्रदर्शनस्थानं नाडीविशेषमगात्। दृष्टान्ते हैमोपस्करत्वेन विशेषितो रथो दार्ष्टान्तिके - हेमशब्देन तत्सदृशवर्णस्य रजोगुणस्य ग्रहणं स्वप्नप्रपञ्चस्य राजसत्वात्, अतो रजस एव शरीरस्थस्य हैमाभरणत्वं ज्ञेयम्। रथी पुरञ्जनो दृष्टान्तेऽक्षयेषुधित्वेन विशेषितः, स च सिद्धान्ते अक्षयाः = क्षयरहिता अनन्ता विषयभोगवासना एव बाणाः, तद्वान् अहंकार एव सदा वासनाबाणपूर्णः इषुधि यस्य सः। 'अतदर्हां जायां विहाय वनं गतः' इति दृष्टान्ते यदुक्तं, तत् सिद्धान्ते - विवेकवती जाग्रद्बुद्धिः जाया, सा च त्यागायोग्या इव, तां त्यक्त्वा, आत्तेषु कार्मुको मृगव्यसनलालसो दृप्तः सन् मृगयां चचार। अत्र रागादयो दोषा इषवः, अहं कर्ता भोक्ता चेत्यभिनिवेशः कार्मुकं-धनुः, मृगाः शब्दादयो विषयाः, तत्र व्यसनं = तद्भोक्तुं स्वभावस्तेन लालसा = अतिस्पृहा यस्य सः। मृगयाचरणं = विषयभोगान्वेषणमेव, एते दोषाः स्वप्नदर्शनं च गर्वेणैव भवन्ति, न निरभिमानेनेति दृप्त इत्युक्तम्। दृष्टान्ते - 'आसुरीं वृत्तिमाश्रित्य घोरात्मा निरनुग्रहः।' इत्यादिकं यदुक्तं - तत् सिद्धान्ते - इत्थं ज्ञेयम्। जाग्रद्दशायां जीवः उच्छृङ्खलप्रचुरविषयभोगं कुर्वाणः स्वस्वास्थ्यादिकं प्रति एवं तत् साधनधनादि-

सामग्रीसम्पादनायान्यप्राणिनः प्रति चानुग्रहरहितो घोरात्मा = राजसतामसस्वभावोऽस्ति. अत एव तत्संस्कारेण स्वप्नेऽपि आसुरीं वृत्तिमाश्रित्य घोरात्मा सन् वनेषु स्वप्नस्थानेषु वनगोचरान्–तत्र कल्पितान् शब्दादिविषयान् बाणैः–रागादिकल्पिततत्तदिन्द्रियवृत्तिभिः, न्यहनत् = भुक्तवानित्यर्थः । दृष्टान्ते – यथा मृगया राज्ञो विहिता, एवं सिद्धान्ते – विषयभोगोऽपि जीवस्य विहित एव, किमित्येवं विनिन्द्यते ? अत आह – तीर्थेषु प्रतिदिष्टेषु, सत्स्वेव, अर्थात् भगवत्सेवाश्राद्धयज्ञादिनिमित्तेषु, तत्रापि शास्त्रेण प्रतिदिष्टेषु न स्वयं कल्पितेषु तत्रापि मेध्यान् - विषयान् योग्यत्वेन हितानेव, न स्वाभिलषितान् निषिद्धानपि, तत्रापि विहिते देशे काल एव, न निषिद्धेऽपि, तत्रापि स्वदेहनिर्वाहार्थमेव, न सुखाद्यर्थमिति नियम्यते = यथेष्टविषयभोगप्रवृत्तिः शास्त्रेण संकोच्यत एव, नोच्छृङ्खलविषयभोगो जीवस्य विधीयते, रागप्राप्तत्वादनर्थहेतुत्वाच्च । अतो भगवत्प्रसादत्वेनैव योग्यान हितान् विषयान् भुंज्यात्, न तन्निवेदनं विना । यदाह – श्रीभगवानपि – गीतासु-विषयोपभोगे गुणदोषौ – 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥' (गी० ३ । १३) इति ।

अयमर्थः — स्वसमीपे विद्यमानं सर्वमप्यन्नादिभोग्यजातं देवस्वमेवेति निश्चित्य तत्सर्वं देवेभ्यः समर्प्य, तदवशिष्टान्नादिना देहधारणं कुर्यात् – इत्यभिप्रेत्य देवप्रसादनार्थं पञ्चविहिताः महायज्ञाः-देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति । एतान् देवयज्ञादीन् निवर्त्य तदवशिष्टांशेनामृताख्येन देहधारणं कुर्वन्तः सन्तः = सत्पुरुषाः, सर्वैः किल्बिषैः = पंचसूनाकृतैः पापै - मुच्यन्ते । 'कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी । पञ्चसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति ॥ पञ्चसूनाकृतं पाप पञ्चयज्ञै र्व्यपोहति ॥' इति पञ्चसूनाश्च स्मृतावुक्ताः । एवमन्वयमुखेन यज्ञशिष्टाशनस्यावश्यकत्वमुक्त्वा व्यतिरेकमुखेनापि तदाह – भुञ्जत इति । ये तु आत्मकारणात् = स्वभोजनार्थमेव पचन्ति, न तु वैश्वदेवादियज्ञार्थम्, ते पापाः = दुराचाराः-भगवच्छास्त्रविमुखाः, अघमेव केवलं भुञ्जते, 'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋ० सं० १० । ११७ । ६) इत्यादिश्रुतेः । अतो यथेष्टविषयभोगे शास्त्रस्य विधि र्नास्ति, किन्तु भगवन्निवेदितहितमितमेध्यान्नादिना देहादिनिर्वाहार्थं नियममात्रमेव विज्ञाप्यते शास्त्रेण ।

दृष्टान्ते यथा बाणै र्मृगाणां कृपालूनां कृते दुःसहो विनाशोऽभूत्, तथा सिद्धान्तेऽसद्भि र्दुराचारै र्भुज्यमानानामन्नादिविषयाणां यज्ञादौ विनियोगाभावात् पुनः प्रसवाभावेन विनाश एवाभूत् । स च तथा सति प्राणिनां निर्वाहो यज्ञादिधर्मप्रवृत्तिश्च कथं स्यादिति विचारपराणां करुणाशीलानां सज्जनानां

कृते दुःसह एव। दृष्टान्ते विविधान् जन्तून् विनिघ्नन राजा श्रममध्यगात्, ततो वनान्निवृत्तो गृहमागतः। तत्र स्नानं भोजनञ्च कृत्वा स्वासनमुपविश्य श्रमरहितो जातः। एवं सिद्धान्ते स्वप्ने नानाविधविषयान सम्पादयन उपभुञ्जानश्च श्रान्तो जातः, ततः स्वप्नस्थानतो जाग्रदवस्थास्थानं पुनरागतः। अत्र स्वप्नदर्शनहेतुनिद्रादोषदूरीकरणमेव स्नानं, जाग्रदवस्थादर्शनजन्यसन्तोष एवाहारः, जाग्रत्स्थाने चक्षुरादौ स्थितैरेव च स्वासनसंवेशनं ज्ञेयम्। दृष्टान्ते मालादिभिः समलंकृतो यदा राजा जातस्तदा महिष्यां मनो दधे, सिद्धान्ते च स्वप्नसंस्कारनिवृत्तिपूर्वकं जाग्रत्तत्त्वस्त्वनुसंधानविचारादिभिरात्मनः सावधानताऽऽपादानमेवालंकरणम्। ततश्च विवेकवत्यां बुद्धौ मनो दधे, अर्थात् तामन्वेषितवान्। दृष्टान्ते स कामाकृष्टमनाः सन तां महिषीमन्वेपमाणोऽपि नापश्यत्, तदाऽन्तःपुरस्त्रियोऽपृच्छत्। सिद्धान्ते जागरणं प्राप्तोऽप्यहंकारी जीवस्तत्तद्विषयाकृष्टमनाः सन् स्वप्नदर्शनवशात् भ्रमाच्चित्तत्वेन सत्व्यवहारहेतुभूतां बुद्धिं स्वस्मिन्नापश्यत्। अत्रान्तःपुरस्त्रियो बुद्धिपरिचारिण्यः इन्द्रियवृत्तयः, प्रश्नश्च तदालोचनमात्रम्। तत्र गृहिणीं विना गृहसंपदो न शोभन्ते, अत्र स्वप्नादुत्थितस्य भ्रमच्चित्तस्यालसस्य यावद् बुद्धेः स्वस्थता न भवति, तावद् देहादिसंपत् न शोभते इत्युन्नेयम्। तत्र यदि पुत्रवत्सलामाता, पतिदेवता पत्नी वा गृहं न स्यात्तदा तत्र दीनवत् कः प्राज्ञ आसीत्? अत्र यदि हृदये मातृवत्सर्वतो रक्षणकर्त्री सात्विकी बुद्धिः, भगवद्भक्ति र्वा, पतिव्रतावत् स्वभोगसंपादिका शुभकर्मप्रवृत्तिलक्षणा राजस बुद्धि र्वा न स्यात् तदा केवलया तामस्या बुद्ध्या पशुत्वस्थावरत्वापत्तेः किं शरीरावस्थानेनेति बिज्ञेयम्।

दृष्टान्ते वनगमनेन कुपितायाः प्रेयस्या यद्वर्णितमनुनयादिकं, तत्कथासौन्दर्यस्य कामिनां दैन्यस्य च प्रदर्शनायैव, अध्यात्मपक्षे तज्जीवस्य सर्वथा बुद्ध्याद्युपाधिवश्यतां तन्निमित्ताञ्च शोकमोहादिलक्षणां संसृतिपरम्परामेव विज्ञापयति। अत एव प्रतिपदमध्यात्मार्थयोजना तु दुर्घटा प्रायशो निष्प्रयोजना च। प्राकर्येण यावद्योजयितुं शक्यं भवति, तावत्तु प्रदर्श्यत एव। अत एव श्रीनारदेन तु जीवस्य स्त्रीपुरुषवासनादार्ढ्येन विचित्रा संसृति र्भवतीत्येतावदेव कथातात्पर्यं दर्शितम्। 'क्वचित्पुमान क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः॥' (१) (भा० ४।२६।२६) इति वदता। तत्रादौ पुंस्त्वेन संसृतिरध्यायत्रयेणोक्ता, ततश्चैकेनाध्यायेन

(१) इस प्रकार अपने कर्म और गुणोंके अनुसार देवयोनि मनुष्य योनि अथवा पशु-पक्षी योनियोंमें जन्म लेकर वह अज्ञानान्ध जीव कभी पुरुष, कभी स्त्री, और कभी नपुंसक होता है।

स्त्रीत्वेन संसृतिं प्रदर्श्येश्वरप्रसादलब्धप्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मज्ञानेन मोक्ष इत्युक्तम् । स्त्रीपुंस्त्वादिकमपि तत्तत्सुखदुःखाद्यनुगुणकर्माधीनदेहगतमेव जीवात्मन्युपचर्यते = समारोप्यते, न तु स्वतस्तत्रास्ति, तत्र हेतुः - अन्धधीः = अन्धा = अज्ञानावृताऽऽत्मानात्मविवेकरहिता संसारदुःखोत्तरणोपायदर्शनाक्षमा धी = बुद्धि र्यस्येत्यर्थः ।

एवं जायापुत्रपौत्रधनाद्यासक्तस्य विषयाविष्टचेतसो जीवस्य संप्रति जराज्वरकालादिसम्बन्धकथनेन विनाशसामग्रीसांनिध्यलक्षणां विनश्यदवस्थां निरूपयति, सा च देहादिविषयदृढासक्त्यनन्तरभाविभिर्देहात्मबुद्धीन्द्रियवृत्तिरूपोच्छृङ्खलविषयभोगैः संपाद्यते । 'संवत्सरश्चण्डवेगः कालो येनोपलक्षितः । तस्याहानीह गन्धर्वा गन्धर्व्यो रात्रयः स्मृताः ॥ हरन्त्यायुः परिक्रान्त्या षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ कालकन्या जरा साक्षाल्लोकस्तां नाभिनन्दति । स्वसारं जगृहे मृत्युः क्षयाय यवनेश्वरः ॥ आधयो व्याधयस्तस्य सैनिका यवनाश्चराः । भूतोपसर्गाशुरयः प्रज्वारो द्विविधो ज्वरः ॥ एवं बहुविधैर्दुःखै र्दैवभूतात्मसम्भवैः । क्लिश्यमानः शतं वर्षं देहे देही तमोवृतः ॥ प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य निर्गुणः । शेते कामलवान् ध्यायन्ममाहमिति कर्मकृत् ॥ यदाऽऽत्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम् । पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः स्वदृक् ॥ गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः । शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथाकर्माभिजायते ॥ शुक्लात्प्रकाशभूयिष्ठाँल्लोकानाप्नोति कर्हिचित् । दुःखोदर्कान् क्रियायासांस्तमःशोकोत्कटान् क्वचित् ॥ (१) (भा० ४ । २९ ।

(१) जिसके द्वारा कालका ज्ञान होता है, वह सम्वत्सर ही चण्डवेग नामका गन्धर्वराज है, उसके अधीन जो तीन सौ साठ गन्धर्व बताये गये थे, वे दिन हैं और तीन सौ साठ गन्धर्वियां रात्रि हैं । ये बारी - बारीसे चक्कर लगाते हुये मनुष्यकी आयुको हरते रहते हैं । वृद्धावस्था ही साक्षात् कालकन्या है । उसे कोई भी पुरुष पसन्द नहीं करता, तब मृत्युरूप यवनराजने लोकका संहार करनेके लिये उसे बहिन मानकर स्वीकार कर लिया । आधि—मानसिक क्लेश और व्याधि—रोगादि शारीरिक कष्ट ही उस यवनराजके पैदल चलनेवाले सैनिक हैं, तथा प्राणियोंको पीड़ा पहुंचाकर शीघ्र ही मृत्युके मुखमें लेजानेवाला शीत और उष्ण दो प्रकारका ज्वरही प्रज्वार नामका उसका भाई है । इस प्रकार यह देहाभिमानी जीव अज्ञानसे आच्छादित होकर अनेक प्रकारके आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक कष्ट भोगता हुआ सौ वर्ष तक मनुष्य शरीरमें पड़ा रहता है, वस्तुतः तो वह निर्गुण है, किन्तु प्राण, इन्द्रिय और मनके धर्मोंको अपनेमें आरोपित कर मैं-मेरेपनके अभिमानसे बंधकर क्षुद्र विषयोंका चिन्तन करता हुआ तरह - तरहके कर्म करता

२१-२२-२३-२४-२५-२६-२७-२८) इति । चण्डवेगः = चंडः-प्रचंड-उपायशतैरपि प्रतिरोद्धुमशक्यो वेगो यस्य सः, तेन संवत्सरेण महान काल उपलक्षितो भवति । तस्येह = लोके विख्यातानि-अह्नानि-षष्ट्युत्तशतत्रयं गन्धर्वा दिवसा ज्ञेयाः, तेषामपि प्रतिरोधस्याशक्यत्वेन बलवत्त्वं सिद्धमेव, तथाऽस्य चण्डवेगस्य तादृश्यो बलवत्यो गन्धर्व्यः = रात्रयः स्मृताः । तासां शुक्लपक्षे चन्द्रप्रकाशयुक्तानां श्वेतत्वं, कृष्णपक्षे तत्सम्बन्धाभावात् कृष्णत्वं. ताश्च श्वेतकृष्णवर्णावत्यः गन्धर्वैर्दिवसैः सह मिथुनीभावमापन्नाः सत्यः क्रमशः षष्ट्युत्तरशतत्रयं परिक्रान्त्या = परिभ्रमणेन सर्वविषयभोगयोग्यस्य शरीरस्य आयुः – विलुम्पन्ति = विनाशयन्ति । या कालकन्योक्ता सा जरा = वृद्धावस्था ज्ञेया, लोकः = प्राणिसमुदायः, तां साक्षात् नाभिनन्दति = हर्षेण नाङ्गीकरोति, अपि तु परवशतोऽभिगृह्णाति, तां यवनेश्वर इत्युक्तो यो मृत्युः, लोकस्य क्षयाय = विनाशाय स्वसारं = स्वसृत्वेन = भगिनीत्वेन जगृहे । सा हि बलात् प्राणिषु प्रविश्य तेषां शरीराणि - क्षीणानि करोति । ये च तस्य यवनेश्वरस्य मृत्याः, चराः = संचारिणः– आज्ञाकारिणः सैनिकाः– यवनाः प्रोक्ताः, ते, आधयः = मनोव्यथाहेतवः, व्याधयः = देहव्यथाहेतवश्च ज्ञेयाः । भूतानां = प्राणिनां उपसर्गे = पीडायां, आशु = शीघ्रो मृत्युहेतुः रयो = वेगोऽस्य सः, शीतोष्णरूपभेदेन द्विविधः, ज्वरः–प्रज्वार इत्युक्तो ज्ञेयः । यद्वा भूतसम्बन्ध्युपसर्गाः = पवनजलहिमाग्निसूर्यातपराजचौरकृमिकुपथ्यादिकृताः श्वासतन्द्राप्रलापादयः - आशुरयाः = शीघ्रवेगा यस्य स तथा । एवं, बहुविधैः = अनन्तप्रकारैः, देवभूतात्मसम्भवैः = आधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिकभेदभिन्नै दुःखैः-त्रिविध सन्तापैः, क्लिश्यमानो देही = देहाभिमानी जीवो, देहे = देहादौ, अहं ममेति कृत्वा तमसा = अज्ञानेनावृतः सन् शेते – तिष्ठतीत्युत्तरेणान्वयः । संप्रति-आत्माज्ञानकृतान् मिथ्याज्ञानरूपान् अध्यासलक्षणान् दोषान् दर्शयति – प्राणेति । प्राणधर्मान् = अशनायापिपासादीन्, इन्द्रियधर्मान् =

रहता है, यह यद्यपि स्वयंप्रकाश है, तथापि जब तक सबके परम गुरु - आत्मस्वरूप श्रीभगवान्के तात्त्विक स्वरूपको नहीं जानता, तब तक प्रकृतिके ही गुणोंमें बंधा रहता है, उन गुणोंका अभिमानी होनेसे वह विवश होकर सात्त्विक, राजस और तामस कर्म करता है । तथा उन कर्मोंके अनुसार भिन्न - भिन्न योनियोंमें जन्म लेता है, वह कभी तो सात्त्विक कर्मोंके द्वारा प्रकाश बहुल स्वर्गादि लोक प्राप्त करता है, कभी राजसी कर्मोंके द्वारा दुःखमय रजोगुणी लोकोंमें जाता है—जहां उसे तरह-तरहके कर्मोंका क्लेश उठाना पड़ता है — और कभी तमोगुणी कर्मोंके द्वारा शोक बहुल तमोमयी योनियोंमें जन्म लेता है ।

अन्धत्वकाणत्वादीन् - दर्शनश्रवणाकर्तृत्वादीन् वा, मनोधर्मान् = कामादीन् - संकल्पादीन् वा, स्वयं चिदात्मा निर्गुणो = गुणत्रयरहितो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् आत्मनि - स्वस्मिन् अध्यस्य = आरोप्य, देहादौ ममाहमिति कृत्वा कामलवान् = विषयसुखलेशान् ध्यायन् = ममैते सदा स्युः' इति दृढस्नेहेन चिन्तयन् कर्मकृत् = तदर्थं कर्माणि कुर्वन् देहे शतवर्षं शेते इत्यन्वयः ।

'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥' (गी० ५।१५) । अयमर्थः-विभुः-व्यापकः सर्वगत आत्मा कस्यचित् = कायस्य वाचो मनसो वा कर्मभूतं पापं नैवादत्ते=परमार्थतो न गृह्णाति तथा कस्यचित् सुकृतं = पुण्यं कर्म च नादत्ते । कथं तर्हि पुण्यकृत् पापकृदयमिति लोकव्यवहारः ? तत्राह – अज्ञानेनेति । ज्ञानं = नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावपरब्रह्मरूपाद्वितीयप्रत्यगात्मचैतन्यम् । अज्ञानेन = नीहारमायाप्रकृत्यविद्याकुहकापरपर्यायेण 'न तं विदाथ' नीहारेण प्रावृताः' (ऋ० १० । ८२ । ७) 'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं' (भा० १ । १ । १) 'मायात उद्यदपि यत्सदिवावभाति' (भा० १० । १४ । २२) प्रतिषिद्धे स्वसंविदा, आत्मन्यविद्यया कृते' (भा० १ । ३ । ३३) इत्यादिश्रुतिभागवतप्रसिद्धेन आवृतं = आच्छादितम् । तेनावरणेन जन्तवः = जननशीलाः - संसारिणः, मुह्यन्ति = अतस्मिंस्तदवभासरूपं मोहं गच्छन्ति । ततस्तन्मूलक एवोक्तव्यवहारः । तदनुवादिन्य एव च श्रुतिस्मृतयः पारमार्थिकाद्वयवाक्यशेषभूता इति भावः । इति गीतासु सर्वमोहहेतुरज्ञानं यदुक्तं 'तमोवृतः' इति तदेव विशदयति - यदेति द्वाभ्याम् । पुरुषः = जीवात्मा, वस्तुतः स्वदृक् = स्वप्रकाशस्वभावोऽपि, उपलक्षणमिदं – नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसच्चिदानन्दाद्वय ब्रह्मस्वभावोऽपि, यदा तु आत्मानं = स्वस्वरूपं, कीदृशं ? परं = देहादिभ्यः परं = विलक्षणं, पुनः कीदृशं = भगवन्तं = भगवत्स्वरूपं – स्वानन्दपूर्णं, पुनः कीदृशं = गुरुं = हृद्यन्तर्ज्ञानप्रकाशकं, अविज्ञाय = अज्ञात्वा, अनादिनाऽज्ञानेन विस्मृत्य, प्रकृतेः = मायायाः गुणेषु – गुणकार्यभूतेषु देहादिषु शब्दादिविषयेषु च विषज्जेत = आसक्तो भवति ।

एतेन – 'आत्मानं, ततः परं = विलक्षणं भगवन्तञ्चाविज्ञाय' इति द्वैतिनां व्याख्यानं निरस्तम् । चकाराभावात्, सौकर्येण सामानाधिकरण्यान्वयस्य संभवे सति बलाद्योजितस्य वैयधिकरण्यान्वयस्यान्याय्यत्वाच्च । 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६ । ११) 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३ । ७ । २३) 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।' (गी० ६ । ३१) 'ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम्' (भा० ११।१९।२७)

'विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधः' (भा० ११ । १६ । ४०) 'आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः ।' (भा० ११।१८।२१) 'आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।' (भा० ३ । २४ । ४६) 'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मनि' (भा० ११ । २ । ४५) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभागवतवचनैः स्पष्टतया-एकात्मवादसमर्थकस्य सामानाधिकरण्यान्वयस्य समर्थितत्वाच्च । एतेन – 'एकात्मवादो भगवदनभिमतो भागवतानभिमतश्च' इति अद्वयब्रह्मद्वेषिभिर्यदुक्तं – तन्निरस्तम् । 'अहं भवान् न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भो ! ।' (भा० ४ । २८ । ६२) इति भगवतैव कृपालुना स्वमुखेनैवाविद्याकल्पितभेदनिवारकस्यैकात्मभावस्योपदिष्टत्वात् । एवं 'अहं भवान्' इत्यादिपद्यानां पारमार्थिकभेदाभिनिविष्टचेतोभिर्द्वैतिभिः-यद्वा तद्वा बलात्प्रयोजितं भेदव्याख्यानं मूढमानसप्ररोचकं यद्विहितं, तत्तु सुधासमुद्रमध्ये हलाहलविषसंयोजनमिव दुष्टप्रकृतिकृत्यं विदुषामुद्वेजकमपि साङ्गरुपेक्षणीयं सहनीयतया निरर्थकमेव प्रतिभाति । यत्तु – 'प्रधानाज्जीवसंज्ञितात् । आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः ॥' (भा० ३ । २८ । ४१) इत्यादौ जीवात्मपरमात्मनोः पार्थक्यमुक्तं, तत्त्वौपाधिकमेव मन्तव्यम्, न तु पारमार्थिकम् । अत एवोपाधिनिरासात् तन्निरासोऽपि – 'आत्मानं ब्रह्मण्याधारे घटाम्बरमिवाम्बरे ।' (भा० १ । १३ । ५४) 'घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा । एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म संपद्यते पुनः ॥' (१) (भा० १२ । ५ । ५) इत्यादिना घटाकाशादिदृष्टान्तपुरस्सरः प्रतिपादितः तयोः पारमार्थिकमेकत्वमेव निर्विवादं समर्थयति । सति चैवं प्रथमे – 'अर्जुनः-गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत्संग्राममूर्धनि । ··· पुनरध्यगमत् विभुः । विशोको ब्रह्मसंपत्त्या संच्छिन्नद्वैतसंशयः । लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिंगत्वादसंभवः ॥' (२) (भा० १ । १५ । ३०–३१) इत्यत्र प्रतिपादितार्जुनस्यद्वैतविभ्रमविच्छे-

(१) जैसे घड़ा फूट जानेपर आकाश पहलेकी ही भांति अखण्ड रहता है, परन्तु घटाकाशताकी निवृत्ति हो जानेसे लोगोंको ऐसा प्रतीत होता है कि वह महाकाशसे मिल गया है—वास्तवमें तो वह मिला हुआ था ही, वैसे ही देहपात हो जाने पर ऐसा मालूम पड़ता है मानो जीव ब्रह्म हो गया, वास्तवमें तो वह ब्रह्म था ही, उसकी अब्रह्मता तो प्रतीतिमात्र थी ।

(२) अर्जुनको युद्धके प्रारम्भमें भगवान्के द्वारा उपदेश किया हुआ गीताज्ञान पुनः स्मरण हो आया, जिसकी कालके व्यवधान और कर्मोंके विस्तारके कारण प्रमादवश कुछ दिनोंके लिये विस्मृति हो गयी थी । ज्ञानके द्वारा ब्रह्मभावकी प्राप्ति से मायाका आवरण भङ्ग हो कर गुणातीत अद्वयानन्दपूर्ण–अवस्था प्राप्त हो गयी ।

दोपलक्षिता पारमार्थिकाभेदभावलक्षणाऽद्वयब्रह्मसंपत्तिरपि सुतरां संगच्छते। अत एवैतद्यथार्थतया व्याख्यातं श्रीधरस्वामिभिः — ज्ञानफलमाह — विशोक इति। एतदेव शोकहेत्वभावेनोपपादयति — शोकस्य हि हेतु द्वैतभ्रमस्तस्य देहस्तस्य लिंगं, तस्य गुणास्तेषामविद्या। तत्र ब्रह्मसंपत्त्या = वेदान्तश्रवणेन 'ब्रह्माहमिति' ज्ञानेन लीना प्रकृतिः = अविद्या यस्मिंस्तन्नैर्गुण्यं भवति, न तु सुषुप्तिप्रलयोरिवाविद्याशेषः, तस्मान्नैर्गुण्याद्गुणकार्यलिंगनाशः, अलिङ्गत्वाच्चासंभवः = सम्यग्भोगाय भवति पुनः पुनरिति संभवः स्थूलदेहस्तद्रहितस्ततश्च तत्परिच्छेदाभावात्संच्छिन्नो द्वैतलक्षणः संशयो = भ्रमो यस्य स विशोको जात इति। अत एव पूज्यश्रीधरस्वामिनां द्वैतिभिरपि मुक्तकण्ठतः — 'तमश्छन्नदृशां यैर्नः कृते भावार्थदीपिका। कृता कृपालवस्तेऽत्र श्रीधरस्वामिनो गतिः ॥' (१) (श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृतसारार्थदर्शिनीव्याख्यामंगलाचरणे दशमे) 'श्रीमद्भागवतं वन्दे सर्वशास्त्रप्रकाशकं। तद्व्याख्यातॄन् गुरून् वन्दे श्रीधरस्वामिपादकान् ॥' (२) (श्राराधारमणगोस्वामिकृतव्याख्यानमंगलाचरणे) 'श्रीभागवतसिद्धार्था टीका दृष्टिरदायि यैः। श्रीधरस्वामिपादांस्तान् वन्दे भक्त्येकरक्षकान् ॥' (३) (श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषणीव्याख्यानमंगले दशमे) इत्यादिभिः कृता प्रशंसा तेषां यथार्थव्याख्यातृत्वं ज्ञापयन्ती तेषामनितरसाधारणं महनीयं गौरवं, तद्व्याख्यानस्य च श्रद्धेयत्वमपि निःसंशयं प्रत्याययति। एवं 'अहं भवान्' इत्यादिकं 'मोहनीत्वख्यापकमसुरैरेव ग्राह्य' इति ? विभ्रान्तमानसैः प्रमाणशून्यं स्वकपोलकल्पितं स्वान्तःस्थिताद्वयब्रह्मविद्वेषाभिव्यञ्जकं, स्वकृतभेदव्याख्यानस्य स्वतः एव निरर्थकत्वं मन्यमानैर्भगवत्प्रबोधितमपि स्वद्वेष्यतयाऽभेदवादं प्रत्यनर्गलगालीप्रदानं कुर्वद्भिः यदुक्तं – तत्र

द्वैतका संशय निवृत्त हो गया। सूक्ष्मशरीर भङ्ग हुआ, वे शोक एवं जन्म - मृत्युके चक्रसे सर्वथा मुक्त ब्रह्मस्वरूप हो गये।

(१) अज्ञान और मिथ्याज्ञानरूप तमसे आवृत्तदृष्टिवाले हम लोगोंके लिये जिन महानुभावने भावार्थदीपिका नामकी टीकाकी रचनाकी है, वे कृपालु श्रीधरस्वामी ही हमारी गति हैं—आश्रय हैं।

(२) सर्वशास्त्रोंका प्रकाशक श्रीमद्भागवतकी मैं वन्दना करता हूं, उसके व्याख्याता - गुरुमूर्ति पूज्य श्रीधरस्वामीकी भी मैं वन्दना करता हूँ।

(३) जिन्होंने श्रीमद्भागवतके सिद्ध अर्थोंकी निरूपण करनेवाली टीकारूपी दृष्टि प्रदानकी है, उन एकमात्र भक्तिके रक्षक पूज्य श्रीधरस्वामीकी मैं वन्दना करता हूं।

विमलाशयै र्विद्वद्भिः – 'न हि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः' इति न्यायेन किं वक्तव्यम् ? स्वमौढ्यात् भगवदुपदेशतिरस्कारजन्यपापप्रचुरसम्पादनप्रयासशीलास्ते वराका दयनीया एव प्रतिभान्ति, इत्यलमतिपल्लवितेन ।

तदा = अज्ञानावस्थायां स एव गुणाभिमानी = गुणकार्यदेहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानवान्, अत एवावशः देहाद्युपाधिपरतन्त्रः सन्, शुक्लं = सात्त्विकं पुण्यजनकं, कृष्णं = तामसं पापजनकं, लोहितं = राजसं मिश्रमुभयजनकं, एवं त्रिविधानि कर्माणि कुरुते । ततश्च यथाकर्माभिजायते = तत्तत्कर्मानुसारेण तत्र तत्र जन्म प्राप्नोति । एतदेव विभागेन दर्शयति — शुक्लादिति । शुक्लात्कर्मणः, प्रकाशो भूयिष्ठो येषु तान् देवादिलोकान् कर्हिचिदाप्नोति । तथा लोहितात्कर्मणः, दुःखमुदर्कं = उत्तरफलं येषु तान्, क्रियया आयासो येषु तान् — मनुष्यादिलोकान् कर्हिचिदाप्नोति । तथा कृष्णात्कर्मणः तमोऽज्ञानं शोकश्चोत्कटो येषु तान् तिर्यगादिलोकान् कर्हिचिदाप्नोति इत्यन्वयः । 'क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम् । चरन्विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा ॥ तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन् । उपर्यधो वा मध्ये वा याति दिष्टं प्रियाप्रियम् ॥' (१) (भा० ४ । २९ । ३० - ३१) अत्र मुक्तिपर्यन्तं संसारदुःखसन्तति सूचयन् — श्वदृष्टान्तेन हीनत्वं दीनत्वञ्चाज्ञस्य जीवस्य दर्शयति — क्षुत्परीतः = क्षुधाव्याप्तः, अत एव दीनः सारमेयः = श्वा, यथा गृहं गृहं चरन् दण्डं = दण्डेन ताडनं, ओदनं वा यद्दिष्टं = स्वप्रारब्धानुसारेणेश्वरेण निर्मितं तदेव विन्दति = लभते, न तु स्वाभिलषितम् । तथा कामः = विविधविषयवासना, आशये = अन्तःकरणे यस्य स जीवोऽपि उच्चावचपथा = विहितप्रतिषेधलक्षणेनोच्चनीचमार्गेणोपरि देवलोके, अधो नरकादिलोके, मध्ये — मनुष्यादिलोके वा भ्रमन् = गच्छन्, प्रियाप्रियं = प्रियं — सुखं, अप्रियं — दुःखं वा यद्दिष्टं तदेव याति = प्राप्नोतीत्यन्वयः ।

संप्रति नित्यादिभिः सुकृतकर्मभिरेव मोक्षो न तु ज्ञानेनेत्यध्वरमीमांसकमतं निराकुर्वन् संसारदुःखपरम्परायाः मूलभूतानि कर्माणि तु प्रतिक्रियादिसुकृतकर्मभिरविरोधितया नैव निवर्तन्ते, तदभावे सर्वदुःखनिवृत्त्युपलक्षितः परमानन्दावाप्तिलक्षणो मोक्षोऽपि कथं सिद्ध्येदिति सदृष्टान्तमाह–'नैकान्ततः

(१) जिस प्रकार बेचारा भूखसे व्याकुल कुत्ता दर-दर भटकता हुआ अपने प्रारब्धानुसार कहीं डंडा खाता है, और कहीं भात खाता है, उसी प्रकार यह जीव चित्तमें नाना प्रकारकी वासनाओंको लेकर ऊँचे - नीचे मार्गसे ऊपर नीचे अथवा मध्यके लोकोंमें भटकता हुआ अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता रहता है ।

प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम् । द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ ॥' (१) अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृति र्न निवर्तते । मनसा लिंगरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा ॥ अथाऽऽत्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरंपरा । संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ ॥ वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः । सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति ॥' (भा० ४ । २६ । ३४ - ३५ - ३६ - ३७) इति । अयमर्थः — केवलं = भक्तिज्ञानादिरहितं सवासनं नित्यादिकं सुकृतं कर्म, कर्मणां = दुःखहेतुसर्वदुरितानां, एकान्ततः = नियमेनात्यन्तं, प्रतीकारः = निवर्तकं न भवति । तत्र हेतुमाह — द्वयमिति । द्वयं दुष्कृतं कर्म, तन्निवर्तकं सुकृतञ्च कर्म, द्वितयं — उभयमपि कर्म, अविद्यया = देहान्तःकरणाद्यध्यासलक्षणया, उपसृतं = व्याप्तम् । अतोऽविरोधान्ननिवर्त्यानिवर्तकत्वं तस्य तेजस्तिमिरयोरिव विरोधिनोरेव तद्भवतीति भावः । अत्र = अविद्याया अविद्यानिवर्तकत्वाभावे दृष्टान्तः-स्वप्नेदृष्टः स्वप्नः प्रबोधं बिना यथा तं स्वप्नमत्यन्तं न प्रतिकरोतीत्यर्थः, स्वप्नगतजागरस्य स्वप्नरूपत्वान्न तस्य नियमेनात्यन्तं स्वप्ननिवर्तकत्वम्, यथा स्वप्ने पुत्रो मृत इति दुःखप्राप्तिस्तत्स्वप्नमध्य एव पुनः संजाते स्वप्ने पुत्रो जीवतीति भानेन तद्दुःखोपशमो जातः। तदैव तं पुत्रं सर्पो दशतीति पुनर्दुःखप्राप्तिरिति प्रबोधं विना यथा स्वाप्निकं दुःखं न निवर्तते, यतो निद्रादोषस्य विद्यमानत्वात्, कथञ्चित् एकस्मिन् दुःखे निवृत्तेऽपि पुनस्तद्वशाद् दुःखान्तरोत्पत्तिदर्शनात्, न सर्वथा सकलदुःखनिवृत्तिः संभवति, तथाऽविद्य कल्पितस्य संसारस्य निवृत्तिं विना सांसारिकदुःखं सर्वथा न निवर्तते । इति । अर्थे ह्यविद्यमानेऽपीत्यादीनि त्रीणि पद्यान्यस्माभिः पञ्चविंशति श्लोकस्याध्यात्मज्योत्स्ना विवृत्तौ व्याख्यातान्यतस्तत्रैव सुधीभिस्तद्व्याख्यानं द्रष्टव्यम् ।

यस्मात् - अनन्यभक्तिमयेन ज्ञानेनैव मोक्षः 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।' (शु० यजुर्वेद, ३१ । १८) इति श्रुतिप्रतिपादितः सिद्धान्तः, 'तस्मात्कर्मसु बर्हिष्मन् ! अज्ञानादर्थकाशिषु । माऽर्थदृष्टिं कृथा श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु ॥' (२) (भा० ४ । २९ । ४७) इति । नारद

(१) शुद्धहृदय नरेन्द्र ! जिस प्रकार स्वप्नमें होनेवाला अन्यस्वप्न उस स्वप्नसे सर्वथा छूटनेका उपाय नहीं है, उसी प्रकार कर्मफल भोगसे सर्वथा छूटनेका उपाय केवल कर्म नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म और कर्मफलभोग दोनों ही अविद्याप्रयुक्त होते हैं ।

(२) बर्हिष्मन् ! तुम इन कर्मोंमें परमार्थबुद्धि मत करो । ये सुननेमें ही प्रिय जान पड़ते हैं । परमार्थका तो स्पर्श भी नहीं करते । ये जो परमार्थवत्

उपदिशति – हे बर्हिष्मन् ! तस्मात्, अज्ञानात् = भगवत्तत्त्वापरिज्ञानात्, कर्मसु = अग्निष्टोमादिषु-नित्यादिषु च, अर्थकाशिषु = परमार्थत्वेन-परमफलहेतुत्वेन प्रकाशमानेषु, पुनः कीदृशेषु-श्रोत्रस्पर्शिषु = प्ररोचनाय स्वर्गादिसुखसाधनत्वश्रवणेन केवलं श्रोत्रप्रियेषु, वस्तुतस्तु अस्पृष्टवस्तुषु = न स्पृष्टं-वस्तु = परमतत्त्वं-प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मलक्षणं यैस्तेषु कर्मसु त्वं, अर्थदृष्टिं = परमार्थसाधनबुद्धिं मा कृथा इत्यन्वयः। 'स्वं लोकं न विदुस्ते वै, यत्र देवो जनार्दनः। आहुर्धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः॥' (१) (भा० ४।२६।४८) ये तु वेदं सकलं, सकर्मकम् = कर्मपरमेव, स्वर्गादिफलबोधकमेव आहुः = कथयन्ति, ते अतद्विदः = वेदार्थज्ञा न भवन्ति, यतस्ते स्वं = स्वरूपभूतं लोकं = स्वयंज्योतिः स्वभावमात्मतत्त्वं, वेदतात्पर्यगोचरं न विदुः न जानन्ति, यत्र = यस्मिन् आत्मतत्त्वे विदिते–'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गी० १५।१५) इति स्मरणात्, देवः = विविधविश्वरूपेण क्रीडमानः, जनार्दनः = भक्तजनानामविद्यादिकं, अभिन्नस्वरूपेण विज्ञातः सन अर्दयति - विनाशयतीति, तथा सोऽपि विदितो भवति। तर्हि कथं ते तथा वदन्तीत्याशंक्याज्ञानादित्याह – धूम्रधियः = मलिनबुद्धयः - धूम्रा = रागादिमलेनाच्छन्ना धी येषां ते। तर्हि अन्यः कश्चित् कर्माद्याग्रहं हित्वा तं कथं वेद ? 'यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः। स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥' (२) (भा०४।२६।४६) यदा अयं, भगवान् आत्मनि - स्वस्वरूपे आत्मना भावितः = अभेदभावेन ध्यातो भवति। यदा भगवान् यमनुगृह्णाति। तदा स लोके = लोकव्यवहारे, वेदे च कर्ममार्गे च परिनिष्ठितां = समासक्तां मतिं जहाति = परित्यजति। अयं भावः श्रद्धया भगवच्चिन्तनाद् भगवदनुग्रहो भवति, ततो भगवत्तत्त्वमभेदेन विजानाति, ततो निरन्तरं भगवदेकनिष्ठत्वेन संसारगोचरां मतिं जहाति, तं नानुसंधत्ते।

यादृशं कर्म निरीश्वरवादिनो धूम्रधियो त्रिनश्वरसातिशयस्वर्गसुखासक्ता

दीख पड़ते हैं, इसमें केवल अज्ञान ही कारण है।

(१) जो मलीनमति, कर्मवादी लोग, वेदको कर्मपरक बताते हैं, वे वास्तवमें उसका मर्म नहीं जानते, इसका कारण यही है कि वे अपने स्वरूपभूत लोक (आत्मतत्व) को नहीं जानते, जहां साक्षात् श्रीजनार्दन भगवान् बिराजमान हैं।

(२) हृदयमें बार-बार चिन्तन किये जानेपर भगवान् जिस समय जिस जीवपर कृपा करते हैं, उसी समय वह लौकिक व्यवहार एवं वैदिक कर्म-मार्गकी बद्धमूल आस्थासे छुट्टी पा जाता है।

अध्वरमीमांसकाः वदन्ति, तादृशं कर्म न पुरुषार्थप्रदम्। तर्हि कीदृशं तत् श्रेयःसाधकं कर्म ? तस्य च किं वास्तविकं फलमिति ? नारदः स्वयं कृपया तद्द्वयं निरूपयति – 'तत्कर्म हरितोषं यत्, सा विद्या तन्मतिर्यया। हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः॥ तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह॥ स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि। इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः॥' (भा० ४।२९।४९–५०–५१) इति। हरिं-सर्वात्मानं तोषयतीति हरितोषं यत्तदेव कर्म, मया श्रीहरिप्रसादायैव कर्म क्रियते, न त्वन्यफलार्थं, इत्येवं कर्तृत्वाभिमानं फलासक्तिञ्च विहाय श्रीहर्यर्पणबुद्ध्या क्रियमाणमेव कर्म श्रीहरितोषप्रयोजकतया श्रेयःसाधकं भवति। एवं यया तस्मिन् हरौ = प्रत्यगभिन्नेऽद्वयेपूर्णानन्दनिधौ ब्रह्मण्येव तदेकगोचराऽविच्छिन्ना मतिर्भवति सैव विद्या = ब्रह्मविद्या, महाफलस्य ब्रह्मभावलक्षणस्य मोक्षस्य प्रयोजकत्वात्। 'हरिर्देहभृतामात्मा' इत्यस्य श्लोकस्य व्याख्यानं पञ्चविंशतितमस्याध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्तावस्यां द्रष्टव्यम्। स वै = श्रीहरिः, सर्वेषां प्रियतमः = परमप्रेमास्पदः, अत एव परमानन्दनिधिः आत्मा = अभिन्नं स्वरूपम्। यतः = यस्मात् आत्मनः सकाशात् अण्वपि = स्वल्पमपि, भयं न भवति, भयन्तु - आत्मभिन्नादेव सम्पद्यते न त्वात्मनः, भयलज्जाशंकादिदोषाः न त्वात्मनः प्रभवन्ति, किन्तु तद्भिन्नादेवेति लोके प्रसिद्धम्। इति = इत्येवं यो जिज्ञासुर्भक्तो भगवन्तं स्वात्माभिन्नतया वेद = विजानाति, स वै विद्वान् = अद्वयब्रह्मभावसंपन्नो भवति, यः = एतादृशो विद्वान् स गुरुः = अन्यान् जिज्ञासुभक्तान्-यथार्थब्रह्मोपदेशेन तदविद्यादिकल्मषनिरासद्वारा समुद्धर्तुं समर्थो भवति, स एव साक्षात् स्वयं श्रीहरिरेव भवति 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) इति श्रुतेः। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गी० ७।१८) इति स्मृतेश्च।

मैत्रेय उवाच– 'भागवतमुख्यो भगवान् नारदो हंसयोर्गतिम्। प्रदर्श्य ह्यमुमामन्त्र्य सिद्धलोकं ततोऽगमत्॥' (१) (भा० ४।२९।८०) इति। एवं नारदः प्राचीनबर्हिषे हंसयोः = जीवेश्वरयोः, गतिं = सच्चिदानन्दलक्षणामभेदभावरूपां प्रदर्श्य = निरूप्य, हीति निश्चये, तस्य स्वोक्ते तात्त्विकार्थे निश्चयं ज्ञात्वा अमुं = राजानं, आमन्त्र्य = पृष्ट्वाऽनुमतिं लब्ध्वा, ततः स्थानात् सिद्धलोकं = ब्रह्मलोकमगमदित्यन्वयः।

(१) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – विदुरजी ! भक्तश्रेष्ठ श्रीनारदजीने राजा प्राचीनबर्हिको जीव और ईश्वरके वास्तविक अभिन्न स्वरूपका दिग्दर्शन कराया। फिर वे उनसे विदा लेकर सिद्धलोकको चले गये।

अत्र प्रथमे पादेऽक्षराधिक्यं, छन्दोभङ्गश्चार्षः । एतत्पुरञ्जनाख्यानश्रवणकीर्तनयोः फलमाह – एतदध्यात्मपारोक्ष्यं गीतं देवर्षिणाऽनघ ! । यः श्रावयेद्यः शृणुयात् स लिंगेन विमुच्यते ॥' एतन्मुकुन्दयशसा भुवनं पुनानं, देवर्षिवर्यमुखनिःसृतमात्मशौचम् । यः कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यं नास्मिन् भवे भ्रमति मुक्तसमस्तबन्धः ॥' (१) (भा० ४ । २९ । ८३–८४) इति । एतत् = उपाख्यानं, अध्यात्मपारोक्ष्यं = अध्यात्मस्य = जीवात्मनः परमात्माभेदज्ञापनाय पारोक्ष्यं = परोक्षतया पुरञ्जनराजरूपतया वर्णनं । लिंगेन = लिंगयति = प्रकटयति-कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारमिति लिंगं = अज्ञानं, तेन विमुच्यते = ब्रह्मभावलक्षणमोक्षमापन्नो जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः । देवर्षिवर्यस्य = श्रीनारदस्य मुखान्निःसृतमेतदाख्यानं मुकुन्दस्य = स्वस्वरूपावस्थानलक्षणां मुक्तिं दातुः = परमेश्वरस्य, यशसा 'संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ ।' (भा० ४ । २९ । ३६) 'वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः । सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञान च जनयिष्यति ॥ (भा० ४।२९।३७) 'अतस्तद्पवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम् । पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः ॥' (भा० ४।२९।७९) इत्यादिषु प्रतिपादितेन संसारोद्धारकत्वलक्षणेन महत्त्वेन युक्तमतएव भुवनं पुनानं = चतुर्दशभुवनस्थानामेतच्छ्रवणमननपराणां येषां केषाञ्चिदपि पवित्रकरं, तत्रापि न केवलं पापसंतापादिनिवर्तकं, अपि तु आत्मशौचं = त्वंपदार्थस्यात्मनो देहेन्द्रियान्तःकरणाद्यध्यासनिवर्तकतया शोधकं, अत एव पारमेष्ठ्यं = परमेष्ठी परमेश्वरः, तत्स्वरूपप्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मप्रापकमत एव महद्भिर्विद्वद्भिः कीर्त्यमानं, यः कोऽपि मानवो ऽधिगच्छति = नित्यं श्रवणमननाद्यभ्यासेन हृदि सम्यगवधारयति, सोऽपि मुक्तसमस्तबन्धः = निवृत्तसकारणदेहाद्यध्यासः सन् अस्मिन्नेव संसारे न भ्रमति किन्तु विमुक्तो भवतीत्यर्थः ।

(१) निष्पाप विदुरजी ? देवर्षि नारदके परोक्षरूपसे कहे हुए इस आत्मज्ञानको जो पुरुष सुनेगा, या सुनायेगा, वह शीघ्रही लिङ्गदेहके बन्धनसे छूट जायेगा । देवर्षि नारदके मुखसे निकला हुआ यह आत्मज्ञान भगवान् मुकुन्दके यशसे सम्बद्ध होनेके कारण त्रिलोकीको पवित्र करनेवाला अन्तःकरणका शोधक तथा परमात्मपदको प्रकाशित करनेवाला है । जो पुरुष इसकी कथा सुनेगा वह समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जायेगा, और फिर उसे इस संसार - चक्रमें नहीं भटकना पड़ेगा ।

(हे श्रेयःसाधनेच्छो ! विविधदुःखप्रचुरं बन्धममात्मनि समीक्ष्य त्वं तद्धेतोः संसाराद्विरम, प्रेम्णाऽनन्येन सर्वात्मानं भगवन्तञ्च प्रीणीहि) (१)

अत्रेदमाख्यायते–विद्यते कश्चन मुग्धो हरिणः, रमणीयपुष्पवाटिकायां प्रेयस्या हरिण्या सह तत्र समासक्तचित्तः सन्–पुष्पमकरन्दलोलुपानां तेषु भ्रमणशीलानां षडंघ्रीणां भ्रमराणां सामगानवत् मधुरेषु गीतेषु संलुब्धकर्णश्च सन् – स्वल्पसंचरणशीलः । परन्तु तस्यामेव वाटिकायां ततोऽग्रे नातिदूरे परेषां प्राणिनां मांसादिभिः स्वीयप्राणसन्तर्पणशीलाः क्रूरा वृकाः गच्छन्ति । तान् अज्ञानवशादगणयित्वा विश्रब्धतया तदनुसञ्चरन्तं, एवं पृष्ठतो वर्तमानो दुष्टो लुब्धकः स्वबाणस्य तमेवासावधानं हरिणं लक्ष्योभूतं कुर्वन् मृतप्रायमेव मनुते । सति चैवं 'कोऽयं मृगः ?' इति हे श्रेयःसाधनाभिलाषिन् ! त्वं विचारय । अत एव हरिणदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकमीदृशं ज्ञेयम् । अत्र विद्यते गृहस्थाश्रमसंसाररूपाऽऽपातरमणीया पुष्पवाटिका । तत्र पुष्पाणि सन्ति परिणामविरसत्वादिरूपसमानधर्मशीला मनोरमाः स्त्रियः । तस्मिन् स्त्रीणां शरणभूते गृहाश्रमे पुष्पमधुगन्धवदतितुच्छं काम्यकर्मणां फलरूपं जैह्वयौपस्थ्यादिकामसुखलवं पौनःपुन्येनान्वेषयन्तम् - मनोहराभिः स्त्रीभिः सह मिथुनीभूय तदभिनिवेशितमनसं - षडंघ्रिगणसामगीतवद् अतिरमणीयेषु वनितापुत्रादिजनालापेषु - अतितरामतिप्रलोभितकर्णं - अग्रे वृकयूथवद् आत्मवत्प्रियस्य देहस्यामूल्यमायुर्हरतोऽहोरात्रांस्तान् काललवविशेषान् अविगणय्य गृहेषु विहरन्तं – पृष्ठत एव परोक्षमनुप्रवृत्तो लुब्धकोऽत्र कृतान्तो मृत्युः हृदये शरेण दूरादेव वेद्धुमिच्छति, तमिमात्मानं स्वमिह मृगकथायां मृतप्रायं मृगभूतं द्रष्टुमर्हसि । (२)

---

(३२)

(१) (हे श्रेयःसाधनकी इच्छारखनेवाले ! अपनेमें विविध दुःखोंसे प्रचुर बन्धनका निरीक्षण करके तू बन्धनके कारणरूप संसारसे उपरत हो, और अनन्य प्रेमसे सर्वात्मा भगवान्‌को प्रसन्न कर)

(२) इस रूपकका आशय सुनो। यह मृतप्राय हरिन तुम्हीं हो, तुम अपनी दशा पर विचार करो। पुष्पोंकी तरह ये स्त्रियां केवल देखनेमें सुन्दर हैं, इन स्त्रियोंके रहनेका घर ही पुष्पवाटिका है। इसमें रहकर तुम पुष्पोंके मधु और गन्धके

अत एव श्रीमद्भागवते सप्तमे भागवताग्रगण्यः श्रीप्रह्लादः-भगवद्विमुखस्य संसारासक्तस्य वृथैवायुषः क्षयं वीक्ष्य विवेकिनमित्थं समुपदिशति 'ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः । शरीरं पौरुषं यावन्नविपद्येत पुष्कलम् ॥ पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्धं चाजितात्मनः । निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः ॥ मुग्धस्य बाल्ये कौमारे क्रीडतो याति विंशतिः । जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः ॥ दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा । शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापयाति हि ॥ को गृहेषु पुमान् सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः । स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥ कोऽन्वर्थतृष्णां विसृजेत् प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः । यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक् ॥'(१)

समान क्षुद्र सकाम कर्मोंके फलरूप जीभ और जननेन्द्रियको प्रिय लगनेवाले भोजन तथा स्त्रीसङ्ग आदि तुच्छ भोगोंको ढूंढ रहे हो । स्त्रियोंसे घिरे रहते हो और अपने मनको तुमने उन्हींमें फंसा रक्खा है । स्त्री - पुत्रोंका मधुरभाषण ही भौंरोंका मधुर गुंजार है, तुम्हारे कान उसीमें अत्यन्त आसक्त हो रहे हैं । सामने ही भेड़ियोंके झुंडके समान कालके अंश दिन और रात, तुम्हारी आयुको हर रहे हैं, परन्तु तुम उनकी कुछ भी परवाह न कर गृहस्थीके सुखोंमें मस्त हो रहे हो । तुम्हारे पीछे गुप-चुप लगा हुआ शिकारी काल अपने छिपे हुए बाणसे तुम्हारे हृदयको दूरसे ही बींध डालना चाहता है ।

(१) हमारे सिरपर अनेकों प्रकारके भय सवार रहते हैं, इसलिये यह शरीर जो भगवत्प्राप्तिके लिये पर्याप्त है, जबतक रोगशोकादिग्रस्त हो कर मृत्युके मुखमें नहीं चला जाता, तभी तक बुद्धिमान् पुरुषको अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कर लेना चाहिए मनुष्यकी आयु पूरी सौ वर्षकी है । जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, उनकी आयुका आधा हिस्सा यों ही बीत जाता है । क्योंकि वे रातमें घोर तमोगुण - अज्ञानसे ग्रस्त होकर सोते रहते हैं । बचपनमें उन्हें अपने हित - अहितका ज्ञान नहीं रहता, कुछ बड़े होने पर कुमार अवस्थामें वे खेल कूदमें लग जाते हैं । इस प्रकार बीस वर्षका तो पता ही नहीं चलता । जब बुढ़ापा शरीरको ग्रस लेता है, तब अन्तके बीस वर्षोंमें कुछ करने-धरनेकी शक्ति ही नहीं रह जाती । रह गयी बीचकी कुछ थोड़ी - सी आयु, उसमें कभी न पूरी होने वाली बड़ी - बड़ी कामनाएं हैं, बलात् पकड़ रखनेवाला मोह है, और घर द्वारकी वह आसक्ति है, जिससे जीव इतना उलझ जाता है कि उसे कुछ कर्तव्य - अकर्तव्यका ज्ञान ही नहीं रहता । इस प्रकार बची-खुची आयु भी हाथसे निकल जाती है । प्रह्लादजी कहते हैं - हे दैत्यबालको ! जिसकी इन्द्रियां वशमें नहीं हैं, ऐसा कौनसा पुरुष होगा जो घर गृहस्थीमें आसक्त और माया ममताकी मजबूत फांसीमें फंसे हुये अपने आपको

(भा० ७ । ६ । ५ - ६ - ७ - ८ - ९ - १०) इति । अयमर्थः—यस्मात्-वैषयिकतुच्छसुखार्थी यतमानस्य श्रेयोलाभाऽभावादेव, ततः = तस्मात् कारणात् कुशलः = विवेकी, मानवः, भयमाश्रितः = संसारदुःखाद् भीतः सन् पुष्कलं = सर्वाङ्गपूर्णं, पौरुषं = मानुषं शरीरं, यावन्न विपद्येत = अंगविकलतयाऽसमर्थं न भवेत् न नश्येदिति वा, तावत् शीघ्रमेव, अर्थात् कौमारमारभ्यैव क्षेमाय = निःश्रेयसे परसत्यध्यानानन्दरूपपरमपुरुषार्थलाभायैव यतेतेत्यन्वयः । भगवद्विमुखस्य विषयासक्तस्य वृथायुर्व्ययक्रममाह-पुंस इति त्रिभिः । पुंसः = मनुष्यस्य तावत् वर्षशतमायुः = शतवर्षपरिमितो जीवनयोग्यः कालः, तस्य शतवर्षपरिमितकालस्य, अर्धं = पंचशद्वर्षात्मकं निष्फलं यातीत्यन्वयः । हिशब्दः 'शतायुर्वै पुरुषः' इत्यादिप्रसिद्धिसूचनार्थः । निष्फलयाने हेतुमाह - यदिति । यस्मादसौ पुरुषः, अन्धं तमः = निद्रात्मकमज्ञानं सर्वदृश्यज्ञानशून्यां सुषुप्तिं यथार्थज्ञानशून्यं स्वप्नं वा प्रापितः सन् तूष्णीं रात्र्यां शेते । तथा शयने हेतुमाह– अजितात्मनः = अवशीकृतदेहेन्द्रियादिसंघातस्य । यदि कौमारादारभ्य भागवतधर्माः समाचरितः स्युस्तदा तदभ्यासबलाज्जितात्मत्वेन रात्र्यामपि मध्यमं यामद्वयं निद्रार्थमुपयोज्य पूर्वोत्तरयामयोरपि जपध्यानादिकमेव कुर्यात्तदा न तावदायुर्वृथा स्यादितिभावः । अत एव प्राक् प्रह्लादेन समुपदिष्टमपि - 'प्रह्लाद उवाच - कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह । दुर्लभं मानुषं जन्म, तदप्यध्रुवमर्थदम् ।।' (१) (भा० ७ । ६ । १) इति । प्राज्ञः = हेयोपादेयविभागज्ञो मानवः, कौमारे = कौमारमारभ्यैव, धर्मानेव, आचरेदेव, 'सर्वाणि वाक्यान्यसति बाधके सावधारणानीति' न्यायेनात्र यथायोग्यं सर्वत्रैवकारान्वयः । नार्थकामयोः प्रसक्तो भवेत् , न वाऽऽलस्यादिना निरुद्यमी भवेदित्यर्थः । तत्रापि भागवतान् = भगवत्प्रीतिजनकान् जपस्तुतिध्यानादिरूपान् हिंसावर्जितानेव, न तु हिंस्रान् काम्यकर्मादीन् । तत्रापि इह = मनुष्यजन्मन्येव, न

उससे छुड़ानेका साहस कर सके । जिसे चोर, सेवक एवं व्यापारी अपने अत्यन्त प्यारे प्राणोंकी भी बाजी लगाकर संग्रह करते हैं, और इसलिए उन्हें जो प्राणोंसे अधिक वाञ्छनीय है—उस धनकी तृष्णाको भला कौन त्याग सकता है ।

(१) प्रह्लादजीने कहा — मित्रो ! इस संसारमें मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है । इसके द्वारा अविनाशी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । परन्तु पता नहीं कब इसका अन्त हो जाय, इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको बुढ़ापे या जवानीके भरोसे न रह कर बचपनमें ही भगवान्की प्राप्ति करानेवाले साधनोंका अनुष्ठानकर लेना चाहिये ।

जन्मान्तरे, तत्र हेतुमाह – अर्थदमिति । इदं = मानुषजन्मैव परमपुरुषार्थ-मोक्षलाभसाधकं । ननु – तर्हि यथेष्टविषयभोगानन्तरं वार्धक्येऽपि तदाचरणस्य शक्यत्वात् 'कौमारमारभ्यैव तानाचरेदिति' नियमकरणे किं कारणमित्या-शंक्याह–तदप्यध्रुवमिति । नश्वरत्वेन तावत्पर्यंतमस्य स्थितिरेव न निश्चितेत्यर्थः । तर्हि - इतोऽन्यस्मिन्मनुष्यजन्मनि तदाचरणं सेत्स्यतीत्याशंक्याह - दुर्लभं मानुषं जन्मेति । विविधविचित्रकर्मवशादेव तिर्यगादियोनिषु भ्रमतः कदाचिदेव मानुष्यं जन्म लभ्यते, न तु पौनःपुन्येनातोऽस्य नास्ति सौलभ्यमिति भावः ।

एवं बाल्ये मुग्धस्य = मूढस्य, दशवर्षाणि, कौमारे क्रीडतश्च दश-वर्षाणीत्येवं वर्षाणां विंशतिर्निष्फलं याति । तथा जरया = वृद्धावस्थया ग्रस्त-देहस्य, अत एवाकल्पस्य = लौकिककार्येऽप्यसमर्थस्य वर्षाणां विंशतिः, वृथैव याति । यदि कौमाराद् जपध्यानाद्यभ्यासः कृतः स्यात्, तदा तद्वशाद् देहसा-मर्थ्यहीनोऽपि जपादिकमेव कुर्यात्, तदाऽस्य नायुषो व्यर्थता भवेदिति भावः । शेषं = अवशिष्टमायुः, दुरापूरेण = दुःखैः आसमन्तात् पूर्यमाणेन-दुर्गतः आपूरः-पूरणं यस्य तेन, कामेन = विषयभोगाभिलाषात्मकेन, गृहेषु सक्तस्य, अत एव प्रमत्तस्य = कर्तव्यानुसन्धानशून्यस्य, अपयाति = वृथा यातीत्यर्थः । भोगाभिलाषाणां हेतुमाह – मोहेनेति अहंताममतात्मकेनेत्यर्थः । स च भगवत्कृपां विना नैव निवर्तत इत्याशयेनाह – बलीयसेति । प्रसिद्धमेवैतत्सर्व-मिति द्योतनाय हि शब्दः । यदाह – भगवानपि गीतासु–'कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च ।' (३ । ३९) दुःखेन पूर्यत इति दुष्पूरः, न ह्यैश्वर्यादिकं सुखेन लभ्यते, अनेन कामस्य साधनावस्थायां दुःखहेतुत्वमुक्तम् । भोगा-वस्थायां तदाह – अनलेति । न विद्यते अलं = पर्याप्तिर्यस्य सोऽनलो वह्निः, अनल इवानलः, स यथा काष्ठै र्न पर्याप्तिं गच्छति 'नाग्निस्तृप्यति काष्ठानाम्' इति वचनात् । तथा कामोऽपि न तृप्तिं गच्छति, स्वर्गादिभोगं भुञ्जानस्याप्य-धिकभोगकामनया दुःखायमानत्वात्' तादृशेन बलीयसा कामेन विवेकज्ञानं सर्वेषामावृतम् ।

ननु – 'अन्ते या मतिः सा गतिः' इति नियमात् प्रथमं यथेष्टं भोगान् भुक्त्वा पश्चात् ततो विरक्तः सन् भागवतधर्मान् संपाद्य क्षेमं यास्यतीति 'कोऽयमाग्रहः कौमारमारभ्यैव तत्संपादनस्ये'ति शंकां दर्शयन् कौमारमारभ्यैव भागवतधर्माचरणं कर्तव्यमित्युपपादयति – 'को गृहेषु' इति सप्तभिः । 'गृहेषु' इति बहुवचनं पुत्रदारधनाद्युपलक्षणार्थं, देहेन्द्रियान्तःकरणपुत्रदारगृहादिषु सक्तं = आसक्तं, अत एव दृढैः = भगवत्कृपां विना सद्गुरोश्च करुणां विना दुर्मोचनीयैः–'दुर्लभो विषयत्यागः सद्गुरोः करुणां विना ।' इति वचनात् । स्नेहपाशैः बद्धमात्मानं कः पुमान् विमोचयितुमुत्सहेत = उत्साहं कुर्यात्,

तदुत्साह एव तावद्दुर्लभः, तत्करणं तु अशक्यमेवेति भावः । 'लोहदारुमयैः पाशैः पुमान् बद्धो विमुच्यते । पुत्रदारमयैः पाशैः पुमान् बद्धो न मुच्यते ॥' इति गारुडात् । तदा सर्वस्यैवैवंभूतत्वान्न कोऽपि विमुच्येतेत्याशंक्य-सत्यं भगवद्भजनेन तदनुग्रहतो विवेकं लब्ध्वा जितेन्द्रियः सन्नेव तत आत्मानं विमोचयितुं शक्नोति, नान्योऽजितेन्द्रिय इत्याशयेनाह – अजितेन्द्रिय इति । उक्तमेव स्पष्टयति–क इत्यादिना, अर्थस्य = धनादेः, तृष्णां को नु अजितेन्द्रियो विसृजेत् न कोऽपीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह – योऽर्थः, प्राणेभ्योऽपि ईप्सितः = इष्टतमः प्रियतम इत्यर्थः । ननु–एतदसंभावितमिति चेन्न तथा दर्शनादित्याह–यमिति । तस्करः = चोरः रात्रौ परगृहं प्रविशति, सेवकः = राजकीयः शस्त्रजीवी युद्धाभिमुखो भवति, वणिक् = पोतवणिक्-समुद्रयानेन क्रयविक्रयादिकर्ता समुद्रं निर्विशति, यं = अर्थं, प्रेष्ठैः = प्रियतमैरपि, असुभिः = प्राणैः क्रीणाति= प्राणहानिमङ्गीकृत्यापि अर्थं साधयितुं प्रवर्तते इत्यर्थः । एवमर्थप्रसक्तेः प्राबल्यं प्रदर्श्य कामप्रसक्तेः प्राबल्यं दर्शयति — 'कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान् । सुहृत्सु च स्नेहसितः शिशूनां कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः ॥ पुत्रान् स्मरंस्ता दुहितॄर्हृदय्या भ्रातॄन् स्वसॄर्वा पितरौ च दीनौ । गृहान् मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च वृत्तींश्च कुल्याः पशुभृत्यवर्गान् ॥ त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः कर्माणि लोभादवितृप्तकामः । औपस्थ्यजैह्व्यं बहुमन्यमानः कथं विरज्येत दुरन्तमोहः ॥ कुटुम्बपोषाय वियन् निजायुर्न बुध्यतेऽर्थं विहितं प्रमत्तः । सर्वत्र तापत्रयदुःखितात्मा निर्विद्यते न स्वकुटुम्बरामः ॥ वित्तेषु नित्याभिनिविष्टचेता विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः । प्रेत्येह चाथाप्यजितेन्द्रियस्तद्, अशान्तकामो हरते कुटुम्बी ॥ विद्वानपीत्थं दनुजाः ! कुटुम्बं पुष्णन् स्वलोकाय न कल्पते वै । यः स्वीयपारक्यविभिन्नभावस्तमः प्रपद्येत यथा विमूढः ॥ यतो न कश्चित् क्वच कुत्रचिद् वा, दीनः स्वमात्मानमलं समर्थः । विमोचितुं कामदृशां विहारक्रीडामृगो यन्निगडो विसर्गः ॥ ततो विदूरात् परिहृत्य दैत्या दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु । उपेत नारायणमादिदेवं स मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः ॥ (१) (भा० ७।६।११-१२-१३-१४-१५-१६-१७-१८) इति ।

---

(१) जो अपनी प्रियतमा पत्नीके एकान्त सहवास, उसकी प्रेमभरी बातों और मीठी - मीठी सलाह पर अपनेको निछावर कर चुका है, भाई - बन्धु और मित्रोंके स्नेहपाशमें बंध चुका है और नन्हें - नन्हें शिशुओंकी तोतली बोलीपर लुभा चुका है, भला, वह उन्हें कैसे छोड़ सकता है ? जो अपनी ससुराल गयी हुई प्रिय पुत्रियों पुत्रों, भाई - बहनों और दीन अवस्थाको प्राप्त पिता - माता, बहुतसी सुन्दर - सुन्दर बहुमूल्य सामग्रियोंसे सजे हुए घरों, कुलपरम्परागत जीविकाके साधनों

प्रियायाः = भार्यायाः, सङ्गादिकं स्मरंस्तत्कथं त्येजदिति तृतीयेनान्वयः । एवं सर्वत्र द्वितीयान्तपदस्यानेनैव क्रियापदेन सम्बन्धः । अनुकम्पितायाः = स्नेहवशात् अनुकम्पा = कृपा जाता यस्यां सा तस्याः – स्नेहकृपापात्रीभूतायाः-सुखारामप्रयोजकत्वेनानुकूलायाः, रहस्यं = रहसि – एकान्ते भवं-संगं, रुचिरान् = मनोज्ञान् - मनोरमान्-प्रबलप्रेमप्रयोजितान - मन्त्रान् = हितकरालापांश्च, संस्मरन् , कलानि = मधुराणि, अक्षराणि येषां तेषां शिशूनां च संगं, त्यागासामर्थ्ये हेतुमाह – सुहृत्सु = दारापत्यादिषु यः स्नेहः = स्नेह-

तथा पशुओं और सेवकोंके निरन्तर स्मरणमें रम गया है – वह भला उन्हें कैसे छोड़ सकता है ? जो जननेन्द्रिय और रसनेन्द्रियके सुखोंको ही सर्वस्व मान बैठा है, जिसकी भोगवासनाएं कभी तृप्त नहीं होतीं, जो लोभवश कर्म - पर - कर्म करता हुआ रेशमके कीड़ेकी तरह अपनेको और भी कड़े बन्धनमें जकड़ता आरहा है और जिसके मोहकी कोई सीमा नहीं है – वह उनसे किस प्रकार विरक्त हो सकता है ? और कैसे उनका त्याग कर सकता है ? । यह मेरा कुटुम्ब है इस भावसे उसमें वह इतना रम जाता है कि - उसीके पालन पोषणके लिये अपनी अमूल्य आयुको गंवा देता है, और उसे यह भी नहीं जान पड़ता कि मेरे जीवनका वास्तविक उद्देश्य नष्ट हो रहा है। भला, इस प्रमादकी भी कोई सीमा है। यदि इन कामोंमें कुछ सुख मिले तो भी एक बात है; परन्तु यहां तो जहां - जहां वह जाता है वहीं - वहीं दैहिक, दैविक और भौतिक ताप उसके हृदयको जलाते ही रहते हैं। फिर भी वैराग्यका उदय नहीं होता । कितनी बड़ी विडम्बना है !। कुटुम्बकी ममताके फेरमें पड़कर वह इतना असावधान हो जाता है, उसका मन, धनके चिन्तनमें सदा लवलीन रहता है कि - वह दूसरेके धन चुरानेके लौकिक - पारलौकिक दोषोंको जानता हुआ भी कामनाओंको वशमें न कर सकनेके कारण इन्द्रियोंके भोगकी लालसासे चोरी कर ही बैठता है। भाइयो! जो इस प्रकार अपने कुटुम्बियोंके पेट पालनेमें ही लगा रहता है – कभी – भगवद् भजन नहीं करता – वह विद्वान् हो तो भी उसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती । क्योंकि - अपने परायेका भेद - भाव रहनेके कारण उसे भी अज्ञानियोंके समान ही तमःप्रधान गति प्राप्त होती है । जो कामिनीयोंके मनोरञ्जनका सामान – उनका क्रीडामृग बन रहा है और जिसने अपने पैरोंमें सन्तानकी बेड़ी जकड़ ली है, वह बेचारा गरीब, चाहे कोई भी हो - कहीं भी हो - किसी भी प्रकारसे अपना उद्धार नहीं कर सकता, इसलिये भाइयो ! तुम लोग विषयासक्त-दैत्योंका सङ्ग दूरसे ही छोड़ दो, और आदिदेव भगवान् नारायणकी शरणग्रहण करो । क्योंकि – जिन्होंने संसारकी आसक्ति छोड़दी है, उन महात्माओंके वे ही परमप्रियतम और परम गति हैं।

लक्षणः पाशस्तेन सितः = बद्धः इति । स्नेहे हेतुमाह – तेष्वनुरक्तं चित्तं यस्य सः । ताश्च श्वशुरगेहे स्थिताः, हृद्याः हृदयङ्गमाः प्रियाः दुहितॄः = पुत्रीः, भ्रातॄंश्च स्वसॄः = भगिनीश्च, दीनौ = वृद्धत्वेन सामर्थ्यरहितौ पितरौ = मातापितरौ च । मनोज्ञाः = मनोहराः उरवः = बहवः, परिच्छदाः = भोगोपकरणानि, येषु तान् गृहांश्च, कुल्याः = कुलपरम्परागताः वृत्तीः = जीविकाश्च, पशून् = गवाश्वकुञ्जरादींश्च । भृत्यवर्गान् = सेवकसेविकासमूहान् । तत्तत्पालनपोषणोपयुक्ततत्तत्कर्माणि कुर्वतो व्यग्रचित्तस्य विचारावसरोऽपि न लभ्यते इत्याशयेनाह – तत्तत्फललोभात्कर्माणि ईहमानः = कुर्वन् इति । तत्र दृष्टान्तमाह – कोशस्कृदिवेति । कोशस्कृत् = कोशकारी कीटः, स यथा कोशात्मकं स्वगृहं कुर्वन् आत्मनो निर्गमद्वारमपि नावशेषयति । तथाऽयमपि स्वबन्धकानि कर्माणि कुर्वाणस्ततो निर्गमाय द्वारं नावशेषयतीत्यर्थः । एवं कर्मासक्तौ हेतुमाह – अवितृप्तकाम इति । ननु – अवितृप्तकामोऽपि तत्र दोषदर्शनेन विरक्तः सन् त्यजेत्तत्राह – औपस्थ्यं = शैश्न्यं च जैह्व्यं च सुखं, बहु = अधिकं, सर्वत इति शेषः, मन्यमानः ततः कथं विरज्येत = कथं विरक्तः स्यात् ? । तापत्रयमनुभवतस्ततः कुतो न विरक्तिस्तत्राह – दुरन्तमोह इति, दुरन्तो मोहो यस्य सः । दुरन्तमोहत्वं दर्शयन्नाह – कुटुम्बपोषाय तत्पोषणनिमित्तेन कर्मणा वियत् = क्षीयमाणं निजमायुः विहतंअर्थं = पुरुषार्थं – भगवदाराधनादि - परमानन्दावाप्तिलक्षणं च न बुध्यते । तत्र हेतुमाह – प्रमत्त इति । कुटुम्बासक्त्या हिताहितविवेकशून्य इत्यर्थः । सर्वत्र = सर्वस्मिन् देशे काले चाध्यात्मिकादितापत्रयेण दुःखितः आत्मा = मनो यस्य सः, तादृशोऽपि न निर्विद्यते = तत्र दुःखबुद्धिं न करोतीत्यर्थः, तत्र हेतुमाह – स्वेति । स्वकुटुम्बे रामः = रतिर्यस्य सः ।

'को न्वर्थतृष्णां विसृजेदि' त्यनेनार्थतृष्णायाः प्राबल्यमुक्तमप्यन्यतृष्णातोऽप्यस्याः प्राबल्यसूचनाय पुनराह – वित्तेष्वति । वित्तेषु = धनादिषु नित्यं = सर्वदाऽभिनिविष्टं चेतो यस्य सः, परवित्तहर्तुः प्रेत्य = मरणानन्तरं यमयातनादिरूपं, इह च स्वामिदण्डराजदण्डादिरूपं दोषं यद्यपि विद्वान् = जानाति, अथापि तत्परवित्तं हरते = हरत्येवेत्यन्वयः । तथापि तद्धरणे हेतुमाह – कुटुम्बीति । तद्धरणं विना कुटुम्बपोषणमपश्यंस्तद्धरते, 'अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ।' इति मन्वनुमोदनादिति भावः । ननु– दोषं पश्यतो धर्मज्ञस्य कुटुम्बपोषणार्थमपि तद्धरणमसंभावितमेवेत्याशंक्याह – अशान्तकाम इति । अशान्तविषयभोगतृष्णः । तत्र हेतुमाह – अजितेन्द्रियः – अवशीकृतानामिन्द्रियाणां स्वभावतो विषयोन्मुखत्वात् प्रबलत्वेन मनस आकर्षकत्वाच्च न कामशान्तिरित्यर्थः । एवं 'को गृहेष्वि'

त्यादिसप्तभिः श्लोकैः गृहादिष्वनुरागो दुस्त्यज इत्युक्तम् । अथ तस्यानर्थवह-त्वमाह-विद्वानपीति । यत्र विद्यावतां शास्त्रिणामपि न गणना, तत्र युष्माकं दैत्यादीनां का वर्तेति सूचयन् संबोधयति-हे दनुजा इति । यद्वा 'कयाधुर्नाम-दानवो' इत्युक्तेरहं दनोर्दौहित्रो यूयं च तद्वंश्यत्वान्मम बन्धवः स्थेत्यतो युष्मभ्यं हितमुपदिशामीति संबोधनाभिप्रायः । वा इत्यवधारणे । विद्वान् = शास्त्रज्ञतयाऽतिप्रसिद्धोऽपि, इत्थं = अत्यासक्ततया - वर्णितप्रकारेण, कुटुम्बं पुष्णन् , स्वलोकाय = आत्मपरामर्शाय - 'कोऽहं, कुत आयातः, किमधुना करोमि, किं कर्तव्यं विद्यते ? इत्येवं स्वमवलोकितुमित्यर्थः । यद्वा स्वाभि-न्नभगवत्परमपदावाप्तये, न वै कल्पते = समर्थो नैव भवति । किन्तु विमूढो यथा, तथा पारक्यद्रव्यादिहरणदोषात् तमः = नरकादिकमेव प्रपद्येत = प्राप्नुयादित्यन्वयः । तत्र हेतुमाह - य इति । स्वीयमिदं पारक्यमिति विभिन्नो भावो यस्य सः, उपलक्षणमिदं स्वः परश्चेत्यसद्ग्रहात्मको भावो यस्य सः, 'स्वः परश्चेसत्यद्ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतं ।' (भा० ७।५।११) 'आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् । तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥' (भा० ३ । २९ । २६) इत्यादिवचनेभ्यो स्वपरस्वीयपर-कीयभेददर्शिनो महतो भयस्यावश्यंभावादिति भावः । 'कौमारमारभ्यैव भागवतान् धर्मानाचरेदित्युपपादितं सहेतुकमुपसंहरति - यत इति द्वयेन । यस्मात् कश्चिदपि क्वच = क्वचिदपि काले, कुत्रचिदपि देशे वा स्वमात्मानं मोचयितुं न समर्थः, ततः = तस्मात् नारायणमुपेत = शरणं व्रजतेत्यु-त्तरेणान्वयः । असामर्थ्ये हेतुमाह- अलं दीनः = विषयेषु अतिलंपट इत्यर्थः । विषयलंपटानां दैन्यमनिवार्यमेवेति भावः । अत एव कामो दृशि = दृष्टौ यासां तासां युवतीनां विहारे = क्रीडानिमित्ते क्रीडामृगः = वानरतुल्यः । विहार-मिति पृथक्पाठे तासां विहारसाधनभूतमात्मानमित्यर्थः । न केवलं तासां क्रीडामृग एव भवत्यपितु बद्धोऽपि स्यादित्याह यदिति । यत् = यासु निगडः = शृङ्खलातुल्यो विसर्गः = पुत्रपौत्रादिरूपो भवति । हे दैत्याः ! विदूरात्-अतिदूरतः, दैत्येषु संगं परिहृत्य = त्यक्त्वा, तत्संगत्यागे हेतुमाह-विषयेति । विषयेषु = शब्दादिष्वेव, आत्मा मनो येषां तेष्वित्यर्थः, विषयाविष्टचित्त-दैत्यसंगेन स्वस्यापि विषयावेशाद् भगवदावेशो नैव स्यादित्याशयः । यद्वाऽवि-दूरात् = शीघ्रं, नारायणमुपेतेत्यन्वयः । श्रीनारायणस्य सर्वोत्तमत्वमाह-आदिदेवमिति, आदित्वात् - विश्वोत्पत्त्यादिकारणत्वात् - देवत्वात् - सर्वत्र सदा चैतन्यरूपेण द्योतनशीलत्वात् - सत्तादिरहितेषु स्वसत्तादिदानशीलत्वाच्च, 'देवो द्योतनाद् दानाद्वेति' निरुक्तस्मरणात् । सर्वाराधनीयपादपंकजमिति चाषन् । अतो मुक्तसंगैः = वीतरागैः परमविवेकिभिः संन्यासिभिरपि,

इषितः = इष्टः, अपवर्गः = द्वैतसंसारनिषेधावधिभूतः पूर्णाद्वयब्रह्मभावरूपो मोक्षः स एवेत्यन्वयः, 'निषेधशेषो जयतादशेषः ।' (भा० ८ । ३ । २४) इति वचनात् ।

एवं सप्तमे भक्तप्रवरः प्रह्लादो भगवन्तं स्वेष्टदेवं स्तुवन् - विदुषामपि सुदृढां कामासक्तिं वर्णयन् – विषयाःकाम्यमानास्त्वाशुतरविनाशित्वात्परिणामविरसत्वाच्च न कामनायोग्या इत्याह–'कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः, क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः । निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान् कामानलं मधुलवैः शमयन् दुरापैः ॥' (१) (भा० ७ । ९ । २५) इति । आशिषः = भोग्याः शब्दादयो विषयाः, कीदृशाः ? श्रुतिसुखाः = श्रुति = श्रवणेन्द्रियं सुखयन्तीति, श्रुतिरितीतरेन्द्रियोपलक्षणं, तत्तदिन्द्रियसम्बन्धमात्रे वर्तमानकाल एवापाततः सुखजनकाः, अत एव तत्र स्पर्द्धाऽसूयारागद्वेषापायचिन्तादीनां दोषाणां विद्यमानत्वात् – आशुतरविनाशित्वात् तत्प्राप्तेः प्रयाससाध्यतया दुर्लभत्वाच्च तत्र सुखभ्रान्तिमात्रमेव वस्तुतः सुखलेशोऽपि न विद्यते । तत्र दृष्टान्तमाह - मृगतृष्णिरूपा इति । मृगतृष्णिका = मरीचितोयं, तस्य यथा प्राप्ति दुर्लभा, वस्तुतस्तस्याविद्यमानत्वात्, प्रतीतिमात्रकाले भ्रान्त्या सन्तोषजनकत्वं, वस्तुतस्तु भ्रान्तानां मृगाणां परिश्रमहेतुत्वमेव, क्षणान्तरे विनाशित्व च, तथा सर्वविषयाणामपीत्यर्थः । मृगतृष्णा यथा दृष्टिसुखास्तथा राज्यैश्वर्यादिभोग्याविषया अपि श्रुतिसुखमात्रा एव वेदितव्याः । एवं शरीरस्य भोक्तुरपि रोगग्रस्ततया सामर्थ्याभावात् –, तदर्थप्रयासः आयुश्च वृथा भवति, तदासक्त्यादिदोषेण नरकादिदुःखगर्तपातश्चातोऽपि विषयकामना न युक्तेत्याह – क्वेदमिति । अशेषाणां रुजां = रोगाणां, विरोहः = उद्भवस्थानं, क्व चेदं कलेवरं = शरीरम् । नन्वेवं चेत् - तर्हि त्वदुक्तहेतोः सर्वजनप्रसिद्धत्वात् सर्व एव कुतो न संसारभोगान्निर्विद्यते इत्याशंक्य–भगवद्वैमुख्येन तन्मायया कथञ्चिज्ज्ञातस्यापि विवेकज्ञानस्याच्छादितत्वादित्याशयेनाह– निर्विद्यते नत्विति । यदपि = यद्यपि, इति = एवं विषयाणां

(१) विषयभोगकी बातें सुननेमें ही अच्छी लगती हैं, वास्तवमें वे विषयभोग मृगतृष्णाके जलके समान नितान्त असत्य हैं, और यह शरीर भी मिथ्या है, जिस शरीरसे वे भोग भोगे जाते हैं, वह अगणित रोगोंका उद्गमस्थान है । कहां वे मिथ्याविषयभोग और कहां यह रोगयुक्त शरीर । इन दोनोंकी क्षणभङ्गुरता और असारता जान कर भी मनुष्य इनसे विरक्त नहीं होता । वह कठिनाईसे प्राप्त होनेवाले भोगके नन्हें - नन्हें मधुबिन्दुओंसे अपनी कामनाकी आग बुझानेकी चेष्टा करता है ।

नश्वरत्वादिकं पूर्वोक्तं विद्वान् = जानाति, तथापि काम एव = विषयभोगतृष्णैव. अनलस्तं, दुर्लभैरपि मधुलवैः = मधुवन्मधुरघृतबिन्दुतुल्यैः वैषयिकसुखलेशैः - दुरापैः = दुःसाध्यैरपि शमयन् - न तु = नैव निर्विद्यते = न उपरतो भवतीत्यर्थः। कामाग्निशमनव्यग्रस्य जनस्य निर्वेदोपरामावकाशो नास्ति। यथा घृतबिन्दुभि र्न ह्यग्निः प्रशाम्यते, किन्तूद्दीप्यत एव, तथा नहि विषयभोगैः कामाग्निः प्रशाम्यति, किन्तु भूयो वर्द्धत एव। तदुक्तमप्यन्यत्र 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥' इति। तथा च तच्छमनव्यग्रमनस्त्वेन प्रतिक्षणं निर्वेदहेतुवस्तुविनाशादिकमनुभवन् अपि नानुसंधत्त इति भगवतो मायाचेष्टितमिदम् चिन्त्यमाश्चर्यमयञ्चेति भावः।

ननु - गार्हस्थ्येऽपि मनोज्ञस्त्रीसम्बन्धादिना प्रभूतं सुखमस्त्येव, अत एव तदर्थं जनस्य महान् प्रयत्नो दृश्यते - यदाह - 'सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।' इति तथा च वैषयिकसुखस्य वस्तुतो मृगतृष्णिकातोयवत् सर्वथाऽविद्यमानत्वं कथं प्रोच्यते ?, कथं च तत्संपादनप्रयत्नशीलस्य सर्वस्य जनस्य विवेकज्ञानशून्यतया कृपणत्वापरपर्यायं मौढ्यमुच्यते ? इत्याशंकानिरासाय - प्रह्लादः प्रतिवक्ति - 'यन्मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छं, कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्। तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः॥' (१) (भा० ७।९।४५) इति। यदिति मैथुनादिना = स्त्रीसम्बन्धादिना, गृहमेधिनां = गृहस्थानां, यत्सुखं, तत्तुच्छम्। विषयेन्द्रियसन्निकर्षकालिकत्वेनातिस्वल्पमेव. तदपि दुःखप्रचुरमेव, तदाह - दुःखमनुदुःखं यस्मिंस्तथाभूतं, हिशब्देनात्र विवेकजनानुभवं प्रमाणं सूचयति। दुःखदुःखत्वे दृष्टान्तमाह-कण्डूयनेन करयोरिति। करयोः = हस्तयोः कण्डूयनेन भूयो भूयो दद्रुरोगादिप्रेरितसंघर्षणेन यथा दुःखमनुदुःखमेव भवति, सुखन्तु घर्षणकालमात्रमतिस्वल्पं मोहकल्पितमेव तथेत्यर्थः। तथा च सुखार्थप्रयत्नो मोहादेवेति भावः। तर्हि दुःखप्रचुरत्वादेव ततो निर्विद्य मोहबन्धनाद्विमुच्येरंस्तत्राह - एवं दुःखभाजोऽपि, इह = गृहमेधिसुखे न तृप्यन्ति = अलमिति न मन्यन्ते।

---

(१) घरमें फंसे हुए लोगोंको जो मैथुन आदिका सुख मिलता है वह अत्यन्त तुच्छ एवं दुःख रूप है। जैसे कोई दोनों हाथोंसे खुजला रहा हो तो उस खुजलीमें पहले उसे कुछ थोड़ासा सुख मालूम पड़ता है, परन्तु पीछेसे दुःख ही दुःख होता है। किन्तु ये भूले हुए - अज्ञानी मनुष्य बहुत दुःख भोगने पर भी इन विषयोंसे अघाते नहीं, तृप्त नहीं होते, इसके विपरीत धीर पुरुष जैसे खुजलाहटको सह लेते हैं, वैसे ही कामादि - वेगोंको भी सह लेते हैं। सहनेसे ही उनका नाश होता है।

तत्र हेतुमाह – कृपणा इति । विवेकहीनतया दीना विषयभोगकामुका इत्यर्थः । कण्डूतिवत् कामस्य दुःसहत्वादिति भावः । ननु – तर्हि कथं कामं विषह्य केषांचिन्मुक्तता प्रसिद्धाः ? तत्राह – हे भगवन् ! त्वत्प्रसादादेव कश्चिद् धीरः सन् = सत्सङ्गसद्विचारादिनाऽविकृतप्रज्ञः सन मनसिजं = कामं विषहेत, न तु सर्वे, अत्रापि दृष्टान्तः कण्डूतिवदिति भावः ।

यदाह — श्रीभगवान्-अर्जुनं प्रति गीतास्वपि – 'शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् । कामक्रोधोद्भवं वेगं, स युक्तः स सुखी नरः ॥' (५ । २३) इति । अयमर्थः — कामक्रोधवेगः श्रेयोमार्गस्य मुख्यो वैरी, सर्वानर्थहेतु दुर्निवारोऽतिकष्ट इति मुमुक्षुणां भगवद्भक्तेन महता यत्नेन तन्निवारणं कार्यमिति दर्शयितुमाह – शक्नोतीति । कामक्रोधौ उद्भवः = कारणं, यस्य वेगस्य, तं तथोक्तं वेगमिव वेगम् । यथा हि नद्या वेगो वर्षास्वतिप्रबलः स्वसम्बन्धिनमनिच्छन्तमपि गर्ते पातयित्वा निमज्ज्याधो नयति, तथा कामक्रोधयोरपि वेगो मनोनेत्रादिक्षोभरूपो विषयाभिध्यानेन वर्षाकालस्थानीयेनातिप्रबलः स्वसम्बन्धिनमनिच्छन्तमपि विषयगर्ते निपात्य संसारार्णवे निमज्ज्याधो नरकं नयतीति वेगपदेन ध्वन्यते । एतच्च 'अथ केन प्रयुक्तोऽयम्' इत्यत्र भगवतैव स्पष्टमुक्तम् । तमेनं कामक्रोधवेगं, इहैव = बहिरिन्द्रियव्यापाररूपाद् गर्ते पातात् प्रागेव 'सेतुनेव नदीवेगं' विषयदोषदर्शनाभ्यासजन्यवैराग्येण, यः सोढुं = स्वानुरूपकार्याजनकत्वेनानर्थकं कर्तुं शक्नोति । तत्किं क्षणमात्रम् ? नेत्याह – प्राक् शरीरविमोक्षणात् = यावद् देहपातमित्यर्थः । स एव युक्तः = योगी, स एव सुखी, स एव नरः । तदितरस्त्वाहारनिद्राभयमैथुनादिपशुधर्ममात्रनिरतत्वान्मनुष्याकारः पशुरेवेत्यर्थः ।

विषयप्रीतिनिवृत्तावुपायमप्याह – कृपालुर्भगवान् तत्रैव गीतासु – 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते । आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः ॥ (५ । २२) इति । इति अयमर्थः — संस्पर्शजाः = विषयेन्द्रियसंपर्कजाः, ये इह वा परत्र वा भोगाः = क्षुद्रसुखानुभवाः, ते सर्वेऽपि, आद्यन्तवन्तः = अस्थिराः नश्वराः आदिः = विषयेन्द्रियसंपर्कः, अन्तः = तद्वियोगः, पूर्वं पश्चादप्यसन्तो मध्यैकक्षणमात्रवर्तिनः । तदापि दुःखस्यैव, योनयः = कारणभूताः, वर्तमानकालेऽपि रागद्वेषस्पर्धादिकरत्वाद् । तदिदमुक्तं विष्णुपुराणेऽपि – 'यावतः कुरुते जन्तुः, सम्बन्धान् मनसः प्रियान् । तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशंकवः ॥' (१) इति । अतो न तेषु बुधः = विवेकी

(१) यह प्राणि मनके प्रिय जितने - जितने सम्बन्धोंका निर्माण करता है । उतने-उतने ही इसके हृदयमें शोकके कीले गाड़े जाते हैं ।

रमते = आसक्तिं करोति । हि = यस्मादेवं तस्मान् ब्रह्मस्पर्शेऽसक्ततमेति पूर्वेण श्लोकेनान्वयः ।

श्रीमद्भागवते सप्तमे ह्लादः पुनरपि मूढस्य मनसो भगवत्तत्त्वविचारायोग्यतां निवेदयन् – हे कृपालुप्रभो ! त्वं मुहुरवलीये स्वीयदिव्यरूपगुणलीलाऽमृतं स्वस्वरूपोपदेशामृतञ्च वर्षसि, तस्यातिमाध्वीषु कथास्वप्यस्मादं पापिष्ठं मनो न प्रीणाति । दुःखबहुले दुर्विषयगत एव तदनर्थं जानन्नपि मुहुः पतति, सति चैवं वयं वराकाः किं कुर्मः ? इति मनस इन्द्रियाणाञ्च मौढ्यं विषयलालसाप्राबल्यञ्च द्योतयन् भगवतः करुणार्णवादेवोद्धारं प्रार्थयते नेति चतुर्भिः — 'नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ ! सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम् । कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं, तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ।। जिह्वैकतोऽच्युत ! विकर्षति माऽवितृप्ता, शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् । घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ।। एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्यां, अन्योऽन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम् । पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं, हन्तेति पारचर ! पीपृहि मूढमद्य ।। कोऽन्वत्र तेऽखिलगुरो ! भगवन् प्रयासः, उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः । मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो ! किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः ।।' (१)

---

(१) वैकुण्ठ नाथ ! मेरे मनकी बड़ी दुर्दशा है । वह पाप वासनाओंसे तो कलुषित है ही, स्वयं भी अत्यन्त दुष्ट है, वह प्रायः ही कामनाओंके कारण आतुर-दुःखी रहता है और हर्षशोक भय एवं लोक परलोक, धन पत्नी पुत्र आदिकी चिन्ताओंसे व्याकुल रहता । इसे आपकी लीला-कथाओंमें तो रस ही नहीं मिलता । इसके मारे मैं दीन हो रहा हूं । ऐसे मनसे मैं आपके स्वरूपका चिन्तन कैसे करूं ?। अच्युत ! यह कभी न तृप्त होनेवाली जीभ मुझे स्वादिष्ट रसोंकी ओर खींचती रहती है । जननेन्द्रिय सुन्दरी स्त्रीकी ओर, त्वचा सुकोमल स्पर्शकी ओर, पेट भोजन की ओर, कान मधुर संगीतकी ओर नासिका भीनी - भीनी सुगन्धकी ओर, वे चपलनेत्र सौन्दर्यकी ओर, मुझे खींचते रहते हैं । इसके सिवा कर्मेन्द्रियां भी अपने-अपने विषयोंकी ओर ले जानेको जोर लगाती रहती हैं, मेरी तो यह दशा हो रही है – जैसे किसी पुरुषकी बहुतसी पत्नियां उसे अपने - अपने शयनगृहमें ले जानेके लिए चारों ओरसे घसीट रही हों । इस प्रकार यह जीव अपने कर्मोंके बन्धनोंमें पड़ कर इस संसाररूप वैतरणी नदीमें गिरा हुआ है । जन्मसे मृत्यु, मृत्युसे जन्म और दोनोंके द्वारा कर्म - फल भोग करते - करते यह भयभीत हो गया है, यह अपना है, यह पराया है इस प्रकारके भेदभावसे युक्त होकर किसीसे मित्रता करता है तो किसीसे शत्रुता ।

(भा० ७ । ६ । ३६ - ४० - ४१ - ४२) इति ।

अयमर्थः — हे विकुण्ठनाथ ! = विशेषेण कुण्ठाः = विषयेषु व्याकुलाः विकुण्ठाः = मादृशा वराकाः, तेषां नाथः = रक्षकः समुद्धारकः स्वामी त्वमेवासीति भावः । एतन्मनस्तव कथासु न संप्रीयते = प्रीतियुक्तं नैव भवति यथा पित्तदुष्टा रसना सितास्विति भावः । तत्र हेतुमाह – असाधु = बहिर्मुखम्, तीव्रं = दुर्धरं-अनुनेतुमशक्यम्, तदेवाह – कामातुरं = तत्तद्विषय-भोगकामनया व्याकुलमित्यर्थः । अत एव तत्फलमपि पौनःपुन्येनेदमनुभव-तीत्याह – हर्षशोकभयैषणार्तं = हर्षशोकभयैः, पुत्रवित्तलोकैषणात्रयेण च, आर्तं = दुःखितं पीडितं, तत्र हेतुमाह – दुरितदुष्टं = दुरितैः = दुरदृष्टैः-दुष्टं, तस्मिन्-एवंभूते दुष्टे मनसि सति, दीनः = वराकोहं, तव = भगवतः गतिं = तत्त्वं-पारमार्थिकं स्वरूपं, कथं विमृशामि = विचारयामि ।

न केवलं मन एव दुष्टं, किन्त्वन्यान्यपीन्द्रियाणि दुष्टानि, तैरुपद्रुतोऽहमित्याह – जिह्वेति । जिह्वा = वागिन्द्रियं-रसनेन्द्रियञ्च । भो अच्युत ! मा = मां एकतः = यतो ग्राम्यकटुमिथ्याऽश्लीलादिप्रलापः, मधुरादिरसः, प्रेयसीकामिन्याद्यधरादिरसश्च ततः अर्थात् तान् प्रति-विकर्षति = आकर्षति । न चैकदा तद्दानेऽपि तस्याः तृष्णा निवर्तते, इत्याह–अवितृप्ता सती = पौनःपुन्येन तत्सेवनेऽपि तृप्तिरहिता सती, पुनः पुनस्तत्सेवनतृष्णायुक्ता सती । एवमन्येन्द्रियेष्वपि द्रष्टव्यम् । शिश्नः = उपस्थेन्द्रियं, अन्यतः = स्वेष्टकामिनीं प्रति, विकर्षतीत्यस्य क्रियापदस्य सर्वत्रान्वयः । त्वक्-इन्द्रियं, स्रक्चन्दनकोमल-शय्याकलत्रपुत्राद्याश्लेषं प्रति । उदरन्तु अभीष्टमाहारं प्रति । यद्वा क्षुधातप्तं सत् सद्य एव यत्किञ्चिदाहारमात्रं प्रति । श्रवणं = श्रोत्रमिन्द्रियं, कुतश्चित् = प्रियप्रशंसादिशब्दश्रवणं, परनिन्दादिश्रवणं च प्रति । घ्राणः = घ्राणेन्द्रियं, अन्यतः = केतक्यादिसुगन्धं प्रति । चपला = चंचला, दृक् = चक्षुः, मनोहरं रूपं प्रति, कर्मशक्तिः = कर्माणि धनोपार्जनादौ, अन्यताडनादौ वा शक्ति

हे भगवन् ! आप इस मूढ जीव - जातिकी यह दुर्दशा देख कर करुणासे द्रवित हो जाइये । इस भवनदीसे सर्वदा पार रहनेवाले प्रभो ! इन प्राणियोंको भी अब पार लगा दीजिये । जगद्गुरो ! आप इस सृष्टिकी उत्पत्ति तथा पालन करनेवाले हैं । ऐसी अवस्थामें इन जीवोंको इस भवनदीके पार उतार देनेमें आपको क्या प्रयास है ?। दीनोंके परमहितैषी प्रभो ! भूले भटके मूढ़ ही महान् पुरुषोंके विशेष अनुग्रहपात्र होते हैं । हमें उसकी कोई आवश्यकता नहीं है । क्योंकि - हम आपके प्रियजनों – ज्ञानवान् भक्तोंकी सेवामें लगे रहते हैं, इसलिये पार जानेकी हमें कभी चिन्ता ही नहीं होती ।

र्थस्य हस्तादेः सा, जातवेकवचनं, बह्वर्थे कर्मशक्तयः - कर्मेन्द्रियाणि, क्वच = कस्मिंश्चित् स्वस्वव्यापारं प्रति अनवरतं विकर्षति । तत्र दृष्टान्तमाह - बह्व्यः = भूयस्यः गेहपति = स्वामिनं सपत्न्यो यथा स्वावासं प्रति तमेकं विकर्षयन्त्यो लुनन्ति = त्रोटयन्ति-उद्वेजयन्ति, तद्वदित्यर्थः ।

न केवलमहमेक एवैतादृशीं कष्टमयीं दशामापान्नः, किन्तु सर्वोऽपि जन एवमेव अनादिकालतः क्लिश्यति, अतस्त्वं हे करुणानिधे ! प्रभो ! सर्वं जनं ततः समुद्धर, पालय चेति प्रार्थयते - एवमिति । भवः द्वन्द्वमयो दुःखप्रचुरःसंसार एव वैतरणी = यमद्वारस्थिता, पापिनां यातनार्था नदी, तस्यां, स्वकर्मपतितं = स्वकर्मभिः-शुभाशुभादृष्टैः पतितं. अतः कर्मवशाद्, अन्योऽन्यतः = परस्परतो यानि जन्ममरणाशनादीनि, तेभ्यो भीतभीतं = अतिभीतं, स्वपरविग्रहवैरमैत्रं = स्वेषां परेषां च विग्रहे = देहे व्यक्त्यभिप्रायतो देहेषु यथायथं वैरं मैत्रं च यस्य, तमेवंभूतं मूढं जनं पश्यन् हे पारचर ! हंतेति = अहो कष्टं जनानामित्येवमनुकम्प्य, अद्य सद्यः पीपृहि = भववैतरणीमुत्ताय-पालय इत्यर्थः । संसारवैतरण्याः पारे स्वाच्युतधाम्नि चरति = विहरतीति पारचर ! 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (शु० य० ३१ । १८) 'तमसः परमुच्यते' (गी० १३ । १७) 'तमस्तदासीद् गहनं गम्भीरं, यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः ।' (भा० ८ । ३ । ५) इति श्रुतिस्मृतिपुराणवचनेभ्यो भगवतस्तमस अज्ञानात् तत्कार्यात् संसाराच्च पारचरत्वमधिगम्यते । तत्सम्बोधनेन तवैव तत उत्तारणसामर्थ्यमस्तीति सूचितम् ।

तथापि - एकेन मया कथं सवस्य जनस्योद्धारः कर्तुं शक्यते ? इत्याशंक्याह - कोन्विति । अत्र = सर्वजनोत्तारणे ते = तव, को नु प्रयासः ? न कोऽपीत्यर्थः । कुतस्तत्राह-अस्य = विश्वस्य, भवसंभवलोपानां = उत्पत्तिस्थितिसंहाराणां हेतोः = कारणीभूतस्य तत्कर्तुः तव महेश्वरस्य ततोऽपि किमेतद् दुष्करमिति भावः । अत्रापि हेतुं सूचयन संबोधयति - हे भगवन्निति । भगवन् = ऐश्वर्यादिषड्विधभगपूर्ण ! एतादृशस्य तव भगवतः सर्वथा सामर्थ्यमस्तीति भावः । अत एव सर्वजनपूज्यस्त्वमित्यभिप्रेत्य पुनः संबोधयति - अखिलगुरो इति । यथैक एव परमार्थोपदेष्टा ब्रह्मनिष्ठो गुरुः परार्द्धानपि शिष्यांस्तारयितुं समर्थस्तथा त्वमपि जगद्गुरुः करुणार्णवोऽखिलान् जनान् तारयितुं समर्थ इति भावः । यद्यपि प्रह्लादस्य परमभागवतस्य मनइन्द्रियादि परतन्त्रता नैवास्ति, न वा संसारभयमस्ति, यदाहु - 'नैवोद्विजे पर ! दुरत्ययवैतरण्याः, त्वद्वीर्यगायनमहाऽमृतमग्नचित्तः । शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रि -

यार्थमायसुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥' (१) (भा० ७।९।४३) ❀ कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् । आसीनः पर्यटन्नश्नन् शयानः प्रपिबन् ब्रुवन् । नानुसंधत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः ॥' (२) (भा० ७।४।३७-३८) 'वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः ।' (भा० ७।४।३६) 'नोद्विग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहः, श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदृक् । दान्तेन्द्रियप्राणशरीरधीः सदा प्रशान्तकामो रहितासुरोऽसुरः ॥' (३) (भा० ७।४।३२) इति । ०

(१) प्रह्लादजी कहते हैं — परमात्मन् ! इस भववैतरणीसे पार उतरना दूसरे लोगोंके लिये अवश्य ही कठिन है परन्तु मुझे तो इससे तनिक भी भय नहीं है । क्योंकि - मेरा चित्त इस वैतरणीमें नहीं, आपकी उन लीलाओंके गानमें मग्न रहता है, जो स्वर्गीय अमृतको भी तिरस्कृत करनेवाली - परमामृतस्वरूप हैं । मैं उन मूढ़प्राणियोंके लिए शोक कर रहा हूं, जो आपके गुणगानसे विमुख रहकर इन्द्रियोंके विषयोंका मायामय झूठा सुख प्राप्त करनेके लिए अपने सिर पर सारे संसारका भार ढोते रहते हैं ।

(२) भगवान् श्रीकृष्णके अनुग्रहरूप ग्रहने श्रीप्रह्लादजीके हृदयको इसप्रकार खींच लिया था कि उन्हें जगत्की कुछ सुधबुध ही नहीं रहती । उन्हें ऐसा जान पड़ता है कि - भगवान् मुझे अपनी गोदमें लेकर आलिङ्गन कर रहे हैं । इसलिए उन्हें सोते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते और बातचीत करते समय भी इन बातोंका ध्यान बिलकुल न रहता ।

(३) प्रह्लाद जी बड़े - बड़े दुःखमें भी तनिक भी घबराते नहीं थे । लोक परलोकके विषयोंको उन्होंने देखा - सुना तो बहुत था, परन्तु वे उन्हें निस्सार और

❀ अयमर्थः — वत्स ! प्रह्लाद ! त्वामहं तावत्तारयिष्यामि, तावतैव कृतार्थः स्याः, किमनेन सर्वजनोद्धारप्रार्थनानिबन्धेनेत्यत आह — हे पर ? = सर्वोत्तम ! त्वद्वीर्यस्य = त्वद्दिव्यलीलासामर्थ्यस्य गायनमेव महामृतं तस्मिन् मग्नं चित्तं यस्य, सोऽहं भववैतरण्या नैवोद्विजे, किन्तु विमूढान् जनान् भववैतरण्यां पतितान् दुःखितान् शोचामि, तानेव आह—ततो महामृताद्विमुखं चेतो येषां तान् विमुखचेतसः, प्रत्युतेन्द्रियार्थनिमित्तं यन्मायाकल्पितं सुखं तदर्थं भरं = कुटुम्बादिभारमुद्वहतः ।

० गोविन्देन परिरंभितः = आत्मना एकीकृतः । एतानि = आसनादीनि । ग्रहेणेव कृष्णेनाविष्टः सन् जगदीदृशं-व्यवहारमयं न वेद, किन्तु कृष्णमयमेवेत्यर्थः । व्यसनेषु = दुःखेषु प्राप्तेष्वपि, गुणेषु = विषयेषु निःस्पृहः यतस्तेषु-अवस्तुदृक् = मिथ्यात्वदृष्टिः, दान्ताः = वशीकृता इन्द्रियादयो यस्य । रहित आसुरो भावो मत्सरादिर्यस्य स असुरकुलजातोऽपि सन् प्रशान्तकामः ।

अत एव तस्य भगवदेकनिष्ठतया जगदनुसंधानाभावात् नास्ति किमपि दैन्यम्, न चास्ति प्रार्थनीयं किञ्चित्। तथापि तस्य परमकृपालुतया साधकै र्जनै र्भगवतोऽग्रे सर्वदैवं दैन्यं भावनीयं, भगवांश्चैवं प्रार्थनीय इत्यन्यानपि शिक्षयितुं स्वदैन्यं प्रदर्शयन्, अन्यजनप्रसिद्धं संसारदुःखं मनःपारतन्त्र्यादिकञ्च स्वस्मिन्नारोप्य आह भक्तप्रवरः प्रह्लादः—'त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल ! दुःसहोग्रसंसारचक्रकदनाद् ग्रसतां प्रणीतः। बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम ! तेऽङ्घ्रिमूलं प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु ॥' (१) (भा० ७।९।१६) इति। अयमर्थः—अस्मद्विधस्य कृपणजनस्य संसारदुःखादुद्धार एव तवोचितस्तत्र प्रीतियुक्तत्वात् तत्कर्तुं समर्थत्वाच्चेत्यभिप्रायेण सम्बोधयति – हे कृपणवत्सल ! इति - मादृशानां दीनजनानामुपरि कृपा तवोचितैवेति भावः। तत्र हेतुत्वेन संबोधनान्तरमाह – उशत्तम ! इति। उशन्ति = सर्वदेच्छन्ति दीनोद्धरणमित्युशन्तः = दयालवस्तेष्वपि श्रेष्ठस्त्वदपरो नास्तीति भावः। दुःसहं यदुग्रं = उत्कटं-संसारचक्रे, चक्रवद् भ्रमणशीले दुःस्थे संसारे यत्कदनं = दुःखं, तस्मादहं त्रस्तोऽस्मीत्यन्वयः। तत्र च ग्रसतां = हिंस्राणां-त्वद्भक्तं मां भक्षितुमिवेच्छतामसुराणां त्वन्निन्दाद्वेषादिपराणां मध्ये स्वकर्मभिर्बद्धः सन् प्रणीतः = निक्षिप्तोऽस्मि. अत एव त्वं कदा नु प्रीतः सन् अपवर्गभूतं शरणं = दीनरक्षणाय ग्रहीतदीक्षं आश्रयभूतं संसारदुःखनिवर्तकं तवांघ्रिकमलं प्रति ह्वयसे = मामाह्वयसि। तव मुनिजनध्येयचरणकमलप्राप्तिरेव परमानन्दजनिका सकलदुःखनिवर्तिका च नान्यदित्याशयेनापि सम्बोधयति – हे उशत्तम ! = अतिकमनीय इति।

त्वां त्वत्सदृशान् अन्यांश्च तारयिष्यामि, किं सर्वजनोद्धरणप्रार्थनयेत्याशंक्याह – मूढेष्विति। हे आर्तबन्धो ! महतस्तव मूढेषु = अज्ञेषु संसारासक्तेषु सत्सङ्गभजनविमुखेष्वेवानुग्रह उचित इत्यन्वयः। आर्तेषु = दुःखितेषु

असत्य समझते थे, इसलिये उनके मनमें किसी भी वस्तुकी लालसा न थी। इन्द्रिय, प्राण, मन और शरीर उनके वशमें थे, उनके चित्तमें कभी किसी प्रकारकी कामना नहीं उठती थी। जन्मसे असुर होनेपर - भी उनमें आसुरी सम्पत्तिका लेश भी नहीं था।

(१) श्रीप्रह्लाद जी कहते हैं — दीनबन्धो ! मैं भय - भीत हूं तो केवल इस असह्य और उग्र संसार चक्रमें पिसनेसे ! मैं अपने कर्मपाशोंसे बंध कर इन भयंकर जन्तुओंके बीचमें डाल दिया गया हूं। मेरे स्वामी ! आप प्रसन्न होकर मुझे कब अपने उन चरणकमलोंमें बुलायेंगे, जो समस्त जीवोंकी एकमात्र शरण और मोक्षस्वरूप हैं !

अत एवानधिकारिषु, अनुग्रहेण तत्प्रयुक्ततदुद्धरणेन च तव निर्मलं यशः सर्वत्र विस्तृतं स्यादिति सम्बोधनेन सूच्यते । एतदेव व्यतिरेकमुखेन द्रढयति – किमिति । ते = तव ये प्रियजनाः भक्तास्तान् अनुसेवतां = अनुसेवमानानां नः = अस्माकं, तेन = संसारदुःखोद्धरणेन किं स्यात् ? न किमपीत्यर्थः । त्वद्भक्तसेवाप्रभावाद् वयं स्वयमेव संसारं तरिष्यामस्तेन तव किं यशः स्यादिति भावः । पूर्वं सर्वात्मकत्वेन सर्वत्र विद्यमानत्वाद् भगवत आराधने कोऽतिप्रयास इत्यसुरबालकान् प्रत्युक्त्वा, इदानीं जगज्जन्मादिकर्तुः तव सर्वजनोद्धारे कोऽतिप्रयासः इति भगवन्तं प्रार्थयमानः प्रह्लादः जनजनार्दनयोरन्योऽन्यं मैत्रीं कार्यामासेति ध्येयम् । यदाहुः श्रीधराचार्य्या अपि – 'कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेः, कोऽन्वत्र तेऽखलगुरो ! भगवन् ! प्रयासः । प्रह्लाद इत्थमुपमन्त्र्य मिथो नराणामीशेन सख्यमकरोदपनीय मायाम् ॥' इति ।

तदेतदखिलमभिप्रेत्य मूढमृगवन्मूढस्य जीवस्य चेष्टितं निरीक्ष्य तस्य दुःखप्रयोजकशब्दादिविषयाभिमुखबहिर्वृत्तिनिवारणाय, विमलसुखप्रयोजकपरमप्रेमास्पदपरमानन्दनिधिसर्वात्मस्वरूपभगवच्छरणप्रयुक्ततत्प्रसादाय च प्राचीनबर्हिषं राजानं निमित्तीकृत्य तं जीवात्मानं देवर्षि र्नारदः समुपदिशति—

स त्वं विचक्ष्य मृगचेष्टितमात्मनोऽन्तः,
चित्तं नियच्छ हृदि कर्णधुनीं च चित्ते ।
जह्यङ्गनाश्रममसत्तमयूथगाथं,
प्रीणीहि हंसशरणं विरम क्रमेण ॥ (१)

(भा० ४ । २९ । ५५)

हे जीवात्मन ! ममोपदेशे त्वं श्रद्धां विधत्स्व, अहं तव हितमेवोपदिशामि – स एव त्वं, आत्मनः = स्वस्य, मृगवच्चेष्टितं = मूढस्य मृगस्येव विषयानन्विच्छतः तत्प्रयुक्तप्रभूतं दुःखमनुभवतस्तव चेष्टितं, विचक्ष्य = विचार्य, प्राक् निरूपितमृगवृत्तान्तेनात्मानं महाविपत्तिग्रस्तमतिमौढ्यात्

(१) इस प्रकार अपनेको मृगकीसी स्थितिमें देखकर तुम अपने चित्तको हृदयके भीतर निरुद्ध करो और नदीकी भांति प्रवाहित होनेवाली श्रवणेन्द्रियकी तथा अन्य इन्द्रियोंकी बाह्यवृत्तिको चित्तमें स्थापित करो (अन्तर्मुखी करो) जहां कामी पुरुषोंकी चर्चा होती रहती है, उस गृहस्थाश्रमको छोड़कर परमहंसोंके आश्रयरूप श्रीहरिको प्रसन्न करो और क्रमशः सभी विषयोंसे विरत-उपरत हो जाओ ।

मृतप्रायं च निरीक्ष्य, अन्तः-हृदि चित्तं नियच्छ = निखिलानर्थमूलं विषय-चिन्तनं परित्यज्य-एकाग्रं कृत्वा स्थापयेत्यर्थः। ननु – इन्द्रियाणां विषयाभिमुखत्वात् तैराकृष्टं चित्तं कथमैकाग्र्येण हृदि स्थापयितुं शक्यते तत्राह – कर्णधुनीमिति। कर्णयोः = श्रोत्रेन्द्रियस्य धुनीं नदीमिव बहिर्वृत्तिं चित्ते नियच्छ। एतच्च सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थम्। चक्षुरादेरिन्द्रियान्तरस्य विषय-सम्बन्धे सत्येव चित्तक्षोभकत्वम्, श्रोत्रस्य तु दूरविषयश्रवणमात्रादेवेति प्राधान्येन तस्य निरोध उक्तः। यथा कठवल्लीषु – 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।' (क० उ० ३।१३) इत्यत्र वाचः प्राधान्यं कथंचिदभिप्रेत्य, वागादिसर्वेन्द्रियव्यापारनिरोधेन मनोवृत्तिमात्रशेषतयाऽवस्थानं मनसि वाचं यच्छेदित्यनेन प्रतिपादितम्। तथाऽत्रापि श्रोत्रं प्रधानं कृत्वा सर्वेन्द्रिय-व्यापारोपरमणमुक्तम्। एवं तच्चित्तं हृदि संस्थिते परमात्मनि संकल्पविकल्पादिसकलस्वव्यापारनिरोधेन संस्थापनमभिहितम्। अंगनाश्रमं स्त्रीप्रधानं गृहस्थाश्रमं च जहि = परित्यज। यदाह — 'स्त्रियं त्यक्त्वा जगत् त्यक्तं, जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेदिति. कीदृशम्? असत्तमयूथगाथं-असत्तमानां = अतिकामुकानां = भगवद्विमुखानां यानि यूथानि तेषां गाथा = वार्ता यस्मिन तत्। हंसानां = जीवानां, परमहंसमहात्मनां वा शरणं = रक्षितारं सर्वजीवसुहृदं, परमेश्वरं प्रीणाहि = प्रसादय, एवं क्रमेण अर्चनस्तवनजपध्यानवैराग्यादिसाधनसामग्र्यनुरोधेन सर्वतो विरम = संसाराद्विरतो भूया इत्यर्थः।

एवमर्वाचीनेन राजर्षिणा भर्तृहरिणाऽपि प्रेयोमार्गादनिष्टाद्विरामाय परमेष्टश्रेयोमार्गस्य चाश्रयणाय स्वकीयं चेत इत्थं समुपदिष्टम् – 'एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थगहनादायासकादाश्रय, श्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणात्। स्वात्मीभावमुपेहि, संत्यज निजां कल्लोललोलां गतिं, मा भूयो भज भङ्गुरां भवरतिं चेतः प्रसीदाधुना ॥' (१) अयमर्थः — हे चेतः! एतस्मात् = परिदृश्यमानात्, आयासयति – उद्वेजयतीत्यायासकात् – दुःखजनकात्, इन्द्रियार्थाः = शब्दादिविषया एव गहनं = अरण्यं, तस्मात्, दुर्विगाहत्वादेतद्रूपणम्। विरम = विरामं प्राप्नुहि। दुःखमयविषयासक्तिं

(१) इस दुःखप्रद इन्द्रियोंके विषयरूपी गहन-अरण्यसे तू उपरत हो और जो समस्त दुःखोंके शमन करनेमें अतिनिपुण है, ऐसे कल्याण मार्गका आश्रय कर, और देहभावको निवारणकर, स्वात्मभावको धारण कर, और हे चित्त! तरङ्गोंके समान - अतिचंचल अपनी बहिर्मुख वृत्तियोंका परित्याग कर, और पुनः संसारकी क्षणभंगुर प्रीतिका सेवन मतकर, और अब तू भक्ति वैराग्यादि साधनोंके द्वारा प्रसन्न होजा।

माकुर्वित्यर्थः । 'जुगुप्सा विराम' इत्यादिना पाणिनीयसूत्रेण पञ्चमी । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इत्यनेन परस्मैपदम् । किन्तु क्षणात् = क्षणमात्रेणैव, अशेषदुःखशमनं = एकविंशतिमहादुःखविध्वंसनं एव व्यापारः, तत्र दक्षं समर्थं', यत् श्रेयोमार्गं = अनन्यभक्तिविषयवैराग्याद्वयज्ञानलक्षणं कल्याणाध्वानं, आश्रय = अनुसर — तत्र प्रवर्तस्वेत्यर्थः। तथाऽज्ञानप्रभवं देहभावं जीवभावञ्च विहाय स्वात्मीभावं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाद्वयब्रह्मानन्दपूर्णस्वस्वरूपानुसन्धानतत्परत्वं उपेहि = प्राप्नुहि । तथा निजां = स्वकीयां, 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण !' इत्यादौ प्रसिद्धामित्यर्थः। कल्लोलवत् लोलां = अति — चपलां गतिं = व्यापारं बहिर्मुखवृत्तिलक्षणं संत्यज = सम्यक् विसृज्य सुस्थिरं भवेत्यर्थः । भूयः = पुनरपि, भङ्गुरां = क्षणभङ्गशीलां नश्वरां भवरतिं = संसारासक्तिं मा भज = मा सेवस्व । किन्तु — अधुना = इदानीं, प्रसीद = भक्त्यादिश्रेयोमार्गप्रवृत्त्या प्रसन्नं भव । तत्र तस्यावस्थितत्वात् चित्तप्रसाद एव भगवत्प्रसादः त्रिविधदुःखोपशमनपूर्वकः परमानन्दाविस्फूर्तिलक्षणः प्रत्येतव्यः । स च श्रेयोमार्गावलम्बनेनैव संपद्यमानो भवतीति ध्येयम्।

—❀—

तत्र तावत्पञ्चमस्कंधस्य तात्पर्यं संक्षेपतो वर्ण्यते – यथाहि—

(१) संसारोपरतिं मुमुक्षुता च परमसत्यस्य भगवतो ध्रुवां स्मृतिं जनयति। तयैव निर्मलो भक्तियोगः प्राप्यते। तेन हि चेतो विशुद्धमेकाग्रञ्च संपद्यते, तत्रैव भगवतः सद्गुरोश्चानुग्रहतः प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मविज्ञानं प्रादुर्भवति। तेन तद्भावलक्षणः सदा प्राप्तस्यैव प्राप्तिप्रयोजको मोक्षः सिद्ध्यति ।

(२) आत्मनः स्वस्याज्ञानमेवास्ति दुःखं भयं शोको मोहः शत्रुर्नरको

अब पंचम स्कंधके तात्पर्यका संक्षेपसे वर्णन किया जाता है। जैसे—

(१) संसारसे उपरति तथा मुमुक्षुता, ये दोनों ही परमसत्य - भगवान्की ध्रुवास्मृतिका प्रादुर्भाव करते हैं । उससे ही निर्मल-भक्तियोग प्राप्त होता है ! भक्तियोगसे चित्त विशुद्ध एवं एकाग्र हो जाता है । उस चित्तमें भगवान्के एवं सद्गुरुके अनुग्रहसे प्रत्यगभिन्न - अद्वय - ब्रह्मका विज्ञान प्रादुर्भूत होता है । उस विज्ञानसे ब्रह्म भाव लक्षणवाला – सदा प्राप्तिकी ही प्राप्तिका प्रयोजक - मोक्ष सिद्ध होता है।

(२) अपने - आत्माका अज्ञान ही — दुःख, भय, शोक, मोह, शत्रु, नरक

हलाहलगरलं इत्यादिकं सर्वमेवानर्थमयं पराभवलक्षकं प्रभूतानिष्टम् । अत एव स्वस्य वास्तविकं ज्ञानमेवास्ति सुखमभयं शोकमोहराहित्यं स्वर्ग आस्वाद्यममृतमित्यादिकमखिलमेव प्रयोजनमयं विजयलक्षकं नितान्तस्पृहणीयमभीष्टम् । अतस्तस्य द्वेष्यस्यानिष्टस्य निवारणाय, प्रियतमस्याभीष्टस्य तस्य लाभाय च सत्संगशास्त्रविचारभक्तिवैराग्यचित्तैकाग्र्यपावित्र्यादिकं प्रयत्नतः संपादनीयं मतिमता मुमुक्षुणा ।

(३) ब्रह्मविद्वरिष्ठः कैवल्यपति र्निर्द्वन्द्वो वीतरागो निःस्पृहो लोकोद्धाराय विशुद्धात्मस्वरूपज्ञानस्योपदेष्टा निखिलशास्त्रतत्त्ववेत्ता सद्गुरुरेव महान् विश्ववन्द्यः श्रद्धेयः प्रत्यक्षो भगवानेव, जिज्ञासायाः संसारसंतापस्य चोपशमाय 'शीतभीतेनानलमिव' परिसेवनीयस्तत्त्वजिज्ञासुना विचारकेण । भगवान् ऋषभदेवोऽपि तदानीन्तनः तादृशः सद्गुरुरभूदिति तस्मै महते तत्त्वदर्शिने भूयो-भूयो नमस्कारः ।

(४) अस्ति प्रसिद्धः केवलाद्वैतवेदान्तस्य सिद्धान्तः — संसारोपरतये, ब्रह्मभावलक्षणध्यानावाप्तये च 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्येति' । अस्यैवोपदेशः –

एवं हलाहल विष है, इत्यादि समस्त ही अनर्थ प्रचुर पराभवका परिचायक बहुत अनिष्टरूप जो कुछ है वह सब अज्ञान ही है । इसलिए अपने आत्माका वास्तविक ज्ञान ही सुख, अभय, शोक, मोहका अभाव, मित्र स्वर्ग एवं आस्वाद्य अमृत है – इत्यादि, समग्र ही प्रयोजन प्रचुर - विजयका परिचायक - अतीव स्पृहा करने योग्य – अभीष्ट जो कुछ है – वह सब ज्ञान ही है । अतः इस द्वेष करने योग्य अज्ञानरूप अनिष्टके निवारणकेलिए, तथा अतीव - प्रिय - अभीष्ट उस ज्ञानके लाभके लिए – बुद्धिमान् मुमुक्षुको सत्संग, शास्त्रविचार, भक्ति, वैराग्य, चित्तकी एकाग्रता एवं पवित्रता आदि साधन प्रयत्नसे संपादन करने चाहिये ।

(३) ब्रह्मवद्वरिष्ठ कैवल्यमोक्षका स्वामी, निर्द्वन्द्व, वीतराग, निःस्पृह, लोगोंके उद्धारके लिये विशुद्ध आत्मस्वरूपके ज्ञानका उपदेष्टा, निखिल शास्त्रोंके रहस्यका ज्ञाता, सद्गुरु ही महान विश्ववन्दनीय, श्रद्धाकरने योग्य - प्रत्यक्ष भगवान् है । वही जिज्ञासाके तथा संसार - संतापके उपशमके लिए - ठण्डीसे व्यथित जैसे अग्निका सेवन करता है – वैसे विचारशील - तत्त्व - जिज्ञासुको आदरके साथ सेवन करना चाहिये । भगवान् ऋषभदेव भी उस समय वैसे ही सद्गुरु थे, अतः उस महान् तत्त्वदर्शीको बार - बार नमस्कार ।

(४) 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है' ऐसा केवलाद्वैतवेदान्तका सिद्धान्त - संसारसे उपरतिके लिए तथा ब्रह्मभावका सम्पादक ध्यान प्राप्तिके लिए प्रसिद्ध है ।

राजानं रहूगणमुद्दिश्य ब्रह्मनिष्ठेन वीतरागेण जडभरतेनातिस्पष्टतया प्रत्यपादि ।

(५) अत एव तत्त्वज्ञाननिष्ठाप्रयोजकाय वैराग्याय जडभरतेन भवाटव्याः मिथ्यारूपेण प्रभूतदुःखरूपेण च विस्तरतो वर्णनं कृतम् । यतो वैराग्यं विना तत्त्वज्ञानं न परिनिष्ठितं न च विशुद्धब्रह्मानन्दानुभवप्रयोजकं भवति ।

(६) 'तदेव ब्रह्म त्व विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ।' (के० उ० १ । ४) इति केनश्रुतिप्रतिपादितः — एकस्याद्वयस्य ब्रह्मणः सविशेषसोपाधिकनिर्विशेषनिरुपाधिकलक्षणो विशिष्टशुद्धात्मकरूपद्वयभेद उपासनाय ज्ञानाय च श्रीमद्भागवते चतुर्थेऽपि स्पष्टतया वर्णितः । यतः — इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ।' इति न्यायेन — अतिधन्याया आस्तिकजनमान्यायाः भगवत्याः श्रुतेरेवार्थस्यैव स्मृतिषु पुराणेषु च विविधचरित्रवर्णनद्वारा विस्तरतः प्रतिपाद्यमानत्वात् ।

इसी ही सिद्धान्तका उपदेश — रहूगण राजाको उद्देश्य करके — ब्रह्मनिष्ठ, वीतराग-जड़भरतजीने अतिस्पष्टरूपसे किया है ।

(५) इसलिए — तत्त्वज्ञानकी निष्ठाका प्रयोजक - वैराग्यके लिए जड़भरत-जीने मिथ्या रूपसे तथा बहुत दुःख रूपसे विस्तार पूर्वक - भवाटवीका वर्णन किया है । क्योंकि - वैराग्यविना, तत्त्वज्ञान न तो परिनिष्ठित (ध्रुवा स्मृतिमय) हो सकता न तो विशुद्ध - ब्रह्मानन्दके अनुभवका प्रयोजक ही होता है ।

(६) 'उसीको तू शुद्ध ब्रह्म जान, जिसकी उपासना नहीं की जाती है अर्थात् उपास्य ब्रह्म विशिष्ट होता है शुद्ध नहीं, शुद्धब्रह्म ही ज्ञानगम्य है ।' इस केनोपनिषत्-की श्रुतिके द्वारा प्रतिपादित - एक ही अद्वय ब्रह्मका - विशिष्ट एवं शुद्ध सविशेष एवं निर्विशेष, सोपाधिक एवं निरूपाधिकरूप-रूपद्वय भेद, उपासनाके लिए तथा ज्ञानके लिए श्रीमद्भागवतके चतुर्थस्कंधमें भी स्पष्ट रूपसे वर्णित है । क्योंकि — 'इतिहास (महाभारतादि) एवं पुराण (भागवतादि) के द्वारा वेदोंके अर्थका ही युक्ति-चरित्र वर्णन आदिके द्वारा समर्थन करना चाहिये ।' इस न्यायसे अतिधन्य आस्तिक मानवोंके द्वारा मान्य — भगवती श्रुतिके अर्थका ही स्मृतियोंमें एवं पुराणोंमें विविध-चरित्रोंके वर्णन द्वारा विस्तारसे प्रतिपादित हुआ है ।

—❀—

(उपशमशीला एव मुमुक्षवो भगवतो ध्रुवां स्मृतिमवाप्य भक्तियोगं प्राप्नुवन्ति, तेन च तेषां विशुद्ध एकाग्रे चेतस्येव सदा सिद्धतया विज्ञातः प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावलक्षणो मोक्षः सम्पद्यमानो भवति) (१)

अस्ति तावदिदं सुनिश्चितं शास्त्रेभ्यो यत् - आद्यन्तवतो द्वन्द्वमयस्य संसारस्य मिथ्यात्वनिश्चय एव तस्मादुपरतिं जनयति । सा च भगवतो ध्रुवां स्मृतिं द्रढयति, ततस्तत्र विमलतरो भक्तियोगः सिद्ध्यति, तेन हि चित्तं विशुद्धमेकाग्रञ्च सम्पद्यते । ततस्तस्मिन् प्रत्यगभिन्नेऽद्वये ब्रह्मण्येव विशेषोपाधिनिरासेन अप्राप्तिभ्रमापोहेन च मोक्षलक्षणस्तादात्म्यभावः स्वतः सदा सिद्धोऽपि प्राप्तो भवति । अत एव साधनसाध्यविवेचका विद्वांसस्तयोः पौर्वापर्यलक्षणं क्रममेतादृशं प्राहुः – यदा हि प्राक् दृश्येभ्य उपरामः सिद्ध्यति, ततस्तदा विशुद्धानन्यप्रेमपूर्णः सर्वात्मभूतो रामो विज्ञातो भवति, ततोऽखिललोकाभीप्सितो निखिलदुःखोपशमोपलक्षितः परमशान्तिनिरवच्छिन्नसुखलक्षण आरामः सम्पद्यते इति ।

यदाह – भगवन्तमधोक्षजं तोष्टूयमानः प्रजापतिः षष्ठे – 'यदोपरामो मनसो नामरूपरूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात् । य ईयते केवलया स्वसंस्थया, हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ॥' (२) (भा० ६ । ४ । २६) इति ।

अयमर्थः — ननु – सर्वात्मभूतः स्वयंप्रकाशो भगवान् अस्मिन्नेव देहे वसति चेत्तदा कुतो न सर्वदा प्रतीयते ? इत्याशंक्य विषयाविष्टचित्तत्वेन तिरोहितत्वान् न सर्वदा प्रतीयते, तर्हि कदा प्रतीयत इत्यपेक्षायामाह – यदेति । अविद्याकल्पितद्वैतप्रपञ्चनिष्ठे नामरूपे रूप्येते = निरूप्येते येन तन्नामरूप-

(१) (उपराम स्वभाववाले ही मुमुक्षुजन - भगवान्‌की निश्चल स्मृतिको प्राप्त करके भक्तियोग प्राप्त कर सकते हैं, उससे उन्हींके विशुद्ध एकाग्रचित्तमें ही सदा सिद्धरूपसे विज्ञात प्रत्यगभिन्न ब्रह्मभावलक्षणवाला मोक्ष-सम्पन्न होता है)

(२) जब समाधिकालमें प्रमाण, विकल्प और विपर्ययरूप-विविधज्ञान और स्मरण शक्तिका लोप हो जानेसे, इस नामरूपात्मक जगत्‌का निरूपण करनेवाला मन उपरत हो जाता है, उस समय विना मनके भी केवल सच्चिदानन्दमयी अपनी स्वरूपस्थितिके द्वारा आप प्रकाशित होते रहते हैं । प्रभो ! आप शुद्ध हैं और शुद्ध-हृदय मन्दिर ही आपका प्रकट - निवासस्थान है, आपको मेरा नमस्कार है ।

रूपं, तस्य मनसो यदा दृश्येभ्यो नामरूपेभ्यो द्विष्टेष्टेभ्यो वैराग्यलक्षण उपरामः समाधिपर्यन्तो भवति, न तु सुषुप्ताविव लयो न च जाग्रत्स्वप्नयोरिव विक्षेपः संजायते । ननु – दर्शनादिवृत्तीनां सत्त्वे कथं मनस एतादृश उपरामः संभवतीत्याशंक्य तत्र हेतुमाह – दृष्टं = दर्शनं-प्रमाणविपर्ययविकल्पलक्षणं त्रिविधं वृत्तिज्ञानं, स्मृतिश्च = स्मरणं, तयोः सम्प्रमोषात् = नाशात्-जपध्यानादिसाधनेभ्य इति शेषः । तदा यः = सच्चिदानन्दरूपो भगवान्-केवलया = केवलेन-प्राकृतगुणशून्येन-निरवच्छिन्नेन, स्वसंस्थया = परमप्रेमास्पदपरमानन्दनिधिरूपस्वस्वरूपज्ञानेन प्रतीयते = स्वाभेदेन विज्ञायते, तस्मै = लोकवेदप्रसिद्धाय, हंसाय = शुद्धाय-परमात्मने, कीदृशाय ? शुचिसद्मने = शुचि = शुद्धमेकाग्रं हृदयमेव सद्म = उपलब्धिस्थानं यस्य तस्मै नम इत्यन्वयः । इत्येतदभिप्रेत्य बाल्यादारभ्यात्मविद्यापरिशीलनतत्पराणामूर्ध्वरेतसां राजर्षिमनुपौत्राणां प्रियव्रतपुत्राणां तुर्यपारमहंस्याश्रमं भजमानानां परमर्षीणां तदन्येषां मुमुक्षूणां श्रेयोमार्गप्रदर्शनाय-साधनफले निरूपयन् आह – भगवान् श्रीशुकः —

'तस्मिन्नु ह वा उपशमशीलाः परमर्षयः सकलजीवनिकायावासस्य भगवतो वासुदेवस्य भीतानां शरणभूतस्य श्रीमच्चरणारविन्दाविरतस्मरणाविगलितपरमभक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण समीयुः ॥' (१)

(भा० ५ । १ । २७)

'एतेषां कविर्महावीरः सवन इति त्रय आसन् ऊर्ध्वरेतसस्त आत्मविद्या-

---

(१) इन राजा प्रियव्रतके पुत्र निवृत्तिपरायण प्रशान्त महर्षियोंने संन्यासाश्रममें ही रहते हुए समस्त जीवोंके अधिष्ठान और भव बन्धनसे डरे हुए लोगोंको आश्रय देनेवाले भगवान् वासुदेवके परमसुन्दर चरणारविन्दोंका निरन्तर चिन्तन किया । उससे प्राप्त हुए अखण्ड एवं श्रेष्ठ भक्तियोगसे उनका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो गया और उसमें श्रीभगवान्का स्वस्वरूपसे आविर्भाव हुआ । तब देहादि उपाधिकी निवृत्ति हो जानेसे उनकी आत्माकी सम्पूर्ण जीवोंके आत्मभूत प्रत्यगात्माब्रह्ममें एकीभावसे स्थिति हो गयी ।

यामभभावादारभ्य कृतपरिचयाः पारमहंस्यमेवाश्रममभजन् ।' (१) (भा० ५ । १ । २६) । एतेषां = राजर्षिप्रवरस्य क्षत्रियश्रेष्ठस्य मनोः पौत्राणां. प्रियव्रतस्य राजर्षेः पुत्राणां मध्ये कविर्महावीरः सवन इति त्रयः पुत्रा ऊर्ध्वरेतसः = अकृतविवाहाः स्त्रीसम्बन्धरहिता जितेन्द्रया आसन् । यतस्ते अर्भभावात् = बाल्यादारभ्य, आत्मविद्यायामेव कृतपरिचयाः = कृताभ्यासाः, अतः पारमहंस्याश्रममेव = तुरीयं संन्यासाश्रममेव, अभजन् = स्वीकृतवन्तः-परमादरेण सेवितवन्तः । एतेन-द्विजवरब्राह्मणवत्-क्षत्रियादीनां-द्विजानां विवेकविरागादिसाधनवतां यज्ञोपवीतगायत्रीजपवेदाध्ययनादावधिकारवत् तुरीयसंन्यासाश्रमग्रहणेऽप्यस्ति सुनिश्चितोऽधिकार इति स्पष्टं विज्ञाप्यते । अत एवैकादशेऽपि – 'नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः । श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः ॥' (२ (भा० ११ । २ । २०) इत्यनेन – राजर्षिप्रवरस्य ऋषभदेवस्य नवपुत्राणां क्षत्रियाणां स्वरुचा रोचमानानां ब्रह्मपुत्रसनकादिसदृशानां नारायणपरायणानां महाभागवतानां योगीश्वराणां स्पष्टतः संन्यासित्वापरपर्यायं श्रमणत्व निरूपितं, तदेव समर्थयति । तुरीयाश्रमलिङ्गधरान तानभिवीक्ष्य तेषां स्वागताय 'यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ।' (भा० ११ । २ । २५) ते च महत्तमा निमिना नृपेण प्राक् सत्कृताः पश्चात् पृष्टाः सन्तो भागवतान् धर्मान् जनकल्याणकरान् विस्तरतोऽब्रुवन् । एतेन तेषां सद्धर्मज्ञानभक्त्यादिप्रचारशीलत्वमुपदेशकत्वलक्षणमप्यवगम्यते । स्वायंभुवस्य मनोः सुतः प्रियव्रतः तस्याग्नीध्रः, तस्य नाभिः, तत्सुतः ऋषभः, तं वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षयाऽवतीर्णमाहुः ।

अत एव परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य भगवत्पादस्याचार्यशंकरस्य प्रधानशिष्याः श्रुत्यादिशास्त्ररहस्यविदः श्रीसुरेश्वराचार्य्या अपि – बृहदारण्यकभाष्यवार्तिके – 'त्रयाणामविशेषेण संन्यासः श्रूयते श्रुतौ ।' इति वदन्तः त्रयाणां द्विजानां संन्यासग्रहणाधिकारं वर्णयन्ति । एतेन – श्रीमद्भागवतस्य श्रीधरव्याख्यानस्य टीकायां – 'ब्राह्मणस्यैव तुरीयाश्रमेऽधिकारो नान्यस्य' इति वदन्

(१) महाराज प्रियव्रतके इन राजपुत्रोंमें कवि, महावीर, और सवन - ये तीन नैष्ठिक ब्रह्मचारी हुए, इन्होंने बाल्यावस्थासे आत्मविद्याका अभ्यास करते हुए अन्तमें संन्यास आश्रम ही स्वीकार किया ।

(२) भगवान् ऋषभदेवजीके शेष नौ पुत्र संन्यासी हो गये, वे बड़े भाग्यवान् थे, उन्होंने आत्मविद्याके सम्पादनमें बड़ा परिश्रम किया था और वास्तवमें वे उसमें बड़े निपुण थे । वे प्रायः दिगम्बर ही रहते थे और अधिकारियोंको परमार्थ–वस्तुका उपदेश किया करते थे ।

वंशीधरः प्रत्युक्तः । वस्तुतो विरागादिसाधनवतः शुभसंस्काराढ्यस्यैव त्यागमये संयमोपशमप्रधाने संन्यासेऽधिकारः, तद्रहितस्य ब्राह्मणस्यापि न त्वधिकार इति वयं निर्विवादं पर्यालोचयामः । सति चैवं-कविकुलगुरुणा प्रथितयशसा कालिदासेनापि रघुवंशे काव्ये रघो र्महाराजस्य प्रव्रज्यालक्षणः संन्यासाश्रमो विस्तरेणाष्टमे सर्गेऽभिवर्णितो द्विजानां चतुर्थाश्रमाधिकारं श्रुत्यादिशास्त्रविहितं स्पष्टं प्रत्याययति – तथा हि – 'स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद् बहिः । समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥ प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् । नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत् ॥ यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः । अपवर्गमहोदयार्थयो र्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ॥ अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः । अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥ नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा । परिचेतुमुपांशु धारणां, कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥ अनयत्प्रभुशक्तिसम्पदा - वशमेको नृपतीननन्तरान् । अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥ अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ, द्विषदारम्भफलानि भस्मसात् । इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ॥ पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् । रघुरप्यजयद् गुणत्रयं, प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः ॥ न नवः प्रभुराफलोदयात् स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः । न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरापरमात्मदर्शनात् ॥ इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ । प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः ॥ अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः । तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥ श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः । विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥ अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित् । न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः ॥ स परार्ध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः । शमिताधिरधिज्यकार्मुकः कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥ इति । (१४ इत्यारभ्य २७ पर्यन्तम्) ।

एतेषामयमर्थः — सः = महाराज रघुः कीदृशोऽसौ ? इत्यपेक्षायामितोऽग्रे स्वयमेव कविकुलगुरुः – तं विशिनष्टि – 'अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया । विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥ ८-१० ॥ अयमर्थः — अथ रघुः, आत्मजं = पुत्रमजं,

महाराज रघु अपने पुत्र - राजकुमार - अजको अपने समान मन्त्री, सेनापति, कोषाध्यक्ष आदिमें प्रतिष्ठित हुआ देख कर स्वर्गादि लोकके दिव्यादिव्य

आत्मवत्तया = निर्विकारमनस्कतयेत्यर्थः । 'उदयादिष्वविकृतिर्मनसः सत्त्वमुच्यते । आत्मवान् सत्त्ववानुक्तः' इत्युत्पलमालायाम् । प्रकृतिषु = अमात्यादिषु प्रतिष्ठितं = रूढमूलं, वीक्ष्य = ज्ञात्वा । विनाशो धर्मो येषां तेषु विनाशधर्मसु- अनित्येषु- नश्वरेष्वित्यर्थः । त्रिदिवस्थेषु = स्वर्गादिस्थेष्वपि विषयेषु = दिव्यादिव्यशब्दादिषु निःस्पृहः = निर्गतेच्छोऽभवत् । कुलधर्मश्चायमेवेत्याह- 'गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः । पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे ॥११॥ दिलीपवंशजाः परिणामे = अन्तिमे वयसि-वार्धके, गुणवत्सुतेषु रोपितश्रियः = स्थापितलक्ष्मीकाः, प्रयताश्च = मोहममतादिमलरहिताः चेतसो विशुद्धिमापन्नाश्च सन्तः, तरुवल्कान्येव वासांसि येषां तेषां संयमिनां = यतीनां चतुर्थाश्रमिणां पदवीं = वैरक्त्यलक्षणां प्रपेदिरे = प्राप्तवन्तः, यस्मात्तस्मादस्यापि रघोरिदं संन्यासग्रहणमुचितमेवेत्यर्थः । 'तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः । पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः ॥१२॥ अरण्यसमाश्रयोन्मुखं = वनवासोद्युक्तं पितरं तं रघुं, सुतोऽजः वेष्टनशोभिना = उष्णीषमनोहरेण शिरसा पादयोः प्रणिपत्य, आत्मनोऽपरित्यागमयाचत । मां परित्यज्य न गन्तव्यमिति प्रार्थितवानित्यर्थः । 'रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः । न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥१३॥ आत्मजप्रियः = पुत्रवत्सलो रघुः, अश्रूणि मुखे यस्य तस्याश्रुमुखस्याजस्य तदपरित्यागरूपमीप्सितं = अभिलषितं कृतवान् । किन्तु सर्पस्त्वचमिव, व्यपवर्जितां = परित्यक्तां, श्रियं = राज्यलक्ष्मीं पुनर्न प्रतिपेदे = न प्राप-तत्र समासक्तिं न चकारेत्यर्थः ।

एवंभूतो महाराजेश्वरो रघुः, किल = निश्चयेन विधिवत्, अन्त्यमाश्रमं = अन्तिमं चतुर्थं संन्यासाश्रमं प्रव्रज्यालक्षणमाश्रितः । पुरात् = नग-

शब्दादि विषयोंसे- जो विनश्वर हैं - निःस्पृह हुआ । १० । महाराज दिलीपके वंशज, अन्तिम वय - वार्धक्य प्राप्त होने पर गुणवान् - पुत्रोंमें राज्य-लक्ष्मी स्थापित कर, मोह-ममता आदि मलसे रहित हुए, जिनके वल्कल ही वस्त्र हैं- ऐसे चतुर्थाश्रमी संन्यासियोंकी त्याग-वैराग्यमयी-पदवीको प्राप्त होते हैं । ११ । अपने पिता-महाराज रघुको संन्यासी होकर अरण्य गमनके लिए तत्पर हुआ देखकर - पुत्र महाराज अजने, मनोहर पगड़ीवाले शिरसे उनके चरणोंमें प्रणिपात करके अपने अपरित्यागकी प्रार्थना की ।१२। पुत्रवत्सल-महाराज रघुने अश्रुओंसे भरे हुए मुखवाले-पुत्र अजकी प्रार्थनाको स्वीकार किया, परन्तु उन्होंने - सर्पसे परित्यक्त - कंचुकीके समान - परित्याकी हुई राज्य लक्ष्मीमें पुनः आसक्ति नहीं की । १३ । महाराज - रघुने विधिपूर्वक-प्रव्रज्या-

राद् बहिः, आवसथे = स्थाने-शान्ते-एकान्ते निवसन्, अविकृतेन्द्रियः = जितेन्द्रियः सन्, अत एव स्नुपयेव = वध्वेव पुत्रभोग्यया, न स्वभोग्यया, श्रिया समुपास्यत = शुश्रूषितः। जितेन्द्रियस्य निःस्पृहस्य तस्य स्नुषयेव श्रियापि पुष्पफलोदकाहरणादिशुश्रूषाव्यतिरेकेण न किञ्चिदपेक्षितमासीदित्यर्थः।

'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इत्यादिश्रुतेर्वैदिकधर्माधिकारित्रैवर्णिकसाधारण्यात् 'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' इति सूत्रकारमहर्षिवचनात्, 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात्' इति स्मृतिपुराणादौस्मारणाच्च 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादौ ब्राह्मणपदस्य क्षत्रियाद्युपलक्षणवत्, 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' इत्यादिश्रुतावपि ब्राह्मणपदस्य क्षत्रियादिद्विजोपलक्षणत्वमविरुद्धं मन्यमानो महाभागः कविकुलगुरुः त्रैवर्णिकस्य संन्यासाधिकारमनुमनुते ॥ १४ ॥ प्रशमे = संन्यासे मुख्यधर्मे – उपशमे स्थितः पूर्वपार्थिवः = प्राक्-कालिकः पृथिव्या अधीश्वरो रघुर्यस्य तत्, अभ्युद्यतः = अभ्युदितो नूतनेश्वरोऽजो यस्य तत् प्रसिद्धं कुलं - इक्ष्वाकुवंश्यानामिति शेषः। निभृतेन्दुना = अस्तमयासन्नचन्द्रेण, उदितार्केण = प्रकटितसूर्येण च नभसा, तुलां = सादृश्यं समारुरोह = प्राप ॥१५॥ यतिः = भिक्षुः संन्यासी, पार्थिवः = राजा, तयोर्लिङ्गधारिणौ, यतेर्लिङ्गं = काषाय वस्त्रदण्डकमण्डल्वादिकं, राज्ञो लिङ्गं = मुकुटछत्रचामरादिकं। रघुराघवौ रघुतत्सुतौ। अपवर्गमहोदयार्थयोः = मोक्षाभ्युदयफलयोर्धर्मयोः = निवर्तकप्रवर्तकरूपयोरित्यर्थः। भुवं गतौ भूलोकमवतीर्णावंशाविव जनैः ददृशाते = दृष्टौ ॥१६॥ अजः, अजिताधिगमाय = अजितपदलाभाय, नीतिविशारदैः =

लक्षणवाले चतुर्थ - संन्यासाश्रमका आश्रय किया, और पुत्रकी प्रार्थनाके अनुसार अयोध्या - नगरसे बाहर किसी एकान्त शान्त स्थानमें – जितेन्द्रिय निर्विकार हो कर निवास किया और पुत्र-भोग्य बधुके समान, उस राज्य लक्ष्मीके कन्द-मूल-फलादि शरीर निर्वाहोपयोगी पदार्थसे अतिरिक्त - अन्य किसी धनादि अर्थकी अपेक्षा नहीं की। १४। वह महाराज रघु, प्रथम यौवनावस्थामें पृथिवीका अधीश्वर था, परन्तु अब अन्तिम वयमें संन्यासका मुख्य धर्म प्रशममें अवस्थित हुआ है, और उसका युवापुत्र महाराज - अज, पृथिवीके नूतन अधीश्वररूपसे अभ्युदित हुआ है। जैसे आकाशमें – एक साथ अस्तमित होनेके लिए उद्युक्त चन्द्रमा, और अभ्युदित हुआ सूर्य, दिखाई देते हैं – वैसे एक साथ-पिता एवं पुत्र संन्यासी तथा राजा रूपसे दीख पड़े। १५। एक पिता रघुने संन्यासीके काषाय वस्त्र - दण्ड - कमण्डलु आदिका वेष, तथा अन्य - पुत्र अजने राजाके मुकुट - छत्र, चामर आदिका वेष धारण किया। इसप्रकार रघु और राघव - अजको क्रमशः निवर्तक मोक्षफल रूपसे तथा प्रवर्तक -

सामादिनीतिज्ञैः मन्त्रिभिर्युयुजे = सङ्गतः । रघुरपि, अनपायिपदस्य = मोक्षस्य, उपलब्धये = प्राप्तये, आप्तैः = यथार्थदर्शिभि र्यथार्थवादिभिश्च यो गभिः = ज्ञानयोगिभिः समियाय = सङ्गतोऽभूत् । उभयत्रापि स्वस्वेष्टलाभोपायचिन्ताप्रवृत्तिरुपलभ्यते ॥१७॥ युवा नृपतिरजः प्रजाः = कार्यार्थिनीः अवेक्षितुं = दुष्टादुष्टपरिज्ञानार्थमित्यर्थः । व्यवहारासनं = राजनीतिधर्मासनं, आददे = स्वीचकार । प्रवयाः = स्थविरो भूतपूर्वो नृपतिः सम्प्रति संन्यासी रघुस्तु, धारणां = अद्वये परमानन्दनिधौ ब्रह्मणि चित्तस्यैकाग्रतां, परिचेतुं = अभ्यसितुं, उपांशु = विजने - शान्ते स्थाने कुशैः पूतं - पवित्रं विष्टरं = आसनमाददे । 'शमादिगुणसंयुक्ता मनसः स्थितिरात्मनि । धारणा प्रोच्यते सद्भिर्योगशास्त्रविशारदैः ॥' इति वसिष्ठः ॥ १८ । एकः = अन्यतरः, राजा अज इत्यर्थः, अनन्तरान् = स्वभूमिसीमाऽनन्तरान्-नृपतीन् यातव्यपार्ष्णिग्राहादीन् प्रभुशक्तिसम्पदा = कोशदण्डबलमहिम्ना, वशं = स्वायत्ततामनयत् , 'कोशो दण्डो बलं चैव प्रभुशक्तिः प्रकीर्तिता' इति मिताक्षरायाम् । अपरः = रघुः संन्यासी, प्रणिधानयोग्यया = प्रणिधानं = तज्जपतदर्थभावनं, तस्मिन् सर्वेश्वरे सर्वेषां कर्मणां समर्पणं वा ज्ञानमयो भक्तिविशेषो वा तस्य लाभयोग्यया = चित्तशुद्धिजपाद्यभ्यासरूपया साधनसम्पत्त्या, शरीरगोचरान् = देहाश्रयान् पञ्च मरुतः = प्राणादीन् वशमनयत् ॥ १९ ॥ अचिरेश्वरः = सद्यः संजातः पृथिव्या अधीश्वरोऽजः, क्षितौ द्विषतां = शत्रूणां, आरम्भाः =

अभ्युदय फलरूपसे-भूलोकमें अवतीर्ण - अंशके समान लोगोंने देखा । १६ । महाराज अज, जिन देशोंका विजय नहीं किया, उनके विजय लाभके लिए सामादि नीति-विशारद मन्त्रियोंसे संयुक्त हुए और संन्यासी रघु, शाश्वत मोक्षपदकी प्राप्तिके लिए यथार्थदर्शी एवं यथार्थवादी ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानयोगियोंसे संयुक्त हुए । १७ । युवा नृपति महाराज अजने, अपनी दुष्ट एवं अदुष्ट–प्रजाके परिज्ञानके लिए नीति एवं धर्ममय - राज्यसिंहासनको स्वीकृत किया, और संन्यासी रघुने अद्वय - ब्रह्ममें चित्तकी एकाग्रताका साधक-धारणारूप - अभ्यास सिद्ध करनेके लिए एकान्त स्थानमें पवित्र कुशाका आसन ग्रहण किया । योग शास्त्रविशारद सन्तोंने शमदमादि गुण संपन्न मनकी आत्मामें एकाग्र स्थितिका नाम धारणा कहा है । १८ । एक राजा अजने अपने भारत देशकी सीमाके बाहरमें बसनेवाले चीन, तुर्क, मिश्र आदिके राजाओंको प्रभुशक्ति - दण्ड कोष, सैन्य आदिके द्वारा वशमें किया और अन्य संन्यासी रघुने ज्ञानप्रचुर - अनन्य भक्ति योगके लाभके लिए किया गया चित्त-शुद्धि जप-ध्यानादिके अभ्यासरूप साधन - संपत्तिके द्वारा अपने शरीरमें अवस्थित पंच प्राणोंको वशमें किया । १९ । अभी ही होनेवाले पृथिवीके अधीश्वर महाराज अजने

कर्माणि, तेषां फलानि, भस्मसादकरोत् = कात्स्न्र्येन भस्मीकृतवान् । इतरो रघुर्यतिः; ज्ञानमयेन = तत्त्वज्ञानप्रचुरेण; वह्निना = पावकेन करणेन, स्वकर्मणां = भवबीजभूतानां दहने = भस्मीकरणे ववृते = स्वकर्माणि-तद्बीजकामानां, तन्मूलाज्ञानस्य च दाहद्वारा दग्धुं प्रवृत्त इत्यर्थः । 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।' (४ । ३७) इति गीतावचनात् ॥ २० ॥ पणबन्धमुखान्-संन्ध्यादीन् षड् गुणान् 'पणबन्धः सन्धिः' इति कौटल्यः, 'सन्धि र्नो विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः । षड् गुणाः' इत्यमरः । तत्फलं = तेषां गुणानां फलं समीक्ष्य = आलोच्य, उपायुङ्क्त = फलिष्यन्तमेव गुणं प्रायुङ्क्तेत्यर्थः । समः = तुल्यतया भावितो लोष्टः = मृत्पिण्डः, काञ्चनं = सुवर्णं च यस्य स समलोष्टकाञ्चनः, सर्वत्रेष्टानिष्टविषये रागद्वेषरहितः । सर्वथा निःस्पृह इत्यर्थः । रघुरपि गुणत्रयं = सत्त्वादिकं, प्रकृतौ = साम्यावस्थायामेव तिष्ठतीति प्रकृतिस्थं पुनर्विकारशून्यं यथा स्यात्तथाऽजयत् ॥ २१ ॥ स्थिरकर्मा = फलोदयकर्मकारी, नवः = नवीनः - प्रभुः = अखिलभूस्वामी अजः, आफलोदयात् = फलसिद्धिपर्यन्तं, कर्मणः = आरम्भान्न विरराम = न निवृत्तः । स्थिरधीः = निश्चलचित्तः, नवेतरः = रघुश्च, आपरमात्मदर्शनात् = परमात्मसाक्षात्कारपर्यन्तं योगविधेः = ज्ञानयोगस्य विधेः = श्रवणमनननिदिध्यासनलक्षणात्-जीवब्रह्मैक्यानुसन्धानान्न विरराम ॥२२॥ इति = इत्येवं प्रतिषिद्धः प्रसरः = स्वार्थप्रवृत्तिर्येषां तेषु शत्रुषु चेन्द्रियेषु च जाग्रतौ = अप्रमत्तौ, उदयापवर्गयोः = अभ्युदयमोक्षयोः-प्रसितौ = आसक्तौ, 'तत्परे

शत्रुओंके निखिलकर्मफलोंको भस्मीभूत कर दिया, अर्थात् उनकी प्रतिकूल-प्रवृत्तियोंको निष्फल बना दिया । अन्य यति रघु तत्त्वज्ञानरूप अग्निके द्वारा संसारके बीजभूत कर्मोंको उनके कारण काम एवं अज्ञानके दाह द्वारा दग्ध करनेके लिए प्रवृत्त हुआ । २० । राजा अजने 'संधि, विग्रह आदि छः गुणोंके फलकी समीक्षा करके - उनमें से सफल-गुणका ही प्रयोग किया । और परिव्राजक रघुने — लोष्ट एवं कांचनमें समभाव रखकर एवं सर्वत्र - इष्ट अनिष्ट विषयोंमें राग-द्वेषसे रहित हो कर सर्वथा निःस्पृह-निर्विकार होकर - सत्त्वादिगुणत्रयवाली - प्रकृति - मायाका विजय किया । २१ । निखिलपृथ्वीका नवीन - स्वामी अज, फल सिद्धि - पर्यन्त - स्थिररूपसे कर्म करनेवाला हुआ, फल सिद्धि लाभके विना कर्मसे उपराम नहीं होता था । तथा संन्यासी रघु भी परमात्माके साक्षात्कार पर्यन्त, ज्ञानयोगकी श्रवणादि विधिसे उपरत नहीं होता था । २२ । इस प्रकार इन दोनोंकी स्वार्थ - प्रवृत्ति - एक की शत्रुओंके विषयमें - तथा अन्यकी इन्द्रियोंके विषयमें-जाग्रत थी । एक अभ्युदयके लिए तथा अन्य मोक्षके लिए - तत्पर - प्रयत्नशील था । अत एव इन

प्रसितासक्तौ' इत्यमरः। उभौ = अजरघू, उभयीं = द्विविधां-अभ्युदयमोक्ष-रूपाम्, सिद्धिं = फलमवापतुः. उभावुभे सिद्धी यथासंख्यमत्रापतुरित्यर्थः ॥ २३ ॥ अथ रघुः समदर्शनः - सर्वत्रोच्चावचभूतेषु समब्रह्मदृष्टिः सन्, अजव्यपेक्षया = अजाकाङ्क्षानुरोधेन काश्चित् समाः = कतिचित्-वर्षाणि, गमयित्वा = नीत्वा, योगसमाधिना = प्रत्यगद्वयब्रह्मैक्यानुसन्धानेन, 'संयोगो योग इत्युक्तः जीवात्मपरमात्मनोः।' इति वसिष्ठः। अव्ययं = अविनाशिनं-शाश्वतं-अनन्तसुखपूर्णं, तमसः = अविद्यायाः परम्, मायातीतमित्यर्थः, पुरुषं =परमात्मानं, आपत् = प्राप। परमं साम्यमवाप्तवान्। 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु॰ ३।१।३) इति श्रुतेः ॥ २४ ॥ अग्निचित् = अग्निं चितवान् = आहितवान, राघवः = रघुपुत्रोऽजः, पितुः श्रुतदेहविसर्जनः = आकर्णितपितृतनुत्यागः सन, चिरमश्रूणि = बाष्पाणि, विमुच्य = विसृज्य, अस्य संन्यासधर्मवतः पितुः, अनग्निं = अग्निसंस्काररहितमित्यर्थः। नैष्ठिकं = निष्ठायामन्ते भवं विधिं = आचारमन्त्येष्टिं, यतिभिः = संन्यासिभिः, सार्धं = सह. विदधे = चक्रे, अनग्निं विधिमित्यत्र शौनकः - 'सर्वसङ्गनिवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च। न तस्य दहनं कार्यं, नैव पिण्डोदकक्रिया ॥ निदध्यात्प्रणवेनैव, बिले भिक्षोः कलेवरम्। प्रोक्षणं खननं चैव सर्वं तेनैव कारयेत् ॥ इति ॥ २५ ॥ पितृकार्यस्य = तातश्राद्धस्य कल्पवित् = विधानज्ञः सोऽजः,

दोनोंने – क्रमशः अभ्युदय एवं मोक्षसिद्धिरूप - फल प्राप्त किया। २३। अब संन्यासी रघुने सर्वत्र - समरूप ब्रह्मकी दृष्टिवाला होकर - महाराज अजकी अभिलाषाके अनुसार कुछ-वर्षों तक – उस नगरके समीप अरण्यके आश्रममें निवास करके अन्तमें प्रत्यगभिन्न - अद्वय ब्रह्मके प्रतिबन्ध रहित – अनुसंधानरूप योग समाधिके द्वारा माया - अविद्यासे अतीत - अविनाशी - अनन्त सुख पूर्ण परमात्माको प्राप्त किया। २४। जिसने – गृहस्थ द्विज होनेके कारण विधिवत् अग्निका आधान किया है, उस रघुपुत्र - राघव अजने - जब पिता - संन्यासी रघुका देह त्याग सुना, तब वह पितृवियोगसे चिरकाल तक आंसु बहा कर - इस अग्निसंस्कार रहित - संन्यासीपिता रघुके देहका – यति - संन्यासियोंके साथ – अन्त्येष्टि कर्म – भूमि खनन या नदीजलप्रवाह रूप – किया, इस विषयमें शौनक महर्षिने अपनी स्मृतिमें कहा है कि– 'सर्वसंग विनिर्मुक्त - ध्यानयोग निरत - संन्यासीके शरीरका अग्निदाह नहीं ही करना चाहिये। न तो पिण्डोदक क्रिया ही करनी चाहिये। संन्यासीके शरीरको–जहां प्रभूतोदका – नदी नहीं है– वहां – प्रणवमन्त्रके द्वारा - प्रोक्षण करके - पृथिवीके बिलमें-गढ्ढेमें रख कर अन्त्येष्टि कर्म कराये। अर्थात् जहां नदी जल पर्याप्त है, वहां प्रवाहित करे। २५। संन्यासी पिताकी गृहस्थसे विलक्षणरूपसे किये जानेवाले -

पितृभक्त्या = पितरि प्रेम्णा करणेन, न तु पितुः परलोकसुखापेक्षया, मुक्तत्वात् परलोकाभावाच्च न तत्सुखापेक्षा । तस्य रघोः, और्ध्वदैहिकं = देहादूर्ध्वं भवतीति तद्यतिब्राह्मणानाथादिभोजनदानादिरूपमकरोत् । ननु – कथं भक्तिरेव, श्राद्धादिफलप्रेप्सापि तस्य कस्मान्नाभूदित्याशंक्याह – न ही त । तेन पथा = ज्ञानयोगरूपेण मार्गेण तनुत्यजः = शरीरत्यागिनो विदेहमुक्ताः पुरुषाः, तनयेन, आवर्जितं = प्रदत्तं पिण्डं कांक्षन्तीति तथोक्ता न हि भवन्ति ॥ २६ ॥ पराध्र्यगतेः = प्रशस्तगतेः - प्राप्तब्रह्मनिर्माणमोक्षस्य पितुः, अशोच्यतां = अशोचनीयत्वमुद्दिश्य = अभिसंधाय, 'शोको न कर्तव्यो भवद्भिरित्युपदिश्येत्यर्थः । सदर्थवेदिभिः = परमार्थज्ञैर्विद्वद्भिर्ब्रह्मनिष्ठै र्यतिभिः शमिताधिः = निवारितमनोव्यथः, सोऽजः, अधिज्यकामुकः = अधिज्यं = आरोपितमौर्वीकं कामुकं धनुर्यस्य स तथोक्तः सन्, जगत् = कर्मभूतमप्रतिशासनं = द्वितीयाज्ञारहितम्-आत्माज्ञाविधेयमित्यर्थः, कृतवांश्चकार ॥२७॥

सम्प्रति मूलं प्रकृतमेव व्याख्यास्यामः, उ = अपि, ह = हेतौ, वा = वै निश्चयेन, तस्मिन् पारमहंस्याश्रमेऽवस्थिता बहिः – संन्यासलिङ्गधारिणोऽपि, अन्तर्लिङ्गविशिष्टाः उपशमशीलाः = उपरामस्वभावाः आसन् । उपशम एव तुरीयाश्रमिणां प्रधानो धर्मः उपशमः = बाह्यशब्दादिविषयेभ्यः अन्तःसंकल्पादिभ्यश्चोपरतिः । अत एव ते परमर्षयोऽभूवन् । साक्षात्कृतधर्माण एव ऋषयो भवन्ति । परमत्वविशेषणेन तेषां प्रत्यगभिन्नस्याद्वयब्रह्मणः साक्षात्कृतत्वं विज्ञायते । तथा च तेषामग्रे तदेव चरमफलं तत्साधनसहितं निरूप्यते । भगवतः श्रीमच्चरणारविन्दयोः अविरतं = निरन्तरं-स्मरणेन, अविगलितः = अखण्डितः, यः परमः = ज्ञानमयः भक्तियोगः, तस्यानुभावेन = प्रभावेण, परिभाविते = संशोधिते-पवित्रे-एकाग्रे, अन्तर्हृदये = हृदयमध्ये

श्राद्धादिकी विधिको जाननेवाले महाराज अजने पितृ - भक्तिके वशीभूत होकर, उस - पिताके - देहत्यागके अनन्तर होनेवाला - यति - ब्राह्मण - अनाथादिका भोजन वस्त्र दानादिरूप पुण्य कर्म किया । ज्ञानयोग मार्ग द्वारा शरीर त्यागनेवाले - विदेह मुक्त - पुरुष, पुत्र-प्रदत्त - पिण्डादिकी अपेक्षा नहीं रखते । २६ । परमार्थ तत्त्वाभिज्ञ ब्रह्मनिष्ठ - संन्यासियोंने - जिस महानुभावने - ब्रह्मनिर्वाण मोक्ष प्राप्त किया है– उस संन्यासी - रघुके देहत्यागको उद्देश्य करके आप लोगोंको शोक नहीं ही करना चाहिये, ऐसा पुत्र - अज आदि सम्बन्धियोंको उपदेश दिया । उनके उपदेश द्वारा जिसने अपने मनकी शोकरूपी व्यथा निवृत्तकी है – ऐसे महाराज अजने – धनुषके ऊपर मौर्वीको चढ़ा कर – समस्त जगत्को अपनी आज्ञाके अधीन बना करके समग्र-पृथ्वी मण्डलका शासन किया । २७ ।

अन्तःकरणे, अधिगतः = प्रतीतः साक्षात्कृतो यो भगवान् , तस्मिन् तत्पदार्थे सर्वेषां भूतानामात्मभूतेऽभिन्नस्वरूपेऽत एव प्रत्यगात्मनि-असज्जडदुःखरूप-देहादिभ्यः प्रातिकूल्येन सच्चिदानन्दात्मनाऽञ्चति = प्रकाशत इति प्रत्यक् स एव आत्मा तस्मिन् स्वस्वरूपभूते, आत्मनः = स्वस्य त्वंपदार्थस्य तादात्म्यं = ऐक्यं-अभिन्नत्वमेव, अविशेषेण = विशेषः-देहाद्युपाधिः-द्वैतप्रपञ्चः, तदपोहेन-समीयुः = तत्पदार्थस्योपाधिं = ब्रह्माण्डादिकं, त्वंपदार्थस्योपाधिं-पिण्डादिकं, तस्योपाधिद्वयस्य निराकरणेन तत्त्वंपदलक्ष्ययोरैक्यं प्रापुरि-त्यन्वयः । औपचारिकं भगवत्त्वं ब्रह्मादीनामप्यस्तीति तद्वारणायाह – वासु-देवस्येति । न केवलं नाममात्रमेतत्, किन्तु योगेनार्थतोऽपि तथैवेत्याह – सकलेति । सकलजीवनिकाया आवसन्त्यस्मिन्निति तथा तस्य । तथा च वसन्ति यस्मिन् - अधिष्ठाने, वसति च यस्तेषु सत्तादिप्रदानाय इति वासुः, स एव दिव्यति = विश्वसर्गादिना क्रीडति रमते, ददाति च स्वकीयां सत्तां स्फूर्तिं आनन्दञ्च, द्योतते च सर्वत्रेति देवः 'देवो दानाद्वा द्योतनाद्वा' इति निरुक्त-स्मरणात् । इति देवः, स च स चेति वासुदेवः तस्येत्यर्थः । अत एव दुःखमया-त्संसाराद्भीतानां मुमुक्षूणां शरणभूतस्य = रक्षकस्य ज्ञानादिप्रदानेनेति शेषः ।

—❀—

(३४)

(यतोऽज्ञानादेव सर्वविधः सन्तापप्रचुरः पराभवोऽवलोक्यते, अत आत्मतत्त्वविचारप्रसूतात् ज्ञानादेव विशुद्धानन्दपूर्णो विजयः सम्पद्यते, तस्य मुख्यं साधनं भगवद्भक्तिरेव) (१)

यदाह – भगवान् कृष्णद्वैपायनो व्यासो महाभारते-आत्मस्वरूपा-वरकतया सन्तापप्रचुरप्रदातृतया चाज्ञानस्यैव मुख्यं शत्रुत्वम् – 'एकः शत्रु र्न द्वितीयोऽस्ति शत्रुः, अज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन् ! । येनावृतः कुरुते संप्रमत्तो, घोराणि कर्माणि सुदारुणानि ॥' (२) (म० शां० ३०३ । २८) इति ।

(३४)

(१) (क्योंकि—अज्ञानसे ही सर्वप्रकारका सन्ताप – प्रचुर पराभव देखनेमें आरहा है, इसलिए आत्मतत्त्वके विचारसे प्रादुर्भुत ज्ञानसे ही विशुद्धानन्द पूर्णविजय सम्पन्न होता है, उस ज्ञानका मुख्य - साधन भगवद्भक्ति ही है)

(२) हे राजन् ! पुरुषका एक ही शत्रु है अज्ञानके समान दूसरा शत्रु नहीं,

घोराणि = अतिगर्हितानि पापादीनि, सुदारुणानि = दीनदरिद्रस्वापहरणादीनि-दुःसहविपाकानि । शत्रुभूतं तदज्ञानं-अनादित्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वे च सति भावरूपत्वमिति लक्षणकम् । अत एव नैयायिकादिवत् माध्वेन द्वैतवादिना-अज्ञानं ज्ञानाभाव एव न तु भावरूपम्. इति यदुक्तम्, तत्तुच्छम् । यतोऽभावस्यावरकत्वायोगात्, न ह्यभावः किमप्यावृणोति, न हि घटाभावेन सर्वत्रावस्थितेन कस्यापि पटादेः समावरणं क्रियमाणं दृश्यते । अज्ञानन्तु समावृणोत्येव प्रत्यगात्मस्वरूपम् । अतो न तस्याभावरूपत्वं मन्तव्यम् । यदाहुः संक्षेपशारीरकाचार्य्याः सर्वज्ञात्ममुनयः – 'नाभावताऽस्य घटते वरणात्मकत्वात्, नाभावमावरणमाहुरभावशौण्डाः । अज्ञानमावरणमाह च वासुदेवः, तद्भावरूपमिति तेन वयं प्रतीमः ॥' (१) (सं०शा० १।३२०) इति। अयमर्थः—अस्य = अज्ञानस्य, अभावता न घटते = न सम्भवति, किन्त्वभाववैलक्षण्यमेव सम्भवति । तत्र हेतु – वरणात्मकत्वादिति । आवरणस्वभावत्वादित्यर्थः । विमतं-अज्ञानं नाभावरूपं, आबरकत्वात् पटवदिति । नन्वभावस्याप्यावरणत्वं किं न स्यात्? तत्राह – नाभावमिति । अभावशौण्डाः = अभावपदार्थनिरूपणे समर्थाः, वैशेषिकादयः, तेऽपि ह्यभावं नावरणमाहुः । आवरणत्वस्य भावधर्मत्वनियमात्, ज्ञानाभावस्य विशेषतो नावरणत्वम् । यत आवरणस्य ज्ञानाभावो न प्रयोजकः, अतस्तत्प्रयोजकमन्यदेवाभावविलक्षणमावरणं वक्तव्यम् । ननु – मा भूदज्ञानमावरणमिति चेत्, तन्न, अहं मां न जानामीत्यनुभवविरोधात् । किञ्च–'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' (गी० ५ । १५) इत्यादिभगवद्वचनमपि तदा विरुद्ध्येतेत्याह – अज्ञानमावरणमिति । अज्ञानस्यावरकत्वं भगवान् वासुदेवो गीतास्वाहेत्यर्थः । 'तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः' (श्वे० ४ । ६) इत्यादिश्रुतिसमुच्चयार्थश्चकारः । 'तेन मुह्यन्ति' इत्यनेन भ्रमोपादानत्वं 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।' इति भगवद्वचनेन च ज्ञाननिवर्त्यत्वं चाज्ञानस्य लक्षणमित्युक्तं भवति । आद्ये परिणाम्युपादानत्वस्य विवक्षितत्वान्न ब्रह्मण्यतिव्याप्तिः, द्वितीये च ज्ञानत्वेन साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य विवक्षितत्वात्, ज्ञानप्रागभावे, अज्ञान-

जिससे आवृत हुआ तथा प्रमादी बनकर (यह पुरुष) घोर सुदारुण– निन्दित कर्मको कर बैठता है ।

(१) इस (अज्ञान) में अभाव रूपता नहीं बन सकती, क्योंकि यह आवरक – आच्छादक है, अभाव तत्त्वाभिज्ञ – विद्वान् अभावको आवरण करनेवाला नहीं कहते है भगवान् वासुदेवने भी अज्ञानको आवरणकर्ता कहा है । इसलिए हम उसे भावरूप ठहराते हैं ।

निवृत्तिद्वारा ज्ञाननिवर्त्ये प्रपंचे च नातिव्याप्तिरिति ध्येयम् । ततश्चावरणत्वात् प्रसिद्धमेवानाद्यावरणवदज्ञानं भावरूपमिति निगमयति-तद्भावरूपमिति ।

एवमजडबोधतिरस्क्रियात्मत्वं नाभावस्य संभवतीति भावरूपाज्ञानस्यैव तदित्युपपादितम् । इदानीं जाड्यमौढ्यात्मकत्वमपि तस्य निरूपयन् तस्य भावरूपत्वमुपपादयति – 'जाड्यं जगत्यनुगतं खलु भावरूपं, मौढ्यं च पुङ्गतमिति प्रतिभाति तादृक् । जाड्यं च मौढ्यमिति चानुभवप्रसिद्धमज्ञानमाहुरपवर्गपिधानदक्षम् ॥' (१) (सं० शा० १।३२०) इति । यद् घटपटादिजडप्रपञ्चे – 'इदं जडमिदं जडमि'त्यनुगतव्यवहारास्पदं जाड्यं तद्भावरूपमेव प्रतिभाति, एवं मौढ्यमपि जीवनिकायानुगतं भावरूपमेव । जगत्यात्मनि च दृश्यमानं भावरूपं जाड्यं मौढ्यञ्च कार्यत्वात् स्वानुरूपमुपादानं कारणं कल्पयति । न हि चेतनं जडस्य परिणाम्युपादानं संभवति, परिशेषादचेतनमुपादानं सदज्ञानं सिद्ध्यति । तस्य चाभावरूपत्वे कार्योपादानत्वासम्भवाद् भावरूपमेव तदज्ञानमुन्नीयते, इत्याह – जाड्यं च मौढ्यमिति चेति । यद्वा ततः किमित्यत आह – जाड्यं चेति । कारणतया जगत्यनुगताज्ञानव्यतिरिक्तानुगतजाड्यकल्पने, जीवत्वाद्युपाधितया निखिलजीवसम्बन्ध्यज्ञानान्यमौढ्यकल्पने च प्रामाणाभावादनुभवसिद्धमज्ञानमेव तदुभयमिति तदात्मकमज्ञानं भावरूपमित्यर्थः । एवमनुभवबलात्प्रसिद्धमज्ञानमेवापवर्गपिधानदक्षं = अपवर्गभूतस्य परमानन्दपूर्णाद्वयब्रह्मणः पिधाने = आच्छादने, तद् द्वारा संसारविभ्रमात्मकविक्षेपजनने च दक्षं = निपुणं-भावरूपमज्ञानमेवाहु र्वेदान्तरहस्यविदः ।

एवमज्ञानस्यानादित्वं शास्त्रादिप्रमाणेभ्यः सिद्धमपि लोकव्यवहारतोऽपि सिद्ध्यति । तथाहि – केनापि पृष्टं – 'भवान् जर्मनभाषां जानासि ? इति । तेनोक्तं – 'न जानामि' इति । पुनस्तेन पृष्टं – 'कियत्समयात्तदज्ञानं भवतः ? इति । अस्योत्तरदाता किं तस्यादित्वं वक्तुं प्रभवति ? कदापि न । यदा सामान्यभाषाऽज्ञानस्यानादित्वं निर्विवादं लोकैरभ्युपगम्यते, तदा संसारविभ्रमोपादानस्याज्ञानस्यानादित्वन्त्ववर्णलभ्यमेव सिद्ध्यति ।

यच्च रामानुजाचार्य्येणोक्त-अनादिकालप्रवृत्तकर्मसंचयरूपमज्ञानम् ।' इति । तत्रेतद्वक्तव्यम् – श्रुतिस्मृतिपुराणादिष्वज्ञानमबोधोऽविद्या माया प्रकृतिः इति पर्यायत्वेन प्रसिद्धस्याज्ञानशब्दस्य प्रसिद्धार्थं विहाय कर्मवाचित्वकल्पनम-

(१) जगत्में अनुगत जड़ता भावरूप ही है, पुरुषगत मूढता भी वैसी ही भावरूपसे प्रतीत होती है । जड़ता और मूढताके रूपमें अनुभवसिद्ध अज्ञान ही मोक्षस्वरूप ब्रह्मका आच्छादक कहा जाता है ।

प्रामाणिकमन्याय्यम् । किञ्च आत्मस्वरूपावरकस्य कर्मणः सादित्वे तत्पूर्वमनावृतात्मतत्त्वसाक्षात्कारस्य, ततः कर्मक्षयस्य चावश्यकत्वेन 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं' 'अबोधजातः पराभवः' इत्युक्तेरसङ्गतिः, तस्यानादित्वे तु आत्मावरकस्यानादे ज्ञाननिवर्त्यस्य मोहहेतोः कर्मेति परिभाषामात्रमित्यस्मदिष्टसिद्धिरिति ।

तदज्ञानमात्मतत्त्वाश्रयविषयमेव द्वैतप्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानकारणम्, अत एव तदज्ञानकल्पितस्तस्मिन् केवल आत्मन्युपलभ्यमानो द्वैतप्रपञ्चस्ततः पृथक् न विद्यते इत्याहुः संक्षेपशारीरकाचार्य्या अपि – 'प्रत्यग्वस्तुन एव तत्र विषये माया तमः कारणं, ध्वान्तं बीजमबोध इत्यपि गिराऽविद्यैव संकीर्त्यते । तस्या एव विलास एष भवता गुर्वादिभेदान्वितः, संक्लृप्तो न तु विद्यते पृथगसौ संध्ये यथा धामनि ॥ (१) (२ । १२७) इति । प्रत्यग्वस्तुन इति । आत्मतत्त्वस्य सम्बन्धिनी प्रत्यक्चैतन्याश्रितेति यावत् । तत्र प्रत्यग्वस्तुनि विषये याऽविद्या सैव मायादिगिरा संकीर्त्यत इति सम्बन्धः । अज्ञानात्मकमायाकार्यत्वे भेदप्रपञ्चस्य, आत्मनोऽपि स्वतो नानात्वायोगात्, तदद्वितीयत्वमपि सिद्ध्येदित्याशयेन सदृष्टान्तमाह – तस्या इति । अविद्याया एवैष विलासः = विपरिणामो गुर्वादिभेदान्वितो भवता = अविद्यावता त्वया, संक्लृप्तः = अध्यस्तः, अत आत्मनः सकाशादसौ पृथग् नैव विद्यत इत्यर्थः । सन्ध्ये = स्वप्ने, सन्ध्यं-स्वप्नस्थानमिति श्रुतेः । यथा स्वप्नस्थाने स्वपता दृष्टश्चेतनाचेतनात्मकप्रपञ्चस्ततो न पृथगस्तीति उत्थानानन्तरादर्शनात् । न हि सतः समयान्तरे अदर्शनं भवति, एवं गुर्वादिद्वैतप्रपञ्च आत्मनो न भिद्यत इत्यर्थः । विमतः संसारः, अविद्याविलसितः, अविद्यावस्थायामेव विभाव्यमानत्वात् स्वप्नवदित्यर्थः ।

एवंभूतमज्ञानमेव निखिलानर्थरूपस्य पराभवस्य बीजं, तस्य निवृत्तिस्तु आत्मतत्त्वजिज्ञासानिष्पादित – शास्त्रसद्गुरुसहकारलभ्य-तद्विचारप्रसूतादात्मज्ञानादेव । यदाहुः संक्षेपशारीरके सर्वज्ञात्ममुनिपादाः – 'ब्रह्मज्ञानसमुद्भूतं ग्रहगणं सातिग्रहं ब्रह्मणः, स्वाकारग्रहणेन वेदशिरसो जाता मतिर्बाधते । विद्या वस्तुबलेन जन्म लभते, माया तु निर्वस्तुका, सा तामुद्भवमात्रतः क्षपयति ध्वान्तं यथा भास्करः ॥' (२) (२ । १२५) इति । ग्रहाः = इन्द्रियाणि

(१) प्रत्यगात्माकी अपनेमें वर्तमान अविद्या ही - माया, तम, कारण, ध्वान्त, बीज, अबोधादि शब्दोंसे कही जाती है । वह प्रत्यागात्मासे वस्तुतः पृथक् नहीं । उसका ही यह गुरु-शिष्यादि भेद भिन्न संसार रचा हुआ है । जैसे कि स्वप्नस्थानमें अविद्यामात्र रचित संसार होता है ।

(२) वेदान्त – वाक्य – जन्यबुद्धि, ब्रह्मका स्वाकार ग्रहण करती है

'प्राणो वै ग्रहश्चक्षुर्वै ग्रहः, हस्तो वै ग्रहः, इत्यादिश्रुतिसिद्धेन्द्रियसमूहं ग्रह-गणम्। अतिग्रहाः = शब्दादयो विषयाः, 'स रूपेणातिग्रहेण गृहीतः' 'स कर्मणाऽतिग्रहेण गृहीतः' इत्यादिश्रुतिसिद्धतत्तदिन्द्रियगोचररूपाद्यतिग्रहसहितं द्वैतप्रपञ्चलक्षणं सकलसंसारमिति यावत्। वेदशिरसः = उपनिषदः, 'तत्त्व-मसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिमहावाक्याज्जाता मतिः = ब्रह्मविद्या लक्षणा, अज्ञानसमुद्भवं द्वैतं जगत् बाधते। ननु – जडायाः मतेः कथं बाधकत्वमित्यत आह – ब्रह्मण इति। ब्रह्मणः = प्रपञ्चाधिष्ठानस्य यः स्वाकारः = सत्यज्ञान-प्रत्यगद्वयानन्दस्वरूपं तद्ग्रहणेन = तद्बलेनेत्यर्थः। ननु – प्रपञ्चस्यापि प्रमाण-विषयस्य कथमपरप्रमाणेन बाधस्तयोः प्रमाणत्वाविशेषादित्याशंक्य तद्विशेष-माह – विद्येति। वस्तुनोऽबाधितस्य बलेन, ब्रह्मविषया हि विद्या, वस्तुनिर्णीत-तात्पर्येण वाक्येन जन्म लभत इति सा वस्तुबलजा बलवती। प्रत्यक्षादि-तद्विषयप्रपञ्चकारणमाया तु निर्वस्तुका परमार्थवस्तुत्वरहिता, अतः सा विद्या, तां मायां, उद्भवमात्रतः = स्वोत्पत्तिमात्रेण क्षपयति = निवर्तयति। लोके-ऽप्यविद्यातत्कार्ययोरितरानपेक्षतत्त्वसाक्षात्कारनिवर्त्यत्वदर्शनात्। दृष्टान्तान्तर-मप्याह – ध्वान्तमित्यादिना।

अनेकविधरागद्वेषनिदानो हि संसारः, 'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः' (बृ० ४।४।५) इति श्रुतेः। अत एव मिथ्याज्ञानमूलोऽपि – 'रागादेस्तन्नियमात्।' एवं ब्रह्महत्याद्यनेकपातकादिजन्यविविधयातनोपेत आशु-विनाशिसुखश्च, तस्मिन्नेतस्मिन्नविवेकिभिरादृतेऽपि दृढतरजिज्ञासामुमुक्षादि-युक्तस्य तन्नाशार्थमात्मतत्त्वज्ञानान्वेषणमेवोचितमित्याशयेनाहुः – सर्वज्ञात्म-पादाः – 'रागद्वेषप्रशाखं विषयगुणसमुद्भासि – धीवृत्तिशाखं, धर्माधर्मप्रवृत्ति-प्रचुरसुखसमुद्वेगभोगप्रवालम्। छिन्द्याः संसारवृक्षं निशितमतिमहाशास्त्र-निक्षेपदक्षः, प्रत्यक् तत्त्वस्थलीगं निबिडतमतमोमूललब्धप्ररोहम्॥ (१) (सं०

अर्थात् – अखण्ड - ब्रह्माकारा बन जाती है। ब्रह्मके अज्ञानसे समुद्भूत विषय सहित इन्द्रियोंका बाध करती है। विद्या परमार्थ वस्तु स्वरूपको विषय करके उत्पन्न होती है और माया निर्वस्तुक – मिथ्या कल्पनामात्र है। अतः वह (विद्या) अपने जन्म-मात्रसे उस अविद्याको वैसे ही नष्ट कर देती है, जैसे प्रचण्ड मार्तण्ड घनान्धकारको।

(१) हे शिष्य ! तीक्ष्ण-एकाग्र एवं पवित्र बुद्धिरूपी महाशस्त्रके प्रयोगमें कुशल होकर इस प्रत्यक्तत्त्वस्थलीमें उगे हुए घनान्धकाररूपी मूलसे अंकुरित, राग-द्वेषरूपी प्रशाखाओं और विषयोंमें गुण - ग्राहिका धीवृत्तिरूपी शाखाओंसे समन्वित धर्माधर्मानुष्ठान - जन्य सुख-दुःखोपभोगरूपी पर्णोंसे सुसज्जित संसार - वृक्षको काट दे।

शा० २ । १२६) इति । अत्र वृक्षरूपकालङ्कारेण संसारवर्णनं 'वृक्ष इव मूलोच्छेदे' स्वमूलाविद्याच्छेदे संसार उच्छिद्यत इति दर्शयति । निशितमतिमहाशस्त्रनिक्षेपदक्षः सन् त्वं संसारवृक्षं छिन्ध्याः इत्यन्वयः । मते नैशित्यं-असंभावनादिप्रतिबन्धराहित्यम् । महत्त्वविशेषणेनोत्पन्नायां ब्रह्मविद्यायां प्रयत्नबलाद्यपेक्षाऽभावः सूच्यते । दक्ष इति प्रावीण्यं-सावधानता, चित्तवैयग्र्यहेतुपरिहारेण स्थिरीभावः सूचितः विशेषणैः सर्वैरस्य वृक्षत्वं प्रपञ्च्यते - अनुकूलेषु विषयेषु रागः, प्रतिकूलेषु द्वेषः, रागद्वेषौ प्रकृष्टे शाखे स्थूलविटपौ यस्य संसारवृक्षस्य तम् । विषयाणां शब्दादीनां गुणाः = इष्टानिष्टसाधनरूपाः तदवभासिन्यः = तदध्यात्मिका धीवृत्तयः = क्षुद्राः शाखा यस्य तम् । रागद्वेषाभ्यां शोभनाशोभनाध्यासाभ्यां विषयावभासिन्यो धीवृत्तय उत्पद्यन्ते 'विटपाभ्यामिव शाखा इत्यर्थः । अन्तः सूक्ष्मरूपेण बहिर्विस्तृतरूपेण प्रथमानं पल्लवस्थानीयमिह यदस्ति, तदुक्तशाखोपशाखाजन्यफलमाह – धर्माधर्मेति । धर्माधर्मरूपा याः प्रवृत्तयः, तज्जन्यौ प्रचुरौ सुखसमुद्वेगौ, समुद्वेगः = दुःखम् । ते प्रवालानि = पल्लवा यस्य तम् । प्रवालग्रहणेन सांसारिकसुखदुःखानुभवरूपभोगस्यात्यन्तिकमदृढत्वं दर्शयति । अथवा धर्माधर्माभ्यां प्रवृत्तिः = वृद्धिर्यस्य, प्रचुराः = असंख्याताः-सुखसमुद्वेगभोगाः = सुखदुःखानुभवाः प्रवालाः = पत्राणि यस्य, धर्माधर्मप्रवृत्तिश्चासौ प्रचुरसुखदुःखभोगप्रवालश्चेति तथा तमिति विग्रहः । छिन्ध्या इति क्रियासूचितं छेत्तारं विशिनष्टि-निशिता = निश्चला, मतिः = ब्रह्मात्मसाक्षात्कारः सैव महत् = पाशुपतास्त्रादिकल्पं शस्त्रं = छेदनसाधनं तस्य निक्षेपे = समुत्पादे दक्षः = निपुणस्त्वं छिन्ध्या इति सम्बन्धः । तस्य ब्रह्मात्मसाक्षात्कारनिवर्त्यत्वाय तं विशिनष्टि-प्रत्यक् तत्त्वेति । प्रत्यक् तत्त्वं-स्थली = स्थलमधिष्ठानं तत्र स्वबीजेनाज्ञानेन सहाध्यस्तमित्यर्थः । ज्ञाननिवर्त्यत्वमात्रे हेतुमाह – निबिडेति । अनादिकालानेकवासनानुबन्धत्वान्निबिडं, तमं = अतिमहाजडं यत्तमः = आवरणविक्षेपशक्तिमदज्ञानं तदेव मूलं = आधारः ततो लब्धः प्ररोहः = अंकुरीभावो येन तम् । अनेन ज्ञानाभावेऽनुच्छेद्यत्वं तस्य दर्शितम् । यद्यपि-वृक्षस्योपादानबीजव्यतिरेकेणापि बाह्यतोयमृदाद्यवयवा उपचयदार्ढ्यहेतवः सन्ति, नैवमिह – किन्त्वविद्यात एवोपचयोऽप्यस्येति रागद्वेषेत्यादिभिर्विशेषणै र्दशितम् । रागादेरविद्याक्षेत्रत्वं पातञ्जलसूत्रेणाप्युपदिष्टम् 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।' (यो० सू० २ । ४) इति ।

यद्यपि जीवेश्वरस्वरूपावरणात्मिका माया चाविद्या चैकैवास्ति, नास्ति तयोः कथञ्चिद्भेदः । अत एव लोकसिद्धस्वप्नप्रपञ्चस्याविद्याकार्यत्वेन प्रसिद्धस्य ब्रह्ममीमांसायां सूत्रकारो भगवान् बादरायणो मुनिः – 'मायामात्रन्तु

कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (ब्र० सू० ३ । २ । ३) इति सूत्रेण माया-निर्मितत्वं प्रतिपादयन् तयोरेकत्वं समर्थयति । स्वप्ने जीवो यत्कर्तृत्वादिकं परिपश्यति, तदखिलं मायामात्रमेव, यतः परमार्थवस्तूचितदेशकालसंपत्तिरत्र कात्स्न्र्यमभिप्रेतं, तत्पूर्विका याऽभिव्यक्तिस्तद्रहितत्वादित्यर्थः । 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (बृ० उ०) इति वचनात् स्वशरीर एव स्वप्नप्रपञ्चो दृश्यते, तत्र च वास्तवस्नानभोजनगमनाद्युचितदेशकालसाधनसम्पत्तेरसम्भवा-त्तदभावेऽप्यभिव्यक्तस्य तस्यैन्द्रजालिकसृष्टवस्तुवद् - अनिर्वचनीय मायामात्र विनिर्मितत्वान्मिथ्यात्वमावश्यकम् । तथा च लोकेऽपि-अनिर्वचनीयाविद्याया एव मायापदार्थत्वात्, शास्त्रीयमायाशब्दस्यापि तदर्थत्वात्, तत्कार्यवियदादेर-प्यनिर्वचनीयत्वाद्, जाग्रत्प्रतीतवस्तुनोऽपि न सत्यत्वम् । जाग्रत्स्वप्नयोर्मिथ्या-त्वाविशेषेऽपि स्वप्नस्य मायारूपाविद्याऽतिरिक्तकारणजन्यत्वात् प्रातीतिकत्वं, झटिति बाधश्चोपपद्यते । यदाहुः संक्षेपशारीरकाचार्य्याः-'अयं तु मायेति न शब्द एवं, अलौकिको लौकिक एव तस्मात् । यदर्थवाचि जगति प्रसिद्धस्तमेव वेदेऽपि स वक्ष्यतीह ॥' (१) (३ । ६६) इति । अयमर्थः — एवं = यूपा-दिशब्दवत्, मायेत्ययं शब्दोऽलौकिको न, किन्तु लौकिक एवेति सम्बन्धः । तु = किन्त्वर्थः । तस्य लौकिकत्वे फलितमाह - तस्मादिति । इह = 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादिवेदवाक्ये - लौकिकवृद्धव्यवहारे प्रयुज्यमानमाया-शब्दस्य परभ्रमहेत्वनिर्वचनीय एव वस्तुनि संगतिग्रहात्, तयोरेव शब्दार्थयो र्वेदे प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, तमर्थमादायैव वाक्यार्थप्रतीत्युपपत्तौ तत्र पृथक् सङ्गतिग्रहे प्रमाणप्रयोजनयोरभावात्सोऽयुक्तः, अन्यथा व्रीह्यादिशब्दानामपि वेदे पृथक् सङ्गतिग्रहप्रसङ्गादिति भावः । अत एवोक्तविधया मायाया अज्ञाना-त्मत्वे सति, स्वप्नावस्थागतकर्तृत्वादिप्रपञ्चस्य सूत्रोक्तं मायामात्रत्वमज्ञानमात्र-त्वमेव मन्तव्यम्, ततस्तन्मिथ्यात्वसिद्धिरिति फलितमाहुः - 'मायामात्रमतः समस्तमभवत् स्वप्ने प्रसिद्धं दृशः, कर्तृत्वादि तमोमयं वितथमेवाज्ञानमात्रं यतः । तस्माज्जागरितेऽपि नैतदभवत् स्वाभाविकं यत्पुनः, तादृक्तं तव सर्वदैव तु भवेद् स्वप्नेऽपि चैतन्यवत् ॥' (२) (सं० शा० ३ । ११२) इति ।

---

(१) यह माया शब्द तो अलौकिक नहीं, किन्तु लौकिक ही है । इस जगत्में यह (माया शब्द) जिस अर्थका वाचक प्रसिद्ध है, उसी अर्थको वेदमें भी कहेगा ।

(२) अतः चैतन्यके स्वप्न प्रसिद्ध कर्तृत्व आदि समस्त 'धर्म' मायामात्र तमोमय, मिथ्या सिद्ध हुए, क्योंकि वे अज्ञानमात्र हैं । इसलिए जाग्रत अवस्थामें भी यह कर्तृत्व आदि मिथ्या हैं, यदि तुम्हारे वे (कर्तृत्वादि) स्वाभाविक होते, तब तो चैतन्यके समान ही सदैव सुषुप्ति - समाधि आदिमें भी रहते । नहीं रहते,

अयमर्थः — अतः = मायायाः अज्ञानत्वात्, दृशः = दृगात्मनो यत्स्वप्ने समस्तं कर्तृत्वादि, मायामात्रं प्रसिद्धमभवत्, तत्तमोमयं वितथं = मिथ्यैवाभवत्। यथा स्वाप्नस्य कर्तृत्वादिव्यवहारस्यागमापायित्वान्मायातमोमात्रत्वं, तथा जागरितेऽपि कर्तृत्वप्रमुखस्य व्यवहारस्य मायामयत्वमेव, न स्वाभाविकमित्येतत्सिद्धमित्याह – तस्मादिति। स्वाभाविकत्वे दोषं वदन् मायामयत्वं द्रढयति – स्वाभाविकं यत्पुनरिति। यदि पुनरित्यर्थः। तादृक्त्वं = तादृशं कर्तृत्वादिलक्षणं तवात्मनो यदि पुनः स्वाभाविकं भवेत्, तदा चैतन्यवदेव, स्वप्नेऽपि – सुषुप्ति-प्रलयमुक्तिष्वपि भवेत्। न च भवति, जाग्रद्व्यवहारस्यावस्थान्तरे व्यभिचारात्, अतः आगन्तुकत्वान्मायामयमेव सर्वव्यवहारजातं न स्वाभाविकमित्यर्थः।

एवमाविद्यकत्वेन लोकसिद्धस्वप्ने सूत्रकारस्य मायामयत्वनिर्देशसामर्थ्यान्मायाऽविद्ययोरभेदमुपपाद्य, मायायामज्ञानासाधारणधर्मप्रतिपादकभगवद्वचनसामर्थ्यादपि तयोरभेदे विमतिर्न कर्तव्येत्याहुः श्रीसर्वज्ञात्मपादाः श्लोकत्रयेण। तत्र प्रथमं चिदात्मतत्त्वावरकत्वमविद्यालक्षणं मायायामपि भगवता श्रीकृष्णेन गीतासूक्तं, तद्विजानतां तयोरेकत्वनिश्चयोऽवश्यंभावीत्याहुः – 'अज्ञानमावरणमावरणं च माया, सर्वेश्वरेण हरिणा दृढमभ्यधायि। चैतन्यवस्तुन इति प्रतिपद्यमानास्तत्त्वं तदेकमिति निश्चयतः प्रतीमः॥' (१) (सं० शा० ३। १०८) अज्ञानमावरणमिति। चैतन्यवस्तुन आवरणमिति सम्बन्धः। तदभिधानं प्राकृताभिधानवन्न मन्तव्यमित्याशयेनोक्तं सर्वेश्वरेणेति। दृढं = कुतर्कैरन्यथाकर्तुमशक्यं यथा स्यात्तथेत्यर्थः। तदभिधायकं भगवद्वचनं तृतीयपद्ये वक्ष्यति। तत् = मायाऽविद्यात्मकं, तत्त्वं = स्वरूपम्, एकं = अभिन्नं, स्वप्रकाशप्रत्यगभिन्नवस्तुनोऽनिर्वचनीयाज्ञानव्यतिरेकेणावरणासंभवात्तदावरकत्वेन भगवतोक्ता माया अज्ञानमेव निश्चयतः प्रतीमः = निश्चिनुम इत्यर्थः।

किञ्च तत्त्वज्ञानैकनिवर्त्यत्वस्यानिर्वचनीयाज्ञानादन्यत्रासंभवात्तदप्यज्ञानस्यैव लक्षणं, तच्च मायायामपि भगवतैवोक्तं, ततो तयोरभेदः श्रद्धया ग्राह्य इत्याहुः – 'ज्ञानं निवर्तकमपि द्वितयस्य तस्य, गीतागतः करुणया भगवानुवाच। तेनापि तत्त्वमिदमेकमिति प्रतीतिरानीयते कथितलक्षणतुल्यभावात्॥'

अतः मिथ्या-बाधित हैं।

(१) सर्वेश्वर भगवान् कृष्णने दृढ़शब्दोंमें चैतन्य वस्तुके अज्ञानको आवरण और आवरणको माया कहा है – ऐसा जान कर हम लोग उन दोनों (अज्ञान एवं माया) को एक रूप - निश्चितरूपसे मानते हैं।

(१) (सं० शा० ३ । १०६) ज्ञानं निवर्तकमिति । तस्य = मायाऽज्ञानात्मकस्य, द्वितयस्य = द्वयस्य, भ्रमादवगतस्य । यद्यपि - अज्ञानमाययोः स्वरूपभेदो नास्ति, तथापि तयो र्द्वितयत्वनिर्देशस्तु भ्रान्तबुद्ध्याऽवगत एवाभिहितोऽत्र । गीतागतः = भारतसारभूतगीतायां प्रवक्तृत्वेन प्रवृत्तः । प्राकृतजनवत् ख्यात्याद्यर्थं प्रवृत्तिशङ्कां निवारयितुं करुणयेत्युक्तम् । तेनापीत्यस्य कथितेत्यनेन सम्बन्धः । तेन = भगवद्वचनेन, इदं = मायाऽविद्यात्मकम्, तत्त्वं = स्वरूपं, एकं = अभिन्नं । कथितलक्षणस्य = विभ्रमहेतुः - अनिर्वाच्या शक्तिर्मायाऽज्ञानं चैतदेवेति तुल्यभावात् = समानलक्षणभावात् । यद्वा ज्ञानावरकत्वतस्वज्ञाननिवर्त्यत्वरूपलक्षणसाम्यादिरित्यर्थः ।

कानि तानि भगवद्वचनानि? यै मायाऽज्ञानयोस्तत्त्वावरकत्वं, तत्त्वबोधनिवर्त्यत्वं चोक्तमिति वीक्षायां तानि निर्दिशति - 'नाहं प्रकाश इति तावदनेन मायाऽज्ञानेन चावृतमितीतरदप्यभाणि । मामेव ये तु परमं पुरुषं प्रपन्नाः, ज्ञानेन तु प्रभृतिना च धिया निवृत्तिः ॥' (२) (सं० शा० ३ । ११०) नाहं प्रकाश इति । 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।' (गी० ७।२५) इत्यनेन मायाऽऽवरकत्वेन, अभाणि = कथिता । अहं सर्वस्य लोकस्य न प्रकाशः = स्वेन वास्तविकरूपेण प्रकटो न भवामि । सर्वस्येति वचनात् केषांचिन्मद्भक्तानामेव मत्प्रदत्तज्ञानेन प्रकटो भवामीति दर्शितम् । तत्र हेतुः - योगमायासमावृतः = योगः = भगवत्संकल्पः, तद्वशवर्तिनी माया = योगमाया, यद्वा योगः = गुणानां सत्त्वादीनां युक्तिघटना, सैव त्रिगुणात्मिका माया, तया समावृतः । मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।' (७ । २५) इति तस्योत्तरार्द्धम् । अतो मम मायया मूढः = आवृतज्ञानः सन्नयं चतुर्विधभक्तविलक्षणो लोकः, सत्यपि ज्ञानकारणे, मामजमव्ययं = अनाद्यन्तं परमेश्वरं नाभिजानाति, किन्तु विपरीतदृष्ट्या मनुष्यमेव कञ्चिन्मन्यत इत्यर्थः । विद्यमानं वस्तुस्वरूपमावृणोति, अविद्यमानं च किञ्चिद्दर्शयतीति

(१) गीतामें भगवान्ने करुणासे प्रेरित होकर उन (माया और अज्ञान) दोनोंका भी निवर्तक - ज्ञान कहा है । इसलिए भी ये दोनों (माया और अज्ञान) एक ही तत्त्व हैं, ऐसा निश्चय होता है, क्योंकि कथित लक्षण (दोनोंमें) समान हैं ।

(२) 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।' (गी० ७ । २५) इस वचनसे तो माया (आवरकरूपसे) कही है और 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम् ।' (गी० ५।१५) इस वचनसे दूसरा (अज्ञान) भी आवरण कहा गया है । 'मामेव ये प्रपद्यन्ते ।' (गी० ७ । १४) इस वचनसे (मायामें) तथा 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं नाशितम्' (गी० ५ । १६) इस वचनसे (अज्ञानमें) ज्ञान - निवर्त्यत्व कहा है ।

लौकिकमायायामपि – आवरणविक्षेपशक्तिमत्त्वं प्रसिद्धमेतत् । उपलक्षणमिदम् – 'माययाऽपहृतज्ञाना:, (गी० ७ । १५) इत्यादेः ।

एवं 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।' (गी० ५।१५) इत्यनेनाज्ञानमप्यावरकमभाणि । तेन चिदात्मतत्त्वावरकत्वमुभयोः समानमित्यर्थः । एवं मायाऽज्ञानयोस्तत्त्वज्ञाननिवर्त्यप्रतिपादकं भगवद्वचनं दर्शयति – मामेवेति । 'मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते ।' (गी० ७ । १४) इत्यनेन मायाया ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्वमुक्तम् । न चानेन वचनेन प्रपत्तिलक्षणया भक्त्या मायातरणमात्रमुक्तं, न तु तत्त्वबोधात्तन्निवृत्तिरिति वाच्यम् । 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतं (गी० ७ । १८) इत्यादिवाक्यशेषे ज्ञानस्यैव प्रशंसादर्शनेन प्रपद्यन्ते इत्यनेन तस्यैव विवक्षितत्वात् । अतः प्रपत्तिरत्र ज्ञानम्, गत्यर्थानां धातूनां ज्ञानार्थकत्वात्, ज्ञानस्यैव मायाऽऽख्याविद्यानिवर्तकत्वेन तत्तरणहेतुत्वाच्च । मायाया मुख्यतरणासंभवेन 'तरति ब्रह्महत्यां' 'तरति शोकमात्मवित्' (छां० ७ । १ । ३) 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।' (गी० ४ । ३६) 'बुद्धि र्व्यतितरिष्यति ।' (गी० २ । ५२) इत्यादौ तरते र्नाशार्थकत्वेन प्रयोगदर्शनात् । 'तरन्ती' त्यनेनापि तन्निवृत्तेरेव विवक्षितत्वाच्च । 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।' (गी० ५ । १६) इत्यनेनाज्ञानस्यापि ज्ञाननिवर्त्यत्वमुक्तमिति तदप्युभयोस्तुल्यमित्यर्थः । धिया = तत्त्वज्ञानेन ।

एवमेव वेदान्तस्य चतुर्थप्रस्थाने श्रद्धास्पदे श्रीमद्भागवतेऽपि – 'अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितं । मायाजवनिकाऽऽच्छन्नम्' (भा० १।८।१८-१६) 'यन्मायया गहनयाऽपहृतात्मबोधा ब्रह्मादयस्तनुभृतस्तमसि स्वपन्तः ।' (भा० ४ । ७ । ३०) इत्यादिभिर्मायायाः समावरकत्वमभिधीयते । मायारूपया जवनिकया = तिरस्करिण्या आच्छन्नतया = समावृततया प्रकृतेः परमीश्वरतत्त्वं सर्वत्र विद्यमानमपि लक्ष्यं न भवतीत्यर्थः । यस्य मायया गहनयाऽपहृतः = समावृतः - आत्मबोधो येषां ते, तमसि = मिथ्याज्ञानलक्षणेऽविवेकप्रधान इत्यर्थः । एवं 'मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि ।' (भा० १ । ७ । २३) 'विधूय मायां वयुनोदयेन ।' (भा० ५ । ११ । १५) इत्यादिभिः–चिदात्मज्ञाननिवर्त्यत्वं मायायाः प्रोच्यते । चिच्छक्त्या = चिदात्मज्ञानसामर्थ्येन, व्युदस्य = विध्वंस्य, कैवल्ये = केवलाद्वयब्रह्मनिर्वाणस्वरूपे आत्मनि स्थितोऽभूदित्यर्थः । वयुनस्य = आत्मज्ञानस्योदयेनेत्यर्थः । विधूय = विनाशं कृत्वा ।

एवं– 'अस्मिन्नध्वन्यविद्याकामकर्मभिरुपरक्तमनसा अनुपपन्नार्थं नरलोकं गन्धर्वनगरमुपपन्नमिति मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति ।' (भा० ५ । १४ । ५)

इति । अस्मिन् - अध्वनि = संसारमार्गे, अविद्यादिभिः - उपरक्तेन = व्याप्तेन मनसा, अनुपपन्नार्थं = वस्तुतोऽनुपपन्नाः - अघटमानाः-सदादिभिर्निर्वक्तुमशक्या मिथ्याभूता अर्थाः यस्मिन् तं, गन्धर्वनगरतुल्यं-नरलोकं = मर्त्यलोकं मिथ्याभूतं सत्यतया मिथ्यादृष्टिरनुपश्यतीत्यर्थः । अनेन अविद्यायाः मिथ्याद्वैतप्रपञ्चस्य प्रतीतिलक्षणविक्षेपकथनेनार्थतः सत्यचिदात्मस्वरूपस्यावरणमभिहितम् । सत्यार्थावरणमन्तरेण मिथ्यार्थभानरूपस्य विक्षेपस्यासंभवात् । आवरणविक्षेपशक्तिमत्त्वलक्षणस्य तुल्यत्वकथनेन मायाऽविद्ययोरेकत्वमेव विनिश्चीयते । एवं 'य एष एवमनुश्रुतो ध्यायमानो मुमुक्षूणामनादिकालकर्मवासनाग्रथितमविद्यामयं हृदयग्रन्थिं सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गत आशु निर्भिनत्ति ।' (भा० ५ । २५ । ८) इति । हृदयंगतः = ध्यायमानतयाऽवस्थितः सन् हृदयग्रन्थिमाशु निर्भिनत्तीत्यन्वयः । ग्रन्थेर्दाढर्यमाह - अनादीत्यादि । तत्र हेतुमाह - अविद्यामयमिति । तस्यैव विवरणं रज इति । अन्यथा-'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।' (गी० १८ । ६१) इत्यादिवचनशतैः सर्वेषां प्राणिनां हृदयेऽध्यायमानतया गतो भगवान् - अविद्यामयं न किमपि विनाशयति । अनेन 'ध्यायमानो भगवान् - अविद्यामयमनर्थकरं द्वैतप्रपञ्चं समूलं विध्वंसते' इति कथनेन ध्यायमाने भगवति विशेषणतया विद्यमानेन ज्ञानेनाविद्यायाः तत्कार्यस्य च विध्वंसोऽभिवर्ण्यते । एवं - 'स्वतेजसाऽपास्ततमोभिदाभ्रमः ।' (भा० । १० । ३८ । ११) इत्यनेनापि च स्वतेजसा = स्वज्ञानेन - तमोलक्षणाया अविद्यायाः तज्जन्यभेदविभ्रमस्य च निवृत्तिरभिधीयते । एवं – 'यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा । आत्मन्यविद्यया कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम् ॥' (भा० १ । ३ । ३३) इति प्राक्-अध्यात्मज्योत्स्नया व्याख्यातेन श्लोकेनानेनापि - स्वात्मज्ञानेनात्मन्यधिष्ठाने-अविद्यया कल्पितस्य मूर्तामूर्तस्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चरूपस्य द्वैतजगतः समूलं प्रतिषेधस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मदर्शनहेतुभूतस्य कथनेन मायाऽविद्ययोः समानलक्षणयोगः स्पष्टतया प्रतिपाद्यते, एवंसति श्रीमद्भागवतस्य प्रशस्तवचनशतैरपि मायाऽविद्ययोरेकत्वमेव सुदृढं विज्ञायते ।

एवं मायाऽविद्ययोरभेदानुमानमपि प्रदर्शयन्त इत्थं तदैक्यमनुमानगम्यमप्याहुः –'दृश्यत्वजाड्यपरतन्त्रचिदाश्रयत्वै-र्मायेश्वरस्य तम आत्मतयाऽनुमेया । स्वप्नप्रपञ्चरजतभ्रमलिङ्गदेह-दिक्चन्द्रविभ्रममरीचिजलोपमानैः ॥' (१) (सं० शा० २ । १६६) इति । ईश्वरस्य = परमेश्वरस्य माया, दृश्य-

(१) ईश्वरकी माया – दृश्यत्व, जाड्य, परतन्त्रत्व, चिदाश्रयत्वादि हेतुओंके द्वारा स्वप्नप्रपंच, रजत भ्रम, लिङ्गदेह, दिक्चन्द्रविभ्रम, मरीचिजलादि

त्वादिभिर्हेतुभिः स्वप्नप्रपञ्चादिदृष्टान्तैस्तमआत्मतया = अज्ञानात्मतया अज्ञानरूपत्वेनानुमेया । माया, अज्ञानरूपा-अज्ञानातिरिक्ता न भवितुमर्हति, दृश्यत्वात्. जडत्वात् परतन्त्रत्वात्, चिदाश्रयत्वाच्च, स्वप्नप्रपञ्चादिवत् । न हि दृश्यं जडं परतन्त्रं चिदाश्रयं च मायारूपं यथोक्ताज्ञानस्वभावमतिक्रम्य वर्तते । न च मायात्मके पक्षे दृश्यत्वाद्यभावोऽपि, चित्स्वरूपातिरिक्ते तत्-संभवादित्यर्थः । बहुदृष्टान्तोपादानं व्याप्तिदृढीकरणार्थम् । दृश्यत्वं = चैतन्यभास्यत्वम्, जाड्यं = जडत्वं-अस्वप्रकाशत्वं, परतन्त्रत्वं = स्वातिरिक्त-चेतनाधीनव्यापारवत्त्वं । स्वप्नप्रपञ्चादे र्न वस्तुतोऽज्ञानाद् भेद इति न साध्य-वैकल्यम् । मायायाश्चाकार्यतया वस्तुतस्तद्भेदाभावे तदात्मत्वमेव सिद्ध्यतीत्याशयः । लिङ्गदेहस्याविद्यामयत्वस्वीकाराद् विभ्रमत्वमनिवार्यमेव । एवं वियदादिकं व्यावहारिकप्रमाणोपनीतं निखिलं जगत्, एकाज्ञानविकल्पितत्वेन तत्कार्यं भवितुमर्हति, अधिष्ठानतत्त्वज्ञानबाध्यत्वात्, स्वप्नवत् । ततश्च तत्कारणत्वेन प्रसिद्धा मायाऽज्ञानमेव, अतः प्रत्यगज्ञानान्येशमाया-विकल्पितत्वं नास्ति जगतः, अर्थात् प्रत्यगात्माज्ञानरूपेशमायाविकल्पितत्व-मेवास्तीत्यभिप्रायः । असङ्गस्य ब्रह्मणः कूटस्थस्य साक्षाज्जगत्परिणामा-योगात् 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ० ६ । ४७ । १८) इत्यादिश्रुतेश्च विवर्तमानाविद्याधिष्ठानमेव तदित्यविद्यायास्तावदुपादानकारणत्वं 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यादि' (श्वे० ४ । १०) त्यादिश्रुतिविरुद्धं नास्ति, किन्तु तदानु-कूल्यमेव । एवं 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे० १ । १०) इति मायाया अपि ज्ञाननिवर्त्यत्वश्रवणेनाज्ञानाभेद एव । एवं 'नासदासीन्नो सदासीत्' (ऋ० सं० १० । १२९ । १) इत्युपक्रम्य 'तम आसीत्, तमसा गूढमग्रे' (ऋ० १० । १२९ । ३) इति तमस एव श्रुत्याऽनया, जगद्बीजत्वं स्पष्टं प्रदश्यते, तमश्चाज्ञानमेव श्रुतिषु श्रूयमाणमिति तदेव क्वचिन्मायाऽक्षरमव्यक्त-मसदव्याकृतं प्रकृतिरविद्याऽबोध इत्यादिपर्यायशब्दैरभिलप्यते, पर्यायशब्द-भेदास्तु एकस्मिन्नपि प्रवृत्तिनिमित्तभेदादुपपद्यन्त इति ।

ननु – अज्ञानं चेदुपादानं, तर्हि तस्य क्षोभकतया सहकारि किञ्चिदभ्यु-पेयं काचादिस्थानीयं तच्चाभ्युपगम्यमानं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेश्वराश्रयमायाख्यम-ज्ञानादन्यदेवेति चेत् न, अज्ञानस्य स्वकार्ये सहकार्यपेक्षाऽभावादित्यभिप्रेत्याहुः-
'विषयकरणदोषान्न भ्रमः संविदि स्या – दपितु भवति मोहात् केवलादेवमेव ।
भगवति परमात्मन्यद्वितीये समस्त – द्वयमतिरियमस्तु भ्रान्तिरज्ञानहेतुः ॥'

दृष्टान्तोंसे तमोरूप अज्ञानमें अनुमेय है । 'माया तमसो न भिद्यते दृश्यत्वात्' स्वप्न-प्रपंचादिवत् । यह अनुमान है । स्वप्नप्रपंचादि अज्ञानसे वस्तुतः भिन्न नहीं होते, अतः

(१) (सं० शा० १ । ३०; २ । १७२) इति । विषयदोषः = सादृश्यादिः, करणदोषः = काचादिरोगविशेषः । तत्र संविदि = प्रमाणफले घटादिज्ञाने, यः परेषां वेद्यत्वादिभ्रमः, स तावद्विषयदोषात्करणदोषाद्वा न संभवति, संवदः स्वप्रकाशत्वेनाविषयत्वात्करणागोचरत्वाच्च । अस्तु-प्रमातृदोषादेवेति चेत्, तर्हि - दोषान्तरासंभवान् प्रमातृभिव्यक्तान्मोहादेवेति वक्तव्यं, तच्चास्मदिष्टमेवेत्याह - अपित्विति । तत्र मोहमात्रजत्वसिद्धौ तद्वत्प्रकृतेऽपि मोहैकनिमित्तता साधनीयेत्याह - एवमिति । यथा संविदि वेद्यत्वादिधीर्भ्रमस्तथा परमात्मनि द्वैतबुद्धिरपि यतो भ्रान्तिरतोऽज्ञानहेतुरस्त्वित्यन्वयः । अज्ञानजत्वं संभावयति-विचित्रेति । भिन्नाभिन्नत्वसदसत्त्वादिविचारासहत्वेनानिर्वचनीयेत्यर्थः । भ्रान्तित्वसाधकमाह - अद्वितीये द्वयमतिरिति । अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यर्थः । इयमिति साक्षिसिद्धत्वमाह । भगवतीत्यनेन महामहिमत्वात्प्रपञ्चरचनासामर्थ्यं सूचितम् । अस्त्विति समर्थने लोट् । अज्ञानजत्वं शक्यसमर्थनमित्यर्थः । एवं सादृश्यधीदोषयोर्व्यभिचार उक्तः । संस्कारोऽपि व्यभिचारी, शुक्तिरजतादिवैशिष्ट्यस्य प्रागननुभूतस्यापि भ्रमविषयत्वादिति स्पष्टत्वान्नोक्तम् ।

तस्मात् श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेश्वराश्रयमायास्वरूपमज्ञानमेवेति सिद्धम् । एवमखण्डचैतन्यं ब्रह्मैवाज्ञानस्याश्रयो विषयश्चेत्यपि सिद्धम् ।

तथापि - विद्यते - किमपि अज्ञानविजृम्भितं जीवेश्वरयो वैलक्षण्यम् । तथाहि - अज्ञानं ह्यावरणविक्षेपरूपाकारद्वयवत् । तत्र ज्ञानापनोद्यत्वमावरणाकारः । सर्वकार्यानुगतजाड्यं विक्षेपाकारः । यदाऽऽवरणात्मना चिदात्मतत्त्वमाच्छाद्यैवावतिष्ठते, तदा न चिदात्मनि जीवेश्वरजगद्भेदावभासः, यथा सुषुप्तिप्रलययोः । यदा तु विक्षेपात्मना विवर्तते-स्वाधिष्ठानमेवान्यथा प्रथयति, तदा यथोक्तभेदावभासः । तत्र यदा चिदात्मनः स्वाज्ञानात्कल्पितान्तःकरणचिदाभासद्वारेण तदविविक्ततया 'अहमस्मि' इत्यभिमानो भवति, तदाऽज्ञानाश्रयविषयं चित्स्वरूपं ब्रह्म जीवत्वमनुभवति । यदाहुः सर्वज्ञात्ममुनिपादाः - 'अज्ञानं जडशक्तिमात्रवपुषा जीवाद् बहिः सिद्ध्यति, जीवारूढमहं न जान इति तु ज्ञानापनोद्यात्मना । संसिद्धिं प्रतिपद्यते, तदुचितं जीवाज्ञताभाषितं,

---

दृष्टान्तमें साध्य - विकलता नहीं ।

(१) ज्ञानमें (वेद्यत्वादिका) भ्रम, विषय दोष (सादृश्यादि) एवं करण-दोष (कामलत्वादि) से नहीं होता, अपितु केवल अज्ञानसे होता है । इसी प्रकार अद्वितीय भगवान् परमात्मामें यह द्वैत बुद्धिरूप भ्रान्ति भी अज्ञानरूप हेतुसे ही होती है ।

द्वैरूप्ये सति रूपमेकमनिशं भात्येवमन्यन्न हि ।।' (१) (सं०शा० २ । १६५) इति । जडरूपा या शक्तिर्ब्रह्मपरतन्त्रा माया तन्मात्रस्वरूपेणेत्यर्थः । निखिलाकाशादिकार्यानुगतजाड्यात्मनेति यावत् । जीवाद् बहिः = अहंकारानवच्छिन्नचैतन्यात्मनि ब्रह्मणि । जीवारूढं = जीवाश्रितं तु 'अहं न जाने' 'अहमज्ञः' इत्येवं ज्ञानापनोद्यात्मना = ज्ञानपर्युदासस्वरूपेण-ज्ञाननिवर्त्यत्वयोग्यस्वरूपेण, ज्ञानविरोध्याकारेणेति यावत् , संसिद्धिं प्रतिपद्यते = स्फुरणगोचरतामुपैति । अत एव ब्रह्मणि तस्याज्ञानस्य न तथाऽनुभवः संभवति, किन्तु जडशक्तिमात्ररूपेणेति तत्र तथैव सा सिद्ध्यति । जीवे तु जीवगतज्ञाननिवर्त्यत्वेन ज्ञातं भवति । ततश्च भाष्यकारादेर्जीवाज्ञताभाषितमुचितमिति भावः । नन्वेवं – जडशक्तित्वेनापि जीवे तत् - अज्ञानं किमिति न भायात् – तत्राह – द्वैरूप्ये सति । अज्ञानस्योक्तप्रकारेण द्विरूपत्वे सति, एकं = ज्ञानापनोद्यत्वरूपं, तदपि नित्यसिद्धसाक्षिणैव भातीत्याशयेनाह – अनिशमिति । भाति जीव इति शेषः । अन्यत् = जडशक्तित्वरूपं, यस्माज्जीवे न भाति, तस्माज्जीवेऽज्ञत्वमुचितमेव ।

एवमज्ञानस्योक्ताकारभेदमुपपादयन्तो जीवेभ्यः परमेश्वरस्य वैलक्षण्यमाहुः–'जडशक्तिमात्रवपुषा गगनश्वसनादिकार्यजननी भवति । पुरुषोत्तमस्य वशवर्तितया प्रकृतिः परस्य जगदेकगुरोः ।।' (२) (सं० शा० २ । १६६) इति । प्रकृतिः = जगदुपादानमज्ञानं हि जडशक्तिमायास्वरूपेण - विक्षेपशक्तिप्रधानाकारेण गगनादिप्रपञ्चस्य जननी भवति । जडरूपकार्यदर्शनात्तत्कारणं जडप्रधानमवसीयते, कारणानुरूपत्वात्कार्यस्येत्यर्थः । न चैतावता सांख्याभिमतप्रधानवादाश्रयणप्रसक्तिरित्याह - पुरुषोत्तमस्य वशवर्तितयेति । सत्तास्फुरणार्थक्रियासु चिदात्मपराधीनत्वेन कार्यकरी, न स्वातन्त्र्येणेत्यङ्गीकारान्न प्रधानवादप्रसक्तिरित्यर्थः । 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १ । ३) इत्यनेन परमात्मशक्तितया प्रकृतेः प्रस्तुतत्वात् , 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायि-

(१) यद्यपि अज्ञान जीव और उसके बाहर सर्वत्र है, तथापि उसके दो रूप होते हैं । आकाशादिमें जड़त्वरूपसे और जीवमें ज्ञानविरोधित्वरूपसे अज्ञान रहता है, इनमें ज्ञान बाध्यत्व, रूपसे विद्यमान जीवगत अज्ञान ही 'अहं न जाने' ! इस रूपमें स्पष्ट प्रतीत होता है । अतः भाष्यकार आचार्य शंकरने कह दिया कि जीव में अज्ञान है, वस्तुतः वह ब्रह्मनिष्ठ ही है । अज्ञानके उक्त दो रूपोंमें एक रूप निरन्तर प्रतीत होता है, वैसा दूसरा रूप नहीं ।

(२) जगत्के एकमात्र गुरु परमात्मा पुरुषोत्तमकी वशवर्ती होकर प्रकृति-माया जड़शक्तिके रूपमें गगनादि कार्य वर्गकी जननी होती है ।

न्तु महेश्वरम् ।' (श्वे० ४ । १०) इति श्रुत्या मायात्वेनेश्वराश्रितत्वेन च दर्शितत्वाच्चजगत्कारणे ब्रह्मण्येव सा तथा भातु युक्तेति भावः । विशेषणद्वयं पुरुषोत्तमत्वसाधकं, क्षराक्षराभ्यां परस्येति 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (१५ । १७) इति गीतास्मृतेः । जगदेकगुरोः = सर्वजीवान्तर्यामिणः इति च 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' (१५ । १५) इति च गीतास्मृतेः ।

एवमज्ञानस्य जडात्मतामुपपाद्य ज्ञानापनोद्यात्मत्वमुपपादयन्तः परमेश्वराज्जीवानां कल्पितमौपाधिकं वैलक्षण्यमाहुः – 'इयमेव सर्वजननी प्रकृतिर्वशिनी शरीरिणमिमं पुरुषम् । अधिरुह्य जीवमहमज्ञ इति स्फुरणैकगोचरवपुः स्फुरति ॥' (१) (सं० शा० २ । १६७) इति । इयमेव = प्रस्तुताऽज्ञानात्मिका प्रकृतिरेव, जीवमिमं पुरुषमधिरुह्येति सम्बन्धः । कार्यभूतान्तःकरणगताभासाविवेकद्वारा कार्यात्मभावमागतं चैतन्यं जीवः, स एव पुरि नवद्वारे शयनात् पुरुषः, तमिमं सन्निहितमपरोक्षं च शरीरिणं = शरीरवन्तं-शरीरेऽभिव्यज्यमानत्वाच्छरीराभिमानित्वाद्वा जीवं पुरुषमधिरुह्य = कार्यान्तःकरणद्वारेणारुह्य = परिच्छिन्नप्रतिभासयोग्यं कृत्वेति यावत् । वशिनी = स्ववशं कुर्वाणा-स्वकार्यान्तःकरणतद्विकारैस्तं वशीकुर्वती, स्फुरणैकगोचरवपुः = साक्षिमात्रविषयरूपा सती जीवस्य जगत्प्रकृतितयाऽज्ञानं, तत्र जडशक्तिरूपेण न भातुमर्हतीत्याशयेनाह – अहमज्ञ इति । 'अहमज्ञो मूढः, इत्येवं ज्ञानापनोद्यात्मना स्फुरति, जीवे स्वेनावरणरूपेण ज्ञानापनोद्याकारेणाविर्भवति, चिदात्मनः स्वविरोधिरूपाभासं स्वतो नित्यं प्राप्तमपि तिरस्कुर्वतीत्यर्थः । अज्ञानस्यावरणात्मकं रूपमनुभवसिद्धमित्युक्तं भवति ।

जीवगतज्ञाननिवर्त्यत्वादज्ञानस्य 'अहंमज्ञः' इति जीवे तद्भाति, न त्वीश्वरे, इत्युक्तं, तत्रोपपत्त्यन्तरमाहुः यद्वा एकस्यैवाज्ञानस्य चैतन्यमेकमेव प्रति स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ये किं कृते ? इत्यपेक्षायामाहुः – 'चितिशक्तिबाधितवपुः परमं पुरुषं प्रति स्फुरति सा प्रकृतिः । चितिशक्तिबाधकवपुः पुरुषं पुरवर्तिनं प्रति पुनः स्फुरति ॥' (२) (सं० शा० २ । १६८) इति । चितिः – चैतन्यस्वरूप-

(१) यह सर्व जननी वशिनी-प्रकृति माया ही इस शरीरधारी जीव पुरुष पर अधिरूढ होकर 'अहमज्ञ' इस रूपसे स्फुरित होती है । 'अहमज्ञः' इस अनुभवके आधार पर जीवको अज्ञानका आश्रय नहीं माना जा सकता, क्योंकि जीव जगत्का उपादान नहीं । अतः यही कहना होगा कि मूलप्रकृति माया ही इस जीवके स्वतः स्फुरित रूपको तिरोहित कर देती है, जिससे जीव कहता है कि–अहमज्ञः ।

(२) परमपुरुष ईश्वरके प्रति यह प्रकृति, चितिशक्तिसे अभिभूत स्वभावा होकर प्रतीत होती है, और शरीरवर्ती पुरुष (जीव) के प्रति वह चितिशक्ति-

मेत्र शक्तिः, चितेः सर्वाधिष्ठानत्वेन कारणत्वाच्छक्तित्वमुपपद्यते । साऽज्ञानमायारूपा प्रकृतिः, चितिशक्त्या = ब्रह्मणः स्वाभाविकेनानावृतस्वरूपेण बाधितवपुः = अभिभूतस्वरूपा सती परमं पुरुषं = परमेश्वरं प्रति स्फुरति । अज्ञानं हि यं प्रति वस्तुस्वरूपमावृणोति, तेनैव 'तन्न जानामी' त्यनुभूयते. परमेश्वरं प्रति च तद् वस्तुस्वरूपं नावृणोति, यतः परमं = नित्यसर्वज्ञं सर्वविदं परमात्मानं प्रति तस्य स्वाभाविकचितिशक्त्याऽर्थात् अनावृतस्वरूपभूतचैतन्येन बाधितवपुः सती - अज्ञानरूपा प्रकृतिः स्फुरति, तेन परमेश्वरेण सा तुच्छतया ज्ञायते, अतस्तं प्रति तत्स्वरूपं नावृणोतीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति - यत् यदधीनसत्तास्फूर्तिकं, तेन तत् परमार्थतो नाभिभूयते, यथाऽऽरोपितेन रजतेन शुक्तिस्वरूपं, तथाऽत्राविष्कृतचैतन्याधीनसत्तास्फूर्तिकेनाज्ञानेन न चैतन्यस्वभावोऽभिभूयते, तस्याभिभवे स्वस्य सत्तास्फुरणयोरसंभवात्, किन्तु चिदात्मना स्वाभासविच्छेपद्वारा तस्यावरणाकारः स्वस्मिन्नभिभूयते, एतदस्य चितिशक्तिबाधितत्वं, न निवृत्तिः, नैसर्गिकत्वेन सह वृत्तेः । अतः 'ईश्वरोऽहमज्ञः' इति न मुह्यतीति । जीवे तु नैवं किन्तु विपरीतमाह – चितिशक्तिबाधकवपुरिति। पुरवर्तिनं = स्थूलसूक्ष्मशरीरावच्छिन्नं, 'माययाऽपहृतज्ञानाः' (गी० ७। १५) 'यन्मायया गहनयाऽपहृतात्मबोधाः ।' (भा० ४। ७। ३०) इति स्मृतिभागवताभ्यां 'न जानामि यथावत् स्वात्मानमि'त्यनुभवाच्चैतत्तं प्रति स्वरूपावरकतयाऽज्ञानरूपा माया प्रकृतिः स्फुरतीत्यर्थः । अयं भावः-कार्यस्यान्तःकरणादेः कारणपरतन्त्रत्वात् कार्यमात्मत्वेनाभिमन्यमानस्य जीवस्यास्ति अज्ञानपारतन्त्र्यम्, अत एव कार्यधर्ममात्मन्यध्यारोपयतोऽज्ञानेनाभिभूतनिजस्वभावता भवति । यथाऽऽरोपितरजतोपरक्तशुक्तिसत्तायाः शुक्त्यज्ञानेनाभिभूतस्वभावता । तदिदमुक्तं चितिशक्ते र्बाधकं-अभिभावकं वपुः सती प्रकृति र्माया स्फुरति । तथा च कार्यकारणोपाधिद्वयकृते-अज्ञानस्यैकस्यैकस्मिंश्चिदात्मनि स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ये इति । नानालक्षणत्वस्यैकस्मिन्नपि सम्भवात्तद्विरोधस्य चासम्प्रतिपन्नेरित्यभिप्रायः ।

ननु-एकस्यैवाखण्डचैतन्यस्येश्वरत्वे जीवत्वे चैकमेवाज्ञानमुपाधिश्चेत्, कथं मुक्तत्वसंसारित्वसर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वस्वतन्त्रत्वपरतन्त्रत्वादिव्यवस्था स्यात् ? इति चेत् - अज्ञानोपाधेरेकत्वेऽपि पूर्वोक्तरूपभेदात्तदुपपत्तिरित्याहुः – 'अज्ञा-

बाधकत्व रूपसे स्फुरित होती है । अज्ञान अपने आश्रय चेतनके स्वरूपको अभिभूत नहीं कर सकता, अन्यथा स्वयं उसका भी परिस्फुरण न हो सकेगा, किन्तु जीवके लिए उसके स्वरूपको अभिभूत कर देता है, जिसके कारण उसे अपनेमें अज्ञता प्रतीत होने लगती है ।

निनो भवति दुःखमनेन क्लृप्तं, सर्वेश्वरस्य न खलु प्रतिभासतोऽपि । सर्वज्ञतादिगुणजातममुष्य नास्य, संसारिणः स्फुरति मोहसमन्वितस्य ॥' (१) (सं० शा० २।१७३) इति । अनेन = अज्ञानेन क्लृप्तं = विवर्तितं, दुःखमज्ञानिनः = नित्यशुद्धबुद्धमुक्तनिरतिशयानन्दस्वस्वरूपस्फुरणशून्यस्य जीवस्य भवति, आवरणप्रधानं ह्यज्ञानं चैतन्यपारतन्त्र्याद्यापादकमिव जीवे भाति अतस्तस्मिन् दुःखित्वादिभ्रमबीजं भवति, अतो 'अहं न जाने स्वस्य वास्तविकं स्वरूपमि'ति-अज्ञानित्वमात्मनि पश्यतो जीवस्यैव दुःखित्वं भवतीत्यर्थः । सर्वेश्वरस्य विक्षेपप्रधानाज्ञानोपाधिकस्य न खलु प्रतिभासतोऽपि दुःखं भवति, तस्य ज्ञानप्रतिबन्धकाहंकरणाद्यभावात् । किन्तु तस्मिन् स्वाभाविकस्वरूपस्यातिरस्कारात् - अनावृतत्वात् - स्वोपरागतो जगत्स्रष्टृत्वादिकं धर्मजातमापादयतीवेत्यर्थः । एवमेव सर्वज्ञत्वादिव्यवस्थाऽपीत्याह - सर्वज्ञतादीति । अमुष्य = ईश्वरस्य । जीवस्य वस्तुत ईश्वराभिन्नस्यापि सर्वज्ञत्वाद्यभावे हेतुतया तं विशिनष्टि - मोहसमन्वितस्येति । यद्यपि एकाज्ञानकार्यमेकस्मिन्नेव युक्तमिति सत्यमस्ति, तथापि संसारिनित्यमुक्तयो र्जीवेश्वरयोरप्येकचैतन्यमात्रत्वेन प्रकृतेऽपि तत्सत्त्वमभ्युपगम्यते । परन्तु दुःखित्वादिकं भ्रमसिद्धमधिष्ठानविशेषस्वरूपस्फुरणशून्ये प्रतिबिम्बात्मना जीवभावमापन्ने तस्मिन्युज्यते, सर्वज्ञत्वादिकं तु श्रुत्यादिबलादनावृतस्वरूपे बिम्बब्रह्मण्येव युक्तमित्युपपत्तितोऽनुभवादितश्च तद्व्यवस्था न विरुद्ध्यते इति भावः ।

तथा च - जीवेश्वरयोः किञ्चिज्ज्ञतासर्वज्ञताकथनं, अज्ञानावृतस्वरूपत्वतदभावपरतयैव विनिर्णीतम्, तमसाऽऽवृतनित्यदृष्टे र्जीवस्यापरस्य पुंसः किञ्चिज्ज्ञता, अज्ञानावरणतज्जन्यकार्यकरणविवर्जितस्य च परस्य पुंसः परमेश्वरस्य सर्वज्ञता, इत्यनुभवेनापि दृढयन्त आहुः - 'अज्ञोऽहमित्यवगति र्न परस्य पुंसः, सर्वज्ञताऽवगतिरात्मनि नास्य पुंसः । अत्रापि कारणमहंकृतिवर्जितत्वं तद्वद्धता च परमेऽल्पतरे च पुंसि ॥' (सं० शा० २ । १७८)

(१) इस (अज्ञान) से रचित दुःख अज्ञानीको नहीं मिलता है । ईश्वरको प्रातिभासिक दुःख भी नहीं । उस (ईश्वर) के सर्वज्ञत्वादि - गुण इस मोह समन्वित संसारी (जीव) में प्रतीत नहीं होते । आवरण प्रधान - अज्ञान - माया जीवकी उपाधि और विक्षेपप्रधान - अज्ञान ईश्वरकी उपाधि मानी जाती है । 'अहं न जाने' यह आवरण ही दुःखका मूल है । अतः दुःख जीवमें ही रहता है, ईश्वरमें नहीं । क्योंकि ईश्वरमें आवरण नहीं जीवमें आवरण रहनेके कारण ही ईश्वरके सर्वज्ञत्वादिगुण भी प्रतीत नहीं होते, नहीं तो यह जीव ईश्वरस्वरूप था । इसमें सर्वज्ञत्वादिका भान होना चाहिए था ।

(१) इति । अवगतिः = अनुभवः, परस्य पुंसः = परमेश्वरस्य । अस्य पुंसः = जीवस्य आत्मनि = स्वस्मिन् । अत्रापि = उक्तानुभवाभावे, कारणं = बजं, अहंकृतिवर्जितत्वं, परमे पुंसि, अल्पतरे = परिच्छिन्ने पुंसि जीवे, तद्बद्धता = अहंकृतिबद्धता । तथा चैकस्यैव चिदात्मनो जीवकोटावहंकाराद्यधिकोपाधिप्रवेशात्-ईश्वरकोटौ च तदभावाद्युक्ता यथोक्तसर्वज्ञत्वादिव्यवस्थेति भावः ।

ननु – श्रीकृष्णरघुनाथादेः श्रुतीतिहासपुराणप्रामाण्येनेश्वरत्वं वक्तव्यं, तस्य चाहङ्कारयोगात्, कथमीश्वरस्याहङ्कारवर्जितत्वमित्याशंकयासिद्धो हेतुरित्याशयेनाहुः – बिम्बस्य नापि तमसि प्रतिबिम्बकस्य, संघट्टनं क्वचिदहङ्करणेन शक्यम् । वक्तुं प्रभोः सकललोकहितावतार – स्वेच्छाविनिर्मितवपुर्वरमन्तरेण ॥' (२) (सं० शा० २ । १७६) इति । बिम्बस्येति, अनेनेश्वरविषयं पक्षद्वयं दर्शितम् । क्वचित् = कस्मिन्नपि पक्षे । बिम्बस्य = चिन्मात्रस्य, क्वचिद्विषयेऽहङ्करणेन संघटन वक्तुं न शक्यम, तस्य सर्वविकल्पाधिष्ठानतया कूटस्थस्य निर्विकल्पज्ञानरूपत्वात् । नापि तमसि = कारणाव्याकृतात्मकेऽज्ञाने प्रतिबिम्बकस्य प्रभोः क्वचिदहंकरणेन संघटनं वक्तुं शक्यं, तस्याज्ञानतत्कार्याधिष्ठातृत्वेन स्वातन्त्र्यात्, तस्मिन्नज्ञानतत्कार्यकृतातिशयायोगादिति योजना । अपि चाहंकारो हि 'अहमिहैवे' त्यनुभवात् परिच्छिन्ने जीव एव वाच्यः इति नापरिच्छिन्ने सर्वात्मके परमेश्वरे तत्सम्भवः । न चेश्वरस्याहंकारो व्यापकोऽस्त्विति वाच्यम् । तत्र प्रमाणाभावात् । न च

(१) 'अहमज्ञः' यह भान परमेश्वरको नहीं होता और जीवको अपनेमें सर्वज्ञताकी अवगति नहीं होती । इसका कारण है– ईश्वरमें अहंकार राहित्य और जीवमें अहंकार साहित्य, जीवकोटिमें अहंकार रूप उपाधिका प्रवेश होनेसे अल्पज्ञत्व का ही भान होता है, सर्वज्ञत्वका नहीं । और ईश्वरमें उक्त उपाधिके न होनेसे सर्वज्ञत्वका ही भान होता है । अल्पज्ञत्वका नहीं ।

(२) बिम्ब अथवा माया प्रतिफलित - प्रतिबिम्बभूत ईश्वरमें लोक हितार्थ स्वेच्छानिर्मित श्रेष्ठ शरीरके बिना कहीं भी अहंकारका सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता, अर्थात् जिस चेतनमें स्वरूपावरण है, उसीमें परिच्छेद तथा दुःखका नियामक अहंकाराभिमान होगा । ईश्वरमें स्वरूपावरण नहीं, अतः वहां अहंकारका सम्बन्ध कदापि सम्भव नहीं । हां भगवान्‌ने जो 'अहं सर्वस्य प्रभवः' आदि स्थलों पर विचित्रसे उद्‌गार निकाले हैं, वह दीनहित रक्षणार्थ अपनी इच्छासे एक मायिक शरीर धारण करके ही कहा है । शरीर सम्पर्क रहित ईश्वरमें अहंकारसे सम्बन्ध नहीं होता, यह निश्चित है ।

स्वरूपावरणरहितस्य परिच्छिन्नाहङ्काराभिमानः संभवति, न वा दुःखादि-धर्मिणोऽहङ्कारस्येश्वरे सम्भवोऽस्ति, प्रसिद्धाहङ्कारविलक्षणस्याहङ्कारत्वासम्भवाच्च । 'अहमात्मा गुडाकेश !' (गी० १० । २०) इत्यादौ चाहंशब्दस्य शुद्धात्मनि लक्षणा । एवं सति मुख्यया वृत्त्या नेश्वरस्याहङ्कारसम्बन्धः संभवतीति भावः ।

ननु – कथमेवं सति तस्य शरीरयोगोऽपि, तस्याहङ्कारधर्मककर्मायत्तत्वादित्याशंक्याह – सकलेति । कंसादेरसुरस्य, रावणादेर्वा राक्षसस्य वधेन सकललोकहितार्थं योऽवतारः, तस्यैव विवरणं स्वेच्छेति । वपुर्वरं = श्रेष्ठं वपुः-विशुद्ध-सत्त्वमायया संपादितं-दिव्यजन्मकर्मकं, न तु भौतिकं । ईश्वरस्य हि शरीरं न भोगार्थं, येन तत्कर्मार्जितं स्यादिति तदभावे न भवेत् , किन्तु ब्रह्मादीनां प्रार्थनया 'अमुककुले प्रादुर्भविष्यामी'ति या तस्येच्छा, तद्विनिर्मितमेव तस्य वपुः श्रेष्ठं, न त्वस्मदादिशरीरवत् कर्मायत्तमिति नोक्तदोषः । अत्र स्वेच्छेत्यनेन शरीरपरिग्रहे स्वातन्त्र्यं सूचयति । अत एव प्रभोः = सर्वसमर्थस्येत्युक्तम् । स्वीयानां भक्तानामिच्छया वेत्यर्थः । तादृशं वपुः श्रेष्ठमन्तरेण = तद्वर्जयित्वा, अर्थात् तादृशदिव्यशरीरसम्बन्धमन्तरेण तत्राहङ्कारसम्बन्धो नास्ति, तेन विनापि शरीरयोगोपपत्ते र्न तस्याहङ्कारगमकत्वमित्यभिप्रायः । अव्यक्तनिर्गुणब्रह्मपरिशीलनं ह्यतिदुष्करमिति स्वभक्तवाञ्छापूरणायाशरीरस्यापि भगवतो दिव्यव्यक्त-सगुणशरीरस्वीकरणं स्वाश्रितविशुद्धसत्त्वमाययोपपन्नमिति भावः ।

एवं प्रमाणाभावादनुपपत्तेश्चेश्वरस्य नाहंकृतियोग इत्युक्तम् । इदानीं तदभावेऽननुभूयमानमपि तस्य स्वरूपावरकमज्ञानं किं बलात्सिद्ध्येत् ? न वा तदन्यत्तादृगज्ञानकार्यं तस्मिन्नस्तीत्याशयेनाह — 'नाहंकृतिंच परिहृत्य तमस्वितधीः, सम्भाव्यतेऽपहतपाप्मनि नित्यमुक्ते । तामन्तरेण घटते न च मूढभावसम्भावनाऽपि परमेशितरि प्रसन्ने ॥' (१) (सं० शा० २ । १८०) इति । स्वाभाविकं हीश्वरस्यापहतपाप्मत्वादिकं, तादृशे परमेश्वरेऽहंङ्कृतिं परिहृत्य = विरह्य्य — वर्जयित्वा, स्वतः तमस्वितधीः = अज्ञानवत्ता

(१) पाप्म-वर्जित नित्यमुक्त ईश्वरमें अहंकारको छोड़ कर अज्ञानित्वका भान सम्भावित नहीं, अज्ञानित्वधीके विना स्वभावस्वच्छ परमेश्वरमें मूढभावकी सम्भावना भी नहीं बनती । अर्थात् प्रमाणके विना कोई पदार्थ नहीं माना जासकता । ईश्वरमें अज्ञानित्वके होनेमें प्रमाण है – अज्ञानित्वका भान । ईश्वरमें अहंकाराभिमान न होनेसे अज्ञानित्वका भान नहीं, अतः परमेश्वरमें मूढ़भाव (अज्ञानित्व) की सम्भावना नहीं ।

बुद्धिः 'अहमज्ञः' इत्यात्मिका न संभाव्यते, अपहतपाप्मत्वादिस्वभावविरोधादित्यर्थः । चकारेण कार्यान्तराभावं सूचयति । तमस्विताबुद्ध्यभावे फलितमाह — तामिति । तामन्तरेण = तमस्वित्वाधयं विना, मूढभावस्य = आवृतस्वरूपत्वस्य संभावनापि, परमेशितरि = स्वातन्त्र्येण विश्वनियन्तरि प्रसन्ने = स्वभावनिर्मले — अनवच्छिन्नतया प्रकाशमाने न च घटते । तथा च चित्सदानन्देश्वरस्वभावबाधितवपुष्ट्वात् तस्मिन्नज्ञानस्य न ज्ञानावरणप्रतिभासः, तदभावे च न मूढभावः' अतः स्वभावानुरोधीश्वरत्वसर्वज्ञत्वादिकमेव तत्र भवति, न विपरीतमिति भावः ।

नन्वीश्वरस्यापि शरीराभ्युपगमेऽज्ञत्वमवश्यं वाच्यम्' शरीरित्वस्याज्ञत्वव्याप्तत्वात्, अन्यथा मुक्तेऽपि तत्प्रसङ्गादिति चेत् । सत्यम् । अस्त्येवेश्वरेऽपि जगन्निदानमज्ञानं, तथापि न तस्याज्ञत्वमित्युक्तम् । मुक्ते तु तदपि नास्तीति विशेषः । तत्र चाज्ञात्वाभावे निमित्त सर्वज्ञतया सर्वाधिष्ठानतया च तद्वशित्वम् । जीवस्तु विपरीततया तद्वश्यः, इत्येकमेवात्मतत्त्वं तदभिभावकं तदभिभूतं चेत्याशयेनाहुः — 'स्वेच्छाविनिर्मितवपु र्भजतोऽपि तस्य, नाज्ञानितावगतिरस्ति वशित्वहेतोः । वश्यत्वहेतुकमिदं स्फुरणं नराणां 'नाहं विजान' इति नास्ति तदीश्वरस्य ॥' (१) (सं० शा० २ । १८१) इति । वशित्वहेतोः — अज्ञानं प्रतीति शेषः । मायानियन्तृत्वात् — अज्ञानवशित्वात् । यो हि भगवान् मायाऽख्यमज्ञानं वशीकृत्य विशुद्धसत्त्वमाययोद्भासितं दिव्यं शरीरं स्वेच्छावशादधारयत्, तस्य स्वातन्त्र्यस्यातिस्फुटत्वात्, तस्मिन् अज्ञानावरणतत्कृतपारतन्त्र्यादेरारोपसम्भावनाऽपि न प्रभवतीति भावः । वश्यत्वं = तदावृतस्वरूपतया तत्परतन्त्रत्वम् । इदं शब्दार्थमाह – 'नाहं विजाने' इतीति । नन्वज्ञानाश्रयत्वे तस्य तद्वश्यत्वमेव स्यादित्याशङ्क्य - मायिनो महेश्वरत्वश्रुते र्नेशस्य तदस्तीत्याह—नास्तीति । तत् = वश्यत्वम् । यस्मात् नराणां = जीवानां, 'नाहं विजाने' इतीदं स्फुरणं वश्यत्वहेतुकं, अतस्तदभावादीश्वरस्य तदावरणरूपेण 'नाहं विजाने' इति — अज्ञानस्फुरणं स्वेच्छावतारेऽपि प्रभौ नास्तीत्यर्थः ।

---

(१) अपनी मायिक इच्छामात्रसे रचित दिव्य शरीरका धारण करने पर भी ईश्वरमें अज्ञानिताकी अवगति नहीं होती । क्योंकि वह वशी (स्वतंत्र) है । 'नाहं विजाने' यह जीवोंका स्फुरण वश्यत्वहेतुक है, ईश्वरके हृदयमें वह नहीं है । अर्थात् 'अहं न जाने' यह भान पारतन्त्र्य–प्रयुक्त माना जाता है । जीवोंमें परतंत्रताके कारण अज्ञानित्वका भान होता है ईश्वर अपनी इच्छासे कई शरीर धारण करता है । अदृष्टादिके आधीन होकर नहीं, अतः ईश्वरमें स्वातन्त्र्य सदा विद्यमान है । पारतन्त्र्य न होनेसे अज्ञानित्वका भान नहीं हो सकता ।

नन्वेवं सति — श्रीरघुनाथादेः कथमज्ञत्वादिपुराणप्रसिद्धमुपपद्यते-त्याशंक्य, तस्मिन्नेव पुराणे तस्य निरवग्रहैश्वर्यश्रवणात्तस्य सर्वज्ञत्वेऽपि स्वीकृतमनुष्यनाट्यं प्रदर्शयितुं, विषयिणां गतिं च, स्वेच्छयैवाहं कंचित्कालं 'न विजाने' इति संकल्पपूर्वकमज्ञत्वाभिनयः सीतापहारादिनिमित्तशोकादि-प्रकटनं चेत्याशयेनाहुः — 'संकल्पपूर्वकमभूद्रघुनन्दनस्य, नाहं विजान इति कंचन कालमेतत् । ब्रह्मोपदेशमुपलभ्य निमित्तमात्रं, तच्चोत्ससर्ज स कृते सति देवकार्ये ॥' (१) (सं०शा० २ । १८२) इति । तस्याज्ञत्वं संकल्पपूर्वकमभूत्, नाहंकारपारवश्येनेत्यर्थः । नन्वेवं सति – तस्य ब्रह्मोपदेशाद्यनर्थकम् । नहि सर्वज्ञ उपदेशोऽर्थवानित्याशङ्क्य – सोऽपि तस्य स्वेच्छास्वीकृतव्यापार-विशेष इत्याशयेनाह – ब्रह्मेति – ब्रह्मणः = प्रजापतेः, उपदेशं निमित्तमात्रं संकल्पत्यागस्य द्वारमात्रमुपलभ्य = आदाय – यद्वा ब्रह्मणः प्रत्यगभिन्नत्वा-द्वयस्योपदेशं वसिष्ठाद्गुरोः आदाय तच्च देवकार्ये = देवादिहितार्थ[illegible]-रावणादिवधे कार्ये कृते सति, उत्ससर्ज = संकल्पगृहीतमप्यज्ञत्वं स्वातन्त्र्ये[illegible]-तत्याज, न लोकवज्जन्यविद्याबलादिति गम्यते, स्वातन्त्र्यस्य [illegible] तिरोधानादर्शनात्, सति चैवमज्ञानविसर्जनेऽपि स्वातन्त्र्यं दर्शयन् [illegible]-वाज्ञतानटनमेवेति दर्शितम् ।

तस्मादीश्वरस्य मायाऽऽख्याज्ञानसम्बन्धेऽपि ज्ञानावरणाभावात्, इतरस्य जीवस्याहङ्कारकञ्चुकिवद्धतया तत्सत्त्वादिति युक्ता सर्वज्ञत्वादिव्यवस्था केवलाद्वैतसिद्धान्तेऽपीत्युपसंहरन्त आहुः – 'अज्ञानवर्जिततया परमेश्वरोऽसौ, सर्वज्ञ एव यदहंकृतिबन्धहीनः । ज्ञानं निरावरणमिष्टममुष्य यस्माज्जीवस्य सावरणमेव यतोऽनभिज्ञः ॥' (२) (सं० शा० २ । १८३) इति । यच्छब्दो

(१) 'मैं कुछ काल न जान सका' यह भगवान् रामका कहना भी स्वेच्छापूर्वक ही था । देवकार्यके सम्पन्न हो जाने पर निमित्तमात्र ब्रह्माका उपदेश पाकर वह अज्ञत्व छोड़ दिया । अर्थात् भगवान् राममें जो अज्ञता झलकती है, वह उनका वैसा सङ्कल्प था । इसीलिए भगवान् रामने ब्रह्माजीसे पूछा था — 'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् । सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे' (बा०युद्ध० ११७ - ११) इस प्रश्नके उत्तरमें ब्रह्माने उसका पूरा संकल्प सुना दिया । ब्रह्मा एक निमित्त मात्र था । अवधि समाप्त होने पर भगवान् रामने वह संकल्प छोड़ दिया था ।

(२) वह परमेश्वर अज्ञान रहित होनेसे सर्वज्ञ है । वह अहंकाररूप बन्धनसे रहित है, अतः उसका ज्ञान निरावरण (असीम) है । जीवका ज्ञान सावरण है, अतः यह अनभिज्ञ है । अर्थात् बुद्धचादि अध्यासके न होनेसे ईश्वर स्वगत अज्ञानसे

यस्मादर्थे प्रथमं योज्यः। यतोऽहंकृतिरूपबन्धहीनोऽतः – आवरणात्मकाज्ञान-वर्जिततयाऽसौ = परोक्षः परमेश्वरः सर्वज्ञ एवेत्यन्वयः। अर्थादहंकृति-बन्धवतोऽज्ञत्वमल्पज्ञत्वमनीश्वरत्वं चेत्युक्तं भवति। उक्तव्यवस्थायां पूर्वोक्तं नियामकं स्मारयति ज्ञानमिति। अमुष्य = ईश्वरस्य।

ननूभयो र्जीवेश्वरयोश्चेतनत्वाविशेषे कथमीशस्य ज्ञानं निरावरणं, जीवस्य तत्सावरणमिति व्यवस्थेति चेत् तत्राहुः — 'सर्वप्रमाणफलभूतसमस्त-संविज्ज्ञानं बिभर्ति परमः पुरुषो न जीवः। ज्ञानं निरावरणमैश्वरमस्तु तस्मा-ज्जैवं च सावरणमस्य विशेषहेतोः॥' (१) (सं० शा० २। १८४) इति। अयमर्थः – अस्ति तावत् सर्वप्रमाणानां फलभूता विषयस्फुरणाभिधेया संवित्प्रसिद्धा, सा च नाज्ञानेनाभिभाव्या, तस्याः अज्ञाननिवर्तकत्वात्, अन्यथा विषयव्यवहारासिद्धेः, तस्याश्च प्रतिप्रमाणव्यापारं जायमानतया भासमा-नाया उपादानं तावदपेक्ष्यते, तदपि स्वसमानस्वभावा संविदेव, सवफलोपादान-तया सर्वात्मिकाऽखण्डैकरसाऽभ्युपेया, सा च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३। ९। २८) इति श्रुते र्ब्रह्मरूपैव सती तद्धर्मतया व्यवह्रियते। 'आनन्दो विषया-नुभवो नित्यत्वं सन्ति चेति धर्माः। अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभा-सन्ते॥' इति पद्मपादाचार्यस्मरणात्। एषाऽक्षरयोजना। सर्वेषां प्रमाणानां फलत्वेन भवति या समस्तसंविन् = सर्वा एव संविदः तदेव ज्ञानं, तत् परमः पुरुषो बिभर्ति = स्वात्मतया धारयति न जीवः, तस्यान्तःकरणवृत्तिपरिच्छिन्न-चिदाभासमात्रज्ञानत्वात्। तस्य फलितमाह ज्ञानं निरावरणमिति। तस्मादिति प्रथमं योज्यम्। तथा च चेतनत्वसाम्येनेश्वरस्याज्ञताऽनुमानम्, एतद्विरोधाद्विपक्षे बाधकाभावाच्चाप्रयोजकमिति सिद्धम्। कस्मिंश्चिद्ग्रन्थे – 'सर्वप्रमाणफल-भूतसमस्तसंविज्जातमि'ति पाठो विद्यते। तस्यायमर्थः – सर्वेषां देवमनुष्यति-र्यगादिप्रमातॄणां चक्षुरादिसर्वप्रमाणाभिव्यक्ततया तत्फलभूतायाः–समस्त-प्रमेयजातस्य संविदः-तज्जातं = तत्समूहम्। परमेश्वरो ह्यनन्तचिद्रूपत्वात्,

आवृत नहीं, अतः सर्वज्ञ है, किन्तु जीवमें कथित अध्यास विद्यमान है, इसलिए यह आवृत है, अनभिज्ञ है, अल्पज्ञ है, इससे यही सिद्ध होता है कि अहंकारअध्यासयुक्त आत्मामें अज्ञत्व अल्पज्ञत्व अनीश्वरत्व होता है।

(१) सभी चक्षुरादि प्रमाणोंकी फलभूत समस्त संवित् (फलचेतन) के समूहको परमपुरुष परमेश्वर ही (आत्मरूपसे) धारण करता है, जीव नहीं, इसलिए ईश्वरीय ज्ञान निरावरण है, और इस विशेषहेतुसे जैवज्ञान सावरण है। अर्थात् समस्त प्रमेयवर्ग ब्रह्ममें अध्यस्त है, समस्त विषयोंका स्फुरण भी ब्रह्ममें ही होता है, अतः वही सर्वज्ञ हो सकता है, जीव नहीं।

सर्वेषां सर्वप्रमाणाभिव्यक्तसर्वप्रमेयावच्छिन्नचित्स्वरूप इति तदीयं स्वरूपं निरावरणं भवेत् । जीवस्तु परिच्छिन्नत्वान्नैवं, तस्मात्तस्य स्वरूपज्ञानमावृतमेवातोऽज्ञानस्य चिन्मात्राश्रयस्य जीवेश्वरयोः सत्त्वेऽप्यस्माद्धेतोरीश्वरः सर्वज्ञो न जीव इति संभवतीत्यर्थः । यद्वा अस्य जीवस्य विशेषहेतोः = समस्तसंविद्ज्ञानाश्रयत्वलक्षणविशेषाद्धेतोः – ईश्वरो हि सर्वोपादानतया सर्वप्रमाणफलसर्वविषयज्ञानानामप्युपादानभूतस्तदाश्रयो भवति, ततस्तज्ज्ञानं निरावरणमेव = विषयव्यवधानशून्यमेव, जीवस्तु न सर्वोपादान इति न सर्वविषयज्ञानाश्रयः, अतोऽस्मादेव विशेषाज्जैवं ज्ञानं सावरणं-प्रभूतविपयव्यवधानसहितमित्यर्थः ।

किञ्च – 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (क० ५ । १५) इतीश्वरस्य स्वत एव सर्वावभासकत्वं श्रूयते । न चावृतमसत्कल्प ज्ञानमर्थं प्रसाधयितुमर्हतीत्यतोऽनावृतस्वस्वरूप ईश्वरः सर्वज्ञ इत्यवश्यमभ्युपेयम् । जीवस्तु नैवमिति 'विशेषहेतोः' इत्युक्तं विशेषं प्रदर्शयन्त आहुः – 'अज्ञानतज्जमखिलं जगदात्मभासा, नित्यं प्रकाशयति सन्निहितः सदात्मा । जीवस्तु नैवमिति सावरणं तदीयं, ज्ञानं निरावरणमैश्वरमुच्यते हि ॥' (१) (सं० शा० २।१८५) इति । सदात्मा = सच्छब्दनिर्दिष्टः परमात्मा, अज्ञानाद्यखिलं जगत् , तदधिष्ठानत्वेन सदा सन्निहितः सन् , स्वभासा = स्वाभाविकेन चैतन्यज्योतिषा प्रकाशयति = आदित्यवत् स्वयं प्रकाशमानः स्वाध्यस्तं सर्वं-अज्ञानं तज्जन्यञ्च निखिलं द्वैतप्रपञ्चं प्रकाशयति । जीवस्तु नैवं, तस्य स्वतः सिद्धज्ञानरूपत्वेऽप्युपाधिप्रविष्टतया परिच्छिन्नत्वात् , इति, अतो विशेषाद् हेतोः तदीयं ज्ञानं सावरणं, ऐश्वरं तु ज्ञानं निरावरणमित्युच्यते । हि शब्दो विद्वत्प्रसिद्धयवद्योतकः । जीवस्य हि ज्ञानं पापपुण्यप्रयुक्तं-प्रमाकरणदोषतारतम्येन जायमानं, अन्तःकरणविविधवृत्तिकञ्चुकितं भवति सावरणं, वस्तुतत्त्वानवगाहित्वात् , ईश्वरस्य त्वेवंविधदोषाभावात्तरतमसम्बन्धाभावान्नित्य नरतिशयमेकरूपं सत् निरावरणमेव भवतीत्यभिप्रायः ।

अपि च समस्तोपनिषद्वाक्यप्रवृत्तिरपीममेवार्थं दृढयन्तीत्याहुः–'चैतन्यमेव हि तमस्वि तदप्रबुद्धं, सर्वज्ञमेतदिह विश्वमिमं विभागम् । जीवेश्वरौ च

---

(१) परमात्मा, अज्ञान तज्जन्य निखिल प्रपंचको (अधिष्ठान रूपसे) सदा सन्निहित होकर आत्मप्रकाशसे प्रकाशित करता है, जीव ऐसा नहीं, अतः जीवका ज्ञान परिछिन्न और ईश्वरका अपरिछिन्न कहा जाता है । अर्थात् सर्वज्ञ वही होसकता है जो सब विषयोंसे सन्निहित होकर सबका भासक हो ईश्वर समस्त जगत्का अधिष्ठान है, सबके सन्निहित है, सबका भासक है, किन्तु जीव ऐसा नहीं अतः जीव सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ?।

जगदित्यपि निर्मिमीते, इत्येव वेदशिरसः प्रथितः प्रचारः ॥' (१) (सं० शा० २ । १८६) इति । चैतन्यमेवेति । चैतन्यं = अखण्डचैतन्यमित्यर्थः । तमस्वि = अनाद्यज्ञानशबलितं, चैतन्यमेव तु स्वतो निर्विभागं, स्वगततमोविकारानुरोधेन तत् चैतन्यं, अप्रबुद्धं = कार्योपाधिप्रवेशेनाज्ञं जीवशब्दवाच्यं जायते । एतदेव चैतन्यं सर्वज्ञं = कारणोपाध्यनुरोधेन सर्ववस्तूपरागेण प्रकाशमानं सत् सर्वावभासकतया सर्वज्ञञ्च सत्, जीवेश्वरौ जगदित्यपि चेमं विश्वविभागं, इह = व्यवहारकाले, यद्वा इह = स्वस्मिन् विश्वं = द्वैतप्रपञ्चं, विभागं = विभक्तं निर्मिमीते । विश्वपदार्थं विविच्य दर्शयति – जीवेश्वराविति । जीवः ईश्वरो जगदित्येवंरूपेण । अत्रेश्वरत्वं जीवत्वमेव च निर्मातव्यत्वेन विवक्षितं, न तु जगद्वत् धर्मिद्वयस्वरूपमपि । इत्येवं वेदशिरसः = श्रुतिमूर्धन्यस्योपनिषदः प्रचारः प्रथितः = सर्वशाखासु प्रसिद्ध इति योजना । उपनिषत्सु हि ब्रह्मात्मविद्यया तदविद्यानिरासेनाखिलस्यास्य जीवेश्वरजगद्विभागस्य निवृत्तिः ब्रह्मभावापत्तिश्च श्रूयते । तत् सर्वस्याविद्याकल्पितत्वमन्तरेण नोपपद्यते, विद्याऽपोद्यस्याविद्यामयत्वनियमात्, सत्यस्य विद्याऽपोद्यत्वासम्भवात् । तद्यथा बृहदारण्यके तावत् – 'यदेतद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते, किमु तद्ब्रह्मावेत् ?' इत्याक्षेपपूर्वकं 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' (बृ० उ० १ । ४ । १०) इति विद्योत्पत्तेः प्राक् ब्रह्मण एवाज्ञत्वमभिधाय 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत् ।' (बृ० उ० १ । ४ । १०) इति तस्यैव विद्यया स्वतः सिद्धं सर्वात्मकं पूर्णाद्वयब्रह्मभावं श्रावयति ब्रह्मकण्डिकाश्रुतिः । अत्र 'सर्वमभवत्' इति श्रूयमाणसर्वात्मभावस्य न मुख्यार्थत्वं किन्त्वपवादार्थत्वम् । तथा च यदिदं सर्वं जीवेश्वरजगद्विभागरूपं विश्वं, तत्सर्वं तद्ब्रह्माभवत् = ब्रह्मणः पृथङ् नाभूद्भवति भविष्यच्चेत्यर्थः । तथाऽन्यत्र, अध्यारोपापवादाभ्यां विश्वस्य प्रत्यगज्ञानसिद्धत्वं, तद्याथात्म्यज्ञानबाध्यत्वं चावगम्यमानं, एकस्यैव चिदात्मनोऽज्ञत्वसर्वज्ञत्वशुद्धाशुद्धत्वादिकं स्वाविद्यया स्वविद्यया चोपपन्नमिति गमयति । तस्मादुपनिषच्छ्रुतिगतिपर्यालोचनयाऽप्ये-

(१) चैतन्य ही अज्ञानका आश्रय एवं विषय है, वही अज्ञ भी है और सर्वज्ञ भी । वही इस विश्व तथा जीव, ईश्वर, जगत् इस विभागका निर्माण करता है, यही प्रसिद्ध वेदान्त सिद्धान्त है । अर्थात् शुद्ध चैतन्य ही अज्ञानका आश्रय है अज्ञानी है । वही कार्योपाधिमें प्रविष्ट होकर अप्रबुद्ध जीव तथा कारणोपाधिके सम्बन्धसे सर्वज्ञ ईश्वर है । वह इस विश्व एवं जीव ईश्वरादि विभागका निर्माण किया करता है यह हमारा कपोल-कल्पित सिद्धान्त नहीं, अपितु समस्त उपनिषद्-वेदान्तका सार है ।

तन्मतं युक्तमेवेति भावः ।

ननु – ईश्वरस्याप्यज्ञानसम्बन्धित्वे किमिति श्रुतौ स्मृतौ वा न तस्याज्ञानीति व्यपदेशः ? किमिति वा नियमेन मायावीति व्यपदेशः ? । तदभेदान्न दोष इति चेत्तर्हि जीवेऽपि किमिति न मायावित्वव्यपदेशः । ततो नूनं मायाऽविद्ययोर्भेदो, मायैवेश्वराश्रया नाज्ञानमिति च गम्यते । तयैव सर्वज्ञत्वाद्युपपत्तिश्चेत्याशङ्कामपाकुर्वन्त आहुः – 'जीवेशानजगद्विभागजननी शक्तिर्जडा वैष्णवी, मायेशानगता सती भवति सा जीवावधिर्मोहगीः । जीवानीश्वर एव मोहयति ते जीवा विमुह्यन्त्यतः, शश्वद्विश्वदृगीश्वरो भवति ते जीवा विमूढा मुहुः ॥' (१) (सं० शा० २ । १६०) इति । जीवेश्वरजगद्विभागप्रयोजिका वैष्णवी जडशक्तिर्ह्येकाऽपि – आत्मपरतन्त्रत्वात्-पूर्णचैतन्याश्रया, ईशानगता सती = ईश्वराश्रया सती मायाशब्दवाच्या भवति । सैव जीवावधिः = जीवाश्रया भूत्वा मोहोऽज्ञानमिति गोर्यस्याः साऽज्ञानशब्दवाच्या भवति । यत्तूक्तं – अज्ञानमाययोर्भेदः इति तन्न, तस्य निराकृतत्वात् । न चैवं सति नियतव्यपदेशानुपपत्तिः । एकस्याप्यज्ञानस्य स्वतन्त्रपरतन्त्रचैतन्यसम्बन्धेन मायाऽविद्यालक्षणभेदव्यपदेशोपपत्तेः – एकस्मिन्नेव देवदत्ते पितृपुत्रसम्बन्धेन पुत्रत्वपितृत्वलक्षणभेदव्यपदेशवदित्यभिप्रेत्याह – एषः = मायावी, तथा च मायाविनो मोहयितृत्वे मायाया अपि मोहहेतुत्वमिति मायापरतन्त्रत्वात् जीवस्याज्ञानित्वव्यपदेशः । तां प्रति स्वातन्त्र्यादीश्वरस्य मायावित्वव्यपदेश इत्यर्थः । फलितमाह – अत इति । यतो जीवा एव मुह्यन्ति, नेश्वरः, अतो विश्वदृक् = सर्वज्ञः, विमूढाः = भ्रान्तिसंकुलाः = असर्वज्ञाः । अयं भावः – मायामोहयोरनिर्वचनीयत्वस्वभावाविशेषान्न स्वरूपभेदः, किन्तूक्तशक्तिवशित्वेन तद्वश्यत्वेन चेशजीवयो र्मायित्वमूढत्वव्यपदेशः, मायावीश्वरपारतन्त्र्यात् जीवस्य मायामोहितत्वव्यपदेशः, उपपद्यत इति ।

एतेन – आधुनिकाः केचन पण्डितमानिनः पान्थाः – मायाऽविद्ययोर्भेदं मन्यमानाः – आत्मज्ञानेनाविद्यायाः निरासमभिधाय, ततः पश्चात् भगवद्भक्त्या भगवन्मायायाः निरासमभिवदन्तो निवर्तकयो र्ज्ञानभक्त्योरपि भेदं प्रतिपादयन्तः सामान्यलोकप्ररोचनाय – दृष्टान्तपूर्वकमित्थं – शास्त्रबहिर्भूतमपि स्वपक्षं समर्थयितुं - प्रवचनं कुर्वन्ति । तथा हि अस्ति तावल्लोकसिद्धं

(१) जो जीव, ईश्वर तथा जगत् विभागकी जननी जड़ा शक्ति है, वही ईश्वरमें स्थित होकर वैष्णवी माया शक्ति कहलाती है और जीवमें स्थित होकर मोह – अज्ञान - पदवाच्य होती है । वह ईश्वर जीवोंको मोहित करता है, वे जीव विमूढ होते हैं । अतः ईश्वर सदा विश्वद्रष्टा होता है और वे जीव विमूढ होते हैं ।

द्विविधं बन्धनं-स्वगृहद्वारकपाटस्य स्वनगरदुर्गद्वारकपाटस्य च । तत्र स्वगृहद्वारकपाटस्योद्घाटनन्तु स्वायत्ततया स्वपुरुषार्थसंपाद्यं भवति, परन्तु नगरदुर्गद्वारकपाटस्योद्घाटनन्तु नगराधिपतिराजायत्ततया तत्कृपासंपाद्यं भवति, तद्वत् स्वज्ञानेनैव स्वाविद्या व्यष्टिरूपैकदेशीया निवर्तते, परन्तु समष्टिरूपा माया-भगवदधीनतया तद्भक्तिलभ्यतत्कृपाकटाक्षेणैव निवर्तते इति प्रवदन्तः-ज्ञानभक्तिविषययो र्जीवेश्वरयोरभेदं ब्रुवाणा अपि अर्थतस्तयोर्भेदमेव प्रसाधयन्ति इति निरस्तम् । मायाऽविद्ययोर्भेदस्य विस्तरेण निराकृतत्वात् । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।' (श्वे० ३ । ८) 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे० १ । ८) 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।' (गी० ४ । ३९) न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र ! विधूय मायां वयुनोदयेन । विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत् ॥' (भा० ५ । ११ । १५) इत्यादिभिर्वचनैः-केवलब्रह्मात्मज्ञानमेव मायातत्कार्यसमस्तसंसारबन्धनिवृत्तिहेतुतया सुस्पष्टं प्रतिपाद्यते । वेदान्तश्रवणादिभिः सम्पन्नेन वयुनस्य = ज्ञानस्योदयेन मायां = मूलप्रकृतिं भगवदाश्रितां विधूय = निरस्य यावत् आत्मतत्त्वं = आत्मनः पारमार्थिकमद्वयब्रह्मस्वरूपं न वेद = न साक्षात्करोति, तावत्पर्यन्तमयं तनुभृज्जीवो मायामये मिथ्यासंसारे भ्रमत्येव । न संसारबन्धाद्विमुच्यते, अर्थात् आत्मज्ञानमेव मायातत्कार्यद्वैतप्रपञ्चस्य निवारकमस्मात् श्रीमद्भागवतवचनादपि स्पष्टं विज्ञायते । किञ्च केवलया ज्ञानशून्यया भक्त्या कुत्रापि तमोरूपाया मायायाः निरासो न श्रूयते, अपि तु केवलया भक्त्या चेतसो विशुद्धिः तत्र च विशुद्धे ज्ञानाधिगमः 'भक्त्या चेतोमलानि विधमेत् ···' 'तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं' (भा० ११ । ३ । ४०) 'हृदिस्थितो यच्छति भक्तिपूते ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ।' (भा० ३ । ५ । ४) 'भक्त्या मामभिजानाति' (गी० १८ । ५५) भक्त्याऽनन्यया शक्यः ··· ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुम् ।' (गी० ११।५४) इत्यादिभिर्वचनैः स्पष्टमवगम्यते । अर्थात् निरतिशयप्रीतिरूपया मदेकनिष्ठया भक्त्यैव अहं भगवान् चेतोविशुद्धिद्वारा शास्त्रैः ज्ञातुं शक्यः, श्रवणादिभिस्तत्त्वेन द्रष्टुं = साक्षात्कर्तुं शक्यः, प्रवेष्टुं = मद्रूपतयाऽवाप्तुं शक्य इत्यर्थः । प्रेमरूपा क्रिया भक्ति र्ज्ञानस्यैव साधनं, ज्ञानमेव तु मायातत्कार्यमुक्तिं प्रति साधनमिति – 'भजतां प्रीतिपूर्वकं, ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।' (गी० १० । १०) 'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।' (गी० १३ । १८) इत्यादिभिः स्पष्टमवबुद्ध्यते । अतो भक्तेर्मायामुक्तिहेतुत्वमुच्यमानं सर्वथाऽयुक्तमेव । बुद्धिः = सम्यग्दर्शनम्, तदेव योगः तमहं ददामि, तेन ते भक्ता अविद्यादिप्रतिरोधनिरासद्वारा मामात्मत्वेनाभेदेनोपयान्ति ।

तस्मात्स्वस्वरूपावरणात्मकान्मायालक्षणादबोधादेवैतस्याज्ञस्य जीवस्य सर्वविधः प्रभूतक्लेशात्मकः पराभवोऽवलोक्यते । तस्य सर्वजनेप्सिता विनिवृत्तिस्तु आत्मतत्त्वस्य जिज्ञासालक्षितात् मीमांसालक्षणाद्विचारादेव सम्पद्यते, नान्यस्मात् साधनात् । आत्मतत्त्वस्य सफलो विचारोऽपि न सर्वेण कर्तुं शक्यते । यतो देहगेहादेः प्रभूता समासक्तिः तस्य विद्यते प्रतिबन्धिका । अतस्तन्निरासाय भगवतः सर्वेश्वरस्य वासुदेवस्य प्रीतिरूपा भक्तिरेव संपाद्या । तां विना तस्या निरासोऽशक्यः । तद्भक्त्यैव चेतसो मोहाहंताममतादीनि मलानि निवर्तन्ते । यतो यावद् वासुदेवे परमात्मनि भक्ति र्न सिद्ध्यति, तावद्देहस्य मोहममतादिलक्षणान्मिथ्यायोगान्न विमुक्तिं लभते कोऽपि जनः । यावद् देहयोगान्न विमुच्यते, तावदात्मतत्त्वस्य जिज्ञासाऽपि दुर्लभा । यावन्न जिज्ञासते स्वात्मतत्त्वं, तावज्जीवस्याबोधजाताः पराभवोऽपि न निवर्तते । इत्येवं भगवानृषभो ब्रह्मावर्तगतो ब्रह्मर्षिप्रवरसभायां सर्वान् धर्मप्रियान् उपशिक्षयन्नुवाच —

पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै, कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥
एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते, अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने ।
प्रीति र्न यावन्मयि वासुदेवे, न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥ (१)

(भा० ५ । ५ । ५ - ६)

यावत्पर्यन्तमयं जीवः, आत्मतत्त्वं = आत्मनः - स्वस्य वास्तविकं स्वरूपं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सच्चिदानन्दात्मकमभयमद्वयब्रह्मलक्षणं न जिज्ञासते = न विचारयति शास्त्रसद्गुरुसाहाय्येनेति शेषः । विचारेण न

(१) जब तक जीवको आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा नहीं होती, शास्त्र एवं सद्गुरुद्वारा आत्मस्वरूपका विचार नहीं करता, तभी तक अज्ञानवश देहादिके द्वारा उसका स्वरूप छिपा रहता है । अनेक प्रकारके पराजयोंके द्वारा विविधदुःख भोगता रहता है । जब तक यह लौकिक वैदिक कर्मोंमें फंसा रहता है, तब तक मनमें कर्मकी वासनाएं भी बनी रहती हैं और इन्हींसे देह बन्धनकी प्राप्ति होती है । इसप्रकार अविद्याके द्वारा आत्मस्वरूपके ढक जानेसे कर्मवासनाओंके वशीभूत हुआ चित्त मनुष्यको फिर कर्मोंमें ही प्रवृत करता है । अतः जबतक उसको मुझ सर्वात्मा-वासुदेवमें प्रीति नहीं होती, तबतक वह देह बन्धनसे छूट नहीं सकता ।

साक्षात् करोति । तावत् अबोधजातः = मायालक्षणयाऽविद्यया जातः देहेन्द्रियादावात्माध्यासेनात्मनः सर्वविधशोकमोहादिप्रचुरः पराभवः = तिरस्कारो भवतीति सम्बन्धः । जिज्ञास्यमात्मतत्त्वं द्वितीये – 'शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम् ।' (भा० २ । ७ । ४७) इति । सप्तमे – 'जन्माद्याः षडिमे भावाः, दृष्टा देहस्य नात्मनः । आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः । अविक्रियः स्वदृग् हेतु र्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः ।।' भा० ७ । ७ । १८-१९) इति । एकादशे च – 'आत्माऽव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः ।' (भा० ११ । २८ । ११) इति निरूपितम् । अत एव संक्षेपशारीरकाचार्य्याः अपि-स्वाज्ञानकल्पितगुर्वादेरपि तत्त्वबोधकत्वसंभवात् - तत्त्वमस्यादिमहावाक्योत्थात्मतत्त्वसाक्षात्कारादाविद्यकदुःखमयबन्धनिवृत्तिः सिद्ध्यतीत्युपदिशन्तः श्रद्धासंयमादिसाधनसम्पन्नं शिष्यं प्रतीत्थं प्राहुः– 'त्वमतः स्वमोहरचितं गहनं, भवसागरं तर परावगतेः । परिकल्पितद्वयनिबन्धनतः, परमार्थसंविदुदये सति ।।' (१) (सं० शा० २ । २३३) इति । अतः भोः सुबुद्धे !, स्वाबोधात्परिकल्पितगुरुशिष्यशास्त्ररूपद्वैतनिबन्धनतः = द्वैतस्य कल्पितस्यावष्टम्भेन परमार्थसंविदः = अखण्डब्रह्माकारायाः वृत्तिरूपायाः उदये सति = अभिव्यक्तौ सत्यां, परावगतेः = परमात्मतत्त्वसाक्षात्कारादित्यर्थः । गहनं = दुस्तरं स्वमोहरचितं = स्वाबोधकल्पितं, भवसागरं = दुःखमयसंसारार्णवं तर = निवर्त्तयेत्यर्थः ।

एवमज्ञातमेवात्मतत्त्वं निखिलद्वैतप्रपञ्चस्यानर्थकरं कारणं भवति, तदेव विज्ञातं चेत्स्यात्, तदा तत् निखिलानर्थनिवृत्त्युपलक्षितपरमानन्दावाप्तिलक्षणपरितृप्तये भवतीत्याहुः – 'परमेव तत्त्वमगृहीतमभूदखिलस्य कारणमनर्थकरम् । परमेव तत्त्वमवबुद्धमतः परितृप्तये भवति पुष्कलतः ।।' (२) (सं० शा० २ । २३६) इति । परमेव = ब्रह्मात्मतत्त्वमेव, अखिलस्य कारणं सर्वाधिष्ठानं, अविद्यावशादगृहीतं = अज्ञातं सद् अनर्थकरमभूत् । नाविद्यामात्रमनर्थ-

(१) अतः प्रियशिष्य ! तू परिकल्पित दोनों (गुरु तथा शास्त्ररूप) साधनोंसे परमार्थ - प्रत्यगभिन्न अद्वय ब्रह्मज्ञानके उदय हो जाने पर ब्रह्माभिव्यक्तिके द्वारा स्वमोह – अज्ञान – रचित गहनभवसागरको तर जा ।

(२) निखिल प्रपंचका अधिष्ठान परमतत्त्व ही अज्ञात होकर अनर्थकारी बना, अतः वही परमतत्त्व ज्ञात होकर पूर्णरूपसे तृप्ति (परमपुरुषार्थ) देनेमें समर्थ होता है अर्थात् – सर्वाधिष्ठान सत्यतत्त्व ही अज्ञात होकर निखिल बन्धका कारण बना, विद्वत्–शरीरावच्छिन्न जीवरूपसे वही विद्याप्रद होता है, वही स्वकल्पित वाक्यजन्य - वृत्तिमें अभिव्यक्त होकर मुक्तिका कारण माना जाता है ।

कारणं, तस्याः स्वतो जडाया अकिञ्चित्करत्वात्, किन्त्वधिष्ठानब्रह्मसामर्थ्यावलम्बनेनैवाविद्याया अपि सामर्थ्यमेतत् प्रागुक्तमेव – 'आत्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन' (सं० शा० १ । २१) इति । अतः परमार्थमेव वस्तु अविदितं सत्-साभासाविद्याद्वारा सर्वानर्थहेतुरिति वेदान्तमतमित्यर्थः । परमपुरुषार्थहेतुत्वमपि परमार्थस्य चिद्वस्तुनः एवेत्याह – परमेवेत्युत्तरार्धेन । परमेव तत्त्वं-महावाक्योत्थाखण्डब्रह्माकारबुद्धावभिव्यक्ततयाऽवबुद्धं-विज्ञातं सत् पुष्कलतः परितृप्तये भवति, परिपूर्णचित्सदानन्दात्मनाऽवस्थानरूपपरमपुरुषार्थायावकल्पते, महावाक्योत्था वृत्ति द्वारमात्रं, न स्वयं पुरुषार्थहेतुरिति । पुरुषार्थसाधनत्वमपि साक्षात्परम्पराभेदेन द्विविधं, उभयमपि ब्रह्मण एव, तत्र साक्षात्साधनत्वं-अखण्डाकारवृत्त्यारूढत्वेन, परम्परया साधनत्वन्तु विद्वत्तया कल्पितगुर्वादिद्वारेण, तथा चाचार्यत्वेन कल्पितदेहद्वारेण ब्रह्मण एवावगतिहेतुत्वं मन्तव्यम् ।

ननु – परमात्मतत्त्वमेव चेत् स्वज्ञानाज्ञानाभ्यामर्थानर्थहेतुस्तर्हि तस्य सर्वत्र सदा विद्यमानत्वात्, किमिति मया तन्नानुभूयते ? इत्याकांक्षायां-बहिर्मुखचित्तत्वात् त्वया तन्नानुभूयते, अतो यावद्बहिर्मुखो भवसि, तावत् तव स्वस्वरूपज्ञानाभावादनर्थपरम्परैव स्यात् । यदा तु मिथ्याभूतेभ्यो नामरूपादिविषयेभ्यो मनो निवर्त्तयेत्तदा तव सर्वत्र सदा विद्यमानं त्वत्स्वरूपं स्फुरेत्, ततः परितृप्तिकरः पुरुषार्थः सिद्ध्येदित्यभिप्रेत्याहुः – 'तव रूपमेव तव दुःखकरं, यदि तन्न पश्यसि बहिर्मुखधीः । तव रूपमेव तव तृप्तिकरं, यदि तत्प्रपश्यसि निवर्त्य तमः ॥' (१) (सं० शा० २ । २३७) इति । रूपं = अनवच्छिन्नानन्दचैतन्यैकरसलक्षणं, न हि परं तत्त्वं त्वत्तो भिन्नं, किन्तु तव

(१) हे शिष्य ! तेरा स्वरूप ही तेरे दुःखोंका हेतु होता है, यदि तू उसे बहिर्मुख देहात्मा बुद्धिवाला होकर उसे नहीं देखता है । तेरा रूप ही तेरी तृप्तिका साधन होता है, यदि तू अज्ञानकी निवृत्ति करके उसे देखता है – उसका अपरोक्ष अनुभव करता है अर्थात् वह परमतत्त्व तेरे स्वरूपसे कथमपि भिन्न नहीं, किन्तु तेरा स्वरूप ही है, जैसा कि–तत्त्वमसि (छां० ६ । ८ । ७) आदि श्रुतियां कहती हैं । किन्तु अन्यथा दृष्ट (कर्तृत्वादिके रूपमें देखा गया) संसारका सम्पादक होता है । भगवान्ने कहा–'आत्मैव रिपुरात्मनः, (भ०गी० ६ । ५) जब श्रुति - गुर्वादिकी कृपासे अनादि तमःका निवारण कर आत्मतत्त्वको यथावत् (सच्चित्आनन्दत्वादिरूपसे) देखता है, तब वही तत्त्व अपार - भवसागरकी थपेडोंसे बचाकर नरको नारायण बना दिया करता है । इसी आशयसे भगवान्ने कहा— 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः' (भ० गी० ६ । ५) इति ।

रूपमेव, 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतेः। अतो बत = अहोकष्टं, बहिर्मुखधीः = देहादावात्मबुद्धिं कृत्वा बाह्यविषयेषु समासक्तबुद्धिः सन, यदि तत् = तव तत्त्वं न पश्यसि = श्रुत्याचार्याभ्यां नावगच्छसि, तदा तव रूपमेव परं तत्त्वं तव दुःखकरं - दुःखमयसंसारापादकं भवति, अतस्तवैवापराधात्तव दुःखमित्यर्थः। बहिर्मुखधीरित्यनेन वैराग्यशमदमाद्यभावं सूचयति। इदानीं तु तव विवेकाद्यधिकारसंपत्तेस्तत्त्वसाक्षात्कारसंभवात् परितृप्तता सिद्ध्यतीत्याशयेनाह– तव रूपमिति। यदि पुनः श्रुत्याचार्यप्रसादेनानाद्यज्ञानरूपं तमः, तत्कार्याविवेकरागादि च निवर्त्य, तत् परं तत्त्वं पश्यसि = साक्षादनुभवसि, तदा तदेव रूपं विज्ञातं सत् तव तृप्तिकरं कृतार्थत्वधन्यत्वापादकं भवतीत्यर्थः। न चात्मन एव ज्ञातत्वाज्ञातत्वाभ्यां अर्थानर्थकरत्वे प्रमाणाभावः – 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।' (के० उ० २। ५) इति श्रुतेः 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।' (गी० ६। ५) इति भगवद्वचनस्य च प्रमाणत्वात्, तस्मादात्मस्वरूपस्यैवानवबोधद्वारा सर्वानर्थहेतुत्वं, बोधद्वारा च पुरुषार्थहेतुत्वमिति सिद्धमिति भावः।

नन्वेवमपि – न ज्ञानमात्रान्मम कृतकृत्यता, कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।' (गी० ३। २०) इत्यादेः कर्मणो मुक्तिहेतुत्वावगमादित्याशंक्य – 'अन्तःकरणशुद्धिलक्षणां सिद्धिं प्रति कर्मणो हेतुत्वं' तद्वाक्यार्थः, अन्यथा 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं' इत्यादिशास्त्रविरोधादतो ज्ञानमात्रात्कृतकृत्यता भवेदित्याशयेनाहुः – तव बोधमात्रमुपनेयमतस्तव मोहमात्रमपनेयमपि। तव बोधमोहजनिहानिकरं, वचनं त्रयीशिरसि तत्त्वमिति ॥' (१) (सं० शा० २। २३८) इति। यतोऽनर्थरूपं सर्वमविद्यामयं, आत्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽतः कारणात्, तव बोधमात्रं = प्रत्यगभिन्नाखण्डब्रह्माकारकारितं बुद्धिवृत्तिमात्रं, उपनेयं = संपाद्यं नान्यदित्यर्थः किञ्चाविद्यानिवृत्तेरेवात्र साध्यत्वाद् विद्यैवापेक्षिता न कर्मेत्याशयेनाह – तव मोहेति। तेन च तव अपनेयमपि = निराकरणीयमपि मोहमात्रमेवानिर्वचनीयाज्ञानतत्कार्यमेव। न तु वस्तुभूतं किञ्चिन्निवर्त्यमित्यर्थः। बोधमोहोपनयापनयसाधनमाह – तवेति। तत्त्वमिति वचनमिति सम्बन्धः।

(१) अतः मुझे अपना बोधमात्र उपादेय है। अज्ञानमात्र हेय है। बोधका प्रादुर्भाव और मोह – अज्ञानकी हानि, वेदान्तगत 'तत्त्वमसि' इस वचनसे होती है। अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे मुमुक्षुको बोधमात्र उत्पन्न करना है एवं उस बोधसे अज्ञानमात्रकी निवृत्ति करनी है, और कुछ अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति नहीं करनी है।

गुरूपदिष्टं तत्त्वमसीति वाक्यमेव साक्षाद्बोधजन्मकरं, ज्ञानद्वारा मोहहानिकरमित्यर्थः। तथा च तत्त्वमादिना तत्त्वज्ञानमात्रमेव सम्पादनीयन्न तु तस्मिन्नानन्दावाप्त्यादिलक्षणातिशय आधेय इत्यर्थः।

एवं ज्ञानमात्रादेव सकलानर्थनिवृत्तिरधिकारिणस्तव सिद्ध्यतीति शिष्यं प्रत्याहुः – 'तव गाढमूढतमसा रचितं, जगदीशजीववपुषा सकलम्। प्रतिभाति तावददृढं दृढवत्, समुदेति यावदवबोधरविः ॥' (१) (सं०शा० २। २२) इति। तवेति। तव = स्वप्रकाशाखण्डचैतन्यस्वरूपस्य, गाढं = दृढं अबाधितमिव यथा भवति तथा, ब्रह्मज्ञानातिरिक्तोपायानिवर्त्यत्वात्तस्य दार्ढ्यम्। ऊढं = अनादिकालतः प्राप्तं. तेन तमसाऽज्ञानेन स्वस्मिन्नध्यस्तेनानिर्वचनीयेन रचितं = कल्पितं जगदीशजीवरूपेण विकृतं विश्वमदृढमपि दृढवत्प्रतिभाति = मिथ्याभूतमपि सत्यवत् प्रतीयते, स्वप्न इवाप्रबोधोदयम्। अवबोधरविः = महावाक्यजन्यज्ञानभास्करो यावत् समुदेति तावत्तत्प्रतिभाति। उदिते तु तत्त्वावबोधसूर्ये तमोमयो द्वैतलेशोऽपि न प्रतिभासते इत्यर्थः। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येदि' (बृ० ४। ५। १५) ति श्रुतेः। 'एवं जिज्ञासयाऽपोह्य नानात्वभ्रममात्मनि। उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥' (२) (भा० ११। ११। २१) 'प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद् विनिवर्तते।' (भा० ११। ११। १६) इति श्रीमद्भागवतस्मरणाच्च।

एवमविद्यावस्थस्य मूढस्यैव द्वैतप्रपञ्चदर्शनं, निवृत्तायां सकार्यायामविद्यायां तत्त्वदर्शी विद्वान् न किञ्चिद्विचित्रं जगत् पश्यति, दुःखं वा नानुभवतीत्याहुः – 'अभयं सनातनमनातुरधीः, अवलोकयन्निजमनन्तसुखं। न मुनिः प्रपश्यति किमप्यसुखं, सकलं जिघत्सति जगत्स्वचिता ॥' (३) (सं० शा०

(१) जब तक ज्ञान - भास्करका उदय नहीं होता, तब तक तेरे गाढ़ मूढ अज्ञानान्धकारके द्वारा रचित - जगत् - ईश्वर-जीवरूप सकलद्वैत प्रपंच अदृढ भी दृढ़ जैसा, असत्य भी सत्य जैसा प्रतीत होता है।

(२) प्रिय उद्धव ! जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है - आत्मजिज्ञासा और विचारके द्वारा आत्मामें जो अनेकताका भ्रम है, उसे दूर करदे, और मुझ सर्वव्यापी परमात्मामें अपना निर्मल मन लगा दे, तथा संसारके व्यवहारोंसे उपराम हो जा।

(३) अविक्षिप्तमनस्क - शान्त - तृप्त - प्रज्ञ - मुनि अनन्तसुखस्वरूप अद्वितीय सनातन ब्रह्मको अपना स्वरूप देखता मानता हुआ किसी वस्तुको भी असुख (दुःखरूप) अनुभव नहीं करता, क्योंकि - वह सकल जगत्को अपनी ज्ञानाग्निसे खा जाना (भस्मसात्करदेना) चाहता है। अर्थात् अधिष्ठानका ज्ञान हो जाने

२४ इति । अनातुरधीः = अविक्षिप्तचित्तः स्थितप्रज्ञो मुनिः, तत्त्वज्ञानात् अनन्तसुखं = अपरिच्छिन्न-निरतिशय-निर्विषय-निर्विशेषानन्दरूपमद्वयं ब्रह्म निजं = प्रत्यग्रूपं स्वरूपमवलोकयन्=साक्षात्कुर्वन्, किमप्यसुखं = दुःखरूपं संसारं न पश्यति = नानुभवति । निजमित्यस्य विशेषणं - अभयं सनातनमिति च । निर्विकारमनादिनिधनं नित्यं-परं सत्यमित्यर्थः । ननु - श्रवणमननादिसम्पन्नस्य शुद्धान्तःकरणस्य स्थितप्रज्ञस्य निर्दुःखनित्यानवच्छिन्नानन्दस्वरूपावलोकनमात्रेण तद्विलक्षणप्रपञ्चदर्शनाभावः कथं सिद्ध्येत् ? न हि घटदर्शनमात्रेण तद्विलक्षणपटदर्शनाभावः सिद्ध्यति, इत्याशङ्क्य न विद्यमानस्य प्रपञ्चस्यादर्शनं ब्रूमः, किन्त्वेतादृशस्वरूपदर्शनस्याधिष्ठानज्ञानत्वेन, तेनाध्यस्तस्य प्रपञ्चस्य बाधितत्वादेवेत्याह - सकलमिति । जिघत्सति = अत्तुमिच्छति-स्वात्मसात्करोति-नाशयति बाधते इति यावत् । स्वचिता = स्वस्वरूपसाक्षात्कारेण, यतः स्वरूपज्ञानेन सकलमध्यस्तं जगद्बाधते, ततो जगतोऽभावादेव तन्न पश्यतीत्यर्थः । आरोपितनिवृत्तेरधिष्ठानादन्यत्वासंभवात्, 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः ।' इत्यद्वैतसंप्रदायविदां स्मरणात् । एवं श्रीमद्भागवते एकादशेऽपि - निजानवच्छिन्नसुखानुभवस्य विदुषो मिथ्यात्वबुद्ध्या त्यक्तस्य सर्वथाऽविद्यमानतया द्वैतप्रपञ्चस्य दर्शनाभावः स्पष्टतयेत्थं प्रतिपादितः - 'दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्णः, तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः । संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या त्यक्तं भ्रमाय न भवेत्स्मृतिरानिपातात् ॥' (१) (भा० ११ । १३ । ३५) इति । सर्वद्वैतबाधावधिरूपे निजसुखे ब्रह्मानन्दाद्वये अनुभवः = साक्षात्कारो यस्य सः । ततः = दृश्यात् मिथ्याभूताज्जगतः, दृष्टिं प्रतिनिवर्त्य, निवृत्ततृष्णस्तूष्णीं निरीहश्च भवेत् । ननु - देहवतः सर्वथा द्वैतदृष्टिप्रतिनिवर्तनायोगात् पुनः संसारो भायादेव -

---

पर अध्यस्तकी पृथक् सत्ता नहीं रह जाती, वह अधिष्ठानमें ही समा जाया करता है, जगद्भ्रमाधिष्ठान सनातन तत्त्वका साक्षात्कार हो जाने पर निखिल जीव, ईश, जगत्की प्रवृत्तियां समाप्त हो जाती हैं । केवल - अद्वय - ब्रह्मतत्त्व ही बाधावधिरूपसे परिशिष्ट रहता है ।

(१) इसलिए उस देहादिरूप दृश्य - द्वैत प्रपंचसे दृष्टि हटा कर तृष्णारहित - इन्द्रियोंके व्यापारसे हीन और निरीह होकर ब्रह्मानन्दके अनुभवमें मग्न हो जाय, यद्यपि कभी - कभी आहारादिके समय यह दैहिक प्रपंच देखनेमें आता है तथापि यह पहले ही आत्मवस्तुसे अतिरिक्त और मिथ्या समझकर छोड़ा जा चुका है । इसलिए पुनः भ्रान्ति - मूलक मोह उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकता । देहपातपर्यन्त केवल संस्कारमात्र उसकी प्रतीति होती है ।

तत्राह – संदृश्यत इति । क्वचित् = आवश्यकाहारादिषु यद्यपीदं मिथ्याभूतमपि द्वैतं – आभासमात्रतया संदृश्यते, तथापि पूर्वमवस्तुबुद्ध्या = मिथ्यात्वज्ञानेन यत्त्यक्तं स्वप्नादिकमिव तत्पुनर्भ्रमाय = मोहाय न भवेदेव, किन्तु आनिपातात् = देहपातपर्यन्तं स्मृतिरिव स्मृतिः संस्कारमात्रेणावभासो भवेदित्यर्थः । 'सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।' (भा० ११।१३।३६) इति ।

नन्वात्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्याविद्यात्मकत्वेनाविद्यमानत्वात्-आत्मवस्तुसिद्धिरपि न स्यात्, गुर्वादिसाधकाभावात् । न चाविद्यैव तत्साधिका, तस्याः विपरीतप्रत्ययसिद्धिहेतुत्वात् । न चोभयहेतुत्वं, विरोधात् । अतः पारमार्थिकत्वमेव प्रपञ्चस्य वक्तव्यमित्याशंक्याविद्यायाः स्वतो विपरीतबुद्धिहेतुत्वेऽपि स्वकार्यगुर्वादिद्वारा वस्तुसाधकत्वमपि संभवतीति दृढयन्तः प्राहुः – 'तव चित्तमात्मतमसा जनितं, परिकल्पयत्यखिलमेव जगत् । तव कल्पनाविरचितः स गुरुस्तव रूपमद्वयमुदाहरति ॥' (१) (सं० शा० २ । २२५) इति । आत्मतमसा = निजाविद्यया, उदाहरति = बोधयति । अविद्या हि पूर्वपूर्वप्रपञ्चभ्रमसंस्कारसचिवाऽऽत्मनि लीनं चित्तमुत्पाद्य प्रपञ्चमात्मन्यवभासयति, सैव कदाचिद्विशुद्धधिषणामुत्पाद्य तत्त्वजिज्ञासां जनयन्ती तत्त्वज्ञानसाधनं गुर्वादिकमपि कल्पयित्वा तद् द्वाराऽद्वयस्वरूपप्रकाशमपि जनयतीति नात्र कोऽपि विरोध इति भावः ।

ननु – असत्यस्य शुक्तिरजतादेः स्वोचितकार्यजनकत्वाभावाद् गुर्वादेरपि कल्पितत्वे तन्न स्यात् । यदि तत्स्यात् सत्य एव स्यादित्याशंक्यार्थक्रियाजनकस्य सत्यत्वासंप्रतिपत्तेः, दृश्यस्य च शुक्तिरजतादे मिथ्यात्वस्य दृष्टत्वाद्-गुर्वादेरपि तथैवेत्याहुः – 'न हि चित्तदृश्यमपि सत्यमिति, प्रतिपन्नमस्ति भुवि किञ्चिदपि । रशनाभुजङ्गसदृशं सकलं, जगदिन्द्रजालमिति सिद्धमतः ॥' (२) (सं० शा० २ । २२६) इति । यत् चित्तदृश्यं, तन्नहि सत्यं क्वाप्युप-

(१) शिष्य ! स्वाज्ञान - जनित तेरा चित्त निखिल जगत्की कल्पना करता है । तेरी कल्पनासे रचित आचार्य तुझको अद्वयरूपका उपदेश देता है । अर्थात् अविद्या ही पुरातन संस्कारोंकी सहायतासे चित्तको रचकर कदाचित् शुद्ध बुद्धिमें मुमुक्षाको जन्म देती है, इतना ही नहीं तत्त्वज्ञानके साधन आचार्यादिकी कल्पना भी कर देती है । उनकी सहायतासे तत्त्वबोध उत्पन्न हो जाता है ।

(२) पृथिवी तल पर चित्तगोचर - चित्तदृश्य कुछ भी सत्य नहीं देखा गया है, अतः यह - चित्तदृश्य होनेके कारण - सकल इन्द्रजालोपम जगत् रज्जु - सर्पके समान कल्पित ही सिद्ध होता है ।

पादयितुं शक्यं, तस्य रशनाभुजङ्गवद् बाध्यत्वनियमात्, व्यवहाराविसंवादस्य च स्वप्न इवाप्रबोधमुपपत्तेरित्यर्थः । न हि सत्यस्य दृश्यत्वं सम्भवति, ब्रह्मणि दृष्टमिति चेत्. न, तस्यावाङ्मनसगोचरत्वश्रुतेः, कथं तर्हि मनोवृत्तिवेद्यत्वं ? न ह्येतावता तस्य चेतोदृश्यत्वं चेतोऽधीनप्रकाशवत एव चेतोदृश्यत्वादात्मनश्च स्वतः प्रकाशमानस्य तदभावात् । तथा च पूर्वार्द्धेन प्रपञ्चस्य सत्यत्वे दृश्यत्वं न स्यादिति विपक्षे बाधकतर्क उक्त इति द्रष्टव्यम् । यद् दृश्यं तदसत्यमिति व्याप्तेः रज्जुभुजङ्गादौ दृष्टत्वात्. विपक्षे बाधकसत्त्वाच्च जगन्मिथ्येत्यनुमानं रचयति – रशनेति । रशना = रज्जुः, इन्द्रजालशब्दो मिथ्यापर्यायः, अतः शब्दो दृश्यत्वपरः । विमतं-जगत् मिथ्या दृश्यत्वात् रज्जुसर्पवत्, अन्यथा दृश्यत्वं न स्यादिति गुर्वादिभेदेन भिन्नस्य जगत इन्द्रजालत्वं सिद्धमित्यर्थः ।

सति चैवमत्रापि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्रं) इतिवत् आत्मतत्त्वजिज्ञासा प्रतिपादिता । अत एव 'जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।' (भा० १ । २ । १०) (अर्थः = प्रयोजनं, जीवस्य = देवदुर्लभस्य मोक्षद्वारस्य मानवजीवनस्येत्यर्थः, च = पुनः कर्मानुष्ठानद्वारा कर्मभिर्य इह प्रसिद्धः सोऽर्थो न भवति किन्तु तत्त्वजिज्ञासैवेति) इतीदं वचः – तत्त्वजिज्ञासायाः प्रयोजनं दुःखनिवृत्त्युपलक्षितानन्दावाप्तिलक्षणं प्रतिपादयत् तस्या महत्त्वमभिव्यनक्ति । सा चात्मतत्त्वस्य ज्ञानेच्छा, सन्, प्रत्ययस्येच्छार्थकत्वात्, इच्छा च न कर्तव्या अर्थात् न कृतिना प्रयत्नेन साध्या भवति, यतो विषयसौन्दर्यलभ्यत्वात्तस्याः । न चेच्छामात्रेण तद्विषयस्य सिद्धि दृष्टा कुत्रापि । अतो ज्ञानेच्छायाः – ज्ञानलाभाय तत्साधके आत्मतत्त्वविचारे प्रयत्नसाध्ये लक्षणा विधीयते । अत एव 'विचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम्' 'अतो विचारः कर्तव्यः ।' (विवेक चूड़ामणिः) इत्याचार्यसूक्तिरपि विचारस्य कर्तव्यतां ज्ञानलाभसाधकतां च प्रतिपादयन्ती सङ्गच्छते ।

शुद्धमेकमात्मतत्त्वमपि कार्यकारणोपाधिभेदात् जीवेश्वरात्मत्वाभ्यां द्विविधं सम्पद्यते, 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।' इत्युक्तत्वात् । तदेव हि तत्त्वमसी'ति महावाक्ये तत्पदार्थतया त्वंपदार्थतया च प्रतिपाद्यते । तत्त्वंपदार्थावपि वाच्यलक्ष्यभेदेन वैशिष्ट्यशुद्धत्वबोधकौ स्तः । तत्र त्वंपदार्थस्य वाच्यत्वलक्षणं वैशिष्ट्यं देहत्रयावस्थात्रयशबलितं कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यात्मकं सर्वजनानुभवसिद्धम् । अत एव वाच्यार्थज्ञानेनाभीप्सितं प्रयोजनं न सिद्ध्यत्यपि तु लक्ष्यार्थज्ञानेनैव, अतो भागत्यागलक्षणया ज्ञापितस्य लक्ष्यार्थस्यैवोपादेयतया प्राधान्यतो विचारः कर्तव्यः ।

त्वंपदलक्ष्यभूतः प्रत्यगात्मा तु स्वयंप्रकाशः शुद्ध एक एव । प्रतीयमानं कर्तृत्वादिकं वस्तुतो बुद्धिगतमेव, न प्रत्यगात्मगतम् । तर्हि कथमात्मनि

विशुद्धे कर्तृत्वादिप्राप्ति र्येन तत्र तत्प्रतीयते इत्याकांक्षायामाहुः सर्वज्ञात्ममुनयः – 'कर्त्रादिसन्निधिबलेन तवापि कर्तृभोक्तृप्रमातृवपुरापतति क्रमेण । तद् बुद्धिसंश्रयमनात्मगतं प्रतीचि. शुद्धेऽपि पश्यसि तमः पटलावृताक्षः ॥' (१) (सं० शा० ३ । ८१) इति । जपाकुसुमादिसन्निहितस्फटिके लौहित्यादिप्रतीतिवत् कर्तृत्वादिधर्मकबुद्ध्यादिषु साक्षितया सन्निहिते प्रत्यगात्मनि कर्तृत्वादिप्रतीतिरविवेकनिबन्धनेति तात्पर्यार्थः । अक्षरार्थोऽतिरोहितः । अविवेककृतां भ्रान्तिमेवानुभवानुसारेण विशदयति – तद् बुद्धिसंश्रयमिति । तत् = कर्तृत्वादि, अज्ञानावृते निजतत्त्वे कर्तृत्वादिधर्मकबुद्ध्याद्यध्यासात् आभासगतमप्याभासाविवेकादात्मनि पश्यसीत्यर्थः । यद्वा – ननु – स्थौल्याद्याश्रयदेहवत् स्वतः कर्तृत्वादिमदात्मनोऽन्यन्नास्ति, यत्संनिधिबलेनात्मनि तद्भ्रमः स्यादित्याशंक्य – 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै० २।५) 'अहमिहैवास्मि सदने जानानः' इत्यादिश्रुत्यनुभवसिद्धा साभासबुद्धिरेव तद्वती, तदविवेकादेवात्मनि कर्तृत्वादिभ्रम इत्याह – तद्बुद्धिसंश्रयमिति । तत् कर्त्रादिवपुः = कर्तृत्वादीति यावत् । तमःपटलेन = अज्ञानमिथ्याज्ञानात्मकावरणेनावृतः – अक्षः – ज्ञानचक्षुर्यस्य स तमःपटलावृताक्षः । किञ्च कर्तृत्वादि न तावदात्मपरिणामः, निरवयवस्य तस्य हेतूपरागायोगेन परिणामायोगात्, स्वत एव तत्परिणामित्वे मुक्त्यभावप्रसङ्गात् तदुक्तं – 'आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेत् मा कांक्षीस्तर्हि मुक्तताम् । न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः ॥' (नैष्कर्म्यसिद्धिः) इति । अविकारित्वबोधकश्रुतिस्मृतिभागवतविरोधाच्च । नाप्यात्मनि मनःसंयोगजो गुणः, निरवयवे प्रदेशवृत्तिसंयोगायोगात् । अत एव न मनस्तत्र तत्साधकं, न चान्यत्तत्साधकमस्ति, तस्मादात्मनो निर्गुणत्वश्रुतेः, कामसंकल्पादे र्मनोधर्मत्वश्रुतेश्च तन्नियतकर्तृत्वादेरपि मनोधर्मत्वादात्मनि तद्धीभ्रम इत्यभिप्रेत्योक्तं अनात्मगतमिति ।

किञ्च कर्तृत्वादि वस्तुतो नात्मा, तद्धर्मश्च, दृश्यत्वात् पर्वतादिवत् । न चाप्रयोजकत्वम् । तस्य स्वरूपत्वे आत्मधर्मत्वे च तेनाकारेण दृश्यत्वायोगात् ।

(१) कर्ता आदिकी सन्निधिके बल पर तुझ (आत्मा) में भी परम्परासे कर्तृत्व भोक्तृत्व-आ जाता है । वह (भोक्तृत्व-कर्तृत्व) बुद्धिगत है । अनात्मवृति है, फिर भी उसे शुद्ध-प्रत्यगात्मामें (हे शिष्य !) अज्ञानपटल आवृत चक्षुसे तू देखता है । अर्थात् आत्मामें कर्तृत्वादिकी प्रतीति अविवेक - निबन्धन है, वास्तविक नहीं, बुद्धि और बुद्धिगत-आभासमें कर्तृत्वादि हैं, उनका आत्मामें परम्परासे अध्यास होता है । अर्थात् आभास और आत्माको एक समझ कर आत्मामें आभासके धर्मों का कल्पित व्यवहार होता है ।

अनाश्रयस्य तस्य कदाप्यप्रतीतेश्च । तस्य दृश्यत्वानुपपत्तेरेव विपक्षे बाधकत्वादित्यनुमानादपि तस्यात्मतद्धर्मत्वाभावसिद्धौ तत्प्रतीतिर्भ्रम इत्यभिप्रेत्याहुः– 'कर्तृत्वादि च दृश्यवर्गपतितं द्रष्टुः स्वभावः कथं, संभाव्येत तव प्रसन्नविमलस्वच्छप्रकाशात्मनः ।. यद्यद् दृश्यतया जगत्यभिमतं सर्वस्य तत्तद्भवेद्, दूरं द्रष्टुरिति प्रसिद्धमखिलं भूभृत्समुद्रादिकम् ॥' (१) (सं०शा० ३ । ८२) इति । द्रष्टुस्तवेति सम्बन्धः । कर्तृत्वादे दृश्यवर्गान्तःपातित्वं, आगमापायित्वादिति द्रष्टव्यम् । कर्तृत्वं = कर्तरि विद्यमानः क्रियारूपो धर्मः, भोक्तृत्वं = भोक्तरि विद्यमानो भोगरूपो धर्मः । तस्य कर्तृत्वादेः स्वभावत्वासंभवसाधनाय विशेषणं प्रसन्नेनि । प्रसन्नत्वं = अविकृतत्व, विमलत्वं = उत्पत्त्यादिमलरहितत्वं, स्वच्छत्वं = असङ्गत्वं, एवंभूतो यः संविद्रूपः प्रकाशः, स एवात्मा = स्वरूपं यस्य तस्य तवेत्यर्थः । यत् परिणामि, आगमापायि, पराधीनसत्ताकं, न तद्-विरुद्धस्यात्मनः स्वभावः संभाव्यते इत्युक्तं भवति । एवमनभ्युपगमे व्याप्ति-विरोधः प्रसज्यते इत्याह – यद्यदिति । सर्वस्य द्रष्टुरिति सम्बन्धः । दूरं = असंसृष्टमित्यर्थः । तदनात्मकमतद्धर्मश्चेति यावत् ।

ननु–जाग्रदाद्यवस्थात्रयस्य चेतनात्मधर्मत्वानुभवात्-तत्कलुषितस्यात्मनः कुतः शुद्धत्वमित्याशंक्य तन्निरासायाहुः – 'तिस्रोऽपि चिद्घनतनोस्तव दृश्य-भूताः, दूरे चकासति मते र्बहिरेव तावत् । आविस्तिरोभवनधर्मतया ह्यवस्थाः कः संकरो विमलचिद्वपुषस्तवाभिः ॥' (२) (सं० शा० ३ । १३६) इति । व्याख्यातमिदं श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतकस्याध्यात्मज्योत्स्नायां प्रथमखंडे दशमश्लोके ।

तत्पदार्थे-ईश्वरात्मनि, त्वंपदार्थे जीवात्मनि च भागत्यागलक्षणया

(१) दृश्य–वर्ग प्रविष्ट कर्तृत्वादि, प्रसन्न–विमल स्वच्छ – प्रकाशस्वरूप तुझ द्रष्टा आत्मामें कैसे सम्भावित होंगे ? जगत्में जो-जो दृश्य माना जाता है–पर्वत समुद्र आदि वह सब द्रष्टासे दूर है, द्रष्टा असंग निर्लेप है, केवल उसमें दृश्यकी मिथ्या प्रतीति मात्र होती है, ऐसा प्रसिद्ध है । अर्थात् दृश्य कभी भी द्रष्टा या द्रष्टाका धर्म नहीं हो सकता । कर्तृत्वादि समस्तधर्म, दृश्य हैं अतः वे अनात्मवृत्ति ही होंगे, आत्मवृत्ति नहीं ।

(२) चिद्घन स्वरूप तेरी दृश्यभूत बुद्धिकी तीन जाग्रदादि अवस्थाएं आगमापायी होनेके कारण अत्यन्त बाह्यरूपसे मिथ्याप्रतीत होती हैं, उन अवस्थाओंसे तुझ निर्मल चैतन्य स्वरूपका सम्बन्ध क्या ?। अर्थात् कथित - अवस्थाएं बुद्धिरूप उपाधिकी होती हैं, आत्माकी नहीं, अविवेकसे आत्मामें वे आरोपित हो जाती हैं । विवेक ज्ञान होनेपर उनसे कोई वास्तविक सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता ।

कियद्धेयं कियच्चोपादेयमिति विवेक्तुं विभागमाहुः – 'उपाधिमौपाधिकमान्तरं चिदाभासनं चित्प्रतिबिम्बकं च । चिद्बिम्बमेवं चतुरः पदार्थान्, विविच्य जानीहि तदर्थभाजः ॥' (१) (सं०शा० ३।२७५) इति । १. उपाधिं । २. औपाधिकमान्तरं चिदाभासनं । ३. चित्प्रतिबिम्बकं । ४. चिद्बिम्बं । औपाधिकमित्यस्य व्याख्या आन्तरमिति । उपाध्यन्तःप्रविष्टमुपाधिस्थत्वविशिष्टं चिदाभासनं = चैतन्याभासं-औपाधिकमित्यर्थः । चिदाभासस्य सत्यत्वं, स्फटिकलौहित्यवदुपाधेर्बहिर्भावञ्च व्यावर्त्तयितुमौपाधिकमान्तरमिति विशेषणद्वयम् । 'तदर्थभाजः' इत्यत्रार्थशब्दो भावप्रधानः । तत्पदवाच्यत्वलक्ष्यत्वोपेतानित्यर्थः । त्वंपदार्थेऽपि चातुर्विध्यमाहुः – 'तथात्वमर्थेऽपि चतुष्टयन्तद् विवेचनीयं निपुणेन भूत्वा । मतिश्चिदाभासनमेवमस्यां बिम्बं तदीयं प्रतिबिम्बकं च ॥' (२) (सं० शा० ३ । २७६) इति । यथा तत्पदार्थे चातुर्विध्यं, तथा त्वमर्थेऽपीत्यर्थः । तत् = उपाध्यादिरूपम् । निपुणेन भूत्वा = नैपुण्यं-प्रावीण्यं संपाद्येत्यर्थः । विवेचनीयमित्युक्तं विशदयति-मतिरित्यादिना । मतिः = अन्तःकरणं-उपाधिः । तत्पदवाच्यत्वेनोक्तोपाध्यादिचतुष्टयस्वरूपं विशेषतो दर्शयन्त आहुः – 'उपाधिरज्ञानमनादिसिद्धं, अस्मिंश्चिदाभासनमीश्वरत्वम् । तदन्विता चित् प्रतिबिम्बकं स्याद्, उदीर्यते शुद्धचिदेव बिम्बम् ॥' (३) (सं० शा० ३ । २७७) इति । तदर्थे - अनादिसिद्धमज्ञानमुपाधिः, अस्मिन्नुपाधौ चिदाभासनं = चिद्वदाभासनं, न साक्षाच्चित्, नापि जडं, चित्सन्निधिवशादुपाधिधर्मतया जातं, तच्च कारणमायागतं सत् ईश्वरत्वं, चिदात्मनीश्वरशब्दप्रवृत्तिद्वारमित्यर्थः । तदन्विता = यथोक्ताभासाविविक्ततयोपाध्यनुगता चित् प्रतिबिम्बकं = प्रतिबिम्ब ईश्वरपदवाच्यः स्यादित्यर्थः । आभासहेतुभूता वस्तुत उपाधिसंसर्गादिरहिता शुद्धचिदेव बिम्बं = उक्तप्रतिबिम्बापेक्षया बिम्बमित्युच्यते । ईश्वरवाचकतत्पदलक्ष्यं तद्भवतीत्यर्थः । अज्ञानरूपमायागतचित्प्रतिबिम्ब एवेश्वर इति मतेनाज्ञानरूपोपाधेरपि तत्पदवाच्यताऽभिमता । चित्प्रतिबिम्बस्याज्ञानसंसर्गयुक्तजगत्कारणत्वमीश्वरत्वमित्युच्यते, तच्च चित्प्रतिबिम्बे चिदा-

(१) उपाधि, औपाधिक - चिदाभास, चित्प्रतिबिम्ब, तथा चिद्बिम्ब – ये चार तत्पदार्थ सम्बन्धि पदार्थोंको विविक्तरूपसे जानो ।

(२) उसी प्रकार त्वम्पदार्थमें भी वे चार विभाग सावधानतासे विवेचनीय हैं– मतिरूप उपाधि, इसमें चिदाभास, बिम्ब तथा उसका प्रतिबिम्ब ।

(३) (तत्पदार्थमें) अनादिसिद्ध अज्ञान ही उपाधि है इस (उपाधि) में चिदाभासन ही ईश्वरत्व है, ईश्वरपदका प्रवृत्ति – निमित्त है, आभासयुक्त चेतन ईश्वररूप प्रतिबिम्ब तथा शुद्ध चेतन बिम्ब कहा जाता है ।

भासव्यवहारालम्बनम् । तस्यौपाधिकत्वेन मिथ्यात्वात्, उक्ताभासान्विता च चितिः स्वप्राधान्येन चित्प्रतिबिम्बमिति कथ्यते । इदानीं त्वमर्थगतचतुष्टयस्वरूपमाहुः—'उपाधिरन्तःकरणं त्वमर्थे, जीवत्वमाभासनमत्र तद्वत् । तदन्विता चित् प्रतिबिम्बमेव - मनन्विता तामिह बिम्बमाहुः ॥' (१) (सं० शा० ३ । २७८) इति । मतिपदस्य प्रतिपदमन्तःकरणम् । अत्र त्वमर्थे, तद्वत् = ईश्वरत्ववत्, आभासनं - जीवत्वम् । अन्तःकरणस्योपाधेः कार्यस्य कारणपरतन्त्रत्वात्तद्गताभासस्यापि पारतन्त्र्याच्चिदात्मन्यप्यविवेकेन पारतन्त्र्यापादेन जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वादन्तःकरणगतचिदाभासनं जीवत्व भवति । आभासाविवेकेन भासमाना चित् प्रतिबिम्बं जीवो भवतीत्यर्थः । प्रमातृत्वादिदशायामेव त्वमित्यभिलापदर्शनात्तस्य चान्तःकरणोपाधिकत्वात्तदपि त्वंपदवाच्यमध्यपातीति भावः । जीवत्वं-लिङ्गोपाधिकं कल्पितसंसारित्वं तस्य स्वरूपेण मिथ्यात्वादाभासत्वम् । अनन्वितां = उपाधितत्स्थाभासतदविविक्ताकारप्रतिबिम्बेभ्यो विविक्तां = पृथग्भूतां तां चितं, इह = त्वमर्थे बिम्बमाहुः - 'अध्यात्मतत्त्वविद इति योज्यम् ।

एवं तत्त्वंपदद्वये वाच्यार्थविभागमुक्त्वा तत्र मिथ्याभूतमर्थं विहाय सत्यभूतेऽर्थे पदद्वयं जहदजहल्लक्षणया पर्यवस्यतीत्यभिप्रेत्य तद्गतसत्यमिथ्याविभागमाहुः – 'उपाधिना सार्द्धमुपाधिजन्यमौपाधिकं सर्वमवेहि मिथ्या । भागं मृषा चित्प्रतिबिम्बकेऽपि, बिम्बं पुनः सत्यमशेषमेव ॥' (२) (सं० शा० ३ । २७९) इति । उपाधिजन्यमौपाधिकमिति व्याख्यानव्याख्येयभावेन योज्यं, सर्वमौपाधिकं, उपाधिना सार्धं = उपाधिसहितं, मिथ्या, न परमार्थः, उपाधितत्स्थाभासौ न केनापि प्रकारेण परमार्थौ स्तः । अद्वितीयामङ्गस्वप्रकाशचिदात्मनि वास्तवाज्ञानासंभवात्तत्तावन्मिथ्या, एवं तत्कार्यमन्तःकरणं, तदुभयौपाधिकमीश्वरत्वं जीवत्वं चेत्येतत्सर्वमज्ञानाधीनसत्ताकत्वात्स्वरूपतो मिथ्येति पदार्थद्वयेऽप्यवेहि = जानीहि – निर्धारयेत्यर्थः । अत एव

---

(१) त्वंपदार्थमें अन्तःकरण उपाधि है, वैसे ही इसमें आभासन जीवत्व है, उससे युक्त चेतन जीवरूप प्रतिबिम्ब है, और इसमें अनन्वित चेतनको बिम्ब कहते हैं ।

(२) उपाधिके साथ उपाधिजन्य औपाधिकको पूर्णतया मिथ्या समझो, चित्प्रतिबिम्बमें भी (आभास) भागको मिथ्या तथा बिम्बको पूर्णतया सत्य जानो अर्थात् उक्त चतुर्विध - भेदोंमें उपाधि (अज्ञान या अन्तःकरण) सर्वथा मिथ्या ही है । उपाधिगत चिदाभास भी उपाधिजन्य होनेसे मिथ्या है । प्रतिबिम्बमें चेतन भाग सत्य और आभास भाग मिथ्या है बिम्ब चेतन तो पूर्णशः सत्य है ।

तत्रात्माभिमानस्त्याज्य इति चित्प्रतिबिम्बे ततो विशेषमाह – भागमिति । चित एव चिदाभासविशिष्टतया चित्प्रतिबिम्बपदाभिलप्यत्वात् तत्र विशेषणांशं – आभासाविविक्तत्वलक्षणं मृषेति – अवेहि – इत्यनुषङ्गः । बिम्बस्वरूपे तु न भागस्यापि मृषात्वं, तस्य निर्भागशुद्धचिन्मात्रत्वात् , प्रतिबिम्बगतसत्यचिद्भागस्यापि तन्मात्रत्वात्तत्स्वरूपमशेषं सत्यमेवावेहीत्याह – बिम्बमिति । उपाधितद्धर्मानास्कन्दितं चिन्मात्रमेव पदार्थद्वये सत्यं तत्त्वंपदयोर्लक्ष्यं, तदेवोपादेयं स्वस्वरूपेणाभेदभावेन ध्येयं 'तच्छुद्ध' विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ।' (भा० १२ । १३ । १६) इति श्रीमद्भागवतस्मरणात् । अन्यत् सर्वमनात्मेति मिथ्या बाधितमिति ज्ञात्वा तत्राभिमानाभिनिवेशत्यागेन हेयम । एवं 'तत्त्वमसी'ति महावाक्यस्थिततत्त्वं पदाभ्यां मिथ्याभूतमर्थं विहाय सत्यभूतं शुद्धचिन्मात्रमेकदेशलक्षणयोपादाय सामानाधिकरण्यबलेन तदभेदं प्रतिपादयत् तन्महावाक्यमखण्डैकरसार्थपरं विज्ञेयमिति भावः ।

तत्त्वं पदवाच्ययोरुक्तचातुर्विध्यमलौकिकत्वादसम्भवीति शङ्कां निराकुर्वन्त उपाध्यादिचतुष्टयं लौकिकप्रतिबिम्बेष्वपि प्रसिद्धमेवेत्युदाहरणं प्रदर्शयन्त आहु - 'अल्पात्रमल्पात्रगत्वमेवमल्पात्रगोऽल्पात्रगताद् बहिश्च । दिवाकरो दिव्यवतिष्ठमानो न शक्यतेऽपोहितुमिद्धतेजाः ॥' (१) (सं०शा०३।२८०)इति । १. अल्पात्रं = उदकधृक्-सजलं-शरावादि-उपाधिः । २. अल्पात्रगतत्वमित्याभासनमुक्तम् । इदं प्रतिबिम्बे कल्पितधर्मजातोपलक्षणार्थम् । ३. अल्पात्रग इति प्रतिबिम्बोक्तिः । आभासान्वयी दिवाकरप्रतिबिम्बोऽल्पात्रगत इत्यर्थः । ४. अल्पात्रगतात्प्रतिबिम्बाद् बहिः = पृथक्-तदुपाधितद्धर्मसंसर्गरहितः परः शुद्धः । तत्र हेतुः–दिवि = आकाशेऽवतिष्ठमानः = यथावत्प्रकाशमानः, तत्रापि हेतुरिद्धतेजा इति । 'न शक्यते' इत्यादिना तस्य सत्यत्वं शुद्धत्वं च प्रतिपाद्यते । तस्याभासपदवेदनीयस्याल्पात्रगतत्वादिकल्पितधर्मजातस्य मिथ्यात्वेन हेयत्वेऽपि स तु स्वरूपेण वस्तुभूतो न हेय इत्यर्थः ।

ननु – दृष्टत्वादेव दिवाकरे भवदुक्तो विभागः न तु परमात्मनि, तथा दर्शनाभावादित्याशंक्य – 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्' (श्रुतिः) 'एक

(१) लौकिक – दृष्टान्तमें इस चतुर्धा विभागको दिखाते हैं – जैसे १. जलपात्र । २. जलपात्रगतत्व । ३. जलपात्रगत (प्रतिबिम्ब) एवं जलपात्रके बाहर आकाशमें अवस्थित प्रचण्ड मार्तण्ड, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता, अर्थात् सजलघट उपाधि है, प्रतिबिम्बमें प्रतीयमान सजलघटगतत्व आभास है, उससे युक्त सूर्यप्रतिबिम्ब होता है, आकाशस्थरवि बिम्ब है, यह सर्वथा अबाधित और सत्य है ।

एव हि भूतात्मा भूते - भूते व्यवस्थितः ।' (ब्रह्म० उ० १२) 'एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः । यथेन्दुरुदपात्रेषु' (भा० ११।१८।३२) 'प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः' (भा० ७ । ६ । ११) इत्यादिशास्त्राद् बिम्बप्रतिबिम्बादिदृष्टान्तेनात्मैकत्वप्रतिपादनादुक्तप्रकारेण तदुपपादनीयं, न त्वन्यथा कर्तुं शक्यमित्याहुः – 'पुरं पुरस्थत्वमथो पुरस्थं. पुराद् बहिः शुद्धमवस्थितञ्च । तथा परं ब्रह्म सुसूक्ष्मयाऽपि धिया निराकर्तुमशक्यमेव ॥ (१) (सं०शा० ३।२८१) इति । अज्ञानमन्तःकरणं पुरमुपाधिः, पुरस्थत्वं-औपाधिकः चिदाभासः, पुरस्थ =चित्प्रतिबिम्बम् । तथा पुराद्बहिरवस्थितमतः शुद्धचिद्बिम्बस्वरूपं परं ब्रह्म, चोक्तविधया निराकर्तुमशक्यमित्यर्थः । अथो इत्यव्ययं तथेत्यर्थे पादपूरणार्थम् । सर्वाधिष्ठानं शुद्धं परं ब्रह्म, सर्वस्य निराकृतेस्तदवधित्वात् निराकर्तुमशक्यमेव। 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः ।' (क०३।११) 'यः पुरुषः परः, स एवासीदिदं विश्वं, कल्पान्तेऽन्यन्न किञ्चन ॥' (भा० ६ । १ । ८) इति 'तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रात्मा हरिरीश्वरः ।' (भा० ७ । ४ । २२) इति श्रुतिभागवतप्रामाण्यात् ।

ननूक्तविभागाङ्गीकारे ब्रह्मणो दिवाकरस्येव सद्वयत्वं सविशेषत्वञ्च स्यादित्याशंक्याह – तत्रोक्तविभागस्यानिर्वचनीयाज्ञानमूलत्वेन मिथ्यात्वात्तदपोहेनैव महावाक्यप्रमितशुद्धबिम्बस्वरूपेऽखण्डचिदेकरसे नोपाधितोऽपि विशेषः सम्भावितो दूरस्थ एव स्वाभाविको विशेष इति परिहरन्तो यदुपपादितं तन्निगमयन्ति – 'न स्थानतोऽप्यस्ति परस्य तस्माद्, विशेषयोगः परमार्थरूपः । स्वतः पुनर्दूरनिरस्तमेव, परस्य तत्वस्य विशेषवत्त्वम् ॥ (२) (सं० शा० ३।२८२) इति । परस्य ब्रह्मणः कश्चित् परमार्थरूपो विशेषयोगः = सप्रपञ्चत्वसद्वयत्वसविशेषत्वलक्षणः, स्थानतः = उपाधितोऽपि नास्ति, 'पृथिवीमय आपोमयः इत्यादौ पृथिव्याद्युपाधियोगात् श्रूयमाणोऽपि विशेषो ब्रह्मणः परमार्थतो नास्तीत्यर्थ । स्थानतोऽपीत्यपिशब्दसूचितमर्थमाह-स्वतः पुनरिति । स्वतस्तु= स्वाभाविकस्तु सुतरां विशेषयोगो दूरनिरस्त एवेत्येतत्साधयति – परस्य तत्त्व-

(१) शरीरादि (उपाधि) शरीरस्थत्व (आभासन) शरीरस्थ (प्रतिबिम्ब) तथा शरीरसे बाहर स्थित शुद्ध परब्रह्मरूप बिम्ब, अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिसे भी निराकरणके अयोग्य हैं ।

(२) परब्रह्ममें कोई वास्तविक–विशेष (प्रपंच) का योग उपाधिके द्वारा भी नहीं, स्वतः तो परमेश्वरके साथ प्रपंच – सम्बन्ध दूरतः निरस्त ही है । अर्थात् ब्रह्ममें उपाधिके सम्बन्धसे भी किसी प्रकारका कलंङ्क नहीं आता, स्वतः तो वह शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वभाव है ही ।

स्येति । कार्यकारणप्रपञ्चातीतस्य नेति नेत्यादिलक्षणलक्षितस्य यत्तत्त्वं = याथात्म्यं-स्वाभाविकं स्वरूपं तस्येत्यर्थः । औपाधिकरूपस्य स्फटिकलौहित्यादिवन्मिथ्यात्वेन स्वाभाविकत्वायोगात् स्वभावतो निर्विशेषमखण्डैकरसं प्रत्यगभिन्नमद्वयमेव ब्रह्म सिद्धम् । उपाधियोगात्प्रतीयमानानां विशेषाणां मृषात्वं दृष्टान्तेन प्रतिपादयन्त आहुः – 'स्वभावतश्चिद्घनविग्रहस्य, मृषा ह्युपाधिप्रभवा विशेषाः । यथा जपापुष्पनिबन्धनः स्यात्, मृषा मणेर्लौहितिमा तथैव ॥' (१) (सं० शा० ३ । १४७) इति । किंच विमतं जीवत्वेश्वरत्वसगुणत्वकारणत्वादिकं, मिथ्या, औपाधिकत्वात्, स्फटिकलौहित्यवदित्यनुमानादपि – तन्मिथ्यात्वसिद्धिरित्याह – यथेति । न च स्फटिकमणावपि तदा सत्यमेव लौहित्यमुत्पन्नमिति साध्यवैकल्यमिति वाच्यम् । तद्गतशुक्लरूपे स्थिते तदुत्पत्त्ययोगात्, तन्नाशस्य च तदा रूपनाशे क्लृप्तकारणाभावेनासम्भवात् । एवं तद्वास्तवलौहित्योत्पत्तिकारणासम्भवाच्च तदसम्भवः । नापि जपापुष्पतद्रूपाभ्यामविवेकमात्रात् स्फटिके लौहित्यव्यवहारस्य, तद्रूपस्यैव वा स्फटिके भ्रान्त्या प्रतिभासो, न तत्रानिर्वचनीयं लौहित्यान्तरमस्तीति वाच्यम् । नेदं जपापुष्पं, तल्लौहित्यं च स्फटिके नास्तीति स्पष्टं विवेकदर्शनात् । तस्मिन् सति स्फटिके तद्रूपारोपासम्भवाच्च । तस्मान्मिथ्या लौहित्यमेव स्फटिके भातीति न साध्यवैकल्यमिति भावः । तथैवोपाधि प्रभवाः ईश्वरत्वसगुणत्वादिविशेषाः मृषा स्युः । उपाधिसम्बन्धस्यापि चिदेकरसेऽखण्डे ब्रह्मणि परमार्थत्वासम्भवान्न तद्योगकृतो विशेषः परमार्थः, अतः सविशेषब्रह्मवाक्यानां न स्वार्थपरता, इत्यन्यार्थताकल्पनस्यावश्यंभावात् निर्विशेषवाक्यानां च गत्यन्तरासम्भवेन स्वार्थपरत्वनिश्चयान्निर्विशेषमेकरूपमखण्डमद्वयमेव ब्रह्मतत्त्वमवधेयम् ।

नन्वीश्वरत्वलक्षणो विशेषो ब्रह्मणि वास्तवोऽभ्युपेयः, अन्यथा तस्यानीश्वरत्वप्रसंगात्, तथा प्रतीचो जीवत्वरूपो विशेषः स्वीकरणीयः, इतरथा तस्यापीश्वरत्वं जडत्वं वा प्रसज्येतेति चेत्, मैवम् । उभयत्राप्युक्तविशेषयोरौपाधिकत्वादित्याहुः – यद्वा – नन्वीश्वरत्वजीवत्वयोरनादित्वेन स्फटिकलौहि-

(१) जैसे कि जपापुष्पके योगसे प्राप्त स्फटिकमणिकी लालिमा मिथ्या है, वैसे ही स्वतः चिद्घनस्वरूप ब्रह्मके उपाधि प्रसूत विशेष धर्म भी मिथ्या हैं । अर्थात् स्फटिक मणिके साथ जपाकुसुमका वास्तविक सम्बन्ध होने पर भी स्फटिककी लालिमा आरोपितमात्र है, किन्तु ब्रह्मके साथ तो समस्त उपाधियोंका सम्बन्ध आध्यासिक मात्र है । अतः उनके संयोगसे ब्रह्मगत प्रतीयमान औपाधिक धर्म अत्यन्त ही मिथ्या होते हैं ।

त्यवदौपाधिकत्वायोगाद्वास्तवत्वमुपेयम्। ततश्च वस्तुत एवात्मनः सविशेषत्वमित्याशङ्क्याहुः – 'मायोपाधेरद्वयस्येश्वरत्वं, कार्योपाधे र्जीवता च प्रतीचः। मिथ्यैव स्याद् बन्धुजीवप्रसूनसंपर्कोत्था रक्ततेवाभ्रकादेः ॥' (१) (सं० शा० ३। १४८) इति। ईश्वरत्वं हि जगत्सृष्ट्यादौ निरङ्कुशं सामर्थ्यं, तच्च कूटस्थासङ्गाद्वितीयस्य स्वतो न घटते इति तत्समर्थस्वाभासमायाप्रयुक्तमेव ब्रह्मण ईश्वरत्वं, तदुपाधिकमेव, अनादेरपि तस्य मायासम्बन्धवत्तदधीनसत्ताकतया तत्प्रयुक्तत्वोपपत्तेः। तेन तस्य व्यावहारिकत्वेऽपि मिथ्यात्वमपरिहार्यम्। यद्यपि जीवत्वमप्यज्ञत्वरूपमनादि, तथापि बुद्ध्यादिकार्ये सति तदुपहितस्य कर्तृत्वादिविक्षेपरूपानर्थरूपेणापि भातीति तेन रूपेण तस्य कार्योपाधिकत्वव्यपदेशः। स्वरूपेण तु तदप्यविद्याप्रयुक्तत्वादविद्योपाधिकमिति तदपि कर्तृत्वादिना सह मिथ्येति, स्वतो जीवत्वेश्वरत्वादिकल्पितधर्मरहितं निर्विशेषं प्रत्यगभिन्नमद्वयं ब्रह्मेत्यर्थः। औपाधिकस्य मिथ्यात्वेन व्यभिचारशंकानिरासायोदाहरणान्तरमाह बन्धुजीवेति। बन्धुजीवप्रसूनं हि – मध्याह्नविकासि, वर्तुलं रक्तवर्णं प्रसिद्धम्, अभ्रकं तु सूर्यतप्तजलस्थलनिष्पन्नः शुभ्रस्वच्छधात्वाभासविशेषः। आदिपदेन तत्तुल्यमन्यदुपादीयते।

अत एव श्रीमद्भागवतेऽपि – 'मायां विधूय वयुनोदयेन' (भा० ५। ११। १५) 'चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायां (भा० ४। ७। २६) इत्यादिवचनै र्ज्ञाननिवर्त्यतया मायाया मृषात्वं प्रतिपादितम्, माया नाम महाभाग ! ययेदं निर्ममे विभुः।' (भा० ३। ५। २५) 'मन्यमान इदं विश्वं मायारचितमात्मनि।' (भा० ४। १२। १५) 'एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी।' (भा० ११। ३। १६) इत्यादिवचनैश्च मायानिबन्धनतया प्रतिपादितस्य विश्वोत्पत्तिपालनविलयकारणत्वलक्षणस्येश्वरत्वस्यापि मिथ्यात्वमर्थात् विज्ञापितञ्चावगम्यते।

संप्रति – ईश्वरेशितव्ययोः परस्परापेक्षत्वेन तद्भावस्य मिथ्यात्वं

(१) माया उपाधिके योगसे अद्वय - ब्रह्ममें कल्पित ईश्वरत्व और अन्तःकरणरूप कार्यके योगसे प्रत्यगात्मामें कल्पित - जीवत्व, बन्धूक (गुलदुपहरिया) के सम्बन्धसे उत्पन्न अभ्रक - आदिमें लालिमाके समान मिथ्या ही है। अर्थात्' मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेता० ४।१०) आदिश्रुतियां, उपास्य अर्थका बोध कराने के लिए प्रवृत्त हुई है, अतः इनका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं, 'नेतिनेति'(बृ०२।३।६) आदि वस्तुस्वरूप प्रतिपादक - श्रुतियोंका ही स्वार्थमें तात्पर्य माना जाता है। इसलिये आत्मामें कल्पित ईश्वरत्व और जीवत्व वैसे ही मिथ्या है, जैसेकि गुलदुपहरिया फूलके योगसे अभ्रक - आदिमें कल्पित - रक्तता मिथ्या है।

वदन्तः तस्याखण्डवस्तुस्वरूपत्वमयुक्तमित्याहुः – ईशितव्यमनपेक्ष्य नेश्वरो नेशितव्यमपि तद्वदीश्वरम्। अन्तरेण घटते ततो मृषा, मोहमात्रपरिकल्पितं द्वयम् ॥' (१) (सं० शा० ३। १८८) इति। ईश्वरो न घटत इति सम्बन्धः। ईश्वरत्वं न सम्भवतीति यावत्। तद्वत् = ईश्वरत्ववद् ईशितव्यमपीश्वरमन्तरेण = विना न घटते, द्वयोरप्यन्योऽन्याधीननिरूपणतया परस्परप्रमाऽपेक्षकत्वादुभयोरपि प्रमित्यनुपपत्तेरुभयं मायाभ्रान्तिमात्रसिद्धत्वादनिर्वचनीयं मिथ्येत्यर्थः। एवं कारणत्वमपि – सापेक्षत्वात् कार्यजगद्वत् कल्पितमेवाभ्युपेयम्। तथाहि – कारणत्वस्य कार्यान्नियतपूर्वभावात्मकत्वात्, कार्यत्वस्य च कारणान्नियतपश्चाद्भावात्मकत्वेन परस्परापेक्षत्वात्पूर्वोक्तभावयोरपि परस्परापेक्षत्वादित्याहुः – 'कार्यवस्तु विरह्य्य कारणं, न क्वचिद् घटयितुं क्षमेमहि। नापि कारणमपोह्य केवलं, कार्यवस्तु परिकल्पयेमहि ॥' (२) (सं० शा० ३। १८६) इति। विरह्य्य = विहाय। कारणं = कारणत्वम्। घटयितुं = संभावयितुम्। अत एव कारणत्वमपि नाखण्डवस्तुस्वरूपमिति भावः।

ननु – सत्यत्वेन प्रसिद्धस्य नामरूपात्मकस्य द्वैतप्रपञ्चस्य कार्यभूतस्य जगतः श्रुत्यादिशास्त्रेणापि प्रतिषेधो न शक्यः कर्तुं, सत्यत्वानुभवविरोधादित्याशङ्क्य स्वतः परतो वा तत्सिद्धेरसम्भवात्स्वतः सिद्धचैतन्ये परे सत्येऽधिष्ठाने ब्रह्मणि कल्पिततादात्म्येनाध्यासादेव तथाऽनुभव इत्यभिप्रेत्य प्रकारान्तरेण तत्सिद्ध्यनुपपत्तिमाहुः – 'जगन्महिम्ना न जगत्प्रसिद्धिः, न चिन्महिम्नाऽपि जगत्प्रसिद्धिः। न च प्रमाणाज्जगतः प्रसिद्धिस्ततोऽस्य मायामयताप्रसिद्धिः ॥' (३) (सं० शा० ३। २३१) इति। जगन्महिम्ना = जडमेयवस्तुसामर्थ्येन, प्रसिद्धिः = निष्पत्तिः प्रतीतिश्च विवक्षिता। तर्हि स्वप्रकाशचैतन्यसामर्थ्यात्तत्प्रसिद्धिर्न हीत्याह – न चिन्महिम्नेति। तथापि प्रत्यक्षादिप्रमाणबलात्तत्प्रसिद्धि

(१) ईशितव्यकी अपेक्षाके विना ईश्वर नहीं बनता उसी प्रकार, ईश्वरके विना ईशितव्य भी नहीं बनता। इसलिए दोनों (ईश्वरत्व और ईशितव्यत्व) मोहमात्र कल्पित - मिथ्या हैं अतः सापेक्ष होनेके कारण ऐश्वर्यको भी मिथ्या मानना होगा।

(२) कार्यवस्तुकी उपेक्षा करके कहीं (कारणका) स्वरूप बतानेमें हम समर्थ नहीं, कारणको दूर करके कार्यवस्तु नहीं बता सकते।

(३) न जगत्की महिमासे जगत्की प्रसिद्धि हो सकती है, न चेतनकी महिमासे जगत्की प्रसिद्धि होती है, और न किसी प्रमाणसे जगत्की प्रसिद्धि होती है। अतः इस (जगत्) की मायामयता – मिथ्या कल्पनामात्रता ही सिद्ध होती है।

नेत्याह – न प्रमाणादिति । अत्र सर्वत्र हेतूननन्तरमेव वक्ष्यति । कथं तर्हि तत्प्रथेत्याशङ्क्य स्वप्नवद् भ्रान्तिरेव सेत्यभिप्रेत्य तदुपपत्तये जगतोऽनिर्वचनीयमायाविलसतत्वमाह – तत इति । इदानीं प्रतिज्ञातान् अर्थान् हेतुभिः क्रमेण साधयन्ति – 'जडत्वहेतो र्न जगन्महिम्ना, न चिन्महिम्ना तदसङ्गभावात् । न च प्रमाणात्तदकारकत्वात्, कृतस्य जाड्यादजडाऽजनेश्च ॥' (१) (सं० शा० ३ । २३२) इति । त्रिष्वपि नकारेषु जगतः प्रसिद्धिरित्यनुषञ्जनीयम् । स्वमहिम्ना जगतः प्रसिद्धौ तस्य जडत्वव्याहृतिः स्यात्, तथा च चेतनाचेतनभेदव्यवहारः प्रमाणप्रमेयादिभेदव्यवहारश्च लुप्येत, जडानां स्वतः परस्परतया वा सिद्धौ स्वसत्तायां संशयाद्यनुपपत्तिः स्यात्ततो न जगन्महिम्ना तत्प्रसिद्धिः । नापि स्वप्रकाशचिन्महिम्ना, तस्याः चितः कूटस्थासङ्गात्मस्वरूपतया वस्तुनो जडसम्बन्धासम्भवेन तत्साधकत्वायोगात् । प्रमाणानामपि स्वरूपेण साधकत्वायोगात्, जडमजडं वोत्पाद्य फलं तत्साधकत्वं वाच्यम् । न च तद्युज्यते, तेषां व्यञ्जकत्वेन कारकत्वायोगात् = जडविषयसंविदुत्पादकत्वासम्भवादित्यर्थः । यदि प्रमाणेन संवित् क्रियेत – उत्पाद्येत, तदा सा संविदेव न भवतीत्याह – कृतस्य जाड्यादिति । कृतस्य = कृतिजन्यस्य जडत्वनियमात्, यत्कार्यं तज्जडमिति नियमस्य पटादाववधृतस्याभङ्गादिति यावत् । अत एव स्वप्रकाशसंविज्जनकत्वमेव तद्व्यञ्जकत्वमिति निरस्तम् । जन्यस्य घटादिवत् स्वप्रकाशत्वायोगात्. स्वप्रकाशवस्तुनः कूटस्थतया जन्मायोगाच्चेत्यर्थः । अजडाचेत्संवित्तदा सा नोत्पद्यत एवात्मवदित्याह अजडाऽजनेश्चेति ।

(१) जड़त्वके कारण जगत्की महिमासे जगत्की प्रसिद्धि नहीं हो सकती चिन्महिमासे भी जगत्की प्रसिद्धि नहीं होती, क्योंकि चेतन असङ्ग है । प्रमाणसे भी (जगत्की प्रसिद्धि) नहीं होती । क्योंकि - प्रमाण कारक नहीं होता, जन्य-वस्तु जड़ होती है और अजड़ वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती है । अर्थात् जगत्की प्रसिद्धिमें जिज्ञासा होती है कि जगत्की प्रसिद्धि अपनेसे होती है ? या चेतनसे ? या किसी प्रमाणसे ? । जगत् स्वयं जड़ है, जड़से जड़की प्रसिद्धि होती ही नहीं, अतः प्रथम पक्षतो सर्वथा अयुक्त है । द्वितीय - पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि - चेतन असंग है, उसका जगत्से कोई वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं, विना सम्बन्धके कोई प्रकाशक किसीकी प्रसिद्धि नहीं किया करता । तीसरा पक्ष अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जगत् की प्रसिद्धि होनी भी सम्भव नहीं, क्योंकि कोई प्रमाण जड़ विषयक संवित् (प्रकाश) का कारण उत्पादक नहीं होसकता, आशय यह है कि जगत्की प्रकाशरूप संवित् नित्य आत्मस्वरूप होती है, उसे प्रत्यक्षादि प्रमाण उत्पन्न नहीं कर सकते, और जो जन्य पदार्थ है, वह जड़ होता है, उसे प्रकाश या संवित् मानना संभव नहीं ।

ननु – दृग्दृश्ययोः ब्रह्मजगतोः सम्बन्धस्यानुभवसिद्धत्वात्तदपह्नवायोगात् कोऽपि सम्बन्धोऽवश्यं वक्तव्य इति चेत् – तर्हि – आविद्यकानिर्वचनीयकल्पित-तादात्म्यसम्बन्धादेव वियदादिजडप्रपञ्चस्य चिन्महिम्ना मिथ्याप्रसिद्धिरभ्युपगम्यते, अतो जडस्य सर्वस्य जगतः चिद्विवर्त्तत्वमावश्यकमित्याहुः – 'ततो वियन्मुख्यमदो जगज्जडं, चिदात्मनोऽस्यैव विवर्त्त इष्यताम् । अनाद्यविद्यापट-संवृतात्मनस्तदोपलभ्यत्वममुष्य कल्प्यते ॥' (१) (सं० शा० ३ । २३५) इति । ततः = जडचेतनयोः संयोगसमवायादिसम्बन्धासंभवेन परिशेषात्, अदः = परोक्षापरोक्षात्मकं वियन्मुखं = आकाशादिजगज्जडं सर्वमस्यैव चिदात्मनो विवर्त्तः = स्वाविद्यावशात् प्रतीयमानात् मिथ्यातादात्म्याध्यास-लक्षणात् सम्बन्धादेव दृग्दृश्ययोः – अन्यथा प्रतिभान इष्यताम् । अविद्याऽवस्थायामेवोपलभ्यमानत्वादुक्तसम्बन्धस्याप्याविद्यकत्वमेवेत्यभिप्रेत्य चिदात्मानं विशिनष्टि-अनाद्यविद्येति । यद्येवमविद्याप्रयोजितः कल्पिताध्यासिकः सम्बन्धो दृशा दृश्यस्याभ्युपगम्यते, तदाऽमुष्य = दृश्यस्योपलभ्यत्वं कल्प्यते = घटते इति योजना । तर्हि सर्वस्यैव दृश्यस्य चित्यध्यासात्सर्वं सदा तया दृशा प्रतिभासेतेत्याशङ्क्याऽऽवृतचैतन्यस्य स्वयमप्यप्रतिभासादन्यभासकत्वं दूरापेतम्, यस्य तु प्रमाणजन्यवृत्तिज्ञानेऽनावृतचित्सम्बन्धः संभवति, तदेव तदा तया भासत इति तन्नियमोपपत्तिरित्याशयेनाह – अविद्यापटसंवृतात्मन इति । तस्मात् – 'यत्सापेक्षमिहेक्षितं भवति तन्मायामयं स्वप्नवत्, तस्मादीश्वरतादि-कल्पितवपुः स्वीकुर्महे न्यायतः ॥' (२) (सं० शा० ३ । १६३) इति । कारणत्वेश्वरत्वादेः सर्वस्य मिथ्यात्वसाधकं हेतुं सापेक्षत्वलक्षणमुपपाद्य व्याप्ति-मस्य कथयति – यत्सापेक्षमिहेति । विमतं मायामयं मिथ्याभूतं सापेक्षत्वाद्यथा स्वप्नः, तथा चायं सापेक्षमित्यवयवचतुष्टयमुक्त्वा निगमयति – तस्मादीश्वर-तादीति । न्यायतः = उक्तानुमानलक्षणन्यायकदम्बात् ईश्वरतादि मायाकल्पित-वपु न परमार्थमिति स्वीकुर्महे = अभ्युपगच्छामः ।

(१) अतः यह वियदादि - जड़ जगत्को इस अनादि अविद्यारूप पटसे आवृत चैतन्यका ही विवर्त्त मान लिया जाये, तब इस (जगत्) की उपलब्धि बन जाती है । अर्थात् वेदान्त सिद्धान्तमें अज्ञानावृत चेतनका जगत् विवर्त्त है, अतः आध्यासिक तादात्म्य - सम्बन्ध होनेके कारण चैतन्यसे जगत्का मिथ्या - प्रकाश बन जाता है ।

(२) यहां जो - जो सापेक्ष पदार्थ देखा जाता है, वह मायामय ही होता है, जैसे स्वप्न, इसलिए कथित न्यायके बल पर ईश्वरता आदिको काल्पनिक हम मानते हैं ।

एवं तत्त्वंपदार्थयो र्जीवेश्वरयो र्भागत्यागलक्षणया परिशोधनं 'तत्त्वमसी' ति महावाक्यशेषतयाऽभिहितं यतः पदार्थबोधं बिना महावाक्यं ब्रह्मनिर्वाणाख्यमुक्तिहेत्वखण्डैकरसाद्वयब्रह्मविषयकापरोक्षसाक्षात्कारं जनयितुमक्षममित्याहुः – 'पदार्थबोधं परिहृत्य वाक्यं, न शक्तमात्मानुभवावसानाम् । धियं समानेतुमपेक्षितत्वादतः स यत्नेन निरूपितोऽभूत् ॥' (१) (सं० शा० ३।३०४) इति । तत्त्वंपदार्थयोः परिशोधितयोर्बोधं परिहृत्य = विना, वाक्यं = महावाक्यं, आत्मानुभवावसानां = आत्मतत्त्वाभिव्यक्तिफलां साक्षात्काररूपां धियं = अखण्डैकरसब्रह्माकारां बुद्धिवृत्ति, समानेतुं = संपादयितुं न शक्तं = न समर्थम् । यतः पदार्थधियो वाक्यार्थधियो हेतुत्वेनापेक्षितत्वात्, पदार्थबोधं विना वाक्यार्थबोधो नोत्पद्यते, अतः परिशोधितपदार्थबोधोऽत्र यत्नेन निरूपितोऽभूत् । तथा च पदार्थनिरूपणं न व्यर्थमपि त्वत्युपयुक्तम् । एवं महावाक्यबोधं विना केवलपदार्थबोधात् प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मानुभवोऽशक्य इत्याहुः– 'विना महावाक्यमतो न कश्चित्,पुमांसमद्वैतमवैति जन्तुः । ततः पदार्थावगमान्न मुक्तिर्घटिष्यते तस्य परोक्षभावात् ॥' (२) (सं०शा० ३।३०३) इति । कश्चित् जन्तुः = कोऽपि मानवः, पुमांसं = शोधितत्वमर्थं – जीवात्मानं, अद्वैतं = अद्वयब्रह्माभिन्नं, महावाक्यं विना नावैति = न जानाति । ततः केवलात्पदार्थावगमान्न मुक्ति घटिष्यते = संपत्स्यते, यतस्तस्य केवलपदार्थावगमस्य परोक्षभावात् = परोक्षत्वात् । अपरोक्षसंसारतत्कारणाविद्यानिवर्तकत्वासंभवात् । तस्मात्परिशीलितान्महावाक्यादेवाखण्डैकरस ब्रह्मात्मतत्त्वावगति र्मुक्तिफला सिद्ध्यति, पदार्थशोधनमात्रेण न कृतकृत्यता भवति, अतः प्राक् परिशोधिततत्त्वं पदार्थद्वयबोधं संपाद्य ततः प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मबोधकस्य महावाक्यस्य बोधं संपादयेच्चेत् ? तत एव मुक्तिलाभरूपा कृतकृत्यता संपद्यते

(१) पदार्थ बोधको छोड़कर महावाक्य, आत्मसाक्षात्कार - विषयिणी बुद्धिको जन्म नहीं दे सकता, क्योंकि – वह पदार्थ बोध अपेक्षित है, अतः वह पदार्थ यत्नसे निरूपित हुआ है । अर्थात् वाक्यार्थ बोधमें पदार्थ – बोध, कारण होता है, अतः वाक्यार्थ – बोधके लिये पदार्थोंका पहले ही निरूपण परम आवश्यक था, इसलिए पदार्थ शोधन पूर्व किया गया है ।

(२) इसलिए कोई जीव, महावाक्यके विना अद्वैत पुरुष – ब्रह्मको नहीं जान सकता, अतः पदार्थके ज्ञानमात्रसे मुक्ति नहीं होती, क्योंकि वह परोक्ष है । महावाक्य घटक पदोंको सुनकर परोक्ष बोध ही होता है, अतः उससे मुक्ति नहीं होती । अपितु महावाक्य श्रवणादिके अनन्तर ही अपरोक्ष बोध होता है, जिससे मुक्ति होती है ।

इति भावः।

पदार्थद्वयशोधनेन महावाक्यस्य क उपकारः संपद्यते? इत्यपेक्षायां महावाक्यस्याभेदभावार्थविषयकबोधस्य संगततालक्षणा संभावनैवोपकार इत्याहुः – 'तच्छब्दादवगतमद्वितीयमासीत्, प्रत्यक्त्वं समधिगतं त्वमित्यनेन। प्रत्यक्त्व न खलु विनाऽद्वितीयमेवं, नाद्वैतं भवितुमलं विना प्रतीचा॥' (१) (स० शा० ३। ३०५) इति। पदार्थशोधने कृते मिथः पदार्थयोः तादात्म्य-रूपान्वयविरोध्यंशापोहेन तच्छब्दादद्वितीयमवगतमासीत्, त्वमित्यनेन पदेन प्रत्यक्त्वमवगतमासीत्। अद्वितीयतया प्रत्यङ्मात्रेण च पदद्वयलक्ष्यं समधिगतमित्यर्थः। एवं सति तयोः तत्त्वंपदलक्ष्ययोश्चात्यन्तमेकत्वमेव सम्पन्नमित्याह – प्रत्यक्त्वं न खल्विति। अद्वितीयं = अद्वितीयब्रह्मात्मत्वं विना त्वमर्थस्य प्रत्यक्त्वं न खलु भवितुमलम्। प्रत्यक्त्वं नाम सर्वान्तरत्वं, तद् ब्रह्मणो व्यावृत्तस्य न निरङ्कुशं भवेदिति पदार्थशोधनेन त्वमर्थस्य प्रत्यक्त्वं सिद्ध्यद् ब्रह्मात्मनैव सिद्ध्यतीत्यर्थः। एवं प्रतीचा = प्रत्यक्त्वेन विना न खलु तदर्थस्याद्वितीयत्वं भवितुमलं, न हि प्रतीचो व्यावृतस्याद्वितीयता स्यादित्यर्थः। पदार्थशोधने कृते स त तयो भिन्नलक्षणत्वव्युदासेनैकलक्षणतायां सम्भावितायां महावाक्यात्तदैक्यावगतिसमये तदर्थस्य पारोक्ष्यं त्वमर्थस्य सद्वयत्वं संसारित्व-लक्षणं च निवर्त्यते इति पूर्णाखण्डैकरसवाक्यार्थसिद्धिरिति पदार्थशोधनं सार्थकम्। अर्थात् – अद्वितीयस्य ब्रह्मणः सर्वाधिष्ठानतया सर्वान्तरत्वात्तदभेदं विना त्वंपदसमर्पितं प्रत्यक्त्वं सर्वान्तरसाक्षिचैतन्यात्मकं न घटते, एवं तत्पदसमर्पितमप्यद्वितीयं वर्णितप्रत्यगभेदं विना न घटते इति युक्तितस्तावभि-न्नावपि संभावितावित्ति भावः।

एवमात्मतत्त्वस्य जिज्ञासालक्षितेन विचारेणात्मन्यखण्डैकरसेऽद्वये मायासमारोपितस्य नानात्वरूपस्य भेदभ्रमस्य निरासः कर्तव्योऽर्थात् प्रत्यगभि-न्नाद्वयब्रह्मभावः श्रद्धयैकाग्र्येण च परिचिन्तनीय इति। तथा च 'एवं जिज्ञा-सयाऽपोह्य नानात्वभ्रममात्मनि।' (भा० ११।११।२१) 'प्रतिबुद्धि इव स्वप्नान्नानात्वाद् विनिवर्तते।' (भा० ११।११।१६) 'नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि।' (भा० ११।१०।३२) इति श्रीमद्भागवतस्य

(१) तत् शब्दसे अद्वितीय ब्रह्म अवगत हुआ, और त्वम् - इस पदसे आत्मप्रत्यक्त्व ज्ञात हुआ। न तो अद्वितीयत्वके विना प्रत्यक्त्व, और न प्रत्यक्त्वके बिना अद्वितीयत्व हो सकता है अर्थात् – पदार्थोंका शोधन कर लेने पर पदार्थों (वाच्यार्थों) में से विरोधी औपाधिक अंशोंका त्यागकर अवशिष्ट लक्ष्य - अर्थोंका तादात्म्य अभेद – एकरसत्व सम्यक् सम्पन्न होता है।

प्रामाणिकः सदुपदेशोऽपि संगच्छते । सति चैवमेतादृशे यावदात्मतत्त्वस्य विचारं सफलं न संपादयत्ययं मुमुक्षुजनस्तावदबोधजातस्य पराभवस्य निवारणं न कर्तुं शक्यम् । अतस्तन्निवारणाय निखिलदुःखनिवृत्त्युपलक्षितपरमानन्दलाभरूपविजयाय चात्मतत्त्वस्य मीमांसालक्षणो विचारोऽवश्यं करणीय इति ।

देहादिनोपाधिना ब्रह्मात्मस्वरूपाभिभवरूपः पराभवोऽनाद्यज्ञानकृतस्तावद्भवति । तत्र हेतुः । यावत्क्रियाः स्युस्तावदिदं मनो हि कर्मस्वभावमेव स्यात्, येन कर्मात्मकेन मनसा शरीरबन्धः । अर्थात् यावत्प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानं नोद्भवेत्, शास्त्रीयविचारेण, तावत्कर्माणि न नश्यन्ति, अर्थात् – ज्ञानादेव कर्मविनाशस्संभवति । तथा च गीतास्मृतिः — 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।' (गी० ४।३७) एवं यावत्पुण्यपापकर्माणिस्युस्तावदिदं मनः कर्मात्मकमेव — संकल्पविकल्परागद्वेषादिकर्मस्वभावमेव स्यात् । यावदज्ञानं तावन्न क्रियाव्यवच्छेदः, यावत्क्रियास्तावदिदं मनःप्रवृत्तिस्वभावमेव भवतीति भावः । येन कर्मात्मकेन मनसा शरीरबन्धः = शरीरप्राप्त्या संसारबन्धो भवति । तथा च प्रारब्धसमाप्तौ स्थूलदेहपातेऽपि सूक्ष्मदेहस्य नाशाभावात् पुनः स्थूलदेहस्य चावश्यंभावाद्यावदात्मतत्त्वसाक्षात्कारेण नाविद्या निवर्तते, तावद्देहाद्यध्यासेनात्मनः पराभवो वज्रलेपायितः प्रवर्तमानो भवति । एवमविद्यातज्जपराभवविध्वंसकात्मतत्त्वसाक्षात्कारे तद्विचारो हेतुरुक्तः, पुनश्चोक्तानुवादपूर्वकं — आत्मस्वरूपावरणमेव मनसः प्रवृत्तिस्वभावप्रयोजकमित्याह—एवं = उक्तप्रकारेणाविद्ययाऽऽत्मनि उपाधीयमाने = देहेन्द्रियाद्यध्यासेनाच्छाद्यमाने सति — उपधिरुपाधिर्लिङ्गं तदध्यासात्तद्रूपीक्रियमाणे सति प्रवृत्तिस्वभावं मनः कर्तृ पुरुषं कर्मवशं प्रयुंक्ते = अवश्यं कर्मकारयति । यदाह – 'कर्माशयं हृदयग्रन्थिबन्धमविद्ययाऽऽसादितम् ।' (भा० ५ । ५ । १४) इति । कर्माण्याशेरते यस्मिन् तत्, हृदये विद्यमानो जडचेतनग्रन्थिरूपबन्धो यस्मिन् तत् बहिर्मुखं चंचलं प्रमाथि मन एव ।

ननु — अविद्यातज्जपराभवयो निवारके आत्मतत्त्वविचारे कथमयं मानवो न प्रवर्तते ? इत्यपेक्षायां — भक्त्यादिसाधनसामग्र्यभावेन योग्यताविरहात्-मोहादिप्रतिरोधस्य विद्यमानत्वाच्च तद्विचारे बहिर्मुखमानवस्य प्रवृत्तिर्न जायते इत्याह – प्रीतिर्न यावदिति । यावत् — पर्यन्तं मयि वासुदेवे = सगुणे निर्गुणे स्वप्रकाशपरमानन्दस्वरूपे भगवति – 'सगुणो निर्गुणः स्वदृक्' (भा० ३ । ३२ । ३६) 'केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः ।' (भा० ७ । ६ । २३) इति प्रामाण्यात् । मानवस्य सत्संगादिद्वारा भक्तिलक्षणा प्रीतिर्न जायते, तावत्पर्यन्तं संसाराद्वैराग्यो भगवदनुग्रहश्च न सिद्ध्यति । ताभ्यां विना तत्त्वदर्शिज्ञानिसद्गुरुलाभोऽपि न संपद्यते । तं विना यथार्थशास्त्रविचारो

दुर्लभः । तदभावादात्मतत्त्वसाक्षात्कारः कथं सिद्ध्येत् ? । तेन च विनाऽविद्या कथं निवर्तेत ? । अविद्या निवृत्तिं विना कर्मस्वभावस्य मनसोऽभावः कथं स्यात् ? । तेन विना देहयोगेनाहंममाध्यासलक्षणेन न विमुच्यते । तथा च परंपरया भगवद्भक्तिरेव सर्वसाधनानामभ्यर्हितं मूलम् । अत एवात्मतत्त्वसाक्षात्काराय तत्प्रतिबन्धकमोहादिकल्मषनिरासाय च भगवद्भक्तिरेव सम्पादनीयेति यावत् । तथा चाभिहितं श्रीमद्भागवते षष्ठेऽपि – 'वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्वहतां नृणाम । ज्ञानवैराग्यवीर्याणां नेह कश्चिद् व्यपाश्रय ॥' (भा० ६ । १७ । ३१) इति । वासुदेवे भगवति भक्तिं संपादयतां मानवानां हृदये भगवदनुग्रहतः प्रथमं सर्वतो वैतृष्ण्यलक्षणस्य वैराग्यस्य वीर्यं बलं संपद्यते, ततो ज्ञानस्य = प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मात्मतत्त्वविषयकसाक्षात्काररूपस्य वीर्यञ्च संपद्यते, तथा च ज्ञानवैराग्यवीर्याणां मानवानां कृतेऽस्मिन् संसारे कश्चिदप्यर्थो विशेषेणाहंममतयाऽऽश्रयः = आश्रयणीयो न विद्यते । ज्ञानेन तन्मूलाविद्यायाः निवृत्तत्वादिति भावः । सति चैवं – भगवत्पादेनाचार्यप्रवरेण श्रीशंकरेणाऽपि भगवद्भक्ते र्माहात्म्यमेतादृशमुक्तम् — 'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।' (वि० चू०) इति ।

—❀—

(३५)

(ब्रह्मविद्वरिष्ठाय कैवल्यपतये निर्द्वन्द्वाय लोकमुद्धर्तुमभयविशुद्धात्मस्वरूपोपदेष्ट्रे भगवते ऋषभदेवायावधूतवेषाय नमः) (१)

भगवान् ऋषभः पुत्रान्निमित्तीकृत्य लोकान् सर्वान् तत्कल्याणायेत्थमुपदिशति – ऋषभ उवाच — 'नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये । तपो दिव्यं पुत्रकाः ! येन सत्त्वं शुद्ध्येद् यस्माद्ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥ महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां संगिसंगम् । महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥' (२) (भा० ५।५।१-२)

(३५)

(१) (ब्रह्मविद् वरिष्ठ कैवल्यपति निर्द्वन्द्व लोगोंके उद्धारके लिए अभय विशुद्ध आत्मस्वरूपका - उपदेष्टा अवधूतवेष भगवान् ऋषभदेवको नमस्कार)

(२) ऋषभदेव जीने कहा— पुत्रो ! इस मृत्युलोकमें यह मनुष्य शरीर दुःखमय - विषयभोग प्राप्त करनेके लिए ही नहीं है । ये भोग तो विष्ठाभोजी सूकर

इति। अयमर्थः — तत्र तावत् — अप्रतारणां सूचयन् स्नेहेन संबोधयति — हे पुत्रकाः ! कृपायां कन् प्रत्ययः, कृपाविषयत्वाद्युष्मानहमुपदिशामि। तत्रादौ विवेकविचारशीलेन मुमुक्षुणा शब्दादिविषयासक्तिः उत्कृष्टं तप आस्थायावश्यं वर्जनीयेत्याह — नृलोके = मनुष्यलोके, देहभाजां = देहधारिणां प्राणिनां मध्येऽयं सर्वोत्कृष्टो मनुष्यदेहः कष्टान् = कष्टहेतुत्वेन निन्दितान् कामान् = विषयभोगान् नार्हते = तद्योग्यो न भवतीत्यन्वयः। तेषां निन्दितत्वमेव दर्शयति – विड्भुजां = श्वशूकरादीनामपि ये कामाः सन्तीति विषयासक्तौ मनुष्यदेहस्य श्वशूकरादितुल्यत्वं स्यात्तेभ्यो न किमपि वैशिष्ट्यं स्यादिति भावः। तर्हि मनुष्यदेहः किमर्हति ? तत्राह – तप इति। दिव्यं = उत्कृष्टमसाधारणं तपोऽर्हति। येन तपसा सत्त्वं = अन्तःकरणं शुद्ध्येत्। यस्माच्च शुद्धात् सत्त्वाद् अनन्तं = अविनाशि—अपरिच्छिन्नं ब्रह्मसौख्यं = ब्रह्मानन्दः संपद्यते। त्विति निश्चितमेवैतन्नात्र संदेह इत्यर्थः। अत्र तपसि दिव्यविशेषणेन–अनाहार-वर्षाऽऽतपसहनकाष्ठमौनादिरूपं केवलं वृक्षपश्वादिसाधारणं कायकष्टमयं तपो नोपदिश्यते, किन्तु यद्वृक्षपश्वादिदेहेन न संपादयितुं शक्यते, तदेवानन्यसा-धारणं मनुष्यदेहेनैव लब्धुं शक्येत, तदेव दिव्यं = अप्राकृतं — तपः - भगवत्सम्बन्धि – भगवद्वचनस्तवजपध्यानादिरूपं - मनसश्चेन्द्रियाणामैका-ग्र्यप्रयोजकं विवक्षितम्। यद्वा भगवद्गीतोक्तं – कायिकादिदेवादिपूजनशौच-ब्रह्मचर्याहिंसादिलक्षणं त्रिविधं तपः मनुष्यत्वज्ञापक परिग्रहीतम्। मनुष्यदेहा-देवोद्धारोऽधःपातश्च भवतीति तयो मोक्षबन्धयोः कारणमपि मनुष्यदेहेऽस्ती-त्याह – महत्सेवामिति। महतां सेवां संसारतत्कारणाविद्याविमुक्ते द्वारमाहुः शिष्टा इति शेषः। तथा योषितां ये संगिनो विषयासक्ताः कामक्रोधादिपरायणा भगवद्विमुखाः सन्ति, तेषां संगं तमसः = अविद्याकार्यस्य दुःखमयसंसारस्य द्वारमाहुरित्यनुषंगः। के ते महान्तः ? येषां संगो मोक्षहेतुरित्यपेक्षायां तेषां लक्षणमाह – ते महान्तो विज्ञेयाः, ये समचित्ताः सन्ति, समे = निर्दोषेऽद्वये ब्रह्मणि चित्तं येषां ते, सर्वत्राभेदब्रह्मदर्शिनः, 'येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥' (गी० ५। १९) इति गीतास्मृतेः। साम्ये = समत्वे सर्वभूतेषु विषमेष्वपि वर्तमानस्याद्वयस्य ब्रह्मणः समभावे

कूकरादिको भी मिलते ही हैं। इस शरीरसे दिव्यतप ही करना चाहिए, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो, क्योंकि - इससे अनन्त ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है। शास्त्रोंने महापुरुषोंकी सेवाको मुक्तिका और स्त्रीसंगी कामियोंके संगको नरकका द्वार बताया है। महापुरुष वे ही हैं, जो समान चित्त, परमशान्त क्रोधहीन सबके हितचिन्तक, और सदाचार सम्पन्न हों।

स्थितं = निश्चलं, समं = एकमद्वयं निर्दोषं = निर्विकारं च ब्रह्म, तस्मात्ते समदर्शिनो ब्रह्मण्येव स्थिताः इत्यर्थः । यद्वा समः = मा — लक्ष्मीस्तया सह वर्तमानो नारायणस्तत्र चित्ताः, साकारभगवति श्रीनारायणे संलग्नचित्ता इत्यर्थः । एतेन– अद्वयब्रह्मोपासकत्वेन साकारभगवदुपासकत्वेन च महत्तां द्वैविध्यमभिहितम् । पुनः कीदृशास्ते ? प्रशान्ताः = प्रशमादियुक्ताः – रागद्वेषनिवृत्तिलक्षणप्रशान्तियुक्ताः, यद्वा प्रकृष्टं शं = शान्तिसुखं भवति येन स प्रशः = एकत्र एकदा च वर्तमानो भक्तिवैराग्यज्ञानत्रिकयोगः, 'त्रिक एककालः' (भा० ११ । २ । ४२) इति प्रामाण्यात् । तत्रान्तः = निष्ठालक्षणो दृढनिश्चयो येषां ते प्रशान्ताः – अर्थतः कामादिदोषरहिताः विशुद्धस्वान्ताः, अत एव विमन्यवः = कामस्य क्रोधादिहेतुत्वात्तद्राहित्येन क्रोधरहिता इत्यर्थः । अत एव सुहृदः = सर्वेषां नैरपेक्ष्येण हितचिन्तकाः, साधवः = पुरुषार्थसाधनदक्षाः सदाचारनिष्ठा इत्यर्थः ।

एवं साधारणमानवानां कृते विषयासक्तिनिवारकं मोक्षप्रयोजकं महत्सेवनमभिधाय-भगवान् ऋषभ उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां कृते भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममप्युपशिक्षयति । पश्चात् - स्वयन्तु उर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेशः– 'जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषो गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव ।' (भा० ५ । ५ । २९) 'स्वमहिमावस्थानेनासमारोपिताहंममाभिमानत्वादविखण्डितमनाः पृथिवीमेकचरः परिबभ्राम ।' (भा० ५ । ५ । ३०) 'भगवान् कैवल्यपति ऋषभोऽविरतपरममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेवे आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि नाभ्यनन्दत् ।' (१) (भा० ५।५।३५) इति । अयमर्थः – 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः ।'

(१) वे ऋषभदेवजी सर्वथा मौन हो गये थे, कोई बात करना चाहता तो भी बोलते नहीं थे । जड़, अंधे, बहरे, गूंगे, पिशाच और पागलोंकी चेष्टा करते हुए वे अवधूत वेषसे जहां तहां विचरते भ्रमसे सत्य कहे जानेवाले इस मिथ्या - शरीरमें उनकी अहंता ममता तनिक भी नहीं थी । वे कल्पित कार्यकारणरूप सम्पूर्णद्वैत प्रपंचके साक्षी होकर अपने परमात्मस्वरूपमें ही स्थित थे, इसलिये अखण्ड ब्रह्माकार चित्तवृत्तिवाले हुए, वे अकेले ही पृथ्वीपर विचरते थे । परीक्षित् ! परमहंसोंको त्यागके आदर्शकी शिक्षा देनेके लिए इसप्रकार मोक्षपति भगवान् ऋषभदेवने कई तरहकी योगचर्याओंका आचरण किया । वे निरन्तर सर्वश्रेष्ठ महान् व्यापक आनन्दका अनुभव करते रहते थे । उनकी दृष्टिमें निरुपाधिकरूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा अपने आत्मस्वरूप भगवान् वासुदेवसे किसी प्रकारका भेद नहीं था । इसलिये उनके सभी

(कै० १ । २) 'त्यजतैव तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम् ।' (महाभारत) 'अत्रैव मृग्यः पुरुष नेति नेतीत्यतत् त्यजन् ।' (भा० ७ । ७ । २३) इति श्रुति स्मृतिभागवतेभ्योऽवगतात् ज्ञानलाभस्य मुख्यसाधनात् सर्वत्यागात् उर्वरितः = अवशिष्टः शरीरमात्रमेवाभासमात्रतयाऽवशिष्टं परिग्रहो यस्य सः, वस्तुतः शरीरेऽपि तस्मिन् अहंममाभिमानाभावेन स्वस्वरूपभूते पूर्णाद्वये ब्रह्मण्येव विलीनचित्ततया बाह्यार्थानुसन्धानाभावात् उन्मत्त इव संजातः, अत एव गगनमेव परिधानं = आच्छादकं वस्त्रं यस्य सः, अर्थात् सर्वथा नग्नः, प्रकीर्णाः केशा यस्य सः, केशबन्धनेऽप्यनुसन्धानरहितः, जडवत् अन्धवत् मूकवत् बधिरवत् पिशाचवत् उन्मादकवच्चावधूतस्येव पांस्वादिनाऽवगुण्ठितो वेषो यस्य सः, जनानां मध्ये जडादिवद्वर्तमानस्तैर्भाष्यमाणो वाच्यमानोऽपि गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीमेव बभूव । स्वमहिम्नि अनन्तानन्दनिधौ पूर्णाद्वये स्वस्वरूपे ब्रह्मण्येवावस्थानं, तेन 'मुक्ति र्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।' (भा० २ । १० । ६) इति प्रामाण्यात्, एतस्मिन् - कार्यकारणसंघाते शरीरेऽनारोपितः = अनध्यस्तः-अहंममाभिमानो येन सः, तत्त्वात्, तत्रात्यन्ताविवेकिनां तत्राहमित्यभिमानः पृथगात्मविवेकवतामपि तत्र च ममेत्यभिमानः, ब्रह्मणि स्वस्वरूपेऽहमिति भावनायाः दार्ढ्यात् तयोस्तत्र तस्य सुतरामभावः संगच्छते । अत एव सः-ऋषभः, अविखण्डितमनाः = अक्षुभितचित्तः सन् एकचरः सन् पृथिवीं = इमां महीं परिबभ्राम । यतः सो भगवान्, अतः, अविरतः = निरन्तरः परममहान् - निरतिशयो निरवच्छिन्नो निर्विशेषो निर्विषयो यः 'ते ये शतं ··· तेये शतं ··· श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' (तै० उ० २ । ७ । १) 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २ । ६ । १) इत्यादिश्रुतौ उत्तरोत्तरशतगुणत्वेनोक्तो गणनातीतोऽनन्तः स्वस्वरूपतया विज्ञात-आनन्दः तदनुभवस्वरूपे, आत्मनि, अपरिच्छिन्नत्वं द्रढयन्नाह – सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेवे अव्यवधानेन = अभेदेन, न विद्यतेऽन्येषामिवान्तरा = मध्ये उदरस्य = स्वल्पस्यापि देहाद्युपाधेर्भावस्तेन, नित्यनिवृत्तोपाधित्वेनेत्यर्थः । अत एव स कैवल्यपतिः स्वयं कैवल्यब्रह्मनिर्वाणमोक्षभूतः सन् अन्येषामपि मोक्षदाता स्वत एव सिद्धैः समस्तैरर्थैः = फलैः परिपूर्णत्वात् योगै-

---

पुरुषार्थ पूर्ण हो चुके थे, उनके पास आकाशगमन, मनोजवित्व (मनकी गतिके समान ही शरीरका भी इच्छा करते ही सर्वत्र पहुंच जाना) अन्तर्धान, परकायप्रवेश (दूसरे के शरीरमें प्रवेश करना) दूसरेकी बातें सुन लेना और दूरके दृश्य देख लेना आदि सब प्रकारकी सिद्धियां अपने आप ही सेवा करनेको आयीं, परन्तु उन्होंने उनका मनसे आदर या ग्रहण नहीं किया ।

ऐश्वर्याणि = आकाशगमनान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरदर्शनाणिमामहिमादीनि नाभ्यनन्दत् यतस्तेन ऋषभेण योगमाया तत्प्रयोजिता विविधाः सिद्धयश्चावस्तुत्वेन मिथ्यात्वभावनया परित्यक्ताः । इत्येवंभूतस्य ऋषभदेवस्य भगवदवतारस्य महान्तं महिमानमनुसंधाय तत्स्वरूपतदुपदेशवर्णनपुरस्सरं तं श्रद्धया नमस्करोति—

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः,
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः ।
लोकस्य यः करुणयाऽभयमात्मलोक-
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥ (१)

(भा० ५ । ६ । १९)

यो भगवान् ऋषभः, लोकस्य = मनुष्यलोकस्याभयं = ज्ञातं सत्-परिशीलितं सत् संसारोल्बणभयनिवर्तकं - आत्मलोकं = आत्मा चासौ लोकः = स्वयंप्रकाशानुभवस्वरूपः, लोकृ दर्शने स्मरणात् । तं - आत्मतत्त्वं करुणयाऽऽख्यात् = उपदेशेन स्वनिष्ठया च प्रकटितवान् तस्मै भगवान् ऋषभाय नम इत्यन्वयः । केवलं कृपयैवाख्यातवान् न तत्र किञ्चित्तस्य स्वार्थमस्तीत्यभिप्रायेणाह - नित्येति । नित्यं = सर्वदा अनुभूतं = साक्षात्कृतं यन्निजं = पूर्णानन्तानन्दाद्वयब्रह्मस्वरूपं स एव लाभस्तेन निवृत्ता तृष्णा यस्य सः । ब्रह्मसाक्षात्कारातिरिक्तलाभस्यानभ्युपगमात्-साक्षात्कार एव लाभोऽत्राभिप्रेतः । लोकस्य कृपाविषयत्वे हेतुमाह - श्रेयसीति श्रेयसि = आत्मानुभवे तत्साधने भक्तिवैराग्यादिरूपे च, अतद्रचनया = तत् - आत्मा तद्भिन्नोऽविद्याकल्पितो देहगेहादिलक्षणः संसारः । तदर्था या रचना = इष्टानिष्टभावपूर्वकरागद्वेषादिलक्षणो लौकिको व्यवहारः, तया चिरं = बहुकालतः सुप्ता = लुप्ता बुद्धिर्यस्य तस्येत्यर्थः ।

(१) निरन्तर विषय भोगोंकी अभिलाषा करनेके कारण अपने वास्तविक श्रेयसे चिरकाल तक बेसुध हुए लोगोंको जिन्होंनें करुणावश निर्भय आत्माका उपदेश दिया, और जो स्वयं निरन्तर - ब्रह्माद्वयरूपसे अनुभव होनेवाले आत्मस्वरूपकी प्राप्तिसे सब प्रकारकी तृष्णाओंसे मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेवको नमस्कार है ।

(अविद्याकल्पितं निखिलं पृथ्व्यादिद्वैतजातं जगत् मिथ्यैव, एकमद्वयं ज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं विशुद्धं ब्रह्मैव सत्यमिति जडभरतस्यायमुपदेशः) (१)

अत्रेदं महाभागवतस्य ऋषभदेवज्येष्ठपुत्रस्यावनिपते भरतस्याख्यानं प्रस्तूयते – यत आरभ्याजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति नाम्ना कथयन्ति तस्य महामहिम्नः, प्रख्य पनाय सर्वे जनाः। स हि पंचजनीं विश्वरूपदुहितरं भार्यात्वेन विवाहितवान्। तस्यां किल स्वानुरूपान् पञ्च पुत्रान् जनयामास। स हि धर्मप्राणो राजा वात्सल्येन स्वप्रजाः परिपालयनपि विधिवत् यज्ञदानादिभि र्निष्कामभावमास्थाय भगवन्तं वासुदेवमेव प्रसादयितुं स्वान्तं विशुद्धं चकार। ततस्तस्य विशुद्धसत्त्वस्य ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे ❀ श्रीवत्सकौस्तुभवनमालाऽरिदरगदादिभिरुपलक्षिते दिव्यतमे मनोहरे साकारविग्रहे भक्तिरनुदिनमेधमानरयाऽजायत। एवं वर्षायुतसहस्रपर्यन्तं राज्यभोगं शुभकर्मानुष्ठानं भगवद्भक्तिश्च विधाय तद्राज्यभोगादुपरतः सन् स्वतनयेभ्यस्तद्राज्यधनं यथायोग्यं विभागेन दत्वा स्वयं सकलसंपदामालयात् स्वनिकेतनात् पुलहाश्रमं हरिक्षेत्रं जगाम। यत्र किल भक्तस्नेहपरवशो भगवान् श्रीहरिः अद्यापि तत्रत्यानां भक्तानां कृते तदपेक्षितरूपेणाविर्भवति। यस्मिन् पवित्रे क्षेत्रे गण्डकी नाम सरित्प्रवरा शालग्रामनदी प्रवहति। तदुभयतटे तत्पावनजलेन परिपूता महाभागानामृषीणां मनोरमा आश्रमा वर्तन्ते। तस्मिन् हि पुलहाश्रमस्योपवने प्रशान्तस्थले स एकल एवोपरतविषयाभिलाषः संवृद्धोपशमः सन् विविधकुसुमकिसलयतुलसिकाम्बुभिः कन्दमूलफलोपहारैश्च ० भगवतो वासुदेवस्य समाराधनं समीहमानः परमानन्दमवाप। एवं निजरमणस्य स्वनिष्ठोत्कटप्रीतिदातु र्भगवतः श्रीविष्णो र्दिव्यचरणारविन्दयोरजस्रं ध्यानात् प्रवृद्धेन

(३६)

(१) (अविद्या – कल्पित निखिल – पृथिव्यादि – द्वैतसमुदायरूप जगत् मिथ्या ही है, एक – अद्वय - ज्ञान आनन्द - अनन्तस्वरूप - विशुद्ध ब्रह्म ही सत्य है, ऐसा जड़ भरतका यह उपदेश)

❀ श्रीवत्सः = रोमावर्तविशेषः, कौस्तुभाख्यो मणिः, वनमाला = अनेकवर्णपुष्पग्रथिता, अरिः = सुदर्शनं चक्रं, दरः = शंखः, गदा = कौमोदकी।

० किसलयाः = कोमलपल्लवाः, उपहाराः = नैवेद्यानि।

भक्तियोगेनास्य स्वगम्भीरहृदयह्रदे प्रकटितपरमाह्लादे बुद्धिर्निमग्ना संजाता । परमौत्कण्ठ्यप्रवृत्तैः प्रेमाश्रुभिरस्य नयने संरुद्धे, प्रहर्षवेगेन च स्थूलदेहे रोमपुलकावलिरजायत । इत्थं धृतयमनियमार्चनस्तवनजपादिभगवद्व्रतः सन् कृष्णाजिनवाससा त्रिकालस्नानेनार्द्रकपिशकुटिलजटाकलापेन च विरोचमानः सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं सूर्यमण्डलाधिष्ठितं देवमभिष्टुयमान एतदुवाच – 'परोरजः सवितुर्जातवेदो देवस्य भर्गो मनसेदं जजान । सुरेतसाऽदः पुनराविश्य चष्टे हंसं गृध्राणं नृषद्रिंगिरामिमः ॥ (१) (भा० ५।७।१४) इति । परोरजः = रजसः = त्रिगुणात्मिकायाः प्रकृतेः परं – नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावकं, सवितुः = सूर्यमण्डलाधिष्ठितस्य चराचरप्रसवादिकर्तुः देवस्य = सर्वत्र द्योतमानस्य भर्गः = परमार्थस्वरूपभूतं चैतन्यात्मकं - अविद्यादिकल्मषभर्जकं - अभौतिकं तेजः तत्तादृशं वयं इमः = शरणं व्रजाम इत्यन्वयः । 'इण् गतौ' धातोरुत्तमपुरुषस्य बहुवचनमिम इति । यद्वा गते र्ज्ञानार्थतया तद्भर्गो वयं इमः = ज्ञानध्यानाभ्यामभेदेन स्वात्मतयाऽनुभवाम इत्यर्थः । 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' इति गीतास्मरणात् । (गी० १३ । २४) तस्य तेजसो भगवद्रूपत्वाज्जगत्कर्तृत्वमाह – यत् – तेजः, मनसा = अविद्याकल्पितस्य मनसः संकल्पमात्रेणेवेदं = नामरूपात्मकं विश्वं जजान = ससर्जेत्यर्थः । एतेन मनः कल्पितत्वं जगतः सूचितम् ।' विभ्रममिदं मनसो विलासं दृष्टं विनष्टमतिलोलं ।' (भा० ११।१३।३४) 'मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत् किञ्चित् सचराचरम् ।' (गौडपादका० ३ । ३१) इति च प्रामाण्यात् । तेजसः कारणत्वन्तु तदधिष्ठानत्वमात्रेणोपचर्यते । तदुक्तं – 'अधिष्ठानं विवर्तानामाश्रयो ब्रह्म शुक्तिवत् । जीवाविद्यादिकानां स्यादिति सर्वमनाकुलम् ॥' (वेदान्तकल्पतरुः ब्र० सू० १ । २ । ८) 'अज्ञातं नटवद्ब्रह्म कारणं शंकरोऽब्रवीत् । जीवाज्ञातं जगद्बीजं जगौ वाचस्पतिस्तथा । ' (२) (वेदान्तकल्पतरुः ब्र० सू० २ । १ । १६) इति ।

(१) भगवान् – सूर्यका कर्मफलदायक वरेण्य - भर्ग तेज, प्रकृतिसे परे है । उसीने सङ्कल्पद्वारा इस जगत्की उत्पत्तिकी है । फिर वही अन्तर्यामीरूपसे इसमें प्रविष्ट होकर अपनी चित् - शक्तिद्वारा विषयलोलुप जीवोंकी रक्षा करता है हम उसी बुद्धिप्रवर्तक - तेजकी शरण लेते हैं । यानी उस तेजका हम ध्यान करते हैं ।

(२) सितके समान जीव - अविद्या - आकाशादि विवर्तोंका आश्रय अधिष्ठान ब्रह्म है, ऐसा मानने पर सब कुछ अनुकूल होजाता है । अज्ञात नटके समान अज्ञात ब्रह्म ही जगत्का कारण है, ऐसा आचार्य शंकरने कहा—तथा भामतीकार वाचस्पतिने जीवोंसे अज्ञात ब्रह्म ही जगत्का कारण है, ऐसा कहा ।

नटो हि द्रष्टृभिरविज्ञातनिजरूप एव तत्तदभिनेयासत्यरूपतां प्रतिपद्यते । एवं जीवैरविज्ञातं ब्रह्मासत्यवियदादिप्रपञ्चाकारतां प्रतिपद्यत इति दृष्टान्तोक्त्या वाचस्पतिमतं भाष्याभिमतं निश्चीयत इत्यर्थः । पालकत्वमाह–जातवेद इति । जातं = प्रवर्तितं वेदः = धनं तत्तत्कर्मफलात्मकं यस्मात्तत्-कर्मफलप्रवर्तकमित्यर्थः । साक्षाद्दर्शनकर्तृत्वलक्षणं साक्षित्वमप्याह – सुरेतसा = चिच्छक्त्या = अविपरिलुप्तयाऽविनाशिज्ञानदृष्ट्या पुनः, अदः = सृष्टं - विश्वं चराचरमखिलं आविश्य = प्रविश्य 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।' (तै० २ । ६) इत्याम्नानात् गृध्राणं = विषयसुखमाकांक्षंतं 'गृधि अभिकांक्षायां' स्मरणात् । हंसं = जीवात्मानं विचष्टे = पश्यत्येव केवलमित्यर्थः । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति ।' (मु० ३।१।१, ऋ० १।१६४।२०) इत्याम्नानात् । विश्वप्रेरकत्वलक्षणमन्तर्यामित्वं – 'धियो यो नः प्रचोदयात् ।' इतिश्रुतिसिद्धमप्याह – नृषदिति । नृषु – प्राणिषु सीदन्ति = उपाधितया तिष्ठन्तीति नृषदः = बुद्धीन्द्रियप्राणादयस्तेषां रिंगिं = गति-प्रेरणालक्षणां राति = ददातीति नृषद्रिंगिरं तत्, 'वा छन्दसि' इत्यमि पूर्वरूपत्वाभावः, 'दीर्घाज्जसि इचि च' पूर्वसवर्णदीर्घो वा स्यात् । मन्त्रोऽयं गायत्रीभावार्थ-प्रतिपादकतया तत्सहोदरः प्रत्येतव्यः ।

एकदा तु स राजा भरतो महानद्यां गण्डक्यां स्नानं कृत्वाऽवश्यकर्तव्यं संध्योपासनप्राणायामतर्पणादि कर्म च समाप्य ब्रह्मैकाक्षरस्य प्रणवस्य 'ॐ' इति मन्त्रस्य श्रद्धयैकाग्र्येण च जपं कुर्वाणस्तस्या नारायण्या नद्यास्तीरे मुहूर्त-त्रयमुपविवेश । तत्र पिपासाकुला स्वगणाद्वियुक्तैकाकिनी काचन गर्भवती हरिणी जलपानेच्छयोपजगाम । तयाऽत्यासक्त्योदके पीयमाने सति तत्-क्षणमेव नातिदूरेऽपि तु समीप एव गर्जतो मृगपतेः सिंहस्य भयङ्करो महान् नादः समुद्गतः । तमुपश्रुत्य सा मृगवधूः स्वभावतो व्याकुलचित्ता चकित-निरीक्षणाऽपि, सिंहभयस्याभिनिवेशेन विशेषतो व्यग्रहृदया परिभ्रान्तनेत्रा च बभूव । तस्याः तृषा यद्यप्यनपगता, तथापि सा सिंहात्स्वरक्षणेच्छया तद्गुरुभयेन च सहसैव नदीमुच्चक्राम । तस्या उत्पतन्त्या गर्भिण्याः कृष्णसारमृगवध्वाः प्रभूतभयाद्विगलितो योनिमार्गान् निर्गतो गर्भो नद्यास्तस्मिन् प्रवाहे निपपात । गर्भपातनद्युल्लंघनभूरिश्रमोत्कटभयैश्चातिपीडिता स्वगणाद्वियुज्यमाना सा हरिणी कस्यांचित् गिरिगुहायां गत्वा सद्यो ममार । तं सद्यो जातं हरिण-बालकमतिसुकुमारं प्रवाहेणानूह्यमानं पित्रादिबन्धुभिस्त्यक्तं मृतमातरञ्चात एव दीनं-रक्षणविहीनमभिवीक्ष्यानुकम्पया वशीभूतो राजर्षि भरतः-आदाय स्वाश्रमस्थलमनयत् । तस्मिन् मृगबालके विहितनिजीयाभिमानस्य प्रतिदिनं

❀ तत्पोषणपालनलालनप्रीणनानुध्यानादिभिस्तस्यैकैकशो यमनियमार्चनजपध्यानादीनि साधनानि वियुज्यमानानि कतिपयेन अहर्गणेन सर्वाण्येवोत्सन्नानि बभूवुः । ° अहो बतायं मृगशिशुः ईश्वरकालचक्रपरिभ्रमणवेगवशात् स्वबन्धुभिः परिवर्जितः सन् मामेव शरणमुपसादितः । अतो मामेव मातापितरौ भ्रातृज्ञातींश्च मत्वा मदन्यं कञ्चनापि न जानाति । अतो मय्येवास्य कृतातिविश्वासस्य मत्परायणस्य मया शरण्योपेक्षादोषविदुषा पोषणादिकमवश्यमेवानुष्ठेयम् । अतो नूनं शिष्टाः साधवो दीनहीनेषु दयालवः, एवंविधे परोपकारप्रसंगे प्राप्ते सति स्वकीयान् महतोऽपि स्वार्थानुपेक्ष्य परोपकारमेव कुर्वन्ति । यदाह – 'परोपकृतिकैवल्ये तोलयित्वा जनार्दनः । गुर्वीमुपकृतिं म वा ह्यवतारान् दशाग्रहीत् ॥' (१) इति । इत्येवं तस्मिन् मृगशावके समासक्ति कृत्वा तेन सह प्रभूतस्नेहानुबद्धहृदय आसीत् । यदाऽरण्यात् कुशकुसुमकन्दमूलफलाद्याहर्तुमिच्छति, तदा तत्रत्य वृकादिभ्यो हिंस्रेभ्यो भयमाशङ्कमानः सन् तं हरिणशिशुमादायैवारण्यं प्रविशति । यदा च बाल्यस्वभावेन तत्तन्मार्गेऽसौ मृगशिशुः श्रमात् स्थितो भवति, तदा तस्मिन अतिशयितप्रणायपारवश्येन तं स्वस्कन्धेनोद्वहति । एवं तमतिस्नेहेन स्वोत्सङ्गादिषु संस्थाप्य पौनः पुन्येन लालयन् परमां मुदमवाप्नोति । यदाहि भगवद्वचनादिक्रियायां क्रियमाणायामपि तन्मध्येऽप्युत्थायोत्थाय यदैनं मृगशिशुं प्रेम्णा सम्यक् पश्यति, तदा स भारतखण्डाधिपती राजर्षिभरतस्तस्मै हे वत्स ! ते सर्वतः स्वस्ति भूयादित्याशिषः प्रार्थयते । यदा हि मृगस्य चांचल्यस्वभावात् स स्वस्थानात्कदाचिद्विनिर्गतो भवति, तदा तस्यादर्शनसमये तद्विरहेण 'यथा कश्चन कृपणो धनं प्राप्य पुनस्तस्मिन् विनष्टे सति प्रभूतमुद्वेगं प्राप्नोति' तथा तस्य मनो नितरां समुद्वेगमधिगच्छति ।

अहो बत स वै मृतहरिणीसुतो दीनोऽन्यत्रगतो मम वञ्चनशीलक्रूरमतिमतो दुर्जनस्य शाठ्यादिकमगणयन् सुजन इव मयि विश्वासं कृत्वा सद्यः किमागमिष्यति ? । अपि च ममाश्रमस्योपवनेऽस्मिन् भगवता सुरक्षितो

(१) परोपकार और कैवल्य मोक्ष इन दोनोंको तोल करके जनार्दन-विष्णुने उपकारको ही वजनदार मानकर तथा उसकी अपेक्षा मोक्षको हलका मानकर दश अवतारोंको धारण किया ।

❀ पोषणं = तृणादिदानं, = पालनं = वृकादिभ्यो रक्षणं, प्रीणनं = कण्डूयनादिना प्रीतिजननं, लालनं = चुम्बनादिना ।

° अहो = आश्चर्ये, बत = खेदे ।

वृकादिबाधारहितश्च सन् क्षेमेण कोमलतृणानि चरन्तं तं किमहं कदा द्रक्ष्यामि ? अपि चास्मिन् वृकादिहिंसकजन्तुव्याप्तेऽरण्ये कथं तस्य सुकुमारस्य क्षेमः सम्भवेदि ? ति मनसि शंकां विधाय स वितर्कयति – किं क्रूरस्वभावो वृकः शालावृको वाऽतिकोपनो व्याघ्रादि र्वा किमेनमनायासतः प्राप्तं न भक्ष-यिष्यतीति । एतस्मिन् भगवति सूर्येऽस्तं गन्तुं प्रस्थिते सत्यपि मम स मृतमृग-वधून्यासस्त्वद्यापि नागच्छति । यदा सर्वप्रकाशके सूर्ये विद्यमानेऽपि न स दृष्ट-स्तर्हि रात्रौ तद्दर्शनं कथं स्यादिति मे मनसि महान् खेदो जायते । अपिस्वित् कदाऽसौ हरिणराजकुमारो मत्समीपमागत्य स्वकीयविविधरुचिरदर्शनीयमृग-दारकविनोदै र्ममासन्तोषमपनुदन् मां सुखयिष्यति ।

सम्प्रति – तस्य मनोहरं चरितं स्मरन् स इत्थं प्रलपति – अयं हि मम प्रियतमो मृगशिशुः मृषासमाधिना निमीलितनेत्रं मामतिचकितः सन् प्रणय-कोपात् स्वकीयकोमलविषाणाग्रेण संघट्टयति । कदाचित् दर्भे स्थापितं हविस्तेन दन्ताकर्षणादिना दूषितमवलोक्य मयाऽधिक्षिप्तः सन् स सपद्यतिभीतः अत एव परित्यक्तक्रीडः संयतकरणकलाप ऋषिकुमारवदास्ते । एवं बहुधा प्रलापं कृत्वा स्वाश्रमाद्बहिर्निर्गत्य तत्खुरखातभूभागं दृष्ट्वा विह्वलहृदयः सन् इत्थं वदति – अहो येयं धन्याऽवनिः – अनया तपस्विन्या कि तप आचरितम् ? संयतेन्द्रियस्य कृष्णसारमृगतनयस्य तस्य स्वल्पशोभमानमङ्गलमयमृदुखुरवतां पादानां तत्र तत्रांकितानां पंक्तिभिः – असौ मृगतनय एव मम प्रभूतं द्रविणं तेन रहितोऽत एवाहं व्याकुलः संजातः, तस्य दीनस्य दुःखितस्य मम तन्मृग-रूपद्रविणान्वेषणमार्गं सूचयन्तीयं पृथिवी – भो दुःखिन् ! भरत ! किं रोदिषि ? अनेन खुरक्षुण्णेन मार्गेण वनं प्रविशन्तं स्वप्राणधनं मृगबालकं प्राप्स्यतीति मां कृपयाऽऽश्वासयन्ती सती – ताभिः पंक्तिभिरेव स्वस्मिन् मङ्गलमयीं शोभां सम्पादयन्ती -- स्वं यज्ञस्थानं करोति । 'यस्मिन् देशे मृगः कृष्णास्तस्मिन् धर्मा-न्निबोधत ।' इति स्मृतेः । धर्मान्-यज्ञादिरूपान्, आचरितुं विजानतेत्यर्थः । तावदेवोदिते चन्द्रे मृगलांछनं दृष्ट्वा तत्र स्वमृगत्वं सम्भावयन्नाह – अपिस्वित् – असौ भगवान तारानक्षत्राधिपतिश्चन्द्रः – मृतमातरं स्वाश्रमात् परिभ्रष्टं मृग-बालकमेनं दीनजनवत्सलः सन् अनुकम्पया सिंहस्य भयात् - स्वमण्डले संस्थाप्य परिपाति । चन्द्ररश्मिशीतलस्पर्शसुखमनुभूयाह – प्रियपुत्रभावेनाङ्गी-कृतस्य मृगपोतस्य वियोगेन जातो यो ज्वरसंतापः, स एव वनाग्निस्तस्य ज्वालाभिरुपतप्यमानहृदयं मां – अयं कृपालुश्चन्द्रः स्वकीयैः शीतलप्रशान्तसुख-करैः पुनः-पुनः स्रवद्भिरमृतमयैः किरणैः शान्तिसुखं गमयति किम् ? ।

एवं मृगापत्ये तस्य प्रभूतदुःखप्रयोजिका आसक्तिः स्वकीयदुष्टप्रारब्ध-कर्मप्राबल्यादेव जातेत्याह – भगवान श्री शुकः । एवं दुःसंपाद्यमनोरथेन

व्याकुलहृदयो राजर्षि भरतः - मृगतनयासक्तिमिषेण वस्तुतः स्वदुष्टप्रारब्धकर्मणा भगवदाराधनलक्षणात् योगानुष्ठानात् भ्रंशितः । अन्यथा - दुष्टप्रारब्धकर्मणो भ्रंशकत्वानङ्गीकारे - येन पूर्वं निःश्रेयसबाधकतया दुस्त्यजा हृदयाभिजाता औरसा पुत्राः परित्यक्ताः, तस्य आत्मचिन्तामकुर्वतो विजातीये तुच्छे मृगबालके साक्षात् पुत्रवत् आसक्तिः कथं स्यात् ?। एवं योगभ्रष्टस्य तस्य राजर्षे भरतस्योपायसहस्रैरनुल्लंधनीयोऽतितीव्रवेगः 'सर्प इवाखुबिलं प्राप्तः, अतिकरालो मृत्युसमयः समापद्यत । तदानीमपि - स्नेहवशात् विद्यमानमिव पार्श्ववर्तिनमात्मजमिवानुशोचन्तं मृगतनयमभिवीक्षमाणो मृग एवाभिनिवेशितमना यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं । तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥' (गी० ८ । ६) इति न्यायेन विसृज्येमं कलेवरं प्राकृत इव मृगशरीरमवाप । तथापि तस्य भगवदाराधनप्रभावेण मृगशरीरेऽपि पूर्वजन्मानुस्मृति र्न विनष्टा । तत्रापि हि स्वस्य मृगत्वकारणं मृगासक्तितद्भावनलक्षणमनुस्मृत्य स्वचित्ते भृशमनुतप्यमान आह–अहो महत्कष्टं मम संपन्नम् , संयमशीलानां विविक्तनिवासानां धीराणां मुनीनां निःश्रेयसमार्गादहं भ्रष्टो बभूव । येन मया प्राक् समस्ताः पुत्रादिसंगाः परित्यक्ताः, राज्यश्वर्ययथेच्छभोगोपकरणानि च मिथ्यात्वबुद्ध्या विहाय भगवदाराधनाय पवित्रं शान्तमरण्यं समाश्रितम् । एकाकी निःस्पृहो निर्ममो भूत्वा देहेन्द्रियादिसंघातं वशीकृत्य निखिलान्तरात्मनि परमप्रेमास्पदे परमानन्दनिधौ भगवति वासुदेवे तन्महत्त्वश्रवणेन तर्कपूर्वकविचारलक्षणेन मननेन चासंभावनादिप्रतिरोधं दूरीकृत्य विजातीयप्रत्ययान्तरव्यवधानशून्येन निदिध्यासनलक्षणेन महता प्रयत्नेन स्वकीयं मनः समावेशितमपि–तदज्ञानमिथ्यालक्षणमौढ्यादेव तस्मिन् तुच्छे मृगतनये समासक्तं बभूव । अहो मम मौढ्यस्य सफलं प्राबल्यम् ?। इत्येवं तस्य मृगशरीरे प्रच्छन्नो निर्वेदो जातः । अतो मातरं स्नेहवतीं हरिणीं, स्वमृगशरीरजन्मस्थानं, कालंजरपर्वतञ्च विसृज्य त्रिवर्गविरक्तस्योपशमशीलस्य मुनिगणस्य प्रियं तमेव प्राक्परिचितं पुलहाश्रमं शालग्रामनदीमण्डितं भगवत्क्षेत्रं प्रत्याजगाम । तस्मिन् क्षेत्रे अस्मान्मृगशरीरात् कदा विमुक्तिसमय आगमिष्यती' त्येवं समयस्यैव प्रतीक्षां कुर्वाणो मृगसंगादेवमन्यस्यापि संगाद्भृशं समुद्विग्नः सन् अन्यसहचररहित एकलो भूत्वा शुष्कैरेव पर्णादिभिः शरीरनिर्वाहं कुर्वन् - भगवद्भक्त्यानेन तदनुग्रहेण च मृगासक्तिजन्यदोषस्यावसानं संभाव्य पवित्रेण तीर्थोदकेनार्द्रं मृगशरीरमुत्ससर्ज ।

एवं मृगदेहत्यागानन्तरं कस्यचित् शमदमतपःस्वाध्यायसंतोषतितिक्षादिशुभगुणयुक्तस्याङ्गिरसगोत्रोत्पन्नस्य द्विजोत्तमस्य विप्रस्य शुभगुणवत्यां कनिष्ठायां भार्यायां स्त्रीपुरुषयुग्मरूपं मिथुनं समुत्पन्नम् । यस्तु तत्र पुमान्

आसीन्, तं परमभागवतं राजर्षिप्रवरं भरतमुत्सृष्टमृगशरीरमन्तिमशरीरेण विप्रत्वं गतमाहुः । तत्रापि– 'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् । तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ॥' (गी० ६ । ४२) इति न्यायेन कर्मबन्धविध्वंसकं – भगवद्गुणश्रवणस्मरणकथनं - भगवच्चरणारविन्दयुगलध्यानलक्षणं साधनजातं विशेषेण धारयन्, स्वजनसंगात् आत्मनः पुनर्योन्यन्तरसम्बन्धलक्षणं प्रतिघातमाशंकमानस्तस्मादत्यन्तमुद्विजमानो भगवदनुग्रहेण स्वपूर्वजन्मपरम्परावृत्तं स्मृत्वाऽशेषसंगपरिहाराय लोकस्योन्मत्त ° जडान्धबधिरस्वरूपेणात्मानं दर्शयामास ।

तत्रातो भरतचरितादुपदेशजातं संगृह्य तदुक्तं भवति–'भक्त्यैव भजतो विष्णुं तस्य कर्मान्तरायतः । एणरक्षाप्रसक्तस्य जामेणत्वं सूच्यते ॥ कृपयाऽपि कृतः संगःपतनायैव योगिनः । तस्मात्संगं परित्यज्य निःसंगः सर्वथा भवेत् ॥ दृढेनासंगशस्त्रेण मोहमूलं सवासनम् । अस्य संसारवृक्षस्य छित्त्वा गच्छेत् परं पदम् ॥' (१) इति ।

स पुत्रस्नेहानुबद्धमना विप्रः तस्योन्मत्तादिवद्वर्तमानस्यात्मजस्यापि गार्हस्थ्यानधिकारं मत्वा समावर्तनपर्यन्तान् - संस्कारान् - यथाशास्त्रोपदेशं कुर्वाणस्तमुपनीयोपनीतस्य च पुनः शौचाचमनादींस्तस्यानभिप्रेतानपि कर्मनियमान् – सम्यगशिक्षयत । अस्त्ययं नियमः – पितुः सकाशात् पुत्रेण शिक्षितेनैव भाव्यमिति । तथापि सो निखिलसङ्गभीतः सिद्धयोगी परमात्मनिष्ठो भरतः पितृसन्निधिस्थितोऽपि तच्छिक्षितं सर्वमसमीचीनमिव करोति स्म । एवमुपाकरणवेदव्रताद्यनन्तरं तस्मै जडभरताय पिता श्रावणादिमासेषु वेदान् अध्यापयिष्यन्-आदौ तावत् चतुरश्चैत्रादिमासान्-सह भूरादिव्याहृतिभिः प्रणवशिरः-सहितां सावित्रीं गायत्रीं अधीयमानमपि तदसमवेतरूपं-यथार्थत्ववर्जितं ग्राहयामास,

(१) भक्तिसे विष्णु भगवान्का भजन करनेवाले उस राजा भरतको प्रारब्धकर्मके अन्तरायसे मृगबालककी आसक्ति पूर्वक रक्षाकरनेमें तत्पर होनेवाले भरतको मृगत्वकी प्राप्ति हुई, यह सूचित करता है कि कृपाके द्वारा किया गया संग भी योगीके लिये पतनका हेतु होता है, इसलिये योगी सर्वथा संगका परित्याग कर निःसंग बने और इस संसार वृक्षको जो वासना सहित मोहरूपी मूल है, उसका दृढ़ असंग शस्त्र द्वारा छेदनकरके परमपदको प्राप्त हो जाय ।

° उन्मत्तः = भगवद्ध्यानलक्षणमदयुक्ततया सुखदुःखमानापमानशीतोष्णादिद्वन्द्वरहितः, जडः = देहाद्यनुसंधानरहितः, अन्धः = गुणदोषादिकं पश्यन्नपि तत्र रागद्वेषप्रशंसानिन्दाशून्यः, बधिरः = शुभाशुभश्रवणं कृत्वाऽपि तच्चिन्तनरहितः ।

अर्थात् तावताऽपि कालेन स्वरानुपूर्व्या युक्तं व्याहृत्यादि तस्य नागतमिति । एवमात्मत्वेनाभिमते तस्मिन् आत्मजे स्वात्मारामे जडभरतेऽनुरागावेशितचित्तोऽपि पिता विध्वस्तपुत्रपाण्डित्यलक्षणमनोरथः सन् प्राप्तकालेन स्वगृह एव मृतः । पितर्युपरते सति त्रय्यां विद्यायामेव कर्मकांडलक्षणायां पर्यवसितमतया न परविद्यायामक्षराद्वयब्रह्मविषयायां, तस्यात्मारामस्य ब्रह्मनिष्ठस्य निर्द्वन्द्वस्य प्रभावमजानानास्तद्भ्रातरोऽयं जडमतिरुन्मत्तोऽस्तीति निश्चित्य तदनुशासनहठाद्विनिवृत्ताः ।

स च स्वात्मारामो निर्द्वन्द्वो जडभरतः– 'न हि स्वात्मारामं * विषयमृगतृष्णा भ्रमयति !' इति न्यायेन - नीचैर्द्विपदपशुभिर्विवेकशून्यैर्मनुष्यैः – 'अयमुन्मत्तो जडो बधिरः' इत्येवं मत्वाऽभिभाष्यमाणो भवति, तदा प्रतिध्वनिवत्तदुक्तान्येव तदनुकूलानि वचनानि प्रभाषते, तैरेव यदा कर्माणि कार्यमाणो भवति, तदा परेच्छया तान्यपि करोति । विष्टितो ° वेतनतो याञ्चया यदृच्छया वा प्राप्तं न्यूनं वाऽधिकमन्नं, मिष्टं सरसं वा नीरसं कदन्नं वा देहनिर्वाहायैव भुंक्ते, न जिह्वादीन्द्रियप्रीतये । कथं तस्येन्द्रियप्रीतिरहितं भोजनादिविषयसेवनमित्याकांक्षायामाह– भगवान् - शुकः- 'नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्मलाभाधिगमः सुखदुःखयो द्वन्द्वनिमित्तयोरसंभावितदेहाभिमानः ।' (भा० ५ । ६ । ११) इति । नित्यः = त्रिकालाबाधितः सत्यः परमार्थभूतः, यतो निवृत्तनिमित्तः = संसारभ्रमणनिमित्ताऽविद्यामिथ्याज्ञानादिसम्बन्धरहितः, अत एव स्वसिद्धः = स्वयंप्रकाशः, विशुद्धः = देहेन्द्रियान्तःकरणाद्यध्यासरहितः, अनुभवः = चैतन्यघनः, आनन्दरूपश्च यः स्वात्मा, तस्य लाभः साक्षात्कारलक्षणः, एवंभूतोऽहमित्यपरोक्षं ज्ञानं तस्याधिगमः = प्राप्तिरस्ति यस्य सः । अत एव द्वन्द्वानि = सन्मानासदवमानशीतोष्णादीनि तन्निमित्तयोः = तद्धेतुकयोः सुखदुःखयोरप्यसंभावितः = अनारोपितो देहाभिमानो येन सः, यस्मादेवमिन्द्रियाद्यध्यासरहितस्तस्मान्नेन्द्रियप्रीतिनिमित्तं भोजनादिव्यवहारस्तस्येत्यर्थः ।

अत एव शीतोष्णवातवर्षेषु गवेन्द्रवृषभ इव वस्त्रकम्बलादिनाऽना-

* इष्टानिष्टशब्दरसादिविषया मृगतृष्णावत् प्रतिभासमाना अपि वस्तुतोऽस्तित्वशून्या, न भ्रमयन्ति = हर्षशोकादिरूपां विकृतिं न जनयन्तीत्यर्थः । जात्यभिप्रायतः प्रदत्तमेकवचनं व्यक्त्यभिप्रायतो बहुत्वेन परिणेयम् ।

° विष्टिः = प्रथमं मूल्यसंकेतमन्तरेणैव बलात् कर्म कार्यते, पश्चात् स्वेच्छया यत्किंचिद् दीयते, न वा दीयते, सा विष्टिः 'वेठः' इति गुर्जरभाषायाम् । वेतनं = मूल्यं, यदृच्छा = यांचादिप्रयत्नं विनैव ।

धृतदेहो दिगम्बरः सन् विशुद्धानन्दपूर्णहृदयत्वाच्चिन्ताविषादादिविकाररहितत्वाच्च पुष्टो दृढावयवश्च सन् भूस्थण्डिले शयनं करोति, तैलमर्दनस्नानादिराहित्येन संलग्नतद्रजोभिः 'रजसावृतो महामणि र्यथाऽनभिव्यक्ततेजा भवति' तथा यस्य ब्राह्मं तेजोऽभिव्यक्तं न भवति। कदाचिन्मलिनपटेनापि कटिमावृणोति, तस्य मलीनमुपवीतं दृष्ट्वा 'अयं ❀ ब्रह्मबन्धु द्विजातिरिति' निन्दितनामग्रहणेन तद्वास्तवस्वरूपानभिज्ञैर्दुर्जनैरेवमवमतोऽपि स निर्द्वन्द्वतया भूमि विचचार।

यदा तु स्वदेहनिर्वाहायान्येभ्यः कर्ममूल्येनाहारमपेक्षमाणो भवति, तदा लोकलज्जया स्वभ्रातृभिराहारप्रलोभनेन - स्वशालिक्षेत्रे कर्दमप्रक्षेपादिना केदारकर्मणि नियुक्तः सन तदपि कर्म करोति तथापि स आत्मनिष्ठत्वेन बहिर्वृत्त्यभावात् - ° समविषमन्यूनाधिकं न जानाति। भ्रातृभिर्दत्तान् ❀ कणपिण्याकफलीकरणकुल्माषस्थालीपुरीषादीन्यप्यमृतवद् भुंक्ते। एतेन - तस्य केदारकर्मणि समविषमादिज्ञानसत्त्वेऽपि कापट्यादेव तथा करोतीति कथं न स्यादिति निरस्तम्॥ स्वभोजनेऽपि वैषम्यज्ञानाभावेन कापट्ये न तथाकरणस्यासंभवात्।

अन्यदपि तस्यात्मारामत्वेन बहिर्वृत्तिराहित्यसाधकमन्तर्मुखवृत्तित्वबोधकं चरितमाह - अथ कदाचित् कश्चिन् शूद्राधिपतिः पुत्रकामनया भद्रकाल्यै देव्य पुरुषपशुमालब्धुं प्रवृत्तः। तस्य हि शूद्रसामन्तस्य चारराजस्य गाढान्धकारव्याप्तायामर्धरात्रौ दैवाद् हस्तान्निर्गतस्य मरणभयात्पलायितस्य पुरुषपशो र्मार्गं तदनुचराः परिधावन्तोप्यनधिगतपुरुषपशवः सन्तः-आकस्मिकदैवनिर्मितविधिवशात् वीरासनेन मृगवराहादिभ्यः केदारान् संरक्षमाणं जडभरतमपश्यन। अथ-तद्दर्शनानन्तरं ते शूद्राधिपत्यनुचराः एनमनवद्यलक्षणं स्थूलत्वादिविशिष्टं ज्ञात्वा तेन स्वभर्तु र्बलिदानकर्मनिष्पत्ति मन्यमानाः अत एव हर्षेण विकसितवदनाः सन्तः तं रज्ज्वा बद्ध्वा भद्रकालमन्दिरमुपनिन्यु। अथ पुरोहितत्वेन कल्पिताश्चौराःस्वकल्पितविधिना तं स्नानं कारयित्वा नूतनेन रक्तवस्त्रेणाच्छाद्य भूषणालेपमालातिलकादिभिश्चालंकृत्य-मिष्टान्नादिना

❀ ब्राह्मणान् बन्धुत्वेन यो वदति, परन्तु स्वयं ब्रह्मधर्मकर्मराहित्येन ब्रह्मबन्धुरित्युच्यते।

° कर्दमस्य प्रक्षेपे क्षेत्रं समं भवेद्, उद्धरणे विषमं स्यादित्यादि।

❀ कणाः = चूर्णतण्डुलाः, पिण्याकं = तैलयन्त्रोद्धृतं तिलकिट्टं - 'खोण' इति गुर्जरभाषायाम्। फलीकरणं = तुषाः। कुल्माषाः = कीटदष्टा माषाः, स्थालीपुरीषं = स्थालीलग्नं दग्धान्नम्। आदिपदेन कोद्रवादिग्रहः।

च भोजयित्वा धूपदीपमाल्यलाज* नवपल्लवयवदूर्वाद्यंकुरफल नैवेद्योपेतेन हिंस विधानेन महता गीतस्तुतिमृदंगपणवघोषेण च तं पुरुषपशुं कल्पयित्वा भद्रकाल्याः पुरत उपवेशयामासुः । अथ स शूद्रराजपुरोहितः पुरुषपशोर्जडभरतस्य रुधिररूपमादकासवेन देवीं भद्रकालीं तर्पयितुमभिलषन्-तन्मन्त्राभिमन्त्रितं भयंकरमसिमुपाददे ।

इति तेषां शूद्राणां रजस्तमस्वभावानां यथार्थदर्शनप्रतिबन्धकेन धनमदेन परित्यक्तमर्यादानां शास्त्रविरुद्धमार्गेण स्वदुष्टेच्छयैव प्रवर्तमानानां हिंसाविहाराणामेतदतिदारुणं कर्म - यत् - ब्रह्मभूतस्य सर्वभूतसुहृदो निर्वैरस्य हिंसनमुपलभ्य तस्य दुर्विषहेण तेजसा दह्यमानेन वपुषा देवी भद्रकाली स्वप्रतिमां त्यक्त्वा बहिर्निर्गता । क्रोधावेशवेगेन यस्याः भ्रुकुटिरुत्तंभिता, उद्घाटितकुटिलदंष्ट्राभिः अत्यरुणनेत्रैश्च यस्याः मुखं भयानकं जातं सा भद्रकाली — इदं जगद्धन्तुमुद्यतेव महान्तमट्टहासं विधाय ततः स्थानादुत्पत्य तेनैवासिना तेषां पापीयसां दुष्टानां शिरांसि छित्त्वा तद्गलेभ्यः स्रवन्तमत्युष्णं रुधिरासवं सहगणेन निपीय स्वपार्षदैः सह जगौ, ननर्त च, तेषां शिरांस्येव कन्दुकानि कृत्वा चिक्रीड । एवं रुधिरपानशिरःकन्दुकक्रीडादिना देव्यास्तामसत्वं दर्शितम् । एवं महतां मारणोद्योगरूपोऽपराधः सर्वांशतो मारकेभ्य एव फलति । 'यो हि यस्य विषमं विचिन्तयेत्, प्राप्नुयात् स कुमतिर्हि तत्फलम् ।' इत्यभियुक्तस्मरणात् । ब्रह्मनिष्ठा महान्तस्तु शरीरमृत्युरूपे प्रभूतानिष्टे प्राप्तेऽपि स्थितप्रज्ञाः प्रशान्तचित्ताः, मारकेषु च क्रोधशून्या एवावतिष्ठन्ते । यतस्ते परित्यक्तदेहाद्यात्मभावाः विच्छिन्नसुदृढहृदयग्रन्थयः प्राप्ताद्वयब्रह्मात्मभावाः सर्वप्राणिसुहृदो निर्वैराश्च सन्ति । अतस्तेषु दृश्यमानमेतदव्याकुलत्वादिकमत्यन्तमसंभावितं नैव मन्तव्यम् । अपि च ते भगवत्पादमूलमकुतश्चिद्भयमुपसृताः परमहंसा महाभागवता भगवतोऽन्तर्यामितया प्रवर्त्यमानैस्तत्तद्भद्रकाल्यादिरूपैः सर्वतः परिरक्ष्यमाणास्सन्तः सर्वथा निर्भया एव भवन्ति । 'त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भयाः ।' (भा० १० । २ । ३३) इति प्रामाण्यात् ।

अथ सिन्धुसौवीरदेशीयो राजा रहूगणो नाम तत्त्वजिज्ञासुः सन् कपिलाश्रमं यदा गच्छति स्म । तदा इक्षुमत्या नद्यास्तीरे राज्ञः शिविकावाहानां समूहस्याधिपतिना शिबिकावाहपुरुषान्वेषणसमये दैवान् एष जडभरतो द्विजवर उपलब्धः । स हि वृषभ इव गर्दभ इव पुष्टः कठोरावयव युवाऽस्ति, अतो भारं वोढुं समर्थ इति मत्वा ये पूर्वं विष्टया बलाद् गृहीतास्तैः सह अयमपि प्रसभं तत्र नियोजितः सन् शिबिकामुवाह । स हि महानुभावः क्षुद्रप्राणिहिंसा-

* लाजाः = भ्रष्टज्वारादिधान्यकणाः ।

परिहाराय इषुपरिमितप्रदेशमवलोक्यैव तत्पश्चात् गच्छति स्म । एवं तस्य जडभरतस्य मन्दगत्या सह — अन्येषां पुरुषाणां शीघ्रगति र्यदा न समाना जाता । तदा विषमगतामांदोलितां स्वशिबिकामुपलभ्य राजा रहूगणः – हे वोढारः ! यानं समं शोभनं वहत, किमिति विषममनच्छं उह्यते भवद्भिरित्यधिवहनः पुरुषानाह । अथ ते वोढारो दण्डप्रदाने समर्थस्य राज्ञः साक्षेपं वचः श्रुत्वा चतुर्थोपायात् दण्डलक्षणात् शंकितमनसो भीतचित्ताश्च सन्तस्त स्वामिनं राजानमित्थं विज्ञापयांबभूवुः – हे नरदेव । वयं भवदग्रेऽन्यथा वक्तुं न शक्ताः अतो यथार्थमेव वदामः । वय न प्रमादिनः किन्तु भवदाज्ञानुसारिणः सावधानचित्ता एव सन्तः साध्वेव यानं वहामः । परन्त्वयमधुनैव विनियुक्तोऽतः श्रमखेदरहितोऽपि न शीघ्रं व्रजतीति हेतो र्यानं विषमं भवति, एकरूपं न भवति, अतोऽनेन सह वयं यानं वोढुं न शक्नुम इति ।

एवं दीनानां तेषां वोढॄणां वचः श्रुत्वा 'नूनं संसर्गनिमित्त एकस्यापि दोषः सर्वेषामेव संसर्गिणां भवितुमर्हतीति निश्चित्य-उपासितवृद्धोऽपि राजा क्षत्रियस्वभावेन बलात्परवशः कृतोऽतः किञ्चित् क्रुद्धः सन्-रजोगुणेनाच्छन्नमतिश्च सन् – 'भस्मनाच्छन्नमग्निमिव' प्रच्छन्नब्रह्मतेजसं तमित्थमाह – 'अहो कष्टं भ्रातः ! व्यक्तमुरु परिश्रान्तो दीर्घमध्वानमेक एव ऊहिवान् सुचिरं, नातिपीवा न संहननाङ्गो जरसा चोपद्रुतो भवान्, सखे ! नो एवापर एते संघट्टिन इति बहुविप्रलब्धोऽपि – अविद्यया रचितद्रव्यगुणकर्माशयस्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि संस्थानविशेषे 'अहं ममे' त्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो ब्रह्मभूतस्तूष्णीं शिबिकां पूर्ववदुवाह ।' (१) (भा० ५ । १० । ६) इति ।

अयमर्थः — रहूगणो राजा साक्षेपाणि विपरीतार्थानि षड्वाक्यानि वदन् जडभरतमविदितप्रभावमुपहसति – अहो इति । हे भ्रातः ! हे सखे !

---

(१) रहूगण राजाने कहा— अरे भैया ! बड़े दुःखकी बात है । अवश्य ही तुम बहुत थक गये हो, ज्ञात होता है तुम्हारे इन साथियोंने तुम्हें तनिक भी सहारा नहीं लगाया । इतनी दूरसे तुम अकेले ही बड़ी देरसे पालकी ढोते चले आ रहे हो । तुम्हारा शरीर भी तो विशेष मोटा ताजा और हट्टा कट्टा नहीं है, और मित्र ! बुढ़ापेने अलग तुम्हें दबा रक्खा है, इस प्रकार बहुत ताना मारने पर भी श्रीजड़भरतजीकी दृष्टिमें तो पंचभूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणका संघात यह अपना अन्तिम - शरीर, अविद्या ही का कार्य था । वह विविध अङ्गोंसे युक्त दिखायी देने पर भी वस्तुतः था ही नहीं, इसलिये उसमें उनका मैं मेरेपनका मिथ्या अध्यास सर्वथा निवृत्त होगया था । और वे अद्वय पूर्ण ब्रह्मरूप होगये थे । वे पहलेकी ही भांति चुपचाप पालकी उठाये चलते रहे, उन्होंने इसका कुछ भी बुरा न माना ।

इति सम्बोधनद्वयमधिक्षेपार्थम् । वस्तुतो न त्वं मम भ्राता, न वा सखा, येन तवापराधस्य दण्डे उपेक्षां कुर्यामिति भावः । १. अहो = अतिशयेन तव कष्टं जातं ? न किञ्चित्कष्टं जातमित्यर्थः । तत्र हेतुमाह – २. व्यक्तं = निश्चितं, उरु = अधिकं परिश्रान्तोऽसि, तव न किञ्चिच्छ्रमो जातः । यतोऽधुनैवात्र संयोजितोऽसीत्यर्थः । तत्रापि हेतुमाह – ३. दीर्घं = विस्तृतं, अध्वानं = मार्गं, सुचिरं = अत्यधिकं, कालं = समयं, त्वं एक एव यानमिमं, ऊढवान् = प्रापितवान् ? 'वह प्रापणे' स्मरणात् । अपरे = अन्ये एते संघट्टिनः = सहचरा मिलित्वा कर्मकराः नो एव यानं वहन्ति ? । अर्थात् न त्वं दीर्घमध्वानं सुचिरमेक एव यानमूढवान्, येन परिश्रान्तोऽसि, अन्येऽपि तव सहचरा यानं वहन्त्येव, अतस्तवैव श्रान्तिः कुतः आगता, येन शीघ्रं न गच्छसि, विरुद्धमन्दगत्या यानमांदोलयसि, मयि राजन्यपि स्वाचरणस्य दुष्टतां प्रकाशयसीत्यर्थः । ननु – एवमपि देहस्याशक्त्या कथं शीघ्रं गन्तुं शक्यते ? इत्याशंक्य तद्धेतून् निराकरोति – ४. भवान् नातिपीवा = पुष्टो नास्ति ? किन्त्वतिपुष्टोऽसीत्यर्थः । ५. न संहननांगः = नातिदृढाङ्गोऽसि ? किन्त्वतिकठोरावयवदेहोऽसीत्यर्थः । ६. जरसा = वार्धक्येन चोपद्रुतः = समाक्रान्तोऽसि ? न किन्तु युवा चासीत्यर्थः । इत्येवं बहु = अधिकं यथा भवति तथा विप्रलब्धोऽपि = वक्रोक्त्या तिरस्कृतोऽपि तूष्णीमेव = मौनं गृहीत्वैव पूर्ववच्छिबिकामुवाहेत्यन्वयः ।

एवं तूष्णीभावेन यानस्योद्वहने हेतुमाह – अविद्यया = माययाऽनिर्वचनीयया – अनेकजन्मसु देहाऽध्यासलक्षणया विहिताः = कर्मद्वारोपस्थापिताः–एकीकृता द्रव्यादयो यस्मिन् तस्मिन्, स्वचरमकलेवरे = अवस्तुनि = परमार्थात्मवस्त्वतिरिक्ते-मायिकत्वाद् परमार्थवस्तुत्वशून्ये मिथ्याभूते-संस्थानविशेषे-हस्तपादाद्याकारविशेषेण परिणतेऽनध्यारोपितोऽहंममेति मिथ्या प्रत्ययोऽभिमानो येन । अविद्यारूपमाययैवायं सर्वो लोको मोहितो भवति, वस्तुतस्त्वं स्वात्मानं न विजानाति, स्वात्मनि चाविद्योद्भासितान् मिथ्याभूतान् देहादीन् अध्यारोपयन् तानेव स्वात्मतयाऽभिमनुते । स्वपरेति च मिथ्याभेदं पश्यति । यदाहुः – 'कस्याचन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः ।' (भा० ११।२३।६) स्वः परश्चेत्यसद्ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतः ।' (भा० ७ । ५ । ११) 'अन्य एष तथाऽन्योऽहमिति भेदगताऽसती ।' (भा० ७ । ५ । १२) 'अज्ञानप्रभवाऽहंधीः स्वपरेति भिदा यतः ।' (भा० १० । ४ । २६) इति । एतैर्वचनैः समानलक्षणयोगात् स्पष्टमेव मायाऽविद्ययोरेकत्वं समधिगम्यते । अनारोपे हेतुमाह – ब्रह्मभूत इति । साक्षात्कृतब्रह्मात्मभावेनाध्यासकारणाविद्याया निवृत्तत्वादित्यर्थः । द्रव्याणि महाभूतानि, गुणाः = सत्त्वादयः, इन्द्रियाणि च,

कर्माणि = पुण्यपापानि, आशयः = अन्तःकरणम्।

'पूर्वं दुवाह' इति कथनेन – तथा भाषमाणोऽपि स तच्छिबिकां विषमगतामान्दोलितामेव उवाह, न समरूपामिति विज्ञाय प्रकुपितो रहूगण उवाच – अरे ! दुष्ट ! त्वं किमिदं करोषि, यद्यानं विषमं नयसि, किं त्वं जीवन्नेव मृतोऽसि, मां स्वामिनं शास्तारमनादृत्य मदाज्ञामतिक्रमसि, प्रमत्तस्य ते किं दण्डं करोमि ?। दण्डपाणिर्यमो यथा जनसमूहस्य दण्डं करोति, तेन च जनः शुद्धो भवति, तथा तव दण्डं कृत्वा सावधानतालक्षणां शुद्धिं त्वं प्राप्स्यसि । एवमज्ञानात् - मिथ्याऽभिमानाच्च बहु - अयुक्तं भाषमाणमपि राजानं स ब्रह्मनिष्ठो निर्द्वन्द्वः सर्वभूतसुहृदात्मा उन्मत्तवद्वर्तमानो जडभरतः तस्य तत्त्वजिज्ञासाद्यधिकारं ज्ञात्वा तमनुग्रहीतुं विगतगर्वोऽपि – तमुपहसन्निवेत्थमाह –'ब्राह्मण उवाच – त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं, भर्तुः स मे स्याद्यद वीर ! भारः गन्तुर्यदि स्यादधिगम्यमध्वा पीवेति राशौ न विदां प्रवादः ॥ स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च, क्षुत्तृड् भयं कलिरिच्छा जरा च । निद्रा रतिर्मन्युरहं मदः शुचो देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ॥ जीवन्मृतत्वं नियमेन राजन् ! आद्यन्तवद् यद्विकृतस्य दृष्टम् ।' (१) (भा० ५ । १० । ६-१०-११) इति । हे वीर ! त्वया वक्रोक्त्या यद् उदितं = यदुक्तं – तव श्रमादि नास्ति तत्, व्यक्तं = सत्यमेवोक्तं, तत् - अविप्रलब्धं = तत्रोपालम्भो नास्ति । कुत इत्याकांक्षायामाह – भर्तुः = वोढुः – वहनकर्तुः देहस्य यो भारः, स यदि मे = ममात्मनः स्यात् ?। अर्थात् यदि भारो नाम कश्चन स्यात् ? । स च देहस्य यदि स्यात् ? स च ममात्मनि यदि भ्रान्त्या प्रसक्तः स्यात् ? तदा भारस्यास्तित्वं ज्ञायेत । वस्तुतो मम देहाद्भिन्नस्यासंगस्य चिद्रूपस्यात्मनो

(१) ब्राह्मण जड़भरतने कहा — राजन् ! तुमने जो कुछ कहा — वह यथार्थ है । उसमें कोई उलाहना नहीं है । यदि भार नामकी कोई वस्तु है तो ढोनेवालेके लिये है । यदि कोई मार्ग है तो वह चलने वालेके लिये है । मोटापन भी उसीका है, यह सब शरीरके लिये कहा जाता है । आत्मके लिये नहीं । ज्ञानीजन ऐसी बात नहीं करते । स्थूलता, कृशता आधि, व्याधि, भूख, प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढ़ापा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक, ये सब धर्म देहाभिमानको लेकर उत्पन्न होनेवाले जीवमें रहते हैं, मुझ सच्चिदानन्दब्रह्मात्मामें इनका लेश भी नहीं है । राजन् ! तुमने जो जीने मरनेकी बात कही सो जितने भी विकारी शरीरादि पदार्थ हैं, उन सभीमें नियमितरूपसे ये दोनों बातें देखी जाती हैं, क्योंकि वे सभी आदि - अन्तवाले हैं । यशस्वी नरेश ! जहां स्वामी सेवकभाव स्थिर हो, वहीं आज्ञापालनादिका नियम भी लागू हो सकता है ।

भारेण सह सम्बन्धो नास्ति, अतोऽहं भारस्य वहनकर्ता न भवामि । तथा गन्तुः = गमनकर्तुर्देहस्य यदधिगम्यं = प्राप्यं स्थानादिकं किमपि यदि स्यात्, अध्वा = मार्गोऽपि यदि कश्चन स्यात् ? । वस्तुतो भारस्य वोढुश्च देहस्याधिगम्यस्य स्थानादे र्मार्गस्य च सदादिभिरनिरूप्यत्वात् - स्वप्नवत् प्रतिभासमानत्वाच्च परमार्थसत्यता नास्ति, अतस्तन्निमित्तः श्रमोऽपि मे कथं स्यात् ? तदभावात् श्रमो नास्तीति भवता सत्यमेवोक्तं, नोपालम्भ इति भावः । यत्त्वयोक्तं – नातिपीवेति, तत्राह – चेतनमात्मानमुद्दिश्य 'त्वं पीवेति' प्रवादो विदां = विदुषां-तत्त्वदर्शिनां न भवति, किन्तु मूर्खाणां जडचेतनविवेक-शून्यानां तथा व्यवहारो भवति । यतोऽयं प्रवादो राशौ = भूतसंघे-जडे देह एव, न त्वात्मनि, अतो देह एव पीनो नाहमित्यर्थः ।

पीवत्ववद् अन्येऽपि देहधर्मा ममात्मनो नैव सन्ति, इति फलितं स्पष्टयति–स्थौल्यमिति । स्थौल्यं = पीनत्वं, कार्श्यं = दुर्बलत्वं, व्याधयः = विविधा रोगाः, जरा = वार्धक्यं, एते स्थूलदेहस्य धर्माः सन्ति, आधयः = मानस्यः पीडाः, भयं = इष्टविघातकाङ्क्षीतिः, कलिः = कलहः — क्लेशः, इच्छा = विषयस्पृहा, निद्रा = प्रसिद्धा — तमोमयी काचन वृत्तिरूपा । अरतिः = ग्लानिः घृणा, मन्युः = क्रोधः, अहं = देहादावहंभावोऽध्या-सलक्षणः, मदः = गर्वः, शुचः = शोकाः इष्टवियोगानिष्टसंयोगजास्तापाः, एतेऽन्तःकरणस्य सूक्ष्मदेहस्य धर्माः सन्ति, क्षुत् = क्षुधा, तृट् = तृषा — प्राणधर्मौ स्तः, अतः सर्वेऽप्येते देहादिसंघात एव भवन्ति । देहेन सह तदभि-मानेन जातस्य चिदाभासरूपस्य जीवस्य हि भवन्ति, देहाध्यासद्वारा तत्र 'जलकंपादिस्तत्प्रतिबिम्ब इव' प्रतिभासन्ते । मम तु निरभिमानस्य न सन्ति । यद्वा देहे जाते यो जातस्तस्यैव तानि, मम तु तत्र न जातस्य जन्मादिरहितस्य ब्रह्मभूतस्य न सन्तीत्यर्थः । 'हि' इति प्रसिद्धिं सूचयति, संघाते दृश्य एव त उपलभ्यन्ते, नात्मनि द्रष्टरि, तस्य प्रत्यक्षाविषयत्वादिति प्रसिद्धं, सुषुप्तौ च संघाताभावात् ते नोपलभ्यन्ते आत्मनि केवले, अतस्ते नात्मधर्मा इति प्रसिद्ध-मिति भावः । यच्चोक्तं — त्वं जीवन्मृतोऽसीति तत्राप्याह — जीवन्निति । हे राजन्निति सम्बोधनेन राजाऽहमिति मिथ्याऽभिमानं त्यक्त्वा, मदुक्तं विशुद्धमात्मस्वरूपमवधारयिष्यसि चेत्, तदा तव निःश्रेयसं कल्याणमेव भविष्यतीति सूचयति । जीवन्मृतत्वं न केवलं ममैव देहस्य, किन्तु सर्वस्यैव विकृतस्य = परिणामिनो देहादे नियमेन दृष्टम्, यत् = यस्मात्, सर्वमपि जडं परिच्छिन्नं दृश्यं देहादिकं — विकृतं प्रतिक्षणं, आद्यन्तवत् = उत्पत्तिविनाशवत् । अत आत्मैव केवलो जन्मादिविकाररहितः परमार्थसत्यः, तदन्यत्सर्वं आद्यन्तवत्त्वेन हेतुना मृषाभूतमिति भावः ।

ननु — यावद्राजाऽहं राज्ये स्थितस्तावत्तव स्वामी नियन्ता भवाम्येव त्वन्तु नियमेन मत्सेवां कुर्वाणो नियम्यः सेवको भवत्येवेति चेत् तत्राह — 'विशेषबुद्धे विवरं मनाक् च पश्याम यन्न व्यवहारतोऽन्यत्। क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यं तथाऽपि राजन्! करवाम किं ते ॥' (१) (भा० ५ । १० । १२) इति । विशेषः = राजभृत्येश्वरेशितव्यादिभेदः, तद्बुद्धेः = तद्भेदज्ञानस्य विवरं = अवकाशं, यत् = यदा व्यवहारतोऽन्यत्, मानक् = ईषदपि न पश्याम, अर्थात् निखिलमपि भेदज्ञानं व्यवहारदशायामेवाज्ञानादुपलभ्यते 'स्व परेति भिदा यतः' (भा० १० । ४ । २६) इति सिद्धान्तितत्वात् । न परमार्थाद्वय-ब्रह्मात्मज्ञानदशायाम् । अतो भेदज्ञानस्य व्यावहारिकयेव सत्ता प्रत्यगभिन्ना-द्वयब्रह्मज्ञानबाध्यैव मन्तव्या । न पारमार्थिकी सर्वथाऽबाध्यत्वलक्षणा । तथा च तत्र = तस्मिन् — परमार्थैकत्वदर्शनसमये कः ईश्वरः = स्वामी नियन्ता राजा ? एवं किं ईशितव्यं = नियम्यं भृत्यादिकं पृथग्भूतमवतिष्ठेत ? । अयं भावः — 'त्वं राजा, अहं भृत्यः, इति व्यवहारे आवयो र्भेदोऽवश्यं वाच्यः स च भेदः सर्वथा दुर्निरूप्यत्वेन हेतुना प्रतिभासमात्रो मिथ्याभूत एव सिद्ध्यति। भेदस्य च दुर्निरूप्यत्वं — 'भेदधिक्कार अद्वैतरत्नरक्षणा — प्रभृति ग्रन्थेषु महानुभावैः — अद्वैतसिद्धान्तमहारथिविद्वद्वरण्ये विस्तरतः प्रतिपादितं, तत्रैव द्रष्टव्यमतो नेह तदर्थं प्रयत्यते । उपलक्षणमिदं — विश्वसृष्ट्यादिकर्ता ईश्वरोऽपि कः ?, एवं विविधभेदभिन्नं चराचरं जगदीशितव्यमपि च किम्, अधिगताद्वैतब्रह्मविद्यादशायामवतिष्ठेत ? ! अर्थात् ब्रह्माज्ञानकल्पिततयेश्वर-जीवजगद्भेदोऽपि ब्रह्मज्ञानेन विलीनः स्यात् । परमार्थतः शुद्धमेकमद्वयं नित्य-मुक्तं सच्चित्सुखघनं परमात्मवस्तु सिद्ध्यति, न वास्तविको राजभृत्यजीवेश्वरादि-व्यवहारः सिद्ध्यतीति भावः । नन्वस्तु तर्हि व्यवहारत एवेश्वरेशितव्यादिक-मिति चेत्तत्राह — तथापीति । यद्यपि परमार्थविचारे न तत्संभवति, तथापि हे राजन्! व्यवहारकाले तव राजत्वाभिमानश्चेत् ? तर्हि ब्रूहि किं ते कार्यं करवामेति ।

श्रीशुक उवाच – हे पाण्डवेय! परीक्षित्! एतावत्परमार्थबोधकभाषणेन तं प्रत्युत्तरं दत्त्वा – यस्य देहात्मभावे निमित्तमविद्या विद्ययोपरता, एवंभूतः स उपशमशीलो ब्रह्मनिष्ठो जडभरतः – उपभोगेन देहस्यारब्धफलकं कर्म

(१) तुम राजा हो और मैं प्रजा हूं इस प्रकारकी भेद बुद्धिके लिये, मुझे व्यवहारके सिवा और कहीं तनिक भी अवकाश नहीं दिखायी देता । परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो किसे स्वामी कहें ? और किसे सेवक ? फिर भी राजन् ! तुम्हें यदि स्वामीत्वका अभिमान है तो कहो मैं तुम्हरी क्या सेवा करूं ? ।

क्षपयन् - राजयानमपि पूर्ववदेवोवाह - स चापि सिन्धुसौवीरपतिः रहूगणो राजा - येन सम्यक् - इन्द्रियसंयमादिपूर्विकया सात्त्विकया श्रद्धयैव तत्त्व-जिज्ञासायामधिकारः प्राप्तः । यदाह-भगवान् श्रीकृष्णो गीतासु - 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।' (गी० ४।३९) इति । तस्य ब्रह्मविदस्तादृशं हृदयग्रन्थिविमोचकं वचः श्रुत्वा विगलितराजत्वाभिमानः सन् शिबिकातस्त्व-रयाऽवरुह्य शिरसा तत्पादमूलमुपसृतः कृतदण्डवत्प्रणामः सन् कृतापराधस्य बद्धाञ्जलिना क्षमां कारयन् - इदमुवाच - 'कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां, बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः । कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात् क्षेमाय नश्चेदसि नोत शुक्लः ।।' (१) (भा० ५ । १० । १६) इति । निगूढः = अलक्षित-वर्णाश्रमाचारस्त्वं को वा विचरसि ? द्विजानां = वर्णत्रयाणां मध्ये त्वं कतम', यतः सूत्रं = तत्सूचकमुपवीतं बिभर्षि । यद्वा - दत्तात्रेयादीनां मध्ये त्वं कतमोऽवधूतः = वीतरागो ब्रह्मविद्वरो निर्द्वन्द्वो महापुरुषोऽसि । अतो विशेषतो ब्रूहि त्वं कस्य पुत्रोऽसि । कुत्रत्यः = किं देशवास्यसि ?। इह = अस्मिन् स्थानेऽपि कस्माद्धेतोरागतोऽसि । यः कोऽप्यहं भवामि, तवैवं प्रश्नेन किमित्याकांक्षायामाह - क्षेमायेति । नः = अस्माकं, क्षेमाय = कल्याणाय चेदिह प्राप्तस्तर्हि-शुक्लः = शुद्धसत्त्वमूर्तिः - नारायणः तदवतारः सिद्धप्रवरः कपिलो महर्षिस्तु न भवसि ?। उतेति वितर्के, तदपि संभवति, योगेश्वरत्वेन कृपापरवशत्वादिति भावः । तस्मात्त्वं ब्रूहि ? निगूढविज्ञानप्रभावोऽचिन्त्या-नन्तमहिमाऽसंगोपि जडोन्मत्तवद्विचरसि, त्वं कोऽसि ? । तथा च त्वत्कथनेन त्वत्स्वरूपे ज्ञाते सति त्वदनुग्रहान्मम भयनिवृत्तिः स्यादिति भावः । अहन्तु भवन्तमात्मतत्त्वविदां मुनीनां परमं गुरुं परमार्थतत्त्वोपदेष्टारं ज्ञानकलयाऽ-वतीर्णं साक्षाद्धरिं कपिलमुनिमेव मन्ये । अत एव स कपिल एव किंस्वित् लोकवृत्तान्तनिरीक्षणार्थं - अलक्षितस्वरूपः सन् भवान् विचरति ?। गृहतद्व्य-वहाराभिर्निविष्टोऽन्धबुद्धि र्जनो योगेश्वराणां गति - ईदृक्प्रभावोऽमुकोऽयमिति लक्षणां कथं विजानीयात् ? । नरदेवस्य मिथ्याभिमानजन्येन गर्वेण भवान् महानपि मयाऽनादृतः, तस्यात्यन्तापराधिनो ममोपरि भवान् महानु-भावो निःस्वार्थस्नेहपूर्णां कृपादृष्टिं विदधातु । येनाहमनायासतो भवदवज्ञान-

(१) देव ! आपने - द्विजोंका चिह्न यज्ञोपवीत धारण कर रक्खा है, बतलाइये इस प्रकार प्रच्छन्नभावसे विचरण करनेवाले आप कौन हैं ? क्या आप दत्तात्रेय आदि अवधूतोंमेंसे कोई हैं ? आप किसके पुत्र हैं ? आपका जन्म कहां हुआ है ? और यहां कैसे आपका पदार्पण हुआ है ? । यदि आप हमारा कल्याण करनेको पधारे हैं तो क्या आप साक्षात् सत्त्वमूर्ति भगवान् कपिलजी ही तो नहीं हैं ? ।

रूपं पापं तरेयम् ।

एवं तत्त्वरूपं पृष्ट्वा, तन्मुखात्सिद्धान्तनिश्चयार्थं तदुत्तराण्याक्षिपति-तत्र यदुक्तं मम श्रमो नास्तीति तत्राह – 'दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै, भर्तुर्गन्तु र्भवतश्चानुमन्ये । यथाऽसतोदानयनाद्यभावात् समूल इष्टो व्यवहारमार्गः ॥ स्थाल्यग्नितापात्पयसोऽभितापस्तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः । देहेन्द्रियास्वाशय सन्निकर्षात् तत्संसृतिः पुरुषस्यानुरोधात् ॥' (१) (भा० ५ । १० । २१-२२) इति । आत्मनः = मम, कर्मतः = युद्धादिकर्मतः श्रमो दृष्टो वै = निश्चयेनानुभूतः । अतो भर्तुः = भारं वोढुः, गन्तुः = गमनकर्तुः, भवतश्च श्रममनुमन्ये = अनुमिमे । अनुमानं चैवम् । भवान् भारवाहनादिना श्रान्तः, कर्तृत्वात्, यः कर्ता स श्राम्यति, यथाऽहं युद्धादिकर्तेति । ननु-देहादावात्माध्यासलक्षणस्याविद्याकल्पितसम्बन्धस्य सत्त्वात्, तवाज्ञस्य भवतु श्रमादिकम्, मम तु विज्ञस्य तत्राध्यासाभावात् तत्कथं स्यात् ? अत एवं–तदुक्तं पूर्वं–श्रमादयो मे न सन्तीति-तथा च मयि दृष्टं श्रमादिकं प्रतिभासलक्षणव्यवहारमात्रं न तु परमार्थसत्यम्, यदुक्तं - 'व्यवहारतोऽन्यन्न पश्यामीति' । तथा च देहाद्यध्यासलक्षणोपाधिना सोपाधिकमेव तवानुमानमित्याशंक्य – स्यादेवं, यदि देहादेस्तत्सम्बन्धस्याध्यासिकत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं सम्भवेत् ? तदेव तु न संभवतीत्यभिप्रेत्यानुमानेन तस्य यथार्थत्वं सत्यत्वलक्षणं साधयति – यथेति । देहादावहंममेतिव्यवहारमार्गः समूलः = यथार्थसम्बन्धपूर्वकः प्रामाणिक एव इष्टः = अभिप्रेतः, सुखदुःखादिलक्षणार्थक्रियाकारित्वात् । यत्रार्थक्रियाकारित्वं, तत्र यथार्थवस्तुपूर्वकत्वं दृष्टं, यथा क्रीतसत्यघटादेः । यत्र यथार्थवस्तुपूर्वकत्वं नास्ति, तत्रार्थक्रियाकारित्वमपि नास्ति । यथा = यथावत्, असता = स्वप्नदृष्टमिथ्याघटादिना-उदकानयनादेरभावात् । एवं प्रयोगः – नामरूपात्मको द्वैतप्रपञ्चः परमार्थसत्यः अर्थक्रियाकारित्वात्, यः पुनरसत्यः, नासावर्थक्रिया-

(१) रहूगणराजाने कहा — मैंने युद्धादि कर्मोंमें अपनेको श्रम होते देखा है, इसलिये मेरा अनुमान है कि बोझा ढोने और मार्गमें चलनेसे आपको भी अवश्य श्रम होता होगा, मुझे तो व्यवहार मार्ग भी सत्य ही जान पड़ता है, क्योंकि-मिथ्या घड़ेसे जल लाना आदि कार्य नहीं होता (देहादि धर्मोंका आत्मा पर कोई प्रभाव ही नहीं होता, ऐसी बात भी नहीं है) चूल्हे पर रक्खी हुई बटलोई जब अग्निसे तपने लगती है, तब उसका जल भी खौलने लगता है, और फिर उस जलसे चावलका भीतरी भाग भी पक जाता है । इसी प्रकार अपनी उपाधिके धर्मोंका अनुवर्तन करने के कारण देह, इन्द्रिय, प्राण और मनकी सन्निधिसे आत्माको भी उनके धर्म श्रमादिका अनुभव होता ही है ।

कारी, यथा मिथ्याघटादिरिति। एवं देहाद्यात्मसम्बन्धस्य यथार्थत्वे प्रामाणिकत्वे सिद्धे सति, ज्ञानेन तन्निरासस्यासम्भवात्, तत्रापि श्रमादेरवश्यंभावित्वमेव, एवं यदुक्तं – देहाद्युपाधिधर्माः स्थौल्यादयो मे न वस्तुतः सन्तीति, तत्र तेषामौपाधिकत्वेऽपि सत्यत्वं किं न स्यादिति सदृष्टान्तमाह – स्थालीति। स्थाल्याः – 'पतेली' 'तपेली' ति भाषायां, अग्निना तापात् तन्मध्यवर्तिनः पयसः = क्षीरस्याभितापः, तत्तापतः तण्डुलानां बहिर्भागस्य तापः, ततः तद्गर्भगतस्य कणस्य रंधिः पाको यथा भवति। न चात्र किञ्चिन्मिथ्या। तथा देहादिभिः सन्निकर्षात् = सम्बन्धात्, तन्निमित्ता देहादिगताऽपि संसृतिः = श्रमादिदुःखसंततिः, पुरुषस्य = आत्मनस्तव वा, मम वा, अन्यस्य वा सर्वस्यापि स्यादेव। अनुरोधात् = स्थाल्यादितापक्रमेण दृष्टान्तानुसारादित्यर्थः। तथाहि – पूर्वं शिबिकादिभारेण देहस्य श्रमः, ततस्तत्सम्बन्धिनामिन्द्रियाणां, ततोऽसूनां = प्राणानां, तत आशयस्य = अन्तःकरणस्य, ततो जीवस्येति क्रमेण। एवं निदाघादिना देहे तप्ते, इन्द्रियाणां तापः, ततः प्राणस्य, ततो मनसः ततो जीवस्येत्येवं यथायथमुह्यम्। एवं राजा प्रजानामुत्पथगानां शास्ता, सन्मार्गस्थानां गोप्ता च भवति, राज्ञस्तत् कर्म न निष्फलम्, यतः प्रजापालनमेव राज्ञः सफलं स्वधर्माचरणाख्यं कर्म, तदेवाच्युतस्य भगवत आराधनम्, तत्कुर्वन् नृपतिः पापौघं जहाति।

एवं रहूगणेन पृष्टो जडभरतो ब्रह्मज्ञस्तमधिकारिणं विनयावनतं ज्ञात्वा यदुपदिष्टवान्, तद्दर्शयति — 'ब्राह्मण उवाच। अकोविदः कोविदवादवादान्, वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः। न सूरयो हि व्यवहारमेनं तत्त्वावमर्शेन सहाऽऽमनन्ति॥' (भा० ५।११।१) (१) इति। तत्र तत्त्वज्ञाने मिथ्याऽभिमानस्य प्रतिबन्धकत्वात् तन्निरासार्थं प्रथमं तस्य मूर्खत्वमाह — अकोविदः = अविद्वान् - अविवेक्येव त्वं, कोविदानां = पण्डितानां विवेकिनां ये वादाः = यथार्थवचनानि तत्तुल्यान् विचारेण बाधितार्थत्वेऽपि युक्तिपूर्वकत्वेन यथार्थत्वेन प्रतिभासमानान् उदाहरणेन हठान्निजपक्षसाधकान् राजभृत्यादिभेदव्यवहारयथार्थत्वपरान् वादान् = वाक्यानि वदसि। अकोविदत्वे हेतुमाह – नेति। हि = यस्मात्, सूरयः = विवेकिनो विद्वांसः, यं – अहंताममतापूर्वकस्वामिभृत्यसुखदुःखादिभेदव्यवहारं त्वं सत्यं सर्वथाऽबाधितमाह—एनं तत्त्वावमर्शेन

(१) जड़भरतने कहा — राजन्! तुम अज्ञानी होने पर भी पण्डितोंके समान ऊपर-ऊपरकी तर्क-वितर्क युक्त बात कह रहे हो। इसलिये श्रेष्ठ ज्ञानियोंमें तुम्हारी गणना नहीं हो सकती। तत्त्वज्ञानी पुरुष इस अविचारसिद्ध स्वामी सेवक आदि व्यवहारको तत्त्वविचारके समय सत्यरूपसे स्वीकार नहीं करते।

= परमार्थाद्वयब्रह्मतत्त्वविचारेण सह नामनन्ति = न वदन्ति, किन्त्वविचार-रमणीयमेव विचाराद्बाधितमेव वदन्ति, अतो न सत्यः । अथो = अतः त्वं व्यवहारेऽतिनिपुणोऽपि, अतिविदां = अत्यन्तं विदुषां अद्वयब्रह्मतत्त्वदर्शिनां मध्ये वरिष्ठः श्रेष्ठो न भवसीत्यर्थः । यत्तु — त्वया श्रमादिसत्यतासाधनाय स्थालीतापाद्युदाहरणं दत्तं, तत्र तु जडस्य तंडुलस्य. स्थाल्यादिभिर्जडैं वह्निनाऽपि जडेन यथा संसर्गस्तथा देहेन्द्रियादिभिर्जडैं मुक्तजीवस्य चिद्वस्तुनः संसर्गाभावादेव देहादिश्रमैः नं श्रमः सिद्ध्यति, बद्धजीवस्य तु जडदेहाद्यध्यासात् जडत्वेन तै भंवत्येव श्रमः इति बद्धजीवै मूढै युष्माभिः मुक्तात्मनां तत्त्वविदामस्माकं सादृश्यासम्भवादनुमानं पूर्वोक्तं न घटत इति । एवं वैदिकोऽपि कर्ममार्गोऽहं-ममाध्यासपूर्वकत्वात् यथार्थः सत्यो न भवति । 'न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः प्रायेण शुद्धो न चकास्ति साधुः ।' (१) (भा० ५ । ११ । २) वेदवादेषु = विविधयज्ञादिप्रतिपादकेषु तुच्छस्वर्गादिफलबोधकेषु – कर्मकाण्डात्मकवेदवादेषु तत्त्ववादः = प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मतत्त्ववादः नु = निश्चितं, न चकास्ति = न प्रकाशते । कीदृशः सः ? शुद्धः = हिंसादिदोषशून्यः, साधुः = रागादिशून्यश्च, यथार्थः । तथा च – शुद्धयथार्थतत्त्वप्रतिपादिका श्रुतिः – 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० ४ । ४ । १६) 'एकमेवाद्वितीयम् ।' (छां० ६ । २ । १) इति । श्रीमद्-भागवतमपि – 'संसृति नं तु वास्तवी' (भा० ११ । ११ । २) 'असत्त्वादा-त्मनोऽन्येषां भावानां तत् कृता भिदा । गतयो हेतवश्चास्य मृषा ।' (भा० ११ । १३ । ३१) 'आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः ।' (भा० ११ । २४ । २७) 'ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम् ।' (भा० १०।१३।६१) इति । प्रायेणेतीश्वरार्पितकर्मणां परम्परया परमार्थफलत्वाभिप्रायेणोक्तम् ।

ननु – श्रुतवेदान्तस्य विचारिततत्त्ववादस्यापि पुंसो लौकिकेषु वैदिकेषु कर्मसु प्रवृत्तेः कथं कर्मणां तत्फलानाञ्चासत्यता तत्राह – 'न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद् वरीयसीरपि वाचः समासन् । स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ॥' (२) (भा० ५ । ११ । ३) इति । साक्षात्=यथा-

(१) लौकिक व्यवहारके समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है, क्योंकि वेदवाक्य भी अधिकतर गृहस्थ जनोचित यज्ञविधिके विस्तारमें ही व्यस्त हैं रागद्वेषादि - दोषोंसे रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञानकी पूरी - पूरी अभिव्यक्ति प्रायः उसमें भी नहीं हुई है ।

(२) जिसे गृहस्थोचित - यज्ञादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाला स्वर्गादिसुख स्वप्नके समान हेय नहीं जान पड़ता, उसे तत्त्वज्ञान करानेमें साक्षात् उपनिषद् वाक्य भी समर्थ नहीं हैं ।

वत्, तत्त्वग्रहणाय = अद्वयज्ञानरूपतत्त्वस्य ज्ञानाय, वरीयसीरपि = वरीयस्यः = श्रेष्ठतमा अपि । वाचः = वेदान्तवाचः – 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २ । १) तत्त्वमसि' यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत् ।' (ई० उ० ७) इत्यादीनि तत्त्वप्रतिपादकानि वेदान्तवाक्यानि । तस्य = कर्मतत्फलासक्तस्य मूढस्य न समासन = सम्यगासन् = बभूवुः । तस्येति कस्येत्यपेक्षायामाह – स्वप्ने या निरुक्तिस्तया = स्वप्नदृष्टान्तेन, दृश्यत्वादिना हेतुना, गृहमेधिसौख्यं = गृहस्थसम्बन्धि - स्त्र्यादिविषयजन्यं लौकिकं यज्ञादिकर्मजन्यमलौकिकं सुखं–स्वयमेवाद्यन्तवत्तया च हेयत्वेनानुमितं यस्य न स्यात् । यदि तत् हेयत्वेन मिथ्यात्वेन चानुमितं स्यात्, तदा तत्र च तत्साधककर्मणि चासक्ततया कथमपि न प्रवर्तेत ? प्रवतते च तस्माद् ज्ञायते – तेन वेदान्तवचांस्यपि यथार्थतया न श्रुतानि, न च विचारितानि । न च तादृशं तुच्छं विनश्वरं वैषयिकं सुखं हेयत्वेनानुमितमिति । स्वप्ने यथा मिथ्याप्रतिभासमात्रवनितादिभोगजन्यं क्षणिकं सुखं केवलं निद्रादिदोषेणाविद्याऽध्यासमात्रेणैवात्मनि मृषात्वेन प्रतिभाति, न वास्तवम् । निद्राऽपगमे जाग्रदवस्थायां बाधिततया तन्मृषात्वस्यायथार्थत्वस्य स्पष्टत्वात् । तथा जाग्रदवस्थायामपि - लौकिकालौकिकपदार्थेभ्यो मायाकल्पितेभ्यो देहाद्यध्यासेनैव जन्यतया प्रतीयमानं वैषयिकं सुखमपि मिथ्यैव प्रतिभासते । अद्वयब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारात्मकज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्याऽध्यासे निरस्ते सति तु न किमपि विषयजन्यं सुखं यथार्थतया स्फुरति, किन्तु सर्वत्र सदाऽविनाशी - महान् निर्विषयो निरवच्छिन्नः स्वरूपानन्द एव विदुषां स्फुरति, 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा ।' (भा० २ । - ६ । ३५) इति प्रामाण्यात् । अतो मिथ्यात्वेन हेयमेव वैषयिकं तुच्छं सुखम्, न तदर्थं प्रयत्नो विधेय इति भावः ।

एवमविद्याकल्पितदेहाद्यात्माध्यासादेव विविधवासनायुक्तो विषयासक्तश्च सन् अयं जीवो मायया पृथक् - पृथक् नामभिः सह पृथक् - पृथक् देवतिर्यगादिरूपभेदञ्च कल्पयन् - विविधानन्तदेहै र्हेतुभिः कल्पितोत्कृष्टत्वेष्टत्वानिष्टत्वादिभावं सुखदुःखादिफलविशिष्टं मिथ्याभूतं संसारं पश्यतीत्याह – 'स वासनात्मा विषयोपरक्तो गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा ॥ बिभ्रन् पृथङ्नामभिरूपभेदमन्तर्बहिष्ट्वं च पुरैस्तनोति । दुःखं सुखं व्यतिरिक्तञ्च तीव्रं कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति । आलिंग्य मायारचितान्तरात्मा स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः ॥' (१) (भा० । ५ । ११ । ५-६) इति । सः = मन उपाधिक-

(१) यह मन, वासनामय, विषयासक्त, गुणोंसे प्रेरित, विकारी और भूत एवं इन्द्रिय रूप सोलह कलाओंमें मुख्य है । यही भिन्न - भिन्न नामोंसे देवता

आत्मा, यद्वाऽऽत्मन उपाधिभूतं मनोऽप्यध्यासादात्मैव संजातः। वासनात्मा = विविधवासनायुक्तः, अतो विषयैरुपरक्तः = अनुविद्धः, अतो गुणप्रवाहः = गुणैः सत्त्वादिभिरितस्ततश्चाल्यमानः, गुणैः प्रोह्यत इति तथा तै र्वशीकृतः अत एव विकृतः = विकारी-कामादिपरिणामवान्। षोडशात्मा = षोडशकलासु पंचभूतैकादशेन्द्रियरूपासु मुख्यः। पृथङ्नामभिः सह, पृथग्रूपभेदं = देवतिर्यगादिरूपभेदं बिभ्रत् = धारयन्, पुरैस्तैरेव = देहै र्हेतुभूतैः, अन्तर्बहिष्ट्वं = उत्कृष्टत्वं निकृष्टत्वं - इष्टत्वानिष्टत्वादिकमपि तनोति = कल्पनया विस्तारयति। नामभिरित्यत्र रेफलोपे दीर्घाभाव आर्षः। फलञ्च तदनुरूपं करोतीत्याह-दुःखं, सुखं, व्यतिरिक्तं च ताभ्यां पृथक् मोहं, तीव्रं = दुर्निवारं, कालोपपन्नं = कालप्राप्तं सर्वतोऽभिव्यनक्ति = सृजति। ननु जडः कथं सृजति? तत्राह। स्वदेहिनं = जीवात्मानं आलिंग्य - तादात्म्यं प्राप्य। आलिंगने कारणमाह - मायारचितान्तरात्मा - मायया = अविद्यया रचितोऽन्तरात्मा = जीवोपाधिः सन्। उपाधिश्च समीपे स्थित्वा स्वधर्मस्य तत्राधानं करोति यः, स एवेति। तथा च मनोऽपि स्वधर्मान् - संकल्पादीन् कामादींश्च निजतादात्म्याध्यासेनात्मन्यादधातीति तस्योपाधित्वम्। उपाधितामाह - संसृतिचक्रे कूटयति = छलयतीति तथा संसृतिचक्रकूटः, यथा ग्रामकूटकः - यथा ग्रामस्थः कूटकः = छद्मी - कपटी वंचकः, स यथा ग्रामस्थान् सरलान् जनान् निजमायया कापट्येन वंचयति, तथा मनोऽप्यात्मानमिति भावः। एवमयं मनोनिबन्धनस्तत्कल्पितो मिथ्यासंसारो जीवात्मन्यध्यासात् प्रतिभासते इत्याह - 'तावानयं व्यवहारः सदाऽऽविः, क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः। तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति गुणागुणत्वस्य परावरस्य॥' (१) (भा० ५।११।७) इति। 'यावन्मनो रजसा पूरुषस्य सत्त्वेन वा तमसा वाऽनुरुद्धम्।' (भा० ५।११।४) इत्यत्र - पूरुषस्य = आत्मनो मनः सत्त्वादिभिरनुबिद्धं - वशीकृतं सत् यावत् संसारे पुरुषं भ्रामयति, तावान् - एवायं - सर्वोऽपि लौकिकवैदिकभेदव्यवहारः, जाग्रदवस्थायां स्थूलः, स्वप्नावस्थायाञ्च सूक्ष्मः, सदा-

---

और मनुष्यादि रूप धारण करके शरीर रूप उपाधियोंके भेदसे जीवकी उत्तमता और अधमताका कारण होता है। वह मायामय मन संसारचक्रमें छलनेवाला है, यही अपनी देहके अभिमानी जीवसे मिलकर, उसे कालचक्रसे प्राप्त हुए सुख दुःख और इनसे व्यतिरिक्त मोहरूप अवश्यम्भावी फलोंकी अभिव्यक्ति करता है।

(१) जबतक यह मन रहता है, तभी तक जाग्रत् और स्वप्नावस्थाका व्यवहार प्रकाशित होकर जीवका दृश्य बनता है। इसलिये पण्डितजन मनको ही त्रिगुणमय अधम संसारका और गुणातीत परमोत्कृष्ट मोक्षपदका कारण बताते हैं।

ऽऽविः = प्रकाशमानो भवति । कीदृशः सः ? क्षेत्रज्ञस्यात्मनः साक्ष्यः = दृश्यो भवति । मनसः संसारहेतुत्वमुपसंहरन् मोक्षस्यापि तदेव कारणमाह – तस्मादिति । अदो मनः लिङ्गं = कारणं, गुणत्वं = गुणाभिमानित्वं संसारबन्धः । अगुणत्वं = तद्राहित्यं संसारमोक्षः, तदेव परमवरं च तस्य । यद्वा तौ संसारमोक्षौ मनोद्वारा कस्य स्यातामित्यत आह – परावरस्य = उत्कृष्टनिकृष्टजनस्य । पाठक्रमोऽत्र न विवक्षितः । निकृष्टस्याज्ञस्य मूढस्य संसारः, उत्कृष्टस्य = विज्ञस्य ब्रह्मभूतस्य मोक्षः इत्यर्थः । ननु–कथमेकमेव विलक्षणयो बन्धमोक्षयोः कारणं स्यात्, अवस्थाभेदादित्याह – 'गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः, क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात् ।' (भा० ५ । ११ । ८) इति । व्याख्यातमिदं पद्यं प्राक् तत्र द्रष्टव्यम् ।

सम्प्रति मनोवृत्तीनां तद्विषयाणां द्रव्यादीनाञ्च मायाकल्पिततया मिथ्यात्वमेवोच्यते – 'द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालैरेकादशामी मनसो विकाराः । सहस्रशः शतशः कोटिशश्च क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः ॥' (भा०५।११।११) इति । द्रव्याणि = चन्दनकस्तूरीकुंकुमस्वर्णरजतताम्रादीनि, यद्वा द्रव्याणि = शब्दादयो विषयाः, स्वभावाः = परिणामरूपविकृतिहेतुभूताः, आशयाः = अन्तःकरणानां विविधाः संस्काराः । कर्माणि = पुण्यपापलक्षणानि-अदृष्टाख्यानि. कालः = सर्वस्य क्षोभकः, तैरेतै र्माययोद्भासितै र्निमित्तभूतैः, अमी एकादश मनसो विकाराः = वृत्तयः प्रथमं स्युः, ततः पश्चात् शतशः, ततः सहस्रशः, ततो लक्षतः, ततः कोटिशश्च स्युः, एवं तासां वृत्तीनामवान्तरभेदैरानन्त्यं ज्ञेयम् । अतस्ताः तैः सह क्षेत्रज्ञतः = स्वाधिष्ठानादेव स्युः, तत्सत्तयैव तत्राध्यस्तत्वात् सत्तां लभेरन्, यथाऽधिष्ठानरज्जुसत्तयैव तत्रारोपिताः सर्पस्रक्दण्डादयः सत्तां लभन्ते । अतस्ताः अवस्तुभूताः, न तु मिथः = परस्परं सिद्ध्यन्ति, न च स्वतः । यद्वा क्षेत्रज्ञः = प्रत्यगात्मा, तस्मान्न स्युः, तस्यासङ्गत्वात् अविकारित्वाच्च, न मिथः स्युः, अन्योन्याश्रयत्वादत्तेः, न स्वतः आत्माश्रयतापत्तेः । अतोऽविद्यया मायया विलसितत्वात् – ते च द्रव्यादयः ताश्च वृत्तयः मिथ्याभूता एव प्रत्येतव्या इति ।

एवं हे राजन् ! अयं शिबिकायामधिरूढस्तव देहोऽपि विचार्यमाणो न वास्तविकोऽपितु मिथ्याभूत एव सिद्ध्यति । यतोऽयं पृथिव्याः उपादानकारणरूपायाः परिणामलक्षणो विकार एवास्ति । कार्यञ्च स्वकारणाद्व्यतिरिक्तं पृथक्सत्ताकं कथमपि न सिद्ध्यति । अतोऽस्य स्वकारणव्यतिरेकेणासत्त्वमेवावगम्यते । एवमन्येषामपि निखिलानां देहानां, गृहप्रसादवृक्षादीनामपि कार्याणां स्वकारणपृथिव्या अनन्यत्वं = तद्व्यतिरेकेणाभावः प्रत्येतव्यः । इत्येतत्सर्वमभिप्रेत्य ब्रह्मनिष्ठो जडभरतो राजानं रहूगणं-प्रति-स्वकारणात् कार्यस्य जगतो

ऽनन्यत्वं, दृश्यस्य तस्याविद्यया मनसा कल्पितत्वं-तदधिष्ठानभूतस्य महाकारणस्य प्रत्यगभिन्नभगवत्तत्त्वस्य विशुद्धस्यैकस्यैव ब्रह्मणः परमार्थतः सत्यत्वञ्चाह —

यदा क्षितावेव चराचरस्य,
विदाम निष्ठां प्रभवञ्च नित्यम् ।
तन्नामतोऽन्यद् व्यवहारमूलं,
निरूप्यतां सत् क्रिययाऽनुमेयम् ॥
एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्तम-
सन्निधानात्परमाणवो ये ।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते,
येषां समूहेन कृतो विशेषः ॥
एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद्यद्,
असच्च सज्जीवमजीवमन्यत् ।
द्रव्यस्वभावाशयकालकर्म-
नाम्नाऽजयाऽवेहि कृतं द्वितीयम् ॥
ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं,
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥ (१)

(भा० ५ । १२ । ८-९-१०-११)

---

(१) हम देखते हैं कि — सम्पूर्ण चराचर शरीरादि भौतिक पदार्थ, सर्वदा पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीमें ही लीन होते हैं, अतः उनके क्रियाभेदके कारण जो अलग - अलग नाम पड़ गये हैं— बताओ तो उनके सिवा व्यवहारका और क्या मूल है ?। इस प्रकार 'पृथ्वी' शब्दका व्यवहार भी मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं है, क्योंकि यह अपने उपादान कारण सूक्ष्म - परमाणुओंमें लीन हो जाती है और जिनके मिलनेसे पृथ्वीरूप कार्यकी सिद्धि होती है, वे परमाणु — अविद्यावश मनसे ही कल्पना किये हुए हैं । वास्तवमें उनकी भी सत्ता नहीं है । इसी प्रकार और भी जो

एवं देहादिकार्यस्य स्वकारणाव्यतिरिक्ते ततः पृथक्त्वेन तस्यानिरूपणे च सिद्धे सति यत्फलितं तदाह – यदेति। यदा चराचरस्य = स्थावरजङ्गमात्मकस्य सकलस्य देहादिकार्यजातस्य क्षितावेव = पृथिव्यामेव निष्ठां = वर्तमानकाले स्थितिं, विनाशानन्तरं लयं च, ततः क्षितित एव प्रभवं = उत्पत्तिञ्च नित्यं = नियमेन व्यवहारावस्थायां विदाम = वयं विद्मः। तत् = तदा, क्षितेरन्यस्य विकारस्य कार्यजातस्याभावात्, नामतः = तत्तन्नाम्ना व्यवह्रियमाणात् पृथिवीपदार्थात् - अन्यत् - सत् क्रियया = अर्थक्रिययाऽनुमेयं - व्यवहारस्य मूलं कारणं 'किं वस्त्वस्ति' तन्निरूप्यतामित्यन्वयः। तथा च श्रुतिः 'वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।' (छां० ६।१।४) इति। अतः 'कारणद्रव्यमेव सत्यं तत् कार्यन्तु वाचो व्यवहारावलम्बनमात्रं - नामधेयं = नाममात्रं ततः पृथक्तयाऽर्थरूपेण न सिद्ध्यतीत्यवगम्यते। तस्मात् सर्वेषां कार्याणां क्षितिभिन्नत्वाभावात्, तद्भिन्नत्वसाधने तत्र काचन युक्तिः प्रतिभाति चेत्तदा ममाग्रे निरूप्यताम्। अर्थात् नास्ति काचन युक्तिः, न च तन्निरूपणमपि केनापि कर्तुं शक्यत इति। प्रत्युत तद्भिन्नत्वाभावसाधिका – 'यत्कार्यं यस्मादुपादानकारणात् समुत्पद्यते, यस्मिंश्च स्थीयते, विलीयते च, तत् ततो भिन्नतया नावतिष्टते' इति सर्वत्र कार्यस्य कारणव्यतिरेकेणाभावसमर्थिका-प्रत्यक्षदृष्टा युक्ति विद्यत इति भावः। इयञ्च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत (छां० ३।१४।१) इति श्रुतिमूलिकाऽप्यस्ति। तर्हि क्षितेः सत्यता स्यात्? तत्र देहादिविकारन्यायं पृथिव्यामप्यतिदिशति – एवं क्षितिशब्दस्यापि वृत्तं = वर्तनं तात्त्विकार्थं विनैव निरुक्तं = निश्चयेनोक्तम्। यद्वा क्षितिशब्दस्य वृत्तं यस्मिन्, अर्थात् यस्मिन् पदार्थे वाचकतया क्षितिशब्दो वर्तते, तदपि = क्षितिशब्दवाच्यमपि देहादिवत् स्वकारणीभूतावयवव्यतिरेकेणासत्त्वादेव मिथ्यात्वेन निरुक्तमित्यर्थः। कुतः? अत्र हेतुमाह– असन्निधानात् = असत्सु = अदृष्टेषु-अतिसूक्ष्मेषु स्वकारणभूतेषु परमाणुषु निधानात् = विलयात्, तद्व्यतिरेकेण निरूपयितुमशक्यत्वादित्यर्थः। अतः परमाणुव्यतिरेकेण क्षिति नास्तीति भावः।

कुछ पतला - मोटा, छोटा - बड़ा, कार्य-कारण तथा चेतन और अचेतन आदि गुणोंसे युक्त द्वैत प्रपंच है, उसे भी द्रव्य स्वभाव, आशय, काल और कर्म आदि नामोंवाली भगवान्‌की मायाका ही कार्य समझो। परमार्थसे यह कुछ भी नहीं, मिथ्या प्रतीतिमात्र है। विशुद्ध परमार्थरूप अद्वितीय तथा भीतर बाहरके भेदसे रहित परिपूर्ण ज्ञानरूप अन्तरात्मा ही सत्य वस्तु है। वह सर्वान्तिवर्ती और सर्वथा निर्विकार है। उसीका नाम भगवान् है और उसीको पण्डित जन 'वासुदेव' कहते हैं।

परमाणवस्तर्हि सत्याः स्युस्तत्राह - ते = परमाणवोऽपि मनसा कार्यानुपपत्त्या वादिभिः कल्पिताः । कल्पनाबीजमाह - येषां = परमाणूनां समूहेन विशेषः कृतस्तेषां समूहः पृथ्वीबुद्ध्यालम्बनमित्यर्थः । अवयविनो निरस्तत्वात् समूहग्रहणम् । तथापि - अतिसूक्ष्मत्वेन विभागानर्हतयाऽन्त्यावयवभूतास्ते सत्याः स्युः ? न, कुतः ? अविद्यया = त्रिगुणात्मिकयाऽनिर्वाच्यया प्रकृत्याऽज्ञानसंज्ञया - नामरूपात्मकस्य सकलस्य स्थूलसूक्ष्मद्वैतप्रपञ्चस्य भगवन्मायाविलसितत्वात् - कल्पिताः = महत्तत्त्वाहंकारसूक्ष्मभूतादिद्वाराऽध्यारोपिताः । अतस्तेऽपि स्वकारणप्रकृतिव्यतिरेकेण न सन्तीत्यर्थः । एवं पृथिव्यां प्रदर्शितं न्यायमन्येष्वपि पदार्थेषु - अतिदिशति - एवमिति । एवं = पृथिवीवद् अन्यदपि यत् = कृशत्वादिधर्मकं द्वितीयं = द्वैतं - बुद्ध्या व्यवहारेण च प्रतीतं, तत्, द्रव्याद्याकारेभ्यः परिणतयाऽत एव द्रव्यादिनाम्नोपलक्षितया व्यवह्रियमाणया अजया = अनादिभूतया मायया - शुक्लकृष्णलोहितरूपया 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।' (श्वे० ४।५) इति श्रुतेः । भगवदाश्रितया कृतं = कल्पितं = अवेहि = जानीहीत्यन्वयः । तत्र कृशं = ह्रस्वं, स्थूलं तत्प्रतियोगि यदपेक्ष्य ह्रस्वत्वं ज्ञायते, अणु = स्वल्पं, बृहत् = महत् । असत् = प्रत्यक्षादृष्टं सूक्ष्मं कारणं, सत् = प्रत्यक्षदृष्टं कार्यं, जीवं = चेतनं, अजीवं = जडं, द्रव्यं = महाभूतादि । अन्यत्स्पष्टम्-अग्रे व्याख्यातञ्च । तत्र जीवस्य स्वतः चेतनत्वेन जडप्रकृत्युपादानकत्वाभावेऽपि वस्तुतो लिंगदेहविशिष्टचेतनस्यैव जीवसंज्ञाव्यवहारात् लिङ्गदेहद्वारा तस्य प्रकृतिकृतत्वमस्त्येवेति बोध्यम् ।

तर्हि सर्वोपादानकारणत्वेन मायायाः प्रकृतेः सत्त्वं स्यादित्याशंक्य तस्या अपि भगवतोऽनिर्वचनीयशक्तिविशेषत्वेन भगवत्सत्तयैव प्रतीयमानत्वात् तद्व्यतिरेकेण तत्सत्यत्वस्य निरूपयितुमशक्यत्वाच्च - मायातत्कार्याखिलद्वैतप्रपञ्चस्याधिष्ठानभूतो भगवानेव प्रत्यगात्मा विशुद्धाद्वयज्ञानरूपः परमार्थसत्य इत्याह - ज्ञानमिति । सर्ववेदवेदान्तवेद्यं चिद्रूपं ब्रह्मैव सत्यम् । व्यावहारिकसत्यत्वं व्यावर्तयति - परमार्थम् । वृत्तिज्ञानव्यवच्छेदार्थानि षड् विशेषणानि । ब्रह्मस्वरूपभूतं ज्ञानं विशुद्धं, तत्त्वविद्यकं, एकं, तत्तु नानारूपम् । अनन्तरं त्वबाह्यं = बाह्याभ्यन्तरभेदशून्यं, तत्तु विपरीतम् । ब्रह्म = परिपूर्णं तत्तु परिच्छिन्नं । प्रत्यक् = निर्विषयं-निराकारं, तत्तु विषयाकारम् । प्रशान्तं = निर्विकारम् । तदेवं स्वरूपज्ञानं सर्वात्मभूतमेव सत्यमित्युक्तम् । कीदृशं तत् ? ऐश्वर्यादिषड्गुणत्वेन भगवच्छब्दः संज्ञा यस्य, यच्च ज्ञानं वासुदेवं वदन्ति । तदेव विशुद्धसत्त्वोपाधिकतया भगवानितिशब्देन, सर्वविश्वान्तर्यामितया च वासुदेव इति शब्देन कवयः प्रतिपादयन्तीत्यर्थः ।

इत्येवं ब्रह्मविद्वरेण्यस्य महानुभावस्य जडभरतस्यायमुपदेशः – 'ब्रह्म-सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।' इति वेदान्तसारभूतयथार्थसिद्धान्त-प्रतिपादने जागरूकः सन् श्रीमद्भागवतस्य सर्ववेदान्तसारत्वं दृढयति ।

तर्हि – एवंभूतस्य परमार्थाद्वयज्ञानरूपस्य ब्रह्मात्मतत्त्वस्य साक्षात्कार-लक्षणो लाभः केन साधनेन स्याद् ? इत्यपेक्षायां महतां सद्ब्रह्मनिष्ठानां संगे-नैवेत्याह – 'रहूगणैतत्तपसा न याति, न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा । न च्छंदसा नैव जलाग्निसूर्यैं विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥ यत्रोत्तमश्लोकगुणा-नुवादः प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः । निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षोर्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥' (१) (भा० ५ । १२ । १२ - १३) इति । रहूगणेति सम्बोधनं तत्साधनरहस्यश्रवणे सावधानतार्थम् । महतां = समसत्याद्वयब्रह्म-निष्ठानां प्रशान्तानां 'महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ताः' (भा० ५ । ५ । २) इत्युक्तत्वात् । पादरजसा य आत्मनोऽभिषेकः = स्नानं. तद्विना, एतदुक्तं ब्रह्मा-त्मतत्त्वं तप आदिभिः केवलैः पुरुषो न याति = प्राप्नोति । अर्थात् तदभिषेके-नैव तद्विजानाति । यदा महतां पादरजः स्पर्शस्यापि तद्विज्ञानप्रतिरोधकरजस्त-मोभावनिवर्तकत्वलक्षणं माहात्म्यमद्वैतसिद्धौ – आचार्यप्रवरेणमधुसूदन-स्वामिनेत्थं प्रत्यपादि – 'श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानामैक्येन साक्षात्कृतमाधवा-नाम् । स्पर्शेन निर्धूतरजस्तमोभ्यः पादोत्थितेभ्योऽस्तु नमो रजोभ्यः ॥' (२) इति । तदा ततोऽप्यधिकस्य तदभिषेकस्य महत्त्वं गुणत्रयरूपमायातत्कार्यद्वैत-प्रपञ्चोपलक्षिताधिष्ठानाद्वयब्रह्मसाक्षात्कारसंपादनलक्षणं सिद्ध्येदित्यत्र किमु

---

(१) रहूगण ! महापुरुषोंके चरणोंकी धूलीसे अपनेको नहलाये विना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादिके दान, अतिथिसेवा, दीनसेवा, आदि गहस्थो-चित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे यह परमात्म - ज्ञान प्राप्त नहीं होसकता, किन्तु महापुरुषोंके सत्संगसे एवं उनकी कृपासे प्राप्त होता है । इसका कारण यह है कि महापुरुषोंके समाजमें सदा पवित्रकीर्ति श्रीहरिके दिव्य गुणोंकी चर्चा होती रहती है, जिससे विषय वार्ता तो पास ही नहीं फटकने पाती । और जब सरस–सारपूर्ण भगवत्कथाका नित्यप्रति सेवन किया जाता है, तब वह मोक्षाकांक्षी पुरुषकी शुद्धबुद्धिको भगवान् वासुदेवमें लगा देती है ।

(२) जिन्होंने अभेदभावसे माधव श्रीविष्णुके स्वरूपका साक्षात्कार किया है, ऐसे श्रीराम, श्रीविश्वेश्वर और श्रीमाधव, इन तीन गुरुओंके चरणोंसे उठी हुई धूलीको मैं नमस्कार करता हूं, जिसके स्पर्शसे रजोगुण तमोगुणके कलुषित भावोंका निवारण होता है ।

वक्तव्यमिति । तपसा = व्रतोपवासादिना वानप्रस्थधर्मेण । इज्यया = यज्ञादि-वैदिकगृहस्थधर्मेण । निर्वपणात् = अन्नादिसंविभागात्, गृहात् = तन्निमित्त-परोपकारात् । छन्दसा = वेदाध्ययनादिब्रह्मचारिधर्मेण, जलादिभिर्वोपासितैः ।

महच्छरणागमनं कथमात्मतत्त्वसाक्षात्कारहेतुरित्याशंक्याह - यत्र = येषु महत्सु-ब्रह्मनिष्ठेषु ज्ञानिषु-अनन्यभक्तिमत्सु, उत्तमश्लोकगुणानुवादः = उद्गच्छति - निवर्तते तमः = आत्मावरकमज्ञानं यस्मात् - विदितात्, स उत्तमः, तथाभूतः श्लोकः = श्लाघनीयः स्तुत्यः परमानन्दपूर्णः स्वरूपभूतो महिमा यस्य, तस्य-उत्तमश्लोकस्य-परमात्मनः स्वरूपभूता ये गुणाः परमार्थ-सत्यतया प्राक् प्रतिपादिताः-नित्यशुद्धबुद्धमुक्ताद्वयचित्सुखादयः, तेषां अनुवादः = पौनःपुन्येन कथनम् । अतोऽज्ञानतज्जकामादिकल्मषनिवर्तकत्वादेव ग्राम्यकथाविघातः = विषयिपामरमूढजनानां या ग्राम्याः = शास्त्रबहिर्भूताः तुच्छाः कथाः = 'जगत् दृश्यमानं सत्यं, अदृष्टं ब्रह्म मिथ्या, विषयसुखलाभ एव पुरुषार्थः, देह एवात्मा' इत्यादिलक्षणाः संवादाः, तासां कथानां विघातो यस्मात् स तथाभूतः-प्रस्तूयते = निरन्तरं प्रवर्तते । स चानुदिनं निषेव्यमाणः = श्रद्धातत्परतादिपूर्वकं श्रूयमाणः चिन्त्यमानश्च, मुमुक्षोः = संसारदुःखमय-बन्धनान्मोक्तुमिच्छोः सतीं = संसारसंतापोपशमनीं - सद्ब्रह्मनिष्ठामयीं, वासुदेवे = सर्वात्मनि पूर्णाद्वये ब्रह्मणि, मतिं = अनन्यप्रेमरसपूर्णां निर्वि-कल्पसमाधिलक्षणां स्थितप्रज्ञां, यच्छति = ददाति - संपादयति, ततश्च महतां सत्पुरुषाणां विमलानुग्रहेणैव परमात्मतत्त्वं हस्तामलकवत्-स्फुटतया प्रतिभा-सत इति भावः ।

सत्संगमन्तरेण तु विषयसंगात् संसारे भ्राम्यत्येवेति सूचयन् 'कस्त्वं निगूढश्चरसी' ति प्रश्नोत्तरत्वेन स्ववृत्तमाह-पूर्वमहं भरतो नाम राजाऽभवम् । राज्यैश्वर्यादिकं त्यक्त्वैकान्ते भगवत आराधनं कुर्वन् मृगासक्तितोऽहं मृगोऽ-भवम् । पुनर्मृगदेहमुत्सृज्य ब्राह्मणो जातोऽस्मि । भगवदाराधनप्रभावात् सा स्मृतिर्मयि न नष्टा । अत एवाहं जनसंगाद्भीतः सर्वथाऽसंगो निर्द्वन्द्वः सर्वतो विरक्तः सन् एकमेवाद्वयं सच्चित्सुखपूर्णं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मचिन्तयन् उन्मत्तवद्विचरामि । इति ।

संप्रति-सत्संगसंसारमिथ्यात्वप्रसूतवैराग्यभक्तितत्त्वज्ञाननिरूपणेन फलि-तमर्थं निरूपयन्नुपसंहरति-'तस्मान्नरोऽसंगसुसंगजात-ज्ञानासिनेहैव विवृक्णमोहः । हरिं तदीहाकथनश्रुतिभ्यां लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः ॥' (१)

(१) सारांश यह है कि विरक्त महापुरुषोंके सत्संगसे प्राप्त ज्ञानरूप खड्गके द्वारा मनुष्यको इस लोकमें ही अपने मोह बन्धनको काट डालना चाहिए ।

(भा० ५।१२।१६) इति। 'यस्मान्महतां ब्रह्मनिष्ठानां समदर्शिनामनुग्रहमन्तरेण न मायातत्कार्यनिवृत्तिर्न वा' परमात्मतत्त्वप्राप्तिर्भवति, तस्मात् असंगाः = सर्वतो विरक्ता ये महान्तः सन्ति तैः यः सु = सुष्ठुः - श्रद्धातत्परतादिपूर्वकः संगः, तेन जातं ज्ञानं = प्रत्यगभिन्नाद्वयब्रह्मलक्षणं तदेवासिः प्रबलः खड्गः, तेन इहैव = अस्मिन्नेव जन्मनि, विवृक्णाः = संछिन्नः-विध्वस्तोऽज्ञानमिथ्याज्ञानलक्षणो मोहो यस्य सः। तदीहाकथनस्मृतिभ्यां = तस्य परमात्मनो भगवतो या ईहा = दिव्या जन्मगुणकर्मादिलीला तासां कथनम्, अनेन चित्तशुद्ध्यर्थं काम्यप्रयोजिका साकारभगवद्भक्ति लक्षिता, एवं भगवतः पारमार्थिकस्वरूपस्य या स्मृतिः ताभ्यां लब्धा = संपादिता-अपरोक्षा ध्रुवा स्मृतिः, साक्षात्कारलक्षणा येन स एव अध्वनः = अविद्याकल्पितस्य संसारमार्गस्य अति = अतिशयितं श्रेष्ठं पारं हरिं = अद्वयब्रह्मज्योतिःस्वरूपं निर्गुणं निर्विशेषं निर्विकारं सच्चित्सुखमात्रं याति = प्राप्नोति, नरः। स एव नरो यः स्वाभिन्नस्वरूपं हरिं प्राप्नोति। तस्मै 'नराय हरये नमः' (भा० ८।१६।३४) इति। अत्रापि - समानविभक्तिकत्वरूपं सामानाधिकरण्यं महावाक्यलक्ष्यार्थबोधकं प्रत्येतव्यम्।

—❀—

(३७)

(वैराग्याय दुःखरूपेण मिथ्यारूपेण च भवाटव्याः वर्णनम्) (१)

वैराग्यरहितं ज्ञानं, तर्हि मोक्षस्य साधनम्। तत्तु परोक्षमेवस्यात् नापरोक्षतमोऽपनुत् ॥ अतो ज्ञानापरोक्ष्याय वैराग्यं समपेक्षितम्। तेनैवान्यशमादनि सिद्ध्यन्ति साधनानि हि ॥ अपि च वैराग्यस्योत्पादकं कारणमस्ति दोषदृष्टिः, तत्स्वरूपमस्ति जिहासा = यच्चानिष्टं दुःखमयं विज्ञातं, तस्य हातुं = परित्यक्तुं प्रबलेच्छा। तस्य फलञ्च पुनर्विषयभोगेषु दैन्याभावः प्रारब्धवशात् अनुकूला वा प्रतिकूला वा विषयभोगाः, आगच्छन्तु वा गच्छन्तु वा, तत्र हर्ष-

फिर श्रीहरिकी लीलाओंके कथन और श्रवणसे भगवत्स्मृति बनी रहनेके कारण वह सुगमतासे संसार मार्गको पार करके भगवान्को प्राप्त कर सकता है। ।

(३७)

(१) (वैराग्यके लिये दुःखरूपसे तथा मिथ्यारूपसे भवाटवीका वर्णन)

शोकराहित्यमेवादैन्यम् । यदाह—भगवान् श्रीकृष्णो गीतासु – 'यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् । नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥' (२ । ५७) इति । यो वीतरागो मुनिः सर्वविषयेष्वनभिस्नेहः = चित्तासक्तिरहितः, तत एव तत्तत् शुभाशुभं = मूढजनाभिमतं सुखहेतुं शुभं = सुमिष्टस्निग्धपायसमोदकादिभोजनं, इष्टरसादिपानं, कोमलं सुरूपं वस्त्रं, आह्लादकवीणादिमधुरशब्दं, प्रासादयानादिकं वा प्राप्य, नाभिनन्दति = त्वया ममातिप्रियं कृतं सरसभोजनादिप्रदानेन, तेनाहमतीव सन्तुष्टो हर्षितश्चाभवम्, त्वत्समो नास्ति कश्चिदित्यभिनन्दनं न करोति । अशुभं = दुःखहेतुतया मतं, उक्ताद्विपरीतभोजनपानादिकं, अयं दाम्भिको मृषासाधुः इत्याद्यवमानजनकं वाक्यं वा प्राप्य कञ्चित्प्रति न द्वेष्टि । अतो रागद्वेषाभावात् - प्रशान्तैकाग्रचित्तत्वाच्च - तस्याद्वये ब्रह्मणि प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवत्येवेत्यर्थः । एवं यदाह श्रीमद्भागवते एकादशे योगेश्वरो हरिरपि – 'गृहीत्वाऽपीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति । विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥' (भा० ११ । २ । ४८) (१) इति । य इन्द्रियैः = श्रोत्रादिभिः, अर्थान् = शब्दादीन् विषयान् अनुकूलप्रतिकूलान् गृहीत्वापि, अपिशब्दात् परब्रह्माविष्टचित्तत्वात्- सर्वत्र विषयेष्वपि - ब्रह्मतत्त्वं निरीक्षमाणो विषयान् अगृह्णन्नपि, यतो विष्णोः = परब्रह्मणः, इदं = नामरूपात्मकं जगत्-मायाविलसिततया-मिथ्याभूता मायैवास्ति, न तु परमार्थसत्यं, इति पश्यन् प्रियाप्रियविषयाणां मिथ्यात्वनिश्चयात् प्रियशब्दादिश्रवणादिना न हृष्यति, अप्रियं तन्न द्वेष्टि । प्रारब्धप्रवाहागतं प्रियाप्रियादिसेवमानोऽपि, स तत्रासक्तिराहित्येन सर्वात्मभगवदेकनिष्ठो भागवतोत्तम इत्यर्थः ।

तथा च सफलस्य वैराग्यस्य लाभाय अस्मिन् मायाकल्पिते नामरूपकर्मात्मके संसारे दोषदृष्टिः कर्तव्या । अत एव राजानं रहूगणं प्रति - अवधूतशिरोमणि र्ब्रह्मनिष्ठो जडभरतो वैराग्याय दुःखरूपेण मिथ्यारूपेण चेत्थं भवाटवीं वर्णयति - तथाहि - अयं जीवसमूहः- अनादिकालतोऽस्यां श्मशानवदशिवतमायां संसाराटव्यां - अघटघटनापटीयस्या भगवन्मायया विनिवेशितो विविधोच्चावचदेवतिर्यगादियोनिषु कामकर्मवशात् परिभ्रमन् यथा

(१) जो श्रोत्र, नेत्र, आदि इन्द्रियोंके द्वारा शब्दरूप आदि विषयोंका ग्रहण तो करता है, परन्तु अपनी इच्छाके प्रतिकूल विषयोंसे द्वेष नहीं करता, और अनुकूल विषयोंके मिलने पर हर्षित नहीं होता – उसकी यह दृष्टि बनी रहती है कि यह सब दृश्यप्रपंच हमारे भगवान्की माया है, वास्तविक सत्य नहीं है – वह पुरुष उत्तम भागवत वैष्णव है ।

वणिक्सार्थः - धनार्जनाय मार्गं गच्छन् - तं विस्मृत्य भयङ्करां कुशकंटकशर्करादिभिरसुगमामटवीं याति, तत्र च भ्रमन् न सुखं किन्तु दुःखमेव लभते, तथा दुःखमेव विन्दति न सुखम् । यदाह भगवान् गीतासु - 'पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।' (८ । १५) इति । पुनर्जन्म = मनुष्यादिदेहसम्बन्धं कीदृशं ? दुःखालयं = गर्भवासयोनिद्वारनिर्गमनेष्टानिष्टसंयोगवियोगाद्यनेकदुःखस्थानं अशाश्वतं = अस्थिरं - दृष्टनष्टप्रायमित्यर्थः ।

यथा गहनेऽरण्ये वर्तमानस्य 'यस्य रक्षको दुष्टैश्चौरैः सह कृतमैत्रः स्वामिहितचिन्ताशून्योऽस्ति, तस्यासावधानस्य श्रेष्ठिनो बहुविधं कृच्छ्रात्प्राप्तं धनमनायासतश्चौरा लुण्टयन्ति । तथा यस्यां भवाटव्यामिमे इन्द्रियनामानः षड् दस्यवः - यस्य प्रज्ञासंज्ञको रक्षकः कामादिभिरतिदुष्टैः कृतमैत्रोऽस्ति, तस्य कुबुद्धेः संघातस्वामिनः पुरुषस्य बहुकष्टेन प्राप्तं धर्मलाभप्रयोजनकं धनं स्वास्थ्यं-आयुः-तेजो बलञ्चाभीष्टरूपदर्शनशब्दश्रवणरसास्वादनसुगन्धाघ्राणसुकोमलस्पर्शनसंकल्पनिश्चयादिभिः सम्पादिततुच्छोपभोगैः परिणतिविरसैर्विनाशयन्ति । यस्मिन् गहने संसारमार्गेऽत्यासक्त्या प्रवर्तमानस्यातिकृपणस्योचितधर्मस्वशरीरादिनिर्वाहार्थमपि धनव्ययमनिच्छतोऽपि अत एवानर्थशतैः सम्पादितमतिप्रयत्नेन रक्ष्यमाणमपि धनं कर्मणा वृकशृगालसदृशाः कलत्रपुत्रादयो नाम्ना कौटुम्बिकाः - 'यथा पालकेन स्वामिना संरक्ष्यमाणमपि मेषं वृका बलात् हरन्ति, तथा 'त्वं मम भर्ता पिता त्वदीयमिदमस्मदर्थमेवेति' वदन्तः प्रसभं हरन्ति । यथा हि - अन्नप्ररोहक्षेत्रं प्रतिवर्षं हलकर्षणादिना तृणादिनिःसारणेन शोध्यमानमपि - यस्मिन तृणकंटकादिबीजानि न दग्धानि, अत एव पुनरप्यावपनकाले प्रभूतगुल्मतृणवीरुद्भिर्गह्वरमिव भवति, तथैवायं गृहस्थाश्रमः कर्मक्षेत्रं, यस्मिन् मिथ्यामनोरथानि कर्माणि च न कदापि प्रशाम्यन्ति, यतोऽयं वासनारूपाणां कामानां करण्डभूतोऽप्यस्ति । कदाचित् एकस्मिन् कामे सिद्धे सत्यपि तदन्यानां विविधानां सहस्राणां कामानां समाप्त्यभावात्-तत्प्रयुक्तानि कर्माण्यपि न कदापि समाप्यन्ते । यथा कर्पूरभाजने कर्पूरक्षयेऽपि वासनारूपः परिमलो न क्षीयते, एवमत्र वासनानामक्षीणत्वान्न कर्माण्युत्सीदन्तीति भावः ।

तत्र गतो दंशमशकसमापसदैर्मनुजैः शलभशकुन्त-
तस्करमूषकादिभिरुपरुध्यमानबहिःप्राणः, क्वचित्परिवर्त-
मानोऽस्मिन्नध्वन्यविद्याकामकर्मभिरुपरक्तमनसाऽनुपपन्नार्थं
नरलोकं गन्धर्वनगरमुपपन्नमिति मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति ॥

तत्र क्वचिदातपोदकनिभान् विषयानुपधावति, पानभोजन-
व्यवायादिव्यसनलोलुपः ॥ (१)

(भा० ५ । १४ । ५-६)

तत्र = गृहस्थाश्रमे विकटारण्यसदृशे गतः = प्राप्तोऽयं मूढमान-वमंघः, = क्वचित् दंशमशकसमैः - पीडाकरैः, अपसदैः = नीचैर्दुष्टै र्मनुजैः, शलभशकुन्ततस्करमूषकादिभिश्चोपरुध्यमानः = प्रपीड्यमानः-बहिः-प्राणः-वित्तं-धनधान्यादिलक्षणं यस्य तथाविधः 'वित्तं बहिश्चराः प्राणाः' इति शिष्टस्मरणात् । तस्य विनाशलुण्टनादिनोपरोधे सति स्वान्तस्य चित्तस्य व्यग्रताऽवश्यं भवत्येव । अत एव विक्षिप्तचित्तः सन् अस्मिन्-अध्वनि-प्रवृत्ति-मार्गे परिवर्तमानः = परिभ्रमन्, अविद्याकामकर्मभिश्चोपरक्तेन = व्याप्तेन मनसा हेतुना, मृषाप्रतिभासमानगन्धर्वनगरतुल्यं-अनुपपन्नार्थं = अनुप-पन्नाः = सत्त्वादिभिरुपपादयितुमशक्याः अर्थाः = पदार्थाः-देहगेहवित्तादयो यस्मिन् तथाभूतं नरलोकं = मर्त्यलोकं अघटमानं, परमार्थसत्यतयोपपन्न-मिति-मिथ्यादृष्टिः सन् विषयाणां मिथ्यात्वेन तेभ्यो जायमाना दृष्टिः = दर्शनमपि मिथ्यैव, अनुपश्यति = अनुक्षणं पश्यति, न परमार्थसत्यं सर्वत्र सर्वदाऽवस्थितं पश्यति । अत एव तत्र = तस्मिन् गन्धर्वनगरे मर्त्यलोके - आतपोदकनिभान् = मृगतृष्णाजलतुल्यान्-वस्तुतोऽविद्यमानान् मिथ्यादृष्ट्या प्रतिभासमानान्-शब्दादीन् अभीष्टान् विविधान् विषयान् प्राप्तुं - क्वचिदुप-धावति । तत्र हेतुमाह - पानभोजनव्यवायादिषु संजातेन व्यसनेन लोलुपो = लंपटो यतः इत्यर्थः । यदा हि - श्रीमद्भागवते चतुर्थे -- 'इदं विश्वं माया-रचितमात्मनि । अविद्यारचितस्वप्नगन्धर्वनगरोपमम् ॥' (भा० ४।१२।१५) इत्यनेन निखिलस्य द्वैतप्रपञ्चस्य विश्वस्य मायाऽविद्यारचिततया स्वप्नदृष्ट-नगरगन्धर्वनगरतुल्यत्वेन मृषात्वं प्रतिपाद्यते, तदा तदेकदेशे वर्तमानस्य नर-

---

(१) उस गृहस्थाश्रममें आसक्त हुई व्यक्तिके धनधान्यरूप बाहरी प्राणोंको डांस और मच्छरोंके समान नीच - दुष्ट पुरुषोंसे, तथा टिड्डी, पक्षी, चोर और चूहे आदिसे क्षति पहुंचती रहती है, कभी इस मार्गमें भटकते - भटकते यह अविद्या कामना और कर्मोंसे कलुषित हुए अपने चित्तसे दृष्टिदोषके कारण इस मृत्युलोकको जो गन्धर्व नगरके समान असत् मिथ्या है, परमार्थ समझने लगता है। फिर खान पान और स्त्री प्रसङ्गादि व्यसनोंमें फंस कर मृगतृष्णाके समान मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ने लगता है ।

लोकस्य गन्धर्वनगरतुल्यत्वेन मृषात्वे किमु वक्तव्यम् । एवं शब्दादिविषयाणामपि मृषामृगतृष्णाजलसदृशत्वेन प्रतिपादितानां मिथ्यात्व-त्ववर्णलभ्यमेव वेदितव्यम् । तथा च नरलोके तद्विषयेषु च मिथ्यात्वनिश्चयात्-सत्यत्वसुखप्रदत्वसुन्दरत्वादिबुद्धे विलयेन तत्र वर्तमानो रागोऽपि विनिवर्तते । यतः सत्यत्वादिबुद्धिरेव तत्र रागं प्रयोजयात । प्रयोजकनाशात् प्रयोज्यनाशस्यावश्यंभावन मुमुक्षो हृदये विमलं वैराग्यं समुदेतीति भावः ।

क्वचिच्चायं विषयमुखासक्तो रजोगुणी मूढमानवसंघः – अशेषाणां हिंसापरस्त्रीगमनद्यूतमद्यपानादीनां दोषाणां स्थानं अग्ने विष्ठाभूतं प्रभूतं सुवर्णं न्यायतोऽन्यायतो वोपादातुमिच्छति, यथाऽरण्ये वर्तमानः शीतादिना व्यथितः कश्चन मूढजनस्तन्निवृत्तये अग्निवज्जाज्वल्यमानं इतस्ततो धावन्तमुल्मुकपिशाचमग्निबुद्ध्याऽनुधावति, न च तं धावमानोऽपि प्राप्नोति, कथंचित्प्राप्तश्चेत् तर्हि तेन पिशाचेन भक्षितः सन् म्रियते । तथाऽयं रजोगुणेन विक्षिप्तमति र्नानाविधकामाभितप्तः सन् तन्निवृत्तये सुवर्णादिकं वित्तमुपादित्सति । तदर्थं तमनुधावति । न च तं प्रारब्धं विना प्राप्नोति, कथंचित्प्राप्नोति चेत् तदा हिंसाकलहव्यसनाद्यभिरतो मृतो नरकादिदुःखमनुभवति । एवं कदाचित् स्वस्योपजीव्येषु निवासपानीयवस्त्रद्रविणपात्रभूषणस्त्रीपुत्रादिषु उपभोगसाधनेषु विविधेषु-अभिनिविष्टः सन् एतस्यां संसाराटव्यामितस्ततस्तल्लाभाय परिधावमानःप्रभूतं दुःखमनुभवति । यद्यपि – जीवननिर्वाहाय निवासादिसाधनलाभोऽप्युचित एव, तथापि तत्र शोभनाध्यासेनान्यायेन भोगप्रवणचित्तत्वस्य निन्दा युक्तैवेति बोध्यम् ।

क्वचिच्च चांचल्यस्वभावेन मोहान्धतोत्पादकत्वेन च प्रचण्डधूलिचक्रवातसदृशया प्रमदया सुन्दर्या युवत्या कामिन्या प्रसभमङ्कमारोपितो रजोगुणव्याप्तमतिः तस्यामतिरागेण विनष्टविवेकः सन् त्यक्तशास्त्रमर्यादोऽत एव रजन्यां भूता इव सर्वतः संचारिण्यः कर्मसाक्षिभूता वह्निसूर्यचन्द्रवाय्वाद्या देवता न विजानाति ।

'क्वचित्सकृदवगतविषयवैतथ्यः स्वयं पराभिध्यानेन विभ्रंशितस्मृतिस्तयैव मरीचितोयप्रायांस्तानेवाभिधावति ॥' (१) (भा० ५ । १४ । १०) इति । क्वचित् स्वयमेव सकृत् = एकवारमवगतं = 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।' (गी० ५।२२) इत्यादिशास्त्रगुरुवाक्येन स्वानुभवेन च

(१) कभी अपने आप ही एकाध बार विषयोंका मिथ्यात्व जान लेनेपर भी अनादिकालसे देहमें आत्मबुद्धि रहनेसे विवेक बुद्धि नष्ट हो जानेके कारण उन मरुमरीचिका तुल्य मिथ्या विषयोंकी ओर ही फिर दौड़ने लगता है ।

ज्ञातं विषयाणां वैतथ्यं-विफलत्वं-दुःखहेतुत्वं-येन स तथाभूतोऽपि पराभिध्यानेन = देहाद्यभिनिवेशेन विभ्रंशिता श्रुतस्य देहादिभिन्नात्मतत्त्वस्य स्मृतिर्यस्य सः, तयैव विभ्रंशितया स्मृत्यैव अर्थात् स्मृतिभ्रंशादेव, दुर्लभत्वेन दुःखहेतुत्वेन मनोरथापूरकत्वेन च मरीचितोयतुल्यांस्तान् मिथ्याभूतान् विषयानेवाभिधावति = तत्प्राप्तये विविधप्रयत्नैः प्रभूतं दुःखमनुभवतीत्यहो मोहस्य माहात्म्यमचिन्त्यमिति ।

क्वचिच्चायं जीवसंघः – झिल्लीनां भृङ्गारिकासंज्ञानां कीटविशेषाणां कठोरध्वनिवत् राजभृत्यानां उलूकानां दिवान्धानां दुष्टस्वनवत् दुष्टानां शत्रूणाञ्च निर्भर्त्सितेन दुर्वचनेन अतिव्यथितकर्णमूलहृदयो भवति । 'अपुण्यवृक्षान् श्रयते क्षुधार्दितो, मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित् । क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति, परस्परं चालषते निरन्धः ॥ आसाद्य दावं क्वचिदग्नितप्तो निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हृतासुः ॥ शूरैर्हृतस्वः क्व च निर्विण्णचेताः शोचन् विमुह्यन्नुपया त कश्मलम् । क्वचिच्च गन्धर्वपुरं प्रविष्टः प्रमोदते निर्वृतवन्मुहूर्तम् ॥' (१) (भा० ५ । १३ । ५-६-७) इति । क्वचिच्चायं मूढजीवसमुदायः क्षुधयाऽर्दितः पीडितः सन् येषां छायाऽपि पापहेतुस्तान् निषिद्धवृक्षान् विषतिन्दुकाकतुण्डादीन् क्षुधाशान्तये श्रयते = आश्रयति, उपलक्षणमिदं पिपासाव्याकुलः सन् विषयुक्तकूपांश्च तन्निवृत्तये श्रयते । अर्थात् विषवृक्षतुल्यान् अधार्मिकान् विषकूपतुल्यान् दुष्टांश्च पुण्यलाभाय शान्तिसुखप्राप्तये च सेवते । क्वचिच्च मरीचितोयवन्मिथ्याभूतान् निष्फलत्वेन विज्ञातान् विषयान् उपधावतीति प्रागुक्तम् । क्वचिच्च वितोयासु सरित्सु नदीषु उच्चावचतीक्ष्णपाषाणयुक्तासु पतितस्य गात्रभगात्सद्यो दुःखं भवति न चोदकलाभः, पश्चादपि तद्वेदनामनुवर्तते, तद्वत् इह च निन्दाहेतुत्वेन, परत्र च नरकपातादिहेतुत्वेन च दुःखदान दाम्भिकान् दुर्जनान् पाखण्डिनोऽभियाति – तेषां शास्त्र-

(१) कभी इस जीवसंघको भूख सताने लगती है तो यह निन्दनीय-विषमय - वृक्षोंका ही सहारा टटोलने लगता है और कभी प्याससे व्याकुल हो कर मृगतृष्णाकी ओर दौड़ लगाता है कभी जलहीन नदियोंकी ओर जाता है, कभी अन्न न मिलने पर आपसमें एक दूसरेसे भोजन प्राप्तिकी इच्छा करता है, कभी दावानलमें घुसकर अग्निसे झुलस जाता है, और कभी यक्ष लोग इसके प्राण खींचने लगते हैं तो यह खिन्न होने लगता है। कभी अपनेसे अधिक बलवान् लोग इसका धन छीन लेते हैं तो यह दुःखी होकर शोक और मोहसे अचेत हो जाता है, और कभी मिथ्या - गन्धर्वनगरमें पहुंच कर घड़ी भरके लिये सब दुःख भूल कर खुशी मनाने लगता है ।

विरुद्धमुच्छृङ्खलं मतवादं समाश्रित्य पापं तापञ्च प्राप्नोति न पुण्यं शान्तिञ्च । क्वचिच्चायं जीवसंघो यदा भाग्यहीनत्वात् शत्रुकालकृतया पीडयाऽऽत्मनेऽन्नं प्राप्तुं न शक्नोति, तदा पुत्रं वा पितरं वा भ्रातॄन वा भक्षयति, अर्थात् दुर्भिक्षसमये बालं पुत्रमपि विक्रीय, तद्विक्रयान्नभक्षणमेव पुत्रभक्षणं, तथैव वृद्धमपि पितरं कस्यचिद् द्वारपालं विधाय ततो लब्धद्रव्येण यत्स्वपालनं तत्पितृभक्षणं वेदितव्यम् । एवं भ्रातॄणां भक्षणमपि यथाकथञ्चिदुह्यम् । अत्र भक्षणं तद्बाधनमेव । 'क्वचिदासाद्य गृहं दाववत् प्रियाऽर्थविधुरमसुखोदर्कं शोकाग्निना दह्यमानो भृशं निर्वेदमुपगच्छति ॥' (१) (भा० ५ । १४ । १५) आसाद्य दावमित्यस्य व्याख्यानमिदम् । दाववत् = अरण्यप्रज्वलिताग्नितुल्यं प्रियया-भार्ययाऽर्थैर्धनादिसम्पत्तिभिश्च विधुरं = रहितं, अत एव असुखोदर्कं = उत्तरकालिकदुःखबहुलं सुखलेशशून्यं गृहं - आसाद्य = प्राप्य विलोक्य वा शोकाग्निना दह्यमानः = संतप्तः, भृशं = अत्यन्तं निर्वेदं = अहो गृहमिदं दुःखप्रचुरं कदाऽस्य त्यागो भविष्यतीत्येवं उपगच्छति = प्राप्नोति, निर्विद्यते = विषीदति । क्वचिच्च यदा प्रतिकूलतां प्राप्तै र्यक्षराक्षसतुल्यैः राजकुलै र्यस्य जीवसंघस्य प्राणवत् प्रियतमं धनमपह्रियते, तदाऽस्य प्रभृतं दुःखमुपजायते । एवमन्यैर्बलवद्भि र्दुष्टशौर्यैः - हृतस्वः सन् हृतं - अपहृतं - लुण्टितं स्वं = धनं यस्य सः । प्रमृतक इव शोकमूर्छितो भूत्वा यस्य जीवनप्रयोजकानि हर्षादीनि सर्वथा प्रक्षीणानि भवन्ति । निर्विण्णचेता = विषण्णं चेतो यस्य । शोचन् = शोकं कुर्वन्, मुह्यन् = मोहं प्राप्नुवन् । कश्मलं = शोकमूर्च्छाम् ।

क्वचिच्चायं जीवसंघः, गन्धर्वपुरमिव मिथ्यामनोरथैः प्राप्तं सुन्दरकलत्रपुत्रवैभवादिकं असदपि सदिति मत्वा तत्र चेतसा प्रविष्टः सन् मुहूर्तं = अधिकसमयपर्यन्तं निर्वृतवत् = निर्वृतिः = आनन्दः, तद्वान निर्वृतस्तद्वत् सुखिवत् । प्रमोदते = प्रमोदमनुभवति । यद्वा गन्धर्वपुरं = वर्तमानसमये सर्वतो विस्तृतं सिनेमानाटकादिलक्षणं मिथ्यामनोरममोहकदर्शनयुक्तं - मृषाभूतमपि परमार्थं - मोहशोकोत्पादकतया दुःखदमपि भ्रान्त्या सुखदञ्च मत्वा स्वप्नानन्दवत् ततः तुच्छमानन्दमनुभवति । पूर्वं गन्धर्वपुरवदघटमानदर्शनमुक्तमिदानीं तन्निमित्तसुखासक्तिरुच्यत इति विवेकः ।

'चलन् क्वचित् कंटकशर्करांघ्रि र्नगारुरुक्षु विमना इवास्ते । पदे-

(१) कभी दावानलके समान प्रियविषयोंसे शून्य एवं परिणाममें दुःखमय घरमें पहुंचता है, तो वहां स्त्रीपुत्रादि - इष्टजनोंके वियोगादिसे उसके शोककी आग भड़क उठती है, उससे सन्तप्त होकर वह बहुत ही खिन्न होने लगता है ।

पदेऽभ्यन्तरवह्निनाऽर्दितः कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय ॥ क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो नावैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः । दष्टः स्म शेते क्व च दंदशूकैरन्धोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्रे ॥ कर्हि स्म चित् क्षुद्ररसान् विचिन्वंस्तन्मक्षिकाभिर्व्यथितो विमानः । तत्रातिकृच्छ्रात्प्रतिलब्धमानो बलाद्विलुम्पन्त्यथ तं ततोऽन्ये ॥'

(१) (भा० ५ । १३ । ८ - ९ - १०) कंटकादिविद्धांघ्रिरिव विघ्नैः प्रभूतैरभिभूतः सन् नगतुल्यं महत्कर्म = वैदिकमिष्टापूर्तादि, कन्यापुत्रोद्वाहादि, यशसे, आरोढुं = कर्तुमिच्छुर्विमना इव = विक्षुब्धचित्तः सन् - सहायकाभावात्कथमहमेतत्पारयिष्यामीति चिन्तयन् तदन्तं गन्तुमिच्छन् चास्ते, तथा च कस्यचिद् ऋणेन धनं गृहीत्वोपस्थितं कर्म कृत्वोत्तमर्णगृहीतो दातुमशक्तोऽतीव दुःखी भवतीति भावः । पदे-पदे = क्षणे-क्षणे, अभ्यन्तरेण वह्निना = जाठरेण - दुःसहेन अर्दितः = पीडितः सन् अकिञ्चनो दरिद्रो विगतधैर्यः सन् स्वकुटुम्बाय = स्वकुटुम्बिजनान्कलत्रपुत्रादीन् व्यथितानपि व्यथयितुं क्रुध्यति । क्वचित् अजगराहिना = निद्राप्रमादरूपेण निगीर्णः = गिलितः अन्धे तमसि मग्नः, विपिने = गहनेऽरण्ये त्यक्तः शव इव न किञ्चिदपि स्वकर्तव्यं वेत्ति = विजानाति । क्वचित् च दंदशूकैः = दुर्जनाः कामक्रोधलोभपरायणा एव पीडाकरत्वाद् दंदशूकाः = वृश्चिकादयः तैः, दष्टः = पीडितो व्यथितः, अन्धः = लुप्तविवेकज्ञानः, अन्धकूपे = मोहे पतितः, तमिस्रे = दुःखे शेते = लीयते । अन्धकूपेऽन्धवत्-यथाऽन्धकूपे पतितस्यान्धस्य ततो निःसरणं दुर्घटं, तथा मोहे निमग्नस्याज्ञस्य ततो निःसरणं दुर्घटमित्यर्थः । कर्हिचित् स्म क्षुद्ररसान् = काममधुलवान् - विचिन्वन् = विषयभोगजन्यानि मधुवदापाततः शान्तिसुखकराणि-अभिकांक्षन्, यदा परस्त्रीधनवस्त्रावासादीनि अन्यायेन संपादयन् भवति, तदा तन्मक्षिकाभिः = तत्सदृशैः = कष्टप्रदै-

(१) कभी पर्वतों पर चढ़ना चाहता है तो कांटे और कंकड़ों द्वारा पैर चलनी होजानेसे उदास हो जाता है । कुटुम्ब बहुत बढ़ जाता है और उदरपूर्तिका साधन नहीं होता तो भूखकी ज्वालासे सन्तप्त होकर अपने ही बन्धु-बान्धवों पर खीझनेलगता है । कभी अजगर सर्पका ग्रास बन कर वनमें फेंके हुए मुर्दे के समान पड़ा रहता है । उस समय इसे कोई सुध-बुध नहीं रहती । कभी दूसरे विषैले जन्तु इसे काटने लगते हैं, तो उनके विषके प्रभावसे अन्धा होकर किसी अन्धेरे कुएमें गिर पड़ता है और घोर दुःखमय अन्धकारमें बेहोश पड़ा रहता है । कभी मधु खोजने लगता है तो मक्खियां इसके नाकमें दम कर देती हैं और इसका सारा अभिमान नष्ट होजाता है, यदि किसी प्रकार अनेकों कठनाइयोंका सामना करके वह मधु मिल भी जाय तो बलात्कारसे दूसरे लोग उसे छीन लेते हैं ।

तद्योषिदादिस्वामिभिः, राज्ञा च विमानः = अवज्ञातः ताडितश्च सन् व्यथितो भवति, कारागृहादिषु निबद्धो वा भवति । यदि कथंचिदतिक्लेशेन प्रतिलब्धमानः = परयोषिदादिकं प्राप्नोत्यपि, तदा ततोऽप्यन्ये = बलिनो बलात् = हठात् हरन्ति, ततोऽपि प्रभूतं दुःखमनुभूयान्ते स नरके पतति ।

'क्वचिच्च शीतातपवातवर्षप्रतिक्रिया कर्तुमनीश आस्ते ।' (१) (भा० ५ । १३ । ११) शीतादीनां प्रतिक्रियां = प्रतिकारं-निवारणं कर्तुं, अनीशः = असमर्थः सन दुरन्तचिन्तया समुद्विग्नः सन् आस्ते । 'क्वचित् क्वचित् क्षीणधनस्तु तस्मिञ्छय्यासनस्थानविहारहीनः । याचन परादप्रतिलब्धकामः पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥ (२) (भा० ५ । १३ । १८) आसनं = आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनं = कम्बलादि । स्थीयतेऽत्रेति स्थानं = गृहप्रासादादिकं । विहरन्त्यनेनेति विहारो = यानादि । याचन् = याचमानः, परात् = परस्माद्-अप्रतिलब्धकामः = अप्राप्तमनोरथः, तदा पारक्यदृष्टिः = पारक्ये-परकीये वस्तुनि दृष्टिः - अभिलाषा यस्य सोऽवमानं = तिरस्कारं लभते = प्राप्नोति । 'द्रुमेषु रंस्यन् सुतदारवत्सलो व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने । क्वचित्प्रमादाद्गिरिकन्दरे पतन् वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः ॥' (३) (भा० ५ । १३ । १८) द्रुमेषु = द्रुमवत् वृक्षवत् केवलदृष्टसुखप्रयोजनेषु गृहेषु रंस्यन् = रममाणः, व्यवायदीनः = सुरतेच्छया दीनः = दीनतायुक्तः कृपणः, सुतदारवत्सलः = सुतान् दारांश्च वत्स इव लाति-अनुगृह्णाति, तेष्वेव प्रीतियुक्तः । एवं स्वस्य यद्बन्धनं प्राप्तं, तस्मिन् विवशः = परिहर्तुमशक्तः, यथा वानरः स्त्रीसम्भोगासक्तः प्रमत्तो द्रुमेषु रममाणो लुब्धकेन गृहीत

(१) कभी शीत, घाम, आंधी और वर्षासे अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ हो जाता ।

(२) कभी - कभी उस संसार वनमें इसका धन नष्ट हो जाता है तो इसके पास शय्या, आसन रहनेके लिये स्थान और सैर-सपाटेके लिए सवारी आदि भी नहीं रहते । तब दूसरोंसे याचना करता है, मांगने पर भी दूसरेसे जब उसे अभिलषित वस्तु नहीं मिलती, तब परायी वस्तुओं पर अनुचित दृष्टि रखनेके कारण इसे बड़ा तिरस्कार सहना पड़ता है ।

(३) वहां वृक्षोंमें क्रीडा करता हुआ पुत्र और स्त्रीके स्नेह पाशमें बंध जाता है । इसमें मैथुनकी वासना इतनी बढ़ जाती है कि - तरह तरहके दुर्व्यवहारोंसे दीन होने पर भी यह विवश हो कर अपने बन्धनको तोड़नेका साहस नहीं कर सकता, कभी असावधानीसे पर्वतकी गुफामें गिरने लगता है तो उसमें रहने वाले हाथीसे डरकर किसी लताके सहारे लटका रहता है ।

आत्मानं विमोक्तुं न शक्नोति तथेति । गिरिकन्दरवत् = पर्वतगुहावत् प्रमादात् = विषयासक्त्या पापमाचरन् अतिभयानके रोगादिदुःखे पतन् कन्दरस्थगजतुल्यात्-मृत्योर्भीतः = कम्पितहृदयः सन् वल्लीतुल्यं = प्राचीनं-प्रारब्धकर्मावलम्ब्यावस्थितो भवति । 'अध्वन्यमुष्मिन्निम उपसर्गाः, तथा सुख-दुःखरागद्वेषभयाभिमानप्रमादोन्मादशोकमोहलोभमात्सर्येर्ष्याऽवमान-क्षुत्पि-पासाऽऽधिव्याधिजन्मजरामरणादयः ।' (भा० ५ । १४ । २७) अमुष्मिन् अध्वनि = सकामप्रवृत्तिमार्गेऽविद्यामिथ्याज्ञाननिबिडान्धकारव्याप्त इमे पूर्वोक्ता वित्तबाधादय उपसर्गाः – विघ्नाः सन्ति, तथा सुखदुःखादयोऽप्युपसर्गाः सन्ति । सुखं = अनुकूलवेदनीयं मनोवृत्तिविशेषः, दुःखं प्रतिकूलवेदनीयं मनो-वृत्तिविशेषः रागः = प्रीतिः विषयेषु शोभनाध्यासजन्या, द्वेषः = प्रीतिविरुद्धा क्रोधजननी दुष्टत्वाध्यासजन्या मनोवृत्तिः, भयं = द्वेषजननी मनोवृत्तिः, अभि-मानः = स्वस्मिन्नुत्कृष्टत्वाध्यासोऽहंकारः, प्रमादः = कर्तव्याननुसंधानं, उन्मादः = स्वस्मिन् उत्कृष्टत्वज्ञाने सत्यपि तदगणयित्वाऽनिष्टप्रवृत्तिः,शोकः = इष्टवियो-गानिष्टसंयोगजन्यः सन्तापः, मोहः = अन्यथा भानं-भ्रान्तिलक्षणः, लोभः = स्वप्रयोजनोपयोगिपदार्थेषु सत्स्वपि ततोऽधिकाभिलाषः, मात्सर्यं = परोत्कर्षा-सहनं, ईर्ष्या = शत्रूत्कर्षासहनं, अवमानः = अनादरः तिरस्कारः, आधि = मनोव्यथा, व्याधिः = शरीरव्यथा, क्षुत्पिपासादयः प्रसिद्धाः । 'अध्वन्य-मुष्मिन्नजया निवेशितो भ्रमन् जनोऽद्यापि न वेद कश्चन ।। रहूगण ! त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः । असज्जितात्मा हरिसेवया शितं ज्ञानासिमादाय तरातिपारम्' ॥ (१) (भा० ५ । १३ । १९–२०) अमुष्मिन्-अध्वनि = सकामसंसारप्रवृत्तिमार्गे अजया = मायया अविद्यालक्षणया निवेशितो जनो भ्रमन् = मिथ्याज्ञानलक्षणं भ्रमं वहन् कश्चनातिसमर्थोऽपि न वेद = अध्वनः पारं-परमपुरुषार्थभूतं श्रीहरिं सर्वात्मानं न जानातीत्यर्थः । हे रहूगण ! हि = यस्मात् त्वमप्यस्मिन्नध्वनि निवेशित एवेत्यनुषङ्गः । अतो हरिसेवया = हरिभक्त्या-तदाराधनया शितं = तीक्ष्णीकृतं-ज्ञानासिं = प्रत्यग-भिन्नाद्वयब्रह्मविषयकज्ञानलक्षणमसि = शस्त्रं, आदाय = गृहीत्वा, संसार-प्रवृत्तिहेतुभूतां मायां छित्त्वाऽस्याध्वनोऽति = अतिशयितं पारं-मायातत्कार्य-

(१) जो मनुष्य मायाकी प्रेरणासे एकवार इस संसार मार्गमें पहुंच जाता है उसे भटकते - भटकते अन्ततक अपने पुरुषार्थका पता नहीं लगता । रहूगण ! तुम भी इस मार्गमें भटक रहे हो, इसलिये अब प्रजाको दण्ड देनेका कार्य छोड़कर समस्त प्राणियोंके सुहृद हो जाओ, विषयोंमें अनासक्त हो कर भगवत्भक्तिसे तीक्ष्ण किया हुआ ज्ञानरूप खड्ग लेकर इस मार्गको पार कर लो ।

संसाराधिष्ठानभूतं हरिं, तर = गच्छ-अभेदेन प्राप्नुहीत्यन्वयः । ननु - कीदृश्या सेवया सन्तुष्टः प्रसन्नो श्रीहरिः स्वभक्ताय सफलं ज्ञानं प्रयच्छतीत्याकांक्षायामाह - 'दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा । सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥' (१) इति सिद्धान्तमनुरुध्याह - संन्यस्तदण्डः = संन्यस्तः-परित्यक्तो भूतेषु दण्डः = पीडा येन सः । तथा कृतभूतमैत्रः = कृताभूतेषु मैत्री = कृपा येन सः । तथाऽसज्जितात्मा = विषयेषु न मज्जितः = आसक्त आत्मा = मनो यस्य सः । तथाभूतः सन्नित्यर्थः । अनेन सर्वेन्द्रियसंयमः, सन्तोषश्च लक्षितः ।

'राजोवाच - अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं, किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन् । न यद्धृषीकेशयशः कृतात्मनां महात्मानां वः प्रचुरः समागमः ॥ न ह्यद्भुतं त्वाच्चरणाब्जरेणुभि र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला । मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे, दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥' (२) (भा० ५।१३।२१-२२) इति । संप्रति राजा रहूगणः स्वस्य कृतार्थतां वदन् जडभरतसंगं स्तौति । राजोवाच - अहो = अतिशयेन, अखिलजन्मशोभनं = अखिलेषु-देवतिर्यगादिजन्मसु शोभनं = प्रशंसनीयं नृजन्मैव = मानवजन्मैवेत्यन्वयः । अमुष्मिन = स्वर्गादौ, अपरः = न परं = श्रेष्ठं येभ्यो देवादिजन्मभ्यस्तैरपि कि फलं = नैव किञ्चित्फलं भवतीत्यर्थः । कुत एवं तत्राह - नेति । यत् = येषु देवादिजन्मसु, यत्र स्वर्गे वा, वः = युष्माकं - महतां = महात्मनां समागमः प्रचुरो न भवति । अत्र नृजन्मनि तु स प्रचुरो भवतीति तदेव शोभनमिति भावः । महतां किं लक्षणं ? इत्यपेक्षायामाह - हृषीकेशेति । हृषीकाणि = इन्द्रियाणि, तेषां ईशः = नियन्ता - प्रत्यगात्माऽन्तर्यामी भगवान्, तस्य यशसा = सभक्तिकेन गुणानुवादेन कृतः = शोधितः, आत्मा अन्तःकरणं

(१) वे भक्तवत्सल भगवान् समस्त जीवों पर दया करनेसे, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहनेसे, तथा समस्त इन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करके शान्त करनेसे शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं ।

(२) राजा रहूगणने कहा — अहो ! समस्त योनियोंमें यह मनुष्य जन्म ही श्रेष्ठ है । अन्यान्य लोकोंमें प्राप्त होनेवाले देवादि उत्कृष्ट जन्मोंसे भी क्या लाभ है ? जहां भगवान् हृषीकेशके पवित्र यशसे शुद्ध अन्तःकरणवाले आप जैसे महात्माओंका अधिकाधिक समागम नहीं मिलता । आपके चरणकमलोंकी रजका सेवन करनेसे जिनके सारे पाप - ताप नष्ट होजाते हैं, उन महानुभावोंको भगवान्की विशुद्धभक्ति प्राप्त होना कोई विचित्र बात नहीं है । मेरातो आपके दो घड़ीके सत्संगसे ही सारा कुतर्कमूलक - अज्ञान नष्ट हो गया है ।

यैस्तेषाम् । सन्ततोपासितैस्त्वच्चरणाब्जेरेणुभिः = त्वत्पादकमलधूलिभिः-हृतं = विनष्टं, अंहः = पापं मलविक्षेपलक्षणं, यस्य, तस्याधोक्षजे = प्राकृतेन्द्रियागोचरे - प्रत्यगभिन्ने भगवति, अमला = निष्कामा - अनन्या-ऽद्वयज्ञानमयी - भक्ति भवतीति नाद्भुतं = नैवाश्चर्यम् । अद्वयज्ञानमन्तरेण द्वयगुणदोषेष्टानिष्टभावरागद्वेषादिलक्षणस्य मलस्य सद्भावात् भक्तेर्निर्मलत्वं न सिद्ध्यति । अतोऽमलत्वं विशेषणं भक्तेरद्वयज्ञानप्राचुर्यं लक्षयति । हि = यस्मात् यस्य तव मुहूर्तमात्रभवात्समागममात्रादेव दुस्तर्कमूलः = दुस्तर्केण बद्धमूलोऽपि मे = मम, अविवेकः = विवेकज्ञानाभावलक्षितो गुणदोषादि-द्वैतबुद्धिप्रयोजकोऽज्ञानाख्यः, अपहृतः = विनष्टः तवाल्पसमागमप्रसूतज्ञा-नोदयेनेति शेषः । तदुक्तं षष्ठेऽपि – 'अविवेककृतः पुंसो ह्यर्थभेद इवात्मनि । गुणदोषविकल्पश्च भिदेव स्रजिवत्कृतः ॥' (१) (भा० ६ । १७ । ३०) इति । अयमर्थः– वस्तुतोऽविद्यमानद्वयेऽद्वयेऽधिष्ठाने इष्टानिष्टद्वयभेद इव यः स्फुरति, स आत्मन्यर्थभेदः = सुखादिभेदः पुंसः स्वप्ने यथाऽविवेककृतो भवति । यद्वा पुंस आत्मन्यधिष्ठाने भिदा = भेदो नाना बुद्धिः, अर्थभेद इव = मृदि घटशरावादिभेद इव, च पुनः गुणदोषविकल्प इव = अयं घटः शोभनोऽयमशोभन इतीव, अविवेककृतः = अधिष्ठानाज्ञानविजृम्भित एव । 'किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत् ।' (२) (भा० । ११ । २८ । ४) इति श्रीभगवद्वचः प्रामाण्यात् । किंवत् कृतः ? स्रजिवत्कृतः । अत्र तद्धिते सप्तम्या अलुक् । यथा स्रजि = मालायां सर्परेखारज्जुखण्डा-द्यर्थभेदस्तद्गुणदोषविकल्पश्च मालाऽज्ञानविजृम्भित एव न तात्त्विकः, तद्वत्-आत्मनि = अद्वये ब्रह्मणि जीवेश्वराकाशादिनानाधीः, गुणदोषादिविकल्पश्च न तात्त्विकः किन्तु - अविवेकोपलक्षिताधिष्ठानाज्ञानविलसित एव ।

एवं परमकरुणाशालिना ब्रह्मविद्वरीयसाऽवधूतजडभरतेन रहूगणं प्रति वैराग्याय दुःखरूपेण मिथ्यारूपेण च भवाटव्याः वर्णनं कृतम् । ततः प्राक्

(१) जैसे स्वप्नमें मिथ्या भेद भ्रमसे सुख-दुःख आदिकी प्रतीति होती है और जाग्रत् अवस्थामें भ्रमवश मालामें सर्प बुद्धि हो जाती है, वैसे ही मनुष्य अज्ञान वश आत्मामें देवता, मनुष्य आदिका भेद तथा गुण-दोष आदिकी कल्पना कर लेता है ।

(२) भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि - उद्धव जी ! जब द्वैत नाम की कोई परमार्थ वस्तु ही नहीं है, तब उसमें अमुक वस्तु भली है और अमुक वस्तु बुरी है अथवा इतनी वस्तु भली है और इतनी वस्तु बुरी है, यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता ।

द्वैतजगतो मिथ्यात्ववर्णनपूर्वकमद्वयब्रह्मात्मतत्त्वमप्युपदिष्टम् । एवं स्वावमानं कुर्वतेऽपि तस्मै राज्ञे, वैराग्यसहितमात्मज्ञानमुपदिश्य स्वकारुण्यं महत्त्वञ्च प्रदर्शितम् । न हि निवृत्ताभिमाना ब्रह्मभूता महान्तः तुच्छं स्वावमानं स्मृत्वा दीनेषु - कुप्यन्ति, किन्तु कृपयन्त्येव । एवं महानुभावो जडभरत आपूर्णार्णव इवोपशान्तकरणोर्म्याशयो * धरणिमिमां स्वच्छन्दतो विचचार । 'सौवीरपतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याऽध्यारोपितां च देहात्ममतिं विससर्ज, एवं हि नृप ! भगवदाश्रिताश्रितानुभावः ।' (१) (भा० ५।१३।२५) सौवीरपती रहूगणोऽपि सुजनात् तस्माद्भरतात् सम्यक् अवगतं-परस्यात्मनः सतत्त्वं = तत्त्वज्ञानेन सहितं भक्तिवैराग्यादिकं साधनं येन तथाभूतः सन्, आत्मनि = अधिष्ठानेऽविद्ययाऽध्यारोपितां देहात्ममति-आत्मज्ञानेन विससर्ज = तत्याज । श्रीशुको वदति – हे नृप ! परीक्षित् ! भगवदाश्रितो यो भरतस्तदाश्रितो यो रहूगणस्तस्याप्यनुभावः = प्रभाव एवंभूतः सद्यो मिथ्याभावत्यागयथार्थब्रह्मभावग्रहणसामर्थ्यलक्षणो जातः । इत्याश्चर्यं महतः संगस्य महिम्नः इति ।

एवं राजर्षिभरतस्य पावने वंशे जातो गयनामा राजर्षिप्रवरोपि स्वधर्मानुष्ठानवैराग्यभक्तिलाभद्वारा ब्रह्मविज्ञानं सम्पाद्य जीवन्मुक्तोऽभूदिति तस्य महापुरुषस्य वृत्तमीदृशं वर्णितम् । तथा हि – 'स वै स्वधर्मेण प्रजापालनपोषणप्रीणनोपलालनानुशासनलक्षणेनेज्यादिना च भगवति महापुरुषे परावरे ब्रह्मणि सर्वात्मनाऽर्पितपरमार्थलक्षणेन ब्रह्मविच्चरणानुसेवयाऽऽपादितभक्तियोगेन चाभीक्ष्णशः परिभावितातिशुद्धमतिरुपरतानात्म्य आत्मनि स्वयमुपलभ्यमानब्रह्मात्मानुभवोऽपि निरभिमान एवावनिमजगुपत् ॥' (२) (भा० ५ । १५ । ७)

---

(१) श्रीजड़भरतके सत्संगसे परमात्मतत्त्वका ज्ञान पाकर सौवीरपति रहूगणने भी अन्तःकरणमें अविद्यावश आरोपित देह बुद्धिको त्याग दिया । राजन् ! जो लोग भगवदाश्रित - अनन्य ज्ञानीभक्तोंकी शरण लेते हैं, उनका ऐसा ही प्रभाव होता है– उनके पास अविद्या ठहर नहीं सकती ।

(२) महाराज गयने प्रजाका पालन, पोषण, रंजन, लाड़, चाव और शासनादि करके तथा तरह - तरहके यज्ञोंका अनुष्ठान करके निष्कामभावसे केवल भगवद् प्राप्तिके लिये अपने धर्मोंका आचरण किया, इससे उनके सभी कर्म, सर्वश्रेष्ठ परमपुरुष - परमात्मा श्रीहरिके अर्पित हो कर परमार्थरूप बन गये थे, इससे तथा

* उपशान्ताः करणानामिन्द्रियाणां ऊर्मयो यस्मिन् आशये, सः आशयो हृदयं विद्यते यस्य सः, बहुव्रीहिगर्भितबहुव्रीहिसमासः ।

स वै राज्ञश्च धर्मो हि द्विविधः । राज्यसिंहासनेऽभिषिक्तत्वात् प्रजापालनादिरूपः एकः गृहस्थत्वाच्च यज्ञदानादिरूपश्चापरः । स द्विविधेऽपि भगवति - महापुरुषे = क्षराक्षराभ्यामतीते पुरुषोत्तमे, परावरे = परो = विश्वकारणरूपो मायाविशिष्टो महेश्वरोऽपि अवरो = अपकृष्टो यस्मात्तस्मिन परात्परेऽद्वये पूर्णे निर्विशेषे ब्रह्मणि सच्चिदानन्दस्वरूपे । यद्वा परः कारणरूपः अवरः कार्यरूपः तस्मिन् - सर्वात्मनि । सर्वात्मना = फलाभिसंधिकर्तृत्वाभिमानराहित्येन अर्पितः = समर्पितः परमार्थलक्षणः = परमार्थस्य-परमपुरुषार्थस्य कैवल्यब्रह्मनिर्वाणस्य लक्षणः = लक्षकः साधको भवति तेन. तथा ब्रह्मविदामनन्यभक्तिमतां परमभागवतानां चरणानुसेवया = निरन्तरतदुपदेशावधारणेन च सम्पादितो यो भक्तियोगः तेन चाभीक्ष्णशः = निरन्तरं परिभाविता = संस्कृता अतोऽतिशुद्धा मति र्यस्य सः, अत एवोपरतं - अनात्म्यं = अनात्मदेहेन्द्रियाद्यहंभावो यस्मिन् - तस्मिन् उपाधितद्धर्मवर्जिते निर्विकारे आत्मनि स्वयमेवोपलभ्यमानं यद्ब्रह्म, तस्यात्मतयाऽभेदभावेनानुभवोऽहंब्रह्मास्मीति लक्षणो यस्य सः, अत एव निर्गतः तुच्छो देहोऽहमित्यभिमानो यस्य स तादृशोऽपि लोकसंग्रहायावनिमेवाजूगुपत् = पालयामास इत्यर्थः । प्रजानां पालनं = दुष्टेभ्यो रक्षणम्, पोषणं = अन्नादिभोग्यसंपादनेन पुष्टीकरणम् प्रीणनं = प्रियवस्तुदानेन सन्तोषजननम्, उपलालनं = मधुरवाक्यादिना हर्षोत्पादनं, अनुशासनं = शिक्षया सन्मार्गे प्रवर्तनम् इत्यर्थः ।

—*—

(३८)

(ब्रह्मणो हि द्विविधं स्वरूपं – उपासनागम्यं विशिष्टं सोपाधिकं, ज्ञानगम्यं शुद्धं निरुपाधिकञ्च) (१)

श्रुतिस्मृतिपुराणादिशास्त्रेषु द्विरूपं हि ब्रह्माधिगम्यते, शुद्धं विशिष्टञ्च,

ब्रह्मवेत्ता महापुरुषोंके चरणोंकी सेवासे उनको भक्तियोगकी प्राप्ति हुई । तब निरन्तर भगवच्चिन्तन करके उन्होंने अपना चित्त शुद्ध किया और ज्ञानद्वारा देहादि अनात्मवस्तुओंसे अहंभाव – मम भाव हटाकर वे अपने आत्माको ब्रह्मरूप अनुभव करने लगे । यह सब होने पर भी वे निरभिमान होकर पृथ्वीका पालन करते रहे ।

(३८)

(१) (ब्रह्मके स्वरूप दो प्रकारके हैं — एक उपासनागम्य सोपाधिक

तत्र प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तं निर्गुणं निराकारं निरुपाधिकं निर्विशेषं शुद्धं ब्रह्म ज्ञानगम्यत्वेन, नामरूपकर्मविकारभेदोपाधिविशिष्टं सगुणं साकारं सविशेषं सोपाधिकं ब्रह्म उपासनागम्यत्वेन चोपदिश्यते । तत्र सोपाधिकं विशिष्टं ब्रह्म प्रत्यक्षादिप्रमाणजन्यनिखिलप्रत्ययवेद्यमस्ति, निरुपाधिकं शुद्धं ब्रह्म निखिलप्रत्ययावेद्यं स्वयंप्रभमस्ति, 'एतदप्रमयं ध्रुवम्' (बृ० ४ । ४ । २०) इति श्रुतेः । श्रुतौ हि तावद् द्विरूपं ब्रह्मेत्थमभिवर्णितम् – 'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥' (१) (शु० य० ३१ । ३, ऋ० १० । ९० । ३, अथर्व० १९ । ६ । ३) इति । छां उ. ३-१२-६.

अयमर्थः — अतीतानागतवर्तमानकालसम्बद्धं चराचरं जगद्यावदस्ति, एतावान् सर्वोऽपि द्वैतप्रपञ्चः, अस्य-पुरुषस्य ब्रह्मणः, महिमा = विभूतिविस्तारो विवर्तः = स्वकीयमायासामर्थ्यविशेषाद्विलसितः, न तु पारमार्थिकं स्वरूपम् । परमार्थनिर्विशेषशुद्धपुरुषस्तु अतः = अस्मात् महिम्नो-जगज्जालात् वाचारंभणमात्रात् - ब्रह्मविद्याबाध्यात्, ज्यायान = अतिशयेनाधिको महत्तरः परमार्थरूपोऽविकारः, पूरुषः = पुरुषः सर्वपूरणात्पुरिशयनाच्च । तदुभयं ब्रह्मणः सविशेषनिर्विशेषस्वरूपं स्पष्टीक्रियते-तस्यास्य पुरुषस्य, पादः = चतुर्थांशः, सर्वाणि भूतानि-कालत्रयवर्तीनि, पृथिव्यादीनि स्थावरजङ्गमानि, अस्य परिशिष्टं स्वरूपं-विश्वाधिष्ठानभूतं त्रिपात् = त्रयः पादा अस्य तत् । अमृतं = अविनाशि परमानन्दपूर्णं, दिवि = द्योतनवति स्वप्रकाशे स्वात्मस्वरूपेऽवस्थितमित्यर्थः । अस्य विशदविवेचनमस्मत्प्रणीतायां शुक्लयजुर्वेदसंहितोपनिषदः - अध्यात्मज्योत्स्नाविवृतौ द्रष्टव्यम् । एवं सर्वासु स्मृतिषु वरीयस्यां गीतायामपि तावत् सविशेषनिर्विशेषभेदेन ब्रह्मद्वयमित्थं प्रत्यपादि-'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥' (१३।१४) इति । अयमर्थः — परमार्थतस्तन्निर्विशेषं शुद्धं निरुपाधिकं ब्रह्म, सर्वेन्द्रियविवर्जितमस्ति, तथापि तन्मायया सर्वेन्द्रियगुणाभासं सत् सविशेषं सोपाधिकं भवति, सर्वेषां बहिष्करणानां श्रोत्रादीनामन्तःकरणयोश्च बुद्धिमनसो गुणैः = अध्यवसायसंकल्पश्रवणवचनादिभिस्तत्तद्विषयरूपतयाऽवभासत इव, सर्वेन्द्रियव्यापारैर्व्यापृतमिव तद् ब्रह्म, 'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४ । ३ । ७) इति

विशिष्ट तथा दूसरा ज्ञानगम्य निरुपाधिक - शुद्ध)

(१) इस परमात्माकी इतनी ही महिमा है, अर्थात् यह प्रतीयमान जो कुछ द्वैतप्रपंच है, वह उसका ही मायिक - विभूति विस्तार है । इससे पुरुष परमात्मा अति महान् है । इसके एक अंशमें समग्रभूत - भौतिक - जगत् अवस्थित है, और इसका त्रिपाद स्वरूप स्वयं प्रकाश अपनी महिमामें अमृत रूपसे अवस्थित है ।

श्रुतेः । अत्र ध्यानं ज्ञानेन्द्रियव्यापारोपलक्षणं, लेलायनं - चलनं कर्मेन्द्रियव्यापारोपलक्षणार्थं । तथा परमार्थतोऽसक्तं = सर्वसम्बन्धशून्यमेव, मायया सर्वभृच्च = सदात्मना सर्वं कल्पितं नामरूपकर्मात्मकं जगत् धारयति-पोषयतीति च सर्वभृत्, निरधिष्ठानभ्रमायोगात् । तथा परमार्थतो निर्गुणं - सत्त्वरजस्तमोरहितमेव, गुणभोक्तृ च = गुणानां सत्त्वादीनां शब्दादिद्वारा सुखदुःखमोहाकारेण परिणतानां भोक्तृ उपलब्धृ च तद् ब्रह्मेत्यर्थः । तथा च 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।' इति न्यायमनुसृत्य सर्वद्वैतप्रपञ्चाध्यारोपेण सविशेषं सोपाधिकं, ब्रह्माधिष्ठानज्ञानज्ञापिततदपवादेन च निर्विशेषं निरुपाधिकं ब्रह्माभिवर्णितम् ।

सति चैवं निर्विशेषस्यैवैकस्य ब्रह्मणो मायया सोपाधिकत्वेन सविशेषत्वात्, तयोर्निर्विशेषसविशेषयोरौपाधिक एव भेदः, स्वरूपं त्वेकमेवाद्वयं प्रत्येतव्यम् । तथा च भगवत्पादाः प्रस्थानत्रयीभाष्यकाराः श्रीशङ्करस्वामिनोऽपि प्राहुः – 'द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, कल्पितोपाधिसम्बन्धापेक्षम् निरस्तसमस्तोपाधिकं चेति ।' तस्मात् सत्यप्यौपाधिके भेदेऽद्वयस्वरूपस्य परमार्थतोऽभिन्नत्वात्, सविशेषवर्णनमुपयुज्यते मन्दाधिकारिणामुपासनासिद्धये । उपास्यत्वन्तु सोपाधिकत्वेनौपाधिकभेदवतः सविशेषस्यैव, न तु निर्विशेषस्येति सिद्धान्तः । 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।' (के० १ । ४) इति श्रुतेः ।

तदेतत्सर्वमभिप्रेत्य सर्वेषु पुराणेषु श्रेष्ठतमं महापुराणं समस्तोपनिषद्रूपवेदान्तसारभूतं श्रीमद्भागवतमपि - प्रथममुपासनाय सविशेषं सोपाधिकं ब्रह्म वर्णयित्वा पश्चात् निखिलोपाधिविशेषप्रतिषेधद्वारा निर्विशेषं निरुपाधिकं ब्रह्म ज्ञानगम्यत्वेनेत्थं वर्णयति —

'यद्रूपमेतन्निजमाययाऽर्पितं, अर्थस्वरूपं बहुरूपरूपितम् ।
संख्या न यस्यास्त्ययथोपलंभनात्, तस्मै नमस्तेऽव्यपदेशरूपिणे ॥
जरायुजं स्वेदजमण्डजोद्भिदं, चराचरं देवर्षिपितृभूतमैन्द्रियम् ।
द्यौः खं क्षितिः शैलसरित्समुद्र – द्वीपग्रहर्क्षेत्यभिधेय एकः ॥
यस्मिन्नसंख्येयविशेषनाम — रूपाकृतौ कविभिः कल्पितेयम् ।
संख्या यया तत्त्वदृशाऽपनीयते तस्मै नमः सांख्यनिदर्शनाय त इति ॥(१)

(भा० ५ । १८ । ३१-३२-३३)

(१) भगवन् ! अनेक रूपोंमें प्रतीत होने वाला यह दृश्य प्रपंच यद्यपि

निजमायया = स्वाश्रयविषययाऽनिर्वचनीयया, अर्पितं = प्रकाशितं, एतत् – अर्थस्वरूपं = दृश्यं जडं परिच्छिन्नं पृथिव्यादिपदार्थस्वरूपं, यद्-रूपं = यस्यैव ब्रह्मणो रूपं, यतः पृथक् नास्ति. कथं भूतं ? बहुभी रूपैः = नरनारीगोपशुपक्षिमत्स्यादिविविधैः रूपैः, रूपितं = निरूपितम् । किन्तु यस्य अनन्तरूपस्य संख्या = इयत्ता नास्ति । कुतः ? अयथोपलम्भनात् = अयथा = मिथ्यैवोपलम्भनात्, वस्तुतोऽविद्यमानत्वेऽपि माययाऽधिष्ठानसत्त्वेन प्रतीयमानत्वादित्यर्थः । 'अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयः ।' (भा० ११ । २ । २८) 'त्वयि विभाति मृषैकरसे' (भा० १० । ८७ । ३७) 'यत्र त्रिसर्गो मृषा' (भा० १ । १ । १) 'तदखिलं भवतः स्वरूपं' (भा० ७ । ६ । २०) 'त्वत्तः परं नापरमप्यनेजदेजच्च किञ्चिद् व्यतिरिक्तमस्ति ।' (भा० ७ । ३ । ३२) इत्यस्यैव सिद्धान्तस्य स्पष्टतया तत्र तत्रोक्तत्वात् । न हि मिथ्या भासमानं वस्तुतोऽविद्यमानं मृगतृष्णाजलमेतावदिति संख्यातुं शक्यते । तस्मै ते = तुभ्यं, अव्यपदेशरूपिणे = अनिरुक्तप्रपञ्चाकाराय–तादृक्त्वे हक्त्वादिभि र्विविधैः प्रकारै र्व्यपदेष्टुमशक्यानन्तविश्वस्वरूपिणे भगवते नमः । बहुरूपत्वं दर्शयंस्तस्य परमेश्वराद्व्यतिरेकमनन्यत्वलक्षणमाह – जरायुजमिति । जरायुणा गर्भे वेष्टितं सत्ततो जायते इति तथा मनुष्यादि, स्वेदजं = स्वेदाज्जायत इति तथा मत्कुणादि, अण्डजं = अण्डाज्जायत इति तथा पक्ष्यादि उद्भिजं = ऊर्ध्वं भित्त्वा जायत इति तथा वृक्षादि, तत्रापि चरं = जङ्गमं = गतिशीलं-मनुष्य-पश्वादि, अचरं = वृक्षपर्वतादि-स्थावरं, देवर्षिपितृभूतं = देवाः = इन्द्रादयः, ऋषयः = वसिष्ठादयः, पितरः = अर्यमादयः, भूतानि = आकाशादीनि स्थूलानि, शब्दादितन्मात्रारूपाणि सूक्ष्माणि, ऐन्द्रियं = इन्द्रियवर्गः, द्यौः = स्वर्गः-ब्रह्मलोकपर्यन्तः, खं = अन्तरिक्षं भुवर्लोकः, क्षितिः = भूर्लोकः, शैलाः = पर्वताः, सरितो = गङ्गाद्या नद्यः, समुद्राः = क्षारोदादयः, द्वीपाः =

मिथ्या ही निश्चय होता है इस लिये इसकी वस्तुतः कोई संख्या नहीं है तथापि यह मायासे प्रकाशित होनेवाला आपका ही रूप है । ऐसा अनिर्वचनीयरूप आपको मेरा नमस्कार है । एक मात्र आप ही– जरायुज, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, जङ्गम, स्थावर, देवता, ऋषि, पितृगण, भूत, इन्द्रिय, स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप, ग्रह और तारा आदि विभिन्न नामोंसे एवं विविधरूपोंसे प्रसिद्ध हो रहे हैं । आप असंख्य नाम, रूप और आकृतियोंसे युक्त हैं, कपिलादि विद्वानोंने जो आपमें चोबीस तत्त्वोंकी संख्या निश्चितकी है – वह जिस अद्वय तत्त्वदृष्टिका उदय होने पर निवृत्त हो जाती है, वह भी वस्तुतः आपका ही स्वरूप है, ऐसे सांख्य-सिद्धान्तस्वरूप आपको मेरा नमस्कार है ।

जम्ब्वादयः = ग्रहाः = आदित्यादयः, ऋक्षाणि = अश्विन्यादीनि-नक्षत्राणि, इत्येवं तत्तन्नामभिः - अभिधेयः = अभिधातुं योग्यः कथ्यमानोऽर्थः, त्वमेक एव, न त्वद्व्यतिरिक्तं किञ्चिदप्यस्तीत्यर्थः । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां० ३ । १४ । १) ब्रह्मैवेदं सर्वम् ।' (नृ० उ० ७) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २ । ५ । १६) इति श्रुतेः । सम्प्रति निष्प्रपञ्चेऽद्वये ब्रह्मणि माययाऽध्यारोपितां सप्रपञ्चतामनूद्य तन्निरासेन गम्यमानं सर्वबाधावधिभूतमधिष्ठानात्मकं ब्रह्मस्वरूपं प्रणमति-यस्मिन्निति । यस्मिन् त्वयि विश्वाधिष्ठाने सच्चिदानन्दात्मनि, माययाऽऽरोपिताः असंख्येयाः = संख्यातुं-परिगणयितुमशक्याः-अनन्ताः विशेषाः = जातिगुणक्रियासम्बन्धलक्षणाः येषां तानि नामानि रूपाणि आकृतयश्च यस्य तादृशे, विश्वप्रपञ्चात्मके कविभिः = कपिलादिभिरियं चतुर्विन्शत्यादिसंख्या कल्पिता सती, यया तत्त्वदृशा = येन अद्वयतत्त्वज्ञानेन, अपनीयते = बाध्यते-निरस्यते, तस्मै ते = तुभ्यं सांख्यनिदर्शनाय = वेदान्तैः उपनिषद्भिः सर्वैः सम्यक् ख्यायते = तात्पर्येण प्रतिपाद्यत इति सांख्यं-निर्विशेषं परंब्रह्म, तदेव स्वात्मत्वेन ये विदुस्ते सांख्याः = स्वात्मारामाः ज्ञानभूमिकामारूढाः – ब्रह्मविदः, तैरेव महानुभावैः-निदर्शनं = नितरां-अप्रतिबद्धं-अपरोक्षं दर्शनं साक्षात्कारलक्षणं सम्पद्यते यस्य तस्मै ते नमः इति । तथा च मायाऽऽवरणदशायां निर्भेदे ब्रह्मण्यारोपिततत्तत्कल्पितासंख्येयभेदस्य स्फुरणेन यद्यपि कविकल्पिता तादृशी संख्याऽपि प्रतीयते, तथापि ब्रह्मात्मापरोक्षतानेन मायानिवृत्तिदशायां तत्कृतावरणाभावात् निखिलस्य चराचरस्य विश्वस्य ब्रह्मतया स्फुरणेन निखिलभेदभेदकभेद्यानां सर्वथा बाधात् तत्संख्याऽप्यपनीता भवति, यतः संख्याया भेदाधीनापेक्षाबुद्धिजन्यत्वात् ।

एवं सच्चिदानन्दमात्रवपुषि परे ब्रह्मणि मायाऽविद्याऽऽख्यदोषपरिकल्पितमिदं देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिभेदं सर्वं जगद् यथाऽवस्थितब्रह्मात्मस्वरूपावबोधबाध्यं मिथ्यारूपं सिद्ध्यति । मिथ्यात्वं नाम प्रतीयमानत्वपूर्वकयथावस्थितवस्तुज्ञाननिवर्त्यत्वम् । यथारज्ज्वाद्यधिष्ठानकसर्पादेः, अविद्यादोषवशाद्धि तत्र तत्कल्पनम् । तथैव श्रीविष्णुपुराणेऽपि अयमेव सिद्धान्त इत्थमभिवर्णितः – 'प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् । वचसामात्मसंवेद्यं तद् ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥ (वि० पु० ६ । ७ । ५३) ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः । तदेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम् ॥' (वि०पु० १ । २ । ६) 'ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः । अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसंप्लवे ॥ ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत् । ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर ! ॥' (वि० पु० १ । ४ । ४०-४१) 'एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चित्, तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत् । सोऽहं स च त्वं स च सर्व-

मेतदात्मस्वरूपं त्यजभेदमोहम् । इतीरितस्तेन स राजवर्यस्तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः ॥' (१) (वि० पु० २ । १६ । २३ २४) इत्यादिभिर्वचनैः निर्विशेषं चिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थसत्यम्, अन्यत्सर्वं मिथ्येत्यभिहितम् । अत एव विश्वरूपस्य तज्जन्मादेश्च बोधकवाक्यान्यध्यारोपापवादविद्यया निर्विशेषचिन्मात्राद्वयब्रह्मस्वरूपविवेचनायापेक्षितामध्यारोपावस्थामादाय प्रथमं प्रवर्तमानानि, पर्यवसानेनाऽपवादापेक्षितनिषेध्यसमर्पणार्थमन्वारुह्य प्रवृत्तानि सोपाधिकसविशेषब्रह्मबोधकवचनान्यपि निर्विशेषे निरुपाधिकेऽधिष्ठानेऽद्वयब्रह्मण्येव पर्यवस्यन्तीति ध्येयम् ।

सति चैवं भगवन्तं मर्यादापुरुषोत्तमं श्रीरामं प्राक् सोपाधिकसविशेषसगुणसाकारस्वरूपेणेत्थं – 'ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नमः, आर्यलक्षणशीलव्रताय नमः, उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः, साधुवादनिकषणाय नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति । (२) (भा० ५ । १६ । ३) इति वर्णयित्वा-पश्चात् निरुपाधिकनिर्विशेषनिर्गुणनिराकारपरमार्थस्वरूपेण श्रीरामं प्रणमति – 'यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम् । प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलंभनं ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये ॥' (३) (भा० ५।१६।४) इति । अयमर्थः — तस्य सविशेषस्य श्रीरामस्योपास-

---

(१) जिसमें सम्पूर्ण भेद शान्त हो जाते हैं, जो सत्तामात्र और वाणीका अविषय है, तथा स्वयं ही अनुभव करने योग्य है, वही ब्रह्मस्वरूप ज्ञान कहलाता है। जो परमार्थतः (वास्तवमें) अतिनिर्मल ज्ञानस्वरूप है, किन्तु अज्ञानवश नाना पदार्थरूपसे प्रतीत होते हैं । इस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप जगत्को बुद्धिहीन लोग, अर्थरूप देखते हैं, अतः वे निरन्तर मोहमय संसार सागरमें भटका करते हैं । हे परमेश्वर ! जो लोग शुद्धचित्त और विज्ञान-वेत्ता हैं, वे इस सम्पूर्ण संसारको आपका अद्वय ज्ञानात्मक स्वरूप ही देखते हैं । इस संसारमें जो कुछ है वह सब एक आत्मा ही है, और वह अविनाशी है, उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, मैं, तू और ये सब आत्मस्वरूप ही हैं, अतः भेद ज्ञानरूप मोहको छोड़ । श्री ऋभुजीके ऐसा कहने पर सौवीरराजाने परमार्थ दृष्टिका आश्रय लेकर भेद बुद्धिको छोड़ दिया ।

(२) हम ॐ कारस्वरूप, पवित्र कीर्ति भगवान् श्रीरामको नमस्कार करते हैं, आपमें सत्पुरुषोंके लक्षण, शील और आचरण विद्यमान हैं आप बड़े ही संयतचित्त, लोकाराधन तत्पर, साधुताकी परीक्षाके लिए कसौटीके समान और अत्यन्त ब्रह्मवेत्ता-ब्राह्मण भक्त हैं, ऐसे महापुरुष रामको हमारा पुनः-पुनः प्रणाम है ।

(३) भगवन् ! आप विशुद्ध बोध स्वरूप, अद्वितीय, अपने स्वरूपके प्रकाशसे गुणोंके कार्यरूप जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओंका निरास करने वाले, सर्वान्तरात्मा

नायार्ष्टिषेणनामकेन किंपुरुषमुख्येन सह गन्धर्वाः - इमं मन्त्रं गायन्ति । भगवते महाराजाय नम इत्यन्वयः । कथं तस्य भगवत्त्वं महाराजत्वं वेत्यपेक्षायां तदुभयमुपपादयति - विशेषणैः - उत्तमश्लोकाय = उत्तमाः = मनोहराः श्लोकाः = कवीनां - श्रद्धाभक्तिवर्धकानि पद्यानि यस्मिन स तथा तस्मै नमः, आर्यलक्षणशीलव्रताय = आर्याणां-सद्विचारसदाचारपरायणानां-धीरवीरगम्भीरशुद्धहृदयानां नरोत्तमानां-श्रेष्ठानि-लक्षणानि-चरणतलगतध्वज-वज्रादीनि, आजानुबाहुत्वादीनि च, शीलानि = धीरोदात्तादीनि-उत्तम-सुस्वभावरूपाणि, व्रतानि = ब्रह्मचर्यसदाचारत्वादीनि च यस्मिन तस्मै नमः, उपशिक्षितात्मने = उपशिक्षतः = मिथ्याविषयेभ्यो व्यावर्तितो वशीकृत आत्मा अन्तःकरणं येन तस्मै संयतचित्ताय, उपासितः = मर्यादापालनाय अनुसृतो लोकै र्यः स तथा तस्मै । यद्वा नैवं प्रतीयते शोकविलापादिदर्शनादित्य-शंक्याह - उपासितः = अनुसृतो लोको येन तस्मै, तथा च तत्र प्रतीयमानं शोकविलापादि तु लोकानुकरणमात्रं, न वास्तवमिति भावः । साधुवादनिकष-णाय = साधुवादः-साधुत्वप्रसिद्धिस्तस्य निकषणाय-निकषाश्मवन्निर्धारस्थानाय परमसीम्ने इत्यर्थः, यथा परमोत्कृष्टस्यापि कनकस्य निकषं प्राप्तस्यैवोत्कर्षो लोके प्रमाणीभवति, तथा श्रीरामं प्राप्तानां सत्यसंकल्पकृपालुत्वादिगुणानामपि साधुत्वप्रसिद्धिः संजाता लोका हि साधुवादैरुत्कृष्यन्ते, श्रीरामं प्राप्य साधु-वादा अप्युत्कृष्टा भवन्तीत्यर्थः । ब्रह्मण्यदेवाय = ब्रह्मण्यः = ब्रह्मनिष्ठः - गुणतत्कार्याध्यासरहितो देवस्तथापि, साधुपरित्राणदुष्टविनाशादिक्रीडापरो देवः 'दिवु क्रीडायां' स्मरणात् स चासौ स च तस्मै । सवत्र हेतुः - महापुरुषायेति-पुरुषोत्तमायेत्यर्थः । तथा गुणतत्कार्यानभिभूतस्य परमस्वतन्त्रस्य सर्वदा स्वरू-पानन्दानुभवतोऽनेकविधलीलां कुर्वतोऽपि श्रीरामस्य भगवत्त्वे नास्ति शंका-लेशोऽपीति भावः । इति शब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतकः । एवं श्रीरामं भगवत्-स्वरूपेण नमस्कृत्य परब्रह्मरूपेण नमस्करोति । यदिति । यत्-एकं = अद्वितीयं सजातीयविजातीयस्वगतभेदरहितं-तत्त्वं वेदान्तेषु प्रसिद्धं तदहं प्रपद्ये = शरणं व्रजामि - तदेकमात्रचिन्तनपरस्तन्मयो भवामीत्यर्थः । तत्कथंभूतमित्यपेक्षाया-माह - विशुद्धेति । विशुद्धश्चासौ-अनुभवश्च स एव मात्रा = स्वरूपं यस्य तत् । अत्र विशुद्धपदं कल्पितविषयानुभवव्यावृत्त्यर्थम्, विशुद्धत्वे हेतुमाह - प्रशान्तम् = रागादिविकारशून्यम् । तत्रापि हेतुमाह - स्वतेजसेति । स्वतेजसा = स्वरूपप्रकाशेनैव ध्वस्ता = दूरतो निरस्ता गुणानां व्यवस्थाः = विविधा-

परमशान्त शुद्ध बुद्धिसे ग्रहण किये जाने योग्य, नामरूपसे रहित, और अहंकारशून्य हैं, मैं आपकी शरणमें हूं, अर्थात् मैं आपके यथार्थसत्यस्वरूपका ध्यान करता हूं ।

जाग्रदाद्यवस्था यस्मिंस्तत्, जाग्रदाद्यवस्थावतो हि रागादिविकारप्रसिद्धेः, इदन्तु तद्रहितमिति न तथेति भावः। अनुभवमात्रत्वे हेतुः – प्रत्यक् = दृश्यादन्यत् सर्वान्तरं-साक्षिचैतन्यम्। तत्कुतः? अनामरूपम्। हि = यस्मात् नामरूपात्मकात् मिथ्याद्वैतप्रपञ्चाद्व्यतिरिक्तं-परमार्थसत्यमित्यर्थः। ननु - जाग्रदाद्यवस्थाराहित्यमपि तस्य कुत इत्यपेक्षायामाह – निरहमिति। जाग्रदाद्यवस्थानामन्तःकरणाध्यासलक्षणाहंकारपूर्वकत्वादहंकारशून्यस्य ताः कथं स्युरित्यर्थः। ननु – श्रीरामरयाभिवर्णितं स्वरूपन्तु नैवं प्रतीयते इत्याशंक्याह – सुधियेति। सु = सुष्ठु ज्ञानवैराग्यभक्तिध्यानादिभिः शोधिता – संस्कृता – पवित्रैकाग्रीकृता धीः बुद्धि र्यस्य तेन सुधिया पुंसोपलभ्यते इति। शुद्धचित्तेन निर्विशेषपरब्रह्मत्वेनैवापलभ्यते, न सर्वैरित्यर्थः। 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।' (कठ० उ० १। ३। १२) इति श्रुतेः।

एवं सर्वभूतेषु गूढं सर्वानुगतमेकमेवाद्वयतत्त्वं विद्वद्वराः ध्यानेन प्रकटितं निराकारं निर्गुणं निर्विशेषं चिन्मात्रमभेदेन पश्यन्तस्तमात्मानं नमस्कुर्वन्त आहुः – 'यस्य स्वरूपं कवयो विपश्चितो गुणेषु दारुष्विव जातवेदसम्। मथ्नन्ति मथ्ना मनसा दिदृक्षवो गूढं क्रियार्थै र्नम ईरितात्मने॥ द्रव्यक्रियाहेत्वयनेशकर्तृभि र्मायागुणै र्वस्तुनिरीक्षितात्मने। अन्वीक्षयाऽङ्गातिशयात्मबुद्धिभिः निरस्तमायाऽऽकृतये नमो नमः॥ (१) (भा० ५। १८। ३६-३७) इति। कवयः = विद्वांसः, विपश्चितः = सदसद्विवेकिनो निपुणाः, गुणेषु = गुणकार्येषु – देहेन्द्रियादिसंघातेषु – सर्वभूतेष्विति यावत् – गूढं = आच्छादितं, यस्य परब्रह्मणोऽद्वयं निर्विशेषं चिन्मात्रस्वरूपं, दिदृक्षवः = द्रष्टुं साक्षात्कर्तुमिच्छवः मथ्ना = साधनभूतेन मनसा = ध्यानाभ्यासवशीकृतेन, मथ्नन्ति

(१) ऋत्विजगण जिस प्रकार अरणिरूप काष्ठ खण्डोंमें छिपी हुई अग्निको मन्थन द्वारा प्रकट करते हैं, उसी प्रकार कर्मासक्ति एवं कर्मफलकी कामनासे छिपे हुए जिनके रूपको देखनेकी इच्छासे परमप्रवीण पण्डितजन अपने विवेकयुक्त मनरूप मन्थन काष्ठसे शरीर एवं इन्द्रियादिको बिलो डालते हैं। इस प्रकार मन्थन करने पर अपने स्वरूपको प्रकट करनेवाले आपको नमस्कार है। विचार तथा यम-नियमादि योगाङ्गोंके साधनसे जिनकी बुद्धि निश्चयात्मिका हो गयी है – वे महापुरुष द्रव्य (विषय), क्रिया (इन्द्रियोंके व्यापार), हेतु (इन्द्रियाधिष्ठाता देवता), अयन (शरीर), ईश, काल और कर्ता (अहङ्कार) आदि मायाके कार्योंको देखकर जिनके वास्तविक स्वरूपका निश्चय करते हैं, ऐसे मायिक आकृतियोंसे रहित आपको बार-बार नमस्कार है।

= विचिन्वन्ति – विविच्य – मिथ्याभूतेभ्यस्तेभ्यः पृथक् कृत्य निष्कर्षन्ति। तस्मै, एवं मन्थनेन ध्यानलक्षणेन ईरितः = प्रकटितः आत्मा = स्वस्वरूपं यस्य तस्मै नम इत्यन्वयः। 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।' (१३।२४) इति गीतासु श्रीकृष्णस्मरणात्। केचित् = उत्तमाधिकारिणः ध्यानेन = विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहेण श्रवणमननफलभूतेन निदिध्यासनाख्येन, आत्मनि = बुद्धौ, आत्मना = ध्यानसंस्कृतेन मनसा आत्मानं = प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मात्मानं पश्यन्ति = साक्षात्कुर्वन्ति। यद्वा – 'सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छां० ६।८।६) इति मायाकार्यस्य सर्वस्य चराचरस्य जगतः सदास्पदत्वश्रवणात् भ्रान्त्या कल्पितं सर्वमव्यक्तादिस्थूलान्तं विश्वं, आत्मनि = परमात्मनि – सर्वाधिष्ठाने प्रातिलोम्येन प्रविलाप्य, तेन प्रत्यस्तमिताशेषविशेषं सद्घनं चिद्घनमानन्दघन मात्मानं = परमात्मानं परं ब्रह्म, ध्यानेन = ब्रह्माकाराकारितान्तःकरणवृत्त्या तैलधारावदविच्छिन्नया वृत्त्यन्तरनिर्मुक्तया 'ब्रह्मैवाहमि' त्यात्मना = स्वस्वरूपत्वेन पश्यन्ति = स्वमेव ब्रह्म सर्वदा भावयन्तीत्यर्थः। कै गूढमित्यपेक्षायामाह – क्रियार्थैरिति। क्रियाभिः = कर्तृत्वाभिमानपूर्वकै लौकिकवैदिककर्मभिः, अर्थैः = तत्फलैः – तत्तद्विषयोपभोगैश्चेत्यर्थः। विषयभोगाभिनिविष्टचित्तत्वेन तत्साधनक्रियापरत्वेन च व्यग्रचित्तानां सर्वानुगतं – पूर्णमद्वयं स्वस्वरूपमपि ब्रह्म नैव प्रकाशते। 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।' (क० उ० १।३।१२) इति श्रुतेः। ननु – परमात्मस्वरूपादिदृक्षा तु सर्वेषां स्वाभाविकी भवत्येव, अत एव त सर्वे एव कुतो नैवं दिदृक्षासाफल्याय तत्साधने ध्याननिर्मन्थने प्रवर्तन्ते? इत्याशंक्य – विवेकवैराग्याभावेन विषयाभिनिवेशात् – तदुपायानभिज्ञत्वाच्चेति हेतुद्वयसूचनाय विशेषणद्वयं – कवयो विपश्चित इति। तत्र दृष्टान्तमाह – दारुषु = काष्ठेषु निगूढ – जातवेदसं = अग्नि यथा विवेकिनः समर्था एव निर्मन्थनेन निष्कर्षन्ति = प्रकटयन्ति, नान्ये इत्यर्थः।

वस्तुतो मायातत्कार्यमृषाद्वैतदर्शनरहितमेवाद्वयब्रह्मस्वरूपदर्शन प्रतिपादयन् निरीक्षणीयं – निर्विशेषं सर्वबाधावधिभूतं चिन्मात्रमद्वयं परमार्थवस्तु निरूपयति – द्रव्येति। द्रव्याणि = शब्दादयो विषयाः, 'पृथ्व्यादीनि भूतानि वा, क्रियाः = इन्द्रियव्यापाराः, हेतवः = तत्प्रयोजकदेवताः, अयनानि = विविधा देहाः, ईशः = तेषां सर्वेषां नियन्ता कालः, कर्तारः = अहंकारविशिष्टा जीवाः, एतै मायागुणैः = त्रिगुणात्मकप्रकृतिकार्यभूतैः - उपलक्षणैः वस्तुनिरीक्षितात्मने = वस्तुत्वेन – परमार्थसत्यत्वेन निरीक्षितः = जडानां

प्रवर्त

...तकत्वेन प्रकाशकत्वेनाधिष्ठानत्वेन चोपलक्षितो य आत्मा सर्वाभिन्नं स्वरूपं तस्मै नमः इत्यन्वयः। तदेकध्यानपरो भवामीत्यर्थः। कथं केन वा साधनेन विज्ञातो भवतीत्याह – अन्वीक्षया = शास्त्रसद्गुरुसहकारसंपादितेनाद्वयब्रह्मविचारेण – अंगैः = विवेकादिश्रवणादि – बहिरंगान्तरंगसाधनैः – अतिशयात्मा = दृढनिश्चयधारणासमर्थस्वरूपं यस्याः सा, पवित्रैकाग्रा बुद्धि र्येषां तैरित्यर्थः – विद्वद्वरैः, निरस्ता = विध्वस्ता माया तन्निमित्ता आकृति र्यस्मात् तस्मै, इदमुपलक्षणं गुणक्रियाविशेषादेः। अर्थात् ब्रह्मविद्यया मायाया निरासे सति, तत्प्रयुक्ताकारगुणक्रियाविशेष दानामप्यर्थात् निरासंभवेन मायारहिताय निराकाराय निर्गुणाय निष्क्रियाय निर्विशेषायाद्वयचिन्मात्रपरब्रह्मणे नमः इति यावत्। नमः शब्दावृत्तिः श्रद्धाभक्तिध्यानयोगलक्षणादरार्था। आह च श्रुतिरपि – 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि।' (कै० उ० १।२) यस्मादध्यात्मयोगं विना देहाद्यध्यासस्य संसारदुःखस्य च निवत्ति र्न संभवति, तल्लाभश्च भगवदनुग्रहेणैव संपद्यते, 'ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतभावना।' इत्यभियुक्तोक्तत्वात्। अतोऽध्यासदुःखनिवारकाध्यात्मयोगलाभसंपादकभगवदनुग्रहं प्रार्थयते – 'तन्नः प्रभो ! त्वं कुकलेवरार्पितां त्वन्माययाऽहंताममतामधोक्षज !। भिद्याम येनाशु वयं सुदुर्भिदां विधेहि योगं त्वयि नः स्वभावमिति ॥' (१) (भा० ५। १६। १५) इति।

तत् = तस्मात् हे प्रभो ! = अध्यात्मयोगप्रदानेन भक्तोद्धारे समर्थ ! हे अधोक्षज ! = अचिन्त्यानन्तचिन्मात्रस्वरूपत्वेन तुच्छेन्द्रियजज्ञानातीत ! त्वमेव कृपया त्वयि = निरुपाधिके परमेऽक्षरे ब्रह्मणि, स्वभावं = स्वभावभूतं – योगं = अध्यात्मज्ञानयोगं नः = अस्माकं विधेहि = विशेषेण निश्चलतया संपादयेत्यर्थः आह च भगवान् गीतासु — 'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।' (८।३) इति। अक्षरं = अविनाशिसर्वव्यापकं परमं = स्वप्रकाशपरमानन्दरूपं यद्ब्रह्म, तस्यैव स्वभावः, स्वो भावः स्वरूपं प्रत्यक्चैतन्यं, न तु स्वस्य भाव इति षष्ठीसमासः, लक्षणाप्रसङ्गात्। अतो ब्रह्मस्वरूपमेवात्मानं = देहमधिकृत्य भोक्तृतया वर्तमानमध्यात्ममुच्यते। येन योगेन - त्वन्मायया मोहितै र्नः = अस्माभिः, कुकलेवरे = विष्टादिमलपूर्णत्वेन भौतिकत्वेन नश्वरत्वेन दुःखादिहेतुत्वेन च कुत्सिते

(१) अतः अधोक्षज ! आप हमें अपना स्वभाविक - प्रेमरूप ज्ञानरूप भक्तियोग प्रदान कीजिये, जिससे कि प्रभो ! इस निन्दनीय शरीरमें आपकी माया के कारण बद्धमूल हुई दुर्भेद्य अहंता-ममताको हम तुरन्त काट डालें।

निन्दिते शरीरे - अर्पितां = अनेकजन्मस्वनुवर्तितां, अत एव सुदुर्भिदां = उपायान्तरसहस्रैरपि भेत्तुं त्यक्तुमशक्यां-अहंताममतां वयं, आशु = शीघ्रमेव भिद्याम = त्यजेमेत्यन्वयः इतिशब्दः स्तुतिसमाप्त्यर्थकः । इत्येवं श्रीनारदेन भगवद्भक्तेन करुणावरुणालयो भगवान् प्रार्थित इति ।

❀ ❀ ❀

वेदान्तसारमन्थन्या, मिष्टं भागवतं दधि ।
विमथ्य बुद्धिरज्ज्वेदं, नवनीतं समुद्धृतम् ।१॥

आस्वादयन्तु भक्त्यैव, जिज्ञासवो विमत्सराः ।
सारग्रहणशीला ये, पक्षपातविवर्जिताः ॥२॥

यस्मिन्निदं जगत्सर्वं, माययाऽऽरोप्यते तथा ।
विद्यया बाध्यते तस्मै, परस्मै ब्रह्मणे नमः ॥३॥

यस्य भक्त्यैव यज्ज्ञानं, भवत्येव मुमुक्षूणाम् ।
तं वन्दे परमात्मानं, कृष्णनामभृतं विभुम् ॥४॥

वेदान्तसाररूपी मन्थानी द्वारा श्रीमद्भागवतरूप मीठे दहीको बुद्धिरूपी रस्सी से अच्छी प्रकार मन्थन कर मैंने अध्यात्मज्योत्स्नारूप यह ताजा मक्खन निकाला है ।

इस विशुद्ध मक्खन का वे ही भली-भांति आस्वादन कर सकते हैं, जो कि जिज्ञासु-निर्मत्सर-सारग्राही - पक्षपात दुराग्रहादि दोषोंसे रहित हैं, वे श्रद्धा भक्ति से इसका आस्वादन करें ।

जिस परब्रह्ममें यह नामरूपात्मक जगत् माया द्वारा आरोपित किया जाता है, और ब्रह्मज्ञान द्वारा इस जगत्का बाध हो जाता है, उस सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा के लिए नमस्कार हो ।

जिस परमात्मा की अनन्यभक्ति से मुमुक्षुओं को वास्तविक अद्वैततत्त्व का ज्ञान अवश्य उत्पन्न होता है, उस विभु-व्यापक कृष्णनामधारी परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूं ।

यस्य स्वरूपबोधेन, जीवात्मा मुक्तबन्धनः ।
प्राप्नोत्यभेदभावं तं, सोऽहं पूर्णः सुखाद्वयः ॥५॥
सेयमध्यात्मतत्त्वस्य, प्रकाशाय विनिर्मिता ।
स्वामिमहेश्वरानन्द — मण्डलेशेन वासिना ॥६॥
यतिना जह्नुकन्यायाः, तटे कनखले शुभे ।
सतां विशुद्धचित्तानां, मोदं सृजतु निर्भरम् ॥७॥
श्रीमद्ग्रहैकशून्यद्विमिते (२०१९) वैक्रमवत्सरे ।
भाद्रपदस्य शुक्रेऽस्यां पूर्णिमायां समापिता ॥८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य - श्रोत्रिय - ब्रह्मनिष्ठ - पूज्यपाद-महामण्डलेश्वर - स्वामिश्रीजयेन्द्रपुरी - श्रीगुरुचरणकृपाकटाक्षावाप्तविद्येन - श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य- श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ - पूज्यपाद-महामण्डलेश्वर - स्वामि- श्रीगिरीशानन्दगिरि - श्रीगुरुचरणप्रसादासादितपारिव्रज्येन-श्रीस्वामि-महेश्वरानन्दगिरि-महामण्डलेश्वरेण प्रणीतायाः श्रीमद्भगवतसंहितोपनिषच्छतकस्याध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्या अयं द्वितीयः खण्डः समाप्तः ।

शिवमस्तु, शिवः सर्वम्, शिवोऽहं,
हरिः ॐ तत्सत् ।

जिस परमात्मा के स्वरूपके ज्ञान से जीवात्मा अविद्यादि बन्धनों से मुक्त हो जाता है और उसके अभेदभाव को प्राप्त हो जाता है, मैं वही परिपूर्ण सुखस्वरूप ब्रह्म हूं ।

जाह्नवी के पवित्र तट कनखल में निवास करनेवाले संन्यासी श्री स्वामी महेश्वरानन्द महामण्डलेश्वर ने अध्यात्मतत्त्व के प्रकाश के लिए श्रीमद्भागवत-संहितोपनिषच्छतक की अध्यात्म-ज्योत्स्ना नामक विवृति की है । यह स्वच्छचित्तशाली सज्जनों को अत्यन्त आनन्द उत्पन्न करे ।

श्री विक्रमादित्य के २०१९ संवत्सर में भाद्रमासीय पूर्णिमा तिथि शुक्रवार में इस ग्रन्थ का द्वितीय खंड सम्पूर्ण हुआ ।

—❀ ❀ ❀—

❀ सम्मतयः ❀

महान् प्रमोदावसरो मादृशां कृते यदान्वीक्षिक्यादिकतिपयदर्शना- ध्ययनाध्यापनपरिष्कारपरायणतया विस्मृतेऽपि सकलदर्शनशास्त्रजननीश्रुतिचतुष्टयाध्ययनाध्यापनबाहुल्येऽवहेलिते च वेदविज्ञपण्डितमण्डलेऽधिक्षिप्ते वेदगताध्यात्मवादे कदर्थिते च भारतीयविद्यासिन्धौ सकलानपि वेदान दुरवगाह्यानपि नितान्तं समवगाह्याध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकत्रिविधार्थैः – विशदसरलसुशब्दसमञ्चितयाऽध्यात्मज्योत्स्नया स्वरचितया समलंकृतं प्रतिवेदं प्राधान्येनाध्यात्मवादसमर्थकं मन्त्रशतकं भूमिकया सकलमपि वेदगताद्वैततात्पर्यं विशदीकृत्य वेदवेदान्तसिद्धान्तमहाटवीविहरणपञ्चाननाः कर्कशतर्कविमर्शनिष्णातमानसाः साहित्यपारावारपारङ्गताः श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यवर्यमहामण्डलेश्वर-महेश्वरानन्दस्वा ममहोदयाः–अमूल्यमपि प्रतिवेदमन्त्रशतकं पुस्तकममूल्यं सकलेभ्यो वेदवेदान्तादिरहस्यजिज्ञासुभ्य उपायनीकृत्य वेदवेदान्तादिप्रचारकार्यदत्ततयाऽद्वैतवादाक्षेपतत्परतया च भारतभुवो भारमपहरन्तीति । मया च पूज्यवर्याणां प्रस्तुतानां प्रकाशित-ऋग्वेदयजुर्वेदसंहितोपनिषच्छतकग्रन्थाभ्यां प्रकाश्यमानाथर्ववेदसंहितोपनिषच्छतकग्रन्थेन च बहुविषयान् पण्डितमण्डलीष्वप्यविदितप्रायान् समवगत्य महता ऋणेन पूर्णतया धन्यवादराशिमेवोपहारीकुर्वता श्लाघनीय - सरललेखशैलीमनुशीलयता विरम्यत इति निवेद्यते ।

—शोभाकान्त झा शर्मा,
व्याकरण-न्याय-वेदान्ताचार्य ।

❀ ❀ ❀

खल्वितः पूर्वं प्रत्ना नूतनाश्च आर्षा मानुष्याः संस्कृता हिन्दीमय्या वा दुरधिगम्यवेदार्थबोधनाय बद्धा बह्व्यष्टीका दृष्टा अवलोकिताश्चर्चिताश्च, परं न तासु तादृक् तत्त्वबोधोद्रेको वरीवर्तते, यावान्वा तत्रभवत्स्वतन्त्रसुलेखन्या सुस्पष्टीकृतोऽस्ति, अस्मिन् विषये कस्य वा सचेतनस्य दुरूहतमोनिवृत्तये ज्योत्स्नेव भवदीयाध्यात्मज्योत्स्नाविवृतिर्नालम् । प्रार्थयामि च विमर्शसंरम्भमयीं शम्भो महाशक्ति यत्तूर्णमेव हि सर्वस्य वेदस्यानवच्छिन्नप्रकाशात्मकमाहेश्वरविमर्शपरमार्थसारभूता भवदीया विवृतिः प्रोल्लसतुतराम्, यतः सैव शब्दव्यवहारे संविदेव भगवती विषयसत्त्वोपगमे प्रावणम् । अतो भवत्करकमलस्थलेखिनीरूपप्रदीपनष्टदुरूहतमोग्रस्तविषयत्वात् सनातनधर्मप्राणभूतोऽयं

ग्रन्थो बहूपकारी इति मत्वा त्यक्तान्यग्रन्थचर्चो भवत्प्रसादभूते ग्रन्थे एव आचूडमूलं लग्नोऽस्मि ।

— डॉ० शिवनाथ शास्त्री,
रिसर्च डिपार्टमेन्ट, कश्मीर - श्रीनगर ।

❀ ❀ ❀

ऋग्यजुर्वेदमन्त्राणां रुचिरे शतकद्वये ।
सभूमिकाऽभिनवा रम्या नानाविषयमण्डिता ॥ १ ॥
श्रीमन्महेश्वरानन्द - मण्डलेश्वरनिर्मिता ।
समधीता मया कामं ज्योत्स्नाख्या विवृतिर्मुदा ॥ २ ॥
संस्कृतज्ञो भवेद्योऽपि सुकुमारमतिर्जनः ।
तामधीत्य स मन्त्राणामर्थान् बोद्धुमिह प्रभुः ॥ ३ ॥
मन्त्रान् निसर्गदुर्बोधान् सरलाव्याख्यया प्रभो ! ।
व्याख्यातुः स्फुटतामेति पाण्डित्यं परमं तव ॥ ४ ॥
किं चित्रं यदि मादृशोऽल्पमतिमान् मन्त्रार्थबोधेऽपटुः ।
मन्त्रार्थावगतौ यतः स्फुरति नो प्रज्ञावतां शेमुषी ? ॥ ५ ॥
मन्त्राणामुपयोगिनां सरलया ज्योत्स्नाख्यया व्याख्यया ।
काठिन्यं तु परं परोपकृतये दूरीकृतं श्रीमता ॥ ६ ॥
आचार्यप्रमुखप्रमाणपदकैर्गर्वं जुषन्तोऽप्यलम् ।
धीराः केऽपि सुकाव्यनीरधितटक्रीडापराः सन्त्यहो ॥
कामं वैदिकमूलमन्त्रनवहानुच्चैः पठन्तः ... ।
स्वामिन् ! किन्तु भवादृशास्तु विरला मन्त्रार्थव्याख्याकराः ॥
कामं चारुतया ग्रन्थरत्नद्वयमिदं सदा ।
चमत्करोतु चेतांसि चिराय चेतनावताम् ॥ ७ ॥

—दीनानाथ त्रिवेदी 'मधुपः'
साहित्यालंकारः-काव्यतीर्थः साहित्याचार्यः ।

❀ ❀ ❀

व्यासेन सञ्चिन्त्य समुच्चितानां, समर्थितानामपि सायणेन ।
ऋचां कृताध्यात्मपथप्रशस्तिं, महेश्वरानन्दगिरिं नमामि ॥१॥
व्यासोऽस्तु वेदस्य विभागकर्ता, भाष्यप्रणेताऽस्तु स सायणोऽपि ।
ऋचामिहाध्यात्मविचारकर्ता, महेश्वरानन्दगिरिर्गुरुर्मे ॥२॥

—के०सी० एन्-वालुन्नवर.
नोर्थ-मलवार, दक्षिण-भारत ।

श्री १०८ स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज महामण्डलेश्वर

द्वारा लिखित

विविध ग्रन्थ

धर्मनिष्ठ सज्जनों के स्वाध्याय के लिए पूज्यपाद श्री स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज महामण्डलेश्वर ने छोटे - बड़े संस्कृत एवं हिन्दी के अनेक धार्मिक-ग्रन्थ लिखे हैं। गीता-प्रवचन, वेद-वेदान्त, भागवत, गायत्रीमीमांसा, यात्रा-वर्णन, सिद्धान्त-समीक्षा आदि विषय के हैं, जिनकी सूची नीचे जा रही है —

१. ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकम् (संस्कृत टीका एवं हिन्दी अनुवाद)
२. यजुर्वेदसंहितोपनिषच्छतकम् (संस्कृत टीका)।
३. अथर्ववेदसंहितोपनिषच्छतकम् (संस्कृत टीका)।
४. सामवेदसंहितोपनिषच्छतकम्, संस्कृत टीका (अप्रकाशित)।
५. श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतकम् प्रथमखंड:(संस्कृत-हिंदी अनुवाद)
६. श्रीमद्भागवतसंहितोपनिषच्छतकम् द्वितीयखण्ड: " "
७. गीता प्रवचन-सुधा (हिन्दी में)।
८. गीता प्रवचन-सुधा (गुजराती में)।
९. दक्षिण तीर्थ-यात्रा (हिन्दी में)।
१०. दक्षिण तीर्थ-यात्रा (गुजराती में)।
११. सिद्धान्त-समीक्षा (हिन्दी में)।
१२. पुनीत-सं... (हिन्दी में)।
१३. गायत्री-मीमांसा-सन्ध्योपासनम्।
१४. हरगोविन्ददास व्याख्यान मन्दिर।
१५. शङ्करसूक्ति-सुधा।
१६. सवार्तिक-पंचीकरण।
१७. श्रीशिव महिम्न स्तोत्रम्।
१८. भगवत्प्रसाद।
१९. सद्गुरुप्रसाद।
२०. नारायणोपनिषद् (अनुवाद सहित)।

पुस्तक-प्राप्तिस्थान —

१. संन्यास आश्रम, विलेपारले, बम्बई नं. ५७।
२. सुरतगिरि बङ्गला, कनखल (हरिद्वार), जि. सहारनपुर (उत्तर प्र
३. बद्रिकाश्रम (नर्मदातट), मु. दरियापुर, पोस्ट–चांदोद, जि. बडो



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

राधाकृष्णाभ्यां नमः